भक्ति-सुधा

पूज्यपाद स्वामी श्री हरिहरानन्द सरस्वती
(श्री करपात्रीजी) महाराज

राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
रमणरेती, वृन्दावन-२८११२१ (मथुरा) उ०प्र०

भक्ति सुधा

प्रणेता

धर्मसम्राट अनन्तश्री विभूषित यतिचक्र चूणामणि
पूज्यपाद स्वामी श्रीहरिहरानन्द सरस्वती
(करपात्रीजी) महाराज

प्रकाशक

श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान

कलकत्ता ● दिल्ली ● वृन्दावनम्

सप्तम संस्करण
सम्वत् २०६७
अगस्त २०१०

मूल्य २२०/- रुपये

पुस्तक प्राप्तिस्थानम् :

१. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पैट्रो कैमिकल्स लिमिटेड
४०१/४०४, राहेजा सेण्टर,
२१४, नरीमन पोइण्ट, बम्बई - ४०००२१
दूरभाष : ०२२-३०२८६१००

२. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पैट्रो कैमिकल्स लिमिटेड
११३, पार्क स्ट्रीट, सात तल्ला,
कलकत्ता - ७०००७१
दूरभाष : ०३३-२२२९४९१६

३. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
C/o मैसूर पैट्रो कैमिकल्स लिमिटेड
५०४, निर्मल टावर, २६, बाराखम्बा रोड,
नई दिल्ली - ११०००१
दूरभाष : ०११-२३७२५६२७

४. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
धर्मसंघ विद्यालय, रमण रेती,
वृन्दावन - २८११२१ (मथुरा) (उ० प्र०)
दूरभाष : ०५६५-२५४००२८, २२५४०२७८

५. श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान
काशी विश्वनाथ (व्यक्तिगत) मंदिर,
मीरघाट, वाराणसी - २२१००१ (उ० प्र०)
दूरभाष : ०५४२-२४०१४३४

मुद्रक :
आकाश प्रैस,
बी-१९/३, ओखला इन्डस्ट्रियल एरिया,
फेज-II, नई दिल्ली-११००२०

विषय-सूची

• • •

प्रकाशकीय

'भक्तिसुधा' ग्रन्थ का पंचम संस्करण सुविज्ञ भक्त एवं रसिक पाठकों के विशेष आग्रह पर श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन की ओर से पुनः प्रकाशित किया जा रहा है। लगभग २५ वर्ष पहले इस ग्रन्थ का प्रकाशन 'भक्तिसुधा साहित्य परिषद्, कलकत्ता' द्वारा हुआ था। अति शीघ्र ही इस ग्रन्थ की तीनों खण्डों की प्रतियाँ समाप्त हो गयीं और भक्ति रस से ओतप्रोत पाठकों की इस ग्रन्थ के प्रकाशन की मांग अत्यधिक बढ़ती गयी।

भक्ति रस के अनेक मार्मिक विषयों के आविर्भाववाले इस महान् एवं मौलिक ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना बनी। अन्ततः यह ग्रन्थ आपके सम्मुख हम प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत कर रहे हैं।

धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज की लेखनी के विषय में कुछ कहने का तात्पर्य ''प्रदीपज्वालाभिः दिवसकरनीराजनविधिः'' श्लोक को दुहराना है। हम श्रीराधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान के द्वारा पूज्य चरणों की सरस लेखनी तथा पवित्र वाणी को प्रचारित कर मानव मात्र के कल्याण की मूर्तिमती सुधाधारा का प्रचार कर सम्पूर्ण विश्व में सुख-शान्ति के वातावरण के सर्जन की दिशा में अग्रसर होना चाहते हैं। इस दिशा में हम परम पूज्यवर के स्नेहिल शुभाशीष के संबल से ही सफलतापूर्वक आगे बढ़ सकते हैं। आज इस ग्रन्थ के पुनर्प्रकाशन के परम पुनीत अवसर पर हम पूज्य चरणों में अपनी विनम्र प्रणामाञ्जलि अर्पित करते हुए उनके सदुपदेशों, शास्त्रीय संदेशों तथा मानव कल्याण के निर्दिष्ट मानबिन्दुओं को प्रचारित-प्रसारित कर सकने की क्षमताप्राप्ति के मंगलमय आशीष की कामना करते हैं तथा इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सुअवसर प्रदान करने के लिए पूज्यवर के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करते हैं।

'भक्ति-सुधा साहित्य परिषद्, कलकत्ता' तथा उसके प्रमुख कार्य संचालक कविराज श्री सीतारामजी शास्त्री तथा श्री बाबूलालजी गनेड़ीवाला को इसमें सहयोग देने के लिए हम हृदय से आभारी हैं। इस ग्रन्थ के सम्पादन, संशोधन तथा व्यवस्थितीकरण में पंडित गजानन शास्त्री मुसलगांवकरजी के प्रति हम अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। इसमें उद्धृत श्लोकों के स्थल-निर्देश का महत्त्वपूर्ण कार्य पंडित मार्कण्डेयजी ब्रह्मचारीजी ने किया है। हम इसके लिये उनके हृदय से आभारी हैं। उपर्युक्त विद्वानों के सतत् प्रयास से ही यह कार्य शीघ्र सम्पन्न हुआ था।

आचार्य पंडित बलदेव उपाध्यायजी ने इस ग्रन्थ के प्रति अपनी शुभाशंसा लिखने की कृपा की, हम उनके इस गौरवपूर्ण कार्य के लिये हार्दिक कृतज्ञ हैं।

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पंडित रामसहोदर पाण्डेयजी ने प्रथम संस्करण की तीनों प्रतियां देकर हमारे प्रकाशन कार्य को सफल बनाने में भरपूर सहयोग दिया था। हम इसके लिये उनके प्रति भी अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं । ईक्ष्यशोधक श्री हरिवंश जी त्रिपाठी शास्त्री के भी हम हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने विपरीत परिस्थितियों में भी प्रूफ संशोधन का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया हैं ।

इस महान् ग्रन्थ के माध्यम से देशवासी मन:शान्ति प्राप्त कर अपना कल्याण कर सकें, यही हमारा उद्देश्य है । इसके प्रकाशन से हम इस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं, इसके लिये हमें अतीव प्रसन्नता तथा हार्दिक संतोष है ।

श्यामसुन्दर धानुका
अध्यक्ष
श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान

परब्रह्मस्वरूप
धर्मसम्राट् पूज्यपाद स्वामी श्री करपात्री जी महाराज

शुभाशंसा

अनन्त श्रीविभूषित श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज के द्वारा विरचित किसी नवीन ग्रन्थ का प्रकाशन वैदिक धर्मानुयायियों के लिये एक महनीय महोत्सव है—आनन्ददायक तथा ज्ञानवर्धक भी। स्वामीजी की वाणी तथा लेखनी दोनों ही धार्मिक जनता को आकृष्ट करने के लिये अद्भुत क्षमता रखती है। उनकी मधुर वाणी का चमत्कार उनके अद्भुत भाषणों में दृष्टिगोचर होता है, तो उनकी प्रौढ़ लेखनी का प्रभाव उनके प्रमेय-बहुल ग्रन्थों में भूरिशः अनुभवगम्य बनता है। इस तथ्य को दृष्टान्तों के सहारे बताने की आवश्यकता नहीं है।

स्वामी करपात्रीजी महाराज का व्यक्तित्व अलौकिक है जिसमें दृढ़ कर्मठता का, दीर्घ तपस्या के बल से उपार्जित विशुद्ध ज्ञान का तथा सात्त्विक हृदय में उद्वेलित परमानन्द से आप्लुत भक्ति का मधुमय सामञ्जस्य सद्यः प्रस्फुटित होता है। जिस किसी विषय के विश्लेषण में उनकी शेमुषी संलग्न होती है, वह विषय गम्भीर से गम्भीरतम, कठिन से कठिनतम होने पर भी श्रोताओं तथा पाठकों के हृदय में अत्यन्त सारल्य का वेष पहनकर उपस्थित हो जाता है। उनके भाषणों एवं ग्रन्थों—दोनों की एक मधुर दिशा है जिन्हें सुनकर एवं पढ़कर व्यक्ति के हृदय में तत्तत् विषयों के प्रति किसी प्रकार के संशय का लेश भी विद्यमान नहीं रहता। इसे दैवी चमत्कार ही समझना चाहिये। शास्त्रीय तथ्यों के विश्लेषण के समय उनकी वाणी जितनी तर्कनिष्ठ एवं युक्तिप्रवण होती है, भक्ति रस के विवरण में वह उतनी ही मधुर, सरल-सुबोध एवं आनन्दप्रसविनी बनती है। 'रासपञ्चाध्यायी' के रहस्यों के उद्घाटन की ओर इसीलिये उनकी वाणी स्वतः प्रवृत्त होती है और उसमें नये-नये भावों की अभिव्यञ्जना, नूतन अर्थों की अभिव्यक्ति एवं भगवल्लीला के नवीन आयामों की स्फूर्ति दिखलाकर वह श्रोताओं के हृदय को आनन्द से आप्लावित कर देती है।

स्वामीजी श्रीमद्भागवत के अद्भुत व्याख्याकार हैं, नूतन गूढ़ भावों की सरल भाषा में प्रकटीकरण की कला में उनकी अद्भुत क्षमता है। रासपञ्चाध्यायी की मनोहर कथा प्रतिवर्ष चातुर्मास्य में काशी में अथवा अन्य स्थानों पर वे कहा करते हैं और प्रति बार वे नयी-नयी लीलाओं की कल्पना किया करते हैं। राधामाधव की निकुञ्जलीला में प्रवेश कर वे अपनी विलक्षण अनुभूति को सुनाकर भिन्न श्रोताओं को रसविभोर बना डालते हैं। उनके व्यक्तित्व में मस्तिष्क और हृदय दोनों की उदात्त वृत्तियों के जगाने की, उद्बुद्ध करने की तथा संचारित करने की विलक्षण प्रतिभा है।

श्रीमद्भागवत का गम्भीर आलोडन तथा अनुशीलन मानवों के शुष्क तथा अनुराग-विहीन हृदय में सरसता का उत्स उत्पन्न करने में सर्वथा समर्थ होता है— इस विषय में दो

मत नहीं हो सकते । श्रीमद्भागवत के अध्ययन तथा मनन से ही भक्तिशास्त्र की पूर्ण प्रतिष्ठा सम्पन्न हुई—यह हम निःसन्देह कह सकते हैं । भक्तिरस का उदय, अभ्युदय, विचार एवं विश्लेषण–सब कुछ श्रीमद्भागवत के ही व्यापक अनुशीलन का परिणत फल है और इस महनीय कार्य के सम्पादन का श्रेय मिलना चाहिये काशी के अद्वैतवेदान्त के मनीषी संन्यासियों को ही, जिनकी अनुकम्पा से भागवत का गम्भीर अर्थ सर्वसाधारण के लिये सरल-सुबोध बन सका । वे तो इसी विश्वनाथपुरी के एक महनीय अद्वैतवेदान्ती संन्यासी थे—श्रीधर स्वामी । स्वामीजी की 'भावार्थदीपिका' व्याख्या से भागवत का गूढार्थ खुलता है तथा खिलता है । चतुर्दश शती के पूर्वार्ध (१३०० ई०–१३५० ई०) में विद्यमान, नृसिंह के परम उपासक श्रीधर स्वामी काशी की ही विभूति थे । १७वीं शती में विद्यमान मधुसूदन सरस्वती केवल शुष्क ज्ञान मार्ग के अनुयायी अद्वैतवादी आचार्य नहीं थे, प्रत्युत भक्तिरस के व्याख्याता एवं भक्तिस्निग्ध हृदय से सम्पन्न एक महामान्य साधक थे । 'अद्वैत सिद्धि' जैसे अद्वैतज्ञानमण्डित ग्रन्थरत्न के प्रणेता होने के साथ ही साथ वे 'भक्तिरसायन' जैसे भक्ति रस को शास्त्रीय प्रामाण्य देने वाले ग्रन्थ के रचयिता भी थे । चौसट्टी घाट पर विद्यमान अपने मठ में रहनेवाले मधुसूदन सरस्वतीजी काशी के ही प्रतिभाशाली विभूति थे । १८वीं शती में विराजमान स्वामी नारायण तीर्थ ने जहाँ वेदान्त के मूर्धन्य ग्रन्थों का प्रणयन किया, वहीं वे 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' की 'भक्तिचन्द्रिका' व्याख्या लिखकर भक्ति के तत्त्व, प्रकार तथा साधना को वेदमन्त्रों के द्वारा प्रतिष्ठित करनेवाले व्याख्याकार थे । वे भी वाराणसी के ही संन्यासी सम्प्रदाय के अलंकार थे । हमारे करपात्रीजी महाराज भी काशी के इसी भक्तिमार्गी भागवती अद्वैती संन्यासियों की परम्परा के मुकुटमणि हैं । उन्होंने 'भक्ति रसार्णव' का प्रणयन देववाणी में कर भक्तिरस के स्वरूप का विवेचन गम्भीर शास्त्रीय पद्धति से किया है । यह ग्रन्थरत्न पूर्वनिर्दिष्ट मधुसूदन सरस्वती के 'भक्तिरसायन' की शैली में निबद्ध किया गया है, परन्तु उससे अनेक बातों से विलक्षणता रखता है ।

'भक्तिरस' का विस्तृत तथा गम्भीर विवेचन इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है, परन्तु स्वामीजी को इतने से सन्तोष नहीं है । उन्होंने 'रसस्वरूपविमर्शः नामक प्रकरण में साहित्य-शास्त्र के आचार्यों के द्वारा निर्णीत तथा विवेचित उन नाना मतों का भी विस्तार से विवेचन किया है जिनका उल्लेख काव्यप्रकाश एवं ध्वन्यालोक में किया गया है । उन्होंने भगवान् तथा उनके नाम, रूप, लीला और धाम का विवेचन बड़ी गम्भीरता से भक्तिशास्त्र के निर्णीत सिद्धान्तों की शैली में वैशद्य के साथ किया है । इतना ही नहीं, राधाकृष्ण वेद तथा शास्त्रों के द्वारा भजनीय तत्त्व के रूप में मुख्यतया सिद्ध किये गये हैं—इस तथ्य का विवरण देकर उन्होंने इस विषय के शोधकर्ताओं के लिये नूतन सामग्री प्रस्तुत की है । साकार भक्ति के विवेचन के संग में निराकार ब्रह्म की प्रतिपत्ति को भक्तिरूप सिद्ध कर स्वामीजी ने

'भक्तिर्मुक्तिशताधिका' सिद्धान्त की पुष्टि वेद, शास्त्र तथा युक्तियों के सहारे विद्वत्तापूर्ण ढंग से की है। वेद के तत्त्वों का भी स्थान-स्थानपर उन्मीलन है। प्रसिद्ध पुरुषसूक्त तथा देवीसूक्त के परम तात्पर्य का निर्णय करने में स्वामीजी ने निर्मल प्रतिभा प्रदर्शित की है। निष्कर्ष यह है कि 'भक्ति रसार्णव' 'भक्तिरसायन' की तुलना में अनेक नवीन तथ्यों को अपने में समाविष्ट करने के कारण विशिष्टतापूर्ण चमत्कारी ग्रन्थ है—आलोचकों को इस विषय में संशीति रखने का रंचक मात्र भी स्थान नहीं है।

श्री स्वामीजी महाराज का यह अभिनव प्रस्तुत ग्रन्थ—भक्ति-सुधा-भक्तिरसार्णव का ही अनुपूरक ग्रन्थ है। दोनों में सम्बन्ध है तथा पार्थक्य भी है। 'भक्तिरसार्णव' भक्ति का सिद्धान्त दर्शन प्रस्तुत करता है, तो 'भक्ति-सुधा' भक्ति के व्यवहार दर्शन की निर्दशिका है। फलतः दोनों ग्रन्थों में उपकार्योपकारक भाव विद्यमान है। 'भक्ति-सुधा' का प्रथम संस्करण तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत संस्करण उसीका एक खण्ड में परिष्कृत, परिबृंहित एवं परिवर्धित स्वरूप प्रस्तुत करता है। यह विपुलकाय ग्रन्थ लगभग एक हजार पृष्ठों में समाप्त हुआ है। यह परिमाणतः ही विपुल एवं अभिराम नहीं है, प्रत्युत गुणतः भी कमनीय है एवं रमणीय है। स्वामीजी का यह मौलिक ग्रन्थ उनकी तपःपूत लेखनी का निःसन्देह अद्भुत चमत्कार है। आरम्भ के कतिपय ले॰ भले ही परिमाण में न्यून हों, परन्तु वे गम्भीर तत्त्वों के प्रतिपादन में सर्वथा महनीय तथा मननीय हैं। भक्ति-सुधा के दो-तिहाई भाग लगभग सात सौ पृष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण की वृन्दावनलीला के ही नाना रूपों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन कर रसिक विद्वानों के सामने चिन्तन एवं मनन की विपुल नूतन सामग्री प्रस्तुत करने में समर्थ है।

यों तो 'भक्ति-सुधा' के समस्त लेख ही अभिराम एवं विचारोत्तेजक हैं, परन्तु वेणुगीत (१०५ पृष्ठ), चीरहरण (३० पृष्ठ), वेदान्तरससार (३५ पृष्ठ), रासलीला रहस्य (२२७ पृष्ठ) एवं रासपञ्चाध्यायी (१२० पृष्ठ) में वर्णित तत्त्व नितान्तहृदयावर्जक, भक्तिरसान्वित तथा परमानन्ददायक हैं। इन लेखों में स्वामीजी के श्रीमद्भागवत के गम्भीर अनुशीलन तथा प्रातिभ ज्ञान का परिचय पदे-पदे मिलता है। लिखने की शैली बड़ी ही रोचक, आकर्षक तथा हृदयानुरञ्जक है। आध्यात्मिक तत्त्वों के विवेचन में लौकिक उदाहरणों का समावेश कर स्वामीजी महाराज गम्भीर विषयों का निरूपण इतनी सरलता से सीधी भाषा में करते हैं कि वह श्रोता तथा वक्ता के हृदय में हठात् प्रवेश कर जाता है, विषय के अन्तरङ्ग का उन्मीलन कर देता है तथा नवीन तत्त्वोन्मेष से अभूतपूर्व उल्लास का सर्जन करता है। श्रीमद्भागवत के परिचित पद्यों में भी शब्दों के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों का निरूपण कर उनकी वाणी रहस्यमय भावों की अभिव्यक्ति करने में सफल होती है—यह लेखक की स्वानुभूति है। 'रासपञ्चाध्यायी' के गम्भीर भावों का इतना सरस-सुबोध विवेचन लेखक ने कहीं अन्यत्र नहीं देखा जो एक साथ ही तुलनात्मक है, विमर्शात्मक है तथा रसात्मक है। गोपियों के स्वरूप का ही इतना साङ्गोपाङ्ग सरस प्रतिपादन अन्यत्र दुर्लभ है।

तथ्य तो यह है कि अनन्त श्री विभूषित स्वामी करपात्रीजी महाराज हृदयावर्जिका विमला वाणी के प्रेरक जैसे मनीषी हैं, वैसे ही वे ललित ललाम लेखनी के धनी हैं । वाणी तथा लेखनी को यह मञ्जुल सामरस्य किस विद्वान् को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ नहीं होता ? वे शास्त्र के मर्म को उन्मीलन करनेवाले ऐसे समर्थ वाग्मी हैं जिसके विषय में कहा गया है - 'वाग्मी भवति वा न वा' । वे खूसट वेदान्ती नहीं हैं जो वेदान्त के शुष्क तत्त्वों के चिन्तन में अपनी प्रतिभा का उपयोग करता है, प्रत्युत वे रसामृतमूर्ति, सौन्दर्यसारसर्वस्व भगवान् निकुञ्जबिहारी की निकुञ्जलीला के परमाराधक भक्तिरसाप्लुत उपासक हैं जिनकी कमनीय वाणी से भक्तिरस के मधुमय कण बिखर पड़ते हैं । उनकी लेखनी की यह अभिनव प्रसूति 'भक्ति-सुधा' मस्तिष्क की वस्तु नहीं है, प्रत्युत उनके हृदय का आनन्दमय उल्लास है ! यह दिमागी कसरत नहीं है, बल्कि दिल की उफान है ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये श्री राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान के अध्यक्ष श्री श्याम सुन्दर धानुका को इस कार्य के लिये हृदय से धन्यवाद देते हैं । यह धार्मिक जनता के गले का हार बने - इसी शुभकामना के साथ यह शुभाशंसा समाप्त की जाती है । तथास्तु - 'सहृदयाः कविगुम्फनिकासु ये कतिपयास्त इमे न विशृङ्खलाः, रसमयीषु लतास्विव षट्पदा हृदयसारजुषो न मुखस्पृशः ।

बलदेव उपाध्याय
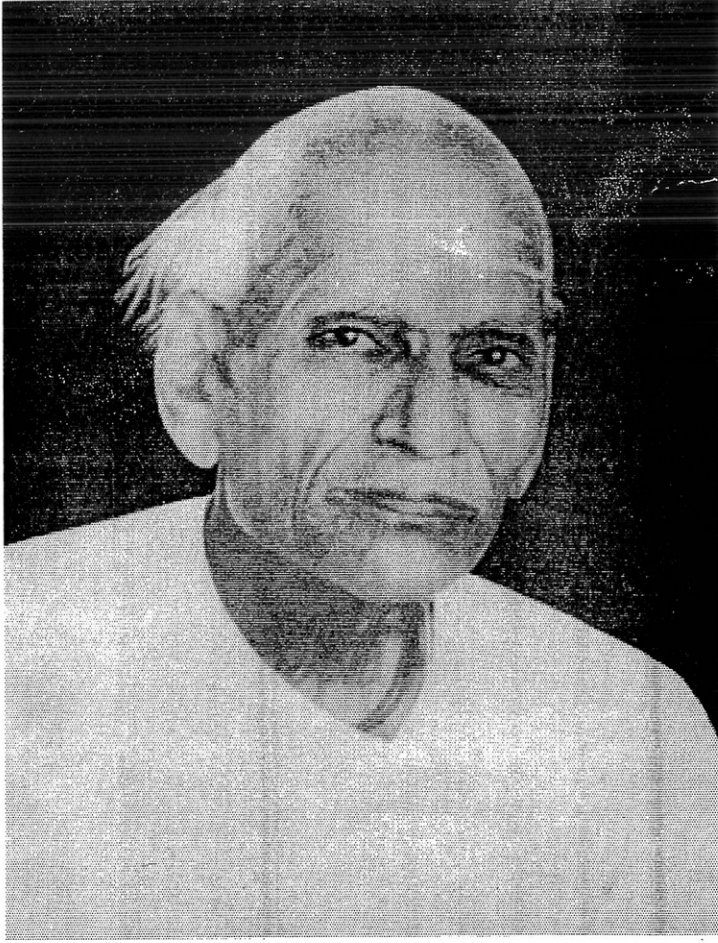
राधाकृष्णपदारविन्दमधुपाः श्रीधानुकावंशजाः
राधाकृष्ण इति प्रसिद्धिमगमन् ये श्रेष्ठिनो धार्मिकाः ।
तेषां स्मारकमेतदस्ति विपुलं प्राप्ताः पदं वैष्णवं
वेदार्थेन विशेषितं धिषणया श्रीपारिजाताभिधम् ॥

स्व० श्री राधाकृष्ण जी धानुका

जिनकी पुण्य स्मृति में यह ग्रन्थ प्रकाशित कराया गया है ।

श्रीहरिः

भगवत्प्राप्ति

प्रायः लोग पूछा करते हैं कि क्या भगवत्प्राप्ति इसी जन्म में हो सकती है? ऐसा एक ही जन्म में हो सकता है या अनेक जन्मों में, इसका कोई नियम नहीं है, किन्तु जभी भगवान् के प्रति प्रेम का गाढ़ उदय हो जाता है, भगवान् तभी मिल जाते हैं—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना, प्रेम ते प्रकट होहिं मैं जाना।"

अनेक जन्मों तक भी यदि प्रेम का सञ्चार न हो, तो भगवान् नहीं प्राप्त होते, प्रेम प्रकट हो जाने पर भगवान् एक ही जन्म में मिल जाते हैं।

जिस समय भक्त भगवान् से मिलने के लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होकर स्वाध्याय, ध्यान आदि को प्राप्त होता है, उस समय भगवान् को अवश्य प्रकट होना पड़ता है।

आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम, परम निष्काम भगवान् परम स्वतन्त्र हैं, तथापि भक्तप्रेम में पराधीन होना उनका एक स्वभाव है। अनुभवी लोगों ने कहा है—

"अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्॥"

अहो, कोई निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्म को, कोई सगुण-साकार ब्रह्म को भजते हैं, परन्तु मैं तो उस प्रेमबन्धन को भजता हूँ, जिससे बँधकर अनन्त प्राणियों को मुक्ति देनेवाला, स्वयं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म भक्तों का खिलौना बन जाता है।

जिस समय भक्त भगवान् के बिना न रह सके, उस समय भगवान् भी भक्त के बिना नहीं रह सकते। जैसे पङ्खरहित पतङ्ग-शावक अपनी माँ को पाने के लिए व्याकुल रहते हैं, जैसे क्षुधार्त्त वत्सतर (छोटे गोवत्स) माँ का दूध चाहते हैं, किंवा परदेश गये हुए प्रियतम से मिलने के लिए प्रेयसी विषण्ण होती है, हे कमलनयन! मेरा मन आपको देखने के लिए वैसे ही उत्कण्ठित होता है—

"अजातपक्षा इव मातरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतरा क्षुधार्त्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥"

इस प्रकार की सोत्कण्ठ भक्त की प्रार्थना से भगवान् द्रुत होकर भक्त से मिलने को दौड़ पड़ते हैं।

हाँ, यह ठीक है कि भगवत्सम्मिलन की ऐसी उत्कट उत्कण्ठा सरल नहीं है, किन्तु जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों के पुण्यपुञ्ज से ही भगवान् में उत्कट प्रीति प्राप्त होती है। इसीलिए उपनिषदों ने कहा है कि ब्राह्मणादि अधिकारी लोग यज्ञ, तप, दान और अनशनादि सत्कर्मों से उन परमतत्त्व भगवान् को जानने की उत्कट इच्छा उत्पन्न करते हैं—

"तमेतमात्मानं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन विविदिषन्ति।"

जब उस परमतत्त्व की जिज्ञासा ही उत्पन्न करने में अनेक जन्मों के सत्कर्मों की अपेक्षा होती है, तब स्पष्ट ही है कि जिसे भगवत्सम्मिलन की उत्कट कामना है, जिसे भगवान् के न मिलने से महती व्याकुलता है, वह केवल इसी जन्म का सत्कर्मी नहीं, अपितु पहले जन्मों से भी उसका इस सम्बन्ध में प्रयत्न चल रहा है। इस दृष्टि से ध्रुव की जन्मान्तरीय तपस्याओं तथा—**"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।"** इत्यादि वचनों की सङ्गति लग जाती है। प्रेम के उत्कट हो जाने पर उसी क्षण भगवान् का दर्शन होता है। फूल तोड़ने में विलम्ब हो सकता है, किन्तु उस समय भगवान् के मिलने में किञ्चित् भी विलम्ब नहीं होता। भगवान् प्राणियों के अन्तरात्मा, सर्वसाक्षी हैं, उनको पाने में कौन कठिनाई ?—

"कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः।"

इत्यादि बातों की भी सङ्गति लगती है। भगवत्प्राप्ति में अत्यन्त प्रयत्न करने की अपेक्षा बतलाने के लिए शास्त्रों ने भगवान् को अत्यन्त दुर्लभ कहा है, निराशा मिटाकर उत्साह बढ़ाने के लिए भगवान् को अत्यन्त सुगम भी कहा है—

"दूरात्सुदूरे अन्तिकात् तदु अन्तिके च।"

भगवान् दूर-से-दूर और समीप से भी समीप हैं।

●

नामरूप की उपयोगिता

नामरूपक्रियातीत, अनाम, अरूप, निष्क्रिय परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए ही प्राणी को अनेक क्रियाओं, नामों एवं रूपों का अवलम्बन करना पड़ता है। अनाम के नामकरण एवं अरूप के रूप की कल्पना सचमुच अपरिमेय को परिमित और निःसीम को सीमित करना है। किसी महानुभाव ने कहा है—

"गत्याऽनया व्यापकता हता ते, स्तुत्यानयावाक्परता हताते।
दृष्ट्याऽनयाऽगोचरता तथा हता, ममापराधस्त्रितयं क्षमस्व॥"

अर्थात् "हे नाथ, इतने दूर आपके दर्शनार्थ चलकर मैंने आपकी व्यापकता पर तथा दर्शन से आपकी अगोचरता पर अविश्वास किया और स्तुति से आपकी वाक्परता की भी अवहेलना की। हे दयामय, इन मेरे अपराधों को कृपया आप क्षमा करना।"

जैसे प्राणी व्यष्टि नामरूप की उपाधि में आसक्त होकर व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए समष्टि-हित का विघातक बन जाता है या समष्टि-हित के कार्य्यों में भी सम्मान, ख्याति या धन-लाभादि स्वार्थों को ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रधानता देने लगता है, वैसे ही सर्वाधार, परमतथ्य, पारमार्थिक वस्तु में भी नाम-रूपों की कल्पनाओं से ही नाना विपत्तियों को खड़ा करता है। सच बात तो यह है कि नाम-विशेष और रूपविशेष के अभिमानवालों को व्यक्तिगत विशिष्ट नामों और रूपों से स्तुति की स्पृहा होती है। ग्राह से पीड़ित गजराज ने निर्विशेष परब्रह्म का ही स्तवन किया। उस स्तवन में किसी व्यक्तिविशेष या नामरूप की व्यञ्जना नहीं थी।

उसने यही कहा कि—

"मैं उस परमतत्त्व को नमन करता हूँ, जिससे जड़ विश्व चेतित हो रहा है, जो निखिल विश्व का आदि बीज और परेश है, जिससे तथा जिसमें विश्व उत्पन्न तथा स्थित होता है और जिससे उसका धारण होता है। उस स्वयंभू को नमस्कार है, जो पर-अपर कार्य्य-कारण से अतीत है।"

भिन्न-भिन्न नामरूप के अभिमानी देवगण गजेन्द्र की स्थिति देखते थे, उसकी स्तुति भी सुन रहे थे, उसको मुक्त करने में समर्थ भी थे, परन्तु उनके नामरूप में उनकी स्तुति नहीं थी, इसीलिए उनकी प्रवृत्ति गजेन्द्र के रक्षण में नहीं हुई। उसकी रक्षा तो उसीसे हुई, जो किसी नामरूपविशेष का अभिमानी नहीं था। जो सभी नामों तथा रूपों को अपना ही मानता था।

आज भी सामाजिक क्षेत्रों में व्यक्तिगत ख्याति या सम्मान की ओर ध्यान न देकर सभी नामों और ख्यातियों को अपना ही समझकर कार्य्य में अग्रसर होनेवाले विरले ही होते हैं। नामरूप कल्पना का दुष्परिणाम किसी से छिपा नहीं है। पृथक्-पृथक् परमेश्वर के नाम और उपचार-पद्धतियों पर ही आज भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में द्वंद्व मच रहा है। ईसाई, मुसलमान, आर्य्यसमाज, ब्रह्मसमाज के अतिरिक्त सनातनधर्मियों में ही नामरूपों पर इतने साम्प्रदायिक भेद उपस्थित हैं कि जिसकी कल्पना भी साधारण बुद्धिवाले के मन में नहीं हो सकती। शिव, विष्णु, शक्ति, गणेश, सूर्य्य आदि भिन्न-भिन्न देवताओं के उपासक अपने-अपने इष्ट और उपासना-पद्धति का ही महत्त्व सिद्ध करने के लिए दूसरों की निन्दा और खण्डन में कुछ भी कसर नहीं रखते।

इतना ही क्यों, विष्णु के ही विविध स्वरूपों में इस नाम या इस रूप से मुक्ति होती है, दूसरे से नहीं; श्रीकृष्ण का वन्दन अमुक वेशभूषा में ही हो सकता है, दूसरे में नहीं, ऐसे विचित्र विचार भी प्रचलित हैं, जो वैमनस्य और विद्वेष के मूल बन रहे हैं। परन्तु फिर भी क्या यह नामरूप और क्रियाओं की कल्पना व्यर्थ है? अभिज्ञों का तो कहना है कि प्राणी जब तक सत्व, रज, तम आदि गुणों और विविध नामरूप एवं कर्मों में बँधा हुआ है तब तक उसे गुण एवं नामरूप क्रियाव्यतीत वस्तु का दर्शन और उपलब्धि असम्भव ही है।

वेदान्त तो पग-पग पर यही उपदेश करता है कि मनोवचनातीत, अनिर्देश्य, अव्यवहार्य्य, प्रपंचातीत, परमतत्त्व ही सब कुछ है, उससे भिन्न कोई भी व्यवहार-विषय तथ्य नहीं है। परन्तु जो अनेक तापों से सन्तप्त एवं अशान्त है, उसे क्या इन वचनों मात्र में शान्ति हो सकती है? अतः जैसे रज से ही दर्पणगत रज दूर किया जाता है, कण्टक से ही कण्टक निकाला जाता है, किंवा विष से ही विष का प्रभाव दूर किया जाता है, वैसे ही कर्म से ही कर्म का निर्हार और नामरूप से नामरूपातीत तत्त्व प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। निर्गुण, निराकार, निष्प्रपञ्च, असंग से ही सगुण, साकार, समस्त प्रपञ्च व्यक्त हुआ है। इसमें ही आबद्ध जन्तु अपने मूल परमतत्त्व से बहिर्मुख होकर अनादिकाल से इस दुर्गम भवाटवी में भटक रहे हैं।

कहा जाता है कि मन, बुद्धि के हलचल से ही परमार्थ परमतत्त्व आवृत हो जाता है। जैसे छाया के पीछे चलने से वह पकड़कर स्थिर नहीं की जा सकती, वैसे ही मन-बुद्धि को स्थिर करने के प्रयत्न से वे वश में नहीं किये जा सकते। मन में निर्विचारता या निर्व्यापारता स्थिर होने पर ही निर्दृश्य, निर्विकल्प वस्तु का बोध या उपलम्भ होता है। मन के व्यापार से ही दृश्य या विकल्प की उपस्थिति होती है। मन के निर्व्यापारता या अमनीभाव में विकल्प प्रतीतिविरुद्ध होने से

निर्विकल्प वस्तु का अनायास ही स्फुरण होता है। परन्तु यह क्या जैसा कहने में सुगम है, वैसे ही अनुष्ठान में भी ? क्या महाप्रयास बिना एक क्षण के लिए भी ऐसा सम्भव है कि मन निश्चल रहे और उसमें आवश्यक-अनावश्यक अन्धकार, प्रकाश, आकाश, तृण कोई-न-कोई दृश्य स्फुरित न हो ! जब ऐसा सम्भव ही नहीं, तब अनिर्देश्य, अनाम, अरूप, निष्क्रिय वस्तु की कोरी बातों से क्या लाभ ?

यह कह देना है बहुत सरल कि स्वयं विज्ञाता या मन्ता हो का विचार या मनन करने-न करने में स्वतन्त्रता है। कर्त्ता चाहे तो करणों को व्यापृत करे न करे, उनसे काम ले अथवा न ले। परन्तु क्या मन मन्ता की रुचि का अनुवर्त्तन करता है अथवा मन्ता की रुचि न होते हुए भी उसको हठात् आकर्षित करता है ? इसीलिए विवेकियों ने अध्यारोप और अपवाद से निष्प्रपञ्च का ही प्रपञ्चन किया है।

जब प्रपञ्च एवं तदन्तर्गत नामरूप क्रियाओं के आलम्बन द्वारा ही सर्वातीत तत्त्व को प्राप्त करना है, तब फिर उसमें उल्वण भावों को सोच-समझकर उनको त्यागने के लिए पहले शान्तभावों का अवलम्बन करना पड़ता है। तामस कर्म तथा विचार दूर करने के लिए राजस और राजसों के मिटाने के लिए सात्त्विक कर्म तथा ज्ञानों का आश्रयण किया जाता है। स्वाभाविक या पाशविक कर्मों तथा ज्ञानों के मिटाने के लिए वेदशास्त्र-सम्मत कर्म और ज्ञानों का अवलम्बन करना आवश्यक होता है।

योगशास्त्र ने क्लिष्टा वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए अक्लिष्टा वृत्तियों का अवलम्बन करना बतलाया है। घोर मूढ़ वृत्तियाँ बिना शान्तवृत्तियों के सेवन के कभी भी दूर नहीं हो सकतीं। जब प्रपञ्चातीत परमतत्त्व से प्रच्युत होकर जीव व्यावहारिक जगत् में अवतीर्ण होता है, तब उसके सामने विश्व के शुभ-अशुभ, न्याय-अन्याय, अनुकूल-प्रतिकूल अनेक प्रकार के विषय और व्यवहार उपस्थित होते हैं। भलाई-बुराई, विष-अमृत आदि भेद जब मानने पड़ते हैं, क्षुधा-पिपासा मिटाने के लिए अन्न-जल की अपेक्षा होती है, तब फिर पुण्य-पाप की व्यवस्था भी माननी पड़ती है। यहीं वर्णाश्रमानुसार वेदशास्त्रोक्त कर्म-धर्म की आवश्यकता होती है। बिना किसी निर्दोष सात्त्विक आलम्बन के मन को निरालम्ब नहीं किया जा सकता।

वैदिकों का मत है कि नामरूप से अतीत वेदान्तवेद्य, परमतत्त्व ही स्वांशभूत प्राणियों के कल्याणार्थ अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्ति से परम मनोहर नामरूप को स्वीकार करते हैं। जैसे कोई परमकारुणिक चिकित्सक किसी कुपथ्यप्रिय, अदीर्घ-दर्शी, अबोध शिशु को उसके अभीष्ट कुपथ्यरूप में दिव्य महौषध का प्रदान करता है, वैसे ही मनोहर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयों में आसक्तचित्त प्राणियों के मन को प्रपञ्चातीत भगवान् के निजस्वरूप में आकर्षित करने के लिए ही अशब्द,

अस्पर्श, अरूप, अव्यय का ही दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य गन्ध, दिव्य रूप सम्पन्न रूप में प्रादुर्भाव होता है।

भक्तों के अभीष्ट भिन्न स्वरूपों के विशिष्ट सौन्दर्य्य, माधुर्य्यादि लोकोत्तर गुणगणों में चित्त के आसक्त होने के अनन्तर वही अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य परमतत्त्व सुस्पष्ट रूप में व्यक्त हो जाता है। शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य्य, गणेश आदि वेदशास्त्र-सम्मत सभी स्वरूपों में एक वही पूर्णतम तत्त्व व्यक्त होता है। इसीलिए उनके माहात्म्य प्रतिपादक सभी सद्ग्रन्थों में अन्तिम स्वरूप एक ही मिलता है। एक अनन्त, अखण्ड, निर्विशेष, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्द ही सर्वाधार, साक्षीरूप से अवशिष्ट रहता है।

गीता में तो यहाँ तक कहा गया है कि विश्व में जो भी कोई **'विभूतिमत् ऊर्ज्जिततत्त्व'** दिखलाई देता हो, उसे भी भगवान् का ही रूप समझना चाहिए।

आचार्य्यप्रवर श्री विद्यारण्यजी ने 'पञ्चदशी' में कहा है कि परमेश्वर के भिन्न स्वरूपों में विवाद नहीं करना चाहिए। जब निखिल विश्व ही परमेश्वर का स्वरूप है, तब अमुक परमेश्वर है, अमुक नहीं, ऐसे विवाद का अवसर ही कहाँ? इसीलिए अश्वत्थ, वट, हल, कुदाल तक की पूजा अपने धर्म में होती है। सभी में पूर्णतम, परमतत्त्व का ही पारमार्थिक रूप उपलब्ध हो सकता है, फिर उसका नाम या रूप चाहे जो कुछ भी हो। इसीलिए नामविशेष पर आग्रह न करके अभिज्ञों ने **"कस्मैचिन्महसे नमः कस्मै देवाय हविषा विधेम"** इस रूप से ही परमतत्त्व का वन्दन किया है। परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि भगवान् में नाम और रूप हैं ही नहीं। यदि नामरूप हैं तो सब भगवान् के ही हैं, अन्य किसी के नहीं। 'किम्' शब्द सर्वनाम है, अतः वह सभी का वाचक है। जो सब स्वरूप है, उसमें ही 'किम्' शब्द का प्रयोग हो सकता है। जिस वस्तु पर किसी एक का अधिकार नहीं होता वह राजा की समझी जाती है। जो राजा की वस्तु है, वह सबके उपयोग में आती है। अतः 'किम्' शब्द का जैसे यह अर्थ है कि परमतत्त्व का विशेष नाम नहीं है वैसे ही यह भी आशय है कि सब नाम और रूप उन्हीं के हैं।

फिर भी राजस, तामस, सात्त्विक ऋषि, देवता या भगवत्सम्बन्धिनी नामरूप क्रियाएँ भवबन्धन से छुड़ाकर परमतत्त्व को प्राप्त कराती हैं और उनके विपरीत नामरूप क्रियाएँ अनेक अनर्थयुक्त संसार में भटकानेवाली होती हैं। इसीलिए वर्णाश्रमानुसार श्रौतस्मार्त क्रियाएँ, मन्त्र एवं भगवन्नाम आदरणीय तथा समाश्रयणीय हैं। इसी दृष्टि से भिन्न-भिन्न गुणरूप विशिष्ट विग्रह और प्रतिमाओं की आराधनाएँ मान्य हैं। उन सबकी पद्धति, अधिकार, शुद्धि, अशुद्धि सभी शास्त्रविधान के अनुसार ही होना चाहिए।

पारमार्थिक चर्चाओं एवं ज्ञानाभिमान से उन सबकी अवहेलना केवल प्रमाद है। जैसे घी और बत्ती के संयोग से व्यापक निर्विकार अग्नि दिव्य दीपशिखा के रूप में प्रकट होती है, जैसे शैत्य के योग से जल हिमरूप में व्यक्त होता है, वैसे ही अचिन्त्य लीलाशक्ति के योग से अनामरूप भगवान् ही दिव्य नामरूप स्वरूप में प्रकट होते हैं। अतएव, भगवान् का नाम और रूप निरावरण भगवान् का साक्षात्स्वरूप ही है। जैसे काष्ठ, पाषाण, प्रासाद जहाँ भी कहीं पैर रखा जाय, वह सब कुछ पृथ्वी ही है, वैसे ही जिस किसी भी नामरूप से भगवान् का ही दर्शन और श्रवण है। तब भी विशुद्ध लीलाशक्ति की महिमा से प्रकट भगवान् के नामरूप एवं लीलाएँ निरावरण भगवान् के रूप हैं, इतर नामरूप क्रियाएं निरावरण भगवान् के रूप हैं। जैसे मेघादि अस्वच्छ उपाधियों से सूर्यमण्डल आवृत रहता है, परन्तु दूरवीक्षणादि दिव्य पाषाण के व्यवधान होने पर भी वह आवृत नहीं होता, वैसे ही अविद्यादि मलिन शक्तियों के योग से नामरूप विवर्त्त में पारमार्थिक तत्त्व आवृत रहता है परन्तु विद्या या लीला आदि दिव्य शक्तियों के योग से प्रकट भगवान् के नामरूप में निरावरण भगवान् का स्पष्ट रूप से भान होता है।

•

इष्टदेव की उपासना

शास्त्ररहस्य को जाननेवाले महानुभावों का कहना है कि शैवग्रन्थों में श्रीविष्णु की और वैष्णवग्रन्थों में श्रीशिव की जो निन्दा पायी जाती है, वहाँ इस निन्दा का मुख्य तात्पर्य अन्य देवता की निन्दा में नहीं है, अपितु वह ग्रन्थ जिस देवता का वर्णन कर रहा है उसकी प्रशंसा में है। इसपर कोई कहे कि अपने इष्ट देवता में अनन्यता की प्राप्ति के लिए उनसे भिन्न देवता की उपेक्षा अपेक्षित है और वह उपेक्षा बिना अन्य देवता की निन्दा के कैसे सिद्ध हो सकती है? इस तरह उस निन्दा का मुख्य तात्पर्य अपने इष्ट देवता से अन्य देवता की उपेक्षा के लिए उसकी निन्दा में ही हो सकता है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसने अनन्यता के स्वरूप को ही यथार्थतया समझा नहीं है। क्या अपने एकमात्र इष्टदेव में ही तत्परता को अनन्यता कहें? किन्तु ऐसी अनन्यता खान-पान आदि लौकिक एवं सन्ध्यावन्दनादि वैदिक व्यवहार करनेवाले पुरुष में सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि उन लौकिक-वैदिक सब कर्मों के द्वारा अपने इष्टदेव की ही उपासना करने से अनन्यता बन जायगी, तो फिर जैसे अन्यान्य लौकिक-वैदिक कर्मों के द्वारा अपने इष्टदेव की उपासना की जा सकती है, वैसे ही अन्य देवता की पूजा आदि के द्वारा भी अपने इष्टदेव की उपासना करते हुए अनन्यता बन सकती है।

यथार्थ में तो—

वर्णाश्रमवता राजन्! पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते भक्त्या नान्यत्तत्तोषकारणम्॥

अर्थात् 'हे राजन्! प्राणी अपने वर्ण-आश्रम के अनुसार कर्म करते हुए भक्ति द्वारा उस पुरुषोत्तम हरि की आराधना कर सकता है। इसके अतिरिक्त भगवान् की प्रसन्नता का और अन्य कोई साधन नहीं है।'

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

अर्थात् 'हे अर्जुन! भोजन, होम, दान, तपस्या आदि जो कुछ भी करो; वह सब मुझे अर्पण कर दो।'

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

अर्थात् 'मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा भगवान् की पूजा करके मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।'

इत्यादि वचनों से शास्त्रों ने अपने-अपने वर्ण-आश्रम के अनुसार श्रौत-स्मार्त कर्मों से ही श्रीभगवान् को उपासना करना बतलाया है और श्रौत-स्मार्त कर्मों में तो पद-पद पर इन्द्र, अग्नि, वरुण, रुद्र, प्रजापति आदि देवताओं की पूजा दिखलाई पड़ती है। ऐसी हालत में अपने को वैदिक माननेवाला कोई पुरुष यह कहने का साहस कैसे कर सकता है कि "विष्णु के सिवाय कोई अन्य देवता मेरे लिए पूजनीय नहीं है ?"

यदि कहा जाय कि वहाँ उन इन्द्रादि देवताओं के रूप में भगवान् विष्णु की ही पूजा होती है, तो इस तरह फिर सभी देवताओं की पूजा की जा सकती है।

जिन कामिनी, काञ्चन आदि विषयों की बड़े-बड़े विवेकी महापुरुषों ने निन्दा की है, उन्हीं तुच्छ विषयरूप विष से भस्मीभूत चित्तवाले, और उन्हीं विषयों की प्राप्ति के लोभ से वशीभूत होकर, और तो क्या म्लेच्छों के चरणों पर भी मस्तक झुकानेवाले लोग समस्त पाप-समुदाय का नाश करने में समर्थ श्रीशिव, विष्णु आदि के वन्दन को जब अनन्यता का विघातक कहते हैं तब बड़ा आश्चर्य होता है।

अस्तु, इस तरह यह सिद्ध होता है कि श्रीभगवान् को प्रसन्न करने की बुद्धि से भगवान् के लिए ही किये गये समस्त कर्मों को परमगुरु श्रीभगवान् के चरणों में समर्पण करना ही यथार्थ अनन्यता है।

काशीखण्ड के दूसरे अध्याय में ध्रुवजी श्रीविष्णु से स्तुति में कहते हैं कि :—

मित्राणां हि कलत्रं त्वं धर्मस्त्वं सर्वबन्धुषु।
त्वत्तो नान्यज्जगत्यस्मिन्नारायण ! चराचरे ॥१॥

त्वमेव माता त्वं तातस्त्वं सुहृत्त्वं महाधनम्।
त्वमेव सौख्यसम्पत्तिस्त्वमेव जीवनेश्वरः ॥२॥

सा कथा यत्र ते नाम तन्मनो यत्त्वदर्पितम्।
तत्कर्म यत्त्वदर्थं वै तत्तपो यद्भवत्स्मृतिः ॥३॥

अहो ! पुंसां महामोहस्त्वहो ! पुंसां प्रमादिता।
वासुदेवमनादृत्य यदन्यत्र कृतश्रमाः ॥४॥

नाधोक्षजात्परो धर्मो नार्थो नारायणात्परः।
न कामः केशवादन्यो नापवर्गो हरिं विना ॥५॥

इयमेव परा हानिरुपसर्गोऽयमेव हि।
अभाग्यं परमं चैतद्वासुदेवं न यत्स्मरेत् ॥६॥

गोविन्दं परमानन्दं मुकुन्दं मधुसूदनम्।
त्यक्त्वाऽन्यं नैव जानामि न स्मरामि भजामि च ॥७॥

न नमामि न च स्तौमि न पश्यामीह चक्षुषा ।
न स्पृशामि न वा यामि गायामि न हरिं विना ॥८॥

अर्थात् "हे नारायण ! इस स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् में आपसे अन्य कुछ भी नहीं है । मित्रों में भार्या, सब बन्धुओं में परम हितैषी धर्म आप ही हैं । माता, पिता, सुहृत्, धन, सौख्य, सम्पत्ति, और तो क्या प्राणेश्वर आप ही हैं । कथा वही है जिसमें आपका नाम हो, मन वही है जो आपमें अर्पित हो, काम वही है जो आपके लिए ही किया जाय और वही तपस्या है जिसमें आपका स्मरण होता रहे । प्राणियों के उस महामोह को, उस प्रमादिता को देखकर बड़ा ही खेद और आश्चर्य होता है, जिससे आपका अनादर करके अन्य विषयों में महान् परिश्रम करते हैं । हे भगवान् ! आपसे श्रेष्ठ ऐसा अन्य कोई न धर्म है, न अर्थ, न काम और न मोक्ष ही । भगवान् वासुदेव का स्मरण न होना ही परम हानि, परम उपद्रव, परम दौर्भाग्य है । परमानन्दकन्द मधुसूदन भगवान् गोविन्द को छोड़कर मैं न तो अन्य किसी को जानता ही हूँ, न स्मरण करता हूँ, न भजता हूँ । न नमन करता हूँ, न किसी दूसरे की स्तुति करता हूँ, न अन्य को आँख से देखता हूँ, न स्पर्श करता हूँ, न अन्यत्र कहीं जाता हूँ, न बिना हरि के अन्य का गान करता हूँ ।" इत्यादि श्लोकों के द्वारा अनन्यता का स्वरूप प्रदर्शित किया है ।

इतना सब मन्थन करने का तात्पर्य यही है कि भगवान् श्रीवासुदेव की उपेक्षा करके अन्य देवों का समाश्रयण करना अभिप्रेत नहीं, अपितु वासुदेव-भावना से या भगवान् की आराधना-बुद्धि से अन्य देवताओं का भी आदर अवश्य ही करना उचित है । इसीलिए काशीखण्ड में आगे चलकर लिखा है कि श्रीविष्णु की आज्ञा से ध्रुव ने भगवान् श्रीविष्णु के उपास्य श्रीशङ्कर भगवान् की पूजा की । ध्रुव को वरदान आदि देकर भगवान् श्रीविष्णु ने उनसे कहा :—

ध्रुवावधेहि वक्ष्यामि हितं तव महामते ।
येन ते निश्चलं सम्यक्पदमेतद्भविष्यति ॥१॥
अहं जिगमिषुस्त्वां पुरीं वाराणसीं शुभाम् ।
साक्षाद्विश्वेश्वरो यत्र तिष्ठते मोक्षकारणम् ॥२॥
विपन्नानां च जन्तूनां यत्र विश्वेश्वरः स्वयम् ।
कर्णे जापं प्रकुरुते कर्मनिर्मूलनक्षमम् ॥३॥
अल्पसंसारदुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति काशिकाऽऽनन्दभूमिका ॥४॥
इदं रम्यमिदं नेति बीजं दुःखमहातरोः ।
तस्मिन् काश्यग्निना दग्धे दुःखस्यावसरः कुतः ॥५॥

प्राथ्यं सम्प्राप्यते येन न भूयो येन शोच्यते ।
वैकुण्ठनगरात्काशीं नित्यं विश्वेशमर्चितुम् ॥६॥
अहमायामि नियमाज्जगदार्यां तदश्चिताम् ।
मायायाः परमाशक्तिस्त्रिलोक्या रक्षणक्षमा ॥
तत्र हेतुर्महेशानः स सुदर्शनचक्रदः ॥७॥
पुरा जालन्धरं दैत्यं ममापि परिकम्पनम् ।
पादाङ्गुष्ठाग्ररेखोत्थं चक्रं कृत्वा हरोऽहरत् ॥८॥
तच्च चक्रं मया लब्धं नेत्रपद्मार्चनाद्विभोः ।
एतत्सुदर्शनाख्यं वै दैत्यचक्रप्रमर्दनम् ॥९॥
तन्मया तव रक्षार्थं भूतविद्रावणं परम् ।
तावत्प्रणुन्नं पुरतस्ततश्चाहमिहागतः ॥
काशीमिदानीं यास्यामि विश्वेश्वरविलोकने ॥१०॥
पञ्चक्रोश्याश्च सीमानं प्राप्य देवो जनार्दनः ।
वैनतेयादवारुह्य करे धृत्वा ध्रुवं ततः ॥११॥
मणिकर्ण्यां परिस्नाय विश्वेशमभिपूज्य च ।
ध्रुवं बभाषे भगवान् हितं तस्य चिकीर्षयन् ॥१२॥
लिङ्गं स्थापय यत्नेन क्षेत्रेऽत्रैवाविमुक्तके ।
त्रैलोक्यस्थापनं पुण्यं यथा भवति तेऽक्षयम् ॥१३॥

अर्थात् "हे ध्रुव ! तुम महामति हो । सावधान होकर सुनो । मैं तुम्हारे हित की बात कहता हूँ, जिससे तुम्हारा स्थान अत्यन्त अचल हो जायगा । मोक्षदाता साक्षात् भगवान् श्रीविश्वनाथजी जहाँ निवास करते हैं, उस परम पवित्र काशीपुरी को मैं जाना चाहता हूँ । जिस काशी में स्वयं श्रीविश्वेश्वर भगवान् मृत प्राणियों के कान में उस मंत्र का उपदेश करते हैं, जिससे उन प्राणियों के समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं । सभी तरह के उपद्रवों को देनेवाले इस तुच्छ संसाररूपी दुःख को दूर करने का यह आनन्द-भूमि काशी ही एकमात्र उपाय है । दुःखरूपी महान् वृक्ष का बीज विषयों में समीचीनता-असमीचीनता-बुद्धि है । काशीरूपी अग्नि जब उस बीज को भस्मीभूत कर डालता है, तब दुःखरूप महावृक्ष ही कैसे उत्पन्न हो सकता है ? जिससे समस्त अभीष्ट मनोरथों को प्राप्त किया जा सकता है और जहाँ जाने पर फिर शोक-सन्ताप का भय नहीं रह जाता, ऐसे वैकुण्ठ से श्रीविश्वनाथ की पूजा करने के लिए मैं नित्य नियमपूर्वक उस जगद्वन्द्य काशी में आया करता हूँ । तीनों लोकों की रक्षा करने में समर्थ माया की जो परमशक्ति है, उसको देनेवाले सुदर्शन चक्र के दाता श्रीविश्व-

नाथ ही हैं। पूर्वकाल में जालन्धर नाम का एक दैत्य हुआ था, जिसके पराक्रम से मैं भी भयभीत हो गया था। किन्तु भगवान् श्रीशङ्कर ने अपने पैर के अँगूठे के अग्रभाग से चक्र बनाकर, उससे जालन्धर को मार डाला था। अपने नेत्र-कमलों से भगवान् शङ्कर की पूजा करके मैंने वही चक्र उनसे प्राप्त किया। दैत्य समुदाय को मर्दन करनेवाला वही यह सुदर्शन चक्र मेरे पास है। समस्त दुष्ट प्राणियों को भगानेवाले उस सुदर्शन चक्र को तुम्हारी रक्षा के लिए आगे भेजकर मैं यहाँ आया हूँ। अब इस समय श्रीविश्वनाथ का दर्शन करने के लिए मैं काशी की ओर चल रहा हूँ।" उसके बाद पञ्चक्रोशी की सीमा के पास पहुँचकर वे गरुड़ से नीचे उतरे और उन्होंने ध्रुव का हाथ पकड़कर मणिकर्णिका में स्नान किया। फिर श्रीविश्वनाथ का पूजन करके ध्रुव के हित की कामना से कहा—"हे ध्रुव, तुम इस अविमुक्त वाराणसी क्षेत्र में प्रयत्नपूर्वक भगवान् के लिङ्ग की स्थापना करो। इससे त्रैलोक्यस्थापन करने का अक्षय पुण्य तुम्हें प्राप्त होगा" इत्यादि।

ऐसे इस गम्भीर शास्त्रीय अभिप्राय को न समझकर शैव-वैष्णव-नामधारी पाखण्ड से नष्टबुद्धि मायामोहित जन ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र में भेद-भाव देखते हैं। यह नहीं जान पाते कि वे तीनों एक ही सच्चिदानन्दघन पूर्ण अद्वितीय तत्त्व हैं।

ब्रह्माणं केशवं रुद्रं भेदभावेन मोहिताः।
पश्यन्त्येकं न जानन्ति पाषण्डोपहता जनाः॥

वे ऐसे सैकड़ों शास्त्रवचनों से उपदेश किये गये अभेद को नहीं देखते। इस बात की उपेक्षा करते हैं कि एक ही परमकारण तत्त्व अनेक रूप में विराजमान है। उन परमेश्वर के अनेक रूपों में से किसी एक को लेकर दूसरे रूपों की निन्दा करते हुए आपस में कलह करते हैं। ऐसा करके मानों अपने उसी आराध्य भगवान् से ही द्रोह करके नरक में जाने की तैयारी करते हैं।

एक दूसरे पर अनन्य प्रीति करनेवाले दो मालिकों के नौकर यदि एक दूसरे के स्वामी की निन्दा करें तो वे दोनों जैसे स्वामिद्रोही ही कहे जाते हैं वैसे ही एक-दूसरे के आत्मा और एक-दूसरे के ध्यान में निमग्न माधव श्रीविष्णु और उमा-धव श्रीशिव की निन्दा करनेवाले स्वामिद्रोही ही हैं।

कोई जिज्ञासु ऐसा प्रश्न कर सकता है कि भगवान् शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि देवताओं में से किसकी उपासना करनी चाहिए? कोई किसी को निकृष्ट, तो कोई किसी को बड़ा बतलाता है। ऐसी स्थिति में बुद्धि व्याकुल हो जाती है। इसका उत्तर यही हो सकता है कि भगवान् के विचित्र प्रपञ्च में विचित्र स्वभाव के जीवों का निवास है। इसीलिए श्रीभगवान् भिन्न स्वभाववाले जीवों की विभिन्न

रुचियों का अनुसरण करके विभिन्न रूप में प्रकट होते हैं। किसी का चित्त भगवान् के किसी स्वरूप में खिचता है, किसी का किसी में। वेद-पुराणादि शास्त्रों में सर्वोत्कृष्ट रूप से प्रतिपादित सभी रूप भगवान् के ही हैं। अतः जिस रूप में प्रीति हो, उसी रूप की उपासना करनी चाहिए। अनभिज्ञ लोग एक की निन्दा और दूसरे रूप की प्रशंसा करते हैं, अभिज्ञ तो सभी रूपों में अपने प्रभु को ही देखकर सन्तुष्ट होते हैं। जैसे कोई व्यक्ति अनेक विद्याओं में निपुण होने के कारण अपने अनेक वेष और नामों से अनेक कार्य करता हो, भिन्न-भिन्न कार्यार्थी पृथक् वेष और नामवाले रूप के अनुरागी हों और उसे ही सर्वोत्कृष्ट समझने लगें।

दूसरे लोग दूसरे वेष और नामवाले रूप के अनुरागी हों। उनमें कुछ लोग किसी रूप के प्रशंसक हों और कुछ किसी के निन्दक हों, इसलिए परस्पर युद्ध होने लगे, वहाँ जो लोग वस्तु-स्थिति को जाननेवाले होंगे वे तो दोनों ही विवादी दलों की मूर्खता पर परिहास करेंगे, क्योंकि वे दोनों ही वेषों में एक ही तत्त्व को देखते हैं।

योगवासिष्ठ के विपश्चिदाख्यान में मृगरूप से समागत विपश्चित् को देखकर श्रीवसिष्ठजी ने यही विचार किया था कि जिस व्यक्ति का जो स्वरूप कभी भी उपास्य हो, उसका कल्याण उसके ही द्वारा सुगम होता है। यह समझकर करोड़ों जन्म के पहले अग्नि की उपासना करनेवाले मृगरूप विपश्चित् के सामने अपने योगबल से उन्होंने अग्नि का प्राकट्य किया। अग्नि का दर्शन होते ही वह मृग ऐसी स्नेहभरी दृष्टि से अग्नि को देखने लगा, जैसे अग्नि के साथ उसका कोई बहुत पुराना सम्बन्ध हो। अनन्तर वसिष्ठजी की कृपा से उसका कल्याण हुआ। अस्तु, प्रकृत में कहना यही है कि स्वप्नदर्शन तथा माहात्म्यश्रवण आदि से चित्त का आकर्षण देखकर अपने इष्टदेव का निर्णय करना चाहिए।

यह स्पष्ट है कि अनेक जन्म के साधनों से प्राणी की उपासना में उन्नति होती है। जन्म-जन्म में मार्ग-परिवर्तन करने से यथेष्ट लाभ सम्भव नहीं है। अतः पूर्व की उपासना के संस्कार का ज्ञान करके उसी उपासना में प्रवृत्त होना चाहिए। पितृ-पितामह-परम्परा की उपासनाओं के अनुसार ही प्राणी को उपासना करनी चाहिए। वर्तमान जन्म की सत्प्रवृत्ति और दुष्प्रवृत्ति में पिछले जन्मों के संस्कार भी अपेक्षित होते हैं। यदि किसी को दुर्दैववश, किसी ऐसे देश-काल में, ऐसे माता-पिता, गुरु-जनों तथा ग्रन्थों का संसर्ग हुआ कि जिनसे दुराचार-दुर्विचार को ही उत्तेजना मिली, तो उस व्यक्ति के लिए दुःसङ्ग और असद्विचारवाले शास्त्रों को छोड़कर सत्पुरुष-सङ्ग, सच्छास्त्र के अभ्यास एवं तदनुसार सदाचार-सद्विचार के सम्पादन में बड़ी कठिनाई पड़ती है। जिसे पूर्व संस्कार के अनुसार शुद्ध विचारवाले देश-काल

तथा माता-पिता गुरुजनों का संयोग प्राप्त हुआ और सच्छास्त्र ही अध्ययन करने को मिले, उसके लिए सदाचार-सद्विचार की वृद्धि में बड़ी सहायता मिलती है। इसीलिए प्रायः सन्मार्गस्थ सदाचारी को उसकी भावना और उपासना के अनुसार ही समीचीन देश-काल और माता-पिता तथा शास्त्रों का संसर्ग मिलता है। इसी बात की इङ्गना श्रीभगवान् ने **"शुचीनाम् श्रीमतां गेहे" "अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्", 'पूर्वाभ्यासेन कौन्तेय ह्रियते ह्यवशोऽपि सः"** इत्यादि वचनों से की है। इसीलिए यह बहुत सम्भव है कि हमारी उपासना के अनुकूल ही कुल में हमारा जन्म हुआ हो। अतः हमें माता-पिता, गुरुजनों के अनुसार ही उपासना करनी चाहिए।

यों भी इस बात के समझने में सुगमता होगी कि जैसे कोई पुरुष किसी अपरिचित मार्ग से किसी अभीष्ट देश में जा रहा हो, आगे चलकर उसे तीन मार्ग दिखाई दें और तीनों पर कुछ लोग चल रहे हों, प्रश्न करने पर सभी अपने मार्ग को ही निर्विघ्न बतलाते हों, साथ ही दूसरे मार्गों को नाना प्रकार के सिंह-व्याघ्र-सर्प-वृश्चिक-कण्टकाकीर्ण गर्तों से उपद्रुत बतलाते हों, ऐसी स्थिति में यदि जाना आवश्यक ही हो तो वह प्राणी किस मार्ग का अवलम्बन करेगा? समझदार तो यही कहेंगे कि उन मार्गानुगामियों में से अधिक विश्वास उन्हीं पर किया जा सकता है, जो अपने राष्ट्र, प्रान्त, नगर तथा ग्राम के हों या अपने कुटुम्बियों में से हों। यह बात दूसरी है कि जब बहुत विशिष्ट अनुभवों से उस मार्ग के दूषित तथा मार्गान्तर के निर्विघ्न होने की बात निश्चित हो गयी हो, तब किसी दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया जाय।

इसलिए भी अपनी पितृ-पितामह-परम्परा में जो उपासना और आचार तथा शास्त्र मान्य हों, वही उचित हैं। वेद ने भी **"किस्वित् पुत्रेभ्यः पितरावुपावतः"** इस वाक्य से परम्परागत आचार का समर्थन किया है। श्रीनीलकण्ठजी ने इसका यही अभिप्राय बतलाया है कि पुत्र के हित के लिए माता, पिता या पितामह प्रभृति ने जिस व्रत का पालन या जिस देवता की उपासना किया हो, उस पुत्र के लिए उसी व्रत या देवता का अवलम्बन करना चाहिए। ऐसे ही सम्प्रदायभेद से भस्म, गोपीचन्दन आदि की भी व्यवस्था बतायी गयी है। उसमें भी यह व्यवस्था शुद्ध शास्त्रीय है कि स्नान करके मृत्तिका और होम करके भस्म और देवपूजन के पश्चात् चन्दन आदि लगाया जाय, क्योंकि भस्म वैदिकों के लिए किसी अवस्था में त्याज्य नहीं हो सकता।

यहाँ कोई प्रश्न कर सकता है कि यद्यपि इस तरह से किसी भी देवता की आराधना, भस्म, रुद्राक्ष, गोपीचन्दनादि का धारण सङ्गत मालूम होता है तथापि

साम्प्रदायिक लोगों की बातें सुनकर तो जी घबराता है। कोई शिवजी के तथा भस्म-रुद्राक्ष के निन्दन में सहस्रों वचन उपस्थित करते हैं, तो कोई विष्णु तथा गोपीचन्दनादि के निन्दन में सहस्रों वचन देते हैं। इसका क्या आशय है ? उनको यही उत्तर दिया जा सकता है कि कुछ वचन तो निन्दा में तात्पर्य न रखकर एक की स्तुति में ही तात्पर्य रखते हैं। जैसे शैवों की शिव में निष्ठा दृढ़ करने के लिए विष्णु के निन्दा-सूचक और विष्णु में निष्ठा दृढ़ करने के लिए शिव के निन्दापरक वचन कहे जा सकते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी वचन हैं, जिनका सिवा राग-द्वेष के और कोई मूल ही नहीं हो सकता। बहुत से पुराण साम्प्रदायिकों के कलहों में बिगाड़े गये हैं। इसीलिए तो गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं :—

"हरित भूमि तृणसंकुल सूझि परै नहिं पंथ।
जिमि पाखण्ड विवाद तें लुप्त भये सदग्रंथ॥"

ऐसे ही यह भी प्रश्न होता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार के आचार और व्यवहार प्रचलित हैं। उन-उन सम्प्रदायों में कहा यह जाता है कि बिना इन आचारों के प्राणी का कल्याण हो ही नहीं सकता। चाहे कितना भी वैदिक शुद्ध ब्राह्मण क्यों न हो, परन्तु इन आचारों के बिना उसके हाथ से जल भी अग्राह्य है। ऐसे ही दूसरे साम्प्रदायिक अपने आचारों के विषय में भी उपर्युक्त बात ही कहते हैं। जिस आचार से एक सम्प्रदाय परम कल्याण कहता है, उसी आचार से दूसरा सम्प्रदाय सर्वथा पतन बतलाता है। एक वैसे आचारविहीन के दर्शन से प्रायश्चित्त बतलाते हैं तो दूसरे उसी आचारयुक्तवाले के ही दर्शन से प्रायश्चित्त बतलाते हैं। इसका यही उत्तर देना ठीक है कि जिसके सम्प्रदाय में जो आचार प्रचलित है, उसी के लिए उक्त उपदेश ठीक है और जिसके पितृ-पितामहादि में जो आचार नहीं है, उन्हें नहीं ग्रहण करना चाहिए। विवाद का मूल यही है कि लोग दूसरे सम्प्रदाय तथा आचार्यों की निन्दा करके अपने सम्प्रदाय के आचारों एवं सिद्धान्तों को स्वीकार करना चाहते हैं और जब वैसा ही दूसरे लोग करते हैं, तब फिर क्षुब्ध होते हैं। वे "आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! सुखं वा यदि वा दुःखम्" भगवान् के इन भावों को भूल जाते हैं।

लोगों को इस बात पर अवश्य ध्यान देना चाहिए कि जैसे कोई हमारे साम्प्रदायिक व्यक्ति को अपने सम्प्रदाय में मिलाता है तो हमें क्षोभ होता है, वैसे ही यदि हम भी दूसरे सम्प्रदाय के व्यक्ति को अपने में मिलायेंगे तो अन्य लोगों को भी वैसे ही क्षोभ होगा। परन्तु प्रायः देखते-देखते कितने स्मार्त्त भिन्न सम्प्रदायों में मिला लिये जाते हैं। साथ ही कहीं-कहीं कोई साम्प्रदायिक भी स्मार्त्त बना लिये जाते हैं। यही राग-द्वेष का मूल इतना बद्धमूल हो गया है कि हिन्दू-मुसलमानों से भी कहीं अधिक घनिष्ठ संघर्ष साम्प्रदायिकों में दृष्टिगोचर होता है।

वेदान्त-वेद्य, पूर्ण परब्रह्म भगवान् ही सकल सच्छास्त्रों के महातात्पर्य के विषय हैं और यही वर्णाश्रमानुसार सर्व कर्म-धर्म से समर्हणीय हैं। इनका अपरोक्ष साक्षात्कार ही जीवन का चरम फल है। परन्तु प्रथम से ही प्राणियों का मन इन परम-दुरवगाह्य भगवान् के मनोवचनातीत स्वरूप में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः परम करुण प्रभु भक्तानुग्रहार्थ ही अपने अनेक प्रकार के मङ्गलमय स्वरूप को धारण करते हैं।

उपनिषदों में दहर-विद्या, शाण्डिल्य-विद्या, वैश्वानर-विद्याओं के रूप में इनकी ही अनेक सगुण उपासनाएँ विस्तीर्ण हैं। यही भगवान् विघ्नराज श्रीगणेश के रूप में ऋद्धि-सिद्धि आदि निज शक्तियों सहित आराधित होकर भक्तों का सर्वविघ्न-निवारण, सर्व-अभीष्ट-सम्पादनपूर्वक स्व-स्वरूप साक्षात्कार कराकर परम गति देते हैं और यही विश्वचक्षु भगवान् भास्कर के रूप में उपास्य होकर सर्व-रोग-निवारणपूर्वक अपने पारमार्थिक विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार कराकर भव-रोग से मुक्त कर देते हैं। ऐसे ही यही वेदान्तवेद्य शुद्ध भगवान् अविद्याशक्तिप्रधान होकर प्रपञ्च का निर्माण करते हैं, विद्याशक्तिप्रधान होकर मोक्ष प्रदान करते हैं और अनन्त अखण्ड विशुद्ध चिति-शक्ति-रूप से सर्व दृश्य के अधिष्ठानरूप विराजमान होते हैं। वही महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती आदि रूप में उपास्य होकर सर्वभुक्ति-मुक्ति-प्रदायक होते हैं। वही विशुद्ध ब्रह्म, भूतभावन भगवान् विश्वनाथ, श्रीविष्णु, नृसिंह एवं श्रीमद्राघवेन्द्र रामभद्र तथा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द-कन्द-रूप में उपासित होकर सर्वसिद्धि प्रदान करते हैं।

अस्तु—

इन सभी स्वरूपों की गायत्र्यादि वैदिक मन्त्रों एवं वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त कर्मों द्वारा की गयी उपासना मुख्य है। वेदशास्त्रोक्त स्वधर्म कर्म के अनुष्ठान के बिना पाशविकी उच्छृङ्खल चेष्टाओं का अन्त नहीं होता। बिना श्रौत-स्मार्त-शृंखला-निबद्ध चेष्टाओं के इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदि का नियन्त्रण असम्भव है और बिना सर्व करण-रोध के अदृश्य विशुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार भी असम्भव है। अतः श्रौत-स्मार्त-कर्म-धर्म द्वारा ही परमेश्वर का मुख्य आराधन है।

इसी विशुद्ध वैदिक धर्म का बौद्ध आदि अवैदिक एवं वैदिकाभासों द्वारा विप्लव होने पर भगवान् शंकराचार्य ने अवतीर्ण होकर उसे पुनः प्रतिष्ठित किया है। श्रीविद्यारण्य प्रभृति विद्वानों ने तथा अन्यान्य प्राचीन-अर्वाचीन सन्तों ने भी इसी मत का पोषण किया है। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, तुलसीदास ने भी इसी परम उदार सिद्धान्त का पोषण किया है। उसमें तीनों वर्णों के लिए गायत्री मुख्य उपास्य है। जिनके लिए गायत्री का अधिकार नहीं है, उन अवैदिकों के लिए अवैदिकी उपासनाएँ हैं। जो गायत्री मन्त्र के अधिकारी त्रैवर्णिक वैदिकसंस्कारसम्पन्न

हों, उन्हें यदि गायत्री में परितोष न हो, तो विष्णु, शिव आदि देवताओं का विष्णु, शिव आदि मन्त्रों से आराधन कर सकते हैं। वैदिकसंस्कार-सम्पन्न होने के कारण इन मन्त्रों में उनका अधिकार सहज सिद्ध है। अर्थात् विष्णु, शिव, सूर्य तथा शक्ति इन पञ्च देवताओं की, किंवा अन्य सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म की उपासना गायत्री मन्त्र द्वारा ही पूर्ण सुसम्पन्न हो सकती है और इसके सिवा वैदिक शिव, विष्णु आदि मन्त्रों से भी तत्तत् उपासनाएँ हो सकती हैं।

इन समस्त वैदिक उपासनाओं में वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त धर्म का अनुष्ठान भी परमावश्यक है। वेद ने उपासना-विहीन कर्मों को स्वप्रकाश ब्रह्म की अपेक्षा स्वर्गादि तुच्छफल के देनेवाले होने से अन्धतम की प्राप्ति के कारण कहे हैं। परन्तु कर्मविहीन उपासनाओं से तो घोर अन्धतम की प्राप्ति कही गयी है; क्योंकि स्वधर्मानुष्ठान बिना इष्ट में चित्त की एकाग्रतारूप उपासना भी सम्पन्न न हो सकेगी।

स्वधर्मभ्रष्ट के लिये कहा गया है कि चाहे कितना भी श्रीहरि की भक्ति, किंवा ध्यान में तत्पर क्यों न हो, परन्तु यदि आश्रम के आचारों से भ्रष्ट है, तो वह पतित ही कहा जाता है। यथा—

हरिभक्तिपरो वापि, हरिध्यानपरोऽपि वा।
भ्रष्टो यः स्वाश्रमाचारात्पतितः सोऽभिधीयते॥

(बृहन्नारदीये)

अतः चाहे वैष्णव हो, चाहे शैव हो, सबको वेदशास्त्रोक्त स्वधर्म का अनुष्ठान आवश्यक है। द्विजों के जो आचार-व्यवहारचिह्न हैं, वे सभी उसको अत्यन्त आदरणीय होने चाहिये।

कोई जिज्ञासु यह पूछ सकता है कि कुछ शैव तथा वैष्णवों का कहना है कि गायत्री, यज्ञोपवीत एवं अन्यान्य ब्राह्मणादि धर्म शैव या वैष्णव के लिये गौण हैं, उनके लिये तो अष्टाक्षर, पञ्चाक्षरादि मन्त्र ही का अत्यन्त प्राधान्य होना चाहिये। वेद-शास्त्र तथा तदुक्त वर्णाश्रम-धर्म के बिना भी केवल शैव एवं वैष्णवधर्म से तदुक्त वर्णाश्रम-धर्म के बिना भी केवल शैव एवं वैष्णवधर्म से उनका कल्याण हो जाता है। इसका यह उत्तर है कि यद्यपि विष्णुमन्त्रादि प्राणिकल्याण के साधनरूप में आदरणीय हैं, तथापि वैष्णवतादि से द्विजत्व ही अधिक प्रबल है; क्योंकि द्विजत्व परमेश्वर-दत्त है। वैष्णवत्व, शैवत्व आदि प्राणि-संपादित हैं, अतः वैष्णवतादि के निमित्त से होनेवाले धर्मों का सम्मान अवश्य करना चाहिए। परन्तु परमेश्वर-दत्त द्विजत्व की रक्षा का भी ध्यान रखना परमावश्यक है। द्विजत्व की अभिव्यक्ति यज्ञोपवीत, भस्म एवं शिखा से होती है, वैष्णवता की अभिव्यक्ति कण्ठी, गोपीचन्दनादि से होती है। वैष्णवता के चिह्नों से द्विजत्व के चिह्नों का तिरस्कार

अत्यन्त असंगत है। इसलिये वैदिकों के गृह में वैष्णवता को द्विजत्व से अवरुद्ध होकर ही रहना चाहिये। अवैदिकों के यहाँ यथारुचि व्यक्त लिङ्गों से वैष्णवता भले ही रहे।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि शैव, वैष्णव, शाक्त इन सभी सम्प्रदायों में प्रधान रूप से दो भेद हो गये हैं—एक वैदिक, दूसरा अवैदिक। वैदिकों के यहाँ वेद तथा वेदोक्त कर्म एवं तदनुसारी लिङ्गों का प्राधान्य होता है और तदविरुद्ध प्रकार से ही विष्णु, शिव आदि देवताओं की उपासना होती है तथा सभी देवताओं का सम्मान होता है।

इन वैदिकों में किसी दूसरे देवता की निन्दा करना पाप समझा जाता है। परन्तु अवैदिक वैष्णवों तथा शैवों के यहाँ वेद या तदुक्त धर्म-कर्म तथा तदनुकूल लिङ्गों का कोई सम्मान नहीं, केवल साम्प्रदायिक आगम तन्त्रादि के अनुसार आचार एवं चिह्नों का ही अधिक सम्मान है।

द्विज के लिये वैदिक चिह्नों का तिरस्कार अयुक्त है, शैवत्व या वैष्णवत्व पितृपरम्परा से नियत नहीं है। वैदिक लोगों का तो यही कहना है कि जिस पुत्र के कल्याण के लिये उसके पिता, माता, पितामह-प्रपितामह आदि ने जिस व्रत का या देवता का अनुष्ठान-आराधन किया हो, उस पुत्र के कल्याण का मूल वही व्रत एवं उसी देवता का आराधना है। ऐसी व्यवस्था मानने से राग-द्वेष मिट जाते हैं। अतः जिसकी मातृ-पितृ-परम्परा में जिस देवता का आराधना प्रचलित हो, उसे उसी देवता के आराधन में तत्पर होना चाहिये।

●

मानसी-आराधना

अजगर रूपधारी अघासुर के मुख में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द ने भी अपने बछड़ों की रक्षा के लिये प्रवेश किया। अघासुर अपनी आजगर देह को छोड़ भगवान् के स्वरूप में मिल गया। साधारण दृष्टि से यहाँ आश्चर्य हो सकता था कि गो-ब्राह्मणों के मांस-रुधिरों से उदर-पोषण करनेवाले, देव-धर्म-शास्त्रद्रोही उस असुर को भगवत्सायुज्य पद कैसे प्राप्त हुआ ? इसी पर 'श्रीमद्भागवत' में श्रीशुक ने परीक्षित से कहा

राजन् ! जिसके मङ्गलमय श्री-अङ्ग की मानसी-प्रतिमा एक बार हृदय में धारण करने से अपरिगणित प्राणियों को मुक्ति प्राप्त हो जाती है, वे मायातीत सच्चिदानन्द भगवान् जिसके हृदय में साक्षात् प्रविष्ट हुए उसके सायुज्य (मुक्ति) में क्या आश्चर्य—

"सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहित मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एवनित्यात्मसुखानुभूत्यभिर्व्युस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥"

भगवान् के मङ्गलमय श्रीअङ्ग की काष्ठमयी, धातुमयी प्रतिमा भी श्रद्धा-उत्कण्ठापूर्वक हृदय में धारण और चिन्तन करने से प्राणियों को परम सद्गति प्रदान करती है। जिन महानुभावों के अन्तर हृदय में भगवान् के श्री-अङ्ग की मनोमयी प्रतिमा सदा विराजमान रहती है वे तो अपना ही क्या, विश्व का कल्याण कर सकते हैं। वे भगवान् की मानसी मूर्ति के ध्यान को ही परम पुरुषार्थ मानते हैं, त्रिभुवन-सम्पत्ति के लिये भी भगवान् के मङ्गलमय श्रीचरणारविन्द से लव या अर्द्ध निमेष भी नहीं चलायमान होते।

जिस हृदय में भगवान् के चरणारविन्द की नखचन्द्र-चन्द्रिका विस्तीर्ण है, वहाँ शोक-मोह, पाप-ताप रह ही कैसे सकते हैं ? जिस तरह शैत्य के योग से निर्मल जल ही बर्फ, ओला रूप से उपलब्ध होता है, किंवा घृत-वर्तिका या विचित्र जलादि के संघर्ष से अदृश्य व्यापक अग्नि ही दाहकत्व प्रकाशकत्व विशिष्ट दीपशिखा या विद्युल्लता-रूप में अभिव्यक्त होती है, उसी तरह विशुद्ध सत्वमयी स्वेच्छा या कृपा के योग से ही अदृश्य, अनन्त, आनन्दसुधाम्बुनिधि परम तत्व ही माया से अनभिभूत या असंस्पृष्ट दिव्य मूर्तिमान होकर व्यक्त होते हैं। उनका दर्शन, स्पर्शन, अनुभव, परम तत्व का ही अनुभव है। अतएव जिन लोगों ने भगवान् श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र का दर्शन, स्पर्शन, अनुगमन किया, वे सभी परम पद के भागी हुए—

"स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥"

सीता के सन्देश से प्रसन्न होकर मारुति को अपने श्रीअङ्ग का परिष्वङ्ग देते हुए भगवान् ने ही कहा है—

"एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गोऽयमद्भुतः।
मया कालमिमम्प्राप्य दत्तोह्यस्य महात्मनः॥"

अर्थात् महात्मा मारुति को इस अवसर पर मैं सर्वस्वभूत यह परिष्वङ्ग (ब्राह्म-संस्पर्श) देता हूँ। इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण, निरञ्जन, विगत-विनोद, व्यापक ब्रह्म ही श्रीकौशल्यानन्दवर्धन राम या यशोदोत्सङ्गलालित कृष्ण के रूप में व्यक्त होता है। फिर उनके संस्पर्श, उनकी प्राप्ति ब्रह्म की प्राप्ति क्यों न हो? इतना ही नहीं, भावुकों के मानस-पंकज में व्यक्त भगवान् की मङ्गलमयी मानसी प्रतिमा भी शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही है, तभी उसको हृदय में आधान होने से मुक्ति की बात सङ्गत हो सकती है। यद्यपि मन की और कल्पनाएँ मनोराज्य-कोटि में परि-गणित होती हैं, तथापि श्रीभगवान् के सम्बन्ध की सभी कल्पनाएँ—भावना – आरा-धना पद से व्यवहृता होती हैं। जैसे—

शीतभरमन्थर—तरकायकाण्ड शीतातुर की भावना से—स्फुरज्ज्वालाजटिल अनल का साक्षात्कार या कामुक विधुर की भावना से होनेवाले कामिनीसाक्षात्कार को प्रमा न मानकर भ्रमरूप ही माना जाता है, वैसे उत्कण्ठापूर्वक भावना से होने-वाले भगवान् के साक्षात्कार को भ्रमरूप नहीं समझा जाता। क्योंकि जैसे भावरूप निदिध्यासन या निर्गुणोपासन से निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है वैसे ही सगुण ब्रह्म की भावना से उसका साक्षात्कार होता है। यद्यपि कामुक-कामित कामिनी साक्षा-त्कार और भक्तभावित भगवत्साक्षात्कार इन दोनों ही स्थलों में पुनः-पुनः साभिनिवेश चिन्तनरूप अभ्यास से जन्म संस्कारप्रचय (संस्कार-समूह) ही कारण है, अर्थात् अभ्यासजन्य संस्कार—प्रचय की ही महिमा से ब्रह्म का साक्षात्कार और उसी से भावित कामिन्यादि का साक्षात्कार होता है, तथापि ब्रह्मसाक्षात्कार-स्थल में प्रमाण का संवाद होने से उसे प्रमा (यथार्थ ज्ञान) माना जाता है। प्रमाण-संवाद न होने से ही भावित कामिन्यादि साक्षात्कार को भ्रमरूप माना जाता है।

जिस ब्रह्म का अभ्यासजन्य संस्कारसंस्कृत अन्तःकरण से जिस रूप में साक्षा-त्कार होता है, वह अपौरुषेय स्वतःप्रमाण वेदान्त से सम्मत है। अतः वह साक्षात्कार प्रमारूप है, परन्तु अन्यभावनाजन्य प्रत्यक्षों में प्रमाण का संवाद नहीं है। इसके सिवा विधुरभावित कामिनी या शीतातुरभावित अग्नि का साक्षात्कार तो होता है, परन्तु वहाँ तो वे हैं ही नहीं। जब जिसका साक्षात्कार होता हो और वह वस्तु वहाँ न हो, तब उस साक्षात्कार को प्रमा कैसे कहा जा सकता है? परमात्मवस्तु तो सर्वत्र सर्वदा ही विराजमान है, अतः उसके प्रमाणान्तरसंवादी साक्षात्कार को भ्रम मानने का कोई भी कारण हुए भी योगमाया से आवृत होने के कारण सबको नहीं उपलब्ध

होते। जिसके प्रति योगमायारूप जवनिका (पर्दा) का अपसारण हो जाता है, उसे ही भगवान् का साक्षात्कार होता है।

भगवान् के स्वेच्छामय स्वरूप का प्रादुर्भाव कहीं भी हो सकता है। परीक्षित के रक्षार्थ उत्तरा के गर्भ में, प्रह्लाद के रक्षार्थ स्तम्भ में जैसे उनका आविर्भाव हो सकता है, वैसे ही भक्त की भावना से भक्त के हृदय में भी प्रादुर्भाव होता है। इसीलिए भावुकों ने कहा है—

"यद्यद्धियातउरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।"

अर्थात् भगवान्! भक्त अपनी बुद्धि से आपके जैसे-जैसे रूप का भावन करता है, आप वैसे-वैसे ही स्वरूप को धारण करते हैं। इसीलिये भक्त की इच्छा से ही भगवान् का रूप बनता है।

प्रथम शास्त्रों और सत्पुरुषों के वचनों से भगवान् के स्वरूप और सौन्दर्य, माधुर्य, भूषण, वसन, अङ्ग-उपाङ्ग आदि की मन से ही भावना की जाती है और वह भावना नीलमेघ, पंकज, मणि, सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि उपमाओं के ही आधार पर होती है, पश्चात् ध्यान और मानस पूजन की महिमा से वही साधारण-सी ही भावनामयी मूर्ति दिव्य श्रीविग्रहरूप में व्यक्त हो जाती है। इसीलिये यहाँ की भावना केवल मनोराज्य नहीं है। धातुमयी मूर्ति में भी यद्यपि ईश्वर के व्यापक होने और मन्त्र की विचित्र शक्ति से उनका आविर्भाव माना जाता है, तथापि भावना की वहाँ भी बड़ी प्रधानता है। तभी कहा गया है कि भाव में ही देवता है इसीलिये भाव ही मुख्य कारण है—

"भावो हि विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणम्।"

साधारण-से-साधारण भोग या नैवेद्य में भावना की महिमा से प्रियत्वसम्पत्ति हो जाती है। भावुक लोग भगवान् के सम्मुख स्थापित नैवेद्य में श्रीलक्ष्मीनिर्मित दिव्यभोग की भावना करते हैं। कौशल्या-सुमित्रादि माताओं और सुनयनादि श्वश्रुओं से निर्मित अनन्त व्यञ्जनों की भावना साधारण शाक में भी बनायी जा सकती है। भक्त कहता है—

"नाथ! आपने जिस रुचि से शबरी के बेर और सुदामा के तण्डुल को ग्रहण किया था, उसी रुचि से मेरे इस नैवेद्य को ग्रहण करो।" "देव! श्रीयशोदा, रोहिणी के हाथ के नवनीत और दधि की भावना से मेरे इन पदार्थों को ग्रहण करो।"

श्रीसीता-राधा से परिवेषित व्यञ्जनों की भावना से सचमुच भक्तसमर्पित वस्तु वैसी हो जाती है। भगवान् के सम्मुख स्थित नैवेद्यों में श्रीराधा की अधर-सुधा और भूषण-वसनों में श्रीराधा की ही भावना से अपनी समर्पित वस्तुओं का महत्त्व बढ़ा लिया जाता है। किसी कर्म में साभिनिवेश मन का योग होने से उसका महत्त्व बढ़ जाता है। यज्ञ, दान, तप आदि भी विद्या-भावना सहित किये जाने से उच्चतम फल

के कारण बन जाते हैं। कायिक, वाचिक, मानस विविध कर्मों में मानस कर्म की महिमा अधिक है। कायिक, वाचिक कर्मों का मूल भी मानस ही कर्म है। जैसे सूर्य्य-कान्ता पर सूर्य व्यक्त होता है, वैसे ही शुद्ध भावना पर भगवान् का प्राकट्य होता है। भावनामयी मूर्ति पर भगवान् का प्राकट्य होता है। जैसे वह्नि की ज्वाला, चन्द्र-सूर्य्य की ज्योत्स्ना या प्रभा अन्यत्र अव्यक्त होती है, वैसे ही मन्त्र-विधान और भावना की महिमा से देवतत्व की मूर्तियों में अभिव्यक्ति होती है। इन दृष्टियों से मनोमयी मूर्ति में तो साक्षात् ही भगवान् का आविर्भाव होता है। यद्यपि सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्व का स्वरूप श्रुति-युक्ति से समझ लिया जा सकता है और इसे भी अनन्तानन्त जन्मों के पुण्यपुञ्ज का ही परिणाम समझना चाहिये, तथापि श्रद्धाभक्ति-पूर्वक निरन्तर चिन्तन एवं भावना के बिना तत्व का अपरोक्ष नहीं होता।

सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् की निखिलरसामृतमूर्ति मनोहर विग्रह का ध्यान, भावन, मानस आराधन ही समस्त पुरुषार्थों का परम मूल है। बिना इसके सगुण या निर्गुण किसी भी स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हो सकता। पुरुषार्थ का मूल ही क्या, महानुभावों ने इसी को परम पुरुषार्थ भी स्वीकार किया है। यदि मन का अखण्डप्रवाह सौन्दर्य्यमाधुर्य्यसुधाजलनिधि भगवान् के श्रीअङ्ग की ओर हो, पदनख-मणिचन्द्रिका या अमृतमय मुखचन्द्र के माधुर्य्य-रसास्वादन में दृष्टि आसक्त हो जाय तब तो कुछ अवशिष्ट ही नहीं रहता। परन्तु, जबतक मनोमयी भगवदीय मूर्तिरूप में भगवान् का प्राकट्य नहीं हुआ और इस ओर पूर्ण मानसी स्थिति नहीं हुई, तब तक उसकी सिद्धि के लिये अन्य अर्चा आदि मूर्त्तियों में भगवान् की तनुजा और वित्तजा आराधना करनी चाहिये—

आचार्य्यों ने कहा है कि प्राणियों को सदा ही श्रीकृष्ण-सेवा में संलग्न रहना चाहिए। उनमें भी मानसी सेवा बड़े महत्त्व की है। चित्त की भगवत्प्रवणता (भगवान् में तन्मयता) ही मानसी सेवा है, उसी की सिद्धि के लिये तनुजा और वित्तजा सेवा करनी चाहिये—

"कृष्णसेवा सदा कार्य्या मानसी सा परा मता।
........तत्सिद्धयै तनुवित्तजा ॥"

•

सगुणोपासना में सरलता

श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द भगवान् से अर्जुन ने प्रश्न किया कि जो भक्त आपकी परमश्रद्धा सहित उपासना करते हैं और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं, इन दोनों में कौन अतिशय रूप से आत्यन्तिक पुरुषार्थप्राप्ति के उपाय को जाननेवाले हैं ?—

"एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तास्तेषां के योगवित्तमाः ॥"

प्रश्न का आशय यह है कि 'गीता' में द्वितीय अध्याय से लेकर दशम अध्याय पर्यन्त भगवान् ने भिन्न-भिन्न स्थलों में—सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, निराकार, निर्विकार, सर्वेन्द्रियाद्यगोचर ब्रह्म की एवं सर्वैश्वर्य्यसर्वज्ञानशक्त्यादिसम्पन्न विशुद्ध सत्वमय सगुण भगवान् की उपासना का वर्णन किया है। विशेषतः विश्वरूपाध्याय में भगवान् ने सगुण परमेश्वर के अचिन्त्य, अद्भुत, लोकोत्तरचमत्कारकारी स्वरूप का दर्शन भी कराया और अन्त में "मत्कर्मकृत्" इस वचन से यह कहा कि—

'मेरे लिये श्रौतस्मार्तकर्म करता हुआ, मुझे ही ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य समझता हुआ मेरी भक्ति करे और सर्वभूतों में वैरभावविवर्जित हो, तो प्राणी मुझे प्राप्त कर लेता है।'

ऐसी स्थिति में यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि दोनों उपासनाओं में कौन श्रेष्ठ है ? 'एवं' शब्द से अव्यवहित पूर्वोक्त प्रकार का परामर्श होता है। यद्यपि अव्यवहित पूर्व ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप का वर्णन है, तथापि यहाँ सविशेष स्वरूपमात्र की उपासना का प्रश्न समझना चाहिये। अर्थात् जो कोई भगवान् के अचिन्त्यानन्त कल्याणगुणगणार्णव विश्वरूप एवं श्रीमन्नारायण, श्रीसदाशिव अथवा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र की उपासना में निरत है और जो भगवान् के निर्विशेष स्वरूप में निरत है, इन दोनों में कौन श्रेष्ठ है ?

तब श्रीभगवान् ने कहा—जो महानुभाव मुझे सगुणस्वरूप में मन लगाकर परमश्रद्धा से उपासना करते हैं, वे मेरे मत में अत्यन्त श्रेष्ठ हैं—

"मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥"

तब क्या निर्गुण स्वरूप में परिनिष्ठित श्रेष्ठ नहीं हैं ? इस आशंका का समाधान करते हुए भगवान् कहते हैं कि अव्यक्त, निर्गुण ब्रह्म में निरतचित्त पुरुषों को क्लेश अधिकतर होता है, क्योंकि देहधारियों-देहाभिमानियों को अव्यक्त गति निर्गुणप्राप्ति—सम्पादन करनी बहुत कठिन है—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥"

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब श्रुतियों में निर्विशेष ब्रह्म की उपासना से अविद्या, तत्कार्य्यात्मकप्रपञ्चनिवृत्ति तथा परमानन्दप्राप्तिरूप मोक्ष सद्यः श्रुत है एवं सविशेष ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही गयी है, जिससे कालान्तर में कैवल्य प्राप्त होता है, तब निर्विशेष ब्रह्म की उपासना से सविशेष सगुण-ब्रह्म की उपासना का उत्कृष्टत्व कैसे कहा जा सकता है ? यद्यपि यह ठीक है कि अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, निराकार, निर्विकार, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म परमात्मा की उपासना से प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म का साक्षात्कार होने से मूलाविद्या की निवृत्ति होती है और अविद्या, तत्कार्यात्मक प्रपञ्च की निवृत्ति होते ही अनावृत परमानन्दघन ब्रह्मात्मनाऽवस्थानरूप सद्योमुक्ति प्राप्त हो जाती है और सगुण ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति एवं कल्पान्त में ब्रह्मा के साथ कैवल्य मुक्ति प्राप्त होती है, अतः सगुणोपासना की अपेक्षा फलदृष्टि से निर्गुणोपासना का ही महत्त्व है, तथापि निर्गुणोपासना में कठिनाई अधिक है, सगुणोपासना में सरलता है—

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् ।"

यदि कहा जाय कि निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति उत्कृष्ट है, अतः उसमें अधिकतर क्लेश होना उसकी निकृष्टता का हेतु नहीं है, क्योंकि उत्कृष्ट फलप्राप्ति में अधिकतर क्लेश होता ही है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि सगुण-उपासना से भी उसी फल की प्राप्ति होती है, जिसकी निर्गुणोपासना से। इसका कारण यह है कि भगवत्कृपा से भगवत्स्वरूप साक्षात्कार द्वारा उसी निर्गुणोपासक प्राप्य कैवल्यपद की प्राप्ति हो जाती है—

मनोवचनातीत, अनिदमात्मक, अनिर्देश्य ब्रह्म का प्राणिबुद्धि में आरोहण ही अतिकठिन होता है। नामरूपक्रियात्मक दृश्यप्रतीति के निराकरण के बिना निर्दृश्य दृक् का अभिव्यञ्जन होना अशक्य है। क्योंकि, जैसे चन्द्रमा के किसी असाधारण अवस्थाविशेष विशिष्टस्वरूप पर ही राहु का प्राकट्य होता है, अन्यथा नहीं, वैसे ही दृश्याकार परिणामविवर्जित रजस्तमोऽननुविद्ध विशुद्धचित्तसत्व पर ही—प्रत्यक्चैतन्याभिन्न निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। चित्त की तादृशी अवस्था सम्पत्ति देहाभिमानियों के लिये अत्यन्त दुःशक है। इसके विपरीत सगुणोपासना में सरलता है। यद्यपि बाह्य विषयों से मनःप्रत्यावर्त्तनपूर्वक भगवत्स्वरूप में मनोयोग करना कठिन ही है, तथापि निर्गुण, निर्विशेष में मनोयोग उससे भी कठिन है। उसकी अपेक्षा सगुण में मन का आकर्षण होना सरल है। भगवान् की मङ्गलमयी मनोरंजक लीलाएँ मुक्त, मुमुक्षु, विषयी आदि सब तरह के अधिकारियों के चित्त को खींचनेवाली होती हैं।

जनसाधारण, वे चाहे ज्ञान, तत्साधनविहीन भी क्यों न हों, उनके कल्याणार्थ निर्गुण, निराकार, निर्विकार, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म सगुण, साकार रूप में प्रकट होता है—

"नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप !
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥"

राम, कृष्ण, विष्णु, शिव की उपासना शुद्ध ब्रह्म ही की उपासना है। बुद्धि कुछ भी हो, किन्तु जिस वस्तु की उपासना होती है, उसी की प्राप्ति होती है। जैसे दीपक बुद्धि से भी यदि चिन्तामणि में प्रवृत्त हुआ जाय, तो भी प्राप्ति चिन्तामणि की ही होती है, वैसे ही चाहे जिस बुद्धि से भगवान् की उपासना हो, प्राप्ति उस परमात्मा की ही होती है।

सच्चिदानन्द परब्रह्म आकाशादि समस्त प्रपञ्च का कारण है और सर्वत्र विराजमान है। विशेषतः बुद्धिरूपा गुहा या हार्दाकाश में उसका विशेष रूप से उपलम्भ होता है। जैसे चन्द्र के सम्बन्ध से राहु का दर्शन होता है, वैसे ही शुद्ध बुद्धि के सम्बन्ध से परमात्मपद का दर्शन होता है। भावना-भावित भगवान् की सगुण मूर्ति ही वास्तविक दिव्य मूर्तिरूप में व्यक्त होती है। भगवान् सर्वत्र होते हुए भी मायाजवनिका (पर्दे) से ढके हैं। उसे हटाकर वे जहाँ से चाहें वहाँ से व्यक्त हो हो सकते हैं। पाषाण से भी मायाजवनिका को हटाकर भगवान् प्रह्लाद के लिये प्रकट हो सकते हैं, तब फिर शुद्ध मन तो भगवान् के उपलम्भ का साधन ही है।

वस्तुतः किसी भी वस्तु में चित्त को एकाग्र करने से मूल परमात्मपद ही की प्राप्ति होती है। जैसे स्फटिक में लालपुष्प के सम्बन्ध से **'रक्तः स्फटिकः'** (लाल स्फटिक है) ऐसी बुद्धि होती है, उसी में यदि किसी को 'स्फटिक है' ऐसा ज्ञान प्रमुष्ट हो जाता है, तो उसे उसमें पद्मराग मणि की बुद्धि होती है। आगे चलकर चन्द्र की चाँदनी आदि के संसर्ग से उसी में इन्द्रनील की बुद्धि होने लगती है। फिर भी इन सभी बुद्धियों का आलम्बन एक स्वच्छ स्फटिक ही है। वैसे ही एक शुद्ध ब्रह्मतत्व ही माया के सम्बन्ध से अव्यक्त ब्रह्म और सूक्ष्म प्रपञ्च उपाधि से उपहित होने पर हिरण्यगर्भ एवं स्थूल प्रपञ्च से उपहित होकर वही विराट् कहलाता है। जैसे स्वच्छ स्फटिक में ही इन्द्रनील बुद्धि से दृढ़ चिन्तन द्वारा इन्द्रनील बुद्धि मिटकर पद्मराग बुद्धि होगी।

यह दृढ़ चिन्तन की महिमा है कि वह चिन्तनीय वस्तु का यथार्थ स्वरूप अवगत करा देता है। अतः पद्मराग का चिन्तन रक्त स्फटिक का बोध करा देगा। पुनश्च उसके चिन्तन से अन्त में अवश्य ही **'शुद्धः स्फटिकः'** ऐसा बोध हो जाता है। वैसे ही स्थूल का चिन्तन करते-करते सूक्ष्म का और फिर उसका चिन्तन करते-करते कारण का, फिर कार्य्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म का बोध (साक्षात्कार) होता है। शुद्ध मन तो ऐसी सुन्दर उपाधि है जहाँ **'स्वच्छः स्फटिकः'** के समान शुद्ध ब्रह्म का बोध होता है। अन्य मूर्तियों के चिन्तन में चिन्तनीय पदार्थ पृथक् होता है, मन चिन्तन-व्यापार में ही लगा रहता है। परन्तु, यहाँ तो मन ही ध्येय भगवान् की मूर्तिरूप से भी व्यक्त होता है और वही चिन्तन करनेवाला होता है। मानस जप में भी यही हाल है, वहाँ मन को ही मानस मन्त्र बनना पड़ता है। इस मानस जप और ध्यान से मन की शुद्धि, एकाग्रता, भगवान् के वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति बड़ी ही सुविधा के साथ हो जाती है।

●

संकल्पबल

संकल्प विचार या भावना का महत्त्व संसार के सभी विद्वानों को मान्य है। संसार के सभी बलों से संकल्प का बल श्रेष्ठ है। वेदादि शास्त्रों का तो कहना है कि परमात्मा के संकल्प से ही अनन्तकोटिब्रह्माण्ड बनकर तैयार होता है। वैसे तो किसी भी कार्य्य के मूल में संकल्प होना आवश्यक है। स्थूल, सूक्ष्म किसी प्रकार के संकल्प-विचार हुए बिना कोई भी कार्य्य नहीं हो सकता।

देह, इन्द्रिय आदि किसी की भी हलचल में मन की हलचल आवश्यक है। अतएव, यह भी कहा जा सकता है कि संसार की सभी गति अथवा उन्नति का मूल संकल्प ही है, परन्तु साधारण स्थानों में संकल्प के पश्चात् अन्यान्य सामग्रियों और प्रयत्नों की भी अपेक्षा हुआ करती है। जैसे कुलाल (कुम्भकार) घट-निर्माण का विचार करता है। तत्पश्चात् मृत्तिका, दण्ड, चक्र, चीवरादि सामग्रियों का सञ्चय करता है, फिर हस्त आदि व्यापार से घट को बनाता है। परन्तु परमात्मा किसी भी सामग्री की अपेक्षा न करके ही अपने संकल्पमात्र से विश्व का उत्पादन, पालन और संहार करता है।

वेदान्त के सिद्धान्तानुसार यह जगत् जड़ परमाणुओं के एकत्रित हो जाने मात्र से नहीं बना, साथ ही विद्युत्कणों या प्रकृति की हलचल से भी नहीं बना, किन्तु अनिर्वचनीय, माया-शक्तिविशिष्ट वस्तुतः सजातीय, विजातीय स्वगतभेदशून्य परमात्मा से ही यह संसार बना है, वही इसके उपादान हैं, वही निमित्त भी हैं।

नैयायिक, वैशेषिक, योगी आदिकों के मतानुसार भी विश्वप्रपञ्च जड़ कार्य्य नहीं हो सकता। जब संसार के कोई भी प्राचीन विलक्षण कार्य्य एवं आधुनिक रेल, तार, मोटर, वायुयानादि विविध कल-पुर्जे बिना किसी बुद्धिमान् चेतन के अपने आप नहीं बन जाते, परमाणुओं, विद्युत्कणों या प्रकृति से इनका निर्माण बतलानेवाला अश्रद्धेय समझा जाता है, तब विलक्षण संसार और तदन्तर्गत विभिन्न यन्त्रों के आविष्कारक वैज्ञानिकों के मन, बुद्धि (मस्तिष्क, दिमाग) आदिकों के बनानेवाले को जड़ कैसे कहा जाय? जब साधारण से चित्र ड्राइङ्ग भी परमाणुओं के एकत्रित ही जाने मात्र से नहीं बनते, तो विश्व कैसे बन सकता है? भेद यही है कि इन मतों में परमाणु-प्रकृति आदि का नियामक परमेश्वर माना जाता है, परमाणु, प्रकृति समवायिकारण या उपादान माने जाते हैं, परमात्मा निमित्तकारण माना जाता है, परन्तु वेदान्त सिद्धान्त में परमात्मा ही उपादान और निमित्त दोनों ही तरह का कारण है। वह अपने संकल्प से अपने आपको ही प्रपञ्च रूप में प्रकट करता है।

योगी आदि भी परमात्मा के संकल्प से सृष्टि मानते हैं परन्तु वहाँ उपादान विद्यमान है, परमेश्वर के संकल्प से ही वे-वे उपादान उन-उन कार्य्यों के रूप में परिणत होते हैं। कुम्भकार के समान परमेश्वर को हस्तादि व्यापार की अपेक्षा नहीं होती है। विशिष्टशक्ति-सम्पन्न योगियों के भी संकल्पमात्र से प्रकृति और प्राकृत-प्रपञ्च में उथल-पुथल मच जाता है। किसी वस्तु का प्रकृति में विलयन और किसी को प्रकृति से साहाय्य (आपूर) प्राप्त होता है। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि—

'भगवान् के स्वाभाविक सहज निःश्वास से अनन्त विद्याओं के उद्गम स्थान वेदों का प्रादुर्भाव होता है, उनके अवलोकन (निहारने) से ही ब्रह्माण्डों के उपादान-भूत पञ्चमहाभूत—आकाश, वायु, तेज आदि की उत्पत्ति होती है, और भगवान् के मन्दहास (मुस्कुराहट) से ही अनन्तकोटिब्रह्माण्ड बनकर तैयार हो जाता है। उनके सोने से आँख मोच लेने से ही विश्व का प्रलय हो जाता है।'

यहाँ भी रूपक के द्वारा परमात्मा के संकल्प से ही साक्षात् एवं परम्परा से विश्व की उत्पत्त्यादि का वर्णन किया गया है। यहाँ पूर्व-पूर्व कार्य्यों में बुद्धि एवं प्रयत्न की निरपेक्षता उत्तरोत्तर कार्यों में कुछ सापेक्षता कही गयी है।

सारांश यह है कि भगवान् अपने संकल्प से ही सब संसार को बनाते हैं। भगवान् का ही अंश जीवात्मा है, और भगवान् की माया का ही अंश जीव का मन है। अतः भगवान् और माया की शक्ति उसी तरह जीवात्मा और मन में रहती है, जैसे महाकाश की अवकाशप्रदत्वशक्ति घटाकाश में रहती है, जल की शीतलता, मधुरता उसके अंश तरङ्ग में हुआ करती है, अग्नि का दहन-प्रकाशन-सामर्थ्य उसके अंश विस्फुल्लिङ्ग (चिनगारी) में रहा करता है। इस दृष्टि से भगवान् की सभी शक्तियाँ जीवात्मा में होती हैं। माया की शक्तियाँ मन में रहती हैं। इसीलिये शास्त्रों ने कहा है कि जीवात्मा अपने संकल्पों-विचारों से बहुत कुछ कार्य्य कर सकता है। हाँ, अत्याचार, अनाचार, पापाचार, व्यभिचार आदिकों से संकल्प की शक्ति कमजोर हो जाती है। सदाचार, सद्विचार, सद्धर्म, तपस्या आदि से संकल्प की शक्तियाँ दृढ़ (जोरदार) हो जाती हैं।

परमेश्वर की आराधना से जीवात्मा में स्वाभाविक परमात्मसम्बन्धी ऐश्वर्य्य प्रकट होते हैं, अन्यथा छिपे रहते हैं। सिद्ध, योगीन्द्र-मुनीन्द्र अपने संकल्प से ही घट को पट और पट को घट बना सकते हैं। लौकिक महर्षियों का वचन अर्थानुसारी हुआ करता है, अर्थात् जैसा अर्थ होता है उनका वैसा ही वचन होता है, परन्तु सिद्ध प्राचीन महर्षियों के वचनों का अनुसरण तो अर्थ को ही करना पड़ता है, अर्थात् वे अर्थ को जैसा कहते हैं, अर्थ को वैसा ही बनना पड़ता है। इसीलिये विश्वामित्र के संकल्प से मेनका अप्सरा को पहाड़ी बनना पड़ा, अगस्त्य के वचन से नहुष को अजगर बनना पड़ा था।

संकल्प से ही विश्वामित्र ने बहुत से नक्षत्रों और वस्तुओं को बनाया था। वचन के साथ भी संकल्प रहता है। अतएव, वचन के प्रभाव के साथ संकल्प का प्रभाव रहता है।

सुना जाता है, अमेरिका आदि में बहुत से मनोविज्ञान के अभ्यासी संकल्प या विचार से ही गुलाब के फूलों को घटाने या बढ़ाने में सफल हो जाते हैं। एलो-पैथिक, होमियोपैथिक आदि चिकित्साओं से निराश रोगियों को मनोविज्ञान की महिमा से लाभान्वित करते हैं। एक मनोविज्ञान के पण्डित ने जीवन से निराश किसी लड़की को कई दिवस तक बर्फ के भीतर रखकर मनोविज्ञान के बल से आराम पहुँचाया था। इसी तरह मन से ही बहुत रोगों से आराम हो रहे हैं। वैसे हर एक के मन में भी संकल्प की प्रधानता रहती है। कारण, सभी काम पहले मन या बुद्धि के साहाय्य की अपेक्षा रखते हैं, पश्चात् किसी अन्य की सफलता में बुद्धि या सूझ का बड़ा हाथ रहता है। अच्छी सूझ से ही व्यापार में लाभ होता है। संग्राम जीतने में भी मन्त्रियों, सेना-पतियों की उत्तम सूझ ही लाभदायक होती है। कितने स्थलों में नीति-निर्धारण की ही बुद्धिमानी या गलती से व्यक्ति या समाज ही नहीं, किन्तु राष्ट्र का राष्ट्र उन्नत या अवनत हो सकता है। विचार की गलती से हो कहीं-कहीं बड़े-बड़े विजयी लोग एक-दम पतन के गर्त्त में चले जाते हैं। विचार की ही अच्छाई से कितने पथ-भ्रष्ट व्यक्तियों का अतर्कित कायापलट देखा जाता है। इसीलिये मानना पड़ता है कि स्थूलजगत् किसी सूक्ष्म जगत् के ही नियन्त्रण में रहते हैं।

ऊपर से देखने में स्थूल जगत् ही सब कुछ है परन्तु जब देखते हैं कि चींटी, चिड़िया, उष्ट्र, हाथी आदिकों के बड़े-बड़े देह सूक्ष्म विचार पर ही उठते, चलते, फिरते, बैठते हैं, तब यह कहने में कोइ भी संकोच नहीं रह जाता कि ब्रह्मादि स्तम्ब-पर्य्यन्त सभी प्राणियों की जो भी हलचलें हैं और उन हलचलों से जो भी कार्य्यसंपन्न होते हैं, सब सूक्ष्म विचार, मन या बुद्धि के ही कार्य्य हैं।

सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु आदिकों की भी हलचल का कारण सूक्ष्म विचार ही हो सकता है। वह विचार अपने से भी सूक्ष्म चेतनाभास या अखण्ड बोध की अपेक्षा रखता है इसीलिये कहा जाता है कि अचेतनों की प्रवृत्ति तभी होती है, जब चेतन से अधिष्ठित होता है। जैसे अश्व, सारथी आदि से अधिष्ठित होने पर ही रथ चलता है, अन्यथा नहीं; वैसे ही विचार या चेतना से अधिष्ठित होने पर ही सम्पूर्ण जड़ जगत् चल होता है। इसी न्याय से यह भी कहा जाता है कि दृश्यजगत् का नियन्त्रण अदृश्य जगत् से होता है। इसी तरह आधिदैविक जगत् से आधिभौतिक जगत् का नियन्त्रण समझना चाहिये। विशेषकर जीवों का उत्थान-पतन बहुत कुछ विचारों पर ही अवलम्बित है।

शास्त्र कहते हैं कि पुरुष क्रतुमय है । अतएव—

'यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिनिष्पद्यते ।'

पुरुष जैसा संकल्प करने लगता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है, वैसा ही बन जाता है । जिन बातों का प्राणी बार-बार विचार करता है, धीरे-धीरे वैसी ही इच्छा हो जाती है, इच्छानुसारी कर्म और कर्मानुसारिणी गति होती है । अतः स्पष्ट है कि अच्छे कर्म करने के लिये अच्छे विचारों को लाना चाहिये । बुरे कर्मों को त्यागने के पहले बुरे विचारों को त्यागना चाहिए । जो बुरे विचारों का त्याग नहीं करता, वह कोटि-कोटि प्रयत्नों से भी बुरे कर्मों से छुटकारा नहीं पा सकता । कितने प्राणी दुराचार, दुर्विचारजन्य दुर्व्यसन आदि को छोड़ना चाहते हैं । मद्यपायी, वेश्यागामी व्यसन के कारण दुःखी होता है, व्यसन को छोड़ना चाहता है, उपाय भी ढूँढ़ता है, महात्माओं के पास रोता भी है, छोड़ने की प्रतिज्ञा भी कर लेता है, परन्तु जो सावधानी से मद्यपान, वेश्यागमन आदि दुराचारों का बराबर चिन्तन और मनन का परित्याग करता है, उनका स्मरण ही नहीं होने देता है, विचार आते ही उसे विचारान्तरों से काट देता है वह तो छुटकारा पा जाता है, परन्तु जो बुरे विचारों को न छोड़कर उनका रस लेता रहता है, वह कभी बुरे कर्मों से छुटकारा नहीं पा सकता, वह बार-बार भग्नप्रतिज्ञ होकर रोता है । विचारों के समय असावधान रहता है । विचार से क्या होता है ? बुरा कर्म न करूँगा, उसी के त्याग की मैंने प्रतिज्ञा की है, इस तरह अपने को धोखा देकर विचार के रस का अनुभव करता है वह कभी भी व्यसन से आत्मत्राण नहीं कर सकता है । इसीलिये बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह किसी तरह बुरे विचारों को हटाये ।

जिस समय बुरे विचार आने लगें, उस समय अन्यमनस्क होने का प्रयत्न करे । भगवद्ध्यान से, मन्त्र-जप से, श्रवण से, सत्संग से बुरे विचारों की धारा को तोड़ देना चाहिये । भले ही उपन्यास, नाटकों, समाचार-पत्रों को पढ़ना पड़े, परन्तु बुरे विचारों की धारा अवश्य तोड़नी चाहिये । इसी तरह अच्छे कर्मों के लिये पहले अच्छे विचारों को लाना चाहिये । इसीलिये अच्छे शास्त्रों का अभ्यास, अच्छे पुरुषों का सङ्ग करने और पवित्र वातावरण में रहने से अच्छे विचार बनते हैं, बुरे विचार और बुरे कर्म छूट जाते हैं ।

एकाएक मन का संकल्प-विकल्प से रहित होना असंभव है, अतः तदर्थ प्रयत्न व्यर्थ है । जैसे भाद्रपद में सिन्धु, शतद्रु, गङ्गा आदि नदियों का वेग रोककर उनके उद्गम स्थान में लौटाकर उन्हें सुखा देना असंभव है, परन्तु उनकी धाराओं का मुँह फेरकर उन्हें छिन्न-भिन्न कर सुखाना संभव है इसी तरह मन के संकल्पों को एकदम रोक देना असंभव है, परन्तु बुरे विचारों को रोककर, सात्विक विचारों की धाराओं को चलाकर, सात्विक वृत्तियों से तामस वृत्तियों को काटकर, शनैः-शनैः

अन्तरङ्ग सूक्ष्म सात्विक वृत्तियों से स्थूल बहिरङ्ग सात्विक वृत्तियों को भी काटकर निर्वृत्तिकता सम्पादन की जा सकती है।

वैदिक शास्त्रों में बालकों के विचारों को सँभालने का बड़ा ध्यान रखा गया है। स्त्रियों और बालकों के निर्मल कोमल पवित्र अन्तःकरणों में पहले से ही जो बातें अङ्कित हो जाती हैं, वे ही सदा काम आती हैं। चित्त या अन्तःकरण यदि अद्रुत लाक्षा (लाख) के समान कठोर होता है, तो उसमें किसी भी आचरण या उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता, और जब वह द्रुत लाक्षा के समान कोमल रहता है तो लाक्षा पर मुहर के अक्षरों के समान निर्मल कोमल पवित्र अन्तःकरण पर उत्तम आचरणों और उपदेशों से प्रभावित होता है। पहले से ही बुरे सङ्गों और ग्रन्थों से बालकों के हृदय में कूड़ा-करकट का भरा जाना अत्यन्त हानिकारक है। इसीलिये अच्छे पुरुषों का सङ्ग तथा सच्छास्त्रों के अभ्यास में ही उन्हें लगाना अच्छा है।

"यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चैव सेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग्भवति पूरुषः॥"

जैसे लोगों का सहवास होता है और जैसे लोगों का सेवन होता है, जैसा होने की उत्कट वाञ्छा होती है, प्राणी वैसा ही हो जाता है।

श्रद्धेय प्राणी के प्रति श्रद्धालु का अन्तःकरण, प्राण, देह आदि झुक जाते हैं, अतएव, श्रद्धेय के उपदेशों और आचरणों के प्रभाव श्रद्धालुओं के अन्तःकरण में पड़ता है। यद्यपि सात्त्विकी श्रद्धा उत्तम व्यक्तियों में हो हुआ करती है, तथापि तामसी, राजसी श्रद्धा कहीं भी उत्पन्न हो सकती है। बुरे लोगों के सहवास से बुरी इच्छा, बुरे कर्म बन पड़ते हैं, जिनसे प्राणी का पतन हो जाता है, परन्तु अच्छे सङ्गों, अच्छी इच्छाओं, अच्छे कर्मों से प्राणी सम्राट्, स्वराट्, विराट्, अनन्त, धन-धान्य-सम्पन्न इन्द्र, महेन्द्र, ब्रह्मा आदि तक बन सकता है। अच्छे सङ्ग, अच्छी इच्छा और शास्त्रोक्त उत्तम साधनों का सहारा लेकर प्राणी मनचाही वस्तु को प्राप्त कर सकता है। एक जन्म या अनेक जन्मों में प्राणी अवश्य ही अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है अगर बीच ही से लौट न पड़े। अन्यान्य वस्तुओं के समान ही विचारों का भी आदान-प्रदान किया जा सकता है।

प्राणी यदि अच्छे विचारों का आदान चाहे, तो अच्छे शास्त्रों, अच्छे वातावरणों और बड़े-बड़े अच्छे ऋषि, महर्षि, अवतारों का स्मरण रखे, उनके विचारों, व्यवहारों को याद रखे, इससे उनके अच्छे विचारों का आदान होता रहेगा। यही उत्तम विचारों के आने के लिये द्वार को अनावृत करना है। बुरे ग्रन्थों, वातावरणों और बुरे पुरुषों को भूलकर भी कभी स्मरण न होने देना, यदि बुरे विचारों के आने का दरवाजा बन्द करना है। बुरे विचारों से घृणा करने और उनके

नाश की भावना करने से वे नष्ट भी हो जाते हैं। अच्छे विचारों का आदर और उनके उपबृंहण की भावना से वे बढ़ भी जाते हैं। दूसरों के शुभानुसंधान से विचारों में बल आता है। दूसरों के अनिष्ट चिन्तन से विचार निर्वीर्य्य भी हो जाते हैं। विचारतत्वज्ञों का तो कहना है कि कोई भी प्राणी एकाग्रता से संकल्प या विचार द्वारा ही, बाहरी प्रयत्नों के बिना ही मनचाही वस्तु बना सकता है।

संकल्प की पहली कोटि अर्थात् आरम्भ भूल जाते ही विचारित संकल्पित पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाता है। अर्थात् लगातार बिना विच्छेद हुए निरन्तर संकल्प ही संकल्पित पदार्थ का रूप धारण करके प्रकट हो जाता है। प्राणी बार-बार संकल्पित पदार्थ के प्रति अविश्वास करता रहता है, समझता रहता है कि यह तो संकल्प मात्र है, मनोराज्य मात्र है, संकल्पित पदार्थ है। बस, यही अविश्वास संकल्पसिद्धि में बाधक होता है। भावना या उपासना में भी यह अविश्वास ही प्रतिबन्धक है। विश्वासपूर्वक संकल्पित इष्टदेव की मूर्त्ति, उसके भूषणालंकार, भोग-रागादि कुछ दिनों में प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं।

त्रिपुरसुन्दरीरहस्य और योगवाशिष्ठ में कुछ आख्यान ऐसे आते हैं, जिनमें कहा गया है कि किन्हीं सिद्धों ने संकल्प से ही तीन हाथ की शिला के भीतर ब्रह्माण्ड की रचना कर डाली थी। जब दूसरे व्यक्तियों को शिला के भीतर ले जाया गया तब उन्हें अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल, पाताल और भूर्भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य आदि चौदह भुवन—सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, भूधर, सागर, गगन आदि सभी प्रपञ्च दिखाई दिये।

आश्चर्य्य होता है कि ठोस शिला के भीतर कोई व्यक्ति कैसे प्रविष्ट हो सकता है? जिस ठोस शिला के भीतर सूची, त्र्यणु आदिकों को भी प्रवेश का अवकाश नहीं, उसके भीतर कोई व्यक्ति कैसे प्रविष्ट हो सकता है और कैसे उसमें ब्रह्माण्ड रह सकता है? परन्तु विचार करने से मालूम पड़ता है कि सभी देश-काल आदि मन की ही कल्पना है। जैसे स्वप्न में सूक्ष्म नाड़ियों के बीच में ही महादेश और हस्ती, पर्वतादि बड़ी-बड़ी चीजें नजर आती हैं, वैसे ही स्वल्पदेश—तीन हाथ की शिला में ब्रह्माण्ड का होना सम्भव है। जैसे जाग्रत् के दश-पाँच क्षण में ही वर्ष, दश वर्ष का स्वप्न अनुभूत होता है, वैसे ही स्वप्नकाल में महाकाल का भी अनुभव होता है। राजा लवण को एक क्षण के नेत्रनिमीलन (झपकी) में सौ वर्ष का स्वप्न हुआ। अरण्य में क्षुधा-पिपासा से व्याकुल होकर किरातिनी के साथ रोटी के लिये विवाह किया और उसके संग रहकर पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिकों को देखा। आँख खुलते ही पूछा तो वशिष्ठ ने उन सब घटनाओं को सच्चा बतलाया। उसने स्वयं भी जाकर सभी बातों का प्रत्यक्ष अनुभव किया।

सुख में वर्षभर लगते हैं, दुःखक्षण भी वर्ष से लगते हैं। गोपाङ्गनाओं को गोविन्द-दर्शन में युग भी क्षण से प्रतीत होते थे, गोविन्द के विप्रयोग में क्षण भी सहस्रों युग-सा प्रतीत होता था—

"गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विना भवत् ॥"

सारांश यह है कि मन ही संसार है। अतः जैसे वटबीज के भीतर अंकुरनाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र-पल्लव, फलात्मक सम्पूर्ण वृक्ष रहता है और उसमें अपरिगणित फल होते हैं, इसी तरह एक वटबीज के भीतर अनन्त वट वृक्ष रहते हैं यह कहना भी अत्युक्ति नहीं है। अपितु—

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

इस उक्ति के अनुसार ठीक ही है। इसी तरह मन के भीतर संसार है। गृह-छिद्र से आनेवाली सूर्य्य-किरणों में दिखाई देनेवाले सूक्ष्मरजों का आठवाँ या छठा हिस्सा परमाणु है, उसका पाँचवाँ हिस्सा स्पर्शतन्मात्रा, उसके स्वल्पांश में प्राण और प्राण के सहारे रहनेवाले मन में ब्रह्माण्ड रहता है। ब्रह्माण्ड में अनन्त मन रहते हैं, उनमें भी ब्रह्माण्ड रहता है। इस तरह एक परमाणु के भीतर भी अनन्त ब्रह्माण्ड का होना सम्भव है।

इस दृष्टि से देखें तो भगवान् श्रीकृष्ण के संकल्प से परिमित वृन्दावन-धाम में अनन्तकोटि व्रजाङ्गनाओं का विहार-स्थान होना और एक प्रहर चतुष्टयवती रात्रि में अनन्तकोटि ब्राह्मी रात्रियों का प्रवेश करके विहार करना आदि सब संभव ही प्रतीत होता है। संकल्प के बल से स्वल्प देश में महादेश, स्वल्प काल में महाकाल का प्रवेश संभव है। किञ्चित् विचार करें तो मालूम होगा कि सूक्ष्मसंकल्प या विचार से ही स्थूलजगत् बन जाता है, अर्थात् मनोमय जगत् ही स्थूल प्रपञ्च होकर भासित होने लगता है। जैसे सूर्य्य के किरणों में रहनेवाला अति सूक्ष्म जल ही कठोर बर्फ बन जाता है, वैसे अति सूक्ष्म संकल्प ही कठोर जगत् बन जाता है। सूर्य्य-किरणों में जल रहता है, परन्तु वह अति सूक्ष्म होता है, अतएव, वह दर्शन, गमन आदि में बाधक नहीं होता। किरणों को पार करने में नेत्रों या अन्यान्य अङ्गों को कुछ भी कठिनाई नहीं मालूम पड़ती, परन्तु आतप की तेजी से जब उन्हीं किरणों का सूक्ष्म जल बादल बन जाता है, तब वही दर्शन में प्रतिबन्धक हो जाता है।

नेत्र के बीच में बादल होने से सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत आदि कोई चीज नहीं दिखाई देती, वही जल किरणों में रहकर नेत्रशक्ति का प्रतिबन्धक नहीं होता। बादल रूप में व्यक्त होने पर नेत्रशक्ति की रुकावट हो जाती है, परन्तु चलने-फिरने में उससे कुछ भी बाधा नहीं पड़ती। बादल में कोई भी खूब चल-फिर,

दौड़ सकता है। जब वही चीज जल बन जाती है, तब चलने-फिरने में भी कुछ-कुछ रुकावट पड़ने लगती है, परन्तु जब वही बर्फ बन जाती है तब तो उसमें कठोरता इतनी आ जाती है कि बर्फ के भीतर फँसा हुआ प्राणी टस-से-मस भी नहीं हो सकता। वही बर्फ बहुत पुरानी होकर जब किसी रत्न के रूप में परिणत हो जाती है, तब तो उसका टूटना ही बड़ा कठिन हो जाता है। इस तरह जैसे सूक्ष्म चीज ही क्रमेण स्थूल और कठोर हो जाती है, उसी तरह सूक्ष्म मनोमय जगत् ही अभिनिवेश के कारण स्थूल हो जाता है। अर्थात् भावना ही अभिनिवेश की अधिकता से गाढ़ होते होते स्थूल प्रपञ्च बन जाती है। उसके स्थूल या सूक्ष्म बनाने की पद्धतियाँ जिन्हें मालूम हैं, वे लोग सहज ही में स्थूल को सूक्ष्म और सूक्ष्म को स्थूल बना लेते हैं। वही बर्फ, आतप या अग्नि से जल-भाप आदि बनकर फिर सूक्ष्म हो जाती है। वैसे ही संकल्प की ही महिमा से स्थूल जगत् सूक्ष्म और सूक्ष्म—स्थूल बन जाता है।

तात्पर्य्य यह है कि प्राणी के पास संकल्प नाम की एक ऐसी चीज है कि उसे कामधेनु, चिन्तामणि या कल्पतरु कुछ भी कह सकते हैं। बुरे कर्मों को छोड़कर अच्छे कर्मों, आराधनाओं, तपस्याओं में लगे रहने पर संकल्प या विचार की शक्ति मजबूत हो जाती है। पौर्वापर्य्यानुसंधानशून्य दृढ़ संकल्प में प्राणी सब कुछ प्राप्त कर सकता है। जैसे वायु के योग से जल ही तरङ्ग बन जाता है, उसी तरह मननी शक्ति के योग से अखण्डबोध-स्वरूप परमात्मा ही विचार या संकल्प बन जाता है।

स आत्मा सर्वगो राम, नित्योदितवपुर्महान् ।
स मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥

निर्विकल्प बोध ही जब सविकल्प हो जाता है, तब वही संकल्प या विचार कहलाने लगता है। विचार में से विकल्प के निकलते ही वह निर्विकल्प बोधरूप परमात्मा ही बन जाता है। इस तरह सविकल्प बोध विचार या संकल्प के भीतर सम्पूर्ण विश्व रहता है और वह विचार अखण्ड बोध से कवलित रहता है। जैसे दर्पण के भीतर प्रतिबिम्ब दर्पण से भिन्न नहीं होता है, वैसे ही संकल्प और संकल्पित जगत् अखण्डबोधरूप दर्पण के भीतर ही रहता है, उससे भिन्न होकर वह कभी भी नहीं रहता।

समस्त प्रपञ्च को संकल्प में लीन करने और संकल्प को अखण्ड बोध में लीन कर लेने पर शुद्धतत्त्व का साक्षात्कार अपने आप हो जाता है। महावाक्य से अनिर्वचनीय माया मात्र के हटाने की आवश्यकता रहती है। शुद्ध संकल्प से दुर्लभ से दुर्लभ चीज मिल सकती है। बुरे संकल्पों से उनकी शक्ति घटती है, अच्छे संकल्पों से उनकी महिमा बढ़ती है।

किसी का अनिष्ट चिन्तन करने से इतनी उसको हानि नहीं होती, जितनी चिन्तन करनेवाले की हानि होती है। किसी भी कर्म में अगर समष्टिहित की भावना रहती है, तो वह महत्व का हो जाता है। समष्टि अहित की भावना से बड़ा-से-बड़ा भी यज्ञ, तप, दान आदि निर्वीर्य्य हो जाता है। इसीलिये धर्मसंघ का सिद्धान्त है कि समष्टिहित की दृष्टि से शुभ संकल्प में प्रवृत्त हो जाना चाहिये। "धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सद्भावना हो, विश्व का कल्याण हो"—इन संकल्पों का विस्तार होना चाहिये। विशिष्टशक्तिसम्पन्न महात्मा या ऋषि-महर्षि तो अकेले ही अपने दृढ़ संकल्प से विश्व का कल्याण कर सकता है, दुनिया की भावना में परिवर्त्तन कर सकता है, परन्तु आज वैसे लोगों की संख्या कम उपलब्ध होती है। अतः सामूहिक संकल्प काम देगा। अतः यदि चालीस-पचास लाख भी आस्तिक धर्म के जय की भावना करें तो वैसा होने में विलम्ब नहीं हो सकता।

युद्धकाल में मित्रराष्ट्र भी रोमन लिपि के वी (V) अक्षर को अपने सभी स्थानों में लिखवाते थे। सभी कर्मचारी अपने मकानों, मोटरों पर 'वी' लिख रहे थे, इसका मतलब यही कि यदि अधिक लोग हमारी विजय की भावना करेंगे, तो हमारी विजय होगी। आधुनिकों ने भी भावना की महिमा मान लिया है। हमारे सनातन वैदिक धर्म में तो संकल्प की इतनी महिमा है कि उसके बिना कोई कर्म ही नहीं होता। हर एक कर्मों में फिर चाहे वह सकाम हो या निष्काम, संकल्प परमावश्यक है। विष्णुस्मरण देशकाल नाम गोत्रकीर्त्तन करके संकल्प किया जाता है। वही पाठ जप आदि जिस संकल्प से किया जाता है, वैसा उसका फल होता है। भले ही 'रामायण', 'सप्तशती' आदि में कुछ भी वर्णन हो, परन्तु जिस संकल्प से उनका पाठ, जप, संपुट आदि होगा, वही उनका फल होगा। इसलिये एक संकल्प से ही अधिक अनुष्ठान होना आवश्यक है। जहाँ तक हो संकल्प के शब्द भी एक हो से हों और वे संस्कृत के हों, प्रभावशाली हों। धर्मसंघ ने **तत्सदद्येत्यादि धर्मग्लान्यधर्माभ्युत्थाननिवृत्तिपूर्वकधर्मसंस्थापनद्वारा** "भगवत्प्रीत्यर्थं **अमुकमन्त्रस्य जपं करिष्यामि**" ऐसा संकल्प रखा है। जहाँ तक हो सभी विश्वकल्याणकारियों को इसी संकल्प से अनुष्ठानादि करना चाहिये। यद्यपि संकल्प मानस है तथापि शब्द के साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पवित्र शब्दों—आर्ष शब्दों से संकल्प की शक्ति बढ़ जाती है।

ईश्वर और योगी का संकल्प विचित्रसामर्थ्यसम्पन्न होता है। विभिन्न योगियों ने अपने संकल्प से विश्व का निर्माण कर लिया है, परमेश्वर का ज्ञान या संकल्प ही उनका तप समझा जाता है। उनके ज्ञानरूप तपस्या से ही विश्व बन जाता है। उसी तरह वशिष्ठ आदि महर्षियों ने भी संकल्परूप तपस्या से विश्वनिर्माण का अनुभव किया था।

एक बार वशिष्ठजी, निर्जीव आकाश में मनोमय कुटीर का निर्माण कर निर्विकल्प समाधि में स्थित हुए। बहुत काल के अनन्तर जब उनका समाधि से उत्थान हुआ तब उन्होंने एक युवती का वीणानिनादसमन्वित मधुर गीत सुना। उन्हें आश्चर्य हुआ कि अत्यन्त निर्जीव प्रदेश में हम समाधिस्थ हुए, यहाँ युवती का गीत कैसे सुनायी दे रहा है। जब उन्होंने उधर दृष्टि डाली तो कुछ भी दिखायी न दिया। जब उन्होंने अन्तर्मुख होकर सूक्ष्मदृष्टि से देखा तो मालूम हुआ कि वह किसी दूसरे ब्रह्माण्ड के आवरण में स्थित होकर गायन कर रही है। जब वशिष्ठजी ने उससे वार्तालाप करना चाहा, तब उसने बड़े ही मधुर शब्दों में अपनी वेदना सुनायी। वह एक ब्रह्माण्ड के विधाता ब्रह्मा की तरुणी वासना थी। ब्रह्मा तो वृद्ध हो गये, परन्तु वह वासना तरुणी हो रही थी। ब्रह्मा विरक्त होकर ब्रह्माण्ड का उपसंहार करके ब्रह्मलीन होना चाहते थे। उस वासना को ओर उपेक्षा दृष्टि से देखते थे। यह उसे अच्छा नहीं लगता था। वह चाहती थी कि वशिष्ठजी चलकर ब्रह्मा को समझाकर उन्हें उसके अनुकूल कर दें। कुतूहलवशात् वशिष्ठ ने उसके साथ जाना पसन्द किया, और योगबल से एक शिला के भीतर स्थित ब्रह्माण्ड में दोनों ने ही प्रवेश किया। वह वासना सब लोकों का लंघन करती-करती ब्रह्मा के पास पहुँची और ब्रह्माजी को समाधि से उठाया। ब्रह्मा ने वशिष्ठ को देखकर उनका आतिथ्य किया। पुनश्च वशिष्ठ के पूछने पर उन्होंने सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया और कहा कि यह मेरी ब्रह्मा बनने की वासना थी, मेरी विरक्ति इसे असह्य है, परन्तु अब मैंने तत्त्वदृष्टि से इसे और उसके परिणाम जगत को जान लिया। अतः इस निस्सार संसार का उपसंहार करना चाहता हूँ। उस समय वशिष्ठ ने सम्पूर्ण उपसंहार की लीला देखी। यद्यपि कल्पना और उसके उपसंहार में कुछ क्रम और कार्य्यकारणभाव प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः केवल दृढ़ अभिनिवेशपूर्ण वासना से अतिरिक्त और कहीं भी कुछ भी नहीं।

संकल्प की विचित्रता से ही जगत की विचित्रता होती है। संकल्प ही बाह्य के प्रपञ्च के रूप में प्रकट होता है। जैसे काष्ठ के भीतर विविध पुत्रिका विद्यमान रहती हैं, वही कारक व्यापार से प्रकट होती हैं। उसी तरह मन के संकल्प में ही लीन सम्पूर्ण विश्व उचित कारणकलापों से प्रकट हो जाता है। जैसे मिट्टी या सुवर्ण के होने पर ही घट-शरावादि और कटक-मुकुटकुण्डलादि हो सकते हैं, अन्यथा नहीं; उसी तरह संकल्प के रहने पर ही विश्व की उपलब्धि होती है। जब मन की हलचल है तभी द्वैत है। मन की हलचल न होने पर विश्व का पता ही नहीं लगता। संकल्प की अनेकरसता से ही विश्व की अनेकरसता भी अनुभूत होती है। इसीलिये यद्यपि कहीं विश्व को अव्यय और सनातन कहा गया है।

एषोऽश्वत्थः सनातनः। अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्॥

तथापि विश्व की क्षणभंगुरता अबाधित ही रहती है। कूटस्थ नित्य केवल एक आत्मा ही है। परिणामी पदार्थ प्रवाहरूप से ही नित्य है। पूर्वरूपपरित्यागपूर्वक रूपान्तरापत्ति ही परिणाम है। अतः परिणामी पदार्थ कूटस्थ रूप से नित्य कदापि नहीं हो सकते। स्थूल जगत् कभी-कभी हिमालय के स्थान में समुद्र, समुद्र के स्थान में हिमालय हो जाता है। मरुस्थान में गङ्गा और गङ्गा के स्थान में मारवाड़ दीखने लगता है। संकल्प या भावना की शुद्धता से ही प्राणियों की शुद्धि और भावना की ही अपवित्रता से अपवित्रता होती है। अतः विवेकियों ने मनःकृत कर्म को ही कृत माना है—

मनसा कृतमित्येव कृतमाहुर्मनीषिणाः।
तेनवालिङ्ग्यते कान्ता तेनैव दुहिताऽपि च ॥

मन से किये हुए कर्म को मनीषी लोग कृत समझते हैं। उसी अङ्ग से कान्ता का आलिङ्गन किया जाता है, उसी से दुहिता का भी आलिङ्गन किया जाता है। भेद है तो केवल भावना का ही भेद है। यद्यपि कहा जाता है कि मानस से कुशल कर्मों की हो सफलता होती है, अकुशल निषिद्ध कर्मों का मानस अनुष्ठान अकिञ्चित्कर रहते हैं।

कलि कर एक पुनीत प्रतापा।
मानस पुण्य होहिं नहिं पापा ॥

कलियुग का यह पुनीत प्रताप है कि इसमें मानस पुण्य कर्मों का फल होता है, पाप कर्मों का नहीं।

परन्तु इन वचनों का आशय और है—यदि मन से पापकर्म होते रहेंगे अर्थात् मानस कर्म का अभ्यास हो जायगा, तब देहेन्द्रियादि से भी पापकर्म अवश्य ही हो जायँगे। अतः मन से सर्वदा पापकर्मों का परित्याग और अच्छे कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये, इससे बुरे कर्म होने का अवकाश न रहेगा। शुद्ध कर्म ही शरीर से भी होने लगेगा। मानस पुण्य होता है यह कहने का प्रयोजन यही है कि प्राणी के मन से पुण्यकर्म किया जाय, जिससे देहेन्द्रियादि से भी पुण्यकर्म होने लग जाय, और मानस पाप नहीं होता यह कहने का भी यह प्रयोजन है, अगर असावधानी से कुछ मानस पाप हो जाय, तो भी देहेन्द्रियादि से उन कर्मों को न होने दे। ऐसा न समझ ले कि मन से कर्म होने पर पाप हो ही गया, फिर अब शरीर से भी क्यों न कर लिया जाय। किन्तु यह समझना उचित है कि पुण्य मानस भी होता है। अतः उसका संकल्प चलावे और पाप मानस कर्म से नहीं होता अतः यदि कथञ्चित् असावधानी से मन द्वारा बुरा कर्म हो गया, तो भी देहादि से बुरे कर्म न होने देकर बड़ी सावधानी से मन द्वारा भी बुरे कर्मों को न होने दे।

यदि मानस कर्म करता रहेगा, तो अभ्यास बढ़ जाने पर न चाहते हुए भी बुरे कर्मों को करना ही पड़ेगा। जैसे गमनजन्य वेग के बढ़ जाने पर, गमन क्रिया में

स्वतन्त्र गन्ता की भी स्वतन्त्रता तिरोहित हो जाती है, उसी तरह मननजन्य वेग के बढ़ जाने पर मनन क्रिया में स्वतन्त्र मन्ता की भी मनन में स्वाधीनता छिप जाती है।

इतना ही नहीं, किन्तु पराधीनता का भी स्पष्ट अनुभव होने लगता है। इसी तरह बुरे कर्मों के संकल्पों को धाराबद्ध हो जाने पर उनका रोकना अपने वश में नहीं रहता। इसलिये अच्छे कर्मों के संकल्पों को चलाना और बुरे कर्मों के संकल्पों को रोकना परमावश्यक है। सारांश यह है कि संकल्प ही विश्व का मूल है। उसी पर उन्नति, अवनति दोनों निर्भर हैं। इसीलिये शास्त्रों ने बार-बार उत्तम विचार, दृढ़ संकल्प की महत्ता गायी है। बन्ध-मोक्ष में भी भावना की ही प्रधानता दी गयी है। अपने को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी-दुःखी, बद्ध माननेवाला प्राणी बद्ध रहता है। अपने को नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त माननेवाला प्राणी मुक्त हो जाता है। मैं कुछ भी नहीं कर सकता, अत्यन्त दीन-हीन प्राणी सर्वदा पुरुषार्थ लाभ नहीं कर सकता। भगवदाश्रित होकर भगवद्दत्त साधनों का आलम्बन करके सब कुछ कर सकता हूँ ऐसा निश्चयवान् प्राणी पुरुषार्थ लाभ कर सकता है। इसीलिये श्रुति प्रोत्साहन देती है—

उत्थातव्यं जागृतव्यं योक्तव्यं भूतिकर्मसु।
भविष्यतीत्येव मनः कृत्वा निश्चयमात्मनः॥

अगर अनुष्ठान न भी हो सके, तब भी तत्संकल्प परम लाभदायक होते हैं अतः धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सद्भावना हो, विश्व का कल्याण हो ऐसे संकल्पों का प्रवाह चलाना देश, समाज, विश्व एवं अपने लौकिक, पारलौकिक सर्व प्रकार के कल्याण का परम कारण है। सिद्ध पुरुषों का एक ही संकल्प पर्याप्त होता है। परन्तु सर्वसाधारणों के अकेले संकल्प में ऐसा सामर्थ्य नहीं होता। अतः सामूहिक संकल्प आवश्यक है। एक ही शक्ति अकिञ्चित्कर होने से ही, कलि में संघशक्ति का महत्त्व वर्णित है।

'संघे शक्तिः कलौयुगे' विश्व कल्याण धर्म की जय के लिये अधिक संख्या में द्रव्य दान करने से भी संकल्प बनना बड़ी चीज है। द्रव्यदान भूल सकता है, परन्तु तीन सौ साठ दिन एक-एक मिनट भी धर्म-जय का संकल्प बहुत लाभदायक हो सकता है। द्रव्यदान कोई ही कर सकता है, परन्तु संकल्प सभी चला सकते हैं। किसी विषय में कायिक-वाचिक किसी भी प्रयत्न के करने पर उस विषय में प्रेम हो जाता है। उसकी सुरक्षा में प्रसन्नता, बिगड़ने में दुःख होता है। विशेषतः मानस परिश्रम कर लेने पर तो उसमें और अधिक अनुराग हो जाता है। किसी कार्य्य में अनुराग हो जाना ही सबसे बड़ा कार्य्य है। धर्म के प्रति ममता होती है। फिर यह भी ध्यान आता है कि जब हम धर्म की उन्नति चाहते हैं, तब उसका अनुष्ठान भी करना चाहिये। अधर्म की निवृत्ति चाहते हैं, तब उससे बचना भी चाहिये। विचार के

उपरान्त वह स्वयं और अपने इष्ट मित्रों को अधर्म से निवृत्त करके धर्म में प्रवृत्त करेगा। बस ऐसी ही अधिक लोगों की प्रवृत्ति हो जाने से धर्म की रक्षा होती है। संकल्प के साथ-साथ यदि मन्त्र का भी बल होता है, तो सुवर्ण में सुगन्ध हो जाता है। संकल्प बुरे कर्मों से कमजोर हो जाता है। अच्छे कर्मों से भावना या संकल्प मजबूत होते हैं। तपस्या, सत्कर्म और उत्तम मंत्रों के जप से जुड़कर संकल्प का बल दुगुना हो जाता है।

मनु लिखते हैं - ब्राह्मण केवल जप से ही सिद्ध हो सकता है। और कुछ करे या न करे।

जप्येनैव तु संसिद्धयेत् ब्राह्मणो नाऽत्र संशयः।
कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

भगवान् भी गीता में जपयज्ञ को सब यज्ञों में श्रेष्ठ बतलाते हैं—

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'

मन्त्रों की महिमा सभी शास्त्रों ने गायी है, अन्यान्य सम्प्रदाय के लोग भी मन्त्र की महिमा मानते हैं। ईसाई, पारसी, मुसलमान, यहूदी, चीनी, जापानी, बौद्ध, जैन आदि भी मन्त्रों की महिमा और उनके जप से शान्ति, चमत्कार, पारलौकिक लाभ मानते हैं। महात्मा तुलसीदास लिखते हैं—

मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरिहर सुर सर्व।
महामंत्र गजराज कहँ, वश कर अंकुश खर्व॥

छोटा-सा भी अंकुश महामत्त गजराज को वश में रखता है। परम लघु मन्त्र विधि-हरि-हर को वश कर लेता है। जैसे संसार के विविध तृणों में विचित्र शक्तियाँ होती हैं, कोई तृण किसी रोग को दूर कर सकता है, कोई किसी रोग को।

एक-एक तृणों में कैसी-कैसी शक्तियाँ हैं, इसका पता लगाना सिवा योगियों के औरों को कठिन है। पुनश्च किन-किन तृणों के मिलने से कितनी और किन-किन शक्तियों का विकास होगा, किन-किन तृणों के मिलने से किनका विघटन होगा, यह जानना भी कठिन ही नहीं, अर्वाग्दर्शी लोगों के लिये यह असंभव ही है। ऐसे स्थलों में सर्वज्ञ वैदिक ऋषियों के ग्रन्थों से ही उन-उन मूलों, औषधों का गुण, महत्त्व आदि जाना जा सकता है। उसी तरह वर्णों की भी बात है। वर्णों से मेल-जोल के भेद में अर्थों में भेद होता है। किन्हीं वर्णों के संश्लेष-विश्लेष से किन्हीं शक्तियों का ह्रास और किन्हीं का विकास होता है। पचास वर्णों के ही संश्लेष-विश्लेष से दुनिया की अपरिगणित ग्रन्थराशि तैयार हुई है। वर्ण वही हों परन्तु उनके संश्लेषवैचित्र्य से अर्थ में भेद हो जाता है। राजा—जारा, नदी— दीन इत्यादि स्थलों में वर्णों में भेद न रहने पर भी संश्लेष में भेद होने से अर्थ में भेद हो जाता है।

संश्लेष-विश्लेष के कारण ही उन्हीं वर्णों से भिन्न-भिन्न भाषाएँ बनीं। वर्णों के जोड़-मेल के वैलक्षण्य से ही भाषण और ग्रन्थों में वैलक्षण्य होता है। एक छोटी-सी पुस्तक बड़े मूल्य में मिलती है, कोई बड़ी-सी पुस्तक भी साधारण मूल्य में प्राप्त होती है। किसी भाषण का साधारण ही मूल्य होता है, किसी शास्त्ररहस्यज्ञ विद्वान् या वकील-बैरिस्टर के भाषण का मूल्य चमत्कारमूलक ही है।

शब्दों का प्रभाव स्पष्ट ही है। किन्हीं वाग्विन्यासों से मित्र भी शत्रु बन जाते हैं, किन्हीं से शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। तात्पर्य्य यह कि वर्णों के संश्लेष-विश्लेष की विचित्रता से शब्दों में विचित्रता और उनसे प्रभावों में भी वैलक्षण्य हुआ करता है। उनमें भी कुछ शब्द तो अर्थबोध कराकर उसके द्वारा विचित्र प्रभाव पैदा करते हैं, परन्तु कोई अर्थबोध के बिना ही श्रवणमात्र से आनन्दित करते हैं, उसी अर्थ को एक शुष्क व्यक्ति —**'शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे'** कहकर बोलता है, उसी को एक सरस व्यक्ति **'नीरसतरुरिह विलसति पुरतः।'** कहकर बोलता है।

स्वरविशेष आदि की महिमा से भी शब्दों और भावों में रोचकता आ जाती है। उसके द्वारा प्रभाव भी अद्भुत पड़ता है। विराम (टोन या तर्ज, मुखाकृति, मुद्रादि) के भेद से भी अर्थ के भाव-प्रभाव में भेद पड़ा करता है, परन्तु कोई-कोई शब्द अर्थबोध बिना, स्वरसम्पत्ति आदि बिना, रोचकता बिना अपना प्रभाव जापक या श्रावक पर पैदा करते हैं। इसी कोटि में मन्त्र आदि आते हैं। कितने शावरी मन्त्र विभिन्न प्राकृत भाषाओं में हैं कि उनका अर्थ आदि कुछ भी नहीं प्रतीत होता, परन्तु उनके प्रयोग का फल विलक्षण होता है।

गुग्गा गुग्गा तेरी थाली।
जा बैठी पिप्पल की डाली॥

इत्यादि सर्प के मन्त्र हैं। उनके अर्थों का पता नहीं लगता। फिर भी फल होता ही है।

गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं :—

कलि बिलोकि जगहित हर गिरिजा।
शावर मन्त्रजाल जिन सिरिजा॥
अनमिल आखर अर्थ न जापू।
प्रकट प्रभाव महेश प्रतापू॥

शावरी मन्त्रों के अक्षर अनमिल, अर्थ और पुरश्चरण का सम्बन्ध नहीं, फिर भी फल होता ही है। यही क्यों, गायत्री मन्त्र का हिन्दी, उर्दू, इङ्गलिश आदि भाषाओं में अनुवाद करके जप किया जाय, तो वह चमत्कार नहीं होता, परन्तु यदि अर्थ न जानकर पवित्र होकर, पवित्र स्थान में नियमपूर्वक जप किया जाय, तो फल शान्ति आदि प्रत्यक्ष होती है।

कोई मन्त्र तो देश, काल, आचार, विचार, व्यक्तिविशेष आदि की अपेक्षा नहीं रखते हैं। जैसे भगवान् के श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्रीदुर्गा, श्रीशिव आदि नाम। इनमें किसी भी विशिष्ट नियमों को अपेक्षा नहीं होती। भाव-कुभाव, अनख-आलस जिस किसी तरह भी जप करने से लाभ होता है। यहीं के लिये कहा जाता है कि भगवान् के भजन या दुष्ट भाव से भी नामोच्चारण से पाप क्षय होता है। जैसे अनिच्छा से भी संस्पृष्ट होने से अग्नि जलाती ही है—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृत.।
अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥
तुलसी अपने राम को रीझ भजै की खीझ।
वपे बीज द्रुति जगमि हैं उलटे पड़े कि सीध॥

परन्तु वैदिक मन्त्रों में, प्रणव में, गायत्री में देश-काल-जाति-नियम आदि भी अपेक्षित होते हैं। जैसे विभिन्न तृणों-वीरुधों के विशिष्ट संश्लेष-विश्लेषों से विभिन्न शक्तिसम्पन्न औषधियाँ तैयार होती हैं। उनमें भी किस यन्त्र में किस तरह की औषधियाँ बन सकती हैं, किस यन्त्र में किस तरह की, इस विषय के विशिष्ट नियम हैं।

सब यन्त्रों में सब औषधियाँ नहीं बन सकतीं। न सब पात्रों में रखी ही जा सकती हैं। जैसे भिन्न-भिन्न यन्त्रों से भिन्न-भिन्न कार्य सम्पन्न हो सकते हैं, वैसे ही भिन्न-भिन्न कर्म और भिन्न-भिन्न मन्त्रों के भिन्न-भिन्न अधिकारी हैं। अतएव जिन प्राणियों— मनुष्यों का मन्त्रों द्वारा निषेकादिश्मशानान्त संस्कार कहा गया है, वे ही शास्त्रों के पठन के अधिकारी हैं।

निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचित्॥

उपनयनादि संस्कारसम्पन्न प्राणी ही श्रुति, स्मृति आदि के अध्ययन का अधिकारी होता है।

एवं द्विजातिमापन्नो विमुक्तोवान्यदोषतः।
श्रुतिस्मृतिपुराणानां भवेदध्ययनक्षमः॥

नृसिंहतापनीय उपनिषदादि ग्रन्थों में यह भी स्पष्ट है कि स्त्री और शूद्र सावित्री, प्रणव, यजु आदि का उच्चारण न करे। उनको उपदेश करनेवाला और वे दोनों ही ऐसा करने से अधोगति को प्राप्त होते हैं।

पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा दोनों में ही इसपर विचार किया गया है कि शूद्र आदिकों को उपनयन संस्कार का विधान नहीं है अतः वे वेदाध्ययनादि के अधिकारी नहीं हैं। इन बातों से कुछ लोग जातिद्वेष की कल्पना करते हैं, परन्तु वस्तु-स्थिति की दृष्टि से ही शास्त्रों ने ऐसा नियम बनाया है। माँ बच्चे के हाथ से इक्षुदण्ड

छीन लेती है परन्तु शर्करासिता बड़े प्रेम से बच्चे को प्रदान करती है। इस विषय में द्वेष की कल्पना व्यर्थ है, माँ केवल हितबुद्धि से ही ऐसा करती है। इसी तरह शास्त्रों ने शूद्रों को वेदादि शास्त्रों का सार इतिहास-पुराणादि श्रवण द्वारा ज्ञात कराकर वेदादि के अध्ययन का निषेध किया है। जैसे हरएक यन्त्र से हरएक चीज नहीं बनती, वैसे ही हरएक शरीर से हरएक मन्त्र का उच्चारण ठीक नहीं। शास्त्रों के द्वारा ही इसका निर्णय होता है।

ब्राह्मण का मदिरा विन्दुपान और शूद्र का वेदाक्षर विचार उन दोनों के लिये हानिकारक होता है। त्रैवर्णिकों के लिये प्रणवयुक्त मन्त्र और शूद्र, स्त्रियों के लिये प्रणवरहित मन्त्र का ही जपविधान है। द्वादशाक्षर मन्त्र के विषय में कहा गया है कि यह मन्त्र सर्वसिद्धिप्रदायक है। स्त्री-शूद्रों के लिये वितार अर्थात् प्रणव-रहित, द्विजातियों के लिये सतार मन्त्र का जप ठीक है—

द्वादशार्णो महामन्त्रः सर्वसिद्धिप्रदायकः।
स्त्रीशूद्राणां वितारोऽयं सतारस्तु द्विजन्मनाम्॥

बृहन्नारदीये।

ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन दोनों का अधिकारी है। क्षत्रिय-वैश्य वेदादि शास्त्रों के अध्ययन का अधिकारी है, अध्यापन का नहीं। शूद्र, स्त्री आदि इतिहास-पुराणादि का श्रवण करके उपासना, ज्ञान और अपने अधिकारानुसार कर्मों का ज्ञान प्राप्त करके प्रवृत्त हों, तो उसी से उनका कल्याण होगा।

इस तरह वेदादि शास्त्रों, प्रणवादि मन्त्रों में जातिविशेष की अपेक्षा होती है, संस्कारों को अपेक्षा होती है, श्मशानादि एवं अन्यान्य अपवित्र स्थानों, सूतक-पातकादिवालों को बचाकर पवित्र देश-काल में संस्कारसम्पन्न होकर आदि मन्त्रों का जप कल्याणकारक होता है।

श्री शिवतत्व

शिव वही तत्व है जो समस्त प्राणियों के विश्राम का स्थान है। **'शीङ् स्वप्ने'** धातु से 'शिव' शब्द की सिद्धि है। **"शेरते प्राणिनो यत्र स शिवः"**—अनन्त पाप-तापों से उद्विग्न होकर विश्राम के लिये प्राणी जहाँ शयन करें, बस उसी सर्वाधिष्ठान, सर्वाश्रय को शिव कहा जाता है। वैसे तो—

"शान्तं शिवं चतुर्थमद्वैतं मन्यन्ते।"

इत्यादि श्रुतियों के अनुसार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्था से रहित, सर्वदृश्यविवर्जित, स्वप्रकाश, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही शिवतत्व है, फिर भी वही परमतत्व अपनी दिव्यशक्तियों से युक्त होकर अनन्तब्रह्माण्डों का उत्पादन, पालन एवं संहार करते हुए ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि संज्ञाओं को धारण करते हैं। यद्यपि कहीं ब्रह्मा जीव भी कहा जाता है, **"सोऽबिभेत् एकाकी न रेमे जाया मे स्यादथ कर्म कुर्वीय"** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार भय, अरमण आदि युक्त होने से हिरण्यगर्भ एवं विराट् को जीव ही कहा गया है, तथापि वह एक-एक ब्रह्माण्ड के उत्पादक मुख्य ब्रह्मादि के साथ तादात्म्याभिमानी जीव ब्रह्मा कहा जाता है। वास्तव में तो जैसे किसान ही क्षेत्र में बीज को बोकर अङ्कुरादि रूप में उत्पादक होता है, वही सिञ्चनादि द्वारा पालक और अन्त में वही काटनेवाला होता है, वैसे ही एक ही अनन्त-अचिन्त्य-शक्तिसम्पन्न भगवान् विश्व के उत्पादक, पालक और संहारक होते हैं।

"सर्वभूतेषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥"

भगवान् का कहना है कि समस्त भूतों में जितनी भी मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी महद् ब्रह्म (प्रकृति) योनि (माता) है और बीज प्रदान करनेवाला पिता मैं हूँ। **"पिताऽहमस्य जगतः"**—मैं ही समस्त जगत् का पिता—उत्पादक—हूँ।

"मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥"

अर्थात् प्रकृतिरूप योनि में जब मैं गर्भाधान करता हूँ, तब उससे समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है। इस तरह ब्रह्माण्डोत्पादक ब्रह्मा भी परमेश्वर ही है, अतएव—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति" इस श्रुति में जो ब्रह्म का लक्षण कहा गया है, उससे विश्व के उत्पादक,

पालक एवं संहारक को परमेश्वर समझना चाहिये। यदि यह तीनों पृथक्-पृथक् हों, तब तो कोई भी परमेश्वर नहीं सिद्ध हो सकेगा। क्योंकि निरतिशय ऐश्वर्य और सार्वज्ञ-गुण-सम्पन्न को परमेश्वर कहा जाता है। यदि यह तीनों ही सर्वशक्तिसम्पन्न परमेश्वर हैं, तो यह प्रश्न होगा कि यह तीनों मिलकर सलाह से कार्य्य करते हैं या स्वतन्त्रता से अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार? यदि सलाह से ही करते हैं यह माना जाय, तब तो इनमें परमेश्वर कोई भी न हुआ। किन्तु, इन तीनों की पर्षद या पञ्चायत ही परमेश्वर है, क्योंकि अकेले कोई भी कार्य्य करने में स्वतन्त्र नहीं है। यदि तीनों की इच्छा समान ही होती है और तीनों की इच्छानुसार ही उनकी शक्तियाँ कार्य्य में प्रवृत्त होती हैं, तब भी तीन का मानना ही व्यर्थ है। फिर तो एक से भी वह सब कार्य्य सम्पन्न ही हो सकता है। यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाय अर्थात् स्वतन्त्रता से भी तीनों कार्य्य कर सकते हैं, तब भी इनमें कोई भी परमेश्वर नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि स्वतन्त्रता से यदि इच्छा उत्पन्न होगी, तो संभव है कि जिस समय एक को जगत्पालन की रुचि हुई, उसी समय दूसरे को संहार की रुचि उत्पन्न हो। अब यहाँ जिसकी इच्छा सफल होगी, उसी का निरंकुश ऐश्वर्य्य समझा जायगा। जिसका मनोरथ भग्न हुआ, उसकी ईश्वरता औपचारिक ही रहेगी। एक विषय में विरुद्ध दो प्रकार की इच्छाओं का सफल होना असंभव ही है। इस तरह अनेक ईश्वर का होना किसी के भी मत में कथमपि संभव नहीं, अतः एकेश्वरवाद ही सबको मानना पड़ता है। इसीलिये महानुभावों ने एक ही में अवस्था-भेद से उत्पादकत्व, पालकत्व और संहारकत्व माना है।

"निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥"

भगवान् के निःश्वास से ही वेदों का प्रादुर्भाव हो जाता है। वीक्षण (देखने) से आकाशादि अपंचीकृत पञ्च महाभूत की सृष्टि होती है। स्मित (मन्दहास, मुस्कुराहट) से भौतिक अनन्तब्रह्माण्ड बन जाते हैं और सुप्ति से ही निखिल ब्रह्माण्ड का प्रलय हो जाता है। इस दृष्टि से एक ब्रह्माण्ड के उत्पादक, पालक, संहारक ब्रह्मा, विष्णु, शिव के अतिरिक्त निखिल ब्रह्माण्डों के उत्पादक, पालक, संहारक ब्रह्मा, विष्णु और शिव में किञ्चिन्मात्र भी भेद नहीं है। जैसे एक ही गगनस्थ सूर्य्य अनन्त घटोदकों और तड़ागोदकों में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही एक ही अखण्ड, अनन्त, निर्विकार चिदानन्द परमात्मतत्व अनन्त अन्तःकरणों और मायाभेदों में प्रतिबिम्बित होते हैं। अन्तःकरणगत प्रतिबिम्ब ही जीव कहलाते हैं। मायागत प्रतिबिम्ब ही ईश्वर कहलाते हैं। जैसे अन्तःकरण के स्वच्छत्वादि-तारतम्य से जीवों में काल्पनिक भेद होता है, वैसे ही माया की उत्पादकत्व, पालकत्व, संहारकत्व शक्ति के भेद से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र में काल्पनिक भेद होता है। अनन्त ब्रह्माण्ड की कल्पना में अनन्त

ब्रह्माण्ड की उत्पादिनी शक्तियाँ भी अनन्त हैं। उन एक-एक शक्तियों, अनन्त अन्तःकरण और उत्पादकत्व, पालकत्व, संहारकत्व शक्ति से युक्त माया है। इस तरह एक-एक शक्ति से ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत अनन्त जीव एवं उत्पादक, पालक, संहारक ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र व्यक्त होते हैं। परन्तु इन सभी प्रतिबिम्बों का मूलभूत जो बिम्ब है, वह तो सर्वथा एक ही है। वही विष्णुभक्तों को विष्णुरूप से, रामभक्तों को रामरूप से, शिवभक्तों को शिव-स्वरूप से दृष्टिगोचर होता है। जैसे एक ही गगनस्थ सूर्य्य नीले चश्मे से नीला, पीले से पीला दिखलायी देता है, वैसे ही विष्णु-भावना से भावित अन्तःकरण विष्णुभक्त उसी परम तत्व को विष्णु कहते हैं, शिव-भावना से भावितमनस्क उसी परमतत्व को शिव कहते हैं और वही श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि रूप में उपलब्ध होता है। वही गगनस्थसूर्य्यस्थानीय परम तत्व 'शिव-स्कन्दादि' पुराण का शिव है, वही 'विष्णु-पुराण', 'रामायण', 'भागवत' आदि सद्ग्रन्थों में विष्णु, राम, कृष्णरूप से गाया गया है। भक्त की भावनानुसार ही उस परम तत्व की ही विशुद्धसत्वमयी दिव्य शक्ति के योग से मधुर मनोहर मूर्त्ति भी व्यक्त होती है। इस तरह मूलतः शिव एवं विष्णु एक ही है, फिर भी उनके अपर रूप में सत्व के योग से विष्णु को सात्विक और तम के योग से रुद्र को तामस कहा जाता है। वस्तुतः सत्वनियन्ता विष्णु और तमनियन्ता रुद्र हैं। तम ही मृत्यु है, काल है, अतः उसके नियन्ता महामृत्युञ्जय महाकालेश्वर भगवान् रुद्र हैं। दूसरी दृष्टि से भी जैसे तमःप्रधान, सुषुप्ति से ही जागर, स्वप्न की सृष्टि होती है, वैसे ही तमःप्रधान प्रलयावस्था से ही सर्व प्रपञ्च की सृष्टि होती है।

कृष्ण के अनन्य प्रेमी भक्तगण तम को बहुत ऊँचा किंवा सबसे उत्कृष्ट मानते हैं। प्रेममयी आसक्ति मोह, मूर्च्छा, सात्विक विवेक, प्रकाश से कहीं अधिक महत्त्व की होती है। वास्तव में किसी भी कार्य्य में अवष्टम्भ (रुकावट) प्रकाश और हलचल की अपेक्षा होती है। तीनों में से एक के बिना भी कार्य्य नहीं होता। प्राकृत या अप्राकृत दिव्य से दिव्य कार्यों में भी अवष्टम्भ की अपेक्षा होती है, वही दिव्य अवष्टम्भ तम है। इसी तामस एवं तामसतामस भावना का अत्यन्त महत्त्व माना जाता है। 'श्रीभागवत' का तामसफल प्रकरण सर्वापेक्षया अपना अधिक महत्त्व रखता है। वैसे भी विश्राम के लिये तामस सुषुप्ति की ऐसी महिमा है कि इन्द्रादि दिव्य भोग-सामग्री-सम्पन्न होकर भी उसे छोड़कर सुषुप्ति चाहते हैं। चिन्तन, मनन सात्विक होने पर भी सुषुप्ति का प्रतिबन्धक होने से उद्वेजक समझा जाता है। जब जागरादि अवस्था में द्वैत-दर्शन से जीव उद्विग्न हो उठता है, तब उसे विश्राम के लिये सुषुप्ति का आश्रयण अनिवार्य्य हो जाता है। वैसे ही जब सृष्टिकाल के उपद्रवों से जीव व्याकुल हो जाता है, तब उसको दीर्घ सुषुप्ति में विश्राम के लिये भगवान् सर्वसंहार करके प्रलयावस्था व्यक्त करते हैं।

यह संहार भी भगवान् की कृपा ही है, जैसे दुश्चिकित्स्य व्रण से व्याकुल को देखकर चिकित्सक करुणा से ही व्रण-छेदन के लिये तीक्ष्णशस्त्र को ग्रहण करता है, वैसे ही दुर्निवार्य्य पाप-ताप के बढ़ जाने पर करुणा से ही भगवान् विश्व का संहार करते हैं—

"जिमि शिशु-तनु व्रण होइ गुसाईं।
मातु चिराव कठिन की नाईं॥"

कार्य्यावस्था से कारणावस्था का महत्त्व स्पष्ट ही है। तमः प्रधानावस्था है, उसी से उत्पादनावस्था और पालनावस्था व्यक्त होती है। अन्त में फिर भी सबको प्रलयावस्था में जाना पड़ता है—

"भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।"

अर्थात् यह समस्त भूतग्राम अनन्त काल से उत्पन्न हो-होकर पुन-पुनः प्रलयावस्था को प्राप्त होता है। कारण से ही सबकी उत्पत्ति और उसी में पालन और पुनः उसी में सबका संहार होता है। निःस्तब्ध समुद्र से ही तरङ्ग की उत्पत्ति, उसी में उसका पालन, अन्त में फिर भी उसी में संहार होता है। उत्पादनावस्था के नियामक ब्रह्मा, पालनावस्था के नियामक विष्णु और संहारावस्था एवं कारणावस्था के नियामक शिव हैं। पहले भी कारणावस्था रहती है, अन्त में भी वही रहती है। इस तरह प्रथम भी शिव ही, अन्त में भी शिव ही तत्व अवशिष्ट रहता है—

**"अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥"**

तत्वज्ञ लोग उसी में आत्मभाव करते हैं, जो चराचर प्रपञ्च की उत्पत्ति के पहले होता है। उसकी महिमा और वीर्य्यवत्ता प्रसिद्ध ही है। अतः वही मुख्य निरुपचरित ईश्वर या महेश्वर होता है।

अतः शिवजी ही केवल ईश्वर शब्द से कहे जाते हैं।

**"ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम्।"
"महेश्वरस्त्र्यम्बक् एव नापरः।"
"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।"**

अर्थात् ईशान ही सर्व विद्याओं एवं भूतों के ईश्वर हैं, वही महेश्वर हैं, वही सर्व प्राणियों के हृदय में रहते हैं। हृदय में ही सुषुप्ति होती है, वहीं कारणावस्था के अधिपति का होना युक्त भी है। कहीं उपनिषदों में एकादश प्राणों को 'रुद्र' कहा गया है। वे निकलने पर प्राणियों को रुलाते हैं, इसलिये रुद्र कहे जाते हैं। अतः दस इन्द्रियाँ और मन ही एकादश रुद्र हैं। परन्तु, ये आध्यात्मिक रुद्र हैं। आधिदैविक एवं सर्वोपाधिविनिर्मुक्त रुद्र इनसे पृथक् हैं। जैसे विष्णु पाद के अधिष्ठाता हैं, वैसे ही रुद्र अहंकार के अधिष्ठाता हैं—

"एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे।"

अर्थात् एक रुद्र ही तत्व था, द्वित्वसंख्यापूर्त्यर्थ कोई दूसरा तत्व ही न था। इन श्रुतियों से प्रोक्त रुद्र तो महाकारण या कार्य्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म ही है। यह भी 'रोदनात् रुद्र' है, प्रलयकाल में सबको रुलानेवाले यही हैं।

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रञ्चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥"

अर्थात् ब्रह्मक्षत्रोपलक्षित समस्त प्रपञ्च जिसका ओदन (भात) है, मृत्यु जिसका उपसेचन (दूध, दही, दाल या कढ़ी) है, उसे कौन, कैसे, कहाँ जाने? जैसे प्राणी कढ़ी, भात मिलाकर खा लेता है, बस विश्वसंहारक काल और समस्त प्रपञ्च को मिलाकर खानेवाला परमात्मा मृत्यु का भी मृत्यु है, अतः महामृत्युञ्जय है; काल का भी काल है, अतः कालकाल या महाकालेश्वर है। यदि कोई भी बच जाय, तब तो उसकी सर्वसंहारकता में बाधा उपस्थित होती है, अतएव **"योऽवशिष्येत"** वही एक ब्रह्म है। इसीलिये विष्णु भी वही है, यदि वे शिव या रुद्र से पृथक् होंगे, तब महा-मृत्युञ्जय, महाकालेश्वर, सर्वसंहारक से संहृत हो जायँगे, अन्यथा एक को छोड़कर सर्व की सहारकता ही शिव में समझी जायगी। सर्वसंहर्त्ता के सामने दूसरी जो भी चीज उपस्थित होगी, वह उसका अवश्य संहार करेगा। अतः यदि कोई बचेगा तो उसका आत्मा ही बचेगा, क्योंकि अपने में संहार्य्य-संहारकभाव नहीं बनता। इसीलिये शिव की आत्मा विष्णु और विष्णु की आत्मा शिव है। वहाँ भिन्नता है ही नहीं, जिससे परसमवेतक्रियाशालित्वरूप कर्मत्व का योग हो। सर्वसंहारक में ही निरतिशय प्राबल्य एवं परमेश्वरत्व, सर्वोत्कृष्टत्व सिद्ध होता है। शेष जो भी उससे भिन्न अवशिष्ट होते हैं, उन सबका संहार हो जाता है। अतः उनका अनीश्वरत्व, निकृष्टत्व, विधेयत्व, तद्वशवर्त्तित्व सुतरां सिद्ध होता है।

जो परमेश्वर भक्तों, प्रेमियों और ज्ञानियों के निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद होते हैं और परमानन्दरसरूप होते हैं, वही अभक्तों के लिये प्रचण्ड मृत्युरूप होकर उपलब्ध होते हैं और उनसे सब भयभीत होते हैं। संहारक और शासक से सबको भय होना स्वाभाविक है। इसीलिये कहा गया है कि, **"महद्भयं वज्रमुद्यतम्।"** अर्थात् परमेश्वर उद्यत वज्र के समान महाभयानक है। उसी के भय से सूर्य्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, इन्द्र नियम से अपने-अपने काम में लगे हैं। उसी के भय से मृत्यु भी दौड़ रही है—

"भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषाऽग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥"

यही प्रचण्ड कोपरूप भी है, कोप का कार्य मृत्यु है। फिर जो मृत्यु का भी मृत्यु है उसकी कोपरूपता में क्या सन्देह है? सर्वसंहारक प्रचण्ड उग्र शासक पर-

मात्मा ही ईश्वर, ईशान, भीम, उग्र, रुद्र, चण्ड एवं चण्डिका आदि शब्दों से व्यवहृत होता है।

वेदान्त की दृष्टि से अज्ञानी लोग सर्वविधभेदशून्य, स्वप्रकाश, अद्वैत ब्रह्म से डरते हैं—

"योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः।"

जैसे नीम के कीड़े को सिता शर्करा से उद्वेग होता है, वैसे ही सप्रपञ्च द्वैतसुख के कीट अज्ञानियों को निष्प्रपञ्च अद्वैतसुख से भय होता है, क्योंकि उनके अभिलषित वादित्र, नृत्य गीतादि द्वैतसुख का वहाँ अत्यन्ताभाव होता है। परन्तु, ज्ञानियों को तो वही परमानन्दरसरूप है। इस तरह अज्ञानियों को उद्वेजक होता हुआ भी वह तत्वज्ञानियों को परमरसामृतरूप होकर प्रकट होता है।

विवेकियों की दृष्टि में प्रमाद ही मृत्यु है—

"प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि।"

उन समस्त प्रमादों की जड़ मोह या अज्ञान ही है और उसका अन्त करनेवाला ब्रह्माकारा चरम वृत्ति पर आरूढ़ शुद्ध ब्रह्म ही है। इस तरह मृत्युरूप अज्ञान का नाशक होने से सर्वसंहारक महामृत्युञ्जय महाकालेश्वर परम तत्व शिव ही है। वे ही लीलया दिव्यमङ्गलमयी मूर्ति धारण करते हैं, भक्तों की अपनी उपासना में चावपूर्वक प्रवृत्ति देख, कुतूहलवशात् स्वयं भी भक्तिरस का आस्वादन करने के लिये अपने आपको उपास्य-उपासक दो रूप में व्यक्त करते हैं। बाल रामचन्द्र, बाल मुकुन्दरूप से निज हस्तारविन्द के अङ्गुष्ठ को मुखारविन्द में विनिवेशित कर चरणारविन्द-मकरन्द-लुब्ध भावुक मनोमिलिन्दों के लोकोत्तर सौभाग्य को समझकर स्वयं भी भक्त होकर श्रीशिव की उपासना करते हैं और शिवजी के रूप से विष्णुरूप की उपासना करते हैं। शिव के हृदय में राम, राम के हृदय में शिव हैं। साम्राज्य-सिंहासनसमासीन भगवान् राम के हृदयकमल में अभिव्यक्त श्रीशिव का प्रत्यक्ष दर्शन महर्षियों ने किया और शिव के हृदय में राम के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। इस तरह 'सेवक स्वामि सखा सिय पिय के' शिव सर्वाराध्य परम दैवत हैं।

श्रीकृष्ण ने उपमन्यु महर्षि से दीक्षित होकर भगवान् अम्बासहित श्रीशिव की आराधना करके दिव्य वर प्राप्त किया था। धर्मराज युधिष्ठिर ने जब भीष्मजी से शिवतत्व के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट करके कहा कि "श्रीकृष्ण उनकी कृपा के पात्र हैं, उनकी महिमा को जानते हैं और वही कुछ वर्णन भी कर सकते हैं।" युधिष्ठिर के प्रश्न से श्रीकृष्ण ने शान्त, समाहित होकर यही कहा कि "भगवान् की महिमा तो अनन्त है, तथापि उन्हीं की कृपा से उनकी महिमा को अतिसंक्षेप में कहता हूं।" यह कहकर बड़ी ही श्रद्धा से उन्होंने

शिव-महिमा का गायन किया। विष्णु भगवान् ने तो अपने नेत्रकमल से भगवान् की पूजा की है। उसी भक्त्युद्रेक से उन्हें सुदर्शन चक्र मिला है। शिव-विष्णु का तो परस्पर में ऐसा उपास्योपासक सम्बन्ध है कि जो अन्यत्र हो ही नहीं सकता। तम काला होता है और सत्व शुक्ल, इस दृष्टि से सत्वोपाधिक विष्णु को शुक्लवर्ण होना था और तमउपाधिक रुद्र को कृष्णवर्ण होना था और सम्भवतः हैं भी वे वैसे ही, परन्तु परस्पर एक-दूसरे की ध्यानजनित तन्मयता से दोनों के ही स्वरूप में परिवर्त्तन हो गया। अर्थात् विष्णु कृष्णवर्ण और रुद्र शुक्लवर्ण हो गये। मुरलीरूप से कृष्ण के अधरामृतपान का अधिकार शिव को ही हुआ। श्रीकृष्ण अपने अमृतमय मुखचन्द्र पर, सुमधुर अधरपल्लव पर पधराकर अपनी कोमलांगुलियों से उनके पादसंवाहन करते, अधरामृत का भोग धरते, किरीट-मुकुट का छत्र धरते और कुण्डल से नीराजन करते हैं। श्रीराधारूप से श्रीशिव का प्राकट्य होता है, तो कृष्णरूप से विष्णु का, कालीरूप से विष्णु का तो शङ्कररूप से शिव का। इस तरह ये दोनों उभय-उभयात्मा, उभय उभयभावात्मा हैं।

श्रीशिव का सगुण स्वरूप भी इतना अद्भुत, मधुर, मनोहर और मोहक है कि उसपर सभी मोहित हैं। भगवान् को तेजोमयी दिव्य, मधुर, मनोहर, विशुद्ध-सत्वमयी, मङ्गलमयी मूर्ति को देखकर स्फटिक, शङ्ख, कुन्द, दुग्ध, कर्पूरखण्ड, श्वेताद्रि, चन्द्रमा सभी लज्जित होते हैं। अनन्तकोटि चन्द्रसागर के मन्थन से समुद्र-भूत, अद्भुत, अमृतमय, निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र भी उनके मनोहर मुखचन्द्र को आभा से लज्जित हो उठता है। मनोहर त्रिनयन, बाल चन्द्र एवं जटामुकुट पर दुग्धधवल स्वच्छाकृति गङ्गा की धारा हठात् मन को मोहती है। हस्ति-शुण्ड के समान विशाल, भूतिभूषित, सुडोल, गोल, तेजोमय अङ्गद-कङ्कण-शोभित भुजा, मुक्ता—मोतियों — के हार, नागेन्द्रहार, व्याघ्रचर्म, मनोहर चरणारविन्द और उनमें सुशोभित नखमणि-चन्द्रिकाएँ भावुकों को अपार आनन्द प्रदान करती हैं। हिमाद्रि के समान धवलवर्ण स्वच्छ नन्दीगण पर विराजमान सदाशक्तिरूपा श्रीउमा के सङ्ग श्रीशिव ठीक वैसे ही शोभित होते हैं, जैसे धर्मतत्व के ऊपर ब्रह्मविद्यासहित ब्रह्म विराजमान हों, किंवा माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति के साथ मूर्तिमान् होकर परमानन्दरसामृतसिन्धु विराजमान हो।

भगवान् की ऐसी सर्वमनोहारिता है कि सभी उनके उपासक हैं। कालकूट विष और शेषनाग को गले में धारण करने से भगवान् की मृत्युञ्जयरूपता स्पष्ट है। जटामुकुट में श्रीगङ्गा को धारण कर विश्वमुक्ति मूल को स्वाधीन कर लिया। अग्निमय तृतीय नेत्र के समीप में ही चन्द्रकला को धारण कर अपने संहारकत्व-पोषकत्वरूप विरुद्ध धर्माश्रयत्व को दिखलाया। सर्वलोकाधिपति होकर भी विभूति और व्याघ्रचर्म को ही अपना भूषण-वसन बनाकर संसार में वैराग्य को ही सर्वा-

पेक्षया श्रेष्ठ बतलाया। आपका वाहन नन्दी, तो उमा का वाहन सिंह, गणपति का वाहन मूषक, तो स्वामी कार्त्तिकेय का वाहन मयूर है। मूर्त्तिमान् त्रिशूल और भैरवादिगण आपकी सेवा में सदा संलग्न हैं। ब्रह्मा, विष्णु, राम, कृष्णादि भी उनकी उपासना करते हैं। नर, नाग, गन्धर्व, किन्नर, सुर, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति प्रभृति भी शिव की उपासना में तल्लीन हैं।

इधर तामस से तामस असुर, दैत्य, यक्ष, भूत, प्रेत, पिशाच, वेताल, डाकिनी, शाकिनी, वृश्चिक, सर्प, सिंह सभी आपकी सेवा में तत्पर हैं। वस्तुतः परमेश्वर का लक्षण भी यही है कि उसे सभी पूजें।

पार्वती के विवाह में जब भगवान् शंकर प्रसन्न हुए, तब अपनी सौन्दर्य्य-माधुर्य्य-सुधामयी दिव्य मूर्ति का दर्शन दिया। बरात में पहले लोग इन्द्र का ऐश्वर्य्य, माधुर्य्य देखकर मुग्ध हो गये, समझा कि यही शंकर हैं और उन्हीं की आरती के लिये प्रवृत्त हुए। जब इन्द्र ने कहा कि "हम तो श्रीशङ्कर के उपासकों के भी उपासकों में निम्नतम हैं", तब उन लोगों ने प्रजापति ब्रह्मा आदि का अद्भुत ऐश्वर्य्य देखकर उन्हें परमेश्वर समझा। जब उन्होंने भी अपने को भगवान् का निम्नतम उपासक कहा, तब वे लोग विष्णु की ओर प्रवृत्त हुए और उन्हें ही अद्भुत ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य-सौन्दर्य्यसम्पन्न देखकर शङ्कर समझा। जब श्रीविष्णु ने भी अपने को शङ्कर का उपासक बतलाया, तब तो सब आश्चर्य्य-सिन्धु में डूबने लगे।

सचमुच भगवान् कृष्ण के श्रीअङ्ग का सौन्दर्य्य, माधुर्य्य अद्भुत है। और की कौन कहे, उसपर वे स्वयं मुग्ध हो जाते हैं। मणिमय स्तम्भों या मणिमय प्राङ्गण में प्रतिबिम्बित अपनी ही मधुर, मनोहर, मङ्गलमयी मूर्ति को देख, उसके ही संमिलन और परिरम्भण के लिये वे स्वयं विभोर हो उठते हैं। श्रीमूर्ति के प्रत्येक अङ्ग-भूषणों को भी भूषित करते हैं। कौस्तुभादि मणिगणों ने अनन्त आराधनाओं के अनन्तर अपनी शोभा बढ़ाने के लिये उनके श्रीकण्ठ को प्राप्त किया है, कि वहुना अनन्त गुणगणों ने भी अनन्त तपस्याओं के अनन्तर अपनी गुणत्वसिद्धि के लिये जिन निर्गुण, निरपेक्ष का आश्रयण किया है, वे स्वयं श्रीकृष्ण जिसकी उपासना करें, जिसपर मुग्ध रहें, उसकी महिमा, मधुरिमा का कहना ही क्या? राधारूप से जिसे प्रतिक्षण हृदय एवं रोम-रोम में रखें, वंशीरूप से अधरपल्लव पर रखें, जिनके स्वरूप का निरन्तर ध्यान करें, उनकी महिमा को कौन कह सकता है? शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध के माधुर्य्य में प्राणियों का चित्त आसक्त होता है। चित्त में अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय ब्रह्म का आरोहण कठिन होता है। इसीलिये भगवान् ऐसी मधुर, मनोहर, मङ्गलमयी मूर्त्तिरूप में अपने आपको व्यक्त करते हैं, जिसके शब्द-स्पर्शादि के माधुर्य्य का पारावार नहीं, जिसके लावण्य, सौन्दर्य्य, सौगन्ध, सौकुमार्य्य की तुलना कहीं है ही नहीं। मानो भगवान् की सौन्दर्य्य-

सुधाजलनिधि मङ्गलमूर्त्ति से ही, किंवा उसके सौन्दर्य्यादि-सुधासिन्धु के एक बिन्दु से ही अनन्त ब्रह्माण्ड में सौन्दर्य्य, माधुर्य्य, लावण्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य्य आदि वितत हैं।

जब प्राणी का मन प्राकृत कान्ता के सौन्दर्य्य, माधुर्य्यादि में आसक्त हो जाता है, तब अनन्तब्रह्माण्डगत सौन्दर्य्य, माधुर्य्यादि बिन्दुओं के उद्गमस्थान सौन्दर्य्यादि-सुधाजलनिधि भगवान् के मधुर स्वरूप में क्यों न आसक्त होगा ?

भगवान् का हृदय भास्वती भगवती अनुकम्पा देवी के परतन्त्र है। संसार में माँगनेवाला किसी को अच्छा नहीं लगता, उससे सभी घृणा करते हैं। परन्तु, भगवान् शंकर तो आक, धतूर, अक्षत, बिल्वपत्र, जलमात्र चढ़ाने, गला बजाने से ही सन्तुष्ट होकर सब कुछ देने को प्रस्तुत हो जाते हैं। ब्रह्माजी पार्वती से अपना दुखड़ा रोते हुए कहते हैं

"बावरो रावरो नाह भवानी।
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नाहिं निशानी।
तिन रंकन को नाक सँवारत हों आयों नकबानी॥
शिव को दई सम्पदा देखत श्री शारदा सिहाहीं।
दीनदयाल देइबोइ भावई थां जस जाहि सुहाहीं॥"

उनका भक्त एक ही बार प्रणाम करने से अपने को मुक्त मानता है। भगवान् भी 'महादेव' ऐसे नाम उच्चारण करनेवाले के प्रति ऐसे दौड़ते हैं, जैसे वत्सला गौ अपने बछड़े के प्रति —

"महादेव महादेव महादेवेति वादिनम्।
वत्सं गौरिव गौरीशो धावन्तमनुधावति॥"

जो पुरुष तीन बार महादेव, महादेव, महादेव, इस तरह भगवान् का नाम उच्चारण करता है, भगवान् एक नाम से मुक्ति देकर शेष दो नाम से उसके ऋणी हो जाते हैं—

"महादेव महादेव महादेवेति यो वदेत्।
एकेन मुक्तिमाप्नोति द्वाभ्यां शंभू ऋणी भवेत्॥"

ठीक ही है, वेदान्त-सिद्धान्तानुसार शब्द से ही तत्त्व का साक्षात्कार होता है। उपनिषदों, महावाक्यों एवं भगवत्स्वरूप-बोधक प्रणवादि नामों से तत्त्व-साक्षात्कार होता है। तत्त्वसाक्षात्कार होते ही कल्पित संसार मिट जाता है। स्वाभाविक पारमार्थिक ब्रह्मानन्दरसामृत मुक्ति मिल जाती है। जैसे अमृतसागर में क्षार-सागर की कल्पना भ्रान्ति से होती है, वैसे ही परमानन्दरसामृतमूर्ति शिवतत्त्व में भवसागर की भ्रान्ति होती है। अधिष्ठान के साक्षात्कार से कल्पना मिट जाती है।

यह "नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं" का आशय है। दूसरी दृष्टि से जैसे तृण, वीरुध, औषधों के विचित्र सम्प्रयोग-विप्रयोग से विचित्र गुणों और दोषों का उद्भव-अभिभव होता है, वैसे ही वर्णों के विचित्र सम्प्रयोग-विप्रयोग में विचित्र शक्तियाँ होती हैं। 'क' 'ख' 'ग' 'घ' आदि वर्णों के ही जोड़तोड़ से विचित्र वाङ्मय शास्त्र बने हैं। 'राजा' 'जारा', 'नदी' 'दीन' यह सब अर्थ-विपरिणाम वर्णों के आनुपूर्वी ही भेद से होते हैं। उन्हीं वर्णों के ऐसे भी जोड़तोड़ होते हैं, जिनसे घोर से घोर शत्रु वश में हो जाते हैं। सर्प, वृश्चिक, पिशाच, राक्षस, देवता वश में हो जाते हैं। ऐसे विचित्र वर्णविन्यास होते हैं, जिनका मूल्य संसार में कुछ भी नहीं है। विद्वानों, कवियों, तार्किकों के वर्णविन्यासविशेष में ही खूबी है, किन्हीं वर्णविन्यासों से परम मित्र भी शत्रु हो जाते हैं।

इस तरह अदृष्टविधया भी भगवान् के शिव, महादेव आदि नामों में विचित्र शक्ति है, जिससे प्राणी निष्पाप होकर परमतत्व का साक्षात्कार कर कृतकृत्य हो जाता है।

●

शिव से शिक्षा

भगवान् भूतभावन श्रीविश्वनाथ के चरित्रों से प्राणियों को नैतिक, सामाजिक, कौटुम्बिक अनेक प्रकार की शिक्षा मिलती है। समुद्र-मन्थन में निकलनेवाले कालकूट विष का भगवान् शङ्कर ने पान किया और अमृत देवताओं को दिया। राष्ट्र के नेता और समाज एवं कुटुम्ब के स्वामी का यही कर्त्तव्य है, उत्तम वस्तु राष्ट्र के अन्यान्य लोगों को देनी चाहिये और अपने लिये परिश्रम, त्याग तथा तरह-तरह की कठिनाइयों को ही रखना चाहिये। विष का भाग राष्ट्र या बच्चों को देने से वैमनस्य और उससे सर्वनाश हो जायगा। शिवजी ने न विष को हृदय (पेट) में उतारा और न उसका वमन ही किया, किन्तु कण्ठ में ही रोक रखा। इसीलिये विष और कालिमा भी उनके भूषण हो गये। जो संसार के हित के लिये विषपान से भी नहीं हिचकते, वे ही राष्ट्र या जगत् के ईश्वर हो सकते हैं।

समाज या राष्ट्र की कटुता को पी जाने से ही नेता राष्ट्र का कल्याण कर सकता है। परन्तु, फिर भी उस कटुता का विष वमन करने से फूट और उपद्रव ही होगा। साथ ही उस विष को हृदय में रखना भी बुरा है। अमृतपान के लिये सभी उत्सुक होते हैं, परन्तु विषपान के लिये शिव ही हैं; वैसे ही फलभोग के लिये सभी तैयार रहते हैं, परन्तु त्याग तथा परिश्रम को स्वीकारने के लिये महापुरुष ही प्रस्तुत होते हैं। जैसे अमृतपान के अनुचित लोभ से देव-दानवों का विद्वेष स्थिर हो गया, वैसे ही अनुचित फलकामना से समाज में विद्वेष स्थिर हो जाता है।

शिवजी का कुटुम्ब भी विचित्र ही है। अन्नपूर्णा का भण्डार सदा भरा, पर भोले बाबा सदा के भिखारी। कार्तिकेय सदा युद्ध के लिये उद्यत, पर गणपति स्वभाव से ही शान्तिप्रिय। फिर कार्तिकेय का वाहन मयूर, गणपति का मूषक, पार्वती का सिंह और स्वयं अपना नन्दी और उसपर आभूषण सर्पों के। सभी एक दूसरे के शत्रु, पर गृहपति की छत्रछाया में सभी सुख तथा शान्ति से रहते हैं। घर में प्रायः विचित्र स्वभाव और रुचि के लोग रहते हैं, जिसके कारण आपस में खटपट चलती ही रहती है। घर की शान्ति के आदर्श की शिक्षा भी शिव से ही मिलती है। भगवान् शिव और अन्नपूर्णा अपने आप परम विरक्त रहकर संसार का सब ऐश्वर्य्य श्रीविष्णु और लक्ष्मी को अर्पण कर देते हैं। श्रीलक्ष्मी और विष्णु भी संसार के सभी कार्यों को सँभालने, सुधारने के लिये अपने आप ही अवतीर्ण होते हैं। गौरी-शङ्कर को कुछ भी परिश्रम न देकर आत्मानुसन्धान के लिये उन्हें निष्प्रपंच रहने देते हैं। ऐसे ही कुटुम्ब और समाज के सर्वमान्य पुरुषों को चाहिये कि योग्यतम

कुटुम्बियों के हाथ समाज और कुटुम्ब का सब ऐश्वर्य्य दे दें और उन योग्य अधिकारियों को चाहिये कि समाज के प्रत्येक कार्य-सम्पादन के लिये स्वयं ही अग्रसर हों, वृद्धों को निष्प्रपञ्च होकर आत्मानुसन्धान करने दें।

महापार्थिवेश्वर हिमालय की महाशक्तिरूपा पुत्री का श्रीशिव के साथ परिणय होने से हो विश्व का कल्याण हो सकता है। किसी प्रकार की भी शक्ति क्यों न हो, जब तक वह धर्म से परिणीत—संयुक्त—नहीं होती, तब तक कल्याणकारिणी नहीं होती। परन्तु, आसुरी शक्ति तो तपस्या चाहती ही नहीं, फिर उसे शिव या धर्म कैसे मिलेंगे? धर्मसम्बन्ध के बिना शक्ति आसुरी होकर अवश्य ही संहार का हेतु बनेगी। प्रकृतिमाता की यह प्रतिज्ञा है कि—

"यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति॥"

अर्थात् संघर्ष में जो मुझे जीत लेगा, जो मेरे दर्प को चूर्ण कर देगा और जो मेरे समान या अधिक बल का होगा, वही मेरा पति होगा। यह स्पष्ट है कि रक्तबीज, शुम्भ, निशुम्भ आदि कोई भी दैत्य, दानव प्रकृति-विजेता नहीं हुए। किन्तु सब प्रकृति से पराजित, प्रकृति के अंश काम, क्रोध, लोभ, मोह, दर्प आदि से पद-पद पर भग्नमनोरथ होते रहे हैं। हाँ, गुणातीत प्रकृतिपार भगवान् शिव ही प्रकृति को जीतते हैं। तभी तो प्रकृतिमाता ने उन्हें ही अपना पति बनाया। यही क्यों, कन्दर्प-विजयी शिव की प्राप्ति के लिये तो उन्होंने घोर तपस्या भी की।

आज का संसार शुम्भ-निशुम्भ की तरह विपरीत मार्ग से प्रकृति पर विजय चाहता है। इसीलिये प्रकृति अनेक तरह से उसका संहार कर रही है। पार्थिव, आप्य, तैजस, विविधतत्त्वों का अन्वेषण, जल, स्थल, नभ पर शासन करना, समुद्र-तल के जन्तुओं तक की शान्ति भङ्ग करना, तरह-तरह के यन्त्रों का आविष्कार और उनसे काम लेना ही आज का प्रकृतिजय है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि और उनके विकारों पर नियन्त्रण करने का आज कोई भी मूल्य नहीं। प्रकृति भी कोयला, लोहा, तेल आदि साधारण से साधारण वस्तुओं को निमित्त बनाकर उन्हीं यन्त्रों से उनका संहार करा रही है।

आज शिव 'अनार्य' देवता बतलाये जा रहे हैं। शिव की आराधना भूल जाने से आज राष्ट्र का भी शिव (मङ्गल) नहीं हो रहा है—

"जरत सकल सुरवृन्द, विषम गरल जेहि पान किय।
तेहि न भजसि मतिमन्द, को कृपालु शङ्कर सरिस॥"

●

शिवलिङ्गोपासना-रहस्य

सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक, परब्रह्म परमात्मा ही "शान्तं शिवं चतुर्थम्मन्यन्ते" इत्यादि श्रुतियों से शिवतत्त्व कहा गया है। वही सच्चिदानन्द परमात्मा अपने आपको ही शिवशक्तिरूप में प्रकट करते हैं। वह परमार्थतः निर्गुण, निराकार होते हुए भी अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्ति से सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघनरूप में भी प्रकट होते हैं। वही शिव-शक्ति राधाकृष्ण, अर्द्धनारीश्वर आदि रूप में प्रकट होते हैं। सत्ता के बिना आनन्द नहीं और आनन्द के बिना सत्ता नहीं। 'स्वप्रकाश सत्तारूप आनन्द' ऐसा कहने से आनन्द की वैषयिक सुखरूपता का वारण होता है, सत्ता को आनन्दरूप कहने से उसकी जड़ता का वारण होता है। जैसे आनन्दसिन्धु में माधुर्य्य उसका स्वरूप हो है, वैसे ही पार्वती-शिव का स्वरूप किंवा आत्मा ही है। माधुर्य्य के बिना आनन्द नहीं और आनन्द के बिना माधुर्य्य नहीं। दूसरी दृष्टि से—

"सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥" (गीता)

समस्त प्राणियों में जितनी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी योनि अर्थात् उत्पन्न करनेवाली माता प्रकृति है और बोज देनेवाला शिव (लिङ्ग) पिता मैं हूँ। अर्थात् मूल प्रकृति और परमात्मा ही उन माता-पिता (योनि-लिंग) रूप में उन-उन मूर्त्तियों (वस्तुओं) का उत्पादन करते हैं। जैसे लोक में प्रजोत्पादन की कामना से प्राणी नारी में गर्भाधान करता है, वैसे ही **"एकोऽहं बहुःस्यां, प्रजायेय"** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार एक ब्रह्मतत्त्व ही प्रजोत्पादन या बहुभवन की कामना से प्रकृति में गर्भाधान करता है। **"सोऽकामयत"** यह प्रजा की सिसृक्षारूप काम ही प्राथमिक आधिदैविक काम है। इसी काम द्वारा प्रकृतिसंसृष्ट होकर भगवान् अनन्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं। यह काम भी भगवान् का ही अंश है—**"कामस्तु वासुदेवांशः"** (भागवत)।

लोक में भी प्रेम, काम या इच्छा का मुख्य विषय आनन्द ही है। सुख में साक्षात् कामना और उससे अन्य में सुख का साधन होने से इच्छा होती है, इसीलिये आनन्द और तद्रूप आत्मा निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम का आस्पद है, अन्य वस्तुएँ सातिशय, सोपाधिक अपर प्रेम के आस्पद हैं। कान्त को कान्ता की कामना, उसको सुखाभिव्यञ्जक अतएव सुखमय समझकर ही होती है। कामना या तृष्णा से व्यथित हृदय में स्वरूपभूत आत्मानन्द का प्राकट्य नहीं होता। परन्तु, अभिलषित कान्ता की प्राप्ति होने पर क्षणभर के लिये वह तृष्णा निवृत्त हो जाती है, बस तभी अन्तर्मुख किञ्चित् शान्त मन पर आत्मानन्द का प्राकट्य होता है। परन्तु, आत्मा में

ही आनन्द है अथवा आनन्दाभिव्यञ्जक तृष्णा की निवृत्ति में, इसको तो विवेकी ही जानता है, अविवेकी तो आत्मा के स्वरूपभूत आनन्द को नहीं समझता। तृष्णा-निवर्त्तक सुन्दरी कान्ता में ही आनन्द मानता है। अतएव, उसी की पुनः तृष्णा करता है और फिर कान्ताप्राप्ति की तृष्णारूपव्यथा की निवृत्ति से आनन्दित होकर फिर उसी को चाहता है। विवेकी समझता है कि यद्यपि कान्ताप्राप्ति के अनन्तर आनन्द होता है, तथापि कान्ता साक्षात् आनन्दरूप नहीं है, किन्तु तृष्णानिवृत्ति, मनःशान्ति से आत्मा का ही आनन्द प्रकट होता है। आनन्द की प्राप्ति कान्ता दूरतः कारण है, सो भी आनन्दजनकत्व या आनन्दमयत्व की भ्रान्ति से। जैसे विष के प्रभाव से कटु निम्ब में मिठास प्रतीत होती है, वैसे ही भ्रान्ति या मोह के प्रभाव से मांसमयी कान्ता में आनन्द का भान होता है। परन्तु, इसके अतिरिक्त शुद्ध आनन्द या आत्मा में जो प्रेम, आनन्द, कामना है, वह तो स्वाभाविक है, आत्मा का अंश ही है, इसीलिये अद्वैत आत्मा ही निरुपाधिक प्रेम का आस्पद कहा जाता है, परन्तु, वहाँ प्रेम और उसके आश्रय तथा विषय में भेद नहीं है।

प्रेम, आनन्द, रस यह सभी आत्मा का स्वरूप है। रसरूप आनन्द से ही समस्त विश्व उत्पन्न होता है, अतः सबमें उसका होना अनिवार्य्य है। इसीलिये जिस तरह सोपाधिक आनन्द और सोपाधिक प्रेम सर्वत्र है ही, उसी तरह कान्ता भी सोपाधिक आनन्दरूप कही जा सकती है। अतएव वह सोपाधिक प्रेम का विषय भी है। परन्तु निरुपाधिक प्रेम तो निरुपाधिक आत्मा में ही होना ठीक है। जैसे सत् के ही सविशेष रूप में अनुकूलता, प्रतिकूलता, हेयता, उपादेयता होती है, निर्विशेष तो शुद्ध आत्मा ही है, वैसे ही सविशेष आनन्द और प्रेम में भी हेयता, उपादेयता है।

सुन्दर, मनोहर देवता और तद्विषयक प्रेम आदि उपादेय है, सुन्दरी वेश्यादि की आनन्दरूपता और तद्विषयक प्रेम हेय है। जैसे अतिपवित्र दुग्ध भी अपवित्र पात्र के संसर्ग से अपवित्र समझा जाता है, वैसे ही आनन्द और प्रेम भी अपवित्र उपाधियों के संसर्ग से दूषित हो जाता है। शास्त्रनिषिद्ध विषयों में आनन्द और प्रेम दोष है, हेय है। शास्त्रविहित विषयों में आनन्द और प्रेम पुण्य है, उपादेय है। परन्तु, निर्विशेष, सर्वोपाधियुक्त प्रेम, आनन्द तो स्पष्ट आत्मा या ब्रह्म ही है। इतने पर भी आनन्द और प्रेम सभी है। आत्मा के ही अंश अपवित्र विषय के दूषण से ही कामिनी आदि-विषयक प्रेम को मन या राग आदि कहा जाता है, देवताविषयक प्रेम को भक्ति आदि कहा जाता है। सजातीय में ही सजातीय का आकर्षण होता है। बस यह आकर्षण ही प्रेम या काम है। कान्ताकान्त दोनों ही में रहनेवाले तत्तदवच्छिन्न रस या आनन्द में ही जो परस्पर आकर्षण है, वही काम है।

समष्टि ब्रह्म का प्रकृति की ओर झुकाव आधिदैविक काम है। परन्तु जहाँ शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का स्वरूप में ही आकर्षण होता है, किंवा आत्मा का

अपने ही अत्यन्त अभिन्न स्वरूप में ही जो आकर्षण या निरतिशय, निरुपाधिक प्रेम है, वह तो आत्मस्वरूप ही है। यही राधाकृष्ण, गौरी-शङ्कर, अर्द्धनारीश्वर का परस्पर प्रेम, परस्पर आकर्षण है और यह शुद्ध प्रेम ही शुद्ध काम है। यह कामेश्वर या कृष्ण का स्वरूप ही है। अनन्त ब्रह्माण्ड में विस्तीर्ण कामबिन्दु मन्मथ है। अनन्तब्रह्माण्डाण्डनायक का प्रकृति में वीर्याधान का प्रयोजक कामसागर साक्षात् मन्मथ है। परन्तु, सौन्दर्य्यमाधुर्य्यसार-सर्वस्व, निखिलरसामृतमूर्त्ति कृष्णचन्द्र का जो अपनी ही स्वरूपभूता माधुर्य्याधिष्ठात्री राधा में आकर्षण है, वह तो साक्षान्मन्मथ-मन्मथ ही है। उनका पूर्णतम सौन्दर्य्य ऐसा अद्भुत है कि उन्हें ही विस्मित कर देता है। काम उनकी पदनख-मणि-चन्द्रिका की रश्मिच्छटा को देखकर मुग्ध हो गया। उसका स्त्रीत्व-पुंस्त्वभाव ही मिट गया, उसने अपने मन में यह ठान लिया कि अनन्त जन्मों तक भी तपस्या करके ब्रजाङ्गनाभाव प्राप्त कर श्रीकृष्ण के पद-नख-मणि-चन्द्रिका का सेवन प्राप्त करूँगा। परन्तु, यहाँ तो कृष्ण ने ही अपने स्वरूप पर मुग्ध होकर उस रस के समास्वादन के लिये ब्रजाङ्गनाभावप्राप्त्यर्थ तपस्या का विचार कर लिया। यहाँ शुद्ध परमतत्त्व में ही शिवशक्तिभाव, अर्द्धनारीश्वरभाव और शुद्ध आकर्षण प्रेम या काम है। सत्‌रूप गौरी एवं चित्‌रूप शिव दोनों ही जब अर्द्धनारी-श्वर के रूप में मिथुनीभूत (सम्मिलित) होते हैं, तभी पूर्ण सच्चिदानन्द का भाव व्यक्त होता है, परन्तु यह भेद केवल औपचारिक ही है, वास्तव में तो वे दोनों एक ही हैं।

कुछ महानुभावों का कहना है कि पूर्ण सौन्दर्य्य अपने में ही अपने प्रतिबिम्ब को अपने आप देख सकता है, भगवान् अपने स्वरूप को देखकर स्वयं विस्मित हो जाते हैं—

"विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः।"

बस इसी से प्रेम या काम प्रकट होता है। इसी से शिवशक्ति का संमिलन होता है। वही शृंगाररस है। कामेश्वर-कामेश्वरी, श्रीकृष्ण-राधा, अर्द्धनारीश्वर वही है। पूर्ण सौन्दर्य्य अनन्त है, अप्सराओं का सौन्दर्य्य उसके सामने नगण्य है। उसी सौन्दर्य्य के कणमात्र से विष्णु ने मोहिनीरूप से शिव को मोह लिया। उसी के लेश से मदन मुनियों को मोहता है। वही सगुण रूप में कहीं ललिता, कहीं कृष्णरूप में प्रकट होता है—

"षोडशी तु कला ज्ञेया सच्चिदानन्दरूपिणी।" (सुभगोदय)
"नित्यंकिशोर एवासौ भगवानन्तकान्तकः॥"

कभी आद्या ललिता ही पुंरूपधारिणी होकर कृष्ण बनती है, वही वंशीनाद से विश्व को मोहित करती है—

"कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
वंशीनादसमारम्भादकरोद्विवशं जगत्॥" (तन्त्रराज)

प्रकृतिपार, सौन्दर्य्य-माधुर्य्यसार, आनन्दरससार परमात्मा में भी शिव-पार्वती भाव बनता है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डोत्पादिनी अनिर्वचनीय शक्तिविशिष्ट ब्रह्म में भी शिव-पार्वती भाव है। उस परमात्मा में ही लिङ्गयोनिभाव की कल्पना है।

निराकार, निर्विकार, व्यापक दृक् या पुरुषतत्त्व का प्रतीक ही लिङ्ग है और अनन्तब्रह्माण्डोत्पादिनी महाशक्ति प्रकृति ही योनि, अर्घा या जलहरी है। न केवल पुरुष से सृष्टि हो सकती है, न केवल प्रकृति से। पुरुष निर्विकार, कूटस्थ है, प्रकृति ज्ञानविहीन, जड़ है। अतः सृष्टि के लिये दृक्-दृश्य, प्रकृति-पुरुष का सम्बन्ध अपेक्षित होता है। 'गीता' में भी प्रकृति को परमात्मा की योनि कहा गया है—

"मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥"

भगवान् कहते हैं—महद्ब्रह्म—प्रकृति—मेरी योनि है, उसी में मैं गर्भाधान करता हूँ, तभी उससे महदादिक्रमेण समस्त प्रजा उत्पन्न होती है। प्रकृतिरूप योनि में प्रतिष्ठित होकर ही पुरुषरूप लिङ्ग का उत्पादन करता है। अतएव बिना योनि-लिङ्ग-सम्बन्ध के कहीं भी किसी की सृष्टि ही नहीं होती। हाँ, यह बात अवश्य समझ लेनी चाहिये कि लोकप्रसिद्ध मांसचर्ममय ही लिङ्ग और योनि नहीं है, किन्तु वह व्यापक है। उत्पत्ति का उपादानकारण पुरुषत्व का चिह्न ही लिङ्ग कहलाता है। दृश्य अण्डरूप ब्रह्म भी अदृश्य पुरुष ब्रह्म का चिह्न है और वही संसार का उपादान भी है, अतः वह लिङ्गपदवाच्य है। लिङ्ग और योनि पुरुष-स्त्री के गुह्याङ्गपरक होने से ही इन्हें अश्लील समझना ठीक नहीं है। गेहूँ, यव आदि में भी जिस भाग में अंकुर निकलता है उसे योनि माना जाता है, दाने निकलने से पहले जो छत्र होता है वह लिङ्ग है। ब्रह्मा या देवताओं के संकल्प से उत्पन्न सृष्टि का भी लिङ्ग-योनि से सम्बन्ध है अर्थात् शिव-शक्ति ही यहाँ लिङ्ग-योनि शब्द से विवक्षित है।

उत्पत्ति का आधारक्षेत्र भग है, बीज लिङ्ग है। वृक्ष, अंकुरादि सभी प्रपञ्च की उत्पत्ति का क्षेत्र भग है, बीज पुरुष लिङ्ग है। जैसे दृक्तत्त्व व्यापक है, वैसे ही दृश्य प्रकृतितत्त्व भी। तभी तो कभी लोकप्रसिद्ध योनि-लिङ्ग के बिना भी मानसी सङ्कल्पजा सृष्टि होती थी। कहीं दर्शन से, कहीं स्पर्श से, कहीं फलादि से भी सन्तान उत्पन्न हो जाती थी। कहीं भी, कैसी भी, सृष्टि क्यों न हो, परन्तु वहाँ सृष्टि के उत्पादनानुकूल शिव-शक्ति का सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ता है। वृक्ष, लता, दूर्वा, तृणादि सभी तत्त्वों की उत्पत्ति में तदुपयुक्त शिव-शक्ति का सम्बन्ध अनिवार्य है। योगसिद्ध महर्षियों का प्रकृति पर अधिकार होता था। अतः ये सङ्कल्प, स्पर्शन, अवलोकन आदि से ही सृष्टि के उपयुक्त लिङ्ग-योनि-सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। प्रसिद्ध लिङ्ग और योनि ही असली लिङ्ग योनि नहीं है। किन्तु यह तो उनकी अभिव्यक्ति का स्थान, केवल गोलक है। सर्वसाधारण लोग जिसे नेत्र समझते हैं वह नेत्र

नहीं है, किन्तु वह तो अतीन्द्रिय नेत्र इन्द्रिय को अभिव्यक्ति का स्थान गोलक है, इन्द्रिय उससे पृथक् सूक्ष्म वस्तु है। प्रसिद्ध नासिका या कान ही घ्राण और श्रोत्र नहीं, किन्तु यह सब तो गोलक है। घ्राण, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ तो अतिसूक्ष्म हैं, वे नेत्रादि के विषय नहीं हैं। फिर भी विशेषरूप से उनका इन गोलकों में प्राकट्य होता है, अतएव कभी जब इन गोलकों के ज्यों के त्यों बने रहने पर भी इन्द्रियशक्ति क्षीण हो जाती है, तब दर्शन, श्रवण, आघ्राण आदि नहीं होते। योगियों को घ्राण, श्रोत्र, नेत्र-सम्बन्ध बिना भी दूरदर्शन श्रवणादि होते हैं। उसी तरह लौकिक प्रसिद्ध लिङ्ग-योनि आदि केवल गोलक हैं, उनमें व्यक्त होनेवाला योनि-लिङ्ग तो अतीन्द्रिय ही है। वैसे ही प्रजनन इन्द्रिय, वीर्य्य, रज आदि भी उसके मुख्य रूप नहीं, किन्तु उनसे भी सूक्ष्म, उनमें विशेषरूप से व्यक्त दृक्-दृश्य ही शिव और शक्ति है।

यद्वा जैसे अग्नितादात्म्यापन्न लौह-पिण्ड में दाहकत्व, प्रकाशकत्व हो सकता है, वैसे ही पुरुष-प्रतिबिम्बोपेत ही अचेतन प्रकृति चेतित होकर विश्व का निर्माण करती है। जैसे पुरुष के सर्वाङ्गसार वीर्य्य को पाकर ही योनि सन्तान रचती है, वैसे ही पुरुष-प्रतिबिम्ब भी पुरुष समानाकार पुरुष की प्रतिकृति ही होता है, उसी से अचेतन प्रकृति में भी चेतनता का सञ्चार होता है। इधर मूर्तिपूजा का भी भाव यही होता है कि दृश्य से अदृश्य की पूजा हो। शालग्राम में विष्णु की भावना होती है। केवल काष्ठ, पाषाण, धातु को पूजा नहीं होती, किन्तु मन्त्र और विधानों की महिमा से आहूत, संनिहित व्यापक दैवततत्व ही मूर्ति में आराध्य होता है। व्यष्टि के द्वारा ही प्राणियों के मन में समष्टिभाव का आरोहण होता है। अतएव, समस्त व्यष्टि लिङ्गों एवं अन्यत्र भी व्यापक शिवतत्त्व की समष्टि मूर्ति महादेव-लिङ्ग है। जैसे व्यष्टि नेत्रों का अधिष्ठाता समष्टिदेव सूर्य्य है, वैसे ही व्यष्टि प्रजननशक्तियों में व्याप्त शिवतत्त्व का समष्टिस्वरूप शिवलिङ्ग है। जैसे व्यष्टि नेत्र की उपासना न होकर समष्टिनेत्र सूर्य्य की ही आराधना होती है और प्रतिमा भी उन्हीं की बनती है, वैसे ही समष्टि शिवमूर्ति को ही उपासना और प्रतिमा होती है। जैसे जाग्रत, स्वप्न की उत्पत्ति और लय सौषुप्त तम से ही होते हैं, वैसे ही तम से ही सबका उद्भव और उसी में सबका लय होता है। तम को वश में रखकर उसके अधिष्ठाता शिव ही सर्वकारण हैं। कार्यों को कारण का पता आद्यन्त नहीं लगता।

यह कहा जा चुका है कि समस्त योनियों का समष्टि रूप प्रकृति है, वही शिव-लिङ्ग का पीठ या जलहरी है। योनि में प्रतिष्ठित लिङ्ग आनन्दप्रधान, आनन्दमय होता है। जैसे समस्त रूपों का आश्रय चक्षु, समस्त गन्धों का आश्रय—एकायतन—घ्राण है, वैसे ही समस्त आनन्दों का एकायतन लिङ्ग-योनिरूप उपस्थ है। अतएव, प्रकृतिविशिष्ट दृक्रूप परमात्मा आनन्दमय कहलाता है। सुषुप्ति में भी उसी के अंश-भूत व्यष्टि आनन्दमय का उपलम्भ होता है। प्रिय, मोद, प्रमोद, आनन्द यह आनन्द-

मय के अवयव हैं, शुद्ध ब्रह्म इन सबका आधार है। जब अनन्तब्रह्माण्डोत्पादिनी प्रकृति समष्टि योनि है, तब अनन्तब्रह्माण्डनायक परमात्मा ही समष्टि लिङ्ग है और अनन्त ब्रह्माण्ड प्रपञ्च ही उनसे उत्पन्न सृष्टि है। इसीलिये परमप्रकाशमय, अखण्ड, अनन्त शिवतत्त्व ही वास्तविक लिङ्ग है और वह परम प्रकृतिरूप योनि—जलहरी—में प्रतिष्ठित है। उसी की प्रतिकृति पाषाणमयी, धातुमयी जलहरी और लिङ्गरूप में बनायी जाती है।

अदीर्घदर्शी अज्ञ प्राणी के लिये सांसारिक सुखों में सर्वाधिक सुख प्रियाप्रियतम-परिष्वङ्ग मैथुन में है। अतः उसके उदाहरण से भी श्रुतियों ने अनन्त, अखण्ड, परमानन्द ब्रह्म और प्रकृति के आनन्दमय स्वरूप को दिखलाया है। कहीं-कहीं जीवात्मा के परमात्मसंमिलन-सुख को इसी दृष्टान्त सुख से दिखलाया गया है—

**"तद्यथा प्रियया भार्य्यया सम्परिष्वक्तो नान्तरं किञ्चन वेद न बाह्यम्।
एवमेव प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो नान्तरं किञ्चन वेद न बाह्यम्॥"**

जैसे प्रियतमा के परिरम्भण में कामुक को आनन्दोद्रेक से बाह्य, आभ्यन्तर विश्व विस्मृत होता है, वैसे ही जीव को परमात्मा के संमिलन में प्रपञ्च का विस्मरण होता है। श्रुतियों एवं पुराणों में आध्यात्मिक, आधिदैविक तत्त्वों का ही लौकिक भाषा में वर्णन किया जाता है, जिससे कभी-कभी अज्ञों को उसमें अश्लीलता झलकने लगती है। गोलोकधाम में एक पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने अकेले अरमण के कारण अपने आपको दो रूप में प्रकट किया—एक श्याम तेज, दूसरा गौर तेज। गौर तेज राधिका में श्यामल तेज कृष्ण से गर्भाधान होने पर महत्तत्वप्रधान हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए। यह भी प्रकृति-पुरुष के संयोग से महत्तत्वादि प्रपञ्च की उत्पत्तिरूपक कही गयी है।

इसी को यों भी समझ सकते हैं—जाग्रत्, स्वप्न के अभिमानी विश्व, तैजस और विराट्, हिरण्यगर्भ ये सभी सावयव हैं। किन्तु सर्व-लयाधिकरण ईश्वर निरवयव है, वह माया से आवृत होता है। अविद्या के भीतर ही रहनेवाला तो जीव है, परन्तु जो **'अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्'** के सिद्धान्तानुसार अविद्या का अतिक्रमण कर स्थित है, वही ईश्वर है। निरावरण तत्त्व शिव है। ईश्वरभाव माया से आवृत और शिवभाव अनावृत है। माया जलहरी है और उसके भीतर आवृत ईश्वर है, जलहरी के बाहर निकला हुआ शिवलिङ्ग निरावरण ईश्वर है। जिसका पृथक्-पृथक् अङ्ग न व्यक्त हो, वह पिण्ड के ही रूप में रहेगा। सुषुप्ति में प्रतीयमान विशिष्ट आत्मभाव का सूचक पिण्डी है। शिव के सम्बन्धमात्र से प्रकृति स्वयं विकाररूप में प्रवाहित होती है। इसलिये अर्घा गोल नहीं, किन्तु दीर्घ होता है। लिङ्ग के मूल में ब्रह्मा, मध्य में विष्णु, ऊपर प्रणवात्मक शङ्कर हैं। लिङ्ग महेश्वर, अर्घा महादेवी हैं—

"मूले ब्रह्मा तथा मध्येविष्णुस्त्रिभुवनेश्वरः।
रुद्रोपरि महादेवः प्रणवाख्यः सदाशिवः॥
लिङ्गवेदी महादेवी लिङ्गं साक्षान्महेश्वरः।
तयोः सम्पूजनान्नित्यं देवी देवश्च पूजितौ॥"　　(लिङ्गपुराण)

चैतन्यरूप लिङ्ग सत्ता और प्रकृति से ही ब्रह्माण्ड बना। उनके सहारे ही वह लय की ओर जा सकेगा। अर्थात् शुद्ध मोक्ष के लिये उसी के द्वारा पहुँचना होगा।

यद्वा प्रणव में अकार शिवलिङ्ग है, उकार जलहरी है, मकार शिवशक्ति का सम्मिलित रूप समझ लिया जाता है। शिवब्रह्म का स्थूल आकार विराट् ब्रह्माण्ड है, ब्रह्माण्ड आकार का ही शिवलिङ्ग होता है। निर्गुण ब्रह्म का बोधक होने से यही ब्रह्माण्ड लिङ्ग है। अथवा उकार से जलहरी, अकार से पिण्डी और मकार से त्रिगुणात्मक त्रिपुण्ड्र कहा गया है। अथवा निराकार के आकाशरूप आकार, ज्योतिः-स्तम्भाकार तथा ब्रह्माण्डाकार आदि सभी स्वरूपों में शक्तिसहित शिवतत्त्व का ही निवेश है। सर्वरूप, पूर्ण एवं निराकार का आकार अण्ड के आकार का ही होता है। मैदान में खड़े होकर देखने से पृथ्वी पर टिका हुआ आकाश अर्द्धअण्डाकार ही मालूम होता है। पृथ्वी के ऊपर जैसे आकाश है, वैसे ही नीचे भी, दोनों को मिलाने से वह भी अण्डाकार ही होगा। आत्मा से आकाश की उत्पत्ति है, यही निराकार का ज्ञापक लिङ्ग उसका स्थूल शरीर है। पञ्चतत्वात्मिका प्रकृति उसको पीठिका है। आकाश भी अमूर्त्त और निराकार होने से विशेष रूप से तो प्रत्यक्ष होता नहीं, फिर भी वह कुछ है ऐसा ही निश्चय होता है। उसी का सूचक भावमय गोलाकार है। शिवब्रह्म निराकार होता है। उसी का सूचक भावमय गोलाकार है। शिवब्रह्म निराकार होता हुआ भी सब कुछ है, निर्विशेष ही सर्वविशेषरूप होता ही है। चिदाकाश में भी इसी तरह शिवलिङ्ग की भावना है। इसी अण्डाकार रेखा से सब अङ्क उत्पन्न होते हैं। यही किसी अङ्क के आगे आकर उसे दशगुना अधिक करता है।

ज्योतिर्लिङ्ग का स्वरूप इस तरह समझना चाहिये—

"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीदजो नो व्योमापरो यत्।"

(ऋ० ८।७।७)

"न सन्न चासच्छिव एव केवलः।"

अर्थात् पहले कुछ भी नहीं था, केवल शिव ही था।

"सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्॥"

उसी से विद्युत् पुरुष और फिर उससे निमेषादि काल-विभाग उत्पन्न हुए। वही विद्युत् पुरुष ज्योतिर्लिङ्ग हुआ। उसका पार आदि, अन्त, मध्य कहीं से किसी

को नहीं मिला। वही "तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्" (मनु०) है। अर्थात् सूर्य्य के समान परम तेजोमय अण्ड उत्पन्न हुआ।

"तल्लिङ्गसंज्ञितं साक्षात्तेजो माहेश्वरं परम्।
तदेव मूलप्रकृतिर्माया च गगनात्मिका॥ (शिवपुराण)

ब्रह्माण्डपिण्ड सप्तावरण प्रकृतिरूप योनि से आवृत—परिवेष्ठित—है। 'शिव-पुराण' में लिङ्ग शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलायी गयी है—

"भगवन्तं महादेवं शिवलिङ्गं प्रपूजयेत्।
लोकप्रसविता सूर्यस्तच्चिह्नं प्रसवाद्भवेत्॥
लिङ्गे प्रसूतिकर्त्तारं लिङ्गिनं पुरुषो यजेत्।
लिङ्गार्थगमकं चिह्नं लिङ्गमित्यभिधीयते॥
लिङ्गमर्थं हि पुरुषं शिवं गमयतीत्यदः।
शिवशक्त्योश्च चिह्नस्य मेलनं लिङ्गमुच्यते॥"

अर्थात् शिवशक्ति के चिह्न का सम्मेलन ही लिङ्ग है। लिङ्ग में विश्वप्रसूति-कर्त्ता की अर्चा करनी चाहिये। यह परमार्थ शिवतत्त्व का गमक, बोधक होने से भी लिङ्ग कहलाता है। प्रणव भी भगवान् का ज्ञापक होने से लिङ्ग कहा गया है। पञ्चाक्षर उसका स्थूल रूप है—

"तदेव लिङ्गं प्रथमं प्रणवं सार्वकामिकम्।
सूक्ष्मप्रणवरूपं हि सूक्ष्मरूपन्तु निष्कलम्॥
स्थूललिङ्गं हि सकलं तत्पञ्चाक्षरमुच्यते।"

माघ कृष्ण चतुर्दशी महाशिवरात्रि के दिन कोटिसूर्य्य समान परम तेजोमय शिवलिङ्ग का प्रादुर्भाव हुआ है—

"माघकृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिङ्गतयोद्भूतः कोटिसूर्य्यसमप्रभः॥"

'शिवपुराण' में लिखा है कि एक शिव ही ब्रह्मस्वरूप होने से निष्कल है, दूसरे देव सभी रूपी होने से सकल कहे जाते हैं। निष्कल होने से ही शिव का निराकार (आकारविशेषशून्य) लिङ्ग ही पूज्य होता है, सकल होने से ही अन्य देवताओं का साकार विग्रह पूज्य होता है। शिव सकल, निष्कल दोनों ही हैं, अतः उनका निरा-कार लिङ्ग और साकार स्वरूप दोनों ही पूज्य होते हैं। दूसरे देवता साक्षात् निष्कल ब्रह्मरूप नहीं हैं। अतएव, निराकार लिङ्गरूप में उनकी आराधना नहीं होती (विद्येश्वरसंहिता, शि० पु० ३ अध्याय)।

यही आगे निष्कल स्तम्भ रूप में ब्रह्मा-विष्णु का विवाद मिटाने के लिये शिव का प्रादुर्भाव वर्णित है। श्रीशिवलिङ्ग ही से समस्त विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और

अन्त में सबका उन्हीं में लय होता है। सबके आश्रय होने से और सबके लय का अधिष्ठान होने से भगवान् ही लिङ्ग कहलाते हैं। अथवा कार्य्य द्वारा कारणरूप से लिङ्गित—अवगत होने से ही भगवान् लिङ्गशब्दवाच्य है। इसलिये जब सब सृष्टि का आधार ही शिवलिङ्ग है, तब तो फिर सर्वत्र शिवलिङ्ग की पूजा पायी जाय, यह ठीक ही है। अतः यह पहले अनार्य्यों की पूज्य मूर्ति थी, यह सब कहना निराधार ही है।

दूसरी दृष्टि से कूटस्थ स्थाणु परब्रह्म ही शिव है। श्रीपार्वती शक्ति अपर्णा लता के संसर्ग से यह पुराण स्थाणु कैवल्यपदवी देता है जो कि कल्पवृक्षों के लिये देना भी अशक्य है। स्थाणु (ठूँठ) लिङ्गरूप में व्यक्त शिव है, अपर्णा जलहरी है। शिवलिङ्ग का कुछ अंश जलहरी से ग्रस्त है, यही योनिग्रस्त लिङ्ग है, प्रकृति-संस्पृष्ट पुरुषोत्तम है—

"पीठमम्बामयं सर्वं शिवलिङ्गञ्च चिन्मयम्।"

ऊपर महान् अंश योनिबहिर्भूत प्रकृति से असंस्पृष्ट है—

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।"

प्रकृतिविशिष्ट परम ब्रह्म ही सर्वकर्त्ता, सर्वफलदाता है, केवल तो उदासीन है। शुद्ध शिवतत्त्व त्रिगुणातीत है, त्रिमूर्त्यन्तर्गत शिव परम बीज, तमोगुण के नियामक हैं। सत्व के नियमन की अपेक्षा भी तम का नियमन बहुत कठिन है। सर्वसंहारक तम है, पर उसको भी वश में रखनेवाले शिव की विशेषता स्पष्ट ही है।

एक दृष्टि से लिङ्ग चिह्न को भी कहा जाता है। चिह्नशून्य निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्म अलिङ्ग है। श्रुतियाँ उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप बतलाती हैं। परन्तु, लिङ्ग का अधिष्ठान मूल वही है। अव्यक्त तत्त्व लिङ्ग है। माया द्वारा एक ही परब्रह्म परमात्मा से ब्रह्माण्डरूप लिङ्ग का प्रादुर्भाव होता है। चौबीस प्रकृति-विकृति, पचीसवाँ पुरुष, छबीसवाँ ईश्वर यह सब कुछ लिङ्ग ही है। उसी से ब्रह्म, विष्णु, रुद्र का आविर्भाव होता है। प्रकृति के सत्व, रज, तम इन तीनों गुणों से त्रिकोण योनि बनती है। प्रकृति में स्थित निर्विकारबोधरूप शिवतत्व ही लिङ्ग है। इसी को विश्व-तैजस-प्राज्ञ, विराट्-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, ऋक्-साम-यजु, परा-पश्यन्ती-मध्यमा आदि त्रिकोणपीठों में तुरीय, प्रणव, परा वाक्स्वरूप लिङ्गरूप में समझना चाहिये। "अ, उ, म" इस प्रणवात्मक त्रिकोण में अर्द्धमात्रास्वरूप लिङ्ग है। परमेश्वर समष्टि-व्यष्टि लिङ्गरूप से प्रत्येक योनि में प्रतिष्ठित होकर पञ्चकोशात्मक देहों को उत्पन्न करता है—

"अधितिष्ठति योनिं यो योनिं वाचैक ईश्वरः।
देहं पञ्चविधं येन तमीशानं पुरातनम्॥" (लिं पु० ११८)

लिङ्ग-भग से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति है, अतएव सभी लिङ्ग और भग से अङ्कित हैं। वेद, उपनिषद्, भारत, रामायण, पुराण, तन्त्र सर्वत्र ही शिव की महिमा गायी है। विष्णु, ब्रह्मा, कृष्ण, राम आदि देवाधिदेवों ने भी शिवलिङ्ग की अर्चा की है। सृष्टि-विस्तार की दृष्टि से लिङ्ग-भग का महत्त्व समझ में आ सकता है। काम-प्रयुक्त भोगमात्र की दृष्टि से देखना और बात है। शङ्कर ने काम को जलाकर सृष्टि की बुद्धि से ही मैथुन द्वारा सृष्टि की है, ऐसा ही औरों को भी करना युक्त है। किसी अवसर में दृग् और दोनों एक ही रूप होते हैं—

"आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्।"

सृष्टि से पहले ज्ञान और अर्थ (दृश्य) एकमेव हो रहे थे। दृश्यशक्ति के उद्भव बिना सर्वसंद्रष्टा चिदात्मा भी अपने को असत् ही मानने लगता है—

"मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्" (भागवत)।

वह अन्तर्मुख विमर्शरूप सुप्त शक्ति ही माया पद से कही जाती है—

"सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेदं निर्ममे विभुः॥"

निरधिष्ठान शक्ति नहीं और अशक्त अधिष्ठान नहीं, अतः उभय स्वरूप ही है। इसीलिये शिव ही शक्ति और शक्ति ही शिव, इस दृष्टि से योनि लिङ्गात्मक एवं लिङ्ग योन्यात्मक है। फिर भी इस द्वैत में अद्वैत तत्त्व अनुस्यूत है। ईश्वर और महाशक्ति की अधिष्ठानभूत अद्वैतसत्ता भी निरञ्जन, निष्कलसत्ता के साथ एकीभूत है। यह सृष्टि का बीज होने पर भी निःस्पन्द शिवमात्र है। अव्यक्तअवस्था अलिङ्गावस्था भी है। इसे महालिङ्गावस्था भी कहा जा सकता है। अव्यक्त से तेजोमय, ज्योतिर्मय तत्त्व आविर्भूत होता है। वह स्वयं उत्पन्न होने से स्वयम्भू लिङ्ग है। वह अव्यक्त अवस्था का परिचायक होने से लिङ्ग है। परमार्थतः द्वैतशून्य तत्त्व है। योनि त्रिकोण है, केन्द्र या मध्यबिन्दु लिङ्ग है—

"मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके।
मध्ये स्वयम्भुलिङ्गन्तु कोटिसूर्य्यसमप्रभम्॥"

इस वचन में इच्छा-ज्ञानक्रियात्मक योनि में कोटिसूर्य्यसमप्रभ स्वयम्भू चिज्ज्योतिस्वरूप शिवलिङ्ग माना गया है। मूलाधार आदि षट्चक्र भी योनि ही है। सर्वत्र यही लिङ्ग भी भिन्न-भिन्न रूप में विराजमान है। योनि से अतीत होकर बिन्दु अव्यक्त और लिङ्ग अलिङ्ग हो जाता है। कोई गुण, कर्म, द्रव्य बिना योनि-लिङ्ग के नहीं बन सकते। याज्ञिकों के यहाँ भी वेदी की स्त्री रूप में, कुण्ड की योनिरूप में और अग्नि रुद्र की लिङ्गरूप में उपासना होती है।

एक समय देवी ने शङ्कर से प्रश्न किया कि 'इन्द्रियों से रहित देव शून्यरूप है, उसका कोई आकार नहीं है, उस शून्य के पूजन से क्या फल ?' शिवजी ने कहा—

"महेशानि ! शक्तिशून्य शिव शव या प्रेत के ही समान है। उसकी पूजा नहीं बन सकती, किन्तु रौद्री शक्तिसहित ही उनकी पूजा होनी चाहिये। वही ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मिका आद्याशक्ति सार्द्धत्रिवलया (साढ़े तीन फेरे की) कुण्डलिनीरूपा है। वह शिवतत्व को अपने साढ़े तीन फेरे से वेष्टित किये हुए है। उसी शक्ति के संयोग से शिव अनन्त ब्रह्माण्ड का उत्पादनादि कार्य करते हैं। वही कुण्डलिनी योनि है, उससे परिवेष्टित शिवलिङ्ग है। यही अपर्णालतापरिवेष्टित स्थाणु भी है, अपर्णा पार्वती योनि है, कूटस्थ ब्रह्म ही स्थाणु, ठूंठ या लिङ्ग है—"

देव्युवाच—

"इन्द्रियै रहितो देवः शून्यरूपः सदाशिवः।
आकारो नास्ति देवस्य किं तस्य पूजने फलम्॥"

शिव उवाच—

"प्रेते पूजा महेशानि कदाचिन्नास्ति पार्वती।
रुद्रस्य परमेशानि रौद्रीशक्तिरितीरिता॥
रौद्री तु परमेशानि आद्या कुण्डलिनी भवेत्।
वर्त्तते परमेशानि ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका॥
सार्द्धत्रिवलयाकारैः शिवं वेष्ट्य सदा स्थिता।
शक्तिं विना महेशानि प्रेतत्वं तस्य निश्चितम्॥
शक्तिसंयोगमात्रेण कर्मकर्त्ता सदाशिवः।
अतएव महेशानि पूजयेच्छिवलिङ्गकम्॥"

(लिङ्गार्चनतन्त्र २ पटल)।

'स्कन्दपुराण' के अनुसार लिङ्गपूजन के बिना महान् अमङ्गल होता है और उसके पूजन से भुक्ति, मुक्ति सब कुछ मिलता है—

"विना लिङ्गार्चनं यस्य कालो गच्छति नित्यशः।
महाहानिर्भवेत्तस्य दुर्गतस्य दुरात्मनः॥
एकतः सर्वदानानि व्रतानि विविधानि च।
तीर्थानि नियमा यज्ञा लिङ्गाराधनमेकतः॥
भुक्तिमुक्तिप्रदं लिङ्गं विविधापन्निवारणम्।"

यद्यपि शिवलिङ्ग और उसकी पूजा अनादिकाल से ही है, तथापि उनके आविर्भाव का पुराणों में वर्णन है—ब्रह्मा, विष्णु दोनों ही 'मैं बड़ा हूँ' ऐसा कहकर परस्पर लड़ रहे थे। उनका विवाद मिटाने के लिये परमज्योतिर्मय लिङ्ग का आविर्भाव हुआ। ब्रह्मा भगवान् के उस ज्योतिर्मयलिङ्ग का पता लगाने के लिये हंस पर आरूढ़ होकर ऊपर की ओर गये और विष्णु वराहरूप धारण कर नीचे गये। हजारों वर्ष तक घोर परिश्रम करने पर भी दोनों को उसका कहीं आद्यन्त न मिला।

शिवलिङ्ग के मस्तक से गिरती हुई केतकी ने कहा कि 'मैं दश कल्प से चलते यहाँ तक पहुँची हूँ, अभी कुछ ठिकाना नहीं कि कितना जाना पड़ेगा।' इससे शिवलिङ्ग की अनन्तता मालूम पड़ती है। दिव्यवाणी से भगवान् ने ब्रह्मा, विष्णु दोनों ही को प्रबोध कराया।

अन्यत्र पृथ्वी को पीठ और आकाश को लिङ्ग कहा है। जैसे वेदी पर लिङ्ग विराजता है वैसे ही पृथ्वी पर आकाश है। जैसे ब्रह्म का एक देश ही प्रकृति-संस्पृष्ट है, वैसे ही आकाशलिङ्ग का भी एक देश ही पृथ्वीसंस्पृष्ट है। इसीलिये कहीं लिङ्ग ठीक पुरुष के जननेन्द्रिय के समान ही होता है, कहीं ब्रह्माण्ड के आकार का, कहीं पिण्ड के आकार का। केदारेश्वर की नित्यसिद्ध स्वयम्भू मूर्ति कहीं भी लिङ्ग के आकार की नहीं है। वही कारणावस्था या पिण्डावस्था का चिह्न ही लिङ्ग समझना चाहिये। वस्तुदृष्टि से फिर भी वह लिङ्ग ही है।

आधुनिक वैज्ञानिकों की भी दृष्टि से आकाश वक्र है जैसा कि लिङ्ग का स्वरूप है। किं बहुना देश, काल, वस्तु सभी वक्र हैं, ब्रह्म को भी वक्र और स्तब्ध कहा है। फिर उससे उत्पन्न सबको वक्र होना ही चाहिये। अनन्तकोटि विश्व सब लिङ्गमय ही है। विश्वों से परे सगुण ब्रह्म का भी लिङ्ग ही आकार है।

शिवशक्ति के सहवास में अवकाश न मिलने से शुक्राचार्य ने उन्हें शाप दिया कि तुम योनिस्थ लिङ्ग के रूप में पूजित होगे। एकबार शङ्कर दिगम्बर वेश से स्वलिङ्ग अपने हस्त में लेकर दारुकवन में गये। उन्हें देखकर ऋषिपत्नियाँ मोहित हो गयीं, यह देखकर ऋषियों ने शङ्कर को शाप दिया कि तुम्हारा लिङ्ग गिर जाय। ऐसा ही हुआ, किन्तु लिङ्ग के पृथ्वी पर गिरते ही वह प्रज्वलित होकर अपने तेज से लोक को जलाने लगा। अन्त में शिवा ने उसे योनि में स्थापित किया और सब ऋषियों और देवताओं ने उसकी पूजा की। यहाँ लिङ्ग-योनि दिव्यप्रकृति और परम पुरुष ही है। शिवशक्तिरूप लिङ्ग-योनि को प्राकृत स्त्री-पुरुष के समान चर्मखण्ड मूत्रेन्द्रिय मात्र मान लेना बड़ा अपराध होगा। वहीं यह भी कथा है कि मुनियों के शाप से गिरा हुआ शिवलिङ्ग अग्नि के समान जाज्वल्यमान होकर भूमि, स्वर्ग एवं पाताल में फिरा, सभी लोक बड़े दुःखी हुए। ब्रह्माजी ने कहा कि—

'गिरिजा की प्रार्थना करो, वही योनिरूप से परमज्योतिर्मय लिङ्ग को धारण कर सकती है।'

फिर सब देवताओं एवं मुनियों ने जब आराधना की, तब भगवान् और गिरिजा प्रसन्न हुईं और गिरिजा में शिव की प्रतिष्ठा हुई। क्या साधारण लिङ्ग का गिरकर अग्निमय होकर सर्व लोकों में घूमना बन सकता है? और विष्णु, राम, कृष्ण तथा सभी देव, मुनि क्या केवल साधारण लिङ्ग-योनि की ही पूजा करते थे?

यदि यही बात थी, तो कृष्ण को उपमन्यु के यहाँ जाकर दीक्षापूर्वक घोर तपस्या करने की क्या आवश्यकता थी ?

कुछ लोग कथा में आये हुए उक्त शिवलिङ्ग को केवल ब्रह्माण्ड कहते हैं, उसी को हाथ में लिये हुए भगवान् लीलया दारुकवन में गये थे, वहीं मुनियों के शाप से उनके हाथ से लिङ्ग गिर पड़ा। अतएव वहाँ उसका 'गिरना' कहा गया है, 'कटना' नहीं। उस ज्योतिर्लिङ्ग ब्राह्म तेज का आधार पञ्चतत्त्वात्मिका प्रकृति ही योनि है। अतः पार्वती ने योनिरूप से उस लिङ्ग को धारण किया अर्थात् पञ्चतत्त्वात्मिका प्रकृति बनकर उन्होंने ब्रह्माण्ड को धारण किया। अग्निमय सर्वदाहक लिङ्ग को योनि—प्राकृत चर्मखण्ड मूत्रेन्द्रिय—में कौन धारण कर सकता था ?

"बाणरूपा श्रुता लोके पार्वती शिववल्लभा।"

योनिरूपा का अर्थ ही बाणरूपा है। 'बाण' शब्द पाँच संख्या का बोधक होता है, पञ्चशर के अभिप्राय से काम में, पञ्चमुख के अभिप्राय से शिव में, पञ्चतत्त्वात्मिका की दृष्टि से पार्वती में 'बाण' शब्द का प्रयोग होता है। जैसे विद्युत्-पुञ्ज पञ्चतत्व में व्याप्त होते हुए भी जल और पर्वतश्रेणी में अधिकता से रहता है, वैसे ही पार्वती बाणरूपा हुईं अर्थात् पर्वतश्रेणीरूपा हुईं और उन्हीं में वह तेजोमय लिङ्ग समा गया। विद्युत्पुञ्ज यदि अपनी योनि पृथ्वी या जल में पड़े, तो स्थिर होता है, अन्यथा वृक्ष, मनुष्य सबको भस्म ही करता है। यही बात शिवजी ने कही है—

"पार्वतीञ्च विना नान्या लिङ्गं धारयितुं क्षमा।
तया धृतञ्च मल्लिङ्गं द्रुतं शान्तिं गमिष्यति॥"

अर्थात् पार्वती के बिना कोई इसे नहीं धारण कर सकता, उनके धारण से वह शीघ्र ही शान्त हो जायगा।

"सतश्च योनिमसतश्च।" (यजुः)
"यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः।" (श्वेता०)
"यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः।" (श्वेता०)

इत्यादि मन्त्रों में योनि का अर्थ मूत्रेन्द्रिय ही है, यह कहना अज्ञता ही है। श्रीविष्णु आदि देवाधिदेवों का भी पूज्य यह योनिप्रतिष्ठित लिङ्ग प्राकृत वस्तु कथमपि नहीं हो सकता। यदि विष्णुकर्तृक पूजा आदि को क्षेपक कहें, तब तो समस्त कथा को ही क्षेपक मान सकते हैं।

अव्यक्त का लिङ्ग (व्यक्त ब्रह्माण्ड) भृगु (प्रकृति) के आकर्षण-विकर्षण-विशेष के तारतम्य से द्यावापृथ्वीरूप में दो टूक हो गया—

"वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः।" (गोपथ पूर्व २।८)
"शंभोः पपात भुवि लिङ्गमिदं प्रसिद्धम्।
शापेन तेन च भृगोर्विपिने गतस्य॥"

श्रीशङ्कर ने भी विश्वेश्वरलिङ्ग की प्रतिष्ठापना और पूजा की है—

"ब्रह्मणा विष्णुना वापि रुद्रेणान्येन केन वा ।
लिङ्गप्रतिष्ठामुत्सृज्य क्रियते स्वपदस्थितिः ॥
किमन्यदिह वक्तव्यं प्रतिष्ठां प्रति कारणम् ।
प्रतिष्ठितं शिवेनापि लिङ्गं वैश्वेश्वरं यतः ॥"

'नारद पञ्चरात्र' के तीसरे रात्र में, जो कि वैष्णवों का सर्वस्व है, लिखा है कि एक शङ्कर के सिवा सभी स्त्रैण थे । ब्रह्मा, विष्णु, दक्ष आदि ने तपस्या से कालिका देवी को प्रकट किया । देवी ने कहा—'वर माँगो ।' देवों ने कहा कि 'आप दक्ष-कन्या होकर शिव को मोहित करो ।' जगदीश्वरी ने कहा—'शम्भु तो बालक है ।' ब्रह्मा ने कहा—'शम्भु के समान दूसरा कोई पुरुष हो नहीं सकता ।' यह सुनकर दक्ष के यहाँ देवी सतीरूप से प्रकट हुईं । देवताओं ने विवाह कराया । सती-शिव के रमण से दोनों का तेज भूमण्डल में पड़ा, वही पाताल, भूतल, स्वर्ग सर्वत्र योनिसहित शिवलिङ्ग हुए । लिङ्गपूजा शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य सभी के लिये है—

"शाक्तो वा वैष्णवो वापि सौरो वा गाणपोऽथवा ।
शिवार्चनविहीनस्य कुतः सिद्धिर्भवेत् प्रिये ॥" (उत्पत्तितन्त्रे)

शिव की पूजा के बिना अन्य देवता की पूजा करने से वह देव शाप देकर चला जाता है—

"अनाराध्य च मां देवि योऽर्चयेद्देवतान्तरम् ।
न गृह्णाति महादेवि शापं दत्वा व्रजेत् पुरम् ॥"

यद्यपि शुद्ध दार्शनिक और आध्यात्मिक विवेचनों से शिवलिङ्ग अनादि ही है, उसकी पूजा भी अनादि ही है तथापि अर्थवादरूप में अनेक प्रकार से शिवलिङ्ग की उत्पत्ति और पूजा का आरम्भ लिखा गया है । जैसे यद्यपि नित्यसिद्ध ही राम, कृष्ण का अवतार माना जाता है, तथापि अवतार से पहले भी वे पूज्य थे ही, क्योंकि कल्प-कल्प में उनके अवतार होते रहते हैं, कोई अवतार नया नहीं है । वैसी ही बात शिवलिङ्ग के विषय में भी समझनी चाहिये । नित्य होने पर भी भिन्न-भिन्न कल्प में उसके आविर्भाव के क्रम भिन्न हैं । समष्टि प्रजननशक्तिसम्पन्न शिवतत्त्व ही समष्टि लिङ्ग है । उसी से समस्त व्यष्टि योनि और लिङ्गों का आविर्भाव हुआ है । यही सती-शिव के मैथुन से प्रादुर्भूत तेज से सयोनि लिङ्गों की उत्पत्ति का रहस्य है । प्रकृति-पुरुष का संयोग ही शिव-सती का मैथुन है । प्रकृति-मिश्रित अनन्त पुरुषों का प्रादुर्भाव ही उनका मिश्रित तेज है । समष्टि लिङ्ग से ही उत्पन्न होकर व्यक्ति लिङ्ग बनते हैं । अतः सभी व्यष्टि लिङ्गों की योनि भी समष्टि लिङ्ग की ही योनि है । यही शिव के दारुका वन-विहार का रहस्य है ।

अनन्त अनङ्ग (कामदेव) जिनके श्रीअङ्ग के सौन्दर्य्य-बिन्दु पर मोहित हो जाते हैं, उन भगवान् परम शिव की ओर समष्टि-व्यष्टि प्रकृतिरूप योनियों का आकर्षण होना स्वभाव ही है। यही मुनिपत्नियों का शिव की ओर आसक्त होने का रहस्य है। मुनियों या शुक्राचार्य्य के शाप से भगवान् का योनिस्थ लिङ्गरूप से पूजित होना या शिव के लिङ्ग का गिर जाना, पुनः उससे जगत्ताप होना, शिवा का योनि में स्थापन करना, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं और ऋषि, मुनि, गन्धर्व, असुरादि द्वारा पूजित होना, यह सभी स्वतन्त्रेच्छ, निरंकुश भगवान् की लीला है, जैसे विष्णु परमात्मा का शापवश मनुष्य बनना, मत्स्य, वराह आदि रूप धारण करना केवल लीला है। शापादि भी उनकी इच्छा से ही निमित्तरूप में उपस्थित होते हैं।

प्रकृति के साथ परमात्मा का खेल या जीवरूपा परा प्रकृतियों में परमात्मा का रमण किंवा स्वरूपभूत माधुर्य्याधिष्ठात्री शक्ति में परमेश्वर का रमण रहस्यमय है। जैसे कृष्ण के चीरहरण, रासलीला में अज्ञों को अश्लीलता प्रतीत होती है, वैसे ही भगवान् शिव की लीलाएँ भी परमरहस्यमयी हैं। अज्ञों को उनमें अश्लीलता का भान हो सकता है—

"निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण न जाने कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनिमन भ्रम होइ॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे।
जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥"

लिङ्गरूप से अतिरिक्त भी भगवान् का गङ्गाधर, चन्द्रशेखर, त्रिलोचन, पञ्चवक्त्र, नीलकण्ठ, कृत्तिवास, व्याघ्रचर्मासन, त्रिशूलधारी, वृषभध्वज, साम्ब, सदाशिव रूप है, जिसका लोकोत्तर सौन्दर्य्य, माधुर्य्य है।

"नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं।"
"प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते।"
"तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरम्।"
"तमीशानं वरदं समीड्यम्।"
"मायिनं तु महेश्वरम्।"

इन श्रुतियों में परब्रह्म परमात्मा को ही हर और माया को ही प्रकृति या गौरी कहा गया है। सभी जगह संसार में देह-देही आदिकों में आधार-आधेय-भाव देखा जाता है। अनन्त चैतन्य परमात्मा शिव है, वही सृष्ट्युन्मुख होने पर लिङ्ग ही है। उन्हीं का आधार योनि प्रकृति है, शिव लिङ्गरूप में पिता, प्रकृति योनिरूप में माता है—

"ममै योनिर्महद्ब्रह्म ।"
"द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत् ।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः ॥"

शिव का लिङ्गयोनिभाव ही अर्द्धनारीश्वर का भाव है । सृष्टि के बीज को देखनेवाले परमलिङ्गरूप श्रीशिव प्रकृतिरूपा नारीयोनि में आधाराधेयभाव से संयुक्त होकर उससे आच्छादित होकर व्यक्त होते हैं । यही जगन्माता-पिता के आदि सम्बन्ध का द्योतक है । काम-वासनारहित शुद्ध मैथुन भी पितृऋण से उऋण होने का साधन है । शिवपुराण में लिखा है—बिन्दु देवी और नाद शिव है । बिन्दुरूपा देवी माता और नादरूपा शिव पिता है, अतः परमानन्द-लाभार्थ शिवलिङ्ग का पूजन परमावश्यक है ।

"भं वृद्धिं गच्छतीत्यर्थाद्भगः प्रकृतिरुच्यते ।"

वृद्धि को प्राप्त होनेवाली प्रकृति ही भग है ।

"मुख्यो भगस्तु प्रकृतिर्भगवान् शिव उच्यते ।
भगवान् भोगदाता हि नान्यो भोगप्रदायकः ॥"

भग के सहित लिङ्ग और लिङ्ग के सहित भग पूजित होकर इहलोक-परलोक में विविध सुख देनेवाला है । सदाशिव से उत्पन्न चैतन्यशक्ति द्वारा जायमान चिन्मय आदि पुरुष ही शिवलिङ्ग है । समस्त पीठ अम्बामय है, लिङ्ग चिन्मय है । भगवान् शङ्कर कहते हैं कि जो संसार के मूल कारण महाचैतन्य को और लोक को लिङ्गात्मक जानकर लिङ्गपूजा करता है, मुझे उससे प्रिय अन्य कोई नर नहीं—

"लोकं लिङ्गात्मकं ज्ञात्वा लिङ्गे योऽर्चयते हि माम् ।
न मे तस्मात्प्रियतरः प्रियो वा विद्यते क्वचित् ॥"

लिङ्ग चिह्न है, सर्वस्वरूप की पूजा कैसे हो, इसलिये लिङ्ग की कल्पना है । आदि एवं अन्त में जगत् अण्डाकृति ही रहता है । अतएव, ब्रह्माण्ड की आकृति ही शिवलिङ्ग है । शिव-शक्ति के सहवास से ही पशु, पक्षी, कीट, पतङ्गादिकों की भी उत्पत्ति होती है । शिव स्वयं अलिङ्ग हैं, उनसे लिङ्ग की उत्पत्ति होती है, शिव लिङ्गी और शिवा लिङ्ग हैं । ज्ञापक होने से, प्राणियों का आलय होने से एवं लयाधिकरण होने से भी वही लिङ्ग हैं—

"लीयमानमिदं सर्वं ब्रह्मण्येव हि लीयते ।"

भिन्न-भिन्न कामना से शिवलिङ्ग के विधान भी पृथक्-पृथक् हैं—यवमय, गोधूममय, सिताखण्डमय, लवणज, हरितालमय, त्रिकटुकमय (शुण्ठी, पिप्पली, मरीचमय) ऐश्वर्य-पुत्रादिकामप्रदायक लिङ्ग है । गव्यघृतमय लिङ्ग बुद्धिवर्द्धक है । पार्थिव लिङ्ग सर्वकामप्रद है । तिल-पिष्टमय, तुषज, भस्मोत्थ, गुडमय, गन्धमय, शर्करामय, वंशांकुरज, गोमयज, केशमयज, अस्थिमयज, दधिमय, दुग्धमय,

फलमय, धान्यमय, पुष्पमय, धात्रीफलोद्भव, नवनीतमय, दूर्वाकाण्डसमुद्भव, कर्पूरज, अयस्कान्तमय, वज्रमय, मौक्तिकमय, महानीलमय, महेन्द्रनीलमणिमय, चीरसमुद्भव, सूर्यकान्तामणिज, चन्द्रकान्तामणिमय, स्फाटिक, शूलाख्यमणिमय, वैडूर्य, हैम, राजत, आरकूटमय, कांस्यमय, सीसकमय, अष्टधातुनिर्मित, ताम्रमय, रक्तचन्दनमय, रङ्गमय, त्रिलोकमय, दारुज, कस्तूरिकामय, गोरोचनमय, कुंकुममय, श्वेतागुरुमय, कृष्णागुरुमय, पाषाणमय, लाक्षामय, वालुकामय, पारदमय लिङ्ग भिन्न-भिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिये पूजनीय बतलाये गये हैं। पार्थिव पूजन के लिये ब्राह्मणादि वर्णों को क्रम से शुक्ल, पीत, रक्त, कृष्णवर्ण की मृत्तिका से शिवलिङ्ग बनाना चाहिये। तोलाभर मिट्टी से अंगुष्ठपर्व के परिमाण का लिङ्ग बनाना चाहिये। पूजा भी वैदिक, तान्त्रिक एवं मिश्र विधि या नाममन्त्रों से करनी चाहिये। किं बहुना, शिवलिङ्ग की विशेषताओं, पूजाओं एवं विधियों पर शास्त्रों में बहुत बड़ी सामग्री भरी पड़ी है।

बाण और नार्मद लिङ्ग की परीक्षा के लिये उसे तण्डुलादि से सात बार तौला जाता है। यदि दूसरी बार तौलने में तण्डुल बढ़ जाय, लिङ्ग हलका हो जाय, तो वह गृहियों को पूज्य है। यदि लिङ्ग अधिक ठहरे, तो वह विरक्तों के पूजने योग्य है और सात बार तौलने पर भी बढ़े ही, घटे नहीं, तो उसे बाणलिङ्ग, अन्यथा नार्मद लिङ्ग जानना चाहिये।

प्रायः शिव को अनार्य देवता बतलाया जाता है, परन्तु वेदों में शिव का बहुत प्रधानरूप से वर्णन है।

"एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥"

(श्वेताश्वतर० ३।२)

समस्त भुवनों को अपनी ईशनीशक्ति से ईशन करते हुए सबमें विराजमान शिव ही अन्त में सबका संहार करते हैं। बस, वही परमतत्व सर्वस्व है, उनसे भिन्न दूसरी वस्तु थी ही नहीं।

"यदा तमस्तत्र दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।"

जब प्रलय में रात-दिन, कार्य-कारण कुछ भी नहीं था, तब केवल एक शिव ही थे।

"स्वधया शम्भुः।"

"उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्॥"

"नमो नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय।" (यजुः)

यहाँ रुद्र के नील और श्वेत दोनों ही तरह के कण्ठ कहे गये हैं।

"ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्।
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय वै नमो नमः॥" (तैत्तिरीयारण्यक)

यहाँ भी कृष्णपिङ्गल, ऋत-सत्य, ऊर्ध्वरेता विरूपाक्ष को नमस्कार किया गया है।

"भुवनस्य पितरं गीर्भिराभी रुद्रं दिवा वर्धया रुद्रमक्तौ।
बृहन्तमृष्वमजरं सुषुम्नमृग्धुवेम कविनेषितासः॥"

(ऋ० ६।४९।१०)

"यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु॥"

(श्वेता० ३।४)

"यो अग्नौ रुद्रो योऽप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लपे तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये॥"

(अथर्व० ७।९२।१)

"एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः॥" (श्वेता०)

"एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः॥" (तै० सं० १।८।६।१)

अर्थात् अन्य देवों का कारण, विश्व का एकमात्र स्वामी, अतीन्द्रियार्थज्ञानी और हिरण्यगर्भ को उत्पन्न करनेवाला रुद्र हमें शुभ बुद्धि दे, जो अग्नि में, जल में, ओषधि एवं वनस्पतियों में रहता है और जो सबका निर्माता है, उसी तेजस्वी रुद्र को हमारा प्रणाम हो। जो भुवन का पिता है, बड़ा है, प्रेरक और ज्ञानी है, उस अजर की हम स्तुति करते हैं इत्यादि। जो कहते हैं कि अग्नि ही वेद के रुद्र हैं, उन्हें इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि अग्नि, जल क्या, सभी प्रपञ्च में रुद्र रहते हैं। जब रुद्र से भिन्न दूसरा तत्त्व ही नहीं है, तब अग्नि आदि सभी रुद्र हों यह ठीक ही है।

एक ही परमात्मा के अग्नि, वायु, मातरिश्वा आदि अनेक नाम होते ही हैं—

"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।"

"अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।"

परन्तु, अग्नि से भिन्न रुद्र हैं ही नहीं, यह कहना सङ्गत नहीं है।

"ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम्॥" (ऋ० २।३३।९)

इस भुवन के स्वामी रुद्रदेव से उनकी महाशक्ति पृथक् नहीं हो सकती।

"अन्तरिच्छन्ति तं जने रुद्रं परो मनीषया॥" (ऋ० ९।७३।३)

मुमुक्षु उस रुद्र परमात्मा को मनुष्य के भीतर बुद्धि द्वारा जानना चाहते हैं।

"असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्",

"रुद्रस्य ये मीळ्हुषः पुत्रा॥" (ऋ० ६।६६।३)

"अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः।
सौभगाय युवा पिता स्वपा रुद्र एषाम्॥" (ऋ० ५।६०।५)।

रुद्र से उत्पन्न सब रुद्र ही हैं। तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के अनुसार उनको भी एक दिन महारुद्र परमात्मा होना पड़ेगा।

"स रुद्रः स महादेवः।"
"रुद्रः परमेश्वरः।" (अथर्व० ११।२।३)

इत्यादि मन्त्रों में भी परमात्मा को ही रुद्र, महादेव आदि कहा गया है। जो कहते हैं कि शिव से पृथक् रुद्र हैं, उन्हें वेदों के ही अन्यान्य मन्त्रों पर ध्यान देना चाहिये, जिनमें स्पष्टरूप से परमेश्वर के लिये ही शिव, त्र्यम्बक, महादेव, महेशान, परमेश्वर, ईशान, ईश्वर आदि शब्द आये हैं।

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥" (ऋक्)
"ये भूतानामधिपतयः कपर्दिनः।" (यजुः)
"असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्।"
"नीलग्रीवाः शीतिकण्ठाः।" (यजुः)
"तमु ष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य।
यक्ष्वामहे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य॥" (ऋ० ५।४२।११)
"क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरं क्षरात्मानावीशते देव एकः।" (श्वेता० १।१०)
"सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः।" (श्वेता० ३।११)
"आवो राजानमध्वरस्य रुद्रं होतारं सत्ययजं रोदस्योः।
अग्निं पुरातनयित्नोरचित्ताद्धिरण्यरूपमवसे कृणुध्वम्।" (साम—कौथुम १।७।७)
"त्वमग्ने रुद्रो असुरो महादिवस्त्वं शर्द्धो मारुतं पृक्ष ईशिषे।" (ऋ० २।१।६)

इत्यादि मन्त्रों में अग्नि को ही रुद्र कहा गया है।

"स्थिरेभिरङ्गैः पुरुरूप उग्रो बभ्रुः शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः।"

यहाँ रुद्र को पुरुरूप, असाधारण तेजस्वी और बभ्रुवर्ण कहा गया है।

वैदिकों के यहाँ शिवपूजा की सामग्रियों में कोई भी तामस पदार्थ नहीं है। बिल्वपत्र, पुष्प, फल, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से ही भगवान् की पूजा होती है। मद्य, मांस का तो शिवलिङ्गपूजा में कभी भी उपयोग नहीं होता। अतः शिव तामस देवता हैं यह कहना अनभिज्ञता है। हाँ, त्रिमूर्त्यन्तर्गत शिव कारणावस्था के नियन्ता माने जाते हैं। कारण या अव्यक्त की अवस्था अवष्टम्भात्मक होने से तमः-प्रधाना कही जा सकती है। **"तम आसीत्तमसागूढमग्रे"** इस श्रुति में तम को ही सबका आदि और कारण कहा गया है। उसी में वैषम्य होने से सत्व, रज का उद्भव होता है। तम का नियन्त्रण करना सर्वापेक्षयाऽपि कठिन है। भगवान् शिव तम के नियन्ता हैं, तम के वश नहीं हैं। शिव भयानक भी हैं, शान्त भी हैं। सर्व-संहारक, कालकाल, महाकालेश्वर, महामृत्युञ्जय भगवान् में उग्रता उचित ही है।

ब्रह्मक्षत्रोपलक्षित समस्त प्रपञ्च जिसका ओदन है, मृत्यु जिसका दालशाक है, मृत्युसहित संसार को जो खा जाता है, उसका उग्र होना स्वाभाविक है। शिव से भिन्न जो भी कुछ है, उन सबके संहारक शिव हैं। इसीलिये विष्णु को उनका स्वरूप ही माना जाता है। अन्यथा भिन्न होने पर तो उनमें भी संहार्यता आ जायगी। वस्तुतः हरिहर, शिवविष्णु तो एक ही हैं। उनमें अणुभर भी भेद है ही नहीं। **"भीषास्माद्वातः पवते।"** भगवान् के भय से ही वायु, अग्नि, सूर्य्य, मृत्यु अपना काम करते हैं। **"महद्भयं वज्रमुद्यतम्"** समुद्यत महावज्र के समान भगवान् से सब डरते हैं, तभी भगवान् को मन्यु या चण्ड कोपरूप माना गया है। **"नमस्ते रुद्र मन्यवे"** हे रुद्र! आपके मन्युस्वरूप की मैं वन्दना करता हूँ। वही शक्तिरूपधारिणी होकर चण्डिका कहलाते हैं, फिर भी वह ज्ञानियों और भक्तों के लिये रसस्वरूप हैं।

"रसो वै सः", "एष ह्येवानन्दयाति।" (श्रुति)।

भगवान् रसस्वरूप हैं, निखिलरसामृतमूर्त्ति भगवान् से ही समस्त विश्व को आनन्द प्राप्त होता है, इसीलिये भगवान् की अघोरा, शिवातनु घोरतनु से पृथक् वर्णित है—

"या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी।
तया नस्तन्नुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥"

भगवान् को कल्याणमयी, शन्तमा, शिवा, तनू परमकल्याणमयी है।

"शान्तं शिवम्"

"अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः।
सर्वशर्वेभ्यो नमस्ते अस्तु रुद्ररूपेभ्यः॥"

इस तरह रुद्राध्याय में उग्र, श्रेष्ठ और भीमरूप वर्णित हैं।

"नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च
मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय।" (यजु० १६।४१)

इस मन्त्र में शिव को शिवस्वरूप, कल्याणदाता, मोक्षदाता कहा गया है।

इस तरह जब अनादि, अपौरुषेय वेदों एवं तन्मूलक इतिहास, पुराण, तन्त्रों द्वारा शिव का परमेश्वरत्व, शान्तत्व, सर्वपूज्यत्व सिद्ध होता है, तब शिव की पूजा अनार्य्यों से ली गयी है इन बेसिर-पैर की बातों का क्या मूल्य है?

•

श्री विष्णु-तत्त्व

व्याप्त्यर्थक 'विष्लृ' धातु से विष्णु शब्द की निष्पत्ति होती है, तथा च व्यापक परब्रह्म परमात्मा को ही विष्णु कहा जाता है।

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति।"

इस श्रुति के अनुसार यही मालूम पड़ता है कि सम्पूर्ण जगत् की जिससे उत्पत्ति होती है, जिसमें स्थिति होती और जिसमें प्रलय होता है, वही ब्रह्म है। विशेषरूप से अनन्तकोटिब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति में कार्योत्पत्ति के लिये प्रकाशात्मक सत्व, चलनात्मक रज तथा अवष्टम्भात्मक तम की अपेक्षा होती है। तत्तद्गुणों की प्रधानता से ब्रह्म ही, रज के सम्बन्ध से ब्रह्मा, तम के सम्बन्ध से रुद्र एवं सत्व के सम्बन्ध से विष्णु बन जाता है। प्रकारान्तरेण उत्पादिनीशक्ति विशिष्ट ब्रह्म ब्रह्मा, संहारिणीशक्ति विशिष्ट ब्रह्म रुद्र तथा पालिनीशक्ति विशिष्ट ब्रह्म विष्णु शब्द से व्यवहृत होता है। प्रकारान्तर से समष्टि कारण प्रपञ्चाभिमानी अव्याकृत रुद्र, समष्टि-सूक्ष्म प्रपञ्चाभिमानी हिरण्यगर्भ विष्णु और समष्टिस्थूल प्रपञ्चाभिमानी विराट् ब्रह्मा कहा जाता है। मुख्यरूप से अव्यक्तादि के नियामक अन्तर्य्यामी को ही रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा आदि कहा जाता है। जहाँ कहीं उपासना विशेष के कारण किसी जीव का ब्रह्मा होना सुना जाता है, वह अन्तर्य्यामी न होकर अभिमानी ही समझा जाना चाहिये।

"स एकाकी न रेमे", "सोऽबिभेत्" इत्यादि श्रुतिवचनों में जहाँ हिरण्यगर्भ में भय, अरमण आदि का श्रवण है, वहाँ हिरण्यगर्भ में जीवभाव का ही निर्णय किया गया है, क्योंकि परमेश्वर में भय, अरमण आदि कथमपि सम्भव नहीं। अभिमानी जीव भी हो सकता है, परन्तु अन्तर्य्यामी सर्वत्र परमेश्वर ही है। पुराणों में ब्रह्माण्डों की अनन्तता का पता लगता है, अतएव तदनुसार विराट्, हिरण्यगर्भ आदिकों की भी अनन्तता ही मालूम पड़ती है। उत्पादक-पालक-संहारक-दृष्टि से ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र की अनन्तता ही सिद्ध होती है। अन्तर्य्यामी होने से सभी परमेश्वर ही हैं। इस विचार से उपनिषदों का विराट् पुराणों का महाविराट् है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक समष्टि स्थूल प्रपञ्च का एकमात्र अभिमानी एवं अन्तर्य्यामी उपनिषदों का विराट् है। यही बात हिरण्यगर्भ और अव्यक्त के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये। तदनुसार ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक सम्पूर्ण विश्व के उत्पादक ब्रह्मा, पालक विष्णु और संहारक रुद्र, सर्वथा एक ही हैं। वे ही महाविष्णु, महारुद्र आदि नामों से भी यत्र-तत्र व्यवहृत होते हैं। जैसे गोधूमादि सस्यों का एक ही किसान उत्पादक, पालक तथा लावक होता है, वैसे ही विश्व का भी उत्पादक, पालक, संहारक एक ही है,

अन्यथा सर्वशक्तिमान् विष्णु परमात्मा से पालित जगत का संहार दूसरा कैसे कर सकता है ? यदि सर्वसंहारक रुद्र को ही परमेश्वर मानें, तो फिर संजिहीर्षित विश्व को पालनेवाला कौन हो सकता है ? यदि विष्णु से भिन्न ही रुद्र हैं, तब सर्वसंहारक रुद्र के द्वारा विष्णु के भी संहार का अवसर उपस्थित हो जायगा अतएव विष्णु एवं रुद्र दोनों को एक ही परमेश्वर मानना समुचित है।

कोई भी संहारक अपनी अन्तरात्मा का संहार नहीं कर सकता है। तभी सर्वसंहारक शिव का आत्मा ही होने से विष्णु बने रहते हैं। अनेक ईश्वर का मानना सर्वथा युक्ति-विरुद्ध भी है, क्योंकि जब दोनों में मतभेद होगा और साथ ही विरुद्ध प्रकार के संकल्प होंगे, तब दो ईश्वर कथमपि नहीं टिक सकेंगे। यदि परस्पर के विरुद्ध संकल्प से दोनों ही के संकल्प प्रतिरुद्ध होकर वितथ हो गये, तब तो दोनों ही अनीश्वर सिद्ध होंगे। यदि एक के संकल्प से दूसरे का संकल्प कट गया, तो सिद्ध संकल्प ही परमेश्वर हुआ, तदतिरिक्त में असत्य संकल्पता होने से अर्थसिद्ध अनीश्वरता हुई। अतः जगत् का उत्पादक, पालक, संहारक एक ही परमेश्वर है। किसी भी नाम से भले ही व्यवहार हो, परन्तु प्रमाणभूत शास्त्र से जिसमें जगत्कारणत्व, सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्वादि अवगत हों, उसे ही परमेश्वर समझा जा सकता है। विष्णु, रुद्र, ब्रह्म आदि नामों से अतिरिक्त आकाशादि शब्दों से भी जगत्कारणत्वादि हेतुओं से ही परमेश्वर का ही बोध हुआ है।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयंकारिणी ब्रह्मनिष्ठमहाशक्ति ही सम्पूर्ण अवान्तर अचिन्त्य अनन्तशक्तियों की केन्द्र है। उन्हीं शक्तियों से अनन्त ब्रह्माण्ड बनते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड की शक्तियों में तमप्रधान शक्ति से भूत-भौतिक प्रपञ्च की सृष्टि होती है। तामस भूतों में भी सत्व, रज, तम आदि का अंश रहता है, अतएव सात्विक भूतों से अन्तःकरण एवं ज्ञानेन्द्रियाँ, राजस से प्राण एवं कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। तामस से स्थूलभूत बनते हैं। ब्रह्माण्डशक्ति के जैसे तामस अंश से उपर्युक्त प्रपञ्च बनता है, वैसे ही रजस्तमोलेशानुविद्ध सत्वांश से अविद्या एवं रज आदि से अननुविद्ध सत्व से विद्या या माया का आविर्भाव होता है।

अविद्याएँ रज आदि के अनुवेध-वैचित्र्य से अनन्त हैं, अतः उनमें प्रतिबिम्बित चैतन्यरूप जीव भी अनन्त है। जो लोग अविद्या को भी एक ही मानते हैं, उनके मत से जीव भी एक ही होता है। विशुद्धसत्वप्रधानाविद्या में भी अंशतः सत्व, रज, तम होते हैं। उसी सत्वप्रधाना शक्तिस्वरूपा विद्या के सात्विक अंश से विष्णु, राजस अंश से ब्रह्मा और उसी विद्या के तामस अंश से रुद्र का आविर्भाव होता है। अवान्तर-शक्ति के ही विभाग के समान ही महाशक्ति के भी विभाग समझने चाहिये। महा-शक्ति के तमःप्रधान अंश से जड़वर्ग का, अशुद्ध सत्वप्रधान शक्ति से मोक्षवर्ग का और विशुद्ध सत्वप्रधानशक्ति से महेश्वर का आविर्भाव होता है।

महाशक्तिविशिष्ट ब्रह्म एक ही है, अतः एक ब्रह्म का ही भोग्य, भोक्ता तथा महेश्वर के रूप में आविर्भाव समझा जाता है। भोग्यवर्ग एवं भोक्तृवर्ग की एकता-अनेकता का प्रश्न उठ सकता है, परन्तु महेश्वर की अनेकता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उत्पत्ति-स्थिति-लयकारण एक ही है, तथापि उत्पत्तिकारणत्वादि की पृथक्-पृथक् विवक्षा से ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि कहा जाता हैं। तमःप्रधानशक्तिविशिष्ट चित् में उपादानता तथा विशुद्धसत्वप्रधान विद्याशक्तिविशिष्ट में निमित्तता होने पर भी एक मूलप्रकृतिविशिष्ट ब्रह्म ही जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान है, उसमें नानात्व नहीं है। उपादान के कार्य की सदृशता होती है, अतः जड़कार्य के अनुरूप ही तमःप्रधानशक्तिविशिष्ट चित्त में जड़ता के अनुरोध से उपादानता मानी गयी है। निमित्त में कुलालादि के सदृश कार्य से विलक्षणता होती है, अतः तदनुरूप ही विद्याविशिष्ट में निमित्तकारणता मानी गयी है। सर्वापेक्षया प्रबल ही सर्वसंहारक होता है, वही पालक भी हो सकता है; वही विश्व का उत्पादक भी है। अनन्तब्रह्माण्ड-नायक भगवान् ही 'विष्णु', 'पद्म' आदि पुराणों में विष्णु, 'रामायण', 'भारत' आदि में राम, कृष्ण आदि रूप में गाया गया है। 'शिव', 'स्कन्दादि' पुराणों में वही शिव, रुद्र आदि नामों से कहा जाता है। शिवपरक पुराणों में कार्य्यविष्णु अर्थात् एक-एक ब्रह्माण्ड के विष्णु का वर्णन है, इसीलिये उसका कुछ अपकर्ष भी भासित होता है। विष्णुपरक पुराणों में शिव भी कार्य्यान्तःपाती ही है। अनन्तब्रह्माण्डनायक की प्राप्ति में अपकर्ष की कल्पना भी सङ्गत ही है। फलतः अनन्तब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्मा ही वेद, रामायण, भारत, पुराण आदि में अनेक रूपों एवं नामों से गाया गया है। वही भगवान् 'विष्णु' शब्द से प्रसिद्ध है।

जगत् के पालन में सर्वातिशायी ऐश्वर्य की अपेक्षा होती है, अतः विष्णु भगवान् में परमेश्वर्य का अस्तित्व है। समग्र ऐश्वर्य्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य जिसमें हों वही भगवान् है, अथवा प्राणियों की उत्पत्ति, प्रलय, गति, आगति, विद्या, अविद्या को खूब जाननेवाला ही भगवान् है। विश्व-मात्र को फलित-प्रफुल्लित करना, अनेक ऐश्वर्य्य से पूर्ण करना पालक का काम है। इसीलिये विष्णु भगवान् में पराकाष्ठा का ऐश्वर्य्य पाया जाता है। यद्यपि परमविष्णु साक्षात् चैतन्यघन ही हैं, तथापि उपासना में उनकी पदादि अङ्ग-उपाङ्ग, गरुड़ादि, आयुध सुदर्शनादि, आकल्प कौस्तुभादि की कल्पना की जाती है।

माया, सूत्रात्मा, महान्, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्चमहाभूत इन षोडश विकारों के साथ महाविराट् भगवान् का स्थूल रूप है। भगवान् के उसी सात्विक रूप में तीनों भुवन प्रतिभासित होते हैं। यही पौरुष का रूप है। भूलोक ही इस पुरुष का पाद है, द्यौलोक ही शिर है, अन्तरिक्षलोक ही नाभि है, सूर्य्य, नेत्र, वायु, नासिका, दिशाएँ, कान, प्रजापति प्रजनेन्द्रिय, मृत्यु पायु (गुदा), लोक-

पाल बाहु, चन्द्रमा मन और यम ही भगवान् की भृकुटी है। उत्कृष्टता के अभिप्राय से द्यौलोक को शिर कहा गया है, गम्भीरता के अभिप्राय से अन्तरिक्ष को नाभि कहा गया है, प्रतिष्ठा के अभिप्राय से भूलोक को पाद कहा गया है, नेत्रनुग्राहक तथा सर्वप्रकाशक होने के कारण सूर्य्य को चक्षु कहा गया है। लज्जा भगवान् का उत्तरोष्ठ है (लज्जा से जैसे प्राणी उन्मुख न होकर अवनतानन हो जाता है, तद्वत् उत्तराधर अवनत ही रहता है। और लोभ अधरोष्ठ है, ज्योत्स्ना दन्त है, माया ही मन्दहास है, सम्पूर्ण भूरुह् (वृक्षादि) लोम हैं, मेघ मूर्धज (केश) है। जैसे सप्त वितस्ति (३॥ हाथ) का यह व्यष्टि पुरुष है, वैसे ही अपने मान से समष्टि पुरुष भी सप्त वितस्ति है— **"सप्तवितस्तिकामः।"** परमेश्वराधिष्ठित होने से वैराजरूप की उपासना होती है। इसीलिये 'पुरुषसूक्त' में तथा अन्यत्र पुराणों में उपर्युक्त सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गों की भावना भगवान् विष्णु में की गयी है। वैसे तो भगवान् विष्णु का अखण्ड सच्चिदानन्द ही स्वरूप है, तथापि भक्तानुग्रहार्थं भगवान् विशुद्ध सत्वमयी लीलाशक्ति के योग से चिदानन्दमय विग्रह को भी धारण करते हैं। वही अतसीपुष्पसंकाश तथा नवनीलनीरदश्यामल या नीलकमलकान्ति भगवान् का सगुण, साकार स्वरूप है। उसी स्वरूप को कोई केकीकण्ठाभ कहते हैं, कोई तमालश्यामल कहते हैं। जैसे शैत्य के योग से निर्मल जल ही शुद्ध बर्फ बनता है, घृतवर्त्तिका के योग से केवल अग्नि ही दाहकत्व प्रकाशकत्वविशिष्ट दीपशिखा के रूप में प्रकट होता है, वैसे ही विशुद्ध सत्वमयीलीलाशक्ति के योग से चिदानन्द ब्रह्म ही सगुण साकार श्रीविष्णुरूप में प्रकट होता है। जैसे निराकार तथा अतिगम्भीर आकाश का श्यामलरूप ही तत्व-रहस्यों को अभिमत है, वैसे ही निराकार, निर्विकार, परम गम्भीर विष्णुतत्व का भी श्यामल ही रूप श्रुतिसम्मत है।

तम की उपाधि से उपहित, तम के नियामक भगवान् शिव का वर्ण श्यामल है। उन्हीं का ध्यान करते-करते विष्णु श्यामल हो जाते हैं। उनका ध्यान करते-करते उनका स्वाभाविक शुक्लरूप शंकर में प्रकट हो जाता है। ये दोनों ही परस्परानुरक्त एवं परस्परात्मा हैं। युग के अनुरूप भी युगनियामक भगवान् का रूप होता है। जैसे मनुष्यों का नियमन करने के लिये भगवान् को मनुष्यानुरूप बनना पड़ता है, वैसे ही युगनियमन के लिये भगवान् को युगानुरूप बनना पड़ता है। स्वतः अरूप भगवान् में उपाधि के संसर्ग से ही रूप की आविर्भूति होती है। सत्वप्रधान कृतयुग, रजोमिश्रित सत्वप्रधान त्रेता, रजःप्रधान द्वापर और तमःप्रधान कलि होता है। अतः कृत के अनुरूप ही कृतयुगीन भगवान् शुक्लरूप में प्रकट होते हैं। त्रेता के अनुरूप भगवान् का रक्तरूप है, द्वापर के अनुरूप पीत एवं कलि के अनुरूप भगवान् का कृष्ण रूप होता है—

"शुक्लो रक्तस्तथा पीतः इदानी कृष्णतां गतः।"

इस दृष्टि से कलिनियामक होने से भगवान् श्यामल हैं।

भगवान् जीव-चैतन्य ज्योतिःसमूह को ही कौस्तुभमणि के रूप में धारण करते हैं। वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार एक, अखण्ड, अनन्त, सच्चिदानन्द भगवान् के ही समाश्रित सम्पूर्ण जीव-चैतन्य होते हैं, अतः अवश्य ही जीव भगवान् के भूषण हो सकते हैं। विशेषतः भगवत्प्राप्त भगवद्भक्त तो अवश्य ही भगवान् के कण्ठ के देदीप्यमान, चमत्कारपूर्ण भूषण बनते ही हैं। भक्त लोग तभी तो इनकी ईर्ष्या करते हैं—

"अहो सुमनसो मुक्ता वज्राण्यपि हरेसरः।
न त्यजन्ति वयं तत्र का वा स्मरवशाः स्त्रियः॥"

अर्थात् अहो ! मुक्ता (मोती) एवं सुमनस (पुष्प) (पक्षान्तर में मुक्तलोग तथा देवता लोग) वैडूर्यादि वज्रक (पक्षान्तर में कूटस्थब्रह्मभावापन्न लोग) भी जब श्रीहरि के उरःस्थल को छोड़ना नहीं चाहते, तब भला स्मरवशा गोपाङ्गना कैसे भगवान् को छोड़ दें ? उस कौस्तुभमणि की व्यापिनी साक्षात् प्रभा को ही श्रीवत्स के रूप में भगवान् धारण करते हैं। दक्षिण वक्षःस्थल पर कमलनाल-तन्तु के सदृश दक्षिणावर्त्त श्वेत रोमराजि 'श्रीवत्स' कही जाती है। वाम वक्षःस्थल पर वामावर्त्त सुवर्णवर्णा रोमराजि लक्ष्मी का चिह्न है। एतावता भोक्तृवर्ग का सार तथा भोग्य-वर्ग का सार श्री एवं श्रीवत्स के रूप में भगवान् के वक्षःस्थल पर विराजमान है। ऐश्वर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति भगवती लक्ष्मी 'श्री' है। परमात्मकर्तृक गर्भाधान की महिमा से श्रीप्रसूतजीवन चैतन्यसार 'श्रीवत्स' है। श्री वामवक्षःस्थल में और श्रीवत्स दक्षिणवक्षःस्थल में है और बीच में भृगुचरण चिह्न है। एतावता विप्र-चरणारविन्द का समादरपूर्वक सेवन करने से ही श्री एवं श्रीवत्स की प्राप्ति सूचित होती है। नाना गुणमयी त्रिगुणात्मिका माया ही **'वनमाला'** है। परमसौगन्ध्यमय तथा अनेक रङ्ग के तुलसी, कुन्द, मन्दार, पारिजात सरोरुहों से विरचित माला त्रिगुणात्मिका प्रकृति के ही मनोहर पुष्पों की बनी समझनी चाहिये। छन्दःसमूह ही भगवान् का पीताम्बर है। जैसे छन्दों से भगवान् का स्वरूप चमत्कृत एवं शोभित होता है, वैसे ही पीताम्बर से भगवान् का स्वरूप चमत्कृत एवं सुशोभित होता है, किन्हीं-किन्हीं स्थानों पर मोहिनी माया को ही पीताम्बर बतलाया गया है। जैसे माया की निजी चमक-दमक से ब्रह्मस्वरूप तिरोहित हो जाता है, वैसे ही पीताम्बर से भगवान् का मङ्गलमय श्रीअङ्ग आवृत रहता है। माया के चाकचिक्य से अनासक्त एवं अप्रभावित हो जैसे भगवत्स्वरूप को जानता है, वैसे ही पीताम्बर की चमक-दमक को पार करने पर ही भगवत्स्वरूप का उपलम्भ होता है। छन्दों को भी पहले छादक बतलाया गया है।

त्रिवृत् अर्थात् त्रिमात्र प्रणव ही भगवान् का उपवीत है। सांख्य एवं योग को भगवान् ने मकराकृत कुण्डल के रूप में कानों में धारण कर रखा है। पारमेष्ठ्य पद

ही भगवान् का मुकुट है। अनन्त नामक अव्याकृत ही भगवान् का आसन है। प्रकृतिरूप समष्टि कारणदेहाभिमानी चैतन्य ही अव्याकृत कहलाता है, उसी को शेष भी कहा जाता है। कार्य्य प्रपञ्च के प्रलय हो जाने पर जो अवशिष्ट रहता है, वही शेष है। उन अनन्तशेषरूपअव्याकृत पर ही चतुर्भुज मूर्ति भगवान् विष्णु विराजते हैं। यों भी अव्याकृत के ऊपर ही कार्य-कारणातीत तुरीयतत्व विद्यमान रहते हैं। चतुर्वर्गप्रद, चतुर्वेदात्मा, चतुर्युग चतुरस्र भगवान् की चार भुजाएँ हैं। एक हाथ में धर्म-ज्ञानादियुक्त सत्वमय पद्म को धारण किये हैं। पद्म की ही सुन्दरता, मधुरता, सरसता, सुगन्धता धर्मादिमय सत्व में होती है। ओज, बलादियुक्त, प्राण-तत्व ही भगवान् की गदा है। जलतत्व को शंख के रूप में, तेजतत्व को सुदर्शन के रूप में दो हाथों में धारण कर रखा है। आकाशतत्व को ही तलवार एवं अन्धकार को ही चर्म (ढाल) के रूप में, काल को शार्ङ्गधनुष के रूप में, कर्मों को ही निषङ्ग के रूप में भगवान् ने धारण किया है। इन्द्रियाँ ही भगवान् के तूणीरों में रहनेवाले बाण हैं, क्रियाशक्तियुक्त मन ही रथ है, शब्दादि पञ्चतन्मात्रा इस रथ का अभिव्यक्त रूप है। जैसे रथारूढ़ होकर व्यक्ति तूणीर से बाण निकालकर धनुष पर रखकर सन्धान करता है, वैसे ही क्रियाशक्तियुक्त मन पर आरूढ़ होकर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान् ही कालरूप धनुष पर इन्द्रियों को प्रतिष्ठित करके उनका सन्धान करते हैं। वर, अभय आदि की मुद्राओं के रूप में भगवान् अर्थ-क्रिया (प्रयोजनसम्पत्ति) को धारण करते हैं। देव-पूजा स्थल सूर्य्यमण्डल है, दीक्षा ही पूजा योग्यता-सम्पत्ति है, भगवान् की परिचर्य्या ही अपने सम्पूर्ण दुरितों के क्षय का कारण है। भग शब्दार्थ—ऐश्वर्य्य-षाड्गुण्य—ही भगवान् के श्रीहस्त में विराजमान लीला कमल है; इस दृष्टि से प्रथम वर्णित कमल आसनभूत कमल है। धर्म और यश ही भगवान् के ऊपर ढुलनेवाले चमर और व्यजन हैं, अकुतोभय वैकुण्ठधाम ही छत्र है, देवत्रयीरूप गरुड़ ही यज्ञस्वरूप भगवान् के वाहन हैं, ऋग्यजु:-साम इन्हीं तीनों वेदों से ही यज्ञ की सम्पत्ति होती है, अत: वेदात्मा ही गरुड़ हैं, यज्ञस्वरूप विष्णु ही उनपर विराजमान होकर चलते हैं। चिद्रूपा भागवतीशक्ति ही भगवत्प्रिया लक्ष्मी हैं, भगवदुपासना विधायक पञ्चरात्रादि आगम ही पार्षदाधिप विस्वक्सेन हैं। अणिमा, महिमा आदि अष्ट विभूतियाँ ही भगवान् के नन्द, सुनन्दादि पार्षद हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्धरूप से विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, तुरीय, विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीयादि रूप में भी उन्हीं चतुर्व्यूह, चित्मूर्ति भगवान् का स्वरूप वर्णित है। यह भगवान् वेदों के भी कारण हैं। स्वयंदृक् एवं स्वमहिमपूर्ण हैं। परमार्थत: सर्वविधभेदविवर्जित होने पर भी भगवान् अपनी शक्तिभूता माया से ही विश्व का उत्पादन, पालन एवं संहरण करते हैं, अतएव ब्रह्मरूप विष्णु इन आख्याओं से, अनाच्छन्नज्ञान होते हुए भी विभिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। फिर भी वस्तुत: भिन्न नहीं हैं, क्योंकि तत्त्वदर्शी विद्वानों को आत्मरूप से ही भगवान् का उपलम्भ होता है।

श्री भगवान् तुर्य्य एवं तुर्य्यातीत रूप से निर्गुण, निष्क्रिय, निर्मल, निरवद्य, निरञ्जन, निराकार, निराश्रय, निरतिशयाद्वैतपरमानन्दस्वरूप हैं। सन्देह हो सकता है कि शुद्धाद्वैत परमानन्दपरब्रह्म में वैकुण्ठ, प्रासाद, प्राकार, विमानादि अनन्त वस्तुभेद कैसे हुए? यदि यह सब हैं, तो निर्विशेषाद्वैत कैसे? इसका समाधान यह है कि जैसे शुद्ध सुवर्ण में कटक, मुकुट, अङ्गदादि अनेक भेद होते हैं, जैसे समुद्र-जल में स्थूल-सूक्ष्म तरङ्ग हैं, जैसे समुद्र-जल में सूक्ष्म तरङ्ग, फेन, बुद्बुदादि भेद होते हैं, जैसे भूमि में पर्वत, वृक्ष, तृण, गुल्म, लतादि अनन्त वस्तु-भेद होते हैं, वैसे ही अद्वैत परमानन्द ब्रह्म में वैकुण्ठादि भेद उपपन्न हो जाते हैं। सब कुछ भगवान् का स्वरूप ही है, भगवद्व्यतिरिक्त अणुभर भी कुछ नहीं है—

"मत्स्वरूपमेव सर्वमद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते।"

परममोक्ष सर्वत्र एक ही है, फिर अनन्तवैकुण्ठ, अनन्तआनन्द-समुद्रादि कैसे सङ्गत होंगे? इस शंका का समाधान यह है कि अविद्या पाद में ही जब अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड है, तब एक-एक ब्रह्माण्ड में वैकुण्ठ तथा विविध विभूतियों में क्या आपत्ति है? फिर तीनों पादों के वैकुण्ठों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? निरतिशयानन्दाविर्भाव मोक्ष है, यह त्रिपाद ब्रह्म में सर्वदा प्रकट रहता है। वह पादत्रय ही परम वैकुण्ठ एवं परम कैवल्य है, इसलिये अविद्या, विद्या, आनन्द और तुर्य्य, इन चारों पादों में अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त आनन्द-समुद्रादि ठीक ही है। इस तरह उपासक परम वैकुण्ठ में पहुँचकर भगवान् का ध्यान करके निरतिशयाद्वैतपरमानन्द-स्वरूप होकर, सावधानी से अद्वैत योग में स्थित होकर, अद्वैत परमानन्द का अनुसन्धान करके स्वयं शुद्धबोधानन्दस्वरूप होकर महावाक्य का स्मरण करता हुआ अपने आत्मा को ब्रह्म और ब्रह्म को आत्मा समझ लेता है, अपने को ब्रह्म में होम देता है। फिर 'अहं ब्रह्म' की भावना से निस्तरङ्ग, अद्वैत, अपारनिरतिशय सच्चिदानन्द, ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। जो इस मार्ग से सम्यक् अभ्यास करता है, वह अवश्य ही नारायण हो जाता है। 'त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्' में इस विषय पर बड़ा ही सुन्दर विवेचन है, यहाँ तो उसका सारांशमात्र ही दिया गया है। लोक-लोकान्तरों एवं भगवद्विग्रह विलासादि यहाँ साम्प्रदायिक वैष्णवों एवं शैवों से भी सुन्दर है। विशेषता यह है कि यहाँ अद्वैतसिद्धान्त के पोषण में पूर्ण ध्यान रखा गया है।

शुद्धसत्वमयी शक्तिसंस्पृष्ट, चिदानन्दप्रधान तत्व में अनन्तानन्तवैकुण्ठादि का सभी तारतम्य मान्य है। शक्त्यतीत तत्व सर्वथा निराकार, निर्विकार, निर्विशेष ही है। शक्ति की अनिर्वचनीयता के कारण वस्तुतः शक्तिसंस्पृष्ट भी सर्वदा, सर्वथा सर्वातीत ही है, अतः वह सर्वदा, सर्वथा, सर्वदेश, काल एवं वस्तुओं से अतीत है। इसीलिये उससे व्यतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है, सब कुछ वही है। इस दृष्टि को लेकर पुराणों में भगवल्लोकों एवं स्वरूपों का वर्णन है। श्रीभागवत में श्रीकृष्ण-प्रदर्शित

विभूतियों में ब्रह्मा को अपरिगणित विष्णु परिलक्षित हुए थे और उन सभी को मूर्तिमान् चतुर्विंशति तत्वों से उपासित बतलाया है और सभी को सत्यज्ञानानन्तनन्दैकरस बतलाया है –

"सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसमूर्तयः ।

अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ।।"

अर्थात्—वे सभी स्वरूप सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसमूर्ति ही हैं। जैसे शैत्य के कारण निर्मल जल ही बर्फ बनता है, वैसे ही विशुद्ध सत्व के कारण निर्मल, निर्विकार, एक रस ब्रह्म ही उन मूर्तियों के रूप में व्यक्त है। पुनश्च, वे ऐसे महामहिम वैभवशाली स्वरूप थे, जिनके बहुत से माहात्म्यों को और तो क्या, उपनिषद्दर्शी भी नहीं स्पर्श कर सकते। ठीक ही है, भगवान् के अनन्त माहात्म्य को सामस्त्येन कोई भी नहीं जान सकता। अनन्त होने से भगवान् भी उनका अन्त नहीं पा सकते।

इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने वृन्दावन-शतकों में श्री वृन्दावनधाम को चिदानन्दमय कहा है। यहाँ के प्रत्येक वृक्षों, लताओं, दूर्वाओं एवं तृणों की भी अपार महिमा कही गयी है, सब वस्तुओं को केवल परमानन्द सुधासमुद्र का विलास कहा है। इतने से ही कुछ साम्प्रदायिक कहने लगते हैं कि उन्होंने अद्वैत-सिद्धान्त को छोड़कर मतान्तर का ग्रहण कर लिया है। परन्तु जो अद्वैत-सिद्धान्त से परिचित हैं, वे जानते हैं कि इस तरह का वर्णन अद्वैतवाद को छोड़कर अन्यत्र कहीं बन ही नहीं सकता।

"ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले" इस श्रुति में **"ब्रह्मलोकेषु"** इस बहुवचन से यहाँ मालूम पड़ता है कि सविशेष ब्रह्मलोक एक ही नहीं, किन्तु बहुत हैं। दूसरे यह भी मालूम पड़ता है कि सर्वमूर्धन्य, सर्वोत्कृष्ट लोक ही शैवों को परम शिवलोक के रूप में, वैष्णवों को परम वैकुण्ठ के रूप में, कृष्ण-भक्तों को गोलोकधाम के रूप में, राम-भक्तों को साकेतधाम के रूप में, परमशाक्तों को मणिद्वीप के रूप में भासमान होता है। सगुण, सविशेष ब्रह्म के उपासकों को उनके इष्टदेव के रूप में भासमान होता है। वही निर्गुण विष्णुतत्त्व ज्ञानवालों को निर्विशेष ब्रह्म के रूप में प्रत्यक्ष होता है।

●

गायत्री-तत्त्व

किसी गायत्री-निष्ठ सज्जन का प्रश्न है कि गायत्री-मन्त्र का वास्तविक अर्थ क्या है ? गायत्री-मन्त्र के द्वारा किस स्वरूप से किस देवता का ध्यान किया जाय ? कोई गोरूपा गायत्री का, कोई आदित्यमण्डलस्था [illegible]वेतपद्मास्थिता किसी देवी का ध्यान करना बतलाते हैं, कोई ब्रह्माणी, रुद्राणी, न[illegible] ध्यान उचित समझते हैं, कहीं पञ्चमुखी गायत्री का ध्यान बतलाया गया [illegible], तो कोई राधा-कृष्ण का ध्यान समुचित मानते हैं। ऐसी स्थिति में बुद्धि में भ्रम होता है कि गायत्री-मन्त्र का मुख्य अर्थ और ध्येय क्या है ? इस सम्बन्ध में यद्यपि शास्त्रों में बहुत कुछ विवेचन है, तथापि यहाँ संक्षेप में कुछ लिखा जाता है—

'बृहदारण्यक (५/१४) में भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौः इन आठ अक्षरों को गायत्री का प्रथम पाद कहा है, 'ऋचो यजूंषि सामानि' इन आठ अक्षरों को गायत्री का द्वितीय पाद कहा गया है, 'प्राणाऽपानो व्यानः' इन आठ अक्षरों को गायत्री का तीसरा पाद माना गया है। इस तरह लोकात्मा, वेदात्मा एवं प्राणात्मा ये तीनों ही गायत्री के तीन पाद हैं। परब्रह्म परमात्मा ही चतुर्थ पाद है।

"भूमिरन्तरिक्षम्" इन श्रुतियों पर व्याख्या करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि सम्पूर्ण छन्दों में गायत्री छन्द प्रधान है, क्योंकि वही छन्दों के प्रयोक्ता गयाख्य प्राणों का रक्षक है। सम्पूर्ण छन्दों का आत्मा प्राण है, प्राण का आत्मा गायत्री है। क्षत से रक्षक होने के कारण प्राण क्षात्र है, प्राणों का रक्षण करनेवाली गायत्री है। द्विजोत्तम जन्म का हेतु भी गायत्री ही है। गायत्री के तीनों पादों की उपासना करनेवालों को लोकात्मा, वेदात्मा और प्राणात्मा के सम्पूर्ण विषय उपनत होते हैं। गायत्री का चतुर्थ पाद ही 'तुरीय' शब्द से कहा जाता है। जो रजोजात सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करता है, वह सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुष है। जैसे वह पुरुष सर्व-लोकाधिपत्य की श्री एवं यश से तपता है, वैसे ही तुरीय पाद वेदिता श्री और यश से दीप्त होता है।

गायत्री सम्पूर्ण वेदों की जननी है। जो गायत्री का अभिप्राय है, वही सम्पूर्ण वेदों का अर्थ है। विश्व-तैजस-प्राज्ञ, विराट्-हिरण्यगर्भअव्याकृत, व्यष्टि-समष्टि जगत् तथा उसकी जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति—यह तीनों अवस्थाएं प्रणव की अ, उ, म इन तीनों मात्राओं के अर्थ हैं। सर्वपालक परब्रह्म प्रणव का वाच्यार्थ सर्वाधिष्ठान, सर्वप्रकाशक, सगुण, सर्वशक्ति, सर्वरहित ब्रह्म प्रणव का लक्ष्यार्थ है। उत्पादक, पालक, संहारक त्रिविध लोकात्मा भगवान् तीनों व्याहृतियों के अर्थ हैं। जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहार-कारण परब्रह्म ही 'सवितृ' शब्द का अर्थ है। तथापि गायत्री द्वारा

विश्वोत्पादक, स्वप्रकाश परमात्मा के उस रमणीय चिन्मय तेज का ध्यान किया जाता है, जो समस्त बुद्धियों का प्रेरक एवं साक्षी है।

विश्वोत्पादक परमात्मा के वरेण्य गर्भ को बुद्धिप्रेरक एवं बुद्धिसाक्षी कहने से जीवात्मा और परमात्मा का अभेद परिलक्षित होता है, अतः साधनचतुष्टयसम्पन्न उत्तमाधिकारी केलिये प्रत्यक् चैतन्याभिन्न, निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्म का ही चिन्तन गायत्री-मन्त्र के द्वारा किया जाता है। अनन्त कल्याणगुणगणसम्पन्न, सगुण, निराकार, परमेश्वर की उपासना गायत्री के द्वारा हो सकती है। सगुण, साकार, सच्चिदानन्द परब्रह्म का ध्यान गायत्री के द्वारा किया जा सकता है। प्राणिप्रसवार्थक 'सूङ्' धातु से 'सवितृ' शब्द की निष्पत्ति होती है।

यहाँ उत्पत्ति को उपलक्षण मानकर उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण परब्रह्म ही 'सवितृ' शब्द का अर्थ है। इस दृष्टि से उत्पादक, पालक, संहारक जो भी देवता प्रमाणसिद्ध हैं, वे सभी गायत्री के अर्थ हैं। उत्पादक, पालक, संहारक— ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा उनकी स्वरूपभूत तीनों शक्तियों का ध्यान किया जाता है।

त्रैलोक्य, त्रैविद्य तथा प्राण जिस गायत्री के स्वरूप हैं, वह त्रिपदा गायत्री परोरजा आदित्य में प्रतिष्ठित है, क्योंकि आदित्य ही मूर्त्त-अमूर्त्त दोनों ही का रस है। इसके बिना सब शुष्क हो जाते हैं, अतः त्रिपदा गायत्री आदित्य में प्रतिष्ठित है। आदित्यः चक्षुः—स्वरूप सत्ता में प्रतिष्ठित है। वह सत्ता बल अर्थात् प्राण में प्रतिष्ठित है, अतः सर्वाश्रयभूत प्राण ही परमोत्कृष्ट है। गायत्री अध्यात्म प्राण में प्रतिष्ठित है। जिस प्राण में सम्पूर्ण देव, वेद, कर्मफल एक हो जाते हैं, वही प्राणस्वरूप गायत्री सबकी आत्मा है। शब्दकारी वागादि प्राण 'गय' हैं, उनका त्राण करनेवाली गायत्री है। आचार्य अष्टवर्ष के बालक को उपनीत करके जब गायत्री का प्रदान करता है, तब जगदात्मा प्राण ही उसके लिये समर्पित करता है। जिस माणवक को आचार्य गायत्री का उपदेश करता है, उसके प्राणों का त्राण करता है, नरकादि पतन से बचा लेता है।

गायत्री के प्रथम पाद को जाननेवाला यति यदि धनपूर्ण तीनों लोकों का दान ले, तो भी उसे कोई दोष नहीं लगता। जो द्वितीय पाद को जानता है, वह जितने में त्रयी विद्यारूप सूर्य्य तपता है, उन सब लोकों को प्राप्त कर सकता है। तीसरे पाद को जाननेवाला सम्पूर्ण प्राणिवर्ग को प्राप्त कर सकता है। सारांश यह है कि यदि पादत्रय के समान भी कोई दाता-प्रतिग्रहीता हो, तब भी गायत्रीविद् को प्रतिग्रहदोष नहीं लगता, फिर चतुर्थ पाद के वेदिता के लिये तो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो उसके ज्ञान का फल कहा जा सके। वस्तुतः त्रिपाद-विज्ञान का भी प्रतिग्रह दोष नहीं लगता, फिर चतुर्थ पाद के वेदिता के लिये तो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जो उसके

ज्ञान का फल कहा जा सके। वस्तुतः त्रिपाद-विज्ञान का भी प्रतिग्रह से अधिक ही फल होता है, क्योंकि इतना प्रतिग्रह कौन ले सकता है ? गायत्री के उपस्थान-मन्त्र में कहा गया है कि हे गायत्रि ! आप त्रैलोक्यरूप पाद से एकपदी हो, त्रयी विद्यारूप पाद से द्विपदी हो, प्राणादि तृतीय पाद से त्रिपदी हो, चतुर्थ तुरीय पाद से चतुष्पदी हो।

इस तरह चार पाद से मंत्रों द्वारा आपकी उपासना होती है। इसके बाद अपने निरूपाधिक आत्मस्वरूप से अपद हो, 'नेति-नेति' इत्यादि निषेधों से वह सर्वनिषेधों का अवधिरूप से बोधित सम्पूर्ण व्यवहारों का अगोचर है, अतः प्रत्यक्ष परोरजा आपके तुरीय पाद को हम प्रणाम करते हैं। आपकी प्राप्ति में विघ्नकारी पापी, आपकी प्राप्ति में विघ्नसम्पादन-लक्षण अपने अभीष्ट को प्राप्त न करें इस अभिप्राय से अथवा जिससे दोष हो, उसके प्रति भी अमुक व्यक्ति अमुक अभिप्रेत फल को प्राप्त न करें, मैं अमुक फल पाऊँ, ऐसी भावना से वह मिल जाता है। गायत्री का अग्नि ही मुख है। अग्नि-मुख को न जानने से ही एक गायत्रीविद् हाथी बनकर जनक का वाहन बना था। जैसे अग्नि में अधिक-से-अधिक ईंधन समाप्त हो जाता है, वैसे ही अग्नि-मुख गायत्री के ज्ञान से सब पाप समाप्त हो जाते हैं।

'छान्दोग्योपनिषद' में कहा गया है कि यह सम्पूर्ण चराचर भूत प्रपञ्च गायत्री ही है। किस तरह सब कुछ गायत्री है, इसपर कहा गया है कि वाक् ही गायत्री है, वाक् ही समस्त भूतों का गान एवं रक्षण करती है। गो, अश्व, महिषि, 'मा भैषीः' इत्यादि वचनों से वाक् द्वारा ही भय की निवृत्ति होती है। गायत्री को पृथ्वीरूप मानकर उसमें सम्पूर्ण भूतों की स्थिति मानी गयी है, क्योंकि स्थावर-जङ्गम सभी प्राणिवर्ग पृथ्वी में ही रहते हैं, कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। पृथ्वी को शरीररूप मानकर उसमें सम्पूर्ण प्राणों की स्थिति मानी गयी है। शरीर को हृदय का रूप मानकर उसमें सम्पूर्ण प्राणों की प्रतिष्ठा कही गयी है। इस तरह चतुष्पाद, षडक्षरपाद, गायत्री वाक्, भूत, पृथ्वी, शरीर, हृदय, प्राणरूपा षड्विधा गायत्री का वर्णन है। पुनश्च, सम्पूर्ण विश्व को एकपादमात्र कहकर अन्त में त्रिपाद ब्रह्म को पृथक् कहा है। इसके अतिरिक्त पूर्व कथनानुसार गायत्री-मन्त्र के द्वारा सगुण, निर्गुण किसी भी ब्रह्मस्वरूप की उपासना की जा सकती है।

उत्पत्तिशक्ति ब्रह्माणी, पालिनीशक्ति नारायणी, संहारिणीशक्ति रुद्राणी का ध्यान गायत्री-मन्त्र के द्वारा सुतरां हो सकता है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य्य, गणेश आदि जिन-जिनमें विश्वकारणता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता प्रमाणसिद्ध है, वे सभी परमेश्वर हैं, सभी गायत्री मन्त्र के अर्थ हैं।

इस दृष्टि से अपने इष्ट देवता का ध्यान गायत्री-मन्त्र द्वारा सर्वथा उपयुक्त है। 'सविता' शब्द सूर्य्य के सम्बन्ध में विशेष प्रसिद्ध है, अतः उसी की सारशक्ति सावित्री

को आदित्यमण्डलस्थ भी कहा गया है। महर्षि कण्व ने अमृतमय दुग्ध से मही को पूर्ण करती हुई गोरूप से गायत्री का अनुभव किया था—

"तां सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामहं वृणे सुमतिं विश्वजन्यां।
यामस्य कण्वो अदुहत् प्रपीनां सहस्रधारो पयस्त महीं गाम् ॥"

विश्वमाता, सुमतिरूपा वरेण्य सविता को गर्भस्वरूपा गायत्री का मैं वरण करता हूँ, जिसको कण्व ने हजारों पयोधारा से महीमण्डल को पूर्ण करते हुए देखा। मोती, मूँगा, सुवर्ण, नील, धवलकान्तिवाले पाँच मुखों, तीन-तीन नेत्रों से युक्त, इन्दु-निबद्ध रत्नों के मुकुटों को धारण किये, वरद, अभय, अंकुश, कशा, शुभ्र, कपाल, गुण, शंख, चक्र, अरविन्द-युगल दोनों ही तरफ के हाथों में लिये हुए भगवती का ध्यान करना चाहिए। पञ्चतत्वों एवं पञ्च देवताओं की सारभूत महाशक्ति एकत्रित होकर पञ्चमुखी भगवती के रूप में प्रकट है।

"मुक्ताविद्रुमहेमनीलधवलच्छायैर्मुखैस्त्रीक्षणै-
र्युक्तामिन्दुनिबद्धरत्नमुकुटां तत्वार्थवर्णात्मिकाम्।
गायत्रीं वरदाभयाङ्कुशकशाः शुभ्रं कपालं गुणं
शङ्खं चक्रमथारविन्दयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ॥"

इस स्वरूप के ध्यान में सगुण-निर्गुण दोनों ही ब्रह्मरूप आ जाते हैं। दिव्य-कमल पर विराजमान, मनोहर भूषण अलंकारों से विभूषित, सुसज्जित उपर्युक्त स्वरूप का ध्यान करना चाहिये। गायत्री-मन्त्र का जप चाहे किसी स्थान, समय एवं स्थिति में नहीं किया जा सकता। इसके लिये पवित्र देश-काल तथा पात्र की अपेक्षा है, तभी वह त्राण कर सकती है।

•

श्री भगवती-तत्त्व

अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मक प्रपञ्च की अधिष्ठानभूता सच्चिदानन्दरूप भगवती ही सम्पूर्ण विश्व को सत्ता, स्फूर्ति तथा सरसता प्रदान करती है। विश्व प्रपञ्च उन्हीं में उत्पन्न होता है, स्थित होता है, अन्त में उन्हीं में लीन हो जाता है। जैसे दर्पण में आकाशमण्डल, मेघमण्डल, सूर्य्य-चन्द्रमण्डल, नक्षत्रमण्डल, भूधर, सागरादि प्रपञ्च प्रतीत होता है, दर्पण को स्पर्श करके देखा जाय, तो वास्तव में कुछ भी नहीं उपलब्ध होता, वैसे ही सदानन्दस्वरूप महाचिति भगवती में सम्पूर्ण विश्व भासित होता है। जैसे दर्पण के बिना प्रतिबिम्ब का भान नहीं होता, दर्पण के उपलम्भ में ही प्रतिबिम्ब का उपलम्भ होता है, वैसे ही अखण्ड, नित्य, निर्विकार महाचिति में ही, उसके अस्तित्व में ही, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयादि विश्व उपलब्ध होता है। भान न होने पर भास्य के उपलम्भ की आशा ही नहीं की जा सकती।

सामान्य रूप से तो यह बात सर्वमान्य है कि प्रमाणाधीन ही किसी भी प्रमेय की सिद्धि होती है, अतः सम्पूर्ण प्रमेय में प्रमाण कवलित ही उपलब्ध होता है। प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय ये अन्योन्य की अपेक्षा रखते हैं। प्रमाण का विषय होने से ही कोई वस्तु प्रमेय हो सकती है। प्रमेय को विषय करनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति प्रमाण कहला सकती है। प्रमेय-विषयक प्रमाण का आश्रय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाता कहलाता है। प्रमात्राश्रित प्रमेयाकार वृत्ति को ही प्रमाण कहा जाता है। परन्तु इन सबकी उत्पत्ति, स्थिति, गति का भासक नित्य बोध आत्मा है। वही साक्षी एवं वही ब्रह्म कहलाता है। यद्यपि वह स्त्री, पुमान् अथवा नपुंसक नहीं है, तथापि चिति, भगवती आदि स्त्रीवाचक शब्दों से, आत्मा, पुरुष आदि पुंबोधक शब्दों से, ब्रह्म, ज्ञान आदि नपुंसक शब्दों से व्यवहृत होता है। वस्तुतः स्त्री, पुमान्, नपुंसक इन सबसे पृथक् होने पर भी तादृक्-तादृक् शरीर सम्बन्ध से या वस्तु सम्बन्ध से वही अचिन्त्य, अव्यक्त, स्वप्रकाश सच्चिदानन्दस्वरूपा महाचिति भगवती ही आत्मा, पुरुष, ब्रह्म आदि शब्दों से ही व्यवहृत होती है।

मायाशक्ति का आश्रयण करके वही त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, विष्णु, शिव, कृष्ण, राम, गणपति, सूर्य आदि रूप में भी प्रकट होती है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, त्रिशरीर रूप त्रिपुर के भीतर रहनेवाली सर्व-साक्षिणी चिति ही त्रिपुरसुन्दरी है। उसी मायाविशिष्ट तत्व के जैसे राम-कृष्णादि अन्यान्य अवतार होते हैं, वैसे ही महालक्ष्मी, महासरस्वती, महागौरी आदि अवतार होते हैं। यद्यपि श्रीभगवती नित्य ही है, तथापि देवताओं के कार्य के लिये वह समय-समय पर अनेक रूप में प्रकट होती है। वह जगन्मूर्त्ति भगवती नित्य ही है, उसी से चराचर प्रपञ्च व्याप्त है, तथापि

उसकी उत्पत्ति अनेक प्रकार से होती है। देवताओं के कार्य के लिए जब वह प्रकट होती है, तब वह नित्य होने पर भी उत्पन्न हुई कही जाती है—

**"नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम॥
देवानां कार्यसिद्धयर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥"**

कुछ लोगों का कहना है कि "शास्त्रों में मायारूपा भगवती की ही उपासना कही गयी है, माया वेदान्त-सिद्धान्तानुसार मिथ्याभूत है, मुक्ति में उसकी अनुगति नहीं हो सकती, अतः भगवती की उपासना अश्रद्धेय है। 'तापनीय' में ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि नारसिंह माया ही सब प्रपञ्च की सृष्टि करती है, वही सबकी रक्षा करती है, वही सबका संहार करती है, उसी मायाशक्ति को जानना चाहिये। जो उसे जानता है, वह मृत्यु को तरता है, पाप्मा को तरता है, अमृतत्व एवं महती श्री को प्राप्त करता है—

"माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति, सर्वमिदं रक्षति, सर्वमिदं संहरति, तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्याद् एतां मायां शक्तिं वेद, स मृत्युं जयति, स पाप्मानं तरति, सोऽमृतत्वं गच्छति, महतीं श्रियमश्नुते।"

आप वैष्णवीशक्ति अनन्तवीर्य्या एवं विश्व की बीजभूता माया हैं—

"त्वं वैष्णवीशक्तिरनन्तवीर्य्या विश्वस्य बीजं परमासि माया।" इत्यादि वचनों से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मायारूपा ही भगवती है। उसी की उपासना का तत्र-तत्र स्थानों में विधान है। माया स्वयं जड़ा है इत्यादि-इत्यादि। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यह सब निम्नलिखित प्रमाणों से विरुद्ध है—

"सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः कासि त्वं महादेवी, साब्रवीदहं ब्रह्मरूपिणी, मत्तः प्रकृति पुरुषात्मकं जगत्।" (देव्यथर्वशिर)

अर्थात् देवताओं ने देवी का उपस्थान करके उससे प्रश्न किया कि 'आप कौन हैं ?'

देवी ने कहा—'मैं ब्रह्म हूँ, मुझसे ही प्रकृति-पुरुषात्मक जगत् उत्पन्न होता है।'

"अथ ह्येनां ब्रह्मरन्ध्रे ब्रह्मरूपिणीमाप्नोति। भुवनाधीश्वरी तुर्य्यातीता" (भुवनैश्वर्युपनिषद्)।

"स्वात्मैव ललिता" (भावनोपनिषद्)।

इत्यादि वचनों से तुर्य्यातीत ब्रह्मात्मस्वरूपा ही भगवती है, यह स्पष्ट है।

'त्रिपुरातापनीय', 'सुन्दरीतापनीयादि' उपनिषदों में 'परोरजसे' इत्यादि गायत्री के चतुर्थ चरण से प्रतिपाद्य ब्रह्म के वाचकरूप से 'ह्रीं' बीज को बतलाया

है। 'काली', 'तारोपनिषदों' में भी ब्रह्मरूपिणी भगवती की ही उपासना प्रतिपादित है।

"अतः संसारनाशाय साक्षिणीमात्मरूपिणीमाराधयेत् परांशक्तिं प्रपञ्चोल्लासवर्जिताम् ।" (सूतसंहिता)। अर्थात् संसारनिवृत्ति के लिये प्रपञ्चस्फुरणशून्य, सर्वसाक्षिणी, आत्मरूपिणी, पराशक्ति की ही आराधना करनी चाहिये।

"परातु सच्चिदानन्दरूपिणी जगदम्बिका।
सर्वाधिष्ठानरूपा स्याज्जगद्भ्रान्तिश्चिदात्मनि ॥" (स्कान्द)

अर्थात् सच्चिदानन्दरूपिणी पराजगदम्बिका ही विश्व की अधिष्ठानभूता है, उन्हीं चिदात्मस्वरूपा भगवती में ही जगत् की भ्रान्ति होती है।

"सर्ववेदान्तवेदेषु निश्चितं ब्रह्मवादिभिः।
एकं सर्वगतं सूक्ष्मं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
योगिनस्तत्प्रपश्यन्ति महादेव्याः परं पदम्।
परात्परतरं तत्त्वं शाश्वतं शिवमच्युतम् ॥
अनन्तं प्रकृतौ लीनं देव्यास्तत्परमं पदम्।
शुभ्रं निरञ्जनं शुद्धं निर्गुणं दैन्यवर्जितम् ॥
आत्मोपलब्धिविषयं देव्यास्तत्परमं पदम्।" (कूर्मपुराण)

इत्यादि वचनों से निर्विकार, अनन्त, अच्युत, निरञ्जन, निर्गुण ब्रह्म ही को भगवती का वास्तविक स्वरूप बतलाया गया है। 'देवीभागवत' में भी कहा है कि—

"निर्गुणा सगुणा चेति द्विधा प्रोक्ता मनीषिभिः।
सगुणा रागिभिः सेव्या निर्गुणा तु विरागिभिः ॥"

अर्थात् निर्गुणा-सगुणा दो प्रकार की भगवती है, रागिजनों को सगुणा सेव्या हैं, विरागियों को निर्गुणा सेव्या हैं। ब्रह्माण्डपुराण' के 'ललितोपाख्यान' में भी कहा है—

"चितिस्तत्पदलक्ष्यार्था चिदेकरसरूपिणी।"

अर्थात् चिदेकरसरूपिणी चिति ही तत्पद की लक्ष्यार्थस्वरूपा है।

कहा जा सकता है कि "फिर तो ब्रह्मस्वरूपताबोधक वचनों से भगवती के मायात्वबोधक वचनों का विरोध अवश्य होगा।" परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि वेदान्त में माया को मिथ्या कहा गया है। मिथ्यापदार्थ अधिष्ठान में कल्पित होता है। अधिष्ठान सत्ता से अतिरिक्त कल्पित की सत्ता नहीं हुआ करती। माया में अधिष्ठान की ही सत्ता का प्रवेश रहता है, अतः मायास्वरूप की उपासना से भी सत्तास्वरूप ब्रह्म की ही उपासना होगी। इस आशय से मायास्वरूपत्वबोधक वचनों का भी कोई विरोध नहीं है। जैसे ब्रह्म की उपासना में भी केवल ब्रह्म की उपासना

नहीं होती, किन्तु शक्तिविशिष्ट ही ब्रह्म की उपासना होती है, क्योंकि ब्रह्म से पृथक् होकर शक्ति नहीं रह सकती और केवल ब्रह्म की उपासना हो नहीं सकती, वैसे ही केवल माया की भी उपासना सम्भव नहीं हो सकती। केवल माया की स्थिति ही नहीं बन सकती, फिर उपासना तो दूर रही।

अधिष्ठानभूत ब्रह्म से युक्त होकर ही माया रहती है, अतः भगवती की मायारूपता वर्णन करने पर भी फलतः ब्रह्मरूपता ही सिद्ध होती है।

"पावकस्योष्णतेवेयमुष्णांशोरिव दीधितिः।
चन्द्रस्य चन्द्रिकेवेयं शिवस्य सहजा ध्रुवा॥"

अर्थात् जैसे पावक में उष्णता रहती है, सूर्य्य में किरण रहती है, चन्द्रमा में चन्द्रिका रहती है, वैसे ही शिव में उसकी सहज शक्ति रहती है। इस तरह विश्वस्वरूपभूता शक्ति के रूप में भगवती का वर्णन मिलता है। जैसे अग्नि में होम करने पर भी अग्नि-शक्ति में होम समझा जाता है, वैसे ही अग्नि-शक्ति में होम करने से अग्नि में होम समझा जाता है। इसी तरह माया को भगवती कहने पर भी ब्रह्म को भगवती समझा जा सकता है, अतः ब्रह्म की ही उपासना समझनी चाहिये। जो वाक्य माया को मिथ्या प्रतिपादन करते हैं, उनमें तो केवल माया का ही ग्रहण होता है, क्योंकि ब्रह्म का मिथ्यात्व नहीं है, वह तो त्रिकालाबाध्य, सत्स्वरूप अधिष्ठान है। उपास्य मायापदार्थान्तर्गत ब्रह्मांश मोक्षदशा में भी अनुस्यूत रहेगा, अतः मुक्ति में उपास्यस्वरूप का त्याग भी नहीं होगा।

'अन्तर्यामि ब्राह्मण' में पृथ्वी से लेकर मायापर्य्यन्त सभी पदार्थों को चेतन सम्बन्ध से देवता बतलाया गया है। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति के अनुसार भी सब कुछ ब्रह्म ही है ऐसा कहा गया है।

'सूतसंहिता' में कहा है—

"चिन्मात्राश्रयमायायाः शक्त्याकारो द्विजोत्तमाः।
अनुप्रविष्टा या संविन्निर्विकल्पा स्वयंप्रभा।
सदाकारा सदानन्दा संसारोच्छेदकारिणी।
सशिवा परमा देवी शिवाभिन्ना शिवङ्करी॥"

अर्थात् चिन्मात्र परब्रह्म के आश्रित रहनेवाली माया के शक्त्याकार में अनुप्रविष्ट स्वयंप्रभा, निर्विकल्पा, सदाकारा, सदानन्दा, संविद् ही शिवाभिन्न शिवस्वरूपा परमा देवी है अथवा भगवतीस्वरूपप्रतिपादक वाक्यों में जो माया, शक्ति, कला आदि शब्द हैं, वे सब लक्षण से मायाविशिष्ट, कलाविशिष्ट ब्रह्म के बोधक समझने चाहिये। तथा मायाविशिष्ट, कलाविशिष्ट ब्रह्म के बोधक समझने चाहिये। तथा च माया विशिष्ट ब्रह्म ही 'भगवती' शब्द का अर्थ है।

वही बात शिव ने कही थी—

"नाहं सुमुखि मायाया उपास्यत्वं ब्रुवे क्वचित् ।
मायाधिष्ठानचैतन्यमुपास्यत्वेन कीर्तितम् ।
मायाशक्त्यादिशब्दाश्च विशिष्टस्यैव लक्षकाः ।
तस्मान्मायादिशब्दैस्तद्ब्रह्मैवोपास्यमुच्यते ॥"

यहाँ एक-एक पक्ष में केवल चैतन्य ही मायादि शब्दों से उपास्य कहा गया है, द्वितीय पक्ष में मायाविशिष्ट ब्रह्म मायादिशब्द से कहा गया है। साकार देवताविग्रह सर्वत्र ही शक्तिविशिष्ट ब्रह्मरूप से हो उपास्य होता है। भगवतीविग्रह में भी भाषण, दर्शन, अनुकम्पा आदि व्यवहार देखा ही जाता है, फिर उसमें जड़त्व की कल्पना किस तरह की जा सकती है।

विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत, ब्रह्म, विष्णु रुद्रादिकों के स्वरूप में एक-एक गुणों की प्रधानता है, माया गुणत्रय का ही साम्यावस्था रूप है, वह केवल शुद्ध ब्रह्म के आश्रित है। मायाविशिष्ट तुरीयब्रह्म ही भगवती की उपासना में ग्राह्य है, यह दिखलाने के लिये माया, प्रकृति आदि शब्दों से कहीं-कहीं भगवती को बोधित किया गया है।

'मैत्रायणी श्रुति' में कहा है—

"तमो वा इदमेकमग्र आसीत् तत्परे तस्मात्परेणेरितं विषमत्वं
प्रयात्येतद्वै रजः तद्रजः एवस्वेरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै सत्त्वम् ।"

इन वचनों से स्पष्ट कहा गया है कि तीनों गुणों की साम्यावस्थारूपा प्रकृति परब्रह्म में रहती है, उसी के अंश सत्वादि गुण हैं, तत्तद्गुणों से विशिष्ट ब्रह्म भी अंशभूत है, मूलप्रकृति-उपलक्षित ब्रह्म शुद्ध तुरीयस्वरूप ही है। "त्वं वैष्णवी शक्तिः" इत्यादि स्थलों में ब्रह्मरूपिणी भगवती का ही शक्तिरूप से वर्णन किया गया है। उपासनास्थल के अतिरिक्त माया आदि शब्दों से भी कहीं-कहीं शक्ति का ग्रहण किया गया है अथवा यह समझना चाहिये कि जगत्कारण परब्रह्म माया-ब्रह्म उभयरूप है।

कहीं मायोपसर्जन ब्रह्म की उपासना है। जहाँ ऐसा है, वहाँ शक्तिसहाय-भूता है—

"तस्मात्सह तया देवं हृदि पश्यन्ति ये शिवम् ।
तेषां शाश्वतिकीशान्तिर्नेतरेषां कदाचन ॥" (शिवपु०)

कहीं पर ब्रह्मोपसर्जन माया की उपासना है। इसीलिये माया, प्रकृति आदि शब्दों से भगवती की उपासना का विधान मिलता है। यह पक्ष सर्वतन्त्रों को मान्य है।

"शिवेन सहितां देवीं भावयेद्भुवनेश्वरीम्" (भुवनेश्वरीपारिजात)

दोनों ही पक्ष में ब्रह्म का चिदंश ही उपासना में आता है। इसीलिये माया पर मुक्ति के अनन्वयी होने का या अश्रद्धेय होने का कोई भी दोष लागू नहीं होता।

यद्यपि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादि श्रुति के अनुसार सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म ही है, तथापि भक्तों के चित्तावलम्बन के लिये अनेक प्रकार के स्वरूपों का उपदेश किया गया है। मलिन, शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम आदि उपाधियों का उपदेश किया गया है। जैसे पात्र, मणि, कृपाण, दर्पणादि में शुद्धि के तारतम्य से प्रतिबिम्बित-प्रतिफलन में तारतम्य होता है, वैसे ही उपाधियों के तारतम्य से ब्रह्म के प्रसाद, प्राकट्य में भी तारतम्य होता है। इसी अभिप्राय से विभूतियों की उत्कृष्टता, उत्कृष्टतरता आदि का व्यवहार शास्त्रों में प्रसिद्ध है। एक-एक गुणों की अपेक्षा गुणों की साम्यावस्था उत्कृष्ट है।

इसीलिये भगवती की उपासना परमोत्कृष्ट है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म का प्रथम सम्बन्ध माया के ही साथ है। गुणों का सम्बन्ध माया द्वारा है। इसीलिये साम्यावस्था में ब्रह्म का अव्यवहित सम्बन्ध है। अतएव 'सूत-संहिता' में कहा गया है—

"परतत्वप्रकाशस्तु रुद्रस्यैव महत्तरः।"

फिर भी ब्रह्मतत्व सर्वत्र ही समान है। इसीलिये सभी में परमकारणत्व का व्यपदेश सर्वत्र मिलता है। कामार्थी, मोक्षार्थी सभी के लिये भगवती की उपासना परमावश्यक है। वही ब्रह्मविद्या है, वही जगज्जननी है, उसी से सारा विश्व व्याप्त है, जो उसकी पूजा नहीं करता, उसके पुण्य को माता भस्म कर देती है—

"यो न पूजयते नित्यं चण्डिकां भक्तवत्सलाम्।
भस्मी कृत्वास्य पुण्यानि निर्दहेत्तमपीश्वरी॥"

'देवी भागवत' के प्रथम ही मन्त्र में भगवती के सगुण-निर्गुण दोनों ही रूपों का संकेत इस प्रकार मिलता है—

"सर्वचैतन्यरूपां तामाद्यां विद्याञ्च धीमहि।
बुद्धिं या नः प्रचोदयात्॥"

अर्थात् वह भगवती सर्वचैतन्यरूपा अर्थात् सर्वात्मस्वरूपा है, सबका प्रत्यक्-चैतन्य आत्मस्वरूप ब्रह्म वही है, वह स्वतः सर्वोपाधिनिरपेक्ष तथा अखण्ड बोधस्वरूप आत्मा ही है। ब्रह्मविषयक शुद्धसत्वान्तर्मुख वृत्ति पर प्रतिबिम्बित होकर वही अनादि ब्रह्मविद्या है। एक ही शक्ति अन्तर्मुख होकर विद्यातत्वरूपिणी होती है, तदुपाधिक आत्मा 'तुरीय' कहलाता है। बहिर्मुख होकर वही 'अविद्या' कहलाती है, तदुपाधिक आत्मा 'प्राज्ञ' है। मायाशबल ब्रह्म ही ध्यान का विषय है, वही बुद्धिप्रेरक है। शाक्तागममतानुयायियों की दृष्टि से अत्यन्त अन्तर्मुख होकर शक्ति शिवस्वरूप ही रहती है। वेदान्त दृष्टि से सर्वोपाधिविनिर्मुक्त स्वप्रकाश चिति ही रहती है। वही परब्रह्म, आत्मा आदि शब्दों से लक्षित होती है।

शक्ति का खण्डन

भगवती का ही शक्तिस्वरूप से भी आराधन होता है। हर एक कार्य की उत्पादनानुकूल शक्ति उसके कारण में होती है। कार्य्य के अनन्त होने से वह शक्ति भी अनन्त है—

"शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।"

शक्ति के सम्बन्ध में तार्किकों का कहना है कि कोई प्रमाण न होने से स्वरूप सहकारिमेलन के अतिरिक्त 'शक्ति' नाम का कोई पदार्थ नहीं है। स्फोटादिरूप कार्य की अन्यथानुपपत्ति को शक्ति में प्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब प्रतिबन्धकाभाव आदि सहकारी से सहकृत अग्न्यादि के स्वरूप से ही स्फोटादिरूप कर्मोपपत्ति हो जाती है, तब अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना करना व्यर्थ है। अभाव की अकारणता होने से प्रतिबन्धकाभाव को सहकारी मानना ठीक नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभाव को कारण मानने में न तो अन्वय-व्यतिरेकित्व में कोई बाधा पड़ती है, न किसी अनिष्ट की प्रसक्ति ही होती है। भाव की तरह अभाव का भी कार्य से अन्वय-व्यतिरेक दृष्ट है और अभाव की प्रमिति में योग्य की अनुपलब्धि एवं विभ्रम में विवेकाग्रह की हेतुता भी स्पष्ट ही है।

यदि कहा जाय कि क्या प्रतिबन्धक का प्रागभाव कारण है या उसका प्रध्वंसाभाव, तो दोनों की कारणता नहीं बनती, क्योंकि उत्तम्भक को प्रतिबन्धक के पास ले जाने पर प्रतिबन्धक के रहने पर भी प्रागभाव के बिना ही कार्योत्पत्ति देखी जाती है, अतः प्रागभाव को कारण नहीं कहा जा सकता। एवञ्च प्रतिबन्धक की अनुदयदशा में भी अर्थात् उसका प्रागभाव रहनेपर भी कार्योत्पत्ति होती है, अतः प्रध्वंसाभाव की भी कारणता नहीं कही जा सकती। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि उत्तम्भक मणि, मंत्र आदि के अभाव से सहकृत ही प्रतिबन्धक वस्तुतः प्रतिबन्धक होता है, न कि केवल मणि आदि। अतः वहाँ प्रतिबन्धक से सहकृत की ही कारणता होने से उक्त दोष नहीं रह जाता। सर्वत्र प्रतिबन्धक-संसर्गाभावविशिष्ट की ही कारणता मानी गयी है, अतः अनियतहेतुकत्वदोष भी नहीं कहा जा सकता। अन्यथा उपलब्धि में भी उपलब्धि के प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव के विकल्प से अभाव-प्रमिति की अनियतहेतुकता दुष्परिहार्य होगी।

शक्तिपक्ष में भी अप्रतिबद्ध ही शक्ति को कारण मानने से अभावविकल्प से उत्पन्न दोष एवं उसका परिहार तुल्य है।

"प्रतिबन्धो विसामग्री तद्धेतुः प्रतिबन्धकः।"

इस कुसुमाञ्जलि के वचनानुसार सामग्री-वैकल्य प्रतिबन्ध है और उसका हेतु प्रतिबन्धक है। यहाँ प्रतिबन्धपक्ष प्रतिबन्धकाभाव के कारण होने और कारणापेक्ष ही प्रतिबन्धकाभाव के प्रतिबन्ध होने के कारण अन्योन्याश्रयग्रस्त होने से यदि कहा

जाय कि प्रतिबन्धका भाव में कारणता मानना ठीक नहीं है, तो यह अनुचित है, क्योंकि अभाव की कारणता मानकर हो कार्यानुदयमात्र ही से मन्त्रादि में कार्यप्रतिकूलता का बोध होता है और मणि, मन्त्रादि में कार्य को प्रतिबन्धता का निर्धारण किये बिना ही मन्त्रादि के अभाव में अन्वय-व्यतिरेक हो से कारणता का निश्चय होता है। इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अन्योन्याश्रयत्व उत्पत्ति या ज्ञप्ति में हुआ करता है। यहाँ मन्त्र एवं तद्भाव (प्रागभाव) की परस्परहेतुता न होने से अज्ञात भी मन्त्र तथा तदभाव की कार्य के प्रति प्रतिकूलता एवं कारणता होने से दोनों प्रकार का अन्योन्याश्रय नहीं है।

यदि कहा जाय कि कार्याभाव से मन्त्रादि कारणाभावरूप माने जाते हैं, अत एव मन्त्रादि का अभाव भी कारण माना जाता है। एवञ्च मन्त्र तथा तदभाव में रहनेवाले प्रतिबन्धकत्व और कारणत्व के अन्योन्यनिमित्तक होने से उत्पत्ति या ज्ञप्ति में अन्योन्याश्रयता दुर्वार है, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव को कारणता का अवगम हुए बिना भी कार्याभावमात्र से मन्त्रादि की कार्यप्रतिकूलता का ज्ञान हो सकता है, अतएव तदभाव को कारणता का भी ज्ञान अन्वय-व्यतिरेक से ही सुकर है।

यदि कहा जाय कि मणि-मंत्रादि के सान्निध्य में, उभयथापि अग्न्यादि के रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता, फिर भी दाहादि का प्रतिबन्ध होता ही है, अतः यदि स्वरूपातिरिक्त शक्ति न मानें, तो प्रतिबन्ध असम्भव हो जायगा, इसलिये शक्ति माननी चाहिये, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिबन्धशब्द से बोधित होनेवाला कार्य के प्रति औदासीन्य ही अग्न्यादि में विशेष रूप से उपलब्ध होता है। यदि ऐसा न मानें, तो शक्ति मानने पर भी प्रतिबन्ध का विवेक कठिन हो जायेगा। शक्ति का नाश प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता, अन्यथा प्रतिबन्ध हट जाने पर कार्याभाव की प्रसक्ति होगी। स्फोटरूप कार्य की उत्पत्ति के लिये वहाँ शक्त्यन्तर की उत्पत्ति मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि उसके किसी कारण का वहाँ निरूपण नहीं किया जा सकता। अग्निसामग्री से वहाँ कार्योत्पत्ति नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह तो नष्ट हो हो चुकी है। अशक्त अग्नि उत्पादक न होने से उस आश्रयभूत अग्नि से भी कार्योत्पत्ति नहीं कही जा सकती। यदि उत्पादकत्व मानें, तो कार्य में भी वह वैसे ही विद्यमान होने से शक्ति को मानना निष्प्रयोजन है। यदि वह शक्त है, तो उस शक्ति को कार्य के विषय में भी मान लेने से काम चल जाता है। ऐसी स्थिति में कारणान्तर का निरूपण न होने से शक्त्यन्तर की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। प्रतिबन्धाभाव को भी कारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभाव की कारणता अस्वीकृत है।

यदि अभाव को कारण माना जाय, तो उसी से स्फोटादि कार्यों की उत्पत्ति हो जायगी, फिर अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना से क्या लाभ ? एक शक्ति से दूसरी

शक्ति का प्रतिबन्ध मानने से अनवस्था-प्रसङ्ग प्राप्त होगा, क्योंकि उसमें भी उक्त दूषण के परिहारार्थ शक्तिप्रतिबन्ध कहना पड़ेगा। अतः शक्ति के बिना भो कार्य के अन्यथापि उपपन्न हो जाने से अतीन्द्रिय शक्ति की कल्पना का कोई अवकाश नहीं है।

उपादानोपादेय भावरूप नियम की अनुपपत्ति भी शक्ति में प्रमाण नहीं कही जा सकती अर्थात् दुग्धादि जैसे दध्यादि का उपादान है, न कि तिलादि, एवञ्च तिलादि ही तैलादि का उपादान है, न कि दुग्धादि, ऐसा जो नियम है, उसकी शक्ति को बिना स्वीकार किये आपत्ति न होने के कारण शक्ति मानना आवश्यक है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शक्ति के बिना माने ही अनादिसिद्ध वृद्धव्यवहार से निर्णीत तत्तत्कार्यानुकूल स्वभाव की विशेषता से ही उपादानोपादेय-नियम की सिद्धि हो जाती है। यदि स्वभाव को नियात्मक न माना जाय तो शक्ति में भी नियम न रह सकेगा। 'यह शक्ति यहीं क्यों है, अन्यत्र क्यों नहीं है, इसका समाधान स्वभावभेद के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? अतः कहना होगा कि दोनों प्रकार की अर्थापत्तियों को उपर्युक्त रीति से शक्ति में प्रमाण नहीं कहा जा सकता।

यदि---

"विमतं (अग्न्यादि) अजनकदशातो जनकदशायामतिशययोगि कारकत्वात् कुण्ठकुठारवत्"

इस अनुमान को शक्तिसाधक कहें, तो यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि सहकारिसमवधान के अतिशय से ही सिद्ध-साधनता है। यदि —

"अग्निः अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रयः, कारणत्वान, गुरुत्वाश्रयवत्"

इस अनुमान द्वारा शक्ति को सिद्ध करें, तो भी जो योगी को मानता है, उसके मत में किसी वस्तु के अतीन्द्रिय न होने से उक्त अनुमान में दिया हुआ 'अतीन्द्रिय' विशेषण सिद्ध नहीं होता, अतः वैसे विशेषण से गर्भित अनुमान से शक्ति की सिद्धि कैसे हो सकती है? यदि कहा जाय कि, जैसे हमारा चक्षु, इन्द्रिय होने के कारण गुरुत्वजातिविषय नहीं है, वैसे ही योगी का चक्षु इन्द्रिय होने के कारण गुरुत्व जातिविषय न होगा।' इस अनुमान से अतीन्द्रिय की सिद्धि करके पूर्वोक्त अतीन्द्रियसामान्यगर्भित अनुमान द्वारा शक्तिसिद्धि हो जायगी, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि वहाँ यह शंका होगी कि ऐसा अनुमान करनेवाले की दृष्टि में योगीन्द्रिय प्रसिद्ध है या अप्रसिद्ध? यदि अप्रसिद्ध है, तो योगी को न माननेवाले मीमांसक की दृष्टि में आश्रयासिद्धि होगी। यदि प्रसिद्ध है, तो धर्मिग्राहक प्रमाण का बाध होगा अर्थात् अस्मदादिकों के इन्द्रिय से विलक्षण योगीन्द्रिय को ग्रहण करता हुआ प्रमाण ऐन्द्रियक-अतीन्द्रियक साधारण ही उसका ग्रहण करायेगा, अतः उस प्रमाण से गुरुत्व-जातिविषयत्वाभावरूप साध्य का बाध हो जायगा। यदि उस अतीन्द्रिय विशेषण को

अस्मदादि के अभिप्राय से मानें, तो भी काम न चलेगा क्योंकि जब परमाणु को जानता हूँ, आकाश को जानता हूँ, ऐसा अनुव्यवसाय होता है, तब परमाणु और उसका ज्ञान मानसप्रत्यक्षरूप अनुव्यवसाय का विषय होता है।

इस तरह सभी वस्तु ऐन्द्रियकज्ञानविषय बन जाने से अस्मदादि की दृष्टि से भी अतीन्द्रियत्व अप्रसिद्ध ही रहता है और इस तरह पूर्वोक्त दोष ज्यों-का-त्यों रहने से उक्त अनुमान से शक्तिसिद्धि नहीं हो सकती। यदि उस अनुमान में, अनुव्यवसायातिरिक्त अस्मदादि ऐन्द्रियकबुद्धि के अगोचर होने के आशय से वह अतीन्द्रियत्व-रूप विशेषण है, ऐसा कहें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्यप्रमाण से उपनीत विशेषणावगाहिविशिष्टज्ञान माननेवाले के मत में सभी पदार्थों की ऐन्द्रियकता सम्भव होने से पूर्वोक्त दोष ज्यों का त्यों रह जाता है अर्थात् जिनके मत में '**सुरभि चन्दनम्**' इत्यादि विशिष्ट ज्ञान प्रमाणान्तर घ्राण आदि से उपनीत गन्धादि को भी विषय कहते हैं, उनके मत में यत्किञ्चित् प्रत्यक्षार्थ विशेषण होने से सभी पदार्थ ऐन्द्रियकबुद्धिबाध्य हो सकते हैं, अतः अप्रसिद्ध विशेषणता उक्त अनुमान में तदवस्थ ही है।

यदि पूर्वोक्त—

"**अग्निः अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रयः कारणत्वात् गुरुत्वाश्रयवत्**"

इस अनुमान में विशिष्टज्ञान एवं अनुव्यवसाय के अतिरिक्त अस्मदादि ऐन्द्रियकबुद्धि का अविषयत्व ही अतीन्द्रिय माना जाय, तो वहाँ फिर यह शंका हो सकती है कि इस अनुमान में 'आश्रय' पद से जो आधाराधेयभाव विवक्षित है, वह संयोगि रूप से विवक्षित है या समवायिरूप से ? यदि संयोगि रूप से, तो गुरुत्वाश्रय के दृष्टान्त में साध्यवैकल्य होता है। यदि 'आश्रय' पद का अर्थ समवायी मानें, तो समवाय को न माननेवाले मीमांसकभाट्ट के मत में उक्त विशेषण ही अप्रसिद्ध होने से वह अनुमान नहीं बन सकेगा और वह्नि में स्थितिस्थापक संस्कारसिद्धि होने से सिद्धसाधनता भी होती है। यदि कहा जाय कि सिद्धिसाधनता के अस्तित्व में कोई प्रमाण न होने से क्यों मानें ? तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसके अस्तित्व में

"**विमतः स्थितिस्थापकसंस्कारवान् रूपवत्त्वात्, कटवत्**"

यह अनुमान विद्यमान है। इस अनुमान को स्थितिस्थापककार्यवत्त्वरूप उपाधि से दूषित भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपाधि की साध्यव्यापकता होनी आवश्यक है, किन्तु उत्पन्न होते ही नष्ट हो गये कटादि में स्थितिस्थापकरूप कार्य का उपलम्भ न होने पर भी वहाँ तथाविध संस्कार का अभ्युपगम होने से साध्याव्याप्ति रहती है।

अपि च जो मीमांसक अपने सिद्धान्तानुसार सिद्धसाधनता कह रहा है, उसको सैकड़ों अनुमानों से भी स्वसिद्धान्त से किस तरह प्रच्युत किया जा सकता है और कैसे उसके साधनतासिद्ध इस अभिधान को प्रत्युद्धृत किया जा सकता है ? यदि इस प्रकार

स्वसिद्धान्त के अनुरोध से सिद्धसाधनता माननेवाले की अनुमानों द्वारा तदीय सिद्धान्त से प्रच्युति अशक्य होने और सिद्धसाधनता के अपरिहार्य होने से स्वाभिप्रायसिद्धयर्थं पूर्वोक्त अनुमानगत **"अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियाश्रय"** में **"स्थितिस्थापकेतर"** यह विशेषण जोड़कर दूषण का परिहार किया जाय, तो भी प्रभाकर के मत में—जो कि कर्म की अप्रत्यक्षता–मानते हैं–कर्म से अर्थान्तरतापत्ति होगी, क्योंकि उनके मत में अप्रत्यक्ष एवं निष्क्रिय कर्म में अतीन्द्रिय सामान्यवत्वादिरूप साध्य विद्यमान हो है। किन्तु यह ठीक नहीं है, फिर जो भी कादाचित्क होता है, वह स्वाश्रयातिशयपुरः देखा गया है, जैसे संयोग-विभागजन्य कार्य संयोग-विभागरूप स्वाश्रयातिशयपुरःसर होता है। इस व्याप्ति से कादाचित्क होने के कारण संयोग-विभाग में भी स्वाश्रयातिशयपुरःसरत्व का अनुमान किया जाता है। जो यह अतिशय है, वह कर्म है, ऐसा माननेवाले प्रभाकर के मत में कर्म से अर्थान्तरता होती ही है और वह्नि भी अतीन्द्रियसामान्यवन्निष्क्रियकर्माश्रय है ही। अनुमान का 'कारणत्वात्' यह हेतु शक्ति से अनेकान्त है। यदि कहा कहा जाय कि नहीं, शक्ति भी साध्यवान् होने से उससे अनेकान्तता नहीं है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि शक्ति में भी यदि शक्त्यन्तर मानें, तो अनवस्था की प्रसक्ति होगी।

यदि कहा जाय कि जन-शक्तियुक्त ही अर्थात् शक्तिमान् ही यहाँ कारणत्वेन विवक्षित है, अतः शक्ति में अनैकान्तिकता नहीं है, तो यह कथन भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि विशेषणीभूत शक्ति के विना सिद्ध हुए शक्ति-युक्ततारूप कारणत्व हो सिद्ध नहीं हो सकता। यदि प्रमाणान्तर से विशेषणीभूत शक्ति की सिद्धि करना हो, तो फिर इसके लिये इतने प्रपञ्च की क्या आवश्यकता थी? साथ ही गुण आदि में अनेकान्तता भी आती है। जैसे कि—द्रव्य, गुण और कर्म में ही सामान्य रहता है। वहाँ निष्क्रियत्वरूप विशेषण होने से यद्यपि द्रव्याश्रयत्व नहीं आता, क्योंकि सावयव होने के कारण आश्रित द्रव्य सक्रिय है, तथापि गुण और कर्म, इन दोनों को अन्यतराश्रयता तो होगी ही और वे दोनों भी द्रव्यलक्षण या द्रव्यत्व व्याप्त है, अतः गुणादि में भी द्रव्यत्व की प्रसक्ति होगी ही। ऐसा न हो, इसलिये वहाँ तद्रहितत्व कहना पड़ेगा। तथा च उसमें कारणत्व होने से वह अनैकान्तिक है अर्थात् गुणादि में यथोक्त शक्त्याश्रयत्व उपपन्न नहीं होता।

यदि उपर्युक्त अनुमान को त्यागकर शक्तिसिद्धयर्थं **"विवादाध्यासितः स्फोटः उभयवादिसम्प्रतिपन्नस्फोटकारणातिरिक्तकारणाजन्यः कार्यत्वात् घटवत्"** ऐसे अनुमानान्तर को स्वीकार करें, क्योंकि प्रतिवादी से विप्रतिपन्न होने के कारण उभयवादिसम्प्रतिपन्न कारण से अतिरिक्त कारण तो प्रतिबन्धकाभाव होता है, अतः उससे अर्थान्तरता होती है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतिवादि द्वारा असम्प्रतिपन्न प्रतिबन्धकाभावरूप कारण से सिद्धिसाधन होता है।

यदि कहा जाय कि वहाँ भावजन्यरूप विशेषण के न होने से अर्थान्तरता नहीं है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भावजन्यरूप विशेषण होने पर भी ईश्वर से सिद्धिसाधनता होगी, क्योंकि शक्तिवादी मीमांसक ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। इस तरह यद्यपि सहजशक्ति में न तो अर्थापत्ति और न अनुमान ही प्रमाण हो सकता है, तथापि आधेय शक्ति में '**व्रीहीन् प्रोक्षति, यूपं तक्षति, अग्नीनादधीत**' इत्यादि आगम प्रमाण होने से तद्बलात् सहजशक्ति की भी सिद्धि हो सकती है। '**व्रीहीन् प्रोक्षति**' इत्यादि वाक्यों में '**व्रीहीन्**' इस द्वितीया श्रुति से—'**ग्रामं गच्छति**' इत्यादि वाक्यों में जैसे '**ग्रामम्**' इस द्वितीयाश्रुति से ग्राम की कर्मता अवगत होती है, वैसे ही—व्रीहि आदि की कर्मता ज्ञात होने से यह निश्चित होता है कि उन व्रीह्यादिकों में प्रोक्षणादिजन्य कोई अतिशय है, क्योंकि वहाँ कोई अन्य दृष्ट फल दिखलायी नहीं पड़ता। शक्तिवादी उसी अतिशय को शक्ति मानते हैं। किन्तु संस्कारसंज्ञक चेतनगत अदृष्ट का अचेतन व्रीहि आदि में समवाय नहीं हो सकता, अर्थात् आत्मगुण अदृष्ट अनात्मभूत व्रीह्यादि में नहीं हो सकता। कदाचित् यह कहा जाय कि '**व्रीहीन्**' इस द्वितीयाश्रुति से एक तो व्रीहि की संस्कार्यता बोधित होती है, दूसरे 'व्रीहि प्रोक्षण से संस्कृत हुए' ऐसी प्रसिद्धि भी है, अतः व्रीहिगत संस्कार को चेतनगत मानना विरुद्ध है, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि घटविषय ज्ञान से उत्पन्न संस्कार जैसे घटविषयक होने से, न कि घटाधार होने से घटसंस्कार कहा जाता है, वैसे यहाँ भी व्रीहिप्रोक्षणादि से उद्भूत संस्कार की भी व्रीहिविषयक प्रोक्षणादि क्रिया से उत्पन्न होनेमात्र से तदीयत्व-प्रतीति की उपपत्ति हो सकती है, अतः द्वितीयाश्रुति या प्रसिद्धि व्रीह्यादिगत शक्ति की साधिका न होने से कहना होगा कि शक्ति की कल्पना में कोई भी प्रमाण नहीं है। अतएव लीलावतीकार ने भी कहा है कि विवादाध्यासित अग्न्यादि निजरूपमात्र से सम्बद्ध अतीन्द्रियसापेक्ष नहीं है, क्योंकि प्रमाण द्वारा वैसा उपलभ्यमान नहीं होता। प्रमाण से जो जैसा उपलब्ध नहीं होता, वह वैसा नहीं होता, जैसे नील पीतरूप में उपलब्ध न होने से पीत नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि शक्ति का साधक कोई प्रमाण नहीं है।

शक्ति-समर्थन

परन्तु यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि शक्ति के अस्तित्व में—

"परास्य शक्तिर्विविधा सर्गाद्या भावशक्तयः।
इतिश्रुतिस्मृतिमिताशक्तिः केन निवार्यते॥"

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च विद्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥"

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।"

"य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगात्।"

"शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः ।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥"
"सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अचिन्त्यशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य ॥"

इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियों से गीयमान शक्ति का अपह्नव किस तरह किया जा सकता है ? उक्त वचनों में कार्य-कारणादि सहकारियों के निरासपूर्वक शक्ति का प्रतिपादन है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये वचन स्वरूप सहकारि-मात्र के प्रतिपादक हैं। शक्ति की स्वरूपमात्रता भी नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ **'परा अस्य'** इत्यादि षष्ठ्यन्त पद से स्वरूपातिरिक्तता का प्रतिपादन किया गया है। **"अस्य शक्तिर्विविधाः"**, **"तास्तु शक्तयः"** इत्यादि वचनों से उस शक्ति की अनेकता भी श्रुत होने से उसे एकरूप ब्रह्म भी कहना ठीक नहीं है। उपक्रम, उपसंहार आदि लिङ्ग से ईश्वरस्वरूप की निश्चायिका होने से उक्त श्रुति-स्मृतियों को अर्थवाद भी नहीं कहा जा सकता। साथ ही नैयायिक आदिकों ने भी इन वचनों को ईश्वर-स्वरूपपरक माना है, अतः उन्हें अर्थवाद बतलाना उचित नहीं है। फिर भी यदि किन्हीं तार्किकम्मन्य को शक्ति के अस्तित्व में उक्त आगम वचनों से ही सन्तोष न होकर वे अर्थापत्ति और अनुमान की ही अपेक्षा रखते हों, तो उनको अग्रिम अर्थापत्ति और अनुमान से भी सन्तुष्ट किया जा सकता है।

पीछे स्फोटादि कार्य की अन्यथानुपपत्ति से प्रथम अर्थापत्ति को दिखलाया ही जा चुका है। यदि उस सम्बन्ध में यह कहा जाय कि वहाँ पर भी यह कहा गया था कि प्रतिबन्धक के अभाव में सहकृत ही अग्निस्वरूप से कार्य की उत्पत्ति होने से अन्यथा भी उपपत्ति होती है और प्रागभाव प्रध्वंसाभावादि विकल्प से अभाव की अकारणता भी नहीं कही जा सकती; क्योंकि अप्रतिबद्ध ही शक्ति में भी कारणता बन सकने से उसमें भी उक्त प्रसङ्ग समान ही है। परन्तु, उसपर यह कहना है कि क्या इस प्रकार का यह एक प्रतिकूल तर्कमात्र है कि यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण न हो तो शक्ति भी कारण न होगी अथवा शक्ति कारण है, अतः प्रतिबन्धकाभाव भी कारण है, इस तरह विपर्यय में पर्यवसान होने से अभाव का कारणत्व सिद्ध किया जा रहा है ?

पहली बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि केवल तर्क से उपालम्भ नहीं किया जा सकता, उसका विपर्यय में भी पर्यवसान होना चाहिये, अन्यथा वह तर्काभास हो जाता है और ऐसे तर्काभासद्वारा प्रतिपक्ष का निराकरण नहीं किया जा सकता।

दूसरी बात भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि जो शक्ति का अङ्गीकार नहीं करता, वह उक्त रीति से प्रतिबन्धकाभाव में कारणता दिखलाते हुए विपर्यय में पर्यवसान कैसे कर सकता है ?

तर्क दो प्रकार का होता है—एक **स्वपक्ष-साधकानुकूल** और दूसरा **प्रतिपक्ष-दूषक**। पहले में विपर्यय पर्यवसान की अपेक्षा हुआ करती है, अन्यथा साधना-नुकूलत्व सिद्ध नहीं होता। दूसरे में उसकी अपेक्षा नहीं होती, वहाँ परमतासिद्ध व्याप्ति से ही परपक्ष की अनिष्ट सिद्धि की जा सकती है। यहाँ भी यही स्थिति मान-कर यदि यह कहा जाय कि परासिद्ध शक्ति से परपक्ष का अनिष्टसाधन किया जा रहा है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो ऐसा मानता है कि प्रमित में अर्थात् अधिकरण में प्रमित प्रतियोगिक ही निषेध होता है, न कि अप्रमितप्रतियोगिक, वह—'यदि प्रतिबन्धकाभाव कारण न हो, तो शक्ति भी कारण न होगी, इस तरह शक्ति की कारणता का निषेध नहीं कर सकता—क्योंकि शक्ति और उसकी कारणता, दोनों अप्रमित हैं। यदि उन्हें प्रमित कहें, तो स्वरूप से उनका निषेध नहीं किया जा सकता।

तात्पर्य यह हुआ कि भले ही यहाँ तर्क का भी पर्यवसान विपर्यय में न हो, पर शक्तिकारणत्व का निषेध ही नहीं सिद्ध किया जा सकता। फिर भी जल्पकथा छोड़कर यदि सुहृद्भाव से कोई यह पूछे कि प्रतिबन्धभाव यदि कारण न हो, तो प्रतिबन्ध रहने पर भी शक्ति कार्य को क्यों न उत्पन्न करेगी ? तो इसका उत्तर यह है कि शक्तिवादी के मतानुसार प्रतिबन्धक वह कहा जाता है, जो पुष्कल कारण रहते हुए भी कार्योत्पत्ति का विरोधी हो। अतः वह यह नहीं कहा जा सकता कि सामग्रीवैकल्य से कार्य का उदय नहीं हुआ, अपितु यही कहना होगा कि विरोधी रहने से ही कार्योदय नहीं हुआ।

लोकप्रसिद्ध विरुद्ध होने से सामग्रीवैकल्य को ही प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता। कोई भी लौकिक पुरुष भूमि, वायु, जल एवं तेज के संसर्ग से विरहित कोठी में भरे हुए बीजों को या तुरी, वेमा, कुविन्द आदि से विरहित पेटी में रखे हुए तन्तुओं को प्रतिबद्ध नहीं समझता। सामग्रीराहित्यमात्र को यदि प्रतिबन्ध कहा जाय, तो समस्त कारणों को केवल प्रतिबन्धभाव में ही उपक्षीणता हो जाने से यह इस कारण है, यह प्रतिबन्धाभाव है इस तरह परीक्षकों के विभक्तरूप से दोनों का विशेषावधारण ही न होना चाहिये। अभाव को कारण न मानने पर कार्य के साथ अन्वय-व्यतिरेक विरोध होगा, यह कथन भी असङ्गत होगा, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक कार्य-प्रतिबन्धकाभाव के विषय होने से प्रतिबन्धकाभाव अन्यथा सिद्ध है।

यहाँ यदि यह कहा जाय तो फिर अनुपलब्धि भी अभाव के उपलम्भ की हेतु नहीं हो सकती, क्योंकि विरोधिनीभावोपलब्धि का अभाव होने से उनके अन्वय-व्यतिरेक को भी अन्यथा सिद्ध कहना सहज है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ कारणान्तर न होने से अगत्या अनन्यथासिद्ध अनुपलब्धि को कारण मानना पड़ा है, किन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है। यहाँ उसके बिना अभावोपलम्भ के कारण का निरूपण नहीं किया जा सकता।

इन्द्रिय को ही यदि अभावोपलम्भ का कारण कहें, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि उसके अभाव में सन्निकर्ष न होगा। वहाँ संयोग तथा समवाय का अभाव होने और सम्बन्धान्तरगर्भ ही विशेषण-विशेष्यभाव के प्रत्यक्षाङ्ग होने से वहाँ अभाव प्रत्यक्षगम्य नहीं, अपितु अनुपलब्धिगम्य ही है। अन्यथा 'पर्वतो वह्निमान्' यहाँ संयुक्त विशेषण होने के कारण अग्नि का भी प्रत्यक्षत्व होने लगेगा।

यदि यह कहा जाय कि असम्बद्ध ही अभाव इन्द्रियग्राह्य हो, तो क्या हानि है, क्योंकि उसकी प्रतीति इन्द्रियान्वय-व्यतिरेक की अनुविधायिनी होने से अपरोक्ष है और इसके अतिरिक्त दूसरी गति भी नहीं है, तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि अयोगि प्रत्यक्ष की प्रमिति में इन्द्रियों से सम्बद्ध अर्थग्राहकत्व-नियम का निराकरण नहीं किया जा सकता और अभाव की प्रतीति का अपरोक्षत्व सिद्ध न होने से इन्द्रियान्वय और व्यतिरेक अधिकरण के ग्रहणमात्र में उपक्षीण हो जाने से अन्यथा सिद्ध भी हो जाते हैं। इसपर यह कहा जा सकता है कि नहीं, अन्वयव्यतिरेक की अधिकरण के ग्रहणमात्र में उपक्षीणता कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अभाव को इन्द्रियग्राह्य न माना जायगा, तो अन्ध द्वारा त्वगादि से घटादिरूप अधिकरण के गृहीत होने पर उसको रूपाभाव की प्रतीति मान लेना पड़ेगा, क्योंकि अधिकरण तो उस अन्ध से गृहीत ही है।

यदि कहें कि चक्षुरिन्द्रिय के न होने से वहाँ अन्ध को रूपाभाव का प्रत्यक्ष न होगा, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रिय अभाव का ग्राहक है ही नहीं, अतएव यह कहा जाय कि अन्ध को प्रतियोगी ग्राहक इन्द्रिय न होने से ही रूपाभाव की प्रतीति न होगी। तथा च अभाव की ऐन्द्रियकत्वसिद्धि हो जाती है। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि फिर अभाव को प्रतियोगिग्राहक इन्द्रिय ग्राह्य माननेवाले के मत में भी अनन्ध को भी असन्निहित मेरु आदि में घट एवं उसके रूपादि के अभाव की चाक्षुषता क्यों न होगी? यदि कहा जाय कि वहाँ प्रतियोगी के चाक्षुष होने पर भी अधिकरण के चाक्षुष न होने से रूपाभाव का चाक्षुषत्व नहीं होता, तो इधर से भी कहा जा सकता है कि इसीलिये त्वगिन्द्रिय से गृहीत घटादि में अन्ध को रूपाभाव की प्रतीति नहीं होती, क्योंकि प्रतियोगिग्राहक इन्द्रिय द्वारा घटादि रूप अधिकरण का वहाँ ग्रहण नहीं होता।

यदि कहा जाय कि तब तो घ्राणेन्द्रिय के अगोचर कुसुमादि या चक्षुरिन्द्रियग्राह्य वायु में गन्ध या रूप के अभाव का प्रत्यक्ष न होगा, तो इसपर यही कहना होगा कि भले न हो, वहाँ वायु आदि में रूपादि का अभाव चाक्षुष न होने पर भी उनमें रूपाभाव ज्ञानरूप व्यवहार में कोई बाधा नहीं पड़ती।

षष्ठ प्रमाणवादियों के यहाँ सर्वत्र यह नियम नहीं है कि अभाव अनुपलब्धिगम्य ही है, क्योंकि व्यापकाभाव से व्याप्य के अभाव को और कारणाभाव से कार्याभाव

को अनुमेय मान लिया गया है अर्थात् यदि वक्ष्यमाण तत्तत् भट्टपादादि वृद्धों की सम्मति से अभाव का प्रमाणान्तरगम्यता भी है, तो योग्यानुपलब्धिगम्यस्थल में ही प्रतियोगिग्राहक द्वारा अधिकरण के ग्रहण का नियम है, क्योंकि अभाव की उपलब्धि का व्यापकीभूत जो अनुपलब्धि आदि कारण है, उसके अतिरिक्त इन्द्रियादिरूप कारण की पुष्कलता ही योग्यता है और इन्द्रिय उसका अन्तःपाती होने के कारण उसके अभाव में भी योग्यता न बनेगी।

जहाँ प्रमाणान्तरगम्यता होती है, वहाँ उसके बिना भी अभाव का ग्रहण हो सकता है, जैसे व्यापकाभाव से व्याप्याभाव का अनुमान। इस विषय में भट्टपाद लिखते हैं कि अग्नि और धूमरूप भाव के नियम्यत्व-नियन्तृत्व जैसे माने जाते हैं, वे ही नियम्यत्व और नियन्तृत्व अग्नि-धूम सम्बन्धी अभाव के विपरीत प्रतीत होता है। भावावस्था में धूम नियन्ता और अग्नि नियम्य होता है और अभाव में इसके विपरीत स्थिति होती है अर्थात् तब धूमाभाव नियम्य और अग्नि का अभाव नियन्ता होता है—

"नियम्यत्वनियन्तृत्वे भावयोर्यादृशी मते।
विपरीते प्रतीयेते त एव तदभावयोः॥"

कारणाभाव से कार्याभाव के अनुमान विषय में श्रीमण्डन मिश्र ने, ब्रह्मसिद्धि में बतलाया है कि हेतु के अभाव से फलाभाव का नियम होने से दोषाभाव से विपर्ययाभाव का अनुमान किया जा सकता है—

"विपर्ययाभावस्तु युक्तोऽनुमातुं हेत्वभावे फलाभाव इति।"

अतएव स्थलविशेष में अनन्यथा सिद्धि अन्वय-व्यतिरेकबल से अनुपलब्धि को अभाव प्रतीति में कारणता निश्चित होती है। प्रकृत में स्वपुष्कल कारण से कार्योत्पत्ति हो सकती है, तब प्रतिबन्धकाभाव को कारण मानना आवश्यक नहीं है और इस मत में अन्योन्याश्रयता का वारण करना भी कठिन होगा। यद्यपि मण्यादि की कार्यप्रतिकूलता का निश्चय अन्वय-व्यतिरेक से हो सकता है, तथापि विसामग्रीरूपता लक्षणप्रतिबन्धत्व तदीय अभाव की सामग्री के अन्तर्भाव विज्ञान के सापेक्ष है, क्योंकि, विसामग्री प्रतिबन्ध है, यह मान्य है।

अतः प्रतिबन्धत्व और सामग्रीत्व का ज्ञान परस्पर सापेक्ष होने से अन्योन्याश्रयता दुर्निवार होगी, अर्थात् वैसामग्र्य ही प्रतिबन्ध है और प्रतिबन्धाभाव रूप, कारण, वैकल्य ही वैसामग्र्य है। ऐसी स्थिति में मणि आदि के वैसामग्र्यरूप प्रतिबन्धत्व का ज्ञान मन्त्रादि सम्बन्धी अभाव सामग्री के अन्तर्भाव ज्ञान सापेक्ष है और मन्त्रादि के अभाव का सामग्र्यन्तर्भाव ज्ञान, मणि आदि के प्रतिबन्धत्व ज्ञान के अधीन है, क्योंकि प्रतिबन्धाभाव रूप, कारण वैकल्य से वैसामग्र्य का उपपादन होगा, अतएव अन्योन्याश्रयता सुतरां सिद्ध है।

यदि कहा जाय कि मण्यादि के विसामग्रीत्व का ज्ञान भले ही मण्याद्यभाव सम्बन्धी सामग्री के अन्तर्भाव ज्ञान के सापेक्ष रहे, पर वह्निस्वरूप की तरह अन्वय-व्यतिरेक से ही मण्यादि के अभाव की सामग्र्यन्तर्भाव सम्बन्धी अवगति हो सकती है, अतः अन्योन्याश्रयता न होगी, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ यह शङ्का होगी कि क्या प्रत्येक मण्याद्यभाव अन्वय-व्यतिरेक द्वारा कारणरूप से निश्चित किये जाते हैं या प्रतिबन्धाभावरूप उपाधि से क्रोड़ीकृत होकर ? पहली बात हो नहीं सकती, क्योंकि मण्याद्यभाव अनन्त है, उनके उपसङ्ग्राहक के बिना प्रत्येक के अन्वय-व्यतिरेक का निश्चय सौ वर्षों में भी नहीं किया जा सकता। दूसरा पक्ष मानें, तो विसामग्री-रूप प्रतिबन्धज्ञान के अधीन प्रतिबन्धाभावत्वरूप उपाधि का ज्ञान हुए बिना मण्याद्य-भाव सम्बन्धी सामग्र्यन्तर्भाव का ज्ञान होना कठिन है, अतः अन्योन्याश्रयता का निराकरण फिर भी बना ही रहेगा, इसलिये द्वितीय पक्ष भी अस्वीकार्य है।

शक्ति पक्ष में प्रतिबन्ध को जो असम्भवता पीछे कही गयी, वह भी ठीक नहीं है, अन्यथा शक्ति को न माननेवालों को भी कारणों के कार्यौदासीन्य को ही प्रतिबन्ध मान लेना पड़ेगा, क्योंकि वैसामग्च्यरूप प्रतिबन्ध का तो उपर्युक्त अन्योन्याश्रय दोषरूप रीति से खण्डन किया ही जा चुका है। अतः प्रतिबन्धाभाव के कारण न बनने से कार्योत्पत्ति की, बिना शक्ति को स्वीकृत किये, अन्यथा उपपत्ति हो ही नहीं सकती।

शक्ति का स्वीकार किये बिना उपादानोपादेयभाव-नियम की उपपत्ति नहीं हो सकती, अतः उसे भी शक्ति में प्रमाण मानना ही चाहिये। वहाँ स्वभावभेद से ही उपपत्ति करके जो पहले अन्यथा उपपत्ति कही गयी थी, उसका अभिप्राय क्या है ? क्या शक्तिवादी को भी अन्ततोगत्वा जब स्वभाव की शरण लेनी ही पड़ती है, तब अच्छा है कि पहले से ही स्वभाव मान लिया जाय, यह, अथवा स्वभावातिरिक्त शक्ति में प्रमाण का न होना। यदि प्रथम पक्ष तो वैसा मानने से सर्वत्र स्वभाववाद का पाद-प्रसार होने से सामान्य, समवाय एवं विशेष आदि का भी पराकरण प्रसक्त हो जायगा। अनवस्था भय सत्ता से जैसे सत्तान्तर माने बिना ही स्वभाव-विशेषवश सद्व्यवहार हेतुत्व मान लिया जाता है, वैसे ही अन्यत्र द्रव्यादि में भी स्वभाव-विशेष से सद्व्यवहार उत्पन्न हो जाने से सत्तासामान्य का अपलाप हो जायगा। इसी तरह—

"समवायवान् अयं घटः।"

यहाँ अनवस्था भय से जैसे समवायान्तर माने बिना ही समवाय की घट के प्रति विशेषणता मान ली जाती है, वैसे ही **"शुक्लः पटः, चलति चैलाञ्चलम्"** यहाँ भी गुण-कर्म में स्वभाव-भेद से ही विशेषण-विशेष्य भाव होकर समवाय का अपलाप हो जायगा। इसी प्रकार जैसे अन्त्यविशेषों में स्वभाववशात् परस्पर व्यावृत्ति मानी

जाती है, क्योंकि विशेषों में विशेषान्तर मानने से उनकी भी, अनुगतरूपवत्ता से रूपादि की तरह, एक तो अन्त्यविशेषत्व की हानि होगी और दूसरे, अनवस्थाप्रसक्त होगी। अगत्या किन्हीं विशेषों को निर्विशेष मानने पर उन्हीं को अन्त्यविशेष मानना पड़ता है, वैसे ही नित्य द्रव्यों को भी स्वभाववशात् व्यावृत्तिबुद्धिजनकत्व होने से अन्त्यविशेष का अपलाप हो जायगा।

इसी तरह कालादि का भी अपलाप-प्रसक्त होगा। अतः स्वभावाश्रयण से काम नहीं चल सकता। यदि स्वभावातिरिक्त शक्ति में कहीं भी प्रमाण नहीं है, यह कहा जाय, तो यह भी ठीक नहीं है। यदि कहा जाय कि जहाँ प्रमाण है, वहाँ-वहाँ वस्त्वन्तराधीन ही प्रमाण-व्यवहार हुआ करता है और जहाँ वह नहीं है, वहाँ उसके स्वभाव-भेद से ही व्यवहार होता है, ऐसी व्यवस्था है, तो यहाँ भी प्रमाण होने से ही स्वरूप से अतिरिक्त शक्ति का अङ्गीकार कर लेना चाहिये, ऐसी स्थिति में स्वभाव-वाद का अवलम्बन अनावश्यक है।

इस तरह अर्थापत्ति के अतिरिक्त—

"वह्निः अद्विष्ठातीन्द्रीयस्थितिस्थापकेतरभावाश्रयः गुणवत्वात् घटवत्"

यह अनुमान भी शक्ति के अस्तित्व में प्रमाण है। ईश्वर माननेवालों के मत में अतीन्द्रियता सिद्ध नहीं है, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि अतीन्द्रिय शब्द का अर्थ है प्रमाणान्तर से उपनीत विशेषण के अतिरिक्त और अनुव्यवसाय के अतिरिक्त अस्मदादि प्रत्यक्ष का अविषय होना। वह अतीन्द्रियत्व गुरुत्वादि और भावनादि में प्रसिद्ध होने से प्रशस्तपाद ने कहा है कि गुरुत्व, धर्माधर्म और भावना अतीन्द्रिय है—

गुरुत्वधर्माधर्मभावना अतीन्द्रियाः।

यहाँ भावना पद स्थितिस्थापक का भी उपलक्षण है। प्रश्न हो सकता है कि यहाँ आश्रय शब्द से आधार मात्र विवक्षित है या उसका समवायित्व? वह्नि कदाचित् परमाणु या वायु का आधार होकर सिद्धसाधनता होने से प्रथम पक्ष नहीं माना जा सकता। दूसरी बात भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि समवाय न माननेवाले भाट्ट के मत में विशेषण अप्रसिद्ध हो जायगा। परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समवाय न मानते हुए भी स्वीय रूपादि के समान अयुत सिद्ध होने के कारण अग्नि की विशिष्ट धर्माधारता ही आश्रय शब्द का अर्थ है। अतीन्द्रिय कर्माश्रय होने से मीमांसक की अर्थान्तरता कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रभाकर की तरह शक्ति मानने-वाले भाट्ट और वेदान्ती भी कर्म की अतीन्द्रियता नहीं मानते। विपक्ष में वह्निस्वरूप ही कारण होने से प्रतिबन्ध के भाव को कारणता का पहले ही निराकरण किया जा चुका है, अतः मन्त्रादि के रहने पर समान रूप से कार्य-जननप्रसङ्ग बाधक है। यह भी कहना ठीक नहीं कि एवंविध धर्माश्रय होने से गुण-कर्मादि भी द्रव्य कहे जायेंगे,

क्योंकि वे गुण के अधिकरण नहीं हैं। यदि कहा जाय कि एतादृश धर्माश्रय होने से गुणाधिकरण भी हो जाय, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इसका विपर्यय में पर्यवसान नहीं होता।

यदि कहा जाय कि जो गुण का अधिकरण नहीं है, वह एवंविध धर्म का अधिकरण नहीं होता, ऐसा प्रतिवादिसम्मत उदाहरण होने से उक्त प्रसङ्ग का विपर्यय में पर्यवसान हो जायगा, क्योंकि शक्ति के अतिरिक्त सभी पक्ष कोटि में निक्षिप्त हैं। इस तरह प्रथम अनुमान का समर्थन किया गया।

अब यदि दूसरे अनुमान के सम्बन्ध में कहा जाय कि वेदान्ती ईश्वर को मानते हैं, इसलिये उभय वादिसम्मत होने के कारण तदतिरिक्त न होने से ईश्वर अर्थान्तर न हो, पर ईश्वर न माननेवाले मीमांसकों को तो ईश्वर से अर्थान्तरता होती है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जन्यभाव से जन्य ऐसा दूसरा विशेषण देकर भाट्ट के मत में अर्थान्तर का परिहार किया जा सकता है। यदि कहा जाय कि ऐसी स्थिति में नित्य पदार्थों में शक्ति का समर्थन न किया जा सकेगा, तो यह भी उचित नहीं, क्योंकि अनित्य पदार्थों में शक्ति सिद्ध हो जाने पर उसी दृष्टान्त से नित्य पदार्थों में भी शक्ति की सिद्धि हो सकती है। शक्ति एक ही नहीं, अपितु प्रत्येक पदार्थ में भिन्न-भिन्न है। जैसे कि अवयवावयवि में अनित्य होने पर भी जल, तेज आदि के परमाणुओं में रूप जैसे नित्य है, वैसे ही नित्य-अनित्य रूप से शक्ति भी दो प्रकार की मानने में कोई आपत्ति नहीं है। आधेय शक्ति को भी अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यादि द्वितीया श्रुतियों से व्रीहि आदि में अतीन्द्रिय शक्ति का अस्तित्व सिद्ध होता है।

चेतन धर्म अदृष्ट का अचेतन व्रीहि आदि में रहना सम्भव न होने से व्रीह्यादि-विषयकक्रियाजन्यमात्र होने से ही तदीयत्व की प्रतिपत्ति हो सकती है, अतः वहाँ द्वितीया श्रुति गौण है, ऐसा जो कहा गया था, वह भी ठीक नहीं, क्योंकि धर्माधर्म-रूप अदृष्ट से अतिरिक्त ही कोई एक अतिशय मान्य है, जो तण्डुल, पिष्ट, पुरोडाशादि परम्परा से प्रधानापूर्व उत्पन्न करता है। इसे न मानें, अर्थात् व्रीह्यादि स्वरूप से ही यदि उस प्रधानापूर्व को उत्पन्न कर सकते, तो प्रोक्षणादि विधान व्यर्थ हो जायगा। दृष्ट फल न दिखलायी पड़ने पर अदृष्ट फल को कल्पना करनी पड़ती है और मुख्य अर्थ सम्भव होने पर लक्षणा करने का अवकाश नहीं रहता।

इस प्रकार लीलावतीकार के दिये हुए दूषण का भी निराकरण किया गया। शक्ति के अस्तित्व में उपर्युक्त रीति से आगम, अर्थापत्ति और अनुमानरूप प्रमाणों का संक्षिप्त दिग्दर्शन करने से यह नहीं कहा जा सकता कि किसी प्रमाण से शक्तिसिद्ध नहीं होती।

मायारूपिणी भगवती

माया रूप में भी उसी भगवती के ही एक स्वरूप का वर्णन होता है।

"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।"

अर्थात् माया को ही विश्व की प्रकृति समझना चाहिये और मायाविशिष्टब्रह्म को ही परमेश्वर समझना चाहिये। उसीको अन्यत्र 'अजा' शब्द से निरूपण किया गया है—

"अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥"

अर्थात् जैसे कोई लोहित-शुक्लकृष्ण रङ्ग की कबरी बकरी अपने समान ही बहुत बच्चों को उत्पन्न करती है, वैसे ही सत्व, रज, तम तीनों गुणोंवाली प्रकृति भी अपने समान ही त्रिगुण महदादि प्रपञ्च का निर्माण करती है। आवरणात्मक होने से उसका तमोगुण ही कृष्णरूप है, प्रकाशात्मक होने से सत्वगुण ही शुक्ल रङ्ग है, रञ्जनात्मक होने से रजोगुण ही लोहित रङ्ग है। जैसे कबरे बच्चोंवाली कबरी बकरी का उपभोग करते हुए कोई बकरे उसका अनुगमन करते हैं, कोई उससे भोग प्राप्त कर विरक्त होकर उसे त्याग देते हैं, वैसे ही कोई जीव महदादि प्रपञ्चवती त्रिगुणा प्रकृति का उपभोग करते हुए उसका अनुगमन करते हैं, कोई उससे भोगापवर्ग प्राप्त करके उसको त्याग देते हैं। यह अजा भी माया ही है। ईश्वर को कोई भी कार्य्य करने के लिये प्रकृति की अपेक्षा होती है।

"प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया।"

अर्थात् ईश्वर अपनी प्रकृति का ही सहारा लेकर अवतीर्ण होते हैं। ईश्वर की अध्यक्षता में प्रकृति ही चराचर प्रपञ्च का निर्माण करती है—

"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।"

भगवान् स्वयं कहते हैं कि प्रकृति मेरी योनि है, उसी में मैं गर्भाधान करके विश्व का निर्माण करता हूँ—

"मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥"

सम्पूर्ण प्राणियों में जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी प्रकृति ही जननी है और मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ—

"सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥"

गुणमयी प्रकृति का अतिक्रमण बहुत ही कठिन है। अधिष्ठान ब्रह्म के साक्षात्कार से ही उसका अतिक्रमण हो सकता है, अन्यथा नहीं—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।"

भूतप्रकृति को बाधित करके ही परप्राप्ति होती है—

"भूतप्रकृति मोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।"

कहीं-कहीं अविद्या को "क्षर' और विद्या को 'अमृत' कहा है—

"क्षरन्त्वविद्याऽमृतं तु विद्या विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।"

पुराणों में जो सृष्टि में परमा है, वही प्रकृति है ऐसा प्रकृति का अर्थ किया गया है—

"प्रकृष्टवाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टिवाचकः ।
सृष्टौ या परमा देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्त्तिता ॥"
"चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते ।
सत्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवादधिरे भागधेयम् ।"

इस मन्त्र में उसी भगवती के अविद्यारूप का वर्णन है। माया स्थूल, सूक्ष्म, कारण और समाधि इन चार रूपों में प्रकट होती है, युवति रहती है, सुपेशा, सुन्दर रूपवाली, घृत के समान प्रतीत होती है, ज्ञानों को ढँकनेवाली है, जीव, ईश्वर दोनों ही उससे सम्बन्ध रखते हैं।

"तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥"

इस वचन से भी एक तत्वावरक तम के अस्तित्व का पता लगता है।

"सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी ।
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता ॥
अतएव च योगीन्द्रैः स्त्रीपुम्भेदो न मन्यते ॥"

"सर्वं ब्रह्ममयं जगत्"

"अहमेवासपूर्वन्तु नान्यत्किञ्चिन्नगाधिप ।
तदात्मरूपं चित्संवित्परब्रह्मैकनामकम् ॥"
"आसीदिदं तमोभूतमज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥"

आदि वचनों से भी उसी तत्व की सिद्धि होती है।

माया और अविद्या

माया को ही कहीं-कहीं अविद्या और अज्ञान शब्द से भी कहा गया है। यहाँ अज्ञान ज्ञान का अभावरूप नहीं, किन्तु ज्ञाननिवर्त्य, भावरूप, अनिर्वचनीय पदार्थ ही है। तभी उसमें आवरण हेतुता बन सकती है। "**अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्**" इस वचन में अज्ञान को ब्रह्मस्वरूप ज्ञान का आवरक कहा गया है। यह तभी

बन सकता है जब अज्ञान भी भावरूप हो, क्योंकि असत्व किसी का आवरक नहीं हो सकता।

जैसे अज्ञान को आवरक कहा गया है, वैसे ही माया को भी आवरक कहा गया है—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।"

मैं अर्थात् अस्मत्पदलक्ष्य परब्रह्म योगमाया से आवृत है, इसीलिये स्वप्रकाश होने पर भी उसे लोग नहीं जानते। **'अहमज्ञः'**, **'मामहं न जानामि'** इस रूप से अज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। **"त्वामहं न जानामि"** इस रूप से भी अज्ञान का अनुभव होता है। यदि अज्ञान, ज्ञानाभाव ही हो, तब तो उसका ऐसा अनुभव ही न बन सकेगा, क्योंकि अभाव के ग्रहण में अनुयोगी-प्रतियोगी दोनों के ग्रहण की अपेक्षा होती है। जैसे घट और भूतल के ज्ञान के बिना भूतलनिष्ठ घटाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही आत्मा और ज्ञानरूप अनुयोगी-प्रतियोगी के ज्ञान के बिना ज्ञानाभाव का बोध भी न हो सकेगा।

यदि अनुयोगी-प्रतियोगी का ज्ञान स्वीकार न किया जाय, तो भी ज्ञानाभाव का ज्ञान नहीं हो सकता और यदि स्वीकार कर लिया जाय, तो भी ज्ञानाभाव का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे भूतल में एक भी घट होने पर घटाभाव नहीं कहा जा सकता, वैसे ही एक भी ज्ञान रहे, तो ज्ञानाभाव का अनुभव नहीं कहा जा सकता। परन्तु जब भावरूप अज्ञान मानते हैं, तब तो साक्षी से उसका बोध हो जाता है। फिर अनुयोगी-प्रतियोगी के ग्रहणाग्रहण का कोई भी विकल्प नहीं उठता, क्योंकि भावरूप अज्ञान साक्षी के द्वारा प्रकाशित हो सकता है। यद्यपि भावरूप अज्ञान के प्रत्यक्ष में भी विशेषण या निरूपकरूप से घटादि विषय का भान होना आवश्यक होता है, फिर उसके भी ज्ञान रहने पर उसका अज्ञान नहीं कहा जा सकता और उसके ज्ञान न रहने से विशेषण ज्ञान के बिना विशिष्ट अज्ञान का अनुभव भी नहीं हो सकेगा, तथापि साक्षी के द्वारा ही अज्ञान और उसके विशेषण घटादि का भी भान होने से किसी भी दोष की प्रसक्ति नहीं होती। ज्ञानरूप से सर्ववस्तु साक्षिभास्य होती है, यह निगमान्तविदों का राद्धान्त है—

"ज्ञानतया अज्ञानतया वा सर्वं वस्तु साक्षिभास्यम्।"

'घटोज्ञातः' यहाँ जैसे ज्ञान का विषय होकर साक्षी द्वारा घट भासित होता है वैसे ही **"घटो न ज्ञायते"** यहाँ भी अज्ञान के विषयरूप से घट साक्षीरूप से भासित होता है। योगनिद्रा, जड़शक्ति, अचित्, अज्ञान, अविद्या, माया, प्रकृति इत्यादि सभी शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं। **"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते"** (परमात्मा की पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है) इत्यादि स्थलों की शक्ति भी तद्रूप ही है।

'शक्ति की अन्तरङ्गता-बहिरङ्गता'—कुछ लोग इस शक्ति को अन्तरङ्गा और माया, प्रकृति आदि को बहिरङ्गा शक्ति कहते हैं। भगवल्लोक, भगवद्विग्रहादि में अन्तरङ्गा दिव्य शक्ति का उपयोग मानते हैं। जगन्निर्माण में माया, अविद्यादि बहिरङ्ग शक्ति का उपयोग मानते हैं। कुछ लोग अचित् को प्राकृत-अप्राकृत भेद से दो प्रकार का मानते हैं। प्राकृत अचित् से जगत् की और अप्राकृत अचित् से भगवल्लोकादि की रचना मानते हैं। कुछ लोग जगन्निर्माण अथवा लीलामय के लीलोपयोगी पदार्थों की सृष्टि के लिये भगवत्स्वरूपभूत ही अघटितघटना-पटीयान् भगवदीयस्वात्मवैभव स्वीकार करते हैं। वही परमात्मा अविकृत-परिणाम द्वारा सर्वरूप में व्यक्त होता है। जैसे कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु आदि से तत्तत् अभीष्ट पदार्थ की सृष्टि होने पर भी वे निर्विकार रहते हैं, वैसे ही परमात्मा से भी विविध विश्व बनने पर भी परमेश्वर निर्विकार ही रहता है। विचार करने से मालूम होगा कि यह स्वात्मवैभव यदि भगवत्स्वरूप ही है, तब तो फिर पृथक् नाम-रूप कल्पना की अपेक्षा नहीं हो सकती तब कृत्स्नप्रसक्ति, निरवयवत्व-व्याकोपादिशंकाओं का समाधान भी न हो सकेगा। सम्पूर्ण ब्रह्म यदि प्रपञ्च बन जायगा, तब तो मुक्तोपास्य ब्रह्म अवशिष्ट न रहेगा। यदि एकदेशेन ब्रह्म विश्व बनेगा, तब तो सावयवत्व, विकारित्व आदि दोष अनिवार्य ही होंगे। कल्पवृक्षादिकों की विलक्षण शक्ति की महिमा से ही तादृक् विलक्षण कार्य्यकारिता सिद्ध होती है।

माया की अनिर्वचनीयता

इस तरह स्वात्मवैभव अथवा अचित् किंवा अन्तरङ्गा शक्ति यदि अधिष्ठान से पृथक् होकर सत् है, तब तो श्रुति सिद्धान्त बाधित होगा। यदि अत्यन्त असत् है, तो कार्य्यकारिता न बन सकेगी। विरुद्ध होने से सदसद्रूपता भी नहीं कही जा सकती। फिर तो पारिशेष्यात् अनिर्वचनीय मानना होगा। इस तरह अवान्तर चाहे कितने भी भेद मान लिये जायँ, परन्तु अनिर्वचनीयत्वेन रूपेण उन सबकी एकता ही है।

"देवदत्तनिष्ठप्रमा तन्निष्ठप्रमाप्रागभावातिरिक्तानादिप्रध्वंसिनी प्रमात्वात्, यज्ञदत्तनिष्ठप्रमावत्।"

अर्थात् देवदत्तनिष्ठ प्रमा अपने प्रमा के प्रागभाव से अतिरिक्त किसी अनादि की प्रध्वंसिनी है, प्रागभाव से अतिरिक्त अनादि भावरूप अज्ञान ही हो सकता है, इस अनुमान से भी अनादि अज्ञान सिद्ध होता है। इसीको **"तम आसीत्"** इत्यादि श्रुतियों में तमोरूप भी माना गया है। इस तम को कण्ठतः अनिर्वचनीय कहा गया है—

"नासदासीन्नो सदासीत्तम एवासीत्" (न सत् था, न असत् था, किन्तु तम ही था) यह सदसद्विलक्षणता ही अनिर्वचनीयता है। **"अनृतेन हि प्रत्यूढाम्"** इत्यादि वचनों से तो इस आवरक तम को प्रत्यक्ष ही अनृत कहा है।

"ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।"

"मायामेतां तरन्ति ते ।"

इत्यादि वचनों से माया, अज्ञान आदिकों की निवर्त्त्यता कहने से ही अनिर्वचनीयता का बोधन होता है। सत् की शक्तिरूप होने से भी इसकी अनिर्वचनीयता बोधित होती है, क्योंकि जैसे वह्नि की शक्ति वह्निरूप नहीं होती, किन्तु वह्नि से विलक्षण होती है, वैसे ही सत् की शक्ति सद्रूप न होकर सत् से विलक्षण ही होती है। वह सद्विलक्षणता भी अनिर्वचनीयता है। इस प्रकार माया की अनिर्वचनीयता ही सिद्ध होती है।

तान्त्रिक दृष्टि में शक्ति

तन्त्रों के अनुसार प्रकाश ही शिव और विमर्श ही शक्ति है। संहार में शिव का प्राधान्य रहता है, सृष्टि में शक्ति का प्राधान्य रहता है। प्रभा में इदमंशग्राह्य होता है, अहमंश ग्राहक होता है। माना यह जाता है कि भीतर वर्तमान पदार्थों का ही बाह्यरूप में अवभास होता है—

"वर्त्तमानावभासानां भावानामवभासनम् ।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना ॥"

प्रकृति में ही सूक्ष्मरूप से सब वस्तु स्थित हैं। परम शिव और शक्ति दोनों ही श्लिष्ट होकर रहते हैं। निस्पन्द परम शिवतत्व और निषेधात्मक तत्व ही शक्तितत्व है।

"आसीज्ज्ञानमयो ह्यर्थः एकमेवाविकल्पितः ।"

अर्थात् ज्ञान और अर्थ दोनों ही अविकल्पित होकर एक में रहते हैं, तब साम्यावस्था समझी जाती है।

प्रकृति की सत्ता

ज्ञानस्वरूप पुरुष की सत्ता पारमार्थिक है, अर्थरूप प्रकृति की सत्ता अवास्तविक है। उसकी अविद्यमानता का वर्णन बहुत स्थानों में मिलता है।

"अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्त्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥"

अर्थ के न रहने पर भी संसृति की निवृत्ति नहीं होती, जैसे स्वप्न में अर्थ न रहने पर भी वह भासमान होता है, वही स्थिति अर्थ की है। विशेषतः माया का यही लक्षण 'श्रीमद्भागवत' में किया गया है कि जिसके कारण कोई वस्तु न होने पर भी प्रतीत हो, वस्तु होती हुई भी न प्रतीत हो, वही माया है, जैसे स्वाप्निक प्रपञ्च, शुक्तिरूप्य, रज्जुसर्पादि पदार्थ न होने पर भी भासमान होते हैं, तम-राहु आकाश में विद्यमान रहने पर भी नहीं भासित होते—

"ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः ॥"

भगवती और माया का वैलक्षण्य

शक्ति शब्द से जैसे अचित् प्रकृति के अतिरिक्त पराप्रकृति, जीव आदि का भी ग्रहण होता है, वैसे ही भगवती शब्द से शुद्ध निर्गुण चिच्छक्ति का भी बोध होता है। इसीलिये उपासकों की उपास्यशक्ति या भगवती को केवल प्रकृति या माया न समझना चाहिये, किन्तु सच्चिदानन्दात्मिका भगवती ही उपास्य होती है।

रात्रिरूपिणी

रात्रिसूक्त रात्रिदेवता का प्रतिपादन करता है। रात्रिदेवता दो हैं, एक जीवन-सम्बन्धिनी, दूसरी ईश्वरसम्बन्धिनी। प्रथम का अनुभव सभी लोग करते हैं, जिसके सम्बन्ध से प्रतिदिन समस्त व्यवहार लुप्त हुआ करता है। ईश्वररात्रि वह है, जिसमें ईश्वर का व्यवहार भी लुप्त होता है, उसी को महाप्रलय कालस्वरूप कहा जाता है। उस समय दूसरी कोई भी वस्तु नहीं रहती, केवल मायाशबलित ब्रह्म ही रहता है, उसे ही अव्यक्त भी कहा जाता है।

"ब्रह्ममायात्मिका रात्रिः परमेशलयात्मिका ।
तदधिष्ठातृदेवी तु भुवनेशी प्रकीर्त्तिता ॥" (देवी पुराण)

ब्रह्ममायात्मिका रात्रि की अधिष्ठात्री देवता ही भगवती भुवनेश्वरी है। **"रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः विश्वा"** इत्यादि का सारांश यह है कि "सर्वकारणभूता चिच्छक्ति भगवती पूर्वकल्पीय अनन्त जीवों के अपरिपक्व अतएव फलानभिमुख सत्-असत् कर्मों को देखकर फल प्रदान का समय न होने से ऐश्वरप्रपञ्च को अपने में ही प्रलीन कर लेती है। पश्चात् वही रात्रिरूपा चिच्छक्ति फलप्रदान का समय आने पर महदादि द्वारा प्रपञ्च का निर्माण करके असाङ्कर्येण तत्तत्प्राणियों के कर्मों को देखती है। फिर उन कर्मों का फल प्रदान करती है। इससे रात्रिरूपा भगवती की सर्वज्ञता स्पष्ट है। वह अमर्त्या देवी अन्तरिक्षोपलक्षित समस्त विश्व को अपने स्वरूप से पूरित कर देती है। नीची वस्तु लता-गुल्मादि और उच्छ्रित वृक्षादि को भी अधिष्ठान चैतन्य से पूरित कर देती है और वही परा चिद्रूपा देवी स्वाकार-वृत्तिप्रतिबिम्बितस्वरूप चैतन्य ज्योति से तम उपलक्षित सम्पूर्ण प्रपञ्च को बाधित कर देती है। आती हुई देवनशील रात्रि चिच्छक्ति प्रकाशस्वरूपा उषा (प्रातःकाल) को अर्थात् अविद्या की आवरण शक्ति को तिरस्कृत करती है।

यद्यपि रात्रि द्वारा प्रकाशस्वरूपा उषा का निराकरण असम्भव मालूम पड़ता है, तथापि यहाँ चिद्रूपा रात्रि ही परम प्रकाशरूपा है, तदपेक्षया सन्ध्या या उषा

अन्धकाररूप ही है। जैसे सूर्य्य के प्रकट होने पर सन्ध्या मिट जाती है, वैसे ही विच्छक्ति के स्वीकार वृत्ति पर प्रतिबिम्बित होने पर अविद्या की आवरण शक्ति मिट जाती है। आवरण शक्ति के दग्ध बीज हो जाने पर प्रारब्ध क्षय के अनन्तर मूलाज्ञान-रूप तम सर्वथा नष्ट हो जाता है। दोनों शक्तियों के नष्ट हो जाने पर मूलाज्ञान का भी अवशेष नहीं रहता। वह रात्रिदेवता परा चिच्छक्ति हम सबपर प्रसन्न रहे, जिसकी प्राप्ति में हम सब सुखस्वरूप में वैसे स्थित होते हैं, जैसे अपने घोसले में पक्षी रात्रिवास करता है। ग्राम के आसपास सभी लोग तथा गवाश्वादि, पक्षी तथा भिन्न प्रयोजन से चलनेवाले पथिक एवं श्येन आदि उस रात्रि में प्रविष्ट होकर सुख से स्थित होते हैं। दिन के सञ्चार से भ्रान्त प्राणियों को यह रात्रि ही सुख पहुँचाती है, उस समय सब लोग विश्राम करने लगते हैं। सारांश यह है कि जो प्राणी भुवनेश्वरी के नाम तक से भी परिचित नहीं हैं, वे भी करुणामयी परा चिच्छक्ति अम्बा की करुणा से ही उसके अङ्क में जाकर सुख से उसी तरह सोते हैं, जिस तरह मूढ़ बालक माता की करुणा से स्वस्थ सोते हैं। ऐसी करुणामयी यह चिच्छक्ति है। हे ऊर्म्ये! रात्रिदेवी! चिच्छक्ते! आप परम दयामयी हैं, अतः हमारे कृत्यों की ओर न देखकर हिंसा करनेवाले मारक पापरूप वृक (भेड़िया) और नानावासनारूपी वृकी को हमसे पृथक् कर दो और चित्त-वित्त के अपहारक कामादि दोषों को भी हमसे हटा दो और हमारे लिये आप सुखेन तरणी या और क्षेमकरी हो। सम्पूर्ण वस्तुओं में फैले हुए कृष्णवर्ण स्पष्ट अज्ञान हमको घेरे हुए है। हे उषोदेवते! आप ऋण के समान उस अज्ञान को दूर कर दो। जैसे अपने स्तोताओं का ऋण आप दूर करती हैं, वैसे ही हमारे अज्ञान को दूर करें। हे रात्रिदेवते! चिच्छक्ते! कामधेनु के समान सर्वाभीष्टदायिनी आपको प्राप्त करके स्तुति-जपादि से अभिमुख करता हूँ। आप प्रकाशरूप परमात्मा की पुत्री हैं।" परमात्मा से ही अन्यत्र चैतन्य शक्ति की अभिव्यक्ति होती है, इस विवक्षा से भगवती को दिवो-दुहिता कहा गया है।

चण्डी

एक दृष्टि से भगवती को परब्रह्म की महिषी कहा जाता है—

"त्वमसि परब्रह्म महिषी।"

उसी दृष्टि से उनका नाम 'चण्डिका' है। "**चण्डभानुः चण्डवातः**" इत्यादि स्थानों में इयत्तानवच्छिन्न असाधारणगुणशाली वस्तु में 'चण्ड' शब्द का प्रयोग होता है। देश-काल वस्तु परिच्छेदशून्य वस्तु परमात्मा ही है। भानु, वात आदि का विशेषण होने से वह सङ्कुचित वृत्ति हो जाता है। 'चडि कोपे' धातु से 'चण्ड' शब्द की निष्पत्ति है।

"कस्य बिभ्यति देवाश्च कृतरोषस्य संयुगे।"

किसको रोष उत्पन्न होने से देवताओं को भी डर होता है ?

"प्रसादो निष्फलो यस्य कोपोऽपि च निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छन्ति षण्ढं पतिमिव प्रजाः ॥"

अर्थात् जिसका क्रोध और प्रसाद निष्फल होता है, उसे प्रजा उसी तरह स्वामी नहीं मानती, जिस तरह षण्ढ पुरुषों को स्त्रियाँ पति नहीं बनातीं। इसीलिये सफल उग्र क्रोध या उग्र क्रोधवाला पुरुष भी 'चण्ड' कहलाता है। महाभयजनक कोप ही चण्ड कहा जाता है और वह भयजनक कोप परमेश्वर का नहीं है। "नमस्ते रुद्रमन्यवे" इस वचन में रुद्र के मन्यु–कोप को प्रमाण किया गया है। संसार में चण्ड से ही सब डरते हैं। स्पष्ट है कि जिसका दण्ड प्रबल होता है, उसी का शासन चलता है। सर्व-संहारक से सब डरते हैं, सर्वसंहारक मृत्यु से भी सब डरते हैं, मृत्यु भी चण्ड है।

"भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्य्यः ।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥"

अर्थात् परमेश्वर के डर से वायु चलता है, भय से सूर्य्य उदित होता है, भय से अग्नि और इन्द्र भी अपना-अपना काम करते हैं। सर्वभय कारण मृत्यु भी जिससे डरता है, वही भगवान् परमात्मा है। उसको मृत्यु का भी मृत्यु, काल का भी काल या महाकाल किंवा चण्ड कहा जा सकता है, वही सर्वसंहारक है। उससे भिन्न सब संहार्य्य कोटि में आ जाता है। उत्पादक, पालक ब्रह्मा, विष्णु आदि उसके स्वरूप ही हैं, इसीलिये वे भी असंहार्य्य हैं। यदि भिन्न होते तो अवश्य संहार्य्य होते, अन्यथा इसीको एकोनसर्वसंहारक कहना पड़ेगा। इसीलिये जिसका विश्व, वही उसका उत्पादक, वही पालक और वही संहारक है।

एकेश्वरवाद सर्वत्र मान्य है ही, उसीको महद्भय बज्ररूप भी कहा गया है। **"महद्भयं बज्रमुद्यतम्"** जैसे उद्यत बज्र के डर से भृत्य लोग तत्परता से काम करते हैं, वैसे ही परमात्मा के डर से सूर्य्य, इन्द्र, चन्द्र आदि सावधानी से अपने-अपने कार्य्य में संलग्न होते हैं। उसी चण्ड को स्वरूपभूता शक्ति पत्नी चण्डिका है। जैसे परमेश्वर के ही घोर रूप से पृथक् शान्त रूप भी है **"घोरान्या शिवान्या"** वैसे ही भगवती के भी उग्र और शान्त दोनों ही रूप हैं। कुछ लोगों का कहना है कि एक ही परब्रह्म माया से धर्मी और धर्म दो रूप में प्रकट होता है। सृष्टि के आरम्भ में जो "**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय**", "**सोऽकामयत**", "**तत्तपोऽकुरुत**" इत्यादि से ज्ञान, इच्छा और क्रिया का श्रवण है, यही तीनों ब्रह्म के धर्म हैं। यह सब धर्मीरूप ब्रह्म से अभिन्न ही हैं, क्योंकि श्रुति ने ही इन्हें स्वाभाविकी कहा है। **"स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।"** यहाँ 'बल' से इच्छा का ग्रहण समझना चाहिये। इस धर्म को ही शक्ति कहा जाता है। तथा च समष्टि ज्ञानेच्छाक्रियारूप ब्रह्मधर्मरूपा शक्ति ही चण्डी है, यही महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती है। कार्यवशात् इसीका अनेक

रूप में प्राकट्य होता है। वस्तुतस्तु उसी चण्डरूप परमात्मा में ही पुंस्त्व, स्त्रीत्व भक्तभावना के अनुसार है। पुंस्त्वविवक्षा से वही महारुद्र आदि शब्दों से, स्त्रीत्व-विवक्षा से वही चण्डी, दुर्गा आदि शब्दों से व्यवहृत होता है।

नवार्ण मन्त्रार्थ

नवार्णमन्त्र का भी अभिप्राय यही है। 'डामरतन्त्र' में उसका अर्थ इस प्रकार बतलाया गया है—

"निर्धूतनिखिलध्वान्ते नित्यमुक्ते परात्परे।
अखण्डब्रह्मविद्यायै चित्सदानन्दरूपिणि।
अनुसन्दध्महे नित्यं वयं त्वां हृदयाम्बुजे।"

अर्थात् हे निर्धूतनिखिलध्वान्ते! हे नित्यमुक्ते! हे परात्परतरे! चित्सदानन्द-रूपिणि मां! मैं अखण्ड ब्रह्मविद्या के लिये आपका अपने हृदय-कमल में अनुसन्धान करता हूँ।

'ऐं' इस वाग्बीज से चित्स्वरूपा सरस्वती बोधित होती हैं, क्योंकि ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। महावाक्यजन्य परब्रह्माकारवृत्ति पर प्रतिबिम्बित होकर वही चिद्रूपा भगवती अज्ञान को मिटाती है। 'ह्रीं' इस मायाबीज से सद्रूपा महालक्ष्मी विवक्षित है। त्रिकालाबाध्य वस्तु ही नित्य है। कल्पित आकाशादि प्रपञ्च के अपवाद का अधिष्ठान होने से सद्रूपा भगवती ही नित्यमुक्ता हैं।

'क्लीं' इस कामबीज से परमानन्दस्वरूपा महाकाली विवक्षित हैं, सर्वानुभव-संवेद्य आनन्द ही परम पुरुषार्थ है। **"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"** इस श्रुति से सिद्ध है कि सब कुछ आत्मा के लिये ही प्रिय होता है, इसलिये आत्मस्वरूपा आनन्द ही शेषी है, तदितर सब शेष है। मानुषानन्द से लेकर गन्धर्व, देवगन्धर्व, अजानजदेव, श्रौतदेव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्मान्त उत्तरोत्तरशतगुणित आनन्द जिसका बिन्दुमात्र है, वह परमातिशायी ब्रह्मरूप आनन्द कहा गया है। वही परात्पर आनन्द महाकालीरूप है। "चामुण्डायै" शब्द से मोक्षकारणीभूत निर्विकल्पक ब्रह्माकार वृत्ति विवक्षित है। विपदादिरूप चमू को जो नष्ट करके आत्मरूप कर लेती है, वही 'चामुण्डा' ब्रह्मविद्या है। अधिदैव के मूलाज्ञान और तूलाज्ञानरूप चण्ड-मुण्ड को वश में करनेवाली भगवती भी चामुण्डा कही गयी है—

"यस्माच्चण्डञ्च मुण्डञ्च गृहीत्वा त्वमुपागता।
चामुण्डेति ततो लोके ख्याता देवि भविष्यसि॥"

'विच्चे' में 'वित्', 'च', 'इ' ये तीन पद क्रमेण चित, सत्, आनन्द के वाचक हैं। 'वित्' का ज्ञान अर्थ स्पष्ट ही है, 'च' नपुंसकलिङ्ग 'सत्' का बोधक है, 'इ' आनन्दब्रह्ममहिषी का बोधक है। इसका सारांश यही है कि हे चित्-सत्-परमा-

नन्दरूपे ! निर्धूतनिखिलध्वान्ते ! नित्यमुक्ते ! परात्परे महासरस्वती ! महालक्ष्मि ! महाकालि ! हम आपके तत्वज्ञान को प्राप्त करने के लिये आपका हृदयकमल में ध्यान करते हैं ।

प्रथम चरित्र

'दुर्गासप्तशती' में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि भगवती की कृपा से ही सम्यक् तत्वज्ञान प्राप्त होता है । ज्ञान की प्रशंसा सर्वत्र है, ज्ञान के होने से अज्ञान, मोहादि मिट जाते हैं । ज्ञान सम्पादन के लिये ही श्रवणादि किये जाते हैं । जप, तप, यज्ञादि सबका परम उपयोग ज्ञान में ही है । परन्तु वह ज्ञान साधारण ज्ञान नहीं है, क्योंकि शब्दादि विषयों का ज्ञान तो प्राणिमात्र को होता है । उलूकादि दिन में अन्धे होते हैं, रात्रि में नहीं; कोकादि रात्रि में अन्धे होते हैं, दिन में नहीं । लता, जलजन्तु आदि दिन-रात समान रूप से अन्धे ही रहते हैं ।

राक्षस, मार्जार, तुरगादि दिन-रात समान चाक्षुष ज्ञानवाले होते हैं और सबकी अपेक्षा मनुष्यों में अधिक ज्ञान होता है, परन्तु अज्ञान उनमें भी होता है । पशु, पक्षी आदि सभी बहुत ज्ञानवाले होते हैं । व्यवहारज्ञान मनुष्यों जैसा ही पशु-पक्षियों में भी दिखायी देता है । पक्षिगण स्वयं भूखे रहकर भी इतस्ततः से कणों को लाकर अपने बच्चों के मुँह में छोड़ते हैं । मनुष्य भी प्रत्युपकार की आशा से बच्चों के भरण-पोषण में तल्लीन रहते हैं, यह सब ज्ञान सामान्य ज्ञान है । इनसे संसार के मूलभूत अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती । यही महामाया का प्रभाव है, जिससे सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश परब्रह्म का वोध नहीं होता । वही उपनिषज्ज्ञाननिष्ठ वशिष्ठ, भरत, विश्वा-मित्रादिकों के भी चित्त को बलात् मोहित कर देती है । वही चराचर प्रपञ्च का निर्माण करती है, वही प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करती है, विद्यारूपा होकर वही मुक्तिप्रदा है, अविद्यारूप से वही संसारबन्ध का हेतु है, वही भगवान् विष्णु की योग-निद्रा कहलाती है । जिस समय भगवान् शेष पर कल्पान्त में विराजमान थे, उस समय कूर्मपृष्ठ पर जल में विलीन होने के कारण पृथ्वी नवनीत के समान कोमल हो गयी । सृष्टिकाल में यह प्राणियों को किस तरह धारण कर सकेगी, यह सोचकर भगवती ने विष्णु को अपनी योगनिद्रा शक्ति से प्रसुप्त करके अपने वामहस्त की कनिष्ठिका के नखाग्र भाग से कर्णमल निकालकर उसी से मधु नामक दैत्य को और दक्षिण कर्णस्थ मल से कैटभ को बनाया । उत्पन्न होकर वे दोनों दैत्य पहले कीट के समान ही प्रतीत हुए, पश्चात् महाबलवान् हो गये । वरदान देकर देवी के अन्तर्हित होने पर विष्णु की नाभि से उत्पन्न कमल में उन दोनों ने ब्रह्मा को देखा । ब्रह्मा को देखकर उन्होंने कहा—

"हम तुम्हें मारेंगे । अगर तुम जीना चाहते हो, तो विष्णु को जगाओ ।"

यह सुनकर ब्रह्मा ने जगत्प्रसूयोगनिद्रा की अनेक स्तुतियों से प्रार्थना की। भगवती ने प्रसन्न होकर ब्रह्मा से वरदान माँगने को कहा। ब्रह्मा ने भगवान् का जागना और दोनों असुरों को मोह होना माँगा। माता ने विष्णु को जगा दिया। विष्णु से उन दैत्यों का पाँच हजार वर्ष तक घोर युद्ध हुआ। महाप्रमत्त उन दैत्यों ने महामाया से मोहित होकर विष्णु से वर माँगने को कहा।

विष्णु ने कहा—

"तुम दोनों हमारे वध्य हो, हम यही वर माँगते हैं।"

उन्होंने कहा—

"अच्छा, जहाँ सलिल से व्याप्त पृथ्वी न हो, वहाँ हमें मारो।"

विष्णु ने अपने जघन प्रदेश पर उनका शिर रखकर चक्र से उन्हें मार दिया, पश्चात् उन्हीं के मेद का विलेपन कर पृथ्वी को दृढ़ किया गया, इसीलिये पृथ्वी को 'मेदिनी' भी कहा जाता है। इस तरह भगवती ही अनेक रूप में प्रकट होकर जगत् को धारण करती है। यही सृष्टि, स्थिति, संहार करती है, यही योगनिद्रा होकर विष्णु को विश्राम देती है, यही स्वाहारूप से देवताओं को, स्वधारूप से पितरों को, वषट्काररूप से श्रौतदेवताओं को तृप्त करती है। यही उदात्तादि स्वरों और सुधारूप से विराजमान होती है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुतरूप में किंवा अ, उ, म् रूप में यही अक्षररूपा भगवती विराजमान होती है। अ, उ, म् इन तीनों वर्णों एवं तद्वाच्य विश्व, तैजस, प्राज्ञ आदि के रूपों में भी वही भगवती स्थित है। वाच्य-वाचक के अधिष्ठानरूप अर्धमात्रास्वरूप से भी भगवती ही विराजमान है।

"अकारश्च तथोकारो मकारश्चाक्षरत्रयम्।
एता एव त्रयो मात्रा सत्वराजसतामसाः॥
निर्गुणा योगिगम्याऽन्या चार्धमात्रात्र संस्थिता" (दत्तात्रेयसंहिता)

प्रथम मात्रा व्यक्त है, द्वितीय मात्रा अव्यक्त है, तृतीय मात्रा चिच्छक्ति है, अर्द्धमात्रा परमपद है, वही कूटस्थ सर्वाधिष्ठान है, सर्वरूप से भगवती ही विराजमान है। सन्ध्या, सावित्री तथा जगज्जननी मूलप्रकृतिरूप से भी माता की ही स्थिति है। सृष्टिकाल में वही सृष्टिरूप में, पालनकाल में स्थितिरूप से तथा अन्त में संहृतिरूप से भगवती ही व्यक्त होती है। वही महाविद्या अर्थात् तत्त्वमस्यादि महावाक्यों से व्यक्त ब्रह्मविद्यारूपा है, वही देहात्मबुद्धिरूपा माया भी है, सर्वार्थावधारणरूपा मेधा, महास्मृतिरूपा भी वही है, उसीसे अतीत अनेक कल्पों का स्मरण तथा तदनुकूल सृष्टि-निर्माण सम्भव होता है, ग्राम्यसुखभोगैषणारूप महामोह भी वही है, महादेवी इन्द्रादि देवशक्ति, हिरण्याक्ष प्रभृति असुरों की शक्तिरूपा भी वही है।

सत्वादि गुणत्रय विभाविनी मूल प्रकृति, वही कालरात्रि, मरणरात्रि या शिव-रात्रिरूपा है और वही महारात्रि अर्थात् प्रलयरात्रि भी है, मोहरात्रि भी भगवती है। कृष्णजन्माष्टमी को अवतीर्ण होकर भगवती ही कंसादि को मोहित करके कृष्ण को नन्दगृह पहुँचाने में सहायक हुई है। वही श्री, वही ईश्वरी, वही लज्जा, वही बोध-लक्षणा बुद्धि है। पुष्टि, तुष्टि, शान्ति, क्षान्ति भी वही है। खड्ग, शूल, गदा, चक्र, शंख, चाप, बाण, भुशुण्डी, परिघ आदि आयुधों को धारण करनेवाली महाघोरा है, वही परमप्रशान्तरूपा भी है, वही सौम्यतरा एवं अशेष सौम्यों से भी अति सुन्दरी है अथवा भक्तों के लिये सौम्या और दैत्यों के लिये अत्यन्त असौम्या अर्थात् क्रूरतरा है। सब आह्लादहेतुओं से अत्यन्त सुन्दरी है, ब्रह्मादि सम्पूर्ण देवताओं से वही परमोत्कृष्टा है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी के मध्य में परावाक्स्वरूपा वही है। वस्तुतस्तु संसार में सत्-असत्, कार्य-कारण, चेतन-अचेतन, जहाँ भी, जो भी कोई वस्तु है, उन सबकी जो शक्ति है, वह भगवती ही है

"यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा॥"

जो परमेश्वर महाशक्ति द्वारा ही जगत् का उत्पादन, पालन, संहरण करता है, जब स्वयं वही भगवती की योगनिद्रा के वश होते हैं, तब फिर कौन भगवती के गुणों का वर्णन कर सकता है ? विष्णु आदि भी शक्ति की महिमा से ही देहवान् होते हैं। अनन्तानन्तशक्तियों से सम्पन्न आनन्दप्रधाना भगवती महाकाली रूप से 'सप्तसती' के प्रथम चरित्र में वर्णित है।

मध्यम चरित्र

किसी समय वही महालक्ष्मी के रूप में प्रकट होती है। कभी पूरे सौ वर्ष तक देवताओं और असुरों का भयानक संग्राम चल रहा था। असुरों का राजा महिषासुर और देवताओं का इन्द्र था। महिषासुर सब देवताओं को जीतकर स्वयं इन्द्र हो गया। देवता लोग पराजित होकर ब्रह्मा को लेकर शिव और विष्णु के पास गये और विस्तार से महिषासुर की विजय और देवताओं की पराजय बतलायी। देवताओं की बात सुनकर मधुसूदन और शङ्कर दोनों ने कोप किया और उनके मुख से एक महा-तेज प्रकट हुआ। ब्रह्मा के भी मुख से वैसा ही तेज निकला। इन्द्र, वरुणादि देवताओं के भी देह से दिव्य तेज प्रकट हुआ।

इस तरह सब देवताओं के देह से निकलकर वही महातेज पर्वत के समान दिखलायी पड़ने लगा और उसकी ज्वाला से दिशाएँ-विदिशाएँ सब व्याप्त हो गयीं। वही अतुल तेज एकत्रित होकर एक स्त्री के रूप में परिणत हो गया। उस तेज की दिव्यदीप्ति तीनों लोक में फैल गयी। समस्त देवताओं के तेज से उस तेज के अन्यान्य अङ्ग उत्पन्न हुए। समस्त देवताओं की तेजोराशि से अद्भुत भगवती को

देखकर प्रसन्न हुए। सब देवों ने विभिन्न आयुध तथा आभूषण उसे प्रदान किया। सबने माता का सम्मान किया। मां प्रसन्न होकर सिंहनाद करने लगीं। उसके घोर नाद से सम्पूर्ण नभ पूर्ण हो गया और उसकी प्रतिध्वनि से सब लोक क्षुब्ध हो गये और समुद्र काँप उठे। देवता प्रसन्नता से जयजयरव करने लगे, मुनि लोग स्तुति करने लगे।

ऐसी स्थिति देखकर असुर लोग अस्त्र-शस्त्र लेकर युद्ध के लिये तत्पर हो गये। अनेक असुरों से समावृत महिषासुर ने देखा कि तीनों लोकों को अपने महातेज से व्याप्त करके पादाक्रमण से पृथ्वी को विनत करती हुई, अपने किरीट से नभोमण्डल को खचित करती हुई, धनुष के टङ्कार से पाताल तक को क्षुब्ध करनेवाली सहस्रों भुजाओं से दिशाओं को व्याप्त करके देवी स्थित है। बस फिर क्या था? असुरों ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया। भयानक संग्राम हुआ, गिरे हुए हस्ति, अश्व, रथ एवं असुरों से वह भूमि अगम्य हो गयी। शोणित की भयानक नदी बहने लगी। अन्त में बड़े-बड़े अस्त्र-शस्त्र, शक्ति आदि के प्रयोग हुए। बहुतों को अस्त्र से, बहुतों को हुङ्कारमात्र से भगवती नष्ट कर देती थी। देवी के सिंह ने विचित्र युद्ध करके चामर प्रभृति दैत्यों को मारा। बहुत दैत्यों के मारे जाने पर स्वयं महिषासुर ने महिषरूप से अद्भुत पराक्रम दिखलाया। चण्डिका ने उसे पाश से बाँधा, तो वह सिंह हो गया। जब तक सिंह का सिर काटने का चण्डिका प्रयत्न करती है, तब तक वह खड्गपाणि पुरुष हो गया। जब तक पुरुष पर अम्बा प्रहार करती, तब तक वह गज हो गया। गज होकर सिंह को शुण्डा से आकृष्ट करने लगा। देवी ने तलवार से शुण्डा काट दी। पश्चात् वह फिर महिष बनकर त्रैलोक्य को त्रस्त करने लगा। अन्त में देवी ने उछलकर उसके ऊपर आरूढ़ होकर उसे चरण से आक्रान्त कर शूल से ताड़न किया। इतने में वह महिष के मुख से अर्धनिष्क्रान्त असुर के रूप में लड़ने लगा। अन्त में अम्बा ने विशाल खड्ग से उसका सिर काट दिया। असुरसैन्य में हाहाकार मच गया। देवतागण बड़े प्रसन्न हुए। देवताओं ने वहीं श्रद्धा से नम्र होकर इस तरह स्तुति की—"हे मां! आप जगदात्म शक्ति हैं, आपसे सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है, आप सब देवताओं की शक्तिसमूह मूर्ति हैं। आपके प्रभाव को विष्णु, ब्रह्मा तथा हर भी नहीं कह सकते, फिर और की तो बात ही क्या? आप ही सुकृतियों के घरों में लक्ष्मी तथा पापियों के घर में दरिद्रा रूप से रहती हैं। कृतबुद्धियों के हृदय में सुबुद्धि एवं कुलांग-नाओं की लज्जा भी आप ही हैं, आप ही अव्याकृताख्या प्रकृति हैं, आप ही स्वाहा, स्वधारूप से देव, पितर आदि को तृप्त करती हैं। मोक्षार्थी यति लोग भी ब्रह्मविद्या-रूप से आपका ही सेवन करते हैं। विश्व को अभ्युदय-निःश्रेयस प्राप्त कराने के लिये आप ही वेदत्रयी के रूप में प्रकट होती हैं। विष्णु के हृदय में महालक्ष्मी रूप से, शशिमौलि के यहाँ गौरीरूप से आप ही प्रतिष्ठित हैं।" बहुत स्तुति करके देवताओं ने देवी से अनेक वर की प्रार्थना की। माता 'तथास्तु' कहकर अन्तर्हित हो गयी।

कुछ लोग निरवयव, निर्विकार परमानन्द का ही अवयवावयविभाव वास्तविक ही मानते हैं। परन्तु **"निर्युक्तिकं ब्रुवाणश्च नास्माभिर्विनिवार्यते"** इस न्याय से उनके लिये हम कुछ कहना नहीं चाहते। यदि ऐसा सम्भव हो, तो रहे। श्रीशङ्करानन्दजी का इस विषय में कहना है कि यद्यपि **"कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते"** इस वचन के अनुसार कर्मों से ही प्राणी का जन्म और विनाश होता है, परमेश्वर में जन्महेतु पुण्य-पाप न होने से जन्म असम्भव है, तथापि मायाद्वारा परमेश्वर का जन्म असम्भव नहीं, अतएव अज, अव्यय, निरवयव होने पर भी भगवान् का जन्म माया से हो जाता है। कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर का कर्मनिमित्त जन्म न होने पर भी उनका कोई नियन्ता अवश्य होगा। इसी भ्रम को दूर करने के लिये भगवान् ने कहा है—**"भूतानामीश्वरोऽपि सन्"** अर्थात् प्राणियों का ईश्वर होने पर भी **"एष सर्वेश्वरः"** इत्यादि श्रुति के अनुसार सबका नियन्ता परमात्मा ही है, वह किसी के नियोग का विषय नहीं है। इस तरह अज, अव्ययात्मा, ईश्वर होकर भी अपनी दैवी प्रकृति माया का सहारा लेकर वे उत्पन्न हो सकते हैं। वह्नि के दग्धृत्व शक्ति के समान परमेश्वर की अभिन्न शक्ति ही उनकी माया है। यही बात **"देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्"** इत्यादि श्रुतियों से कही गयी है। उसी माया से भगवान् जन्मवान् से प्रतीत होते हैं। वस्तुतः भगवान् निष्कल एवं निष्क्रिय ही हैं।

इस विषय में श्रीआनन्दतीर्थ का कहना है कि भगवान् अज और अव्ययात्मा होकर भी प्रकृति से जात, वसुदेवादि से जात होकर प्रतीत होते हैं। इस मत में भगवान् का देह ही अव्यय है, उसीको नाना अवतारों का निधान और अव्यय बीज माना है—**"एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।"** इस मत में आत्ममाया का अर्थ आत्मज्ञान है, क्योंकि प्रकृति का निर्देश पृथक् आ चुका है। **"मतिः क्रतुर्मनीषा माया"** इत्यादि कोश में 'मनीषा' के अर्थ में 'माया' शब्द आया है।

श्रीमद्रामानुजाचार्य का कहना है कि भगवान् अपने अजत्व, अव्ययत्व, सर्वेश्वरत्वादि सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को न छोड़ते हुए ही अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव में अवस्थित रहकर ही स्वेच्छा से अवतीर्ण होते हैं। **"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्"**, **"य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः"** इत्यादि श्रुतियों ने भगवान् के सगुण, साकार स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। इनके मत में भी **"माया तु वयुनं ज्ञानम्"** इत्यादि अभियुक्तियों से माया का अर्थ ज्ञान ही है। तथा च आत्म माया का अभिप्राय है आत्मसङ्कल्प। अतः भगवान् आत्मसंकल्प से ही, अपने अपहतपाप्मत्वादि ऐश्वर्यस्वभाव को न छोड़ते हुए ही, देव-मनुष्यादिरूप से प्रतीत होते हैं। **"अजायमानो बहुधा विजायते"** इस श्रुति का भी अभिप्राय यही है कि भगवान् इतरपुरुषसाधारण जन्म से रहित होने पर भी स्वसङ्कल्प से देवादिरूप से जायमान होते हैं।

श्रीनीलकण्ठजीका कहना है कि **'अजोऽपि सन् अव्ययात्मा'** इस श्लोक द्वारा देहविशिष्ट परमात्मा का ही अजत्व, अव्ययत्व कहा गया है। देहादिरहित केवल आत्मा

तदागच्छतु शुम्भोऽत्र निशुम्भो वा महासुरः।
मां जित्वा किं चिरेणात्र पाणिं गृह्णातु मे लघु॥"

दूत ने बहुत कुछ समझाया, परन्तु देवी ने कहा—"क्या करूँ, मेरी ऐसी प्रतिज्ञा ही है।" दूत ने जाकर सब बात सुना दी। इसपर धूम्रलोचन भेजा गया, घोर युद्ध के बाद वह मारा गया। उसके पश्चात् शुम्भ ने चण्ड-मुण्ड को भेजा। महासंग्राम हुआ, अम्बिका ने जब कोप किया, तब उसके ललाट से करालबदना कालिका प्रकट हुई। उसने असुरों के बल (सैन्य) को भक्षण करना आरम्भ कर दिया। उसने बड़े-बड़े गज, तुरङ्ग, रथ, योद्धाओं को मुँह में डालकर चबाना आरम्भ किया। सर्वनाश होते देखकर चण्ड आया और अनेक चक्रों से काली को आच्छादित कर दिया। देवी के मुँह में वे चक्र लीन हो गये। महातलवार से देवी ने चण्ड का सिर काट डाला। इसके बाद मुण्ड लड़ने आया। उसकी भी वही गति हुई। चण्ड-मुण्ड दोनों का सिर लेकर काली ने आकर कौशिकी को दिया। कौशिकी ने चण्ड-मुण्ड का सिर लाने के कारण काली का 'चामुण्डा' नामकरण किया। चण्ड-मुण्ड का बध सुनकर शुम्भ ने अपनी सब सेना को आज्ञा दी। महामहाकुल के भयानक-भयानक दैत्य आये, भयंकर युद्ध होने लगा। देवी ने धनुष के टङ्कार से धरणी और गगन को पूरित कर दिया। सिंहनाद भी सर्वत्र फैल गया, महाकाली ने भी मुख फैलाकर भीषण नाद किया। उस नाद को सुनकर दैत्यसेना ने चारों ओर से देवी को घेर लिया। इसी समय दैत्यों के नाश और देवताओं के अभ्युदय के लिये ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इन्द्र आदि देवताओं के शरीरों से उनकी शक्तियाँ उसी-उसी रूप में प्रकट होकर देवी की सहायता के लिये आयीं। उन शक्तियों से परिवृत होकर भगवान् रुद्र आये और चण्डिका से कहा कि **"हमारी प्रसन्नता के लिये शीघ्र ही इन दैत्यों को मारो।"** यह सुनते ही देवी के शरीर से एक अतिभीषण शक्ति प्रकट हुई और उसने रुद्र से कहा—

"आप हमारे दूत बनकर जाओ और शुम्भ-निशुम्भ से कहो कि त्रैलोक्य इन्द्र को दे दो, देवता हविर्भुक् हों और तुम लोग यदि जीना चाहते हो, तो पाताल चले जाओ। यदि बल के घमण्ड से लड़ना चाहते हो, तो आओ, तुम्हारे मांस से हमारे शृगाल तृप्त हों।" देवी ने शिव को दूत बनाया, अतः उसका नाम **'शिवदूती'** प्रसिद्ध हुआ। दैत्य शिव के द्वारा देवी का सन्देश सुनकर क्रुद्ध होकर वहाँ आये, जहाँ देवी स्थित थी और अस्त्र-शस्त्र से देवी के ऊपर खूब प्रहार किया। देवी ने लीलामात्र से सबको नष्ट कर डाला। कौशिकी के आगे-आगे काली शूल और खट्वाङ्ग से शत्रुओं को नष्ट करती चलती थी। ब्रह्माणी, माहेश्वरी, वैष्णवी, कौमारी, ऐन्द्री आदि अपने शस्त्रास्त्रों से सहस्रों दैत्यों को मारती थीं। असुरों का संहार करती हुई नाद से दिशाओं को पूर्ण कर रही थी। जब मातृगणों से पीड़ित होकर असुर भाग

चले, तब रक्तबीज नाम का एक महान् असुर आया। रक्तबीज के शरीर से जितने बिन्दु रक्त भूमि पर गिरते थे, उतनी ही संख्या में वैसे ही रक्तबीज उत्पन्न होते थे। वह रक्तबीज गदा लेकर इन्द्रशक्ति से युद्ध करने लगा। उससे महा भयंकर संग्राम हुआ। असंख्य रक्तबीज से संसार व्याप्त हो गया। देवी ने अपनी जिह्वा भूमि पर फैला दी और सब रक्त पान करने लगी। अन्त में वह दैत्य क्षीणरक्त होकर मर गया।

फिर शुम्भ-निशुम्भ का भी देवी से घोर युद्ध हुआ। महायुद्ध के बाद निशुम्भ मारा गया। उस समय शुम्भ ने आकर देवी से डाँटकर कहा—

"हे दुर्गे ! तू घमण्ड न कर, दूसरों का बल लेकर तू लड़ती है।"

इसपर देवी ने कहा—

"इस जगत में मैं ही एक हूँ, दूसरा कोई नहीं। देख, ये सब मेरी विभूति हैं, मुझमें प्रविष्ट हो रही हैं।"

यह कहते ही ब्रह्माणी प्रमुखा देवी उसमें लीन हो गयीं, वह अकेली रह गयी—

"एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥
ततः समस्तास्ता देव्यो ब्रह्माणी प्रमुखा लयम्।
तस्या देव्यास्तनौ जग्मुरेकैवासीत्तदाम्बिका॥"

देवी ने कहा—**"मैं ही अपनी विभूति से अनेक रूपों में स्थित थी। अब उन सबका उपसंहार करके अकेली ही संग्राम में स्थित हूँ। तू सावधान स्थिर हो।"**

अनन्तर देवी और शुम्भ का देवताओं के समक्ष महाघोर युद्ध हुआ। बड़े-बड़े दिव्यातिदिव्य शस्त्रास्त्रों का प्रयोग हुआ। कभी गगन में, कभी भू पर महान् आश्चर्यकर युद्ध हुआ। उस महासंग्राम के बाद भगवती ने उसके हृदय को विशाल शूल से विदीर्ण कर भूमि पर मार गिराया। देवता तथा ऋषियों ने देवी की इस प्रकार स्तुति की।

देवताओं ने कहा—"हे मातः ! आप प्रपन्न प्राणियों की अर्त्ति दूर करनेवाली हैं, आप अखिल ब्रह्माण्ड की माता हैं, आप ही चराचर विश्व की ईश्वरी हैं, आप ही पृथ्वीरूप में स्थित होकर सबकी आधारभूत हैं, जलरूप से भी स्थित होकर सम्पूर्ण विश्व का आप्यायन करती हैं, आप अनन्त वीर्य्यवाली वैष्णवी शक्ति हैं, आप ही विश्व की बीजभूता माया हैं, सम्पूर्ण विश्व आपसे ही मोहित है, प्रसन्न होकर आप ही मुक्ति की हेतु बन जाती हैं, संसार की समस्त विद्याएँ आपके ही अंश हैं, समस्त स्त्रियाँ भी आपके ही अंश हैं, एक आपसे ही सारा विश्व पूरित है, फिर आपकी क्या स्तुति की जाय ? स्तुति साधन परा, अपरा वाक् भी तो आप ही हैं, स्पष्टोच्चरित

वाक् 'वैखरी' है, स्मृतिगोचर वाक् 'मध्यमा' है, अर्थ की द्योतिका 'पश्यन्ती' है, ब्रह्म ही 'परा' वाक् है—

"वैखरी शब्द-निष्पत्तिर्मध्यमा स्मृतिगोचरा।
द्योतिकार्थस्य पश्यन्ती सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम्॥"

स्थान, करण, प्रयत्न तथा वर्णविभागशून्य, स्वयंप्रकाश ज्योति '**परा**' वाक् है। सूक्ष्म बीज से उत्पन्न अंकुर के समान किञ्चित् विकसित शक्ति ही '**पश्यन्ती**' है। अन्तःसङ्कल्परूपा वाक् '**मध्यमा**' है, व्यक्त वर्णादिरूप '**वैखरी**' है। "स्वर्ग-मुक्तिदायिनी आप ही हैं। बुद्धिरूप से पुरुषार्थप्रदा, कालरूप से परिणामप्रदायिनी, अवसान समय में कालरात्रिरूप से आप ही विराजती हैं। सर्वमङ्गलदायी, सर्वार्थसाधिका, शरणागत-वत्सला, सृष्ट्यादिकारिणी, सनातनी, गुणाश्रया, गुणमया, शरणागत-दीनार्त-परित्राण-परायणा, अर्तिहरा, ब्रह्माणी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा, लक्ष्मी, लज्जा, विद्या, श्रद्धा, पुष्टि, स्वधा, महारात्रि, महाविद्या, मेधा, ध्रुवा, सरस्वती, वरा, भूति, वाभ्रवि (राजसी), तामसी, नियन्ता आप ही हैं। कहाँ तक कहा जाय, आप ही सर्वस्वरूपा हैं, आप ही सर्वशक्तिसमन्विता हैं। आप और आपके आयुध हमें सब भीति से बचायें। आप सर्वानर्थनिवारिणी, सर्वाभीष्टदायिनी हैं, सर्वस्तुत्या हैं। आपके आश्रितों को विपत्ति नहीं आती, आपके आश्रित दूसरों के आश्रय होते हैं। आप विश्वेश्वरी, विश्वपालिनी एवं विश्वरूपा हैं, विश्वेशवन्द्या हैं। जो आपको प्रणाम करते हैं, वे विश्व के आश्रय बनते हैं।" देवी ने प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा। देवताओं ने यह वर माँगा कि "अखिलेश्वरी! आप सर्वदा त्रैलोक्य की सर्वबाधाओं का प्रशमन करें और समय-समय पर इसी तरह असुरों का संहार करें।" देवी ने कहा—"यह शुम्भ-निशुम्भ आदि दैत्य फिर अट्ठाईसवीं चतुर्युगी में उत्पन्न होंगे, वहाँ भी नन्द गोप के गृह में यशोदा से उत्पन्न हो विन्ध्यवासिनीरूप से मैं उनका संहार करूँगी। उसी रूप से वैप्रचित्त दानवों को मारकर उनका भक्षण करूँगी। दन्तों के रक्त होने से उस समय मेरा '**रक्तदन्तिका**' नाम प्रसिद्ध होगा। पुनश्च शतवार्षिकी अनावृष्टि होने पर '**शताक्षी**' रूप से प्रकट होकर मुनियों पर अनुग्रह करूँगी। अपने देह से उद्भूत प्राणधारक शाकों द्वारा लोक का रक्षण करूँगी, इसीलिये मेरा '**शाकम्भरी**' नाम होगा। उसी अवतार में दुर्गम दैत्य को मारने से मेरा '**दुर्गा**' भी नाम पड़ेगा। भीमरूप धारण करके हिमाचल के राक्षसों को भक्षण करूँगी, तब मेरा '**भीमा**' नाम पड़ेगा। भ्रमररूप धारण कर अरुणासुर को मारने से मेरा '**भ्रामरी**' नाम होगा। इस तरह जब-जब दानवों की बाधा फैलेगी, तब-तब मैं अवतार लेकर धर्म और देवताओं के शत्रुओं का क्षय करूँगी। जो इन स्तुतियों से मेरा स्तवन और श्रद्धा-भक्ति से पूजन करेगा, उसकी सब विपत्तियों को दूर कर सर्वाभीष्ट सम्पादन करूँगी।" 'सप्तशती' के चरित्रों से विविध शिक्षाएँ मिलती हैं। मधु-कैटभ बड़े

बलवान् थे, परन्तु बुद्धि-बल से विष्णु ने उनका बध किया, इससे यह स्पष्ट हो गया कि पशु-बल पर सर्वदा बौद्ध-बल की विजय होती है। महिषासुर के बध में देवताओं के सङ्ग से उद्भूत तेजःसमूह से भगवती का आविर्भाव हुआ। तृतीय चरित्र से यह भी व्यक्त होता है कि एक शक्ति अग्रसर होने पर सभी शक्तियाँ उस कार्य्य में लग जाती हैं, इत्यादि-इत्यादि बहुत-सी शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं।

'देवीसूक्त' में भगवती का स्वरूप

'देवीसूक्त' से विदित होता है कि साक्षात् परब्रह्म ही देवी आदि नामों से प्रख्यात है।

स्वयं देवी कहती है—

"अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुतविश्वदेवैः ॥"

अर्थात् मैं ही रुद्र, वसु, आदित्यादि रूप से विहरण करती हूँ। इन्द्र, अग्नि एवं अश्विनीकुमारों को मैं ही धारण करती हूँ। सोम, त्वष्टा, पूषा, भग आदि को भी मैं ही धारण करती हूँ। देवताओं को हविः प्रदान करनेवाले यजमान को फल-प्रदान भी मैं ही करती हूँ।

"अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रांभूरिस्थात्रा भूर्या वेशयन्तीम् ॥"

अर्थात् सब जगत् की ईश्वरी, धन प्राप्त करानेवाली, तत्वज्ञानिनो एवं यज्ञार्हों में मैं ही मुख्य हूँ, मैं ही प्रपञ्चरूप से स्थित हूँ। अतएव, देवताओं ने अनेक स्थानों में अनेक रूप से मेरा ही विधान किया है, विश्वरूप से मैं ही स्थित हूँ। जहाँ भी, जो भी किया जाता है, सब मेरी ही तत्र-तत्र, तेन-तेन रूपेण सम्पत्ति है। खाना, देखना, प्राणन करना, श्वासोच्छ्वासादि व्यापार करना सब मेरी ही शक्ति से सम्भव है। जो मुझ अन्तर्य्यामिणी को नहीं जानते, वे उपक्षीण हो जाते हैं। हे विश्रुत ! श्रद्धायुक्त होकर सुनो, यह ब्रह्मवस्तु तुम्हें बतला रही हूँ—

"मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवंते वदामि ॥"

मैं हो देव-मनुष्यसेवित ब्रह्म का उपदेश करती हूँ। मैं ही जिसको चाहती हूँ, उग्र—अधिक—बनाती हूँ। ब्रह्मा (स्रष्टा), ऋषि (ज्ञानवान्) तथा शोभनप्रज्ञ बनाती हूँ। त्रिपुर विजय के समय हिंसक, ब्रह्मद्विट् असुर के लिये रुद्र के धनुष को मैं ही विस्तृत करती हूँ, स्तोता जनों के सुखार्थ मैं ही शत्रुओं से संग्राम करती हूँ, मैं ही परमात्मा के सर्वोपरि स्वरूप में आकाश को बनाती हूँ। जैसे तन्तु में पट होता है, वैसे ही आकाशादि कार्य्य जगत् परमात्मा ही से उत्पन्न होता है। समुद्र (**समुद्रवन्ति प्राणिनोऽस्मादिति समुद्रः परमात्मा**) परमात्मा में जो व्याप्त बुद्धिवृत्तिरूप आप् है,

उनके भीतर, बाहर, मध्य में फैला हुआ जो अनन्त चैतन्य है, वही मुझ भगवती का विश्वकारणभूत रूप है। अतएव मैं समस्त प्राणियों में व्याप्त होकर स्थित हूँ। कारण-भूत मायामय निज देह से द्युलोकादि को स्पर्श कर मैं स्थित हूँ। अथवा भूलोक के ऊपर पितर अर्थात् आकाश को मैं रचना करती हूँ।

समुद्र में जल के भीतर मेरे कारणभूत अम्मय ऋषि हैं, उन्हीं महर्षि को पुत्री होकर मैं देवीसूक्त का दर्शन करती हूँ। अथवा समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष में अपने अर्थात् अम्मय देवशरीरों में मेरा कारणभूत ब्रह्म चैतन्य रहता है, अतः मैं कारणभूत होकर सर्वत्र व्याप्त हूँ। मैं ही सम्पूर्ण भूतों और सभी कार्यों का आरम्भ करती हूँ। जैसे वात बिना अन्य प्रेरणा के ही स्वयं कार्य्य करता है, वैसे ही परशक्तिरूपा मैं स्वेच्छा से ही सब काम करती हूँ। आकाश और पृथ्वी से पर मैं हूँ। असङ्ग, उदासीन ब्रह्मचैतन्य-रूपा मैं हूँ।

भगवती की विविध विभूतियाँ

सर्वप्रपञ्च एवं अवतारों की मूलभूता प्रथमा महालक्ष्मी है। तीनों गुणों की साम्यावस्थारूपा त्रिगुणा वही भगवती परमेश्वरी है। वह लक्ष्य-अलक्ष्य दो रूप की है। मायारूप लक्ष्य है, ब्रह्मरूप अलक्ष्य है। मायाशबल ब्रह्मरूपा भगवती ही त्रिगुणा परमेश्वरी है। जैसे घटादि कार्य्य में कारणभूत-मृत्तिका व्याप्त है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्व में वह व्याप्त है। हरएक पदार्थ में अस्ति, भाति, प्रिय यह तीन ब्रह्म के और नाम, रूप यह दो माया के रूप हैं। उपर्युक्त सूक्ष्मरूप के अतिरिक्त उपासकों के अनुग्रहार्थ भगवती के अवतारस्वरूप स्थूलरूप भी प्रकट होते हैं। दक्षिण भाग के नीचे के हाथ में पान-पात्र, ऊपर के हाथ में गदा, वामभाग के ऊपर के हाथ में खेटक, नीचे के हाथ में श्रीफल तथा नाग, लिङ्ग एवं योनि को सिर में धारण किये हुए, तप्त काञ्चन के समान दिव्य वर्णवाली, तप्त ज्ञानशक्ति खेटक है, तुर्यावृत्ति (समाधि) पानपात्र है, लिङ्ग पुरुषतत्व है, योनि प्रकृति तत्व है, नाग काल है। मातुलिङ्ग (फल) ग्रहण से भगवती यह सूचित करती है कि मैं ही सर्वकर्म फलदात्री हूँ। गदा धारण से क्रियास्वरूप विक्षेपशक्ति और खेट धारण से ज्ञान-शक्ति का अधिष्ठात्रित्व ही बोधित किया गया है। नाग, लिङ्ग, योनिधारण से यह सूचित किया गया है कि प्रकृति, पुरुष और काल तीनों का अधिष्ठान परब्रह्मरूपा मैं ही हूँ। 'ह्रीं' बीज का अभिप्राय भी यही है। यही भुवनेश्वरी है। सूक्तरूप भुवनेश्वरी और महालक्ष्मी दोनों एक ही है। तथापि पाश, अंकुश, अभय, वरादि आयुध धारण में भेद हैं।

भगवती और सृष्टि

प्राणियों के परिपक्व कर्मों का भोग द्वारा क्षय हो जाने पर प्रलय होता है। उस समय सब प्रपञ्च माया के ही उदर में लीन रहता है। माया भी स्वप्रतिष्ठ निर्गुण ब्रह्म में लीन रहती है। "अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन् निर्गुणे सम्प्रलीयते।" विष्णुपुराण के

इन वचनों से अव्यक्त का भी ब्रह्म में लय स्मृत है। अव्यक्त का माया ही अर्थ है, प्राणियों के कर्म-फल-भोग का जब समय आता है, तब चिदात्मिका भगवती में सिसृक्षा (सृष्टि की इच्छा) उत्पन्न होती है। माया की उसी अवस्था को विचिकीर्षा आदि शब्दों से कहा जाता है। कर्म परिपाक का विनश्यद अवस्थावाला प्रागभाव ही विचिकीर्षा है। यद्यपि गुणसाम्य दशा में कर्म परिपाकादि के अनुकूल कोई भी व्यापार नहीं होते, अतः साम्यावस्था भङ्ग का क्या कारण है यह जानना बहुत कठिन है, तथापि जैसे निद्रा के अव्यवहित प्राक्काल के प्रबोधानुकूल दृढ़ सङ्कल्प की महिमा से ही नियत समय पर निद्रा भङ्ग होती है, वैसे ही प्रलय के अव्यवहित प्राक्कालिक ईश्वरीय सङ्कल्प से ही नियत समय पर जाता है। विभाग को न प्राप्त हुआ यह बिन्दु ही 'अव्यक्त' कहलाता है।

यह माया की ही अवस्था है, अतः यह मायापदवाच्य होता है। यद्यपि यह महदादि के समान तत्वान्तर रूप से उत्पन्न नहीं होता, अतएव, माया ही है, तथापि माया की एक विशिष्टाकार से उत्पत्ति हुई है, अतः **"तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिविधं द्विजसत्तमम्"** इत्यादि वचनों से उसकी उत्पत्ति भी कही गयी है। केवल ब्रह्म में कारणता नहीं बन सकती, अतएव उसे भी सूक्ष्मावस्था विशिष्ट माया से मुक्त ब्रह्म में ही कारणता समझना चाहिये। बीज और अंकुर के बीच की उच्छूनावस्था को ही, जिसमें बीज, धरणि, अनिल, जल के सम्पर्क से क्लिन्न होकर कुछ फूलता है, अव्यक्तावस्था समझनी चाहिये। गुणसाम्य बीजावस्था है, वही शुद्ध माया है। बीज का अंकुरित होना कार्य्यावस्था है। स्पष्ट ईक्षण और अहंकार आदि ही महत्तत्व, अहन्तत्व आदि है। व्यष्टि जगत् में समझ सकते हैं कि निद्रावस्था बीजावस्था है, निद्रा का प्रबोधोन्मुख होना अव्यक्तावस्था है, विकल्पविशेषविरहित प्रबोध महत्तत्व की अवस्था है, अहंकार का उल्लेख होना ही अहंतत्व की अवस्था है, तदनन्तर स्थूल कार्यादि सम्पत्ति होती है। अन्तर्मुख अव्यक्त की 'तुरीय' संज्ञा है, बहिर्मुख अव्यक्त की 'कारण देह' संज्ञा है। बहिर्मुख अव्यक्त से सूक्ष्म-स्थूल देह की उत्पत्ति होती है, इसीमें सम्पूर्ण विश्व आ जाता है। समष्टि-व्यष्टि स्थूल देह और ज्ञानेन्द्रिय तथा अन्तःकरण के अधिपति सरस्वती सहित ब्रह्मा हैं। क्रियाशक्त्यात्मक लिङ्गदेह के अधिपति लक्ष्मीसहित विष्णु हैं। कारणदेह के अधिपति गौरीसहित रुद्र हैं। तुरीयदेह की अभिमानिनी भुवनेश्वरी और महालक्ष्मी हैं।

मूर्तिरहस्य

प्रथम महालक्ष्मी भगवती ने सम्पूर्ण जगत् को अधिष्ठाता से रहित देखकर केवल तमोगुण रूप उपाधि का आश्रय लेकर बड़ा सुन्दर एक दूसरा रूप धारण किया। साम्यावस्थाभिमानिनी महालक्ष्मी हैं। किञ्चिच्चालित सदृश तमोगुणविशिष्ट अव्यक्त में अभिमान करके उसीने महाकालीरूप धारण कर लिया। यद्यपि वह मूल देवी से

अभिन्न ही है, तथापि रूप में भेद है। कज्जल के समान नीलवर्णवाली, सुन्दर दंष्ट्रा से युक्त मनोहर आननवाली, विशाल लोचन, सूक्ष्म कटिवाली वह देवी खड्ग, पात्र, शिरः, खेट को धारण किये कबन्ध, हार और मुण्ड की माला अथवा शव शिरों की माला पहने थी। उस महाकाली ने महालक्ष्मी से कहा कि—

"मेरे लिये नाम और कर्म बतलाओ।"

महालक्ष्मी ने ब्रह्मादिमोहिका होने से **'महामाया'**, उन सबका संख्यान और संहार करने से **'महाकाली'** और सर्वविध भक्षण की इच्छावाली होने से **'क्षुधा'**, सभी विद्या-पान की इच्छावाली होने से तृष्णा, योग की अधिष्ठात्री होने से **'योगनिद्रा'**, भक्तकृत भक्ति की इच्छावाली होने से **'तृष्णा'**, महापराक्रमवती होने से **'एक वीरा'** इत्यादि नाम और नामारूप ही कर्म बतलाये गये हैं। अनन्तर महालक्ष्मी ने अतिशुद्ध सत्व के द्वारा चन्द्रप्रभा के समान अतिसुन्दर और रूप धारण किया। अक्षमाला, अंकुश, वीणा, पुस्तक धारण किये हुए वह बड़ी सुन्दरी देवी प्रकट हुई। उसके लिये भी महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक्, सरस्वती, आर्य्या, ब्राह्मी, कामधेनु, बीज-गर्भा, धनेश्वरी नाम और नामानुरूप ही कर्म बतलाये गये हैं। महालक्ष्मी स्वयं ही साम्यावस्था की अभिमानिनी होते हुए रजोगुण की भी अभिमानिनी हुई, अतएव महालक्ष्मी का रक्त-रूप वर्णन मिलता है। अन्त में महालक्ष्मी ने महाकाली और महासरस्वती से कहा कि—

"आप दोनों अपने अनुरूप स्त्री-पुरुषरूप मिथुन उत्पन्न करो।"

ऐसा कहकर स्वयं महालक्ष्मी ने निर्मल ज्ञानमय कमल पर विराजमान एक स्त्री, एक पुरुष का मिथुन बनाया। ब्रह्मा, धाता आदि पुरुष के नाम, श्री, पद्मा, कमला, लक्ष्मी आदि स्त्री के नाम हुए। महाकाली ने भी एक मिथुन बनाया, उसमें नीलकण्ठ, रक्तबाहु, श्वेताङ्ग, चन्द्रशेखर पुरुष हुआ और शुक्ल वर्ण की ही सुन्दरी स्त्री हुई। पुरुष के रुद्र, शङ्कर, स्थाणु, कपर्दी, त्रिलोचन नाम हुए, स्त्री के त्रयी, विद्या, कामधेनु, भाषा, अक्षरा, स्वरा आदि नाम हुए। सरस्वती से भी उत्पन्न मिथुन में विष्णु, हृषीकेश, वासुदेव, जनार्दन पुरुष के और उमा, गौरी, सती, चण्डी, सुन्दरी, सुभगा, शिवा स्त्री के नाम हुए। इस तरह बिना पुरुष के ही युवतियाँ ही पुरुष बन गयीं।

साधारण लोग इसे असम्भव समझते हैं, परन्तु अचिन्त्य मायाशक्ति की महिमा जाननेवालों के लिये यह असम्भव नहीं। महालक्ष्मी ने ब्रह्मा का सरस्वती से, रुद्र का गौरी से, वासुदेव का लक्ष्मी से विवाह कर दिया। ब्रह्मा ने सरस्वती के साथ ब्रह्माण्ड बनाया, रुद्र ने गौरी के साथ संहार का काम किया और विष्णु ने लक्ष्मी के साथ पालन किया। ब्रह्म दृष्टि से चैतन्यरूपा सरस्वती, सत्तारूपा लक्ष्मी, आनन्दरूपा काली हैं, अतः चैतन्य का अभिव्यञ्जक सत्व, सत्ताव्यञ्जक रज और आनन्दव्यञ्जक

तम है। सुषुप्ति में तम की बहुलता से आनन्दमय की व्यक्ति होती है। आनन्दभोक्ता सत्व का पर्यवसान तमोरूपा निद्रा में होता है, इसलिये रुद्र में तम का व्यवहार होता है। सत्ताव्यञ्जक रज का पर्यवसान सत्वात्मक ज्ञान में होता है, इसलिये विष्णु को सत्व कहा है। चैतन्यव्यञ्जक रज अपने रूप में रहता है, इसलिये ब्रह्मा में कहा जाता है। इतिहास की दृष्टि से पहले उत्पत्ति., फिर स्थिति, फिर संहार होता है। साधना में संहार, पालन और उत्पादन यह क्रम मान्य होता है। स्थितिकाल में भी उन्नति के लिये तीनों शक्तियों की अपेक्षा है। दोषों का संहार, रक्षणीय गुणों का पालन और फिर अविद्यमान गुणादिकों का उत्पादन अभीष्ट होता है। रोगों का नाश, प्राणों का रक्षण और बल का उत्पादन यह शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा का काम है। वैसे यह सब-के-सब विशुद्ध सत्वमय है, इसलिये शैवपुराणों में शिव को भी सत्वमय कहा गया है। शैव, वैष्णव, शाक्त सबके यहाँ अपने इष्टदेव को ही मूलतत्व माना जाता है। मूलतत्व में ही पूर्ण सर्वज्ञता आदि की विवक्षा से सत्वमय कहा जाता है। गुणकृत आवरण एवं तत्प्रभाव से रहित होने के कारण उसे ही निर्गुण भी कहा जाता है।

जिस तरह मेघादि सूर्य के आवरक होते हैं, उपनेत्रादि नहीं, उसी तरह अस्वच्छ उपाधि सच्चिदानन्द को आवरक होती है, स्वच्छ नहीं। इसीलिये शिव की शक्ति काली से संहार होता है। केवल प्रकाश सृष्टि नहीं हो सकती, इसीलिये सरस्वती को रज के अधिष्ठाता ब्रह्मा का सहारा लेना पड़ता है। रज से कार्य बनता चलता है, परन्तु यदि उसमें टिकाव न हो, तो पालन नहीं बन सकता, अतः कार्य को टिकाऊ या स्थिर करने के लिये लक्ष्मी को तमोऽधिष्ठाता विष्णु की अपेक्षा होती है। तम के प्राबल्य में अत्यन्त रुकावट होने पर पालन न होकर संहार होता है। परन्तु संहार में भी किसका, कब, कितने दिन तक संहार हो, इसके ज्ञान के लिये सत्व की अपेक्षा है, इसीलिये काली शिव का सहारा लेती है। अन्यथा ब्रह्मा को रज, रुद्र को तम और विष्णु को सत्व का अधिष्ठाता कहा जाता है। ब्रह्मा का रङ्ग तो उनके गुण रज के अनुसार रक्त है, परन्तु शिव, विष्णु में यह नहीं घटता। सत्वगुण के अनुसार शिव शुक्ल और तम के अनुसार विष्णु कृष्ण हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि शिव, विष्णु के परस्पर ध्यान से रूप में परिवर्त्तन हो गया। स्थिर रखना तम का कार्य्य है, अतः पालक में तम का परमापेक्ष है। अन्यत्र संहार होने से रुद्र में तम, पालक होने से विष्णु को सत्वमय कहा गया है, कहीं निराकार और अव्यक्त को आकाशादि के समान श्याम रङ्ग का व्यञ्जक माना जाता है, परन्तु त्रिदेवियों की रूपव्यवस्था तो सर्वथा गुणों के अनुसार है। त्रिदेवों में उत्पादक, पालक संहार को क्रमेण राजस, सात्विक, तामस कहा है। इन गुणों के वश होने से जीव बद्ध होता है, उपर्युक्त त्रिदेव एवं त्रिदेवियाँ गुणों के वश नहीं, किन्तु गुणों की नियन्त्री हैं; अतः वे [illegible] हैं। इसके अतिरिक्त एक विशेषता और

है, वह यह कि गुणों का विमर्शवैचित्र्य होने से एक गुण के भीतर भी सब गुणों का अस्तित्व होता है।

जैसे तामसी प्रकृति जगत् का उपादान है, फिर भी उसके भीतर राजस और सात्विक अन्तःकरणादि होते हैं, तमोलेशानुविद्ध सत्वप्रधाना अविद्या में भी तमोरज आदि के तारतम्य से उत्कर्षापकर्ष होता है, वैसे ही विशुद्ध सत्वप्रधाना विद्या या माया में भी सात्विक, राजस, तामस भेद होते हैं। उसी भेद से ब्रह्मा, विष्णु आदि बनते हैं। यह ईश्वरकोटि है, इनकी उपाधि माया है, वह विशुद्ध सत्वप्रधाना होती है, फिर भी उत्पादक में रज, पालक में सत्व और संहारक में तम का अंश रहता है। पूर्वोक्त रीति से भगवती के महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती ये तीन रूप-प्रधान हैं। उपनिषदों में प्रकृति को **'लोहित-शुक्ल-कृष्ण'** कहा गया है, क्योंकि उसमें रजः, सत्व और तम यह तीन गुण होते हैं। किसी भी कार्य्य का सम्पादन करने के लिये हलचल, प्रकाश और अवष्टम्भ अर्थात् रुकावट इन तीनों की अपेक्षा हुआ करती है। इनमें से एक के बिना कोई भी कार्य्य सम्पन्न नहीं होता, इसीलिये सृष्टि को त्रिगुणात्मिका कहा जाता है। प्रकाश सत्व है, हलचल रज और अवष्टम्भ तम है। रज रक्त है, सत्व शुक्ल है, तम कृष्ण है। केवल निर्विकार, कूटस्थ, चैतन्य कुछ कर नहीं सकता, गुण योग से ही कार्य्य हो सकता है, अतएव गुणों का आश्रयण करने से ही त्रिदेवी एवं त्रिदेव भी तीन रङ्ग के ही हैं। शङ्कर-सरस्वती ये दोनों भाई-बहन शुक्ल रूप के हैं। ब्रह्मा-लक्ष्मी दोनों भाई-बहन रक्त वर्ण के हैं। विष्णु-गौरी ये दोनों भाई-बहन कृष्ण रङ्ग के हैं। भाई-बहन ही प्रायः एक रङ्ग के होते हैं, पति-पत्नी के एक रङ्ग होने का नियम नहीं होता। इसीलिये शिव-गौरी, विष्णु-लक्ष्मी, ब्रह्मा-सरस्वती ये दम्पती एक रङ्ग के नहीं हैं। गौरी की सरस्वती ननन्दा है, स्वयं उसकी भ्रातृजाया (भावज) है, सरस्वती लक्ष्मी की भावज है, लक्ष्मी उसकी ननद है, लक्ष्मी गौरी की ननद है। इसीलिये शिव, विष्णु, ब्रह्मा में भी श्यालक एवं भगिनीपति का सम्बन्ध है। सृष्टि में हलचल और ज्ञानशक्ति दोनों की अपेक्षा होती है। रज की हलचल और सत्व की ज्ञानशक्ति ही सृष्टि कर सकती है, इसीलिये ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती से सृष्टि होती है। तम की रुकावट से और रज की हलचल से पालन होता है, अतएव विष्णुपत्नि लक्ष्मी से पालन होता है। सत्व के प्रकाश एवं तम के अवष्टम्भ से संहार होता है अतः शिवपत्नि गौरी से संहार होता है। सर्वसत्वमयी भगवती साकार होकर अनेक नामोंवाली होती है, निराकाररूप से तो किसी का भी शब्द से वाच्य नहीं है।

> "ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यरूपिणी।
> यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता॥
> यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह।"

त्रिगुणा तामसी महाकाली है, वही हरि की योगनिद्रा है, उसकी विष्णु को जगाने के लिये ब्रह्मा ने स्तुति की है। वह दशमुख, दशभुज, दशचरण और तैंतीस विशाल नेत्रवाली है। यद्यपि शत्रुओं को उसका रूप बड़ा ही भयावना लगता है, तथापि भक्तों के लिये तो वह रूप सौभाग्य और कान्ति को एकमात्र प्रतिष्ठा है। खड्ग, बाण, गदा, शूल, चक्र, पाश, भुशुण्डि, परिघ, कार्मुक और सद्यःकृत्तः शिर उसके हाथ में है। इसकी विधिपूर्वक पूजा करने से साधक चराचर विश्व को स्वाधीन कर लेता है। जो देवी सर्वदेव शरीरों से उत्पन्न हुई वह महालक्ष्मो है। यद्यपि वह सहस्र भुज या अनन्त भुजवाली है, तथापि साधक अष्टादशभुजा रूप से उसको पूजते हैं। उसका मुख शिव-समुद्भूत तेज से बना है, अतः श्वेत है। भुजा विष्णु के अंश से हुई है, अतः नील है। स्तनमण्डल सौम्यांश से बने हैं, अतः सुश्वेत हैं। कटि इन्द्रांश से हुई है, अतः रक्त है। चरण ब्रह्मांशजन्य होने से रक्त, जङ्घा और ऊरु वरुणांश-जन्य हैं अतः नोल है। सुचित्र जघना, चित्र माल्य और अम्बर को धारण किये हैं। दाहिने वाम भाग के नीचे के क्रम से उसके निम्नलिखित आयुध हैं—अक्षमाला, कमल, बाण, असि, कुलिश, गदा, चक्र, परशु, त्रिशूल, शंख, घण्टा, पाश, दण्ड, चर्म, चाप, पानपात्र और कमण्डलु। इस महालक्ष्गी के पूजन से सर्वलोकाधिपत्य मिलता है। सरस्वती आठ भुजा की है। बाण, मुशल, शूल, चक्र, शंख, घण्टा, लांगल और कार्मुक उसके आयुध हैं। इसकी उपासना से सर्वज्ञता मिलती है।

दशमहाविद्या

महाकाली

पूर्वोक्त भगवती के ही दश भेद और होते हैं। इसमें प्रथम महाकाली है। महाकाली प्रलयकाल से सम्बद्ध रहती है, अतएव वह कृष्णवर्ण की है। वह शव पर इसलिये आरूढ़ है कि शक्तिविहीन मृत विश्व के ऊपर विराजमान है। शत्रुसंहारक की शक्ति भयावह होती है, इसलिये काली मूर्त्ति भी भयावह है। शत्रुसंहार के बाद योद्धा का अट्टहास भीषणता के लिये होता है इसीलिये महाकाली हँसती रहती है। निर्बल के आक्रमण को विफल कर उसको दुर्बलता पर हँसा जाता है, इसो तरह निर्बल विश्व के घमण्ड को चूर कर भगवती हँसती है। पूर्ण वस्तु को चतुरस्र कहा जाता है, इसीलिये पूर्णतत्व चार भुजा से प्रकट हुआ करता है। इसीसे माँ काली की चार भुजाएँ हैं। वह स्वयं निर्भय है, उसका आक्रमण आश्रयण करनेवाले निर्भय होते हैं, इसीलिये भगवती ने अभय मुद्रा धारण की है। सांसारिक सुख क्षणभंगुर है, परमसुख भगवती ही है, जीवित विश्व का एवं मृत विश्व का भी आधार वही है। मृतप्राणियों का भी एकमात्र सहारा है, यही द्योतन करने के लिये देवी ने मुण्डमाला पहनी है। विश्व ही ब्रह्मरूपा भगवती का आवरण है, प्रलय में सबके लीन होने पर

भगवती नग्न ही रहती हैं। सारे विश्व के श्मशान के तरने पर उस तमोमयी का विकास होता है, इसीलिये वह श्मशानवासिनी है—

"शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां हसन्मुखीम्।
चतुर्भुजां खड्गमुण्डवराभयकरां शिवाम्॥
मुण्डमालाधरां देवीं ललज्जिह्वां दिगम्बराम्।
एवं सञ्चिन्तयेत् कालीं श्मशानालयवासिनीम्॥" (शाक्तप्रमोद-कालीतन्त्र)

तारा

हिरण्यगर्भावस्था में कुछ प्रकाश होता है, प्रलयरूपी कालरात्रि में ताराओं के समान सूक्ष्म जगत् के ज्ञान एवं तत्साधनों का प्राकट्य होता है, उसी हिरण्यगर्भ की शक्ति 'तारा' है। सूर्य कोटि भी हिरण्यगर्भ कहा जाता है, सूर्य रुद्र भो कहे जाते हैं। उनका शान्त और घोर दो रूप होता है। हिरण्यगर्भ पहले क्षुधा से उग्र था जब उसे अन्न मिलने लगा, तब शान्त हुआ। उसी उग्र हिरण्यगर्भ की शक्ति उग्रतारा है।

"प्रत्यालीढपदार्पिताङ्घ्रिशवहृद्घोराट्टहासापरा
खड्गेन्दीवरकर्त्रिखर्परभुजा हुङ्कारबीजोद्भवा।
खर्वानीलविशालपिङ्गलजटाजूटैकनागैर्युता
जाड्यं न्यस्य कपालकर्तृजगतां हन्त्युग्रतारास्वयम्॥"
(शाक्तप्रमोद-तारातन्त्र)

क्षुधातुर हिरण्यगर्भ भी संहारक होता है, अतः उसकी शक्ति तारा भी संहारिणी है। उसने चारों हाथों में जहरीले सर्प लिये हैं। सर्प भी संहार का सूचक है। वह भी शव पर प्रतिष्ठित है। मुण्ड और 'खप्पर से यह सूचित होता है कि वह भयानक होकर खप्पर द्वारा विश्व का रसपान करती है। उसकी जहरीली रश्मियों की भयानकता दिखलाने के लिये जटाजूट नाग का वर्णन है।

"प्रकृतिः पुरुषं स्पृष्ट्वा प्रकृतित्वं समुज्झति।
तदन्तस्त्वेकतां गत्वा नदीरूपमिवार्णवे॥"

पुरुष का स्पर्श करते ही प्रकृतित्व को छोड़कर पुरुष के साथ इस तरह मिल जाती है, जैसे नदी समुद्र में मिल जाती है।

"अतस्त्वामाराध्यां हरिहरविरिञ्चादिभिरपि'
प्रणन्तुं स्तोतुं वा कथमकृतपुण्यः प्रभवति॥"

हरि, हर, विरञ्चि प्रभृतियों से परमपूज्य अम्बा को प्रणाम या उनका स्तवन किसी अकृतपुण्य प्राणी द्वारा नहीं हो सकता। भगवती की पूजा जैन-बौद्धों में भी होती रही है, विशेषतः तारा की पूजा का रहस्य बुद्ध ही जानते थे। तारा ही द्वितीया रूप से प्रसिद्ध है, सुतारा रूप से वही जैनों में भी पूज्य है, अक्षोभ्य ही वहाँ अवलोकितेश्वर रूप में प्रसिद्ध है।

"क्षोभादिरहितो यस्मात् पीतं हालाहलं विषम्।
अतएव महेशानि अक्षोभ्यः परिकीर्त्तितः॥
तेन सार्धं महामाया तारिणी रमते सदा।"

हलाहल विष पीने पर भी जो क्षोभरहित रहे वही शिव अक्षोभ्य हैं, उनके साथ रमण करनेवाली तारा है।

"मदीयाराधनाचारं बौद्धरूपी जनार्दनः।
एक एव विजानाति नान्यः कश्चन तत्त्वतः॥" (ललितोपाख्याने)

तारा की ही उक्ति है कि बौद्धाचार से ही उनका पूजन श्रेष्ठ है। तारिणी शक्तियों से विशिष्ट महाशक्ति तारा है।

"सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव यथा नः सुभगा ससि यथा न सुफला ससि।"
(तै० आ० ६।६।२)

"जनकस्य राज्ञः सद्मनि सीतोत्पन्ना सा सर्वपरानन्दमूर्त्तिर्गायन्ति मुनयोऽपि देवाश्च।"

"अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा।"

"ऐश्वर्यवचनः शक्तिः सा पराक्रम एव च।
तत्स्वरूपा तयोर्दात्री सा शक्तिः परिकीर्तिता॥"

षोडशी

प्रशान्त हिरण्यगर्भ या सूर्य शिव है, उनकी शक्ति **'षोडशी'** है। इनकी विग्रहमूर्ति पञ्चवक्त्र है। चारों दिशाओं एवं ऊर्ध्वदिशा के अभिमुख होने से उन्हें पञ्चवक्त्र कहते हैं। तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव, अघोर और ईशान यही इनके प्रसिद्ध नाम हैं। पूर्वा, पश्चिमा, उत्तरा, दक्षिणा, ऊर्ध्वदिक् के हरित, रक्त, धूम्र, नील, पीतरङ्ग के मुख हैं। दश हाथों में अभय, टङ्क, शूल, वज्र, पाश, खड्ग, अंकुश, घण्टा, नाग और अग्नि लिये हैं।

यह बोधरूप है—

"मुक्तापीतपयोदमुक्तिकजपावर्णैर्मुखैः पञ्चभि-
स्त्र्यक्षैरञ्चितमीशमिन्दुमुकुटं पूर्णेन्दुकोटिप्रभम्।
शूलं टङ्ककृपाणवज्रदहनान् नागेन्द्रपाशाङ्कुशान्।
पाशं भीतिहरं दधानममिता वाग्म्यो ज्वलाङ्गं भजे॥"

इसमें षोडशकलाओं का पूर्णरूप से विकास है, अत एव यह भी 'षोडशी' कहा जाता है। इस पञ्चवक्त्र की शक्ति षोडशी है।

इसका ध्यान इस प्रकार है—

"बालार्कमण्डलाभासां चतुर्बाहां त्रिलोचनाम्।
पाशाङ्कुशशरांश्चापं धारयन्तीं शिवां भजे॥" (षोडशीतन्त्र)

बालार्कमण्डल के समान आभावाली, सूर्य, सोम, अग्नि इन तीन नेत्रोंवाली, चतुर्भुज, पाश, अंकुश, चाप और शर को धारण किये हैं।

भुवनेश्वरी

वृद्धिगत विश्व का अधिष्ठाता त्र्यम्बक है, उसकी शक्ति 'भुवनेश्वरी' है। उसका स्वरूप बतलाते हुए शास्त्र कहते हैं—

"उद्यद्दिनद्युतिमिन्दुकिरीटां तुङ्गकुचां नयनत्रययुक्ताम्।
स्मेरमुखीं वरदाङ्कुशपाशाभीतिकरां प्रभजे भुवनेशीम्॥"

सोमात्मक अमृत से विश्व का आप्यायन होता है, इसीलिये भगवती ने अपने किरीट में चन्द्रमा को स्थान दे रखा है। त्रिभुवन का भरण-पोषण भगवती ही करती है। उसीका संकेत करमुद्रा से है। कृपादृष्टि की सूचना उसके स्मेर (मृदुहास) से है। शासनशक्ति का सूचक अंकुश-पाश आदि से है।

छिन्नमस्ता

विपरिणमान जगत् का अधिपति चेतन कबन्ध है, उसकी शक्ति 'छिन्नमस्ता' है। विश्व का उपचय-अपचय तो हर समय ही होता रहता है, परन्तु जब ह्रास की मात्रा कम और विकास या आगम की मात्रा ज्यादा रहती है, तब भुवनेश्वरी का प्राकट्य होता है। जब निर्गम अधिक और आगम कम हो जाता है, तब छिन्नमस्ता का प्राधान्य होता है। उसका ध्यान यह हो —

"प्रत्यालीढपदां सदैव दधतीं छिन्नं शिरः कर्त्रिकाम्,
दिग्वस्त्रां स्वकबन्धशोणितसुधाधारां पिबन्तीं मुदाम्।
नागाबद्धशिरोमणिं त्रिनयनां हृद्युत्पलालङ्कृतां,
रत्यासक्तमनोभवोपरिदृढां ध्यायेज्जवासन्निभाम्॥
दक्षे चातिसितावीमुक्तचिकुरां कर्त्रीं तथा खर्परं,
हस्ताभ्यां दधतीं रजोगुणभुवा नाम्नाऽपि सार्वणिनीम्।
देव्याश्छिन्नकबन्धतः पतदसृग्धारां पिबन्तीं मुदा,
नागाबद्धशिरोमणिर्मनुविदा ध्येया सदा सा सुरैः॥
प्रत्यालीढपदा कबन्धविगलद्रक्तं पिबन्तीं मुदा,
सैषा या प्रलये समस्तभुवनं भोक्तुं क्षमा तामसी।"

(छिन्नमस्तातन्त्र)

छिन्नमस्ता भगवती छिन्नशीर्ष और कर्तरी एवं खप्पर को लिये हुए स्वयं दिगम्बर रहती है। कबन्ध-शोणित को धारा को पीती रहती, कटे हुए शिर में नागाबद्ध मणि विराजमान है और नील नयन हैं, हृदय में उत्पल की माला है, रत्यासक्त मनोभाव के ऊपर विराजमान रहती है।

त्रिपुरभैरवी

क्षीयमान विश्व का अधिष्ठाता दक्षिणामूर्ति कालभैरव है, उसकी शक्ति "भैरवी" है। उसका ध्यान यह है—

"उद्यद्भानुसहस्रकान्तिमरुणक्षौमां शिरोमालिकां
रक्तालिप्तपयोधरां जपवटीं विद्यामभीतिं वरम् ।
हस्ताब्जैर्दधतीं त्रिनेत्रविलसद्वक्त्रारविन्दश्रियं
देवीं बद्धहिमांशुरत्नमुकुटां वन्दे समन्दस्मिताम् ॥" (भैरवीतन्त्र)

उदित होते हुए सहस्रों सूर्य के समान अरुणकान्तिवाली, क्षौमाम्बर को धारण किये एवं मुण्डमाला पहने हैं । रक्त से उसके पयोधर लिप्त हैं, तीन नेत्र एवं हिमांशुबद्ध मुकुट को धारण किये तथा हाथ में जपवटी, विद्या, वर एवं अभयमुद्रा को धारण किये रहती हैं ।

धूमावती

विश्व की अमाङ्गल्यपूर्ण अवस्था की अधिष्ठात्रीशक्ति 'धूमावती' है । यह विधवा समझी जाती है, अतएव यहाँ पुरुष का वर्णन नहीं है । यहाँ पुरुष अव्यक्त है, चैतन्य, बोध आदि अत्यन्त तिरोहित होते हैं ।

इसका ध्यान यह है—

"विवर्णा चञ्चला दुष्टा दीर्घा च मलिनाम्बरा ।
विमुक्तकुन्तला वै सा विधवा विरलद्विजा ॥
काकध्वजरथारूढा विलम्बितपयोधरा ।
शूर्पहस्तातिरूक्षाक्षा धूतहस्ता वरानना ॥
प्रवृद्धघोणा तु भृशं कुटिला कुटिलेक्षणा ।
क्षुत्पिपासार्दिता नित्यं भयदा कलहास्पदा ॥"

विवर्णा, चञ्चला, दुष्टा एवं दीर्घ तथा मलिनअम्बरवाली, खुले केशोंवाली, विरलदन्तवाली, विधवारूप में रहनेवाली, काकध्वजवाले रथ पर आरूढ़, लम्बे पयोधरवाली, हाथ में शूर्प लिये हुए अत्यन्त रूक्ष नेत्रवाली, कम्पित हस्त, लम्बी नासिका, कुटिल स्वभाव, कुटिल नेत्रयुक्त, क्षुधा-पिपासा से पीड़ित, सदा भयप्रद और कलह का निवास-रूपिणी है ।

बगला

व्यष्टि में शत्रुसंजिहीर्षा, समष्टि में परमेश्वर की संहारेच्छा की अधिष्ठात्री शक्ति 'बगला' है । इसका ध्यान यह है—

"जिह्वाग्रमादाय करेण देवीं वामेन शत्रून्परिपीडयन्तीम् ।
गदाभिघातेन च दक्षिणेन पीताम्बराढ्यां द्विभुजां नमामि ॥"

अर्थात् शत्रु के हृदय पर आरूढ़, वामहस्त से शत्रुजिह्वा को खींचकर दक्षिण हस्त से गदाप्रहार करनेवाली, पीतवस्त्र धारण की हुई बगला है ।

"मध्ये सुधाब्धिमणिमण्डपरत्नवेदी सिंहासनोपरिगतां परिपीतवर्णाम् ।
पीताम्बराभरणमाल्यविभूषिताङ्गीं देवीं नमामि धृतमुद्गरवैरिजिह्वाम् ॥"

अर्थात् सुधासमुद्र के मध्यस्थित मणिमय मण्डप में रत्नमयी वेदी है, उसपर रत्नमय सिंहासन है उस पर विराजमान पीतवर्णवाली और पीतवर्ण के ही वस्त्राभूषण, माल्य से सुशोभित अङ्गवाली भगवती बगला है, जिसके एक हाथ में शत्रु की जिह्वा और दूसरे में मुद्गर है ।

मातङ्गी

मतङ्ग शिव का नाम है, उसकी शक्ति मातङ्गी है । उसका ध्यान इस प्रकार है –

"श्यामां शुभ्रांशुमालां त्रिनयनकमलां रत्नसिंहासनस्थां
भक्ताभीष्टप्रदात्रीं सुरनिकरकरासेव्यकञ्जाङ्घ्रियुग्माम् ।
नीलाम्भोजांशुकान्ति निशिचरनिकरारण्यदावाग्निरूपां
पाशं खड्गं चतुर्भिर्वरकमलकरैः खेटकञ्चाङ्कुशञ्च
मातङ्गीमाहवन्तीमभिमतफलदां मोदिनीं चिन्तयामि ॥" पञ्चचरणात्मकं पद्यम् ।

अर्थात् श्यामवर्णा चन्द्रमा को मस्तक पर धारण किये हुए, तीन नेत्रोंवाली, रत्नमयसिंहासन पर विराजमान, •नीलकमल के समान कान्तिवाली, राक्षसरूप अरण्य को दहन करने में दावानलरूपा, चार भुजाओं में पाश, खड्ग, खेटक और अंकुशवाली, भक्तों को अभीष्ट फल प्रदान करनेवाली, असुरों को मोहित करनेवाली मातङ्गी है ।

कमला

सदाशिव पुरुष की शक्ति कमला है । उसका ध्यान इस प्रकार है—

"कान्त्या काञ्चनसन्निभां हिमगिरिप्रख्यैश्चतुर्भिर्गजैः
हस्तोत्क्षिप्तहिरण्मयामृतघटैरासिच्यमानां श्रियम् ।
बिभ्राणां वरमब्जयुग्ममभयं हस्तैः किरीटोज्ज्वलां
क्षौमाबद्धनितम्बबिम्बवलितां वन्देऽरविन्दस्थिताम् ॥"

अर्थात् सुवर्णतुल्य कान्तिमती, हिमालय के सदृश श्वेतवर्णवाले चार गजों के द्वारा शुण्ड से गृहीत सुवर्णकलशों से स्नापित, चार भुजाओं में वर, अभय और कमलद्वय धारण किये हुए तथा उज्वल किरीट धारण किये हुए और क्षौमवस्त्र से आवृत कमला है ।

स्वात्मा ही विश्वात्मिका ललिता है । विमर्श रक्तवर्ण है । उपाधिशून्य स्वात्मा महाकामेश्वर है । उसके अङ्क में विराजमान सदानन्दरूप उपाधिपूर्ण स्वात्मा ही महाशक्ति कामेश्वरी है । "**शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं, न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।**" निर्गुण पुरुषरूप शिव कामेश्वरी से युक्त होकर

विश्वनिर्माणादि कार्यों में सफल हो सकता है, उसके विना कूटस्थ देव टस से मस नहीं हो सकता। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव इन्हीं की शक्तिराहित्य विवक्षा से महाप्रेत संज्ञा है। इनमें प्रथम चार में कामेशो के पलङ्ग के पाँवों की कल्पना है, सदाशिव में फलक की कल्पना है, निर्विशेष ब्रह्म के आश्रित श्रीकामेश्वरी के श्रीहस्त में पाश, अंकुश, इक्षु, धनुष और बाण हैं। राग ही पाश है, द्वेष ही अंकुश है, मन ही इक्षु-धनुष है, शब्दादि विषम पुष्पबाण हैं। कहीं इच्छाशक्ति को ही पाश, ज्ञान को ही अंकुश, क्रियाशक्ति को ही धनुष-बाण माना गया है—

"इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्।
क्रियाशक्तिमये बाणधनुषोर्दधदुज्ज्वलम्॥"

पूजारहस्य

नामरूपात्मक जगत् में सच्चिदानन्द की भावना ही अम्बा को पाद्यसमर्पण है। सूक्ष्मजगत् में ब्रह्मभावना ही अर्घ्यसमर्पण है। भावनाओं में ब्रह्मभावना ही आचमन है। सर्वत्र सत्वादिगुणों में चिदानन्दभावना ही स्नान है। चिद्रूपा कामेश्वरी में वृत्यविषयता का चिन्तन करना ही प्रोञ्छन है। निरञ्जनत्व, अजरत्व, अशोकत्व, अमृतत्व आदि की भावना ही विविध आभूषणों का अर्पण है। स्वशरीर-घटक पार्थिवप्रपञ्च में चिन्मात्रभावना ही गन्धसमर्पण है। आकाश में चिन्मात्रत्व की भावना करना पुष्पसमर्पण है। वायु की चिन्मात्रभावना धूपसमर्पण है। तेज में चिन्मात्रत्व की भावना दीपसमर्पण है। अमृततत्वभावना नैवेद्यार्पण है। विश्व में सच्चिदानन्दभावना ही ताम्बूल समर्पण है। वाणियों का ब्रह्म में उपसंहार ही स्तुति है। वृत्तिविषय के जड़त्व का निराकरण ही आरार्त्तिक्य है। वृत्तियों को ब्रह्म में लय करना ही प्रणाम है।

पुरुषरूपिणी

'देव्यथर्वशीर्ष' में देवी ने स्वयं अपने को ब्रह्मरूपिणी कहा है और यह भी कहा है कि प्रकृतिपुरुषात्मक जगत् मुक्त से आविर्भूत होता है—

"अहं ब्रह्मस्वरूपिणी मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगत् शून्यञ्चाशून्यञ्च॥"

एतावता जो कहते हैं कि प्रकृतिरूपिणी ही देवी है, उनका यह कहना ठीक नहीं। अपनी सर्वात्मता को दिखलाते हुए अपने को ही आनन्द, अनानन्द, विज्ञान, अविज्ञान, ब्रह्म, अब्रह्म सब कुछ बतलाया है। अजा में कहा है कि मैं ही सब जगत् हूँ—"अहमखिलं जगत्।" वेद-अवेद, विद्या-अविद्या, अजा-अनजा सब कुछ भगवती ही है।

"कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम्।
सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम्॥"

इस मन्त्र से भगवती के प्रसिद्ध अनेक रूपों का वर्णन करके उसे ही "एषात्म शक्तिः, एषा विश्वमोहिनी" इत्यादि वचनों से आत्मशक्तिरूप भी कहा है। यहाँ आत्मशक्ति का आत्मरूपाशक्ति भी अर्थ किया जाता है। तभी "य एवं वेद, स शोकं तरति" इस वचन से इसके वेदन में शोकोपलक्षित संसार का तरण कहा गया है। आगे चलकर कहा है—"यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यते अज्ञेया, यस्या अन्तो न लभ्यते तस्मादुच्यते अनन्ता......एकैव सर्वत्र वेद्यते तस्मादुच्यते भगवती अज्ञेया।" अनन्ता, एका, अनेका सब कुछ है।

आचार्य्य भगवान् शङ्कर ने भी भगवती के सगुण-निर्गुण दोनों ही रूपों को बड़े सुन्दर शब्दों में कहा है—"हे देवि! आपके निमेष-उन्मेष से जगत् की उत्पत्ति और प्रलय होता है। सन्त लोग कहते हैं कि आपके निमेष से जगत् का प्रलय हो जाता है, इसीलिये मालूम पड़ता है कि आप जगद्रक्षण के लिये ही निर्निमेष नयनों से भक्तों को देखती हैं—

"निमेषोन्मेषाभ्यां प्रलयमुदयं याति जगती
तवेत्याहुः सन्तो धरणिधरराजन्यतनये।
त्वदुन्मेषाज्जातं जगदिदमशेषं प्रलयतः
परित्रातुं शङ्के परिहृतनिमेषास्तवदृशः॥"

शक्ति की दृष्टि से भी देखा जाय तो शक्ति बिना सारा प्रपञ्च शवमात्र ठहरता है। अशक्त व्यक्ति, अशक्त समाज, अशक्त जाति, अशक्त देश भारभूत ही होता है, अतः शक्ति की पूजा सर्वत्र स्वाभाविक है। संसार में प्रत्येक पदार्थ में तत्तत्कार्य सम्पादन की शक्ति है, तभी उसका मूल्य है। अनन्तानन्तकार्योत्पादनानुकूल शक्ति से सम्पन्न ही परमेश्वर होता है। न्यूनशक्तिसम्पन्न ईश्वर होता है। जितना-जितना शक्तिसाहित्य होता है, उतना ही जीवत्व आता है। अधिकाधिक शक्तिसाहित्य में ईश्वरत्व आता है। निर्गुण, निराकार, निर्विकार, कूटस्थ परब्रह्म अनन्त शक्तियों की केन्द्रभूता महाशक्ति से संवलित होने पर ही विश्व की सृष्टि, पालन, संहार आदि में समर्थ होते हैं। यदि शक्तिसंवलन न हो, तो शिव भी सृष्ट्यादि में असमर्थ, अशक्त, शवमात्र रह जाता है, अतएव ईश्वर का ईश्वरत्व ही शक्तिमूलक है। जिसके सम्बन्ध से ही कूटस्थ चेतन ईश्वर बनता है, उसके महत्व को कौन कहे?

"शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवोः।"

आचार्य्य तो कहते हैं कि संसार में बहुत लोग अनेक गुणों से युक्त सपर्णा (पत्तोंवाली) कल्पलता का बड़े आदर से सेवन करते हैं, परन्तु मेरी तो ऐसी बुद्धि होती है कि (बिना पत्तोंवाली बेल) एक अपर्णा पार्वती का ही सेवन करना चाहिये, क्योंकि उसके संसर्ग से पुराना स्थाणु ठूंठ (पुराणपुरुषोत्तम कूटस्थ महादेव) भी कैवल्यरूप परमफल प्रदान करता है। सारांश यह कि सपर्णा कल्पलता के सेवन से भी

अपर्णा (पार्वती) का सेवन बहुत अधिक चमत्कारपूर्ण है। कल्पलता बहुत फल प्रदान कर सकती है, परन्तु वह मोक्ष देने में समर्थ नहीं। किन्तु अपर्णा का स्वयं तो कहना ही क्या, उसके संसर्ग से पुराना ठूँठ (पुराणपुरुष निष्क्रिय शङ्कर) भी मोक्ष-फल प्रदान कर देता है--

"सपर्णामाकीर्णां कतिपयगुणैः सादरमिह
श्रयन्त्यन्ये वल्लीं मम तु मतिरेवं विलसति।
अपर्णैका सेव्या जगति सकलैर्यत्परिवृतः
पुराणोऽपि स्थाणुः फलति किल कैवल्यपदवीम्॥"

आगे चलकर आचार्य्य कहते हैं—भगवान् शङ्कर के पास तो वृद्ध वृषभ की सवारी, भाँग, धत्तूर आदि विषों का खाना, दिशा का वसन, श्मशान क्रीड़ास्थान, भुजङ्गभूषण आदि जो सामग्रियाँ हैं, वह प्रसिद्ध ही है, फिर भी जो उनमें ऐश्वर्य्य है, वह केवल भगवती के पाणिग्रहण का ही फल है। भगवती के सौभाग्य से ही शङ्कर का ऐश्वर्य्य है—

'भवानि त्वत्पाणिग्रहणपरिपाटीफलमिदम्॥"

इन उक्तियों का यही अभिप्राय है कि शक्ति के बिना कूटस्थब्रह्म अकिञ्चित्कर है, उसमें ऐश्वर्य्य आदि कुछ भी नहीं रह सकता।

"शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः॥"

इत्यादि वचनों से अनन्त शक्तियों का वर्णन है और शक्तिमान् दोनों का ही अभेद्य सम्बन्ध रहता है। भक्त कहते हैं कि देवी की महिमा अनन्त है, फिर भी जो वर्णन समाप्त किया जाता है, वह गुणों के समाप्त हो जाने से नहीं, किन्तु असामर्थ्य या थकावट से ही स्तुति समाप्त की जाती है।

"महिमानं यदुत्कीर्त्य तव संह्रियते वचः।
श्रमेण तदशक्त्या वा न गुणानामियत्तया॥"

प्राणियों की अभीष्ट वस्तुओं में रूप, जय, यश और शत्रुपराभव अभीष्ट होती है, यह सब निश्छलभाव से माता से ही माँगा जाता है--माता ही देती है—

"रूपं देहि जयं देहि यशो देहि द्विषो जहि।"

इसीलिये सुरासुर सभी अपने मुकुट-किरीट के रत्नों से माता के चरणपीठ का वन्दन करते हैं—

"सुरासुरशिरोरत्ननिघृष्टचरणेऽम्बिके।"

कृष्ण ने भी भक्तिपूर्वक उन्हीं की स्तुति की—

"कृष्णेन संस्तुते देवि शश्वद्भक्त्या तथाम्बिके।"

शाक्ताद्वैत में भगवती

शाक्ताद्वैत की दृष्टि यह है कि अनन्त विश्व का अधिष्ठानभूत शुद्धबोधस्वरूप प्रकाश ही शिवतत्व समझा जाता है। उस प्रकाश में जो विमर्श है, वही शक्ति है। प्रकाश के साथ विचारात्मक शक्ति का अस्तित्व अनिवार्य्य है। बिना प्रकाश के विमर्श नहीं, और बिना विमर्श के प्रकाश भी नहीं रहता। यद्यपि वेदान्तियों की दृष्टि में बिना विमर्श के भी अनन्त, निर्विकल्प प्रकाश रहता है, परन्तु शाक्तद्वैतियों की दृष्टि से विमर्श हर समय रहता है। यहाँ तक कि महावाक्यजन्य परब्रह्माकारवृत्ति के उत्पन्न हो जाने पर भी, आवरक अज्ञान के मिट जाने पर भी स्वयं वृत्तिरूप विमर्श बना ही रहता है। वेदान्ती इस वृत्ति को स्वपरविनाशक मानते हैं। परन्तु शाक्ताद्वैती कहते हैं कि अपने आप में ही नाश्य-नाशकभाव सम्भव नहीं है। यदि उस वृत्ति के नाश के लिये दूसरी वृत्ति को उत्पत्ति मानेंगे, तब तो उसके भी नाश के लिये अन्यवृत्ति माननी पड़ेगी, फिर अनवस्था की प्रसक्ति होगी। अविद्या स्वयं नष्ट होनेवाली है, अतः उससे भी उस वृत्तिरूपा विद्या का नाश नहीं कहा जा सकता। विरोध न होने के कारण विद्याविद्या का सुन्दोपसुन्दन्याय से भी परस्पर नाश्य-नाशकभाव नहीं कहा जा सकता। जो कहा जाता है जैसे कनकरज जल के भीतर भी मिट्टी को नष्ट करके स्वयं नष्ट हो जाता है, वैसे ही विद्यारूपावृत्ति स्वातिरिक्त अविद्यातत्कार्य को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है। परन्तु दृष्टान्त में कनकरज का नाश नहीं होता, किन्तु इतर रजों को साथ लेकर कनकरज पानी के नीचे बैठ जाती है, अतः यहाँ भी उक्त दृष्टान्तों से वृत्ति का नाश नहीं कहा जा सकता। यही स्थिति—

> "विषं विषान्तरं जरयति स्वयमपि जीर्यति,
> पयः पयोऽन्तरं जरयति स्वयमपि जीर्यति।"

इत्यादि उक्तियों की भी है अर्थात् वहाँ भी विष या पय नष्ट नहीं होता, किन्तु दूसरे पय या विष की अजीर्णता को नष्ट करके अपने आप भी पच जाता है। अतः इन दृष्टान्तों से भी वृत्ति का नाश नहीं कहा जा सकता। इसलिये वृत्तिरूप विद्या से संश्लिष्ट होकर ही अनन्तप्रकाशस्वरूप शिव सदा विराजमान रहता है। इसी तरह यह भी विचार उठता है कि अविद्या निवृत्ति क्या है? कोई वस्तु कहीं से निवृत्ति होते हुए भी कहीं न कहीं रहती ही है।

यदि ध्वंसरूप निवृत्ति मानी जाय, तो भी अपने कारण में उसकी स्थिति माननी पड़ेगी, क्योंकि घटादि का ध्वंस होने पर भी अपने कारण कपाल, चूर्ण आदि कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में उनकी स्थिति माननी ही पड़ती है। यही स्थिति लयरूपानिवृत्ति की भी है। यदि निवृत्ति को सर्वथा निःस्वरूप कहें, तो उसके लिये प्रयत्न नहीं हो सकता। सही कहें, तब तो उसी रूप से शक्ति की स्थिति रह सकती

है। अनिर्वचनीय कहें, तो उसको भी ज्ञाननिवर्त्यता कहनी पड़ेगी, अतएव कुछ आचार्यों ने पञ्चम-प्रकारा अविद्या-निवृत्ति मानी है तथा उस रूप से भी विमर्शरूपा शक्ति का अस्तित्व रहता ही है। हाँ, उस समय अन्तर्मुख होकर शिवस्वरूप से ही शक्ति स्थित रहती है—

"मुक्तावन्तर्मुखैव त्वं भुवनेश्वरि तिष्ठसि" (शक्तिदर्शन)

इसीलिये शक्ति को नित्य कहा जाता है—

"नित्यैव सा जगद्धात्री।"

"नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते,"

इस वचन से वृत्तिरूप दृष्टि को नित्य समझा जाता है। परन्तु वेदान्ती द्रष्टा की स्वरूपभूता दृष्टि को नित्य कहते हैं।

शिवपरात्पर

विमर्श, प्रकाशशक्ति का शिव में प्रवेश होने से बिन्दु, स्त्रीतत्व नाद की उत्पत्ति हुई। जब दूध-पानी की तरह दोनों एक हो गये, तब संयुक्तबिन्दु हुए। वही अर्ध-नारीश्वर हुए। इनकी परस्पर आसक्ति ही काम है। श्वेतबिन्दु पुंस्त्व का, रक्तबिन्दु स्त्रीत्व का परिचायक है। तीनों जब मिलते हैं, तब कामकला की उत्पत्ति होती है। मूल बिन्दु, नाद और श्वेत तथा रक्त बिन्दु, इन चारों के मिलने से सृष्टि होती है। किसी के मत में नाद के साथ अर्द्धकला भी हुई। कामकलादेवी का संयुक्तविन्दु वदन है, अग्नि और चन्द्र वक्षःस्थल है, अर्धकला जननेन्द्रिय है, 'अ' शिव का प्रतीक है, 'ह' शक्ति का प्रतीक है। यह त्रिपुरसुन्दरी 'अहं' से व्याप्त है। सम्पूर्ण सृष्टि व्यक्तित्व और अहं से पूर्ण है। सहस्रार के चन्द्रगर्भ से स्रवित आसव को पान कर ज्ञानकृपाण से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि आसुर पशुओं को मारकर, वञ्चना, पिशुनता, ईर्ष्या मछलियों को पकाकर, आशा, कामना, निन्दा मुद्रा को धारण कर, मेरुदण्डाश्रिता रमणियों में रमण कर सामरस्य की प्राप्ति होती है। कुछ लोग पञ्चमकार का यही रहस्य बतलाते हैं।

शिवशक्ति संयोग ही नाद है—

"यदयमनुत्तरमूर्त्तिर्निजेच्छया विश्वमिदं स्रष्टुम्।
पस्पन्दे सस्पन्दः प्रथमः शिवतत्त्वमुच्यते तज्ज्ञैः॥"

शिवसंश्लिष्ट शक्ति विश्व का बीज है। अहं प्रकाश में शिव निश्चेष्ट, शक्ति सक्रिय रहती है, यही काली की विपरीत रति है। विमर्शात्मिका शक्ति जब शिव में लीन होती है, तब उन्मना अवस्था होती है। उसके विकसित होने पर समान अवस्था होती है।

"सच्चिदानन्दविभवात्सङ्कल्पात्परमेश्वरात्।
आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः॥"

विभव सकल से शक्ति, उससे नाद, उससे बिन्दु का प्राकट्य होता है। नाद में जो क्रिया शक्ति है बिन्दु की अहंनिमेषा है। सृष्टि की अन्तिम अवस्था है 'इदं'। 'अहं' महाप्रलय की पूर्वअवस्था है और शक्ति की उच्छूनावस्था घनीभाव है! ज्ञान-प्रधानाशक्ति क्रियारूपेण रजःप्रधाना बिन्दुतत्व से तमःप्रधाना रहती है। व्यवहार में शक्तिमान् से शक्ति का आदर अधिक है। बुद्धि बिना बुद्धिमान् का, बल बिना बलवान् का, शिल्पशक्ति बिना शिल्पी का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। मिठास बिना मिश्री का, सौगन्ध्य बिना पुष्प का, सौन्दर्य बिना सुन्दरी का, लज्जा बिना कुलाङ्गना का कुछ भी महत्व नहीं रह जाता। शाक्ताद्वैतदृष्टि से शक्ति शिवस्वरूप ही है, सच्चिदानन्द में चिद्भाव विमर्श है, सत् का भाव शिव है।

"रुद्रहीनं विष्णुहीनं न वदन्ति जनाः किल,
शक्तिहीनं यथा सर्वे प्रवदन्ति नराधमम्।"

अर्थात् कोई भी प्राणी रुद्रहीन, विष्णुहीन होने से शोचनीय नहीं होता, किन्तु शक्तिहीन होने से ही शोचनीय होता है।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।"

बलहीन प्राणी को अपनी आत्मा का भी उपलम्भ नहीं हो सकता—

"गिरामाहुर्देवीं द्रुहिणगृहिणीमागमविदो
हरेः पत्नीं पद्मां हरसहचरीमद्रितनयाम्।
तुरीया कापि त्वं दुरधिगमनिःसीममहिमा
महामाया विश्वं भ्रमयसि परब्रह्ममहिषि॥"

परब्रह्म महिषीरूपा भगवती को आचार्यों ने तुरीया चिच्छक्तिरूपा ही बतलाया है।

"शङ्करः पुरुषाः सर्वे स्त्रियः सर्वा महेश्वरी।
विषयी भगवानीशो विषयः परमेश्वरी॥
मन्ता स एव विश्वात्मा मन्तव्यं तु महेश्वरी।
आकाशः शङ्करो देवः पृथिवी शङ्करप्रिया॥"

समुद्र-वेल, वृक्ष-लता, शब्द-अर्थ पदार्थ-शक्ति, पुं-स्त्री, इज्ञ-इज्या, क्रिया-फलभुक्, गुण—व्यक्तिव्यञ्जकतारूप, प्रथमनीति-जय बोध-बुद्धि, धर्म-सत्क्रिया, सन्तोष-तुष्टि, इच्छा-काम, यज्ञ-दक्षिणा, आज्याहुति-पुरोडाश, काष्ठा-निमेष, मुहूर्त-कला, ज्योत्स्ना-प्रदीप, रात्रि-दिन, ध्वज-पताका, तृष्णा-लोभ, रति-राग, उपर्युक्त भेदों से उसी तत्व का अनेकधा प्राकट्य होता है। शक्तिशब्द से बहुत से लोग केवल माया, अविद्या आदि बहिरङ्ग शक्तियों को ही समझते हैं। परन्तु भगवान् की स्वरूपभूता आह्लादिनी शक्ति, जीवभूता पराप्रकृति आदि भी शक्ति शब्द से व्यवहृत होते हैं। जैसे सिता, द्राक्षा, मधु आदि में मधुरिमा उनका परमान्तरङ्ग स्वरूप ही है, वैसे ही

परमानन्दरसामृतसार समुद्र भगवान् की परमान्तरङ्ग स्वरूपभूता शक्ति ही भगवती है—

"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥"

यहाँ पर विष्णु और क्षेत्रज्ञ को भी शक्ति ही कहा गया है। यद्यपि शक्तियाँ अनेक हैं, तथापि आनन्दाश्रित आह्लादिनी, चेतनांशाश्रित संवित्, सदंशाश्रित सन्धिनी-शक्ति होती है। क्षेत्रज्ञ तटस्थाशक्ति है, माया बहिरङ्गाशक्ति मानी जाती है। तत्वविद् लोग कहते हैं कि जैसे पुष्प का सौगन्ध्य सम्यक् रूप से तब अनुभूत हो सकता है, जब पुष्प को घ्राणशक्ति हो। अन्य लोगों को तो व्यवधान के साथ किञ्चिन्मात्र ही गन्ध का अनुभव होता है। उसी तरह भगवती के सुन्दर स्वरूप का सम्यक् अनुभव परम शिव को ही प्राप्त होता है; वह अन्य दृष्टि का विषय ही नहीं—

"घृतक्षीरद्राक्षामधुमधुरिमाकैरपिपदै-
विशिष्यानाख्येयो भवति रसनामात्रविषयः।
तथा ते सौन्दर्यं परमशिवदृङ्मात्रविषया-
कथङ्कारं ब्रूमः सकलनिगमागोचरगुणे॥"

अर्थात् वस्तुतः निर्गुणा सत्या सनातनी सर्वस्वरूपा भगवती ही भक्तानुग्रहार्थ सगुण होकर प्रकट होती है। वैसे तो भगवती के अनन्त स्वरूप हैं, विशेषतः शैलपुत्री, ब्रह्मचारिणी, चन्द्रघण्टा, कूष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायनी, कालरात्री, महागौरी, सिद्धिदा ये नव स्वरूप प्रधान हैं—

कार्यार्थे सगुणा त्वं च वस्तुतो निर्गुणा स्वयम्।
परब्रह्मस्वरूपा त्वं सत्या नित्या सनातनी॥
सर्वस्वरूपा सर्वेशी सर्वाधारा परात्परा।
सर्वबीजस्वरूपा च सर्वमूला निराश्रया॥
सर्वज्ञा सर्वतोभद्रा सर्वमङ्गलमङ्गला।"

वैसे तो अनन्त शक्तियाँ हैं, फिर भी इनके अतिरिक्त और भी कुछ प्रधान शक्तियाँ हैं, जो पूज्य हैं। व्यवहार और परमार्थ में उनका परम उद्योग है।

निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, इंधिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका, परा सूक्ष्मा, सूक्ष्मामृता, ज्ञानामृता, अमृता, आप्यायिनी, व्यापिनी, व्योमरूपा, तीक्ष्णा, अनन्ता, सृष्टि, ऋद्धि, स्मृति, मेधा, कान्ति, लक्ष्मी, द्युति, स्थिति, सिद्धि, जड़ा, पालिनी, शान्ति, ऐश्वर्य्या, रति, कामिका, वरदा, आह्लादिनी, प्रीति, दीर्घा, रौद्री, निद्रा, तन्द्रा, क्षुधा, क्रोधिनी, पुष्टि, तुष्टि, धृति, चन्द्रिका आदि सृष्टि चिद्घनमहासमुद्र की अनन्त शक्तिस्वामिनी ही भगवती है।

'अगस्त्यसंहिता' के वचनानुसार भगवान् शिव ने श्रीराम के प्रत्यक्ष साक्षात् करने के लिये बड़ी तपस्या और आराधना की। भगवान् राम ने प्रसन्न होकर कहा कि यदि मेरा तत्व जानना चाहते हो तो मेरी आह्लादिनी पराशक्ति की आराधना करो, उसके बिना मेरी स्थिति नहीं होती—

"आह्लादिनीं परां शक्तिं स्तुयाः सात्वतसंमताम्।
सदाराध्यस्तदा रामस्तदधीनस्तया विना।
तिष्ठामि न क्षणं शंभो जीवनं परमं मम॥"

यह सुनकर श्री शिवजी ने भगवान् की आराधना की। भगवती ने कृपा कर उन्हें दर्शन दिया। उनके अद्भूत रूप को देखकर उन्होंने अति भक्ति से दिव्य स्तुति की—

"वन्दे विदेहतनयापदपुण्डरीकं
कैशोरसौरभसमाहृतयोगिचित्तम्।
हन्तुं त्रितापमनिशं मुनिहंससेव्यं
सन्मानसालिपरिपीतपरागपुञ्जम्॥"

करुणा तो शिव, विष्णु आदि सभी देवों में होती है, परन्तु परमकल्याणमयी, करुणामयी तो श्री अम्बा ही है। कुपुत्र पर भी अम्बा की करुणा ही रहती है—

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति॥"

शत्रु से निष्ठुरतापूर्वक युद्ध करते हुए भी माँ के हृदय में शत्रुओं पर भी कृपा रहती है। उनको बाणों से पवित्र करके दिव्यलोक में भेजती है। वास्तव में सब माँ के पुत्र हैं, शत्रु कौन है?—

"चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता च दृष्टा।"

अत्याचारी रावण को भी माँ सीता ने कल्याणार्थ प्रभुशरणागति का ही उपदेश किया है। अत्याचारी के अत्याचार पर ध्यान न देकर उसको सत्यपथ पर ही लाने का प्रयत्न माँ की ओर से होना उचित है। माँ ने अपने तप से हनुमान् के लिये अग्नि को शीत कर दिया—**"शीतो भव हनूमतः।"** जो अग्नि को शीत कर सकती है, वह रावण को क्या भस्म नहीं कर सकती है? अवश्य कर सकती है। परन्तु उसने स्वयं कहा है—

"असन्देशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्।
न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्हतेजसा॥"

माता कहती है—श्रीराम का सन्देश न होने से, तपस्यानाश के भयसे हे दशग्रीव, मैं अपने उग्र तेज से तुझे भस्म नहीं करती हूँ। वही परम दयामयी है।

लङ्का-विजय के पश्चात् हनुमान् ने श्री जानकी को विजय का शुभ सन्देश सुनाया और माता को सतानेवाली राक्षसियों को दण्ड देने की आज्ञा चाही, परन्तु

माँ ने कहा—"**कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति।**" बेटा, सज्जनों को करुणा करनी चाहिये, अपराध तो सबसे ही होता रहता है। जब ये रावण के वश में थीं, तब सताती थीं। अब यह सब कुछ नहीं सता रही हैं, फिर भी इनपर कृपा करनी चाहिये—

"मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया
रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता।
काकं तञ्च विभीषणं शरणमित्युक्ति क्षमौ रक्षतः
सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥"

कोई भक्त कहता है—हे माता, आपने सदा अपराधवाली राक्षसियों की हनुमान् से रक्षा करके श्रीरामगोष्ठी छोटी कर दी, क्योंकि उन्होंने तो जयन्त और विभीषण की रक्षा शरणागत होने पर की थी, परन्तु आपने तो शरण होने की अपेक्षा बिना ही उनका रक्षण किया—

"पितेव त्वत्प्रेयाञ्जननि परिपूर्णागसि जने
हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित्कलुषधीः।
किमेतन्निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥"

भगवान् भी जब जीवपर कभी नाराज होते हैं, तब माता उन जीवों के अनुकूल करती हैं। भक्त माँ से कहता है—हे माँ! जब आपके स्वामी भगवान् जीवों पर हितबुद्ध्या कुपित होते हैं, तब आप "यह क्या? संसार में निर्दोष कौन है?" ऐसा कहकर समुचित उपायों से पिता को अनुकूल बनाती हैं, इसीलिये कि आप ही सच्ची माँ हो।

"नित्यं विश्वं वशयति हरिर्निग्रहानुग्रहाभ्या-
माद्ये शक्तिं विघटयति ते हन्त कारुण्यपूरः।"

भगवान् श्रीहरि जगत् को अपने वश में रखते हैं परन्तु आपकी करुणा हरि की निग्रहादि शक्तियों को भी स्वाधीन रखती है। भगवती ही सबसे अन्तर और महत्त्वपूर्ण हैं, इसीलिये भक्त कहते हैं—

"त्वय्येवाश्रयते दया रघुपते देवस्य सत्यं यतो
वैदेहि त्वदसन्निधौ भगवता वाली निरामाहतः।
नित्ये कापि वधूर्वधं तव तु सान्निध्ये त्वदङ्गव्यथा
कुर्वाणोऽप्यभितः पतन्नशरणः काको विवेकोज्झितः॥"

हे वैदेहि! आपके सान्निध्य में ही रघुनाथजी की दया व्यक्त होती है, आपका सन्निधान न रहने से निरपराध बाली मारा गया और ताड़का मारी गयी। परन्तु आपका सान्निध्य रहने पर तो आपके अङ्ग में व्यथा पहुँचानेवाला जयन्त भी अशरण होकर गिरते हुए बचा लिया गया। भक्त माँ लक्ष्मी से कहता है—

"गौरश्चकास्ति हृदयेषु शरीरभाजां
तस्यापि देवि हृदयं त्वमनु प्रविष्टा।
पद्मे तवापि हृदये प्रथते दयेयं
त्वामेव जाग्रदखिलातिशयां श्रयामः ॥"

सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में भगवान् कृष्ण विराजमान हैं। हे माँ! उनके हृदय में भी आप प्रविष्ट हैं और आपके हृदय में भी दया विराजमान है, अतः आप ही अखिलातिशया हैं, हम आपका ही आश्रयण करते हैं। इन बातों से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि ब्रह्म, परमात्मा, शक्ति, गौरी, लक्ष्मी, सीता, राधा, करुणा, दया आदि रूप से ही भगवती को ही आराधना होती है। ब्रह्मविद्या की महिमा सर्वत्र स्फुट है, उसके बिना प्राणियों की अन्तरात्मा होने पर भी, परमानन्दरूप होने पर भी, अकिञ्चित्कर-सा बना रहता है। जो प्राणो ब्रह्मविद्या बिना कीटादि नगण्य जन्तु बना रहता है, वही ब्रह्मविद्या की कृपा से ब्रह्म हो जाता है। वह भी भगवती ही हैं। भक्ति की भी महिमा प्रख्यात है। भक्ति के ही सम्बन्ध से भक्त भगवान् को अपने वश में कर लेता है। वह भक्ति भी भगवती ही हैं। शक्ति, भक्ति ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त परमानन्दसुधासमुद्र परब्रह्म की मधुरिमा भी भगवती ही है।

भावुकों की भावना है कि आनन्दरससारसरोवरसमुद्भूतपङ्कज व्रज है, पङ्कज के केसर ब्रजाङ्गनाएँ हैं, मकरन्द कृष्ण है, मकरन्द का माधुर्य्य, मिठास, सौगन्ध्य आदि राधिका हैं। यही दृष्टि सीता, गौरी आदि में समझनी चाहिये। इस दृष्टि से भगवती का स्वरूप ही सर्वान्तरङ्ग और सर्वोत्कृष्ट रहता है।

ब्रह्मजाया

अनेक स्थानों में भगवती को परमात्मा की भोगदा भार्या बतलाया गया है—

"निर्गुणः परमात्मा तु त्वदाश्रयतया स्थितः।
तस्य भट्टारिकासि त्वं भुवनेश्वरि भोगदा॥"

निर्गुण परमात्मा ही भगवती के आश्रयरूप से स्थित हैं, भगवती उसकी भोगदा भट्टारिका है, अतएव वही भुवनेश्वरी हैं। जीव, ईश्वर आदि अन्यान्य सभी वस्तुएँ भगवती की ही सन्तान हैं—

"मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।" (शक्तिसत्वदर्शिनी)

जैसे वह्नि और उसकी दाहिका शक्ति का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है, वैसे ही परमात्मा और उसकी शक्ति का तादात्म्य सम्बन्ध है—

"तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहकयोरिव।"

भगवती की ब्रह्मरूपता

केवल शक्तिरूप से ही नहीं, किन्तु ब्रह्मरूप से भी अनेक स्थलों में उसीका प्रतिपादन मिलता है।

"अचिन्त्यामिताकारशक्तिस्वरूपा
प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्तैकमूर्त्तिः।
गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या
त्वमेका परब्रह्मरूपेण······· ॥"

अचिन्त्य अमित आकारों की मूलभूता सत्तास्वरूपा भी वही है, वही गुणातीत है। निर्विकल्पबोध से ही स्वप्रकाशरूपेण भगवती की अवगति होती है, अतएव अद्वितीय परब्रह्मस्वरूप से भगवती नित्य ही प्रसिद्ध हैं।

'केनोपनिषद्' में ब्रह्मविद्यारूप भगवती का वर्णन मिलता है, उसीकी कृपा से इन्द्र आदिकों को ब्रह्मस्वरूप का बोध हुआ था। जब इन्द्र के सामने से ब्रह्म का अन्तर्धान हो गया, तब इन्द्र लज्जित होकर उसी आकाश में खड़ा रह गया और तपस्या करने लगा। बहुत दिनों की तपस्या से सन्तुष्ट होकर भगवती इन्द्र के सामने प्रकट हुई—

"स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीम्।"

इन्द्र ने उसी आकाश में बहुशोभमाना हैमअलङ्कारों से युक्त ब्रह्मविद्यारूपा भगवती को देखा और उसकी कृपा से ब्रह्म को जाना।

शक्ति के उपासकों का तो शक्ति सर्वस्व है ही परन्तु तत्तद्देवताओं के उपासकों को भी शक्ति की आराधना करनी पड़ती है। यहाँ तक कि शक्ति की उपासना के बिना उन-उन देवताओं की प्राप्ति ही नहीं होती। संमोहन तन्त्र में तो स्पष्ट ही यह उक्ति है कि गौरतेज राधिका की उपासना किये बिना, जो केवल श्यामतेज कृष्ण की आराधना करता है, वह पातकी होता है—

"गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वापि स भवेत् पातकी शिवे ॥"

●

बुद्धावतार का प्रयोजन

कुछ लोगों के प्रश्न होते हैं कि बौद्धमतप्रवर्तक बुद्धदेव भगवान् के नवें अवतार माने जाते हैं, हर एक संकल्प के देश-कालसंकीर्त्तन में "बुद्धावतारे" पढ़ा जाता है, फिर उनसे प्रतिष्ठापित धर्म अधर्म कैसे हो सकता है ? कुछ लोग यह भी कहने लगते हैं कि बुद्ध ने वेदों और वैदिक धर्म का खण्डन नहीं किया, किन्तु वैदिक धर्म में फैले हुए पाखण्डों का खण्डन किया है। आगे चलकर बौद्ध धर्म में अनाचार फैल जाने से भगवान् ने ही श्रीशंकराचार्य रूप से अवतीर्ण होकर उसे दूर किया। इसपर वैदिकों का कहना है कि अवश्य ही बुद्ध भगवान् के अवतार थे। परन्तु जिन पुराणों में बुद्धावतार वर्णन है, वहीं उसका प्रयोजन भी कहा गया है। यह ठीक है कि गीता के कथनानुसार भगवान् का अवतार धर्मग्लानि एवं अधर्माभ्युत्थान को मिटाने और धर्मसंस्थापन के ही लिये होता है। इसी दृष्टि से बुद्धावतार का भी यह प्रयोजन अवश्य होना चाहिये।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि जैसे वैदिक धर्म में अधिकारियों की प्रवृत्ति न होना दोष है, वैसे ही अनधिकारियों की प्रवृत्ति होना भी दूषण ही है और जैसे अधिकारियों को कर्मों में प्रवृत्त करना आवश्यक है, वैसे ही अनधिकारियों की निवृत्ति भी आवश्यक है। ये दोनों ही कर्म दुष्कर हैं। आज जो पुराणश्रवण और मन्दिर-शिखरदर्शन से ही कृतकृत्य हो सकते हैं वे ही नव्य लोगों के बहकाने में आकर शास्त्रमर्यादा के विपरीत वेदाध्ययन तथा मन्दिर-प्रवेश चाहते हैं और हितैषियों के समझाने से भी नहीं मानते हैं। किसी समय ठीक ऐसी ही स्थिति हो गयी थी। वेदाध्ययन तथा तदुक्त अग्निहोत्रादि कर्म के अनधिकारी देवताओं का अभिनव करने की दृष्टि से इन कर्मों में प्रवृत्त हो गये और यज्ञ-व्याज से पशुवध तथा सुरापान का विस्तार करने लगे। शास्त्रों में यज्ञ के अङ्गरूप से यद्यपि पशुवध अनुमोदित है तथापि यज्ञ-व्याज से उदर-पोषणार्थ पशुवध पाप ही है। इस तरह धर्म की ओट में अधर्म का प्रचार होने लगा। उस समय किसी के समझाने-बुझाने से भी उनकी उन कर्मों से निवृत्ति असम्भव थी। ऐसी स्थिति में उन्हें उन कर्मों से निवृत्त करने के लिये भगवान् को उनके श्रद्धेय बनकर प्रकट होने की आवश्यकता प्रतीत हुई। बस, इसीलिये बुद्धावतार हुआ।

बुद्धदेव महाविरक्त और सिद्ध थे। उन्होंने अपने चमत्कारों से उन असुर-स्वभाववालों के मनों को मोहित कर लिया, फिर वेदों और वेदोक्त धर्मों से उनकी अश्रद्धा उत्पन्न कर दी। जब बुद्धदेव में ऐसे लोगों की पूर्ण श्रद्धा उत्पन्न हो गयी, तब उन्होंने जो कुछ भी कहा उसपर उन लोगों ने पूर्ण विश्वास किया। बस, वे भी वेद

और वेदोक्त धर्म की निन्दा करने लगे। जो किसी के समझाने से भी असम्भव था वह सरल हो गया। इस कार्य के सम्पन्न हो जाने पर बुद्धदेव ने उस रूप से फिर दूसरी बात कहना अनुचित समझा।

बाद में जब बुद्ध के चमत्कार के प्रभाव से धर्माधिकारियों को भी अपने धर्म से अश्रद्धा होने लगी, तब फिर भगवान् को अवतार ग्रहण की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः वेद एवं तदुक्त धर्मों में श्रद्धा स्थिर करने के लिये भगवान् फिर शङ्कराचार्य रूप में प्रकट हुए और बौद्धमत-खण्डन करके वैदिक धर्म की स्थापना की। इस तरह दोनों ही अवतारों की सार्थकता हो जाती है। वैदिकगण जैसे भगवान् को अनादि मानते हैं, वैसे ही वेदों को भी। अतएव **'नास्तिको वेदनिन्दकः'** के आधार पर वेद-निन्दक को ही नास्तिक कहा जाता है। तुलसीदासजी ने भी कहा है कि—

"जो कोइ दूषहिं श्रुति करि तर्का,
परहिं ते कोटि कल्प भरि नर्का।"

अतएव, आस्तिक लोग भगवान् से भी अधिक सम्मान वेदों का करते हैं। नैयायिक आदि परमेश्वर-निर्मित होने से वेदों का प्रामाण्य मानते हैं। परन्तु, वेदान्तियों का कहना है कि यदि परमेश्वरनिर्मित होने से वेदों का प्रामाण्य है तो यह कहना होगा कि परमेश्वर में क्या प्रमाण है? यदि वेद को प्रमाण कहें, तब तो **'अन्योऽन्याश्रयदोष'** अवश्य होगा अर्थात् वेद के आधार पर ईश्वरसिद्धि और ईश्वर-निर्मित होने से वेदप्रामाण्यसिद्धि।

कहा जा सकता है कि **'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्त्तृकं कार्य्यत्वात् घटवत्'** इत्यादि अनुमानों से परमेश्वर की सिद्धि होगी और ईश्वरनिर्मित होने से वेदों का प्रामाण्य सिद्ध होगा। पर यह पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि अनुमान से ईश्वरसामान्य की ही सिद्धि होती है, ईश्वरविशेष की नहीं, जैसे धूम से वह्निसामान्य की ही सिद्धि होती है, वह्निविशेष की नहीं।

अनुमानसिद्ध परमेश्वर **'वेदकार'** है या **'बौद्धागमकार'**, **'बाइबिलकार'** है या **'कुरानकार'** यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह कौन परमेश्वर है यह सिद्ध नहीं होता। जिन-जिन युक्तियों से नैयायिक, वैशेषिक 'वेदकार' को परमेश्वर सिद्ध करेंगे, उन्हीं युक्तियों से 'बाइबिल' आदि के अनुयायी 'बाइबिलकार' आदि को परमेश्वर सिद्ध कर देंगे। यदि सभी को परमेश्वर ही मान लें, तब तो उनके प्रचारित सिद्धान्तों में मतभेद न होना चाहिये।

कुछ लोग यह कहकर समन्वय करने की चेष्टा करते हैं कि उन-उन देशों-कालों के अनुसार उन-उन सिद्धान्तों की रचना हुई है, अतः सिद्धान्तभेद होने पर भी अधिकारीभेद संगत है। पहले तो यह बात उन ग्रन्थों और उनके पण्डितों को ही मान्य नहीं है, सभी लोग यही कहते हैं कि हमारा ही धर्म और धर्मग्रन्थ

सब देश और सर्वकाल के लिये मानने योग्य है। अतएव, ईसाई, मुसलमान आदि भारत में भी अपने ही धर्म को फैलाना चाहते हैं। फिर आत्मा, ईश्वर आदि वस्तु ऐसी है कि वह देश-कालभेद से बदला नहीं करती। अतः उनमें सर्वज्ञ का मतभेद नहीं हो सकता। इसीलिये वैदिकलोग परमेश्वरनिर्मित होने से वेदों का प्रामाण्य नहीं मानते, अपितु वेदसिद्ध होने से ही परमेश्वर का अस्तित्व मानते हैं।

वैदिकों ने **"शास्त्रयोनित्वात्"** इस सूत्र में परमेश्वर को वेदैकसमधिगम्य माना है—

"शास्त्रमृग्वेदादिरेव योनिः स्वरूपसिद्धौ प्रमाणं यस्य, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्"

इस दृष्टि से यह कहा है कि परमेश्वर की स्वरूपसिद्धि में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है।

"तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" यहाँ पर जैसे चक्षुमात्र से ग्राह्य रूप को 'चाक्षुष' कहा जाता है, वैसे ही वेदोपनिषदगम्य परम पुरुष को 'औपनिषद' कहा जाता है। इसी तरह धर्म भी केवल वेदों से ही जाना जाता है, जैसे **"चक्षुषैव रूपमुपलभ्यते"** और **"दोषरहितेन आलोकादिसहकृतेन मनःसंयुक्तेन चक्षुषा रूपमुपलभ्यत एव।"** इस तरह जैसे अयोगव्यवच्छेदक और अन्ययोगव्यवच्छेदक हो 'एवकार' से चक्षु का और रूप का असाधारण सम्बन्ध निश्चित होता है, वैसे ही वेदों से ही धर्म का बोध होता है। अतएव, भगवान् भी गीता में कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय के लिये एकमात्र शास्त्र को ही प्रमाण कहते हैं—

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि।"

यहाँ 'शास्त्र' शब्द का अर्थ वेद एवं तदनुयायी स्मृति, इतिहासादि ही है। अतः प्रथम वेदों की अपौरुषेयता पर ही विचार होता है। भट्टपाद शङ्कराचार्य्य आदि महाविद्वानों ने सर्वापेक्षया अधिक विचार वेदों की अपौरुषेयता पर ही किया है। अतः अपौरुषेयवेद ही मुख्य शास्त्र हैं, उनको माननेवाला ही आस्तिक और उनके निन्दक ही नास्तिक हैं।

वैदिक लोग श्रीकृष्ण को 'गीता' का उपनिषदरूप गौ का दुग्ध होने से आदर करते हैं, न कि सर्वज्ञ परमेश्वर की उक्ति होने से—

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।"

यहाँ विज्ञगण भगवान् की सर्वज्ञता का उपयोग अकृत्रिम वेद का सिद्धान्त निर्णय करने में करते हैं। सर्वज्ञ निर्मित भी ग्रन्थ कृत्रिम होने से वैसा आदरणीय नहीं होता, जैसा कि अकृत्रिम अपौरुषेय वेद। अतएव, आस्तिकगण बुद्ध की पूजा

करते हुए भी वेदविरुद्ध होने से उनकी उक्ति का आदर नहीं करते। श्रीकृष्ण की उक्ति का वेदसम्मत होने से आदर करते हैं।

एक बार भीष्मजी अपने पिता का श्राद्ध कर रहे थे, उस समय उनके पिता का दिव्य हस्त प्रकट हुआ। भीष्म ने उसे पहचाना और वैदिकों से प्रश्न किया कि **"क्या हस्त पर पिण्डदान करने की विधि है?"** वैदिकों ने कहा--"**नहीं, वेदी और कुशाओं पर ही पिण्ड-प्रदान की विधि है।**" तब भीष्म ने हस्त पर पिण्ड न देकर कुशाओं पर ही पिण्डदान किया। भीष्म के पिता बड़े प्रसन्न हुए और कहा कि **"मैं तुम्हारी शास्त्रश्रद्धा देखने को ही प्रकट हुआ था।"** इस दृष्टि से वेद ही मुख्य शास्त्र है, तदुक्त कर्म ही मुख्य धर्म है, उनकी मर्य्यादा-रक्षार्थं ही बुद्धदेव एवं शङ्कराचार्य का अवतार हुआ। वैदिक धर्म से यद्यपि प्राणिमात्र का कल्याण हो सकता है, परन्तु अधिकार के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, त्रैवर्णिक उपनयनादि संस्कार-सम्पन्न होकर वेदाध्ययन के अधिकारी हैं। शूद्र, अन्त्यज आदि वेदोपबृंहण रूप इतिहास-पुराण-श्रवण के अधिकारी हैं। राजसूय में क्षत्रिय का अधिकार है, ब्राह्मण का नहीं और वाजपेय में ब्राह्मण का ही अधिकार है, क्षत्रियादि का नहीं। जैसे वैद्य के औषधालय की सभी औषधं सब रोगियों के लिये उपयुक्त नहीं हैं, वैसे ही वेदोक्त सभी कर्म सबके लिये उपयुक्त नहीं हैं। किन्तु वहाँ अधिकार की चर्चा आवश्यक है। इन सब विचारों का ध्यान रखने से बुद्धदेव को भगवान् का अवतार मानते हुए भी उनके उपदेश को अधर्म बतलाने में कोई विरोध नहीं पड़ता। यदि साधारण दृष्टि से देखें तो भी इससे वैदिक धर्म की अनुपमेय उदारता का ही परिचय मिलता है। वैदिक धर्म को छोड़कर क्या संसार का कोई ऐसा धर्म है, जिसने अपने विरोधी को भगवान् का अवतार मानकर उसका आदर किया हो?

•

गजेन्द्र-मुक्ति

क्षीरसागर से आवृत एक त्रिकूट पर्वत था। उसके चाँदी, लोहे और सोने के शृङ्गों की दिव्य दीप्ति से क्षीरसागर और सारी दिशाएँ प्रदीप्त हो रही थीं। नाना प्रकार के रत्नों, मणियों, वृक्षों, लताओं तथा पक्षियों, सिद्ध, चारण, यक्ष, गन्धर्व, अप्सराओं से उस पर्वत की शोभा निरन्तर बढ़ रही थी। उसी पर्वत की द्रोणी में ही एक बड़ा विशाल सरोवर था, जिसमें बहुत से कंचन वर्ण के पंकज शोभायमान थे। कुमुद, कमल आदि की श्री, समवेत षट्पदों के घोष और पक्षियों के कलनाद से उसकी शोभा बड़ी अद्भुत हो रही थी। उसी पहाड़ और जङ्गलों में एक गजेन्द्र रहता था। वह अपनी हथिनियों और यूथों के साथ संकण्टक वेणु और वेत्रों के वनों को तोड़ता-फोड़ता, बड़ी-बड़ी वनस्पति को भी गिराता हुआ सरोवर में स्नान करने के लिये चला। उसकी गन्धमात्र से दूसरे हाथी, सिंह, व्याघ्र, व्याल आदि भयभीत होकर भागने लगे। उसके अनुग्रह से हरिण, शश आदि क्षुद्र जन्तु निर्भय होकर विचरण करते थे। घाम से तप्त होकर मतवाले हाथियों और हथिनियों के साथ अपनी गुरुता से उस पर्वत को प्रकम्पित करता हुआ, मद पीनेवाले भ्रमरों की मालाओं से निवेषित वह गजेन्द्र पंकजरेणुरूषित वायु को सूँघता हुआ सरोवर के पास जा पहुँचा। तृषार्दित अपने यूथ के साथ उस सरोवर में प्रविष्ट होकर उसने खूब जल पीया और अपनी शुंड से जल डाल-डालकर अपने को नहलाने लगा। शुण्डोद्भूत जलकणों से अपनी हथिनियों और बच्चों को पिलाने और नहलाने में दूसरे गृहस्थों के समान ही वह दयालु गजेन्द्र संलग्न हो गया। ईश्वर की माया से मोहित होने के कारण उसे विपत्ति दृष्टिगोचर नहीं हुई। इतने ही में कोई दैवप्रेरित बलवान् ग्राह ने आकर क्रोध से उसके पाँव को पकड़ लिया।

महाबलवान् गजेन्द्र ने अपने को छुड़ाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। उसे आतुर देखकर हथिनियों और हाथियों ने भी छुड़ाने का प्रयत्न किया, परन्तु ग्राह से आकृष्ट गजेन्द्र को बचाने में असमर्थ होकर वे दीन बुद्धि से चिल्लाने लगे। गजेन्द्र कभी ग्राह को बाहर की तरफ ले जाता था और कभी ग्राह गजेन्द्र को भीतर की तरफ ले जाता था। इस तरह परस्पर एक-दूसरे को खींचते और लड़ते हुए हजारों वर्ष बीत गये, फिर भी दोनों जीते रहे। देवता भी आश्चर्य मान रहे थे। पानी में दिन-रात आकृष्ट होने के कारण गजेन्द्र के मन, बल और ओज का बहुत व्यय हो गया, अतः शिथिलता आ गयी। इसके विपरीत ग्राह की शक्ति बढ़ गयी, क्योंकि ग्राह का तो जल में घर ही था, उसकी स्थिति अनुकूल थी। जब गजेन्द्र प्राण के संकट में पड़ गया और विवश हो गया, अपने को छुड़ाने में असमर्थ हो गया, तब चिरकाल

तक ध्यान करके उसने निश्चय किया कि यह मेरे जातीय हाथी मुझ आतुर को बचा नहीं सकते, तो फिर मेरी हथिनियाँ मुझे बचा ही कैसे सकती हैं ? यह ग्राह नहीं, विधाता का पाश है, उसमें मैं ग्रस्त हो रहा हूँ, उसी परमेश्वर की शरण जाऊँ, जो ब्रह्मादि सभी प्राणियों के एकमात्र आश्रय हैं। जो भगवान् प्रचण्ड वेगवाले बलवान् कालसर्प से भयभीत प्राणी की रक्षा करते हैं, मौत भी जिनसे डरकर भागती फिरती है, उसी भगवान् की मैं शरण जाता हूँ।

श्री शुकभगवान् ने राजा परीक्षित से कहा कि ऐसा निश्चय कर और मन को समाहित करके वह गजेन्द्र पिछले जन्म के शिक्षित परम जाप्य का जप करने लगा। गजेन्द्र ने कहा—

"मैं उन भगवान् को मनन कर रहा हूँ अर्थात् ध्यानमात्र से उन्हें नमस्कार कर रहा हूँ। ग्राह से गृहीत होने के कारण शरीर से प्रणाम करना भी मेरे लिये अशक्य है, जिन भगवान् के कारण देहादि जड़ प्रपञ्च भी चेतन हो रहे हैं। जो पुरुष हैं अर्थात् जिनसे सम्पूर्ण विश्व पूर्ण हो रहा है। विश्व के कारण होने से घट में मृत्तिका के समान विश्व में भगवान् पूर्ण हैं; अतः उन्हीं से सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हो रहा है। कहा जाता है कि जगत् के कारण प्रकृति और पुरुष हैं, अतः कहा कि वह आदिबीजस्वरूप हैं। आदिप्रकृति, बीज-पुरुष अर्थात् जो प्रकृतिपुरुष-स्वरूप है, फिर भी वह जीव के समान पराधीन नहीं है, किन्तु सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर हैं, उन भगवान् का मैं अभिध्यान करता हूँ। जिस अधिष्ठान से सम्पूर्ण विश्व है, जिस उपादान से विश्व उत्पन्न होता है, जिस कर्त्ता से जो पद अपने आप बन जाता है और जो इस कार्य और कारण से पर है, उस स्वयम्भू स्वतःसिद्ध परमात्मा की मैं शरण हूँ।

जो स्वात्मा में ही अपनी माया से अर्पित, प्रकाशित और कभी तिरोहित विश्व का साक्षीरूप से प्रकाशन करते हैं और साथ ही अविलुप्तदृक् हैं और जो आत्ममूल अर्थात् स्वप्रकाश हैं, परप्रकाशकचक्षु आदि से भी पर हैं अर्थात् चक्षु आदि के भी प्रकाशक हैं—

"चक्षुषश्चक्षुः, ज्योतिषामपि तज्योतिः तमसः परमुच्यते।"

इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि भगवान् ही विभिन्न प्रकाशक ज्योतियों के भी प्रकाशक ज्योति हैं। काल के प्रभाव से सम्पूर्ण लोक और लोकपाल जब पञ्चतत्व को प्राप्त हो जाते हैं, तब दुरवगाह्य, गम्भीर अनन्तपार तम ही रह जाता है, उस तम के पार विराजमान विभु हैं, मैं उन्हीं को नमन करता हूँ।

"आदित्यवर्णस्तमसः परस्तात्" श्रुति कहती है कि वह भगवान् आदित्यवत् सर्वभासक एवं स्वतःप्रकाश हैं और तम से परे हैं। देवता और ऋषि भी उनके पद को नहीं जानते, फिर दूसरे साधारण कौन जन्तु उन्हें जान सकते हैं ? उनका जानना

और कहना किसी के लिये भी सम्भव नहीं है। जैसे विभिन्न आकृतियों द्वारा विचेष्टा करते हुए नट के आक्रमणों का परिज्ञान दुष्कर है, वैसे ही भगवान् के विभिन्न चरित्रों और अनुक्रमणों का भी जानना और कहना बहुत दुष्कर है। दुर्गम चरित्रवाले वह भगवान् श्रीहरि मेरी रक्षा करें। जिनके समङ्गल पदारविन्द के दर्शन की इच्छा से विमुक्तसङ्ग सुसाधु मुनि लोग सम्पूर्ण भूतों में आसक्त दृष्टि रखते हुए अव्रण, छिद्रा-वर्जित और अवलोकव्रत--आश्चर्यव्रत का आचरण करते हैं, वही भगवान् मेरी गति हैं। उन भगवान् का जन्म, कर्म, नाम, रूप, गुण, दोष, कुछ नहीं होता, तथापि लोक की उत्पत्ति, लय एवं पालन के लिये अपनी माया से जन्म, कर्म आदि को स्वीकार करते हैं। अनन्तशक्ति, परेश, परब्रह्मभगवान् को नमस्कार है। जो अरूप हैं, साथ ही बहुस्वरूप हैं, उन आश्चर्यकर्मवाले भगवान् को प्रणाम है। जो प्रका-शान्तर की अपेक्षा न करके प्रकाशमान हैं, जो सर्वप्रकाशक साक्षी तथा जीव के भी नियन्ता हैं, चित्तवृत्ति एवं वाणी से भी जो अप्राप्य हैं, जो निपुण पुरुष शुद्ध-अन्तःकरण से संन्यास के द्वारा प्रत्येक स्वरूप से प्राप्त होनेवाला है, जो कैवल्य के दाता हैं, निर्वाणसुखसंवित्स्वरूप हैं, उन प्रभु के लिये प्रणाम है।

जो सत्वादि गुणधर्मों का अनुसरण करके शान्त, घोर एवं मूढ़ प्रतीत होते हैं, साम्य निर्विशेष और ज्ञानघन हैं, जो क्षेत्रज्ञ एवं सर्वाध्यक्ष हैं, साक्षी हैं, आत्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञों के भी मूल हैं तथा मूल अर्थात् प्रकृति के भी प्रकृति अर्थात् मूल हैं, क्योंकि स्वतः पूर्वसिद्ध पुरुष हैं, उन प्रभु को प्रणाम है। जो सर्वेन्द्रियों के, शब्दादि विषयों के द्रष्टा हैं और सर्वेन्द्रियवृत्तिरूप प्रत्ययों के हेतु हैं अथवा चित्प्रतिबिम्बित वृत्तियों के द्वारा बिम्बस्वरूप से जो परिलक्षित होते हैं, छायामय असत्स्वरूप अहंकारादि प्रपञ्चों से बोधित किये जाते हैं, जो तद्रूप से विषयों में भासमान होते हैं, उन भगवान् को प्रणाम है। सबके कारणरूप अतएव स्वयं निष्कारण तथा मृतादि विकारविलक्षण अद्भुत कारण हैं उन भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ। जो पञ्चरात्र आदि समस्त आगम (शास्त्र) और समस्त वेद आदि के समुद्रस्थानीय हैं तथा जो मोक्षरूप एवं सत्पुरुषों के आश्रय हैं, ज्ञानाग्निरूप, गुणविस्फूर्जक, विधि-निषेध विवर्जित और स्वयंप्रकाश हैं उन भगवान् को मेरा प्रणाम है।

अज्ञानपाश का छेदन करनेवाले, सकरुण, निरालस, अन्तर्यामिरूप से सब जीवों के मन में प्रतीत होनेवाले, सबका नियमन करने में समर्थ और अपरिच्छिन्न हैं उन भगवान् को मैं प्रणाम करता हूँ। गृह-कुटुम्ब-चिन्ता में आसक्त जनों के लिये दुष्प्राप्य, गुणों के सङ्ग से रहित, मुक्तात्माजनों से परिभाषित, ज्ञानात्मा, ईश्वर हैं उन भगवान् को मेरा प्रणाम है।

जिनकी आराधना करनेवाले अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त करते हैं तथा न चाही गयी भी आशिषों को प्राप्त करते हैं, जो अव्यय (नित्य) शरीर भी देते हैं, वे परम

कृपालु मेरा विमोक्षण कर आनन्द में मग्न होकर अति अद्भुत परममङ्गल उनके चरित को ही गाते हैं, उन अक्षर ब्रह्म, आध्यात्मिक योगगम्य, अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, अनन्त और परिपूर्ण भगवान् की मैं स्तुति करता हूँ।

ब्रह्मादि देवता, वेद, चराचर लोक नाम-रूप के विभेद से जिनके कलामात्र से बना दिये गये हैं, अग्नि की अर्चि और सूर्य की किरणें उनसे उठती तथा उन्हीं में लीन हो जाती हैं, वैसे ही जिनसे तथा जिनमें यह गुणों का प्रवाह, बुद्धि, मन, इन्द्रिय आदि उद्भूत, तिरोभूत होते हैं, तथा जो न देव हैं न असुर; न मर्त्य हैं न पक्षी; न स्त्री हैं, न पुरुष, न नपुंसक; न गुण हैं न कर्म और न सत् हैं, न असत् तथा जो अशेषात्मक है, उसकी जय हो।

मुझे ग्राह से शरीर छुड़ाकर जीने की इच्छा नहीं है, क्योंकि बाहर, भीतर अविवेक से व्याप्त इस गजत्व से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मैं तो चाहता यह हूँ कि मेरे आत्म-प्रकाश का आवरण अज्ञान मिट जाय, मैं इसीका मोक्ष चाहता हूँ। मैं ऐसा मोक्ष चाहता हूँ, जिसका फिर किसी भी काल में नाश न हो। मुमुक्षु मैं विश्व-रूप, विश्वव्यतिरिक्त, विश्व के स्रष्टा, विश्व के आत्मा को केवल प्रणाम करता हूँ। भगवद्धर्मानुष्ठान से कर्मों को दग्ध कर देनेवाले योगी जिनको अपने हृदय में भावित करते हैं, उन योगेश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ। जिनका वेग असह्य है, जिनकी शक्तियाँ असह्य हैं, जो शब्दादिरूप से प्रतीयमान हैं, प्रपन्नजनों के पालक हैं, जिनकी शक्ति अनन्त है, कुत्सित इन्द्रियोंवाले दुराचारी जिनके मार्ग को नहीं प्राप्त कर सकते, उनको बार-बार मेरा प्रणाम है। जिनकी माया से उत्पन्न हुए अहंकार से आवृत हुआ यह जन कुछ भी नहीं जानता, "उन सदा जाग्रत् माहात्म्यवाले भगवान् की शरण में मैं प्राप्त हूँ।"—

"नमो नमस्तुभ्यमसह्यवेगशक्तित्रयायाखिलधीगुणाय।
प्रपन्नपालाय दुरन्तशक्तये कदिन्द्रियाणामनवाप्यवर्त्मने॥"

इस प्रकार गजेन्द्र द्वारा निर्विशेष तत्व का उपवर्णन किये जाने पर अपने में मूर्तिभेद का अभिमान रखनेवाले देवता जब नहीं आये, तब सर्वात्मा, निखिल देवता-मय श्रीहरि आविर्भूत हुए। गजेन्द्र को उस प्रकार पीड़ित देखकर और उसके स्तोत्र को सुनकर वेदमय अपने स्वच्छन्द शीघ्रगामी गरुड़ पर विराजमान होकर देवताओं से स्तुत होते हुए चक्र को धारण किये भगवान् वहाँ शीघ्र पधारे, जहाँ वह गजेन्द्र था। उस समय गजेन्द्र सरोवर में डूब रहा था, बड़े बली ग्राह ने उसे जोर से पकड़ रखा था, वह बड़ा ही पीड़ित था। चक्रधारी श्रीहरि को आकाश में गरुड़ पर देखकर कमल सहित कर (सूँड़) उछालकर प्रेमपारवश्य से, बड़ी कठिनाई से वह बोला—

"हे अखिलगुरो, भगवान् नारायण, आपको प्रणाम है।"

उसे दुखी देखकर श्रीहरि सहसा गरुड़ से उतर पड़े और कृपापूर्वक शीघ्रता से ग्राह सहित गजेन्द्र को सरोवर से बाहर निकालकर देवताओं के देखते ही देखते चक्र से नक्र का मुख विदारित करके भगवान् ने गजेन्द्र को मुक्त कर दिया—

"तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार।
ग्राहाद्विपाटितमुखादरिणा गजेन्द्र संपश्यतां हरिरमूमुचदुस्त्रियाणाम् ॥"

यह कथा व्यापक रूप से अध्यात्मभाव में देखी जाती है। कारण (अव्यक्त) चैतन्य क्षीरसमुद्र है, त्रिगुणात्मिका माया त्रिकूटाचल है। तदाश्रित संसारारण्य में भटकनेवाला जीवात्मा ही गजेन्द्र है। आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अनुगुण वृत्तियाँ तथा विविध सम्बन्धी ही उसके साथी हाथी और हथिनी हैं, महामोह-रूप ग्राह से ग्रस्त जीवात्मा को कोई भी सम्बन्धी बचाने में समर्थ नहीं होते। जब जीवात्मा की अपनी शक्ति बेकार हो जाती है, वह निराधार, निराश्रय होकर डूबने को होता है, तब उसे प्राकृत सुकृत कर्मों के सद्विपाक से भगवान् का स्मरण होता है, सर्वसाधनविहीन विपन्न प्राणी के मानस प्रणाममात्र से प्रभु संतुष्ट हो जाते हैं, अपना सब कुछ भूलकर दौड़ पड़ते हैं।

भावुकों का कहना है कि गजेन्द्र 'हरि' इन दो अक्षरों का नाम भी उच्चारण नहीं करने पाया था कि भगवान् आ गये। सुनते हैं कि सत्यभामा ने प्रभु से पूछा कि कहाँ जाने की जल्दी है, तब भगवान् ने 'हाथी' कहा। परन्तु 'हा' सत्यभामा के पास और 'थी' वहाँ ग्राह के मुख में गजेन्द्र को उबारकर। ऐसे अशरणशरण अकारण-करुण, करुणा-वरुणालय भगवान् आर्त्तत्राणपरायण हैं।

वृन्दावन के श्री गोविन्ददेवजी महाराज के उपासक एक मेरे स्नेही ने कहा था कि श्री गोविन्दजी महाराज का संकेत है कि इस समय के धार्मिक संकट और विविध अशान्तिमय उपद्रवों को दूर करने के लिये गजेन्द्रस्तुति का पाठ घर-घर में होना परमावश्यक है और भी वृद्धों से सुना जाता है कि इसका आश्रय लेने से लोग बड़ी-बड़ी विपत्तियों से छुटकारा पा जाते हैं।

॥ भक्तिसुधा का प्रथम खण्ड समाप्त ॥

॥ शुभम् ॥

शक्ति का स्वरूप

श्री भगवती ने देवीभागवत का संक्षेप में श्री विष्णु के लिये उपदेश किया है।

"सर्वं खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्।"

अर्थात् यह सब कुछ सनातन मैं ही हूँ। मेरे से भिन्न कोई तत्व नहीं है। वेदान्तवेद्य परमतत्व ही शिव तथा स्कन्दपुराण के शिवतत्त्व, रामायण के राम, विष्णुपुराण के विष्णु एवं वही सूर्य्य, शक्ति आदिरूप से प्रकट होता है। श्री हिमालय पर कृपा करके करुणामयी, कल्याणमयी अम्बा ने ही अपने दिव्यस्वरूप का उपदेश दिया है:—

"अहमेवास पूर्वं तु नान्यत्किञ्चिन्नगाधिप।"

नगाधिप! मैं ही एक सब कुछ हूँ। मेरा अनन्त अखण्ड ब्राह्मरूप अप्रतर्क्य एवं अनिर्देश्य है, अनौपम्य और अनामय है। उसी सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश परब्रह्म की एक स्वतःसिद्धा शक्ति है, वही माया नाम से प्रख्यात है। जैसे मृत्तिका में घटोत्पादिनी शक्ति और वह्नि में दाहिकाशक्ति होती है, वैसे ही ब्रह्म में अनन्तकोटिब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्ति है। वही निखिल विश्व की जननी है। इस पक्ष में जगत भ्रान्तिमय या अध्यस्त कैसे है, प्रपञ्च की स्वरूपसत्ता न होने से आरोप्यानुभव से आदिम संस्कार नहीं बन सकेगा फिर भ्रान्ति या अध्यास कैसे संभव होगा इत्यादि शंकाओं को स्थान ही नहीं रहता, क्योंकि शक्ति द्वारा ब्रह्म की ही प्रपञ्चरूप से अभिव्यक्ति हो जायगी फिर अद्वैत सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं होगा। कारण कि पारमार्थिक सद्रूप परमात्मा ही अद्वितीय है। प्रपञ्च और उसकी जननी-शक्ति तो सत्, असत् और सदसद्, इन तीनों से विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीया है। जैसे वह्निशक्ति वह्नि से विलक्षण है, वैसे ही सत् की शक्ति सत् से विलक्षण है। अतएव अनिर्वचनीय है:—

"न सती सा नासती सा नोभयात्म विरोधतः।
एतद्विलक्षणा काचिद् वस्तुसत्तास्ति सर्वदा॥"

ब्रह्मज्ञान द्वारा इसका बाध हो जाता है। इसलिये ब्रह्म की तरह वह नित्य सत् नहीं है, परन्तु उसी के कार्य्यभूत प्रपञ्च से समस्त व्यवहार बनता है, इसलिये ब्रह्म की तरह वह असत् भी नहीं और परस्पर विरोध होने के कारण दोनों की स्थिति असंभव है, अतः सदसद् उभय स्वरूप भी नहीं है। अनिर्वचनीय वस्तुरूप मायाशक्ति मोक्ष पर्यन्त विद्यमान रहती है। जैसे पावक में उष्णता, सूर्य्य में किरण और चन्द्रमा में चन्द्रिका है, वैसे ही ब्रह्मात्मिका चिच्छक्तिरूपा भगवती में सहजसिद्धा मायाशक्ति है। सुषुप्ति में जैसे समस्त जीवों के व्यवहार विलीन रहते हैं, वैसे ही

प्रलयकाल में माया के भीतर ही समस्त जीव और उनके कर्म और समस्त प्रपञ्च अभेदभाव से उसी माया में विलीन रहता है। उसी शक्ति के ही अनिर्वचनीय सम्बन्ध से निर्गुण-निर्लिप्त चिच्छक्ति जगत् का बीज अर्थात् कारणरूप भी हो जाती है। उस परमतत्व के आश्रिते रहनेवाली मायाशक्ति उसे आवृत करती है, इसलिये ही ब्रह्मशक्ति सदोष समझी जाती है। मायाशक्ति में भी विद्या और अविद्या यह दो भेद रहते हैं। उनमें विद्या विशुद्धा सत्वात्मिका होने से स्वाश्रय को व्यामोहित नहीं करती। अतः वह निर्दोष है। तम से अभिभूत सत्वयुक्त अविद्या स्वाश्रय की व्यामोहकारिणी है, इसीलिये ब्रह्म सदोष है। चैतन्य के सम्बन्ध से तद्गत चिदाभास ही चेतनप्रधान होने के कारण निमित्तकर्ता है और उसी शक्ति का प्रपञ्चरूप में परिणाम होता है, अतः वही समवायकारण भी है। कुछ लोग उस मायाशक्ति को ही तप कहते हैं। परमेश्वर उसीसे विश्व का निर्माण करते हैं—

"सा तपस्तप्त्वेदं सर्वं समसृजत्।"

और कोई शाखी उसे ही तम कहते हैं।

"तम आसीत् तमसा गूढमग्रे।"

तम अज्ञान से ही आवृत होकर परम-तत्व प्रपञ्चरूप में प्रतीत होता है। उसे ही कोई ज्ञान, माया, प्रधान, प्रकृति एवं अजाशक्ति भी कहते हैं। उसीको कोई विमर्श, कोई अविद्या भी कहा करते हैं।

"केचित्तां तम इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे।
ज्ञानं मायां प्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्॥
विमर्श इति तां प्राहुः शैवशास्त्रविशारदाः।
अविद्यामितरे प्राहुर्वेदतत्वार्थचिन्तकाः॥"

ब्रह्म निर्विकार साक्षी दृक् से दृश्य है, अतः जड़ है। अधिष्ठानज्ञान से उसका नाश हो जाता है, अतः असती है। एवं द्वैतजाल चैतन्य दृश्य नहीं है। यदि उसमें भी दृश्यता हो तो वह भी जड़ ही हो जायगा, अतः स्वप्रकाश-चैतन्य दूसरे में नहीं प्रकाशित होता।

"तस्याजडत्वं दृश्यत्वाज्ज्ञाननाशात्ततोसती।
चैतन्यस्य न दृश्यत्वं दृश्यत्वे जडमेवतत्॥"

वह चैतन्य जैसे जड़ से नहीं प्रकाशित होता वैसे ही दूसरे चैतन्य में भी उसका प्रकाश नहीं होता। कारण, ऐसा मानने में अनवस्था होना अनिवार्य है। साथ ही वह अपने से भी अपना प्रकाश नहीं करता क्योंकि ऐसी स्थिति में उसमें कर्तृत्व और उसीमें कर्मत्व होगा, जो संगत नहीं है। पर समवेतक्रियाफलशाली कर्म हुआ करता है। अपने आप कर्ता और अपने आप कर्म यह पक्ष अत्यन्त विरुद्ध है,

अतः दीपक के समान यह स्वयं प्रकाशमान होकर दूसरों का प्रकाशक है, इसलिये स्वयंप्रकाश कहलाता है—

"स्वप्रकाशञ्च चैतन्यं न परेण प्रकाशितम् ।
अनवस्थादोषसत्त्वान्न स्वेनापि प्रकाशितम् ॥
कर्मकर्तृविरोधः स्यात् तस्मात्तद्दीपवत्स्वयम् ।
प्रकाशमानमन्येषां भासकं विद्धि पर्वत ॥"

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति में दृश्य का व्यभिचार होता है, अर्थात् जागर का दृश्य स्वप्न में नहीं और स्वप्न का जागर में नहीं और इन दोनों का सुषुप्ति में नहीं, सुषुप्ति का आलम्ब जागर-स्वप्न में नहीं । परन्तु इन तीनों अवस्थाओं का अखण्ड बोध या संविद् सर्वभासक रूप में नित्य अव्यभिचारी है । संविद् या बोध का व्यभिचार या अभाव कभी भी अनुभव में न आता है, न आ सकता है । यदि बोध के भी अभाव का अनुभव माना जाय तो वहाँ भी वह अभाव जिस साक्षी से अनुभूत होता है, वह बोधरूप साक्षी जब विद्यमान ही है तब बाधा या संविद् का अभाव कैसे कहा जा सकता है ? बिना बोध या संविद् के भाव-अभाव दोनों ही नहीं सिद्ध हो सकते । अतः संविद् का अभाव सिद्ध करने के लिये भी संविद्रूप साक्षी की आवश्यकता रहती ही है इसीलिये सर्वभासक स्वप्रकाश होने से चैतन्यरूप है, अबाध्य अव्यभिचारी होने से सत्य एवं नित्य है । मैं कभी न होऊँ ऐसा नहीं किन्तु सदा रहूँ ही । इस तरह प्राणियों के निरतिशय निरुपाधिक पर-प्रेम का आस्पद होने से वह परमानन्दरूप है । साथ ही जब उससे भिन्न सारा ही प्रपञ्च मिथ्या ही है, तब कोई भी उसमें तात्त्विक सम्बन्ध नहीं बन सकता । अतः उसमें असंगता भी स्थित ही है । जब स्वप्रकाश संविद्रूपा भगवती से भिन्न माया और उसका कार्य्य सभी सत्, असत् और सदसत् विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या है, तब फिर परिच्छेदक (भेदक या मापक) देश-काल-वस्तु न होने से ही अपरिच्छिन्नता (त्रिविधपरिच्छेदशून्यता) भी सहज में ही सिद्ध हो जाती है । यह जो सर्वदृश्यभासक बोध सिद्ध किया गया है, यह आत्मा का धर्म नहीं है, किन्तु आत्मस्वरूप ही है । धर्म मानने पर आत्मा उसका दृश्य होने से आत्मा में जड़ता आ जायगी ।

"तच्च ज्ञानं नात्मधर्मो धर्मत्वे जडतात्मनः ।"

यदि ज्ञान स्वप्रकाश आत्मा का धर्म है तो उसकी आवश्यकता ही क्या रहती है ? यदि ज्ञान को स्वप्रकाश और आत्मा को जड़ मानें सो भी ठीक नहीं, कारण कि स्वप्रकाश ज्ञान जड़ आत्मा का ही शेष या अंग हो सकता है । लोक में जड़ ही चेतन का शेष होता है यही प्रसिद्ध है । जैसे बोध या ज्ञान जड़रूप आत्मा का धर्म नहीं बन सकता वैसे ही वह चित्बोधरूप आत्मा का भी धर्म नहीं हो सकता । कारण, चित् का चित् से भेद ही नहीं हो सकता, फिर भेद बिना चित्, चित् का धर्मधर्मिभाव

कैसे बन सकेगा ? इसलिये आत्मा ज्ञानरूप एवं सुखस्वरूप है। यह अवश्य समझने की बात है कि जो ज्ञान और सुख नाम से प्रसिद्ध है वह अनित्य और विनाशी अन्तः-करण का वृत्तिरूप है। उसी ज्ञानाभास या सुखाभास में अविवेकियों को ज्ञान या सुख का भ्रम होता है। परन्तु इन विनाशी वृत्तिरूप ज्ञान और सुखों का प्रकाशक स्वप्रकाश अखण्ड बोध या ज्ञान ही असली ज्ञान और सुख है। "ज्ञान अखण्ड एक सीतावर।" "सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।"

"चिद्धर्मत्वं चितो नास्ति चितश्चिन्नैव भिद्यते।"

वह बोध ही अत्यन्त अबाध्य होने से पारमार्थिक सत्य है और वही सब कुछ है। अतः पूर्ण और असंग एवं द्वैतजाल से विवर्जित है। वही काम, कर्मादि के सहित अपनी माया से ही पूर्वसंस्कार के अनुसार कालकर्म के विपाक से सृष्टि की इच्छावाला हो जाता है। जैसे कोई प्राणी पूर्व-संस्कार से अबुद्धिपूर्वक ही नींद से उठ बैठता है वैसे ही आत्मा की यह सृष्टि काल-कर्मसंस्कार से अबुद्धिपूर्वक ही होती है। यही जगत् बीजभूत प्रकृति से विशिष्ट मेरा स्वरूप अव्याकृत या माया शबल कहलाता है, वही समस्त कारणों का कारण है और समस्त तत्त्वों का आदिभूत तत्त्व है, वही माया-शक्तियुक्त सच्चिदानन्द कहलाता है, वही समस्त कर्मों का घनीभूतस्वरूप ज्ञानों और इच्छाओं का आश्रय है, वही आदितत्त्व ह्रींकार, ओंकार आदि का वाच्य तत्त्व है।

"सर्वकर्मघनीभूतम् इच्छाज्ञानक्रियाश्रयम्।
ह्रींकारमन्त्रवाच्यं तदादितत्त्वं तदुच्यते॥"

उसी मायाशक्तिविशिष्ट अव्याकृत से शब्द-तन्मात्रस्वरूप सूक्ष्माकाश उत्पन्न हुआ। उससे स्पर्शात्मक वायु और वायु से रूपतन्मात्रा-स्वरूप तेज, और उससे रसात्मक जल, जल से गन्धात्मिका पृथ्वी उत्पन्न होती है। इन्हीं अपञ्चीकृत सूक्ष्म पञ्चभूतों के सात्त्विक अंश से अन्तःकरण और पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, राजस अंश से प्राण और पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वह सब मिलकर व्यापक लिङ्गशरीर ही आत्मा का सूक्ष्म देह कहा जाता है। लिङ्ग और पूर्वोक्त अव्याकृत ही आत्मा का कारणदेह है। भूतों के तामस अंश से पञ्चीकरण मार्ग से स्थूल प्रपञ्च और विराट् की उत्पत्ति होती है। भूतों के समष्टि सात्त्विक अंश से उत्पन्न अन्तःकरण के वृत्तिभेद से चार रूप बन जाते हैं। संकल्प-विकल्प करते समय मन, निश्चय करते हुए बुद्धि, स्मरण करते समय चित्त और अहंकारकाल में अहंकार कहा जाता है। प्रकृति में भी विशुद्धसत्त्वप्रधाना माया और मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या कहलाती है, स्वाश्रय को न मोहित करनेवाली विद्या में प्रतिबिम्बसमन्वित अधिष्ठान ईश्वर कहा जाता है, वह स्वाश्रय के ज्ञान से युक्त सर्वज्ञ सर्वानुग्राहक है। अविद्या में प्रतिबिम्बसमन्वित अधिष्ठान अल्पज्ञ एवं दुःखादि का आश्रयभूत जीव है। दोनों ही स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीन देहों से युक्त हैं। व्यष्टि-स्थूल-सूक्ष्म-कारण जीव के हैं और समष्टि तीनों देह ईश्वर के हैं। व्यष्टि में कारण-देहाभिमानी प्राज्ञ, सूक्ष्म-शरीराभिमानी तैजस

और स्थूल-शरीराभिमानी विश्व कहलाता है। समष्टि-देहों के अभिमानी अव्याकृत, हिरण्यगर्भ एवं विराट् कहलाते हैं। ईश्वर ही नाना भागों के आश्रयभूत विश्व का निर्माण करते हैं। भगवती ने कहा—मेरी मायाशक्ति से ही समस्त चराचर विश्व बनता है। वह माया भी मुझसे पृथक् नहीं है। व्यवहारदृष्टि से जो माया और अविद्या कहलाती है वह परमार्थतः मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं है—

व्यवहारदृशायेयं विद्यामायेति विश्रुता।
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्॥"

स्वप्रकाशरूपा भगवती ही निखिल प्रपञ्च का निर्माण करके उसमें वही प्रवेश करती है। जिस तरह एक ही आकाश घटाकाश और महाकाश के रूप में प्रकट होता है, उसी तरह स्वप्रकाश चैतन्य ही विद्याशक्तिविशिष्ट ईश्वर, अविद्या या अन्तःकरण-विशिष्ट होकर जीवरूप में व्यक्त होता है। उन्हीं अनेक उपाधिभेदों से ही जीवों में नानात्व और गमनागमन सब कुछ उत्पन्न होता है। जैसे सूर्य्य भगवान् उच्चावच अनेक प्रकार की वस्तुओं का प्रकाश करते हैं, परन्तु उनके गुणों या दोषों से वे युक्त नहीं होते, वैसे ही अखण्डबोधरूप सर्वान्तरात्मा सभी दृश्य का प्रकाशन करते हैं, परन्तु उनके गुणों और दोषों में वे लिप्त नहीं होते। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब, या रज्जु में सर्प, वैसे ही शुद्धप्रकाशस्वरूप परमतत्त्व में समस्त प्रकाश्य परिकल्पित है। अतएव ईश्वर, सूत्रात्मा, विराट्, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, गौरी, ब्राह्मी, वैष्णवी, सूर्य्य, तारक, तारकेश, स्त्री, पुमान्, नपुंसक एवं शुभ, अशुभ समस्त प्रपञ्च ही परात्परपूर्णतम परम तत्त्व ही का स्वरूप है। जो भी कुछ देखा या सुना जाता है उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर एक वही निर्विकार पूर्ण चिति ही विद्यमान है। सबको सत्तास्फूर्ति प्रदान करनेवाली चिति से विमुक्त होकर जो कुछ भी है वह शून्य है, वन्ध्यापुत्र के समान है। जैसे सर्प, धारा, माला आदि भेदों में एक रज्जु ही अनेकधा भासित होती है, वैसे ही एक चिद्रूप आत्मा ही अनेक रूप में भासित होता है। जैसे अधिष्ठान के बिना कल्पित पदार्थ की सत्ता और स्फूर्ति नहीं टिक सकती उसी तरह सच्चित् स्वरूप परमतत्त्व के बिना कल्पित विश्व में सत्ता और स्फूर्ति नहीं रहती।

"यच्च किञ्चित्क्वचिद्वस्तु दृश्यते श्रूयतेऽपि वा।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्याहं सर्वदा स्थिता॥
न तदस्ति मया त्यक्तं वस्तु किञ्चिच्चराचरम्।
यद्यस्ति चेत्तच्छून्यं वन्ध्यापुत्रोपमं हि तत्॥"

●

माँ के श्री चरणों में

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डजननी पराम्बा रामचन्द्र राघवेन्द्र की हृदयेश्वरी के मंगलमय चरणारविन्द को अपनी अविरल अश्रुधाराओं से सिञ्चित करता हुआ एक भक्त कहता है—'हे अम्ब ! कल्याणमयी भगवति ! हे देवि ! यह आपका अबोध, किङ्कर्तव्यविमूढ शिशु आपके चरणारविन्द की शरण है। हे माँ ! अब यह ताप सहन की सीमा के बाहर हो गया है। हे माँ, मैं जानता हूँ कि मैं तुम्हारा योग्य पुत्र नहीं हूँ। मैं तुम्हारे चरणारविन्द-स्पर्श का भी अधिकारी नहीं हूँ। माँ ? फिर भी अधम से अधम, पतित से पतित पुत्र की भी अम्बा उपेक्षा नहीं करती—

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

माँ ! मुझे तो सबने उपेक्षित कर दिया है। ठीक ही है, तुम्हारे अभिशाप से सन्तप्त की रक्षा, सिवा तुम्हारे और कौन कर सकता है ? माँ ! तुम तो प्रभु से भी यही कहती हो कि "**न कश्चिन्नापराध्यति।**" ऐसा व्यक्ति कौन है जिससे अपराध नहीं बनता ? यह अबोध शिशु है; इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इसे पुचकार-कर अङ्क में लेना चाहिये। माँ ! तुम्हारे चरणों के बिना सब जगत्, सन्तापजनक हो रहा है। संसार में कोई इस अधम को देखने-पूछनेवाला नहीं है। माँ ! संसार की विडम्बना से दग्ध हो रहा हूँ। अनेक बार अपमानित और तिरस्कृत हुआ, फिर भी तुम्हारी उपेक्षा नहीं कर सकता। अपने ही अपराधों के कारण स्थिर प्रबोध, स्थिर वैराग्य नहीं होता। हे पुत्रवत्सले ! तुम्हारे बिना आशा के अनुकूल ही नहीं, आशा से भी अधिक कारुणिक हृदय से अपराधी पुत्र को दूसरा कौन पुचकार सकता है ?

माँ ! जिनके लिये त्याग, बलिदान किया गया, जिनके लिये अगणित दुःख भोगे गये, जिनके हितार्थ कितने ही अनुष्ठान किये गये, जिनके लिये अगणित आँसू बहाये गये, वे सब मेरे रोने-धोने को सुना-अनसुना, देखा-अनदेखा करके अपने-अपने काम में लग गये। किसको समय है जो मुझ जैसे पागलों के प्रलाप सुने ? माँ ! उस दिन शिप्रा के तट पर तुम्हारी स्मृति आयी थी और तुम्हारे चरणों का स्मरण किया था। तुम्हारे चरणों में कुछ अश्रु चढ़ाये गये थे। परन्तु पुनः वही विस्मृति छा गयी। फलस्वरूप उपद्रव भी वे ही के वे ही वर्तमान हैं। माँ ! तुम्हीं सिद्धि-बुद्धिस्वरूपा गणपतिप्रिया हो। माँ ! तुम्हीं सरस्वतीस्वरूपा विधिप्रिया हो। माँ ! तुम्हीं अनन्त-कोटिब्रह्माण्ड की ऐश्वर्य्याधिष्ठात्री विष्णुप्रिया महालक्ष्मी भी हो। हे अम्ब ! आप ही तो कामेश्वराङ्कनिलया अनन्त-ब्रह्माण्डजननी श्रीषोडशी महात्रिपुरसुन्दरी हो। हे जगदम्ब ! आप ही मेरे प्रभु, मेरे स्वामी, मेरे अशरण-शरण, मेरे दीनबन्धु रामचन्द्र

की प्रियतमा हो। हे माँ! तुम सदा से मुझे सम्हाल रही हो। माँ! तुम्हारा तो कोई दोष नहीं, मैं व्यामोहवश अपने ही दोषों को आपके विविध स्वरूपों पर धरता हूँ।

"हे चिन्मयि! हे सदानन्दघनस्वरूपे माँ! हे निर्विशेष-सविशेषस्वरूपे! हे निर्गुण-सगुण-निराकार-साकारस्वरूपे! माँ! तुम्ही तो श्रीकृष्णप्राणेश्वरी रासेश्वरी नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधारानी हो। माँ! तुम्ही परब्रह्ममहिषी साक्षात् परब्रह्मविद्या-रूपिणी हो और तुम्ही प्रत्यक्‌चैतन्य या ब्रह्मस्वरूपा भी हो। माँ! तुम्ही दशमहाविद्या तथा अनन्त उपविद्यास्वरूपा हो। निगमागमवन्दिते! सर्वशास्त्रमहातात्पर्यगोचरे! भगवति! आप सर्वातीत होती हुई भी सर्वस्वरूपा हो, सर्वस्त्रीस्वरूपा सर्वपुरुष-स्वरूपा, जड़-चैतन्य एवं चराचरस्वरूपा भी आप ही हो। माँ! साध्वो-असाध्वी, सती-असती माँ! सब तुम्ही तो हो। माँ! तुम अच्छी हो, तुम तो केवल मेरे पापों के कारण ही दुःख निदान प्रतीत होती हो। माँ! कुलटाएँ और वेश्याएँ क्या आपसे भिन्न हैं? नहीं-नहीं, माँ! आपको पहचानने में भ्रम है। माँ! मैंने किसी रूप में आप पर दोषारोपण किया हो, आपका अपमान किया हो, तो भी अम्ब! क्षमा करो। माँ! तुम्हारे चरणारविन्द की नखमणिचन्द्रिका से हृदयान्धकार मिटता है। तुम्हारे चरणपङ्कजपराग से पाप-ताप शान्त होते हैं। माँ! अपनी विरुदावली के अनुसार एक इस असफल, निराश, हताश अधम का भी उद्धार करो, अपने अङ्क में नहीं तो चरणों में बिठा लो। माँ! दिशाएँ-विदिशाएँ शून्य और सन्तप्त प्रतीत हो रही हैं। कहाँ जाऊँ? क्या करूँ?

जगदम्ब! सुरथ के ऐश्वर्य प्रदान और समाधि को व्यामोहनिवृत्तिपूर्वक तत्त्व-ज्ञान प्रदान करना आपका ही कार्य है। माँ! आपके कृपाकटाक्ष के बिना सहस्रों विचार और ज्ञान अकिञ्चित्कर हो जाते हैं। माँ! मैं खूब समझ रहा हूँ कि अभीष्ट-सिद्धि और अनिष्ट-निवृत्ति के लिये इधर-उधर भटकना व्यर्थ है, सब कुछ आपके चरणों में ही है। माँ! छाया के पीछे भटकने से जैसे छाया नहीं मिलती, ठीक वैसे ही माया के पीछे भटकने से भी काम नहीं चलेगा, आपके चरणारविन्द को ओर चलते ही सूर्याभिमुख चलने पर छाया के समान ही माया आयेगी। माँ! फिर यह भी तो बिना आपकी कृपा के सम्भव नहीं है। वत्सले! तुम्हारे चरणों की शरणागति भी तो तुम्हारी ही कृपा का फल है। माँ! अब चित्त अत्यन्त ही ऊब गया है। हृदय अत्यधिक व्रणित हो गया है। माँ! अब कोई दूसरा सहारा भो नहीं है। माँ! जिन्हें हम रक्षक समझते थे, माँ! बिना तुम्हारे अनुकूल हुए उनकी भी कृपा अब जाती है। जिनपर बड़ा ही भरोसा था, जिन्हें मार्गदर्शक मानने को जी चाहता था, माँ! उन्होंने भी तो सूखा रुख अख्तियार कर लिया। माँ! अब उपेक्षा से काम न चलेगा। माँ! अब या तो वर्तमान इष्टानिष्टविप्रयोग-सम्प्रयोग-निमित्तों को दूर करो या व्यामोह दूर करो या फिर अब शीघ्र ही अपने चरणों में बुला लो, आपसे दूर रहने

में तो....वस्तुतः शान्ति का पाना सम्भव ही नहीं। कामों के भोग से कामों की शान्ति सम्भव नहीं है। घृत की आहुति से जैसे अग्नि की वृद्धि होती है, वैसे ही भोग से काम की वृद्धि ही होती है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥"

पृथ्वीभर में जो भी व्रीहि, यव, हिरण्य, पशु एवं स्त्रियाँ हैं वे सब मिलकर भी एक व्यक्ति को भी तृप्त करने में समर्थ नहीं हैं—

"यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
सर्वं नैकस्य पर्य्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥"

संसार की सभी सञ्चित राशियाँ क्षीण हो जाती हैं, सभी समुन्नतियों का अन्त में पतन होता है, सभी संयोगों का अन्त में वियोग होता है, सभी जीवनों का मरण में ही पर्यवसान है—

"सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तञ्च जीवितम्॥"

कल्याणमयि माँ! सभी विचार आपकी कृपा के बिना निर्वीर्य रहते हैं। आपकी कृपा से ही सद्विचार को निष्ठा होती है। सम्पूर्ण प्राणी आदि में अव्यक्त हैं और अन्त में भी अव्यक्त ही हो जाते हैं, मध्य-मध्य में ही व्यक्त रहते हैं। संसार में सहस्रों माता-पिता, सहस्रों पुत्र एवं सहस्रों स्त्रियाँ हुईं, परन्तु किसी का सम्बन्ध किसी से स्थिर न रहा। जन्मजन्मान्तरों में कितने ही पुत्र तथा अभीष्ट सुन्दरियों से सम्बन्ध होता है, परन्तु कौन कहाँ, कौन कहाँ ? किसी भी सम्बन्ध की स्थिरता नहीं है। जैसे महोदधि में इधर-उधर से अनेकधा काष्ठ इकट्ठे होते हैं, किसी लहर के वेग से पुनः पृथक्-पृथक् बह जाते हैं, वैसे ही कार्यपरतन्त्र प्राणी संयुक्त-वियुक्त होते ही रहते हैं। काल-कर्म के परतन्त्र हो प्राणी जन्म लेता, मरता और भटकता है, तदनुसार ही सुख-दुःख भी भोगता है। यौवन, सौन्दर्य, द्रव्यसञ्चय, जीवन एवं आरोग्य तथा प्रियसंवास सब अनित्य हैं। इनमें पण्डितों को मोहित नहीं होना चाहिये—

"अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृद्ध्येत्तेषु न पण्डितः॥"

सामूहिक दुःख के लिये एक को भी चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, बन सके तो अनुद्विग्न रहते हुए शक्तिभर उसके प्रतीकार की चेष्टा करनी चाहिये—

"न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येत् पराक्रमम्॥"

दुःख का चिन्तन न करना ही उसका महौषध है। चिन्तन करने से दुःख मिटता नहीं, परन्तु बढ़ता ही है—

"भैषज्यमेतद्दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चाप्यभिवर्द्धते॥"

अनिष्ट-सम्प्रयोग तथा इष्टविप्रयोग से ही अल्पबुद्धि प्राणी मानस दुःखों से दग्ध रहते हैं। प्रज्ञा से मानस दुःखों और औषधों से शारीरिक दुःखों का हनन करना उचित है। यही विज्ञान की महिमा है कि प्राणी बालतुल्य न हो—

"प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात्॥"

"पूर्वकृत कर्म सब सुखों-दुःखों के मूल कारण हैं। इस तरह अपना आत्मा ही अपना बन्धु और आत्मा ही अपना रिपु है। शुभ कर्म से सुख, अशुभ से दुःख होता है। बिना किये कुछ भी नहीं होता। ज्ञानविरुद्ध, विनाशकारण, मूलघाति कर्मों में समझदार लोगों को रत नहीं होना चाहिये। विचार करने पर यह सम्पूर्ण संसार ही अशाश्वत है, कदलीस्तम्भ के समान ही निःसार है। श्मशान में एक दिन सभी को समान रूप से समाप्त हो जाना पड़ता है, चाहे धनवान्, रूपवान्, बुद्धिमान् हो, चाहे निर्धन, निर्बुद्धि हो। विभिन्न गृहों के समान ही शरीर भी आत्मा का एक गृह ही है। जैसे कोई मृण्मयभाण्ड कुलाल के चक्र पर ही नष्ट हो जाता है, तो कोई कुछ बनकर नष्ट होता है, कोई बनकर एवं उपयुक्त होकर नष्ट होता है, वैसे ही जीर्ण, अजीर्ण, शिशु युवक सबको ही मृत्यु के मुख में जाना पड़ता है। जो केवल मधु देखता है, प्रताप नहीं देखता, वह लोभ के वश भ्रष्ट होकर शोक को ही प्राप्त होता है—

"मधु यः केवलं दृष्ट्वा प्रतापं नैव पश्यति।
स भ्रष्टो मधुलोभेन शोचत्येवं यथा ह्यहम्॥"

जैसे कोई प्राणी क्रीड़ा के लिये जल में प्रवेश करके कभी डुबकी लेता है, कभी उतराता है, वैसे ही बुद्धिमान् संसारगहन में उन्मज्जन-निमज्जन करता हुआ भी घबराता नहीं, परन्तु अबुद्धि प्राणी इस डूबने-उतराने में व्याकुल हो जाता है। हे माँ! जन्म से लेकर ही मांसशोणितयुक्त, अमेध्य स्थान में ऊर्ध्वपाद, अवाक्शिरा होकर रहना पड़ा है, योनिद्वार के भी नाना कष्ट सहने पड़े हैं, एक उपद्रव समाप्त भी नहीं हो पाया कि दूसरे उपद्रव शिर पर आ खड़े हुए हैं। जैसे आमिष के पीछे श्वान दौड़ते हैं वैसे ही अधिकांश आधियाँ एवं व्याधियाँ मुझ जैसे प्राणियों के पीछे ही रहती हैं। इन्द्रियपाशों से बद्ध, विविध आसक्तियों से घिरा हुआ प्राणी विविध व्यसनों का शिकार बनता है। उन्हीं व्यसनों से पीड़ित होता, उन्हीं में अतृप्त होकर फँसा रहता है। व्यामोहवश साधु-असाधु कर्मों को करता हुआ अनिवार्य रूप से प्राणी तत्फल का भागी होता है। यमदूतों और काल से आकृष्ट होता हुआ विविध विपत्तियों का

भाजन बनता है। अहो ! लोभ से वञ्चित होकर प्राणी कितने अपमानों, दुःखों और विडम्बनाओं में फँसता है और अपने आपको समझने में असमर्थ ही रहता है। दूसरों को मूर्ख कहता हुआ भी अपनी मूर्खता की ओर ध्यान नहीं देता। हे अपराजिते ! हे अमिते ! अनुपमचरिते माँ ! क्या कभी भी प्राणी बिना तुम्हारी कृपा से इस व्यामोह से, इस माया से मुक्त हो सकता है ? ठीक ही कहा है कि जिसपर आप कृपा करती हैं, वही दुस्तर देवमाया को पार कर सकता है, तभी श्वभ्रृगालभक्ष्य शरीर से ममाहंबुद्धि हट सकती है। पर इसके लिये निर्व्यलीक, निष्कपट, अकैतवरूप से आपको शरणागति अपेक्षित है—

"येषां स एव भगवान् दमयेदनन्तः सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वभ्रृगालभक्ष्ये ॥"

माँ ! कितना भीषण संसार है ! आपने शास्त्रों में तो बतला रखा है कि कोई ब्राह्मण हिंस्र-व्याघ्रसंकुल गहन कान्तार में पहुँच गया। सिंह, व्याघ्र, गज एवं भल्लूकों के कर्कश घोर नादों एवं भीषण आकृतियों से घिर गया। उस भीषण स्थिति को देखकर साक्षात् यम को भी त्रास हो सकता है। ब्राह्मण का हृदय उद्विग्न हो गया, देह में रोमाञ्च हो गये। वह घोर गहन वन में दशों दिशाओं में शरण ढूंढता हुआ भटकता है। भागने का प्रयत्न करता है, पर भाग भी नहीं सकता। अकस्मात् अन्य भयङ्कर वन में पहुँचकर देखता है कि एक भीषण स्त्री ने चारो तरफ जाल फैला रखा है। पांच-पाँच फणोंवाले अगणित नाग और भीषण वृक्षों से भी वह वन घिरा है। उसी वन में एक कूप था, जो विविध दृढ़ वल्लियों से ढँका हुआ था। ब्राह्मण उसी अन्धकूप में गिर गया और तृणाच्छन्न वल्लियों पर बृहत् पनस (कटहल) फल के तुल्य लटक गया। शिर नीचे को था, पैर ऊपर को। नीचे कूप में देखता है कि एक भीषण महानाग है। छः मुख, १२ पैरोंवाला तथा शुक्ल-कृष्ण वर्ण का एक महागज कूप के बाहर था। वह वल्लियाँ भी खूब फैली हैं। नानारूपधर घोर मधुकरों ने ऊपर मधु के छत्ते को घेर रखा है, उसमें से ही कुछ-कुछ मधु कभी-कभ टपकता है। बालप्राय मूढ़ प्राणी उस मधु से आकृष्ट होकर उसी मधुधारा को वल्लियों में लटका हुआ पान करता है, फिर भी उसकी प्यास बुझती नहीं, नित्य अतृप्त होकर उसी वस्तु की लालसा में परेशान रहता है। उसी लोभ से वह ब्राह्मण अपनी भीषण दशा को भूल जाता है और उस दुर्दशापूर्ण जीवन से भी उसे वैराग्य नहीं होता, उस हालत में भी वह जीवित रहने की इच्छा करता है। वहीं श्वेत-कृष्ण मूषक उन वल्लियों को काट रहे हैं। ऊपर भीषण विषधर साँपों से घिरे घोर कान्तार में महोग्रडाकिनीरूपा स्त्री का जाल फैला है। कूप के ऊपर भीषण गज है। कूप के भीतर नाग है। वल्ली कटते ही कूप-पतन का भय भी सामने है। भीषण भ्रमरों का भी डर है ही। फिर मधुलोभ में प्राणी सब भूलकर जीवित रहना चाहता है।

माँ ! यह महासंसार ही तो वह कान्तार है। क्या यह कम दुर्गम है ? माँ ! यह कितना भीषण है ! माँ ! तुम्हारे अभयहस्त का सहारा न हो, तुम्हारे अंक (गोद) का सुख न हो, तुम्हारी नखमणिचन्द्रिका की शीतलता न हो, तो इससे किसकी मुक्ति हो सकती है ? माँ ! यह त्रिविध व्याधियाँ ही तो भीषण व्याल हैं। माँ ! यह तो व्यालों से भी कहीं अधिक भीषण है। एक ही व्याधि प्राणी को जर्जर कर देती है, दद्रु, खर्जु, ज्वर, अतीसार, कुष्ठ, प्लेग, विषूचिका, क्षय, शिरःशूल, उदरशूल आदि अगणित व्याधियाँ शरीर को जर्जर कर देती हैं। वह सौन्दर्य कहाँ चला जाता है ? देह की कान्ति समाप्त हो जाती है, बाल पक जाते हैं, मुख दन्तविहीन हो जाता है, रमणीयता समाप्त हो जाती है, अब भूषण, अलङ्कार, अङ्गरागादि बाह्य कृत्रिम साधनों से उसकी सुन्दरता बढ़ाना कितनी विडम्बना है ! वृद्धावस्था तो वह भीषण नारी है। सुन्दरी से सुन्दरी स्त्री तथा सुन्दर से सुन्दर भी पुरुष को विरूप कर देना इसका खेल है। हे माँ ! फिर भी स्त्री आदि के मायामय देहों में क्यों व्यामोह होता है ? रूप और वर्ण का विनाश करना जरा का प्रमुख कार्य्य है। माँ ! कितना भीषण व्यामोह है ! प्राणी आधि-व्याधि, जरा, रोगादि से पीड़ित, त्रस्त तथा विरूप हो रहे हैं। जिसपर मोहित होता है, वह भी आधि-व्याधिग्रस्त, मृत्युमुखपतनोन्मुख ही है। कोई किसी को विपत्ति से बचा नहीं सकता। फिर भी व्यामोह, रति, राग का उपद्रव ? आश्चर्य है। आचार्य ने क्या ही सुन्दर कहा है—

"अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्।"

अहो ! यह आधियाँ (मानसी पीड़ाएँ) तो व्याधियों से भी भीषण हैं, इनके तापसे तो माँ ! सिवा तुम्हारे अङ्क के कहीं भी निवृत्ति हो ही नहीं सकती। हे माँ ! हे जननि ! हे कल्याणमयि ! हे सकरुणे ! क्या तू अपनी विपन्न सन्तानों की उपेक्षा कर सकती है ? नहीं, माँ ! यह तो सब अपराध मादृश मूढ़ों का ही है।

कान्त-कान्ता की विरह-वेदना कितना भीषण ताप है। क्या इसका पारावार है ? क्या इसी से इन्दुमती के विरह में रघु का करुण अवसान नहीं हो गया ? क्या पुरूरवा का उन्माद और पागलपन इसी विरहव्यथा का, प्रिय वियोग का ही परिणाम नहीं था ? क्या नरनाट्य में प्रभु राम ने भी माँ ! आपकी विरहवेदना का लोहा नहीं माना ? माँ ! प्रेममतवाली गोपाङ्गनाओं, प्रभु कृष्ण तथा रासेश्वरी राधारानी ने भी विरहव्यथा का कितना भीषण अनुभव किया था। माँ ! वास्तविक प्रेम और वासना का भेद सहसा किसकी समझ में आ सकता है ? फिर भी आखिर यह मानसिक व्यथा, आन्तरिक आधि क्या एक ही प्राणी के जीवन का अन्त नहीं कर सकती ? इन विषयों में क्या बिना आपकी कृपा के कोई विवेक कारगर होता है ? माँ ! यह शरीर ही तो वह अन्धकूप है, उसीमें तो कालरूपी सर्प भी रहता है, जो प्राणियों का अन्त करता है। शरीर में जीवन की जो आशा है, वही तो वल्ली है।

शरीररूप कूप के ऊपर जो छः मुँह, बारह पैरों का भीषण गज है, वह यही संवत्सरात्मा काल है। छः ऋतुएँ ही उसके मुख हैं, बारह मास ही उसके पैर हैं, शुक्ल-कृष्ण पक्ष ही उसके श्वेत-कृष्ण वर्ण हैं। दिन-रात ही तो इस जीविताशा आयुरूपी वल्ली को प्रतिक्षण काटनेवाले मूषक हैं। माँ! विविध काम ही तो भीषण भ्रमर हैं। विविध कामरस ही वह मधुधाराएँ हैं, जिनमें प्राणी मोहित हो रहा है। माँ! आपकी कृपा से ही इस संसारचक्र को पार किया जा सकता है, उसके बिना सभी प्रयत्न व्यर्थ होते हैं। माँ! कुछ भी हो, मेरी तो एकमात्र आशा आप ही हैं। माँ! यदि आपने जरा सी भी उपेक्षा की, तो फिर मैं कहीं का न रहूँगा।

यह शरीर ही रथ है, बुद्धि ही सारथि है, इन्द्रियाँ ही घोड़े हैं। जो बुद्धि के द्वारा इन्द्रियों को नियन्त्रित करके संसारचक्र में भ्रमण करता है, वह मोहित नहीं होता। संसार में राज्य का छिन जाना, पुत्र का नाश, प्रिय पत्नी का नष्ट हो जाना, सुहृदों का नष्ट होना आदि भीषण दुःख होते हैं। इन दुःखों का भेषज ज्ञान ही है। विक्रम, धन, मित्र, सुहृदों से इस सम्बन्ध में कोई लाभ नहीं होता। किन्तु ज्ञान, दम, त्याग एवं अप्रमाद से युक्त होकर सर्वप्राणियों को अभय देकर जो पद प्राप्त किया जा सकता है, वह सहस्रों ऋतुओं एवं उपवास से भी प्राप्त नहीं होता।

पुत्र, मित्र, वित्त, कलत्र, किसी के भी विप्रयोग में जो वेदना होती है, उसे कोई अनुभवी ही समझता है। तज्जन्य शोक से प्रत्येक गात्र तथा रोम-रोम में दाह उत्पन्न होता है। प्रज्ञा भी अभिभूत हो जाती है।

"प्रिय वियोगसम दुख जग नाहीं।"

"प्राप्यते सुमहद्दुःखं विषाग्निप्रतिमं विभो।"

विष एवं अग्नि के तुल्य प्रियवियोगदुःख अतिभीषण होता है। इससे तप्त प्राणी मरण को ही श्रेष्ठ समझता है—

"तदिदं व्यसनं प्राप्तं मया भाग्यविपर्ययात्।
तस्यान्तं नाधिगच्छामि ऋते प्राणविमोक्षणान्॥"

"अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥"

भावि का भाव होकर ही रहता है। यदि उसका भी प्रतिकार हो सकता तो फिर नल, राम एवं युधिष्ठर को सन्तप्त न होना पड़ता। इसीलिये महापुरुषों ने कहा है—

"यदभावि न तद्भावि भाविचेन्न तदन्यथा।
इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न सेव्यते॥"

जो नहीं होनेवाला है वह नहीं होगा। जो होनेवाला है, वह होकर ही रहेगा, यही विचार चिन्ताविष का औषध है। फिर ज़ो हमारी वस्तु है, वह दूसरे को नहीं हो मिलेगी—

"यदस्मदीयं न हि तत्परेषाम्॥"

फिर भी हे विश्वप्रसवित्री ! हे सकरुणे ! हे दीनरक्षामणे ! बिना तुम्हारी कृपादृष्टि की वृष्टि हुए सब उपाय, सब साधन व्यर्थ हैं। माता-पिता बालक के रक्षक होते हैं, परन्तु अम्ब ! तुम्हारी कृपा के बिना वे भी रक्षक नहीं हो सकते, उनके प्रयत्नशील रहने पर भी बालक की मृत्यु हो ही जाती है। आर्त प्राणी को बचानेवाली औषध भी आर्त को नहीं बचा सकता, क्योंकि औषध सेवन करते हुए भी प्राणी को मरना ही पड़ता है। समुद्र में डूबते हुए को जलयान बचाता है, परन्तु आपके कृपा-कटाक्ष के बिना हे माँ ! जहाज भी डूब ही जाता है। माँ ! तुम्हारी कृपा से ही सौभाग्यशालियों को दिव्य वैराग्य प्राप्त होता है, जिसके कारण बड़े-बड़े सम्राट् विविध ऐश्वर्यों, भोगसामग्रियों का अनायास ही त्याग कर देते हैं। नहुष, गय, ययाति आदि सुदुर्लभ भोगों को छोड़कर अरण्य में चले गये थे। माँ ! आपकी कृपाकोर से ही ऋषियों ने निश्चय किया था कि "न सुखाल्लभते सुखम्।" सुख से सुख नहीं मिलता। विशेषकर ब्राह्मण का देह क्षुद्र काम के लिये नहीं, अपितु घोर तपस्या और कष्टसहन के लिये ही होता है—

"ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥"

"जगदम्ब ! आपकी कृपा से ही वीतराग विश्ववन्द्य महानुभाव परमसुन्दरियों, प्राणवल्लभाओं के मोहजाल से मुक्त हो सके थे। माँ ! यद्यपि आपके चरणों की ओर चलना बड़ा कठिन मालूम पड़ता है, बड़ा ही ऊबड़-खाबड़, गहन वन, पर्वत सा मार्ग आपकी प्राप्ति का मार्ग है और विषयों का मार्ग बड़ा ही रोचक एवं सुखकर प्रतीत होता है, परन्तु जिसपर आपकी कृपादृष्टि हुई और जो आपकी ओर चल पड़ा, उसके लिये कितना सुखद आपका मार्ग है, परन्तु विषम मार्ग में चलने से मृग-मरीचिका के समान लोभ, मोह एवं दुःख, ताप का अन्त होता ही नहीं। ये विषय मोहक, भीषण विषाग्नि ज्वाला के प्रतिम हैं। बिना आपके अङ्क में पहुँचे प्राणी को शान्ति होती ही नहीं। हे माँ ! परन्तु इसमें दोष किसका ? प्राणी के अपने ही पापों का तो यह फल है। फिर दूसरों पर क्षोभ क्यों ? जब तक शुभकर्म हैं, आपकी अनुकूलता है, तब तक सभी साथी हैं, सुखसाधन हैं। वही माता, भ्राता, कान्ता, पति, जो बड़े ही अनुरागी और प्रेमवश प्राण देनेवाले होते हैं, वही कभी अपरक्त विरक्त प्रतीत होने लगते हैं। पर यह अपने ही भाग्यों का दोष है, उनपर कुपित होना व्यर्थ ही तो है। माँ ! अपार संसार समुद्र से पार करना, अपार शोकसागर से प्राणी का उद्धार करना आपके लिये क्या कठिन है ? माँ ! यह तो तुम्हारा खेल होगा। परन्तु मादृश पशुओं का इससे परम कल्याण होगा। माँ ! गजेन्द्र की पुकार सुनकर, द्रौपदी का करुण क्रन्दन सुनकर आप ही ने तो विष्णुरूप से दौड़कर उनका उद्धार किया है। माँ ! वस्तुस्थिति तो यह है कि वे लोग महासत्व और महापुरुष थे,

उनके विवेक, विज्ञान एवं धैर्य्य की मात्रा अधिक ही थी, साथ ही उनमें सहनशक्ति भी अधिक रही होगी और आपके चरणों में प्रीति भी सुतरां उनकी अधिक थी। अपनी भक्ति के बल से वे आपको खींच सकते थे। किन्तु माँ! मुझ दीन की ओर दृष्टि देकर देखेंगी, तो बहुत ही अन्तर प्रतीत होगा। माँ! अल्पसत्व, अल्पधैर्य्य, अल्पभक्ति, अल्पशक्ति मुझ दीन की तो माँ! एकमात्र आप ही सहारा हैं।

माँ! कभी-कभी आप की माया से अविश्वास, अनास्था एवं अश्रद्धा का भी तो उपद्रव चलता ही रहता है। हे माँ! हे माहेश्वरी! हे दयार्णवरूपे! मेरा तो आपके दयाकण से ही उद्धार हो सकता है, फिर मेरी बार ही यह अनुदारता क्यों? माँ! दुर्भाग्य एवं अविवेक, विमोह एवं राग की स्थिति में प्रकृति के कण-कण उद्वेजक होते हैं। कभी-कभी दूसरों के अनुकूल भाव भी भ्रान्ति से प्रतिकूल ही प्रतीत होते हैं। शत्रु को मित्र, मित्र को शत्रु, रक्त को विरक्त और विरक्त को रक्त समझने की भी भूल होती है। परिस्थितियाँ भी सबकी पृथक् होती हैं। किन्तु माँ! जब हम अपना हो मन अपने वश में नहीं कर पाते, तो दूसरों के मन पर हमारा अधिकार हो जाय यह आशा कितनी भीषण दुराशा है।

पुत्र, मित्र, कलत्र, बन्धु, बान्धव किसी का भी अपराग हमें खलता है, और बेहद खलता है। जिन पुत्रों, मित्रों के लिये, जिन पत्नियों, प्रेयसियों के लिये न जाने क्या-क्या करना और कितना-कितना कष्ट भोगना पड़ा, उनका अपराग देखकर हृदय कितना विदीर्ण होता है। वे झूठे प्रेम के नाटक, वह झूठी आँसुओं को झड़ी, वह रहस्यपूर्ण सस्नेह मधुर वचन-विन्यास, वह मधुर मुद्राएँ, स्वात्मसमर्पण की वह मधुर चेष्टाएँ और मधुर मिलन कितने भीषण सिद्ध होते हैं। माँ! यह कैसी विडम्बना है? अहो! महापुरुष भर्तृहरि की कितनी सुन्दर अनुभूति है। हाय! जिसका मैं इष्टदेवता की तरह निरन्तर चिन्तन करता रहता हूँ, वह मुझसे विरक्त है, मुझे नहीं चाहती, वह किसी और से प्रेम करती है और कैसी विधि की विडम्बना है कि वह उसका प्रेमास्पद भी तो किसी और से हो प्रेम करता है, प्रेम करनेवाली को नहीं चाहता। किन्तु जिसे वह चाहता है, वह उसकी प्रेयसी उससे प्रेम न कर मुझे चाहती है। अहो! उस मेरी प्रिया को धिक्कार है और उस पुरुष तथा उसकी प्रेयसी एवं इस मदन तथा मुझे भी धिक्कार है—

"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जनः स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक् ताञ्च तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च॥"

हे दयामयि! तृष्णाविषविषूचिका अभी कितना परेशान करेगी? माँ! मेरे पास इसकी कोई भी सफल औषध नहीं दिखती। यह विलाप, यह करुणक्रन्दन,

अरण्यरोदन न होना चाहिए। यह विलुण्ठन, यह बेचैनी और भीषण आतुरता, यह अनवस्थिति मेरे प्रयत्न से मिटनेवाली नहीं है। मूर्खतावश जिसे हृदय खोलकर दिखाना चाहते हैं, उसे देखने का समय ही नहीं और देखने की रुचि भी नहीं है। फिर वही शून्य, भीषण दावदग्ध, निर्जन, शून्य अरण्य का रोदन, दीर्घ श्वास-निःश्वास, आर्तनाद, माँ! तुम्हीं सुन लो। जो जन्म-जन्मान्तरों तक सम्बन्ध न छोड़ने का सङ्कल्प कर चुके हैं, वे इसी जन्म में साथ छोड़ गये। उनकी दृष्टि भाव-भङ्गी में परिवर्तन, क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। कातर चित्त किसी की सद्भावना की कल्पना से कितना प्रफुल्लित होता है, यह भी तो एक भाग्य की बात है। जीवन में हमने जिससे राग किया, वही हमसे विरागी बना। जिसे पकड़ना चाहा, उसने ही भागना चाहा। जिसे नहीं चाहा, उसे भले ही पाया हो, परन्तु जिसपर प्रेम किया, वह मुझे ठुकराने में सुखी हुआ। माँ! अब बस ले लो अपने चरणों में। यह अवहेलना, यह अपमान कब तक सहाओगी? श्वान, शूकर, गर्दभ के समान विषयों का कीड़ा बनकर, कञ्चन-कामिनी का किङ्कर बनकर अभी और कितना अपमान सहना पड़ेगा? मातः! यह राग अतिविषम है, सर्प के समान डँसता है, भीषण असि के समान मर्मच्छेदन करता है, भाले-बर्छे के समान हृदय को विद्ध करता है, रज्जु के समान बन्धन करता है, पावक के समान दहन करता है, रात्रि के समान अन्ध बना देता है, पाषाण-आघात के तुल्य विवश कर देता है, प्रज्ञा का विनाश करता है और ऐसा कौन दुःख है, जो रागान्ध प्राणी को नहीं मिलता? हे जगज्जननी! क्या मेरे इस दुर्विपाक का अन्त ही नहीं होना है? यह संसार-कदर्थना आखिर कब तक भोगनी पड़ेगी? क्या इस दीर्घ, उष्ण निःश्वास-परम्परा की कोई अवधि भी है? आखिर यह सब उपद्रव जिनके कारण हैं, वे भी तो ऊब गये। माँ! इस दृश्य-विषूचिका का एक-एक कण भी तो भीषण अनर्थकारी होता है। जड़भरत ने अखण्ड भूमण्डल का राज्य छोड़ा, प्रिय पत्नी, पुत्र, पौत्र, स्निग्ध दुहिताओं को भी छोड़ा, उन्हें क्या मृगीसुत में इतना स्नेह होना चाहिए था? माँ! क्या जड़भरत विवेक-विज्ञान की बातें नहीं जानते थे? ओह! कितना भयङ्कर व्यामोह, कितनी विधि-विडम्बना है? कितने ही स्नेही प्रज्ञा का पाठ पढ़ाते हैं और इस स्थिति पर तरस खाते हैं, पर क्या माँ! आप संसार से भी अधिक निष्ठुर हो जो संसार जितनी भी दया नहीं दिखलाती हो? क्या आपकी दया संसार जैसी निष्फल होती है?

हे माँ! त्वचा-मांस-रक्तादिसमूह ही तो स्त्री-पुरुषप्रपञ्च है। भूषण, विलेपन, अङ्गराग आदि से जिन अङ्गों का लालन किया गया था, उन्हीं को श्मशानों में श्व-शृगालादि इतस्ततः कर्षण कर रहे हैं। मेरुशृङ्गतटोल्लासि गङ्गाजलधारा के तुल्य जिन प्रमदास्तनों पर मुक्ताहार सुशोभित होते थे, आज उन्हीं स्तनों को ओदन के लघुपिण्ड के समान श्वान आकर्षण कर रहे हैं। पूर्णेन्दुबिम्बवदना, पुष्पाभिराममधुरा

सब कुछ मल, मांस, रक्त आदि का ही परिणाम तो है। उन्हीं रक्त, मांस, केश आदि की श्मशान में कितनी भीषण दुर्गति होती है। माँ! क्या आपका चरण-चिन्तन करने पर भी अविवेक, अज्ञान, अशान्ति का रहना उचित है। माँ! अशरणशरण आपके चरण हैं। माँ! अकारणकरुणा आपका हृदय है। हे करुणा-वरुणालये! क्या यह सब कुछ मेरे लिये व्यर्थ ही है? क्या किसी का वर-शाप आपकी दया से भी अधिक प्रभावशाली है? माँ! तत्त्वज्ञ लोग तो सदा से ही सावधान करते आये हैं कि सन्ध्या के समान क्षणमात्र रागवती ही स्त्रियाँ होती हैं। नदी के समान ही इनका आशय, कुटिल होता है। भुजङ्गी के समान ही यह अविश्वास्य होती हैं। विद्युत् के समान इनकी चपलता प्रसिद्ध है। इनका वचन अमृतमय, किन्तु हृदय तो क्षुरधारा के तुल्य तीक्ष्ण होता है—

"सन्ध्यावत्क्षणरागिण्यो नदीवत् कुटिलाशयाः।
भुजगीवदविश्वास्या विद्युद्वच्चपलाः स्त्रियः॥
वचोऽमृतमयं यासां कामिनां रसवर्धनम्।
हृदयं क्षुरधाराभं प्रियः को नाम योषिताम्॥"

भ्रमर जैसे एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाता रहता है, यही स्थिति स्त्री की होती है—

"भृङ्गीव पुष्पपुरुषं स्त्री वाञ्छति नवं नवम्।"

अति चपल पारद का निग्रह किया जा सकता है, परन्तु स्त्रीचित्तग्रहण की कोई भी युक्ति नहीं है—

"अत्यन्तचपलस्येह पारदस्य निबन्धने।
कामं विज्ञायते युक्तिर्न स्त्री चित्तस्य काचन॥"

परन्तु स्त्री की ही क्यों, कुत्सित स्त्रियों जैसी ही कुत्सित पुरुषों की भी स्थिति तो वैसी ही है। माँ! वस्तुतस्तु, यदि आपकी कृपा होती है तो सभी अनुकूल होते हैं। आपकी कृपा के बिना प्रकृति के परमाणु-परमाणु उद्वेजक ही सिद्ध होते हैं। माँ! अब तो एक बार अनुकम्पाभरी दृष्टि से निहार दो। माँ! यह विषयों तथा कामादिकों द्वारा और कितनी कदर्थना और कितनी विडम्बना सहाओगी?

माँ! मैंने इन तरलचित्तों की कितनी स्तुति नहीं की? इनका कितना अनुनय नहीं किया? जितनी स्तुतिमयी दीनतायुक्त पत्रिकाओं द्वारा इनके सामने रोना रोया, उतना यदि आपके सामने रोया होता, तो यह पश्चात्ताप के दिन न आते। जो शिर आपके भक्तों एवं आपके ही चरणारविन्द में झुकाना चाहिये था, वह मृगमरीचिकामय प्राणियों के सामने झुका। जो महत्व, जो गौरव आपके प्रति होना उचित था, वह साधारण प्राणियों के प्रति किया गया। हाँ, वह भी यदि सर्व-स्वरूपा आपको ही समझकर आपके ही प्रति होता, तो कोई बात न थी। परन्तु माँ! उन सब बातों को मेरी कमजोरी समझा गया, मुझपर दया दिखायी गयी। बहुतों ने

उपहास भी किया, बहुतों ने उपेक्षा की, बहुतों ने घृणा भी की, बहुतों ने उसे भी एक उपद्रव समझकर इस बला को टालना ही उचित समझा। मेरे भावपूर्ण हृदय को ठुकराया गया। उन पत्रिकाओं का आदर करना, हृदय से लगा लेना, भाव समझना तो दूर की बात, उन्हें देखना, पढ़ना भी शुद्ध भार समझा गया। माँ! यह सब आपकी उपेक्षा और मेरे दुर्भाग्य का ही तो परिणाम था। माँ! जिनके लिये कितने ही अनुष्ठान, कितनी ही प्रार्थनाएँ की गयीं, जिनके लिये घोर वेदना सहन की गयी, लक्षों अश्रु-बिन्दुओं का समर्पण किया गया, उन्हीं द्वारा उपेक्षा, पूर्णउपेक्षा, हृदय को पूर्णरूप से कुचल डालने का प्रयत्न किया गया। जिनके लिये मानापमान सहा गया, मानहीन भोजन किया गया, उनसे ही क्या मिला? ठीक ही है। अनेक दुर्गम-विषम देशों में भटकना पड़ा, परन्तु कुछ भी न मिला। जाति-कुल के अनुकूल उचित अभिमान छोड़कर भी निष्फल सेवा, निष्फल अनुनय-विनय करना पड़ा, दूसरों के गृहों में मानवर्जित, आशङ्कायुक्त काकवत् भोजन करना पड़ा। यह सब तृष्णा एवं काम की ही कदर्थना तो थी। हे पापकर्मनिरते तृष्णे! क्या अब भी तुझे सन्तोष नहीं है?—

"भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषयं प्राप्तं न किञ्चित् फलम्।
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला॥
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे स्वाशङ्कया काकवत्।
तृष्णे जृम्भसि पापकर्मनिरते नाद्यापि सन्तुष्यसि॥"

खलों की आराधनाओं में तत्पर होकर उनके विविध उल्लापों को भी सहा, हृदय के आँसुओं को रोककर शून्य मन से उनके उपहासों को भी सहा। माँ! आखिर जीवन भी तो क्षणभंगुर ही है। आदित्य के गमनागमन द्वारा प्रतिदिन ही तो जीवन क्षीण हो रहा है। वह कार्यभार गुरु व्यापारों से काल का बीतना भी कहाँ मालूम पड़ रहा है? माँ! जन्म, जरा, मरणादि भीषण विपत्तियों को देखकर भी त्रास उत्पन्न नहीं होता। माँ! सचमुच मोहमयी प्रमादमदिरा से हम सभी उन्मत्त हो रहे हैं—

"आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवनम्।
व्यापारैर्बहुकार्य्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते॥
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते।
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥"

माँ! भर्तृहरि के कथनानुसार सचमुच आशा नाम की नदी अति भीषण है। विविध प्रकार के मनोरथ ही इसका जल है। विविध विषय तृष्णा-तरङ्गों से वह आकुल है। राग ही उसमें ग्राह है। विविध वितर्क ही विहङ्गम हैं। धैर्य्यद्रुम का विध्वंसन करनेवाली, मोहरूपी आवर्तों से अतिसुदुस्तर तथा प्रोत्तुङ्ग चिन्तारूपी

तटवाली इस नदी को जो पार कर जाते हैं, वे ही विशुद्ध मनवाले योगीजन सुखी होते हैं—

"आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला।
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी॥
मोहावर्त्तसुदुस्तरातिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी।
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥"

यह विषय सबके सब अवश्य ही बहुत दिन बाद भी जायँगे ही। वियोग में कोई भी भेद नहीं। फिर भी प्राणी क्यों नहीं इनको स्वेच्छा से छोड़ता? यदि ये विषय स्वेच्छा से जायँगे, तो मन के अतुल परिताप के हेतु बनेंगे। किन्तु यदि समझदारी के साथ इन्हें छोड़ दिया जाय, तब तो वे अनन्त शान्ति-सुख के हेतु बनते हैं—

"अन्तहुँ तोहि तजहिंगे पामर तू न तजत अबहीं ते।"
"अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥"

परन्तु फिर भी मोह महिमा विचित्र है। बेचारा पतङ्ग तो दहन के भीषण स्वरूप को बिना जाने उसमें पड़कर मरता है, बेचारा मीन भी बिना समझे वंशीयुक्त मांस खा लेता है। परन्तु, हम लोग तो जानते हुए इन विपज्जालजटिल कामों को नहीं छोड़ पाते—

"अजानन्माहात्म्यं पततु शलभस्तीव्रदहने,
स मीनोऽप्यज्ञानाद्बडिशयुतमश्नातु पिशितम्।
विजानन्तोऽप्येतद्वयमिह विपज्जालजटिलान्,
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोहमहिमा॥"

सचमुच जो विवेकी लोग विविध भोगों, काञ्चन, धनादिकों को अतिनिःस्पृहता के साथ छोड़ देते हैं, वे बड़ा ही दुष्कर कार्य करते हैं। हम लोगों को तो कोई विशिष्ट भोग, धनादि न पहले मिले, न अब ही प्राप्त हैं, और न आगे ही मिलने का दृढ़ विश्वास है। फिर भी केवल वाञ्छामात्र परिग्रह भी हम लोगों के छोड़े नहीं छूटते—

"ब्रह्मज्ञानविवेकिनोऽमलधियः कुर्वन्त्यहो दुष्करम्,
न प्राप्तानि पुरा न सम्प्रति न च प्राप्तौ दृढः प्रत्ययः।
वाञ्छामात्रपरिग्रहाण्यपि परं त्यक्तुं न शक्ता वयम्॥"

फिर भी वस्तुएँ कभी स्थिर नहीं हैं। तभी तो एक भग्नशेष राजधानी देखकर कोई सहृदय व्यक्ति कहता है कि कभी यहीं एक सम्राट् था। उसके पार्श्व में ही

सामन्तचक्र था। उसके समीप कितनी सुन्दर राजपरिषद् थी और चन्द्रबिम्बानना दिव्यस्त्रियाँ, उनके विविध विलास-वैभव थे। वे उद्रिक्त राजपुत्र-समूह थे। वे स्तुति-पाठक, बन्दी और वे विचित्र कथाएँ थीं। परन्तु सब कुछ जिस काल की महिमा से आज केवल स्मृतिशेष रह गये, उस काल को नमस्कार है—

"भ्रातः कष्टमहो महान् स नृपतिः सामन्तचक्रञ्च तत्।
पार्श्वे तस्य च सापि राजपरिषत् ताश्चन्द्रबिम्बाननाः॥
उद्रिक्तः स च राजपुत्रनिवहस्ते बन्दिनस्ताः कथाः।
सर्वं यस्य वशादगात्स्मृतिपथं कालाय तस्मै नमः॥"

"माँ! आपकी मङ्गलमयी कृपा हो, तब तो सहस्रों महापुरुषों के वचन हैं, जिनसे अविवेकान्ध प्राणियों की भी आँखें खुल सकती हैं। हे चित्त! इस मोहान्धकार का मार्जन कर प्रभु के चरणारविन्द में प्रीति कर एवं गङ्गारज में हो आसङ्ग कर। अरे! क्या तरङ्गों, बुद्बुदों या विद्युल्लेखाओं, स्त्रीजनों, ज्वालाग्रों, पन्नगों अथवा सरिद्वेगों में कोई प्रत्यय हो सकता है? यदि नहीं, तो क्षणभंगुर भावों के पीछे अपना सर्वनाश क्यों कर रहा है?—

"मोहं मार्जयतामुपार्जय रतिं चन्द्रार्धचूडामणौ।
चेतः स्वर्गतरङ्गिणीतटभुवामासङ्गमङ्गीकुरु॥
को वा वीचिषु बुद्बुदेषु च तडिल्लेखासु च स्त्रीषु च।
ज्वालाग्रेषु च पन्नगेषु च सरिद्वेगेषु कः प्रत्ययः॥"

माँ! संसार के सभी उपाय तभी सार्थक होते हैं, जब आपकी कृपादृष्टि हो। उसके बिना तो यही जँचता है—

"मातु मृत्यु पितु शमन समाना।
सुधा होहिं विष सुनु हरिजाना॥
सब जग ताहि अनल सम ताता।
जो रघुबीर विमुख सुनु भ्राता॥"

माँ! निराश, हताश की एकमात्र आप ही आशा हैं, इस संसार में अन्धे की यष्टि के तुल्य मुझ सरीखे प्रपन्न, पतित पशुओं का एकमात्र आप ही सहारा हैं। माँ! भीषण संसार भले ही अत्यन्त असत्प्राय हो, तथापि मैं अतिसन्त्रस्त हूँ। हे कृपण-वत्सले! कौन कह सकता है कि जड़भरत विद्वान् एवं विवेकी नहीं थे? जिसने अखण्ड भूमण्डल का चक्रवर्तित्व छोड़ा, परमप्रिये ऐश्वर्य्यपूर्ण पट्टरानियों, हृदयाभिन्न पुत्र-पुत्रियों का परित्याग किया, वही एक दृश्य विषूचिका के बिन्दुकणसमुद्भूत हरिण-शावक के माया-मोह में फँस गया। भृत्यवत्सले! यही तो है समुद्र पार कर गोपद में डूब जाने का उदाहरण। विदेहराजतनये माँ! कभी-कभी प्राणी उत्कृष्ट से उत्कृष्ट वस्तुओं का त्याग कर देता है, परन्तु कालान्तर में वही नगण्य वस्तुओं का

रागी बनकर दीन हो जाता है और उन्हीं के लिए विविध विडम्बनाओं का पात्र बनता है। माँ ! मन का गुलाम, इन्द्रियों का दास प्राणी विषयों का कीड़ा बन जाता है। माँ ! सम्पूर्ण कदर्थनाओं की जड़ माया-ममता ही तो है। यदि आप चाहें, तो क्या ये सब क्षणभर भी टिक सकते हैं ? माँ ! वस्तुतस्तु आपकी कृपा के बिना ही मूढ़मति प्राणी के लिये यह संसार वज्रसार है। जैसे बाल-कल्पित वेताल उसकी मृत्यु तक पीछा नहीं छोड़ता, वैसे ही यह स्वकल्पित संसार भी वज्रपञ्जर के तुल्य दुर्भेद्य बना रहता है। जैसे घोर सन्तापनिदान आतप ही मृगों के जलभ्रम का कारण बन जाता है, वैसे ही असत्य ही जगत् सत्यवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न की मृत्यु असत्य होते हुए भी सत्य प्रतीत होती है, वही स्थिति इस भीषण दृश्यविषूचिका की है।

कनक से अपरिचित प्राणी के लिये कनकनिर्मित कटक में कटक बुद्धि ही होती है, भूलकर भी जिसमें कनक बुद्धि नहीं होती, ठीक उसी प्रकार यद्यपि निर्दृश्य, परमार्थदृक् का ही परिणाम नगर, गृह, नर, नग, नागेन्द्रादि प्रपञ्च हैं, फिर भी अज्ञ प्राणी को परमार्थदृक् का प्रबोध नहीं होता। दृश्यमात्र दृक् ही है, परमार्थ दृक् से भिन्न कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार आकाश में गन्धर्व नगर आदि की प्रतीति होती है, इसी प्रकार दुर्दृष्टियुक्त प्राणियों को जगत् प्रतिभासित होता है। यह विश्व दीर्घ स्वप्न, दीर्घ मनोराज्य अथवा दीर्घ चित्तविभ्रममात्र है। अहन्तादियुक्त दुरन्त विश्व हिरण्यगर्भ का एक क्षुद्र स्वप्न ही तो है। चैत्यवर्जित चिन्मात्रस्वरूप ही परमाकाश पूर्णरूप से आतत व्याप्त है। वही सर्वात्मा एवं सर्वशक्ति है। जैसे स्वप्न का द्रष्टा स्वप्नपुर में जिन नर-नागादि पदार्थों को जिस प्रकार जानता है, वे तत्क्षण ही उसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। द्रष्टा का चित्स्वरूप ही स्वप्नाकाश में स्थित है। स्वाप्निक विविध-व्यवहारनिरत प्राणियों में जैसे परस्पर सत्यत्व-बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसे ही व्यावहारिक प्रपञ्चों में भी परस्पर सत्यत्व-बुद्धि होती है। स्वप्नस्त्री-सङ्गम के तुल्य मिथ्या प्रपञ्च में ही कार्य्यकारिता भी दृष्टिगोचर होती है। माँ ! संसार के घोर से घोर संग्राम, घोर से घोर राष्ट्रविप्लव, भूधर, सागर गगन एवं भीषण कान्तार, पुर, नगर, पत्तन, ग्रामादि की सृष्टि एवं सूर्य, चन्द्र, तारक, हिमालय, समुद्र आदि का महाप्रलयादि सभी तो चित्स्वरूपिणी आपके ही एक कोण में दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब के तुल्य भासित होता है और फिर भी सबका सब स्वप्न के तुल्य अत्यन्त असत् है। नाशोत्पादविवर्जित शुद्ध चिद्रूप आप ही इसका अधिष्ठान भी हैं और मेरी माँ ! मुझे तो यही प्रतीत होता है कि चाहे घनघोर विपत्तियाँ क्यों न आयें, माँ ! यदि आपका अनुग्रह हो, तो फिर क्या चिन्ता ?

"माँ ! मुझे मालूम भी हो और चिन्ता भी हो, तो भी मुझसे क्या बननेवाला है ? जिससे सब कुछ बन सकता है, उसे ही मालूम होना चाहिये। करुणामयि ! दीनवत्सले ! आप जो ठीक समझती हैं, वही ठीक है। परन्तु, माँ ! यद्यपि सभी सन्तान

आपके ही हैं, तथापि दुःखी एवं दीन सन्तानोंपर अम्बा की कृपा मुख्य रूप से होती है। माँ! मुझे तो ईर्ष्या होती है, मेरे सेवकों की, क्योंकि जितनी कृपा आप मेरे सेवकों पर करती हैं, उतनी मेरे पर नहीं करतीं। मेरी माँ! सचमुच मैं विचार करता हूँ तो मेरे समान कोई पातकी नहीं है। किन्तु आपके समान पापघ्नी भी कौन है? किन्तु माँ! भूमि में जिनका स्खलन होता है, उनका अवलम्बन सिवा भूमि के और क्या हो सकता है? उसी तरह माँ! चिन्मयी माँ! मैं और मेरा जो कुछ भी है, सब तुम्हारे में ही है, तुम्हारा ही परिणाम, तुम्हारा विवर्त, तुम्हारा ही स्वरूप सब कुछ है। माँ! तुम्हारे प्रति होनेवाले अपराधों के होने पर भी आपके सिवा और कौन सहारा है? माँ! यह भी ठीक है कि अधिकांश समय मायाजाल में, संसार की भूल-भुलैया में ही बीतता जा रहा है। जब घोर विपद्ग्रस्त होता हूँ, तभी तो आपको पुकारता हूँ। माँ! जैसे भूखे-प्यासे होने पर ही अधिकांश माता की स्मृति होती है, वैसे ही विपद्ग्रस्त सन्तान अपनी पराम्बा के ही चरणों का आश्रय ग्रहण करते हैं। परतत्व में अहन्तादि प्रपञ्च कुछ भी नहीं है, शुद्ध, अखण्ड बोध ही वस्तु है। जैसे जल से भिन्न तरङ्ग, फेन, बुद्बुदादि कुछ भी नहीं है, वैसे ही अखण्ड बोध वस्तु से भिन्न होकर कुछ भी पदार्थ नहीं है—

"हन्तादि परेतत्त्वे मनागपि न विद्यते।
ऊर्म्यादीव पृथक् तोये संवित्सारं हि तद्यतः॥"

जब तक बालकल्पित वेताल होता है, तभी तक भय होता है। युक्ति से वेताल की कल्पना समाप्त होते ही भय दूर हो जाता है।

इस दृश्य प्रपञ्च के उदर में भी आप ही हैं। सुमेरु आदि पर्वतजाल वज्र-सारवत् प्रतिभा समान होते हुए भी सर्वशून्य चिदणुस्वरूप आपका ही एक अंश है। अगणित, लक्ष-लक्ष, कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड आपके एक अणुमात्र प्रदेश में हैं। जिस प्रकार मरु-मरीचिका में जिस क्षण अपार जलराशि एवं तरङ्ग, फेन, बुद्बुदादि अनन्त प्रपञ्च प्रतीत होता है, उसी क्षण मरु-मरीचिका शुद्ध, शुष्क ही रहती है, वहाँ जलसत्ता सर्वथा ही नहीं होती, वैसे ही अनन्त संग्राम, अनन्त अनुकूल-प्रतिकूल, अनन्त दृश्यविषूचिकाएँ प्रतीतिकाल में ही स्वाधिष्ठान में ही अत्यन्त शून्य हैं। महा-काश एवं महासूर्य्यमण्डल में जैसे बादल, वर्षा, तड़ित्प्रकाश, महावात्या आदि प्रपञ्चों के आने-जाने का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, वैसे ही अनुकूल-प्रतिकूल विविध जगद्विजृम्भण का अधिष्ठान चित्स्वरूप पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। युद्ध, शान्ति, सृष्टि, प्रलय, अनन्त व्यवहार सभी भ्रान्तिमात्र हैं। राग एवं मोह का भी भीषण प्रपञ्च, महोत्सव एवं मातम, विविध नृत्य, वादित्र, परिहास, विलास, रसरास, विलाप, क्रन्दन, हाहाकार, चीत्कार, सब कुछ अन्ततः आपके चित्स्वरूप में ही प्रस्फुरित होते हैं। वस्तुतः स्फुरण, शुद्ध, अखण्ड भान से भिन्न सब भ्रान्ति ही तो

है। अग्निकाण्ड की अग्निज्वाला संग्राम, महाव्याधियों एवं मरण की रोमाञ्चकारी भीषणता भी शुद्ध चिदुल्लासमात्र ही तो है।

माँ! राग, द्वेष, मोह, मान, मद, आशा, तृष्णा और धैर्यध्वंसी विकार तथा मरण समय की भीषण वेदनाएँ सचमुच भ्रान्तिमात्र हैं। परन्तु यदि आपकी कृपा से आपका स्वरूप प्रस्फुरित हो सके, तब। वह मरणकालिक कण्ठ की घर्घराहट, वह दृष्टि का वैवर्ण्य, वह दीनता कितनी भयावनी है? जब घोर वेदनाओं से चारों ओर अन्धकार छा जाता है, दिन में तारे दिखायी देते हैं, मर्मपीड़ा से भूकम्प एवं भूभ्रमण-सा प्रतीत होने लगता है, वसुधा, आकाश एवं आकाश पृथ्वी प्रतीत होते हैं, जीव दिग्भ्रान्त होकर महार्णव या महाकाश की ओर आकृष्ट होता हुआ भीषण अग्निज्वाला से अथवा महाशिला के उदर में प्रविष्ट होता हुआ-सा अपने को मानने लगता है, रथारूढ़-सा अथवा हिमालय में गलता हुआ-सा, रसना से आकृष्ट हुआ-सा विमूढ़धी होकर प्राणी कितना विवश होता है? जलावर्त्त तथा पर्जन्य, मारुत में, अनन्त गगन में, कभी समुद्र में, कभी पृथ्वी में गिरता हुआ-सा मोह, मूर्च्छा, वेदनाओं का अनुभव करता है। जब भीषण व्यथा से नाड़ियों की स्वाभाविक गति बदल जाती है, भीतर प्रविष्ट वायु बाहर नहीं आता, बाहर का वायु भीतर नहीं जाता, उसी समय संज्ञाविनाशरूप, अतिविस्मृतिस्वरूप मृत्यु का व्यवहार होता है। वस्तुतः इस समय भी स्वप्रकाश चेतन आत्मा ज्यों-का-त्यों अक्षुण्ण ही रहता है। दृश्य के अत्यन्तासम्भव की भावना से दृश्य वासना क्षीण होती है। किसी हेतु से अत्यन्त विस्मृति ही जन्तु की मृत्यु है और स्वप्न एवं माया मनोरथ के समान सर्वभाव से विषय स्वीकार ही जन्म है—

> **"जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः।**
> **जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद॥**
> **विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथौ॥"** (भाग०)

माँ! जगदाधारस्वरूपे! स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूप त्रिविध शरीर ही आपका पुर है, इसलिये आप सर्वसाक्षिणी त्रिपुरा हैं। माँ! कितने ही प्राणी मृत्यु के अनन्तर पाषाणहृदय के तुल्य अति जड़ता को प्राप्त होकर बहुत समय तक रहते हैं। वासना-वशात् पुनः विविध नरकदुःखों का अनुभव करके सहस्रों योनियों में भटककर, विविध दुःखों को भोगकर पुनः क्वचित् शम को प्राप्त कर पाते हैं। वस्तुतस्तु सब कुछ हृदयस्थ विचारमात्र ही है। जैसे स्वप्नद्रष्टा के कर्मों और वासनाओं से संवलित विचार ही घनीभूत होकर वज्रसारतुल्य स्वाप्निक प्रपञ्चरूप में प्रकट होते हैं, वैसे ही क्षण में दुःखशताकुल वृक्षादिता को प्राप्त होता है। वासना के अनुरूप ही नरकादि तथा विविध योनि के जन्मों का भी अनुभव होता है। भावनानुसार ही कोई स्वर्गसुख एवं ब्रह्मलोक सुख का अनुभव करते हैं। कुछ लोग भावनावशात् ही

यह भी अनुभव करते हैं कि यमभटों से यमपुर के लिये ले जाये जा रहे हैं, मार्ग में विविध उद्यानों, शोभन विमानों का अनुभव करते हैं। कभी-कभी स्वकर्मवश प्राप्त हिमानी-कण्टक, श्वभ्र शस्त्रपात आदि का अनुभव करते हैं। कहीं स्निग्धछाया तथा वापीसंयुक्त स्थान प्राप्त होता है। यमपुर में जाकर यम का दर्शन, शुभाशुभ कर्मों का विचार, तदनुकूल स्वर्ग-नरकादि भोग, पुनः पञ्चाग्निविद्याक्रमेण शालिव्रीहि-यवादिभाव की प्राप्ति, शुक्रादि-परिणति, रत्यादिद्वारा गर्भस्थिति, गर्भवृद्धि आदि क्रमेण बालक-जन्म, पुनश्च क्रमेण तारुण्य, जरादि की अनुभूति होती है।

सर्गादि में शैल, द्रुम, पृथ्वी आदि सब कुछ तत्पदार्थ परमेश्वर में ही अध्यस्त होते हैं। अनावृत चैतन्य द्वारा सत्वत्वेन असत्य वस्तुओं का प्रतिभास होता है। ईश्वर सर्वज्ञ है, अतः उसे सर्वार्थ का प्रतिभास होता है। स्वरूप से अप्रच्युत में ही जगदध्यास उपपन्न होता है। जैसे स्वप्नद्रष्टा के द्वारा अनेक चेतनाचेतन प्रपञ्च की सृष्टि प्रतीत होती है, वहाँ स्वप्नद्रष्टा से भिन्न कुछ भी नहीं है, ठीक वैसे ही अखण्ड भान से भिन्न होकर चेतनाचेतन दृश्य कुछ भी नहीं है। पाषाण, पारदादि में साभास अन्तःकरण उद्भूत नहीं है, अतः वे अचेतन कहलाते हैं। नर, तिर्यंगादि में साभास अन्तःकरण विकसित होते हैं, अतः वे चेतन कहलाते हैं।

हे माँ! 'योगवाशिष्ठ' में ज्ञप्तिस्वरूप से जो आपने समझाया था कि आतिवाहिक प्रपञ्च ही आधिभौतिक रूप से प्रतीत होता है, गम्भीरता से विचारने पर बात ठीक वैसी ही प्रतीत होती है। आधिभौतिक प्रपञ्च की गुरुता, कठिनता आदि समाप्त हो जाते हैं, जब उसकी आतिवाहिकता का बोध होता है। जैसे स्वप्न में उपलब्ध प्रपञ्च की दुर्भेद्यता का द्रष्टा तभी तक अनुभव करता है, जब तक प्रबोध नहीं होता। प्रबोध होते ही स्वप्न का कारागार, स्वप्न के दुर्भेद्य निगड़ादि बन्धन न जाने कहाँ चले जाते हैं। उनकी कठोरता, उनका अस्तित्व कहाँ से आया था और कहाँ चला गया यह कहना कठिन है। सब कुछ संकल्प का ही परिणाम है। 'सङ्कल्प-स्वरूप ही सब कुछ है' इस बोध के दृढ़ होने पर कोई भी स्थूल पदार्थ कहीं भी प्रतिरोधक नहीं होता। स्वप्न एवं सङ्कल्प के पर्वतादि संविद् में ही विलीन हो जाते हैं। जैसे सस्पन्द वायु, निस्पन्द वायु में लीन हो जाता है, ठीक वैसे ही संविद् में ही सब संकल्पात्मक प्रपञ्च विलीन होता है, क्योंकि संविद् ही विभिन्न रूप से प्रतिभासित होती है।

मिथ्याज्ञान, अबोध आदि के कारण ही स्वप्न एवं सङ्कल्प के पदार्थों एवं संविद् में भेद प्रतीत होता है। जैसे जल एवं द्रवत्व में भेद नहीं है, ठीक वैसे ही यहाँ भी भेद नहीं है। स्वप्न एवं जाग्रत् में भी संविद् में परम सत्यता है। स्वप्न आदि पदार्थों में परम असत्यता है। स्वप्न में क्षण में आकाश एवं क्षण में वही आकाश पर्वत हो जाता है। अतएव, किसी सत् पदार्थ के मार्जन में क्लेश होता है, परन्तु जो असत् पदार्थ है, उसके मार्जन में क्या क्लेश? आकाश-स्वरूप अनन्त ज्ञान ही सब

ज्ञेय हैं। अतिस्वच्छ चित्स्वरूप आकाश में, एक चित्कण में ही अनन्त प्रपञ्च की व्यर्थ ही भ्रान्ति है। एक परमाणु एवं एक निमेष के लक्षांश में से भी सहस्रों जगत् एवं सहस्रों कल्पों का विभ्रम होता है। जैसे समुद्र में अगणित तरङ्ग परम्परा प्रस्फुरित होती है, वैसे ही एक चित्परमाणु में अनन्त सर्ग परम्पराएँ प्रस्फुरित होती रहती हैं। सर्वशक्ति चित्स्वरूप महात्रिपुरा अन्तःकरण-सम्बन्ध से चिच्छक्ति को प्रकट करती है। सत्वगुण पर शान्ति, तम पर जड़ता और रज पर रागादि को व्यक्त करती है और कहीं मिश्रित गुणकार्य। सुषुप्ति, प्रलयादि में कुछ भी नहीं प्रकट करती। व्यवहार के लिये अनेक विकल्पजाल उसीसे प्रकट होते हैं। वस्तुतः परमात्मस्वरूप त्रिपुरा सर्वथा ही प्रपञ्चातीत है। उसी शुद्ध चिद्रूप महादर्पण में अनन्त जगज्जाल-परम्परा प्रतिबिम्ब के तुल्य प्रतिभासित होती है। जैसे निर्वात, शान्त समुद्र ही स्पन्दवशात् तरङ्ग, फेन, बुद्बुद आदि आकार से प्रतिभासित होने लगता है, वैसे ही स्वच्छ, शान्त ब्रह्म में मायावशात् अनन्त जगज्जाल प्रतीत होने लगता है।

"नाशोऽपि सुखयत्यज्ञमेकवस्त्वतिरागिणाम्।
सूचीभूता विदेहापि परितुष्टैव राक्षसी॥"

जैसे वेताल कल्पना से बालक भयभीत होता है, वैसे ही स्वकल्पित प्रपञ्च से ही प्राणी दुःखी होता है। स्वकल्पित वस्तु में ही अतिराग से प्राणी को आत्मनाश भी सुखकर प्रतीत होता है, जैसे देहनाश में भी विषूचिका तुष्ट हुई। रागविशेष से ही अल्प-सत्व प्राणी तुच्छ वस्तु के लिये तप करके उसे वरदान के रूप में प्राप्त करना चाहता है—

"तुच्छोऽप्यर्थोऽल्पसत्त्वानां गच्छति प्रार्थनीयताम्।
सूचीवृता पिशाचीत्वं राक्षस्या तपसा स्थितम्॥"

असम्यग्दर्शन एवं मन के बल से दीर्घस्वप्न ही संसार बन जाता है। परम कारण से ही किञ्चिन्मात्र मननी शक्ति को धारण करने से चिद् ही चित बन जाता है। फिर वही चैत्योन्मुख होकर प्रपञ्च-कल्पनाओं का मूल बनता है। जैसे चिदात्मा एवं जीव में भेद नहीं, वैसे ही चित्त एवं जीव में भी भेद नहीं है। सारांश यह कि जैसे जल से भिन्न होकर तरङ्ग नहीं होता, वैसे ही चित्त से भिन्न होकर दृश्य प्रपञ्च नहीं है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से जल होने पर ही तरङ्ग उपलब्ध होता है, जल न होने पर तरङ्ग उपलब्ध नहीं होता, वैसे ही चित्त के चाञ्चल्य के बिना प्रपञ्च की प्रतीति नहीं होती। इसी तरह अखण्ड भान में ही चित्त का भी स्फुरण होता है, अखण्ड भान के बिना चित्त का स्फुरण ही असम्भव है। इसीलिये बोधमात्र से संसारव्याधि की चिकित्सा हो सकती है। यदि वासनात्यागपूर्वक सर्वत्याग सम्पन्न हो, तो तत्क्षण ही मुक्ति हस्तगत होती है—

"यदि सर्वं परित्यज्य तिष्ठस्युत्क्रान्तवासनः।
अमुनैव निमेषेण तन्मुक्तोऽसि न संशयः॥"

जैसे ठीक वीक्षण से ही रज्जु से सर्पभ्रम हट जाता है, वैसे ही विचारमात्र से संसृति मिट जाती है। जिन-जिन पदार्थों में अभिलाष है, उन-उन पदार्थों का त्याग एवं बोध होने से ही दृढ़ बोध होता है--

"यत्राभिलाषस्तन्नूनं सन्त्यज्य स्थीयते यदि।
प्राप्त एवाङ्ग तन्मोक्षः किमेतावतिदुष्करम्॥"

जैसे स्फटिक के भीतर घनता के अवेदन से ही वृक्ष, नगरादि की प्रतीति होती है, वैसे ही अखण्ड भानरूपी ब्रह्म में घनता के अवेदन से ही प्रपञ्च प्रतीत होता है। जैसे जहाँ भूमि का खनन होता है, वहीं आकाश प्रकट होता है, वैसे ही जिस सम्बन्ध में ही विचार किया जायगा, वही वस्तु स्वरूप से बाधित होने पर अखण्डबोधस्वरूप ही अवशिष्ट रहता है। 'योगवाशिष्ठ' में मन, इन्द्रिय आदि से अगम्य होने के कारण उसी परमतत्त्व को अणु कहा जाता है। आकाशादि सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों का भी वही परम कारण है, अतः निरतिशय सूक्ष्म है। जैसे सूक्ष्य वटबीज के भीतर महावृक्ष की सत्ता होती है, वैसे ही परमसूक्ष्म, स्वप्रकाश, व्यापक चित्स्वरूप आत्मा में सत्-असत्, स्थूल-सूक्ष्म सब प्रपञ्च स्थित होता है।

सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्च शून्य होने से वही आकाश कहा जाता है। परन्तु जड़ाकाश से विलक्षण स्वयं चिद्घनस्वरूप है, अतः अनाकाश भी वही है। इन्द्रियातीत होने से वह अमल है। चित्तरूपी महाम्बुधि में अपरिगणित जगत्‌रूपी तरङ्ग प्रतिभासित होते हैं। वह चित्त भी उसी अखण्ड भान में भ्रमरूप है। उसी अनाद्यनन्त परमाकाश में यह जगच्चित्र के तुल्य अकृत होता हुआ भी कृत-सा प्रतीत होता है। उसी में अनन्त अहन्ता-ममतारूप संसार भासित होता है। चन्द्र, आदित्य, अग्नि आदि सभी ज्योतियों का वही परमभासक है, अतः वही ज्योति का भी ज्योति कहा जाता है। चन्द्रादित्यादि बाह्य ज्योतियों तथा नेत्र, श्रोत्र, मन, बुद्धि आदि आन्तर ज्योतियों में वही सत्ता और स्फूर्ति देनेवाला है। महाज्योति, महाअग्नि वही है। वह ऐसा अग्नि है कि महाप्रलय के बादलों के भी बुझाये नहीं बुझ सकता, क्योंकि आत्मस्वरूप भी अर्थात् आत्मरूप दीप्ति से ही तो प्रलयाम्बुद का भी परिज्ञान होता है। वही नेत्रगम्य न होने पर भी हृदयरूपी गृह का प्रकाशदीप है। वही सर्वप्रकाशक एवं अनन्त है। गाढ़ान्धकार स्थित जो अहं किसी से भी प्रकाशित नहीं होता, वह भी इसी सर्वान्तर ब्रह्मात्मज्योति से प्रकाशित होता है। उसी अखण्ड बोध-स्वरूप में प्रमाणाप्रमाण एवं प्रमेय प्रस्फुरित होते हैं। सभी देश, काल एवं वस्तुओं का आधार, अधिष्ठान, भासक भी वही है। सर्वभासक होने से वही महान् है। अगम्य, अनिर्भास्य होने से वही अणु भी है। उसीसे प्रस्फुरित संकल्प ही स्थूल, सूक्ष्म सब प्रपञ्च है।

संकल्प में ही स्वल्प देश-काल में महान् देश-काल की प्रतीति भी होती है। स्वप्न में अतिस्वल्प नाड़ी-प्रदेश में मेरु, आकाश आदि प्रतीत होते हैं। स्वप्न में ही क्षणमात्र काल में वर्षों, युगों तथा कल्पों की भी प्रतीति होती है। दुःख में छोटा काल भी महान् प्रतीत होता है। सुख में महान् समय भी छोटा-सा ही प्रतीत होता है। हरिश्चन्द्र को एक रात्रि ही द्वादश वर्षों की प्रतीत हुई। लवण राजा को कुछ मुहूर्त में ही सौ वर्षों का घोर दुःखमय मिथ्या प्रपञ्च प्रतीत हुआ। क्षण-कल्प, प्रकाश-अप्रकाश, दूरत्व-अदूरत्व सभी एक चित् का सङ्कल्पमात्र है। जैसे जब तक कुण्डलादि भूषणों में अभिनिवेश होता है, तब तक सुवर्ण नहीं होता। सुवर्ण-बुद्धि स्थिर होने पर फिर कटकादि बुद्धि बाधित हो जाती है। निर्मल दर्पण प्रतिभासित नगर के तुल्य ही शुद्ध बोध में प्रपञ्च प्रतिभान है। जैसे घोर तापमयी मरु-मरीचिका में अनन्त जलराशि की कल्पना होती है, वैसे ही परम शीतल, शान्त, स्वच्छ, अखण्ड संविद् में भीषण भवाम्भोधि कल्पित है। जैसे स्वप्नों, गन्धर्वों एवं संकल्पों के मायामय मिथ्या नगरों में कुड्यादि की मिथ्या प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्म में आडम्बरपूर्ण दीर्घ जगद्विभ्रम है। स्वप्न नगर के आकाश और कुड्य, काष्ठ, पाषाणादि में कोई भी अन्तर नहीं, क्योंकि सब केवल संकल्प ही हैं। आब्रह्मस्तम्ब प्रपञ्च चित्प्रकाश में ही प्रतिभासित होने के कारण सब चिद्रूप ही हैं। असंख्य ब्रह्माण्ड उसी ब्रह्माम्बुधि के नगण्य बुद्बुद हैं। जाग्रदादि जगत् प्रत्ययों का अभाव होने से सर्वप्रत्ययों का भासक नित्य विज्ञान-रूप प्रत्यय स्फुटरूप से व्यक्त होता है अर्थात् जागतिक विविध वृत्तियों के रुद्ध होने पर ही निर्वृत्तिक चित पर नित्य अखण्डबोधरूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है।

वह 'नास्ति' बुद्धि का गोचर नहीं है, अतः असत् नहीं है। 'अस्ति' बुद्धि का गोचर नहीं है, अतः सत् भी नहीं, फिर भी त्रिकालाबाध्य सत्स्वरूप है। स्थूल-सूक्ष्म, कार्य-कारण, मूर्त्त-अमूर्त्त से विलक्षण होने से भी उसे सत् एवं असत् से भिन्न जैसे क्षुधातुर प्राणी स्वप्न में भोजन करके तृप्ति का अनुभव करता है, स्वप्न में स्वमरण का अनुभव करता है, वही अनन्त आत्मसत्ता, जो स्वयं किसी से भी आवृत नहीं हो सकती, परन्तु सम्पूर्ण दृश्य उसीसे आवृत है, वैसे ही द्रष्टा के बिना दृश्यसिद्धि नहीं होती और दृश्य के बिना द्रष्टा भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अखण्ड बोध के दृश्य-सम्पर्क से ही द्रष्टुत्व का व्यवहार होता है। द्रष्टा चिद्रूप होने से दृश्य निर्माण में अवश्य समर्थ है। किन्तु दृश्य स्वयं जड़ है, अतः वह समर्थ नहीं है। चित् ही असत् अर्थ का निर्माण करता है। बोध होते ही दृश्य गलित हो जाता है। बोध के द्वारा विद्वान् प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय—सभी को निगल जाता है, जैसे सुवर्ण में कटक-कुण्डलादि विलीन हो जाते हैं, वैसे ही। जैसे जल से भिन्न द्रवता नहीं है, जैसे काष्ठ में काष्ठ-पुत्रिकाएँ एवं बीज में अंकुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, काष्ठ एवं बीज से अभिन्न ही होते हैं। चिन्मात्र, बोधस्वरूप ब्रह्मात्मा में ही चैत्य दृश्य-प्रपञ्च उद्भूत होता है। परन्तु वह भी चिन्मात्र ही है। फल एवं बीज की एक ही सत्ता है। जल

एवं तरङ्ग में, चिति-चैत्य में वस्तुतः कोई भी भेद नहीं है। अविचार से ही भेद प्रतीत होता है। अविचार से भ्रान्ति जैसे आती है, विचार से वैसे ही चली जाती है। ब्रह्म से उत्पन्न सब प्रपञ्च ब्रह्म ही है। अविवेक से ही भेदवाद खड़ा होता है। विवेक होते ही वह विलीन हो जाता है।

सर्वाधिष्ठान अखण्ड बोध का परिचय होते ही संसार-कल्पना प्रशान्त हो जाती है। मन के मनन से ही प्रपञ्च का निर्माण होता है। सर्वत्यागपूर्वक शान्त होकर तत्त्ववित् स्वात्मा में ही विराजता है। रागादिदूषित चित्त ही भीषण संसार है। रागादिरहित भगवदुन्मुख कहा जाता है। चराचर प्रपञ्च उसी ब्रह्म की लीला है। कोटि- कोटि यत्नों से ही उसकी प्राप्ति होती है। परन्तु प्राप्त होने पर प्रतीति होती है कि कोई नवीन वस्तु नहीं है, किन्तु नित्यप्राप्त स्वात्मा ही ब्रह्म है। जैसे सङ्कल्प-पर्वत सङ्कल्प के क्षीण होते ही क्षीण हो जाता है, वैसे ही उसका प्रबोध होते ही मेरु आदि भी विलीन हो जाते हैं। अणु होने पर भी वह आकाश में भी नहीं समाता, क्योंकि वह अनादि एवं सर्वव्यापी है। शुद्ध चिन्मात्र ब्रह्म द्वारा ही मेर्वादि सब प्रपञ्च परिवेष्टित हैं। अतएव वह अणु से अणीयान् एवं महान् से भी महीयान् है। यदि सूर्य्यादि जगत् स्वप्रकाश चेतन से स्पष्ट न हो, तो सूर्य्यादिप्रकाश का क्या रूप हो सकता है ? जड़त्वेन रूपेण तम से भिन्न होकर वह्नि, अर्क आदि तेज भिन्न नहीं है। शुक्लता और कृष्णता का भी भेद है। दोनों ही जड़ हैं, दोनों ही की उपलब्धि के लिये स्वप्रकाश चित् अपेक्षित ही है। उदयास्तवर्जित वही चिदादित्य दिन-रात प्रकाशमान रहता है। तम एवं प्रकाश दोनों ही उसी चित् से प्रकाशित होते हैं। इसी तरह आन्तरिक अज्ञान एवं ज्ञानरूप तमःप्रकाश उसी अखण्ड भान में प्रतिभासित होते हैं। तम एवं प्रकाश को सत्तास्फूर्ति देकर वही प्रकाशित करता है। जैसे सूर्य ही दिन-रात का निमित्त होता है, वैसे ही तमःप्रकाश की व्यञ्जना उसी से होती है। उस स्वप्रकाश चित् के अन्तर्गत अनन्तवृत्तिरूप अनुभव होते हैं। जैसे जल में सभी रस निहित होते हैं, वैसे ही सभी अनुभव उसी स्वप्रकाश चित् के अन्तर्गत हैं।

स्वप्न के बाल्य, वार्धक के समान ही एक-एक अनुभवांश में सहस्रों प्रपञ्च प्रतीत होते हैं। चित्त ही चिद्रूप परमानन्द हो जाता है। जैसे सिकता के अन्दर तैल नहीं है, वैसे ही वस्तुतः चित्त के भीतर जगत् नहीं है। चित्त में चिद्भाग ही परमार्थ है। अचित् जड़भाग ही सर्वानर्थ है। जैसे स्वप्नद्रष्टा अविद्यमान ही स्वाप्निक प्रपञ्च को देखता है, वैसे ही जाग्रदादि सभी प्रपञ्च केवल द्रष्टा का स्वप्न ही है। सम्पूर्ण दृश्य उसी प्रकार चित्स्वरूप से व्याप्त है, जिस प्रकार मृगतृष्णा का जल मरुमरीचिका से व्याप्त होता है। चित्तरूपी बालक अबोध के कारण मिथ्या ही जगत्रूपी यक्ष को देखता है। बोध होते ही निरामय, निर्विकार ब्रह्म को देखने लगता है। चित्त के द्वारा ही वाशिष्ठोक्त दश ऐन्दव ब्राह्मण पृथक्-पृथक् दश ब्रह्माण्डों की कल्पना

करके ब्रह्मत्व को प्राप्त हो गये। एक-एक के ब्रह्माण्ड में इसी प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य्य, नक्षत्र, सुमेरु, समुद्रादि सभी प्रत्यक्ष देखकर इस ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा को आश्चर्य हुआ। मन ही जगत् का कर्त्ता है। मन से कृत ही मुख्य रूप से कृत समझा जाता है। देह-भावना के कारण ही प्राणी देहधर्म से बाधित होता है। देह-भावना के बाधित होने पर प्राणी देह-धर्म से लिप्त नहीं होता। बाह्यदृष्टिवाला प्राणी ही सुख-दुःख को प्राप्त होता है। अन्तर्मुख होने से योगी सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, कुछ भी नहीं जानता। मन के कारण ही विविध प्रकार का जगद्विभ्रम होता है।

इसी सम्बन्ध में 'वाशिष्ठरामायण' में इन्द्र-अहल्या का आख्यान है। मगध देश में इन्द्रद्युम्न राजा था। चन्द्रबिम्ब के तुल्य उसकी कमललोचना रानी अहल्या थी। उसी नगर में एक इन्द्र नाम का विप्रकुमार था। अहल्या ने कथाप्रसङ्ग में सुना कि पूर्वकाल में इन्द्र को अहल्या बहुत प्रिय थी। बस, फिर तो वह इन्द्र की परमानुरागिणी हो गयी और वह इसलिये विह्वल हो उठी कि, मैं अहल्या हूँ, फिर इन्द्र मेरे पास क्यों नहीं आते?' मृणालतुल्य शीतल आस्तरण पर भी उसे विश्राम नहीं मिलता था। समग्र राजविभूतियाँ उसके लिये व्यर्थ प्रतीत होने लगीं। दिव्य राजकीय ऐश्वर्य में भी वह जलविद्युत्, निदाघतप्ता मछली के समान सन्तप्त हो रही थी। भावना के परिपाक से अहल्या को चारों ओर इन्द्र परिलक्षित होता था और विवशता से लज्जाविहीन होकर इन्द्र के सम्बन्ध में ही वह प्रलाप करने लगी। उसकी प्रियवयस्या (सखी) ने उसे विकल देखकर कहा—"मैं तुम्हारे प्रिय इन्द्र को ला देती हूँ, तुम धैर्य धारण करो।' अहल्या दीन होकर उसके चरणों में गिर पड़ी। सखी ने इन्द्र नामक द्विजकुमार के पास जाकर सब वृत्तान्त कहा और उसे लाकर अहल्या से मिलाया। दोनों ही परस्पर प्रेम से अनुरक्त हो गये और प्रेम के प्रकर्ष के कारण ही रानी समस्त गुणों से परिपूर्ण, सर्वैश्वर्यसम्पन्न, अपने राजा को भूल गयी और उस विप्रकुमार इन्द्र में अनुरक्त होकर सम्पूर्ण विश्व को ही इन्द्रमय देखने लगी। इन्द्र भी पूर्णरूप से उसके अनुराग में अनुरक्त हो गया। इन्द्र के ध्यान में भी अहल्या का मुख पूर्णचन्द्र के द्वारा प्रफुल्लित कैरव के तुल्य शोभित होता था। इन्द्र के भी अन्तःकरण, अन्तरात्मा तथा रोम-रोम में अहल्या भरपूर हो गयी और क्षणभर भी उसके बिना वह नहीं रह सकता था। इस तरह अति सघन स्नेह के कारण उनके व्यवहार निरावरण हो गये।

राजा इन्द्रद्युम्न को यह वृत्तान्त विदित हो गया, राजा ने उन दोनों को ही विविध प्रकार का दण्ड दिया। शीत-काल में दोनों को शीतल सलिल में डाल दिया। दोनों सर्वथा अखिन्न होकर, प्रसन्न हो हँस रहे थे। राजा ने पूछा—"तुम दोनों खिन्न न होकर हँस क्यों रहे हो?" वे परस्पर कान्तियुक्त, अनिन्दित मुख का स्मरण करते हुए बोले—"हम दोनों परस्पर प्रेम के कारण रूढ़भाव होकर देहादि का स्मरण ही

नहीं करते, अब स्व-स्वाङ्गों के छिन्न-भिन्न होने पर भी हम लोगों को कुछ भी कष्ट नहीं होता।" राजा ने उन दोनों को भ्राष्ट्र (भाड़) में डाल दिया, तो भी दोनों एक-दूसरे को निहारते हुए प्रसन्न थे। उन्नत गजेन्द्र के पैरों तले दोनों को बाँधा गया। दोनों को कौड़े लगवाये गये, फिर भी वे प्रसन्न थे। इन्द्र ने कहा—"राजन्! मुझे तो सम्पूर्ण संसार प्रिय अहल्या ही के रूप में दिखलायी देता है और अहल्या को सब कुछ मैं ही प्रतीत होता हूँ। अतः कोई दुःख हम दोनों को बाधा नहीं पहुँचा सकते।" वस्तुतः पुरुष मनोमात्र ही है। देहादि प्रपञ्च उसी का विकार है। इस तरह सहस्रों दण्डविधानों से भी उनके मन को बदलने में राजा असमर्थ रहा।

वस्तुतः दृढ़ निश्चयवाले मन को भिन्न करने की शक्ति किसी में नहीं है। शरीर भले ही वृद्धि को प्राप्त हो, भले कभी कण-कण विदीर्ण हो जाय, दृढ़ निश्चय-वाला मन भावित अर्थ में स्थिर ही रहता है। अभीष्ट अर्थ में आविष्ट मन को बाधा पहुँचाने में शरीरस्थ भाव समर्थ नहीं होते। तीव्र वेग से मन जिस भाव का चिन्तन करता है उसे ही देखने लगता है। वर-शापादि कोई भी क्रिया उस मन को विचलित नहीं कर सकती। जैसे मृग महापर्वत को विचलित नहीं कर सकते, वैसे ही तीव्र वेग से भावित अर्थ से मन को कोई भी शक्तियाँ विचलित नहीं कर सकतीं। महोत्सेध देवागार में भगवती के समान यह असितापाङ्गी मेरे मनःकोश में प्रतिष्ठित है, अतः जीवनाधिका प्रियतमा से रक्षित होने के कारण मुझे कोई भी दुःख नहीं व्यापते। जैसे मेघमाला से प्रावृत पर्वत में ग्रीष्म, दावाग्नि का दाह नहीं व्यापता, वैसे ही प्रिया से व्याप्त मन में कोई कष्ट नहीं व्यापता। जहाँ-जहाँ रहता हूँ, निपतित होता हूँ, वहाँ प्रिय-सङ्गम से भिन्न मुझे कुछ भी अनुभूत नहीं होता। धीर प्राणी के मेरुतुल्य एकनिष्ठ मन को वर-शाप आदि से भी विचलित नहीं किया जा सकता—

> "एककार्यनिविष्टं हि मनो धीरस्य भूपते।
> न चाल्यते मेरुरिव वर-शापबलैरपि॥"

वर-शाप से देह में अन्यथात्व हो सकता है, परन्तु विजिगीषु मन पर उनका प्रभाव नहीं पड़ता।

इन्द्र ने कहा—"राजन्! मन ही मुख्य वस्तु है। उसके रहने पर सहस्रों देह उत्पन्न होते रहते हैं। उसके नष्ट होने पर कुछ भी नहीं रह जाता। अंकुर रहने से ही पल्लवादि होते हैं, अंकुर न रहने पर पल्लवादि नहीं होते। राजन्! दिशाओं-विदिशाओं में मैं उसी हरिणाक्षि को ही देखता हूँ। मेरा मन तन्मय होने से अन्य दुःखादि मुझे कुछ भी प्रतीत नहीं होता।" राजा ने अपने समीप विराजमान भरत मुनि से अनुरोध किया कि वे इन दुर्मतियों को शाप देकर नष्ट कर दें। भरत मुनि ने भी विचार कर उन्हें शाप दे दिया कि "तुम दोनों ही विनष्ट हो जाओ।" शाप सुनकर इन्द्र और अहल्या ने कहा—"आपके इस शाप से हम लोगों का कुछ भी नहीं

बिगड़ेगा। केवल आपकी तपस्या का मात्र क्षय हो गया।" घनस्नेह से दोनों का ही मन सम्बद्ध था। उसी घनस्नेह से सम्बद्धमनस्क दोनों की देह नष्ट हो गयो और दोनों ही मृगयोनि में उत्पन्न हुए। वहाँ भो दोनों ही परस्पर प्रेमासक्त थे। अनन्तर विहङ्ग हुए। वहाँ भी वही लोकोत्तर अनुरागोद्रेक हुआ। पुनः दोनों ही परम तपस्वी ब्राह्मण-दम्पती हुए। उनके अकृत्रिम प्रेम-रसानुविद्धस्नेह को देखकर वृक्ष भी रसानुविद्ध होकर शृङ्गारचेष्टाकुलित होते हैं--

"अकृत्रिमप्रेमरसानुविद्धं स्नेहं तयोस्तं प्रतिवीक्ष्य कान्तम्।
वृक्षा अपि प्रेमरसानुविद्धा, शृङ्गारचेष्टाकुलिता भवन्ति॥"

इस तरह चित्त की कल्पना ही संसार है। चित्ताकाश, महाकाश, चिदाकाश ये तीनों ही अनन्त हैं। चिदाकाश में ही दोनों का पर्यवसान होता है।

●

पीठ-रहस्य

कुछ दिन हुए एक विदुषी पाश्चात्य महिला ने इस आशय के कुछ प्रश्न किये थे कि "५१ तीर्थ होते हैं, इस ५१ संख्या का क्या अभिप्राय है ? सती के शरीर के ५१ टुकड़े हुए, जहाँ-जहाँ एक टुकड़ा गिरा वहाँ-वहाँ एक मन्दिर, एक तीर्थ बना। यहाँ सती के शरीर के टुकड़े होने का अभिप्राय क्या है ? यह कथा किस तत्त्व को समझाने के लिये बतलायी गयी है ? विष्णु ने चक्र से सती का शव काट दिया, ऐसा उन्होंने क्यों किया ? पार्वती का शव शिव ले जाते हैं, उनके दुःख से पृथ्वी नष्ट हो जाती है, इन बातों का क्या अभिप्राय है ? यह घटना किस तत्त्व की, किस सिद्धान्त की द्योतक है ? शिव का अपमान होने से सती मर गयी, यह क्यों ? क्या लज्जा से ? सती कौन है ? उनकी मृत्यु किस तत्त्व के नष्ट हो जाने की द्योतक है ? सती का पुनरुज्जीवन कब और कैसे होता है ?"

उपर्युक्त विषयों पर कहना यही है कि अनन्त शक्तियों की केन्द्रभूता महाशक्ति ही 'सती' है, अनन्त ब्रह्माण्डाधीश्वर शुद्ध ब्रह्म ही 'शङ्कर' है। ब्रह्म से ही माया-सम्बन्ध के द्वारा सृष्टि हुई है। ब्रह्मा ने दक्षादि प्रजापतियों को निर्माण कर सृष्टि के लिये नियुक्त किया। दक्ष ने भी मानसी सृष्टि-शक्ति से बहुत सी सन्तानें बनायीं। परन्तु वे सबकी सब श्रीनारद के उपदेश से विरक्त हो गयीं। ब्रह्मादि सभी चिन्तित थे। किसी समय ब्रह्मा से एक परम मनोरम पुरुष उत्पन्न हुआ। उसके सौन्दर्य्यादि गुणों पर सभी लोग मोहित हो उठे। ब्रह्मा ने उसे काम, कन्दर्प, पुष्पधन्वा आदि नाम से सम्बोधित किया। दक्षकन्या रति के साथ उसका उद्वाह हुआ। वसन्त, मलय, कोकिला, प्रमदा आदि उसको सहायक मिले। ब्रह्मा ने उसे वरदान दिया कि तुम्हारे हर्षण, मोहन, मादन, शोषण आदि पञ्च पुष्पबाण अमोघ होंगे। मैं, विष्णु, रुद्र, ऋषि, मुनि सभी तुम्हारे वशीभूत होंगे, तुम राग उत्पन्न कर प्राणियों को सृष्टि बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित करो। काम ने वर प्राप्त कर वहीं उसकी परीक्षा करनी चाही। उसी क्षण दैवात् ब्रह्मा से एक अत्यन्त लावण्यवती सन्ध्या नाम की कन्या उत्पन्न हुई। काम ने अपने पुष्पमय धनुष को तानकर ब्रह्मा पर बाण चलाया। ब्रह्मा का मन विचलित हो उठा और वे सन्ध्या पर मोहित हो उठे। सन्ध्या में भी काम के वेग से हाव-भाव आदि प्रकट हुए। श्रीशङ्कर भगवान् ने इन सबकी चेष्टाओं को देखकर उन्हें प्रबोध कराया। ब्रह्मा लज्जित हो उठे और काम को शाप दिया कि—"तुम शङ्कर की कोपाग्नि से भस्म हो जाओगे।" काम ने कहा—"महाराज ! आपने ही तो मुझे ऐसा वरदान दिया है, फिर मेरा क्या दोष ?" ब्रह्मा ने कहा—

"कन्या जैसे अयोग्य स्थान में मुझे तुमने मोहित किया, इसीलिये तुम्हें शाप हुआ। अस्तु, अब तुम शिव को वशीभूत करो। काम ने कहा कि "शिव-शृङ्गारयोग्य, उन्हें मोहित करनेवाली स्त्री संसार में कहाँ है ?" ब्रह्मा ने दक्ष को आज्ञा दी—"तुम महामाया भगवती योगनिद्रा की आराधना करो। वह तुम्हारी पुत्रीरूप से अवतीर्ण होकर शङ्कर को मोहित करे।" दक्ष भगवती की आराधना में लग गये। ब्रह्मा भी भगवती की स्तुति में संलग्न हुए। भगवती प्रकट हुईं और कहा—"वरदान माँगो।" ब्रह्मा ने कहा—"देवि ! भगवान् शिव अत्यन्त निर्मोह एवं अन्तर्मुख हैं। हम सब कामवश हैं, एक उन्हीं पर काम का प्रभाव नहीं है। बिना उनके मोहित हुए सृष्टि का काम नहीं चल सकता। मैं उत्पादक, विष्णु पालक और वे संहारक हैं। तीनों के सहयोग बिना सृष्टिकार्य्य असम्भव है। सृष्टि के विघ्नरूप दैत्यों के हनन में भी कभी विष्णु का, कभी शिव का प्रयोजन होगा, कभी शक्ति से यह काम होगा। अतः उनको कामासक्त होना आवश्यक है।" देवी ने कहा—"ठीक है, मेरा भी विचार उन्हें मोहने का था, परन्तु अब तुम्हारे प्रोत्साहन से मैं अधिक प्रयत्नशील होऊँगी। मेरे बिना शङ्कर को कोई नहीं मोहित कर सकता। मैं दक्ष के यहाँ जन्म लेकर जब अपने दिव्यरूप से शङ्कर को मोहित करूँगी, तभी सृष्टि ठीक चलेगी।" यह कहकर देवी ने दक्ष के यहाँ जाकर उन्हें वर दिया और उनके यहाँ सतीरूप से प्रकट हुईं। किञ्चित् बड़ी होते ही शिवप्राप्ति के लिये तप करने में लग गयीं। इतने ही में ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं ने जाकर शङ्कर की स्तुति की और उन्हें विवाह के लिये राजी किया। उधर सती की आराधना से शङ्कर प्रसन्न हुए और उन्हें वरदान दिया कि 'हम तुम्हारे पति होंगे।' फिर उनका सानन्द विवाह सम्पन्न हुआ और सहस्रों वर्षों तक सती और शिव का शृङ्गार हुआ। उधर दक्ष के यज्ञ में शिव का निमन्त्रण न होने से और उनका अपमान जानकर सती ने उस देह को त्यागकर हिमवत्पुत्री पार्वती होकर शिवपत्नी होने का निश्चय किया और योगबल से देह त्याग दिया। शिवजी को समाचार विदित होने पर बड़ा क्षोभ और मोह हुआ और दक्षयज्ञ को नष्ट करके सती के शव को लेकर शिवजी घूमते रहे। सम्पूर्ण देवताओं ने या सर्वदेवमय विष्णु ने शिवमोहशान्ति एवं साधकों के सिद्धि आदि कल्याण के लिए शव के भिन्न-भिन्न अङ्गों को भिन्न-भिन्न स्थलों में गिरा दिया, वे ही ५१ पीठ हुए।

हृदय से ऊर्ध्वभाग के अङ्ग जहाँ पतित हुए, वहाँ वैदिक एवं दक्षिण मार्ग की सिद्धि होती है और हृदय से निम्नभाग के अङ्गों के पतनस्थलों में वाममार्ग की सिद्धि होती है। १—सती की योनि का जहाँ पात हुआ, वहाँ कामरूप नामक पीठ हुआ, वह 'अकार' का उत्पत्तिस्थान एवं श्रीविद्या से अधिष्ठित है। यहाँ कौलशास्त्र से अणिमादि सिद्धियाँ सिद्ध होती हैं। लोम से उत्पन्न इसके वंश नामक दो उपपीठ हैं, वहाँ शाबर मन्त्रों की सिद्धि होती है। २—स्तनों के पतनस्थल में काशिकापीठ

हुआ और वहाँ से 'आकार' उत्पन्न हुआ। वहाँ देहत्याग करने से मुक्ति प्राप्त होती है। सती के स्तनों से दो धाराएँ निकलीं, वही असी और वरुणा नदी हुईं। असी के तीर पर दक्षिण सारनाथ उपपीठ है एवं वरुणा के उत्तर में उत्तर सारनाथ उपपीठ है, वहाँ क्रमशः दक्षिण एवं उत्तर मार्ग के मन्त्रों की सिद्धि होती है। ३—गुह्यभाग जहाँ पतित हुआ वहाँ नेपालपीठ हुआ, वहाँ से 'इकार' की उत्पत्ति हुई। वह पीठ वाममार्ग का मूलस्थान है। वहाँ ५६ लाख भैरव-भैरवी, दो हजार शक्तियाँ, तीन सौ पीठ एवं चौदह श्मशान सन्निहित हैं। वहाँ चार पीठ दक्षिण मार्ग के सिद्धिदायक हैं, उनमें भी चार में वैदिक मन्त्र सिद्ध होते हैं। नेपाल से पूर्व में मल का पतन हुआ अतः वहाँ किरातों का निवास है। तीस हजार देवयोनियों का वहाँ निवास है। ४—वाम नेत्र का पतनस्थान रौद्र पर्वत है, वह महत्पीठ हुआ, 'ईकार' की उत्पति वहाँ से हुई। वामाचार से वहाँ मन्त्रसिद्धि होकर देवता का दर्शन होता है। ५—वाम कर्ण के पतनस्थान में काश्मीरपीठ हुआ, वह 'उकार' का उत्पत्तिस्थान है। वहाँ सर्वविध मन्त्रों की सिद्धि होती है। वहाँ अनेक अद्‌भुत तीर्थ हैं किन्तु कलि में सब म्लेच्छों द्वारा आवृत कर दिये जायेंगे। ६—दक्षिण कर्ण के पातस्थल में कान्यकुब्जपीठ हुआ और 'ऊकार' की उत्पत्ति हुई। जहाँ गङ्गा-यमुना के मध्य में अन्तर्वेदी नामक पवित्र स्थल में ब्रह्मादि देवों ने स्वस्वतीर्थों का निर्माण किया है। वहाँ वैदिक मन्त्रों की सिद्धि होती है। उस कर्ण के मल के पतनस्थान में यमुनातट पर इन्द्रप्रस्थ नामक उपपीठ हुआ, उसके प्रभाव से विस्मृत वेद ब्रह्मा को वहाँ पुनः उपलब्ध हुए। ७—नासिका के पतनस्थान में पूर्णगिरिपीठ है, वह 'ऋकार' का उत्पतिस्थल है। वहाँ योगसिद्धि होती है और मन्त्राधिष्ठातृ देव प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। ८—वाम गण्डस्थल की पतनभूमि पर अर्बुदाचल पीठ हुआ और 'ॠकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ अम्बिका नाम की शक्ति है, वाममार्ग की सिद्धि होती है, दक्षिण मार्ग में विघ्न होते हैं। ९—दक्षिण गण्डस्थल के पतनस्थान में आम्रातकेश्वर पीठ हुआ, 'लृकार' की उत्पत्ति हुई। वह धनदादि यक्षिणियों का निवासस्थान है। १० - नखों के निपतनस्थल में एकाम्रपीठ हुआ, 'लॄकार' की उत्पत्ति हुई। वह पीठ विद्याप्रदायक है। ११—त्रिवलि के पतनस्थल में त्रिस्रोतपीठ हुआ और वहाँ 'एकार' का जन्म हुआ। वस्त्र के तीन खण्ड उसके पूर्व, पश्चिम तथा दक्षिण में गिरे, वे तीन उपपीठ हुए। गृहस्थ द्विज को पौष्टिक मन्त्रों की सिद्धि वहाँ होती है। १२—नाभि की पतन-भूमि कामकोटिपीठ हुई, वहाँ 'ऐकार' का प्रादुर्भाव हुआ, समस्त काममन्त्रों की सिद्धि वहाँ होती है, उसकी चारों दिशाओं में उपपीठ हैं जहाँ अप्सराएँ निवास करती हैं। १३—अंगुलियों के पतनस्थल हिमालय पर्वत में कैलासपीठ हुआ, 'ओकार' का प्राकट्य हुआ। अंगुलियाँ लिङ्गरूप में प्रतिष्ठित हुईं, वहाँ करमाला से मन्त्रजप करने पर तत्क्षण सिद्धि होती है। १४—दन्तों के पतनस्थल में भृगुपीठ हुआ, वहाँ से

'औकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वैदिकादि मन्त्र वहाँ सिद्ध होते हैं। १५—दक्षिण करतल के पतनस्थान में केदारपीठ हुआ, वहाँ 'अ' की उत्पत्ति हुई। उसके दक्षिण में कङ्कण के पतनस्थान में अगस्त्याश्रम नामक सिद्ध उपपीठ हुआ और उसके पश्चिम में मुद्रिका के पतनस्थल में इन्द्राक्षी उपपीठ हुआ। उसके पश्चिम में वलय के पतनस्थल में रेवती-तट पर राजेश्वरी उपपीठ हुआ। १६—वाम गण्ड की निपातभूमि पर चन्द्रपुरपीठ हुआ, 'अ:' की उत्पत्ति हुई। सभी मन्त्र वहाँ सिद्ध होते हैं। १७—जहाँ मस्तक का पतन हुआ, वहाँ श्रीपीठ हुआ और 'ककार' का प्रादुर्भाव हुआ। कलि में पापी जीवों का वहाँ पहुँचना दुर्लभ है। उसके पूर्व में कर्णाभरण के पतन से उपपीठ हुआ, जहाँ ब्रह्मविद्या-प्रकाशिका ब्राह्मी शक्ति का निवास है। उससे अग्निकोण में कर्णार्द्धाभरण के पतन से दूसरा उपपीठ हुआ, जहाँ मुखशुद्धकरी माहेश्वरी शक्ति है। दक्षिण में पत्रवल्ली की पातभूमि में कौमारी शक्तियुक्त तीसरा उपपीठ हुआ। नैर्ऋत्य में कण्ठमाल के निपातस्थल में ऐन्द्रजालविद्या-सिद्धिप्रद वैष्णवीशक्तिसमन्वित चौथा उपपीठ हुआ। पश्चिम में नासा-मौक्तिक के पतनस्थान में वाराही शक्त्यधिष्ठित पाँचवाँ उपपीठ हुआ। वायुकोण में मस्तकाभरण के पतनस्थान में चामुण्डा शक्ति-युक्त क्षुद्रदेवता-सिद्धिकर छठा उपपीठ हुआ और ईशान में केशाभरण के पतन से महालक्ष्मी से अधिष्ठित सातवाँ उपपीठ हुआ। १८—बाहु के पतनस्थल में अमरकण्टक पर्वत पर ओंकारक्षेत्रपीठ हुआ। वहाँ 'खकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वह पीठ नर्मदा से अधिष्ठित है, वहाँ तप करनेवाले महर्षि जीवन्मुक्त हो गये। उसके उत्तर में कञ्चुकी की पतनभूमि में उपपीठ हुआ, जो ज्योतिर्मन्त्र-प्रकाशक एवं ज्योतिष्मती से अधिष्ठित है। १९—वक्षःस्थल के पतनस्थल में एक पीठ हुआ और 'गकार' की उत्पत्ति हुई। अग्नि ने वहाँ तपस्या की और देवमुखत्व को प्राप्त होकर ज्वालामुखीसंज्ञक उपपीठ में स्थित हुए। २०—वामस्कन्ध के पतनस्थान में मालवपीठ हुआ, वहाँ 'घकार' की उत्पत्ति हुई। गन्धर्वों ने रागज्ञान के लिये तपस्या कर वहाँ सिद्धि पायी। २१—दक्षिण कक्ष का जहाँ पात हुआ, वहाँ कुलान्तकपीठ हुआ एवं 'ङकार' की उत्पत्ति हुई। विद्वेषण, उच्चाटन, मारण के प्रयोग वहाँ सिद्ध होते हैं। २२—जहाँ वाम कक्ष का पतन हुआ, वहाँ कोट्टकपीठ हुआ और 'चकार' का प्राकट्य हुआ। वहाँ राक्षसों ने सिद्धि प्राप्त की है। २३—जठरदेश के पतनस्थल में गोकर्ण पीठ हुआ। 'छकार' की उत्पत्ति हुई। २४—प्रथम वलि का जहाँ निपात हुआ, वहाँ मातुरेश्वरपीठ होकर 'जकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ शैवमन्त्र शीघ्र सिद्ध होते हैं। २५—अपर वलि के पतनस्थान में अट्टहासपीठ हुआ, 'झकार' का प्रादुर्भाव हुआ, वहाँ गणेश-मन्त्रों की सिद्धि होती है। २६—तीसरी वलि का जहाँ पतन हुआ वहाँ विरजपीठ हुआ और 'ञकार' की उत्पत्ति हुई। वह पीठ विष्णु-मन्त्रों का सिद्धिप्रदायक है। २७—जहाँ बस्तिपात हुआ और 'टकार' की उत्पत्ति हुई वहाँ राजगृहपीठ हुआ। राजगृह में

वेदार्थज्ञान की प्राप्ति होती है। नीचे क्षुद्रघण्टिका के पतनस्थल में घण्टिका नामक उपपीठ हुआ, वहाँ ऐन्द्रजालिक मन्त्र सिद्ध होते हैं। २८—नितम्ब के पतनस्थल में महापथपीठ हुआ तथा 'ठकार' की उत्पत्ति हुई। जातिदुष्ट ब्राह्मणों ने वहाँ शरीर अर्पित किया और दूसरे जन्म में कलियुग में देहसौख्यदायक वेदमार्ग-प्रलुप्तक अघोरादि मार्ग को चलाया। २९—जघन का जहाँ पात हुआ, वहाँ कौछगिरिपीठ हुआ और 'डकार' की उत्पत्ति हुई। वन-देवताओं के मन्त्रों की वहाँ सिद्धि शीघ्र होती है। ३०—दक्षिण ऊरु के पतनस्थल में एलापुरपीठ हुआ, 'ढकार' का प्रादुर्भाव हुआ। ३१—वाम ऊरु के पतनस्थान में कालेश्वरपीठ हुआ, 'णकार' की उत्पत्ति हुई वहाँ आयुवृद्धिकारक मृत्युञ्जयादि मन्त्र सिद्ध होते हैं। ३२—दक्षिण जानु के पतनस्थान में जयन्तीपीठ होकर 'तकार' की उत्पत्ति हुई वहाँ धनुर्वेद की सिद्धि अवश्य होती है। ३३—वाम जानु जहाँ पतित हुआ, वहाँ उज्जयिनीपीठ हुआ 'थकार' प्रकट हुआ, वहाँ कवचमन्त्रों की सिद्धि होकर रक्षण होता है। अतः उसका नाम 'अवन्ती' है। ३४—दक्षिण जङ्घा के पतनस्थान में योगिनीपीठ हुआ, 'दकार' की उत्पत्ति हुई। वहाँ कौलिक मन्त्रों की सिद्धि होती है। ३५—वामजङ्घा के पतनस्थान पर क्षीरिकापीठ होकर 'धकार' का प्रादुर्भाव हुआ। वहाँ वैतालिक तथा शाबर मन्त्र सिद्ध होते हैं। ३६—दक्षिण गुल्फ के पतनस्थान में हस्तिनापुरपीठ हुआ, 'नकार' की उत्पत्ति हुई। वहीं नूपुर का पतन होने से नूपुरार्णवसंज्ञक उपपीठ हुआ, वहाँ सूर्य-मन्त्रों की सिद्धि होती है।

३७—वामगुल्फ के पतनस्थल में उड्डीशपीठ होकर 'पकार' का प्रादुर्भाव हुआ। उड्डीशाख्य महातन्त्र वहाँ सिद्ध होता है। जहाँ दूसरे नूपुर का पतन हुआ, वहाँ डामर उपपीठ हुआ। ३८—देहरस (अस्थि) के पतनस्थान में प्रयागपीठ हुआ, 'फकार' की उत्पत्ति हुई, वहाँ मृत्तिका श्वेतवर्ण की दृष्टिगोचर होती है। वहाँ अन्यान्य अस्थियों का पतन होने से अनेक उपपीठों का प्रादुर्भाव हुआ। गङ्गा के पूर्व में बगलोपपीठ एवं उत्तर में चामुण्डादि उपपीठ, गङ्गा-यमुना के मध्य में राजराजेश्वरीसंज्ञक, यमुना के दक्षिण तट पर भुवनेशी नामक उपपीठ हुआ। इसीलिये प्रयाग तीर्थराज एवं पीठराज कहा गया है। ३९—दक्षिण पृश्नि के पतन-स्थान में षष्ठीशपीठ हुआ एवं 'बकार' का प्रादुर्भाव हुआ। यहाँ पादुका मन्त्र की सिद्धि होती है। ४०—वामपृश्नि का जहाँ पात हुआ, वहाँ मायापुरपीठ हुआ, 'भकार' की उत्पत्ति हुई, समस्त मायाओं की सिद्धि वहाँ होती है। ४१—रक्त के पतनस्थान में मलयपीठ हुआ एवं 'मकार' की उत्पत्ति हुई। रक्ताम्बरादि बौद्धों के मन्त्र यहाँ सिद्ध होते हैं। ४२—पित्त की पतनभूमि पर श्रीशैल पीठ हुआ तथा 'यकार' का प्रादुर्भाव हुआ। विशेषतः वैष्णव मन्त्र यहाँ सिद्ध होते हैं। ४३—मेद के पतनस्थान में हिमालय पर मेरुपीठ हुआ एवं 'र' की उत्पत्ति हुई। स्वर्णाकर्षण भैरव की सिद्धि

वहाँ होती है। ४४—जहाँ जिह्वाग्र का पतन हुआ, वहाँ गिरिपीठ हुआ तथा 'लकार' की उत्पत्ति हुई। यहाँ जप करने से वाक्सिद्धि होती है। ४५—मज्जा के पतनस्थान में माहेन्द्रपीठ हुआ, वह 'वकार' के प्रादुर्भाव का स्थान है, जहाँ शाक्त मन्त्रों के जप से अवश्य सिद्धि होती है। ४६—दक्षिण अंगुष्ठ के पातस्थान में कामनपीठ हुआ एवं 'शकार' की उत्पत्ति हुई, यहाँ समस्त मन्त्रों की सिद्धि होती है। ४७—वामांगुष्ठ के निपतन-स्थान में हिरण्यपुरपीठ हुआ, वहाँ 'षकार' की उत्पत्ति हुई। वहाँ वाममार्ग से सिद्धिलाभ होता है। ४८—रुचि (शोभा) के पतन-स्थान में महालक्ष्मीपीठ हुआ एवं 'सकार' का प्राकट्य हुआ। यहाँ सर्वसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ४९—धमनी के पतनस्थान में अत्रिपीठ हुआ, वहाँ 'हकार' उत्पन्न हुआ और यावत् सिद्धियाँ होती हैं। ५०—छाया के सम्पातन स्थान में छायापीठ हुआ एवं 'ळकार' की उत्पत्ति हुई। ५१—केशपाश के पतनस्थल में क्षत्रपीठ का प्रादुर्भाव हुआ, यहीं 'क्षकार' का उद्गम हुआ। यहाँ समस्त सिद्धियाँ शीघ्रतापूर्वक उपलब्ध होती हैं।

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः। क, ख, ग, घ, ङ। च, छ, ज, झ, ञ। ट, ठ, ड, ढ, ण। त, थ, द, ध, न। प, फ, ब, भ, म। य, र, ल, व, श, ष, स, ह, ळ, क्ष, यही ५१ वर्णों की वर्णमाला है। यहाँ अन्तका ल 'ळ' रूप से उच्चरित होता है तथा अन्तिम 'क्ष' माला का सुमेरु है। इसी माला के आधार पर सती के भिन्न-भिन्न अङ्गों का पात हुआ है। एतावता इतनी भूमि वर्ण-समाम्नायस्वरूप ही है। भिन्न-भिन्न वर्णों की शक्तियाँ और देवता भिन्न हैं। इसीलिये उन-उन वर्णों, पीठों, शक्तियों एवं देवताओं का परस्पर सम्बन्ध है। जिसके ज्ञान और अनुष्ठान से साधक को शीघ्र ही सिद्धि होती है। माया द्वारा ही परब्रह्म से विश्व की सृष्टि होती है। सृष्टि हो जाने पर भी उसके विस्तार की आशा तब तक नहीं होती, जब तक चेतन पुरुष की उसमें आसक्ति न हो। अतएव, सृष्टि-विस्तार के लिये काम की उत्पत्ति हुई। रजःसत्व के सम्बन्ध में द्वैतसृष्टि का विस्तार होता है, परन्तु तम कारणरूप है, वहाँ द्वैतदर्शन की कमी से मोह की कमी होती है। सत्वमय सूक्ष्म-कार्य्यरूप विष्णु एवं रजोमय स्थूलकार्य्यरूप ब्रह्मा के मोहित हो जाने पर भी कारणात्मा शिव मोहित नहीं होते। परन्तु जब तक कारण में भी मोह नहीं, तब तक सृष्टि की पूर्ण स्थिति नहीं होती। इसीलिये स्थूल-सूक्ष्म कार्य्यचैतन्यों की ऐसी रुचि हुई कि कारण चैतन्य भी मोहित हो। परन्तु वह अघटित घटनापटीयसी महामाया के ही वश की बात है। इसीलिये सबने उसीकी आराधना की। देवी प्रसन्न हुई, वह भी अपने पति को स्वाधीन करना चाहती है। स्वाधीनभर्तृका स्त्री ही परम सौभाग्यशालिनी होती है। वही हुआ, महामाया ने शिव को स्वाधीन कर लिया, फिर भी पिता द्वारा पति का अपमान होने पर उसने उस पिता से सम्बन्धित शरीर को त्याग देना उचित समझा। महाशक्ति का शरीर उसका लीलाविग्रह ही है।

जैसे निर्विकार चैतन्य शक्ति के योग से साकार विग्रह धारण करता है, वैसे ही शक्ति भी अधिष्ठान चैतन्ययुक्त हो साकार विग्रह धारण करती है। इसीलिये शिव-पार्वती दोनों मिलकर अर्द्धनारीश्वर के रूप में व्यक्त होते हैं। अधिष्ठान चैतन्यसहित महाशक्ति का उस लीलाविग्रह सती-शरीर से तिरोहित हो जाना ही सती का मरना है। प्राणी को तपस्या एवं आराधना से ही शक्ति को जन्म देने का सौभाग्य एवं उसे परमेश्वर से सम्बन्धित कर अपने को कृतकृत्य करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, परन्तु, यदि बीच में प्रमाद से अहङ्कार उत्पन्न हो जाता है, तो शक्ति उससे सम्बन्ध तोड़ लेती है और फिर उसकी वही स्थिति होती है जो दक्ष की हुई। सती का शरीर यद्यपि मृत हो गया, तथापि वह महाशक्ति का निवास-स्थान था, श्री शङ्कर उसीके द्वारा उस महाशक्ति में रत थे, अतः मोहित होने के कारण भी फिर उसको छोड़ न सके। यद्यपि परमेश्वर सदा स्वरूप में ही प्रतिष्ठित होते हैं, फिर भी प्राणियों के अदृष्टवश उनके कल्याण के लिये सृष्टि, पालन, संहरण आदि कार्य्यों में प्रवृत्त से प्रतीत होते हैं। उन्हींके अनुरूप महामाया में उनकी आसक्ति और मोह की भी प्रतीति होती है। इसी मोहवश शङ्कर महाशक्ति के अधिष्ठानभूत उस प्रिय देह को लेकर घूमने लगे।

देवता और विष्णु ने मोह मिटाने के लिये उस देह को शिव से वियुक्त करना चाहा। साथ ही अनन्त शक्तियों को केन्द्रभूता महाशक्ति के अधिष्ठानभूत उस देह के अवयवों से लोक का कल्याण हो, यह भी सोचकर भिन्न-भिन्न स्थानों में विभिन्न अङ्गों को गिराया। भिन्न-भिन्न शक्तियों के अधिष्ठानभूत भिन्न-भिन्न अङ्ग जिन स्थानों में पड़े, वहाँ उन शक्तियों की सिद्धि सरलता से होती है। जैसे कपोत और सिंह के मांस आदि में भी उनकी विषविशेषता प्रकट होती है, वैसे ही सती के भिन्न-भिन्न अवयवों में भी उनकी विशेषता प्रकट होती है। इसीलिये जैसे हिंगु के निकल जाने पर भी उसके अधिष्ठान में उसकी गन्ध या वासना रहती है, वैसे ही सती की महाशक्तियों के अन्तर्हित होने पर भी उन अधिष्ठानों में वह प्रभाव रह गया। जैसे सूर्यकान्ता पर सूर्य्य की रश्मियों का सुन्दर प्राकट्य होता है, वैसे ही उन शक्तियों के अधिष्ठानभूत अङ्गों में उनका प्राकट्य बहुत सुन्दर होता है। यहाँ तक कि जहाँ-जहाँ उन अङ्गों का पात हुआ, वे स्थान भी दिव्य शक्तियों के अधिष्ठान माने जाते हैं। वहाँ भी शक्तितत्त्व का प्राकट्य अधिक है। अतएव, उन पीठों पर शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है। अङ्गसम्बन्धी कोई अंश या भूषण-वसनादि का जहाँ पात हुआ, वहीं उपपीठ है। उनमें भी उन-उन विशेष शक्तितत्त्वों का आविर्भाव होता है। अनन्त शक्तियों की केन्द्रभूता महाशक्ति का जो अधिष्ठान हो चुका है, वह एवं तत्सम्बन्धी समस्त वस्तुओं में शक्तितत्त्व का बाहुल्य होना ही चाहिये। वैसे तो जहाँ भी कहीं, जिस किसी भी वस्तु में जो भी शक्ति है, उन सबका ही अन्तर्भाव महामाया में ही है—

"यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥"

अपनी-अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार इष्ट देवता, मन्त्र, पीठ, उपपीठ के साथ सम्बन्ध जोड़ने से सिद्धि में शीघ्रता होती है। तथा च—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दरूपं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥"

इत्यादि वचनों के अनुसार प्रणवात्मक ब्रह्म ही निखिल विश्व का उपादान है। वही शक्तिमय सती-शरीररूप में और निखिल वाङ्मय प्रपञ्च के मूलभूत एकपञ्चाशत् वर्ण-रूप में व्यक्त होता है। जैसे निखिल विश्व का शक्तिरूप में ही पर्यवसान होता है, वैसे ही वर्णों में ही सकल वाङ्मय प्रपञ्च का अन्तर्भाव होता है, क्योंकि सभी शक्तियाँ वर्णों की आनुपूर्वीविशेषमात्र हैं। शब्द-अर्थ का, वाच्य-वाचक का असाधारण सम्बन्ध किंबहुना अभेद ही होता है, अतएव, एकपञ्चाशत् वर्णों के कार्यभूत सकल वाङ्मय-प्रपञ्च का जैसे एकपञ्चाशत् वर्णों में अन्तर्भाव किया जाता है, वैसे ही वाङ्मयप्रपञ्च के वाच्यभूत सकल अर्थमयप्रपञ्च का उसके मूलभूत एकपञ्चाशत् शक्तियों में अन्तर्भाव करके वाच्य-वाचक का अभेद प्रदर्शित किया गया है। यही ५१ पीठों का रहस्य है।

•

गणपति-तत्त्व

सर्वजगन्नियन्ता पूर्ण परमतत्त्व ही गणपतितत्त्व है; क्योंकि **'गणानां पतिः गणपतिः।'** 'गण' शब्दसमूह का वाचक होता है—**'गणशब्दः समूहस्य वाचकः परिकीर्त्तितः।'** समूहों के पालन करनेवाले परमात्मा को गणपति कहते हैं। देवादिकों के पति को भी गणपति कहते हैं। अथवा **'महत्तत्त्वादितत्त्वगणानां पतिः गणपतिः।'** अथवा **'निर्गुणसगुणब्रह्मगणानां पतिः गणपतिः'**, तथा च सर्वविध गणों को सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला जो परमात्मा है, वही गणपति है। अभिप्राय यह कि **'आकाश-स्तल्लिङ्गात्'** इस न्याय से जिसमें ब्रह्मतत्त्व के जगदुत्पत्तिस्थितिलयत्व, जगन्नियन्तृत्व, सर्वपालकत्वादि गुण पाये जायँ, वही ब्रह्म होता है। जैसे आकाश का जगदुत्पत्तिस्थितिकारणत्व **'आकाशादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'** इस श्रुति से जाना जाता है, इसलिये वह भी आकाशपदवाच्य परमात्मा माना जाता है, वैसे ही **'ओं नमस्ते गणपतये त्वमेव केवलं कर्तासि, त्वमेव केवलं धर्तासि, त्वमेव केवलं हर्तासि, त्वमेव केवलं खल्विदं ब्रह्मासि'** इत्यादि 'गणपत्यथर्वशीर्ष' वचन से गणपति ब्रह्म ही हैं।

अतीन्द्रिय, सूक्ष्मातिसूक्ष्म निर्णय केवल शास्त्र के ही आधार पर किया जा सकता है। जैसे शब्द की अवगति श्रोत्र से ही होती है, वैसे ही पूर्ण परमतत्त्व की अवगति शास्त्र से ही होती है। इसलिये **'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' 'शास्त्रयोनि-त्वात्'** इत्यादि श्रुतिसूत्र तथा अनेकविध युक्तियों से भी यही सिद्ध होता है कि सर्व-जगत्कारणब्रह्म शास्त्रैकसमधिगम्य है। यदि शास्त्रातिरिक्त अन्य प्रमाणों से वस्तुतत्त्व की अवगति हो जाय, तो शास्त्र को अनुवादकमात्र होने से नैरर्थक्य-प्रसङ्ग दुर्वार होगा, इसलिये गणपतितत्त्व की अवगति में मुख्यतया शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्रानुसार यही जाना जाता है कि सर्व दृश्यजगत् का पति ही गणपति है; क्योंकि **'गण्यन्ते बुद्धयन्ते ते गणाः'** इस व्युत्पत्ति से सर्व दृश्यमात्र ही गण है और उसका जो अधिष्ठान है, वही गणपति है। कल्पित की स्थिति, प्रवृत्ति अधिष्ठान से ही होती है, अतः कल्पित का पति अधिष्ठान ही युक्त है। यद्यपि कहा जा सकता है कि तब तो भिन्न-भिन्न पुराणों में शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति आदि सभी ब्रह्मरूप से विवक्षित हैं। जब कि ब्रह्मतत्त्व एक ही है, तो उसके नाना रूप भिन्न-भिन्न पुराणों में कैसे पाये जाते हैं? इसका उत्तर यही है कि एक ही परमतत्त्व भिन्न-भिन्न उपासकों की भिन्न-भिन्न अभिलषित सिद्धि के लिये अपनी अचिन्त्य लीला-शक्ति से भिन्न-भिन्न गुणगणसम्पन्न होकर नामरूपवान् होकर अभिव्यक्त होता है। जैसे वामनीत्व, सर्वकामत्व, सर्वरसत्व, सत्यसङ्कल्पत्वादिगुणविशिष्ट ब्रह्मतत्त्व की उपासना करने से उपासकों को उपास्य-

विशेषण गुण ही फल-रूप में प्राप्त होते हैं, ठीक वैसे ही प्राधान्येन विघ्नविनाशकत्वादि-गुणगणविशिष्ट गणपतिरूप में वही परमतत्त्व आविर्भूत होता है।

यदि कहा जाय कि फिर इसी तरह से बाह्याभिमत भिन्न-भिन्न देव भी ब्रह्म-तत्त्व ही होंगे; तथा इतना ही क्यों, जब कि सारा ही प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व है, तब गणपति ही क्यों विशेष रूप से ब्रह्म कहे जायँ ? इसका उत्तर यही है कि यद्यपि अधिष्ठानरूप से बाह्याभिमत देव तथा तत्तद्वस्तु सकल ब्रह्मरूप कहे जा सकते हैं, तथापि तत्तद्गुण-गणविशिष्टरूप से ब्रह्मत्व तो केवल शास्त्र से ही जाना जा सकता है; अर्थात् शास्त्र ही जिन-जिन नामरूपगुणयुक्त तत्त्वों को ब्रह्म बतलाते हैं, वही ब्रह्म हो सकते हैं, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि अतीन्द्रिय वस्तु का ज्ञान कराने में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण हो सकता है। शास्त्र मुख्यरूप से वेद और वेदानुसारी स्मृतीतिहास-पुराणादि ही हैं, यह बात आगे पूर्णरूप से विवेचित की जायगी। शास्त्र गणपति को पूर्ण परब्रह्म बतलाते हैं। पूर्वोक्त 'गणपत्यथर्व'-श्रुति में गणपति को "त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि" ऐसा कहा गया है। उसका अभिप्राय यह है कि गणपति के स्वरूप में नर तथा गज इन दोनों का ही सामञ्जस्य पाया जाता है। यह मानो प्रत्यक्ष ही परस्पर-विरुद्ध से प्रतीयमान तत्पदार्थ तथा त्वं पदार्थ के अभेद को सूचित करता है, क्योंकि तत्पदार्थ सर्वजगत्कारण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा होता है, एवं त्वं पदार्थ अल्पज्ञ अल्पशक्तिमान् जीव होता है। उन दोनों का ऐक्य यद्यपि आपात-विरुद्ध है, तथापि लक्षणा से विरुद्धांश-द्वय का त्याग कर एकता सुसम्पन्न होती है। तद्वत् लोक में यद्यपि नर और गज का ऐक्य असम्मत है, तथापि लक्षणा से विरुद्धधर्माश्रय भगवान् में उसका सामञ्जस्य है। अथवा जैसे तत्पद-लक्ष्यार्थ सर्वोपाधिनिष्कृष्ट "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" एवं लक्षणलक्षित ब्रह्म है, वैसे ही त्वं पदार्थ जगन्मय सोपाधिक ब्रह्म है। इन दोनों का अखण्डैकरस, 'असि' पदार्थ में सामञ्जस्य है। इसी तरह नर और गजस्वरूप का सामञ्जस्य गणपति-स्वरूप में है। 'त्वं'-पदार्थ नर-स्वरूप है तथा 'तत्'-पदार्थ गज-स्वरूप है एवं अखण्डैकरस गणपतिरूप 'असि' पदार्थ में इन दोनों का सामञ्जस्य है।

शास्त्रों में नरपद से प्रणवात्मक सोपाधिक ब्रह्म कहा गया है—**"नराज्जातानि तत्त्वानि नराणीति विदुर्बुधाः"**। गजशब्दार्थ शास्त्रों में ऐसा किया है—**'समाधिना योगिनो गच्छन्ति यत्र इति गः, यस्मात् बिम्बप्रतिबिम्बवत्तया प्रणवात्मकं जगज्जायते इति जः।'** समाधि से योगी लोग जिस परमतत्त्व को प्राप्त करते हैं, वह 'ग' है और जैसे बिम्ब से प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, वैसे ही कार्य-कारण-स्वरूप प्रणवात्मक प्रपञ्च जिससे उत्पन्न होता है, उसे 'ज' कहते हैं। **'जन्माद्यस्य यतः', 'यस्मादोङ्कार-सम्भूतिः यतो वेदो यतो जगत्'** इत्यादि वचन भी उसके पोषक हैं। सोपाधिक 'त्वं' पदार्थात्मक नर-गणेश का पादादि कण्ठपर्यन्त देह है। यह सोपाधिक होने से निरुपाधिकापेक्षया निकृष्ट है, अतएव अधोभूताङ्ग है। निरुपाधिक सर्वोत्कृष्ट

'तत्' पदार्थमय गणेशजी का कण्ठादिमस्तकपर्यन्त गज-स्वरूप है, क्योंकि वह निरुपाधिक होने से सर्वोत्कृष्ट है। सम्पूर्ण पादादि-मस्तकपर्यन्त गणेशजी का देह 'असि' पदार्थ अखण्डैकरस है। यह गणेश एकदन्त है। 'एक' शब्द 'माया' का बोधक है और 'दन्त' शब्द 'मायिक' का बोधक है। तथा च मौद्गले—**"एकशब्दात्मिका माया तस्याः सर्वसमुद्भवम्। दन्तः सत्ताधरस्तत्र मायावाचक उच्यते॥"** अर्थात् गणेशजी में माया और मायिक का योग होने से वे एकदन्त कहलाते हैं। गणेशजी वक्रतुण्ड भी हैं। **"वक्रं आत्मरूपं मुखं यस्य"**। वक्र टेढ़े को कहते हैं, आत्मस्वरूप टेढ़ा है, क्योंकि सर्वजगत् मनोवचनों का गोचर है, किन्तु आत्मतत्त्व उनका (मन-वाणी का) अविषय है। तथा च **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** इत्यादि वचन हैं। और भी—

"कण्ठाधो मायया युक्तं मस्तकं ब्रह्मवाचकम्।
वक्त्राख्यं तेन विघ्नेशस्तेनायं वक्रतुण्डकः॥"

गणेशजी 'चतुर्भुज' भी हैं; क्योंकि देवता, नर, असुर और नाग, इन चारों का स्थापन करनेवाले हैं; एवं चतुर्वर्ग, चतुर्वेदादि के भी स्थापक हैं। तथा च—

"स्वर्गेषु देवताश्चायं पृथ्व्यां नरास्तथाऽतले।
असुरान्नागमुख्यांश्च स्थापयिष्यति बालकः॥
तत्त्वानि चालयत्विप्रास्तस्मान्नाम्ना चतुर्भुजः।
चतुर्णां विविधानाञ्च स्थापकोऽयं प्रकीर्तितः॥"

वे अपने चारों हस्तों में पाश, अंकुश, वर और अभय भक्तानुग्रहार्थ धारण करते हैं। भक्तों के मोहरूपी शत्रु को फँसाने के लिये 'पाश' तथा सर्वजगन्नियन्तृरूप ब्रह्म 'अंकुश' है। दुष्टों को नाश करनेवाला ब्रह्म 'दन्त' और सर्वकामनाओं को पूर्ण करनेवाला ब्रह्म 'वर' है। गणपति भगवान् का वाहन 'मूषक' है। 'मूषक' सर्वान्तर्यामी, सर्वप्राणियों के हृदयरूप बिल में रहनेवाला, सर्वजन्तुओं के भोगों को भोगनेवाला ही है। वह चोर भी है, क्योंकि जन्तुओं के अज्ञात सर्वस्व को हरनेवाला है। उसको कोई जानता नहीं, क्योंकि माया से गूढ़रूप अन्तर्यामी ही समस्त भोगों को भोगता है। इसीलिये "भोक्तारं सर्वतपसाम्" कहा है। **'मुष स्तेये'** इस धातु से मूषक शब्द बनता है। मूषक जैसे प्राणियों की सर्वभोग्य वस्तुओं को चुराकर भी पुण्य-पापों से विवर्जित ही रहता है, वैसे ही मायागूढ़ सर्वान्तिर्यामी भी सर्व भोग्य को भोगता हुआ पुण्य-पापों से विवर्जित है। वह सर्वान्तर्यामी गणपति की सेवा के लिये मूषक रूप धारण कर वाहन बना—

"मूषकं वाहनाख्यं च पश्यन्ति वाहनं परम्।
तेन मूषकवाहोऽयं वेदेषु कथितोऽभवत्॥
मुष स्तेये तथा धातुः ज्ञातव्यः स्तेयब्रह्मधृक्।
नामरूपात्मकं सर्वं तत्रासद् ब्रह्म वर्तते॥"

"भोगेषु भोगभोक्ता च ब्रह्माकारेण वर्तते ।
अहंकारयुतास्तं वै न जानन्ति विमोहिताः ॥
ईश्वरः सर्वभोक्ता च चोरवत्तत्र संस्थितः ।
स एव मूषकः प्रोक्तो मनुजानां प्रचालकः ॥"

एवं भगवान् गणेश 'लम्बोदर' हैं, क्योंकि उनके उदर में ही समस्त प्रपञ्च प्रतिष्ठित है और वह स्वयं किसी के उदर में नहीं हैं। तथा च—**"तस्योदरात्समुत्पन्नं नानाविश्वं न संशयः ।"** भगवान् **'शूर्प-कर्ण'** हैं, क्योंकि योगीन्द्र-मुख से वर्ण्यमान तथा उत्तम जिज्ञासुओं से श्रूयमाण, अतः हृद्गत होकर, शूर्प के समान पाप-पुण्यरूप रज को दूर करके ब्रह्मप्राप्ति सम्पादित कर देते हैं—

**"रजोयुक्तं यथा धान्यं रजोहीनं करोति च ।
शूर्पं सर्वनराणां वै योग्यं भोजनकाम्यया ॥
तथा मायाविकारेण युतं ब्रह्म न लभ्यते ।
त्यक्तोपासनकं तस्य शूर्प-कर्णस्य सुन्दरि ! ॥
शूर्पकर्णं समाश्रित्य त्यक्त्वा मलविकारकम् ।
ब्रह्मैव नरजातिस्थो भवेत्तेन तथा स्मृतः ॥"**

गणेशजी 'ज्येष्ठराज' हैं। सर्व-ज्येष्ठों (बड़ों) के अधिपति या सर्व-ज्येष्ठ जो ब्रह्मादि, उनके बीच में विराजमान हैं। वही गणेशजी शिव-पार्वती के तप से प्रसन्न होकर पार्वती-पुत्र के रूप में प्रादुर्भूत हुए हैं।

श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र जैसे दशरथ एवं वसुदेव के पुत्ररूप में प्रादुर्भूत होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं हैं, वैसे ही भगवान् गणेश, शिव-पार्वती से उत्पन्न होकर भी उनसे अपकृष्ट नहीं हैं, अतएव उनकी शिव-विवाह में विद्यमानता और पूज्यता होना कोई आश्चर्य नहीं है। 'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' में लिखा है कि पार्वती के तप से गोलोक-निवासी पूर्ण परब्रह्म श्रीकृष्ण परमात्मा ही गणपतिरूप से प्रादुर्भूत हुए हैं। अतः गणपति, श्रीकृष्ण, शिव आदि एक ही तत्त्व हैं। इसी गणपति-तत्त्व को सूचित करनेवाला ऋग्वेद का यह मन्त्र है—

**"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम् ।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आनः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम् ॥"**

इससे मिलता-जुलता ही गणपति-स्तावक मन्त्र यजुर्वेद में भी है। **"गणानां त्वा गणपति ग्वं हवामहे"** इत्यादि। ऋग्वेद के मन्त्र का सर्वथा गणपतिस्तुति में ही तात्पर्य है। यजुर्वेदगत मन्त्र का विनियोग यद्यपि अश्वस्तवन में है, तथापि केवल अश्व में मन्त्रोक्त-गुण अनुपपन्न होने से अश्वमुखेन गणपति की ही स्तुति इस मन्त्र से होती है। मन्त्रार्थ इस तरह है—"हे वसो ! वसति सर्वेषु भूतेषु व्यापकत्वादिति, तत्सम्बुद्धौ। गणानां महदादीनां, ब्रह्मादीनां अन्येषां वा समूहानाम्। **गणरूपेण,**

साक्षिरूपेण, ज्ञेयाधिष्ठानरूपेण वा। "गण" संख्याने इत्यस्माद् गण्यते बुद्ध्यते, योगिभिः साक्षात्क्रियते यः स गणस्तद्रूपेण वा पालकं, एतादृशं त्वां आह्वयामहे। तथा प्रियाणां वल्लभानां, प्रियपतिं प्रियस्य पालकम्। तच्छेषतयैव सर्वस्य प्रेमास्पदत्वात्। **"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवतीति"** श्रुतेः। निधीनां सुखनिधीनां, सुखनिधेः पालकं त्वां हवामहे आह्वयामहे। मदन्तःकरणे प्रादुर्भूय स्वस्वरूपानन्दसमर्पणेन ममापि पतिर्भूयाः। पुनः हे देव ! अहन्ते गर्भधं अजायां प्रकृतौ चैतन्यप्रतिबिम्बात्मकं गर्भं दधातीति गर्भधं बिम्बात्मकं चैतन्यं, (तथा च—**'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहमिति'** भगवत्स्मरणात्) आ–आकृष्य योगबलेन, अजानि–स्वहृदि स्थाप्यानि, त्वं च मम हृदि अजासि–क्षिपसि स्वस्वरूपं स्थापयसि। अधिकारी उपासक गणपति को प्रार्थना करता है–हे सर्वान्तर्यामिन् ! देवादिसमूहों के अधिष्ठान तथा साक्षीरूप से, प्रियों को प्रियरूप से, लौकिक प्रेमास्पदों को परमप्रेमास्पदरूप से, लौकिक सुख-राशियों को अलौकिक परमानन्द से पालन करनेवाले अर्थात् अपने अंश से सम्पादन करनेवाले आपका मैं पति-रूप से आवाहन करता हूँ। आप मुझे भी स्वरूपानन्द-समर्पण द्वारा पालन करें। जगदुत्पादनार्थ प्रकृतिरूप योनि में स्वकीय चैतन्यप्रति-बिम्बात्मकरूप गर्भ को धारण करनेवाले बिम्बचैतन्यरूप को मैं अपने हृदय में विशुद्धान्तःकरण से धारण करूँ, एतदनुकूल अनुग्रह करें। ऐसी प्रार्थना है।

इस तरह मन्त्र-प्रतिपाद्य गणपतितत्त्व सर्वविघ्नों का विनाशक है। अतएव 'गणपत्यथर्वशीर्ष' के नवें मन्त्र में **"विघ्ननाशिने शिव-सुताय वरदमूर्तये नमः"** ऐसा आया है। सायणाचार्य ने इसका व्याख्यान करते हुए कहा है—**"समयकालात्मक-भयहारिणे, अमृतात्मकपदप्रदत्वात्"** अर्थात् गणेशजी कालात्मक भय को हरण करने-वाले हैं; क्योंकि वे अमृतात्मकपद-प्रद हैं। 'स्कन्द' तथा 'मौद्गल पुराण' में विनायक-माहात्म्य-विषयक एक ऐसी गाथा है—किसी समय अभिनन्दन राजा ने इन्द्रभाग-शून्य एक यज्ञ आरम्भ किया। यह जानकर इन्द्र कुपित हुआ। उसने काल को बुला-कर यज्ञ-भङ्ग की आज्ञा दी। कालपुरुष यज्ञ को भङ्ग करने के लिये विघ्नासुररूप में प्रादुर्भूत हुआ। जन्ममृत्युमय जगत् काल के अधीन है। काल तीनों लोकों का भ्रमण करता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष काल को जीतकर अमृतमय हो जाता है। ब्रह्मज्ञान का साधन वैदिक स्मार्त सत्कर्म है। **"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।"** सत्कर्म से विशुद्धान्तःकरण पुरुष को भगवत्तत्त्व-साक्षात्कार होता है और उससे ही काल की पराजय होती है। यह जानकर काल उस सत्कर्म के नाश के लिये विघ्नरूप होकर प्रादुर्भूत हुआ। सत्कर्महीन जगत् सदा ही काल के अधीन रहता है। इसीलिये कालस्वरूप विघ्नासुर अभिनन्दन राजा को मारकर जहाँ-तहाँ दृश्यादृश्यरूप से सत्कर्म का खण्डन करता था, उस समय वशिष्ठादि भ्रान्त हो ब्रह्मा की शरण गये और उनकी आज्ञा से भगवान् गणपति की स्तुति की, क्योंकि गणपति को छोड़कर

किसी भी देवता में कालनाश-सामर्थ्य नहीं है। गणेशजी असाधारण विघ्नविनाशकत्व गुण से सम्पन्न हैं, यह बात श्रुति, स्मृति, शिष्टाचार तद्वाक्य एवं श्रुतार्थापत्ति से अवगत है। श्रीगणेशजी से विघ्नासुर पराजित होकर उनकी शरण में गया और उनका आज्ञावशवर्ती हुआ। अतएव गणेशजी का नाम विघ्नराज भी है। उसी समय से गणेशपूजन-स्मरणरहित जो भी सत्कर्म हो, उसमें विघ्न का प्रादुर्भाव अवश्य होता है। इसी नियम से विघ्न भगवान् के आश्रित रहने लगा। विघ्न भी काल-रूप होने से भगवत्स्वरूप है। **"विशेषेण जगत्सामर्थ्यं हन्तीति विघ्नः।"** ब्रह्मादिकों में भी जगत्सर्जनादि-सामर्थ्य को हनन करनेवाले को विघ्न कहते हैं, अर्थात् ब्रह्मादि समस्त कार्य ब्रह्म-विघ्न-पराभूत होने के कारण स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते। किन्तु गणेश के अनुग्रह से ही विघ्नविरहित होकर कार्यकरणक्षम होते हैं। विघ्न और विनायक ये दोनों ही भगवान् होने के कारण स्तुत्य हैं। अतएव **"भगवन्तौ विघ्नविनायकौ प्रीयेताम्"** ऐसा पुण्याहवाचन में लिखा है। विघ्न गणेश के अतिरिक्त और किसी के वश में नहीं है, जैसा कि 'योगवाशिष्ठ' में शाप देने को उद्यत भृगु के प्रति विघ्नरूप काल ने कहा है—

"मा तपः क्षपयाबुद्धे कल्पकालमहानसैः।
यो न दग्धोऽस्मि मे तस्य किं त्वं शापेन धक्ष्यसि॥
ब्रह्माण्डावलयो ग्रस्ताः निगीर्णा रुद्रकोटयः।
भुक्तानि विष्णुवृन्दानि क्व न शक्ता वयं मुने॥"

इससे सिद्ध हुआ कि निःश्रेयस-साधन गणेश-स्मरणहीन सभी सत्कर्मों में काल-रूप विघ्न का प्रादुर्भाव होना अनिवार्य है। अतः विघ्नों के निवारण के लिये गणेश-स्मरण सभी सत्कर्मों में आवश्यक है।

यदि कहा जाय कि ओङ्कार ही सर्वमङ्गलमय है, वेदोक्त समस्त कर्म उपासनाओं के आदि में ओङ्कार का ही स्मरण किया जाता है, इसलिये गणेश-स्मरण निरर्थक है। तो यह ठीक नहीं, क्योंकि ओङ्कार भी सगुण गणेश-स्वरूप ही है। 'मौद्गल पुराण' में भी कहा है—

"गणेशस्यादिपूजनं चतुर्विधं चतुर्मूर्तिधारकत्वात्।"

ब्रह्मा के चारों मुखों से अष्टलक्ष पुराणों का प्रादुर्भाव हुआ। उसके पश्चात् द्वापरान्त में व्यासदेव ने कलियुगीय मन्दमति प्राणियों के बोधार्थ अष्टादशपुराणोपपुराणों का निर्माण किया। उनमें पहला 'ब्राह्मपुराण' है, उसमें निर्गुण एवं बुद्धितत्त्व से परे गणेश-तत्त्व का वर्णन है। अन्तिम 'ब्रह्माण्डपुराण' है, उसमें सगुण गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है; क्योंकि वह विशेष रूप से प्रणवात्मक प्रपञ्च का प्रतिपादन करनेवाला है। उपपुराणों में भी पहला 'गणेशपुराण' है, जो कि सगुण-निर्गुण गणेश की एकता का प्रतिपादन करनेवाला है और गजवदनादि-मूर्तिधर गणेश का भी

प्रतिपादन करता है। यहाँ पर जो यह कहा जाता है कि उपपुराण अपकृष्ट हैं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे उपेन्द्र इन्द्र से अपकृष्ट नहीं, वैसे ही पुराणापेक्षया उपपुराण अपकृष्ट नहीं। 'मौद्गल' अन्तिम उपपुराण है। उसमें योगमय गणेश का माहात्म्य प्रतिपादित है। इस तरह वेद, पुराण, उपपुराण आदि के भी आदि में मध्य में और अन्त में गणेश-तत्त्व का प्रतिपादन मिलता है। इतना ही क्यों, ब्रह्म-विष्णु आदि भी गणेशांश होने से ही शास्त्र-प्रतिपाद्य हैं। कोई लोग बुद्धिस्थ चिदात्मरूप गणेश का स्मरण करके सत्कर्म करते हैं, कोई प्रणवस्मरणपूर्वक— सत्कर्म करते हैं, कोई गजवदनाद्यवयव-मूर्तिधर गणेश का स्मरण करते हैं एवं कोई योगमय गणपति का स्मरण करते हैं। इस तरह सभी शुभकार्यों के आरम्भ में येन-केनचिद्रूपेण गणेश-स्मरण देखा जाता है।

कोई कहते हैं कि प्राण-प्रयाण के समय एवं पितृ-यज्ञादि में गणेश-स्मरण प्रसिद्ध नहीं है, यह ठीक नहीं; क्योंकि गया-स्थित गणेश-पद पितृ-मुक्ति देनेवाला है। वेदोक्त पितृ-यज्ञारम्भ में गणेश-पूजन का निषेध नहीं है। अतः वहाँ भी गणेश-पूजन होता है और होना युक्त है, इसीलिये श्रुति गणाधिपति को ज्येष्ठराज पद से सम्बोधित करती है।

'गणेशपुराण' में त्रिपुर-वध के समय शिवजी ने कहा है—

"शैवैस्त्वदीयैरुत वैष्णवैश्च शाक्तैश्च सौरैरपि सर्वकार्ये।
शुभाशुभे लौकिकवैदिके च त्वमर्चनीयः प्रथमं प्रयत्नात्॥"

'गणेश-गीता' में मरण-काल में भी गणेश-स्मरण कहा है—

"यः स्मृत्वा त्यजति प्राणमन्ते मां श्रद्धयान्वितः।
स यात्यपुनरावृत्ति प्रसादान्मम भूभुज॥"

'गणेश-तापिनी' में भी कहा है—

"ओं गणेशं वै ब्रह्म, तद्विद्यात्।
यदिदं किञ्च, सर्वं भूतं भव्यं सर्वमित्याचक्षते।"

इस तरह यह सिद्ध हुआ कि पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही निर्गुण एवं विघ्न-विनाशकत्वादि-गुणगणविशिष्ट, गजवदनादि-अवयव-मूर्तिधर के रूप में श्रीगणेश हैं।

आजकल कुछ ग्रन्थचुम्बक पण्डितम्मन्य पाश्चात्यों के शिष्य होकर बाह्य कुसंस्कार-दूषितान्तःकरणसुधारक श्रीगणेशतत्त्व पर विचार करने का साहस कर बैठते हैं। वे अपने गुरुओं के विपरीत भला कितना विचार कर सकते हैं? उनका कहना है कि पहले गणेशजी आर्यों के देवता नहीं थे। किन्तु एतद्देशीय अनार्यों को पराजित करने पर उनके सान्त्वनार्थ गणेश को आर्यों ने अपने देवताओं में मिला लिया है। इस ढङ्ग के विद्वान् कुछ पुराण, कुछ वेदमन्त्र, कुछ चौपाइयों का संग्रह कर अपनी अनभिज्ञता का परिचय देते हुए ऐसे गणपतिस्वरूप का वर्णन करते हैं कि

जिससे शास्त्रीय गणपति-स्वरूप समाच्छन्न हो जाता है। यद्यपि थोड़ा सा भी तत्त्वज्ञान रखनेवाले पुरुष के लिये ऐसे असम्बद्धालाप हेय ही हैं, तथापि मूर्खों को तो उनसे व्यामोह होना स्वाभाविक ही है।

कोई इन महानुभावों से पूछे कि गणेश नाम का कोई तत्त्व है, यह आपने कैसे जाना ? पुराणादि शास्त्रों द्वारा या यत्र-तत्र गणपति की मूर्तियों को देखकर ? यदि शास्त्रों से ही गणेश-तत्त्व समझा जाय, तो फिर गणेश को अनार्यों के देव कैसे कहा जाय, क्योंकि शास्त्रों से तो वे ब्रह्मादि के पूज्य पाये जाते हैं। रही दूसरी बात मूर्तियों को देखकर जानने की, यदि उसे उचित मानें, तो गणपति को देवता या पूज्य समझना, केवल मूर्खता ही है। कारण यह है कि केवल काष्ठमृत्पाषाणादि को कौन अभिज्ञ जन पूज्य समझेगा ? यदि कहा जाय कि अदृश्य शक्ति-विशेष का उस मूर्ति में आवाहन कर उसका पूजन किया गया है, तो भी वह विशिष्ट देवशक्ति किस प्रमाण से पहचानी या आहूत की गयी है ? इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि यह बात शास्त्रों से ही जानी गयी तो फिर शास्त्रों ने तो गणेश-तत्त्व को अनादि ईश्वर कहा है। अतः वे अनार्यों के देवता कैसे हुए ?

एक दूसरी विलक्षण बात यह है कि शास्त्रों के ही आधार पर गणेश को अनार्याभिमत देव समझना और आर्यों का कहीं बाहर से यहाँ आना, भारतवर्ष में प्राथमिक अनार्यों का निवास और अनार्यों के देवता गणेश का आर्यों द्वारा ग्रहण ! भला ऐसी बे-सिर-पैर की बातें अनार्य शिष्यों के सिवा और किसको सूझ सकती हैं ? भला कोई भी सहृदय पुरुष वेद-पुराणादि शास्त्रों को मानता हुआ भी क्या गणेश का अनार्य-देवत्व स्वीकार कर सकता है ? वस्तुतः यह सब दूषित संस्कारों एवं आचार-शून्य मनमाने शास्त्रों के पुस्तकीय ज्ञान का ही कुफल है। इसीलिये ज्ञानलव-दुर्विदग्ध अनभिज्ञों से भी शोचनीय समझे जाते हैं। इसी कारण से अपने यहाँ किसी भी सच्छास्त्र के अध्ययन का यही नियम है कि आचार्य-परम्परा से शास्त्रीय गूढ़ रहस्यों को समझना चाहिये और परस्परविरोधी प्रतीत होनेवाले वाक्यों का समन्वय करना चाहिये। ऐसा न होने से ही श्रीगणपति की भिन्न-भिन्न लीलाएँ प्राणियों को मोहित करनेवाली होती हैं। जैसे उनका नित्यत्व, पार्वती-पुत्रत्व, शनि के दृष्टिपात से शिरश्छेद और गजवदन का सन्धान आदि।

ये सब बातें केवल गणपति के ही विषय में नहीं, अपितु श्रीरामचन्द्र आदि के विषय में भी हैं। जैसे अजत्व और जायमानत्व, नित्यमुक्तत्व और सीता-विरह में रोदनादि। इसीलिये गोस्वामी श्री तुलसीदासजी ने कहा है कि—

"राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥"

वस्तुतः जिन्होंने भगवान् को अघटितघटनापटीयसी माया का महत्व नहीं समझा, उन्हें अचिन्त्यमहामहिम वैभवशाली भगवान् की निर्गुण तथा सगुण लीलाओं का ज्ञान कैसे हो ?

"अजायमानो बहुधा व्यजायत",
"मत्स्थानि सर्वभूतानि",
"न च मत्स्थानि भूतानि"

इत्यादि का अभिप्राय कैसे विदित हो ? सगुण लीला तो निर्गुण की अपेक्षा भी भावुकों की दृष्टि में दुरवगाह्य है—

"निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण न जानै कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि-मन भ्रम होइ ॥"

इसलिये गोस्वामीजी ने कहा है कि अनादि देवता समझकर गणेशादि के रूप-भेद, शिवपूज्यता आदि अंशों में संशय न करें "**जनि कोउ अस संशय करै सुर अनादि जियँ जानि ।**" फिर जब बड़े से बड़े तार्किकों का तर्क भौतिक भावों में ही कुण्ठित हो जाता है, तब व्याप्ति या हेतु तथा हेत्वाभास के ज्ञान से शून्य आधुनिक विद्वानों को देवता या ईश्वर के विषय में तर्क करने का क्या अधिकार है ? वे महानुभाव यदि तर्क के स्वरूप को भी ठीक-ठीक निरूपण कर सकें, तो उन्हें यह पता लग सकेगा कि धर्म तथा देवता पर तर्क कुछ काम कर सकता है या नहीं। भला यदि इनसे कोई पूछे कि यह आपने कैसे अनुमान किया कि गणेश अनार्यों के देवता हैं और आदि भारतवासी अनार्य ही हैं ? क्या कोई अव्यभिचरित हेतु इसमें आपके पास है ? तो ये लोग सिवा अटकलपच्चू कल्पित मिथ्या इतिहास के क्या बतला सकते हैं ? परन्तु यदि इनके भ्रमपूर्ण निराधार आधुनिक इतिहास मान्य हैं, तो प्राचीन आध्यात्मिक गम्भीर भावपूर्ण हमारे इतिहास क्यों मान्य नहीं ?

अस्तु, आस्तिकों को पूर्वोक्त प्रमाणों से निर्धारित गणपति-तत्त्व का श्रद्धा-सहित समस्त कर्मों में आराधन अवश्य करना चाहिये। पारलौकिक तत्त्व-निर्धारण में एकमात्र शास्त्र ही आदरणीय है। इसीलिये भगवान् ने गीता में कहा है कि—

"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥"

●

अवतारमीमांसा

अवतार के सम्बन्ध में आजकल बहुतसी शङ्काएँ उठायी जाती हैं। कहा जाता है कि "यदि किसी एक विशिष्ट आकार को भगवान् का नित्य स्वरूप माना जाय, तो उस आकार को निर्विकार मानना होगा, परन्तु किसी साकार को नित्य कहना दुर्घट ही है, अतः व्यावहारिक जगत् में विभिन्न दैहिक आकार में भगवान् का अवतार असमञ्जस है। यह धारणा कैसे कर सकते हैं कि भगवान् उनके स्वभावगत नित्य, अच्युत स्वरूप को कभी-कभी परित्याग करते हैं? जन्म-मृत्यु के अधीन नये-नये आकारों को ग्रहण किया करते हैं? सर्वशक्तिमत्ता के आधार पर भी ऐसी कल्पना नहीं हो सकती। अवतारों के आकार परस्पर भिन्न और अपक्षयादि से युक्त पाये जाते हैं, अतः अपने नित्य रूप के साथ ही भगवान् का जगत् में अवतरण होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता।" परन्तु, विचार करने पर उपर्युक्त बातें बेतुकी प्रतीत होती हैं। सर्वशक्तिमान् भगवान् एक रूप या अनेक रूप से भिन्न-भिन्न काल में या एक काल में प्रवृत्त हो सकते हैं। उनके आविर्भाव-तिरोभाव को ही अज्ञ लोग उत्पत्ति और नाश मान बैठते हैं। भगवान् के शरीर में किसी भी तरह का विकार नहीं माना जा सकता। जैसे मायावी के अङ्ग में माया से अनेक विकारों का स्फुरण हो सकता है, वैसे ही भगवान् में भी कल्पना की जा सकती है। भगवान् का स्वाभाविक पारमार्थिक स्वरूप निराकार, निर्विकार है। फिर भी भगवान् अनन्तब्रह्माण्डोत्पादिनी अनिर्वचनीय महाशक्ति के आधार होने से सगुण और कारण हैं। उसी शक्ति के योग से भगवान् सगुण, साकार, एकरूप, अनेकरूप में प्रतीत होते हैं। यही बात **"अजायमानो बहुधा व्यजायत", "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"** (परमात्मा अज होकर भी अनेक रूप से जायमान होता है, इन्द्र—परमात्मा माया से अनेकरूप होकर प्रतीत होता है) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है।

कहा जाता है कि "निराकार परमात्मा साकार किस प्रकार बनता है? वह शरीरी जीवरूप से स्वयं परिणाम को प्राप्त होता है या विशिष्ट मानस भौतिक देह की सृष्टि करता है और उसमें आत्मरूप से प्रवेश करता है किंवा अपनी विशेष शक्ति और ज्ञान को किसी विशेष शरीरधारी के जीवन में अभिव्यक्त करता है, जिससे कि वह उसके साथ तादात्म्यापन्न होकर कार्य करता है? इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि देशकालातीत, समस्त विकार और सीमा से रहित, पूर्ण आध्यात्मिक पुरुष किस प्रकार स्वयं देशकाल-सीमायुक्त और विभिन्न विकाराधीन किसी शरीरविशेष में परिणाम को प्राप्त होता है? यदि निराकारता आकाररूप से परिणाम को प्राप्त हो सके और भगवत्ता भी सुरक्षित रहे, तो निराकारता को

भगवत्स्वरूप के प्रति नित्य और स्वरूपगत रूप से नहीं माना जा सकता। फिर तो उसके स्वरूप का प्रकार कोई अनित्य और विकारी ही होगा। अनन्त होकर भी अन्तवाले रूप में परिणाम को प्राप्त हो सकता है। नित्य स्वरूप अचिरकालस्थायी पुरुषरूप में जन्म ग्रहण कर सकता है और साथ ही अपने नित्य स्वरूप को भी अक्षुण्ण बनाये रख सकता है। पूर्ण पुरुष अपूर्ण पुरुष का जीवनयापन कर सकता है फिर भी अपने पूर्ण स्वरूप में ही स्थिर रह सकता है। ऐसी धारणाएँ स्पष्ट विरुद्ध हैं।" इसपर कहना यही है कि परमेश्वर का पारमार्थिक रूप अज, अव्यक्त, अनन्त, अनाकार, पूर्ण होने पर भी अनिर्वचनीय माया से उसमें साकारता, अपूर्णता की प्रतीति होती है। वस्तुतः वह अपने पारमार्थिक रूप में सर्वदा ही प्रतिष्ठित रहते हैं। यह नियम है कि समान सत्तावाले भाव-अभाव का ही विरोध होता है, विषम सत्तावाले भाव-अभाव का विरोध नहीं होता। अतः पारमार्थिक एवं व्यावहारिक सत्ता के भेद से साकारता-निराकारता, अनन्तता और एकदेशिता का सामञ्जस्य हो सकता है। इसके अतिरिक्त जैसे नैयायिक, वैशेषिकों के यहाँ देहदृष्टि से साकारता होने पर भी आत्माओं की व्यापकता है, वैसे ही यह भी व्यवस्था बैठ सकती है। आत्मा व्यापक माना जाय तो, अणु माना जाय तो, हर दृष्टि से निराकार ही है। फिर भी जैसे उसका साकार देह बन सकता है, वैसे ही निराकार परमेश्वर में भी साकारता आदि बन सकती है। फिर भी जैसे अपने रूप से आत्मा का परिणाम नहीं मानना पड़ता, वैसे ही ईश्वर का भी परिणाम नहीं मानना पड़ेगा। भेद यही है कि जीवात्मा कर्मों के परतन्त्र होकर उसमें अभिमानी होकर फँसता है और परमेश्वर लोकानुग्रहार्थ दिव्य देह ग्रहण करके कार्य्य करता है, फिर भी अपने निराकार स्वरूप में सर्वदा प्रतिष्ठित रहता है। अपरिच्छिन्न में परिच्छिन्नता आदि भी माया को लेकर बन सकती है। परन्तु स्वरूपच्युति न होगी, यही उसकी विशेषता है।

कहा जाता है कि "भगवान् प्रत्येक विशेष अवतार में स्वयं सम्पूर्ण रूप से परिणाम को प्राप्त होते हैं या आंशिक रूप से ? यदि प्रथम कल्प मान्य है, तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि एक अवतार जब तक जीवित रहता है, तब तक निराकार भगवान् नहीं रहता और भगवान् जगत् के एक विशेष स्थल में आबद्ध रहता है। ऐसा होने पर, यद्यपि अवतरित भगवान् का ज्ञान और शक्ति आन्तरिक रूप से अनन्त और जगत्प्रपञ्च के शासन और रक्षण में समर्थ मानी जाती है, तथापि उसका अस्तित्व व्यापक रूप से नहीं माना जा सकता और वह जगत् में ओतप्रोत भी नहीं माना जा सकता। उसका जगत् के साथ सम्बन्ध भी बाह्य रूप से मानना होगा। फलतः यह सिद्धान्त कि 'भगवान् जगत् का उपादानकारण है' इस मन्तव्य से मेल न खायेगा। विशेष रूप से अवतरित भगवान् का जब तिरोभाव होगा, तब निराकार का पुनः जन्म मानना होगा। फिर निराकार का भी जन्म-मरण मानना होगा,

इत्यादि" परन्तु, यह विचार भी बालकों की ही बुद्धि में भ्रम पैदा करने में समर्थ है, क्योंकि भगवान् का परिणाम न मानने से उपर्युक्त वक्तव्य ही निराधार हो जाता है। कूटस्थ भगवान् अखण्ड, अनन्त, पूर्ण रूप से सदा विराजमान रहकर ही दिव्य मायाशक्ति से दिव्य देह ग्रहण कर लेते हैं।

यह भी कहा जाता है कि "यदि आंशिक रूप से भगवान् परिणाम को प्राप्त होते हैं, तो उसके एक अंश को निराकार और दूसरे अंश को परिणामी मानना पड़ेगा, जो कि स्पष्ट ही विरुद्ध है। परमात्मा निराकार, साथ ही अंशयुक्त और अंश में विभाग के योग्य नहीं माना जा सकता। यदि ऐसी धारणा सम्भव हो, तो किसी अंश में कोई परिणाम होने पर आत्मा विकार को प्राप्त होगा और इससे वह एक विकारी, अस्थायी और व्यावहारिक पुरुष होगा। यदि इस आपत्ति का त्याग भी करें, तो प्रश्न उपस्थित होगा कि अवतार-शरीर में परिणत भगवत्-अंश, पूर्ण भागवतचेतना से सम्पन्न है, अथवा यह चेतना विशेषित या सीमायुक्त होती है? अवतार क्या स्वयं भगवान् के समान अनन्त ज्ञान और शक्ति को धारण करता है या भगवान् के अंश से परिणाम को प्राप्त (आकारवान्) होने के कारण उसका ज्ञान और शक्ति अन्तयुक्त होती है? यह स्पष्ट है कि आंशिक अवतार स्वयं भगवान् के समान सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ नहीं हो सकता, क्योंकि अंश और सम्पूर्ण में पृथक्ता का लोप होगा अथवा एक ही काल में दो प्रतिद्वन्द्वी भगवान् होंगे-एक रूपयुक्त और अपर रूपरहित। भगवान् की आंशिक अभिव्यक्ति की धारणा उनकी शक्ति और ज्ञान की आंशिक अभिव्यक्ति को बोधित करती है। ऐसा होने पर यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि अज्ञान का आवरण अवतारी चेतन के ऊपर विद्यमान है तथा उसका ज्ञान और शक्ति, चाहे उसके समकालीन व्यक्तियों की तुलना में कैसा भी उच्च क्यों न हो, सीमायुक्त है तथा उसकी सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति नहीं है। तब व्यावहारिक जगत् के असाधारणसामर्थ्ययुक्त किसी मनुष्य और अवताररूप से मान्य व्यक्ति में वस्तुगत भेद क्या रह गया? सब मनुष्य या प्राणी उस भगवान् की आंशिक अभिव्यक्ति हैं, जो सब व्यावहारिक पदार्थों का एकमात्र आश्रय, कारण और द्रव्य माना जाता है।" परन्तु, यह कथन भी सारशून्य है। निराकार, निर्विकार चेतन में यद्यपि अंशांशिभाव नहीं है, तथापि मायारूप उपाधि के भेद से अंशांशिभाव बन जाता है, अतएव अंशावतार, पूर्णावतार आदि व्यवहार होता है। जहाँ सम्पूर्ण भगवत्ता प्रकट होती है, वहाँ पूर्णावतार का व्यवहार होता है, जहाँ अंशतः भगवत्ता का प्राकट्य होता है, वहाँ अंशावतार का व्यवहार होता है। निराकार चेतनतत्त्व अंशतः या सम्पूर्णतः किसी प्रकार परिणाम को प्राप्त नहीं होता, अतः परिणाम-पक्ष के सभी दूषणों का अवकाश ही नहीं है। लोककल्याणार्थं भगवदिच्छा से अनन्त शक्तियों की केन्द्रभूता महाशक्ति के द्वारा दिव्य शरीर का निर्माण होता है। उसीमें

अपरिणामी परमेश्वर प्रतिष्ठित होकर विविध लीलाओं का अनुसरण करते हैं। जिन अवतारों में सीमायुक्त चेतना का विकास अभीष्ट है, वहाँ सीमित और जहाँ निःसीम चेतना की अभिव्यक्ति अभीष्ट है, वहाँ निःसीम चेतना का आविर्भाव होता है। भगवदिच्छा ही इस भेद की नियामिका है। सम्पूर्ण रूप से भी अवतारों में ज्ञान-क्रिया-शक्ति का विकास होने में कोई आपत्ति नहीं है। अतएव भगवान् के अवतारों में प्रतिद्वन्द्विता की कल्पना केवल अनभिज्ञता ही है। जब योगी अनेक शरीरों का निर्माण करके उनसे व्यवहार कर सकता है और सर्वत्र अभिमानी एक होने से प्रतिद्वन्द्विता को अवकाश नहीं रहता, वैसे ही जब एक ही ईश्वर अनेक अवतारों में प्रकट होता है, तब प्रतिद्वन्द्विता को अवकाश ही कहाँ है ? रूपरहित तत्त्व ही विशिष्ट शक्ति के योग से रूपवान् होता है। विशेषतः अवतार पूर्ण ही होते हैं। जहाँ जैसे कार्य की आवश्यकता होती है, वहाँ वैसी ही शक्तियों का प्राकट्य होता है। राम, कृष्ण के अवतार में सभी शक्तियों का प्राकट्य हुआ है, इसीलिये उन्हें पूर्णावतार कहा जाता है। अंशावतारों में भी जोवों की अपेक्षा विलक्षणता होती है। जीवों की मलिनसत्त्वप्रधाना अविद्या उपाधि होती है, ईश्वर की विशुद्धसत्त्व-प्रधाना माया उपाधि होती है। यद्यपि जड़-चेतन सभी रूप में एक ईश्वर की ही अभिव्यक्ति होती है, तथापि अवतारों में उन सबसे विशेषता इसीलिये होती है। तमःप्रधाना प्रकृति से परमेश्वर जड़ जगत् का कारण बनता है, अविशुद्धसत्त्वप्रधाना प्रकृति के द्वारा जीवों का कारण होता है और विशुद्धसत्त्वप्रधाना प्रकृति के द्वारा अवतार ग्रहण करता है। जीवों में वह बात नहीं होती जो ईश्वर के अवतारों में होती है।

जो सृष्टि को विचित्र बतलाकर उसमें अवतारों के सदृश अनेक जीवों का होना सिद्ध करना चाहते हैं, उनको इस ओर भी ध्यान देना चाहिये कि जब सृष्टि-वैचित्र्य से ही, बिना प्रमाण के भी, अन्धश्रद्धा से अवतारों के सदृश अन्य जीवों का होना मान लिया जाता है, तब शास्त्रप्रमाण से अवतारों के सदृश अन्यों का न होना ही क्यों नहीं मान लिया जाता ? फिर सृष्टिवैचित्र्य से ही ईश्वर के समान ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् अन्य जीव भी क्यों न मान लिये जायँ ? जब ईश्वर अनेक नहीं हो सकते, तब अवतारों के समान जीवदेह नहीं हो सकते, यह भी मान्य ही होना चाहिये। अवतार-देह दिव्य होते हैं, उनमें जरा-मरणादि नहीं होते, वे केवल भगव-दिच्छा से आविर्भूत और तिरोभूत होते रहते हैं।

कहा जाता है कि "भगवान् एक विशेष मानस भौतिक देह की सृष्टि करते हैं और आत्मारूप से इसमें प्रवेश करते हैं। जब सभी मानस भौतिक देह भगवान् की ही सृष्टि है, तब फिर इस कथन का क्या अर्थ है कि अवतार-देह एक विशेषरूप से सृष्ट देह है ? क्या यह अपर देह जिस नियम और पद्धति से उत्पादित होते हैं, उसके अनुसार

उत्पन्न नहीं हुआ ? यह क्या विशेष काल और देश में माता-पिताजनित व्यावहारिक देह नहीं है ? यह क्या अपर देह के समान वृद्ध होकर तथा नाना विकार को प्राप्त होकर मृत्युग्रस्त नहीं होता ? फिर कैसे हम लोग अवतार-देह और किसी अपर जीवित देह में कोई भेद कर सकते हैं ?" इसका उत्तर यह दिया जाता है कि अवतार-देह में जितने विशेष लक्षण रहते हैं, उतने अपर किसी साधारण रीति से उत्पन्न जीवित देह में नहीं पाये जाते। कदाचित् यह सत्य हो, किन्तु फिर भी यह सिद्धांत नहीं किया जा सकता कि ऐसा विशेषलक्षणयुक्त देह, पूर्ण भगवदात्मा द्वारा अधिष्ठित होने के उद्देश्य से विशेषरूप से सृष्ट हुआ है। इस वैचित्र्यमय विश्व जगत् में विशेष-लक्षण सहित असंख्य प्रकार जीव के देह में पाये जाते हैं। एक मनुष्यजाति में ही विभिन्न जाति के पुरुष, विभिन्न प्रकार के भेदसहित स्वस्वजातीय लक्षणयुक्त होते हैं और एक ही जाति के अन्तर्भूत अनेक व्यक्तियों में भी परस्पर अत्यन्त भेद पाया जाता है।" परन्तु, यह कथन ठीक नहीं है। भगवान् के शरीरों में साधारण शरीरों से विशेषता है ही। साधारण शरीर भौतिक होते हैं, परन्तु भगवान् का शरीर माया से (मायोपहितचैतन्य से) बनता है। जैसे शैत्य के योग से जल ही घनीभूत हो जाता है, वैसे ही माया के योग से निराकार भगवान् साकार होते हैं, किंवा जैसे घृतवर्तिका आदि के योग से निराकार अग्नि दाहकत्व-प्रकाशकत्वविशिष्ट आकार ग्रहण कर लेता है, वैसे ही अचिन्त्य, अनिर्वाच्य दिव्य शक्ति के योग से आत्मा सगुणविग्रह धारण कर सकता है। यद्यपि उपर्युक्त दृष्टान्तों में कथञ्चित् परिणाम तथा विकार की कल्पना की जा सकती है, तथापि निर्विकार चेतन में विकार की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि वह अनिर्वचनीय माया के योग से अविकृत रहकर ही अनेक कार्यों का उत्पादन कर सकता है। जैसे चिन्तामणि, कल्पवृक्ष, कामधेनु को भिन्न-भिन्न अभिलाषुकों को अभिलषित अनेक पदार्थों के सम्पादन में विकृत होने की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही परमात्मा को भी प्रपञ्चोत्पादन में विकृत होने की अपेक्षा नहीं है। अतएव, 'सम्पूर्ण रूप से परिणाम हुआ या एकदेश से' इत्यादि विकल्प भी निरर्थक ही हैं। 'निराकार साकार नहीं बन सकता' यह शङ्का भी व्यर्थ ही है। जैसे निर्गन्ध जल गन्धवती पृथ्वी के रूप में बनता है, जैसे नीरस तेज सरस जल और नीरूप वायु रूपवान् तेज के रूप में बनता है, वैसे ही निराकार तत्त्व साकाररूप में और निर्गुण सगुण रूप में व्यक्त हो सकता है। जैसे स्पर्शविहीन आकाश स्पर्शवान् वायु के रूप में प्रकट होकर भी अपने आकाशरूप में बना रहता है, वैसे ही अनेक रूपों में प्रकट होकर भी परमात्मा अपने निर्गुण-निराकार रूप में बना ही रहता है।

अनेक रूप में प्रकट होकर भी परमात्मा अपने निर्गुण, निराकार रूप में बना ही रहता है, इसीलिये भगवान् क्रीड़ा के लिये अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्ति से दिव्य देह का निर्माण करते हैं। वह देह सोपाधिक चेतन का कार्य होने पर भी प्राकृतिक कार्यों

से विलक्षण होता है। जैसे सूर्य्य मेघ से आवृत हो जाता है, परन्तु नेत्र और सूर्य्य के मध्य में दूरवीक्षण यन्त्र होने से वह उसका आवरण नहीं होता, वैसे ही तामसी या अविशुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति से चैतन्य आवृत हो जाता है, परन्तु विशुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति, माया या दिव्य शक्ति से निरावरण ही रहता है। अतः तामस, राजस देहों की अपेक्षा विशुद्ध सत्त्वमय शरीरों में विशेषता रहती ही है। इस दृष्टि से देहवान् होकर भी भगवान् भगवान् ही रहते हैं। अतएव वे जगदतीत हैं ही। जब अनिन्त्य दिव्य लीलाशक्ति के योग से भगवान् का अवतार बन सकता है, तब उनके द्वारा वेदों का उच्चारण हो सकता है और इसीलिये शास्त्रप्रमाण से कलावतार, अंशावतार की भी उपपत्ति हो जाती है। जो क्रिया-ज्ञान-शक्तियाँ साधारण जीवों में सम्भव नहीं, उनकी स्थिति जहाँ कहीं देखी जाती हो और साथ ही आर्ष ग्रन्थों में जिसका प्रमाण हो, वहीं अवतार का व्यवहार होता है।

कहा जाता है कि "ईश्वर का शरीर-धारण सम्भावित न हो सकने से ईश्वर ने शरीरधारण कर वेद की रचना की है सो भी मान्य नहीं हो सकता। वेद निराकार ईश्वररचित है, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। अतएव वैदिक सम्प्रदायों का यह सिद्धान्त कि वेद ईश्वररचित हैं, केवल कल्पनामात्र है। निराकार भगवान् किसी व्यक्तिविशेष को शास्त्ररचना करने में प्रेरणा करते हैं यह पक्ष भी विचार-सह नहीं है, क्योंकि इस पक्ष का निर्णय हम लोगों को अनुमान के द्वारा करना पड़ेगा और अनुमान, हेतु और साध्य का नियत-साहचर्यदर्शन-मूलक होता है, अतएव वह (अनुमान) दृष्ट साधर्म्य की अवश्य अपेक्षा करेगा। सुतरां ज्ञात पदार्थ का विधर्मी या विरोधी किसी पदार्थ का अस्तित्व अनुमान द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता, अतएव दृष्टान्त की सहायता के बिना अनुमान किसी अतीन्द्रिय पदार्थ को प्रमाणित नहीं कर सकता। प्रकृत स्थल में निराकार ईश्वर किसी को प्रेरणा करता है, यह प्रमाणित करने के लिये हम लोगों को अपने साधारण अनुभव की सीमा के भीतर अनुभूत किसी दृष्टान्त का निर्देश करना आवश्यक है, जहाँ निराकार पुरुष किसी अन्य पुरुष-विशेष को प्रेरणा करता हो। परन्तु ऐसा कोई दृष्टान्त पाया नहीं जाता। सुतराम्, निराकार भगवान् किसी को शास्त्र की रचना में प्रेरणा करता या शिक्षा देता या शिक्षा देने के लिये कहीं किसी को भेजता है, यह विचार-विहीन स्वकपोलकल्पना है। ईश्वर का शरीरधारण सम्भव न होने से वह स्वयं शरीरधारण कर स्वयं शिक्षा नहीं दे सकता।"

इस उपर्युक्त कथन में भी कोई सार नहीं है, क्योंकि वैदिकों के मतों में निराकार अन्तर्य्यामी ही सभी भावों का प्रेरक है। जब साकार देह का भी प्रेरक निराकार ही है, तब केवल साकार में प्रेरकता कहाँ से आयेगी? जिस तरह श्रवण-दर्शनादि क्रिया द्वारा अतीन्द्रिय इन्द्रियों का अनुमान होता है तथा जगत् का कर्ता

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् रूप से अदृष्ट होने पर भी अनुमेय होता है, वैसे ही निराकार में प्रेरकता भी सिद्ध है। निराकार ही मन-देहादि का प्रेरक है। निराकार इच्छा की भी प्रवर्त्तकता सिद्ध है, अतः ईश्वर की प्रेरणा से वेदादिकों का भान होने में भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।

ऋषियों से भी मन्त्रों का दर्शन हो सकता है। यद्यपि साधारण जीवों में विशिष्टज्ञान सम्भव नहीं है, तथापि तपस्या और उपासनाओं एवं योगों की महिमा से रज और तम का प्रभाव मिट जाने से स्वभाव से ही सर्वार्थविभासनशाली चित्त में मन्त्रों का दर्शन हो सकता है। जैसे दूरवीक्षण, अणुवीक्षण आदि यन्त्रों की सहायता से दूरस्थ और सूक्ष्मतत्वों का ग्रहण हो सकता है, किंवा रेडियो के द्वारा दूर से दूर के शब्दों का ग्रहण बन सकता है, वैसे ही योग की महिमा से किसी रूप में, कहीं भी विद्यमान शब्दों का ग्रहण किया जा सकता है। भावना की महिमा से मन में विशिष्ट शक्ति का आविर्भाव होता है। सामान्य मन-इन्द्रियों की सहायता से ही बाह्य अर्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। जैसे ईश्वर को इन्द्रिय बिना ही बाह्य-अभ्यन्तर, सभी अर्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही भावना और एकाग्रता की सहायता से मन को विशिष्ट ज्ञान में सामर्थ्य प्राप्त होता है। फिर ऋषियों को तो **'सुप्तप्रतिबुद्ध न्याय'** से पूर्वजन्म के अधीत मन्त्रों का भी दर्शन हो सकता है।

इन सब दृष्टियों से विचार करने पर विदित होगा कि निर्गुण, निराकार परमेश्वर सगुण, साकार राम-कृष्ण आदि रूप में अवतार-ग्रहण करते हैं और अधर्माभ्युत्थान मिटाकर सन्मार्गस्थ सत्पुरुषों का रक्षण करते हुए वेदशास्त्रोक्त धर्म का संस्थापन करते हैं।

●

निराकार से साकार

कुछ लोगों का कहना है कि निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्म परमात्मा साकार नहीं हो सकता। यद्यपि इस विषय पर समाजियों एवं सनातनियों के अनेक बार शास्त्रार्थ हो चुके हैं, उनके शास्त्रार्थों में युक्तियों की प्रधानता थी और वेदमन्त्रों से ईश्वर का साकार होना सिद्ध करने की बात का प्राधान्य था, परन्तु आजकल कभी अपने को वेदान्ती कहनेवाले लोग भी अवतार के अस्तित्व का अपलाप करने लगते हैं। उनका कहना है कि **"ईश्वरो नावतरति, व्यापकत्वात्, आकाशवत्"** अर्थात् ईश्वर अवतार नहीं लेता, क्योंकि वह व्यापक है, जैसे आकाश, इस अनुमान से ईश्वर का अवतार बाधित हो जाता है। इसपर कहा जा सकता है कि इस अनुमान का दृष्टान्त ही असिद्ध है, क्योंकि आकाश भी वायुरूप में अवतीर्ण होता है। वायु, तेज, जलादि क्रमेण पृथ्वीरूप से भी उसीका अवतरण होता है। यदि कहा जाय कि यह तो वेदान्तियों के मतानुसार हुआ, परन्तु नैयायिकों के मत से क्या उत्तर है? तो यह कहना पड़ेगा कि व्यापकत्व हेतु अनैकान्तिक है, क्योंकि व्यापकत्व नैयायिकों के आत्मा में रह जाता है, परन्तु वहाँ अवतरण होता है। साकार होना ही अवतार पदार्थ है। जब नैयायिकों के व्यापक आत्मा देहवान् हो जाते हैं, तब परमात्मा देहवान् क्यों नहीं हो सकता? इसपर यदि कहा जाय कि आत्मा के कर्म होता है, परन्तु परमात्मा के कर्म नहीं होता, तो इसका उत्तर यह है कि विश्व के उत्पादन-पालनादि कर्म ईश्वर के भी होते ही हैं। फिर भी शङ्का हो सकती है कि देहारम्भ-प्रयोजक कर्म ईश्वर के नहीं हैं। किन्तु इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि कौन कर्म देहारम्भक है, कौन भोगारम्भक है, यह बात शास्त्रैकगम्य है। फल-वैचित्र्य से हेतु-वैचित्र्य का अनुमान हो सकता है, परन्तु किस कर्म से कौन फल होता है, इसका निर्णय अनुमान से नहीं होता। जब जीवों के जन्मारम्भक कर्मों को जानने के लिये शास्त्रों के प्रामाण्य की अपेक्षा है, जब शास्त्रप्रामाण्य मान्य है, तब तो फिर प्राणि-कल्याणार्थ अचिन्त्य, दिव्य लीलाशक्ति से ही प्रभु का दिव्य जन्म कर्म हो ही सकता है। इसपर किसी का कहना है कि मधुसूदन स्वामी ने माना है कि अवतार नहीं होता, किन्तु भक्त की भावना से ही विधुरपरिभावित-कामिनी-साक्षात्कार के समान कृष्ण आदि का स्वरूप दिखलायी पड़ता है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥"

इस 'गीता' के मूल वचन से अज, अव्यय ईश्वर का माया के द्वारा जन्म सिद्ध होता है और मधुसूदन भी—

"वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।।"

इस तरह श्रीकृष्ण के विषय में अपना अभिप्राय प्रकट कर रहे हैं।

जहाँ भी कहीं आचार्यों ने भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया है, वहाँ यही कहा है कि भगवान् वस्तुतः अज, सर्वभूतान्तरात्मा होते हुए भी अपनी दिव्यलीला-शक्ति से देहवान् होकर प्रस्फुरित होते हैं। जैसे घृतवर्तिका के सम्बन्ध से निराकार अग्नि ही दाहकत्व, प्रकाशकत्वविशिष्ट दीपशिखा के रूप में अभिव्यक्त होता है, वैसे ही निराकार भगवान् लीलाशक्ति के सम्बन्ध से साकार होकर प्रतीत होते हैं। जैसे घृत-वर्त्तिकादि तटस्थ रहकर ही दीपशिखा का कारण बनते हैं, दीपशिखा के भीतर, बाहर शुद्ध अग्नि ही है, वैसे ही लीलाशक्ति तटस्थ हो रहती है, भगवान् के स्वरूप में भीतर, बाहर शुद्ध चिदानन्द ही है, किंवा जैसे निर्मल जल ही बर्फ के रूप में शैत्य-सम्बन्ध से प्रकट होता है, वैसे ही अचिन्त्य, विशुद्ध सत्व के सम्बन्ध से सच्चिदानन्द ब्रह्म साकार हो जाता है। जिस तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अनिर्वचनीय माया के आध्यासिक सम्बन्ध से नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्चरूप से प्रकट होता है, उसी तरह विशुद्ध सत्त्व के आध्यासिक सम्बन्ध से ब्रह्म साकार देहधारी हो जाता है। कम-से-कम आकाशादि प्रपञ्च के समान तो अवश्य ही साकार ब्रह्म का अस्तित्व कट्टर से कट्टर वेदान्ती को मान ही लेना चाहिये। वैसे तो बाध्यत्व, मिथ्यात्व, अबाध्यत्व, सत्यत्व को लेकर चलें, तो शुक्ति-रूप्य आदि की अपेक्षा अबाध्य घटादि कार्यों का सत्यत्व है, मृत्तिका की अपेक्षा घटादि में बाध्यता होने से मिथ्यात्व है, तदपेक्षया मृत्तिका में अबाध्यत्व होने से सत्यत्व है। इसी तरह अपर जल, तेज, वायु, आकाश आदि में कार्य्य की अपेक्षा कारण में सत्यत्व और कारण की अपेक्षा कार्य्य में मिथ्यात्व होता है। इस दृष्टि से पारमार्थिक सत्तापेक्षया किञ्चिन्न्यूनसत्ताकत्व ही उस दिव्य शक्ति का व्यावहारिकत्व है। तथाच ब्रह्म में पारमार्थिक दृष्टि से अजायमानता रहने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से जायमानता हो सकती है।

समान सत्तावाले भाव-अभाव का ही विरोध होता है, विषम सत्तावाले भाव-अभाव का विरोध नहीं होता, अतएव वे दोनों एक जगह भी रह सकते हैं। इसीलिये एक शुक्तिका में व्यावहारिक सत्ता से रूप्य का अभाव और प्रातिभासिक सत्ता से रूप्य का भाव रहने में कोई भी विरोध नहीं है। इसी दृष्टि से परमात्मा में पारमार्थिक सत्ता से जन्माभाव दृष्टि से जन्म का भाव रहने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इस-पर कहा जा सकता है कि दृष्टि-सृष्टिवाद की दृष्टि से अवतार कथमपि नहीं सिद्ध होता। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टि-सृष्टिवाद में भी आकाशादि प्रपञ्च का सत्त्व है। कम-से-कम साकार ब्रह्म का उतना अस्तित्व तो मानना ही होगा। सर्वव्यापि विधुरपरिभावितकामिनी-साक्षात्कार से कृष्ण-साक्षात्कार विलक्षण है। जब विधुरपरि-

भावितकामिनी-साक्षात्कार की अपेक्षा कामिनी का साक्षात्कार विलक्षण है, फिर कृष्ण-साक्षात्कार विलक्षण क्यों नहीं ? सारांश यह कि किसी भी दृष्टि से व्यवहार का उपपादन करना पड़ता है। **"व्याघातावधिराशङ्का"** लोकव्याघात ही शङ्का की अवधि है। प्रपञ्च के स्वरूप निषेध-पक्ष में भी श्रवण, मनन, साक्षात्कार आदि चीजों का उपपादन करना पड़ता है। फिर जब उन वस्तुओं का उपपादन करना है, तब तो अवतार का उपपादन ठीक ही है। फिर 'दृष्टिसृष्टिवाद में अवतार नहीं बनता' यह कथन ही व्यर्थ है। जब उस पक्ष में आकाशादि प्रपञ्च ही नहीं बनता, तब अवतार नहीं बनता, यह विशेषोक्ति व्यर्थ है। यदि किसी दृष्टि से जीव, जगत्, ईश्वर ही न बनता हो, तो उस पक्ष में अवतार भी न बने तो कोई दोष नहीं है। विचार तो ईश्वर के अवतार का है, जो ईश्वर ही नहीं सिद्ध करता, वह अवतार क्यों मानेगा ? वस्तुतः **"बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति"** (अल्पश्रुत से वेद डरता है कि मुझपर यह प्रहार करेगा) शास्त्रों के भिन्न-भिन्न वादों का आचार्य्य-परम्परा से बिना अध्ययन किये उनका अभिप्राय नहीं लगता। प्राणी शास्त्र-वचनों से ही अपना अनर्थ कर बैठता है।

कुछ लोग—

"मायाख्यायाः कामधेनोर्जीवेशौ वत्सकावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि॥"

माया नाम की कामधेनु के जीव, ईश्वर दोनों बछड़े हैं। यथेच्छ द्वैत को ही पीयें, तत्त्व तो अद्वैत ही है। इन वचनों को पढ़कर उपासना की तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। कोई 'जीव-कल्पित ईश्वर है' वाचस्पति के इस मत को देखकर ईश्वर की खिल्ली उड़ाने लगते हैं। सीधी बात तो यह है कि काञ्चन-कामिनी या रोटी-दाल को तो सच्चा मानकर प्राणी उनमें आसक्त है, परन्तु भगवान् के मिथ्यात्व का ही आग्रह उसे कल्याणकारक मालूम पड़ता है। वस्तुतः 'रामायण' के राम, 'भागवत' के कृष्ण, 'विष्णुपुराण' के विष्णु, 'शिव, स्कन्द पुराणादि' के शिव केवल आभास नहीं हैं, किन्तु अधिष्ठानभूत ब्रह्म ही इन स्थलों में विष्णु आदि नामों से कहा गया है। जहाँ माया में आभास ईश्वर, अविद्या में चैतन्य का आभास जीव, यह पक्ष माना गया है, उस पक्ष में भी केवल आभास ईश्वर आदि नहीं है, किन्तु अधिष्ठानसहित ही आभास ईश्वरादिरूप में मान्य है। भागवतादि में अधिष्ठानप्रधान ब्रह्मरूप को ही कृष्ण, राम माना गया है। अतएव **"एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः"** इत्यादि वचनों से भगवान् को पुराणपुरुषोत्तम, सत्य, स्वयंज्योति कहा गया है। **'रामायण'** में राम को माया का आश्रय और विषय दोनों ही कहा गया है। यही स्थिति **'विष्णुपुराण', 'शिवपुराण'** के शिव, विष्णु आदि स्वरूपों की है।

'श्रीभागवत' में भगवान् के स्वरूपों को मायातीत, अनन्त सच्चिदानन्द रूप कहा गया है—

"सत्यज्ञानानन्तानन्दैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥"

श्रीशङ्कराचार्य्य भी कहते हैं कि जिसने ब्रह्मा को अद्भुत, अनन्त ब्रह्माण्ड दिखलाया और वत्सों सहित गोपों को अनेक विष्णुरूप में दिखलाया, शम्भु ने जिनके चरणावनेजन को अपने शिर पर रखा, वह कृष्ण मूर्तित्रयातीत कोई अविकृत चिदानन्दघन ही हैं—

"ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान् ।
गोपान् वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः ॥
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात् ।
कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा ॥"

महात्मा तुलसीदास भी कहते हैं—व्यापक, निरञ्जन, निर्विकार परमात्मा ही कौशल्या की गोद में रामचन्द्र होकर प्रकट होते हैं—

"व्यापक ब्रह्म निरञ्जन, निर्गुण बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्या के गोद ॥"

अघासुर के मुख में कृष्ण-प्रवेश को 'भागवत' ने शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही प्रवेश माना है। बछड़ों और ग्वाल-बालों के अघासुर के मुख में समाविष्ट होने पर कृपामय भगवान् आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र भी उसके मुख में प्रविष्ट हुए। प्रभु ने जिस समय अपनी महिमा से अघासुर को मार दिया, अमृतवर्षिणी कृपादृष्टि से ग्वाल-बालों को जिलाया, उसी समय अघासुर के शरीर से एक ज्योति निकली और कृष्ण के स्वरूप में प्रविष्ट हो गयी। यह सुनकर परीक्षित् को आश्चर्य हुआ कि गो-ब्राह्मण-मांस-रुधिराशी अघासुर को ऐसी दुर्लभ गति क्यों और कैसे मिली ? इसपर शुक्राचार्य भगवान् बोले—

"सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहितां मनोमयीं भागवतीं ददौ गतिम् ।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः ॥"

अर्थात् जिनके श्रीअङ्ग की मङ्गलमयी मानसी प्रतिमा को सौभाग्यशाली लोग एक बार भी हृदय में रखकर भागवती गति को पा जाते हैं, फिर माया से असंस्पृष्ट, नित्य, चिदानन्दात्मा वह भगवान् ही जिसके अन्दर प्रविष्ट हो गये, फिर उसे भागवती गति प्राप्त कर लेने में क्या आश्चर्य है ? अतएव प्रभु के प्रादुर्भाव का प्रयोजन भी धर्मग्लानि-अधर्मभ्युत्थाननिवृत्तिपूर्वक धर्मस्थापन, साधुपरित्राण, दुष्कृति-विनाश के अतिरिक्त अमलात्मा परमहंसों को भक्तियोग विधान करना है।

प्रकृति-प्राकृत-प्रपञ्चातीत, शुद्ध परब्रह्म कृष्ण ही दिव्य लीलाशक्ति के योग से सगुण, सच्चिदानन्दरूप में प्रकट होकर योगीन्द्र, मुनीन्द्रों के निर्मल मनों को आकर्षित करते हैं। प्रकृति या प्राकृतप्रपञ्च उन सत्यानृत-विवेकी अमलात्मा

परमहंसों का मन नहीं खींच सकते, अतएव उनका भजनीय शुद्ध ब्रह्म ही है। भेद इतना ही है कि जैसे इक्षुरस का ही परिणाम सिता, शर्करा, कन्द की मिठास इक्षुरस से विलक्षण होती है, वैसे ही शुद्ध सच्चिदानन्द से तत्त्वतः अपृथक् होने पर भी भगवान् का सगुण स्वरूप अद्भुत चमत्कारपूर्ण होता है। जैसे इक्षुदण्ड में दैवात् मीठा फल लग जाय या चन्दन-वृक्ष में मनोहर पुष्प लग जाय, वैसे ही परमानन्द-रसरूप निर्गुण ब्रह्म में सगुण, साकार ब्रह्म का होना है। यही तो कारण है कि निर्गुण ब्रह्मानुभवी जनकादिकों का चित्त भी रामचन्द्र के सगुण, साकार स्वरूप पर मुग्ध हो गया था—

"इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा॥
सहज बिरागरूप मन मोरा।
थकित होत जिमि चन्द्र-चकोरा॥"

जैसे केवल नेत्र से सूर्य्य-दर्शन की अपेक्षा दूरवीक्षण यन्त्रोपहित नेत्र से सूर्य्य-दर्शन में चमत्कार होता है, वैसे ही केवल निर्मल अन्तःकरण से ब्रह्म देखने की अपेक्षा पवित्र अन्तःकरण से लीलाशक्ति द्वारा साकार रूप में प्रकट भगवान् के दर्शन में विलक्षणता होती है। निरुपाधिक स्वरूप निरतिशय है, इसमें भी कोई बाधा नहीं। यद्यपि अन्यान्य प्रपञ्च भी ब्रह्म का ही परिणाम या विवर्त्त है, तथापि वह तामसी, राजसी प्रकृति—रजस्तमोलेशानुविद्ध सत्त्वात्मिका प्रकृति से आवृत रहता है। भगवत्स्वरूप विशुद्ध सत्त्वात्मिका योगमाया या दिव्य लीलाशक्ति से साकार रूप में प्रकट ब्रह्म निरावरण ही रहता है। जैसे दूरवीक्षणादि नेत्र और सूर्य्य के मध्य में रहकर सूर्य्य-स्वरूप-दर्शन में सहायक होता है, अन्य पाषाणादि सूर्य्य-दर्शन का प्रतिबन्धक हो जाता है, वैसे ही दिव्य लीलाशक्ति परमात्म-स्वरूप-दर्शन में सहायक होती है, अन्य राजसी, तामसी शक्तियाँ प्रतिबन्धक होती हैं।

कोई लोग तो प्रकृति से पृथक् ही भगवान् की अन्तरङ्गा शक्ति मानते हैं, कोई महाशक्ति के अन्तर्गत होने पर भी उसे दिव्य मानते हैं। जैसे गुलाब के बीज में कण्टक, पत्र, नाल, स्कन्धादि की उत्पादिनी शक्ति से सौन्दर्य्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य-सम्पन्न फूल के उत्पन्न करने की शक्ति विलक्षण होती है, वैसे ही प्रपञ्चोत्पादिनी अन्यान्य शक्तियों की अपेक्षा सगुण, साकार भगवान् के प्राकट्यानुकूला लीलाशक्ति में चमत्कारपूर्ण विलक्षणता रहती है। सारांश यह है कि शुद्ध परब्रह्म ही निराकार रूप से ही सगुण, साकार रूप में प्रकट होते हैं। तभी उनको भाव, कुभाव, अनख, आलस किसी तरह से भी भजने से प्राणियों की सद्गति हो जाती है। इसीलिये कहा है—

"नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतः प्रभो।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥" (भाग०)

अर्थात् प्राणिमात्र के कल्याणार्थ अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण, गुणान्तरात्मा भगवान् का साकार स्वरूप में प्राकट्य होता है। इस स्वरूप में काम, क्रोध, स्नेह, किसी तरह भी चित्त लगाने से प्राणी का कल्याण हो जाता है—

"कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥"

ठीक ही है, जैसे कोई चिन्तामणि को दीपक समझकर उसे लेने चले, तो भी वहाँ दीपक नहीं, किन्तु चिन्तामणि ही मिलेगी, वैसे परात्पर, पूर्णतम, पुरुषोत्तम, शुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्म को कोई जार समझकर, कोई शत्रु, मित्र, कुछ भी समझकर प्रवृत्त हों, परन्तु वहाँ मिलेगा शुद्ध परब्रह्म परमात्मा ही, प्राकृत वस्तु की प्राप्ति नहीं होगी। अतएव कुछ व्रजाङ्गनाएँ जारबुद्धि से भी कृष्ण को भजकर मुक्त हो गयीं–

"तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्याऽपि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥" (भाग०)

पति, भ्राता आदि से अवरुद्ध होने के कारण कुछ व्रजाङ्गनाएँ मदनमोहन के वेणुनाद से आकर्षित होने पर वृन्दावनचन्द्र कृष्णचन्द्र के पास न जा सकीं। वे कृष्ण की भावना से भावित-मनस्का होकर, आँख मींचकर वहीं ध्यान करने लगीं। प्रियतम कृष्ण के दुःसह विरहजन्य तीव्रताप से उनके अशुभ कर्म विधूत हो उठे और ध्यानप्राप्त अच्युत के आश्लेष (परिरम्भण)-जन्य आनन्दोद्रेक से सम्पूर्ण शुभ कर्मों का भी फल समाप्त हो गया। अथवा उनके दुःसह, प्रेष्ठ-विरहजन्य तीव्रताप से विश्व के ही अशुभ कर्म कांप उठे और ध्यानप्राप्त अच्युत के आश्लेष से संसार के सम्पूर्ण मङ्गल अपने को कम जानकर दुर्बल हो गये। इस तरह सद्यःप्रक्षीणबन्धना होकर जारबुद्धि से भी उन्हीं परमात्मा को प्राप्त होकर वह व्रजाङ्गनाएँ गुणमय पञ्चकोशों या तीनों देहों से मुक्त हो गयीं।

भावुकों ने तो इस सगुण स्वरूप के चिन्तन को सरल, सुगम, श्यामीभूत ब्रह्म ही बतलाया है। अद्वैतसिद्धिकार का ही कहना है कि जो लोग निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्म की उपासना, ध्यानाभ्यासवशीकृत मन से, करते हैं, वे करें, पर मेरे तो लोचन-चमत्कार के लिये वही तत्त्व प्रस्फुरित हो, जो कालिन्दी-पुलिन में श्यामतेज रहता है—

"ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसातन्निर्गुणं निष्क्रियम्।
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदिपरं पश्यन्ति पश्यन्तु ते॥
अस्माकन्तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥"

किन्हीं भावुकों ने व्रजाङ्गनाओं के पुञ्जीभूत प्रेम को ही कृष्ण माना है, किन्हीं ने यदुओं के मूर्तीभूत भागधेय को ही कृष्ण माना है, श्रोत्रियों ने श्रुतियों के गुप्त वित्त को ही श्यामीभूत ब्रह्म कृष्ण माना है—

"पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् ।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥"

किसी का कहना है कि पूर्णानुरागरससार-सरोवरसमुद्भूत पङ्कज श्रीकृष्ण है, किसी ने कहा, नहीं, सच्चिदानन्दरससार-सरोवर से ही इस कृष्ण-कुवलय का प्राकट्य हुआ है। वह ऐसा कुवलय है कि भृङ्गों (भक्तमनोमिलिन्दों) ने अभी तक उसका आघ्राण किया ही नहीं। चाहे ऐसा कह लें कि यद्यपि वे अनादि काल से ही उस कृष्ण के सौन्दर्य-कुवलयमधु का पान कर रहे हैं, तथापि उन्हें प्रतिदिन, प्रतिक्षण उसमें नवीनता का ही स्फुरण होता है अर्थात् प्रतिक्षण ही उसमें नवीनता का ही भान होता रहता है—**"तस्याङ्घ्रियुगं नवं नवम्"** इसी तरह कवीन्द्ररूप अनिलों ने अभी तक इस कुवलय के यशःसौरभ का अपहरण नहीं किया अर्थात् उन्हें भी नवीनता ही की स्फूर्त्ति होती है। ऊर्मीकणभरों से—सांसारिक षडूर्मियों से—यह कुवलय आहत नहीं हुआ। इतना ही क्यों, आज तक किसी ने इसे देखा भी नहीं है—

"अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलैः,
अनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः ।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तद्भवत् ॥"

देवकी ने मुक्त मुनीन्द्रों का अन्वेष्टव्य एक अद्भुत फल उत्पन्न किया, व्रजेन्द्र-गेहिनी नन्दरानी ने उसे पाला, श्रीव्रजसीमन्तियों ने उस फल का अनुभव किया—

"मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति ।
तत्पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः ॥"

सच्चिदानन्द परब्रह्म का सगुण, साकार रूप होता है, यह 'केनोपनिषद्' में भी प्रसिद्ध है। देवासुर-सङ्ग्राम में परमेश्वर के अनुग्रह से देवताओं को जय मिली, परन्तु देवताओं ने समझा कि हमारे ही परिश्रम का यह फल हुआ। भगवान् ने समझ लिया कि यदि इन्हें भी गर्व हुआ तो असुरों से इन देवताओं में अन्तर ही क्या रह जायगा? **"असुषु प्राणोपलक्षितेषु अनात्मसु रमन्ते ये ते असुराः, अथवा अशोभने अनात्मनि रमन्ते ये ते असुराः ॥"** अर्थात् अशोभन अनात्मा में रमण करने-वाले असुर कहलाते हैं। भगवान् यह सोचकर परम प्रकाशमय सगुण, साकार, दिव्य रूप में प्रकट हुए। उस स्वरूप को देखते ही देवता घबड़ाये और 'सपक्ष का है या विपक्ष का' यह जानने के लिये अग्नि, वायु और इन्द्र को भेजा। अग्नि, वायु उस परमात्मा के सामने एक तृण भी उठाने एवं जलाने में समर्थ न हुए। दोनों देवताओं के लौटने पर इन्द्र गये। इन्द्र को आते देखते ही वह प्रभु अन्तर्हित हो गये। इन्द्र लज्जित होकर वहीं उस स्वरूप की जिज्ञासा से तप करने लगे। बहुत दिनों के तप से भगवती उमा (ब्रह्मविद्या) प्रकट हुईं और उन्होंने ब्रह्म का परिचय कराया।

ब्रह्मज्ञानी होने से ही देवताओं में अग्नि, वायु, इन्द्र प्रधान हैं। उनमें भी इन्द्र ने पहले ब्रह्म का परिचय प्राप्त किया, अतः वही श्रेष्ठ माने गये हैं। **"ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये"** इत्यादि श्रुतियों में यह बातें स्पष्ट हैं। **'छान्दोग्य'** में भी सूर्य्यमण्डलान्तर्गत एक हिरणमय, हिरण्यश्मश्रु, तेजोमय परम पुरुष का वर्णन आता है। वह भी सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही सगुण, साकार रूप है। यह बात उत्तरमीमांसा के **"अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्"** इस सूत्र में भी स्पष्ट है। आचार्य्य श्रीशङ्कर भगवान् कहते हैं कि परमात्मा का माया (विशुद्ध सत्त्व) के योग से विग्रह बन सकता है। यद्यपि वह भूतगुणों शब्दादि से युक्त प्रतीत होता है, तथापि वह शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। शब्दादिमत्ता की प्रतीति उसमें भ्रान्ति हो है। **'कैवल्योपनिषद्'** में **"उमासहायं परमेश्वरं विभुं"** इस वचन से भी उमा-महेश्वर का स्वरूप वर्णित है।

"अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे। पृथिव्याः सप्तधामभिः" इस मन्त्र में बतलाया गया है कि विष्णु गायत्र्यादि सप्त छन्दों द्वारा देश पर विविध क्रमण–चरण-विन्यास करते हैं। **"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। समूढमस्य पांसुरे"।** इस मन्त्र से ज्ञात होता है कि त्रिविक्रमावतारधारी ने इस प्रतीयमान विश्व को अपने चरणों से आक्रान्त किया है, अपने चरण से तीन प्रकार से पाद-विन्यास किया है। इन विष्णु के धूलियुक्त पादस्थान में सम्पूर्ण विश्व अन्तर्भूत होता है। **"त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्"** इसमें भी कहा गया है कि किसी के द्वारा जिसकी हिंसा नहीं हो सकती, उस सर्वजगत् के रक्षक विष्णु ने अग्निहोत्रादि कर्मों का पोषण करते हुए पृथिव्यादि स्थानों में अपने तीन पदों से क्रमण किया। इस तरह अनेक श्रुतियों में परमात्मा के सगुण, साकार रूप का वर्णन है। **"प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा"** यहाँ भी कहा है कि प्रजापति गर्भ के भीतर आता है, वह स्वरूप से अज होकर भी अनेक रूपों से प्रकट होता है, उसके प्राकट्य का धर्मरक्षणादि प्रयोजन धीर लोग जानते हैं। **"या ते रुद्र शिवा तनूरघोरा पापकाशिनी। तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभि चाकशीहि॥"** **"नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः"** इत्यादि अनेक स्थानों में परमेश्वर का ही नीलकण्ठ महादेवरूप में वर्णन मिलता है।

"एषो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥"

इस मन्त्र में कहा गया है कि यही ईश्वर सब दिशाओं में व्याप्त होकर, पहले गर्भ में रहकर प्रकट हुआ, वही सर्वतोमुख परमेश्वर पहले अनेक रूप से उत्पन्न हुआ है और आगे भी उत्पन्न होगा।

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥"

इस श्लोक पर निम्नलिखित अभिप्राय केशव काश्मीरी का है—'**यद्यपि मैं अज हूँ** अर्थात् जीवों के समान कर्मनिमित्त अपूर्व देह-ग्रहण नहीं करता, अव्ययात्मा=पूर्वदेहवियोग-रहित हूँ, तथापि अपनी प्रकृति (स्वभाव)—असङ्गत्व, अजेयत्व, अनतिक्रमणीयत्वादि को न छोड़कर ही अपनी माया—सङ्कल्प से लोकहितार्थ जन्म लेता हूँ।' इस व्याख्यान में 'प्रकृति' का अर्थ स्वभाव और "माया तु वयुनं ज्ञानम्" इस 'निघण्टु'-वचन से 'माया' का अर्थ ज्ञान लिया गया है। '**अजायमानो बहुधा विजायते**' इस श्रुति से भी यही सिद्ध किया गया है। "**आनन्दरूपममृतं यद्विभाति**", "**आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्**", "**हिरण्यकेशः हिरण्यश्मश्रुः आप्रणखाग्रात् सुवर्णः**" इत्यादि श्रुतियों से भगवान् का सगुण स्वरूप मालूम पड़ता है। "**यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः। मुखं तस्यावलोक्याऽपि सचैलं स्नानमाचरेत्॥ स सर्वस्माद्बहिष्कार्य्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।**" "**न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः।**" "**अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि**" इत्यादि 'भारत', 'भागवत' आदि के वचनों से भी भगवान् के स्वरूप को अभौतिक कहा गया है, भौतिक माननेवाले को पातकी बतलाया गया है।

मधुसूदनजी कहते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वर को धर्माधर्म न होने से उनका जन्म नहीं बन सकता। नये देहेन्द्रियादि का ग्रहण जन्म और पूर्वगृहीत का वियोग मृत्यु कहलाता है। यह दोनों ही बातें अज, अव्यय परमात्मा में सम्भव नहीं हैं। यदि ईश्वर का शरीर स्थूल भूतकार्य्य हो या व्यष्टिरूप हो, तो जाग्रदवस्थाभिमानी जीवों के तुल्य ही ईश्वर भी होगा। समष्टिरूप हो, तो विराट् जीवरूप होगा। यदि सूक्ष्मभूत का कार्य्य है, या व्यष्टिरूप है, तो स्वप्नावस्थाभिमानी होगा और यदि समष्टिरूप हो, तो हिरण्यगर्भ है। परमेश्वर का भौतिक स्वरूप जीवाविष्ट हो ही नहीं सकता।

कुछ लोग कहते हैं कि जीवाविष्ट शरीर में ही 'भूतावेशन्याय' से ईश्वर का प्रवेश होता है। परन्तु, यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि इस शरीर में जीव को ही सुख-दुःखादि भोग होता है, ईश्वर को नहीं, तब तो अन्तर्य्यामीरूप से सर्वत्र ही परमेश्वर का प्रवेश सिद्ध है, फिर ऐसा शरीर-विशेष स्वीकार करना व्यर्थ ही है। यदि उस शरीर में जीव का भोग नहीं बनता, तब तो उसे जीवशरीर भी नहीं कहा जा सकता, अतः ईश्वर का भौतिक शरीर कथमपि नहीं बन सकता। इन्हीं बातों का निराकरण करते हुए भगवान् कहते हैं कि 'मैं अज और अव्यय होता हुआ भी, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त प्राणियों का ईश्वर होकर भी, अपनी विचित्र शक्तिवाली अघटितघटनापटीयसी उपाधिभूत माया को अपने चिदाभास से वशीभूत करके माया के परिणामविशेषों से ही देहवान् के समान उत्पन्न-सा प्रतीत होता हूँ। अनादि माया ही यावत्कालस्थायी होने से नित्य कहलाती है। वही मुझमें जगत्कारणता-

सम्पादन करती है। वह मेरी इच्छा से ही प्रवर्तमान होकर विशुद्ध सत्त्वमयी मेरी मूर्ति कहलाती है। उस मूर्ति से विशिष्ट मुझमें अजत्व, अव्ययत्व, ईश्वरत्व उपपन्न हो जाता है।' अतएव श्रुति कहती है—"**आकाशशरीरं ब्रह्म**" आकाश अर्थात् माया ही भगवान् का शरीर है। यहाँ शङ्का हो सकती है कि भौतिक शरीर न होने पर भगवान् में मनुष्यत्वादि-प्रतीति कैसे होगी? इसका समाधान यह है कि आत्ममाया (भगवान् की माया) से ही लोकानुग्रह के लिये भगवान् में मनुष्यत्वादि-प्रतीति होती है। यही बात 'मोक्षधर्म' में लिखी है—

> "**माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।**
> **सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि॥"**
> "**नैतत्त्वयेति विज्ञेयं रूपवानिति दृश्यते।**
> **इच्छन्मुहूर्त्तान्नश्येयमीशोऽहं जगतः प्रभुः॥"**

अर्थात् हे नारद! मुझ कारणोपाधि परमेश्वर को जो भूतगुण—शब्दादि से युक्त देख रहे हो, यह मेरी माया ही है। मुझ कारणोपाधि को कोई चर्मचक्षु से नहीं देख सकता।

कुछ लोग परमेश्वर में देह-देहि-भाव ही नहीं मानते। उनका कहना है कि सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, परिपूर्ण परमात्मा ही भगवान् का देह है। भगवान् से पृथक् भौतिक या मायिक उनका कोई भी विग्रह नहीं है। "**आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः**", "**अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा**" इत्यादि श्रुतियों और "**असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेर्नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः**" इत्यादि सूत्रों से यही विदित होता है कि वस्तुतः भगवान् जन्म-विनाशरहित, सर्वभासक, सर्वकारण, माया का अधिष्ठान होने से सर्वभूतों के ईश्वर होकर भी अपने एकरस, सच्चिदानन्दघन स्वभाव में ही अवस्थित रहकर देह-देहिभाव के बिना ही देहिवत् व्यवहरण करते हैं। अदेह सच्चिदानन्दघन में देह की प्रतीति कैसे होती है? इसका उत्तर "**आत्ममायया**" से ही दे दिया है। निर्गुण, शुद्धरस, देहदेहिभावशून्य भगवान् में देहरूप से प्रतीति मायामात्र है। यही 'श्रीमद्भागवत' में भी—

> "**कृष्णमेनमवेहित्वमात्मानमखिलात्मनाम्।**
> **जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥"**
> "**अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।**
> **यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥"**

इत्यादि वचनों से यह स्पष्ट कहा गया है कि सम्पूर्ण प्राणियों के अन्तरात्मा श्रीकृष्ण ही हैं, वे ही अपनी माया से जगत् के हित के लिये देहवान् से प्रतीत होते हैं। नन्दगोपव्रजवासियों का लोकोत्तर सौभाग्य था कि पूर्ण सच्चिदानन्दघन उनका मित्र होकर प्रकट हुआ था।

उत्तर चरित्र

इसी तरह जब शुम्भ और निशुम्भ ने पराक्रम से इन्द्र से त्रैलोक्य छीन लिया; यज्ञ भाग भी स्वयं लेना प्रारम्भ कर दिया; सूर्य, चन्द्र तथा कुवेर, वरुण का पद स्वयं ले लिया, तब सब देवता पराजित और भ्रष्टराज्य होकर अपराजिता भगवती का स्मरण करने लगे। माता ने वरदान दिया है कि आपत्ति में जब भी आप लोग हमारा स्मरण करेंगे, मैं तत्क्षण आप सबकी आपत्तियों को दूर करूँगी, यह सोचकर सब देव हिमाचल पर जाकर विष्णुमाया की स्तुति करने लगे। वहाँ उन्होंने देवी, महादेवी, शिवा, प्रकृति, भद्रा, रौद्रा, नित्या, गौरी, धात्री, ज्योत्स्ना, इन्दुरूपिणी, सुखा, कल्याणी, वृद्धि, सिद्धि, नैर्ऋति, शर्वाणी, दुर्गा, दुर्गपारा, सारा, सर्वकारिणी, ख्याति, कृष्णा, धूम्रा, अतिसौम्या, अतिरौद्रा, जगत्प्रतिष्ठा, कृति, विष्णुमाया, चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, शक्ति, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, माता, भ्रान्ति, व्याप्ति, चितिरूप से भगवती को प्रणाम किया। निर्गुणा, सगुणा तथा सगुणा में भी सात्त्विकी, राजसी, तामसी भेद से सब शक्तियाँ भगवती में ही अन्तर्भूत हो जाती हैं। देवता स्तुति कर ही रहे थे कि हिमाद्रि-कन्या पार्वती जाह्नवी में स्नान करने आयीं। देवताओं से उन्होंने प्रश्न किया कि **"आप किस देवता की स्तुति कर रहे हैं ?"** देवताओं का उत्तर देना ही था कि तब तक पार्वती के ही शरीर से प्रकट होकर शिवा भगवती ने पार्वती से कहा कि **"शुम्भ से निराकृत होकर ये सब हमारी ही स्तुति कर रहे हैं।"** पार्वती के शरीर-कोश से निकली हुई अम्बिका लोक में 'कौशिकी' नाम से प्रसिद्ध हुईं। कौशिकी के निकलने पर पार्वती कृष्णवर्ण की हो गयीं। तभी से वह **'कालिका'** कहलाने लगीं। परमरूपवती कौशिकी अम्बिका को कभी शुम्भ-निशुम्भ के सेवक चण्ड-मुण्ड ने देखा और जाकर अपने स्वामी से उसके रूप की प्रशंसा की और उसे स्वाधीन बनाने की सलाह दी। शुम्भ-निशुम्भ ने दूत भेजकर कहलाया कि **"हमारी आज्ञा सर्वत्र अप्रतिहत है, संसार के सब रत्न, ऐरावत, उच्चैःश्रवा आदि हमारे पास हैं, तुम भी स्त्रीरत्न हो, हम रत्नभुक् हैं, अतः तुम भी हमारे पास आओ, हमारे पास आने से तुम्हें परमैश्वर्य्य प्राप्त होगा।"**

भगवती ने गम्भीर स्मित के साथ कहा—

"ठीक है, परन्तु मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे संग्राम में जीत लेगा, मेरा दर्प दूर करेगा, मेरे समान बलवान् होगा, वही मेरा भर्त्ता होगा। अतः शुम्भ या निशुम्भ कोई भी आकर मुझे जीतकर पाणिग्रहण कर ले"—

"यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति ॥

का अजत्व, अव्ययत्व तो **"न त्वेवाहं जातु नासं"** इत्यादि श्लोकों से पहले ही कहा जा चुका है। **"भूतानामीश्वरोऽपि सन्"** इस अंश से देहविशिष्ट परमेश्वर का ही ईश्वरत्व सिद्ध किया गया है, अन्यथा देहादि से निकृष्ट अस्मदादि भी ईश्वरत्व तत्त्वमस्यादि वचनों से स्पष्ट ही है। आदित्यान्तर्यामी परमेश्वर का हिरण्यश्मश्रुत्वादि-विशिष्ट देह जन्म-मरणवाला है यह कोई नहीं कह सकता, क्योंकि फल की पराकाष्ठा हिरण्यगर्भ-देह की प्राप्ति ही है, हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्ट स्वरूप तो अकर्मज होने से नित्य ही है।

कुछ लोगों का कहना है कि **"पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत। अत्यतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि। अहमेवेदं सर्वं स्याम्। इति स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतु-मपश्यत्"** इत्यादि 'शतपथ' के वचन से मालूम होता है कि पञ्चरात्राख्य कर्मविशेष का फल ही नारायण का सर्वभूतातिक्रमणलक्षण ईश्वरत्व है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ 'नारायण' शब्द से हिरण्यगर्भ ही विवक्षित है। स्वभाव से ही पूर्णकाम परमेश्वर में कामना नहीं हो सकती। कहा जा सकता है कि **"सोऽकामयत"** इत्यादि वचनों से परमेश्वर में भी कामना प्रसिद्ध है। परन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि **"आप्तकामस्य का स्पृहा"**, **"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"** इत्यादि श्रुति-सूत्रों से निष्काम परमेश्वर में भी लीला से ही अनन्त ब्रह्माण्ड का सर्जन कहा गया है, अतः भगवान् का शरीर कर्मफल नहीं है, अतएव भौतिक भी नहीं है, क्योंकि विराट् और सूत्रात्मा से अतिरिक्त भौतिक शरीर नहीं होता। यहाँ शङ्का होती है कि फिर भगवद्विग्रह का उपादान क्या है ? अविद्या उपादान है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप परमात्मा में अविद्या का होना सम्भव नहीं है। जीव को अविद्या भगवान् के शरीर का उपादान है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसी स्थिति में भगवच्छरीर को शुक्ति-रजतादि की तरह कल्पित ही कहना पड़ेगा। शुद्ध चैतन्य ही भगवान् का शरीर है, यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बोध या चैतन्य की साकाररूप से प्रसिद्धि नहीं है। यदि कथञ्चित् चैतन्य को ही भगवान् का शरीर मान लिया जाय, तो चैतन्य के समान ही भगवद्विग्रह भी अतीन्द्रिय होगा। ऐसी स्थिति में प्रश्न बना रहता है कि भगवान् के विग्रह का उपादान क्या है ? इसके उत्तर में नीलकण्ठजी कहते हैं कि भगवान् अपनी प्रकृति का ही आश्रय लेकर आत्ममाया से प्रकट होते हैं। जीवात्मा अनात्मभूता तेजोवन्नात्मिका या पञ्च-भूतात्मिका प्रकृति का सहारा लेकर जन्म ग्रहण करता है, भगवान् प्रत्यक्चैतन्य से अभिन्न स्वरूपभूत का ही सहारा लेकर अर्थात् किसी दूसरे उपादान की अपेक्षा न करके ही अपनी माया से देव, मनुष्यादिरूप में प्रकट होते हैं। जैसे कोई मायावी स्वयं अपने स्थान से अप्रच्युत स्वभाव रहकर ही अदृश्य होकर, स्थूल-सूक्ष्म भूतों को बिना गृहीत किये ही, केवल माया से सूत्रमार्ग से आकाश पर चढ़ते हुए अपने सदृश ही एक दूसरे मायावी को रचता है, ठीक वैसे ही कूटस्थ चिन्मात्र भगवान् अपनी माया से

चिन्मय शरीर को रचते हैं, सूत्रारोहण के समान बाल-यौवनादि अवस्थाओं को दिखलाते हैं। मायावी और भगवान् में इतना ही भेद होता है कि मायावी माया का उपसंहरण करता हुआ दूसरे मायावी का भी उपसंहार कर लेता है, भगवान् माया और विग्रह दोनों का ही उपसंहरण नहीं करते। इसी दृष्टि से हिरण्यश्मश्रुत्वादि-विशिष्ट चैतन्य को **"अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्"** इस सूत्र से वियदादि का उपादान और सर्वेश्वर बतलाया गया है। अतएव अन्यत्र भी **"नित्यैव सा जगन्मूर्तिः"** इत्यादि वचनों से भगवन्मूर्त्ति को नित्य कहा गया है।

"देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते॥"

इत्यादि वचनों से स्पष्ट कहा गया है कि नित्य भगवन्मूर्ति का ही प्रयोजन-वशात् प्रादुर्भाव ही उत्पत्ति शब्द से कहा गया है।

भगवान् श्रीशङ्कराचार्य्य का कहना है कि अज, जन्मरहित तथा अव्ययात्मा, अक्षीणज्ञानशक्तिस्वभाव ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त समस्त भूतों के ईश्वर होकर भी भगवान् (जिसके वश में सारा जगत् है और जिससे मोहित होकर अपने अन्तरात्मा प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न वासुदेव को नहीं जानता उस अपनी) वैष्णवी माया को स्ववश करके आत्ममाया द्वारा देहवान् एवं उत्पन्न से प्रतीत होते हैं।

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"

अर्थात् जब-जब प्राणियों के अभ्युदय-निःश्रेयस के साधनभूत वर्णाश्रमादि लक्षण धर्म को ग्लानि होती है और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपने आत्मा का सृजन करता हूँ। सन्मार्गस्थ साधुओं के परित्राण एवं पापकर्मा प्राणियों के विनाशार्थ तथा धर्म की सम्यक् स्थापना के लिये मैं भिन्न-भिन्न युगों में अवतीर्ण होता हूँ। इस विषय में श्रीमद्रामानुजाचार्य का कहना है कि जो धर्मात्मा वैष्णवाग्रगण्य मेरे समाश्रयण में प्रवृत्त हैं और वाक् तथा मन से मेरे नाम, कर्म और स्वरूपों को अतीत होने से मेरे दर्शन के बिना अपने धारण, पोषण के भी सुख को न प्राप्त करते हुए अणुमात्र काल को भी हजारों कल्प के समान मानते हैं, जिनके सम्पूर्ण गात्र प्रशिथिलप्राय हैं, उन्हें अपने स्वरूप, चेष्टित, अवलोकन, आलाप आदि दान से उनके परित्राण के लिये, तद्विपरीतों के विनाश के लिये, क्षीण वैदिक धर्म का स्वस्वरूप-प्रदर्शन द्वारा स्थापन के लिये देव, मनुष्य आदि रूप में भगवान् अवतीर्ण होते हैं।

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥"

अर्थात् मेरे दिव्य, अलौकिक मायारूप जन्म तथा साधु-परित्राणादि कर्म को जो तत्त्वतः जानता है, वह इस देह को छोड़कर मुझे प्राप्त हो जाता है, पुनः उत्पन्न

नहीं होता। इस विषय में श्रीमद्रामानुजाचार्य का कहना है कि कर्मों की मूलभूत त्रिगुणात्मक प्रकृति के संसर्गरूप जन्म से रहित, सर्वसर्वेश्वरत्व, सर्वज्ञत्व, सत्य-सङ्कल्पत्वादि समस्त कल्याणगुणों से युक्त, साधु-परित्राण और मेरा समाश्रयण ही है एक मुख्य प्रयोजन जिसका, उस मेरे दिव्य, अलौकिक जन्म-चेष्टित को जो तत्त्वतः यथावत् जानता है, वह वर्तमान देह छोड़कर पुनः जन्मग्रहण नहीं करता, मुझे ही प्राप्त हो जाता है। मेरे अलौकिक जन्म, चेष्टित के यथार्थ ज्ञान से समस्त मेरे समाश्रयण के विरोधी पाप नष्ट हो जाते हैं, प्राणी मुझे सर्वथा प्राप्त कर लेता है।

इन पूर्वोक्त श्लोकों और व्याख्यानों से यह स्पष्ट है कि भगवान् का सगुण, साकार, सच्चिदानन्द स्वरूप बनता है। प्रपञ्च-सत्यत्ववादी लोग तो भगवान् का साकार विग्रह उनकी लीलाशक्ति से मानते ही हैं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि दिव्य अचित् तत्त्व से भगवान् का विग्रह बनता है और अनेक लोग यह मानते हैं कि चिदानन्द तत्त्व ही साकार विग्रहवान् होकर प्रकट होता है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार एक पक्ष में विशुद्धसत्त्व ही से भगवान् का विग्रह बनता है, उसीको माया भी कहा जा सकता है। इसी दृष्टि से भगवान् के विग्रह को मायामय भी कहा जाता है। 'भागवत' में कहा गया है कि प्रभो! आप प्राणियों के कल्याण के लिये विशुद्ध सत्त्व का समाश्रयण करते हैं-"सत्वं विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ" यह भी कहा गया है कि यदि आप विशुद्ध सत्त्वमय विग्रह न धारण करते, तो अज्ञान का भेदन करनेवाला अपरोक्ष ज्ञान ही न उत्पन्न होता। सर्वेन्द्रियों तथा अन्तःकरण-वृत्तियों के भासक रूप से आत्मा का बोध हो सकने पर भी निष्प्रपञ्च, निरुपद्रव, सर्वभेद-विवर्जित, स्वप्रकाश, निरावरण तत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार होना दुर्लभ होता, परन्तु आपके सगुण, साकार विग्रह का ध्यान करने से चित्त की एकाग्रता, निर्वृत्तिकता होने से द्रष्टा-दर्शन-दृश्य-भेदशून्य, सर्वाभावभासक, अखण्ड, अद्वैततत्त्व का बोध हो जाता है—

'सत्त्वं न चेद्धातरिदं निजं भवेद्विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् प्रकाशते येन च यस्य वा गुणः॥"

भगवान् का विग्रह भगवदिच्छामय है, इस पक्ष में भी विशुद्ध सत्व ही भगवान् की इच्छा है—

"अस्यापि देववपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महित्ववसितुं मनसान्तरेण साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः॥"

कुछ लोग कहते हैं कि भक्त की भावना ही भगवान् हैं। भक्त की भावना बहुत प्रधान है, भक्त-भावना के अनुसार भगवान् अपना रूप बनाते हैं, केवल भावना ही भगवान् नहीं है—

"यद्यद्धियात उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।" अर्थात् भक्त लोग भक्तियुक्त प्रज्ञा से आपके जैसे-जैसे रूप की भावना करते हैं, आप वैसा ही वैसा स्वरूप धारण कर लेते हैं। विशुद्ध सत्त्व एवं लीलाशक्ति के योग से निर्विकार, निराकार परमात्मा ही साकार होकर प्रकट होते हैं। जैसे जल के बर्फ बनने में शैत्य निमित्त होता है, वैसे ही निराकार, निर्विकार परमात्मा के साकार होने में विशुद्ध सत्व निमित्त होता है। दूसरे पक्ष का सिद्धान्त यह है कि कूटस्थ, निर्विकार शुद्ध परमात्मा ही देहवान्-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः देहदेहिभाव है ही नहीं। कृष्णचन्द्र का जन्म, कर्म सब कुछ दिव्य है अर्थात् सब कुछ विशुद्ध ब्रह्म ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त और कोई भी वस्तु नहीं है। भगवान् की अचिन्त्य शक्ति अन्यान्य प्रापञ्चिक शक्ति से विलक्षण परम शुद्ध होने पर भी अनिर्वचनीयता-अंश में समान ही है। इस तरह अद्वैत-सिद्धान्त की सुरक्षा के साथ-साथ ही भगवान् का सगुण, साकार स्वरूप भी सिद्ध हो जाता है। सर्वथाऽपि भगवान् के अवतार में अवान्तर मतभेद होने पर भी किसी सनातनधर्मी को विवाद नहीं है। भगवान् भाष्यकार शङ्कराचार्य्य तो अपने 'प्रबोधसुधाकर' नामक ग्रन्थ में बड़े समारोह से सगुण-निर्गुण का ऐक्य कहते हैं। उन्हीं आचार्य्यचरणों ने बदरानारायण, हृषीकेश (भरतजी) आदि अनेक मूर्तियों की स्थापना की है। अद्वैत-सम्प्रदाय के अनेक आचार्य्यों ने सगुण, साकार भगवान् के स्वरूप का समर्थन किया है। अतः यह कथन कथमपि सङ्गत नहीं है कि निराकार ब्रह्म साकार नहीं हो सकता।

●

भगवदवतार का प्रयोजन

श्रीभगवान् के अवतार ग्रहण करने के अनेक प्रयोजन हैं—धर्मग्लानि, अधर्माभ्युत्थान का निवर्त्तन, धर्म का संस्थापन, सन्मार्गानुगामी साधुओं का रक्षण, दुष्कृतियों का संहार करना इत्यादि—ये सब प्रयोजन साक्षात् श्रीमुख के ही कहे हैं। कुन्ती महारानी का कहना है कि अमलात्मा परमहंस से महामुनीन्द्रों को भक्तियोग-विधान करने के लिये भगवान् का अवतार होता है—

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥"

अर्थात् परमहंसों के प्रत्यक्चैतन्याभिन्न विशुद्ध ब्रह्म के अपरोक्ष साक्षात्कार को भक्तियोग द्वारा सरस एवं सुशोभित बनाकर उन्हें श्रीपरमहंस बनाने के लिये आपका प्रादुर्भाव होता है। भगवत्प्रीति के बिना नैष्कर्म्यज्ञान की शोभा नहीं होती -

"नैष्कर्ममप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।"

"राम प्रेम बिनु सोह न ज्ञाना ।"

वेदान्तवेद्य, अदृश्य, अग्राह्य, भगवान् अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्ति से परम मनोहर, सगुण, साकार सच्चिदानन्दघनरूप में व्यक्त होकर अमलात्मा परमहंसों के भजनीय बनकर उनके भक्तियोग के विधायक बनते हैं। ऐसे ही अन्यान्य अनेक प्रयोजन भगवान् के अवतार के हैं। उनकी इयत्ता का निर्णय कोई नहीं कर सकता। "हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाइ न सोई ॥" इन एक-एक प्रयोजनों के अनेक अभिप्राय हैं, परन्तु यहाँ इनमें दो ही एक प्रयोजनों पर विचार करना है। श्रीशुकदेवजी ने कहा है कि—

"नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतः प्रभोः ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥"

अर्थात् अव्यय, अप्रमेय, निराकार, निर्विकार, निर्गुण एवं गुणागार भगवान् अनन्तकोटिकन्दर्पमदमोचन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्दरूप में अभिव्यक्ति जन-साधारण के कल्याणार्थ होती है। इस श्लोक में 'नृणाम्' शब्द का 'नरमात्राभिमानी अज्ञानी' अर्थ विवक्षित है, जैसा कि 'न कर्म लिप्यते नरे' इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए श्रीमच्छङ्करभगवत्पाद ने कहा है। जो विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परब्रह्मात्मा को पहचान चुका है, वह तो नर, नाग, देवा गन्धर्वादि कार्य्यक-रणसङ्घातों से पृथक् अन्तरात्मा को देखता है, वह नरमात्राभिमानी नहीं होता। जो स्वधर्मानुष्ठान, उपासना एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि द्वारा अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार कर चुके हैं वे तो निःश्रेयसरूप ही हैं। परन्तु जो उसमें असमर्थ हैं, उनके निःश्रेयसार्थं

भगवान् श्रीकृष्ण रूप में प्रकट हुए हैं। अतएव, अत्यन्तबहिर्मुख प्राणियों का भो, जिनका कि अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, ब्रह्मसाक्षात्कार या उपासना में चित ही नहीं लगता, भगवान् के मनोहरस्वरूप में चित्त निविष्ट हो सकता है। अतएव काम, क्रोध, भय, स्नेह से या ऐक्यभाव से यथाकिञ्चित् भगवान् में मन का प्रवेश करके प्राणी संसार से छूटकर भगवद्रूप हो जाता है।

"कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥"

कंस भय से, शिशुपाल द्वेष से, कुब्जा काम से श्रीकृष्ण में लीन हो गयी; मारने की इच्छा से पूतना कालकूटविषलिप्त स्तन पिलाकर भी कृत-कृत्य हो गयी। कुछ व्रजाङ्गनाएँ उन्हीं पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् को जारबुद्धि से चिन्तन कर तल्लीन हो गयीं। कहा जा सकता है कि यदि वे व्रजाङ्गनाएँ बिना तत्त्वसाक्षात्कार किये ही श्रीकृष्ण को जार समझती हुई ही ब्रह्मलीन हो गयीं, तब तो ज्ञान की आवश्यकता ही न रह जायगी। ऐसी स्थिति में "**नैनमविदितो देवो भुनक्ति।**" "**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।**" इत्यादि श्रुतियों का यह कहना विरुद्ध होगा कि भगवान् बिना प्रत्यक् चेतनरूप से साक्षात्कार किये साधक का पालन नहीं करते और बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती। यदि कहा जाय कि वस्तुतः श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं, अतः उनके ज्ञान की अपेक्षा नहीं है। विष जान में या अनजान में यथाकथञ्चित् सेवन करने से भी अपना फल देता है। अमृत भी ज्ञान में, अज्ञान में सर्वथा अपना फल देता ही है। वैसे ही श्रीकृष्ण ब्रह्म हैं, चाहे ब्रह्मबुद्धि से, चाहे जारबुद्धि से उनका सेवन किया जाय, अवश्य उसका फल होगा।

परन्तु इसपर यह कहा जाता है कि वस्तुदृष्टि से यह समस्त विश्व ही ब्रह्म है, फिर तो सभी के पति, पुत्र, शत्रु, मित्र ब्रह्म ही हैं, उनका चिन्तन करने से भी मुक्ति होनी चाहिये। अतः इस ब्रह्माकारवृत्ति से मूलाज्ञान के नष्ट होने पर निरावरण ब्रह्म का साक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है। बिना निरावरण ब्रह्म का अनुभव हुए पति, पुत्रादि प्रीति सावरण एवं भिन्न-भिन्न प्रपञ्चाकार में से विवर्त्तित ब्रह्म की प्रीति मोक्ष का हेतु नहीं बन सकती। इसपर अभिज्ञों का कहना है कि यह ठीक है कि निरावरण ब्रह्म का अनुभव ही मोक्ष का कारण है और उसके लिये ब्रह्माकारवृत्ति या ब्रह्मविज्ञान अपेक्षित है, परन्तु श्रीकृष्ण लौकिक पति-पुत्रादिकों के समान सावरण ब्रह्म या विवर्त्तित ब्रह्म नहीं हैं, किन्तु वे तो निर्गुण, निरावरण, शुद्ध ब्रह्म ही हैं। अतः उनका अनुभव, उनके मन की आसक्ति अवश्य ही मुक्ति का मूल है। '**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः**' इत्यादि श्रुतियाँ वहाँ के लिये हैं जहाँ सावरण ब्रह्म का सम्बन्ध है। श्रीकृष्ण तो निरावरण ब्रह्म हैं, अतः यहाँ तो जैसे विषबुद्धि से भी पान करने पर अमृत अमृतत्व को प्रदान करता है, वैसे ही जारबुद्धि या शत्रुबुद्धि से भी निरावरण

ब्रह्मात्मक श्रीकृष्ण का भजन मोक्ष का मूल है—"वस्तु शक्तिज्ञान की अपेक्षा नहीं रखती।"

जैसे चिन्तामणि में यदि दीपक-बुद्धि से प्रवृत्ति हो, तो भी लाभ चिन्तामणि का ही होगा, वैसे ही निरावरण ब्रह्म श्रीकृष्ण में शत्रु या जारबुद्धि से भो प्रवृत्ति होने पर प्रवृत्त को शुद्ध ब्रह्म हो की प्राप्ति होगी, जार या शत्रु की नहीं। कहा जा सकता है कि शुद्ध ब्रह्म तो कूटस्थ एवं अदृश्य है, अतः विशुद्धसत्त्व या अचिन्त्य दिव्यलीला-शक्ति के योग से ही उसकी श्रीकृष्णरूप में अभिव्यक्ति माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में शक्ति का व्यवधान होने से आवरण अवश्य ही मानना पड़ेगा, फिर श्रीकृष्ण निर्गुण एवं निरावरण कैसे हुए? इसका उतर यह है कि जैसे बादल आदि के सम्बन्ध में सूर्य्यस्वरूप आवृत होता है, वैसे हो राजस, तामस उपाधियों के सम्बन्ध से ब्रह्म-स्वरूप आवृत हो जाता है। प्रपञ्चरूप में विवर्त्तित ब्रह्म राजस, तामस उपाधियों के सम्बन्ध से आवृत रहता है, परन्तु विशुद्धसत्व दिव्यलीलाशक्ति तो अत्यन्त स्वच्छ है। जैसे शुद्ध काँच दूरवीक्षण यन्त्र या उपनेत्र के सम्बन्ध से सूर्य्यस्वरूप आवृत नहीं होता, किन्तु निरावरण सूर्य्य की अपेक्षा स्पष्ट-सूर्य्य का दर्शन होता है, वैसे ही लीला-शक्ति के सम्बन्ध से श्रीकृष्णरूप में प्रकट परब्रह्म आवृत नहीं होता, किन्तु निरावरण ब्रह्म की अपेक्षा भी सुन्दर, मधुर एवं मनोहर होकर व्यक्त होता है। जैसे शीतलता के सम्बन्ध से वर्फरूप में परिणत जल निरावरण हो समझा जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण-रूप में व्यक्त ब्रह्म गुणकृत आवरण एवं प्रभाव से विनिर्मुक्त होने के कारण निर्गुण और निरावरण समझा जाता है। इसी अभिप्राय से "**हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्**।" इत्यादि उक्तियाँ हैं। ऊपर कहा गया है कि निर्गुण, गुणागार, अव्यय, अप्रमेय परब्रह्म की ही श्रीकृष्णरूप में अभिव्यक्ति प्राणियों के कल्याणार्थ है। उनके मङ्गलमय श्रीअङ्गकी सुन्दरता, सरसता, मधुरता हठात् प्राणियों के मन को खींच लेती और पाषाण तथा वज्र के समान हृदय को पिघलाकर नवनीत के समान कोमल एवं सरस बना देती है। सौन्दर्य्य-माधुर्य्य, सौरस्य, सौगन्ध्यसुधा-जलनिधि श्रीअङ्ग में इन्द्रियों और मन की स्वाभाविकी आसक्ति हो जाती है। अमृतमय मुखचन्द्र में मन और नयन की ऐसी आसक्ति होती है कि वे लौटना तो भूल ही जाते हैं। जो मन विषयों से एक क्षण के लिये पृथक् नहीं हो सकता, वही भगवान् में आसक्त होकर विषयों को भूल जाता है। फिर ज्ञान-विज्ञान अपेक्षित सभी दिव्य गुण सेवा के लिये व्यग्र हो उठते हैं। ऐसे परम मधुर मनोहर भगवान् में प्रीति-आसक्ति का होना स्वाभाविक ही है। यदि प्रीति न भी हुई, तो काम, द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध आदि हो गया, तो भी प्राणियों का कल्याण हो जाता है। जो जारबुद्धि अन्यत्र घोर नरक का मूल है, वही भगवान् में परम कल्याण का मूल हो जाती है। जैसे सुवर्णमुद्रिका और दिव्य रत्न का सम्बन्ध बताने के लिये लाख का भी मूल्य बढ़

जाता है, वैसे ही भावुक और भगवान् का सम्बन्ध सुस्थिर करने के लिये जारबुद्धि भी बहुमूल्य हो जाती है। अन्यत्र 'जार' का अर्थ "**जयति सर्वान् गुणान् धर्मस्वर्गापवर्गान् जारः**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह होता है कि सब गुणों को या धर्म, स्वर्ग, अपवर्ग आदि को नष्ट करनेवाला। परन्तु यहाँ "**जरयति अविद्या तत्कार्य्यात्मकं बन्धमविद्याग्रन्थि कामान्वा इति जारः**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार यह अर्थ होता है कि जो अविद्याग्रन्थि को जला दे, अविद्या तत्कार्य्यात्मक बन्ध को नष्ट कर दे अथवा समस्त कामवासनाओं को जलाकर नष्ट करनेवाला परमात्मा ही जार है।

इस तरह साधारण से साधारण, उल्वण से उल्वण प्राणियों की सद्गति के लिये ही श्रीभगवान् का अवतार है। कुछ अभिज्ञों का कहना है कि भगवान् अपने ही सौशील्य, औदार्य्य, वात्सल्य आदि गुणगणों की सफलता के लिये इस मर्त्यलोक में अवतीर्ण होते हैं। यदि ऐसा न हो, तो उनके पतितपावनत्वादि गुणगण व्यर्थ और वन्ध्य हो जायँगे। अपनी अनन्तता, अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायकता को भुलाकर बन्दरों के साथ मिल-जुलकर आत्मीयता का व्यवहार करना यही अद्भुत सौशील्य है—

"प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम सम साहिब सीलनिधान॥"

गृध्रराज को अपने अङ्क में लेकर अपने ही हस्तारविन्द से उनके अङ्ग का मार्जन करना, नयनाश्रुओं से अभिषेक करना, "**तात-तात**" मधुर वचनामृत सुनाकर उनको सुरेन्द्रादिस्पृहणीय दिव्यगति को प्रदान करना मनोहर मुखचन्द्र का दर्शन देना। विभीषण, सुग्रीवादि के सङ्ग मैत्री जोड़ना, श्रीहनुमान् के ऋणी रहना—

"सुनु सुत तोहि उऋण मैं नाहीं।"
"प्रतिउपकार करौं का तोरा, सन्मुख होइ न सकत मन मोरा।"
एकैकस्योपकारस्य प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥"

ये सब ऐसे कार्य्य हैं, जिनका होना साकेतलोक, गोलोक में एवं निराकार निर्गुणरूप में असम्भव है। श्रीदामा से पराजित होकर उसका घोड़ा बनना, व्रजाङ्गनाओं के छँछियाँभर छाँछ पर नाच नाचना, वेदवचन मुनिमन अगम होकर भी चित्रकूट के कोल-भिल्लों के वचनों को बड़े चाव से सुनना ("**बेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन के सुनत, जिमि पितु बालक बैन॥**") जिसके छाया-स्पर्श में भी मार्जन की अपेक्षा हो उस निषाद से सख्य जोड़ना, महा-महापतिता को जगत्पावन बनाना आदि कार्य्य बिना अवतार ग्रहण किये हो ही नहीं सकते। अतः प्रभु अपने ही प्रयोजन में इन गुणों एवं अबन्ध्य सफलतासम्पादन के लिये हम लोगों में अवतीर्ण होते हैं। पण्डितराज ने गङ्गाजी से कहा है—"हे

अम्ब ! आपके मन में बहुत दिनों से यह रुचि थी कि कोई ऐसा उत्कट पतित पातकी मिले कि जिसको तारने में कोई तीर्थ, तप, जप, व्रत एवं कोई देवता समर्थ न हो तो उसको मैं पावन करूँ। अम्ब ! बस, मैं आपकी उसी रुचि को पूरा करने आया हूँ। मुझ जैसा पातकी महापतित और कौन कहाँ मिलेगा ? माँ ! लो, मुझे तारकर अपनी अभिलाष पूरी करो।" ठीक हम सरीखे पतितों एवं दीनों से भरपूर इस मर्त्यलोक में यदि प्रभु न पधारें, तो कम-से-कम उनकी दीनवत्सलता, पतित-पावनता आदि गुण तो व्यर्थ ही हो जायँ। अतः उन्हीं सबको सफलता के लिये श्रीभगवान् का अवतरण होता है। दीनवात्सल्य, पतितपावनता, सौशील्य, औदार्य, कारुण्यसिन्धुत्व आदि गुणों से ही प्रेरित होकर प्रभु ऊपर से नीचे उतरते हैं, दीनों की, पतितों की कल्याणकामना से। यदि यह सच है, तो सचमुच किसी को निराश न होना चाहिये।

•

भारत ही में अवतार क्यों ?

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥"

हे भारत ! जब-जब धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं आत्मा का सृजन अर्थात् अवतार ग्रहण करता हूँ । साधुओं के परित्राणार्थ, पापात्माओं के विनाशार्थ एवं धर्मसंस्थापन के लिये युग-युग में मैं प्रकट होता हूँ । यहाँ यह विचार उठता है कि भगवान् भारत में ही धर्मरक्षा आदि के लिये अवतार ग्रहण करके प्रकट होते हैं या अन्यान्य देशों में भी ? यदि भारत में ही, तब वे भगवान् कैसे ? वे तो अखिल विश्व के नियामक और ईश्वर हैं । समस्त विश्व को पाप-पङ्क से उद्धृत करके उसे धर्मात्मा बनाना उनका कर्तव्य है । अतः विश्व की ही धर्मग्लानि, अधर्माभ्युत्थान मिटाकर धर्मसंस्थापन की आवश्यकता है । विश्व के ही साधुओं और दुष्कृतियों के पालन और संहार की आवश्यकता है । फिर भगवान् का उक्त कार्य्यों के लिये भारत में ही क्यों अवतार होता है ? समदर्शी, सर्वसम भगवान् को सभी देशों में अवतार ग्रहण करके पूर्वोक्त कार्य्य करना चाहिये । यदि सभी देशों में भगवान् के अवतार होते हैं तो वे अवतार पुरुष कौन-कौन हैं ? साथ ही यह भी स्पष्ट होना चाहिये कि क्या सभी देशों में जो प्रचलित धर्म हैं, उन्हीं के स्थापक और पालक भगवान् ही हैं ? यदि ऐसा ही है तो भिन्न देशों एवं समान देशों में भी कालभेद से विरुद्ध धर्मों की स्थापना क्यों की जाती है ? एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् के प्रतिष्ठापित और पालित धर्मों में ऐसा विरोध और भिन्नता क्यों ? एक-एक धर्म के प्रतिष्ठापकों ने दूसरे धर्म-प्रतिष्ठापकों का विरोध करके, यहाँ तक कि दूसरे धर्मों का नाश तक करके धर्मान्तरों की स्थापनाएँ की हैं । ऐसी स्थिति में वे सभी धर्म हों या उनके प्रतिष्ठापक और पालक भगवान् हों यह कैसे कहा जाय ?

इस प्रश्न पर विचार करते हुए प्रथम यह देखना चाहिये कि गीता के श्लोक में कौन-सा धर्म विवक्षित है । इसी निर्णय में यह निर्णय भी हो जायगा कि साधु कौन और दुष्कृति (असाधु) कौन ? कारण, भगवत्संस्थापित धर्म में परिनिष्ठित ही साधु और उससे विमुख असाधु समझ लिये जायेंगे । इसमें सन्देह नहीं कि आजकल गीता और गीतोक्त धर्म-कर्म को सार्वभौम या व्यापक बनाने की बुद्धि से बहुत व्यापक अर्थ किया जाता है । यद्यपि गीता की दृष्टि से गीतोक्त धर्म-निर्णय करने में सरलता

है। कारण, गीता ने ही यह निश्चय कर दिया है कि शास्त्रैकसमधिगम्य कर्म ही गीता को मान्य है। तथापि आधुनिक विवेचकों की शास्त्र पर भी वही व्यापकता की भावना है। उनका कहना है कि यदि केवल वेद ही शास्त्र हों और शास्त्रैक-समधिगम्य वर्णाश्रमानुसार श्रौत-स्मार्त कर्म ही धर्म हो, तब तो गीता में संकीर्णता आ जाती है, जो गीता जैसे सार्वभौम ग्रन्थ के स्वरूपानुरूप नहीं है। इतने बड़े संसार में छोटा-सा भारतवर्ष, वहाँ के भी कुछ समूहों में ही वेद-शास्त्र और तदुक्त धर्मों का आदर और प्रचार है। जब गीता का भी वही शास्त्र और धर्म है तब तो वह एक देश की ही वस्तु हो जाती है। फिर वह सार्वभौम एवं सर्वमान्य ग्रन्थ नहीं हो सकता। अतः भिन्न-भिन्न देश, काल की परिस्थिति के अनुसार बुद्धिमान् विवेचकों द्वारा निर्धारित किये गये कर्तव्याकर्तव्य-निर्णायक ग्रन्थ ही शास्त्र हैं। उन्हीं शास्त्रों के अनुसार नैतिक, आर्थिक, वैयक्तिक, सामूहिक अभ्युदय के अनुकूल चेष्टा या हलचलें ही कर्म या धर्म हैं, या उन-उन देशों एवं कालों के प्राणियों के लौकिक-पारलौकिक कल्याणों के लिये सर्वमान्यप्राय बुद्धिमान् महापुरुषों द्वारा रचित कार्य्य-अकार्य्य के निर्णायक ग्रंथ ही शास्त्र हैं। उन शास्त्रों के अनुसार सब तरह के अभ्यु-दयानुकूल देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के जो कर्म हैं, वही धर्म हैं। ऐसा मानने में ही गीता को सर्वमान्यता सुरक्षित रहती है। यद्यपि इन महानुभावों की दृष्टि तो अच्छी है, वे गीता को सार्वभौम बनाकर उसका उपकार ही करना चाहते हैं, तथापि उसके सिद्धान्त और अभिप्राय को बाँधकर उसे सार्वभौम बनाना सम्भवतः उन्हें वाञ्छ-नीय न हो। स्वरूप की रक्षा होते हुए ही उन्नति, उन्नति है। स्वरूपविनाश से उन्नति, उन्नति कदापि नहीं कही जा सकती।

बुद्धिमानों को विदित है कि परिमित प्रज्ञा-क्रिया-शक्तिसम्पन्न मनुष्यों के लौकिक हिताहित का विवेचन कुछ अंशों में भले ही सम्भव हो, परन्तु अलौकिक, पारलौकिक सुखों एवं सुख-साधनों के विज्ञान की ओर से वे सर्वथा अन्धे ही हैं। अर्थ और कामविषयक उद्योगों और नीतियों में देशकाल-भेद से निःसीम परिवर्त्तन संभव हो सकते हैं। अतः उन विषयों में नीति-निर्धारण करना मानव के लिये असम्भव नहीं है। परन्तु सर्वज्ञकल्प प्रजापति, बृहस्पति, शुक्र, मनु आदि नीतिज्ञों की नीति को आधार मानकर तदनुसार परिवर्त्तन या अनुवर्त्तन अधिक सुविधाजनक एवं निरुपप्लव होता है। किन-किन चेष्टाओं से परलोक में क्या दुःख और क्या सुख होगा, इसका परिज्ञान अल्पज्ञ जीव के लिये नितान्त असम्भव है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार धर्माधर्म का परिवर्त्तन निःसीम नहीं है। वस्तुतः अव्यवस्थित परिवर्त्तन नीति में भी असंभव है, फिर धर्म में तो वह कथमपि संभव ही नहीं है। कहीं भी लक्षण के अनुसार लक्ष्य का निर्णय हुआ करता है। प्रत्यक्ष विषय में जहाँ लक्षण-निर्धारण करना होता है, वहाँ अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव दोषों से रहित ही

लक्षण हुआ करता है। परन्तु जो लक्ष्य अप्रत्यक्ष है, उसका निर्णय लक्षणों के ही अनुसार हुआ करता है। लक्षण (सूत्र) जहाँ नहीं घटता वह लक्ष्य ही अशुद्ध समझा जाता है।

परन्तु आज प्राणियों के आचरण के अनुसार धर्माधर्म का निर्णय किया जाने लगा है। आजकल के लोगों में वस्तुस्थिति की अपेक्षा कर परिवर्त्तन के अनुवर्त्तन करने का स्वभाव हो गया है। धर्म के लक्षणानुसार धर्म का निर्णय करना एक बात है, परिस्थिति और आचरण देखकर तदनुकूल धर्म की परिभाषा बनाना दूसरी बात है। गीता की दृष्टि में यत्किञ्चित् हलचल या चेष्टा धर्म नहीं है। कारण, वह तो बिना विधान किये भी प्रकृतिज्ञ गुणों की प्रेरणा से स्वयं ही होगा। अतः "कुरु कर्मैव" इत्यादि वाक्यों में विहित कर्म वही है, जो रागप्राप्त नहीं है, किन्तु शास्त्र से ही जिनकी कर्तव्यता विदित होती है। इसीलिये कहा गया है कि कार्य्य-अकार्य्य की व्यवस्था में एक शास्त्र ही प्रमाण है। अतः शास्त्रविधान को जानकर ही कर्म करे **"ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि।"** यह शास्त्र भी अव्यवस्थित, समय-समय के समाज से निर्धारित यत्किञ्चित् नियम नहीं है, क्योंकि समयानुसार कभी भौतिकवादियों का ही समाज और दल विजयी एवं उन्नत हो सकता है, कभी अध्यात्मवादियों का ही दल विस्तृत हो सकता है। बहुत से व्यक्तियों का ही समाज बन जाता है। व्यक्तियों की बुद्धियों का कोई ठिकाना नहीं रहता, बड़े से बड़े व्यक्ति साधारण से साधारण विषय में भ्रान्त हो जाते हैं। उस समय उन्हें यही दृढ़ निश्चय होता है कि हम जो कुछ भी समझ रहे हैं वह बिलकुल सत्य है। परन्तु कालान्तर में उन्हें अपने भ्रम और प्रमादों का स्वयं बोध होता है। रज, तम के प्रभाव से बुद्धि-सत्व आच्छन्न रहता है। बिना परमात्मभाव व्यक्त हुए योगाभ्यास से भी वह अत्यन्त निरावरण नहीं होता। अतः अज्ञान, भ्रम आदि जीवों के सामने किसी न किसी कक्षा में खड़े ही मिलते हैं। व्यक्तियों के समूहों में–समाज में–भी यही दशा होती है। अतः धर्म-अधर्म के निर्णय में व्यक्ति, समाज या बहुमत का कोई भी मूल्य नहीं है। नैतिक, आर्थिक अभ्युदय में भी केवल व्यक्ति या समाज की निर्धारित नीति के सहारे सदा विजय नहीं हो सकती। अतः वहाँ भी मन्वादि सर्वज्ञों के आर्थिक, नैतिक विज्ञान के अनुसार ही सफलता होती है। फिर धर्म के विषय में तो कहना ही क्या है? चिकित्सा के विषय में एक विज्ञ चिकित्सक के सामने दूसरे विषय के लाखों विद्वानों की भी सम्मति का कुछ भी मूल्य नहीं। इसी तरह धर्म के विषय में सर्वज्ञकल्प अनादि वेदशास्त्र को छोड़कर भिन्न-भिन्न सामाजिक निर्णयों का कोई भी मूल्य नहीं।

अतः गीता के अनुसार वेदशास्त्र ही कार्य्य-अकार्य्य कर्मों के निर्णायक शास्त्र हैं। गीता में शास्त्र के नाते वेदों का ही नाम आता है—**"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"**, **"ऋक्सामयजुरेव च"**, **"वेदानां सामवेदोऽस्मि"** गीता और उसके उद्गम स्थान

महाभारत के श्रोता, वक्ता, प्रणेता और भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में वर्णित सभी महापुरुष वैदिक संस्कृति, सभ्यता के ही माननेवाले थे। अतः गीता के शास्त्र, वेद और वेदाविरुद्ध वेदानुयायी स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ही हैं। इन शास्त्रों के अविरुद्ध और इनके अनुसारी वर्ण, आश्रम के लौकिक, वैदिक सभी गीतोक्त कर्म हैं। लौकिक कर्मों में भी जितने अंश में शास्त्रैकसमधिगम्यता है, मुख्य रूप से वही विधेय है। अन्यांश लोकप्राप्त होने पर भी शास्त्राविरुद्ध होने से उनका गीता-धर्म में संनिवेश है। यह शास्त्र और धर्म यद्यपि विश्वभर के ऐहिक आमुष्मिक सर्वविध कल्याण के मूल हैं, अधिकार के अनुसार सभी लोग इनसे लाभ उठा सकते हैं, तथापि यदि कालक्रम से इनका ह्रास होने के कारण कोई इन्हें संकीर्ण या संकुचित कहे तो यह उसीका दोष है। वस्तुस्थिति प्राणियों के मानने न मानने की परवाह नहीं करती। लोक परिवर्तन के पीछे परिवर्तित होनेवाली वस्तु तात्त्विक नहीं होती। किसी भी संस्था के नियमों का अनुसरण उसके सदस्यों को करना पड़ता है। उच्छृङ्खलता के कारण जो सदस्य उसके नियमों को न मानें तो वे सदस्य ही संस्था से निकाल बाहर किये जाते हैं। उन उच्छृङ्खल व्यक्तियों के कारण संस्था के नियमों में परिवर्तन नहीं किया जाता। वैदिक धर्म एवं संस्कृति के विधायक एवं सञ्चालक वेदशास्त्रों के नियमों का जो लोग उल्लङ्घन करते गये वे क्रमेण इससे बहिर्भूत होते गये। यह नियम परमेश्वरीय एवं दृढ़ भित्ति के आधार पर थे। अतः इनमें कुछ भी हेरफेर न हुआ। जो लोग हेरफेर की कल्पना करते हैं वे वैदिक शास्त्रों की विवेचन-पद्धति ही नहीं जानते, क्योंकि यहाँ तो सर्वज्ञ भगवान् के स्वाभाविक निःश्वाससंभूत ऋक्, साम, यजु, मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्र, कल्प, इतिहास, पुराण सभी की अनादिता मान्य है। सब देश, काल एवं परिस्थितियों को सोच-समझकर सब तरह के परिवर्त्तन-अनुवर्त्तन का निर्णय पहले से ही स्थिर है। सत्य का पालन करनेवालों की संख्या यद्यपि बहुत कम है तथापि वह संकीर्ण धर्म नहीं कहा जा सकता। परम तत्त्व का साक्षात्कार यद्यपि करोड़ों में किसी एक को प्राप्त होता है, यहाँ तक कि उसे चाहनेवाले भी अति स्वल्प हैं, तो भी वह परमावश्यक व्यापक ही धर्म है। इसी तरह वैदिक शास्त्र और धर्म यद्यपि व्यापक और सार्वभौम ही है तथापि कालक्रम से लोगों में उच्छृङ्खलता के बढ़ जाने से अधिक देश और लोग हमसे च्युत हो गये। इसमें स्थित रहनेवाले भारत में भी थोड़े ही रह गये। शास्त्रों को देखने से विदित होता है कि स्वर्गादि के समान भूलोक में भी बहुत से खण्ड भोगभूमि ही थे, कर्मभूमि नहीं। अतः मानव-धर्म या साधारण अहिंसा, सत्य आदि धर्मों की ही वहाँ प्रतिष्ठापना की गयी। पहले से भी विशेष रूप से भारत ही कर्मभूमि समझा जाता था। यहाँ ही वर्णधर्म, आश्रमधर्म, यज्ञ-योगादि सम्पूर्ण वैदिक धर्मों का पूर्ण विकास था। यहाँ कर्म, उपासना, ज्ञान की सिद्धि सरलता से होती थी।

शतक्रतु इन्द्र यहीं के कर्मों से ऐन्द्र पद को प्राप्त करता है। इसीलिये देवता भी भारत में जन्म चाहते हैं। जैसे गृह के एक देश में भी रहकर दीपक समस्त भवन को प्रकाशित करता है, शरीर के एक देश हृदय में ही अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति होती है, परन्तु समस्त शरीर का प्रकाश और कार्य्य उसीसे होता है, वैसे ही भारतवर्ष समस्त भूमण्डल की नाभि है। पुराणों के अनुसार जम्बूद्वीप अन्य समस्त द्वीपों का मध्य है। उसीमें मेरु है और उसीका सारांश भारतवर्ष है। अतः यही सबका हृदय है। जैसे व्यापक होते हुए भी आत्मा का हृदय में ही विशेष रूप से प्राकट्य होता है, वैसे ही व्यापक धर्म और शास्त्र एवं उनके पालक भगवान् का भारत में विशेष रूप से प्राकट्य होता है। भारत के ही ज्ञानालोक और धर्म के प्रभात से विश्व आलोकित और धार्मिक हुआ। मनु कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

अर्थात्, इस देश से उत्पन्न हुए ब्राह्मण से पृथ्वी पर सब मनुष्य अपना-अपना आचार सीखें। शरीर के हस्त-पादादि अन्यान्य अङ्गों के शुष्क हो जाने पर भी जीवन रह सकता है, परन्तु हृदय के शुष्क हो जाने पर फिर जीवन नहीं रह सकता। इस तरह समस्त देशों के धर्म और ईश्वर से च्युत हो जाने पर भी विश्व रह सकता है, परन्तु उसके हृदय भारत के धर्मशून्य होने पर विश्व का संहार निश्चित है। इसीलिये भारत के धर्म और शास्त्र से विमुख होते ही विश्व के नाश की सम्भावना होती है। जैसे सर्वाङ्ग की अपेक्षा हृदय-रक्षा का ध्यान अधिक होता है, वैसे ही यहाँ धर्म और शास्त्रों के रक्षार्थ भगवान् का प्राकट्य होता है।

वैदिक धर्म एवं संस्कृति से च्युत भिन्न-भिन्न देशों के लोग यद्यपि अग्निहोत्रादि त्रैवर्णिक कर्म के अधिकारी नहीं रह गये तथापि शूद्र-धर्म या मानव-धर्म के अधिकारी हैं। अतः इतिहास-पुराणादि श्रवण द्वारा वैदिक धर्म से उनका भी कल्याण हो ही सकता है। परन्तु अनुकूलों के लिये ही सदुपदेश सफल होता है, प्रतिकूलों के प्रति किसी का कोई वश नहीं। जो वेद, शास्त्र और वैदिक धर्म से द्वेष करते हैं, वे भारतीय ब्राह्मण ही क्यों न हों, उन्हें कौन समझा सकता है? सभी जीव भगवान् के अंश होने से उन्हें प्रिय हैं, वे कभी भी भगवान् और भगवदीयों के उपेक्ष्य नहीं हैं। अतः उन देशों और समाजों में भी किसी-न-किसी रूप में उनकी उच्छृङ्खलता वारण कर कुछ सत्पथ पर लाने के लिये किसी-न-किसी विभूति द्वारा किसी-न-किसी धर्म का वहाँ भी स्थापन और प्रसार किया जाता है। कुछ न कुछ नियमन या पाशविक भावों का नियन्त्रण वहाँ भी होता ही है। परन्तु वास्तविक धर्म और उसके बोधक शास्त्र का भी संरक्षण कहीं न कहीं होना ही चाहिये। इसलिये विश्व-हृदय भारतवर्ष में सदा ही वेदादि शास्त्रों की रक्षा और तदुक्त धर्मों की रक्षा के लिये भगवान् का

प्रादुर्भाव होता है। अन्यान्य देशों में भी कहा जाता है कि कहीं परमेश्वर के 'दूत' या 'पुत्र' का प्रादुर्भाव होता है, परन्तु भारत में तो स्वयं भगवान् का ही प्रादुर्भाव होता है। वहाँ वैदिक धर्म की रक्षा और प्रकाश से समस्त विश्व का प्रकाश और उसकी रक्षा हो सकती है। शरीर के सभी स्थानों में आत्मा का प्रकाश नहीं होता, इससे आत्मा की संकीर्णता की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी तरह भारत में ही वैदिक धर्म और शास्त्रों की रक्षा के लिये यहाँ ही भगवान् का प्रादुर्भाव हो, इससे उनके शास्त्र और धर्म में संकीर्णता नहीं कही जा सकती। योग्यता और अधिकार के व्यक्त होने पर प्राणीमात्र का परम कल्याण वैदिक धर्म से ही हो सकता है। इन्हीं सब भावों को ध्यान में रखने से यह समझ में आता है कि भगवान् भारत ही में क्यों अवतार लेते हैं।

●

ज्ञान और भक्ति

बड़े कुतूहल के साथ लोगों का प्रश्न होता है कि ज्ञान बड़ा कि भक्ति ? कुछ लोग ज्ञान की महिमा दिखलाते हुए भक्ति का अपकर्ष दिखलाते हैं, तो कुछ लोग भक्ति की महिमा के सामने ज्ञान को निकृष्ट ठहराते हैं। कोई भक्ति को ज्ञान का साधन कहते हैं, तो कोई ज्ञान को भक्ति का साधन कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी का कहना है कि ज्ञान से विश्वास और विश्वास से प्रीति होती है

"जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई। जिमि खगेश जल की चिकनाई॥"

भक्तिमणि प्राप्त करने के लिये भी ज्ञान-वैराग्य को साधन ही माना गया है--

"पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित जो खोजइ प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी॥"

भक्ति के बिना जो ज्ञान को ढूँढ़ते हैं, वे मन्दभाग्य हैं। वे मानो कामधेनु को छोड़कर दूध के लिये आक ढूँढ़ते हैं---

"जे अस भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते सठ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥"

श्रीमद्भागवत में भी कहा है—

"येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥"

अर्थात् हे कमलनयन ! जो ज्ञान के प्रभाव से अपने को निर्मुक्त जाननेवाले हैं या ज्ञानी मानते हैं, परन्तु आपके श्रीचरणारविन्दप्रेम द्वारा जिनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है, वे बड़ी कठिनाई से उच्चतम पद पर आरूढ़ होकर भी पुनः पतित हो जाते हैं। क्योंकि उन्होंने आपके श्रीचरण-कमल का आदर नहीं किया।

"जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥"

"नानु व्रजति यो मोहाद् व्रजन्तं हरिमीश्वरम्।
ज्ञानाग्नि-दग्ध-कर्माऽपि स भवेद्राक्षसाधमः॥"

अर्थात् श्रीहरि की रथयात्रा में जो मोहवश उनका अनुगमन नहीं करता, वह ज्ञानाग्निदग्धकर्मा होकर भी राक्षसाधम हो जाता है। जो ज्ञानप्रयास को छोड़कर सन्तों को भी मुखरित करनेवाली श्रवणरन्ध्र में प्राप्त भगवान् की वार्ता को शरीर,

वाक् तथा मन से प्रणाम करता हुआ, जीवन व्यतीत करता है, वह त्रिलोकी में अजित भगवान् को भी जीत लेता है, अर्थात् मनोवचनातीत भगवान् को अपने तनु तथा मन के वश में कर लेता है—

"ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम् ।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजितजितोऽप्यसितैस्त्रिलोक्याम् ॥"

"तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥"

भगवान् के साथ जिनका सौहार्द सुदृढ़ है, ऐसे भगवान् के भक्त कभी भी मार्ग से नहीं गिरते, अपितु वे भगवान् द्वारा सुरक्षित हो विघ्नसेनानियों के सिर पर पाद-विन्यास करते हुए निर्भय विचरते हैं ।

"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद् भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् ।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत् किन्त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥"

भक्तों को भगवान् के श्रीचरणारविन्द के ध्यान में रस मिलता है किंवा भगवद्भक्तों के चरित्र-श्रवण से जो रस व्यक्त होता है, वह स्वप्रकाश, स्वमहिमास्थित भगवान् में भी नहीं व्यक्त होता । फिर अन्तक की तलवार से विलुलित विमानों से गिरनेवाले लोगों के सुखों की तो चर्चा ही क्या है ?

इसके सिवाय यह भी है कि ज्ञान हो जाने पर भी भक्ति के बिना उसकी शोभा नहीं होती ।

"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्मयदप्यकारणम् ॥"

"रामप्रेम बिनु सोह न ज्ञाना । कर्णधार बिनु जिमि जलयाना ॥"

ज्ञान, वैराग्य, धर्म और कर्म यह सभी प्रेम-लक्षणा भक्ति से ही सुशोभित होते हैं । उसके बिना सब निरर्थक हो जाते हैं ।

"योग कुयोग ज्ञान अज्ञानू । जहाँ न राम प्रेम परधानू ॥
सो सब कर्म धर्म जरि जाऊ । जहँ न राम पदपङ्कज भाऊ ॥"

साथ ही ज्ञान के उत्कर्ष का भी पक्ष प्रसिद्ध ही है । **"नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"** अर्थात् ज्ञान के समान कोई भी पवित्र नहीं है । **"वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः"** सब कुछ वासुदेव ही हैं, ऐसा ज्ञानवान् महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है । ज्ञान को छोड़कर दूसरा कल्याण का मार्ग ही नहीं है । बिना ज्ञान के मुक्ति होती ही नहीं—**"तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।" "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।" "नैनमविदितो देवो भुनक्ति ।"** अर्थात् यह देव बिना ज्ञान के प्राणी का

अन्तरात्मा होकर भी पालन नहीं करता, अर्थात् सर्वानर्थ से विनिर्मुक्त नहीं करता। भगवान् ज्ञानी को प्रत्यक्ष अपना आत्मा ही बतलाते हैं। "**ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्।**"

समस्त भक्तों की अपेक्षा ज्ञानी भक्त की विशेषता स्वयं श्रीभगवान् स्वीकार करते हैं—"**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**"

तुलसीदासजी भी ज्ञान को ही साक्षात् मोक्षप्रद बतलाते हैं—

"**धर्म ते बिरति योग ते ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना॥**"

"**भेद गए बिनु रघुपति, अति न हरहिं भवजाला।**"

"**सकल दृश्य निज उदर मेलि, सोवइ निद्रा तजि योगी।**
सो हरिपद अनुभवइ परम सुख, अतिशय द्वैत वियोगी॥"

साथ ही जब द्वैत अज्ञान का कार्य्य है, तब उसकी निवृत्ति के लिये ज्ञान की अपेक्षा है ही–"**क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।**" साथ ही भक्ति का ज्ञान साधनों में वर्णन स्पष्ट है—

"**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी॥**"

"**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।**
सगुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥"

"**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।**
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥"

"**श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि॥**"

इत्यादि श्रुतियों के द्वारा यह सिद्ध होता है कि भक्ति से ही ब्रह्मात्मतत्व का साक्षात्कार होता है।

इन दोनों पक्षों पर विचार करने के पहले यह समझ लेना चाहिये कि भक्तिपद का प्रयोग कहाँ होता है। वैदिकों की दृष्टि में कर्म, उपासना और ज्ञान यह तीन साधन प्राणियों के कल्याण के मूल हैं। कर्म से मल की निवृत्ति, उपासना से विक्षेप की निवृत्ति, और ज्ञान से आवरण की निवृत्ति होती है। मल, विक्षेप, आवरण इन तीनों उपद्रवों से उपद्रुत होकर अन्तरात्मा अनन्त अनर्थों का भागी होता है।

इन तीनों साधनों से तीनों उपद्रवों के निवृत्त हो जाने पर अन्तरात्मा की शुद्ध-प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मस्वरूप से अवस्थिति होती है। इस पक्ष से वेदशास्त्रानुसार देहेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार की, संध्या, तर्पण, वैश्वदेव, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्यादि श्रौत-स्मार्त कर्मलक्षण चेष्टाएँ ही कर्म हैं। सगुण, साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्माकाराकारित स्निग्ध अन्तःकरण की वृत्ति-परम्परा ही उपासना या भक्ति है। साथ ही सगुण, निराकार परब्रह्माकाराकारित अन्तःकरणवृत्ति-परम्परा एवं निर्गुण, निराकार ब्रह्माकारवृत्ति को भी उपासना या भक्ति कहा जाता है। कुछ

लोग कहते हैं कि निर्गुण, निराकार ब्रह्माकार वृत्ति को ज्ञान कहते हैं और सगुण, साकार ब्रह्माकारस्नेहात्मिकावृत्ति को भक्ति कहते हैं।

वस्तुतः ब्रह्माकारवृत्तिपरम्परा को कर्म और ज्ञान दोनों ही कहा जा सकता है, परन्तु सारांश यही है कि प्रमाण एवं वस्तु के परतन्त्र वृत्ति ज्ञान है और पुरुषतन्त्र-मानसी वृत्ति कर्म है। वही श्रद्धा-स्नेह-सहकृता उपासना या भक्ति है। ज्ञान में प्राणी परतन्त्र होता है, घ्राण से गन्ध का सन्निकर्ष होने पर इच्छा न होते हुए भी गन्ध ज्ञान होता है। अतः ज्ञान में पुरुष की स्वतन्त्रता नहीं है, परन्तु ध्यान या उपासना में प्राणी स्वतन्त्र होता है। शास्त्रानुसार भगवान् की मूर्त्ति की कल्पना करके प्राणी ध्यान कर सकता है। इस दृष्टि से श्रद्धा-स्नेह सहित उपास्य ब्रह्मस्वरूपाकारवृत्तिप्रवाह उपासना है। वह उपास्यस्वरूप निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार तीनों ही तरह का होता है। वस्तु एवं प्रमाण के अधीन उपास्याकारवृत्ति ज्ञान कहलाती है, जो कि उपासना की महिमा से ही हो सकता है, फिर भी वेदान्तियों की दृष्टि में अनाद्यनिर्वचनीय मूलाज्ञान का निवर्तक निर्गुण निराकार का ही ज्ञान होता है। अतः वही ज्ञान पद से अधिक व्यपदिष्ट होता है।

वह शान्त शुद्ध मनः-सहकृत महावाक्य से ही या महावाक्याभ्यासजन्यसंस्कार-प्रचयसहकृत शान्त मन से होता है। तदितर ज्ञान या साक्षात्कार उपासना मन से होती है। परोक्ष ज्ञान वेदादि शास्त्रों से भी हो जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार शास्त्रानुसार किसी उपास्यस्वरूप का श्रद्धा-स्नेह सहित ध्यान उपासना है; वही भक्ति है। इस तरह सगुण भगवान् के समान ही निर्गुण ब्रह्म की भी भक्ति होती है। इस भक्ति से विक्षेपनिवृत्ति चित्त की एकाग्रता और भगवत्प्रसन्नता प्राप्त होती है। फिर निर्विघ्न रूप से ही वेदान्त-श्रवणादि द्वारा निर्गुण निराकार निर्विकार ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। अतएव शास्त्रों में वेदान्त-श्रवणादि द्वारा भगवत्साक्षात्कार में भगवद्भक्ति या प्रपत्ति को मुख्य साधन बतलाया है—"**तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये**"॥ (श्रुति)। अर्थात् आत्मबुद्धि प्रकाशित करनेवाले देव के मैं शरणागत हूँ। "**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**" उस आद्यपुरुष की मैं शरण हूँ। "**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**" वरण, भजन, भक्ति और प्रार्थना से भी भगवान् की प्राप्ति अर्थात् बोध होता है।

> **"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।**
> **नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥"**

भगवान् का भी कहना है कि श्रद्धा से भजनेवाले भक्तों को मैं बुद्धियोग (ज्ञान) देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं। मैं स्वयं ही ज्ञान-दीप से उनके अज्ञान को नष्ट कर देता हूँ। "**भक्त्या मामभिजानाति**" भक्त भक्ति के द्वारा मुझे सम्यक् रूप से जान लेता है।

"**क्लृपि संपद्यमाने च**" इस वार्तिक के उदाहरण रूप से भट्टोजिदीक्षित ने कहा है कि "**भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, सम्पद्यत इत्यर्थः**" अर्थात् भक्ति ही ज्ञानाकार से परिणत होती है। सारांश यह है कि जैसे मृत्पिण्ड ही घटाकार से परिणत होता है, वैसे ही भक्ति ही ज्ञान शुद्धसच्चिदानन्दघन ब्रह्मसाक्षात्काररूप से परिणत होती है। सगुण साकार परब्रह्म में आसक्त चित्त जब प्रेमोद्रेक से निर्विचेष्ट हो जाता है, तब किसी भी प्रमेय की प्रतीति नहीं होती। प्रमेय-प्रतीति मिटने पर प्रमाण और प्रमाणाश्रय प्रमाता की अप्रतीति स्वाभाविकी है। उस स्थिति में वेदान्त द्वारा प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय तीनों के अवभासकरूप से शुद्ध परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। चित्त की निर्विचेष्टता के बिना प्रमाता और प्रमाण की प्रतीति कथमपि नहीं मिट सकती। बिना उसके मिटे सर्वोपद्रवविनिर्मुक्त निर्विकल्प चिदानन्द ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

अष्टांग योग का भी उपयोग इसी भगवदुपासना द्वारा चित्त की निर्विचेष्टता में है। कपिल और देवहूति के संवाद में इसीलिये सगुण-साकार ध्यान की अत्यन्त प्रशंसा की है। भगवान् के श्रीचरणारविन्द-मकरन्द-रसास्वादन में विभोर मन सहज ही में शान्त हो जाता है तथा उनके नख-मणि-चन्द्रिका से धौतप्राय मन भगवान् के अमृत-मय मुखचन्द्र के सौन्दर्य्य-माधुर्य्य-सुधा-समास्वादन करते-करते निर्विचेष्ट हो जाता है, बस, फिर उस प्रेमोन्माद में विलीन मन को विचलित न करके—"**तच्च त्यक्त्वा महारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।**" उस समय "**एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे। त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥**" के अनुसार प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और उनके अभावों का भासक शुद्ध परब्रह्म स्वतः प्रकाशमान होता है, फिर वहाँ केवल महावाक्य की अचिन्त्य शक्ति से अनाद्यावरण सदा के लिये मिट जाता है।

इस तरह द्रवीभूत स्निग्ध चित्त की भगवदाकाराकारित वृत्तिरूप भक्ति ही निर्गुण निराकार निर्विकार परब्रह्मरूप से व्यक्त होती है। फिर उससे शुद्ध ब्रह्मात्मनावस्थानुरूप मोक्ष अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। इसलिये कुछ महानुभावों ने भक्ति से ही मोक्ष माना है। ऐसी स्थिति में भी '**तमेवविदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यते।**' इत्यादि श्रुतियों का विरोध नहीं होता, क्योंकि ज्ञान द्वार-कोटि में यहाँ भी मान्य ही है। जैसे पिण्ड-कपालादि द्वारा ही मृत्तिका घट का कारण बनती है, वैसे ही ज्ञान द्वारा ही भक्ति मोक्ष का कारण बनती है।

इसके अतिरिक्त आचार्यों ने कहीं-कहीं भक्ति शब्द का ज्ञान ही अर्थ किया है। यद्यपि ऐसा अर्थ आपाततः पक्षपातपूर्ण सा प्रतीत होता है, परन्तु विचार करने पर अनुचित प्रतीत नहीं होता। तथा च "**भजनं भक्तिः**" इस व्युत्पत्ति के अनुसार भजन या सेवन को ही भक्ति कहा जाता है। वह सेवन केवल कायिक व्यापार ही नहीं, किन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन तीनों ही से सेव्य की सेवा की जाती है। इतना ही क्यों,

महानुभावों ने मानसी सेवा को ही परा या मुख्या सेवा माना है। **'कृष्णसेवा सदा कार्य्या मानसी सा परागता।'**

श्रीकृष्ण को सेवा सदा करनो चाहिये, वह सेवा भी मानसी ही मुख्या है। अब प्रश्न होता है कि, हस्त-पादादि से तो सेवा परिचर्य्या बन सकती है, परन्तु मानसी सेवा कैसे हो? इसपर महानुभावों ने कहा है—**"चेतस्तत्प्रवणं सेवा"**। अर्थात् चित्त की श्रीकृष्णोन्मुखता ही सेवा है अर्थात् भगवान् की ओर भगवत्स्वरूपाकाराकारित मनोवृत्तिप्रवाह ही भगवान् की मानसी सेवा है। बस, उसीकी सिद्धि के लिये तनुजा, वित्तजा उभय प्रकार की सेवा अपेक्षित होती है। **'तत्सिद्धयै तनुवित्तजा'**। इस तरह मनोवृत्ति प्रवाह भी सेवा ही है। सारांश यह हुआ कि, सेव्याकार-मानसो-वृत्ति ही सेव्य की सेवा है। यहाँ पर भी कुछ महानुभाव आनुकूल्येन कृष्णाकारावृत्ति (कृष्णानुस्मरण) को भक्ति कहते हैं। कुछ कृष्णाकारावृत्ति मात्र को भक्ति या सेवा मानते हैं। वह आनुकूल्येन किंवा प्रातिकूल्येन चाहे जैसी ही हो। जब सेव्याकार वृत्ति भक्ति है और सेव्य निर्गुण, निराकार, निर्विकार है तो निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्माकाराकारित वृत्ति ही भक्ति हुई। फिर वह चाहे वस्तु और प्रमाण परतन्त्र ज्ञानरूपा हो, चाहे पुरुषतन्त्र उपासनारूपा हो। निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्माकाराकारित वृत्ति अवश्य ही भक्ति पद से कही जा सकती है। अतएव—**"भजति विषयाकारतां प्राप्नोति—इति भक्तिर्ज्ञानम्।"**

इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी विषयाकारता को भजनेवाला ज्ञान भक्ति पद का अर्थ होता है। इस पक्ष में **"भक्त्या मामभिजानाति"** इस स्थल में भक्ति पद से ज्ञान लक्षणा चतुर्थी भक्ति ही विवक्षित है। आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी चार प्रकार के भक्त होते हैं और उनकी भक्ति चार ही तरह की होती है। ज्ञानी की भक्ति ज्ञानरूपा ही है, ज्ञानी की दृष्टि में प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान् से भिन्न दूसरी वस्तु न हुई, न है और न होगी। अतः उसकी एकमात्र प्रीति भगवान् में ही है। इस तरह वह इतरों से विशिष्ट है। भगवान् उसे अपना आत्मा ही मानते हैं—**"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।"**

प्रकाश्य को प्रकाशन करता हुआ प्रकाश, प्रकाश्याकार होकर प्रकाश्याकारता को भजता है। इस दृष्टि से ज्ञेयाकारता को प्राप्त ज्ञान भक्ति पद से कहा गया है।

इसी दृष्टि से आचार्यों का कहना है कि—

"मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यपरे जगुः॥"

मोक्षकारण-सामग्री में भक्ति ही श्रेष्ठ है और स्वरूपानुसंधान ही भक्ति है। यहाँ इस शंका का कोई मूल्य नहीं रहता कि जब सेव्याकाराकारित वृत्ति को भक्ति कहा जाता है, तब तो एक सेवक को अवशेष रहना चाहिये। परन्तु ऐसी स्थिति में

तो अद्वैतवाद ही असिद्ध रहेगा, क्योंकि व्यावहारिक सत्तावाला साधक ही पारमार्थिक विशुद्ध चिदानन्दात्म-तत्व को अपना सेव्य बनायेगा, उस सेव्य से भिन्न सभी व्यावहारिक ही हैं, पारमार्थिक तो एक अव्यवहार्य परमात्मतत्व ही रहता है—

"अक्षमा भवतः केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यति संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम् ॥"

इतने पर भी इस सिद्धान्त में उपासनारूप भक्ति ज्ञान से पृथक् मान्य और आदरणीय होती ही है। उसकी कृपा से ही यह भक्ति भी प्राप्त होती है। साथ ही ठीक इसके विपरीत, अन्यान्य साम्प्रदायिक ब्रह्मसूत्रभाष्यकारों का कहना है कि उपासना ही भक्ति है और उससे भिन्न होकर ज्ञान नाम की स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" यहाँ पर भी इस मत में वस्तुप्रमाणतन्त्र तत्वज्ञान मात्र नहीं विवक्षित है, क्योंकि उसका कुछ भी उपयोग नहीं है। **'राजा है'** इस ज्ञानमात्र से कुछ नहीं सिद्ध होता, किन्तु राजा का स्वसम्बन्धित्वेन ज्ञान ही उपकारक हो सकता है। ठीक इसी तरह वेदान्तवेद्य ब्रह्म का केवल ज्ञान निरर्थक है, किन्तु **"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्"** इत्यादि के अनुसार स्वसम्बन्धित्वेन ज्ञानपूर्वक उपासनारूप विशिष्ट ज्ञान ही **"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"**, **"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"** इत्यादि श्रुति-सूत्रों में विवक्षित है। अतएव **'य एवं वेद'** इत्यादि स्थलों में वेद से उपासना ही सर्वमान्य है, इसलिये ज्ञानकाण्ड की पृथक् कल्पना ही व्यर्थ है।

कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड दो ही काण्ड वेदों में हैं। चाहे पृथक् ज्ञानकाण्ड माना भी जाय तो भी वह कर्म और उपासना दोनों का साधन है। कर्म के ज्ञान से ही अनुष्ठान होगा, उपास्यज्ञान से ही उसकी उपासना होती है। इस पक्ष में निर्गुण निराकार ब्रह्म सर्वथा अमान्य ही है और उस पक्ष में संसार या बन्ध सत्य ही है। अतः ज्ञान से उसका मिटना असम्भव है। इसलिये भक्ति, प्रार्थना आदि से ही बन्धन का छूटना और विशिष्ट आनन्द का लाभ सम्भव है। इस पक्ष में ज्ञान से भक्ति का अत्यन्त-उत्कर्ष स्पष्ट ही है, परन्तु जो कर्मफल होने से मुक्ति की अनित्यता से भयभीत होते हैं और समझते हैं कि यदि बन्ध और संसार सत्य है तो उसकी आत्यन्तिक निवृत्ति असम्भव है, वे भगवान् को सगुण-साकार की तरह निर्गुण-निराकार भी मानते हैं और कर्म, उपासना के समान ही ज्ञानकाण्ड का भी महत्व मानते हैं, उनके मत में सुतरां उपर्युक्त मत अमान्य है।

फिर भी कुछ महानुभाव कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड तीनों को पृथक् मानते हुए भी भक्ति को ज्ञान से उत्कृष्ट कहते हैं, तब भी उनका ज्ञानप्राप्त ब्रह्म, सगुण साकार परब्रह्म से निम्न कोटि का है। ज्ञानप्रधान सच्चिदानन्द ब्रह्म, ज्ञानप्राप्य है, आनन्दप्रधान ब्रह्म, भक्तिप्राप्य है। वेदान्तवेद्य ब्रह्म आतप के समान है, भक्तिप्राप्य भगवान् सूर्य्य के समान है। सुतरां इस मत में भी ज्ञान से भक्ति का उत्कर्ष है। इन

मतों में भी भक्ति का **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** ईश्वर में परमानुराग ही भक्ति है इत्यादि लक्षण मान्य हैं। वह भक्ति 'मर्यादा' और 'पुष्टि' किंवा 'वैधी' और 'रागानुरागा' भेद से दो प्रकार की है।

स्वतः अप्राप्त विधिगम्य भगवत्सेवन मर्य्यादा या वैधी है, भगवत्कृपाप्राप्त कामिन्यादिप्रीतिवत् रागवशात् भगवत्सेवन पुष्टि या रागानुरागा है। यह भक्ति पर-प्रेमरूपा है, स्वतःसिद्धा है, यह भगवान् की परमान्तरङ्गा शक्तिरूपा है। यह हेतुफलभावरहित है।

"स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा संप्रसीदति॥"

पुरुषों का भगवन्नामादिसंकीर्तनादि लक्षण भक्ति ही परमोत्कृष्ट धर्म है, जिससे अधोक्षज भगवान् में अहैतुकी अप्रतिहता भक्ति होती है, जिससे कि अन्तरात्मा का संप्रसाद होता है, यहाँ यह सिद्ध होता है कि जब **'यतः'** इस पञ्चम्यन्त से भक्ति का कार्य्यकारणभाव निर्धारित है, तब उसे अहैतुकी कैसे कहा जा सकता है? इसपर समाधान यह है कि वास्तव में भक्ति का कारण बनता नहीं, यदि भगवत्कृपा को कारण कहें तो सम भगवान् में विषम कृपा कैसे सम्भव है? यदि कृपा भी सम हो, तब तो सभी को भक्ति-प्राप्ति होनी चाहिए। यदि भक्तकृपा से कहें तो वह भी ठीक नहीं क्योंकि वह भी सम ही है।

"सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥"

यदि –

"ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्री कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥"

इस लक्षण के अनुसार मध्यम-भक्त की कृपा से भक्ति का होना मानें सो भी ठीक नहीं, क्योंकि श्रद्धा-पुरस्सर मध्यम-भक्त के सेवन से ही मध्यम-भक्त की कृपा प्राप्त हो सकती है, परन्तु श्रद्धा भी तो भक्ति ही है, वह पहले कैसे मिले? साधन और साध्यरूप से भक्ति ही दो प्रकार की है, उसमें भी अवस्था-भेदमात्र से साध्य-साधनभाव बनते हैं। जैसे अपक्वआम्र, पक्वआम्र का हेतु होता है, वैसे ही साधन-रूपा भक्ति का साध्यरूपा भक्ति के साथ साध्य-साधन-भाव होता है।

"सर्वाभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुस्मरणं भक्तिरुच्यते॥"

अर्थात् सर्वाभिलाषवर्जित ज्ञान और कर्मों से अनावृत अनुकूलतया श्रीकृष्ण का अनुस्मरण ही भक्ति है।

इन सिद्धान्तों में भक्ति ही सब कुछ है, उसके लिये ही समस्त साधन हैं, ज्ञान और मोक्ष आदि उसमें विघ्न हैं। भक्तजन भुक्ति, मुक्ति, विरक्ति सबको तिलाञ्जलि देकर इस भक्ति को ही चाहते हैं। इसीलिये बड़े-बड़े अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र-गण भी अद्वैत, अनन्त, अखण्ड ब्रह्म से मन हटाकर सगुण साकार भगवान् में मन लगाते हैं।

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दरेणुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥"

अरविन्दनयन भगवान् के श्रीचरणारविन्द-मकरन्दमिश्रित तुलसिका के मकरन्दरेणु जिस समय घ्राणरूप स्वविवर द्वारा सनकादिकों के हृदयान्तर्गत हुए, बस उसी समय उन अक्षर ब्रह्मनिष्ठ सनकादिकों के भी शरीर और मन में क्षोभ हो गया। अर्थात् शरीर में पुलकावली, नयनों में अश्रु और मन में द्रवता उत्पन्न हो उठी।

"स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नमामि॥"

" स्वसुखेनैव निभृतं परिपूर्णं चेतो यस्य स तथोक्तः, तेनैव निरस्तः अन्यस्मिन्-पदार्थे भावो भावना अस्तित्वबुद्धिर्यस्य स तथोक्तः।" श्रीशुकाचार्य्य, जिनका चित्त स्वस्वरूपभूत परमानन्द सुधासिन्धु से ही परिपूर्ण हो गया था, तद्व्युदस्तान्यभाव अर्थात् स्वसुख-निभृतचेता होने से ही अन्यपदार्थविषयक अस्तित्व-बुद्धि जिनकी मिट गयी थी, जो केवल सर्वत्र एक परम तत्व का ही दर्शन करते थे, भगवान् की रुचिर लीला से उनका भी धैर्य्य च्युत हो गया। उन्होंने स्वयं कहा है—

"परिणिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे अध्यगां संहितामिमाम्॥"

अर्थात् मेरा मन निर्गुण परब्रह्म में परिनिष्ठित था फिर भी उत्तमश्लोक भगवान् की लीला ने मेरे चित्त को खींच लिया। श्रीहरि के गुणों से आक्षिप्त-मति होकर भगवान् बादरायणि ने श्रीमद्भागवतरूप महाख्यान का अध्ययन किया है—

"हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥"

"लखी जिन लाल की मुसकान।
तिनहिं बिसरी वेद विधि सब योग संयम ज्ञान॥"

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥"

फिर भी वेदान्तिगण इनके कुछ अंशों में विमति रखते ही हैं, उनकी दृष्टि में जो निरतिशय परमानन्दरसात्मक वस्तु है वही तो ब्रह्म है और उससे बढ़कर किसी फल की कल्पना भी असंभव है। अनन्तपदसमभिव्याहृत ब्रह्म पद का अर्थ ही निर-

तिशय बृहत् है। सर्वविधपरिच्छेदशून्य ही निरतिशय बृहत् होता है। ऐसा होने पर भी यदि सोपप्लव एवं अस्वप्रकाश हो तो वह निरतिशय बृहत्स्वरूप ब्रह्म पदार्थ होने योग्य नहीं है। अतः स्वप्रकाश परमानन्द रसात्मक ही उसे होना चाहिये। इस तरह अनन्त स्वप्रकाश परमानन्द ही ब्रह्म है। आतप की अपेक्षा सूर्य्य में जो अतिशयता है वैसी अनन्त अतिशयता की कल्पना करते-करते वाचस्पति की भी मति जहाँ परिश्रान्त हो जाय, वही वेदान्तियों का ब्रह्म है।

उसमें ही समस्त विश्व कल्पित है, उसीसे जीवादि विविध प्रकार का संसार उपस्थित होता है। उसके साक्षात्कारात्मक ज्ञान से ही समस्त अनर्थों की निवृत्ति होती है। कर्मोपासनादि किसी से भी उत्पन्न होनेवाला मोक्ष द्वैतात्म होने से एक संसार ही है। साथ ही उत्पाद्य, प्राप्य, संस्कार्य्य और विकार्य्य सभी कर्मफल जैसे अनित्य हैं, वैसे ही कर्मोपासनादि प्राप्य मोक्ष भी अनित्य ही होगा। निष्प्रपञ्च अद्वैत-सुख के लिये ही समस्त विश्व की निद्रा या सुषुप्ति में प्रवृत्ति होती है। जैसे निम्ब के कीट को निम्ब ही में मिठास लगती है, उसे मिश्री के मीठापन पर हँसी आ सकती है, वैसे ही वादित्र, नृत्य, गीतादि द्वैतसुख में रस लेनेवाले संसारियों को अद्वैतसुख में रस नहीं आता। फिर भी वह ऐसी वस्तु है कि चाहे उससे कोई अनभिज्ञतावश द्वेष ही करे, परन्तु वह अपने स्वभावानुसार सबके प्रेम का आस्पद सबमें व्यक्त ही रहता है। आत्मा के ज्ञान और उसकी महिमा से भले ही किसी को चिढ़ हो, परन्तु आत्मा का उत्कर्ष और बड़ाई सभी चाहते हैं। प्रेम भी उसमें सभी को करना पड़ता है।

जब अपने सिद्धान्त में, अपने हठ में, अपने देश, ग्राम, कुल, कुटम्ब, क्षेत्र, वित्त, राज्य में प्रेम होता है, तब क्या अपने में नहीं होगा? जब परमात्मा की ही मूर्तियों में से अपनी इष्ट मूर्ति में ही प्रेम होता है, अपने इष्ट से भिन्न परमात्मा की मूर्ति में प्रेमाभाव ही नहीं, किन्तु द्वेष होता है, तब क्या आत्मा में किसी को प्रेम नहीं होगा? शैव, विष्णुमूर्ति से द्वेष; वैष्णव शिव-मूर्ति से द्वेष, आत्मसम्बन्धाभाव से ही तो करते हैं। अपने इष्ट में तो सबको प्रेम होता ही है। साथ ही आत्ममहिमा का असहिष्णु भी अपनी बड़ाई चाहता है, अपने सिद्धान्त की बड़ाई चाहता है, इतना ही क्यों, "**अहं ब्रह्मास्मि**" के सिद्धान्त का खण्डन करनेवाले ही अन्त में स्वयं भगवान् बनने और रासलीला करने का साहस करते हैं।

उनके भक्त उन्हें प्रत्यक्ष अवतारी कहते हैं और वे सुन-सुनकर प्रसन्न होते हैं। कोई श्री वृषभानुनन्दिनी का अवतार तो कोई प्रिया-प्रियतम दोनों ही का अवतार मानने और मनवाते हैं। यह सब स्वाभाविक आत्मप्रेम का ही विकृत रूप है। तभी तो भगवती श्रुति ने साफ कहा है कि सब कुछ आत्मा के ही प्रेम का शेष है। देवता में भी प्रेम आत्मार्थ ही होता है, आत्मकल्याणकारक आत्महितैषी देवता में प्रेम और विपरीत में द्वेष होता है। इसी तरह निम्न से निम्न कोटि के जीव और

उच्च से उच्च कोटि के जीव सुषुप्ति में अद्वैत निष्प्रपञ्च सुख का रस लेना चाहते हैं। किं बहुना उच्च से उच्च कोटि के ईश्वर भी योगनिद्रा में उसी निष्प्रपञ्च अद्वैत-सुख के अनुभव में लवलीन होते हैं। दिव्यातिदिव्य वैषयिक सुख सामग्रियों के उपस्थित रहने पर भी योगनिद्रा द्वारा निष्प्रपञ्च अद्वैत-सुख में ही अधिकाधिक प्रवृत्ति होती है। प्राणी दिव्य कान्तादि स्पर्श-सुख से विरत होकर सौषुप्त सुख चाहते हैं, फिर जब सावरण सौषुप्त अद्वैत सुख में प्राणियों की ऐसी प्रीति होती है तो फिर निष्प्रपञ्च निरावरण अद्वैत ब्राह्म सुख की महिमा कौन कैसे कहे ?

अतएव अपरिच्छिन्न सुख वहीं है जहाँ द्रष्टा, दर्शन, दृश्य को समाप्ति है। वही भूमा सुख है। **'यत्र नान्योऽन्यत्पश्यति नान्योऽन्यच्छृणोति स भूमा, यो वै भूमा तत्सुखम्, यदल्पं तन्मर्त्यम् नाल्पे सुखमस्ति ॥''** अर्थात् जहाँ अन्य अन्य को देखता-सुनता है वहाँ अल्प ही सुख है। इस दृष्टि से अनन्त, अखण्ड भूमा ब्रह्म ही परम सुख है, उससे अधिक सुख की कल्पना सर्वथा अशास्त्रीय है। यह अनन्त अखण्ड भूमा ब्रह्म ही सगुण, साकार, सच्चिदानन्द ब्रह्म भी है। यही अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्ति से शिव, विष्णु, उमा, गणपति, भास्कररूप से भी उपास्य होता है।

जैसे विष्णु की ही राम, कृष्ण, नृसिंह आदि रूप से उपासना होती है, वैसे ही एक ही परमतत्त्व की शिव, विष्णु आदि रूप से उपासना होती है। **"व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण विगत विनोद।"**

परमतत्त्व ही अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्ति से सगुण, साकार, सच्चिदानन्दघन रूप में व्यक्त होते हैं, उनके किसी रूप में उत्कट उत्कण्ठा, प्रीति ही भक्ति है। भक्ति और ज्ञान के उत्कर्ष-अपकर्ष का चिन्तन व्यर्थ है। भक्ति महारानी के ही शुभाशीर्वाद से विवेक नृप से उपनिषद् में प्रबोध चन्द्र का उदय होता है। विवेक का मोह के साथ अनादि काल से युद्ध चला आ रहा है। मोह के पक्ष में काम, क्रोध, अहंकार, लोभ, दम्भ प्रभृति आदि अनेक भट हैं। विवेक के पक्ष में वैराग्य, विचार, शम, दम, क्षमा, दया, श्रद्धा, निवृत्ति आदि अनेक भट हैं। दलबल सहित मोह पर विजय प्राप्त करके प्रबोधसहित परम पुरुष भगवान् का अंशभूत जीवात्मा कृतकृत्य होकर श्रीभक्ति माता के चरणों में जाकर प्रणाम करता है। श्रीभक्ति भगवती उसे आशीर्वाद देती हैं और कहती हैं—"वत्स ! मैं तो चिरकाल से इसी चिन्ता में थी कि किस तरह प्रबोधचन्द्रसहित विवेक विजयी होकर स्वभावतः शुद्ध बुद्ध-मुक्त-स्वभाव परम पुरुष को स्वस्वरूपस्थ करें। वह आज मेरा मनोरथ पूरा हुआ। वत्स ! मैं आशीर्वाद देती हूँ।"

जीवात्मा कृतकृत्य होकर कहता है—"अम्ब ! आपके ही शुभानुसंधान से मैं कृतकृत्य हुआ हूँ। अब मैं यही चाहता हूँ कि आपके श्रीचरणों में मेरी सदा अटल श्रद्धा बनी रहे।" इस तरह प्रबुद्ध होकर भी जीवात्मा भक्ति देवी का प्रेमी है, फिर

भक्ति का उत्कर्ष जितना ही कहा जाय उतना ही कम है। श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में ज्ञान, वैराग्य को भक्ति महारानी का पुत्र कहा गया है और यह दिखाया गया है कि यह तीनों ही कलि के पाखण्ड से जर्जर एवं जीर्णशीर्ण हो गये थे। श्रीमद्वृन्दा-रण्यधाम के संसर्ग से श्रीभक्तिदेवी तो नवीन स्वरूपा तरुणी हो गयी, परन्तु वहाँ ज्ञान, वैराग्य का कोई ग्राहक न था, अतः वे दोनों ज्यों-के-त्यों जीर्णशीर्ण क्षुत्क्षाम-शुष्क-कण्ठ होकर मूर्छितावस्था में ही पड़े रहे। श्रीभक्तिदेवी स्वयं नवीना, सुरूपिणी तरुणी होकर भी अपने पुत्रों की दुर्दशा देखकर खिन्न होकर सोच रही थी। उसका भाव यह था कि माता का जरठ होना उचित है, पुत्र का जरठत्व वार्धक्य अवश्य ही चिन्ताजनक है।

कभी एक वृद्धा वैश्यानी स्त्री एक महात्मा से वरदान माँगने लगी —"महा-राज! मैं तो यही माँगती हूँ कि मेरे बेटे, पोते मुझे कन्धे पर रखकर जला आयें।" महात्मा ने कहा कि "जीते ही या मरने पर?" सारांश यह कि कल्याणमयी, करुणा-मयी, पुत्रवत्सला अम्बा यही चाहती है कि "मेरे सामने मेरे बेटे-पोते बने रहें, मरें नहीं, किन्तु मैं ही उनके सामने मर जाऊँ।" बेटे-पोते की बीमारी को माँ अपने ऊपर बुलाती है। ठीक इसी तरह भक्ति माता को भी अपने पुत्र ज्ञान, वैराग्य की वृद्धि में ही शान्ति-संतोष होता है। वह उनका अनिष्ट नहीं देख सकती, उनके सामने अपना निधन चाहती है। माता पहले तो पुत्र बिना अपने को वन्ध्या समझती है, अपना जीवन व्यर्थ समझती है, पुत्र-जन्म के लिये तरह-तरह के देवी-देवताओं को मनाती है। पुत्र के गर्भ में आते ही हर्ष के मारे फूली नहीं समाती, गर्भस्थ बालक के हस्त, पादादि उत्क्षेपण से कष्ट होने पर भी उसे अपराध नहीं मानती, अब पुत्र बड़ा हो गया यह समझकर प्रसन्न होती है। पुत्र की उत्पत्ति में प्राणान्त कष्ट सहन कर भी आनन्द में विभोर रहती है। स्वयं गीले में रहकर बालक को सूखे में रखती है। मल, मूत्रादि अपने ऊपर लेती है। माँ का हृदय कितना उदार होता है, वह पुत्र के लिये क्या-क्या नहीं करती है? ठीक इसी तरह ज्ञानवैराग्यरूप पुत्रोत्पत्ति के बिना भक्ति अपने को वन्ध्या मानती है और उसकी उत्पत्ति के लिये लालायित रहकर देवी-देवता मनाती है। फिर लालन-पालन कर बड़ा करती है, उनकी जीर्णता-शीर्णता में वह फिर चिन्तित और खिन्न होती है। उनकी मूर्च्छा और जीर्णता-शीर्णता मिटाने के लिये फिर महात्माओं की शरण जाकर उपाय चाहती है।

श्रीभक्तिदेवी के इतने प्रिय पुत्र ज्ञान, वैराग्य के अपकर्ष की चिन्ता ही क्यों, जब श्री भक्ति उनके बिना अपने को वन्ध्या और उनके जन्म, समृद्धि, उन्नति में ही अपने को सौभाग्यवती मानती है। माता बिना पुत्र के नहीं सोहती, पुत्र माता के अमरपुर पधारने पर भी रह सकता है। तत्वज्ञान, वैराग्य से भक्त को घृणा होना और उनका अपकर्ष सिद्ध करने का प्रयत्न करना कहाँ तक संगत है? साथ ही पुत्र

का माता के प्रति क्या कर्तव्य है, यह भी सोचने की बात है। शास्त्रों ने पुत्र के लिये माता-पिता ही को परम दैवत कहा है। साक्षात् उमा-महेश्वररूप से माता-पिता की आराधन करना चाहिए। "**मातृदेवो भव पितृदेवो भव।**" पिता की अपेक्षा भी माता की महिमा दशगुना अधिक है। "**पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।**"

ऐसी स्थिति में पुत्र कितनी भी उन्नति को क्यों न प्राप्त कर ले, कितना अधिक पूज्य क्यों न हो, तथापि उसमें मातृभक्ति का सदा ही रहना अनिवार्य होगा। ऐसा न होने पर वह कृतघ्न समझा जाता है और उसका उद्धार होना असम्भव हो जाता है। अत. ज्ञान-वैराग्य उच्चतम होकर तथा परम पूज्यतम होकर भी अपनी अम्बा श्रीभक्ति महारानी के चरणों में अवश्य ही पूर्ण श्रद्धा-भक्ति रखेंगे।

ऐसी स्थिति में यदि कोई भी ज्ञानी या वैराग्यवान् श्रीभक्ति को नगण्य या निकृष्ट समझकर अनादर करे तो वह ज्ञानी नहीं, ठीक अज्ञानी और कृतघ्न ही है। इसीलिये वेदान्ताचार्य्यप्रवर भगवान् शंकर ने कहा है—"**यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः। आदौ विद्याप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये॥**" वेदान्त, गुरु और श्रीहरि इनका यावज्जीवन सदा ही वन्दन करना चाहिये, पहले विद्याप्राप्ति के लिये, पश्चात् कृतज्ञता प्रकट कर कृतघ्नता दूर करने के लिये। इसीलिये शास्त्रों में कहीं भी भक्ति या ज्ञान किसी की निन्दा नहीं है। भक्ति बिना ज्ञान की उत्पत्ति ही असंभव है, इसीलिये "**भक्त्या मामभिजानाति**" इत्यादि उक्तियाँ हैं। भक्ति के बिना अन्तरात्मा की शुद्धि नहीं होती, दृढ़ ज्ञान का आविर्भाव नहीं होता, अतः भक्ति बिना ही जो विमुक्त-मानी हैं, वे ज्ञानी ही नहीं हैं।

वे ही परिश्रमों से सत्कुलजन्म, विद्या, त्याग आदि उच्च पद पर आरूढ़ होकर भी कामादि दोषों से भ्रष्ट हो जाते हैं। उन्हीं के लिये—"**येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः**" इत्यादि उक्तियाँ हैं। यहाँ 'पर' पद का अर्थ ब्रह्मपद की प्राप्ति, उसका अपरोक्ष व साक्षात्कार नहीं कहा गया है, क्योंकि ब्रह्मपद पाने के बाद पुनः पतन नहीं होता—"**न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते**" निराकार निर्विकार ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार होने पर पुनः कर्मों का प्ररोहण भी अत्यन्त श्रुति-विरुद्ध है। अतः वह भी अमान्य ही है। "**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणि**" इत्यादि वचनों का तात्पर्य भगवान् के अनुगमन की प्रशंसा में ही है। **'अपि'** शब्द से भी यही भाव निकलता है। भगवान् को रथयात्रा करते देखकर उनका अनुगमन न करना महा अपराध है। अतः अवश्य ही अनुगमन करना चाहिये। और की तो कथा ही क्या, ज्ञानाग्निदग्धकर्मा को भी उसका दण्ड मिलता है। "**न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते अपितु विधेयं स्तोतुमिति न्यायात्**" निन्दा का तात्पर्य्य निन्द्य की निन्दा में नहीं, अपितु किसी विधेय की स्तुति में ही है।

ऐसे ही **"ज्ञाने प्रयासमुदपास्य"** इत्यादि श्लोक से ज्ञानप्रयास-त्याग का भी तात्पर्य यही है कि भगवच्चरित्र-श्रवणादि-लक्षण भगवद्भक्तिसहित ही ज्ञानप्रयास सफल होता है। विशेषत: वहाँ ज्ञान से शास्त्रीय परोक्ष ज्ञान ही विवक्षित है, अर्थात् प्राणी को केवल शास्त्रीय परोक्ष ज्ञान में इतना प्रयास न करना चाहिए कि जिससे श्रुतिगता भगवदीयवार्ता का आदर छूट जाय। कारण भगवद्भक्ति बिना भ्रमनिवर्त्तक ब्रह्मापरोक्षसाक्षात्कार नहीं हो सकेगा।

"श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥"

सर्वविध कल्याणों का प्रसव करनेवाली किंवा सर्व प्रकार के श्रेयों की निर्झरिणी श्रीभक्ति महारानी को छोड़कर जो केवल शास्त्रीय बोध प्राप्त करने के लिये क्लेश उठाते हैं, उनको सिवा क्लेश के और कुछ नहीं बचता। जैसे स्थूल धान की भूसी का अवहनन (कुट्टन) करनेवाले को सिवा परिश्रम के और कुछ भी हाथ नहीं लगता।

अत: भक्तिसहित ही ज्ञानप्रयास आदि की सफलता हो सकती है। इसी तरह के और भी बहुत से वचन मिलते हैं। भक्ति के बिना यज्ञ, वेद, तप आदि को निष्फल बताया गया है—**"नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥"** मैं वेद, तप, यज्ञ, दान तथा इज्या से इस तरह नहीं देखा जा सकता हूँ, अर्जुन ! जैसा तुमने मुझे देखा। **"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन, ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप।"**

हाँ, अनन्यभक्ति से तो प्राणी मेरे इस प्रकार के स्वरूप को जान तथा देख सकता है, देखकर मुझमें प्रविष्ट भी हो सकता है। यहाँ सर्वत्र ही यही अर्थ करना उचित है कि भक्ति के बिना केवल वेद, यज्ञ, दानादि से भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती। अन्यथा वेद, यज्ञ, दानादि का भगवत्प्राप्ति में उपयोग ही न सिद्ध होगा, परन्तु **"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"**, **"यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।"** इत्यादि वचनों से यह स्पष्ट सिद्ध है कि भगवान् की प्राप्ति में वेद, यज्ञ, तप, दानादि सबका पूर्ण उपयोग है। यही स्थिति **"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन"** इत्यादि श्रुतियों की भी है। कारण—**"श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।"** **"ऋतञ्च स्वाध्यायप्रवचने च।"** **"स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।"** इत्यादि स्थलों में श्रवणादि को ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन कहा गया है, अत: भगवद्भक्ति या वरण बिना केवल श्रवणादि से ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता। इस सम्बन्ध में एक दोहे की संगति बड़ी सुन्दर बैठती है—**"रामनाम इक अङ्क है सब साधन हैं सून। अङ्क बिना कछु हाथ नहिं अङ्क रहे दश गून।"** अर्थात् भगवान् का नाम तो एक आदि अङ्क के समान है और समस्त साधन शून्य के समान हैं। अङ्क

के बिना शून्यों का कुछ भी मूल्य नहीं, परन्तु अङ्क रहने पर तो शून्यों का दशगुना मूल्य बढ़ जाता है। यहाँ ध्यान देने की बात है कि शून्य भी व्यर्थ और अनादरणीय नहीं है। किसी दस्तावेज में एक अङ्क के अनन्तर दश शून्य हों और दशों शून्यों को मिटाकर केवल एक अङ्क ही रख लिया जाय तब कितना भेद होता है? इसी तरह भगवन्नाम के बिना साधन शून्य के समान निःसार हैं, परन्तु उसके रहने पर तो उन शून्यात्मक साधनों का बहुत मूल्य बढ़ जाता है। यही गति—

"नहि कलि कर्म न धर्म बिबेकू, रामनाम अवलम्बन एकू।"

"हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥"

इत्यादि वचनों की है। भगवन्नाम और भक्ति बिना कोई भी साधन फलवान् नहीं होते। बिना माता के यदि पुत्र का होना असंभव है, तो बिना भक्ति के ज्ञान का होना कैसे सम्भव है? अतः भक्ति छोड़कर ज्ञान का प्रयास वैसे ही व्यर्थ है, जैसे कामधेनु छोड़कर दूध के लिये आक को ढूँढ़ना। यदि सच्चे दूध की अपेक्षा है तो कामधेनु का सेवन ही युक्त है। इसी तरह यदि सच्चे ज्ञान की अपेक्षा है, तो भक्ति महारानी का सेवन युक्त ही है। यही **"ते सठ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥"** इत्यादि वाक्यों का भावार्थ है।

इन वचनों में अन्य साधनों का या ज्ञान का अनादर कथमपि नहीं किया गया है। अन्यथा शास्त्रोक्त विधि-निषेधों का उल्लंघन करने से नामापराध दोष अनिवार्य्य हो जायगा। इसीलिये गोस्वामीजी ने भी **"निज निज धर्म निरत श्रुति नीती"** और **"वर्णाश्रम निज-निज धरम निरत बेद पथ लोग"** इत्यादि वचनों से वेद और वेदोक्त कर्मों का खूब सम्मान किया है। **"जो कोइ दूषहिं श्रुति करि तर्का। बसहिं ते कोटि कल्प भरि नर्का॥"**

श्रीमद्भागवतादि सद्ग्रन्थों में भक्ति से ज्ञान द्वारा ही परम तत्त्व की प्राप्ति कही गयी है—

"एवं विशुद्धमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥"

भगवद्भक्तियोग से विशुद्धमनस्क निःसङ्ग प्राणी को भगवत्तत्वज्ञान होता है।

"पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुद्ध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते परांगतिम्॥"

अर्थात् हे भूमन्! बहुत योगी आपके चरणों में निज कर्मों को समर्पित करके विशुद्धान्तःकरण तथा विरक्त होकर आपकी कथा-श्रवण द्वारा प्राप्त भक्ति से आपको जानकर प्राप्त कर लेते हैं। भगवत्कथा-श्रवणादि भागवतधर्मों का सेवन करते-करते भक्ति, विरति, भगवत्प्रबोध प्राप्त करके आपको पा लेते हैं। **"भक्त्या मामभिजानाति"**

स्पष्ट ही है। भगवत्प्रेम से ही भगवत्कृपा और उनकी कृपा से ही प्राणी उन्हें जान सकता है। **"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।"**

"तुम्हरी कृपा तुमहिं रघुनन्दन। जानत भक्त भक्त उर चन्दन॥"

"सोइ जाने जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई॥"

इस तरह भगवद्भक्ति से भगवत्कृपा और भगवान् का ज्ञान होता है। ज्ञान से फिर भगवान् के सहजसिद्ध परप्रेम का प्रकट होना स्वाभाविक ही है। भक्ति को कौन कहे, भगवान् के साक्षात्कार ही में संसारबन्ध मिट जाता है। इस तरह से भक्ति पक्ष से भी ज्ञानपक्ष में भगवान् की महिमा अधिक समझ में आती है।

हाँ, यह बात दूसरी है कि कोई भगवत्तत्त्व ज्ञान की भावना से भगवान् की भक्ति करता है, कोई प्रेम से ही भगवान् की भक्ति करता है। परन्तु भगवत्तत्त्व ज्ञान-रूप फल दोनों ही को उसी तरह प्राप्त होता है, जैसे कोई पुण्यप्राप्त्यर्थ गंगा स्नान करता है, उसे पुण्य तो प्राप्त होता ही है, परन्तु तापादि-निवृत्ति भी आनुषङ्गिकी हो जाती है। कोई तापनिवृत्ति के लिये गंगा स्नान करता है, पुण्यप्राप्ति उसे भी आनु-षङ्गिक रूप से होती है। इसी तरह कोई ज्ञानप्राप्ति द्वारा पाप-ताप मिटाने के लिये भक्तिगंगा में स्नान करता है, उसे भी भगवत्प्रेमानन्द का लोकोत्तर सुख मिलता है, और जो भगवत्प्रेमानन्द के लिये ही भक्ति करते हैं उन्हें भी ज्ञानप्राप्ति और पाप-ताप निवृत्ति एवं तन्मूलभूत ज्ञान प्राप्त होता है। इस तरह भक्त को ज्ञानप्राप्ति और मोक्ष अवश्य होता है। परन्तु बिना ज्ञान के यदि किसी भी साधन से मोक्ष मान लिया जाय, तो बन्ध की सत्यता और मोक्ष की कृत्रिमता तथा अनित्यता अपरिहार्य हो जायगी, इसीलिये कर्मयोग या भक्तियोग से ज्ञानप्राप्ति के बिना मोक्ष का होना अत्यन्त अशास्त्रीय है। हाँ, जो मोक्ष चाहते ही नहीं, केवल प्रेम चाहते हैं, उनकी स्थिति दूसरी है। **"ताते उमा मोक्ष नहिं पावा। दशरथ भेद भक्ति मन लावा॥ सगुण उपासक मोक्ष न लेहीं। तिन कहँ राम भगति निज देहीं।"**

निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्म की उपासना में बड़ी कठिनाई है, परन्तु भगवान् का भक्त तो भगवान् के दिव्य चरणकमल का अवलम्बन करके अनायास ही भवसागर को तर जाता है। इतना ही क्यों, फिर तो उसे भवसागर और उसका पार समान ही हो जाता है। भगवान् के श्रीचरण और उनकी मङ्गलमयी भक्ति की महिमा से स्वर्ग, अपवर्ग, दिशाएं-विदिशाएँ सब मङ्गलमय हो जाती हैं। उसकी छोड़ने और ग्रहण करने की भावना ही मिट जाती है। किसी को ही क्षीरसागर के पार करने की रुचि होती है। यदि उसे तैरकर पार करना हो तब फिर कठिनाई का ठिकाना ही क्या? परन्तु यदि उसे पार करने के लिये दिव्य उपभोगसामग्रीसम्पन्न सर्वाङ्ग सुन्दर नाव प्राप्त हो जाय और उसका संचालक अपना प्रियतम प्राणधन भगवान् हों, तब समुद्र पार करने में क्या कठिनाई है? आनन्द से सर्वसुख का सम्भोग

करते हुए, और दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य गन्ध, दिव्य रस का आस्वादन करते हुए अर्थात् अपने प्रियतम के श्रीअङ्ग के सौगन्ध सुस्पर्श का अनुभव करते हुए प्रियतम के अमृतमय मुखचन्द्र का सौन्दर्य्य माधुर्य्य सौरस्य सुधा का आस्वादन करते हुए, प्रेमी विभोर हो जाता है। उसे भवसागर और उसके पार में कुछ भी विशेषता नहीं रह जाती। भवसागर के पार जाकर भगवान् के जिन दिव्य माधुर्य्यादिकों का अनुभव करता है, उनका अनुभव भवसागर में ही होने लगता है। भवसागर के पाप-तापों का उसे स्पर्श तक नहीं होता है। इसीलिये कहा जाता है कि भगवन्नाम से भवसागर सूख जाता है। इसीलिये भक्त वैकुण्ठ, कैलाशादि पद पाकर भी लोक-कल्याणार्थ पुनः लौट आते हैं और जीवों को उसी भक्तिरूपी दिव्य नाव पर बिठलाकर पार उतारते हैं।

यह कथन बहुत अंशों में ठीक है, परन्तु यहाँ भी सगुणोपासना और निर्गुणोपासना का ही तारतम्य कहा जा सकता है, ज्ञान और सगुणोपासना का नहीं। गीता के बारहवें अध्याय में अर्जुन ने प्रश्न किया है कि "जो आपके विश्वरूप या किसी भी सगुण साकार सच्चिदानन्द स्वरूप में मन लगाकर आपकी उपासना करते हैं, और जो अक्षर अव्यक्त स्वरूप की उपासना करते हैं, उनमें कौन अतिशयेन योगवित् अर्थात् ब्रह्म-प्राप्ति के उपायज्ञ हैं"—"**एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते। ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥**" श्रीभगवान् ने कहा कि "जो मुझ सगुण साकार सच्चिदानन्द स्वरूप में मन को सम्यक् आविष्ट करके नित्ययुक्त हो, परमश्रद्धा से मेरी उपासना करते हैं, वे मेरी दृष्टि में अतिशयेन मुक्त हैं। जो इन्द्रियग्राम का संयम करके अनिर्देश्य अक्षर, अव्यक्त सर्वव्यापी अचिन्त्य कूटस्थ अचल ब्राह्मस्वरूप की उपासना करते हैं वे—"**सर्वभूतहिते रताः**" महानुभाव मुझे ही प्राप्त होते हैं। फिर भी उनके (निर्गुणोपासकों के) लिये क्लेश (कठिनाई) अधिकतर है। क्योंकि देहवानों (देहाभिमानियों) के लिये अव्यक्तगति दुःख से प्राप्त होती है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि देहवान् का अर्थ देहाभिमानी ही है, अन्यथा देहवान् पद का प्रयोग ही व्यर्थ होगा। क्योंकि जितनी भी उपासनाएँ हैं, सभी देहवान् के लिये होती हैं। जो अदेह है उसके लिये तो उपासना की अपेक्षा और सम्भावना ही नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि निर्गुणोपासना किसी के लिये सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसका विधान ही व्यर्थ हो जाता है। अशक्य का उपदेश करनेवाले शास्त्रों का शास्त्रत्व भी सन्देह में पड़ जाता है। अतः यही अर्थ उचित है कि "**देहोऽस्त्यत्वेनास्येति देहवान्**" अर्थात् देहात्माभिमानी ही देहवान् यह विवक्षित है। सर्वथापि यहाँ निर्गुणोपासना और सगुणोपासना के उत्कर्षापकर्ष का प्रश्न है। और सगुणोपासना का उत्कर्ष है यही उत्तर है। यहाँ तत्वज्ञों का कहना है कि अर्जुन के प्रश्न का उत्तर विकल्पपुरस्सर किया गया है। अर्थात् सरलता के अभि-

प्राय से उत्कर्षापकर्ष का प्रश्न है कि फलोत्कर्ष से उत्कर्षापकर्ष का प्रश्न है ? पहले पक्ष के अनुसार यह उत्तर है कि सगुणोपासना सरल होने से श्रेष्ठ है—**"मय्यावेश्य मनो ये मां"** द्वितीय पक्ष को लेकर कहा गया है—**"ते प्राप्नुवन्ति मामेव"** अर्थात् निर्गुणोपासना तो मुझे प्राप्त ही है। यहाँ **'एव'** का सम्बन्ध **"प्राप्नुवन्ति"** के साथ है। क्योंकि उपासना के अनुसार उपासक उपास्य को प्राप्त होता ही है। अत: **'मां'** के साथ **'एव'** का सम्बन्ध व्यर्थ होकर **"प्राप्नुवन्ति"** के साथ ही **एवकार** का सम्बन्ध होता है। तत: उससे व्यवच्छेद होता है। तब सारांश यह निकलता है कि निर्गुणोपासना तो भगवान् को प्राप्त ही है, फिर भगवत्प्राप्ति के उत्कर्षापकर्ष का क्या प्रश्न ? यहाँ प्रसङ्गानुसार 'अस्मद्', **'मां'** आदि का कहीं निर्गुण ब्रह्म और कहीं सगुण ब्रह्म अर्थ होता है। क्योंकि भगवान् निर्गुण भी हैं और सगुण भी हैं—

"एक दारुगत देखिय एकू। पावक युग सम ब्रह्म बिबेकू॥
जो गुनरहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥"

"मय्यावेश्य" इत्यादि स्थलों में 'मयि' का अर्थ सगुण साकार सच्चिदानन्द ब्रह्म अर्थ है। **"ते प्राप्नुवन्ति मामेव"** यहाँ पर **'मां'** पद का अर्थ निर्गुण ब्रह्म है। क्योंकि **"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"** सिद्धान्त के अनुसार सगुणोपासकों को जैसे भगवान् सगुणरूप से प्राप्त होते हैं, वैसे ही निर्गुणोपासकों को निर्गुण-रूप से प्राप्त होते हैं। **"ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तम्"** इस प्रसङ्ग में निर्गुणोपासना का प्रकृत होना स्पष्ट है। अत: वैसे उपासक को निर्गुणब्रह्म की प्राप्ति युक्त ही है। इस दृष्टि से यहाँ **'मां'** का अर्थ निर्गुणब्रह्म मानना ही युक्त है। इसीलिये फलदृष्टि से निर्गुणोपासना श्रेष्ठ है। सरलता की दृष्टि से सगुणोपासना श्रेष्ठ है।

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ का प्रश्नोत्तर ऐसा है जैसे किसी ने प्रश्न किया—**"यमुनाजल श्रेष्ठ या गङ्गाजल ?"** इसका उत्तर दिया गया 'यमुनाजल श्रेष्ठ है।' जब फिर गङ्गाजल के बारे में पूछा गया, तब कहा गया कि 'गङ्गाजल तो अमृत है।' जलों में यमुनाजल श्रेष्ठ है। ठीक वैसे ही सगुणोपासना श्रेष्ठ है या निर्गुणोपासना ? इसके उत्तर में कहा गया कि सगुणोपासना श्रेष्ठ है। निर्गुणोपासना तो उपास्य स्वरूप ही होता है। **"ते प्राप्नुवन्ति मामेव"** अत: उसके उत्कर्षापकर्ष का प्रश्न व्यर्थ है। ऐसे कालिदास और दण्डि कवि के उत्कर्ष के प्रश्न पर सरस्वती ने कहा – **'कविर्दण्डी कविर्दण्डी।'** कालिदास ने जब पूछा कि मैं ? तब तो सरस्वती ने कहा **'त्वन्त्वहमेव'** तुम तो हमारे स्वरूप ही हो। इसी तरह सूरदास से प्रश्न हुआ कि कविता आपकी श्रेष्ठ या तुलसीदासजी की ? उन्होंने उत्तर दिया—**"हमारी कविता श्रेष्ठ है", तुलसीदासजी की तो कविता नहीं किन्तु मन्त्र है।** निर्गुणोपासना से निर्गुणब्रह्म का ज्ञान फिर भी पृथक् ही है। निर्गुण ब्रह्म-ज्ञान साक्षात्कार तो दोनों ही उपासनाओं का अन्तिम फल है। वेदान्तों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन

करके ब्रह्म-साक्षात्कार का पन्थ ज्ञानमार्ग है। तात्पर्य-निर्णय एवं मननादि में प्रयत्न करके आचार्य्यमुख से निर्गुण-स्वरूप जानकर श्रद्धा से उसीको निरन्तर उपासना करना यह निर्गुणोपासना है। **"अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।"**।

अतः यहाँ ज्ञान और भक्ति की उत्कृष्टता-अपकृष्टता का प्रश्न ही नहीं है। साथ ही सांख्य और योग के भी उत्कर्षापकर्ष का प्रश्न न समझना चाहिये, क्योंकि सांख्य का अर्थ ज्ञाननिष्ठा और योग का अर्थ कर्मनिष्ठा है। अतः इनका भी विषय यहाँ नहीं है, बल्कि निर्गुणोपासना और सगुणोपासना दोनों ही यहाँ कर्मनिष्ठा के भीतर ही हैं। क्योंकि पुरुषतन्त्र मानसीध्यानादि क्रिया भी कर्म है, अतः विद्यारण्य ने अपनी पञ्चदशी में इसे योग माना है। कहा भी है—**"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते"** अर्थात् ज्ञाननिष्ठों को जो निर्गुण ब्रह्मपद प्राप्त होता है, योगों को भी अर्थात् निर्गुण ब्रह्मोपासकों को भी साक्षात्कारक्रमेण वही पद प्राप्त होता है। निर्गुणोपासना की महिमा से भी निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार माना जाता है। फिर भी वह विधुरपरिभावित कामिनी साक्षात्कार के समान भ्रमात्मक नहीं होता, किन्तु प्रमाणसंवादी होने से प्रमात्मक ही होता है। कुछ लोग गन्धर्वशास्त्राभ्यासजन्य संस्कारप्रचयसव्यपेक्ष मनःसंयुक्त श्रोत्र से षड्जत्वादिसाक्षात्कार के समान, या रत्न-परिचायकशास्त्राभ्यास-जन्यसंस्कार-संस्कृत मनःसव्यपेक्ष चक्षु से रत्न-साक्षात्कार के समान, वेदान्ताभ्यासजन्यसंस्कारप्रचयसव्यपेक्ष समाहित मन से ब्रह्म साक्षात्कार मानते हैं। हर तरह से निर्गुण ब्रह्मोपासना में कठिनाई है। किसी भी वस्तु का चिन्तन या तदाकाराकारित वृत्ति का प्रवाह तभी बन सकता है, जब उसकी प्रतीति हो। इधर हम देखते यह हैं कि मन में, शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि कोई न कोई पदार्थ की स्फूर्ति अनिवार्य्य रूप से बनी रहती है, किसी भी दृश्य की स्फूर्ति रहते निर्विकल्प निर्दृश्य ब्रह्म की स्फूर्ति असम्भव है। यह एक उपासना का प्रकार दूसरा है कि जैसे 'आज एकादशी है' इस शब्द के आधार पर प्राणी एकादशी व्रत रहते हैं और उसका चिन्तन करते हैं। फिर भी उसके किसी स्वरूपविशेष का बोध नहीं होता। वैसे ही 'निर्गुण-निराकार निर्विकार ब्रह्म है' ऐसा परोक्षशब्दज्ञान के आधार पर स्वरूप-विशेष बिना समझे भी चिन्तनरूप उपासना बन सकती है। फिर भी ठीक उपासना तो तभी बन सकती है, जब निर्विकल्पवस्तु की स्फूर्ति हो। तब तदाकाराकारित वृत्तिसन्तान या धारा चलायी जा सकती है। अतः जैसे मृत्तिकादि मूर्त्त द्रव्यों का उत्सारण ही कूप-निर्माण है, किंवा घट से जलादि निष्कासन ही उसको आकाश से भरना है, वैसे ही चित्त से दृश्य विकल्प को निकालना ही उसे ब्रह्माकार बनाना है, और उसे ही निर्गुणोपासना कहा जाता है। इस निर्गुणोपासना का फल ब्रह्म साक्षात्कार, अविद्या तत्कार्य्यात्मकप्रपञ्च की निवृत्ति; तथा प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मस्वरूप से अवस्थिति है। बस उसके अनन्तर कोई भी फल अभ्युदय या निःश्रेयस अवशिष्ट नहीं रहता।

निर्गुणोपासना के संस्कार बने रहने से वेदान्त-श्रवण-मननादि द्वारा तत्त्व-साक्षात्कार में भी सुविधा रहती है। कारण, निरालम्ब या निर्विकल्पालम्ब मन का ही ब्रह्म साक्षात्कार में अधिक उपयोग है। यह सब होते हुए भी निर्गुणोपासना देहाभिमानियों के लिये अत्यन्त कठिन है। वायु को बाँधना या भाद्रपद के अखण्ड गङ्गाप्रवाह को रोक देना जैसे कठिन है, वैसे ही प्रपञ्चोन्मुख वृत्तिप्रवाह को निरुद्ध करके निर्विकल्प निर्दिश्य ब्रह्माकारवृत्ति बनानी भी कठिन है। यह तो पूर्ण वैराग्यविवेक-सम्पन्न पुरुष ही का विषय है। इसीलिये कहा गया है—**"अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढः प्रबोधः"** यद्यपि कठिन सगुणोपासना भी है, उसमें भी तो वाह्य विषयों से मन का प्रत्यावर्त्तन करके भगवत्स्वरूप में ही लगाना पड़ता है, फिर भी वह निर्गुणोपासना की अपेक्षा सरल है। कारण भगवान् के मङ्गलमय नाम, उनके परम पवित्र चरित्र के अभ्यास से भगवान् की मधुर मनोहर मङ्गलमय मूर्ति मन में व्यक्त हो सकती है। फिर प्रेम से तदाकाराकारितवृत्तिप्रवाहरूप उपासना भी बन सकती है। भगवच्चरित्रादि की मधुरता से कभी-कभी प्राणियों की राग से भी प्रवृत्ति हो जाती है। इस तरह सगुणोपासना में सरलता और निर्गुणोपासना में कठिनता है। इसलिये सगुणोपासना श्रेष्ठ है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जब निर्गुणोपासना का फल बड़ा है फिर भले ही वह कठिन हो, वही श्रेष्ठ है। बड़े फल के लिये कठिन परिश्रम—अधिकतर क्लेश, उसके अपकर्ष का कारण नहीं हो सकता। बड़े फल के लिये अधिक क्लेश होना युक्त ही है। सगुणोपासना सरल होने पर भी उसका फल ब्रह्मलोकादि है, जो कि एक तरह संसार ही है। वहाँ अविद्या तत्कार्य्यात्मक प्रपञ्च की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। निर्गुणोपासना से निरावरण ब्रह्म का साक्षात्कार और तदात्मनावस्थान होता है, फिर निर्गुणोपासना से सगुणोपासना कैसे श्रेष्ठ हुई? इसका उत्तर यह है कि सगुणोपासना सरल है, साथ ही उससे अन्तरात्मा की शुद्धि, विवेक, वैराग्यादि की प्राप्ति और श्रवणादिक्रमेण ब्रह्म-साक्षात्कार की प्राप्ति और श्रवणादि भी हो जाता है। अथवा यहाँ भगवान् की कृपा से ही तत्त्वसाक्षात्कार और कैवल्य प्राप्त हो जाता है। भगवदुपासना से भगवत्कृपा, उससे ज्ञानयोग्यता प्राप्त होने पर तो एक ही महावाक्य से तत्त्वसाक्षात्कार हो जाता है। यह बात स्वयं भगवान् ने मानी है कि जो लोग सर्वदा समाहित होकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं उन्हें मैं वह बुद्धियोग (ज्ञानयोग) देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं। जो मच्चित्त तथा मद्गतप्राण होकर मेरे ही कथन प्रबोधन में तुष्ट होकर रमण करते हैं, उनके ऊपर अनुकम्पा करके उनके आत्मभाव से स्थित होकर भासवान (प्रकाशयुक्त) ज्ञानदीपक से उनके हृदय के अज्ञानरूपी अन्धकार को मैं नष्ट कर देता हूँ—

"मच्चित्ता मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

एवं सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥"

इस तरह भगवत्कृपाविशेष से सगुणोपासकों को भगवान् के निर्गुणस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है ।

यदि श्रवणादि में प्रवृत्ति या इस जीवन में भगवत्कृपा द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार न हुआ, तो भी मरणकाल में तत्त्वसाक्षात्कार होना सम्भव होता है । यावज्जीवन प्राणी को प्रारब्धानुसार भटकना पड़ता है और पुरुषार्थ की योग्यता होने से भी भगवान् भी उसके पुरुषार्थ की प्रतीक्षा करते हैं; परन्तु मरणावसर में तो फिर भगवान् अपनी अनुकम्पाविशेष से उसे सुलभ होते हैं । उस समय भगवान् जीव की असमर्थता का अनुभव करते हुए, जीव के प्राथमिक भावों को देखकर अपनी सहज अनुकम्पा से जीव का कल्याण करते हैं ।

"अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥"

अर्थात् जो अनन्य मन से सदा मेरा भजन करता रहता है, मैं अन्त में उसे सुलभ होता हूँ । प्राणनिरोध, समाधि आदि न कर सकने पर भी मृत्युकालीन विषम वेदना के समय में मैं अपनी कृपाविशेष से उसे सुलभ होता हूँ । यदि ऐसा न हुआ तो भी मरण के अनन्तर ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है । वहाँ अपनी भावना के अनुसार शिव, विष्णु आदि स्वरूप की प्राप्ति होती है । तरह-तरह का आनन्द मिलता है । वहाँ श्रवण-मननादि से तत्त्वसाक्षात्कार होकर कल्पान्त में कैवल्य पद प्राप्त हो जाता है । इस तरह फल वही मिलता है । फिर भी सगुणोपासना में सरलता, निर्गुणोपासना में कठिनता है । इसलिये सगुणोपासना श्रेष्ठ है । यही बात भागवत के दो पद्यों में भी कही गयी है—

"पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये ।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाऽञ्जसाऽन्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥
तथाऽपरे चात्मसमाधियोगबलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् ।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्नतु सेवया ते ॥"

अर्थात् हे देव, जैसे सुधीगण आपकी कथा-सुधा का पान कर उससे हो प्रबुद्ध भक्ति द्वारा निर्मलाशय होकर, वैराग्यसार बोध को पाकर अकुण्ठधिष्ण्य आपको प्राप्त हो जाते हैं, वैसे ही दूसरे महानुभाव आत्मसमाधियोग से अर्थात् आत्मा के श्रवण-विवेचनादि क्रमेण साक्षात्कार करके बलिष्ठा प्रकृति (देहादि की स्वाभाविकी प्रवृत्ति) को जीतकर आपको ही प्राप्त होते हैं । आपको प्राप्ति दोनों को बराबर होने पर

भी द्वितीय पक्ष के लोगों को परिश्रम अधिक है। प्रथम पक्ष के लोगों को उतना परिश्रम नहीं है। प्रथम साधक को साधनरूप में कथा सुधा (अमृत) का पान है, फिर उसीकी महिमा से भक्ति, अन्तःशुद्धि, वैराग्य और विज्ञान की प्राप्ति होती है। दूसरों को विवेक-वैराग्यादि सहित श्रवणादि द्वारा शरीर-त्रितय, कोशपञ्चक से प्रत्यक्-चैतन्य का विवेचन, आन्तर-बाह्य, व्यष्टि-समष्टि प्रपञ्च से प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न शुद्ध ब्रह्म का अन्वेषण, योगाभ्यास द्वारा बाह्यवृत्तियों का निरोध, अन्तःकरण में सर्ववृत्तियों का निरोध करना पड़ता है। इन श्लोकों के अनुसार **"ते प्राप्नुवन्ति मामेव"** का भी **"त्वामेव धीराः विशन्ति"** के समान ही अर्थ होना चाहिये। अर्थात् सगुणोपासक उपासना के प्रभाव से ज्ञान द्वारा जिन भगवान् को प्राप्त होते हैं, निर्गुणोपासक भी उन्हीं भगवान् को प्राप्त होते हैं। निर्गुणोपासक-प्राप्यतत्त्व, सगुणोपासक प्राप्यतत्त्व से पृथक् नहीं है। यही दोनों स्थलों के एव का स्वारस्य है।

"पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया।
विबुद्ध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम्॥"

इस वचन से भी भगवच्चरणसमर्पणबुध्या कर्मानुष्ठान, कथासुधापान, उससे भक्ति और भक्ति से ज्ञान प्राप्त करने के बाद मोक्षप्राप्ति कही गयी है।

यद्यपि कहा जा सकता है कि निर्गुणोपासना में भी भगवत्कृपा अनिवार्य ही है—**"यो वै ब्रह्माणं विदधाति····मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये, तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये।"** इत्यादि वचनानुसार ज्ञानपक्ष में भी भगवच्छरणागति और भगवत्कृपा की प्रतीक्षा होती है। भगवत्कृपा जैसे सगुणोपासना से होती है, वैसे ही निर्गुणोपासना से भी होती है। जब भगवान् के ही दोनों स्वरूप हैं, तब क्या कारण है कि सगुणोपासना से कृपा न हो? बल्कि जब निर्गुणस्वरूप अन्तरङ्ग है, और सगुण निर्मलसत्वसापेक्ष है, तब तो अन्तरङ्ग प्रियतमनिरपेक्ष निर्गुणस्वरूप के उपासक पर और भी कृपा होनी चाहिये। फिर तो निर्गुणोपासना से भी भगवत्कृपा द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होगा और इसी पक्ष में **"एवं सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्", "मच्चित्ता मद्गतप्राणाः"**, "ददामि बुद्धियोगं तम्", **"तेषामेवानुकम्पार्थम्", ''नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता"** यह सभी श्लोक लगाये जा सकते हैं। जैसे चरित्रश्रवण से भक्ति सम्भव है, वैसे ही वेदान्तों द्वारा भगवान् के प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्राह्मस्वरूपश्रवण से भी पूर्ण भक्ति उत्पन्न हो सकेगी। फिर निर्गुणोपासना से सगुणोपासना की श्रेष्ठता कैसे हुई? बल्कि निर्गुणस्वरूप अन्तरङ्ग निरपेक्ष होने से पूर्ण भक्ति का आस्पद होगा। निर्विशेष आलम्ब से चित्त की निरालम्बता में अधिक सहायता मिलेगी। तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि निर्गुणोपासना से सगुणोपासना में सुगमता है। निर्गुणोपासना निर्गुण ब्रह्म-साक्षात्कार के अधिक अनुकूल है। ज्ञान की प्राप्ति भी भगवत्कृपा से ही होती है। कुछ लोगों का तो यह भी पक्ष है कि कृपा आदि जिसमें है

वह सगुण ब्रह्म है । निर्गुण में कृपा कैसी ? श्रीशङ्कराचार्य्य भगवान् ने निर्गुण ब्रह्म के प्रति कहा है—

"उदासीनः स्तब्धः सततमगुणः सङ्गरहितो
भवांस्तातः कातः परमिह भवेज्जीवनगतिः ।
अकस्मादस्माकं यदि न कुरुषे स्नेहमथ तद्
वसस्व स्वीयान्तर्विमलजठरेऽस्मिन्पुनरपि ॥"

"हे देव ! आप उदासीन, अनमन स्वभाव, कूटस्थ, निर्गुण, सङ्गरहित हमारे तात-पिता हैं । फिर मेरी क्या गति है ? देव ! यदि आप हमपर निष्प्रयोजन स्नेह नहीं करते तो भी हमारा हृदय आपका भवन है, वहाँ आप निवास तो कीजिये ।" इस तरह के स्तवन से सिद्ध होता है कि निर्गुण में दया, कृपारूप गुणों का अस्तित्व नहीं होता । अतएव माया-मोह की निवृत्ति के लिये भगवान् की माया का वर्णन युक्त है—**"मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः । श्रद्धया शृण्वतो राजन् माययात्मा न मुह्यति ॥"** भगवान् की माया को श्रद्धा से वर्णन, श्रवण, अनुमोदन करनेवाले पुरुष की आत्मा माया से मोहित नहीं होती । यहाँ भगवदीयत्वेन भगवद्वशीभूता माया का वर्णन होता है । इसीलिये माया-मोह से मुक्ति मिलती है, उसी तरह भगवत्सापेक्ष भगवदीयसत्त्व के वर्णन से सत्त्व से ज्ञान द्वारा गुणों की निवृत्ति **"कण्टकेन कण्टकोद्धारः"** न्याय से प्राप्त होती है ।

इस तरह सगुणोपासना में सरलता होती है और कृपा का अवकाश रहता है । तथापि जैसे भगवत्कृपा से भी भक्तिकृपा का महत्व अधिक समझा जाता है, वैसे ही निर्गुणोपासना ही स्वयं कृपा कर प्राणी का कल्याण कर सकती है और सगुण भगवान् ही अपने निर्गुणस्वरूप के उपासक पर पूर्ण कृपा करते हैं । फिर देहाभिमान मिटने पर निर्गुणोपासना भी सरलता से हो सकेगी, जैसे **"तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते"** इस वचन से कर्मसंन्यास से कर्मयोग का श्रेष्ठ होना सम्भव है, वैसे ही निर्गुणोपासना से सगुणोपासना का श्रेष्ठ कहना युक्त है । भले ही किसी दृष्टि से संन्यास ही श्रेष्ठ हो, परन्तु **"संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः"**, **"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते"** इत्यादि वचनों से यह भी सिद्ध ही है कि योग (कर्मयोग) बिना नैष्कर्म्य प्राप्त ही नहीं हो सकता । बिना योग के संन्यास केवल दुःख का मूल है । निर्गुण निराकार की उपासना से सगुण-निराकार की उपासना सरल है । और सगुण निराकार की उपासना से भी सगुण साकार ब्रह्म की उपासना सरल है । मन को प्रथम आकार और गुणों के चिन्तन में, पश्चात् निर्गुण निराकार केवल ब्रह्म में लगाता जाय । इस तरह अनायासेन चित्त परमतत्व में प्रतिष्ठित हो जाता है । फिर जहाँ निर्गुण निराकार परब्रह्म ही सगुण साकार परब्रह्म में व्यक्त है; वहाँ तो, निर्गुण-सगुण में भेद कुछ है ही नहीं । इतने पर भी निर्गुणोपासना में

कठिनाई है और सगुणोपासना में सरलता ही है। निर्गुण में चित्त की स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती; सगुण में स्वारसिकी प्रवृत्ति होती है। इन दृष्टियों से सगुणोपासना को श्रेष्ठ कहना युक्त ही है।

इस तरह जब कर्म बिना संन्यास केवल दुःख का ही मूल है। सच्चा संन्यास उसीसे होता है। कर्मों के आरम्भ बिना नैष्कर्म्य मिलता ही नहीं, तब फिर संन्यास से कर्म को श्रेष्ठ कहना युक्त ही है। इसी तरह जब सगुणोपासना बिना चित्तशुद्धि तथा निर्गुणोपासना बनती ही नहीं और उसके अनन्तर बड़ी सरलता से निर्गुणोपासना और तत्त्वसाक्षात्कार हो जाता है, तब निर्गुणोपासना से सगुणोपासना को श्रेष्ठ कहना युक्त ही है। कुछ लोग 'वानरीवृत्ति एवं वैडालिकीवृत्ति' से भी भक्ति का महत्त्व कहते हैं। विडालशिशु स्वयं निश्चेष्ट रहता है, उसका भरण-पोषण, उत्थापन-स्थापन सब कुछ माता के ऊपर ही निर्भर रहता है। वानरशिशु स्वयं ही माँ को सावधानी से पकड़ लेता है। इसी तरह भक्त केवल भगवान् के आश्रित रहता है, उसकी रक्षा का भार भगवान् ही ग्रहण करते हैं। "**तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।**" परञ्च ज्ञानी स्वयं ज्ञान-बल से, संसार-बन्धन से मुक्त होता है।

एक बालक स्वयं पिता का हाथ पकड़कर चलता है, उसके गिरने की सम्भावना हो सकती है, परन्तु जिस बालक का हाथ पकड़कर पिता चलता है, वह तो कूद-फाँदकर चलता हुआ भी निर्भय ही रहता है। इसी तरह भगवान् को आत्मसमर्पण करके भक्त निर्भय हो जाता है—

> **"मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी, बालक सिसु सम दास अमानी।**
> **जनहिं मोर बल निज बल ताही, दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आहीं॥**
> **गह सिसु बच्छु अनल अहि धाई, तेहि राखइ जननी अरगाई।**
> **प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता, प्रीति करै नहिं पाछिलि बाता॥"**

ज्ञानी, भक्त दोनों ही को काम-क्रोधादि तरह-तरह के उपद्रव बखेड़े होते हैं। वहाँ ज्ञानी भगवदाश्रित होकर उनसे बचने का प्रयत्न करता है, परन्तु भक्त को तो भगवान् ही बचाते हैं। इसी अभिप्राय से यह भी कहा गया है कि ज्ञान-वैराग्य आदि पुरुषजाति के ऊपर माया का प्रभाव पड़ता है, परन्तु भक्ति तो माया के समान ही नारिवर्ग की है। अतः उसपर माया का प्रभाव नहीं चढ़ता।

> **"माया भक्ति सुनहु तुम दोऊ, नारिवर्ग जानहिं सब कोऊ।"**
> **"मोह न नारि नारि के रूपा, पन्नगारि यह नीति अनूपा।"**
> **"पुनि रघुबीरहिं भक्ति पियारी, माया खलु नर्तकी बिचारी।"**
> **"भक्तिहिं सानुकूल रघुराया, ताते अति डरपति तेहि माया।"**

भक्ति पर मायाकृत उपद्रव व्यर्थ हो जाते हैं, इसीलिये उसे दिव्यमणि कहा है। ज्ञान पर उपद्रवों के साफल्य की सम्भावना होती है, इसीलिये उसे दीपक कहा

है। श्रीभगवान् के शरण होकर उनमें आत्मसमर्पण करके प्राणी अत्यन्त निर्भय हो जाता है। फिर तो उसके रक्षक भगवान् ही हो जाते हैं।

यहाँ ज्ञानपक्ष के पोषकों का कहना है कि ज्ञान दीपक ही नहीं, मणि भी नहीं, किन्तु दिव्य सूर्य्य है! उसके उदय होते ही अविद्या, अन्धकार और उसके उपद्रव एवं तत्सम्बन्धी उलूकादि सब मिट जाते हैं। अविद्या, तत्कार्य्यात्मक प्रपञ्च के मिटने का दूसरा उपाय ही नहीं है। शरणागति, आत्मसमर्पण भी पूर्णरूप से ज्ञान पक्ष में ही बनता है। ज्ञान बिना प्राणी देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तक का समर्पण कर सकता है, परन्तु आत्मा का तो समर्पण तभी बन सकता है, जब प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म का बोध हो। जैसे घटाकाश महाकाश में आत्मसमर्पण करता है, तरङ्ग महासमुद्र में आत्मसमर्पण करता है, वैसे ही जीवात्मा, देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि अहंकार से भिन्न चिदात्मरूप को शुद्धब्रह्म में समर्पण कर देता है, और तभी आश्रयत्वेन या संरक्षकत्वेन वरणरूप शरणागति प्राप्त होती है। इसी पक्ष का समर्थन—"**मामेकं शरणं व्रज**", "**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**" इत्यादि में किया गया है। भगवत्स्वरूप प्रपत्ति या शरणागति में माया की निवृत्ति होती है, तभी समस्त अनर्थों की निवृत्ति होती है।

भगवान् की प्रीति भक्ति परम कल्याणमयी होती है, इसमें सन्देह ही क्या? महानुभावों ने भक्ति और ज्ञान के साध्य, साधन और स्वरूप में भेद कहा है। द्रवीभूत मन की सगुण, साकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्माकाराकारित मानसीवृत्ति भक्ति है, और द्रवानपेक्ष मन की निर्विकार परब्रह्माकार मानसीवृत्ति ज्ञान है। भगवद् गुणगणालङ्कृत ग्रन्थों के श्रवण, मनन से भक्ति होती है, साधनसम्पन्न होकर शुद्ध बुद्धमुक्तब्रह्मबोधक वेदान्त ग्रन्थों के श्रवण से ज्ञान होता है। भक्ति में प्राणिमात्र का अधिकार है। ज्ञान में साधनचतुष्टयसम्पन्न उच्च अधिकारी का ही अधिकार है। ज्ञान का फल निर्विकार ब्रह्मात्मनाऽवस्थान और निखिलरसामृतमूर्ति भगवान् के आकार से आकारित मानसीवृत्तिरूपा भक्ति का फल भगवत्सायुज्यादि प्राप्ति है, परन्तु सम्प्रदायिकों की दृष्टि में तो भगवत्सामीप्यादि प्राप्ति ही मुख्य फल है। भक्ति का फल भक्ति ही है, उससे बढ़कर कोई भी फल नहीं -

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥"

भगवान् के गुणगणश्रवणमात्र से समुद्रोन्मुख गङ्गा-प्रवाह के समान सर्वगुहाशायी भगवान् में गङ्गाजल के समान द्रवीभूत निर्मल मन की वृत्तिसन्तति ही भक्ति है—

"भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम्॥"

परमानन्द रसात्मक भगवान् ही भक्त के द्रवीभूत मन पर व्यक्त होकर भक्तिपद से कहे जाते हैं। कोमलचित्त प्राणी भक्ति का मुख्य अधिकारी है।

यद्यपि साधन से कठोर चित्त में भी द्रवता होती है, तथापि उसके लिये ज्ञान अच्छा है। ज्ञानी निर्गुण भक्ति के अतिरिक्त सगुण भक्ति भी करता है, परन्तु उसको भक्ति का भगवत्प्रेमानन्द का रसास्वादनरूप दृष्ट ही फल है, मुक्तिरूप अदृष्ट फल तो ज्ञान से ही उसे प्राप्त है। शिशुपालादि तामस, राजस भक्तों को मुक्तिरूप अदृष्ट ही फल होता है, दृष्ट फल नहीं होता, परन्तु भक्त को तो प्रेमानन्दमय दृष्ट फल और ज्ञान क्रमेण मुक्तिरूप अदृष्ट फल भी प्राप्त होता है।

"देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्व एवैकमनसो वृत्तिस्वाभाविकी तु या।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्येत्युदाहृतम्॥"

शब्द-स्पर्शादि विषयों के उपलम्भ से अनुमित होनेवाले श्रौतस्मार्त्तकर्मपरायण आन्तर-बाह्य करणों की सत्व (सत्वोपाधिक विष्णु किंवा सत्तामात्र परब्रह्म) में जो स्वाभाविकी वृत्ति है वही भक्ति है। अर्थात् श्रौतस्मार्त्त कर्मों से शुद्धनिर्मल बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरण की ब्रह्मप्रवणता या भगवत्परायणता ही भक्ति है। यह भक्ति अन्न-मयादि पञ्चकोशों को उसी तरह जला डालती है, जैसे भक्षित अन्न को जठराग्नि पचा डालती है। "जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा।" निर्गुणब्रह्म या सगुणब्रह्म में, तत्रापि काम, क्रोध, स्नेह से, यथा कथञ्चित् मन की उन्मुखता ही भक्ति है।

श्रीव्रजाङ्गनाओं ने भगवद्विप्रयोगाग्नि से स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर, अन्नमयादि पाँचों कोशों को जलाकर विशुद्ध परमानन्दरसात्मकब्रह्म को प्राप्त कर लिया। भक्ति के कुछ लक्षण सगुण, निर्गुण में साधारण हैं। कुछ सगुण भक्ति में ही पर्य्यवसित होते हैं। ज्ञानी को निर्गुण परब्रह्म में तो स्वाभाविकी भक्ति होती ही है, साथ ही सगुण भक्ति भी होती है। इसी आशय से कहा गया है

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः॥"

कुन्ती का कहना है कि हे देव! आप अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्ति-योगविधान करने के लिये सगुण, साकार स्वरूप ग्रहण करते हैं। यद्यपि निर्गुण, निराकार, निर्विकार स्वरूप समस्त प्राणियों के निरतिशय, निरुपाधिक पर-प्रेम का आस्पद है, तथापि अनादि महामाया के प्रभाव से उसकी परमानन्दरसरूपता परप्रेमास्पदता तिरोहित-सी है।

जैसे मधुर मिश्री भी पित्तदोषोपहृत रसनावाले प्राणी को कटु प्रतीत होती है, वैसे ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद प्रत्यक्चैतन्याभिन्न निर्गुणब्रह्म में प्रेम की कमी भासित होती है। इसीलिये विवेकी लोग यह चाहते हैं कि जैसे,

अविवेकियों को विषयों में, कामुक को कामिनी में उत्कट प्रेम होता है, वैसे ही भगवान् में मन की आसक्ति हो। इसीलिये कहा गया है कि—

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥"

कोटि-कोटि मुक्त-सिद्धों में भी नारायण-परायण दुर्लभ हैं।

ज्ञानियों में भी प्रारब्ध कर्म अवशिष्ट रहने के कारण दृश्य द्वैतदर्शनकाल में शुद्धचिदात्मतत्व की पूर्ण रसात्मकता का अनुभव और निरतिशय प्रेम नहीं व्यक्त होता। इसीलिये सविशेष साकार स्वजनरूप से प्रकट परमात्मतत्त्व में शुद्ध भक्ति, प्रीति की अपेक्षा होती है। इसलिये ही ज्ञानी महानुभावों का भी भगवान् के मधुर चरित्रों और मङ्गलमयीमूर्ति में आकर्षण होता है, परन्तु इतने से उनकी ज्ञाननिष्ठा या निर्गुण सिद्धान्त से प्रच्युति मान लेना केवल बालकपन है।

'सियहिं बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी॥"

जहाँ यह बात कही गयी है, वहीं परम ब्रह्मनिष्ठ विदेह के मोह और ज्ञान-वैराग्य के शैथिल्य की बात कही गयी है। वह केवल प्रभु रघुनाथ के सनेह की महिमा है।

'मोह मगनमति नहिं बिदेह की, महिमा सिय रघुबर सनेह की।'
'इनहिं बिलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा।'

इत्यादि वचनों का भी यही तात्पर्य है कि केवल अन्तःकरण से अनुभूत निर्गुणब्रह्म की अपेक्षा दिव्यलीलाशक्तियुक्त ब्रह्म में विशिष्टसरसता की अनुभूति होती है। जैसे आदित्यमण्डल का कोई केवल नेत्र से अनुभव करता है, परन्तु कोई दूर-वीक्षण यन्त्रोपहित नेत्रों से उसी आदित्य का अनुभव करता है। प्रथम अनुभव से दूसरे अनुभव में जैसे विशेषता होती है, वैसे ही केवल अन्तःकरण से तत्त्वानुभव की अपेक्षा दिव्यलीलाशक्तियुक्त ब्रह्मतत्व में विशिष्टमाधुर्य्य का अनुभव होता है; परन्तु सर्वोपाधिविनिर्मुक्त ब्रह्मभावापन्न मुक्त को तो अभेदेन अनन्त, अखण्डरसात्मक वस्तु की अनुभूति होती है। विवेकियों का कहना है कि यदि पुष्प में घ्राणशक्ति हो तब ही पुष्प के मनोरम सौगन्ध्य का पूर्णरूप से आस्वादन किया जा सकता है। इस दृष्टि से अत्यन्त अभेद में ही अनन्तरस की अनुभूति होती है। फिर भी जीवन्मुक्तकाल में अन्तःकरणादि उपाधियाँ विद्यमान हो रहती हैं। अतः उसके द्वारा पूर्णरूप से अपरिमितानन्द की अनुभूति नहीं होती। दिव्यलीलाशक्ति के योग से कहीं अधिक रस की अनुभूति होती है। इसके सिवा रागानुगाप्रीति के लिये सगुणब्रह्म की उपासना की जाती है। इसीलिये मुक्ति आदि से निरपेक्ष होकर, जीवन्मुक्त लोग भगवान् के सगुणरूप में प्रेम करते हैं—

"अस तव रूप बखानौं जानौं।
फिरि फिरि सगुन ब्रह्मरति मानौं॥"
"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥"

आत्माराम एवं चित्ग्रन्थि जिनकी छूट गयी है, ऐसे मुनि भी उरुक्रम भगवान् में अहैतुकी भक्ति करते हैं। कृतकृत्य, पूर्णकाम, आप्तकाम, परम निष्काम होने पर भी भगवान् के अद्भुतगुणों के प्रभाव से भगवान् में आकर्षित होते हैं। यद्यपि पूर्णकाम की भक्ति में प्रवृत्ति अनुचित ही जान पड़ती है, तथापि भगवान् के अद्भुतगुण ही इस अनौचित्य का समाधान करते हैं। "त्रिपुर-सुन्दरीरहस्य" में अद्वैतवादी ज्ञानी को भक्ति का प्रकार बतलाया गया है। '**यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्, स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वाऽपि स्वाद्वयं पदम्। विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः।**' सुभक्त ज्ञानी लोग फलानुसंधानरूप कैतव (कपट) से वर्जित होकर, परमतत्व की आराधना करते हैं। अज्ञानी के लिये तो किसी न किसी फल की कामना रहती ही है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब प्रयोजन बिना मन्द की भी प्रवृत्ति नहीं होती, फिर कृतकृत्य, जीवन्मुक्त सगुण भगवान् के भजन में क्यों लगेगा ? इसका उत्तर है, '**स्वभावस्य स्वरसतः**' अर्थात् उसका भजन करने का स्वभाव पड़ जाता है। "**स्वभावो भजनं हरेः**" स्वभाव से ही अद्वैततत्त्व जानकर भी, आहार्य्य द्वैत से प्रीतिपूर्वक ज्ञानी तत्परता से भगवान् का भजन करता है—"**पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे, तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिशताधिका।**" पारमार्थिक अद्वैत और भजन के लिये द्वैत, बस इस भावना से जो भक्ति है वह तो मुक्ति से भी बढ़कर है। "**द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् जाते बोधे मनीषया। भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥**" अद्वैत तत्त्वसाक्षात्कार के पहले, द्वैत केवल मोह के लिये है, परन्तु तत्त्वबोध के उपरान्त भक्ति के लिये जो द्वैत है, वह तो अद्वैत से भी सुन्दर है।

तत्त्वज्ञ का अद्वैतात्मना अवस्थिति और भगवान् का भजन दोनों ही समान है। तत्त्वज्ञानी होने पर भी व्यवहार में भेद-भाव से भगवान् का भजन वैसे ही सरस है, जैसे प्रियतमा का घूँघटपट की ओट से प्रियतम का वीक्षण—

"**प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या पदयुगपरिचर्य्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद् द्वयं स्यात्॥**"
"**विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥**"

जैसे अयस्कान्त मणि में लोह के आकर्षण करने की विचित्र सामर्थ्य होती है, वैसे ही भगवान् में आत्मारामों के आकर्षण करने की सामर्थ्य होती है। इसी

दृष्टि से सनकादि, शुकादि के समान कितने ही परमहंस, महामुनीन्द्र भगवान् के स्वरूप माधुर्य्य एवं सरस चरित्रों द्वारा खिंच जाते हैं—

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दरेणुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥"

अरविन्दनयन भगवान् के श्रीचरणारविन्द किञ्जल्कमिश्रतुलसीदलमकरन्द के हृद्गत होते ही सनकादिकों के निर्विकार मन में भी क्षोभ हो गया।

"स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारः।"

स्वस्वरूपभूत परमानन्द से भरपूर चित्तवाले तथा निरस्त समस्तद्वैतजाल श्रीशुकाचार्य्य भी भगवान् की लीलाओं पर मुग्ध होकर आकर्षित हो उठे। और की तो कौन कहे, स्वयं अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक श्रीभगवान् ही अपने विचित्र सौन्दर्य्य, माधुर्य्य में मुग्ध हो जाते हैं—

"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगं मायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥"

भगवान् अपनी अचिन्त्य, अद्भुतयोगमाया के बल से भूषणों को भी भूषित करनेवाले मङ्गलमय श्रीअङ्ग को धारण करते हैं, कि जिससे वे स्वयं मोहित हो जाते हैं, उन्हें स्वयं विस्मय होने लगता है। लोकपालकिरीटकोटीडितपादपीठ असाम्यातिशय, प्रभु जिस समय श्रीमन्नन्दरानी के मणिमयस्तम्भों या प्राङ्गण में प्रतिबिम्बित अपनी ही श्रीमूर्ति को देखते हैं, उस अपने ही सौन्दर्य्य माधुर्य्य पर मुग्ध होकर, उसके परिरम्भण के लिये व्यग्र हो उठते हैं और उसमें असफल होने पर श्रीअम्बा का वदन विलोककर रुदन करने लगते हैं—**"रत्नस्थले जानुचरः कुमारः संक्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्। आदातुकामस्तदलाभखेदान्निरीक्ष्य धात्रीवदनं रुरोद॥"** फिर योगीन्द्र मुनीन्द्रगण उसपर मुग्ध हो जायँ, इसमें आश्चर्य्य ही क्या? परन्तु इससे ज्ञान की न्यूनता नहीं होती। क्योंकि ज्ञान और ज्ञानी श्रीभक्ति महारानी को सदा पूजें, इसीमें तो उनकी बड़ाई है। योग्य पुत्र का यही कर्त्तव्य है। ऐसे ही पुत्र से पुत्रवती युवती धन्य होती है।

भक्तिरसामृतास्वादन

श्रीभगवद्धर्म से द्रुत, शुद्ध हृदय में प्रादुर्भूत निरुपम सुखसंविद्रूप, दुःख की छाया से विनिर्मुक्त श्रीभक्ति का माहात्म्य यत्र-तत्र शास्त्रों में वर्णित है। सर्वाधिष्ठान, परमानन्दस्वरूप, औपनिषद्, परम पुरुष की रसस्वरूपता "**रसो वै सः**" इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध है। लौकिक आनन्दों में भी उसी रसस्वरूप भगवान् की आंशिक अभिव्यक्ति होती है। रस के विषय एवं आश्रय की मलिनता से शुद्ध रस में भी मालिन्य की प्रतीति होती है। 'भक्तिरसायन'कार ने कहा है—"**किञ्च न्यूनाञ्च रसतां याति जाड्यविमिश्रणात्**" (प्रथम उल्ला० १३ कारि०) अर्थात् विषयावच्छिन्न-चैतन्य ही द्रवावस्थापन्न अन्तःकरण की वृत्ति पर उपारूढ़ होकर भावरूपता को प्राप्त कर पीछे रसस्वरूप हो जाता है। लौकिक रस परमानन्दस्वरूप नहीं हो सकता, किन्तु भक्तिरस में अनवच्छिन्न-चिदानन्दघन भगवान् की स्फूर्ति होती है, अतः वह परमानन्दस्वरूप है। इसलिये जो लोग कृष्णविषयक रति को रसरूप नहीं, भावरूप ही मानते हैं, क्योंकि देवताविषयक रति भावस्वरूपा ही होती है, उनका मत ठीक नहीं है। क्योंकि कृष्णभिन्न-देवताविषयक रति भावरूपा होती है। भगवान् श्रीकृष्ण परमानन्द स्वरूप हैं, अतः कृष्णविषयक रति रसरूपा ही होगी, भावरूपा नहीं। बल्कि कान्तादिविषयक रति की वैसी रसता पुष्ट नहीं होती, जैसी भगवद्विषयक रति की। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि—भगवद्विषयिणी रति परिपूर्णरसस्वरूप होने के कारण क्षुद्रकान्तादिविषयक रति से वैसी ही बलवती है, जैसे खद्योतों से आदित्य प्रभा—

> **"परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।**
> **खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा॥"**
>
> (भक्तिरसा० उल्ला० कारि० ७९)

विषय और आश्रय दोनों या दोनों में से एक यदि रसात्मक हो, तो रति भी विशुद्ध रसस्वरूपा होती है। विशेषतः समुद्वेलित सम्प्रयोग-विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध उभयविध शृङ्गार रससारसर्वस्व भगवान् ही मनोवृत्ति में विशिष्ट रसभाव को प्राप्त करते हैं। जैसे रस में रसोद्रेक की कल्पना होती है, वैसे ही यहाँ भी कल्पना की गयी है। भगवद्धृदयस्थ पूर्णानुराग रससारसागर-समुद्भूत, निर्मल, निष्कलङ्क चन्द्र-स्वरूपिणी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी एवं श्रीराधारानी के हृदय में विराजमान श्रीकृष्णविषयक प्रेमरससारसागर रससमुद्भूत चन्द्ररूप व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं। अतः यहाँ प्रेम सदानन्दैकरसस्वरूप है, क्योंकि विषय-आश्रय दोनों ही रसस्वरूप हैं, जब कि अन्यत्र विषय-आश्रय आदि विजातीय होते हैं, रसस्वरूप नहीं। इसी तरह

भगवान् की लीला, लीला करने का स्थान, लीलापरिकर और उद्दीपनादि सामग्री भी रसस्वरूप ही है। सच्चिदानन्द रससारसरोवरसमुद्भूत सरोज, केशर, पराग एवं मकरन्दस्वरूप व्रज, व्रजसीमन्तिनी, श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी सभी रसात्मक ही सिद्ध होते हैं—

"यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुरानन्दसच्चिद्घनतामुपैति।"
"सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ॥"

इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं।

यह सारी बातें ब्रह्मवाद में ही बन सकती हैं, इसलिये ब्रह्मवित्तम श्रीमधुसूदन सरस्वती ने **'भक्तिरसायन'** ब्रह्मवाद के अनुरोध से ही बनाया है। भक्तिरसामृत के रसिक अन्य महानुभावों ने भी कहा है कि मुक्त मुनि जिस फल को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते परेशान रहते हैं, उसीको देवकी ने फला, यशोदा ने उसीका पालन किया तथा गोपियों ने यथेष्ट उसका उपभोग किया। यशोदा की मङ्गलमय गोद में नील कमल के समान चिदानन्दसरोवर से श्याम तेज प्रकट हुआ। अन्य भक्त कहते हैं—वह ऐसा फल था, जिसका भृङ्गों ने आघ्राण नहीं किया, वायु ने जिसका सौगन्ध्य नहीं उड़ाया, जो जल में उत्पन्न नहीं हुआ, लहरियों के कण से जो टकराया नहीं और कभी किसी ने जिसे कहीं देखा नहीं। एक भक्त कहता है—निगम वन में फल ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यदि नितान्त खेदयुक्त हो गये हों, तो इस उपदेश को सुनें—उपनिषदों के परम तात्पर्य का विषय प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म गोपियों के घर में उलूखल से बँधा पड़ा है। दूसरा भक्त कहता है—सखि! एक कौतुक की बात सुनो, श्रीमन्नन्दराय के प्राङ्गण में धूलधूसरित होकर वेदान्तसिद्धान्त थेई-थेई करके नृत्य करता हुआ मेरे द्वारा देखा गया है। एक अन्य भक्त कवि ने कहा है कि श्यामल मोहमयी मूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण मानो गोपाङ्गनाओं के पुञ्जीभूत प्रेम ही हैं या यदुवंशियों के मूर्तिमान् सौभाग्य हैं। अथवा श्रुतियों के गुप्तवित्त ब्रह्म हैं—

"मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः ॥"

"अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलै-
रनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो
यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिव तदौजः समभवत् ॥"

"परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु बल्लवीना-मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥"

"श्रृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः ॥"

"पुञ्जीभूतं प्रेमगोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम् ।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम् ॥"

निखिलरसामृतमूर्ति भगवान् की सब अलङ्कारादि सामग्री रसस्वरूप ही है। सौरभ्य से उनका उद्वर्तन (उबटन), स्नेह से अभ्यञ्जन (मालिश), माधुर्य अथवा स्वाङ्ग तेज से स्नान, लावण्य से मार्जन, सौन्दर्य से अनुलेपन और त्रैलोक्य लक्ष्मी (शोभा) से अलङ्कार होता है। श्रीवृषभानुनन्दिनी भी महाभावस्वरूपा हैं। सखियों के प्रणयरूप सद्‌गन्ध से उनका उबटन, कारुण्यामृतधारा, लावण्यामृतधारा-तारुण्यामृतधारा से स्नान, लज्जारूप पट्टवस्त्र परिधान, श्यामल और उज्ज्वल कस्तूरी विरचित देह एवं कम्प, अश्रु, पुलक, स्तम्भादि अलङ्कारस्वरूप रत्न हैं। श्रीकृष्ण का परिधान पीताम्बर श्रीराधारानी एवं श्रीराधारानी के कज्जल, मृगमद कर्णोत्पल, नीलाम्बर आदि श्रीकृष्ण ही हैं—

"श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम ।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ॥"

शृङ्गार रस की अङ्गिता और उज्ज्वलता अनौपचारिकरूप से राधा-कृष्ण में ही बनती है। कृष्णविषयक काम, क्रोध, भयादि का भी पर्यवसान कृष्णप्राप्ति में ही है। जैसे कोई दीप बुद्धि से चिन्तामणि ग्रहण करने में प्रवृत्त होता है, तो उसे चिन्तामणि की ही प्राप्ति होती है, वैसे ही जारादिभावना से भी जो भगवान् कृष्ण में प्रवृत्ति होती है, उससे भगवत्प्राप्ति ही होती है। लौकिक जारधर्म, परलोकादि को नष्ट करता है और भगवान् पञ्चकोश, अविद्या, काम, कर्मादि को नष्ट करते हैं, इसलिये जार हैं--

"तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥"
"कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥"

इत्यादि वचन इसमें प्रमाण हैं। यद्यपि अनिमित्ता भक्ति ही कोश को जीर्ण करती है, तो भी सनिमित्ता भक्ति का पर्यवसान भी अनिमित्ता भक्ति में ही होता है। यद्यपि अनिमित्ता पराभक्ति स्वतःसिद्ध है, तो भी जैसे कच्चा आम, पके हुए आम का कारण होता है, वैसे ही अपरा भक्ति पराभक्ति का कारण होती है। ऐसा मानने पर ही--

"अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।"
"अहैतुक्यव्यवहिताभक्तिर्भगवतो नृप ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ।"
"भक्त्या सञ्जातया भक्त्या·······॥"

इत्यादि वचनों की सङ्गति लगती है। रसात्मकप्रेम रसस्वरूप ही है। कहा भी गया है कि प्रादुर्भाव के समय जिसने जरा भी हेतु की अपेक्षा नहीं की, जिसके स्वरूप में अपराधपरम्परा से हानि एवं प्रणामपरम्परा से वृद्धि नहीं होती, जो अपने निजी रसास्वाद के सामने अमृतास्वाद को भी तुच्छ कर देता है, और जो तीनों लोक के दुःख का विनाश करता है, उस महान् प्रेम को वाणी का विषय बनाकर ओछा क्यों किया जाय—

"प्रादुर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि।
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्धते॥
पीयूषप्रतिवादनस्त्रिजगती दुःखद्रुहः साम्प्रतम्।
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाधवम्॥"

वाणी का विषय बनाते ही प्रेम या तो हल्का हो जाता है या अस्त हो जाता है। दो रसिकों का प्रेम एक दीपक के समान है, जो हृदयरूप गृहों को निश्चल रूप से प्रकाशित करता है। यदि इसे वाणीरूप दरवाजे से बाहर कर दिया जाय, तो या तो वह बुझ जाता है या मन्द हो जाता है—

"प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीपएव हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चेन्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥"

मुक्ति चाहनेवाले परम विरक्त भी इस भक्ति की कामना करते हैं—

"कामं भवःस्ववृजनैर्निरयेषु नः स्यात् चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।"

इसलिये भक्ति का चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष में पर्यवसान है। भक्तिरसायनकार के सिद्धान्त में सगुण ब्रह्म के समान निर्गुण ब्रह्म में भी भक्ति मानी गयी है। इसमें—

"देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥"
"लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्॥"

यह वचन प्रमाण है। इसका निष्कृष्ट अर्थ यही है कि—आनुश्रविक (वैदिक) कर्मों से आराध्य सत्त्व आदि गुणवाले देवताओं के मध्य में सत्त्वोपाधिक विष्णु में जो स्वाभाविकी मनोवृत्ति है, उसे निर्गुण भक्तियोग कहते हैं।

यद्यपि वेद एवं तदनुकूल शास्त्रों ने भगवान् के राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि जिन स्वरूपों की उपासना बतलायी है, उन सबकी भक्ति रसस्वरूप ही है, तथापि सभी रस सरलता से साक्षात् कृष्ण में ही सङ्गत होते हैं। इसीलिये भक्तिरसायनकार ने विशेषतया **'मुकुन्द'** पद ग्रहण किया है—**"परममिह मुकुन्दे भक्तियोगं वदन्ति।"** भक्तिरस के आलम्बनविभाव सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर भगवान् ही हैं यह आगे स्पष्ट किया जायगा। विशेष प्रेम-निरूपण के प्रसङ्ग में बतलाया गया है कि भगवद्धर्म से द्रुतचित्त में प्रविष्ट स्थिरगोविन्दाकारता ही भक्ति है—**"द्रुतेचित्ते प्रविष्टा या**

गोविन्दाकारता स्थिरा सा भक्तिरित्यभिहिता……।" (भक्तिरसा० उल्ला० २ कारि० १)

कर्म, उपासना, ज्ञान का अवगम करानेवाले सभी शास्त्रों का तात्पर्य अन्तःकरणशुद्ध्यर्थ मलविक्षेपनिवृत्तिपूर्वक भगवदुपासना एवं भगवत्स्वरूपज्ञान द्वारा परमपुरुषार्थरूप भक्ति में ही है। कहा भी है कि यदि द्रवावस्थापन्न चित्त नित्य-बोधसुखात्मा विभु भगवान् को ग्रहण कर ले, तो क्या अवशेष रह जाय ?—"**भगवन्तं विभुं नित्यं पूर्णं बोधसुखात्मकम्। यद्गृह्णाति द्रुतं चित्तं किमन्यदवशिष्यते॥**" (भक्ति० उल्ला० १ का० ३०) विषय में चित्त की कठोरता एवं भगवान् में द्रवता होनी चाहिये—"**काठिन्यं विषये कुर्याद् द्रवत्वं भगवत्पदे।**" आनन्द से ही अखिल भूतनिकाय का प्रादुर्भाव, आनन्द से ही जीवन एवं आनन्द में ही उपसंहार होता है—"**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**" अतः समस्त प्रपञ्च परमानन्द रसस्वरूप ही है। किन्तु स्वप्नादि प्रपञ्च के समान बाध्य होने के कारण भगवत्स्फूर्ति होने पर जब प्रपञ्च निवृत्त होता है, तब भगवद्रूप ही अवशेष रहता है। अध्यस्त पदार्थ की अधिष्ठान-ज्ञान से निवृत्ति होती है। इससे सिद्ध हुआ कि विषयविषयक सभी प्रेम भगवान् में ही पर्यवसित होते हैं।

भगवत्प्रेम प्राप्त करने के लिये साधक को क्रमशः महापुरुषों की सेवा, उनके धर्म में श्रद्धा, भगवद्गुणश्रवण में रति, स्वरूपप्राप्ति, प्रेमवृद्धि, भगवत्स्फूर्ति और भगवद्धर्मनिष्ठा आदि अपेक्षित होती है। आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णकाम, परम-निष्काम, महामुनीन्द्र भी भगवान् को भजते हैं—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥"

कहा जा सकता है कि सर्वाधिष्ठान प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म के साक्षात्कार द्वारा सभी प्रकार के भेदों के मिट जाने पर जिनका चित्त आनन्द से ही परिपूर्ण है, उन्हें अपने से भिन्न भगवान् की स्फूर्ति नहीं हो सकती। राग की तो उनमें सम्भावना ही नहीं, फिर भक्ति तो अत्यन्त असम्भव है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि उन्हें स्वारसिक प्रेम से भेद का आहार्यज्ञान होता है (बाधकालिक इच्छाजन्यज्ञान आहार्यज्ञान कहा जाता है)। आहार्यज्ञान द्वारा राग एवं भक्ति हो सकती है। "**त्रिपुर सुन्दरी रहस्य**" में बतलाया गया है कि भक्त लोग प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म को जानकर अतिशयप्रीति से अभिसन्धिविहीन होकर आहार्यज्ञानद्वारा भेदभाव की कल्पन करके अत्यन्त तत्परता से स्वभावतः भगवान् में स्वारसिकी भक्ति करते हैं—

"यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्।
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम्।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः॥"

आहार्यज्ञानद्वारा व्यामोहप्रसक्ति की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि भगवान् सत्य के भी सत्य हैं। जैसे अराजा को राजा बनानेवाला राजराज कहा जाता है, वैसे ही भगवान् असत्य को सत्य बनाते हैं। अर्थात् पारमार्थिक सत्य की अपेक्षा किञ्चित् न्यूनसत्ता के एक और सत्य माना जाता है, जो भजनोपयोगी है। अतः पारमार्थिक अद्वैत सिद्धान्त ज्यों-का-त्यों रहता है। कहा भी है कि पारमार्थिक अद्वैत ज्ञान होने पर यदि भजनोपयोगी द्वैत मानकर भगवान् में भक्ति की जाती है, तो ऐसी भक्ति सैकड़ों मुक्तियों से भी कहीं बहुत अच्छी है। प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म का विज्ञान होने के पहले द्वैतबन्धन का कारण है, किन्तु विज्ञान के बाद भेद, मोह के निवृत्त हो जाने पर भक्ति के लिये भावित द्वैत, अद्वैत से भी बहुत अच्छा है—

"पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका॥"
"द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं भावितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥"

गाढ़ानुराग आलिङ्गनादि-रसास्वादप्रवीण पतिव्रता नायिका जैसे रसविशेष-विकास के लिये घूंघट की ओट से अपने प्रियतम का निरीक्षण करती है, वैसे ही तत्त्वसाक्षात्कारसम्पन्न, अभेदानुभवी विद्वान् भी रसविशेषविकास के लिये भेदभाव से ही भगवान् की समर्चा करना चाहते हैं—

"विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥"

कान्ता का प्रियतम के वक्षःस्थल पर विलासपूर्ण विहरण या पादयुगल की सेवा, जैसे बराबर है, वैसे ही ज्ञानी की तत्त्वनिष्ठा और भगवत्पूजा दोनों बराबर हैं—

"प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या,
पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ,
ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्॥"

जैसे प्रातिभासिक प्रपञ्च की अपेक्षा घटादि सत्य एवं स्वकारण मृदादि की अपेक्षा असत्य होते हैं या मृदादि भी अपने कारण की अपेक्षा असत्य होते हैं, वैसे ही पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा स्तर भेद से कुछ न्यून सत्तावाला अपारमार्थिक सत्य है। यही सत्ता भगवल्लीला परिकर की है, इसलिये सिद्धान्ततः अद्वैत बना ही रहता है, उसका व्याकोप नहीं होता।

चित्तद्रुति के कारण अनेक हैं। उन्हीं के भेद से भक्ति में भेद होता है— **"चित्तद्रुतेः कारणानां भेदाद्भक्तिस्तु भिद्यते।"** शरीर सम्बन्ध-विशेष की स्पृहा होने पर सन्निधान-असन्निधान भेद से काम दो प्रकार का होता है। उससे द्रुत चित्त में

श्रीकृष्णनिष्ठता ही सम्भोग विप्रलम्भाख्य रति है। इसी तरह क्रोध, स्नेह, हर्षादि-जन्य चित्तद्रुति में भी रति जाननी चाहिये—

"कामजे द्वे रती शोकहासभीविस्मयास्तथा।
उत्साहो युधिदाने च भगवद्विषया अमी॥"

शृङ्गार, करुण, हास्य, प्रीति, भयानक, अद्भुत, युद्धवीर, दानवीर ये सब व्यामिश्रण में होते हैं। राजसी, तामसी भक्ति अदृष्ट फल मात्रवाली होती है। मिश्रित भक्ति दृष्टादृष्ट उभय फलवाली होती है। इसी तरह साधकों की विशेषता से भक्ति शुद्धसत्वोद्भव भी होती है।

सनकादि सिद्धों में भक्ति दृष्टफल होती है। जैसे ग्रीष्मसंतप्त पुरुष का गङ्गास्नान दृष्टादृष्टफलक होता है, वैसे ही वैधी भक्ति में भी सुखव्यक्ति होती है, अतः वह दृष्टादृष्ट फलक है। शीतवातातुर पुरुष यदि गङ्गास्नान करे, तो उससे जैसे अदृष्टमात्र ही फल होता है, दृष्टांश प्रतिबद्ध हो जाता है, वैसे ही राजसी, तामसी भक्ति में दृष्टांश प्रतिबद्ध हो जाता है। गङ्गा स्नान कर लेने पर पुनः गङ्गा में क्रीड़ा करनेवालों को जैसे दृष्टमात्र फल होता है, वैसे ही जीवन्मुक्तों की भक्ति दृष्टफल मात्र पर्यवसायिनी होती है—

"राजसी तामसी भक्तिरदृष्टफलमात्रभाक्।
दृष्टादृष्टोभयफला मिश्रिता भक्तिरिष्यते॥
शुद्धसत्वोद्भवाप्येवं साधकेष्वस्मदादिषु।
दृष्टमात्रफला सा तु सिद्धेषु सनकादिषु॥
दृष्टादृष्टफलाभक्तिः सुखव्यक्तेर्विधेरपि।
निदाघदूनदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा॥
रजस्तमोऽभिभूतस्य दृष्टांशः प्रतिबध्यते।
शीतवातातुरस्येव नादृष्टांशस्तु हीयते॥
तथैव जीवन्मुक्तानामदृष्टांशो न विद्यते।
स्नात्वा भुक्तवतां भूयो गङ्गायां क्रीडतां यथा॥"

वातस्थित प्रदीप ज्वाला के समान रजस्तमोऽभिभूत शिशुपाल आदि की स्वप्रकाशानन्दाकार भी मतिसन्तति सुख व्यक्ति करानेवाली न हुई। प्रतिबन्ध के नष्ट होने पर सुखाभिव्यक्ति होती है। चित्तद्रुति होने पर ही भक्ति होती है। उसके न होने पर न तो वेन भक्त ही ठहरा, न उसे कुछ फल ही प्राप्त हुआ। शिशुपाल भगवान् की सत्ता मानता था, परन्तु वेन भगवान् की सत्ता ही नहीं मानता था, वह नास्तिक था, इसलिये उसका भगवत्सम्बन्ध ही नहीं हुआ, फिर चित्त द्रवता और भक्ति तो बहुत दूर की बात है। सुखाभिव्यञ्जक होने से रजस्तमोविहीन भगवद्-

विषयक मति ही रति है। भगवद्विषयक मति के समुच्छेदतारतम्य से रतितारतम्य होता है। "**विरहे यादृशं दुःखं तादृशी दृश्यते रतिः।**"

मनुष्य और अधिकरणमात्र के भेद से अनेक भेद होते हैं, उसमें भी वैकुण्ठ, मथुरा, द्वारका, वृन्दावन आदि भेद से, व्रज, वन, निकुञ्जादि भेद से प्रकाशभेद भी माना जाता है। पुनः शुद्ध के मिश्रित आदि भेद से अनेक भेद होते हैं। भक्ति रसामृतसिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि आदि में जो विषय विस्तार से कहे गये हैं, वे यहाँ सूत्रभूत कारिकाओं से कहे गये हैं। विशेषतया वेदान्त, सांख्य, मीमांसादिशास्त्र एवं शास्त्राविरोधी युक्तियों द्वारा सभी विषयों का वर्णन किया गया है। अद्वैत-सिद्धिकार श्रीमधुसूदनसरस्वतीमहाराज की सिद्धान्ताविरोधिनी स्वारसिकी भक्ति थी, जैसा कि उन्होंने स्वयं ही '**गूढार्थदीपिकासंग्रह**' में कहा है कि अद्वेष्टृत्व आदि गुण जैसे ज्ञानी के स्वभावसिद्ध होते हैं वैसे ही भगवद्भजन करना भी ज्ञानी का स्वभाव है—"**अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।**" साधन अभ्यास और परिपाकावस्था के भेद से "**तस्यैवाहं**" मैं उसीका हूँ, "**ममैवासौ**" वह मेरा ही है, "**सोऽहं**" मैं वही हूँ, तीन तरह के भाव होते हैं। तीसरे भाव के "**कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्**", "**अहंब्रह्म परंधाम**", "**मधुरिपुरहमिति भावनशीला**" इत्यादि उदाहरण हैं। "**मामेकं शरणं व्रज**" इत्यादि गीता के उपसंहारात्मक श्लोक का तात्पर्य भी अन्तिम भावना ही है। '**एकं**' एक अद्वितीय त्रिविधभेदशून्य "**मां**" **मुझ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म को** "**शरणं**" घटाकाश का महाकाश के समान, तरङ्ग का जलराशि के समान आश्रय अथवा रक्षक निश्चित रूप से जानो। "**नैनमविदितो देवो भुनक्ति**" इस श्रुति के अनुसार प्रत्यगभिन्नता रूप से विदित ब्रह्म ही अविद्या तत्कार्यात्मक प्रपञ्च का अपनोदन करता है, इसीलिये वह रक्षक है।

परब्रह्म परमात्मा से अभिन्न होने पर ही प्रत्यक् आत्मा की पूर्णता एवं प्रत्यगात्मा से अभिन्न होने से परब्रह्म की अपरोक्षता अनौपाधिक अनतिशय पर प्रेमास्पदता सिद्ध होती है। यदि प्रत्यगात्मा से तटस्थ परमात्मा ठहरा तो उपयुक्त बातें बन नहीं सकतीं। "**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**" यह श्रुति प्रत्यगात्मा के शेष रूप से ही सबकी प्रेमास्पदता बतलाती है। अपने कल्याण के लिये भगवान् का भजन कड़वी गुडुची पान के समान ही ठहरेगा, क्योंकि स्वास्थ्य के लिये कड़वी गुडुची भी पी जाती है। फिर भगवान् में सातिशय ही प्रेम रहेगा निरतिशय नहीं, जब प्रत्यागात्मा का स्वरूप भगवान् को माना जाता है, तभी भगवान् की निरुपाधिक परप्रेमास्पदता बन सकती है। "**यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म**" इस श्रुति ने ब्रह्म की अवेद्यता से ही अपरोक्षता बतलायी है जो कि प्रत्यगात्मा से भिन्न, तटस्थ ब्रह्म की किसी तरह नहीं बन सकती। आत्मा से भिन्न पदार्थ की सिद्धि प्रमाण के अधीन ही होती है, स्वतः भासमान स्वारसिक अनतिशय प्रेमस्वरूप ही भगवान् है इसीलिये श्रीशुकाचार्य ने भगवान् श्रीकृष्ण को सबका अन्तरात्मा बतलाया है—

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥"

इसीलिये ब्रह्मविद्वरिष्ठों के भी चित्त में हठात् उनकी स्फूर्ति होती है—

"यावन्निरञ्जनमजं पुरुषं जरन्तं संचिन्तयामि सकले जगति स्फुरन्तम् ।
तावद् बलात् स्फुरति हन्त हृदन्तरे मे गोपस्य कोपि शिशुरञ्जनपुञ्जमञ्जुः ॥
क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयंगते यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत्परम् ।
तद् व्यर्थयन्कः पुरतो नराकृतिः श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते ॥"

प्रकृत ग्रन्थकार श्रीमधुसूदनसरस्वती के भी निम्नलिखित वचन हैं—

"वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्,
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।"

"ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियम्,
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरम्,
कालिन्दीपुलिनेषु यत् किमपि तन्नीलं महो धावती ॥"

"अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः ।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन ॥"

इसी तरह श्रीशुकसनकादि शङ्कर सुरेश्वर पद्मपादचित्सुख सर्वज्ञात्म श्रीधर-स्वामी आदि सहस्रों ब्रह्मविद् वरिष्ठों को भी वैसा ही अकैतव प्रेम था। भगवान् ने स्वयं ही श्रीमुख से "**एकभक्तिर्विशिष्यते**" इन शब्दों से उपर्युक्त अर्थों का समर्थन किया है। "**सर्वं त परादाद्योन्यत्रात्मनः सर्वं वेद**" इत्यादि श्रुतियों ने किसी को भी अनात्मा समझने को अनर्थकारक माना है, फिर भगवान् को अनात्मा समझने की बात ही क्या? प्रेम में व्यवधान सहन की क्षमता नहीं होती, इसीलिये दूर में या व्यवहित में स्वाभाविक स्वारसिक अकैतव प्रेम नहीं होता। इसीलिये भगवान् को सर्वान्तर परम सन्निहित या प्रत्यगात्मा कहा गया है-**कैतवरहितं प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके, यदि भवति कस्य विरहः विरहे भवति को जीवति**" यह प्रसिद्ध ही है।

श्री अचिन्त्यकल्याणगुणगणाकर भूमा भगवान् की अघटितघटनापटीयसी सदसद्विलक्षणा, समस्त आश्चर्यों की एकमात्र निवासभूमि, अनन्तशक्ति की केन्द्रभूता माया के प्रवाह में पड़े हुए प्रपञ्च में सूक्ष्म विचार करने पर बुद्धिमानों के लिये क्रमशः आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ठहरता है। कोई आत्मा को अणुपरिमाण, कोई मध्यम परिमाण तथा कोई विभु मानते हैं। विभुत्ववादियों में भी कोई आत्मा को अचित्, कोई चित्परिणामी, कोई चिदचित्, कोई असङ्ग और चित्स्वरूप मानते हैं। कोई वादी क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से अपरामृष्ट विशिष्ट आत्मा की सर्वज्ञता, सर्व-शक्तिमत्ता, नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावता मानते हैं। यद्यपि इसीमें सद्वितीयता, चिदचिद्विशिष्टता, चिदचिद्भिन्नाभिन्नता रूप तीसरे पक्ष में भी स्वाभाविक भेदाभेद,

औपाधिक भेदाभेद, अचिन्त्य भेदाभेद पक्ष और शुद्धाद्वैत, अद्वैतपक्ष भी होते हैं, तथापि भक्तिरसायनकार अद्वैत सिद्धान्तानुसारी हैं। परमार्थतया भोक्ता की आत्मा भगवान् ही हैं ऐसा औपनिषद् सिद्धान्त है। '**श्रीमद्भागवत**' में भी कहा गया है कि वस्तुभूत तत्त्व वही है। सर्वविध भेदशून्य, स्वप्रकाश, अद्वय ज्ञान को ही तत्त्वज्ञ तत्त्व कहते हैं। देशकृत, कालकृत, वस्तुकृत परिच्छेदशून्य होने से वही ज्ञान अनन्त, अवेद्य होकर अपरोक्ष होने से स्वप्रकाश, अद्वितीय होने के कारण सर्वोपद्रव विवर्जित होने से परमानन्दस्वरूप और त्रिकालाबाध्य होने से परम सत्य है। वही निरतिशय बृहत् होने से ब्रह्म, आत्माओं की भी आत्मा होने से परमात्मा, अचिन्त्य, अनन्तभगों (समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य और मोक्ष) एवं कल्याण गुणगणों द्वारा सेवित होने से भगवान् कहा जाता है—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥"

किन्हीं लोगों ने ब्रह्म और भगवान् में भेद मानकर इस श्लोक का व्याख्यान किया है। उनका कहना है कि ब्रह्म ज्योति और भगवान् ज्योतिष्मान् हैं। वे ज्योति-रूप होने से बह्म की अमूर्तता, प्राकृत गुणगणरहित होने से निर्विशेषता तथा ज्योति-ष्मान् होने से भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्तता, अप्राकृत अनन्त कल्याणगुणगणाकर होने से सविशेषता मानते हैं। परन्तु उनका कथन ठीक नहीं, क्योंकि लक्षणभेद से लक्ष्यभेद और लक्षणैक्य से लक्ष्यैक्य होता है। उपर्युक्त श्लोक में तत्त्वलक्षण एक ही प्रकार का कहा गया है—**"तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्"**। इसीलिये ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् में कुछ भी भेद नहीं है।

किन्हीं लोगों ने भगवान् श्रीकृष्ण को आदित्यस्थानीय और ब्रह्म को किरण-स्वरूप माना है। किन्तु उनका भी मन्तव्य भावमात्र मूलक है, तात्त्विक नहीं। तात्त्विक मानने पर भगवान् औपनिषद् न ठहरेंगे। 'श्रीमद्भागवत' में भगवान् श्रीकृष्ण को पूर्ण ब्रह्म कहा गया है–**"यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्"**। **"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"** इत्यादि चतुर्लक्षणी उत्तर मीमांसा में ब्रह्म का ही विचार बतलाया गया है, अतः ब्रह्म ही औपनिषद् है। यदि ज्योति और ज्योतिष्मान् का भेद माना जाय, तब तो स्वगत भेद सुस्थित हो जाता है, फिर अनुपचरित अद्वयता नहीं कही जा सकती। यदि भेद न माना जाय, तब तो धर्म-धर्मिभाव नहीं बन सकता। विरुद्ध होने के कारण स्वाभाविक भेदाभेद कहा नहीं जा सकता। औपाधिक भेदाभेद अयथार्थ ही है, अतः तन्मूलकवाद भी अयथार्थ ही हुआ। अचिन्त्य भेदाभेद भी ठीक नहीं, क्योंकि अचिन्त्यता तीन प्रकार से ही बन सकती है। तत्त्व या तो मनोवचना-गोचर हो अथवा अनन्त हो या अनिर्वचनीय हो। इन तीनों कारणों के स्वीकार करने से सिद्धान्त भङ्ग होता है, अस्वीकार करने से अचिन्त्यता नहीं बन सकती।

त्रिविधभेद निषेधिका **"एकमेवाद्वितीयम्"** इस श्रुति से स्वगत **भेद** का भी निषेध होता है। **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** इस श्रुति से इदमर्थ **की सदात्मकता** का अवधारण होता है। फिर भी यदि सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद का वारण न किया जाय, तो 'एकम्', **'एव'**, **'अद्वितीयम्'** ये तीनों विशेषण अनर्थक ठहरते हैं, अतः इन तीनों विशेषणों से त्रिविध भेद का वारण किया जाता है। **"नेह नानास्ति किंचन"**, **"नात्र काचनभिदास्ति"** इन श्रुतियों में आये हुए **'किञ्चन'** और 'काचन' शब्दों द्वारा "नानाभिदा" आदि पद बोध्य सर्वविध भेद का ही निषेध किया गया है। 'यहाँ कोई घट नहीं है' यह कहने पर घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगितानिरूपक निषेध की ही अवगति होती है।

दूसरी बात यह है कि ज्योतिष्मान् आदित्यस्थानीय भगवान् से यदि ज्योतिःस्थानीय ब्रह्म, न्यून माना जाय, तो वह ब्रह्म ही नहीं। 'बृहि वृद्धौ' धातु से 'मनिन्' प्रत्यय होने पर ब्रह्म शब्द बनता है, जिसका अर्थ है बड़ा (बृहत्) सङ्कोचक प्रमाण न होने तथा **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इस श्रुति में 'अनन्त' पद समभिव्याहार से यही सिद्ध होता है कि निरतिशय बृहत् तत्व ही ब्रह्म है। अतिशयता की कल्पना करते-करते जहाँ वाचस्पति की मति भी परिश्रान्त हो जाय, उसके बाद निरतिशय बृहत्ता सिद्ध हो सकती है, अतः भगवान् हों या श्रीकृष्ण जिसकी निरतिशय बृहत्ता मानी जाय, वही ब्रह्म है। यहाँ इतनी विशेषता और समझ लेनी चाहिये कि उपर्युक्त मत में आदित्यस्थानीय ज्योतिष्मान् भगवान् को किरणस्वरूप ज्योतिःप्रदेश में अविद्यमानता रहेगी, अतः देशकृत परिच्छेद होने से अनन्तता नहीं बन सकती। हमारे मत में भगवान् या श्रीकृष्ण को सर्वविध परिच्छेद-शून्यता होने के कारण निरतिशय बृहत्ता बन सकती है और अनुपचरित अद्वयता, अनन्तता, ब्रह्मता भी सम्पन्न हो सकती है।

इसी तरह कहा जाता है कि 'भगवान् निर्गुण हैं' इस कथन का अभिप्राय यह है कि भगवान् में प्राकृत गुणगण नहीं हैं। जैसे 'अकाय' का अभिप्राय प्राकृत काय-राहित्यमात्र है, अप्राकृत काय तो है ही। वैसे ही **"निर्गुण"** शब्द अप्राकृत गुण-गण का निषेधक नहीं है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो निष्क्रियत्व, अव्रणत्व आदि शब्दों का भी ऐसा ही अर्थ किया जायगा। फिर तो भगवान् में अप्राकृत क्रिया एवं अप्राकृत व्रण मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि सगुण शब्द भी निर्गुण के समान आता है, अतः 'निर्गुण' पद का अर्थ प्राकृत गुणरहित किया जाता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि निष्क्रियत्व के समान सक्रियत्व शब्द भी आता है, अतः उपर्युक्त दोष तदवस्थ ही रहेगा। इसलिये वस्तुतः निर्गुण ही भगवान् अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्ति से अप्राकृत गुणगणों को स्वीकार करते हैं, अतः वे सगुण कहे जाते हैं—

"निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।"

यद्यपि कहा जाता है कि, हो सकता है कि धनवान् पुरुष धननिरपेक्ष हो, किन्तु निर्धन की धननिरपेक्षता अत्यन्त असम्भव है। इसी तरह सगुण भगवान् भले ही गुणनिरपेक्ष हों, किन्तु निर्गुण की गुणनिरपेक्षता अत्यन्त असम्भव है, तथापि यह भी ठीक नहीं, क्योंकि भगवान् में गुण न तो कुछ अतिशयता का आधान कर सकते हैं, न कुछ विशेषता ही कर सकते हैं। अनाप्तकाम निर्धन को भले ही धन की अपेक्षा हो किन्तु आप्तकाम, आत्माराम, पूर्णकाम, परम निष्काम, निर्गुण भगवान् गुणनिरपेक्ष रहें, इसमें क्या आश्चर्य ? नित्य निरतिशय बृहद् ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् में गुणगण महत्वातिशय का आधान, नित्य निरतिशय अनन्त आनन्द स्वरूप में आनन्दातिशय का आधान तथा नित्यनिरस्तसमस्तानर्थ ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् में अनर्थ निर्वहण भी नहीं कर सकते। पर इन तीनों को छोड़कर गुण का कोई चौथा उपयोग है नहीं, अतः गुणनिरपेक्ष निर्गुण भगवान् ही गुणों की गुणत्व सिद्धि के लिये उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। कौस्तुभमणि की शोभा के लिये ही भगवान् ने उसे अपने श्रीकण्ठ में धारण कर रखा है—**"कण्ठञ्च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थम् ॥"** किन्हीं लोगों का यह मत कि निराकार में प्रेमास्पदता होती ही नहीं, अत्यन्त अज्ञानमूलक है, क्योंकि सगुणप्राप्तिजन्य सुख भी निराकार ही है, फिर उसमें प्रेम कैसे होता है ? श्रीधरस्वामी आदिकों ने भी **"तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्"** इस श्लोक में ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् में कुछ भी विलक्षणता नहीं मानी। ऐसा मानना न केवल निर्मूल है, अपितु शास्त्र तथा युक्तिविरुद्ध भी है।

कुछ लोगों का कहना है कि नारदजी को आकाश से उतरते हुए देखकर जब वे दूर थे, तब द्वारकावासियों ने कल्पना की कि यह कोई महातेजःपुञ्ज है। कुछ और समीप आने पर शरीरवान् प्राणी समझा और अधिक समीप आने पर अवयव की स्पष्ट प्रतीति से कोई पुरुष है ऐसा जाना। अधिक निकट होने पर उन्हें नारदजी का स्पष्ट ज्ञान हुआ—

> **"चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततःशरीरीति विभाविताकृतिम्।**
> **विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥"**

इसी तरह दूर रहने पर ब्रह्म और समीप होने पर परमात्मा और अत्यन्त समीप होनेपर भगवान् का ज्ञान होता है। किन्तु यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्वान्तरतम ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् में सामीप्य-असामीप्य निबन्धन तारतम्य नहीं हो सकता। अतः निष्कर्ष यह निकला कि एक ही नित्य, निरतिशय बृहत्तम ब्रह्म आत्माओं की भी आत्मा होने से परमात्मा और गुणगण सेव्य होने से भगवान् कहा जाता है। सकल सच्छास्त्रतात्पर्यगोचर, अशेषविशेषातीत, निर्गुण, निराकार, सच्चिदानन्दघन अपनी अचिन्त्य, मङ्गलमय, दिव्यशक्ति से अनन्तकल्याणगुणगणाकर, अनन्तकोटिकन्दर्पसुन्दर, शक्रशतकोटिविलासशाली, नभःशतकोटिमहाविस्तार-

शाली, वायुशतकोटिविपुल-बलशाली, रविशतकोटिप्रखरप्रकाशशाली, शशिशत-कोटिसुशीतल, कालशतकोटिदुस्तर, अमितकोटितीर्थपावनाभिधान, मेरुशतकोटि-निश्चल, समुद्रशतकोटिगम्भीर, कामधेनुशतकोटि कामपूरक, शारदाशतकोटि विधि-शतकोटि सृष्टि-निपुण, विष्णुशतकोटि पालक, रुद्रशतकोटि संहारक, धनद कोटि, शतैश्वर्यसम्पन्न, मायाकोटिशत अघटितघटनापटीयान्, शेषशतकोटि धारक, भगवान् की अनन्तकोटि आदित्यगणों की प्रकाश-प्राखर्यादि में से भी, वैसे ही उपमा नहीं दी जा सकती, जैसे कि अनन्तकोटि खद्योतों से आदित्य की उपमा। इसीलिये अशेषविशेषातीत, अनन्तकल्याणगुणगणाकर भगवान् की स्तुति में ब्रह्मादिकों का भी असामर्थ्य सुना जाता है।

भक्तकल्पपादप भगवान् के सभी गुण भक्तोपयोगी ही हैं। सर्वशास्त्रतात्पर्य-विषय कर्म-उपासना-तत्त्वज्ञानादि समाराध्य भगवान् ही मुक्तोपसृप्य हैं, यह तत्तत्स्थलों में कहा ही गया है। "**ममुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये**", "**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**", "**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये**", "**आत्मक्रीड आत्मरतिः**" इत्यादि श्रुतियों एवं स्मृतियों में मुमुक्षु और भक्तों के लिये भगवच्छरणागति ही बतलायी गयी है। उपक्रमोपसंहारादि तात्पर्यनिर्णायक षड्विध लिङ्गों द्वारा "**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**", "**रसो वै सः**" इत्यादि श्रुतियों का तात्पर्य रसात्मक, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म में ही पर्य्यवसित होता है। अन्य विषयक अनुरागाधीन विषयता, प्रेम की गौणता तथा अन्य विषयक अनुरागाधीन विषयता ही प्रेम की मुख्यता है। ऐसी मुख्यता आत्मा में ही हो सकती है, क्योंकि वहाँ प्रेम अन्यार्थ नहीं है, अतः आत्मा सुखरूप है। सुख आत्मा से भिन्न दूसरी वस्तु है, इसीलिये आत्मसम्बन्ध से ही सुख की कामना होती है, यह कहना ठीक नहीं। भ्रान्तिवशात् वैषयिक सुख ऐसा प्रतीत भी हो, तो भी परमार्थतया परम सुख आत्मरूप ही है। वैषयिक सुख को ही लक्ष्य करके "**परिणाम-तापसंस्कारगुणवृत्तिविरोधात् सर्वमेव दुःखं विवेकिनः**" यह श्रीमहर्षि पतञ्जलि का और 'विषमिश्रित' मधुर, मनोहर पक्वान्न के समान दुःखमिश्रित सुख हेय है, यह नैयायिकों का कहना है। "**एष ह्येवानन्दयति**", "**मात्रामुपजीवन्ति**", "**रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति**" इत्यादि श्रुतियाँ लौकिक वैषयिक सुख को उसी सुखस्वरूप आत्मा का अंश बतला रही हैं। स्वानुकूल विषय की प्राप्ति में अन्तःकरण की वृत्ति अन्तर्मुख, शान्त, अचञ्चल होती है। सत्त्वोद्रेक होने से प्रतिबिम्बतया वहाँ स्वात्मा-नन्द ही अभिव्यक्त होता है। विषय निबन्धन एवं वृत्तिरोध के क्षणिक होने से सुख को वैषयिक, क्षणिक आदि कहा जाता है। "**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन**" इत्यादि श्रुतियों द्वारा तत्त्वसाक्षात्कारमूलक परिणाम के कारण दुःख से अमिश्रित सुख होने से ब्रह्मात्म सुख प्राप्ति कही गयी है। इसीलिये आत्मा ही रस है, ऐसा सिद्धान्त है।

यहाँ पर आनन्द शब्द से प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्म ही लिलक्षयिषित है, क्योंकि उसीमें उपक्रमोपसंहारादि द्वारा रसात्मताबोधक वचनों का तात्पर्य निश्चित होता है। अग्नि के अंश विस्फुलिङ्ग के समान या सिन्धु के अंश बिन्दु के समान विशिष्ट, सोपाधिक चिदाभास, चित्प्रतिबिम्ब, चित्कण या समवच्छिन्न जीव निरतिशय रसरूप नहीं, क्योंकि वहाँ पूर्णानन्दता तिरोहित है। तटस्थ परब्रह्म-परमात्मा भी निरतिशय सुखरूप नहीं, क्योंकि यदि वह प्रत्यक् चैतन्य स्वरूप न हुआ, तो साक्षाद-परोक्ष भी न रहेगा, फिर उसकी स्वप्रकाशानन्द रसरूपता तो अत्यन्त दूर है। इसलिये न चाहने पर भी प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म की ही रसरूपता माननी पड़ेगी।

किन्हीं लोगों ने सच्चिदानन्दघन भगवान् की स्वरूपशक्ति, तटस्थशक्ति और बहिरङ्गशक्ति यह तीन शक्तियाँ मानी हैं। स्वरूपशक्ति में भी वे सन्धिनीशक्ति, संवित्शक्ति और ह्लादिनीशक्ति के भेद से तीन शक्तियाँ मानते हैं। इस पक्ष में भी यह बात बन जाती है, क्योंकि अचिदात्मक माया की बहिरङ्गता और सोपाधिक जीव की तटस्थता तो स्पष्ट ही है। सन्धिनी आदि तीनों शक्तियाँ सच्चिदानन्द की स्वरूप-भूता ही हैं। यद्यपि स्वप्रकाश सत् ही चित्, अत्यन्ताबाध्य चित् ही सत्, सर्वोपद्रव-विवर्जित सच्चित् ही आनन्द, अत्यन्ताबाध्य, स्वप्रकाश आनन्द ही सच्चित् है, इस तरह स्वरूप में कुछ भी भेद नहीं है, अतः उसमें जब शक्ति की ही कल्पना नहीं की जा सकती तब फिर उसके तीन भेद की तो बात ही क्या? तथापि अचिन्त्य, अनिर्वाच्य, भगवदीय दिव्यलीलाशक्ति के योग से लीलाविशेष विकास के लिये उक्त भेदों का उपपादन किया जा सकता है। जैसे जलराशि की अपेक्षा फेन बहिरङ्ग और तरङ्ग तटस्थ (फेन की अपेक्षा अन्तरङ्ग होते हुए भी स्वरूप की अपेक्षा बहिरङ्ग होने से तरङ्ग में तटस्थता है।) और स्वरूपभूत होने से माधुर्य्य ही मुख्य अन्तरङ्ग है, वैसे ही परमानन्द सुधासिन्धु भगवान् में भोग्य जड़ प्रपञ्च मूलभूत माया बहिरङ्ग, चिल्लक्षण जीव तटस्थ और स्वरूपभूत माधुर्य्यादि अन्तरङ्गभाव शक्तिशब्द से भी कहे जाते हैं। सत्त्व सन्धायक है अतः उसमें सन्धिनी, चित्प्रकाशक है, अतः उसमें संवित् और आनन्द आह्लादक है अतः उसमें आह्लादिनी शक्ति की कल्पना होती है। प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म की रसरूपता मानने पर ही यह सब कल्पना बन सकती है। रससिन्धु का विन्दु भी रसस्वरूप ही है। किन्तु परमानन्दता के आवृत होने से वह अल्पानन्द एवं साकांक्ष होता है। इसी तरह सोपाधिक आत्मा भी रसस्वरूप होकर रसप्रेप्सु होता है। इसीलिये शास्त्रों ने इस तत्त्व का निरूपण किया है। वेदान्तवेद्य, निर्विशेष भगवद्रूप ही रसस्थायी से विशिष्ट होकर वर्णित होता है। भगवद्गुणगण-श्रवणजन्य मानस वृत्ति की द्रवता में भगवदाकारता प्रविष्ट होने पर विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के संयोग से रसरूपता होती है। यहाँ भगवान् ही आलम्बन विभाव,

तुलसी-चन्दनादि उद्दीपन विभाव, नेत्र विक्रियादि अनुभाव और निर्वेदादि व्यभिचारी भाव से व्यज्यमान भगवदाकारता रूप रस स्थायी भाव ही परमानन्द-साक्षात्कारात्मक प्रादुर्भूत होता है। वही भक्तियोग एवं दुःखासंस्पृष्ट सुखरूप परम पुरुषार्थ है।

यदि स्वभावतः कठिन लाक्षा तापक अग्नि आदि द्रव्य के सम्बन्ध से जल के समान द्रुत हो जाय और सैकड़ों पर्त के चीनांशुक से छान ली जाय, फिर उसमें हिङ्गुल आदि कोई रङ्ग छोड़ दिया जाय, तो वह रङ्ग उस लाक्षा के सर्वांश में प्रविष्ट होकर स्थिर हो जाता है। फिर कठोर या द्रुत होने पर कभी भी रङ्ग लाक्षा से पृथक् नहीं होता, वैसे ही भगवद्भावना से भावित द्रवावस्थापन्न अन्तःकरण में भगवान् के प्रविष्ट होने पर अन्य वस्तु ग्रहणकाल में भी भगवान् का भान होता ही है। प्रपञ्चभानसहित भगवद्भान का--

"खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥"

उदाहरण है। प्रपञ्चमिथ्यात्वभानसहित भगवद्भान का उदाहरण **"तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपम्"** आदि हैं। प्रपञ्चभानरहितभगवद्भान का उदाहरण है--**"प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः। आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यदुभयं मुने॥"** विशेषतः विप्रलम्भ शृङ्गार में द्रवावस्थाप्रविष्ट-आलम्बनमय ही समस्त वस्तुओं का भान होता है। इसका उदाहरण है--

"प्रासादे सा दिशिदिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा,
पर्यङ्के सा पथिपथि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा,
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥"

इसी तरह भगवद्विषयक काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि तापक भावों में से किसी के भी सम्पर्क से चित्तरूप लाक्षा गङ्गाजलप्रवाह के समान द्रुत हो और सैकड़ों पर्त के चीनांशुक से वह क्षालित हो (छान ली जाय) तो, फिर उसमें सर्वांश प्रविष्ट परमानन्द स्वरूप भगवान् स्थायी भाव बनकर रसस्वरूप हो जाते हैं। द्रवावस्था में प्रविष्ट विषयाकारता (भगवदाकारता) के कभी भी पृथक् न होने के कारण वहाँ मुख्य स्थायी शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा होने पर ही कर्तुमकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ भगवान् भी यदि स्वयं वहाँ से हटना चाहें तो नहीं हट सकते, उनकी सर्वशक्तिमत्ता भी कुण्ठित हो जाती है। इसीलिये कहा गया है--

"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥"

यहाँ 'प्रणय' शब्द से द्रवावस्था ही विवक्षित है। ऐसे अन्तःकरण से चाहने पर भी भगवान् नहीं निकल सकते। इसीको लक्ष्य करके भक्त कहता है

कि यदि हृदय से निकल जाओ तो आपका पुरुषार्थ जानूँ—"**हृदयाद्यदि चेद्यासि पौरुषं गणयामि ते।**" व्रजसीमन्तिनीजन अपने हृदय से भगवान् को निकालना चाहती हैं, पर सफल नहीं होतीं। निश्चित करती हैं कि अब उनसे सख्य नहीं करेंगी, फिर भी उनकी चर्चा को दुस्त्यज समझती हैं। किसी सखी ने भगवान् की चर्चा छेड़ दी, तो दूसरी सखी ने तत्काल रोककर कहा—

"**सन्त्यज सखि तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।**
स्मारय किमपि तदितरद्विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥"

अर्थात् यदि इसे क्षणमात्र भी सुखी देखना चाहती हो, तो मोहन की चर्चा न कर कोई और कथा सुनाओ। यह देखकर किसी मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सोचने लगे कि योगीन्द्र, मुनीन्द्र धारणा, ध्यान आदि के द्वारा विषयों से मन को हटाकर भगवान् में लगाना चाहते हैं और मन हट-हटकर विषयों में चला जाता है। किन्तु यह मुग्धा मन को भगवान् से हटाकर विषयों में लगाना चाहती है। जिन भगवान् की क्षणमात्र स्फूर्ति के लिये योगी सदा उत्कण्ठित रहा करते हैं—

"**प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनोधित्सति,**
बालासौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती ततः।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते,
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥"

यदि कहा जाय कि फिर तो आलम्बन और स्थायीभाव एक ही हो गया, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यवहारसिद्ध ईश-जीव के भेद के समान ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब के भाव का भेद यहाँ भी है। बिम्ब ही मन की द्रवावस्था में पड़कर प्रति-बिम्ब कहा जाता है। "**आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते**", "**आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति**" इत्यादि श्रुतियों से प्रपञ्च की आनन्दात्मक ब्रह्मैक्योत्पादन निमित्तिकता सिद्ध होती है। कान्तादि विषय भी कारणानन्द रूप ही हैं, मायाकृत आवरण और विक्षेप के कारण उनकी अखण्डानन्द रूप से प्रतीति नहीं होती। अकार्य्यों का भी कार्य्याकार रूप से भान होता है--

"**ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।**
तद् विद्यादात्मनो मायां यथाभासो तथा तमः॥"

अज्ञात ज्ञापकत्व ही प्रमाणों का प्रामाण्य है। स्वप्रकाश स्वरूप से भासमान चैतन्य ही अज्ञात है, जड़ नहीं। जड़ के स्वतः अभासमान होने से वहाँ आवरण की कोई अपेक्षा ही नहीं है। कान्तादिविषयक भानों के प्रामाण्य के लिये अज्ञात कान्ताद्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक आवरण के हट जाने पर कान्ताद्यवच्छिन्न रूप से परमानन्द रूप उपादान चैतन्यरूप का ही भान होता है, किन्तु अनवच्छिन्न स्वरूप का भान नहीं हुआ, इसीलिये सद्योमुक्ति या स्वप्रकाशत्व भङ्ग की प्रसक्ति नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि विषयावच्छिन्न चैतन्य ही द्रुत अन्तःकरण की वृत्ति में उपारूढ़ होकर स्थायी भाव और रसस्वरूप हो जाता है। कान्तादि लौकिक रस भी परमानन्द रूप ही है। फिर भी जड़ के सम्पर्क से उसमें न्यूनता है। भक्ति में अनवच्छिन्न चिदानन्दघन भगवान् का स्फुरण होने से उसकी परमानन्दरूपता स्फुट ही है।

जो लोग कहते हैं कि "रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति" अर्थात् रसस्वरूप परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त करके ही यह जीव आनन्दित होता है, इस वाक्य में अयं पदार्थकर्तृक लाभ कर्म ही रस शब्द से कहा गया है। भग्नावरण चैतन्य ही अयं पदार्थ है और वही कर्म भी, फिर कर्ता और कर्म दोनों की एकरूपता हो गयी। किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सावरण चैतन्य 'अयम्' पदार्थ और निरावरण चैतन्य कर्म पदार्थ है, इस औपाधिक भेद के मानने से कोई भेद नहीं आता। यदि कहा जाय कि स्वप्रकाशवाद में आवरण भङ्ग से ही आनन्द प्राप्त हो जायगा, रस को पाकर आनन्दित होता है यह कहना व्यर्थ है, तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि अनवच्छिन्न चैतन्य की आवरण भङ्गमात्र से ही रसरूपता हो जाने पर भी तत्तदवच्छिन्न चैतन्यों में तत्तदवच्छेदकगत दोष-गुणों के मिश्रण से आवरणभङ्गमात्र से ही आनन्दप्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिये विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव के संयोग से अभिव्यक्त स्थायीभाव ही सभ्य और अभिनेय का भेद हटाकर सभ्य में ही रहता हुआ परमानन्द-साक्षात्कार द्वारा रसस्वरूप हो जाता है, यही रसज्ञों की मर्य्यादा है। तात्पर्य यह कि सभी शास्त्रों के महातात्पर्य्य-विषय परमात्मा में ही सच्चिदादि, रसानन्दादि शब्दों की साक्षात् प्रवृत्ति है। तो भी जैसे विषयविशेष में सत्ता शब्द या चैतन्य शब्द प्रयुक्त होता है, वैसे ही रसानन्दादि शब्दों का भी विषयविशेष में प्रयोग हो सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि स्थायी अवच्छिन्न भग्नावरण चैतन्य में ही रस शब्द का प्रयोग होता है। जब तक अन्तःकरण वृत्ति की सात्त्विकी द्रवता नहीं होती, तब तक रस, आनन्दादि की अनुभूति भी नहीं होती। इसीलिये उपेक्ष्य एवं द्वेष्य विषयों में भग्नावरण चैतन्य रहने पर भी आनन्द का अनुभव नहीं होता। इसीलिये यह भी कहा जा सकता है कि यह रससिन्धुबिन्दुस्थानीय सोपाधिक जीव अनवच्छिन्न रससिन्धु स्थानीय परमात्मा को या स्थायी अवच्छिन्न भग्नावरण तदंशभूत चित् को पाकर आनन्दित होता है। फिर तो "सावरण अनावरण होकर आनन्दित होता है" यह भी कहना चाहिये था, 'रस को पाकर आनन्दित होता है' यह कहना व्यर्थ ही रहा। यह पक्ष भी ठीक नहीं। नित्य प्राप्त, विस्मृत ग्रैवेयक और मिथ्या सर्पादिकों में प्रेप्सा–परिजिहीर्षा देखी जाती है और अज्ञान की निवृत्ति होने पर लाभ-परिहार प्रयोग भी देखा जाता है। इसी तरह आवरण भङ्ग से प्रेप्सा निवृत्ति होने पर प्राप्ति व्यवहार भी हो सकता है। प्राकृत पञ्चकोशातीत स्वरूप तटस्थ लक्षण लक्षित प्रत्यग-भिन्न ब्रह्मस्वरूप परमात्मा ही रस है। उसीको पूर्ण या अंश रूप से पाकर यह

सोपाधिक जीव आनन्दित होता है। **"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति", "एष ह्येवानन्दयति"** इत्यादि श्रुतियाँ लौकिक आनन्द को भी रसस्वरूप परमात्मा का ही अंश बतला रही हैं। साधारण अब्रह्मवित् पुरुषों को अनवच्छिन्न ब्रह्मात्मक रस की प्राप्ति तो होती नहीं, अतः यथायोग्य ही सम्बन्ध लगाना चाहिये। "रसो वै सः", **'रसो, ह्येव'** इन दोनों श्रुतियों में अनवच्छिन्न स्थायी अवच्छिन्न भग्नावरण चिदात्मक पारिभाषिक तदंशभूत ही रस लिया जाता है। द्रवत्व स्थायीभावानपेक्ष महावाक्य जन्य अपरोक्ष ब्रह्माकारवृत्ति में आवरण भङ्ग से अनवच्छिन्न ब्रह्मरूप से ही रस का लाभ होता है। इसी तरह कान्ताद्यवच्छिन्नरूप से उपादान ब्रह्मचैतन्य की भी स्थायी भावापत्ति होने पर पारिभाषिकावच्छिन्न रस का लाभ होता है। इसलिये उत्तर मीमांसा में रसशास्त्रगतार्थ नहीं, किन्तु स्थायीभावादि-विशिष्ट रस के प्रतिपादन के लिये रसशास्त्र पृथक् अपेक्षित है।

'भक्ति रसायन' का आस्वादन कराया जा चुका है। उसके रचयिता श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वतीजी के सम्बन्ध में भी कुछ जान लेना चाहिये। ऐसा कोई ग्रन्थ अपेक्षित था, जिसमें ब्रह्मवाद के अनुरोध से ही भक्तितत्व का वर्णन किया गया हो। इसी न्यूनता की पूर्ति श्रीमधुसूदन सरस्वती ने **'भगवद्भक्ति रसायन'** बनाकर की। इनका जन्म पूर्व बङ्गाल में फरीदपुर के पास कोटालीपाड़ा ग्राम में श्रीरामचन्द्र भट्टाचार्य के वंश में हुआ था। इनके पिता का नाम पुरन्दर मिश्र और इनका नाम कमलनयन था। इन्होंने नवद्वीप में श्रीहरिराम तर्कवागीश से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। श्रीविश्वेश्वर सरस्वती से संन्यास दीक्षा ग्रहण कर बहुत दिन तक काशी में निवास किया था। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण की प्रतिष्ठा विद्वानों में नहीं हो रही थी। किसी विद्वान् ने उन्हें सलाह दी कि यदि श्रीमधुसूदन सरस्वती इस ग्रन्थ की प्रतिष्ठा करें, तो सभी विद्वान् आपकी रामायण का आदर करेंगे। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने अपनी रामायण श्रीमधुसूदन सरस्वती के पास भेज दी। छ महीने तक जब रामायण नहीं लौटी, तब श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने अपना शिष्य रामायण ले आने के लिये भेजा। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने ग्रन्थ का अभिनन्दन करते हुए ऊपर निम्नलिखित श्लोक लिख दिया—

"आनन्दकानने ह्यस्मिन् तुलसीजङ्गमस्तरुः।
कविता मञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥"

कभी श्रीमधुसूदन सरस्वती श्रीवृन्दावनधाम पधारे। वहाँ एक ब्राह्मण बहुत दिन से भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन के लिये तप कर रहा था। उसे स्वप्न में भगवान् ने आदेश दिया कि मधुसूदन सरस्वती के पास जाओ, वहाँ दर्शन होगा। वह ब्राह्मण श्रीमधुसूदन सरस्वती के पास जाकर देखता है कि भगवान् उनकी भिक्षा में से अन्न निकालकर खा रहे हैं। उसने स्वयं उनकी भिक्षा में से अन्न निकालकर खाना

चाहा, पर श्रीमधुसूदन सरस्वती ने मना किया कि 'संन्यासी का अन्न निषिद्ध है।' उस ब्राह्मण ने कहा कि 'मैं तो भगवान् का प्रसाद लेना चाहता हूँ, संन्यासी का अन्न नहीं।' इनके द्वारा बनाये हुए निम्नलिखित ग्रन्थ हैं—(१) अद्वैतसिद्धि, (२) वेदान्तकल्पलता, (३) अद्वैततत्त्वरक्षण, (४) श्रीमद्भागवत टीका, (५) श्रीमद्भगवद्गीता व्याख्या गूढार्थ दीपिका, (६) संक्षेप शारीरिक व्याख्या सारसंग्रह, (७) सिद्धान्तबिन्दु, (८) शिवमहिम्नस्तोत्र की हरिहरपरा टीका, (९) वोपदेवकृत हरिलीला की टीका, (१०) भगवद्भक्ति रसायन। इस अन्तिम ग्रन्थ के प्रथम उल्लास की टीका स्वयं ग्रन्थकार ने की है। यद्यपि शेष दो उल्लासों को टीका भी अन्य विद्वानों ने लिखी हैं, किन्तु ग्रन्थकार सिद्धान्त के भक्त द्वारा टीका लिखी जाय, इसकी आवश्यकता थी। भगवान् भूतभावन विश्वनाथ की कृपा से वेदान्तितिलक श्री दामोदर शास्त्री ने विविध शास्त्रों के तात्पर्य को अभिव्यक्त करनेवाली, ग्रन्थकार सिद्धान्त का सर्वथा अनुसरण करनेवाली, "भक्ति रसस्रोतस्विनी" नामक टीका और टिप्पणी बनायी। वह विद्वानों को आनन्दित करनेवाली होगी, ऐसी आशा है।

अव्यभिचार भक्तियोग

प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान् को अव्यभिचार भक्तियोग से सेवन करनेवाले सात्विक, राजस, तामस गुणों का उल्लंघन करके ब्रह्म भाव को प्राप्त होते हैं। गुणमय संसार से छूटने का एकमात्र यही सुन्दर उपाय है। वेदान्तों का श्रवण, मनन करने पर जिस प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मतत्व का निश्चय होता है उसीका निरन्तर निदिध्यासन करने से उसीका साक्षात्कार होता है। रज्जु आदि अधिष्ठान के साक्षात्कार से उसमें कल्पित सर्प, धारा, माला आदि का जैसे अभाव हो जाता है वैसे ही निर्विकार सर्वाधिष्ठान चिदात्मतत्व का साक्षात्कार होने से उसमें कल्पित गुणमय प्रपञ्च का आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। इसी कारण **"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।"** यहाँ पर अव्यभिचार भक्तियोग से शुद्ध परब्रह्म का निदिध्यासन या ज्ञानाभ्यास ही लिया जाता है। यद्यपि भक्ति का ज्ञान या निदिध्यासन अर्थ पक्षपातयुक्त-सा प्रतीत होता है तथापि 'स्व-स्वरूपानुसन्धान' को भक्ति कहा है। विचार करने से यह ठीक भी मालूम पड़ता है। विषयाकार को भजन करनेवाला ज्ञान, भक्ति शब्द से कहा जा सकता है। **'विषयाकारं भजतीति भक्तिः'**। इसके अतिरिक्त **'भज सेवायाम्'** धातु से भक्ति शब्द की सिद्धि होती है—**'भजनं भक्तिः।'** भजन अर्थात् सेवन को ही भक्ति कहा जाता है। सेवा यद्यपि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि से की गयी कायिकी, ऐन्द्रियिकी, मानसी भेद से अनेक हैं तथापि मुख्य सेवा मानसी ही है। मानसी सेवा ही सर्वश्रेष्ठ है। महानुभावों ने भी कहा है—

> **"कृष्णसेवा सदा कार्य्या मानसी सा परामता।**
> **चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धचै तनुवित्तजा॥"**

अर्थात् प्राणी को सदा श्रीकृष्ण सेवा करनी चाहिये। सेवा में भी मानसी सेवा ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। चित्त की कृष्णोन्मुखता या कृष्ण में तन्मयता ही सेवा है। मानसी सेवा की सिद्धि के लिये ही तनुजा और वित्तजा सेवा करनी चाहिये। अर्थात् कायिकी, वाचिकी आदि सेवा करते-करते अन्त में मानसी सेवा की योग्यता प्राप्त होती है। **'विजातीयप्रत्ययनिरासपूर्वक सेव्याकाराकारित मानसीवृत्तिप्रवाह'** ही मानसी सेवा है। जिस प्रकार समुद्रोन्मुखी गंगा का अखण्ड प्रवाह चलता है, उसी प्रकार भगवदुन्मुखी मानसी वृत्तियों का प्रवाह चलना ही भगवान् की मानसी सेवा है। जैसे सगुण, साकार, सच्चिदानन्द भगवान् के आकार से आकारित वृत्ति का प्रवाह होता है, वैसा ही वेदान्तवेद्य निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भगवान् की स्वरूपविषयिणी वृत्तियों का भी प्रवाह होता है। निर्विकार परब्रह्माकार मानस प्रवाह ही भक्ति, भजन या सेवा है और वही भगवान् का प्रापक होने से या

एकाग्रता होने से योग भी है। जब वह बीच-बीच में भगवान् से हटकर बाह्य प्रपञ्च से जुड़ जाता है, तब व्यभिचारी कहा जाता है। अतः अन्य-सम्बन्ध विवर्जित, निर्विशेष भगवान् के आकार से आकारित अविच्छिन्न मानस वृत्ति-प्रवाह ही अव्यभिचार भक्तियोग है, वही ज्ञानाभ्यास और वही निदिध्यासन है।

इस अव्यभिचार भक्तियोग से भगवान् का सेवन करने से साक्षात्कार द्वारा अति शीघ्र ही गुणमय प्रपञ्च का बोध हो जाता है। ज्ञान चतुर्थी भक्ति है। अतः भगवान् के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार भक्त होते हैं—"**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।**" ज्ञानी ज्ञान से ही भगवान् का भजन या सेवन करता है। ज्ञानी भगवान् का अत्यन्त प्रिय भक्त है। यद्यपि भगवान् के भजन करनेवाले सभी भगवान् के प्रिय एवं उदार हैं तथापि ज्ञानी तो एकमात्र भगवान् में ही भक्ति करता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में भगवान् से भिन्न दूसरी दृष्टि रहती ही नहीं। अतएव ज्ञानी को भगवान् एक क्षण के लिये भी अदृश्य नहीं होते और भगवान् को ज्ञानी नहीं अदृश्य होता। ज्ञानी भगवान् का साक्षात् अन्तरात्मा होता है—"**ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**" प्रथम सूक्ष्मतत्व में मन की स्थिति असंभव है, अतः विराट्, हिरण्यगर्भादि तत्त्वों में मन को स्थिर करके फिर क्रमेण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सगुण में स्थिति-सम्पादन करते हुए निर्गुण, निराकार, निर्विशेष ब्रह्म में स्थिति संपन्न होती है। स्थूल आलम्बनों का अपोहन करते हुए सूक्ष्म आलम्बनों में चित्त की एकाग्रता करते हुए अन्त में चित्त अत्यन्त निरालम्बन बनाया जा सकता है। श्री कपिलदेवजी ने भी निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म में स्थिति के लिये भगवान् की मधुर, मनोहर, मङ्गलमयी, सगुण, साकार सच्चिदानन्दमयी मूर्ति का ध्यान बतलाया है। प्रथम अस्त्र-शस्त्र, भूषण, वसनादि से सुसज्जित मूर्ति का ध्यान कहा है, फिर अस्त्र-शस्त्ररहित केवल श्री अङ्ग का ध्यान करना बतलाया है। एक-एक अङ्ग का ध्यान और उसके सौन्दर्य्य, माधुर्य्य एवं महिमाओं का प्रेमपूर्वक चिन्तन बतलाया है। फिर श्रीचरणारविन्द की नखमणिचन्द्रिका या अमृतमय मुखचन्द्र के सौन्दर्य्य, माधुर्य्य में मन की तल्लीनता कही गयी है। परम पवित्रता, अद्भुत महिमा, लोकोत्तर सौन्दर्य्य, माधुर्य्य के चिन्तन से भावुक का मन प्रेमोन्माद में विभोर हो जाता है। प्रेम में जैसे अङ्ग एवं वागादि इन्द्रियों में शैथिल्य होता है, वैसे ही मन में भी शैथिल्य आता है, जिससे कि वह ध्येय-स्वरूप को भी ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। जब मन सब दृश्यों से रहित हो जाता है, यहाँ तक कि ध्येय-स्वरूप से भी शून्य हो जाता है, तब ध्येय के अभाव में ध्येयाकार वृत्तिरूप ध्यान और ध्यान का आश्रयरूप ध्याता भी नहीं उपलब्ध होता। उस समय ध्याता-ध्यान-ध्येय के बाध के अवधि एवं साक्षिरूप से भगवान् का प्राकट्य होता है। अर्थात् भावुकों का मन आकर्षण करने के लिये ही भगवान् ध्येयरूप से प्रकट होते हैं। उसे आकर्षित करके फिर वही भगवान् ध्येयातीत अग्राह्य रूप में प्रकट होते हैं। यों भी भगवान् में ही

चित्त लगाकर भगवत्परायण होकर सर्वभाव से जो भगवान् को भजते हैं, भगवान् उनके ऊपर कृपा करके उन्हें बुद्धियोग का प्रदान करते हैं। उनके हृदय में तेजोमय ज्ञानदीप का प्रकाश करके अज्ञानान्धकार दूर कर देते हैं—

"ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥"

यद्यपि वेदान्तवेद्य परमतत्व अत्यन्त अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य है तथापि भगवान् के भक्त निश्चिन्त रहते हैं। वे जानते हैं कि हमें निरन्तर प्रभु के पाद-पङ्कज में आत्मसमर्पण करके प्रभु का भजन ही करना चाहिए। यदि प्रभु अपने निर्गुण, निराकार, निर्विकार स्वरूप का साक्षात् कराना आवश्यक समझेंगे, तो जिस किसी तरह साक्षात्कार करा देंगे। अत्यन्त बधिर के लिये शब्द एवं जन्मान्ध को रूप वैसे ही दुर्ग्राह्य हैं, जैसे अज्ञानी को ब्रह्म दुर्ग्राह्य है। परन्तु भगवान् श्रोत्र और नेत्र का निर्माण करके दुर्ग्राह्य शब्द और रूप को सुग्राह्य एवं सुज्ञेय बना देते हैं। उन भगवान् को अत्यन्त अचिन्त्य एवं दुर्ज्ञेय अपने निराकार रूप का साक्षात्कार करा देने में कोई भी कठिनाई नहीं पड़ती। अतः पूर्ण विश्वास, आशा किये भगवान् के पाद-पङ्कज का अव्यभिचार भक्तियोग से सेवन करनेवाले को दुर्गम से दुर्गम सभी तत्त्व प्राप्त हो जाते हैं। फिर गुणों का उल्लंघन भी उनके लिये सुगम हो जाता है—

"सोइ जानइ जेहि देहु जनाई, जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।
तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन, जानहिं भगत भगत उर चन्दन॥"

श्रीमुख की भी उक्ति है—

"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥"

अर्थात् अमृत, अव्यय, शाश्वतधर्म एवं ऐकान्तिक सुखस्वरूप ब्रह्म की मैं ही प्रतिष्ठा हूँ। मुझे भजने से गुणों का अतिक्रमण बड़ी सरलता से हो सकता है। 'अहं' पद का अर्थ प्रत्यगात्मा है। भावार्थ यह हुआ कि जैसे महाकाश ही घटाकाश के रूप में प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही मैं प्रत्यगात्मा ही परब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ। अर्थात् परमात्मा ही प्रत्यगात्मा रूप में प्रतिष्ठित होता है। अतः जैसे घटाकाश महाकाश से अभिन्न ही है, उसी तरह प्रत्यगात्मा परमात्मस्वरूप ही है। परमात्मा प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) रूप से प्रतिष्ठित होते हैं। प्रत्यगात्मा परमात्मा की प्रतिष्ठा है। अथवा 'अहं' पद का अर्थ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, मायातीत, अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, निर्विकल्प, निर्विशेष शुद्ध परमात्मा है जैसा कि **"मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना"**, **"ये त्वक्षरमनिर्देश्यं"**, **"ते प्राप्नुवन्ति मामेव"** इत्यादि स्थलों में विवक्षित है। ब्रह्मपद का अर्थ मायाविशिष्ट सविशेष सविकल्प ब्रह्म है। इस तरह भावार्थ यह हुआ कि

सविकल्प ब्रह्म की मैं निर्विकल्प ब्रह्म प्रतिष्ठा हूँ। निर्विकल्प ब्रह्म में सविकल्प ब्रह्म प्रतिष्ठित कल्पित है। मुझे सेवन करने से सविकल्प प्रपञ्च का लङ्घन बड़ी सरलता से हो सकता है। अथवा 'ब्रह्म' पद का निर्गुण, निराकार, निर्विकार ब्रह्म अर्थ है और 'अहं' पद का सगुण, साकार, ब्रह्म (श्रीकृष्ण) है। अभिप्राय यह है कि मैं सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ। यहाँ **'राहोः शिरः'** के समान सम्बन्धार्था षष्ठी अभेद में ही है। अर्थात् जैसे व्यापक, अव्यक्त अग्नि, दहन, प्रकाशन, पाचनादि कार्य्य करने के लिये घृत, वर्त्तिकादि के सम्बन्ध से व्यक्त साकार अग्नि के रूप में प्रतिष्ठित–प्रवृत्त होता है वैसे ही निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अव्यक्त ब्रह्म भक्तानुग्रहादि कार्य करने के लिये अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्ति से सगुण, साकार व्यक्तरूप में प्रतिष्ठित होता है। इसीलिये सगुण ब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा है। अतः मेरा आराधन करने से ही गुणोल्लंघन आदि भक्तानुग्रह सिद्ध होता है।" कुछ लोगों का कहना है कि सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा अर्थात् आधार है। जैसे आतप (घाम) की प्रतिष्ठा, उद्गम स्थान या आधार सूर्य्य है, सूर्य्य से ही निकलकर सूर्य्य के सहारे ही आतप रहता है वैसे ही सगुण, साकार श्रीकृष्णचन्द्र की मधुर मूर्ति ही निर्गुण ब्रह्म की प्रतिष्ठा या आधार है। सूर्य्यस्थानीय श्रीकृष्ण हैं, आतप-स्थानीय निर्गुण ब्रह्म है। **"अनादि मत्परं ब्रह्म"** इस वचन में भी ब्रह्म को 'अनादि' और 'मत्परं' कहा गया है। यहाँ 'मत्परं' का अर्थ यह है कि **"अहं श्रीकृष्णः पर उत्कृष्टो यस्मात्तन्मत्परम्।"** मैं श्रीकृष्ण ही हूँ पर—उत्कृष्ट जिससे, निर्गुण ब्रह्म से उत्कृष्ट मैं सगुण ब्रह्म हूँ। इसीलिये उन लोगों का मत है कि औपनिषद् ब्रह्मात्मदर्शियों का ब्रह्म आतप के समान है और भक्तों का भगवान् सूर्य्यस्थानीय है। परन्तु उनका यह कथन श्रुति-सूत्रों के विरुद्ध है। वेद, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र आदि सभी शास्त्रों का परम तात्पर्य ब्रह्म में ही है। **"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"**, **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"**, **"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"** इत्यादि वाक्यों में सर्वत्र ब्रह्म का ही विचार चलता है। श्रीकृष्ण वैदिक औपनिषद् परब्रह्म से भिन्न होते तब तो उनमें वेदवेद्यता नहीं सिद्ध होती जो कि **"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"** इत्यादि वचनों से भगवान् ने स्वीकार की है। अतएव **'अनादिमत्परं ब्रह्म'** यहाँ भी 'मत्परं' ऐसा पदच्छेद न करके 'अनादिमत्परं ब्रह्म' ऐसा पदच्छेद करना युक्त है, जिसका सारांश यह है कि ब्रह्म अनादिमान् एवं पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्म-पर्य्यवसायी प्रकरण को विच्छिन्न करके अन्य-वर्णन का प्रसङ्ग लाना अप्राकृत-प्रक्रिया है, एवं ब्रह्मज्ञान की प्रशंसा के प्रसङ्ग में उसे किसी से भी अपकृष्ट कहना सर्वथा विचारशून्यता है।

श्रीमद्भागवत में भी सजातीय, विजातीय, स्वगतभेद-रहित, स्वप्रकाश, नित्य विज्ञान को ही तत्त्व कहा है—

"वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥"

'अद्वय ज्ञान को ही तत्त्वविद् लोग तत्त्व कहते हैं, उसीको ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् कहा जाता है।' कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ ब्रह्म से परमात्मा में और उससे भगवान् में उत्कर्ष विवक्षित है। यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण की सभा में बैठे हुए यादवों ने आकाश-मार्ग से आते हुए देवर्षि श्री नारदजी को प्रथम केवल तेज:पुञ्ज ही समझा। कुछ समीप आने पर कोई देहधारी समझा और अधिक समीप होने पर पुरुष एवं सर्वथा सान्निध्य में श्री नारद समझा।

"चयस्त्विषामित्यवधारितम्पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥"

ठीक उसी तरह तत्त्व से अति दूर स्थित अधिकारी को प्रथम केवल चिन्मात्र ब्रह्म का बोध होता है, कुछ सामीप्य होने पर योगियों को कतिपय गुण-विशिष्ट परमात्मा, सर्वथा सान्निध्य होने पर अनन्त कल्याण-गुणगण-विशिष्ट भगवान् के रूप में तत्त्व का उपलम्भ होता है। इन्हीं लोगों में ही मनमानी कल्पना करनेवाले कुछ लोग श्रीकृष्ण को आदित्यस्थानीय और ब्रह्म को प्रकाशस्थानीय मानते हैं। कुछ श्रीवृषभानुकिशोरी के नख-मणि-प्रकाश या नूपुर-प्रकाश को ही औपनिषद् परब्रह्म कहते हैं। परन्तु वैदिकों की दृष्टि में तो वेदों का महान् तात्पर्य्य ब्रह्म ही में है और वही सब तरह से सर्वोत्कृष्ट है।

संकोच का कारण न होने से वृद्ध्यर्थक 'बृहि' धातु से निष्पन्न 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ निरतिशय बृहत्तम तत्त्व होता है। जो देश-काल-वस्तु-परिच्छेदवाला हो वह तो परिच्छिन्न होने के कारण क्षुद्र ही है, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि जड़ हो तो भी दृश्य होने से अल्प और मर्त्य होगा। अतः अनन्त, स्वप्रकाश, सदानन्द तत्त्व ही 'ब्रह्म' पद का अर्थ होता है और वही भूमा अमृत है। उससे भिन्न सभी को अल्प और मर्त्य ही समझना चाहिये। फिर अनन्त पद के साथ पठित 'ब्रह्म' शब्द का सुतरां यही अर्थ है। उसमें अतिशयता की कल्पना निर्मूल है। किसी राजा ने ऐसी कहानी सुनना चाहा कि जिसका अन्त ही न हो। एक चतुर ने सुनाना आरम्भ किया। राजन्! एक वृक्ष था, उसकी अनन्त शाखाएँ थीं, उन शाखाओं में अनन्त उपशाखाएँ थीं, उपशाखाओं में भी अनन्त पल्लव थे और उनपर अनन्त पक्षी बैठे थे। कुछ काल में एक पक्षी उड़ा 'फुर्र'। राजा ने कहा आगे कहिये, इसपर उसने कहा दूसरा उड़ा 'फुर्र'। तब राजा ने कहा और आगे कहिये, तब उस चतुर ने कहा कि पहले पक्षियों का उड़ना पूरा हो तब आगे बढ़ूँ। यहाँ एक-एक पक्षी का उड़ना समाप्त ही नहीं हो सकता। इसी तरह कल्पनाओं का अन्त ही नहीं है। अतः एक शब्द में यही कहा जाता है कि अतिशयता की कल्पना करते-करते वाचस्पति तथा प्रजापति की भी मति जब विरत हो जाय और जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना कर ही न सके तब उसी अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परमानन्दघन, भगवान् को

वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं। उसीका 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि व्याससूत्रों से विचार किया गया है।

प्रकाश की अपेक्षा आदित्य में जिस अतिशयता की कल्पना की जाती है उससे भी अनन्तकोटि-गुणित अतिशयता की कल्पना के पश्चात् जिस अन्तिम निरतिशय, सर्व बृहत् पदार्थ की सिद्धि हो उसमें भी देश, काल, वस्तु के परिच्छेदों को मिटाकर परिच्छिन्न या एकदेशिता आदि दूषणों का अत्यन्ताभाव-सम्पादन करे, तब उसे ब्रह्म शब्द का अर्थ जानना चाहिये। इसीको "तत्त्व" कहा जाता है। इसका ही लक्षण है—"तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।" इसीका नाम ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् है। लक्षण के भेद से लक्ष्य-भेद हो सकता है, नाम-भेद से नहीं। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व घट का एक लक्षण है अतएव घट, कुम्भ, कलशादि नाम से उसका भेद नहीं है। हाँ, ब्रह्म अनेक हैं—कार्यब्रह्म, कारणब्रह्म, कार्यकारणातीत ब्रह्म। ऐसी स्थिति में यह हो सकता है कि कार्यकारणातीत वेदान्तवेद्य शुद्ध-ब्रह्मरूप भगवान् के प्रकाश-स्थान में कार्यब्रह्म या कारणब्रह्म हो। प्रायः यह भी कहा जाता है कि निर्गुण ब्रह्म भगवान् का धाम है। यद्यपि धाम शब्द ऐसे स्थलों में स्वरूपभूत आत्मज्योति का ही बोधक होता है—"परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।" 'हे नाथ! आप परमात्मा हैं, परम प्रकाश (परम ज्योति) और परम पवित्र हैं।' तथापि कुछ अविवेकियों की यही अटल धारणा है कि धाम का अर्थ निवासस्थान ही होता है। अस्तु, वे लोग अव्यक्तरूप कारण-ब्रह्म को ही वेदान्तवेद्य ब्रह्म मान बैठते हैं। कार्यकारणातीत तत्त्व तक उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। इस कारण यदि ब्रह्म को धाम भी मान लें तो भी सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं पड़ती। यह भेद वेदान्तियों को इष्ट ही है कि स्थूल कार्य-ब्रह्म के ऊपर सूक्ष्म कार्यरूप ब्रह्म, उसके ऊपर कारणब्रह्म और इस अव्यक्त कारणब्रह्म के ऊपर कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म स्थित है। यह अन्तिम तत्त्व ही अद्वितीय अनन्त शुद्ध बोधरूप है। इसका ही विवर्त समस्त चराचर प्रपञ्च है। यदि सर्वाधिष्ठान होने के कारण इसे सर्वनिवासस्थान भी कहें तो भी कोई हानि नहीं। इसी अंश का स्पष्टीकरण भागवत के इन पद्यों में किया गया है—

"ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥"

एक अद्वितीय नित्य बोध ही भ्रान्तजनों को अविद्या-प्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि आदि द्वारा शब्दादि-धर्मक प्रपञ्चरूप से भासित होता है। श्रीमद्भागवत ने भी श्रीकृष्ण को परब्रह्म ही कहा है—

"अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥"

अतः पूर्वोक्त अर्थ ही श्रेष्ठ है और वही अव्यभिचार भक्तियोग है।

सबसे सगे भगवान्

जीवात्मा सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा का अंश है। जैसे घटाकाश, महाकाश, शरावाकाश के भीतर, बाहर, मध्य में महाकाश, कटक, मुकुट, कुण्डल आदि के भीतर, बाहर, मध्य में सुवर्ण और तरङ्ग के भीतर, बाहर, मध्य में जल विद्यमान है, वैसे ही चेतन, अमल, सहज सुखराशि जीवात्माओं के भीतर, बाहर, मध्य में सच्चिदानन्द परमात्मा विद्यमान है। इस दृष्टि से जीवात्मा भगवान् का पुत्र, अंश एवं स्वरूप है। जैसे शूकर-कूकर के बच्चे शूकर-कूकर होते हैं, सिंह के बच्चे सिंह होते हैं वैसे ही **'अमृतस्य पुत्राः,' 'ममैवांशो जीवलोके'** इत्यादि श्रुतिस्मृति के अनुसार भगवान् के पुत्र या अंश जीवात्मा भगवान् का स्वरूप ही ठहरता है। जैसे निर्मल जल पृथ्वी पर पड़ते ही मलिन हो जाता है, वैसे ही शुद्ध चिदात्मा माया के संसर्ग से मलिन हो जाता है। भगवान् जीवों के परम अन्तरङ्ग और घनिष्ठ सम्बन्धी हैं। संसार की सब वस्तुओं का वियोग अनिवार्य्य है। कलत्र, पुत्र, मित्र, क्षेत्र सभी वस्तुओं के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध गौण ही है। मुख्य सम्बन्ध तो भगवान् ही का है। जीवात्मा स्वर्ग, नरक जहाँ भी जाय भगवान् ही उसके साथ होते हैं, और सभी लोग सम्बन्ध तोड़ लेते हैं। अघासुर के मुख में ग्वालबाल प्रविष्ट हो गये, उसके विष से उन्हें जलते हुए देखकर प्रभु श्रीकृष्ण भी प्रविष्ट हो गये। संसार में है किसी की प्रीति या शक्ति ऐसी जो एक साँप के मुख में पड़े पुत्र या मित्र के साथ स्वयं भी जाय? किसी स्त्री का पुत्र कूप में गिरता है, वह कूप के तट पर खड़ी होकर चिल्लाती है—"दौड़ो, दौड़ो, बच्चे को निकालो" पर कूप में उतरने की हिम्मत उसकी नहीं होती। फिर साँप के मुख में कौन प्रविष्ट होने को तैयार रहेगा? गाढ़ से गाढ़, विषम से विषम स्थानों में जीवात्मा का साथी भगवान् ही है। माँ के पेट में, विभिन्न योनियों में, नरक में, किंबहुना जहाँ भी जीवात्मा को जाना होता है, भगवान् वहीं जाते हैं। जैसे महाकाश घटाकाश का, जल तरङ्ग का सङ्ग नहीं छोड़ सकता वैसे ही भगवान् सङ्ग नहीं छोड़ते। जब जीवात्मा अपने असली सम्बन्धी भगवान् को भूलकर नकली सम्बन्धियों के मायाजाल में फँस जाता है, तभी माया उसे दुःखमहोदधि में डालकर उसके मस्तिष्क को ठिकाने लाने का प्रयत्न करती है। जब प्राणी यहाँ तक उन्मादी बन बैठता है कि ईश्वर और धर्म को अनावश्यक समझने लगता है। भगवान् के ही बनाये दिल-दिमाग से अपनी वैज्ञानिक चमत्कृतियों पर मुग्ध होकर कहता है कि "वैज्ञानिक दृष्टि से पार्थिवादि प्रपञ्चों या प्रकृति से ही सम्पूर्ण काम सिद्ध हो जाते हैं; ईश्वर और धर्म तो केवल झगड़े की जड़ है या भीरु प्राणियों के मन का एक वहम है" तब कहीं व्यापक भूकम्पों द्वारा, कहीं महामारियों द्वारा, कहीं प्राकृतिक विकट तूफानों या

विश्वव्यापी नरसंहारों द्वारा प्राणियों को परमात्मा का स्मरण दिलाया जाता है। फिर भी जैसे कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा अपने शिशुओं का कभी भी अहित नहीं चाहती, वैसे ही प्रभु भी कभी भी प्राणियों का अहित नहीं चाहते। तभी तो वे निरीश्वरवादी प्राणियों का भी कल्याण चाहते हैं। उनपर भी कुपित नहीं होते। इसी आशा पर तो ब्रह्मा ने कहा था कि "हे नाथ! यद्यपि मैंने आपकी कौतुकपूर्ण क्रीड़ा में विघ्न डाला, आपके बछड़ों और ग्वालबालों का हरण करके बड़ा ही अपराध किया, तथापि प्रभो, जैसे अम्बा गर्भगत शिशु के पैर चलाने को अपराध नहीं मानती, वैसे ही आप भी हमारे ऐसे कर्मों पर ध्यान न दें। प्रभो, सम्पूर्ण विश्व ही आपके उदर में है फिर गर्भगत शिशु के समान ही प्राणियों के अपराधों को क्षमा करना क्या उचित नहीं है?

"उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्ति व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥"

प्रभु ने क्षमा भी कर दिया। उन्होंने सरल से सरल उपाय शास्त्रों द्वारा बता रखा है। पत्र, पुष्प, फल, जल, नमस्कार ही से प्रभु प्रसन्न हो सकते हैं। कुछ भी न हो तो केवल मन से ही पूजन, स्मरण और वह भी न बने तो भाव, कुभाव जिस किसी तरह भगवान् के नाम जप से ही परम गति प्राप्त हो सकती है। जब एक अदृष्ट, की, जो कि वस्तुतः सबका द्रष्टा या असली स्वरूप है, और विश्वास होगा तब सम्पूर्ण दुनिया के सम्बन्ध, नाते अपने आप फीके लगने लगेंगे। संसार के कलत्र, मित्र, पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, क्षेत्र, वित्त आदि सभी वस्तुओं का सम्बन्ध केवल स्थूल देह के साथ ही है। उसके नष्ट होते ही वे सब सम्बन्ध अपने-आप ही छूट जाते हैं। **'यदद्य पच्यते ह्यन्नं सायं तच्च विनश्यति।'** जो भात आज प्रातःकाल पकाया जाता है सायंकाल तक सड़ जाता है। उसमें दुर्गन्ध आने लगता है। फिर, ऐसे विनश्वर, क्षणभंगुर शरीर का आत्मा के साथ कहाँ तक सम्बन्ध रह सकता है? एक जन्म की बात कौन कहे, जन्म-जन्मान्तरों, युग-युगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरों के देहों एवं तत्सम्बन्धी पुत्र, पौत्र, कलत्रों का स्मरण करें तो चित्त की क्या दशा होगी? यही समझकर आचार्य्यचरणों ने कहा है—

"कति नाम सुता न लालिता कति वा नेह वधूरभुञ्जिहि।
क्वनु ते क्वनु ताश्च वा वयं भवसङ्गः खलु पान्यसङ्गमः॥"

जन्म-जन्मातरों में कितने पुत्रों का लालन नहीं किया, कितनी सुन्दरी रमणियों का संस्पर्श नहीं किया, परन्तु आज कहाँ वे पुत्रादि, कहाँ वे रमणियाँ, कहाँ हम सब? यह संसार का सङ्गम केवल यात्रियों के सङ्ग के समान अस्थिर है। स्थिर सम्बन्ध तो एकमात्र भगवान् का ही है, जो कि स्वर्ग, नरक, कहीं भी जीव का सङ्ग नहीं छोड़ते। जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही एक शोभन पङ्खवाले सुपर्ण पक्षी हैं, दोनों

सुपर्ण एक जाति के पक्षी हैं, इसलिये भी उन दोनों का आपस में मुख्य सम्बन्ध है। साथ ही दोनों की परस्पर पूर्ण मैत्री है। परमात्मा पालकसखा है, जीवात्मा बालक-सखा है। दोनों ही की 'चेतन अमल सहज-सुख-राशिरूप' से ख्याति भी है। कहीं साजात्य सख्य होने पर भी दुर्दैवयोग से भिन्न देश में रहने के कारण सम्बन्ध कमजोर हो जाता है। परन्तु यहाँ तो एक ही शरीररूप वृक्ष पर जीवात्मा-परमात्मा दोनों ही पक्षी रहते हैं। अतः साजात्य, सख्य, सादेश्य तीनों तरह के सम्बन्ध दृढ़ हैं। यद्यपि भगवान् जड़वर्ग से सर्वदा असंस्पृष्ट और निर्लेप ही रहते हैं तथापि चिद्रूप जीवात्मा के साथ तो भगवान् का तादात्म्य या अभेद सम्बन्ध रहता है। अतः साजात्य, सख्य, सादेश्य के समान ही सायुज्य भी सर्वदा ही रहता है। जैसे कभी घटाकाश महाकाश से वियुक्त नहीं होता, तरङ्ग जल से पृथक् नहीं होता, घट, शरावादि मृत्तिका से वियुक्त नहीं होते, कटक, मुकुटादि सुवर्ण से पृथक् नहीं होते, वैसे ही जीवात्मा कभी भी भगवान् से विमुख नहीं होता। इस तरह अपने असली सम्बन्धी भगवान् को भूल जाने से ही प्राणी अनेकानर्थ परिप्लुत भवाटवी ही में भटकता है और दुःख पाता है। जब कभी भी सावधान होकर वह भगवान् की ओर दृष्टि करता है, प्रभु उसपर पूर्ण कृपा करके अपना लेते हैं।

●

चतुर्विधा भजन्ते

भगवद्भक्त चार प्रकार के होते हैं। एक तो आप्तकाम, आत्माराम, परम-निष्काम, तत्वविद् ब्रह्मनिष्ठ, परमात्मरहस्यज्ञ ज्ञानी, जिसको ऐन्द्र तथा ब्राह्मपद पर्य्यन्त के सम्पूर्ण वैभवों की रञ्चमात्र भी चाह नहीं होती। वे योगोन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, परमात्मा बिना किसी प्रयोजन के सर्वैश्वर्यपूर्ण, मधुरतम लीला-बिहारी भगवान् के अव्यावृत भजन में लगे रहते हैं। यद्यपि वे पूर्णकाम, आत्माराम, परब्रह्म में परिनिष्ठित हैं, भजन करने की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है, तथापि वे ब्रह्मानन्द का अनुभव करनेवाले मुनिजन, दिव्य, शुद्ध, नित्य, चिन्मय भगवत्स्वरूप के सामने आते ही क्षुब्ध हो उठते हैं और उनके मरे हुए मन भी जीवित होकर इस स्वरूप की एक-एक वस्तु पर मुग्ध हो जाते हैं। जिन इन्द्रियों के विकाररूप रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श से मुमुक्षु-अवस्था में ही चित्त उपरत हो जाता है और भजन करना उनका स्वभाव ही बन जाता है। कमलनयन, घनश्याम के विधुविनिन्दक वदनारविन्द पर अतिमृदुल मन्द मुसकान एवं उनके अतिमनोहर नयनयुगल के कमनीय कृपा-कटाक्ष एवं इसी प्रकार प्रभु के अन्यान्य श्रीअङ्गों का अवलोकन कर, दृश्य नाम-रूपात्मक प्रपञ्चों से अन्यमनस्क चित्त योगीन्द्र, मुनीन्द्र भी लट्टू हो जाते हैं। एक बार दिव्य वैकुण्ठ लोक में श्रीमहाविष्णु के समीप नित्य आत्मनिष्ठ सनकादि ऋषि पधारे। ज्यों ही वे भगवान् के सामने पहुँचे और उनके स्वरूप को देखा कि मुग्ध हो गये। भगवान् की सुन्दरता देखते-देखते उनके नेत्र किसी प्रकार तृप्त ही न होते थे। भगवान् के सौन्दर्य ने ही उन्हें मुग्ध किया हो सो नहीं, प्रणाम करते समय कमल-नयन श्रीहरि के पादपद्मपराग से मिली हुई तुलसीमञ्जरी का सुगन्ध वायु के द्वारा नासिकामार्ग से ज्यों ही मुनियों के अन्तर में पहुँचा कि उनका मन क्षुब्ध हो गया, उस सुगन्ध की ओर खिच गया, उसपर मोहित हो गया और आनन्द से उनके रोमाञ्च हो आया—

> **"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।**
> **अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥"**

यही दशा श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र का स्वरूप देखकर श्रीजनक की हुई थी—

> **"मूरति मधुर मनोहर देखी।**
> **भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेखी॥"**

किसी प्रकार अपने को विवेक, धैर्य से सँभाला, परन्तु पूछे बिना न रहा गया। श्रीविश्वामित्र के चरणों में प्रणाम किया और फिर गद्गद वाणी से पूछने लगे—

"कहहु नाथ सुन्दर दोउ बालक, मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक।
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा, उभय वेष धरि की सोइ आवा॥
सहज विरागरूप मन मोरा, थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा।
ताते प्रभु पूछउँ सति भाऊ, कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा।"

और भी देखिये, विवाह के समय जो दशा हुई—

"क्यों करै बिनय बिदेहु कियो बिदेहु मूरति साँवरी।
करि होम बिधिवत गाँठि जोरी होन लागी भाँवरी॥"

इत्यादि।

सारांश यह है कि भजन करना उनका स्वभाव ही बन जाता है। वे चाहते हैं कि कुछ समय भजन न करें, किन्तु उनके रोकने पर भी उनका मन प्रभु की नखमणि-चन्द्रिका का चिन्तन करने लगता है, प्रभु के त्रिभुवनपावन, मङ्गलमय नाम का उच्चारण करने लगता है। एक गोपाङ्गना लीलाबिहारी, त्रिभुवन-कमनीय, योगीजनदुर्लभ, देवेदेवप्रत्याशित, ऋषि-महर्षि-महापुरुष-चित्ताकर्षक, निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-रसामृतसारभूत, आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन, मदनमोहन कृष्णचन्द्र के विरहजन्य तीव्रताप से तापित होकर जमीन पर बेहोश पड़ी थी और एक दूसरी सखी उनके मुख पर गुलाबजल के छींटे दे-देकर धीरे-धीरे पंखा झल रही थी। इतने ही में एक तीसरी सखी आयी और जनमनहारी, बाँकेबिहारी, राधारमण, बाधाहरण, नन्दनन्दन की चर्चा करने लगी। त्यों ही दूसरी बोली—"हे सखी! उनकी चर्चा इस समय न छेड़। यदि अपनी प्रियसखी को इस समय विश्राम लेने देना चाहती है, तो उनकी चर्चा भूलकर भी मत चला। कोई और चर्चा चलाकर माधव को इस समय भुला दे।" कैसी विचित्र दशा है? कोई तो इस आधि-व्याधिपूर्ण, शोकतापसंकुल, जन्म-मृत्यु-सङ्कीर्ण, आर्तनाद के उद्भवस्थान, मृत्यु के लीला क्षेत्र, पापविद्ध संसार का विस्मरण कर भगवद्रस का आस्वादन करना अथवा प्रभु का स्मरण करना चाहते हैं, पर ऐसा होता नहीं। और ये महाभागा गोपाङ्गनाएँ नन्दनन्दन का किसी तरह विस्मरण करना चाहती हैं, पर ऐसा होता नहीं। इसी तरह ज्ञानी भी कई तरह के होते हैं। एक तो जड़भरत के समान जङ्गलों में उन्मत्त, प्रेमविभोर होकर इधर-उधर फिरनेवाले। लोकसंग्रही भी आत्माराम, आप्तकाम होते हैं, परन्तु भगवान् की प्रेरणा से धर्मसंस्थापन में लगे रहते हैं। व्यास परमज्ञानी होते हुए भी पुराणों के निर्माण में, शङ्कराचार्य परमज्ञानी होते हुए भी बौद्धों के खण्डन में लगे रहते थे। लोकसंग्रही के सामने कठिनाइयाँ भी आती हैं, क्योंकि संसार कुत्ते की पूँछ के समान है। कुत्ते की पूँछ को कितना ही घी, तेल लगाकर बाँस की नली में डालकर सीधा

रखो, किन्तु ज्यों ही बाँस की नली से निकली, त्यों ही फिर टेढ़ी की टेढ़ी। इसलिये ऐसे ज्ञानियों को पदे-पदे भगवान् का सहारा लेना पड़ता है।

दूसरे प्रकार के भक्त होते हैं–जिज्ञासु–पूर्णविरक्त–"**रमा बिलास राम अनुरागी, तजत बमन इव नर बड़भागी ॥**" जैसे उत्तमोत्तम पदार्थों को खाकर वमन कर दें, तो उस ओर देखने तक को जो नहीं चाहता, ठीक वैसे ही इन जिज्ञासुओं को ऐन्द्र, माहेन्द्र एवं ब्राह्मपद पर्य्यन्त के समस्त वैभव विषवत्, वमनवत् प्रतीत होते हैं। वे वेदाध्ययन आदि करते हैं, किन्तु भगवान् का भजन करते हुए। जो लोग ऐसा नहीं करते, वे उसी चील के समान हैं, जो उड़ती तो आकाश में है पर दृष्टि रहती है उसकी नीचे। ये लोग भी उड़ते तो शास्त्रों पर हैं, पर दृष्टि रहती है संसार पर, लक्ष्य रहता है क्षुद्र वैषयिक सुखों की प्राप्ति करना। अस्तु, जो लोग विवेक और ज्ञान के साथ भगवत्प्राप्ति को लक्ष्य बनाकर ग्रन्थों का अध्ययन नहीं करते, उनके लिये ग्रन्थ ग्रन्थि का ही काम करते हैं। ऐसे लोग भगवत्साक्षात्कार नहीं कर सकते।

तीसरे प्रकार के भक्त हैं आर्त्त–गजेन्द्र, द्रौपदी को तरह पीड़ित, सताये गये।

चौथे भक्त हैं अर्थार्थी–विभीषण की तरह। जिस समय विभीषण सर्व-सौन्दर्या-धार, अखण्डानन्दभण्डार, परमसमुज्ज्वल, अतिसुन्दर, चिरमधुर रसमय भगवान् के पास आया, उस समय कहता है कि—

"**नाथ ! उर कछु प्रथम बासना रही, प्रभुपदप्रीति सरित सो बही।**"

फिर तत्क्षण कहता है कि—

"**अब कृपाल निज भगति पावनी, देहु कृपा करि शिवमन-भावनी।**"

इनमें एक भक्त ऐसे होते हैं, जो ज्ञान भी प्राप्त करना चाहते हैं, धन भी प्राप्त करना चाहते हैं और विपत्ति-निवारण भी करना चाहते हैं। यद्यपि ज्ञान प्राप्त करने, धन प्राप्त करने और विपत्ति-निवारण करने का साधन उनके पास है, तथापि वे भगवान् का भजन नहीं छोड़ते। जो अस्त्रबल, बाहुबल, बौद्धबल के घमण्ड में आकर भगवान् को भूल जाते हैं, उनका मनोरथ मरुभूमि की नदियों की तरह बीच ही में सूख जाता है, सिद्धिसाफल्य मिलना तो दूर रहा। इसलिये अर्जुन जिस समय कृष्णचन्द्र की पटरानियों को लेकर लौट रहे थे, उस समय आभीरों ने उनको बाँस के खण्डों से पीट-पीटकर पटरानियों को छीन लिया। वही शक्तिमान् अर्जुन, वही सेना, वही नन्दिघोष रथ और वही गाण्डीव धनुष, किन्तु एक श्रीकृष्ण के बिना उनके सारे साधन बेकार हो गये। अस्तु, कोई कितना ही शक्तिसम्पन्न क्यों न हो, भगवच्चरणों का सहारा लेते हुए ही उसे चलना चाहिये।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो चाहते तो सब कुछ हैं, पर साधन एक भी नहीं। ऐसे लोगों को भी निराश न होना चाहिये। शास्त्रों ने उनको भी आश्वासन दे रखा है—"**सुने री मैंने निर्बल के बल राम।**" निष्काम अनन्यभक्त नरसी की तरह

जो साधनविहीन हैं, दीन-दुनिया का जिन्हें कुछ भी भरोसा नहीं, केवल भगवान् का सहारा है, ऐसे भक्तों को भगवान् ऐसा प्रसन्न करते हैं कि वह निहाल हो जाता है।

ऐसे भी भक्त होते हैं, जो चाहते सब कुछ हैं, पर साधन कुछ नहीं है और साथ ही भगवान् पर विश्वास भी नहीं है। ऐसे लोगों के लिये भी शास्त्रों में निराशा का शब्द नहीं। उनके लिये शास्त्र कहते हैं कि भगवान् को पुकारो—"हे अशरण-शरण, हे अनाथनाथ, हे अकारण-करुण, हे करुणा-वरुणालय, हे प्रभो! मैं आपको नहीं जानता। अपने को नहीं जानता, आपके और अपने सम्बन्ध को नहीं जानता। माया ठगिनी ने मुझे खूब ठगा। मैं उन्मादी बन बैठा। तरङ्ग, कटक, मुकुट, कुण्डल, घटाकाश जैसे घमण्ड करे कि मेरे अतिरिक्त जल नाम की कोई वस्तु नहीं, स्वर्ण नाम की कोई वस्तु नहीं और महाकाश नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार भगवान्! मैं इतना उन्मादी बन बैठा कि कहने लगा ईश्वर नाम की कोई वस्तु नहीं। हे नाथ! अब आप ही कृपा करें कि मैं भाव-कुभाव जिस किसी तरह से भी आपको पुकारूँ।"

●

भगवच्छरणागति से ही गति

"शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते" इत्यादि शास्त्रवचनों में योगभ्रष्ट को चर्चा आती है। अर्जुन ने प्रश्न किया कि—

"अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।
अप्राप्य योगसंसिद्धि कां गतिं कृष्ण गच्छति।
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति॥"

अर्थात् जो ब्रह्म के मार्ग में प्रतिष्ठित नहीं हो सका, योगसिद्धि बिना प्राप्त किये ही मर गया, उसकी क्या गति होती है? यहाँ यही अभिप्राय है कि जो लोग कर्म-संन्यास करके कर्ममार्ग को छोड़ चुके और ब्रह्मसाक्षात्कार-साधन श्रवणादि में लगे हुए हैं, वे मरकर छिन्न बादल के समान नष्ट होते हैं या किसी तरह उनकी भी सद्गति होती है? भगवान् ने कहा—"पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।" पार्थ! इस लोक-परलोक कहीं भी उसका विनाश नहीं होता, "न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।" हे तात! कल्याण के लिये प्रयत्न करनेवाला कोई प्राणी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता। उनमें उच्च-कोटि के अधिकारी लोग तो जन्मान्तर में पवित्र अध्यात्मनिष्ठ योगियों के कुल में जन्म ग्रहण करते हैं और वहाँ पूर्वाभ्यासवशात् पुनः योगाभ्यास में लगकर शीघ्र ही सिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं। कोई-कोई पवित्र श्रीमानों के यहाँ जन्म ग्रहण कर धर्मानुष्ठान तथा सत्सङ्गादि करके पुनः उच्चगति को प्राप्त होते हैं। सारांश यही है कि जो कर्मादि का सहारा छोड़कर योग या ज्ञान के अभ्यास में तल्लीन हो गये और पूर्ण सिद्धि या तत्त्वसाक्षात्कार से पहले ही मृत हो गये, वे भी नष्ट नहीं होते, किन्तु वे भी अच्छी ही गति को प्राप्त होते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि इतना ही नहीं, किन्तु, 'योगभ्रष्ट' का यह भी अर्थ है कि जो योगमार्ग से भ्रष्ट हो गया अर्थात् कामादि दोषों से अभिभूत होकर मायिक प्रपञ्चों में फँस गया उसीकी छिन्नाभ्रवत् नष्ट होने की सम्भावना हो सकती है। जो सदाचारी एवं नियत-मानस होकर श्रवणादि में लगा रहता है, वह तो एक प्रकार के बड़े दिव्य पुण्य में ही लगा रहता है। श्रद्धापूर्वक वेदान्तश्रवण से प्रतिदिन अशीति (८०) कृच्छ्रचान्द्रायण का पुण्य शास्त्रों में कहा गया है। अनेक जन्मों के अभ्यास से ही संसिद्धि प्राप्त होती है, यही गीता का भी अभिप्राय है-"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।" अर्जुन के प्रश्न से भी यही मालूम होता है कि यह विकर्म-निमित्त योगभ्रंश को लेकर ही प्रश्न उठा है—

"अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धि कां गतिं कृष्ण गच्छति॥
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥"

अर्थात् जो अयति अर्थात् पूर्ण नियतमानस न होने के कारण श्रद्धायुक्त होने पर भी योग से विचलित हो गया, वह योगसिद्धि से वञ्चित होकर किस गति को प्राप्त होता है ? भगवान् ने कहा कि जो भी कल्याण के मार्ग पर चलता है, उसका अकल्याण नहीं होता। शास्त्रों ने यही कहा है कि जो प्राणी स्वधर्म को छोड़कर भगवान् को भजने लगा, अपक्व होने के कारण कथञ्चित् यदि वह गिर जाय, तो भी किसी-न-किसी तरह उसका कल्याण हो ही जाता है। परन्तु जो भगवान् का स्मरण न करके कर्मानुष्ठान में ही लगा है, वह तो कोई भी परमार्थ लाभ नहीं कर सकता—

"त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि।
यत्र क्व चाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः॥"

इसी तरह यह भी कहा गया है कि सर्वत्यागी भगवत्परायण पुरुष से यदि कोई विकर्म हो जाय, तो भी भगवत्स्मृति-परम्परा से उसकी निवृत्ति हो जाती है—

"स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्मयच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्वं हृदि संनिविष्टः॥"

जड़भरत आदि भगवान् के स्मरण में संलग्न थे, दुर्दैववश उन्हें मृगशावक में राग हो गया, इसी कारण वे जन्मान्तर में मृग हो गये, तथापि भगवत्स्मरण के प्रभाव से तत्वसाक्षात्कारसम्पन्न होकर अन्त में सद्गति के ही भागी हुए।

इसी तरह 'पद्मपुराण' में एक भद्रतनु नामक व्यक्ति की कथा आती है। वह यद्यपि जन्मान्तर का परम तपस्वी और भगवत्परायण था, तथापि किसी दुर्दैव के योग से वेश्यागामी हो गया। एक दिन उसके पिता का श्राद्ध था। उसकी साध्वी धर्मपत्नी ने कहा कि "आज आप अवश्य नियम से रहें, क्योंकि पिता का श्राद्ध है।" परन्तु उससे न रहा गया और वह रात्रि के समय वेश्या के पास जा पहुँचा और अपने उत्कट प्रेम की कथा कह सुनायी। वेश्या ने खिन्न होकर उसे बहुत ही तिरस्कृत किया और कहा कि "जब आप इतनी नीच प्रकृति के हैं कि अपने पिता के लिये भी साधारण सा नियम पालन नहीं कर सकते, तो हमारे लिये आप क्या कर सकते हैं ? आप चले जाइये।" वेश्या के इन वचनों को सुनकर भद्रतनु को ग्लानि हुई और वह उसे गुरु मानकर वहाँ से चल पड़ा। महात्मा मार्कण्डेय वहीं तप कर रहे थे, उनसे जाकर अपनी सारी सत्य स्थिति कही। महात्मा ने कहा—"अब घबड़ाओ नहीं, तुम्हारा कल्याण होने ही वाला है। मुझे तो समय नहीं है, तुम यहाँ से समीप ही महात्मा दान्त रहते हैं, उनके पास चले जाओ।" वह गया और महात्मा से अपनी स्थिति बतलायी। महात्मा ने उसे भगवान् की उपासना बतलायी। वह बड़ी तत्परता से भगवान् की उपासना में लग गया। बहुत ही थोड़े दिनों में भगवान् प्रत्यक्ष हुए और प्रसन्न होकर उन्होंने उसके सब पापों को नष्ट कर दिया और उसे अपना मित्र बना लिया। फिर भी उसे दिनोंदिन दुर्बल होते देखकर भगवान् ने कहा—"मित्र ! तुम

दिनोंदिन दुर्बल क्यों हो रहे हो ? देखो, तुम हमारे मित्र होकर फिर चिन्तित क्यों हो ?" उसने कहा—"भगवान् ! मुझे हर समय डर लगा रहता है कि मुझसे कहीं कोई ऐसा अपराध न बन जाय कि प्रभु की मैत्री से मैं वञ्चित हो जाऊँ।" भगवान् ने कहा—"मित्र ! मेरी मैत्री ऐसी चञ्चल नहीं होती। मैं जिससे मैत्री जोड़ता हूँ, उससे अटल मैत्री रखता हूँ, अतः तुम निश्चिन्त रहो और खूब निश्चिन्तता के साथ भूषण, वसन, अलङ्कार से विभूषित, सुसज्जित एवं अलंकृत होकर रहो। यहाँ तक कि तुम्हें मैं अपने समान ही पीताम्बर, कटक, मुकुट, कुण्डलादि प्रदान करता हूँ, तुम सर्वथा निश्चिन्त होकर मेरे समान ही रहा करो।" उसने प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य्य की और प्रसन्नता के साथ रहने लगा। अधिक साजबाज के साथ रहते देखकर गुरु ने एक दिन कहा कि "भाई ! तुम कैसे हो गये ? क्या फिर अपने पूर्वरूप पर ही आ गये ?" उसने कहा—"गुरुदेव ! आपने जिसका भजन बतलाया है, यह सब उसीके आदेशानुसार हो रहा है।" गुरुदेव को आश्चर्य हुआ कि मैं तो सहस्रों वर्षों से तप कर रहा हूँ, मुझे भगवान् के दर्शन तक न हुए, इसे इतनी शीघ्रता से भगवान् कैसे मिल गये ? दान्त ने कहा—"अच्छा, हमें भी मिलाओ।" भद्रतनु ने कहा—"बहुत अच्छा।" भगवान् से मिलते ही उसने कहा—"भगवन् ! अब तो हमारे गुरुदेव से भी आपको मिलना पड़ेगा।" भगवान् ने कहा—"मित्र ! तुमने जन्मान्तरों में मेरी प्राप्ति के लिये बड़ी तपस्या की थी, केवल इतना कामप्रतिबन्ध ही अवशिष्ट था, उसके मिटते ही मैं शीघ्र ही तुम्हें मिल गया, परन्तु तुम्हारे गुरुदेव को तो अभी बहुत जन्मों तक तपस्या करनी पड़ेगी।" भद्रतनु ने कहा—"भगवन् ! आपको मेरी प्रसन्नता के लिये यह कार्य तो करना ही पड़ेगा।" भगवान् ने कहा—"अच्छा, तुम्हारी प्रसन्नता के लिये मैं तुम्हारे गुरुदेव से मिलूँगा, तुम उन्हें ले आओ।" बस इस तरह प्रभु की विशेष कृपा से दान्त को भी भगवान् का दर्शन मिला।

कथानक का आशय यही है कि किसी भी स्थिति में प्राणी भगवान् के चरणों में जाकर सदाचारी बनकर भगवान् को प्राप्त कर लेता है, अतः प्राणी को चाहिये कि वह हर तरह से प्रभु के शरण हो।

"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति।"
"कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू, आये सरन तजौं नहिं ताहू।"
"विश्वद्रोहकृत अघ जेहि लागा, शरण गये प्रभु ताहु न त्यागा।"
"जे मुनि शरण सामुहे आये, सकृत प्रणाम किये अपनाये।"

इत्यादि वचन उपर्युक्त भावों का ही पोषण करते हैं।

•

भगवान् का अवलम्बन अनिवार्य

ईश्वर का अभिव्यञ्जक शास्त्र है। शास्त्रों पर विश्वास करके एवं समुचित ढङ्ग से उनका अध्ययन करके उनके अनुसार अनुष्ठान करना और परात्पर, पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म की उपासना करना यही कल्याण का मार्ग है। 'गीता' भी यही कहती है कि प्राणी स्वधर्मानुष्ठान द्वारा ही अभ्युदय, निःश्रेयस, परमगति प्राप्त कर सकता है। इसीलिये हमें अपनी समस्त चेष्टाओं एवं हलचलों को शास्त्रोक्त बनाने की कोशिश करनी चाहिये। हमारा राजनैतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय जो भी कार्य हो, वह शास्त्रोक्त ढङ्ग से होना चाहिये। लोग कहते हैं कि आप तो सब जगह धर्म का अड़ङ्गा लगाते हैं, पर किया क्या जाय? जो हलचलें शास्त्रविरुद्ध मालूम पड़ें वे पाप एवं सर्वथा त्याज्य हैं। शास्त्रोक्त धर्म के समाश्रयण से ही आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सब प्रकार की उन्नति एवं सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है। आर्थिक, सामाजिक एवं नैतिक सभी प्रकार के सामूहिक-वैयक्तिक लाभ उसी धर्म से सम्भव हैं। प्राचीन, अर्वाचीन किसी भी काल में जो शक्तिशाली, प्रभावशाली, मेधावी, स्मृतिसम्पन्न, नीतिशील, कवि और ज्ञानी हुए हैं, उनका मूल कारण तपस्या, स्वधर्मानुष्ठान और ईश्वराराधन ही है। बिना इसके विशेषता नहीं आ सकती। ऐसा भी देखा जाता है कि पहले तो तपस्या, स्वधर्मानुष्ठान और वर्तमान में वैषयिक आसक्ति एवं अधर्माचरण। प्राणी जब पददलित, अपमानित एवं दुःखी होता है, तब उसको ईश्वर, धर्म और न्याय की याद आती है। इसीलिये शास्त्रों में अपमान की, विपत्ति की बड़ी महिमा बतलायी गयी है। विविध सुख-सम्पत्ति और ऐश्वर्य में फँसकर प्राणी अपने प्रियतम प्रेमास्पद भगवान् को भूल जाता है। यदि सावधान रहे, ईश्वर, धर्म, न्याय को न भूले, तो फिर वह बड़ी ऊँची स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

'गीता' में बतलाया गया है कि कुछ लोग भगवत्प्राप्ति के लिये भगवान् की दिव्यातिदिव्य, देदीप्यमान, स्निग्ध सुन्दर, कमनीय, कान्तिमयी मनोहारिणी मूर्ति का अवलोकन करने के लिये, प्रभु के सुमधुर अधरसुधा-रस का पान करने के लिये उनकी अमृतमयी, मृतकजियावनी गिरा का श्रवण करने के लिये एवं प्रभु के अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य, सौगन्ध्य, सौरस्यपरिपूर्ण मङ्गलमय श्रीपादारविन्द-मकरन्द-रस का समास्वादन करने के लिये शम, दम, नियम, जप, तप, यज्ञ, योगादि का अनुष्ठान करते हैं, किन्तु बिना सिद्धि प्राप्त किये ही मृत्यु के शिकार बन जाते हैं, उनकी क्या दशा होती है? इस सम्बन्ध में भगवान् उनकी दो प्रकार की गति बतलाते हैं—एक तो यह कि विरक्त, तपस्वी, ब्रह्मनिष्ठ श्रीमान् के घर उनका जन्म होता है और पूर्व साधनानुसार श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा भगवान् के अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश, सद्रूप, बोधस्वरूप, कूटस्थ, असङ्ग, निरवयव, निर्विकार एकरस, परमतत्त्व का साक्षात्कार कर लेते हैं। दूसरी यह कि धन-जन-शक्तिसम्पन्न उत्तम कुल में उसका जन्म तो होता है, परन्तु इस मायामय संसार में, माया-मोह के सूचीभेद्य तिमिर किरण में पड़कर पुत्र, परिजन एवं

अगणित-धन-सम्पत्ति की आसक्ति में फँसकर, प्रभुत्व और प्रतिष्ठा के घमण्ड में चकनाचूर होकर सङ्गमर्मर के सुधाधवलित, गगनभेदी, सुरम्य सौंधों की बाह्य चमचमाहट में अन्धा होकर एवं माया की मूलभूता ममता की मूर्ति जाया की छाया में शीतलता का अनुभव करता है और इस प्रकार श्रवणमात्ररमणीय, मृगतृष्णिकोदक सांसारिक क्षुद्र वासनाओं के चंगुल में पड़कर वैषयिक क्षुद्र-आनन्द–बिन्दुओं से प्रचण्ड कामानल के प्रशमन में व्यग्र होकर अतृप्ति और असफलता का बोध करते हुए अपने लाखों मित्रों के सहित मरकर नरक का असह्य दुःख झेलता है।

शास्त्र पर विश्वास करके यदि हम स्वधर्मानुष्ठान करें, तो ऐसा कोई भी दुर्घट पदार्थ नहीं जिसे हम प्राप्त न कर सकें। इस समय राष्ट्रोद्धार का मुख्य प्रश्न सामने उपस्थित है। उसके लिये यदि हम कुछ नहीं कर सकते, तो भी ईश्वराराधन कर ही सकते हैं। जब कि इस समय हमारे पास अस्त्रबल नहीं, शस्त्रबल नहीं, बाहुबल नहीं, सङ्गठन बल नहीं, बौद्धबल नहीं, ऐसी परिस्थिति में तर्क-वितर्कों को दूर फेंककर दत्तचित होकर सबको ईश्वराराधन करना चाहिये। हम यह नहीं कह सकते कि अन्य साधनों का उपयोग न किया जाय किन्तु जब अन्य साधन पास में नहीं, तब आखिर किया ही क्या जाय ? साथ ही बात यह है कि यह सबसे हो भी नहीं सकता, घर में आग लगी हो और हम मन्दिर में बैठकर माला फेरें, दुर्गापाठ करें, यह सबसे नहीं हो सकता। हो भी सकता है, पर इसके लिये अटल विश्वास की आवश्यकता है। पुरुषोत्तम, परब्रह्म, सर्वान्तरात्मा भगवान् में पूर्ण विश्वासवाला व्यक्ति ही ऐसा कर सकता है। भगवान् उसकी सहायता अवश्य करते हैं, पर साधारण स्थितिवालों के लिये तो **"मामनुस्मर युद्धच च"** का ही मार्ग सर्वोत्तम जान पड़ता है। हाँ, कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो भगवान् को ही अनन्यगति समझते हैं। भगवत्पाद-पङ्कज में उनका मनोमिलिन्द अहर्निश आसक्त रहता है। वे ही प्रभु के भरोसे अनन्य निश्चिन्त रहते हैं। जो दशा पुत्रवत्सला माँ के उत्सङ्गलालित शिशु की है, वही दशा भगवत्पादारविन्दानुरागियों की भी है और वे ही घर में आग लगने पर भी निश्चिन्त होकर माला लेकर बैठ सकते हैं। भक्तवत्सल भगवान् अपने ऐसे विश्वासी भक्तों का योग-क्षेम स्वयं वहन करते हैं। तभी तो भगवान् किसी के घर पानी भरते और किसी का छप्पर छवाते देख गये हैं। करें ही क्या ? ठहरे तो भक्तभावनापराधीन ही न, भक्तवाञ्छाकल्पतरु ही न। यदि हम साधनसम्पन्न हों, तो भी भगवान् से विमुख न होकर ही हमें प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि **"राम बिमुख सम्पति प्रभुताई, गई रही पाई बिनु पाई।"** जिस सरिता का कोई उद्गम-स्थान नहीं, वह शीघ्र ही सूख जाती है। इसलिये यदि चाहते हों कि हमारी स्थायी उन्नति हो, साम्राज्य, स्वराज्य आदि मिले, लौकिक अभ्युदय हो और साथ ही अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक भगवान् भी मिलें, तो हमें भगवच्चरणों का सहारा लेना पड़ेगा, भगवद्भक्त बनना ही होगा। ●

प्रेमतत्त्व

प्रेमतत्त्व को रसिक लोग मूकरसास्वादनवत् कहते हैं। कोई तो आन्तर मधुर वेदना को ही 'प्रेम' कहते हैं। कोई स्नेहात्मक अन्तःकरण की वृत्ति को ही प्रेम कहते हैं। यद्यपि वधू आदि में 'राग', यागादि में 'श्रद्धा', गुरु आदि में 'भक्ति', सुखादि की इच्छा, ये सभी प्रेम के ही रूप हैं, तथापि सुखमात्र का अनुवर्तन करनेवाली अन्तःकरण की सात्त्विकी वृत्ति ही प्रेम है। यह प्राप्त, अप्राप्त और नष्ट में भी रहती है। इच्छा नष्ट और प्राप्त में नहीं होती। प्रेम-रसज्ञ लोग रसस्वरूप परमात्मा को ही प्रेम कहते हैं। इसीलिये द्रवीभूत अन्तःकरण पर अभिव्यक्त रसस्वरूप परमात्मा ही प्रेम के रूप में प्रकट होता है। अतएव आचार्यों ने कहा है—

"भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम्॥"

अस्पृष्ट दुःख निरुपम सुखसंवित्-स्वरूप परमात्मा ही प्रेम है। यह भी कहा गया है—

"निरुपमसुखसंविद्रूपमस्पृष्टदुःखं तमहमखिलतुष्टयै शास्त्रदृष्टया व्यनज्मि।"

प्रेमियों का कहना है कि चित लाक्षा (लाख) के समान कठोर द्रव्य है। वह तापक द्रव्य के योग से कोमल या द्रवीभूत होता है। जैसे द्रवीभूत लाक्षा में निःक्षिप्त हिङ्गुल, हरिद्रा आदि रङ्ग स्थायीभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही द्रवीभूत अन्तःकरण पर अभिव्यक्त भगवान् ही 'भक्ति' कहे जाते हैं। भगवान् के गुणगण-श्रवण से चरित्रनायक पूर्णतम प्रभु का स्वरूप प्रकट होता है। पुनश्च उनके प्रति स्नेहादि का प्रादुर्भाव होता है। स्नेहादि से चित्त में द्रवता होती है। स्नेहास्पद पदार्थ के दर्शन से उसमें संस्कार उत्पन्न होता है, अतएव पुनः-पुनः उसका स्मरण होता है। उपेक्षणीय वस्तु के संस्कार नहीं होते, इसका कारण यही है कि राग के आस्पद या द्वेष के आस्पद पदार्थ को ग्रहण करता हुआ चित्त रागादि से द्रवीभूत हुआ है, इसीलिये उसके संस्कार हो जाते हैं। उपेक्षणीय तत्त्व के ग्रहण-समय में चित्त द्रवीभूत नहीं होता, क्योंकि वह तापक भाव नहीं है। प्रेमी कहते हैं कि भगवान् के उत्कट स्नेह से चित्त को इतना द्रुत करे कि वह गङ्गाजल के समान निर्मल, कोमल तथा द्रवीभूत हो जाय। फिर उसमें भगवान् का स्थायी रूप से प्राकट्य होता है—

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥"

अर्थात् भगवान् के गुणों के श्रवण से भगवान् में द्रवीभूत चित्त की वृत्तियों का ऐसा प्रवाह चलता है, जैसे—कोमल, निर्मल, द्रवीभूत गङ्गाजल का प्रवाह समुद्र की ओर चलता है। जिस समय द्रवीभूत चित्त में पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु का प्राकट्य

होता है, उस समय ही स्थिर भक्ति कही जाती है। जैसे लाक्षा के कठोर रहने पर उसमें रङ्ग स्थिर नहीं होता, लाख की टिकिया पर मुहर का अक्षर अङ्कित करने के लिये भी अग्नि के सम्बन्ध से उसे कुछ कोमल किया जाता है, क्योंकि कठोर लाख पर मुहर के अक्षर अङ्कित नहीं होते, वैसे ही कठोर, अद्रुत चित्त पर भगवान् का स्वरूप, चरित्र, गुण तथा अन्यान्य सदुपदेश अङ्कित नहीं होते। परन्तु गङ्गाजल के समान कोमल, द्रवीभूत अन्तःकरण में भगवान् का प्राकट्य होने से फिर भगवान् भी निकलने में समर्थ नहीं होते। जैसे लाक्षा के साथ एकदम मिला हुआ रङ्ग उसमें से निकलने में समर्थ नहीं होता, लाख चाहे तो भी रङ्ग से वियुक्त नहीं हो सकती, वैसे ही यदि भगवान् चाहें, तो भी भक्त के द्रवीभूत चित्त से निकल नहीं सकते। भक्त भी यदि चाहे, तो भी वह भगवान् से वियुक्त नहीं हो सकता, भगवान् को अपने अन्तःकरण के निकाला नहीं जा सकता।

"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात् हरिरवशाभिहतोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥"

अर्थात् जिसके हृदय की प्रणय-रशना से बँधे हुए भगवान् अपने को न छुड़ा सकें, वही प्रधान भक्त है। कितने स्थलों में भक्त भगवान् से कहते हैं कि यदि आप हमारे हृदय से निकल जायँ, तो हम देखें आपकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डनायकता। कहीं-कहीं भक्त भी हृदय से भगवान् को निकालना चाहते हैं, भगवान् में दोषानुसन्धान करते हैं, परन्तु असफल होते हैं—

"प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनोधित्सति,
बालाऽसौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती मनः।
यस्यस्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते,
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥"

अतएव कुछ लोग द्रवता को ही प्रेम कहते हैं।

यद्यपि द्रवता की अपेक्षा अवश्य है, तथापि प्रेम का स्वयं स्वरूप द्रवता नहीं है, प्रेम का निजी रूप तो रसस्वरूप परमात्मा ही है। अतएव आचार्यों ने उसे निरुपम सुखसंविद्रूप बतलाया है। जिस तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म विश्व का कारण है, अतएव उसके सदेश, चिदेश की सर्वत्र अनुवृत्ति दिखाई देती है। 'घटःसन्', 'पटःसन्' इत्यादि रूप से सद्विशेष घटादि प्रपञ्च में सत् की व्याप्ति है। वैसे ही "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि" के अनुसार आनन्द रस से भी सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है, अतएव सर्वत्र उसकी अनुवृत्ति या व्याप्ति होनी चाहिये। इसीलिये हर एक जन्तु में, हर एक परमाणु में आनन्द, रस या रसस्वरूपभूत प्रेम की भी व्याप्ति है। बिना प्रेम या रस के एक दूसरे से मिलना नहीं हो सकता। पुत्र, कलत्र, मित्र आदि का मिलन भी रस या स्नेह से है। पशु-पक्षियों में, पिता-माता, पुत्र,

पुत्रवधू में प्रीति, स्नेह होता है। किं बहुना एक परमाणु का दूसरे परमाणु से मिलना भी बिना स्नेह के नहीं हो सकता। इस तरह प्रेम तत्त्व आनन्द या रसस्वरूप होने से विश्व का कारण है, इसलिये उसकी व्याप्ति है। वह सर्वत्र और सबके पास है। उसका दुरुपयोग करने से अर्थात् केवल सांसारिक वस्तुओं में ही प्रेम करने से, दुःख होता है। भगवान् में उसका सम्बन्ध जोड़ते ही सारा विश्व आनन्दमय, मङ्गलमय हो जाता है। इसीलिये प्रेमियों ने चाहा है कि संसार से प्रेम हटकर भगवान् में ही हो जाय—**"नाते नेह जगत् के सब रे बटुरि होंहु इक ठाईं। यह बिनती रघुबीर गुसाईं।"** जैसे किसीके पास कोई दिव्यशक्तिसम्पन्न क्षेत्र हो, परन्तु वह उसमें दौर्गन्ध्य-विष-कण्टकादिपूर्ण विष-वृक्ष को लगाकर दौर्गन्ध्य, विष, कण्टकादि से दुःख पाता है, यदि हिम्मत बाँधकर सावधानी से वृक्ष को काटकर सौन्दर्य्य, माधुर्य्य, सौरस्य, सौगन्ध्यपूर्ण आम्र फल या कल्पवृक्ष को लगाये, तो अवश्य सुखी हो जाय। ठीक वैसे ही प्रेम को संसार के साथ जोड़कर, प्रेम में लौकिक भावों को जोड़कर, प्राणी दुःखी होता है, प्रेम के साथ भगवान् का सम्बन्ध जोड़ते ही सर्वत्र आनन्द ही आनन्द हो जाता है। जैसे कोई कल्याणमयी, करुणामयी पुत्रवत्सला अम्बा अपने शिशु को कहीं भेजती हुई उसे ऐसे पाथेय का अवश्य प्रदान करती है, जिसके सहारे वह पुनः अपनी अम्बा के पास आ जाय, यदि ऐसा न ध्यान रखे, तो उसे **"करुणामयी"** नहीं कहा जा सकेगा। वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्ड जननी कृष्णाभिधाना माँ ने भी जीवों को प्रेम तत्त्व साथ में ही दे रखा है। उसे भूल जाने से या उसका दुरुपयोग करने से जीव दुःख पाता है। परन्तु उसको याद कर, उसका सदुपयोग करते ही अर्थात् गुरुजनों, शास्त्रों एवं भगवान् में प्रेम का उपयोग करने से जीव कृतकृत्य होकर अपनी कृष्णाभिधाना माँ के अङ्क (गोद) में जा पहुँचता है, सर्वदा के लिये कृतकृत्य हो जाता है।

कहा जा सकता है कि यदि रस, प्रेम और भगवान् एक हैं और नित्य सिद्ध हो हैं, तो भगवान् में प्रेम को 'प्रेम' और अन्य प्रेमास्पद में विषय-विषयीभाव-कल्पना की क्या अपेक्षा है ? इससे तो मालूम पड़ता है कि प्रेम के लिये भेदभाव की ही अपेक्षा है। बिना दो के प्रेम नहीं होता, अतएव प्रेम और भगवान् भी दो वस्तु होनी चाहिये। परन्तु गम्भीरता से विवेचन करें, तो मालूम होगा कि आरम्भकाल में औपाधिक प्रेम के लिये अवश्य ही दो की अपेक्षा किंवा अभिव्यक्ति के लिये साधन की अपेक्षा है, परन्तु स्वभावतः प्रेम अभेद में या अत्यन्त सन्निहित प्रत्यगात्मा में ही होता है और वह स्वतः सिद्ध भी है। जैसे स्वप्रकाश ब्रह्म के प्राकट्यार्थ भी महा-वाक्यजन्य परब्रह्माकाराकारित वृत्ति की अपेक्षा होती है, वैसे ही भगवत्स्वरूप, स्वतः-सिद्ध प्रेम के भी प्राकट्य के लिये भगवदाकाराकारित स्निग्ध मानसी वृत्ति अपेक्षित है। उस प्राकट्य के लिये ही सद्धर्म, सत्कर्म आदि साधनों की अपेक्षा है। प्राकट्य-भेद से ही उसके अणु, मध्यम, महत् एवं परममहत्परिमाण-भेद से अनेक भेद भी होते हैं।

साधनकाल में ही भेदभाव की अपेक्षा होती है। अज्ञान के कारण ही भगवान् में प्रेम न होकर विश्व में होता है। या यों समझिये कि नीरस, निःसार संसार में रसस्वरूप भगवान् के सम्बन्ध से ही सरसता की प्रतीति होती है, अतः सरसत्वेन प्रतीयमान विश्व में प्रेम होता है। जैसे प्रकाश की अन्यत्र सातिशयता और व्यभिचारिता होने पर भी सूर्य्य में उसका व्यभिचार या सातिशयता सम्भव नहीं है, वैसे ही अन्यत्र प्रेम का व्यभिचार और सातिशयता देखी जाती है, परन्तु भगवान् में व्यभिचार और सातिशयता नहीं है। पुत्र, कलत्रादिकों में कभी प्रेम, कभी बैर भी हो जाता है, कभी प्रेम की कमी, कभी अधिकता हो जाती है, परन्तु भगवान् में वह सदा होता है और सर्वदा निरतिशय होता है, क्योंकि जैसे सूर्य्य प्रकाश के उद्गम-स्थान या प्रकाशस्वरूप ही हैं, वैसे ही भगवान् ही प्रेम के उद्गम-स्थान किंवा प्रेमस्वरूप ही हैं।

कहा जाता है कि भगवान् और उनमें प्रेम प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भगवान् में अव्यभिचारी और निरतिशय प्रेम या उन्हें प्रेमस्वरूप कैसे माना जाय? परन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान् सर्वप्रकाशक, अखण्ड बोध रूप से, प्रत्यगात्मा रूप से प्रसिद्ध हैं। अतएव उनमें प्रेम भी प्रसिद्ध है। केवल अनिर्वचनीय आवरण मिटाने के लिये ही कुछ प्रयत्नों की अपेक्षा है। विज्ञान से सारी वस्तुओं का व्यवहार होता है। सम्पूर्ण वस्तु, सम्पूर्ण व्यवहार बोध से ही प्रकाशित होता है। फिर बोध में क्या सन्देह? "जगत् प्रकाश्य, प्रकाशक रामू" जैसे दर्पणदर्शन के पश्चात् तदन्तर्गत प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, वैसे ही बोधमान के पश्चात् ही विश्व या उसकी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं—"**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।**" जैसे तरङ्ग व्यामोह से ही कह सकती है कि "जल कहाँ है? जो कुछ है, मैं ही हूँ" वैसे ही जीव व्यामोह से ही कह सकता है कि "भगवान् कहाँ? जो कुछ है मैं ही हूँ।" जैसे तरङ्ग के भीतर, बाहर, मध्य में, किं बहुना तरङ्ग का अस्तित्व ही जल पर निर्भर हैं, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् में, विशेषतः जीव में, उसके भीतर, बाहर, मध्य में सर्वत्र भगवान् ही हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण विश्व या जीव भगवान् की सत्ता से ही सत्तावाले हैं, उनका पृथक् अस्तित्व ही नहीं है।

प्राणी को अपने प्राणों में, सुख में, अपनी आत्मा में स्वाभाविक प्रेम होता है, भगवान् तो प्राणों के प्राण, सुख के सुख और जीवों के भी जीवन हैं। फिर उनमें प्रेम स्वाभाविक क्यों न हो? इसीलिये तो महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—"**लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।**" अर्थात् लोक में कोई भी जन्तु या कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो राम का भक्त न हो। वशिष्ठ कहते हैं—"**प्राण प्राण के, जीव के जिय**..........**तुम तजि जिनहिं सुहात गृह, तात तिनहिं बिधि बाम।**" अर्थात् हे तात! राघवेन्द्र रामभद्र! तुम्हीं तो प्राणों के प्राण, जीवों के जीवन और आनन्द के

भी आनन्द हो। प्राण से या अपान से प्राणी नहीं जोता, किन्तु प्राणी में प्राणन शक्ति देनेवाला प्राण का भी प्राण भगवान् ही सबको जिलाता है। फिर तुमको छोड़कर जगत् किसे अच्छा लगे ? इस दृष्टि से रावणादि भी राम के भक्त ही हैं। भला अपनी सत्ता का कौन विरोधी होगा ? नास्तिक भी अपनी और अपने सिद्धान्त की सत्ता का बाध या अपलाप नहीं चाहता या करता। हर एक व्यक्ति का निश्चय है कि और कुछ हो या नहीं, रहे या न रहे, मैं तो हूँ ही, मैं तो रहूँ हो। जैसे जल के बिना तरङ्ग क्षणभर भी टिक ही नहीं सकती, वैसे ही सत्ता के बिना सम्पूर्ण पदार्थ असत् हो जाते हैं। सत्, चित्, आनन्द रसस्वरूप भगवान् के बिना सब निःस्फूर्ति, नीरस, निरानन्द, किं बहुना असत् हो जाते हैं। उनके योग से ही—आध्यात्मिक सम्बन्ध से ही—स्फूर्तिमत्ता, सरसता, सानन्दता और अस्तित्व सिद्ध होता है। अतः उनका अमङ्गलमय वियोग किसे सह्य होगा ?

जैसे गुड़ के सम्बन्ध से नीरस बेसन में मिठास आती है, वैसे ही 'स्व' के सम्बन्ध से—अपनेपन के सम्बन्ध से – वस्तुओं में प्रीति होती है। अपनेपन के बिना कट्टर वैष्णवों को भगवान् शिव में और शैवों को विष्णु में भी प्रेम नहीं होता। अनन्त ब्रह्माण्डनायक भगवान् के ही जिस रूप में अपनापन, अपना उपास्यभाव, होता है, उसीमें प्रेम होता है। जिसमें उपास्यबुद्धि, इष्टबुद्धि नहीं, जिसमें अपनापन नहीं, उसमें प्रेम भी नहीं। अपनापन होने से अपने क्षेत्र, वृक्ष की बाग के काँटों में भी प्रेम होता है, उनके नष्ट होने में कष्ट होता है। जिस अपनेपन के बिना ब्रह्म भी नीरस, जिस अपनेपन के सम्बन्ध से कण्टकादि में भी प्रेम, साक्षात् उस अपने में, "स्व" में प्राणी का कितना प्रेम हो सकता है ? इसीलिये भगवान् प्राण के प्राण, जोव के जीवन, आनन्द के आनन्द, प्रत्यक्ष स्वात्मा हैं, अतएव प्रेम या रसस्वरूप ही हैं। जो वस्तु जितनी अप्रत्यक्ष, दूर और अपने से भिन्न है, उसमें उतनी ही प्रेम को कमी होती है। क्षेत्र, मित्र, पुत्र, कलत्र आदि में दूरस्थ, अप्रत्यक्ष तत्त्वों की अपेक्षा अधिक प्रेम होता है। क्षेत्रादि की अपेक्षा देहादि में अधिक प्रेम होता है। देह विरुद्ध होने से उन सबका ही त्याग किया जाता है, क्योंकि उनकी अपेक्षा देह सन्निहित एवं प्रत्यक्ष है। देह से भी इन्द्रियाँ, प्राण अन्तरङ्ग हैं, अतः उनमें प्रेम अधिक होता है। मन उनसे भी समीप है, अतः उसके प्रतिकूल या उसे दुःखदायी मालूम पड़ने पर देहादि का भी त्याग किया जाता है। बुद्धि, अहमर्थ का भी निरोध आत्महित के लिये किया जाता है। **"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह, बुद्धिश्च न विचेष्टते'** इत्यादि से मनोनाश, वासना-क्षय के लिये प्रयत्न प्रसिद्ध ही है। इस दृष्टि से सर्वान्तरङ्ग, सर्वसन्निहित, परम प्रत्यक्ष, प्रत्यगात्मस्वरूप ही भगवान् हैं। उन्हीं में मुख्य प्रेम और वही प्रेमस्वरूप भी हैं, उनसे भिन्न में प्रेम की कमी स्पष्ट है। आत्मा के लिये ही सब कुछ होता है, देवता में प्रीति भी आत्म-कल्याण के लिये ही होतो है, आत्म-

प्रतिकूल देवता की उपेक्षा ही होती है। यदि भगवान् प्रत्यगात्मस्वरूप नहीं, तब तो भगवान् 'शेष' (अङ्ग) हो जायँगे, भगवान् के लिये आत्मा नहीं, किन्तु भगवान् आत्मा के लिये समझे जायँगे, अतः भगवान् परोक्ष होने से अस्वप्रकाश समझे जायँगे, भगवान् अनात्मा होने से बहिरङ्ग और शेष या अङ्ग समझे जायँगे, यह सब अनर्थ है, क्योंकि सिद्धान्ततः वस्तुगत्या भगवान् ही सर्वान्तरङ्ग, सर्वान्तरात्मा हैं, वे ही सर्वशेषी हैं, सब कुछ उनके लिये, वे किसी के लिये नहीं। भगवान् ही प्रत्यगात्मा होने से स्वप्रकाश और वे ही शेषी हैं, वे ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद हैं। इसीलिये तो जैसे सैन्धवखिल्य (सेंधानमक का टुकड़ा) अपने आपको अपने उद्गम-स्थान समुद्र में समर्पण कर समुद्ररूप हो जाता है, वैसे ही औपाधिक चैतन्यरूप जीवात्मा अपने उद्गम-स्थान परप्रेमास्पद भगवान् में आत्मसमर्पण करके भगवत्स्वरूप हो जाता है। जैसे घटाकाश घट और घटाकाश सबको ही महाकाश में समर्पण कर देता है।—**"त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम्"** (जब आकाश से ही वायु आदि-क्रम से घट बना, उसीसे घटाकाश की प्रतीति हुई, घट पृथिव्यादि में लय क्रमेण आकाश हो गया, तब घटाकाश सुतरां आकाश हो गया, यही सच्चा आत्मसमर्पण है), वैसे ही जीवात्मा भगवान् से प्रादुर्भूत अपना सर्वस्व और अपने आपको भगवान् में समर्पण करके सर्वदा के लिये सर्वशेषी, सर्वान्तरङ्ग, सर्वप्रेमास्पद, सर्वान्तरात्मस्वरूप हो जाता है। अपने मिथ्या, काल्पनिक भाव का सर्वदा के लिये बाध कर, पारमार्थिक रूप को प्राप्त कर लेता है।

इस तरह औपाधिक प्रेम सापेक्ष, सातिशय होने पर भी निरुपाधिक प्रेम भेद-निरपेक्ष, स्वप्रकाश, सर्वान्तरात्मा भगवान् का स्वरूप ही है और वह स्वतःसिद्ध है। केवल उसके प्राकट्य के लिये ही प्रयत्न की अपेक्षा होती है। जैसे ब्रह्माकार वृत्ति की कोमलता, दृढ़ता से नित्यसिद्ध परमात्मस्वरूप-ज्ञान में भी कोमलता और दृढ़ता का व्यवहार होता है, वैसे ही है। प्रेम में भी कोमलता, दृढ़ता से नित्य सिद्ध परमात्मस्वरूप-ज्ञान में भी कोमलता और दृढ़ता का व्यवहार होता है। प्रेम में भी कोमलता, दृढ़ता और उत्पत्ति का उपचार ही है। आमाम्र (कच्चा आम) पक्वाम्र का हेतु समझा जाता है, वैसे ही साधनावस्था का प्रेम साध्यावस्था के प्रेम का साधन माना जाता है। उसमें रक्षा की भी बड़ी अपेक्षा समझी जाती है। भावुकों ने कहा है कि जैसे दीप बुझ जाता है, वैसे प्रेम के बुझ जाने का भी भय रहता है। जैसा कि किसी की उक्ति है—

> **"प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीप एव हृद्वेश्म भासयति निश्चलमेव भाति।**
> **द्वारादयं वदनतस्तु बहिष्कृतश्चेन्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥"**

अर्थात् दोनों रसिकों के हृदय में रहनेवाला प्रेम एक दीप है, वही हृदय-भवन का प्रकाशन करता है और निश्चल होकर स्वयं देदीप्यमान होता है। यदि वह

मुखरूप द्वार से बाहर किया गया, तो या तो बुझ जाता है अथवा उसमें लघुता आ जाती है।

वैसे प्रेमतत्व निष्कारण बतलाया जाता है—

"आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि,
क्षीयेताऽपि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्द्धते।
पीयूषप्रतिवेदिनस्त्रिजगती दुःखद्रुहः साम्प्रतम्,
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठता लाघवम्॥"

अर्थात् प्रेमदेव ने अपने प्रादुर्भाव के दिन किसी सूक्ष्मतम हेतु की भी अपेक्षा नहीं की, किसी भी अपराध के कारण उनका ह्रास नहीं होता और बहुत नमस्कार से उनकी वृद्धि भी नहीं होती। पीयूष के प्रतिस्पर्धी, त्रिजगती-दुःख के द्रोही, परम गुरु प्रेम देवता को वाग्गोचर करके लघु कैसे बनाया जाय? यद्यपि लोक में प्रेम त्रिदल होता है—एक आश्रय, दूसरा विषय और तीसरा प्रेम, तथापि अन्तरङ्ग-स्थिति में तीनों एक ही वस्तु हैं, एक ही में औपाधिक त्रैविध्य की कल्पना होती है, जैसे जल और तरङ्ग में वास्तविक भेद न होने पर भी काल्पनिक भेद को लेकर व्यवहार होता है—

"गिरा अर्थ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीताराम-पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥"

श्री भगवान् की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्री जनकनन्दिनी तो इतनी अन्तरङ्ग हैं, जैसे अमृत में माधुर्य्य। परमानन्द सुधासिन्धु भगवान् में माधुर्य्य सार सर्वस्व ही उनकी आह्लादिनी शक्ति है। उन्हीं का प्रेम वास्तविक प्रेम है।

●

भगवान् और प्रेम

प्रेम तत्त्व का प्राकट्य अधिकाधिक रूप में वहाँ ही होता है, जहाँ जितना ही सन्निधान, जितनी ही अन्तरङ्गता, जितनी ही प्रत्यक्षता अधिक होती है। जहाँ सन्निधान आदि की जितनी ही कमी, वहाँ उतनी ही प्रेम में भी कमी होती है। इसीलिये अत्यन्त सन्निहित, अत्यन्त अन्तरङ्ग, अति प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मा में ही प्रेम देखा जाता है। अन्तरात्मा अत्यन्त अभिन्नस्वात्मा में ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम होता है। जब ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण के वत्स-वत्सपों का अपहरण कर लिया, तब श्रीकृष्ण कौतुकवशात् स्वयं ही सब कुछ हो गये। गौओं और गोपालिकाओं को यद्यपि श्रीकृष्णदर्शन, स्पर्शनादि प्राप्त होता था तथापि नन्दरानी का सौभाग्य देखकर उन्हें लालसा होती थी कि व्रजेन्द्रगेहिनी जैसे अपने ललन को हृदय में छिपाकर रखती हैं, बार-बार मस्तक सूँघकर मुखचन्द्र चुम्बन करती हैं, वैसे ही हम भी करें। उनकी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिये ही श्रीकृष्ण अपने-आप ही बछड़ों और ग्वाल-बालों के रूप में हो गये। अब तो सभी गायों और वात्सल्यभाववती गोपियों को कृष्ण ही पुत्र के रूप में मिल गये। फिर तो उनके प्रेम में निःसीम वृद्धि हो गयी। अपराध हो जाने पर भी उन बालकों पर पिता-माता को क्रोध नहीं होता था। उनको देखते ही क्रोध न जाने कहाँ भाग जाता था। दूसरे नवीन सन्तानों के उत्पन्न होने पर भी गौओं को उनमें निःसीम प्रेम था। वे नये बछड़ों की परवाह न करके भी उन्हें ही दूध पिलाना चाहती थीं, प्रेम में विभोर होकर उन्हें सूँघती और चाटती थीं, मानों नेत्रों, घ्राणों और जिह्वा से सर्वदा पान कर हृदय में रखना चाहती थीं। जो लोकोत्तर, निःसीम प्रीति उन गोपालिकाओं की कभी अपने बालकों में नहीं थी, वह अद्भुत प्रीति उन कृष्णात्मक वत्स-वत्सपों में हुई।

इस विचित्र आश्चर्यमय चरित्र को श्रवण कर जब परीक्षित ने उसका कारण पूछा, तब श्री शुकदेवजी ने यही कहा कि "राजन्! संसार में प्राणिमात्र को अपने आत्मा में सर्वातिशायी प्रेम होता है; कलत्र, पुत्र, क्षेत्र, वित्त, मित्र आदि में इतना प्रेम नहीं होता। देहात्मवादी भी जितना प्रेम देह में करते हैं, उतना देहानुगामी वस्तु में नहीं करते। अपत्य, वित्त, कलत्र आदि में जो प्रेम होता है, वह केवल आत्मप्रेम का शेष ही है। वेद भी यही कहते हैं कि—

"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।"

आत्मा के लिये ही सम्पूर्ण वस्तुओं में प्राणिमात्र को प्रेम होता है। देवता के काम के लिये प्राणी को देवता में प्रेम नहीं होता, किन्तु आत्मा के लिये ही देवता में भी प्रेम होता है। भगवान् भास्कर ब्राह्मणों के इष्टदेव अत्यन्त प्रिय विश्वप्राण हैं,

परन्तु जब वे ही ग्रीष्म में प्रतिकूल प्रतीत होते हैं, तब प्राणी उनकी आँखों से ओझल होना चाहता है। जिस देवता से अपने मनोरथों की सिद्धि होती है, उसमें बड़ा ही स्नेह होता है। जिसकी उपासना आरम्भ करने से कुछ अनिष्ट होता है, उस देवता से उपरति हो जाती है। इसीलिये मन्त्रों में भी अप अरि मित्रादि की कल्पना तान्त्रिकों के यहाँ होती है। अतः आत्मा के लिये ही संसार की सारी वस्तु प्रिय है, यह लोक, वेद सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। इस तरह आत्मा सम्बन्धी प्रेम प्राणिमात्र में प्रसिद्ध होने से ही कृष्ण में सब लोगों का अधिक प्रेम हुआ, क्योंकि कृष्णचन्द्र प्राणिमात्र के अन्तरात्मा थे। वही अपनी अचिन्त्य, दिव्य लीला शक्ति से सगुण, साकार, अचिन्त्य, अनन्तकल्याणगुणगण समलङ्कृत, मनोहर रूप में प्रकट हुए थे—

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥"

वस्तुतः स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण वस्तु श्रीकृष्ण मात्र है, श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं, वही सर्वान्तरात्मा हैं, वही सम्पूर्ण वस्तुओं के अन्तिम स्वरूप हैं। वस्तुओं का अन्तिम रूप अपना कारण अव्याकृत तत्त्व है। उस अव्याकृत की भी अन्तिम पर्य्यवसान भूमि श्रीकृष्ण हैं, क्योंकि कारण से भिन्न कार्य और अधिष्ठान से भिन्न कल्पित नाम की कोई वस्तु ठहरती ही नहीं है—

"सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्याऽपि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥"

वे ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद हैं, वे ही अन्तरात्मा हैं, अतः सच्चा प्रेम उन्हीं में ही होना चाहिये। हाँ, सहज, स्वाभाविक प्रेम भी बिना जाने असत्-सा हो जाता है। जैसे छात्राध्ययन के शब्दों के बीच मिले हुए अपने पुत्र के अध्ययन के शब्द का विविक्त स्पष्ट रूप से प्राकट्य नहीं होता, वैसे ही आत्मप्रेम प्राणिमात्र में होने से आत्मा की परमानन्द-रूपता प्रतीत होने पर भी अविद्या के कारण उसका स्पष्ट प्राकट्य नहीं होता है। परन्तु इस तरह प्राणी अज्ञात रूप से तो आत्म-प्रेमी है ही। अतएव प्राणिमात्र ज्ञान से, अज्ञान से, किसी-न-किसी तरह अपने जीवनधन, भगवान् का अवश्य ही प्रेमी है। जिसे जितना बोध है, उसे उतना ही प्राकट्य है। जहाँ वह प्रेम सम्यक्रूप से प्रकट है, वहाँ परिपूर्ण ऐश्वर्य भी नतमस्तक हो जाता है। इसीलिये कहा जाता है कि महत्परिमाण परिमिति प्रेमवती व्रजाङ्गनाओं के सामने ऐश्वर्य अपना प्रभाव नहीं डाल सका। कभी श्रीकृष्ण को ढूंढ़ती हुई व्रजाङ्गनाओं को जब अकस्मात् कृष्ण किसी निकुञ्ज में मिल गये, तब कृष्ण अपने को छिपाने के लिये अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण श्रीमन्नारायण के रूप में प्रकट हो गये। गोपाङ्गनाओं ने उन्हें प्रणाम किया, परन्तु उनसे माँगा यही कि आप कृपा करके हमारे मनमोहन कृष्णचन्द्र को मिला दो। वे उस नारायणरूप पर मोहित नहीं हुईं

ौर श्रीवृषभानुनन्दिनी के पधारते ही वह ऐश्वर्यपूर्ण रूप टिक ही नहीं सका, सहसा ारूप प्रकट हो गया। निरुपाधिक प्रेम सर्वातिशायी प्रेम है, तथापि प्रेम-प्राकट्य । लौकिकता की अपेक्षा अधिक होती है। इसीलिये देखते ही हैं कि प्राणियों को जितना स्वारसिक प्रेम अपने पुत्र, कलत्र, धन-धान्यादि में होता है, उतना स्वारसिक प्रेम देवता या भगवान् में नहीं होता। इसीलिये परिपूर्ण परमात्मा प्राणि-कल्याणार्थ अपनी अलौकिकता को छिपाकर लौकिक रूप ग्रहण करते हैं।

भक्तों ने भी भक्ति के दो रूप माने हैं, एक वैधी, दूसरी रागानुगा। विधि से प्राप्त भक्ति वैधी है। **"विधिरत्यन्तमप्राप्तौ"** के अनुसार अप्राप्ति में ही विधि होती है। समझा जाता है कि जहाँ स्वारसिक, रागानुगामी नहीं है, वहीं विधि की अपेक्षा होती है। किं बहुना माता-पिता, गुरुजनों एवं लौकिक विषयों में भी विधि का संस्पर्श है, अतः वहाँ भी स्वारसिक प्रीति में कुछ कमी हो जाती है। उन सबकी अपेक्षा पत्नी में प्रीति स्वाभाविक है। पत्नी प्रीति में भी **"मातृदेवो भव"**, **"पितृदेवो भव"**, **"आचार्यदेवो भव"** के समान ही **"स्वदारनिरतो भव"** इस विधि का संस्पर्श है, अतः वहाँ पर भी स्वारसिक प्रेम नहीं है। जहाँ स्वारसिक प्रेम है, वहाँ निषेध होता है। जैसे बहते जल में बाँध बाँधने से वेग उत्कट हो जाता है, वैसे ही स्वाभाविक प्रेम में निषेध या रुकावट डालने से वह भी उत्कट रूप धारण करता है। इसीलिये प्रेमियों ने कहा है—

"कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥"

अर्थात् हे नाथ! जैसे लोभी को धन और कामुक को कामिनी में प्रीति होती है, आपके श्रीचरणों में मुझे वैसी ही प्रीति होनी चाहिये।

लोक में उपाधि को लेकर होनेवाले प्रेम की यह दशा है। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त होने पर स्वाभाविक स्वान्तरात्मा चैतन्याभिन्न परमात्मा भगवान् में तो स्वाभाविक प्रेम ही अनन्त है, क्योंकि वहाँ तो भगवान् और प्रेम दोनों एक ही वस्तु हैं। परन्तु देहादि उपाधियों की विद्यमानता में इतना प्रेम उधर व्यक्त नहीं होता, इसीलिये अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र भी लौकिक रूप से भगवान् में प्रेम करते हैं—**"अस तव रूप बखानौं जानौं, फिरि फिरि सगुन रूप रति मानौं।"** यहाँ तक कहा जाता है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्तियोग का विधान करने के लिये ही अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य भगवान् सगुण होते हैं। परमहंसों को श्रीपरमहंस बनाना भगवान् का उद्देश्य है, क्योंकि उच्चकोटि का ज्ञान भी प्रेम के बिना सुशोभित नहीं होता—

"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥"

अच्युत प्रेम बिना नैष्कर्म्य-विज्ञान भी सुशोभित नहीं होता, फिर भगवच्चरणों में समर्पण किये बिना निष्काम कर्म भी कैसे शोभित होगा ?

"राम प्रेम बिनु सोह न ज्ञाना। कर्णधार बिनु जिमि जलयाना ॥"

"योग कुयोग ज्ञान अज्ञानू। जहाँ न राम प्रेम परधानू ॥"

इन दृष्टियों से ही ज्ञानी भी भगवान् में प्रेम चाहते हैं। कहीं-कहीं तो न चाहने पर भी भगवत्स्वरूप सौन्दर्य्य आदि से भगवान् में ज्ञानियों का मन मोहित हो जाता है। यही तो रागानुगा-प्रीति है, जिसके सम्पादन के लिये प्रयत्न अपेक्षित नहीं है वह हठात् उत्पन्न होती है। सर्वथापि व्यावृत्त बाह्यौत्सुक्य, वीतराग ज्ञानी श्रीभगवान् की ओर आकर्षित होकर आश्चर्य में कहते हैं—

"क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयं गते यद् ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत् परम्।

तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते ॥"

अर्थात् अभ्यास से क्रमेण पञ्चक्लेशों के क्षीण होने पर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न विशुद्ध ब्रह्मसुख की स्फूर्ति हुई थी, परन्तु मेरे उस अद्भुत सुख को व्यर्थ-सा बनाता हुआ यह आमोदभर नराकार श्यामल तत्त्व कौन है ?

इसी रागानुगा प्रीति को सम्पादन करने के लिये भगवान् अलौकिक होते हुए भी लौकिकवत्, अप्राकृत होते हुए भी प्राकृतवत्, अग्राह्य होते हुए भी ग्राह्यवत्, अदृश्य होते हुए भी दृश्यवत्, विश्व के जननी-जनक होकर भी पुत्रवत् होकर प्रकट होते हैं। किं बहुना पति, उपपति तक बनकर भी भगवान् भिन्न-भिन्न प्रीति को, विषय की ओर उन्मुख मन को विषयों से प्रत्यावर्तित करके अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। यद्यपि वे पतियों के भी पति, सबके परमपति हैं, तथापि निरतिशय परप्रेम के आस्पद बनने के लिये ब्रह्म व्रजाङ्गनाओं के उपपति होकर भी प्रकट होते हैं। इसीलिये प्राणियों का चित्त अलौकिक एवं वैध वस्तु में उतना नहीं खिंचता, जितना लौकिक एवं अवैध में। पर वे अवैध होते हुए भी परम वैध हैं, उपपति होते हुए भी परमपति हैं। लौकिक जार लोक-परलोक, धर्म-कर्म को जलानेवाला होता है, पर भगवान् औपपत्य बुद्धि से भी जाररूप से भी, भावुक के चित्त पर अभिव्यक्त होकर उसके पञ्चकोश, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीनों शरीरों को, कर्म-बन्धनों को, किं बहुना अविद्या, तत्कार्यात्मक जगत् को जलाकर भस्मसात् कर देते हैं, इसीलिये वे जार हैं। **"अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी। जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥"** अर्थात् निष्काम रागानुगा भक्ति एवं ज्ञान कोशों और कर्मों को जला देता है, जीवात्मा संसार से छूटकर भगवद्भाव को प्राप्त हो जाता है। किसी ने भगवान् से परिहास किया था कि हे व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र ! जो प्राणी आपका नवनीतचौर्य्य और व्रजयुवतीजनों में औपपत्य का प्रख्यापन करते हैं, आप उन्हें शीघ्रातिशीघ्र ही अपना रूप इसलिये प्रदान करते हैं कि वे हमारे रूप हो जायँगे,

तब हमारे इन कर्तव्यों का वर्णन न कर सकेंगे। अतः अपने कर्तव्यों को छिपाने के लिये ही नवनीत-चौरता और व्रजयुवतीजन-जारता को गानेवालों को आप निजरूप प्रदान करते हैं—

"प्रथयति नवमीतचौरतां ते व्रजयुवतीजनजारतां जनो यः।
वितरसि निजरूपमीश तस्मै स्वकृतधिया परिगोपनाय नूनम् ॥"

वस्तुतस्तु येन-केनापि प्रकारेण भगवान् में मन जोड़ते ही प्राणी को भगवद्भाव की प्राप्ति हो जाती है। जैसे चिन्तामणि को दीपक समझकर दीपकबुद्ध्या भी प्रवृत्त होनेपर चिन्तामणि की प्राप्ति होती है, वैसे ही प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान् ब्रह्म में औपपत्यबुद्ध्या प्रवृत्त होने पर भी प्राप्ति भगवान् की ही होती है। केवल रागानुगामिनी उत्कट प्रीति के लिये ही भावुक लोग लौकिक रूप में भगवान् को भजते हैं। ज्ञानी का भी प्रारब्धवशात् प्रत्युपस्थित लौकिक पदार्थों में जैसा चित्त स्वाभाविक रूप से प्रवृत्त होता है, वैसा प्रत्यगात्मा में नहीं। इसीलिये भगवान् की मधुर लीलाओं का प्राकट्य होता है। चापल्यपूर्ण बाल्य, पौगण्डादि अवस्थाओं की लीलाओं में हठात् चित्त खिंचता है। इस दृष्टि से अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को भक्तियोग का विधान करने के लिये ही भगवान् अचिन्त्य, सगुण, साकार, दिव्य श्रीराम-कृष्णादि रूप में प्रकट होते हैं।

•

भगवत्कथामृत

हम उस आनन्दकन्द, नन्दनन्दन, गोपिकावल्लभ, पूर्णब्रह्म, मङ्गलमूर्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के परमऋणी हैं, जो हमें सृजन कर हमारा पालन-पोषण कर रहे हैं। उनके मधुर मुखारविन्द, मनोहारी नेत्र, नासिका, अधर और मकराकृत कुण्डल सब-के-सब हमारे हृदयस्थल को पवित्र करने एवं प्रसन्नता देनेवाले हैं। पर शोक के साथ कहना पड़ता है कि हम आज उस नटवर गोपाल को -- अज्ञान सागर में अपने को डालकर—एकदम भूल गये हैं और उसकी मधुरमय लीलासुधा रसपान से अपने को दूर रखे हुए हैं। भावुकों का कहना है कि यदि सहस्रों शिर प्रदान कर देने पर भी उस महाप्रभु की लीला का वास्तविक ज्ञान हो जाय और उसका दर्शन हो, तो यह सौदा बहुत ही सस्ता है, इसे शीघ्र-से-शीघ्र खरीद लो। ऐसे अमूल्य सौदे को, जो हजारों शिर देने पर भी खरीद करने पर सस्ता पड़ता है, हम उपेक्षा की दृष्टि से देख रहे हैं। फिर, यदि हम सुख की अभिलाषा करें, तो क्या यह हमारी निरी धृष्टता नहीं है ? भगवदीय-लीलासुधा का आस्वादन वास्तव में जिन्होंने किया है, वे धन्य हैं और धन्य वे भी हैं जो इस लीला-सुधा के आस्वादन की उत्कृष्ट अभिलाषा रखे हुए हैं और तत्प्राप्त्यर्थ सचेष्ट हैं। संसार के नाना प्रकार के कल्मषों को दूर करने का इससे बढ़कर दूसरा उपाय ही क्या है ? इसके लिये विशेष परिश्रम की भी आवश्यकता नहीं है। भगवत्-लीला "**श्रवणेनैव मङ्गलम्**", केवल श्रवणमात्र से मङ्गल देनेवाली है, कल्याण साधक है, तीनों प्रकार के दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से मुक्तिदायक है। पर यह श्रवण, श्रद्धा और भक्ति के साथ होना चाहिये। यह नहीं कि एक कान से अमृतमय उपदेश सुना और दूसरे कान से निकाल दिया। अज्ञानजन्य मोह का सर्वथा परित्याग करके ही प्राणी इस लीला सुधा का मधुर पान कर सकता है। अज्ञानजन्य मोह से मन अस्थिर होता है। मन की अस्थिरता ही भय का कारण है और मन की अस्थिरता का कारण है सत्त्वगुण का अभाव। अतः ये दोनों लक्ष्यप्राप्ति में बाधक हैं। सत्त्वगुण की जिससे वृद्धि हो और रज, तम शान्त हों, वही प्रयत्न मनुष्य को करना चाहिये। फिर जहाँ, जिस दशा और जिस स्थान में हों, श्रीमानों द्वारा प्रसारित भगवदीय लीला-सुख का अनुभव हो सकता है। भगवान् के चरण निर्भय के स्थान हैं। इनकी प्राप्ति सत्कथा-श्रवण, मनन, निदिध्यासन और अहर्निश भगवद्भजन से होती है। "**श्रीमद्भागवत**" का एक श्लोक है—

"स वेद धातुः पदवीं परस्य दुरन्तवीर्यस्य रथाङ्गपाणेः।
योऽमायया संततयानुवृत्त्या भजेत तत्पादसरोजगन्धम्॥"

अर्थात् परमपिता, परमात्मा, अमित विक्रम, श्रीसुदर्शनचक्रधारी भगवान् के चरण उसीको प्राप्त होते हैं, जो निष्कपट होकर सतत भगवान् में अपने चित्त को लगाकर उनके चरण-कमलों का गन्ध सेवन करता है अर्थात् उन्हें भजता है। भवभय से पार करनेवाली नौका बस एकमात्र यही है। प्राणी द्वन्द्वधर्म से विवर्जित होकर अर्थात् संसार के राग-द्वेष, शोक-मोह आदि जितने कल्मष हैं, सबका त्याग कर भगवदीय लीला-सुधा-समास्वादन का अधिकारी हो सकता है। बाह्य विषयों के सुख से मलिन मतिवालों के लिये लीला-सुख नीरस ही लगता है। स्त्रीसमुपभोग-जन्य सौख्यतक इस लीलासुख के सामने कुछ नहीं है। वास्तविक सुख के स्वरूप को जिसने समझा है, उसपर जिसने विचार एवं मनन किया है, वही व्यक्ति यह बतला सकता है कि भगवदीय लीला के माधुर्य रस-सुस्वाद में क्या आनन्द आता है। अनभिज्ञ लोगों का तो कहना है कि ब्रह्म-सुख कुछ है ही नहीं, मरकर गधे आदि भी होकर ऐहिक सुख भोगना वे पसन्द करते हैं, पर निर्विषयक मोक्ष उन्हें पसन्द नहीं। ब्रह्मसुख किसी में नहीं है, यह एक हास्यास्पद बात है। अनभिज्ञ लोग अविद्या के कारण सौषुप्त सुख को ब्राह्मसुख से अधिक तो मानते हैं, पर यदि उनकी वह अविद्या हट जाय, उनका हृदयपटल बाह्यसौख्य वासना से वासित न हो, तो उन्हें मालूम हो कि ब्रह्मसुख से वास्तव में कितना आनन्द आता है। लोमड़ी को जब अंगूर बार-बार छलांगें भरने पर भी नहीं मिले, तो उसने झट कह दिया कि 'अंगूर तो खट्टे हैं'। इसी तरह ब्रह्मसुख का सुस्वाद जिन अनभिज्ञों को प्राप्त नहीं होता, वे ही कहते हैं कि इसमें कोई तत्त्व नहीं, कोई मजा नहीं।

वास्तव में ब्रह्मसुख बृहत्तम सुख है। सुसौख्य और परमानन्द की प्राप्ति ब्राह्मसुख के अनुभव से ही होती है। चैतन्यानन्दात्मकसौख्य मृत्युपरिगृहीत प्राणियों को प्राप्त करने का प्रयत्न सदैव करते रहना चाहिये, पर पहले कलुषित मति को विशुद्धातिविशुद्ध बनाना होगा, क्योंकि अमृतत्व की प्राप्ति की आशा अपनी मति को विमल बनाये बिना नहीं की जा सकती। भौतिक धनों का मोह त्यागकर पारमार्थिक धन का चिन्तन होगा। अन्तःकरण को सभी विकारों से रहित करना होगा। इसके बाद भगवदीय लीलाकथा-श्रवण में मन लगेगा और वही कथा-श्रवण सर्वस्व समर्पण करायेगा, ब्रह्मप्राप्ति करा देगा और नित्य, शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण, निर्विकार, निर्विशेष चैतन्यानन्दघन के माधुर्य को हमारे समक्ष पान के लिये उपस्थित करेगा। कथा श्रवणद्वारा कर्णरन्ध्र से भगवान् अन्तस्तल में प्रविष्ट होते हैं। पूर्णब्रह्म चैतन्यानन्द परमात्मा सबमें हैं। स्थावर-जङ्गम सभी प्राणियों में उनकी अवस्थिति है। पर हम सब जीव अज्ञान में पड़े हुए उनकी अवस्थिति को स्वीकार नहीं करते, इसलिये उनको समझने के लिये भगवदीय कथा-श्रवण का महर्षियों ने आदेश किया है। कथा का श्रवण भी करना चाहिये और उसे प्रदान भी करना चाहिये। दोनों हाथ

लड्डू हैं। इसका फल परोक्ष नहीं, साक्षात् होता है। कथा-श्रवण एवं उसका प्रदान साक्षात् सुख का प्रभाव दिखलाता है। पर, जिनका मन रजस्तमोलेश से अव्याप्त है, अन्तःकरण शुद्ध है, उन्हीं को हरि-कथा सुनने एवं सुनाने का अधिकार है, अन्यों को नहीं। विघ्नकारक तमोलेश सुसम्पादित मूढ़ता, रजोलेश सम्पादित घोरता से लीला-सुधासमास्वादन नहीं हो सकता। जिस पिपीलिका के मुख में लवणकण वर्तमान हैं, उसे भला मिसरी के माधुर्य्य का अनुभव कैसे हो सकता है? वैसे ही मन को घोर मूढ़तारूप लवणकण के रहते शुद्ध नहीं किया जा सकता और जब मन शुद्ध नहीं है, तब फिर भगवत्प्राप्ति कैसे हो सकती है? मनुष्य जब तक ऐहिक आमुष्मिक प्रपञ्च से विरक्त न हो, विविध प्रकार के बाह्य सुखों से मन को दूर न कर ले, तब तक उसे परमध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, भगवान् की मधुरतापूर्ण लीला का सुस्वादानुभव नहीं हो सकता। इस सुस्वादानुभव के लिये पूर्णश्रद्धा का होना अपेक्षित है। देखा-देखी नहीं कि चलो अमुक स्थान पर कथा हो रही है, मैं भी चलकर देखूँ क्या होता है। इस तरह से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। पूर्णश्रद्धा के होने से क्षणमात्र में ही भगवत्-प्राप्ति होती है। वर्णाश्रमधर्मानुसार वैदिक कर्म से हृदय को शुद्ध बनाकर अन्धकार-पूर्ण आवरण को हृदय-पटल से दूर कर दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य, माधुर्य का स्वाद लेने का प्रयत्न करना चाहिये।

भगवान् सबके परम प्रकाशक हैं। देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, जीव, अहङ्कार सबके वे प्रकाशक हैं। इनके प्रत्यक्ष के लिये आलोक की आवश्यकता नहीं है। जैसे सूर्य्य के प्रकाश को देखने के लिये दीपक की कोई जरूरत नहीं है, वैसे ही उसके प्रचण्ड प्रसरित प्रकाश को देखने के लिये आलोक अपेक्षित नहीं, वह तो प्रत्यक्ष है। जो उस प्रकाश को जानते हैं, वे कृतार्थ हो जाते हैं; जो नहीं जानते, वे अनेकानेक अनर्थ परिप्लुत होते हैं, दीन-दुःखी हो इतस्ततः भ्रमण करते रहते हैं। वे तो हम सबके अन्दर व्याप्त हैं, पर दुःख है कि हम जीव उसे देखने की चेष्टा नहीं करते और ठोकरें खाते फिरते हैं। घर में जैसे अपार सम्पत्ति गड़ी पड़ी हो, पर उसका पता न रहने से मनुष्य दुःखी होता है, पैसे-पैसे के लिये मुहताज रहता है, वैसी ही गति आज संसार के जीवों की हो रही है। अपने अन्दर वह प्रकाश वर्तमान है, पर उसे न देखकर वे अन्धेरे में पड़े भटक रहे हैं, माया के चक्कर में घूम रहे हैं। ज्ञानी ऐसी गलती कभी नहीं करते। पाशों का जो हनन करना चाहे, उसके लिये परम कर्तव्य है कि वह परमतत्त्व चैतन्यानन्दघन को देखे और जाने और इस भवसागर में अनन्तकाल तक पड़े न रहकर अपने को इससे मुक्त करे।

कर्म, भक्ति, ज्ञान तीनों का मुख्य साधन श्रवण ही बतलाया गया है। सभी कर्मकाण्ड का उपदेश वेद में है और वह वेद गुरुमुख से अधिकारानुसार यथाविधि श्रवण से ही प्राप्त किया जाना चाहिये। गुरुमुख द्वारा उच्चारित होने पर श्रवण किये

जाने के कारण ही वेद के अनुश्रव, श्रुति आदि नाम हैं। भक्तिमार्ग के पथिकों के लिये भी श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि नवविध भक्तिसाधनों या भक्ति में सर्वप्रथम श्रवण ही बतलाया गया है। भगवच्चरित्रश्रवण मात्र से सर्वान्तरनिवासी प्रभु की ओर समुद्र की ओर अभिमुख होनेवाले अखण्ड, निर्मल गङ्गा-प्रवाह की तरह निर्मल अन्तःकरण का भक्तिरूप अविच्छिन्न प्रवाह होता है—

"मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥"

ज्ञान में भी **"श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"** आदि वचनों द्वारा श्रवण की ही प्रधानता वर्णित है। **"सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति"** (सब वेद सर्वाश्रय भगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं) **"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥"** (वेद, रामायण, पुराण और महाभारत आदि समस्त शास्त्रों के आदि, मध्य और अन्त में सर्वत्र एकमात्र पापतापहारी भगवान् हरि के ही गुण, लीला आदि का गान है) इत्यादि वचनों से यही विदित होता है कि सभी शास्त्रों के एकमात्र प्रतिपाद्य भगवान् ही हैं।

प्राणीमात्र के लिये सर्वविध कल्याणकारक होने से भगवच्चरित्र-श्रवण में सभी का अधिकार है। भगवच्चरित्र का श्रवण एवं गान मुक्त मुमुक्षु तथा संसारी सभी का कर्तव्य है। निवृत्तेच्छ, निरीह मुक्तों के परप्रेमास्पद स्वात्मा होने से प्रभु भजनीय होते हैं, इसीलिये भजन-भक्ति के लिये मुक्त पुरुषों का भी शरीरधारण उपनिषद् ने बतलाया है, **"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भजन्ते।"** भवसागर को पार होने में एकमात्र साधन होने से मुमुक्षुओं के भी वे परमाश्रयणीय हैं और श्रोत्र, मन के आकर्षक होने से संसारियों के भी श्रोतव्य हैं। ऐसे सर्वश्रेयस्कर प्रभु के चरित्र, कथा का जो श्रवण नहीं करते, वे या तो आत्मघाती हैं या निरे जड़ काष्ठ हैं—

"निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधात् श्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥"

श्रवण, सङ्कीर्तन से श्रोत्र द्वारा श्रोता के मानसपङ्कज में प्रविष्ट होकर भगवान् उसके अशेष दोषों का वैसे ही शमन कर देते हैं, जैसे अन्धकार को सूर्य्य और तीव्र वायु घनावलि को। जिस कथा में भगवान् अधोक्षज का गुणानुवाद नहीं, वह असती, असत्कथा है अतः व्यर्थ ही वाणी का उपयोग है। जिस कथा में भगवान् के गुणों का वर्णन होता है, वही सत्य, मङ्गल, पुण्य, रम्य, रुचिर, नित्य नवनवायमान मन का महोत्सव रूप और शोकार्णव शोषण है। कोई वाक्प्रयोग चाहे कितना ही विचित्र शब्दावलि एवं अलङ्कारों से युक्त क्यों न हो, यदि जगत् को पवित्र करनेवाले भगवान् के मङ्गलमय यश से निबद्ध नहीं है, तो वह हंसतीर्थ नहीं, अपितु वायसतीर्थ है।

अतः विवेकियों का परम कर्तव्य है कि व्यक्तिगत रूप से प्रतिदिन नियमपूर्वक नियत समय में भगवान् की परम पवित्र कथाओं का आदर, श्रद्धापूर्वक श्रवण करे और अधिकारानुसार स्वयं भी दूसरों को सुनाये। प्रत्येक ग्रामों, मुहल्लों में किसी देव-मन्दिरादि में कम-से-कम महीने में दो-चार दिन भगवत्कथा का आयोजन होना परम आवश्यक है। इस मर्त्यलोक में भगवान् की कथा साक्षात् अमृत है, अनेक शोक-दुःख से सन्तप्त प्राणियों के ताप को अपहरण करने में समर्थ है, शुक-सनकादि परम विवेकी सत्पुरुषों से स्तुत है, सकल पाप-पङ्क का शोषण करनेवाली है, श्रवण-मात्र से मङ्गलप्रद है और व्यासादि महर्षियों द्वारा जगतीतल पर विस्तृत है, अतः सर्वार्थसाधक है। इसको श्रवण करानेवाले से बढ़कर अधिक दानकर्ता संसार में और कौन हो सकता है?

"तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥"

●

प्रभुकृपा

प्रभुकृपा के बिना प्रभु की दुस्तरा माया को तरना अत्यन्त असम्भव है। यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण प्राणी सर्वान्तरात्मा, सर्वाधिष्ठान भगवान् के अंश ही हैं। जैसे जल से तरङ्ग, अग्नि से विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ), महाकाश से घटाकाश, उदञ्चनाकाश आदि उद्गत (उत्पन्न) होते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण चेतन वर्ग की उत्पत्ति भगवान् से होती है। वस्तुतः अत्यन्त निरुपाधिक तत्व में वास्तविक अंशांशिभाव भी नहीं बन सकता, क्योंकि निरवयव, निरंश में अवयव एवं अंश की भावना सर्वथा असंभव है, तथापि जैसे अविकृत कौन्तेय (कर्ण) में भ्रम से ही राधासुत होने की भ्रान्ति हो गयी, वैसे ही प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, स्वप्रकाश चिद्रूप में ही भ्रम से जीवभाव भासित होता है। जैसे मायावी अपनी चमत्कारपूर्ण माया द्वारा निर्विकार रूप से स्थिर रहकर ही आकाश में कच्चे सूत्र की कुखरी (बण्डल) फेंककर शस्त्रास्त्र सुसज्जित वीर वेष में सूत्र के सहारे ऊपर चढ़ता है, चढ़ते-चढ़ते अदृश्य हो जाता है और फिर दैत्यों से युद्ध करता है, युद्ध करते-करते उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिर आदि अवयव पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, उसकी पत्नी उसे लेकर चितारोहण करके पति की सहगामिनी हो जाती है, यह सब घटना प्रत्यक्ष दिखायी देने के पश्चात् वह उसी तागे के सहारे फिर आकाश से उतरता हुआ दिखायी देता है, फिर भी वास्तविक मायावी अपनी माया से लोगों की दृष्टि से ओझल होकर जहाँ का तहाँ ही विराजमान रहता है, वैसे ही प्रत्यक् चिदात्मा भगवान् निर्विकार, कूटस्थ, एकरस रूप से सर्वदा स्वरूपस्थ होने पर भी समष्टि-व्यष्टि, स्थूल-सूक्ष्म, कारण जगत्, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था आदि प्रपञ्च फैलाकर उनपर विश्व-तैजस-प्राज्ञ, विराट-हिरण्यगर्भ-अव्याकृत-रूप में अनुभूयमान होता है, अनेक व्यवहारों में तल्लीन, तज्जन्य शोक-मोहादि उपद्रवों में फँसा हुआ दिखायी देता है, परन्तु फिर भी उसके स्वरूप में किञ्चित् भी विकार या हलचल नहीं होती। प्रपञ्च एवं प्रपञ्चरूप स्वरूप से पृथक्, असङ्ग, कूटस्थ स्वरूप सर्वदा एकरस ही रहता है। इसी देह में अन्तर्मुख होकर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहमर्थ आदि अतत् (अनात्मा) का अपोहन करते हुए यदि ढूँढ़े, तो उसके उपलब्ध होने में कठिनाई नहीं, परन्तु जैसे कोई घर में खोयी हुई वस्तु को वन में ढूँढ़े, वैसे ही बहिर्मुख प्राणी आन्तर वस्तु को—भीतर की खोयी वस्तु को—बाहर ढूँढ़ता है। विचार करने पर सर्व-भास्य दृश्य के भासक निर्विकार दृक्स्वरूप भानात्मक भासक के उपलम्भ में कार्य्यपरम्परा को परम कारण में और परम कारण को भी कार्य्यकारणातीत तत्व में विलीन या बाधित कर देनेपर अशेष विशेषातीत

वस्तु को पा लेने में कठिनाई नहीं है, तथापि भगवत्कृपा के बिना मिथ्या विश्व से अभिनिवेश नहीं छूटता—

"वदन्ति चैतत् कवयः स्म नश्वरं पश्यन्ति चाध्यात्मविदो विपश्चितः।
तथापि मुह्यन्ति तवाजमायया सुविस्मितं कृत्यमजं नतोऽस्मि तम् ॥"

अर्थात् क्रान्तदर्शी लोग विश्व को विनश्वर बतलाते हैं, अध्यात्मविद् विद्वान् विश्व की विनश्वरता का अनुभव भी करते हैं, तथापि आपकी माया से मोहित हो जाते हैं, ऐसे विस्मयजनक कृत्यवाले अज अव्ययात्मा आपको नमस्कार है। इस श्वान, शृगाल, गृध्र, काकादि पिशिगाशियों के भक्ष्य, अस्थि मांस चर्ममय पञ्जर, मूत्र-पुरीष-भाण्डागार, मायामय क्षणभंगुर, बुद्बुदोपम देह से उन्हीं लोगों की अहंता-ममता छूटती है और वे ही लोग दुस्तरा गुणमयी, माया को तर सकते हैं, जिन्होंने निष्कपटभाव से सर्वात्मना भगवान् के श्रीचरणों का सहारा लेकर उनकी दयादृष्टि को प्राप्त कर लिया है—

"येषां स एव भगवान् दययेदनन्तः सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्।
ते दुस्तरामिति तरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये ॥"

अन्यथा अविवेक, अज्ञान से प्रत्यक्ष सिद्ध करतलस्थित आमलक के समान अत्यन्त अपरोक्ष-सर्वात्मभाव भी परोक्ष या असत्कल्प हो जाता है और फिर प्राणी आध्यात्मिकता, आधिदैविकता को भूलकर केवल आधिभौतिक वैषयिक भोग-विलासों के किङ्कर बनकर आसक्ति, असन्तोष, विद्वेष आदि आसुर भावों से ग्रस्त होकर परस्पर एक दूसरे के संहारक बन जाते हैं। इसीलिये सन्तों ने सर्वदा ही भगवत्कृपा की प्रतीक्षा को मुख्य माना है, अपने और विश्व के कल्याण के लिये प्रभु में चित्त को—निष्काम मतिको—जोड़ना ही मुख्य पुरुषार्थ माना है। सम्पूर्ण प्राप्तव्य तत्वों की प्राप्ति इतने ही से सम्पन्न हो जाती है। भगवान् के श्रीचरणों में अहैतुकी मतिवाले नैष्ठिक भक्त सम्पूर्ण विश्व को, सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मवत् भगवत्स्वरूप ही देखते हैं। वे खलों का भी अहित न चाहकर हित ही चाहते हैं। उनके स्वार्थ-परमार्थ में अन्तर नहीं रह जाता। जब प्राणी आत्मसम्बन्धी पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, कलत्र, मित्र, क्षेत्र, वित आदि अत्यन्त अनात्मा को भी प्रेमास्पद बनाकर उनका हित चाहता है, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, प्राण आदि में अतिशय प्रेम करता है, तब फिर जब सम्पूर्ण जगत् एवं उसके प्राणियों को परमात्मस्वरूप निजात्म रूप ही समझ लेगा, तब उसका विश्व सुहृद् होना उचित ही है। श्रीप्रह्लादजी कहते हैं कि हे अधोक्षज! विश्व का कल्याण हो, खलों के मन में भी प्रसाद हो, उनकी भी उग्रता मिटे, प्राणी एक दूसरे का कल्याण चाहने लगे, मन अशास्त्रीय, अभद्र वस्तुओं का चिन्तन छोड़-कर भद्र चिन्तन में निरत हों, हम सबकी अहैतुकी मति आपमें प्रतिष्ठित हो

"स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी ॥"

गृह, पुत्र, वित्त, बन्धुओं में मेरा सङ्ग (आसक्ति) न हो, यदि सङ्ग हो, तो भगवत्प्रियों, सन्तों में ही हो। प्राणयात्रामात्र से सन्तुष्ट, अन्तर्मुख प्राणी अत्यन्त शीघ्रता से जिस सिद्धि को प्राप्त करता है, इन्द्रिय प्रिय प्राणियों को वह स्वप्न में भी सुलभ नहीं है। जिन हेतुओं से भगवान् में चित्त अनुरक्त हो, उन्हीं से विश्व का अपना लौकिक-पारलौकिक पुरुषार्थ सिद्ध होता है। श्रीहरि के चरणों में जिसकी भक्ति होती है, सम्पूर्ण देवता सर्वगुणों के साथ उसीमें आकर निवास करते हैं। जो हरि के अनुरागी नहीं, नाना मनोरथों से बाह्य विषय में भटकते हैं, उनमें कहाँ देवता, कहाँ गुण ?—

"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः ॥"

श्रीलक्ष्मीजी ने कहा है कि हे देव ! जो आपके श्रीचरणों की पूजा करती है, वही अखिल अभीष्टों और काम को चाहती है। जिस वस्तु को न पाकर दूसरी नारी भग्नयाच्ञा (याचना विफल होने से निराश) होकर संतप्त होती है, उसी अभीष्ट वस्तु को वह नारी अनायास ही प्राप्त कर लेती है, जो आपको चाहती और पूजती है—

"या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं निकामयेत्साखिलकामलम्पटा।
तदेव रासीप्सितमीप्सितोऽर्चितो यद्भग्नयाच्ञा भगवन् प्रतप्यते ॥"

हे मायेश ! हे देव ! मेरी प्राप्ति के लिये फलेच्छु देवता और असुर सभी लोग उग्रतप करते हैं, परन्तु आपके श्रीचरणपरायण हुए बिना कोई भी मुझे पा नहीं सकता, क्योंकि मैं तो सदा त्वद्धृदया ही हूँ, आपमें ही मेरा हृदय सदा रहता है, अतः आपको छोड़कर मैं कहीं क्षणभर के लिये भी नहीं जा सकती। ऐसी स्थिति में जिसके यहाँ आप हैं, वहाँ मेरा रहना अनायास ही सिद्ध हो जाता है

"मत्प्राप्तयेऽजेश सुरा सुरादयस्तप्यन्त उग्रस्ततप ऐन्द्रियेधियः।
ऋते भवत्पादपरायणान्न मां विन्दन्त्यहं त्वद्हृदया यतोऽजिता ॥"

इस तरह अनेकों प्रयोजनों की सिद्धि अभीष्ट हो, तो भी हरि का आश्रयण आवश्यक है। वस्तुतस्तु भगवान् प्राणिमात्र के अन्तरात्मा हैं, अतएव निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम के आस्पद हैं। जैसे झषों (मछली आदि) को जल अभीष्ट होता है, वैसे ही प्राणीमात्र को निरुपाधिक प्रेमास्पद-रूप से भगवान् इष्ट हैं—**"हरिर्हि साक्षाद्भगवान् शरीरिणामात्मा झषाणामिव तोयमीप्सितम्।"** सारांश यही है कि श्रीहरिकृपा से ही प्राणियों में शुभ भावनाओं की दृढ़ता होती है, शुभ भावनाओं के दृढ़ होने पर ही स्थिर विवेक, विज्ञान, प्राणिमात्र के प्रति भगवद्भाव जागृत होता है। यह भगवद्भाव उसी को प्राप्त होता है, जो भगवान् की शरण होता है। उनकी प्राप्ति में कोई शील, तोष, बुद्धि आदि हेतु नहीं। भगवान् के तोष का हेतु उच्चकुल जन्म,

सौभाग्य, मनोहर वाक्, दिव्य बुद्धि, सुन्दर आकृति आदि नहीं, क्योंकि इन सब गुणों से रहित भी बन्दरों को भगवान् ने अपना सखा बनाया।

"न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये वत लक्ष्मणाग्रजः॥"

श्रीहनुमानजी कहते हैं कि जब सर्वगुण विहीन बन्दर—जिसके नाम से रोटी मिलने में भी बाधा उपस्थित हो सकती है—उस सर्वविधहीन को भी सजल नयन होकर गुणग्राम सुनने से प्रभु ने अपना लिया, तब फिर औरों की तो बात ही क्या है?

"कहहु कवन मैं परमकुलीना। कपि चञ्चल सबही बिधि हीना॥
प्रात लेइ जो नाम हमारा। ता दिन ताहि न मिलै अहारा॥"
"अस मैं अधम सखा सुनु, मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुण, भरे बिलोचन नीर॥"

जो ऐसे प्रभु को समझ-बूझकर भी भूल जायँ, फिर वे क्यों न दुःखी हों—

"जानत हूँ अस स्वामि बिसारी, फिरते काहे न होंहि दुखारी।"

जो प्राणी मनुष्य शरीर पाकर भी भगवत्कृपासम्पादनपूर्वक भगवत्प्राप्ति के लिये भगवदाश्रयण नहीं करते, वे मायामय-प्रलोभनों में फँसकर बार-बार बन्दरों के समान बन्धन को प्राप्त होते हैं—

"प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसम्भृताम्।
न वै यतेरन्न पुनर्भवाय ते भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम्॥"

●

निर्बल का बल

हरएक श्रेणी के प्राणी को श्रीभगवान् का स्मरण एवं आराधन हर समय करना आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान् के मङ्गलमय परमपवित्र चरित्रादि के श्रवण-मनन के अधिकारी ज्ञानी-अज्ञानी, सिद्ध-साधक सभी हैं और सभी को उनके अनुरूप फल भी मिलता है। फिर वे उसे चाहें अथवा न चाहें। यद्यपि जो महापुरुष स्ववर्णाश्रम-धर्मानुसार भगवान् की आराधना द्वारा निर्मलान्तःकरण होकर वेदान्तों के श्रवण-मनन-निदिध्यासन एवं तत्वसाक्षात्कार से कृतार्थ हो चुके हैं, उन्हें किसी की भी अपेक्षा नहीं होती, न उन्हें कुछ करने से प्रयोजन है, न उनका किसीसे कुछ अर्थ हो है, बल्कि यदि उन्हें कुछ कर्त्तव्यबुद्धि हो तो उनकी तत्वज्ञता में भी संदेह किया जाता है—

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्ववित् ॥"

तथापि, भगवान् के भजन में उनकी स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। अतएव भगवान् के आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी इन चार भक्तों में ज्ञानी को सर्वश्रेष्ठ भक्त कहा है—"**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**" अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र-गण निर्ग्रन्थ होकर भी भगवान् में निष्काम भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान् में कोई अद्भुत आत्मागमचित्ताकर्षक लोकोत्तर गुण ही हैं—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥"

"जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरि गुण सुनत अघात न तेऊ।
आसा-बसन ब्यसन यह तिनहीं। रघुपति-चरित होहि तहँ सुनहीं ॥"

इतना ही नहीं, विशेषतः ऐसे ही तृष्णारहित महामुनीन्द्र ही भगवान् के गुणगान के अधिकारी ही माने गये हैं, क्योंकि जिसका मन निरन्तर भगवत्स्वरूपामृत-रसास्वादन में लगा रहता है, वही उस रस का वितरण कर सकता है। जिस समय राजर्षि परीक्षित ने ब्रह्मा के वत्सहरण-सम्बन्ध में कुछ पूछा, उस समय ब्रह्मर्षि शुकदेव का मन प्रश्न द्वारा हृदय में अभिव्यक्त भगवान् के स्वरूप-गुण-लीलारस में लीन हो गया। फिर बड़ी कठिनाई से जब घण्टा, शंख-निनाद आदि से वे सावधान किये गये तब कथा चली—

"इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणिस्तत्स्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः।
कृच्छ्रात्पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम् ॥"

वस्तुतः जैसे पात्र में भरपूर भरा हुआ रस वायु के आघात या उफान से बहिर्भूत होता है, वैसे ही भावुक के हृदय में अनुभूयमान भगवदीय रस प्रेमोद्रेक से उद्गीर्ण होकर कथासुधारूप में व्यक्त होता है। अतः वे ही चरित्र-वर्णन के मुख्य अधिकारी होते हैं—

"निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।
क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात्॥"

अर्थात् भगवान् का गुणानुवाद तृष्णाविरहित योगीन्द्रों द्वारा गाया जाता है और वह भवरोग का सर्वश्रेष्ठ महौषध है। साथ ही श्रोत्र और मन को आनन्द देनेवाला है, अर्थात् विमुक्त, मुमुक्षु और विषयी सभी भगवच्चरित्रसेवन के अधिकारी होते हैं—

"सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई, लहहिं भक्ति गति सम्पति नितई।"

अर्थात् भगवान् का चरित्र सुनने से विमुक्त को भक्ति, मुमुक्षु को गति और विषयी को सम्पत्ति मिलती है। इसके साथ-ही-साथ श्रवण और मन को प्रसन्नता भी मिलती है—

"विषयिन कहँ पुनि हरि-गुणग्रामा, श्रवनसुखद अरु मन बिश्रामा।"

पूर्णपरमात्मरति ब्रह्मनिष्ठ का भगवद्भजन स्वाभाविक कर्म हो जाता है—**"अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।"** अमानित्व, अदम्भित्व आदि गुणगण जैसे स्वभाव से ही ज्ञानी में होते हैं, वैसे ही भगवद्भजन, भगवत्परायणता भी ज्ञानी में स्वाभाविक होती है। इसके सिवा भगवत्कृपा से ही प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मतत्त्व में स्थिति होती है, अतः कृतघ्नता-निवृत्त्यर्थ भी ज्ञानी भगवान् को भजता है। सभी वेदान्ताचार्य्यों ने कहा है—

"यावज्जीवं त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ विद्याप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये॥"

अर्थात् ज्ञानी को यावज्जीवन वेदान्त, गुरु और ईश्वर की वन्दना करते रहना चाहिये। प्रथम ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिये इन सबका वन्दन होता है, पश्चात् कृतघ्नता दूर करने के लिये। विवेकियों ने ज्ञानी के लिये अभेदभाव से ब्रह्मात्मनिष्ठा या भेदभाव से भगवद्भक्ति को समान ही कहा है। जैसे प्रेयसी प्रेमोद्रेक में प्रियतम के वक्षःस्थल पर विहरण करे, अथवा सावधानी से पादयुग्म को परिचर्य्या करे, दोनों एक ही से हैं। तथापि जैसे चित्त मिल जाने पर भी चतुर नायिका अपने प्रियतम को घूँघट-पट की ओट से ही देखती है, वैसे ही भेदभाव के मिट जाने पर भी ज्ञानी भेदभाव से भगवान् को भजते हैं। पारमार्थिक तत्व जानकर, व्यावहारिक द्वैत को लेकर भगवान् की भक्ति मुक्ति से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है और भक्त्यर्थ भावित द्वैत अद्वैत से भी श्रेष्ठ होता है।

यह स्थिति लोकसंग्रहनिरपेक्ष पूर्ण परमात्मनिष्ठ विज्ञानी की है। परन्तु, लोकसंग्रही ज्ञानी को तो लौकिक, वैदिक, धार्मिक, नैतिक अनेक प्रकार के कर्म करने पड़ते हैं और उनमें अनेक प्रकार की विषम परिस्थितियों का भी अनुभव करना पड़ता है। अनेक प्रकार के तापों का भी योग उपस्थित होता है, अतः उन लोकसंग्रहियों को यह परम आवश्यक होता है कि वे विनश्वर विषम प्रपञ्च के भीतर सम अविनश्वर परमात्मतत्व का स्मरण रखें। लोककल्याणार्थ या आत्मकल्याणार्थ कार्य्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने पर सहस्रों दोषों के सञ्चार की सम्भावना होती है, इसलिये उन सबसे बचकर अव्याहत स्वरूपनिष्ठा बनाये रखने के लिये निरन्तर श्रीभगवान् की स्मृति परमावश्यक है। तीसरे हैं मुमुक्षु लोग, ये दो श्रेणी के हैं, एक तो मोक्ष की आकांक्षा से श्रीहरि के चरणपङ्कज में समर्पण-बुद्धि से स्वधर्मानुष्ठान करनेवाले एवं दूसरे शुद्धान्तःकरण हो जाने पर तीव्र विविदिषा से श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेवाले। इन दोनों ही श्रेणी के पुरुषों को निरन्तर भगवत्स्मृति परमावश्यक है। नैष्कर्म्य-तत्वज्ञान भी बिना श्रीहरि-प्रेम के शोभित नहीं होता, फिर कर्म चाहे निष्काम ही क्यों न हो, भगवच्चरणपङ्कज में बिना समर्पण किये वह शोभित नहीं होता—**"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्"**, **"राम-प्रेम बिनु सोह न ज्ञाना, कर्णधार बिनु जिमि जलयाना।"** **"सो सब कर्म धर्म जरि जाऊ, जहँ न रामपदपङ्कज भाऊ॥"** जो कर्म भगवत्समर्पण के लिये अनुष्ठित होंगे, उन कर्मों की शुद्धि पर ध्यान रहेगा, बुद्धिमान् भगवान् को अशुद्ध कर्मों का समर्पण न करेंगे। अतः यदि **"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्"**, **"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा"** इत्यादि भगवान् और भगवदीयों के कथनानुसार सभी कर्मों को भगवान् में समर्पण करने का नियम बनाया जायगा, तो लौकिक-वैदिक सभी कर्मों में शुद्धि रहेगी और हर एक कर्मों को करते समय भगवान् का स्मरण रखने से अन्तरात्मा को त्रिताप से तप्त न होना पड़ेगा। भगवद्भक्ति, भगवत्स्मृति की महिमा से शीघ्र ही भगवान् का साक्षात्कार भी हो सकेगा—**"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्वतः।"** भगवत्प्रेम से निर्मल एवं एकाग्र मन पर सहज ही में परमात्मस्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है। प्रापञ्चिक व्यवहार में आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक अनेक तापों से तप्त होना पड़ता है। परन्तु, जिनके हृदय में भगवान् की पदनखमणिचन्द्रिका की आभा रहती है, उन्हें वे ताप उसी तरह नहीं तपा सकते, जैसे शारदी चान्द्रमसी ज्योत्स्ना के विकसित होने पर सूर्य-ताप नहीं तपा सकता। जैसे साँप के विष से परिश्रान्त होकर नकुल विश्रान्ति के लिये अरण्य में जाकर विषघ्नी दिव्य महौषधियों का सेवन करता है, वैसे ही संसार-विष से व्याकुल होने पर संसारियों को भी सत्सङ्ग में जाकर भगवत्स्मृति का सेवन करना चाहिये। कहा जाता है कि भगवान् का स्मरण-भजन और लौकिक कर्म दोनों साथ कैसे बन सकते

हैं। परन्तु भगवान् तो और कार्य्यों की कौन कहे, सबसे विषम कर्म जो युद्ध है, उसको करते हुए भी भगवत्स्मृति को आवश्यक बतलाते हैं। कृषि, व्यापार आदि सभी कर्मों से युद्ध कठिन है, उसमें अस्त्र-शस्त्र की वर्षा होती है, उससे हर समय अपने मर्मों को बचाना, परच्छिद्रान्वेषण करना, अस्त्र-शस्त्र चलाना, शस्त्र-अस्त्रों के लगने पर व्यथाओं को भी सहन करना पड़ता है। परन्तु, भगवान् के मत से उस समय भी परमात्मस्मरण रखना परमावश्यक है।

"तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च।"

चौथी कोटि के वे पुरुष हैं जो निष्काम नहीं हैं, किन्तु आर्त्त और अर्थार्थी होकर आर्तिनिवृत्ति एवं अर्थ-प्राप्ति के लिये विविध प्रकार के लौकिक कर्मों में प्रयत्नशील होते हैं। उन्हें भी अपने प्रयत्नों की सफलता के लिये भगवान् का स्मरण-भजन करते रहना चाहिये, केवल अपने साधन-बल के गर्व में भगवान् को नहीं भूलना चाहिये। अतएव यद्यपि अर्जुन बौद्धबल, बाहुबल, सैनिकबल, धनबल आदि में सम्पन्न थे, तो भी उन्हें भगवत्स्मरण की आवश्यकता बतलायी गयी है। वस्तुतः जितना भी साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, शौर्य्य, वीर्य्य, ऐश्वर्य्य, अभ्युदय हैं, वह सभी धर्म और ईश्वराराधन का ही फल है। दरिद्रता, परतन्त्रता, आधि, व्याधि, शोक, सन्ताप आदि अनर्थ धर्म की उपेक्षा और ईश्वरविमुख होने का फल है। महा-महा शूरवीर एवं ऐश्वर्य्यवानों के चरित्रों पर ध्यान देने से विदित होगा कि उन्होंने धर्म और ईश्वर के सेवन से उच्चतम स्थिति प्राप्त की है। अतएव सुख एवं तत्साधनों की न्यूनाधिकता से उसके हेतुभूत पुण्य की न्यूनाधिकता की कल्पना होती है, दुःख और दुःखसाधनों के तारतम्य से उसके हेतु पाप के तारतम्य की कल्पना होती है। इस जन्म में भी धर्म और भगवान् का आश्रयण करके जो अभीष्ट फलसिद्धि के लिये प्रयत्नशील होते हैं, उन्हें बड़ी सुगमता से सफलता मिलती है—**"मामाश्रित्य यतन्ति ये।"** पाँचवीं कोटि के वे पुरुष हैं जो आर्त्त एवं अर्थार्थी तो हैं परन्तु आर्त्ति-निवृत्ति एवं अर्थप्राप्ति के लिये उनके पास कोई साधन नहीं है, उनके लिये भी एक भगवान् ही का सहारा रह जाता है—**"निर्बल के बल राम", "हारे को हरि-नाम।"** जब सर्वसाधन सम्पन्नों को भी साधनबल का दर्प छोड़कर श्रीभगवान् का सहारा लेना पड़ता है, तब साधनहीन किसकी शरण जायँ? निर्बल, निराश्रय पुरुष किसी आश्रय का अन्वेषण करता ही है, गिरते हुए पुरुष के हाथ-पैर स्वभाव से ही किसी आश्रय को पकड़ने के लिये प्रवृत होते हैं। बालक विपन्न एवं उपद्रुत होकर माता-पिता एवं बन्धु की ओर दौड़ता है, प्रजा राजा की ओर दौड़ती है, निर्बल बलवान् की ओर दौड़ता है। परन्तु, जहाँ इन किन्हीं का वश या सहारा नहीं है, वहाँ सिवा पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् सर्वान्तरात्मा के और किसका सहारा हो सकता है? वस्तुतः परमज्ञानी भगवत्परायण और इस साधनशून्य अर्थार्थी या आर्त्त की स्थिति समान ही है, उसके

भी सब कुछ भगवान् ही हैं और इसके भी सब कुछ भगवान् ही हैं। निरालम्ब निःसाधन आर्त्त एवं अर्थार्थी बड़े प्रेम और विश्वास से भगवान् को पुकारता है और भगवान् उसकी जल्दी ही सुनते भी हैं। प्रतिज्ञा भी उनकी यह है, एक बार भी जो प्रपन्न होता है, उसे मैं अभय देता हूँ—

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं हि मे॥"

हतभाग्य प्राणी को भगवान् के इस व्रत पर विश्वास नहीं होता, किन्तु साधारण राजाओं और उनकी झूठी प्रतिज्ञाओं पर विश्वास होता है। आर्त्त की आर्त्ति मिटाकर भगवान् उसे परम अभय देते हैं, कृतार्थ कर देते हैं। अर्थार्थी को भी अर्थप्रदान के बाद निष्काम, जिज्ञासु एवं ज्ञानी बनाकर तार देते हैं। विभीषण पहले अवश्य अर्थार्थी था। परन्तु, अन्त में तो पूर्ण परमार्थी हो गया। भगवान् का दर्शन करके उसने कहा था—

"उर कछु प्रथम वासना रही, प्रभु-पद-प्रीति सरित सो बही।
अब कृपालु निजभक्ति पावनी, देहु कृपा करि शिव-मनभावनी॥"

परन्तु, इन सब परिस्थितियों से भिन्न एक और भी छठी परिस्थिति उस प्राणी की है जो कृतकृत्य भी नहीं, निष्काम और विरक्त भी नहीं, आर्त-अर्थार्थी होकर भी निराश्रय एवं साधन-विहीन है और साथ ही भगवान् पर जिसे विश्वास भी नहीं है। परन्तु, यदि उसकी आन्तर भावना ऐसी हो कि भगवान् में हमारा विश्वास उत्पन्न हो और हम अपनी परिस्थितियों को समझकर भगवान् को पुकारें कि 'हे नाथ! आप ही ऐसी कृपा करो, जिससे हम आपपर विश्वास कर आपको पुकारें और आपको न भूलें और मैं ब्रह्म (भगवान्) का निराकरण (उपेक्षण) न करूँ।'—**"माहं ब्रह्म निराकुर्य्याम्।"** वस्तुतः भगवान् की कृपा से ही प्राणी विश्वास-पूर्वक भगवान् की शरण जाता है। श्री अक्रूरजी ने कहा है—"हे नाथ! आज मैं आपके श्रीचरणों के शरण आया हूँ, यह भी आपकी कृपा का ही फल है। जब प्राणियों की सांसारिक विपत्तियाँ मिटने को होती हैं, तभी सदुपासना से आपके श्रीचरणों में उनकी प्रीति होती है—

"सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये।
पुंसां भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया रतिः स्यात्॥"

सचमुच आज भारत की यही अन्तिम दशा है। न वह कृतकृत्य है, न निष्काम एवं विरक्त। वह आर्त्त एवं अर्थार्थी होकर भी आश्रय एवं साधनविहीन है। बौद्धबल, बाहुबल, सैनिकबल से रहित निःसहाय है। अवसर आने पर उसे लाठी भी रखने का अधिकार नहीं, सैनिक संघटन की कौन कहे, वह स्वयंसेवक-संघटन में भी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। अस्त्र-शस्त्रशून्य वह दूसरे राष्ट्रों से अपनी रक्षा के लिये सन्धि भी

नहीं कर सकता। संघटन के लिये प्रयत्न करते हुए भी पग-पग पर विघटन दृष्टिगोचर होता है। हिन्दू-मुसलमान के अतिरिक्त शैव-वैष्णव एवं वैष्णव-वैष्णव ही परस्पर कटकर मर सकते हैं। यदि कथञ्चित् धरना आदि अशास्त्रीय मार्ग से कुछ मिल भी जाय तो वह उसकी रक्षा भी नहीं कर सकता। इतने पर भी उसमें धर्म और भगवान् से विश्वास उठ चला है—

"ग्रहगृहीत पुनि वात-वश, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियावत वारुणी, कहहु कवन उपचार॥"

जहाँ अर्जुन ऐसे साधनसम्पन्न योद्धा के लिये भी **"सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर"** का आदेश था, वहाँ सर्वसाधनशून्य दशा में भी भगवान् का स्मरण नहीं होता, इससे अधिक इसकी शोचनीय दशा और क्या हो सकती है? अस्तु, उसके हितैषियों और उसको चाहिये कि वह भगवान् को पुकारें और प्रार्थना करें कि 'हे नाथ! हम सबको आपमें विश्वास और भक्ति दो, जिससे कि हम आपको पुकारें। हम सबको धर्मग्लानि-अधर्माभ्युत्थान मिटाकर परमकल्याणमूलभूत धर्म में प्रीति दो, जिससे सब तरह के अनर्थ मिटकर भारत फिर अभ्युदय एवं निःश्रेयस का भागी हो।'

●

करुणालहरी

पण्डितराज श्रीजगन्नाथजी की 'गङ्गालहरी' का नाम भला कौन नहीं जानता ? उन्हींकी एक अत्यन्त अद्भुत सरस कृति **'करुणालहरी'** है। उसीमें से कुछ सदुक्तियाँ यहाँ निदर्शित की जा रही हैं। एक पद्य में वे कहते हैं—भगवन् ! मैं तो नरकों की तरह-तरह की यातनाओं से परिचित हूँ, मेरी लज्जा भी विदा हो चुकी है, फिर दूसरों के द्वारों पर भटकने से मेरा क्या बिगड़ेगा ? परन्तु नाथ ! जरा आपको सूक्ष्म दृष्टि से विचारना चाहिये, जनता आपको क्या कहेगी ?—

"नितरां नरकेऽपि सीदतः किमु हीनं गलितत्रपस्य मे।
भगवन् कुरु सूक्ष्ममीक्षणं परतस्त्वां जनता किमालपेत् ॥"

नाथ ! यद्यपि नरकों में अपने कर्मों के ही परिणामस्वरूप मुझे बड़ी-बड़ी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, फिर भी यह बड़ी असह्य बात है कि देखनेवाले मुझे अनाथ कहते हैं। नाथ ! भवजाल बन्धन में तो नृग, गजेन्द्र आदि मेरे साथ ही बँधे थे। मेरी उपेक्षा करके उन्हें मुक्त करते हुए क्या आपके मन को करुणा नहीं द्रवित करती ? प्रभो ! आप बिना उपाधि (कारण) ही प्राणियों की विपत्तियों को दूर करते हो, यह जानकर ही मैंने पुण्यपुञ्जों की उपेक्षा की है। आपको पतित-पावन सुनकर ही मैंने अहर्निश पाप किया। फिर अब आप उपेक्षा करते हैं ? प्रभो ! मैंने पुण्य कभी नहीं किया, सब कुछ पाप ही किया है, फिर मैं अब आपसे कैसे क्या कहूँ ? नाथ ! आपके सामने ही मुझे मद, काम, मोह आदि अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। आपको क्या लज्जा नहीं लगती ? गढ़े में गिरते हुए शिशु को पथिक भी शीघ्रता के साथ बचा लेता है। नाथ ! आप तो जनक ही हैं, फिर भवार्णव में डूबते हुए को क्यों नहीं बचाते ?

"अपि गर्तमुखे गतः शिशुः पथिकेनाऽपि निवार्यते जवात्।
जनकेन पतन्भवार्णवे न निवार्यो भवता कथं विभो ॥"

हे सुकृतप्रिय ! यदि आप सुकृतियों को ही सुखद होकर मुझ पातकी का धारण न करोगे तो आपका विश्वम्भर नाम भी दुर्लभ हो जायगा। प्रभो ! यदि आप मेरे परुष (कठोर) वाक्यों से रुष्ट हो गये हों, तो मुझ मुखर और अपराधी को अपने संसार से निकाल दो। प्रभो ! पतित, दुर्गत एवं अकृतज्ञ कैसा भी क्यों न हो 'मैं आपका हूँ' ऐसा कहने मात्र से आपको लज्जा से ही उसपर दया करनी चाहिये। किसी पुण्य प्रकृति पर कृपा करने से कोई विशेष महत्व नहीं है। कृपानिधे !

यदि मुझ सरीखे पापियों पर कृपा की जाय तो आप ही सोचिये कितनी कीर्ति होगी ? जो बालक शैशवावस्था में लालित किया गया है, बड़ा होने पर उसीकी ताड़ना उचित है। परन्तु आपने तो मेरा कभी भी लालन नहीं किया। फिर मेरी ताड़ना क्यों ? अथवा भगवन् ! मेरा ही दोष है, मैं ही दूषित हूँ, व्यर्थ ही आपको उपालम्भ देता हूँ। जैसे रमणी के विरह ज्वर से ज्वलित कुमति प्राणी अमृतांशु की निन्दा करता है, वैसे ही मैं अपने ही दोष से आपको उपालम्भ देता हूँ। प्रभो ! मैं अत्यन्त नम्रता से पूछता हूँ जरा अच्छी तरह विचार कर इसका उत्तर मुझे दें। मैं क्या गजेन्द्र और गोवर्धन पर्वत से भी अधिकतर गुरु (भारी) हूँ, जो आप शीघ्रता से मेरा उद्धरण नहीं करते ?—

"नितरां विनयेन पृच्छयते सुविचार्योत्तरमत्र यच्छ मे।
करितो गिरितोऽप्यहं गुरुस्त्वरितो नोद्धरसे यदद्य माम् ॥"

प्रभो ! यद्यपि मैं अत्यन्त अधम और गुणहीन हूँ, तो भी दयानिधे ! मुझपर दया तो होनी ही चाहिये। दयामय ! विषमय अनल का वमन करनेवाले सर्पों को भी चन्दन अपने स्वभाव के अनुसार क्या आनन्दित नहीं करता ?—

"अयमत्यधमोऽपि निर्गुणे दयनीयो भवता दयानिधे।
वमतां फणिनां विषानलं किमु नानन्दयिता हि चन्दनः ॥"

हे हरे ! यद्यपि मुझ क्षुधातुर को प्रतिरथ्याओं (हरएक गलियों) में कण-कण के प्रतिग्रह में भी लज्जा नहीं है, तथापि हे निष्कलङ्क ! यह आपके लिये यशस्कर न होगा कि आपका होकर भी मैं दूसरों के दरवाजों पर भटकूँ ?—

"क्षुधितस्य न हि त्रपाऽस्ति मे प्रतिरथ्यं प्रतिगृह्णतः कणान्।
अकलङ्क ? यशस्करं न ते भवदीयोऽपि यदन्यमृच्छति ॥"

हे नाथ ! विषमविषसम्पृक्त अग्निमय तैल-परिपूर्ण कटाह के समान इस विषादभूमि भवसागर में पड़कर मुझे आत्मत्राण का कोई भी उपाय नहीं सूझता। हे विभो ! अब मैं सब ओर से हताश होकर अपने-आपको आपके श्रीचरणों में समर्पण करता हूँ। हे शरण्य ! इस भवानल ज्वाला से मेरी चेतना या विवेकबुद्धि विलुप्त हो गयी है। नाथ ! मैं अत्यन्त भयभीत होकर आपकी शरण आया हूँ, अतः मेरी उपेक्षा न होनी चाहिये। दयासुधाम्बुधे ! मेरी दयनीयता और अपने स्वरूप पर फिर से विचार करें और फिर जैसा चाहें वैसा करें—

"भवानलज्वालविलुप्तचेतनः शरण्य तेऽङ्घ्रि शरणं भयादयाम्।
विभाव्य भूयोऽपि दयासुधाम्बुधे विधेहि मे नाथ यथा यथेच्छसि ॥"

हे हरे ! वेद वाक्यों के भी अविषय पूर्णतम पुरुषोत्तम आप महेश्वर को छोड़-कर मेरी साध्वी मति निर्लज्ज होकर कैसे दूसरी ओर जा सकती है ? दयानिधे !

सभी से परित्यक्त, दुरवस्था को प्राप्त मुझ अतिदीन को देखकर भी आपने चित्त को क्यों कुलिश निष्ठुर बना लिया है ?

"अपि दीनतरं दयानिधे दुरवस्थं सकलैः समुज्झितम् ।
अधुनापि न मां निभालयन् भजसे हा कथमश्मचित्तताम् ॥"

हे नाथ ! अनन्त ब्रह्माण्डों को भी धारण करने से आपको श्रम नहीं होता तो मुझ परमाणु के धारण से आपको क्यों श्रम प्रतीत होता है ? नाथ ! मुझ क्षुद्र की यह कटूक्तियाँ आपको उसी तरह क्रोध न उत्पन्न करेंगी, जैसे कुपित एवं आतुर बालक के भाषितों से महाशय लोग क्षुब्ध नहीं होते । नाथ ! मैंने दुष्कृत नहीं किया, यह मैं नहीं कहता हूँ, किन्तु आपके पतितोद्धारक नाम ने मेरी भीति को नष्ट कर दिया है—

"न वदामि न दुष्कृतं मया कृतमित्युक्तिमिमां तु मे शृणु ।
मम भीतिमनीनशद्विभो पतितोद्धारक नाम तावकम् ॥"
"अपि शर्वपितामहादिभिर्भजनीयः पुरुषोत्तमो हि यः ।
तमुपालभमानमुद्धतं धिगिमं मां धिगिमां धियं मम ॥"

●

श्रीरामजन्म-रहस्य

जिस समय संसार में दुराचार, दुर्विचार का परितः प्रसार होने लगता है, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, धैर्य्य, न्याय आदि मानवोचित सद्गुणों का अपमान होने लगता है, दम्भ का ही साम्राज्य तथा वेद-शास्त्रोक्त वर्णाश्रम धर्म का विलोप होने लगता है, दैत्य-दानवों या दैत्यप्राय कुपुरुषों से धरा व्याकुल हो जाती है, सत्पुरुष तथा देवगण अनीति से उद्विग्न हो उठते हैं, उस समय सर्वपालक भगवान् किसी रूप में प्रकट होकर श्रुति-सेतु का पालन करते और अपने मनोहर, मंगलमय, परम पवित्र चरित्रों का विस्तार करके प्राणियों के लिये मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं।

अभिज्ञों का मत है कि यदि भगवान् का विशुद्ध, सत्त्वमय, परम मनोहर, मधुर स्वरूप प्रकट न होता तो अदृश्य, अग्राह्य, अव्यपदेश्य परब्रह्म के साक्षात्कार की बात ही जगत् से मिट जाती। भगवान् की मधुर मूर्ति एवं चरित्रों में मन के आसक्त हो जाने पर उसकी निर्मलता और एकाग्रता सहज में ही सिद्ध हो जाती है। निर्मल एवं एकाग्र चित्त ही भगवान् के अचिन्त्य रूप के चिन्तन में समर्थ होता है। जैसे अंजन द्वारा शुद्ध नेत्र से सूक्ष्म वस्तु का परिज्ञान सुगमता से हो जाता है, वैसे ही भगवच्चरित्र एवं उनके मधुर स्वरूप के परिशीलन से निर्मल होकर चित्त सूक्ष्म से सूक्ष्म भगवदीय रहस्यों को समझ लेता है।

इसके अतिरिक्त अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को प्रेमयोग-प्रदान करने के लिये भी प्रभु के लीला-विग्रह का आविर्भाव होता है। इन्हीं सब भावों को लेकर मधुमास के शुक्लपक्ष की नवमी को मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीभगवान् रामचन्द्र का जन्म हुआ।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक, भगवान् सर्वान्तरात्मा, सर्वशक्तिमान् की भ्रृकुटी के संकेतमात्र से उनकी मायाशक्ति विश्वप्रपञ्च का सर्जन, पालन तथा संहार करती है। जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) के सान्निध्य मे लौह में हलचल होती है, वैसे ही भगवान् के सान्निध्य मात्र से मायाशक्ति को चेतना प्राप्त होती है। जैसे झरोखों में सूर्य्य-किरणों के सहारे निरन्तर परिभ्रमण करते हुए अपरिगणित त्रसरेणु दिखाई देते हैं, वैसे ही प्रकृतिपारदृश्वा लोकोत्तरपुरुष-धौरेयों को भगवान् के सन्निधान में अनन्त विश्व दिखाई देते हैं—"**यत्सन्निधौ चुम्बकलोहवद्धि जगन्ति नित्यं परितो भ्रमन्ति॥**" भगवान् अपने पारमार्थिक रूप से निराकार, निर्विकार, निष्कल, निरीह, निर्गुण होते हुए भी मायाशक्ति-युक्तरूप से अनादिबद्ध, स्वांशभूत जीवों पर कृपा करके उनके कल्याणार्थ विश्व के सर्जन एवं संहारादि लीलाओं में प्रवृत्त होते हैं। मनीषी बड़े कुतूहल से सकल विरुद्ध धर्माश्रय भगवान् के इस कौतुक को देखकर कहते हैं—

"त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसंयमान्विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते, त्वदाश्रयत्वादुपचर्य्यते तथा ॥"

अर्थात्—हे नाथ ! विज्ञजन निर्गुण, निरीह, अविक्रिय से ही इस विविध-वैचित्र्योपेत विश्व की जन्म, स्थिति तथा संहार बतलाते हैं। भला जो निरीह तथा सर्वथा निष्क्रिय है वही निरन्तर चाञ्चल्यपूर्ण विश्व की सृष्टि करनेवाला—यह कैसे ?

परन्तु, भगवान् के ईश्वर तथा ब्रह्म इन दो रूपों में इन विरुद्ध धर्मों के सामञ्जस्य होने में कोई भी आपत्ति नहीं है। मायायुक्त ऐश्वररूप में विश्वनिर्माण के उपयुक्त निखिल क्रियाएँ हैं, परन्तु माया-रहित ब्रह्मरूप में निरी निरीहता एवं निष्क्रियता ही है। अर्थात् मायाशक्ति के सहारे होनेवाले समस्त व्यवहारों का मायाधिष्ठान, स्वप्रकाश, विशुद्ध ब्रह्म में उपचार होता है। अस्तु, वही व्यापक ब्रह्म निरञ्जन, निर्गुण, विगत-विनोद, भक्तप्रेमवश श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्ररूप में श्री कौशल्याम्बा के मङ्गलमय अङ्क में व्यक्त होता है।

निखिल ब्रह्माण्ड-मण्डल जिसके परतन्त्र है, वह मायापति भगवान्, भास्वती भगवती श्रीकृपादेवी के पराधीन है और वह अनुकम्पा महारानी भी दीनता के परतन्त्र हैं। भगवान् के यहाँ दोनों की खूब सुनवाई होती है।

"जगद्विभेयं ससुरासुरं ते भवान् विधेयो भगवन् कृपायाः ।
सा दीनताया नमतां विधेया ममास्त्ययत्नोपनतैव सेति ॥"

जो दीनता अन्यत्र अवहेलना की दृष्टि से देखी जाती है, वही भगवान् के यहाँ परमादरणीया है। शोक, मोह, जरा, मरण, आधि-व्याधि, दारिद्र्य-दुःखों से उत्पीड़ित प्राणियों के यहाँ दीनता की कमी नहीं है। उसीका दुखड़ा सर्वत्र गाया जाता है, परन्तु दुर्भाग्यवश वह गाया जाता है ऐसी जगह जहाँ कुछ मिलना-जुलना तो दूर रहा, फूटे मुँह से सहानुभूति का भी एक शब्द नहीं निकलता। वहाँ तो दीन को अवहेलनाओं का ही पात्र बनना पड़ता है। परन्तु 'दीनानाथ' होने के नाते भगवान् दीनता के ग्राहक हैं। उनके सामने दीनता प्रकट करने में तो कृपणता न होनी चाहिये। जैसे संघर्ष के द्वारा व्यापक अग्नि का सगुण साकार रूप में प्राकट्य होता है, किंवा शैत्य के सम्बन्ध से जल का ओला हो जाता है, वैसे ही प्रेमियों के प्रेम-प्राखर्य्य से विशुद्ध सत्वमयी श्री कौशल्याम्बा से पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् का प्राकट्य होता है। यज्ञपुरुष द्वारा समर्पित चरु के ही विभागानुसार भगवान् का ही श्रीराम, लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्नरूप में आविर्भाव होता है।

कुछ महानुभावों का मत है कि साङ्गोपाङ्ग शेषशायी भगवान् का आविर्भाव चार रूप में होता है। साक्षात् भगवान् श्रीरामरूप में और शेष, शंख, चक्र ये लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्नरूप में प्रकट होते हैं। आधे अंश में राम और आधे में लक्ष्मण प्रभृति तीनों भ्राता। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि सप्रपञ्च

ब्रह्म का भरतादि तीन रूप में प्राकट्य हुआ और निष्प्रपञ्च ब्रह्म का श्रीराम रूप में आविर्भाव हुआ।

प्रणव के 'अ' 'उ' 'म' इन तीन मात्राओं के वाच्य विराट्, हिरण्यगर्भ, अव्याकृत का शत्रुघ्न, लक्ष्मण तथा भरत रूप में और अर्द्धमात्रा का अर्थ तुरीयपाद या वाच्यवाचकातीत, सर्वाधिष्ठान परम तत्त्व का श्रीराम रूप में प्रादुर्भाव हुआ। निष्प्रपञ्च अर्द्धमात्रा का अर्थ तुरीय तत्त्व ही चरु के अर्द्ध अंश से और शेष तीन मात्राओं के अर्थ सप्रपञ्च तीनों तत्त्व चरु के अर्द्ध अंश से व्यक्त हुए हैं। प्रणव की जैसे साढ़े तीन मात्रा मानी गयी है, वैसे ही सोलह मात्रा भी मानी जाती है। **'अकारो वै सर्वा वाक्।'** समस्त वाक्यों का अन्तर्भाव अकार में ही होता है और समस्त वाक्यों का आविर्भाव प्रणव से ही होता है। अतः प्रणव में ही सोलह मात्रा की कल्पना करके उसके सोलह वाच्य स्थिर किये गये हैं। जाग्रत् अवस्था का अभिमानी व्यष्टि विश्व और समष्टि स्थूल प्रपञ्च का अभिमानी विराट् होता है। सूक्ष्म प्रपञ्च और स्वप्नावस्था का अभिमानी तैजस और हिरण्यगर्भ एवं कारण प्रपञ्च, सुषुप्ति अवस्था का अभिमानी प्राज्ञ और अव्याकृत होता है। इन सभी कल्पनाओं का अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म तुरीय तत्त्व होता है। फिर इन एक-एक में भी चार-चार भेद बतलाये गये हैं। जाग्रत् अवस्था में स्पष्ट विषयबोध 'जाग्रत् जाग्रत्' कहलाता है और जाग्रत् काल में मनोराज्यादि करते समय 'जाग्रत् स्वप्न' कहा जाता है। शोक, मोह या हर्ष-विशेष में शून्यता या स्तब्धता के समय 'जाग्रत् सुषुप्ति' एवं जाग्रत् काल में ही निष्प्रपञ्च ब्रह्म-दर्शन-काल में 'जाग्रत् तुरीय' कहा जाता है। इसी तरह स्वप्न में स्पष्ट व्यवहार 'स्वप्न जागर', स्वप्न में स्वप्न 'स्वप्न स्वप्न' और स्वप्न में सुषुप्ति 'स्वप्न सुषुप्ति' और स्वाप्निक ब्रह्मानूभूति 'स्वप्न तुरीय' है। सुषुप्ति में भी सात्त्विकी, राजसी और तामसी भेद से 'सुषुप्ति जागर', 'सुषुप्ति स्वप्न' और 'सुषुप्ति सुषुप्ति' होती है। निद्रा के प्रभाव से विश्व-विस्मरण-काल में अभ्यासियों को निष्प्रपञ्च ब्रह्म-दर्शन ही 'सुषुप्ति तुरीय' है। स्थूल प्रपञ्चभासक सर्वानुस्यूत (ओत) आत्मा 'तुरीय विराट्' है और सूक्ष्म प्रपञ्च-भासक 'अनुज्ञा आत्मा' तुरीय हिरण्यगर्भ है। इसी तरह कारण-भासक अनुज्ञाता आत्मा 'तुरीय अव्याकृत' है और सर्वभास्यादि प्रपञ्च-वर्जित अविकल्प आत्मा 'तुरीय तुरीय' है।

इस पक्ष में 'तुरीय विराट्' शत्रुघ्न, 'तुरीय हिरण्यगर्भ' लक्ष्मण, 'तुरीय अव्याकृत' भरत और 'तुरीय तुरीय' श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र रूप में प्रकट होते हैं और उनकी माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति, श्रीजनक-नन्दिनी रूप में प्रकट होती है। सर्वथाऽपि पूर्णतम पुरुषोत्तम वेदान्तवेद्य भगवान् का ही श्रीरामचन्द्र रूप में प्राकट्य होता है तभी तो उनके दर्शन, स्पर्शन, श्रवण, अनुगमन मात्र से प्राणियों की परमगति हो जाती है—

"स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा, संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोशलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः ॥"

जो परमतत्त्व विषय, करण, देवताओं तथा जीव को भी सत्ता स्फूर्ति-प्रदान करनेवाला है, वही श्रीरामचन्द्र रूप में प्रकट होता है।

"विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक सन एक सचेता ॥
सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवधपति सोई ॥"

समष्टि-व्यष्टि, स्थूल-सूक्ष्म, कारण समस्त प्रपञ्चमय क्षेत्र के कूटस्थ निर्विकार भासक ही राम हैं—"**जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू।**"

जिसके अनुग्रह से एवं जिसमें सब रमण करते हैं और जो सर्वान्तरात्मा रूप से सबमें रमण करता है वही मर्य्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र हैं। जिस आनन्दसिन्धु सुखराशि के एक तुषार से अनन्त ब्रह्माण्ड आनन्दित होता है वही जीवों के जीवन, प्राणों के प्राण, आनन्द के भी आनन्द भगवान् 'राम' हैं।

❁

श्रीरामचन्द्र का ध्यान

भावुकजन हृदयेश्वरी श्रीजनकनन्दिनी सहित श्रीरामचन्द्र का ध्यान करते हैं। अद्भुत अनन्त दिव्य दीप्तियों से शोभित, नवाम्बुद श्यामल अङ्ग मानो सनेहसाने सुषमाश्रृङ्गार सार-सर्वस्व से ही निर्मित हुए हैं। श्रीअङ्ग में एक-एक रोम के अपार सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य पर अनन्तकोटि कन्दर्प और अपरिगणित निर्मल अमृतमय निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र लज्जित होते हैं। श्रीरामचन्द्र सन्तों के हृदयकमल को प्रफुल्लित करनेवाले अलौकिक दिव्य सूर्य्य हैं। किंवा श्रीजनकनन्दिनी के हृदयस्थ पूर्णानुराग रससारसागर से समुद्भूत अद्भुत अलौकिक निष्कलङ्क पूर्णचन्द्र हैं। श्यामल तमाल-सरीखी अङ्ग की दिव्यदीप्ति है। किंवा श्यामामृतमहोदधिसारसमुद्भूत श्यामलमहोमय-चन्द्र के समान श्रीअङ्ग की कान्ति है। अथवा श्रृङ्गार-रस-सार-सरोवर-समुद्भूत श्यामलता गर्भित सुवर्णवर्ण पङ्कज के समान स्वरूप है। जैसे मयूर की नीलपीतमिश्रित विलक्षण छवि होती है, वैसे ही उससे भी शतकोटि गुणित आकर्षण चमकीली श्याम-लता और अद्भुत आकर्षण-गुण-सम्पन्नता प्रभु के श्रीअङ्ग में निहित है। किंवा जैसे वैदूर्यमणि की नील पीत हरित नानावर्णमिश्रित दीप्तिमयी छवि होती है वैसे ही प्रभु की मङ्गलमयी मूर्ति में अलक्ष्य और अवितर्क्य एवं अद्भुत श्यामल हरित पीत दीप्तियों का सामञ्जस्य है।

यह गौर तेज श्रीआह्लादिनी शक्तिरूपा प्रभु की प्राणेश्वरी का है और श्यामल तेज प्रभु का ही है। हरित तेज मानो दोनों तेजों के सम्मिश्रण से आविर्भूत हुआ है एवं महेन्द्रनीलमणि के जीवनधन नीलमणीन्द्र से भी शतकोटिगुणित अधिक अद्भुत श्यामल महोमयी प्रभु की श्रीमूर्ति में कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दन के विलिम्पन हैं।

श्यामल अङ्ग पर सूक्ष्म पीतिमा ऐसी शोभित होती है, जैसे दिव्य नीलमणीन्द्र पर शरदृतु के चन्द्रमा की शीतल सुकोमल अमृतमयी चन्द्रिका छिटकी हो। सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा से भरपूर प्रेमानन्दरस बरसनेवाले लोकोत्तर अभिनव नील नीरद से भी शतकोटिगुणित प्रभु के मङ्गलमय श्रीअङ्ग में सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य सुधा है, जिससे पारावारविहीन अलौकिक प्रेमानन्दामृत की वर्षा होती है। जब नीर प्रदान करनेवाले नव जलधर में दीप्तिमत्ता, विशिष्ट श्यामलता, गम्भीरता तथा तापापनोदकता है, तब फिर प्रभु के श्रीअङ्ग में अद्भुत आकर्षकता, अद्भुत श्याम-लता, गम्भीरता एवं तापापनोदकता का कहना ही क्या है।

भावुकों ने भगवान् को श्रृङ्गार-रससार-सागर आनन्द-रससार-सागर किंवा पूर्णानुराग-रससार-सागर से समुद्भूत निर्मल निष्कलङ्क लोकोत्तर चन्द्रमा कहा है।

भावुकों ने मधुरता के लिये अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत आनन्दबिन्दु के उद्गम-स्थान अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्द-सुधासार-सरोवर-समुद्भूत पङ्कज का उपमान युक्त कहा है क्योंकि जैसे क्षीर-सागर का पङ्कक्षीरसारनवनीत होता है, वैसे पूर्णानुराग-रस-सार सरोवर में पङ्क उसका सार ही होगा और पङ्कज उसका भी सार होगा। माधुर्य्याधिष्ठात्री प्रभु की हृदयेश्वरी के सम्बन्ध में महानुभावों ने कहा है कि यदि छविसुधापयोनिधि हो, उसमें निमग्न परमरूपमय कच्छप हो, एवं उसी परम रूप के आश्रित शृङ्गारमय मन्दर हो, शोभामयी रज्जु हो, और इन सामग्रियों से युक्त साक्षात् लोक-विलक्षण मन्मथ अपने करकमलों से मन्थन करे तो फिर उसमें से जो सुन्दरतासुखमूलमयी लक्ष्मी निकले वही कथञ्चित् प्रभु की हृदयेश्वरी का उपमान हो सकती है। अथवा सुषमा-कामधेनु से शृङ्गार-रससार दुग्ध को दुहकर कामदेव ने अपने दिव्य करकमलों से अमृतमय दही जमाया हो और उसे मन्थन करने पर जो नवनीत निकले उसीसे श्रीजनकनन्दिनी और श्रीरामचन्द्रजी को रचा गया है।

भाल पर सहस्रों सूर्यों की दिव्य दीप्तियों का तिरस्कार करनेवाला सुन्दर मुकुट शोभित हो रहा है। उसमें नाना प्रकार के नील, पीत, हरित परम प्रकाशमय मणि और मुक्ताएँ लगी हैं। मोतियों की मनोहर लड़ियाँ सुन्दर रूप में लटक रही हैं। ऊपर को स्निग्ध, सचिक्कण, श्यामल अलकावलियाँ मुकुट की दिव्यदीप्ति से वैदूर्य्य के समान नाना छवि से परिप्लुत हो रही हैं। कपोल प्रान्त के स्निग्ध श्यामल कुटिल कुन्तल अति दिव्य कुण्डलों की दीप्ति से देदीप्यमान हो रहे हैं। महानुभावों का कहना है कि प्रभु के अमृतमय मुखचन्द्र के समीप दोनों कुण्डल तथा दिव्य किरीट के नील और लाल रत्नों के साथ वे श्यामल स्निग्ध केश-समूह ऐसे शोभित होते हैं, जैसे अन्धकार-सार-समूह शुक्र, बृहस्पति एवं भौम और शनि को आगे लेकर चन्द्रमा से वैर मिटाकर मिलने चला हो। यहाँ दोनों कुण्डल शुक्र, बृहस्पति के समान, नील तथा रक्त रत्न शनि एवं मङ्गल के समान और केश अन्धकार-सार के समान हैं। मुख-चन्द्र की दिव्य द्युति से कुण्डल और मुकुट जगमगा रहे हैं। मुकुट तथा कुण्डलों को आभा मुखचन्द्र पर शोभित हो रही है। भुजमूल तक लम्बायमान मयूर के आकार-वाले कल्कुण्डल अद्भुत शोभा बढ़ा रहे हैं। कुण्डलों की आभा कुटिल कुन्तलों पर बड़ी सुहावनी लगती है, मानों दो कामदेव हर के डर से प्रभु के कानों में लगकर मेरु की बात कर रहे हैं।

अत्यन्त स्निग्ध, सचिक्कण, श्यामल अलकावलियाँ मुखचन्द्र पर ऐसी शोभित होती हैं जैसे नागों के छोटे-छोटे चमकीले श्यामल शिशु चन्द्रमा पर अमृत पाने के लोभ से विराज रहे हों। चञ्चलता के समय मानो नागशिशु चन्द्रमा से लड़ते हैं और स्थिरता के समय मानो सौन्दर्य-माधुर्य अमृत का पान करके लोटपोट हो रहे हैं। अथवा अमृतमय मुखचन्द्र और नयनकमल एवं अलकावली का सामञ्जस्य ऐसा सुन्दर

लगता है, मानो पूर्णचन्द्र के समक्ष कमलदल देखकर कौतुक से विपुल अलिवृन्द आ गये हों। किंवा नीलमणीन्द्रमय मुखचन्द्र में कमलदल सरीखे आयत नयनों को देखकर मानो आश्चर्य से अलकावली के छद्म से भ्रमरबृन्द आये हों। अथवा मानो भगवान् का मुख एक अद्भुत पद्म है जो पूर्वोक्त प्रकार से शृङ्गार, पूर्णानुराग या आनन्दसार सरोवर से उत्पन्न है। अथवा चन्द्रसार-सरोवर से उत्पन्न अद्भुत दीप्तिसम्पन्न लोकोत्तर नील कमल है जिसके सौन्दर्य-माधुर्यमय मादक मधुपान करने के लिये अलिकुल-माला अलकावली के व्याज से घेरे है। मानो मादक मधुर मधु का पान कर मत्त हुए भ्रमर गुञ्जार और चाञ्चल्य छोड़कर विभोर हो रहे हैं। किंवा यह अलकावली के छद्म से **"अलं अत्यर्थं ब्रह्मात्मकं सुखं येषां ते अलकाः"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार ब्रह्मविद् ही प्रभु के मुखपद्म के मादक माधुर्य-मधु का पान कर लोट-पोट हो रहे हैं।

मनोहर भाल पर सूर्य की दो दिव्य किरणों के समान किंवा विद्युत् की दो रेखाओं के समान कुंकुम-तिलक ऐसा शोभित होता है, मानो कामदेव ने भ्रुकुटिरूप मरकत धनुष को तानकर दो तेजोमय कनकशर तमःस्तोक के लिये संधान किये हों। कामधनुष को भी लजानेवाली दिव्य श्यामल स्निग्ध भ्रुकुटी बड़ी ही सुन्दर है। किञ्चित् अरुणिमा को लिये हुए नील कमलदल के सरीखे सुन्दर नयन कर्ण पर्यन्त शोभा दे रहे हैं। किञ्चित् अरुण और सित नयनों के कोने बड़े मनोहर हैं। उनकी अरुणिमा मानो भक्तों के मनोरथों को रचनेवाली रजोगुणात्मिका और स्वच्छता भक्तों के अभिलषित पदार्थों की रक्षा करनेवाली सत्त्वात्मिका माया है। शुकतुण्ड को लजानेवाली बड़ी ही सुन्दर नासिका है। मानो नासिका पर ही मनोहर मुकुट और अलक एवं भाल पर तिलक की शोभा आकर रुकी है। अति ललित गण्डमण्डल और विशाल भाल पर सुन्दर तिलक की झलक निराली ही है। मञ्जु मुख-मयङ्क पर सुन्दर भौंहें सुन्दर अङ्क के समान भासित होती हैं। वङ्क भौंहें और भाल में विराजमान मनोहर कुंकुमरेखा अद्भुत शोभा सरसा रही है।

नासिका में सुन्दर मौक्तिक की शोभा अद्भुत ही है। अति मनोहर पद्मकोष के समान मुख बन्धूकपुष्प, बिम्बाफल के समान अत्यन्त सुन्दर दीप्तिमत्ता विशिष्ट अरुण अधर और ओष्ठ शोभित होते हैं। दाडिमबीज एवं कुन्दकली के समान सुन्दर दन्तावली अत्यन्त मनोहर लगती है। स्वभाव से स्निग्ध और स्वच्छ दशनावली अधर तथा ओष्ठ की दिव्य अरुणिमा से अरुण हो रही है। जैसे अधर-ओष्ठ की अरुण दीप्ति से दशनावली में स्निग्ध अरुणिमा की आभा है, वैसे ही दशनावली की भी दिव्य स्निग्ध दीप्ति अधरों पर प्रकट हो रही है। अथवा जैसे अरुण पङ्कज-कोश में मोतियों की अतिसुन्दर देदीप्यमान पंक्ति शोभित हो, वैसे ही भगवान् के मुख पङ्कज में दशनावली की शोभा है। दोनों कपोल, चिबुक और भाल पर्यन्त समस्त मुख तो नीलमणीन्द्रमय चन्द्रमा, किंवा अद्भुत-दीप्ति-सम्पन्न श्यामल महोमय शृङ्गार-रससार-

सरोवर-समुद्भूत नील पङ्कज के समान है। परन्तु मुख्य मुख तो पूर्णानुराग-रससार-सरोवर-समुद्भूत सरोज ही है, क्योंकि उसमें अरुण दीप्ति का प्राधान्य है और अनुराग भी अरुण ही है।

अतः तत्सार-सरोज में अति अरुणिमा का सामञ्जस्य हो सकता है। पूर्णानुराग-रससार-सरोवर-समुद्भूत अरुण मुख-पङ्कज में ही वह अधर-सुधा है जो अन्तरङ्ग भावुक जनों के तथा प्रभु प्राणेश्वरी के निरतिशय निरुपाधिक राग का आस्पद है। अधर-ओष्ठ में तो यों ही अद्भुत सरसता, स्निग्धता एवं दीप्तिमत्ता-विशिष्ट अरुणिमा है, दूसरे वह भावुकों के राग से महानुराग-रस-रञ्जित हो उठती है। अधर की सूक्ष्म रेखाओं से ताम्बूल का कुछ चटकीला रस और ही शोभा दरसा रहा है।

बाल सूर्य की कोमल रश्मियों से अतसी-पुष्प में जैसे स्वच्छतायुक्त अद्भुत श्यामता है, उससे भी शतकोटिगुणित स्वच्छतायुक्त मधुरता श्रीभगवान् के अङ्ग की है। उसमें विकसित नील-कमल-कोश के समान कपोल बड़े ही सुडौल और गोल हैं। उनपर दिव्य मुक्तामणि रत्नों से जटित सुवर्ण मणिमय कुण्डलों की अद्भुत झलक विराजमान है। कुण्डलों और मुकुट की झलक से नाना प्रकार की दीप्तियों से युक्त स्निग्ध श्यामल कुन्तलों की भी आभा पड़ रही है। शोभा तथा छवि की सीमा चिबुक की चमकीली श्यामलता विलक्षण ही है। भावुकों ने तो कपोल और चिबुक पर कस्तूरिका और कुंकुम से मकरीपत्र और कल्पवृक्ष के मनोहर चित्र भी बनाये हैं, जो कि मन को बरबस खींच लेते हैं। अधर की मनोहर अरुणिमा से स्वच्छ मोती भी विद्रुम के समान प्रतीत होने लगता है। नयनों से निरीक्षण-काल में नयन-पुतरियों की दीप्ति से मोती गुञ्जा के समान प्रतीत होने लगता है। जब यह कुतूहल देखकर वे हँस देते हैं तब ब्रह्मस्मित चन्द्रिका के सम्पर्क से मोती हो जाता है। यह स्मित चन्द्रिका या उदार हास मानो हृदयस्थ अनुग्रह चन्द्र की ही अमृतमयी दिव्य दीप्ति है। इस उदार हास दिव्य कल चन्द्रिका से तो मानो नभोमण्डल धौत हो जाता है। सौगन्ध्य-लोभ से आये हुए भ्रमरवृन्द भी अपनी नीलिमा खोकर स्वच्छ रूप धारण कर बैठते हैं। उदार हास वक्षःस्थल पर हार के समान शोभायमान होता है। मनोहर मुखपङ्कज में स्मित चन्द्रिका और उदार हास ऐसे शोभित होते हैं, मानो किसी अद्भुत नील कुवलय में विलक्षण चन्द्रमा कभी छिपता है और कभी प्रकट होता है।

विशेष स्वाद की बात यह है कि अरुण अधर में मधुर बोलते समय दशनावली दामिनी के समान दमकती है। सुन्दर हास और मनोहर चितवन तो मन को लुभा लेती है। अरुण अधर के मध्य में स्निग्ध दशन-पंक्ति और मनोहर हास मनोहर लगता है, मानो विद्रुम के विमान पर सुर-मण्डली बैठकर फूल बरसा रही हो। अथवा

अरुणतर अधरों में मनोहर हासयुक्त दशन-पंक्ति ऐसी शोभित होती है, जैसे सुवर्ण के कमल में तड़ितों के साथ कुलिशों ने निवास किया हो।

कमलदल सरीखे दोनों नयनों में पुतलियाँ मधुकर के समान प्रतीत होती हैं। नासिका शुकतुण्ड के समान मानो लड़ती हुई धनुष की अवलियों में बचाव करने के लिये प्रकट हुई है। सुषमा के अयन नयन और कुञ्चित केश, कलकुण्डल और नासिका ऐसी सुहावनी लगती है, मानो चन्द्रबिम्ब के मध्य में कमल तथा मीन और खञ्जन को देखकर भ्रमर-मकर अपनी-अपनी गँव ताककर आये हों। शङ्ख के सदृश कण्ठ बड़े ही शोभित हो रहे हैं। निर्मल पीताम्बर ऐसे शोभित होते हैं मानो नवनील-नीरद पर दामिनी दमकती है। अथवा सुचन्दन-चर्चित श्यामल श्रीअङ्ग पर पीत दुकूल ऐसी छवि देता है, जैसे नील जलद पर चन्द्रिका की चमक देखकर दामिनी दमकती हो। अतः दामिनी को विनिन्दित करनेवाला सुन्दर पीताम्बर सुषमा-सदन मदन को भी मोहनेवाला सार-सर्वस्व सुन्दर पीताम्बर प्रभु के श्रीअङ्ग पर बड़ा ही सुहावना लगता है।

श्रीवक्षःस्थल पर मनोहर सुन्दर श्यामल तरुण तुलसीदल-माल सहित मुक्तावली ऐसी शोभित होती है, जैसे महेन्द्रमणि-शिखर पर हंस की पंक्तियों से युक्त श्रीरवि-नन्दिनी विराजमान हों। रुचिर उपवीत तथा अनेक प्रकार के मुक्ताओं की मालाएँ ऐसी मालूम पड़ती हैं जैसे इन्द्रधनुष नक्षत्रों के साथ तिमिर-राशि पर विराजमान हो। उसे देखकर अश्विनीकुमार, मदन, सोम सभी लज्जित होते हैं। भूषण तो ऐसे ज्ञात हो रहे हैं मानो तरुण शृङ्गारतरु सुन्दर फलों से भरपूर हों। अथवा कन्दर्प ही भूषण के छद्म से शोभासार सुधाजलनिधि श्री प्रभु के अङ्ग से शोभा लेने आये हों। पर वे लोभी लोभवश वहीं रह गये; जा न सके। प्रभु के श्रीअङ्ग पर रोम-रोम पर अनन्त-कोटि सोम और काम न्योछावर किये जा सकते हैं।

श्रीभगवान् की मनोहर भुजाएँ चमकीली और मनोहर श्यामता से युक्त हैं। उनमें कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दन का विलिम्पन है और नाना प्रकार के अङ्गद, कङ्कण, मुद्रिकाओं से भूषित हैं। कुछ भावुकों का कथन है कि श्रीभगवान् की भुजाएँ श्री जी के स्नेहरूप वरवेलिवेष्टित वटतरु हैं। प्रेमबन्ध ही वटवारि है। मञ्जुल मङ्गल मूल ही उसका मूल है। अँगुलियाँ मनोहर शाखाएँ, रोमावली ही पत्रावली, नख हो सुमन और सुजनों के अभीष्ट ही सुफल हैं। उसकी अविचल, अमल, अनामय, सान्द्र ललित छद्मरहित, शुभ छाया समस्त सन्ताप राग, मोह, मान, मद, माया को शमन करने-वाली है। पवित्र मुनि-भृङ्ग-विहङ्ग ही इसका सेवन करते हैं।

उर में सुन्दर भृगुचरण और श्रीवत्स तथा लक्ष्मी का सुन्दर चिह्न है। दक्षिण वक्षःस्थल में दक्षिणावर्त विसतन्तु के समान स्वच्छ स्निग्ध रोमों की राजि है। मध्य में भृगुचरण और वाम वक्षःस्थल में वामावर्त की सुवर्णवर्ण रोमों की राजि है। यही

दोनों रोम-राजियाँ श्रीवत्स और लक्ष्मी के चिह्न हैं। अनेक भूषणों से भूषित, प्रलम्ब, श्यामल, चमकीली भुजाएं पीताम्बरसंयुक्त होकर अद्भुत शोभा बढ़ा रही हैं। सुन्दर कौंधनी नितम्ब-बिम्ब पर ऐसी शोभित होती है, मानो कनककमल की अति सुहावनी पंक्ति मरकत-मणिशिखर के मध्य में जाकर विराजमान हो, अथवा मुखचन्द्र के भय से ऊपर न जाकर वही नमितमुख होकर विकस रही हो। अति गम्भीर नाभि-सरोवर यमुना-भँवर के समान है। उसके ऊपर की रेखाएँ बड़ी ही मनोहर हैं। दामिनी को लजानेवाले दिव्य पीताम्बर से समावृत चमकीले श्यामल जानु और ऊरु अद्भुत छविमय सम्पन्न हो रहे हैं। नाना मुक्तामणिगण-जटित नूपुर ऐसा सुहावना लगता है, मानो मधुमत्त अलिगण युगल चरणकमल को देखकर झूम रहे हों।

श्रीभगवान् के चरणपृष्ठ श्यामल, तल अरुण और नखश्रेणि कुछ स्वच्छ है। यह मानो यमुना, गङ्गा तथा सरस्वती का संगम है, जिसमें अंकुश, कुलिश, कमल, ध्वज आदि चिह्न ही सुन्दर भँवर तरङ्ग हैं। अथवा यह जो चक्र है वह मानो भक्त-जन के अरिषड्वर्ग को नाश करने के लिये है। कमल ध्यातृचित्त-द्विरेफ को मोहन के लिये है, ध्वज भक्तजन के सर्वानर्थनाशक वज्र है, वह भक्त के पापाद्रि-भेदनार्थ ही है। पार्ष्णिमध्य में जो अंकुश है, वह मानो भक्तचित्तेभ को वश करने के ही लिये है। कमलदल सरोखी अंगुलियों पर नखमणि-श्रेणी ऐसी शोभित होती है, मानो कमलदल पर अरुणिमा से रञ्जित तुषार के कण रञ्जित होते हैं। किंवा नखों में सुन्दर अरुण ज्योतिःसम्पन्न नख-श्रेणी ऐसी मनोहर लगती है, मानो कमल-दलों पर दश मङ्गल सुन्दर सभा बनाकर अचल होकर बैठे हों। उन्नत चरण-पृष्ठ कदली-स्तम्भ के समान, दोनों जङ्घा काम-तूणीर के समान सुहावने लगते हैं। इसी तरह भावुकों ने अनेक प्रकार से भगवान् श्रीरामचन्द्र के अद्भुत दिव्य रूप का वर्णन किया है।

•

श्रीकृष्ण-जन्म

'श्री गोपालचम्पू' में श्रीकृष्ण-जन्म का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के बाल्य-सुख के उपभोक्ता श्रीमत् नन्दराय कौन थे? 'गोप' शब्द से भी उनका व्यवहार होता है। **'सच्छूद्रौ गोपनापितौ'** इत्यादि वचनों के आधार पर कुछ लोग उन्हें शूद्र समझ सकते हैं। वैसे तो भगवान् का जहाँ ही प्राकट्य हो, वही कुल धन्य है, फिर कोई भी क्यों न हो। परन्तु 'श्री गोपालचम्पू' के रचयिता ने तो उन्हें क्षत्रिय से वैश्यकन्या में उत्पन्न, अतएव वैश्य माना है। वृष्णिवंश में भूषणस्वरूप देवमीढ़ मथुरापुरी में निवास करते थे। उनकी दो स्त्रियाँ थीं, एक वैश्य-कन्या और दूसरी क्षत्रिय-कन्या। क्षत्रिय-कन्या से शूर हुए, जिनके वसुदेवादि हुए और वैश्यकन्या से पर्ज्जन्य हुए। अनुलोम सङ्करों का वही वर्ण होता है, जो माता का होता है। इसी कारण पर्ज्जन्य ने वैश्यता का ही स्वीकार किया और गो-पालन में ही विशेष रूप से प्रवृत्त हुए, जो कि वैश्यजाति का प्रधान कर्म है, इसीलिए वे गोप भी कहे गये—

"वृष्णिवंशावतंसः श्रीदेवमीढ़नाम्ना परमगुणधामा मथुरामध्यास्यामास। तस्य भार्य्या द्वयमासीद्। प्रथमा द्वितीयवर्णा द्वितीया तृतीयवर्णा। तयोश्च क्रमेण शूरः पर्ज्जन्य इति पुत्रद्वयं बभूव। शूरस्य वसुदेवादयः समुदयन्ति स्म। श्रीमान् पर्ज्जन्यस्तु 'मातृवर्णवद्वर्णसङ्कर' इति न्यायेन वैश्यतामेवाविश्य गवामेवैश्यं वश्यं चकार।"

पर्ज्जन्य बड़े धर्मात्मा और ब्रह्म हरिपूजनपरायण थे। उनका मातृवंश वैश्य सर्वत्र विस्तीर्ण और प्रशंसनीय था, उनमें भी वैश्यविशेष आभीर वंश था। वैश्य की पुत्री में ब्राह्मण से उत्पन्न पुत्र 'अम्बष्ठ' होता है और अम्बष्ठ-कन्या में ब्राह्मण से उत्पन्न 'आभीर' होता है। यह आभीर वैश्य ही होता है। ऐसे ही वैश्यकुल की कन्या में देवमीढ़ क्षत्रिय से उत्पन्न पर्ज्जन्य वैश्य थे। यही गोपवंशरूप से कृष्ण-लीला में प्रख्यात हैं, अतएव इससे शूद्र गोप पृथक् है। यह तो वैश्य ही गो-पालन कर्म से गोप कहे गये। ब्रह्मा ने भी आभीरापरपर्याय गोप-कन्या को पत्नीत्वेन स्वीकार करके उसके साथ यज्ञ किया था। अतएव 'भागवत' में भी गर्गजी से नन्दजी ने कहा था कि इन दोनों पुत्रों का द्विजातिसंस्कार करो--**"कुरु द्विजातिसंस्कारम्।"** कृष्ण ने भी **"कृषिगोरक्षवाणिज्यं कुसीदं तुर्य्यमुच्यते। वार्त्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोऽनिशम्॥"** इत्यादि से अपने को गोवृत्त वैश्य कहा है।

पर्ज्जन्य के उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सन्नद् और नन्दन ये पांच पुत्र हुए। उनमें भी श्रीमन्नारायण सबके ही प्रेमास्पद थे। किसी सुमुखनामक प्रमुख गोप ने

श्रीमन्नन्दराय को परम धन्या, सुननेवालों, देखनेवालों, भक्तिवालों को यश देनेवाली यशोदा नाम्नी कन्या का प्रदान किया। पर्ज्जन्य ने मध्यम पुत्र नन्द को ही सर्व-सम्मति से राज्य दिया और सम्पूर्ण भाई मन्त्री आदि का कार्य करते थे। पाँचों भाइयों में कोई सन्तति न थो। पुत्रेष्टि यज्ञादि किये गये, अनेक प्रकार की भगवदाराधना होती रही। एक दिन श्रीमन्नन्दराय ने नन्दरानी से कहा—"मानिनि, मैं तुम्हारे अङ्क में दुग्धोद्गारी पयोधर पर क्रोड़ा करनेवाला श्यामवर्ण का चञ्चल, चारु, दीर्घ नेत्रोंवाला बालक स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ। क्या यह स्वप्न है या जागर? सहधर्मिणी! ठीक कहो, क्या तुम्हें भी वैसा ही प्रतीत होता है?"

"श्यामश्चञ्चलचारुदीर्घनयनो बालस्तवाङ्कस्थले।
दुग्धोद्गारि पयोधरे स्फुटमसौ क्रीडन् मयालोक्यते॥"

नन्दरानी ने कहा—"देव! मेरे भी मन में ऐसी ही बात आ रही है।" इसके अनन्तर दोनों ही ने अपनी मनोरथपूर्ति के लिये द्वादशी-व्रत प्रारम्भ किया। वर्ष पूर्ण होने पर समान काल में ही दोनों के सामने देवदेव का प्राकट्य हुआ और कहा कि "अहो! तुम व्रत से क्यों खिन्न हो रहे हो? जो अतसीकुसुम के समान सुषमासम्पन्न सुकुमार तुम दोनों के अनुभव में आता है, वह तुम्हारे सङ्कल्प का ही फल है।" ऐसा कहकर देव अन्तर्हित हुए। यथासमय दिव्य काल में, जिस समय जाति (जूही) के साथ माधवी, केतकी के साथ केतक, अम्बुजों के साथ कुमुद फूले थे, दिशाएँ प्रसन्न थीं, उसी समय सर्वाश्चर्य्यनिधि श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। ललित स्मित से नील कमलों के सम्राट् के समान बालक का मुख था। वस्तुतः वह स्वरूप ऐसा विचित्र था कि औरों की तो कौन कहे, वह अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् को ही आश्चर्य-सिन्धु या विस्मय में डालनेवाला था—

"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥"

भूषणों को भी विभूषित करनेवाले अङ्गों को मणिमय प्राङ्गण में प्रतिबिम्बित देखकर कृष्ण स्वयं मुग्ध होकर उससे मिलने के लिये उत्सुक हो उठते थे—

"रत्नस्थले जानुचरः कुमारः संक्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्।
आदातुकामस्तदलाभखेदाद्विलोक्य धात्रीवदनं रुरोद॥"

कुछ महानुभावों का कहना है, श्रीभगवान् का सम्बन्ध केवल प्रेम-निबन्धन ही है। तभी कहा है—"**भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः**" भगवान् केवल भक्ति से ही ग्राह्य होते हैं। जो जिस भाव से प्रभु को भजते हैं, प्रभु भी उन्हें वैसे ही प्राप्त होते हैं, अतः श्रीमन्नन्दराय एवं नन्दरानी के भावानुसार प्रभु वात्सल्य-प्रेमानुकूल उनको पुत्रता को प्राप्त हुए। श्रीवसुदेवजी को भी वात्सल्य-रस प्राप्त था, परन्तु सूतिका-गृह में ही भगवान् के ऐश्वर्य्यपूर्ण रूप को देखने से उनमें वात्सल्य-रस का उतना तारल्य नहीं रह

गया था, किन्तु श्रीमन्नन्दराय में सर्वदा समुद्बुद्ध अतएव सर्वदा ही शुद्ध वात्सल्य-रस रह गया था। वसुदेव और देवकी ने भगवान् को मन से ही पुत्रत्वेन धारण किया था, यह बात अग्रिम वचनों से ज्ञात होती है। **"आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः"** अर्थात् अंशभाग से भगवान् आनकदुन्दुभि के मन में प्रविष्ट हुए। **"दधार सर्वात्मकमात्मभूतं काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः।"** अर्थात् जैसे पूर्वा दिक् आनन्दकर चन्द्रमा को धारण करती है, वैसे ही देवकी ने मन से ही सर्वान्तरात्मा कृष्ण को धारण किया। जैसे वसुदेव-देवकी ने मन से ही कृष्ण को धारण किया था, वैसे ही श्री व्रजराज और व्रजरानी ने भी पुत्रत्वेन उन्हें धारण किया था। इसीलिये कहा जाता है कि माघ शुक्ल प्रतिपद् की सर्व-सुखसम्पन्न रजनी में श्री व्रजराज की सेवा करती हुई, यशोदा ने तन्द्रा में स्वप्न के समान कुछ चमत्कार देखा। जिस कुमार को पहले देखा था, वही किसी सर्वावरणकारिणी दिव्य कुमारी से अपने को आवृत करके व्रजराज के हृदय से निकलकर उनके हृदय में प्रविष्ट हुए। बालक हृदय में विराजमान हुआ और कन्या उदर में। वह उसी समय से नन्दरानी में गर्भ-लक्षण दिखलायी देने लगी। व्रजरानी में प्रस्फुरित होने से ही कृष्ण का लोक में भी वैसे ही स्फुरण हुआ, जैसे स्फटिक-घटी में रहनेवाला दीपक भीतर-बाहर सर्वत्र प्रकाश करता है—

"व्रजराज्ञ्यां स्फुरितात्मा कृष्णः स्फुरति स्म लोकेऽपि।
दीपः स्फटिकघटी भागन्तर्बहिरपि विभाति तत्तुल्यः॥"

यद्यपि नन्दरानी रसना-रस के जीतनेवाले धैर्य्य से युक्त और गाम्भीर्य्यादि गुणों में अत्यन्त प्रवीण थीं, फिर भी कृष्णावेश से तुलसी-संस्कृत घृत और सितायुक्त स्वच्छ परमान्नरूप दोहद की उन्हें इच्छा होने लगी। उधर योगमाया ने देवकी के साप्तमासिक गर्भ को आकर्षित करके रोहिणी में रख दिया। फिर रोहिणी ने श्रावण से पहले श्रवण नक्षत्र में गौर सुन्दर कुमार को उत्पन्न किया। जैसे पौर्णमासी पूर्ण चन्द्र को प्रकट करती है, सिंहवधू विक्रमी शावक को उत्पन्न करती है, वैसे ही रोहिणी ने बलराम को प्रकट किया। उस बालक के अङ्ग की कान्ति सूर्य्य की कान्ति को लज्जित करती थी, मुखकान्ति चन्द्रमा की कान्ति को लजानेवाली थी। महाप्रभावशाली वह बालक अन्य समय में अत्यन्त जड़-सा ही दिखायी देता था, परन्तु कृष्ण को गर्भ में धारण करनेवाली नन्दरानी जब उसको अपनी गोद में लेती थी, तभी बालक को विश्रान्ति और प्रसन्नता होती थी। अनन्तर, परम शुभ काल में कृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ। ललितस्मित नील कमल के समान मुख, सूक्ष्म भ्रमर से चित्रित कैरव-कोश के समान नेत्र, मधुर श्यामल तिल-प्रसून के समान नासिका, सिन्दूर-गिरि-समुद्भूत जवाकुसुम और बिम्बाफल के सदृश ओष्ठ और अधर थे। अञ्जनभूमि-समुद्भूत श्याम लता-पत्र के समान कान, नवपल्लवयुक्त नव तमाल-शाखा के समान दोनों ही श्रीहस्त, कोमल मृणालतन्तु सदृश रोमों की दक्षिणावर्तराजि से

लाञ्छित दक्षिण वक्षःस्थल और सुवर्णवर्ण रोमों की वामावर्त्तराजि से लाञ्छित वाम वक्षःस्थल, विद्युत् से आश्लिष्ट श्यामल मेघ-खण्ड के समान सुशोभित होता था। वह बालकृष्ण अपने मुख से महापद्म को, नयनों से पद्म को, नासिका से मकर को, स्मित से कुन्द को, कण्ठ से शंख को, चरणपृष्ठों से कच्छप को और दीप्ति से इन्द्रनील को जीतनेवाले थे।

इनका आविर्भाव स्नेहमयी स्फूर्त्ति-परम्परा के वशीकार से ही होता है, अन्यथा नहीं। पुत्र-रूप से आविर्भाव में पितृभावमय स्नेह ही बीज है। जहाँ भी कहीं पुत्रभाव से उनका प्रादुर्भाव होता है वहाँ तत्सम्बन्धमय स्नेह की स्फूर्ति ही मुख्य कारण है। व्रजराज आदि में शुद्ध समुद्‌बुद्ध वात्सल्य भाव था। श्रीदेवकी-वसुदेव के हृदय में वही चतुर्भुजरूप से थे, अतएव बाहर भी वैसे ही प्रकट हुए। श्रीव्रजराज-व्रजरानी के हृदय में द्विभुज ही स्वरूप था, अतएव बाहर भी उन्हें द्विभुज स्वरूप का ही उपलम्भ हुआ। जिस समय देवकी को कंस के भय से आविर्भूत चतुर्भुज रूप को आच्छादन करके द्विभुज रूप देखने की इच्छा हुई, उस समय श्रीयशोदा के यहाँ प्रकट द्विभुज स्वरूप ही वहाँ प्रकट होकर चतुर्भुज स्वरूप को अपने में लीन करके आविर्भूत हुआ। साकाररूप माता के गर्भ में स्थित रहकर भी निराकारतया योगमाया ऊर्ध्व गति से द्विभुज कृष्ण को देवकी के पास लायी। जैसे गन्धवाह नीलकमल-दल को लाये, वैसे ही सबसे अलक्षित होकर व माता को भी मोहित करके लायी और गर्भस्थ आकार से माता को प्रसूति का भ्रम ही पैदा करके अपने-आपको बाहर प्रकट करके शय्या पर स्थित रही। उसीने सङ्कर्षण हटाकर रोहिणी में प्रवेश कराया था। "**अथाहमंशभागेन**" का यही आशय है कि आकारभेद चतुर्भुज स्वरूप के साथ द्विभुज कृष्ण का अवतार होगा और वह आकारभेद द्विभुजाकार नन्दनन्दन में मिल जायगा। अनन्तर वसुदेवजी योगमाया के प्रभाव से सबके प्रसुप्त हो जाने पर उस बालक को लेकर श्रीनन्दराय के भवन में पहुँचे और नन्दरानी की शय्या पर उस बालक को पधारकर वहाँ से कन्या को उठा लाये। ईश्वरता-प्रत्यायक चतुर्भुज रूप से और उपदेश से भगवान् ने वसुदेव के यहाँ उत्पन्न होना तो व्यक्त कर दिया, परन्तु पुत्रता-सन्देह उत्पन्न किया, अतएव उन्हें अनेकों बार उनकी पुत्रता में सन्देह होता था। श्रीमन्नन्दरानी और नन्द के यहाँ तो द्विभुज रूप से और वचनादि शक्ति को व्यक्त करने से निःसन्देह पुत्रता को व्यक्त किया। आनकदुन्दुभि (वसुदेव) को इन बातों का कुछ भी अनुसन्धान नहीं हुआ। फिर भी श्रीनन्द की कन्या को ले जाकर उसे खो दिया, उसके बदले में कोई प्रतिदान नहीं दिया। ऐसी स्थिति में वे छोड़े हुए कृष्ण में अपनापन कैसे मान सकते थे ? आगमादिकों में भी नन्दनन्दन, नन्दात्मज आदि स्पष्ट पद आते हैं, जैसे "**तस्मान्नन्दात्मजोऽयन्ते**", "**पशुपाङ्गजाय**"।

फिर माया के उपरत होने पर नन्दरानी ने जागकर प्रत्यक्ष नीलोत्पल-दल-श्याम पुत्र को देखा—

"ददृशे च प्रबुद्धा सा यशोदा जातमात्मजम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ ॥"

बालक का दिव्यातिदिव्य इन्द्रनीलमणि के समान वपु और चन्द्र को जीतनेवाला परम मनोहर मुख था। लोकातीत कमल-दल के सदृश नेत्र और कल्पतरु-नव-पल्लव दलों के सदृश हाथ थे। हस्त-पादादि को कुछ चलाते हुए वह अपने मदु, मधुर क्रन्दन से विश्व को मोहित करता था। 'क्या यह श्यामल प्रकाशों का साम्राज्य या रूप-रत्नाकरों की निधि है, लावण्यभागियों का भाग्य—किंवा तत्तत् अङ्गावलियों का विलसित सिद्धान्त है' जब तक नन्दरानी यह विचार ही कर रही थीं, तब तक 'ओमोम्' इस तरह रोदन-व्याज से बालक ने उसको विकल्पपरम्परा को स्वीकार किया। प्रजात पुत्र को देखकर नन्दरानी सखियों को भी न बुला सकीं, फिर और चेष्टित होना तो दूर रहा। प्रेमाश्रुओं से आँखें मिच गयीं, कण्ठ गद्‌गद हो उठा, वपु स्तब्ध हो उठा, लालन की लालसा से आत्मा व्यग्र हो उठा। जब माया चली गयी, तब लोगों का मोह गया। पुरुषोत्तम के प्राकट्य में व्यवहित नरनारियों के भी मन वैसे ही विकसित हो उठे, जैसे चन्द्रोदय होते ही व्यवहित कुमुदिनियों के भो सुमन खिल उठते हैं। वह बालक केवल नन्दरानी की शय्या पर ही नहीं, अपितु स्निग्धाओं के स्वच्छ चित्तों में भी प्रतिबिम्ब के समान प्रस्फुरित हुआ, अतः वे स्वच्छ शीघ्र ही रोहिणी आदि के सङ्ग आकर बालक को वैसे देखने लगीं, जैसे समुदित होते ही चन्द्र को चकोरीगण देखता है। यशोदा यद्यपि प्रेम में स्तब्ध थीं, तथापि स्मेर नेत्रों से बालक को देख रही थीं। व्रजपुर-पुरन्ध्रीगण कल्पना करती हैं—क्या यह नवीन इन्दीवर महान् इन्द्रनील है किंवा वैदूर्य्य है ? अहो ! यह जो बाल का स्वरूप है, वह मानो मृगमद-सौरभ और तमाल-दल से बना हुआ है, अद्‌भुत लावण्य से अभ्यक्त है, निज देह के तेज से उद्वर्तित है, निज मुखनिर्गत कान्तिसुधा से स्नात है, सौन्दर्य्य से अनुलिप्त है, त्रैलोक्य-लक्ष्मी से समलंकृत है। चूर्णीभूत तम के समान इसके केश और चन्द्रबिम्ब के समान इसका मुख है। मानो सबका मन खींचने के लिये ही उसने मूँठी बाँध रखी है। यमुना-तरङ्ग के समान चरण-कमल को चलाते हुए उस बालक को देखकर सब बहुत ही प्रसन्न हुईं और कहने लगीं—"अहो ! इसे शिर पर रखें, नयन में रखें वा हृदय-मध्य में रखें।" बार-बार उस बालक को देखकर भी नहीं तृप्त होतीं। फिर धैर्य्य से किसी तरह उन्होंने स्नानादि कृत्य सम्पादित किया। श्रीमन्नन्दादि गोपों को कृष्ण-जन्म का समाचार जब प्राप्त हुआ, तब परमानन्द में सब विभोर हो गये। क्या भारत को वह शुभ दिन देखने का सौभाग्य पुनः प्राप्त होगा ?

भगवान् का मङ्गलमय स्वरूप

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के दिव्य मङ्गलमय विग्रह की तापहारिणो अपार-सौन्दर्यशालिनी कान्ति को चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। पर भगवान् का रूप-सौन्दर्य अप्राकृत होने से प्राकृत चन्द्र उपमान वहाँ ठीक नहीं घटता। तथापि लोक में सबसे अधिक पूर्णचन्द्र ही प्राणियों के मन को हरण करनेवाला है और प्राकृत जनों की दृष्टि में अन्य कोई अप्राकृत वस्तु नहीं आ सकती। इसलिये चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। पर एक चन्द्रमा से काम नहीं चलेगा। अनन्त कोटि चन्द्रों की कल्पना कीजिये और ऐसे अपार चन्द्रसागर का मन्थन करके जो सारातिसार तत्त्व निकले उस तत्त्व को पुनः मथकर उससे जो सारातिसार तत्त्व निकले, इस प्रकार शतधा मन्थन करके जो सारातिसार चन्द्रतत्त्व निकले, उस चन्द्र का उपमान भगवान् में है। यह चन्द्र का उपमान भगवान् की उस तापहारिणो शीतल ज्योत्स्ना में है। उनके दुर्निरीक्ष्य तेज का वर्णन गीता में हुआ ही है कि—

> "दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
> यदि भा सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥"

अस्तु, भगवान् की शान्तिदायिनी शीतल ज्योत्स्ना सारातिसार तत्त्वरूप चन्द्र के समान है। पर चन्द्र में कलंक है और चन्द्र क्षय-वृद्धिशील है। भगवान् की दिव्य ज्योत्स्ना अमृतमय सारातिसार चन्द्र-तत्त्व के समान है, वह निष्कलंक है, निर्विकार है, उससे भावुकों को प्रतिक्षणवर्धमान प्रेम प्राप्त होता है। वह ऐसा अद्भुत सौन्दर्य है कि उस सौन्दर्य-सुधा का एक कण भी जो पान कर लेता है उसकी पिपासा बढ़ती ही जाती है। जिसके नेत्र और मन भगवान् के एक रोम पर भी पड़े हों वे उस एक ही रोम के सौन्दर्य पर इतने मुग्ध हो जाते हैं कि वहाँ से वे आगे बढ़ ही नहीं सकते। चञ्चला लक्ष्मी भी वहाँ आकर अचला हो जाती है, फिर औरों की बात ही क्या है?

भगवान् के दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य में प्राकृत उपमान केवल इतना ही प्रयोजन सिद्ध करते हैं कि इनके द्वारा भगवत्सौन्दर्य का ध्यान करते-करते मन विशुद्ध हो जाता है और मन में जैसे-जैसे विशुद्धि आतो है वैसे-वैसे भगवान् का जैसा वास्तविक रूप है वह अचिन्त्य अप्राकृत मङ्गलमय दिव्यरूप भक्त के सामने प्रकट होने लगता है।

भगवान् में केवल चन्द्रमा का ही उपमान नहीं, कारण भगवान् घनश्याम भी हैं। पर यह प्राकृत श्याम नहीं। उनकी श्यामता में महेन्द्र नीलमणि की उपमा दो जाती है जिसमें दीप्तिमत्ता-विशिष्ट विलक्षण नीलिमा है। उस नीलिमा में ऐसी

दीप्ति है कि वह अनन्त कोटि चन्द्रों की सम्मिलित दीप्तिमत्ता को तिरस्कृत करती है। इस दिव्य दीप्ति-सम्पन्न भगवन्मूर्तिरूप नील कमल में ऐसी सुकोमलता है कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत सुकोमलता की मूर्ति श्रीलक्ष्मी भी उनके पाँव को स्पर्श करती हुई सकुचाती हैं कि हमारे हाथों की कठोरता इसके सुकोमल पाँवों को कष्ट-दायक न हो। अनन्तकोटि कमलों की सारातिसार कोमलता इस कोमलता के पास भी नहीं आने पाती। ऐसे शीतल, ऐसे सुन्दर, ऐसे सुकोमल भगवान् इतने गम्भीर हैं कि नवीन नीलधर की गम्भीरता अनन्तकोटिगुणित होकर भी उनका वास्तविक स्वरूप नहीं प्रकट कर सकती।

भगवान् का केवल मुख ही चन्द्रोपम है ऐसा नहीं, सर्वाङ्ग ही चन्द्रोपम है। वर्ण स्वभावतः कृष्ण है, दीप्ति से अकृष्ण है—नीलिमागर्भित दीप्तिमत्ता है। भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह श्याम होते हुए भी अनन्तकोटि चन्द्र की दीप्ति को तिरस्कृत करनेवाला है। महेन्द्रनीलमणि, नूतन नील नीरधर और नील सरोरुह की जो उपमाएँ दी गयी हैं उनसे बहुत से विवक्षित अंश सूचित होते हैं। महेन्द्रनीलमणि से दीप्तिमत्ता, चिक्कणता और दृढ़ता तथा नीलिमा सूचित होती है; नूतन नीलधर से नीलिमा, रस्यता, तापापनोदकता और गम्भीरता सूचित होती है; और नील सरोरुह से नीलिमा, सुकोमलता, शीतलता और सौगन्ध्य सूचित होता है। पर ये महेन्द्रनील-मणि आदि सब प्राकृत हैं। इनसे यथार्थ बोध नहीं होता। पर बोध के समीप पहुंचने के लिये अन्य कोई उपाय नहीं है। प्राकृत तत्त्वों से ही अप्राकृत की कल्पना कर लेनी है। इन सबसे अनन्तकोटिगुणित ये गुण भगवान् में हैं।

भगवान् को देखकर वृन्दावनवर्त्ती मयूरवृन्द घनश्याम को श्यामघन जानकर नृत्य करते हैं। भगवान् जो वंशी बजाते हैं वह मयूरवृन्दों के लिये मानो मन्द-मन्द मेघगर्जन ही है। पर मेघ दूर होते हैं और यह मेघश्याम बिलकुल समीप है। परिच्छिन्न होते हुए भी इस मेघ की गम्भीरता ऐसी है कि उनके किसी भी अङ्ग पर किसी के नेत्र पड़ जायँ तो वहीं उनकी टकटकी बँध जाय। आगे बढ़कर उनके सब अङ्गों को देखने की भला किसमें सामर्थ्य ? व्रजाङ्गनाएं कहती हैं कि भगवान् के एक-एक रोम के सौन्दर्य को देखने लिये यदि हमारे एक-एक रोम में कोटि-कोटि नेत्र होते तो देख सकतीं और तब कह सकतीं कि यह परिच्छिन्न हैं या अपरिच्छिन्न।

भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह की गम्भीरता अपार है। किसीमें उसे ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं। यह घनश्याम श्याम घन से विलक्षण घनश्याम हैं। श्याम घन में जो विद्युत् होता है, ऐसी अनन्तकोटि विद्युतों की सम्मिलित द्युति को तिरस्कृत करनेवाली इनकी कौशेयाम्बरदीप्ति है। श्याम घन जीवन (जल) दाता है तो मनमोहन भी जीवनदाता हैं। श्याम घन जल बरसता है परन्तु घनश्याम प्रेमामृत आनन्दामृत की वर्षा करते हैं। व्रजाङ्गनाओं को हृच्छयाग्नि से दह्यमान होने के

कारण श्यामघन की आवश्यकता थी। वेणुनिनाद से प्रेम-बीज बोया गया, पुलकावलि-रूप से वह अंकुरित हुआ पर वह हृच्छयाग्नि से जलने लगा, अश्रुधाराएँ बहकर उसे सिंचन करने लगीं पर उस उष्ण जलधारा से हृदय को वह शान्ति कहाँ से मिलती ? इसलिये उन्होंने जीवन-प्राप्ति के लिये इन नूतन नील जलधर श्यामघन की शरण ली।

भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह के सौन्दर्यादि गुणों की महिमा कैसे समझी जाय ? दिव्यातिदिव्य प्राकृत पदार्थों को असंख्यगुणोपेत करके अपना काम करते-करते चित्त शुद्ध होकर भगवदीय अनुकम्पा से वास्तविक स्वरूप का हृदय में प्राकट्य होता है।

बालसूर्य की सुकोमल किरणों से संस्पृष्ट अतसी-पुष्प की श्यामता दूर से दमदमाती हुई बड़ी ही मनोहर लगती है। इस मनोहर श्यामता को शतकोटिगुणित कल्पना करो तो कुछ वैसी श्यामता भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह की है। सायंकाल में भी अतसी-पुष्प की दीप्तियुक्त नीलिमा बड़ी मनोहर होती है। यह मनोहारिता शतकोटिगुणित होकर भगवान् की श्याम मनोहारिता की कुछ कल्पना करा सकती है। अथवा भ्रमर की श्यामता लीजिये। भ्रमर दूर से काला दीखता है, पर वह काला नहीं, उसमें बड़ी ही सुन्दर नीलिमा है। ऐसी मनोहर नीलिमा अन्य किसी प्राकृत पदार्थ में नहीं। व्रजाङ्गनाओं ने भगवान् की नीलिमा को मधुप की नीलिमा से ही उपमित किया है और कहा है—हे मधुप, तुम भी मधुपति की तरह बड़े कपटी हो। भ्रमर के पीले पङ्ख भी भगवान् के पीतपट का स्मरण दिलाते हैं और उसका मधुमय गुञ्जार भगवान् के मधुमय वेणुनिनाद का या उनके मीठे-मीठे वचनामृतों का स्मरण दिलाता है। भ्रमर जैसे जब तक रस है तभी तक ही पुष्पों से स्नेह रखता है, नहीं तो भाग जाता है, वैसे ही भगवान् भी रस के ग्राहक हैं, रस नहीं तो भगवान् से भेंट कहाँ ? अस्तु। भगवान् की श्यामता शतकोटिगुणित मधुप की श्यामता से तथा भगवान् की दीप्तिमत्ता चन्द्रसिन्धु के सारातिसार तत्त्व का मन्थन करके प्राप्त चन्द्रतत्त्व की दीप्ति से कथञ्चित् उपमित की जा सकती है। कल्पना से इस प्रकार भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह को पदाम्बुज से मुखाम्बुज तक अथवा मुखाम्बुज से पदाम्बुज तक देख जाइये। मनःकल्पित अनन्ततेजःपुञ्ज के भीतर अनुसन्धान कीजिये अथवा बालसूर्य में मन और दृष्टि को स्थिर करके देखिये।

भगवान् का श्रीमुखचन्द्र चन्द्रवत् वर्तुलाकार दिव्य विकसित अति विलक्षण अरविन्द है, चन्द्रमा के समान दीप्तिमान् वर्तुलाकार मुखारविन्द समुचित तारतम्य के साथ नतोन्नत भाव सहित है। इसकी मनोहारिता अत्यद्भुत है। चन्द्रवत् वर्तुलाकार विकसित सुकोमल मुखाम्बुज सारातिसार चन्द्रतत्त्व की दीप्ति और शतकोटिगुणोपेत भ्रमरनीलिमा से युक्त अति विलक्षण है। यह सम्मिलित समस्त मुखाम्बुज है। यह मन्दहासोपेत दिव्य मुखाम्बुज ऐसा शोभित होता है मानो दिव्यातिदिव्य

चन्द्रतत्त्व नील कमल में छिपना चाहता है—दुरता है और फिर-फिर प्रकट होता है। यह हास भगवान् के **'अनुग्रहाख्यहृत्स्थेन्दुसूचकस्मितचन्द्रिकः'** अनुग्रह नामक हृदयस्थ चन्द्र की चन्द्रिका है। अनुग्रहरूप चन्द्र की ये तापहारिणी किरणें खिन्नातिखिन्न भावुकों को समाश्वासन दिलाती हैं कि घबराओ मत, अनुग्रहाख्य चन्द्र का यहाँ निवास है। यह समाश्वासन—यह दिव्य आशा ही भावुकों को उनकी थकावट और खिन्नता को दूर करके आगे बढ़ाती है। आशाबन्ध ही भक्ति-मार्ग का मूल है। यह आशा—भगवत्सान्निध्य की यह तृष्णा—अद्भुत है, यह कैवल्य से खरीदी जाती है। भगवान् का उदार हास **'शोकाश्रुसारविशोषणमत्युदारम्'** शोकाश्रु-सागरों को सोख लेनेवाला है। बहुल हास जब मुखारविन्द में प्रादुर्भूत होता है तब वह 'हारहासः' हास हार के समान होता है—कुन्दकुड्मल के समान दशनपंक्ति दिव्यातिदिव्य महेन्द्रनील के सदृश वक्षःस्थल पर हारवत् प्रतिबिम्बित होती है। यह हारहास अरुणिमा-विशिष्ट है—स्वच्छातिस्वच्छ होता हुआ भी किञ्चित् अरुण है। यह अधर की अरुणिमा दन्तपंक्ति में प्रतिबिम्बित है—जैसे जवाकुसुम के सकाश से स्फटिक लोहित हुआ हो। यह अरुणिमा-विशिष्ट कुन्दकुड्मल के समान दशनपंक्तियुक्त हास्य दिव्य हार के समान शोभित होता है।

कपोल और चिबुक अपने दिव्य सौन्दर्य से मानो यही कह रहे हैं कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के सारातिसार सौन्दर्य का परमोद्गम-स्थान यही है। यही अचिन्त्य सौन्दर्यसुधानिधि है जिसका केवल एक कण अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड में विस्तीर्ण है। बालसूर्य की सुकोमल किरणों से संसृष्ट विकसित कमल का अग्रोर्ध्व-भाग जैसे स्वच्छतामय होता है वैसे कपोल और चिबुक पर इस नील विकसित मुखाम्बुज की दीप्तिमत्ता अन्य अङ्गों की अपेक्षा कुछ विशेष है।

नील कमल के केशर का सान्निध्य छोड़कर जो नीलिमायुक्त अंश हैं वे बालसूर्य की सुकोमल किरणों से संसृष्ट होकर अधिक दीप्त होते हैं, वैसे ही भगवान् के कपोल और चिबुक विशिष्ट दीप्तिमत्ता-सम्पन्न हैं। विशाल मस्तक पर शोभायमान दिव्य किरीट की जगमगाती हुई दिव्य कान्ति इन उन्नत अङ्गों पर—उच्च स्थल पाकर—अधिक मात्रा में अवतीर्ण और विस्तीर्ण हो रही है तथा वह सौन्दर्य-सुधा उभय कपोलप्रान्त से भी अधिक चिबुक पर आकर परम विकसित और मनोरम हुई है।

अरुण कमल के समान प्रभु के दिव्य नेत्रों के सम्बन्ध में ऐसा ध्यान है कि कपोलप्रान्त जैसे-जैसे नेत्रों के सन्निहित हैं वैसे-वैसे उनमें अधिकाधिक विशिष्ट दीप्तिमत्तायुक्त अरुणिमा है और कपोलाभिमुख नीचे की ओर क्रमशः दीप्तिविशिष्ट नीलिमा है और अरुणिमा की न्यूनता है। खास नेत्र अरुण हैं; यहाँ स्वच्छता और अरुणिमा मानो अरुणिमारूप रज से भगवान् अपने भावुकों के अभीष्ट का सृजन और स्वच्छतारूप

सत्त्व से पालन करते हैं। नेत्रों में स्वच्छता और अरुणिमा का ऐसा तारतम्य है कि अनुकम्पा, राग आदि मानस विकृतियों की जहाँ अभिव्यक्ति है वहाँ अरुणिमा अधिक होती है और जहाँ रागादिरहित प्रसन्नता है वहाँ स्वच्छता अधिक होती है। कोपादि तापक भावों से अरुणिमा की अधिक वृद्धि होती है। कोई अरुणिमा अग्नि सदृश है। व्रजाङ्गनाओं के स्वच्छातिस्वच्छ नेत्रों में जो अरुणिमा है, वह हृच्छयाग्नि की अरुणिमा है। उसीकी शान्ति के लिये वे भगवान् के नीलपादाम्बुज को नीलरज का अञ्जन लगाती हैं। भगवान् के नेत्रों में कमलकोश की-सी अरुणिमा है और उनके विशाल नेत्र कर्णप्रान्तपर्यन्त दीर्घ हैं। इनकी कल्पना भावुक ही कर सकते हैं। भगवान् के नेत्रों की अरुणिमा के साथ कमलकोशगत अरुणिमा का सादृश्य देखकर 'गोपीगीत' में ऐसी कल्पना की गयी है कि भगवान् मानो इस अरुणिमारूप दिव्यातिदिव्य श्री को दिव्यकमलों के सम्राट् के अभेद्य दुर्ग को भेदकर अति सुरक्षित अति गुप्त कोष से चुरा लाये हैं—

"शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा।
सुरतनाथ ! तेऽशुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वधः॥"

दिव्यातिदिव्य कमलसम्राट् को यह पूरी खबर थी कि ये चौर-जारशिखामणि एक-एक अङ्ग चोरी करनेवाले हैं। यह कहीं मेरी श्री न हर लें जो सर्वोत्कृष्ट है। इस भय से यह पंकजसम्राट् जल में जाकर रहे। पर जल में श्रीकृष्ण कहीं जलक्रीड़ा करने आ जायँ, इसलिये उन्होंने जल में भी ग्रीष्मऋतु को परित्याग करके शरन्निवास ही ग्रहण किया और इस शरत्कालीन जलाशय में भी अपने आपको छिपाने के लिये अपने चारों ओर अनन्त कमल उत्पन्न करके उनका पहरा बैठा दिया। इन कमल-सैनिकों की रक्षा के लिए प्रत्येक को शत-शत पत्र तथा नाल और नालों में काँटे देकर ऐसा जलदुर्ग निर्माण किया कि कहीं से भी कोई घुस न सके। फिर ऐसे अभेद्य दुर्ग के बीच चारों ओर से सुरक्षित स्थान में आप जा विराजे। फिर भी श्री को श्रीकृष्ण ले तो नहीं जायँगे, यह भय बना ही रहा। इसलिये उस श्री को उस पंकज-सम्राट् ने स्वयं चारों ओर से सुरक्षित होकर भी अपने कोश-स्वरूप उदर में छिपा रखा जैसे कोई कृपण अपने धन को छिपा रखता है। पर भगवान् ऐसे चतुर चौर-चक्रवर्ती कि उनके नेत्रारविन्द वहाँ से भी उस कमल-कुलपति की परम दुर्लभ सम्पत्ति को चुरा ही ले आये। यह चोरी भगवान् की इतनी अद्भुत और भावुकों के लिये इतनी मधुर है कि गोपियाँ बड़े प्रेम से इसके गीत गाती फिरती हैं। तभी तो भावुकों ने कहा है—**"मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्॥"** अस्तु, पद्मगर्भारुणेक्षण भगवान् के इन **'पद्मगर्भारुण'** नेत्रों में स्वच्छता और अरुणिमा का अद्भुत पारस्परिक सम्मेलन है। और नेत्रान्तःपाती जो तारक हैं वे श्याम हैं। इस प्रकार नेत्रारविन्द में त्रिवेणी सङ्गम हुआ है। यही सङ्गम कुछ विलक्षण रूप से नेत्रों की पलकों में भी हुआ है;

पलकें अत्यद्भुत दीप्तियुक्त नीलिमा लिये हुई हैं और किंचित् अरुणिमा का भी इनमें योग हुआ है। ऐसे दिव्य विशाल नेत्र कर्णप्रान्त तक विस्तीर्ण हैं।

दोनों नेत्रों के मध्य से नीचे की ओर ऊर्ध्वोन्मुख उन्नत दिव्य नासिका कीर-तुण्ड सी शोभा पा रही है, जिसकी दीप्ति दिव्य गण्ड-स्थल की-सी ही जगमगा रही है। नासिका में एक वर-मौक्तिक भी सुशोभित है। नासिका की दीप्तियुक्त नीलिमा होठों की विलक्षण अरुणिमा से मिलकर अति विलक्षण मनोहारित्व व्यक्त कर रही है। कुन्दकुड्मल की-सी दिव्य दशन-पंक्ति की स्वच्छता अरुण अधरों पर और अधरों की अरुणिमा दिव्य दशन-पंक्ति पर प्रतिबिम्ब होकर एक बड़े ही दिव्य आदान-प्रदान का भाव दिखा रही हैं। अधरों से बढ़कर शोभा और किसी की नहीं। सकल-सुधानिधि भगवान् की यह दिव्य अधरसुधा है। व्रजाङ्गनाओं का इसीपर सबसे अधिक प्रेम है।

यह पीतिमा दिव्य मकराकृत कुण्डलद्वय से आकर यहाँ झलक रही है। ये कुण्डल अद्भुत दीप्ति-सम्पन्न हैं और यह दीप्ति पीतिमा लिये हुई है। गोस्वामी तुलसीदासजी 'रामगीतावली' में भगवान् के चञ्चल कुण्डलद्वय की दीप्तिमत्ता, शोभा और चञ्चलता का वर्णन करते हैं कि ये दोनों कुण्डल शुक्र और गुरु से चमक रहे हैं। इनकी चञ्चलता यह बतलाती है कि ये भगवान् के मुखचन्द्र-रूप चन्द्रमा को मध्यस्थ करके कोई विलक्षण शास्त्रार्थ कर रहे कुण्डल अत्यधिक देदीप्यमान हैं और इनके सुवर्णशरीर में दिव्यातिदिव्य नानाविध रत्न जड़े हुए हैं। ये मकराकृति हैं—मानो मकरध्वज (काम) को लड़कर जीतने के लिये ही कुण्डलों ने यह आकार धारण किया है।

भगवान् का मधुरमन्दहासोपेत कटाक्षयुक्त दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द नेत्रवालों का परम सौख्यमय विश्राम-स्थान है। नन्दनन्दन श्रीवृन्दावनचन्द्र का यह मुखारविन्द भगवान् के वदनारविन्द का सौन्दर्य-सौन्दर्याधिकरण, यहाँ एक दूसरे से भिन्न नहीं। पर यह सौन्दर्य माधुर्यमय परम रस ही है। भगवान् का वक्षःस्थल साक्षात् श्री का निवास है, मुखारविन्द नेत्रवालों के नेत्रों का रससुधापानमात्र है, भुजाएँ लोकपालों के बल का आश्रयस्थान और पदाम्बुज सारतत्त्व के गानेवालों का परम राग है।

"श्रियो निवासो यस्योरः पानपात्रं मुखं दृशाम्।
बाहवो लोकपालानां सारंगानां पदाम्बुजम्॥"

भ्रुकुटी बंक है, नेत्रों में भी कुछ बंकपन है, वे तो मानो काम के धनुष ही हैं। दोनों भौंहों में नीलिमा की कुछ विशेष चमचमाहट है। कन्दर्प का दर्प दमन करने के लिये ही मानो यह धनुष सम्हाला है। कन्दर्प तो व्रजाङ्गनाओं का ही सौन्दर्य देखकर सम्मोहित हो धनुष-बाण छोड़ अचेत गिरा था, अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के मुखारविन्द तक उसकी पहुँच कहाँ ? भगवान् अधोक्षज के जो भावुक हैं उन्हीं के समीप कन्दर्प का कोई चारा नहीं चलता। वहाँ चराचर के चलानेवाले

चितचोर के सामने उसकी क्या चले—वहाँ तक तो वह पहुँच भी नहीं सकता। रास्ते में भावुकों से ही पछाड़ खाकर मूच्छित हो जाता है।

भगवान् के सुविस्तीर्ण ललाट में कुंकुम-कस्तूरी-मिश्रित चन्दन-तिलक की दो रेखाएँ ऐसी शोभा पा रही हैं जैसे विद्युत् की दो लकीरें अपनी चञ्चलता को त्यागकर ललाटमेघ में विराम कर रही हों।

भगवान् के दिव्य किरीट में नील, रक्त, शुभ्र, हरित आदि विविध वर्णों के नानाविध दिव्यातिदिव्य मणि जड़े हुए हैं, जिनकी सुसम्मिलित वर्णों की दिव्य अतिरंजित आभा, उस किरीट पर अर्द्धचन्द्रवत् विस्तीर्ण दिव्य मौक्तिमालाओं की अद्भुत दीप्ति और दिव्य ललाट की सुषमामयी नीलिमा ये सब दिव्यातिदिव्य आभाएँ मिलकर एक अति विलक्षण शोभा को प्रस्फुटित कर रही हैं। भगवान् के मस्तक और कपोलों पर स्निग्ध कुञ्चित नील अलकावली विलसित हो रही है। ये कृष्णकेश मानों दिव्यातिदिव्य चन्द्र के अमृत के लोभ से काले नाग के बच्चे हैं। यदि यह मुखचन्द्र मुखारविन्द हैं तो ये नीलकेश नील भ्रमर हैं, जो यहाँ दिव्यातिदिव्य सौन्दर्यमय मकरन्दपान की आशा लगाये मँडरा रहे हैं। ये दिव्य अलकें नित्यमुक्त सनकादि मुनिगण हैं जो भगवान् के दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य का यहाँ नित्य समास्वादन कर रहे हैं। किरीट के मुक्तामाल भी ऐसे ही मुक्त परमहंसों की परम पावन पंक्तियाँ हैं।

भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह के सारे ही तत्त्व दिव्य हैं, कोई भी प्राकृत नहीं। कुण्डल जैसे सांख्य और योग हैं, वनमाल जैसे मायातत्त्व है, पीतपट छन्द है, किरीट पारमेष्ठ्यपद है, मुक्ताफल मुक्त हैं। मुक्त पुरुष ही अलकें बनकर भगवान् की इस लीला में भगवदीय दिव्य अङ्ग बने हैं। ये अलकें जो मुख पर आ-आकर लौटती और फिर आती हैं, ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे भ्रमर इस दिव्य मुखारविन्द के सौरभ से खिचे चले आते हैं, पर पास आकर उसके दिव्यातिदिव्य तेज को न सहकर लौट जाते हैं, पर मुखारविन्द का ऐसा विलक्षण आकर्षण है कि फिर फिरकर फिर खिंचे ही चले आते हैं। ये काले भ्रमर जब मकरन्दपान के लोभ से अरुण अधरों के समीप आते हैं, तब उनकी श्यामता पीछे ही छूट जाती है और अधरों की अरुणिमा का रङ्ग इनपर चढ़ जाता है। ये लाल से हो जाते हैं और ये ही जब गण्डस्थल के समीप आते हैं तब नील हो जाते हैं। मन्दस्मित चन्द्रिका से इनमें स्वच्छता भी आ जाती है।

ऐसी यह विलक्षण मुखछवि है कि गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में कहें तो **'कहि न जात मुख बानी।'** अधरों में अरुणिमा, दिव्य नासिका और गण्डस्थल की दिव्यातिदिव्य दीप्तिविशिष्ट नीलिमा और नानाविध भूषणों और कुण्डलों की पीतारुण जगमग ज्योति से ये कुन्तल अति विलक्षण सुरञ्जित दीप्ति का प्रकाश

करते हैं। ऐसे इन दिव्य नील अलकों पर वृन्दारण्यधाम की गो-चारण-लीला में उठी हुई गोधूलि आकर ऐसे जमी हुई है जैसे नीलकमल का यह पराग हो। ऐसे इस परागक्षुरित अलिकुलमालासंकुलित मुखारविन्द पर स्वेदबिन्दु प्रसन्न तुषार-बिन्दुओं के समान या दिव्यातिदिव्य मोतियों के समान सुशोभित हो रहे हैं।

ऐसे दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द के भालदेश में विद्युत् की लकीरों-सा जो दिव्य तिलक है वह नीचे की दोनों भौंहों की कमानों से छूटनेवाले जैसे दिव्य वाण हों। महालक्ष्मी जिस पद्म में निवास करती हैं उस मीनद्वययुक्त अलिकुल-समाश्रित दिव्य पद्म को तिरस्कृत करनेवाला यह दिव्यातिदिव्य मुखारविन्द है।

भगवान् के कर्ण अति देदीप्यमान नीलवर्ण के हैं जिनमें नीचे दिव्य कुण्डल लटक रहे हैं। भगवान् के स्कन्ध सिंह के समान विशाल हैं। सुन्दर दिव्य कण्ठ कम्बुरेखा से युक्त है और उसमें आत्मज्योति-स्वरूप कौस्तुभमणि ऐसी शोभा पा रहा है जैसे सारी शोभाओं का यहीं से उद्‌गम होता हो। कण्ठ में फिर दिव्य मौक्तिक-माल और नीलपीत रत्नहार पड़ा हुआ है। नानाविध रत्नजटित मुक्ताहार तथा वन्य पुष्पमालाएँ हैं। कोई कण्ठ में कण्ठकूप तक हैं, कोई वक्षःस्थल तक हैं, कोई उदर और कटिप्रान्त तक हैं और कोई पादाम्बुज तक हैं। बड़ी ही विलक्षण शोभा का यह बड़ा ही सुन्दर कौशलपूर्ण क्रम है। ये मौक्तिकमाल कण्ठ से पादाम्बुज तक इस दिव्य मङ्गलमय विग्रह पर ऐसे सोह रहे हैं जैसे महेन्द्रनीलमणिपर्वत पर गङ्गा की दिव्य निर्मल धारा हो। अथवा ये मुक्तामाल ऐसे सुशोभित हैं जैसे नील आकाश में हंसों की पंक्तियाँ उड़ी जाती हों। नील आकाश में उडुगणों के समान भगवान् के वक्षःस्थल पर यह रत्न अत्यन्त शोभित होते हैं; मध्य-मध्य में महामणियाँ अनेक चन्द्रमा तथा सूर्य के समान दीप्यमान होती हैं।

दिव्य दीप्त नीलवर्ण पर ये नानाविध मौक्तिक, स्तबक, रत्न और वन्य पुष्प आदि के द्वारा विविध प्रकार के वर्ण परस्पर से सुरंजित हो रहे हैं। इन सबकी सम्मिलित शोभा अति विलक्षण है। इस दिव्यातिदिव्य शोभा और सौन्दर्य पर, इसके अति सुरम्य सौरभ और मधुरतम मकरन्द पर मँडराते हुए गुञ्जारव करनेवाले भ्रमर भगवान् के गुणगान करनेवाले नित्यमुक्त भक्त हैं।

इस दिव्य मङ्गलमय विग्रह के सर्वाङ्ग में कुङ्कुममिश्रित हरिचन्दन का ऐसा सुन्दर शुभ्र विलेपन है जैसे महेन्द्र-नीलमणिपर्वत पर चन्द्रमा की चन्द्रिका फैली हो और उस चन्द्रिका में उज्ज्वल नीलिमा जगमगा रही हो। ऐसी इस उज्ज्वल नीलिमायुक्त चान्द्रमसी ज्योत्स्ना से सुशोभित स्वरूप से दिव्यातिदिव्य अष्टविध सौगन्ध्य का प्रादुर्भाव हो रहा है। भगवान् के देवदुर्लभ दिव्यातिदिव्य वदनारविन्द का दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य परम भावुकों को ही अनुभूत होता है। इस (१) भगवदीय दिव्यवदनारविन्द के परम दुर्लभ सौगन्ध्य के साथ, (२) सर्वाङ्ग में हरिचन्दन का जो

विलेपन है उसका सौगन्ध्य है, (३) उस हरिचन्दन में जो कुङ्कुम मिली हुई है उसका भी एक अति मनोहर सौगन्ध्य है, (४) पुष्पमालाओं के मध्य में जो तुलसिका है उसका शीतल मधुर दिव्य सौगन्ध्य कुछ और ही है, फिर (५) अनेकविध सौगन्ध्योपेत वन्यपुष्पस्तबकों का सौगन्ध्य अपनी सत्ता अलग बता रहा है, (६) हरिचन्दन का सौगन्ध्य और कुंकुम-कस्तूरी का सौगन्ध्य दोनों मिलकर एक तीसरा ही अद्भुत सौगन्ध्य अनुभूत करा रहे हैं, (७) कुंकुममिश्रित हरिचन्दन और वन्य पुष्प दोनों के सौगन्ध्य मिलकर भी एक विलक्षण सौगन्ध्य उत्पन्न कर रहे हैं, और (८) भगवदीय वदनारविन्द का सौगन्ध्य तथा इन सब पुष्पादि सामग्रियों का सौगन्ध्य, ये सब मिलकर एक अति विलक्षण, अति दिव्य, अति मनोहर सौगन्ध्य समुत्पन्न कर रहे हैं। ये भगवदीय दिव्य मङ्गलमय विग्रह के दिव्यातिदिव्य अष्टसौगन्ध्य हैं और ऐसे ही दिव्यातिदिव्य अष्टसौगन्ध्य भगवान् के वामपार्श्व में विराजनेवाली श्री वृषभानुनन्दिनीजी के भी मङ्गलमय विग्रह से प्रादुर्भूत हो रहे हैं।

दोनों के द्विविध अष्टसौगन्ध्य मिलकर एक अलौकिक सौगन्ध्य-माधुर्य-सुधा का वर्षण कर रहे हैं। दयितास्तनमण्डलवर्त्ति कुंकुमकस्तूरिका-मिश्रित हरिचन्दन-विलेपन के दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य की कल्पना और अनुभव परम भावुक के सिवा कौन कर सकता है ? फिर इनपर भगवान् के दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्योपेत श्रीचरणों का संयोग और उससे उत्पन्न होनेवाला दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य ! परम मनोहर, अत्यन्त सुकोमल चरण ! उन श्रीचरणों को परम भक्त व्रजाङ्गनाएँ अपने वक्षःस्थल पर लेती हुई सकुचाती हैं और कहती हैं कि ये कठोर अङ्ग श्री भगवान् के सुकोमल चरणों में गड़ेंगे ! इस दिव्यातिदिव्य भाव की कल्पना भी कोई पूर्ण कामजित परम भावुक ही ठीक तरह से कर सकता है और तब दयितास्तनमण्डलवर्त्ति कुंकुम-कस्तूरिका-मिश्रित हरिचन्दन-विलेपन के सौगन्ध्य के साथ श्री भगवान् के श्रीचरण-सौगन्ध्य के दिव्यातिदिव्य संयोग-सौगन्ध्य के समास्वादन का अधिकारी हो सकता है। जिन्होंने व्रज में विहार करते हुए कहीं तृण में लगा हुआ कोई दिव्यातिदिव्य कुंकुम देखा और उसके परम दिव्य सौगन्ध्य से निश्चय किया कि यह दयितास्तनमण्डलवर्त्ति परम पावन हरिचन्दन-विलेपन दिव्य सौगन्ध्य से युक्त श्री भगवान् के सुकोमल श्रीचरणों के सौगन्ध्य हैं—यह कुंकुम श्री वृषभानुनन्दिनीजी की हृदयश्री और श्री भगवान् के सुकोमल अरुणचरणपङ्कजश्री के संयोग का परम सौभाग्य-स्वरूप है, उस कुङ्कुम से उन्होंने अपना सर्वाङ्ग विलेपन किया। कैसा अलौकिक प्रेम और भगवद्भावतादात्म्य है। भगवान् के इस अष्टविध दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य को तथा श्री वृषभानुनन्दिनी के अष्टविध दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य को और दोनों के संयोगजन्य दिव्यातिदिव्य सौगन्ध्य को परम भावुक उपासक ही जानते हैं। उपास्य के ये दिव्य सौगन्ध्य उपासकों को भी प्राप्त होते हैं।

भगवान् की कामकलभशुण्ड के समान सुडौल, गोल, सुन्दर चढ़ाव-उतार-वाली दिव्य उज्ज्वलनील भुजाओं पर भी अन्य अङ्गों के समान ही कुंकुम-कस्तूरी-मिश्रित शरच्चद्रमरीचिवत् दिव्य हरिचन्दन का लेप है। उसपर उज्ज्वल सुवर्ण-कंकणों और बाजूबन्दों की उज्ज्वल पीतिमा भी कुछ-कुछ प्रतिबिम्बित हो रही है। हाथ के पंजों के साथ ये हाथ ऐसे मालूम हो रहे हैं जैसे दिव्यलोक के पञ्चशीर्ष नाग हों। ये पाँचों उँगलियाँ उन्हीं के पञ्चशीर्ष जैसे हैं और इन उँगलियों में जो नख हैं वे पञ्चशीर्ष नागों के शीर्षस्थ मणियों के समान ही चमक रहे हैं।

करतल की सुकोमल अरुणिमा अरुण कमल की सी ही विकसित हो रही है और करपृष्ठ सर्वाङ्ग के समान ही उज्ज्वल नील हैं और उनपर कुंकुम-कस्तूरी-मिश्रित दिव्य हरिचन्दन की चाँदनी छिटक रही है। उँगलियों की सन्धि में अरुणिमा और नीलिमा का तारतम्य है। पृष्ठभाग से संलग्न सन्धि का सूक्ष्म भाग अधिकतर उज्ज्वल नील और तल संलग्न सन्धिभाग अरुणिमा-विशिष्ट है। भगवान् अपने इन अरुण करतलों में अपना शंख लेकर जब बजाते हैं तब यह धवलोदर शंख अरुणायमान होकर ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन दो अब्जखण्डों के बीच कोई कलहंस कलनाद कर रहा हो।

श्री भगवान् के दिव्य श्रीमुखाम्बुज में कुंकुम-मिश्रित हरिचन्दन के नाना भावपूर्ण नानाविध चित्र ललाट, कपोल, चिबुक और करों पर भावुक लोग चित्रित करते हैं। उज्ज्वल नील मुखाम्बुज, उसपर मकरन्द-पान के लोभी मधुपों की नीलिमा, मकराकृत कुण्डलों की चञ्चल दीप्तिमत्ता और किरीट की दिव्यातिदिव्य शोभा, और इन्हीं विविध आभाओं के भीतर कुंकुम-कस्तूरी-मिश्रित दिव्य हरिचन्दन के परम मनोरम चित्र मिलकर ऐसी शोभा उत्पन्न करते हैं जिसका शब्दों द्वारा वर्णन नहीं हो सकता। उसका समास्वादन तो भावुकों को ही होता है। दिव्य सौन्दर्यसम्पन्न मुखाम्वुज तो मुखाम्बुज ही है, भगवान् के दिव्य करों की छटा को भी कोई लेशमात्र ही देख ले तो उसके दुःखगर्भ सारे सांसारिक सुख ही छूट जायँ।

इस प्रसङ्ग में श्री राधावल्लभजी के मन्दिर में एक वेश्यासक्त राजकुमार की कथा प्रसिद्ध है। यह राजकुमार इतना वेश्यासक्त था कि उस वेश्या का एक क्षण के लिये भी विरह नहीं सह सकता था। वेश्या सामने न हो तो वह खा-पी नहीं सकता था और न कोई काम कर सकता था। उसकी वेश्यासक्ति छुड़ाकर उसे भगवद्भक्ति प्राप्त करा देनी चाहिये, ऐसी अनुकम्पा सम्प्रदाय के आचार्यश्री के हृदय में हुई। उन्होंने राजकुमार को अपने यहाँ लिवा लाने का प्रबन्ध किया। बिना वेश्या के राजकुमार भगवान् के मन्दिर में भी नहीं जा सकता था। इसलिये आचार्यश्री ने उसे वेश्या के साथ ही आने की अनुमति दी। वेश्या के साथ, वेश्या का ही मुँह निहारते हुए, राजकुमार पधारे और श्रीभगवान् के मन्दिर में भी ऐसे

बैठ गये कि उनके सामने तो वेश्या थी और वेश्या के पीछे श्री भगवान् की दिव्य मङ्गलमय मूर्ति को राजकुमार नहीं देख सकते थे। आचार्यश्री ने वेश्या को राजकुमार के सामने ही रहने दिया पर ऐसा उपाय किया कि वेश्या के पीछे से भगवान् का करारविन्द इनकी दृष्टि में आ जाय। यहाँ भक्तपरवश भगवान् ने आचार्यश्री की इच्छा के अनुसार अपने करारविन्द में वह सौन्दर्य प्रकट कर दिया कि वह वेश्यासक्त क्षणमात्र में भगवदासक्त हो गया। वेश्या को देखते-देखते ही वेश्या के पीछे चमकते हुए करारविन्द पर इनकी जो दृष्टि पड़ी तो सदा के लिये वहाँ गड़ हो गयी। करार-विन्द के उस सौन्दर्य को देखते ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का मदन-सौन्दर्य अधोभूत हो गया। अधोक्षज भगवान् के करारविन्द की दिव्य छटा ने राजकुमार को सदा के लिये अपने वश में कर लिया।

भगवान् का दिव्यातिदिव्य सौन्दर्य-माधुर्य ऐसा ही है कि एक क्षण के लिये भी उस सौन्दर्य-माधुर्य का लेशमात्र भी किसी पर प्रकट हो जाय तो फिर वहाँ से वह लौट नहीं सकता। इस सौन्दर्य-माधुर्य की स्फूर्ति भगवान् की अनुकम्पा से विशुद्धाति-विशुद्ध अन्तःकरण में ही होती है। भगवान् की अनुकम्पा जीव को दो प्रकार से प्राप्त होती है, एक तो अपने साधन से जैसे ध्रुव को प्राप्त हुई और दूसरे भगवान् की अपनी दयामयी इच्छा से जैसे राजा परीक्षित को गर्भ में ही प्राप्त हुई। श्रीभगवान् के गले में अनेकविध दिव्य वन्यपुष्पों के स्तवकादि से युक्त दिव्य सौगन्ध्यमय मालाएँ हैं। उनपर फिर कोटि-कोटि विद्युतों की चञ्चल दीप्ति को तिरस्कृत करनेवाला सुवर्णोज्ज्वल चञ्चल पीतपट ऐसा उल्लसित हो रहा है, जैसे महेन्द्रनीलमणि पर्वत पर दिव्य विद्युत्पुञ्ज चमचमा रहा हो और उसमें से दिव्य मङ्गलमय विग्रह की नीलिमा-दीप्ति भेदकर बाहर निकल रही हो।

उज्ज्वल-नीलिमा-सम्पन्न वक्षःस्थल पर सुवर्णोज्ज्वल मङ्गलमय वामावर्त और दक्षिणावर्त रोमराजि दीख रही है। यहीं तो चपला चञ्चला श्री महालक्ष्मी का निवास है। भगवान् को भक्तों ने जो मालाएँ पहनायी हैं वे लक्ष्मीजी को गड़ती हैं, पर भक्तों पर आदर दिखाने के लिये भगवान् उन मालाओं को पहने ही रहते हैं और सपत्नीजन्य दुःख लक्ष्मीजी के पीछे लगा ही रहता है। गले से लेकर पादाम्बुज तक लटकनेवाले पुष्पहारों के मध्य में जो तुलसिका है उसका तो भगवान् इतना आदर करते हैं कि लक्ष्मीजी से वह देखा नहीं जाता। पादाम्बुज में अवश्य ही लक्ष्मीजी तुलसी के साथ रहने में सुखी हैं, परन्तु वक्षःस्थल पर नहीं; उसपर तो लक्ष्मीजी अकेली ही रहना चाहती हैं। वक्षःस्थल के मध्य में भगवान् भृगु-चरण धारण किये हैं और लक्ष्मीजी से मानो यह कह रहे हैं कि महालक्ष्मी! यहाँ जो तेरी स्थिति है वह ब्राह्मण के चरण से ही है। यह हृदय 'हृतांहस' होने के कारण ही चञ्चला लक्ष्मी यहाँ अचला है। भगवान् के वक्षःस्थल पर रहनेवाले ब्राह्मणचरण और

महालक्ष्मी दोनों ही एक स्वर से मानो यह कह रहे हैं कि जहाँ ब्राह्मणों के चरणों की रज पड़ेगी वहीं चञ्चला लक्ष्मी स्थिर हो जायगी। लक्ष्मी वहाँ नहीं ठहरती जहाँ ज्ञान, विद्या, तप आदि नहीं हैं, क्योंकि ज्ञान, विद्या, तप, भूति आदि लक्ष्मी के ही रूप हैं। अर्थात् श्री भगवान् मानो यह सूचित करते हैं कि जहाँ ब्राह्मण-चरण निवास करेंगे वहीं श्रीनिवास होंगे और वहीं सकल प्रकार की श्री का निवास होगा।

भगवान् के दिव्यातिदिव्य कमल से सुकोमल वक्षःस्थल में ब्राह्मण के चरण कठोर नहीं प्रतीत हुए। उलटे भगवान् को यह क्लेश हुआ कि इस वक्षःस्थल की कठोरता से भृगु महाराज के सुकोमल चरणों में कुछ चोट तो नहीं आयी। कारण, लक्ष्मी का जहाँ निवास होता है वहाँ हृदय में कठोरता आ जाती है। ब्राह्मण इस कठोरता पर पैर देकर भगवान् की स्तुति करते हैं, यही ब्राह्मणों का ब्राह्मणत्व है। यह कठोरतारूप-अंहस भृगु-चरणों से धुला है और जहाँ कहीं यह अंहस है वहाँ वह ब्राह्मणचरणों से ही धुल सकता है और महालक्ष्मीजी का जो दिव्यातिदिव्य सुकोमल भाव है वह प्रकट हो सकता है।

इस दिव्य मङ्गलमय विग्रहरूप में अचिन्त्यानन्त ब्रह्मानन्द-सुधासिन्धुस्वरूप परमतत्व भगवान् ही श्यामीभूत होकर प्रकट हुए हैं। इनके गले में वक्षःस्थल पर गुञ्जाहार पड़ा हुआ है। ये गुञ्जाएँ कोई प्राकृत गुञ्जाएँ नहीं हैं, ये सब परम तपस्वी महामुनि हैं जिन्होंने इस पुण्यारण्य वृन्दावनधाम में भगवदीय लीला में योग देने के लिये गुञ्जारूप धारण किया है। यहाँ मयूरपिच्छादि को भी भगवान् ने अपना दिव्यातिदिव्य धाम दिया है। इस वृन्दावन लीलाधाम की विलक्षण महिमा है, जिसे देखकर ब्रह्मा भी यहाँ '**गुल्मलतौषधी**' बनकर निवास करने की इच्छा करते हैं।

वामावर्त्त और दक्षिणावर्त्त उभय रोमराजियों के मध्य में ये भृगुचरण हैं। इनपर वक्षःस्थल में जो दिव्य मालाएँ पड़ी हैं, उनसे भगवदीय अष्टगन्धसौगन्ध्य से अतिमत्त हुए भ्रमरों की मधुर झङ्कार निकल रही है। नाभिप्रदेश में अति सुन्दर मनोहर तीन रेखाएँ (त्रिवलि) हैं और मध्य में यह दिव्य मनोहर सरोवर श्यामसलिला कालिन्दी का अति विलक्षण आकर्षणवाला भँवर-सा सोह रहा है। इसीसे तो सारे ब्रह्माण्ड का प्रादुर्भाव हुआ है।

भगवान् की भुजाएँ, भावुकों की कल्पना के अनुसार, दो भी हैं और चार भी। इनका गठन कैसा सुन्दर और कैसा गोल! और घुमाव, चढ़ाव तथा उतार भी अत्यन्त मनोहर! सर्वाङ्ग के समान इनपर भी कुङ्कुम-कस्तूरिका-मिश्रित हरिचन्दन का शुभ्र लेप है। भुजाओं की दीप्ति-विशिष्ट नीलिमा, हरिचन्दन की शुभ्रता और करारविन्द के अन्तर्भागों की अरुणिमा तीनों मिलकर नखमणि-ज्योति के घाट पर कैसा दिव्य मनोहर गङ्गा-यमुना-सरस्वती का सङ्गम साध रहे हैं। इन दिव्य मनोहर

भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म सुशोभित हैं। शङ्ख जलतत्त्व है, कौमोदिकी गदा ओजतत्त्व है, सुदर्शन चक्र तेजस्तत्त्व अथवा यदि खड्ग देखें तो नभस्तत्त्व है।

भगवान् के दिव्य कटितट में काँची (मेखला) है जिसकी कई लड़ें हैं। कटितट से गुल्फपर्यन्त पीताम्बर परिधान धारण किये हैं जो अति सूक्ष्म और दिव्य है। उसमें से भगवान् की नीलकान्तिदीप्ति स्पष्ट ही उद्भासित हो रही है। पीतपट से समाच्छन्न भगवदीय दीप्तिमत्ता और नीलिमा से युक्त वह नानाविध रत्नों से जटित मुक्तामध्य मेखला नितम्ब-बिम्ब पर आकर अत्यधिक सुशोभित हो रही है। काँची की बड़ी मधुर झनझनाहट है। भगवान् यहाँ ज्ञानमुद्रावाले परम शान्त गम्भीर पुरुष नहीं हैं। यहाँ तो चञ्चल चपल त्रिभङ्गी छविवाले वंशीधर श्रीकृष्ण हैं, जिनकी चञ्चलता व्रजाङ्गनाओं के अञ्चल पकड़ने में भी नहीं चूकती। वाह री! वह कामजित् दिव्य चञ्चलता, जिसको सम्बोधन कर चञ्चलता को प्राप्त व्रजाङ्गना परमरसरसिकों के विनोदार्थ ही मानो यह कहती है कि—"**मुञ्चाञ्चलं चञ्चल पश्य लोकं बालोऽसि नालोकयसे कलङ्कम्। भावं न जानासि विलासिनीनां गोपाल! गोपालपनण्डितोऽसि॥**" भगवान् ने किसी व्रजाङ्गना का मानो अञ्चल पकड़ा। उसपर व्रजाङ्गना ठिठककर कहती है कि "अरे चञ्चल! मेरा अञ्चल क्यों पकड़ा है? छोड़, छोड़; लोग देखेंगे तो तुझे या मुझे क्या कहेंगे? लोकलाज का तुझे कुछ ध्यान नहीं, तू कैसा गँवार है?" इसपर भगवान् ने उस व्रजवनिता का अञ्चल छोड़ दिया और दूसरी ओर देखने लगे। तब व्रजाङ्गना कहती है, "आखिर तू है वही गौएँ चरानेवाला चरवाहा! तू विलासिनियों का भाव क्या समझे? '**गोपाल! गोपालनपण्डितोऽसि**'—गोपाल! तू गो-पालन का ही पण्डित है।" अथवा 'गोपाल! गोपाल! न पण्डितोसि!' अरे गोपाल! इधर तो देख! तू तो कुछ समझता ही नहीं।

इस दिव्य चाञ्चल्य की लीला से मुग्ध होकर जो इस गो-पालन-पण्डित गोपालबाल के निष्कलङ्क दिव्य क्रीडन में अनन्य होकर सम्मिलित हुए वे ही संसार में धन्य हुए! अन्यों के लिये तो यहाँ झाँकना भी निषेध है।

भगवान् के ऊरु कदलीस्तम्भ-से कहे जाते हैं। कदलीस्तम्भों में जो स्थूलता-सूक्ष्मता का तारतम्य तथा जो चिक्कणता होती है वही यहाँ विवक्षित है। यहाँ भी वही दीप्तिविशिष्ट नीलिमा है जो पीताम्बर की मनोहर पीतिमा को भेदकर बाहर निकल रही है।

श्री भगवान् के अतसिका-कुसुम के से उज्ज्वल नील ऊरुद्वय श्री गरुड़जी के स्कन्धों पर अति शोभायमान हो रहे हैं। यह गरुड़जी साक्षात् ऋक्, साम, यजुः-स्वरूप शब्दब्रह्म हैं, जिनपर शब्दातीत अशेष विशेषातीत सच्चिदानन्दघन अक्षर परब्रह्म परमात्मा अधिष्ठित हैं—"**त्रिवृद्वेदः सुपर्णाख्यो यज्ञं वहति पूरुषम्।**"

भगवान् के वाम स्कन्ध के ऊपर से दक्षिण स्कन्ध के नीचे कटितट तक व्रतुंलाकार त्रिवृत सुवर्णोज्ज्वल पीत यज्ञोपवीत सुशोभित है। यह ब्रह्मसूत्र एकाक्षर प्रणव है, जो अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड का मूलसूत्र है।

भगवान् जो केवल सविशेष नहीं, केवल निर्विशेष भी नहीं, प्रत्युत सविशेष निर्विशेष दोनों मिले हुए पूर्ण परब्रह्म हैं, वही इस मङ्गलमय विग्रहरूप में प्रकट हुए हैं। गरुड़, शेष तथा शङ्ख-चक्रादि अङ्ग जो इस लीलाविग्रह में प्रकट हैं, वे भी उनके पूर्ण परब्रह्म स्वरूप में अभिन्नरूप से अन्तर्गत हैं। साङ्गोपाङ्ग परम भगवत्तत्त्व ही इस लीलामय विग्रह में प्रादुर्भूत है। इस लीलामय विग्रह की स्थिति अव्याकृत में है। कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि यहाँ भी उनका निवास अक्षर ब्रह्म में है। परब्रह्म के अक्षर रूप तीन हैं—(१) माया, (२) मायाविशिष्ट चैतन्य और (३) परात्पर पूर्णब्रह्म। अव्याकृत मायाविशिष्ट चैतन्य ही शेष भगवान् हैं, उन्हीं में श्री भगवान् का निवास है—"**अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितः।**" तमोरजोलेश से असंस्पृष्ट, महावाक्य-जन्य ब्रह्माकारा वृत्ति रूप में परिणत विशुद्ध सत्त्व ही कमल है—"**धर्मज्ञानादिभि-र्युक्तं सत्त्वं पद्ममिहोच्यते।**" ओजः तत्त्व गदा है, अप्तत्त्व शङ्ख है, तेजस्तत्त्व सुदर्शन है और नभोनिभ कृपाण नभस्तत्त्व है।

भगवान् के जानुद्वय श्री महालक्ष्मी के अति सुकोमल अरुण कर-कमलों से लालित हैं। गुल्फों में अनेकविध आभूषण और रत्नजटित नूपुर हैं, जिनकी झङ्कार से त्रिभुवन आह्लादित होता है। आत्मा ज्योतिविग्रह कौस्तुभमणिसुशोभित उज्ज्वल नील कण्ठ देश से गुल्फप्रदेशपर्यन्त नील पदारविन्द-पारदर्शी उज्ज्वल पीतपट उभय पार्श्व में विद्युल्लताओं सा चमक-दमक रहा है और उसका नानाविध रत्नों से जटित किनारा अपनी रङ्ग-बिरङ्गी छटा उसमें मिलाकर एक अति विलक्षण शोभा उत्पन्न कर रहा है। उसे भावुक देख-देखकर अपने नयनों की आस पूरी करना चाहते हैं। पर भगवदीय दिव्य-मङ्गलमय विग्रह की यह सारी शोभा अनन्त और नित्य नवीन होने से सदा ही उस सौन्दर्य-सुधारस-पान की प्यास अधिकाधिक बढ़ानेवाली है।

श्री भगवान् के चरणारविन्द में कुङ्कुममिश्रित हरिचन्दन के नानाविध अति सुन्दर मनोहर चित्र अंकित हैं। पादांगुलियों पर जो नख हैं वे मानो दिव्यातिदिव्य मोती हैं या इन्हें दिव्यातिदिव्य नखमणि कह सकते हैं। इनकी चन्द्रमा-सी ज्योत्स्ना के किञ्चित् दर्शन मात्र से सारे ताप शान्त हो जाते हैं। त्रिविध तापों को तत्क्षण हरनेवाली इस नखमणिचन्द्रिका की शोभा श्री मधुसूदनजी वर्णन करते हैं—"**पद-नखनिविष्टमूर्त्तिकः एकादशतामिवावहन्निष्ठाम्। यं समुपासते गिरिशः वन्दे तं नन्द-मन्दिरे कञ्चित्॥**" भगवान् शङ्कर मानो आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र का अर्चन कर रहे हैं और भगवान् के चरणों में नतमस्तक होकर नखमणिचन्द्रिका निहारते हुए उन दिव्य निर्मल नखमणियों में अपनी ही मूर्ति समायी हुई देख रहे हैं। कवि

कल्पना करते हैं कि जिनके पदनखों में गिरीश की मूर्त्ति समायी हुई है, मानों दश नखमणियों में दश रुद्र और एकादश स्वयं निहारनेवाले, इस प्रकार एकादश रुद्र हो रहे हैं, ऐसे गिरीश जिनकी उपासना करते हैं, उन नन्द-मन्दिर में विराजनेवाले परमाद्भुतचमत्कारकारी अनिर्वाच्य 'कञ्चित्' को मैं प्रणाम करता हूँ।

यहाँ भगवान् श्री शङ्कर को पदनखनिविष्टमूर्तिक रूप में देखकर कोई यह न समझे कि भगवान् शङ्कर भगवान् श्रीकृष्ण से कुछ निम्न या भिन्न हैं। दोनों अभिन्न-हृत् और एक-दूसरे के आत्मा हैं। श्री शङ्कर कौन हैं और शङ्करतत्त्व क्या है, यही प्रश्न श्रीकृष्ण के सामने युधिष्ठिर ने श्री भीष्मजी से किया था। उस समय भीष्मजी ने यही उत्तर दिया कि शङ्कर तत्त्व अति गूढ़ है, मैं उसके कहने में असमर्थ हूँ, श्रीकृष्ण ही उस तत्त्व का प्रतिपादन कर सकते हैं। श्रीकृष्ण ने शिवतत्त्व बताया पर यही कहकर कि यह तत्त्व अत्यन्त दुरवग्राह्य है और मैं जो कुछ कहूँगा, श्री शङ्कर की कृपा से ही कह सकूँगा। भगवान् रामचन्द्र का जब अवतार हुआ तब यह कथा प्रसिद्ध है कि श्री शङ्करजी श्रीरामचन्द्रजी के यहाँ पौराणिक वेश में गये थे और रामचन्द्र को पुराण सुनाते थे। एक बार रामभद्र के कहने पर जब पौराणिक श्री शङ्कर शिवतत्त्व का प्रतिपादन करने लगे तब पौराणिक श्री शङ्कर की मूर्त्ति रामभद्र रूप में और रामभद्र की मूर्त्ति श्री शङ्कर के रूप में सबको दिखायी दी। श्री विष्णु और श्री शिव यथार्थ में परस्परात्मा हैं, यही बात समझनी चाहिये। इनके जो वर्ण हैं वे भी इसी बात को सूचित करते हैं। श्री शङ्कर तमोगुण के अधिष्ठाता हैं पर उनका वर्ण काला नहीं, शुभ्र है और सत्त्व के अधिष्ठाता श्री विष्णु का वर्ण शुभ्र नहीं, श्याम है। यह क्या बात है? यह ध्यान का प्रकर्ष है। श्री शङ्कर श्री विष्णु का ध्यान करते हैं इस कारण उनका वर्ण शुभ्र है और श्री विष्णु श्री शङ्कर का ध्यान करते हैं इस कारण उनका वर्ण श्याम है। यह एक-दूसरे के अभिन्नहृत् प्रेम ध्यान का ही प्रकर्ष है।

श्री शङ्कर भगवान् की शुभ्र दिव्य मूर्त्ति पदनखमणियों में जो झलक रही है वह इन पद-नखों की दिव्यातिदिव्य स्वच्छता का द्योतन है। इन नखों के पार्श्व और अग्रभाग में जो अरुणिमा है उससे यह स्वच्छता किञ्चित् अरुण हो रही है। ऊपर चरणों के पृष्ठभाग नीलिमा, पृष्ठ और नखों की सन्धि की अरुणिमा और पद-नखों की स्वच्छता इन तीनों का यह त्रिवेणी-सङ्गम परम भावुकों के ही अवगाहन करने का दुर्लभ स्थल है। यहाँ की यह शोभा इसके साथ वनमाला और तुलसिका तथा कुङ्कुम-कस्तूरी-मिश्रित हरिचन्दनादि से युक्त दिव्य अष्टसौगन्ध्य परम भाग्यवानों को ही प्राप्त होता है।

परम भावुकों के परमाराध्य ये ही पादारविन्द हैं। मुनीन्द्रों के मन-मधुप इन्हीं चरणाम्बुजों का आश्रयण करते हैं। ये ही परमहंसास्वादित चरण हैं। इन्हीं चरणार-

विन्दगत तुलसी-सौगन्ध्य के वायु से संसृष्ट होकर सनकादि मुनीन्द्रों के हृदय में प्रविष्ट होने से, उनके भी तन-मन-प्राण क्षुब्ध हुए और भगवान् के चरणों की ओर उनको राग हुआ। इसी दिव्य क्षोभ से सात्त्विक अष्टभाव प्रादुर्भूत होते हैं। भगवान् के अन्य अङ्गों ने मुनीन्द्रों को इतना नहीं मोहा जितना कि चरणाम्बुजों ने। इन चरणों की दिव्य सौगन्ध्यमय शोभा पर वे मानों बिक गये और उन्होंने यही प्रार्थना की कि हमारा यह मन मतभृङ्ग के समान आपके चरणारविन्द में लालायित रहकर सदा यह दिव्य मकरन्द पान करता रहे।

भगवान् के चरणतल दिव्य कमल पर न्यस्त सुशोभित हैं। विशुद्ध सत्त्व ही यह कमल विशुद्ध अन्तःकरण पर हो तो भगवान् का प्रादुर्भाव होता है। सुकोमल कमल की अति कोमल पंखुड़ियों की अनन्तकोटि गुणित सुकोमलता भी महालक्ष्मी के चरणाम्बुजों की सुकोमलता को बराबरी नहीं कर सकती। महालक्ष्मी के कर-कमलों की सुकोमलता उससे भी सूक्ष्म है और उससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म भगवान् के चरणों की सुकोमलता है, जिसकी किसी प्राकृत उपमान से कल्पना नहीं हो सकती। हाँ, इन उपमानों से कल्पना करने में सहायता मिलेगी, यथार्थ बोध तो भगवत्कृपा से ही सम्भव है।

श्री भगवान् के चरणचिह्न अलौकिक श्रीशोभा और सौन्दर्य-स्वरूप हैं। जिस किसीने इन चरणचिह्नों का सौन्दर्य देखा, उसीकी दृष्टि सदा के लिये उनमें स्थिर हो गयी। भगवान् के भक्त इन्हीं चरणचिह्नों को देख-देखकर अपने कामादि दुर्भावों को नष्ट करने में समर्थ होते हैं। ये चिह्न किसी आचार्य के मत से १५, किसी के मत से १६ और किसी के मत से १९ हैं।

श्री भगवान् के दक्षिण पादाङ्गुष्ठ में एक दिव्य चक्र है। इस चक्र के ध्यान से चिद्ग्रन्थि का छेदन होता है। अंगुष्ठ के पर्व में यव का ध्यान है, जो सुख-सम्पदा का देनेवाला है। अंगुष्ठ और तर्जनी के बीच में से चरण के मध्य तक एक ऊर्ध्व रेखा है। अंगुष्ठ के चक्र के अधोभाग में तीन चिह्न हैं—पर्व में यव, मूल में चक्र और नीचे की ओर तापनिवारक छत्र है। मध्यमांगुली के मूल में कमल है। यह अति शोभन है। यहाँ ध्याता का मन-मधुप मुग्ध हो जाता है। इस कमल के नीचे ध्वज है जिसके अनुसन्धान से सब अनर्थों का नाश होता है। कनिष्ठिका के मूल में वज्र है जिसके ध्यान से भक्तों के पाप-पर्वत नष्ट हो जाते हैं। एँड़ी के मध्य में अंकुश है जो भक्तचित के मत्तगयन्द को वश करनेवाला है।

श्री भगवान् के दक्षिण पाद का परिमाण लम्बाई में १४ अंगुल है और चौड़ाई में छः अंगुल है। पद के मध्य भाग में ४ अंगुल स्थान में कलश-चतुष्टय हैं और उनके अगल-बगल ४ जम्बूफल हैं। अधोभाग में द्वितीया का चन्द्र अंकित है जो भक्तों के शुभ का सूचक है। उससे भक्त के आह्लाद की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। चन्द्रमा के नीचे

गोपदी है जो भवसागर को गोपद के समान कर देता है। अर्थात् भगवत्समाश्रयण करनेवाले भवसागर को गोपद के समान बिना प्रयास ही पार कर जाते हैं।

श्री भगवान् के वामपादांगुष्ठ के मूल में दिव्य शङ्ख है। उसका ध्यान करने से पार्थिव जड़त्व दूर होता है और सब मल धुल जाते हैं तथा ऋक्, साम, यजुरादि शुद्धातिशुद्ध मानसी-वृत्तिरूपा समस्त विद्याएँ ऐसे स्वच्छ अन्तःकरण में प्रस्फुरित होती हैं जैसे कि ध्रुव के कपोल में शङ्खस्पर्श होते ही उसे समस्त विद्याएँ एक क्षण में प्राप्त हो गयीं। वामचरण की मध्यमाँगुली के मध्य में अम्बर का अनुसन्धान है। अम्बर (आकाश) जैसे असङ्ग है वैसे ही इसके ध्यान से ध्याता का चित्त भी विषय-राग से विमुक्त और असङ्ग होकर व्यापक परब्रह्माकाराकारित हो जाता है। वामपादारविन्द में चार स्वस्तिक हैं, ये सकल शुभ के सूचक हैं। स्वस्तिकों के बीच में अष्ट कोण हैं। किसीके मत से ये अष्ट-महासिद्धियों के देनेवाले हैं और किसीके मत से यह अष्ट लोकपाल हैं जो यहाँ भक्तों की प्रतीक्षा किया करते हैं। वामपाद की कनिष्ठिका में सूर्य-तत्त्व अङ्कित है जिसके अनुसन्धान से अनेक प्रकार के ध्वान्त तिरोहित होते हैं। वामपादारविन्द में ज्यारहित इन्द्र-धनुष का अनुसन्धान है। धनुष के पीछे चार कलश हैं। इनके बीच में त्रिकोण है जो त्रिलोकैश्वर्याधिकार सूचित करता है। त्रिलोकैश्वर्य की प्राप्ति के लिये इस त्रिकोण का अनुसन्धान है। पर भगवद्भक्ति जिनमें पूर्ण होती है वे भगवान् को छोड़ त्रैलोक्य के पीछे नहीं भटका करते। परम भक्त तो वही है जिसको भक्ति-गङ्गा की धारा अनवरत श्रीकृष्णचन्द्र रूप आनन्दसुधा-सिन्धु की ओर ही प्रधावित होती है। भगवदीय कथासुधा का पान करते-करते कुछ काल में भगवत्कथा से अनुराग होता है और यह अनुराग बढ़ते-बढ़ते प्रभु-चरणों में अनन्य हो जाता है। ऐसी अनन्य भक्ति जिसे प्राप्त हुई वह लवनिमेषार्ध के लिये भी त्रैलोक्यैश्वर्य के लिये भी प्रभु चरणों से पृथक् नहीं होता। त्रिकोण से दूसरा अभिप्राय त्रैगुण्य-विषय भी ले सकते हैं—

"मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥"

अथवा यह कहिये कि ऋक्-साम-यजुः इन तीनों वेदों से प्रतिपाद्य जो तत्त्व है, उसकी प्राप्ति का यह सूचक है—"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।" मनोवाक्काय तीनों से भगवान् ही वन्द्य हैं और तीनों अवस्थाओं में भी वही एक आराध्य हैं। ऐसी अनेक प्रकार की कल्पनाएँ इस विषय में भावुक कर सकते हैं।

श्री भगवान् के चरणचिह्न श्रीविष्णुपुराण में १५ ही मिले। जीव-गोस्वामी आदि आचार्यों ने १९ निश्चित किये हैं। श्रीचरणों के अंगुलादि परिमाण भी हैं। इन परिमाणों को देखें तो १६ ही चिह्न रहते हैं।

श्री भगवान् के रूप और वर्ण आदि की भावना के अनुसार ही कल्पना करनी चाहिये। सगुणरूप में भगवान् स्वतन्त्र नहीं होते—भक्त-भावना के अधीन होते हैं; क्योंकि भक्त की भावना-सिद्धि के लिये ही उनका प्रादुर्भाव होता है। स्वयं ब्रह्माजी ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है कि—

"यद् यद् धियात उरुगाय विभावयन्ति,
तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।"

भगवान् भक्तों के पराधीन हैं। स्वेच्छामय हैं अर्थात् स्वकीयों की इच्छा के अधीन हैं। **'तं यथायथोपासते तथैव भवति'** ऐसी श्रुति है और गीता का भी यह वचन प्रसिद्ध है कि—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"

अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के निदान भगवान् और भगवान् के निदान भक्त। इसलिये सर्वंजगन्नियामक भक्त ही हुए। ये यदि श्री भगवान् के पदचिह्नों को जरा इधर-उधर कर दें तो ऐसा करने में वे स्वतन्त्र हैं। वे जो भी कल्पना करेंगे वह सत्य है। वह कल्पना सत्य होती है इसीसे तो भक्तों की कल्पना के अनुसार भगवान् नित्य नये रूप में प्रकट होते हैं। मनुष्य के मन का यह स्वभाव है कि वह नित नई बात चाहता है। इसलिये भावुकों को नित्य नूतन कल्पना करनी आवश्यक ही है। भगवान् के रूप ही नहीं, भगवान् के चरित्र भी भावुकों को नित्य नवीन प्रतीत होते हैं। **"तस्यांघ्रियुगं नवं नवम्।"** श्री भगवत्तत्त्व तो अनन्त है। जैसे-जैसे जिसका मन विशुद्ध होता जाता है वैसे-वैसे नव-नव रूप-चमत्कृति देखने को मिलती है। भगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह में नित्य नवीन कल्पना करने में सच्चे भावुक स्वतन्त्र हैं। उन्हें भगवान् के भूषणवसनादि में नित्य नई-नई कल्पना करनी ही चाहिये। सगुण उपासकों के लिये यह आवश्यक है। जैसे, भगवान् के पीतपट को कहीं विद्युत् का उपमान दिया गया है तो कहीं कदम्ब-किञ्जल्क की-सी आभा बताई गई है और कहीं रविकिरण की उपमा दी गई है। इसी प्रकार नखमणि कहीं मुक्तापंक्ति हैं तो कहीं नीलिमा, अरुणिमा और स्वच्छता के दिव्य सम्मेलन का ध्यान है और कहीं उसमें अंगूठियों की दीप्तिमत्ता भी मिली हुई है और नखमणि-मण्डल की ज्योत्स्ना ऊर्ध्व में उच्छ्वसित हो रही है।

भगवान् के शृङ्गार के सम्बन्ध में इसी प्रकार आठों याम की अष्टविध कल्पनाएँ हैं। भगवान् का रूपसौन्दर्य-माधुर्य प्रतिक्षण नवीन होता रहता है, इसलिये कम से कम ८ पहर में ८ वार तो नवीन कल्पना करनी ही चाहिये। इसी प्रकार मुक्ता-माल, गुञ्जा, किरीट, मयूरपिच्छ आदि के विषय में बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ भक्तों ने की हैं। भगवान् का मयूरपिच्छ-विनिर्मित मुकुट बङ्क होता है, अर्थात् कहीं दक्षिण और कहीं वाम ओर झुका रहता है। यह दक्षिण-वाम ओर का बाँकपन श्रीकृष्ण

और श्रीराधिकाजी का परस्पर स्वात्मार्पण सूचित करता है। दोनों के आभूषण भी परस्पर स्वात्मार्पण का भाव लिये हुए रहते हैं। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र और श्रीवृषभानुनन्दिनी के परस्पर स्वात्मार्पण और मिलन के अनेक भाव हैं। श्रीवृषभानुनन्दिनी के बिना श्रीकृष्णचन्द्र का ध्यान पूर्ण नहीं, क्योंकि श्रीराधिकाजी का सौन्दर्य-माधुर्य ही श्रीकृष्णचन्द्र का दृग्विषय है। उसका वर्णन सनकादि मुनीन्द्र भी नहीं कर सके। वह वर्णनातीत है। श्रीराधिकाजी का गौर तेज श्रीकृष्णचन्द्र की श्याम कान्ति में और श्रीकृष्ण की श्यामकान्ति श्रीवृषभानुनन्दिनी की गौर कान्ति में भावुकों के देखने की वस्तु है।

अस्तु, इस प्रकार युगल मूर्त्ति का नानाविध भावों से अनुसन्धान करते-करते मल सर्वथा धुल जाने पर विशुद्ध अन्तःकरण में भगवत्स्वरूप का प्राकट्य होता है।

●

विभीषण-शरणागति

भगवान् के चरणपङ्कज में पहुँचे बिना, इस अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनाट्य के सूत्रधार प्रभु के शरण गये बिना शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। पृथ्वी, जल, तेज, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमण्डल, नक्षत्रमण्डल जिसके सङ्केत पर नाचते हैं, उसकी शरणागति के बिना अखण्ड शान्ति कहाँ ? पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण बोध, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण शान्ति एवं पूर्ण नियामकत्व भगवान् में ही होता है। सब लोग चाहते हैं कि "आनन्दस्वरूप बन जाऊँ, पूर्ण स्वतन्त्र हो जाऊँ, सबका नियमन-शासन करूँ।" इस तरह जिसके लिये समस्त चेष्टाएँ हो रही हैं, वह आनन्द अत्यन्त प्रसिद्ध है। संसारभर की समस्त वस्तुओं में प्रेम जिसके लिये हो और जो स्वयं निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम का आस्पद हो, अर्थात् जो अन्य के लिये प्रिय न हो, वही आनन्द होता है। स्पष्ट ही है कि समस्त आनन्द के साधनों में प्रेम अस्थिर होता है। स्त्री-पुत्रादि में प्रेम तभी तक है, जब तक वे अनुकूल हैं, प्रतिकूल होते ही वे द्वेष्य हो जाते हैं। परन्तु सुख और आनन्द सदा ही प्रिय रहते हैं। कभी किसी को भी आनन्द से द्वेष हो, यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह नास्तिक से भी नास्तिक आनन्द को चाहता है, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील और उसके लिये लालायित होता है। परन्तु उसमें पहचानने की ही कमी है, क्योंकि जिस आनन्द और सुख के लिये नास्तिक व्यग्र है, उसे वह पहचानता नहीं। वह तो सुख-साधन स्त्री-पुत्रादि, शब्द, स्पर्श आदि सम्भोग में ही सुख की भ्रान्ति से फँसकर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाता है। विवेचन करने से विदित हो जाता है कि जिनमें कभी प्रेम द्वेष होता है, वह सुख नहीं है। सदा ही जिसमें निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम होता है, वही सुख है। सांसारिक सम्भोग-साधन पदार्थ ऐसे हैं नहीं, अतः वे सुखरूप नहीं हैं। किन्तु अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति में तृष्णा-प्रशमन के अनन्तर शान्त, अन्तर्मुख मन पर जिस सुख का आभास पड़ता है, उस आभास या प्रतिबिम्ब का निदान या बिम्बभूत जो शुद्ध अन्तरात्मा हैं, वही आनन्द है, क्योंकि जो लक्षण आनन्द का है, वही अन्तरामा का भी है। जैसे सब कुछ आनन्द के लिये प्रिय है, आनन्द और किसी के लिये प्रिय नहीं होता, ठीक वैसे ही समस्त वस्तु आत्मा के लिये प्रिय होती है, आत्मा किसी दूसरे के लिये प्रिय नहीं होता। अतः अन्तरात्मा ही आनन्द और निरतिशय, निरुपाधिक पर प्रेम का आस्पद है। उसीका आभास अन्तर्मुख अन्तःकरण पर पड़ने से 'अहं सुखी' इत्यादि व्यवहार होता है। वही सुख किंवा अन्तरात्मा है। इसीके लिये समस्त कार्य्य-करणसङ्घात की प्रवृत्ति होती है। यही सुख-दुःख-मोहात्मक, नानात्मक सङ्घात से विलक्षण, सुख-दुःख-मोहातीत, असंहत, असङ्ग, अद्वितीय तत्व ही सच्चिदानन्द का आनन्दरूप है।

इसी तरह प्राणिमात्र स्वतन्त्रता चाहता है। एक चींटी को भी पकड़ने पर वह व्याकुलता के साथ हाथ-पैर चलाती है। शुक-सारिकादि विहङ्गम सुवर्ण के भी पञ्जर में रहकर, सुन्दर, मधुर, भक्ष्य-पेय को नहीं पसन्द करते, किन्तु बन्धनमुक्त होकर स्वतन्त्रता से वन में खट्टे फलों को भी खाकर जीवन बिताना अच्छा समझते हैं। इस तरह प्राणिमात्र बन्धन से छूटने तथा स्वतन्त्रता के लिये लालायित हैं। ऐसी स्थिति में कौन नास्तिक बन्धनमुक्ति और स्वतन्त्रता न चाहेगा? परन्तु स्वतन्त्रता के वास्तविक रूप का विवेचन करने से स्पष्ट होगा कि यह भी भगवान् का स्वरूप है, क्योंकि बिना असङ्ग सच्चिदानन्द को प्राप्त किये बन्धनमुक्ति एवं स्वतन्त्रता की कल्पना अत्यन्त ही निरालम्बन है। जब तक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देह का सम्बन्ध विद्यमान है, तब तक स्वतन्त्रता कैसी? भले ही कोई माता, पिता, गुरुजनों तथा वेद-शास्त्र की आज्ञाओं को न माने और उनसे अपने को स्वतन्त्र मान ले, परन्तु जन्म, जरा, व्याधि, विपत्ति, दरिद्रता, मृत्यु आदि के परतन्त्र तो प्राणिमात्र को होना ही पड़ेगा, क्योंकि जब तक कुछ स्वतन्त्रता का त्याग कर शास्त्रों एवं गुरुजनों के परतन्त्र होकर कर्म, उपासना एवं ज्ञान द्वारा मल, विक्षेप, आवरण को दूर कर शरीरत्रयबन्धन किंवा जीवभाव से मुक्त होकर निजी निर्विकार स्वरूप को न प्राप्त कर ले, तब तक पूर्ण स्वातन्त्र्य मिल नहीं सकता। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यह बन्धनमुक्ति और स्वातन्त्र्य भी सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, असङ्ग, अनन्त, स्वप्रकाश, प्रत्यगभिन्न, सच्चिदानन्द भगवान् का ही स्वरूप है।

इसी तरह प्राणिमात्र को यह भी रुचि होती है कि सब कुछ हमारे अधीन हो और मैं स्वाधीन रहूँ। यहाँ तक कि माता-पिता, गुरुजनों के प्रति भी यही रुचि होती है कि ये सब हमारी प्रार्थना मान लिया करें और सब तरह से मेरे अनुकूल रहें। यही स्थिति देवताओं के प्रति भी होती है। यह सभी भाव जीवभाव के रहते पूर्ण नहीं हो सकते। समस्त कल्पित पदार्थ कल्पना के अधिष्ठानभूत भगवान् के ही परतन्त्र हो सकते हैं। जब आस्तिक-नास्तिक सभी पूर्ण स्वातन्त्र्य, नियामकत्व, पूर्ण बोध, पूर्णानन्द, पूर्ण अबाध्यता या सत्ता के लिये व्यग्र तथा इनकी प्राप्ति के लिये जी-जान से प्रयत्न करते हैं, तब कौन कह सकता है कि अज्ञानी किंवा नास्तिक भी जिसकी प्राप्ति के लिये व्यग्र हैं, वह तत्व भक्तों और ज्ञानियों के ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, परब्रह्म भगवान् नहीं हैं, क्योंकि प्राणिमात्र के अन्तरात्मा भगवान् ही हैं, फिर उनसे विमुख होकर निःसत्व, निःस्फूर्ति कौन होना चाहेगा? इसी आशय से श्री वाल्मीकिजी की उक्ति है कि **"लोके न हि स विद्यते यो न राममनुव्रतः।"** लोक में कोई ऐसा हुआ नहीं, जो राम का अनुगामी न हो।

निजी सर्वस्व के बिना किसीको भी कैसी विश्रान्ति? अतएव तरङ्ग की जैसे समुद्रानुगामिता है, ठीक वैसे ही प्राणिमात्र की भगवदनुगामिता है। भेद यह है कि

ज्ञानी अपने प्रियतम को जानकर प्रेम करता है, दूसरे उसीके लिये व्यग्र होते हुए भी उसे नहीं जानते। अस्तु, स्वसम्बन्धित्वेन ज्ञानपूर्वक प्रभु को ही **"गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्"** जानकर उनसे प्रेम करना चाहिये। भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम ही भक्ति है। भक्ति से ही पूर्णानुरागरससारसिन्धु मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र प्रभु के अमृतमय मुखचन्द्र के प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं।

"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।"

भक्ति से ही अरविन्दनयन भगवान् के श्रीचरणारविन्दमकरन्दरस का समास्वादन प्राप्त होता है। प्रेमी भक्त श्रीआनन्दकन्द कोशलचन्द्र के अनुरागभरे कटाक्षपात से युक्त अमृतमय मुखचन्द्र के सौन्दर्य-माधुर्यामृत का पान करने में ही अपने को कृतकृत्य समझते हैं और निर्निमेष नयनों से उसी दिव्य रूपमाधुरी का पान करते हुए आनन्दोन्मत्त हो जाते हैं। इनका भगवान् में स्वाभाविक सहज, अकृत्रिम प्रेम होता है। विशुद्ध प्रेम में कुछ भी कामना नहीं होती। इसी विशुद्ध प्रेम का वर्णन देवर्षि नारद ने अपने भक्तिसूत्र में किया है—

"गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।"

प्रेमी को अपने निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेमास्पद प्राणधन भगवान् में गुण-दोष देखने का अवकाश ही नहीं मिलता। वे इसलिये भगवान् में प्रेम नहीं करते कि हमारे भगवान् अचिन्त्य, अनन्तकल्याणगुणगणनिलय हैं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक हैं, सर्वाधिष्ठान, स्वप्रकाश हैं, देवाधिदेव हैं, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं, दिव्यातिदिव्य सर्वैश्वर्य परिपूर्ण हैं एवं परमानन्दरससारसिन्धु सर्वस्व हैं इत्यादि, क्योंकि किसी गुण को देखकर जो प्रेम होता है, वह तो गुण न दीखने पर नष्ट हो जा सकता है। परन्तु विशुद्ध दिव्य प्रेम में गुण-गणों की अपेक्षा ही नहीं होती। प्रेमी अपने प्रेमास्पद में प्रेम ही करता है, चाहे वह अचिन्त्य अनन्तकल्याणगुणगणनिलय हो अथवा सर्व-गुणविहीन हो, चाहे सुन्दरातिसुन्दर, दिव्यवसन-भूषण, अलङ्कार से सुसज्जित हो, चाहे सौन्दर्यविहीन हो। चाहे दिव्यातिदिव्य ऐश्वर्यसम्पन्न हो, चाहे दीन, हीन, दरिद्र हो, चाहे सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हो, चाहे बन्धनयुक्त हो। एक बार महात्मा तुलसी-दासजी श्रीमद्वृन्दारण्यधाम में गये, वहाँ व्रजेन्द्रनन्दन, श्यामसुन्दर, मदनमोहन, आनन्दकन्द, परमानन्द श्रीकृष्णचन्द्र के उपासकों ने उनसे कहा—'महात्मन्! आप व्रजेन्द्रनन्दन, श्यामसुन्दर, मदनमोहन, सौन्दर्यमाधुर्यरसामृतसारभूत श्रीकृष्णचन्द्र को उपासना छोड़कर श्रीराघवेन्द्रजी की उपासना क्यों करते हो? क्या आपको मालूम नहीं कि श्रीराघवेन्द्रजी १२ कला के एवं श्रीकृष्णजी १६ कला के पूर्ण अवतार हैं?' उन व्रजभक्तों की यह बात सुनते ही श्री तुलसीदासजी ऐसे प्रेमविभोर हो गये कि उन्हें अपना भान हो न रहा और बेहोश होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। गोस्वामीजी को ऐसी दशा देखकर वे व्रजवासी घबराये और बेहोशी दूर करने के लिये तरह-तरह का

उपचार करने लगे। उन्हें यह पश्चात्ताप होने लगा कि हमने इनके उपास्य की हीनता बतलाकर इनके हृदय को क्यों कष्ट पहुँचाया। अन्ततोगत्वा कुछ समयोपरान्त उनको होश हुआ। व्रजभक्तों के पूछने पर उन्होंने कहा कि 'अभी तक तो मैं आनन्दकन्द कौशलचन्द्र श्रीमद्राघवेन्द्रजी को कौशलराजकिशोर जानकर, श्रीकौशल्या अम्बा का ललन जानकर एवं रघुराजजी के मङ्गलमय मनोहर गुण-गणों की ओर आकर्षित होकर ही उनकी उपासना करता था, किन्तु आज आपसे यह जानकर कि हमारे राघवजी भगवान् के अवतार तो हैं, चाहे १२ कला के हों, चाहे इससे भी कम, मैं परमानन्दरससार समुद्र में डूब गया।' यह है विशुद्ध प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण !

इसी प्रकार एक बार श्रीमद्वृन्दारण्यधाम में रासलीला के समय योगीन्द्र-मुनीन्द्रवन्दितपादारविन्द, लीलाविहारी, वंशीधर, श्यामसुन्दर कृष्णचन्द्र, परमानन्दकन्द अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान हो जाने से श्री श्रीव्रजाङ्गनाएँ शोक-विह्वल होकर एवं अपने निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद, प्राणधन, व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर के विप्रयोगजन्य तीव्र ताप से दुःखी होकर इधर-उधर भटक रही थीं और अशोक वृक्ष एवं नागेश्वर से पूछती थीं कि 'हे तरुओ ! आपने हमारे प्राण-प्यारे को इधर कहीं जाते देखा हो तो कहो। हम आपका बड़ा अनुग्रह मानेंगी।' अभिप्राय यह कि उन्मत्त एवं शोकाकुल होकर इधर-उधर फिर रही थीं। इतने में भगवान् श्रीकृष्ण उनकी प्रेमपरीक्षा लेने के लिये दिव्य, चिन्मय वसन, भूषण, अलङ्कार से अलङ्कृत, सुसज्जित होकर सौन्दर्यनिधि विष्णुरूप में प्रकट होकर उनके सामने आये। उनको देखते ही व्रजाङ्गनाएँ सकुचा गयीं और घूँघट से अपना-अपना मुख छिपा लिया। उनके व्यवहार को देखकर मायातीत, विज्ञानानन्दघन, परमात्मा, भक्तों के प्रिय भगवान् विष्णु ने कहा—'व्रजाङ्गनाओ ! क्यों सकुचाती हो ? आओ, हमारे सङ्ग रासलीला में सम्मिलित हो, तुम्हारे श्याम-सुन्दर से क्या हमारी शोभा कुछ कम है ?' सारांश यह कि भगवान् विष्णु के ऐसे अनेकानेक प्रलोभनों में वे न आयीं। तब भगवान् उनको प्रेमपरीक्षा में उत्तीर्ण समझकर मङ्गलमय श्रीकृष्णचन्द्र श्यामसुन्दर के रूप में प्रकट हुए और रासलीला प्रारम्भ हुई। इन महाभागा व्रजाङ्गनाओं की चित्तवृत्ति ही श्याममयी बन गयी थी, जिसका वर्णन श्री देवकवि ने इस तरह किया है—

"औचक अगाध सिन्धु स्याही कौ उमड़ि आयो,
तामें तीनों लोक बूड़ि गये एक सङ्ग में।
कारे-कारे आखर लिखे जु कारे कागद सु
न्यारे करि बाँचे कौन, जाँचे चित्तभङ्ग में॥

आँखिन में तिमिर अमावस की रैन जिमि,
जम्बूनद - बुन्द जमुनाजलतरङ्ग में।
यों ही मन मेरो मेरे काम को रह्यो न माई,
स्याम रङ्ग ह्वै करि समानों स्याम रङ्ग में ॥"

अभिप्राय यह है कि गुण-दोष का पर्यवेक्षण छोड़कर परमानन्दरससार सिन्धु-सर्वस्व में डूबा हुआ प्रेमानन्दमय प्रेमी सर्वत्र अपने परमप्रियतम प्रेमास्पद प्राणधन को ही देखता है। उसे समस्त नामरूपक्रियात्मक प्रपञ्च का भान ही नहीं रहता। ऐसी ही स्थिति में एक व्रजाङ्गना कहती है—

"जित देखौं तित स्याममयी है।
स्याम कुञ्ज बन जमुना स्यामा, स्याम गगन घनघटा छई है॥
सब रङ्गन में स्याम भरो है, लोग कहत यह बात नई है।
मैं बौरी की, लोगन ही को, स्याम पुतरिया बदल गई है॥
चन्द्रसार रविसार स्याम है, मृगमद स्याम काम बिजई है।
नीलकंठ को कंठ स्याम है, मनो स्यामता बेल बई है॥
श्रुति को अच्छर स्याम देखियत, दीपसिखा पर स्यामतई है।
नर देवन की कौन कथा है, अलख ब्रह्म छबि स्याममयी है॥"

इसी प्रकार भूतभावन सदाशिव शङ्कर विश्वनाथजी की परमान्तरङ्गा अनन्योपासिका पार्वतीजी को सप्तर्षियों ने शङ्करजी के अनेकानेक दोष बतलाकर उनसे मन हटाने और सर्वसद्गुणसम्पन्न भगवान् विष्णु में मन लगाने को कहा, तब आद्यशक्ति, महाचिति, अनन्तकोटिब्रह्माण्डजननी शिवजी की परमान्तरङ्ग भगवती ने उत्तर दिया—

"जन्मकोटि लगि रगरि हमारी, बरौं सम्भु न त रहउँ कुँआरी॥"
"महादेव अवगुन-भवन, विष्णु सकल गुनधाम।
जेहिकर मनु रम जाहि सन, तेहि तेहि सन काम॥"

अहा! प्रेम की बात ही निराली है। प्रेमी प्रेमपाश में बँधकर अपने जीवन को भी खतरे में डाल देता है, पर अपनी टेक नहीं छोड़ता।

"चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥"

प्रेमियों में चातक अग्रगण्य समझा जाता है। वह स्वातिबूंद को छोड़कर गङ्गाजल को भी, जो कि साक्षात् ब्रह्मदेव है, पान करना पसन्द नहीं करता, भले ही पिपासा के कारण प्राणपखेरू उड़ जाय। पवित्रसलिला, पतितपावनी श्रीजाह्नवी के पावन तट के ऊपर किसी वृक्ष पर एक पपीहा रहता था। अचानक वह एक दिन घायल होकर गङ्गाजी में गिर पड़ा। गिरते समय अपने बच्चों को पुकारकर

उसने कहा—'देखना, कहीं मेरा पिण्डदान गङ्गाजल से न करना।' वह स्वयं जल में तो गिर पड़ा, किन्तु मुख में गङ्गाजल न चला जाय, इसलिये अपनी चोंच बन्द कर ली। यह है चातक की टेक। यदि मरणकाल में प्राणी के मुख में गङ्गाजल पड़ जाय, तो वह मुक्त हो जाय, किन्तु मुक्ति को ठुकराकर पपीहे ने अपने प्राण की रक्षा की। भ्रमर का भी प्रेम विचित्र है। पाषाणसदृश काष्ठ में भी छिद्र बनाकर निकल जाने का सामर्थ्य रखनेवाला भ्रमर कमलकोश में बँध जाता है। एक भ्रमर था, वह कमल के भीतर बैठा मकरन्दरस का पान कर रहा था और उसके सौगन्ध्य से मस्त हो रहा था। इतने में सन्ध्या हो आयी। सूर्यास्त होते ही कमल बन्द हो गया और मोटे-मोटे शाल और शीशम के पेड़ों को भी छेद डालने की ताकत रखनेवाला भ्रमर उसके अन्दर ही रह गया और विचार करने लगा—'रात बीत जायगी, प्रातःकाल होगा, भगवान् भास्कर की किरणरश्मियों से कमल फिर खिल जायगा, तब मैं इसमें से निकल जाऊँगा। तब तक आनन्द से मकरन्द का आस्वादन करता रहूँ।' वह यों विचार कर ही रहा था कि इतने में एक मत्त गयन्द ने आकर कमल को उखाड़कर मुँह में डाल लिया और कमल के साथ भौंरा भी हाथी के दाँतों से पिस गया—

"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार॥"

यदि वह चाहता, तो बड़ी सुगमता से कमलकोश के बाहर आ जाता, परन्तु प्रेमबन्धन बड़ा ही मजबूत होता है। इसी प्रकार प्रेम के ही कारण पतङ्ग दीपक पर बैठकर जल जाता है। मृगयु के वीणावादन पर मुग्ध होकर हरिणियाँ अपना प्राण दे देती हैं। यह सब है विशुद्धप्रेम के ज्वलन्त उदाहरण एवं सूर के शब्दों में—

"ऊधौ! मन माने की बात।
दाख छोहारा छाँड़ि अमृत फल विषकीरा विष खात॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ, तजि अङ्गार अघात।
मधुप करत घर कोरे काठ में बँधत कमल के पात॥
ज्यों पतङ्ग हित जानि आपनो दीपक सों लपटात।
सूरदास जाको मन जासों ताको सोइ सुहात॥"

इस प्रकार प्रेमीभक्त एकमात्र अपने निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेमास्पद, प्राणधन भगवान् को ही अपना सर्वस्व समझते हैं और प्रभु का ही समाश्रयण लेते हैं। श्री विभीषणजी रावण से तिरस्कृत एवं अपमानित होकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक महाराजाधिराज, परात्पर, पूर्णतम, पुरुषोतम श्रीमद्राघवेन्द्रजी को ही अपना **"गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्"** जानकर आनन्द में विभोर होकर और मन में अनेकानेक मनोरथ सङ्कल्प-विकल्प करते हुए चले—

"चलेउ हरषि रघुनायक पाहीं, करत मनोरथ बहु मन माहीं।"

वह मनोरथ मनोराज्य नहीं। सांसारिक अभीष्टों के लिये जो सङ्कल्प-विकल्प होता है, उसीको 'मनोराज्य' और भगवान् के प्रति जो सङ्कल्प-विकल्प होता है, उसे 'मनोरथ' कहते हैं। भगवद्दर्शन के लिये, प्रभु के मङ्गलमय श्रीचरणारविन्द-मकरन्दरससमास्वादन के लिये जो सङ्कल्प-विकल्प होते हैं, वे बड़े पुण्यों के फल हैं और उनसे बड़ा पुण्य होता है। भारतीय शास्त्रों एवं वर्तमान काल के पाश्चात्य वैज्ञानिकों के भी मत से सङ्कल्प में एक अद्भुत शक्ति होती है। उसके द्वारा बड़े से बड़े अनर्थों को मिटाकर बड़े से बड़ा अभीष्ट सिद्ध किया जा सकता है। भगवान् के सङ्कल्प से ही अनन्त ब्रह्माण्ड की रचना होती है, अतः भगवान् के ही अंशभूत जीवों के भी सङ्कल्प में विचित्र शक्तियाँ हैं। जो दाहकत्व शक्ति अग्नि में है, वही उसके अंशभूत विस्फुलिङ्ग में भी होती है। अतः सङ्कल्पों का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। फिर भी दुःसङ्कल्पों एवं दुराचारों से सङ्कल्प की दिव्य शक्तियाँ तिरोहित हो जाती हैं। सत्सङ्कल्प, सदाचार से दिव्य शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। सङ्कल्पबल से यदि हम चाहें तो घट को पट एवं पट को घट बना सकते हैं। आवश्यकता है सत्सङ्कल्प की। निराशारूपी पिशाचिनी को दूर कर सङ्कल्पबल से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। सत्सङ्कल्प के द्वारा साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्यादि सुख-सामग्री एवं स्वर्ग-अपवर्ग सब कुछ मिल सकता है। परन्तु सङ्कल्पसिद्धि में एक बड़ा भारी विघ्न है—निराशा अथवा असम्भावना। एक बुड्ढे पुरुष को, जिसने कि अपना सारा जीवन अत्याचार, अनाचार, दुराचार, व्यभिचारादि में ही बिताया है, यह विश्वास नहीं होता कि हमें भी भगवान् मिल सकते हैं। पर बात ऐसी नहीं है। किसी को भी निराश होने का कारण नहीं। हमारे शास्त्रों ने सबके लिये आश्वासन दे रखा है। लोगों को प्रायः इसी प्रकार की असम्भावना हुआ करती है कि 'मुझ दीन, हीन, मलिन के पास भगवान् कैसे आयेंगे, कैसे कृपा करेंगे, मैं बड़ा पापी हूँ, मुझे कैसे शरण में रख सकते हैं।' पर यह बात भी नहीं। चिद्रूप जीवात्मा के साथ परमात्मा का अभेद सम्बन्ध रहता है। परमकरुणामय भगवान् गाढ़ से गाढ़, विषम से विषम स्थानों में भी जीवात्मा का साथ नहीं छोड़ते। माँ के पेट में, विभिन्न योनियों में, नरक में, किं बहुना जहाँ भी जीवात्मा को जाना होता है, भगवान् वहीं जाते हैं। जीवात्मा कभी भी अनन्तआनन्दसिन्धु, परमानन्द-कन्द भगवान् से वियुक्त नहीं होता। फेन, तरङ्ग, बुद्बुद के भीतर-बाहर जैसे जल ही ओतप्रोत है, वैसे ही स्वांशभूत जीवों के बाहर-भीतर, चारों ओर भगवान् ही व्याप्त हैं। **"अमृतस्य पुत्राः"** आस्तिक-नास्तिक सभी जीव अमृत भगवान् के पुत्र हैं। जैसे सिंह का पुत्र सिंह ही होता है, वैसे ही अमृत का पुत्र अमृत ही होता है। भगवान् का सच्चिदानन्दस्वरूप जीव में भी है। जो रसादि गुण होते हैं, वे सभी उसके विकार फेन, बुद्बुद, तरङ्ग में

भी होते हैं। अग्नि के विस्फुलिङ्गों में अग्निगत दाहकत्व, प्रकाशकत्व सभी गुण होते हैं। इसलिये सर्वावभासक, अखण्ड, अनन्त, अपरिच्छिन्न, आनन्दसिन्धु, परमानन्दकन्द भगवान् जीव के और जीव उनके हैं। भगवान् परमकारुणिक हैं। वे चाहते हैं कि जीव किसी प्रकार से निरावरण निजानुभव करके जन्म-मरण-विच्छेद-लक्षण संसृति से विनिर्मुक्त हो जाय। तभी तो सृष्टि का निर्माण करते हैं। यद्यपि महाप्रलयकाल में सब जीव भगवान् के सम्मिलन से सुखी थे, परन्तु फिर भी परमप्रियतम प्राणधन भगवान् ने उनको सृष्टिकाल में जगाया। जिस प्रकार पुत्रवत्सला माता स्वाङ्क में प्रसुप्त स्वपुत्र को किसी उत्तम फल के मिलने पर उसे खिलाने को जगाती है, उसी प्रकार भगवान् के सभी पुत्र उनकी गोद में सोते थे, भगवान् ने उन्हें उत्तम फल देने के लिये जगाया—"**सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति।**" महाप्रलय में सावरण भगवान् का अनुभव रहता है। भगवान् ने सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि परम्परा से सन्तप्त जीवों को देखकर उन्हें निरावरण निजानुभव कराने के लिये सृष्टि का निर्माण किया।

कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा कभी भी अपने पुत्र का अकल्याण नहीं चाहती, पुत्रजन्म के लिये तरह-तरह के देवी-देवताओं को मनाती है, पुत्र के गर्भ में आते ही हर्ष के मारे फूली नहीं समाती, गर्भस्थ बालक के हस्त-पादादि-उत्क्षेपण से कष्ट होने पर भी उसे अपराध नहीं मानती, प्रत्युत, 'अब पुत्र बड़ा हो गया' यह समझकर प्रसन्न होती है, पुत्र की उत्पत्ति में प्राणान्त कष्ट सहन कर भी आनन्द में विभोर रहती है, स्वयं गीले में रहकर बालक को सूखे में रखती है, मल-मूत्रादि अपने ऊपर लेती है। माँ का हृदय कितना उदार होता है! वह पुत्र के लिये क्या-क्या नहीं करती? ठीक इसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-जननी, कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा अपने पुत्र जीवों का अकल्याण कभी भी नहीं चाहती, अपितु उनका सर्वविध कल्याण ही चाहती है। इसीलिये तो भगवान् शङ्कराचार्य ने कहा है कि पुत्र कुपुत्र हो जाय, पर माता कुमाता नहीं होती— "**कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।**" वह सदैव अपने पुत्र के उत्कर्ष के लिये लालायित रहती है। तभी तो ब्रह्माजी ने कहा है कि हे प्रभो! क्या गर्भगत बालकों के पाद-प्रक्षेप को माता अपराध मानती है? नहीं, क्योंकि यह तो अबोध बालक की बात है—

"उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्ति नास्ति व्यपदेशभूषितं तवैव कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥"

यदि माता यह समझे कि इसने मेरे पेट में रहकर मुझे कितना कष्ट दिया है और इसका बदला लेने पर तुल जाय, तब तो उदर से बाहर होते ही उस नवजात शिशु का गला घोंटकर वह उसके प्राण निकाल दे, किन्तु माता उसके पादप्रक्षेप

को अपराध नहीं मानती। अपराधी बालकों पर भी माताएँ क्रोध नहीं करतीं, यदि करती हैं तो उनके कल्याणार्थं ही।

जैसे दर्पण के भीतर पृथ्वी, सूर्य, नक्षत्रमण्डल, सागर, पर्वत सभी दीखते हैं, वैसे ही उस अखण्डबोधरूप सत्-तत्त्व के अन्तर्गत सभी पदार्थों की स्फूर्ति होती है, उसीसे सभी दीखते हैं। उस भगवान् ही कि कुक्षि में भावाभावात्मक सकल प्रपञ्च है। अतएव भगवान् स्वकुक्षिगत पुत्रस्थानीय सकल प्राणियों पर क्रोध नहीं करते—

"नाथ जीव तव माया मोहा, सो निस्तरइ तुम्हारे छोहा।"

हम भगवान्, शास्त्र और धर्म से क्यों शत्रुता करते हैं? इसलिये न कि हम स्वयं अपने वश में नहीं हैं। मोहमयी प्रमादमदिरा के पान से जगत् प्रमत्त हो रहा है—**"पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।"** उसीसे पतन के कारण में प्रेम और अभ्युदय के कारण में द्वेष होता है। इसीलिये वैदिक मन्त्रों द्वारा भगवान् से प्रार्थना की जाती है कि हे दयालो! हे करुणामय! आप मुझे न भूलना तथा मैं भी आपको न भूलूँ—**"माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्।"** हाँ, ठीक भी है, क्योंकि जीव स्वतंत्र नहीं है, माया के वश में है। अतएव भगवान् को न भूलना उसके वश में नहीं है—**"नाथ जीव तव माया मोहा", "तव मायावस फिरौं भुलाना।"** यद्यपि हम अल्पज्ञ जीव अपने प्रियतम प्रभु को भूलकर उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन करते हैं, तथापि हे प्रभो! आप ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि आप तो सर्वज्ञ हैं—

"मोर न्याउ मैं पूछा साईं, तुम कस पूछउ नर की नाईं।"

आप मुझे कैसे भूलते हैं? क्यों उपेक्षा करते हैं? आप मेरे ऊपर ऐसी अनुकम्पा कीजिये कि मैं भी आपको न भूलूँ। यद्यपि हम मोहवश आपको भूलते हैं, तथापि पिता-माता पुत्रों को नहीं भूलते, न उनका नाश ही चाहते हैं। तो फिर प्रभो! आप अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होकर अपने पुत्रों का नाश कैसे चाहोगे? अस्तु, कहने का अभिप्राय यह है कि किसीको भी निराश होने की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है श्रद्धा-विश्वासपूर्वक सङ्कल्प की। श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक भक्त लोग जिस तरह चाहते हैं, भगवान् को नचाते हैं। हठीले, रसीले भक्तों के सामने भगवान् को घुटने टेकने ही पड़ते हैं। मचले हुए दर्शनाकांक्षी भक्त किसी भी बात से सन्तुष्ट नहीं होते, मातृपरायण शिशु को बहुमूल्य रत्न दीजिये, सुन्दर, स्वादिष्ट पक्वान्न खाने को दीजिये, वसन, भूषण, अलङ्कार से उसे खूब अलंकृत एवं सुसज्जित कीजिये, उसका खूब सम्मान कीजिये, यश गाइये, उसे विविध सुखसामग्रियों एवं स्वर्ग-मोक्ष का प्रलोभन दीजिये, फिर भी वह स्नेहमयी, करुणामयी अम्बा और मातृस्तनों को छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता, अम्बा की अपेक्षा वह किसी भी पदार्थ से सन्तुष्ट हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार प्रेमी भक्तों की कामना

केवल प्रभु को पाने के लिये ही होती है। एकमात्र प्रभु ही उसके काम्य होते हैं। बच्चा कुछ बड़ा हुआ, इधर-उधर कुछ चलने लगा, चलते-चलते ठोकर खाकर गिर पड़ा, रोने लगा। बच्चे का रोना सुनकर माँ दौड़ी आयी। बच्चा खीझ गया, गिर पड़ा स्वयं, परन्तु क्रोध उसका माता पर हुआ। वह अपनी तोतली बोली में बार-बार कहता है—'तू मुझे अकेला छोड़कर क्यों गयी ?' फिर अभिमान करके रूठ जाता है। कहता है—'जा मैं तुझसे नहीं बोलूँगा, तेरी गोद में नहीं आऊँगा।' माँ मनाती है, गोद लेना चाहती है, स्तन पिलाना चाहती है, वह रोता हुआ आगे भागता है। वह ऐसा क्यों करता है ? इसलिये कि वह स्वाभाविक ही माता पर अपना अधिकार समझता है। माता को ही अपना **'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी'** एवं सर्वस्व समझता है, वह भूखा रहे तो माँ का दोष, वह गिर जाय तो माँ का अपराध, वह सो न सके तो माता का अपराध और अपराध का दण्ड खीझना तथा रूठना—क्रोध तथा अभिमान ! किन्तु ऐसी भावना कि 'भगवान् मेरे हैं, मेरा उनपर पूर्णाधिकार है' बड़े उच्चकोटि के भक्तों में होती है। ऐसे भक्तों के पीछे परमानन्दरससार-सिन्धु-सर्वस्व, करुणामय, सर्व-सामर्थ्य, सर्वपद प्रभु बछड़े के पीछे स्नेहवश दौड़नेवाली गौ की भाँति दौड़ते हैं। भक्त जो इच्छा करता है, उसकी पूर्ति करते हैं।

श्रीमद्वृन्दारण्य-धाम में एक महात्मा रहते थे, वे एक दिन अरण्य में घूमने गये। उनकी लम्बी जटा झाड़ी में उलझ गयी, बस फिर क्या था, वे महात्मा भी अकड़ गये और कहने लगे कि 'जिसने उलझाया, वही सुलझाये।' अन्ततोगत्वा रसिकेन्द्र-शेखर, भक्तभावनापराधीन प्रभु पथिकरूप में प्रकट हुए और कहने लगे—'बाबा जी ! आपकी उलझी हुई जटाओं को छुड़ा दूँ ?' बाबाजी ने कहा—'ना भैया ! जिसने उलझाया वही सुलझायेगा।' भगवान् ने कहा—'मैंने ही तो उलझाया है।' बाबाजीने कहा—"नहीं, मेरी जटाओं को तो अखिलरसामृतसिन्धु, व्रजेन्द्रनन्दन, मदन-मोहन श्यामसुन्दर ने उलझाया है और वही सुलझायेंगे।" अन्त में विश्व-विमोहन मोहन, दिव्य, चिन्मय वसन-भूषण-अलङ्कारों से अलंकृत और सुसज्जित होकर, अखिल-सौन्दर्य-माधुर्यरसाम्बुधि, रसराज-मणि, आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन के रूप में अवतरित हुए और सुलझाने के लिये आगे बढ़े। बाबाजी ने कहा—'उधर ही रहो, मुझे छूना मत।' श्यामसुन्दर ने कहा—'आखिर क्या बात है, मैंने ही तो उलझाया है।' बाबाजी ने कहा—'बात यही है कि श्रीमद्वृन्दारण्य-धाम में पाँच प्रकार के कृष्ण माने जाते हैं, किन्तु मैं तो नित्यनिकुञ्जेश्वरी राधा के वल्लभ को ही चाहता हूँ। यदि श्रीराधाजी आकर कहें, तो मैं आपको छूने दूँ।' राधाजी भी आयीं और कहने लगीं कि "हाँ, यही नित्यनिकुञ्जेश्वर, यदुकुलनलिनदिनेश हमारे श्यामसुन्दर हैं।" तब बाबाजी ने उन्हें छूने दिया। यह है भक्तों का सङ्कल्प !

इसी प्रकार एक बार श्री सूरदास कुएँ में गिर पड़े और यह संकल्प कर लिया कि भगवान् ही निकालेंगे तो निकलूँगा, अन्यथा नहीं। भगवान् आये और अपनी

विशाल भुजाओं द्वारा सूरदासजी को बाहर निकालकर जाने लगे। श्री सूरदासजी ने अपने हाथों से भगवान् के मङ्गलमय श्रीहस्तारविन्द को पकड़ लिया, किन्तु जिसकी शक्ति से शक्तियाँ भी शक्तिशालिनी होती हैं, उसे क्या कोई पकड़ सकता है, अथवा कुछ कर सकता है ? अस्तु भगवान् ने यों ही हाथों को छुड़ा लिया और जाने लगे। तब सूरदासजी ने कहा—

"हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि के मोहिं।
हृदय से जब जाहुगे मर्द कहौंगो तोहिं॥"

अन्ततोगत्वा भगवान् को पराजित होना पड़ा। भक्त के हृदय से आखिर भगवान् जा ही कैसे सकते हैं ? जैसे द्रवीभूत लाख में हरिद्रा आदि का रङ्ग मिलाया जाय, तो करोड़ों प्रयत्न करने पर भी लाख हरिद्रारङ्ग को दूर नहीं कर सकती एवं रङ्ग भी करोड़ों उपायों द्वारा लाख से वियुक्त नहीं हो सकता, वैसे ही भक्त या भगवान् चाहने पर भी परस्पर वियुक्त नहीं हो सकते। अस्तु, सारांश यही है कि भक्त सत्सङ्कल्पों द्वारा जो चाहे वह प्राप्त कर सकता है। यदि सच्चे अन्तःकरण से उसका सत्सङ्कल्प हो, तो क्षणमात्र में वह अचिन्त्य, अनन्त गुणगणनिलयपटीयान् भगवान् को पाकर कृतकृत्य हो सकता है। अस्तु, श्री विभीषणजी अपने मन में अनेकानेक सङ्कल्पों को करते और यह सोचते हुए कि आज मैं सबको सुख देनेवाले श्रीराघवेन्द्रजी के कोमल लालपादारविन्दों को देखूँगा, पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र प्रभु के पास जा रहा हूँ—**"देखिहहुँ जाइ चरण जलजाता, अरुन मृदुल सेवक सुखदाता।"**

श्री विभीषणजी मनोरथ कर रहे हैं कि अब जाकर अचिन्त्य, अद्भुत, महा-महिमवैभवशाली श्रीराघवेन्द्र रामचन्द्र प्रभु के मनोहर, मङ्गलमय उन श्रीचरणारविन्द के दर्शन करूँगा, जो सेवकों को सुख देनेवाले, योग-क्षेम वहन करनेवाले हैं। अप्राप्त की प्राप्ति एवं प्राप्त वस्तु का रक्षण करना ही इन श्रीचरणों की विशेषता है। भावुकों का सिद्धान्त है कि वैसे तो भगवत्स्वरूप ही फल है, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सबका पर्यवसान आनन्द में है। संसार का जितना सुख है, वह एक बिन्दु है और अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत उस बिन्दु का जो उद्गमस्थान है, वह परमानन्दसिन्धु भगवान् ही हैं। इसीलिये एक जगह ब्रह्मा ने भगवान् से कहा–'विभो ! आप इन प्रेमी भक्तों को क्या देकर उऋण होंगे, जिनके एकमात्र सर्वस्व आप ही हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व आपके श्रीचरणों में अर्पण कर दिया है ?' भगवान् ने कहा—'ब्रह्मन् ! जब मैं अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक हूँ, 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम् समर्थ' हूँ, तब फिर ये प्रेमी भक्त जो लेंगे, वही देकर उऋण हो जाऊँगा। दिव्यातिदिव्य सौख्यसाधन, उच्च से उच्चकोटि का ऐश्वर्यादि देकर इनसे उऋण हो सकता हूँ।' ब्रह्मा ने कहा–'भगवन् ! संसार में जितना सुख है, उस सबका पर्यवसान आनन्दबिन्दु में है, तो क्या आप इन प्रेमियों को आनन्दबिन्दु देकर ही ऋण से छुटकारा पाना चाहते हैं ?

यह हो नहीं सकता। भला जिनके मणिमय प्राङ्गण में धूलिधूसरित होकर परमानन्दसिन्धु ही मूर्तिमान् होकर 'थेई-थेई' करता हुआ नाच रहा है, उनको आनन्द-बिन्दु की अपेक्षा ही क्या ? भगवन् ! विविध सुखसामग्री, ऐन्द्र-माहेन्द्र एवं ब्राह्मपद के समस्त वैभवों को देकर भी इनसे उऋण नहीं हो सकते। आपको तो इनका चिरऋणी ही रहना पड़ेगा।' भगवान् ने कहा—'अच्छा ब्रह्मन् ! मैं इन प्रेमी भक्तों को अचिन्त्य, अनन्त परमानन्दसिन्धुसारसर्वस्व अपने आपको ही दे डालूँगा, तब तो इनसे मुक्त होऊँगा ?' ब्रह्मा ने फिर कहा—'भगवन् ! अपने आपको तो आपने लोकबालघ्नी, रुधिराशना, राक्षसी पूतना को भी दे डाला, दुर्वृत्त राक्षसेश्वर रावण जैसे अत्याचारियों को भी दे दिया। जो महद् वस्तु उन विरोधियों को दी गयी, वही इन अनन्य, अन्तरङ्ग प्रेमी भक्तों को दी जाय, यह न्याय नहीं। इसलिये अपने आपको देकर भी आप इनसे उऋण नहीं हो सकते।' भगवान् ने कहा—'अच्छा, इनके कुटुम्बभर को अपने को दे डालूँगा।' फिर ब्रह्मा ने कहा—'हे देव ! पूतना का क्या कोई बचा था ? अघासुर, बकासुर सब तो आपको पा गये। रावण भी तो सकुटुम्ब आपको पा गया।' अन्त में भगवान् को कहना पड़ा—'अच्छा ब्रह्मन् ! मैं इनका ऋणी ही रहूँगा।' सारांश यह कि भगवान् का मधुर, मनोहर, मङ्गलमय स्वरूप स्वतः फलस्वरूप है। भगवान् के श्रीपादारविन्द-नखमणिचन्द्रिका की दिव्य द्युति का ध्यान करना ही परम फलस्वरूप है।

कुछ लोग भगवान् के श्रीचरणारविन्द को साधन मानते हैं, पर उच्चकोटि के भक्तगण प्रभु के सौगन्ध्यामृतसिन्धु श्रीचरणारविन्द में अनन्य भक्ति को ही परप्रेमरूपा, स्वतःसिद्धा, भगवान् की परमान्तरङ्गा शक्तिरूपा मानते हैं—"साधन-सिद्धि रामपद नेहू।" भक्ति साधन और साध्यरूप से दो प्रकार की होती है। जैसे—अपक्व आम्र पक्व आम्र का हेतु होता है, वैसे ही साधनरूपा भक्ति का साध्यरूपा भक्ति के साथ साध्यसाधनभाव होता है। सर्वाभिलाषवर्जित, ज्ञान और कर्मों से असंस्पृष्ट, अनुकूलता श्रीकृष्ण का अनुस्मरण ही 'भक्ति' है—

"सर्वाभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुस्मरणं भक्तिरुच्यते॥"

इन सिद्धान्तों में भक्ति ही सब कुछ है, उसके लिये ही समस्त साधन हैं, ज्ञान और मोक्ष आदि उसमें विघ्न हैं। भक्तजन भुक्ति, मुक्ति और विरक्ति सबको तिलाञ्जलि देकर भक्ति को ही चाहते हैं। इसीलिये बड़े-बड़े अमलात्मा परमहंस, महामुनीन्द्रगण भी अद्वैत, अनन्त, अखण्ड ब्रह्म से मन हटाकर सगुण, साकार भगवान् में मन लगाते हैं। प्रभु के श्रीचरणारविन्द-सौगन्ध्यामृतसिन्धु के एक बिन्दु के भी समास्वादन करने से सनकादिक, शुकादिक जैसे ब्रह्मनिष्ठ महामुनीन्द्र भी मुग्ध हो जाते हैं। अरविन्दनयन भगवान् के श्रीचरणारविन्द-मकरन्दमिश्रित तुलसी के मकरन्दरेणु जिस समय स्वविवर

(नासिका) द्वारा सनकादिकों के हृदयान्तर्गत हुए, बस उसी समय उन अक्षरब्रह्म-निष्ठ भी सनकादिकों के शरीर और मन में क्षोभ हो गया अर्थात् शरीर में पुलकावली, नयनों में अश्रु और मन में द्रवता उत्पन्न हो उठी—

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दरेणुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥"

श्रीशुकाचार्य, जिनका चित्त स्वरूपभूत परमानन्दसुधासिन्धु से ही परिपूर्ण हो गया था, स्वसुखनिभृतचेता होने से ही अन्यपदार्थविषयक अस्तित्वबुद्धि जिनकी मिट गयी थी, जो केवल सर्वत्र एक परमतत्व का दर्शन करते थे, भगवान् की लीला रुचिर से उनका भी धैर्य च्युत हो गया—

"स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपयायस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नमामि ॥"

(स्वसुखेनैव निभृतं परिपूर्णं चेतो यस्य स तथोक्तः । तेनैव निरस्तः अन्यस्मिन् पदार्थे भावो भावना अस्तित्वबुद्धिर्यस्य स तथोक्तः) उन्होंने स्वयं कहा है कि मेरा मन निर्गुण परब्रह्म में परिनिष्ठित था, फिर भी उत्तमश्लोक, भगवान् की लीला ने मेरे चित्त को खींच लिया । श्रीहरि के गुणों से आक्षिप्तमति होकर मैंने श्रीमद्भागवत-रूप महाख्यान का अध्ययन किया है—

"परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया ।
गृहीतचेता राजर्षे अध्यगां संहितामिमाम् ॥
हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान् बादरायणिः ।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥"

"लखी जिन लाल की मुसकान ।
तिनहिं बिसरी वेदविधि सब योग संयम ज्ञान ॥"

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥"

अतएव श्रीजनकजी जैसे विदेह, ब्रह्मविद्वरिष्ठ, तत्वनिष्ठों की यह अनुभूतियाँ हैं कि भगवान् की सौन्दर्यछटा, आकर्षक माधुरी एवं रूपराशि को देखते ही उनका ज्ञान मानो मूर्च्छित हो गया, देह की सुधि जाती रही, रोमाञ्च हो आया, वाणी गद्‌गद हो गयी और आनन्दाश्रु से आँखें डबडबा आयीं—

"इनहिं बिलोकत अति अनुरागा, बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा ।
सहज बिरागरूप मन मोरा, थकित होत जिमि चन्द चकोरा ॥"

ठीक ही है, तभी तो यह कहा जाता है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को ही भक्तियोग विधान करने के लिये अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, भगवान् अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाजलनिधि दिव्य मूर्ति धारण करते हैं । अन्यथा असुरनाश

जैसे छोटे कार्य्यों के लिये प्रभु का अवतार वैसे ही अनुचित होगा, जैसे मशक-निवारणार्थं भुशुण्डो का प्रयोग (मच्छर मारन के लिये तोप चलाना)। परन्तु समस्त नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च से व्यावृत्तमनस्क अमलात्मा परमहंसों को भजनानन्द प्रदान करने के लिये प्रभु का दिव्यस्वरूप-धारण परमावश्यक है। अद्वैत-ब्रह्मनिष्ठ परमहंसों को भक्तियोग प्रदान कर उन्हें श्रीपरमहंस बनाना यही प्रभु के प्राकट्य का मुख्य प्रयोजन है। जैसे मिश्रित क्षीर-नीर का हंस विवेचन करता है, वैसे सांख्यसिद्धान्त के अनुसार प्रकृति-प्राकृत प्रपञ्च से पृथक्, असङ्ग, अनन्त चेतनतत्व का विवेचन कर लेनेवाले 'हंस' कहे जा सकते हैं। परन्तु वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार तो दृक्दृश्य, आत्मा-अनात्मा, परात्पर पूर्णतम, सर्वभासक भगवान् और प्रकृति-प्राकृत प्रपञ्च का ऐसा सम्बन्ध है, जैसे दिव्य मणिमाला और उसमें कल्पित सर्प का अर्थात् सत्य एवं अमृत का आध्यात्मिक सम्बन्ध है, वैसे हो दृश्य प्रकृति और उसके भासक एवं अधिष्ठानभूत भगवान् का आध्यात्मिक सम्बन्ध है। अतः सत्यामृत के विवेचन से जैसे सत्य ही अवशिष्ट रहता है, अमृत का सर्वथा अभाव हो जाता है, वैसे ही दृक्-दृश्य का भी विवेचन करने पर अमृतस्वरूप दृश्य का अभाव हो जाता है, केवल सर्वदृक् भगवान् ही अवशिष्ट रहते हैं। इस तरह वेदान्त-सिद्धान्तानुसार सत्यानृतरूप नीर-क्षीर का विवेचन है और नीरस्थानीय दृश्य को मिटाकर परमसत्य भगवान् में ही स्थित होनेवाले 'परमहंस' कहे जा सकते हैं। परन्तु बिना भगवान् के मधुर, मङ्गलमय स्वरूप में पूर्णानुराग हुए ज्ञान भी सुशोभित नहीं होता—**"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।", "रामप्रेम बिन सोह न ज्ञाना।"** अत: भक्तियोग से ज्ञान को सुशोभित करके परमहंसों को श्रीपरमहंस बना देना बस यही मुख्य प्रयोजन प्रभु के मधुर, मङ्गलमय स्वरूप धारण करने का है। भजनीय के बिना भक्तियोग बन ही नहीं सकता। भगवत्तत्व से भिन्न प्रपञ्च जिनकी दृष्टि में है ही नहीं, उनका भजनीय सिवा भगवान् के और कौन हो सकता है? रहा भगवान् का अचिन्त्य, अनन्त, अव्यपदेश्य, निराकार स्वरूप, सो उस स्वरूप में तो वे परि-निष्ठित हो हैं। महावाक्यजन्य परब्रह्माकारा वृत्ति के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध जानकर मन, बुद्धि एवं सर्वेन्द्रियाँ तथा रोम-रोम भी प्रभु के साथ सम्बन्ध के लिये लालायित हैं। इन्द्रियाँ स्वयम्भू से पराङ्मुख रची जाकर अपनी हिंसा किया जाना इसीलिये समझती हैं कि उन्हें उनके प्रियतम से बहिर्मुख कर दिया गया है—**"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः।"** महर्षि आदिकवि भी यही कहते हैं कि जिसने स्नेहभरी दृष्टि से श्रीरामचन्द्र को नहीं देखा और श्रीरामचन्द्र ने अनुकम्पाभरी दृष्टि से जिसे नहीं देखा, वह सर्वलोक में निन्दित है और उसकी स्वात्मा भी उसकी विगर्हणा—धिक्कार-करती है—

"यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माऽप्येनं विगर्हति॥"

जैसे कमलनयन पुरुष के अतिशोभन नयन व्यर्थ हैं, यदि प्रभु के रूपदर्शन में उनका उपयोग न हुआ, वैसे ही ज्ञानी के भी प्रारब्धभोगपर्य्यन्त अनिवार्य रूप से रहनेवाले देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि व्यर्थ और नीरस ही रहे, यदि उन सबका सदुपयोग प्रभु के सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्यामृत आदि के समास्वादन में न हुआ। इसीलिये श्रीव्रजाङ्गनाओं ने भी कहा है कि नेत्रवालों के नेत्रादि करणग्रामों की सार्थकता और इनका चरम फल यही है कि श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के अनुरागभरे कटाक्षपात से युक्त, वेणुचुम्बित, अमृतमय मुखचन्द्र के सौन्दर्य-माधुर्य्यामृत का निर्निमेष नयनों से पान किया जाय और घ्राण से सौगन्ध्यामृत का, त्वक् से सुस्पर्शामृत का आस्वादन किया जाय, अन्यथा इन करणग्रामों का होना बिल्कुल व्यर्थ है— "**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।**" इस प्रकार अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोम को अपने दिव्य रस से सरस और मङ्गलमय बनाने के लिये भगवान् का प्रादुर्भाव है।

●

श्रीकृष्णजन्म और बालक्रीड़ा

वेदान्तवेद्य, परात्पर, पूर्णतम भगवान् अपने परम प्रिय धर्म के संस्थापन तथा गो, विप्र, साधुजनों की रक्षा के लिये अपनी दिव्य लीलाशक्ति द्वारा अद्भुत सौन्दर्य, माधुर्य, सौगन्ध्य, सौरस्य, सौस्वर्य्य सुधाजलनिधि मङ्गलमय विग्रह धारण करके प्रकट होते हैं। भक्तों को अभय देनेवाले विश्वान्तरात्मा भगवान् का प्रादुर्भाव प्राकृत जीवों की तरह नहीं होता, किन्तु भौतिक धातुसम्बन्ध बिना ही मन में उनका प्राकट्य होता है। व्यापक विरज ब्रह्म का धारण सिवा निर्मल अग्रय मन के और किसी तरह बन ही नहीं सकता। अनन्त अखण्ड ब्रह्मतेज को ग्रहण तथा धारण करने से प्राणी में तेज, प्रागल्भ्य आदि दिव्य शक्तियाँ स्फुरित होती हैं। अतएव अचिन्त्य भगवान् श्री वसुदेवजी के मन में ही प्रविष्ट हुए और मन से ही देवकी ने वसुदेवजी से श्रीकृष्ण को धारण किया—

"आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः।"
"काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः॥"

सकललोकनायक पुरुषोत्तम का आगमन जानकर समस्त प्रकृति अपने प्रियतम, जीवनधन प्रभु के स्वागत के लिये उतावली हो उठी। परमशोभन समय प्रकट हुआ और शान्त दिव्य नक्षत्र तथा ग्रह-तारक आ जुटे। समस्त दिशा-विदिशाएँ प्रभु-सम्मिलन की सम्भावना से प्रसन्न हो उठीं। निर्मल उडुगणों से युक्त गगन के आनन्द की सीमा न रही। पुर, ग्राम, व्रजसहित माधवी श्रीभूदेवी ने सर्वमाङ्गल्यसम्पन्नरूप धारण किया। सरोवर, सरिताओं का जल शीतल, निर्मल तथा सुहावना होकर कमल-कमलिनियों की दिव्यश्री से सुशोभित हो उठा। भ्रमरवृंद, मयूर, हंस, सारस, कारण्डव, कोकिल, शुक, तित्तिर, पारावत और अनेक दिव्यवर्ण विहंगमों के सुमधुर निनाद से उन सरित्-सरोवर तथा वनराजियों के पुष्पस्तबक पल्लवादि सन्नादित होने लगे और पुष्पगंधयुक्त सुखद, सुस्पर्श, सुन्दर, शीतल समीर बहने लगा। इतना ही नहीं, दुष्ट दानवों के अत्याचार से प्रशान्त अग्नि, श्री भगवान् का आगमन जानकर फिर से देदीप्यमान हो उठे और आततायियों के उत्पीड़न से मुरझाये हुए सत्पुरुषों के सुमनोरूप सुमनस पुनः प्रफुल्लित हो गये, देवलोक में भी देवता दुन्दुभि बजाने लगे और ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि पुष्पों की वृष्टि करने लगे। सिद्ध, चारण आदि पवित्र मंत्रों से ब्रह्माण्डनायक प्रभु का स्तवन करने लगे, किन्नर, गन्धर्वगण जगत्पावन गुणों का गान करने लगे और विद्याधर, अप्सराओं के साथ प्रभु-प्रेम में निर्भर होकर नृत्य करने लगे।

ऐसे सुयोग में देवरूपिणी देवकी में आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ऐसे प्रकट हुए जैसे प्राचीदिक् में पूर्णचन्द्र। पूर्णिमा को छोड़कर अन्य तिथियों में ठीक पूर्वा दिक् का सम्बन्ध न होने से चंद्रमा में पूर्णता नहीं होती। यही कारण है कि श्रीकृष्णचंद्र के पूर्ण प्रकाश के लिये देवकीदेवी को प्राची दिक् बतलाया गया है—**"देवक्यां देवरूपिण्यां……प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः।"** श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी आनंद-वर्द्धन श्रीरामचन्द्र के पूर्णतम रूप में प्रकट होने के लिये श्री कौशल्या माता को प्राची बतलाया है—**"बन्दौं कौसल्या दिसि प्राची।"** परन्तु यहाँ एक बात और है। अलौकिक अद्भुत आनंद-सुधासिन्धु-समुद्भूत, श्रीकृष्णचंद्र जैसे सकलंक लौकिक चन्द्र से विलक्षण हैं वैसे ही निर्मल-विशुद्ध-सत्वमयी देवकीरूपा प्राची भी प्राकृत प्राची से विलक्षण है। फिर जैसे सूर्य्यकान्ता मणि पर ही सूर्य्य का पूर्णरूपेण प्राकट्य होता है, वैसे वेदान्तमहावाक्यजन्य ब्रह्माकाराकारित परमसत्त्वमयी मानसी वृत्ति पर ही पूर्णतम पुरुषोत्तम का प्राकट्य होता है। अतः यहाँ पर वही परम सत्त्वसमूहाधिष्ठात्री महाशक्ति देवरूपिणी श्री देवकी हैं और उनमें पूर्णतम तत्त्व का ही आनन्दघन श्रीकृष्णचन्द्ररूप में प्राकट्य हुआ है।

जन्म होने पर श्री वसुदेवजी ने एक ऐसे अद्भुत बालक को देखा, जिसके कमलदल के समान लोचन हैं और जो अपनी चार भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए है। उसका शरीर नव-नील-नीरद के समान परम सुभग सौन्दर्य्य-सम्पन्न है और उसपर श्रीवत्स-चिह्नयुक्त कौस्तुभमणि तथा पीताम्बर विराज रहा है। परम-तेजोमय किरीट तथा कुण्डल की दिव्यदीप्ति से उसके सहस्रों कुन्तल ('स्निग्ध सुचिक्कण-दीप्ति श्यामलअलकावली') आलिङ्गित हैं। उनमें किरीट की दीप्ति से ऊर्ध्व और कुण्डलों की दीप्ति से निम्नभाग की अलकावली वैडूर्यमणि की तरह नानाछवियुक्त हो रही हैं। ऐसे तेजोमयी काञ्ची आदि से अत्यन्त शोभायुक्त बालक को विस्मय से प्रफुल्ल नेत्रों द्वारा देखकर श्री वसुदेवजी ने परब्रह्म परमात्मा को ही अपने पुत्ररूप में समझा और उसके जन्मोत्सव में मन से ही ब्राह्मणों के लिये दश सहस्र गौओं का संकल्प कर डाला। फिर उस बालक को अपने दिव्य ब्राह्म-तेज से सूतिका-भवन को प्रभासित करते हुए, अपने श्रीअङ्ग की सुभगता, श्यामलता और मधुर दिव्य दीप्ति से नीलमणि तथा नीलेन्दीवरकोश की सहज सुभगता और श्यामलता तथा अपरिगणित सूर्य-चन्द्र के सुमधुर दिव्य प्रकाश को लजानेवाले साक्षात् परम पुरुष परमात्मा जानकर वे विनम्र और कृताञ्जलि तथा प्रभावित होने के कारण निर्भय होकर स्तुति करने लगे—

"हे नाथ! मैंने आपकी मङ्गलमयी कृपा से ही आपको जाना। आप प्रकृति-पार सर्व-बुद्धि-साक्षी निर्मल-बोध तथा आनन्दस्वरूप साक्षात् परम पुरुष हैं। आप ही पहले अपने प्रकृति से त्रिगुणात्मक प्रपञ्च का निर्माण कर पश्चात् उसमें अप्रविष्ट होकर

भी (क्योंकि सर्वप्रकाशक सर्वाधिष्ठान व्यापक असङ्ग तत्व का प्रवेश नहीं बन सकता) प्रविष्ट के समान प्रतीत होते हैं। जैसे महदादि अविकृत भाव विकृत भूतों के साथ मिलकर विराट् का निर्माण करते हैं और उनमें अनुगत से प्रतीत होते हुए भी वास्तव में अप्रविष्ट ही हैं, हे नाथ ! वैसे ही आप सर्वप्रकाशक सर्वाधिष्ठान सर्व-कारण हैं। आपका विवर्त्तभूत जगत् आपमें ही है, और आप स्वरूप से असङ्ग होते हुए भी तत्तत्प्रपञ्चों की सत्ता और स्फूर्तिरूप से उनमें प्रविष्ट-से प्रतीत होते हैं। यहाँ तात्पर्य्य यह है कि कार्य्य से प्रथम ही कारण सिद्ध होता है। किं बहुना कारण का ही कार्यरूप में प्रादुर्भाव होता है। कारण से भिन्न कार्य कुछ होता ही नहीं, फिर कार्य में कारण का प्रवेश या परस्पर आधाराधेय भाव कैसे हो सकता, है, पर तब भी कुण्डल में सुवर्ण, पट में तन्तु, ऐसा व्यवहार होता है। इसलिये अनिर्वचनीय कार्य और कार्य में कारण का अनिर्वचनीय प्रवेश प्रतीत होता हो है।

हे नाथ ! आप रूपज्ञानादि साधनों से अनुमित इन्द्रियों तथा तद्ग्राह्य रूपादि विषयों के साथ सत्तास्फूर्ति रूप से विराजमान रहते हुए भी इन्द्रियादि से अग्राह्य ही रहते हैं। जैसे चक्षु से रूप-ग्रहण काल में रूप के साथ विद्यमान भी रस नहीं गृहीत होता, क्योंकि इसके ग्रहण में चक्षु की शक्ति नहीं है, वैसे ही विषय तथा इन्द्रियादि में विद्यमान रहते हुए भी आप इन्द्रियादि से उपलब्ध नहीं होते; क्योंकि इन्द्रियों में सर्वाधिष्ठानभूत आपका प्रकाश करने का सामर्थ्य नहीं है। परिच्छिन्न पक्षी आदि का नीड़ में प्रवेश होता है, आप अपरिच्छिन्न हैं, अतः आपका बाह्य-आभ्यन्तर भाव ही नहीं बन सकता। आप सर्वस्वरूप तथा सर्वात्मा एवं परमार्थ-वस्तु हैं, आपका प्रवेश कैसे और कहाँ हो सकता है ? यदि कोई कहे कि दृश्य-प्रपञ्च में आपका प्रवेश हो सकता है सो ठीक नहीं, क्योंकि निर्विकार सच्चिदानन्द भगवान् से भिन्न दृश्य-प्रपञ्च में जो सत्यत्व बुद्धि करता है, वह अविवेकी है। (इत्यादि दृश्य-अनुवाद वाचारम्भण को छोड़कर किसी तरह से भी विचार-सह नहीं है, किन्तु तत्त्वपरामर्श से अत्यन्त बहिर्भूत अविचारित रमणीय ही है)।

हे नाथ ! यद्यपि आप निरीह, निर्गुण तथा निर्विकार हैं, तथापि तत्त्वज्ञगण सकल प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आपसे ही कहते हैं। आपके मायायुक्त और मायातीत रूप में ये दोनों बातें विरुद्ध नहीं हैं। अर्थात् आपके मायायुक्त-रूप से अनन्त ब्रह्माण्ड के सृष्ट्यादि होते हैं, और मायातीत-रूप से आप निरीह निर्गुण भी हैं। वस्तुतः आपके आश्रित रहनेवाली माया के समस्त विलास आपमें औपचारिक दृष्टि से व्यपदिष्ट होते हैं। त्रिलोकी-पालन के लिये आप ही सत्त्व का अवलम्बन करके शुक्ल रूप को धारण करते हैं और उत्पादन तथा संहार के लिये रक्त और कृष्ण रूप धारण करते हैं।

हे विभो ! आप इस लोक की रक्षा के लिये ही मेरे गृह में अवतीर्ण हुए हैं, और आप असुर-यूथपों की सुसज्जित बड़ी से बड़ी सेनाओं का वध करके भू-भार का

अपनयन करेंगे। परन्तु आपके अग्रजों का वध करनेवाला यह कंस तो अभी ही आपका जन्म-श्रवण करते ही शस्त्र लेकर आयेगा।"

इस तरह श्री वसुदेवजी की स्तुति समाप्त होने पर देवकी भी महापुरुष-लक्षण-सम्पन्न पुत्र को देखकर तथा कंस से भयभीत होकर स्तुति करने लगी—"जिस अव्यक्त, आद्य, निर्विकार, निर्गुण ब्रह्मज्योति को वेद निर्विशेष, निरीह तथा सत्ता-मात्र बतलाते हैं, वह समस्त कार्य-कारण अध्यात्म के प्रकाशक, व्यापक विशुद्ध ब्रह्म आप ही हैं। कालचक्र के वेग में समस्त प्रपञ्च का विलयन हो जाने पर भी एक आप ही अवशिष्ट रहते हैं। हे प्रकृति-प्रवर्तक प्रभो! यह कालचक्र भी केवल आपकी ही लीला है। अतः नाथ! मैं आपकी प्रपन्न हुई हूँ।

हे नाथ! मरणधर्मा प्राणी मृत्यु-व्याल से भीत होकर पलायन करता हुआ समस्त लोकों में गया, परन्तु कहीं निर्भय न हुआ। पर जब कभी वह आपकी कृपा से आपके श्रीचरणों को प्राप्त करता है, तभी स्वस्थ होकर सुख की नींद सोता है, फिर तो मृत्यु उससे बहुत दूर रहती है। हे नाथ! आप हम सबकी इस कंस से रक्षा करें और साथ ही यह भी प्रार्थना है कि यह ध्यानास्पद स्वरूप सर्वसाधारण को दृष्टिगोचर न हो, और कंस मुझमें हुए आपके जन्म को न जाने।"

इस तरह नाना प्रकार से वसुदेव और देवकी का स्तवन श्रवण कर उनके पूर्वजन्म की तपस्या तथा वर-प्राप्ति की बात बताकर एवं अपने को नन्द के घर पहुँ-चाने का संकेत करके माता-पिता के देखते-देखते ही अपनी दिव्य योगमाया के प्रभाव से श्रीकृष्ण शिशु रूप में व्यक्त हो गये। भगवान् के संकेत से ज्यों ही श्री वसुदेवजी ने अपने शिशु को नन्द के घर पहुँचाने का मन किया, त्यों ही श्री वसुदेवजी के चरणों के बन्धन शिथिल हो गये और पहरेदार सो गये। वज्रमय कपाट भी खुल गये। जिस समय श्री वसुदेवजी बालकरूप परमपुरुष को लेकर चले, नागराज श्रीशेष अपने सहस्र फणों से छाया करते हुए साथ चले और श्रीयमुनाजी गाध हो गयीं। इस तरह श्रीयोगमाया की सहायता से श्री वसुदेवजी ने श्रीमन्नन्दराय के मंगलमय भवन में, जिसका द्वार खुला था, पहुँचकर प्रसुप्त श्री व्रजेन्द्रगेहिनी की शय्या पर अपने सर्वस्व पुत्ररत्न किंवा अन्तरात्मा को ही लिटा दिया और कन्या-रूप में श्रीयशोदाजी से उत्पन्न योगमाया को लेकर वे अपने स्थान को लौट आये। श्री वसुदेव के चले जाने तथा योगमाया का प्रभाव मिट जाने पर सब लोग प्रबुद्ध हो गये—

"ददृशे च प्रबुद्धा सा यशोदा जातमात्मजम्।
नीलोत्पलदलश्यामं ततोऽत्यर्थं मुदं ययौ॥"

श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी ने प्रबुद्ध होकर नीलोत्पलदल-श्याम मनोहर पुत्र को देखा और वे अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हुई। इस समय की बालकृष्ण की शोभा या छवि का कहना ही क्या है। भगवान् दिव्यातिदिव्य महेन्द्र नीलमणि तथा अति दिव्य नील

कमल, किंवा नील नीरधर, या मयूरपिच्छचन्द्रक से कोटि गुणित सुन्दर श्यामल कोमल गंभीर एवं दीप्तिमान् हैं और अपने अमृतमय मुखचन्द्र की दिव्य छवि से अनन्त कोटि चन्द्रमाओं को लजानेवाले हैं। लोकातीत कमलदल सरीखे मनोहर नयन हैं और कल्पतरु के सुकोमल नवल दल की मृदुता एवं मनोहरता को प्रहसन करनेवाले अङ्घ्रि-पल्लव हैं। श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी यशुमति अपने मधुरतम ललन श्रीकृष्ण को देखकर कल्पना करती हैं, क्या यह श्यामल महोमय परमतत्त्व श्याममय प्रकाश-पुञ्जों का साम्राज्य है, किंवा रूपरत्नाकरों की दिव्यनिधि है, किंवा लावण्यामृतमाणिक्य का परम सौभाग्य है, किंवा तत्तत् अङ्गावलियों का सुशोभित सिद्धान्त है।

यशोदानन्दन श्रीश्यामसुन्दर के सुमधुर स्वरूप का अनुभव करके भगवद्भक्त कवीन्द्रगण भी कल्पना करते हैं। श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी यशोदा के अंक में विराजमान श्रीकृष्ण मानों अद्भुत कुवलय अर्थात् रात्रिविकासी पंकज हैं। वह पंकज भी जलीय सरोवर के साधारण पंक या क्षीरसरोवर के नवनीतमय पंक से जायमान नहीं है, किन्तु पूर्णानुरागरससार सरोवर के सारमय पंक से उत्पन्न होनेवाला पंकज है। यह ऐसा अलौकिक कुवलय है कि आज तक भृङ्गों ने इसका आघ्राण एवं मकरन्द पान नहीं किया। अर्थात् भक्तों ने अब तक श्रीमन्नारायण के ही रूपमाधुर्य्य का आस्वादन किया, पर इन यशोदोत्सङ्ग-लालित श्रीकृष्ण का माधुर्य्यामृत पान नहीं किया और अनिलों ने अभी तक इस पंकज का सौगन्ध्य भी नहीं हरण किया। अभिप्राय यह है कि कवीश्वरों ने अब तक नारायण के यश का ही वर्णन किया है, अतः यह उनके लिये भी अपूर्व ही है और यह नीर में उत्पन्न होनेवाला भी नहीं अर्थात् प्रपञ्च में श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव ही नहीं है। तरङ्गों ने भी इस पंकज को आहत नहीं किया है अर्थात् मायामय गुणों के तरङ्गों से यह असंस्पृष्ट है और आज तक किसी ने कहीं भी इस अद्भुत कमल को देखा भी नहीं है या वैकुण्ठवासियों ने भी इस तत्त्व का दर्शन नहीं किया है। अथवा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के श्रीअङ्ग का ऐसा अद्भुत नित्य नवनवायमान माधुर्य्य है कि भक्तगण अनादि काल से उसका आस्वादन करते हुए भी उसको प्रतिक्षण अभिनव एवं अपूर्व ही समझते हैं, वैसे रसिकजन भी सदा ही श्रीकृष्ण के सुमधुर यश का वर्णन करते हैं पर तब भी उन्हें प्रतिक्षण उसमें अपूर्वता का ही भान होता है—

"अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलैरनुत्पन्नं नीरेष्वनुपहतमूर्मीकणभरैः।
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो यशोदायाः क्रोडे कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥"

श्रीनन्दरानी मृदु मधुर विश्व-मोहन शिशु-रुदन को सुनकर प्रेमानन्द में चित्र-लिखित-सी रह गयीं। योगमाया का प्रभाव मिट जाने पर शिशु-रुदन से आकर्षित होकर स्निग्ध व्रजयुवतीजन समीप आयीं। जैसे चन्द्रमा का अभ्युदय होते ही व्यव-धानयुक्त भी (साक्षात् चन्द्रिका सम्बन्ध न होने पर भी) कुमुदिनी प्रफुल्लित होती

है, वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र के अभ्युदय मात्र से परमानन्दवती स्निग्धाओं के सुमनस (शोभन मन) प्रफुल्लित हो उठे। श्रीकृष्ण केवल श्रीयशोदा की शय्या पर ही नहीं अपितु व्यवधान होने पर भी स्निग्धों के स्वच्छ चित्त पर भी प्रतिबिम्ब की तरह स्फुरित हुए। नवनील नीरधर के समागम में चातकी के समान प्रहृष्ट होकर व्रजाङ्गनाएँ शीघ्र ही समीप आकर रोहिणी आदि के साथ बालक को देखने लगीं।

जैसे अभ्युदित होते हुए पूर्ण चन्द्रमा को उत्कण्ठित होकर चकोरीगण देखती हैं वैसे ही व्रजाङ्गनागण श्रीकृष्ण को सतृष्ण निर्निमेष नयनों से देखती हुई सोचती हैं कि क्या यह अद्भुत अलौकिक नीलकमलमय माल्य है, किंवा अलौकिक इन्द्रनील मणि है, अथवा विचित्रच्छवि का सुमधुर वैदूर्य है। अहो! यह बालक अनुपमेय और अज्ञेय है। इस बालक के तनु और सर्वेन्द्रियों की रचना नयनों की निर्द्वन्द्वता का विस्तार करती है। अहो! मानों इस बालक के श्रीअङ्ग मृगमद-सौरभ तथा तमाल-दलसार से अभ्यञ्जित हैं, मानों निखिल ब्रह्माण्डव्यापी लावण्यामृतसार से ही इस बालक के श्रीअङ्ग में उबटन हुआ है और निजाङ्गतेज से ही यह नहलाया गया है। मानों निज-मुखचन्द्र से विनिःसृत कान्ति-सुधा से हो इसका अनुलेपन हुआ है, एवं मङ्गल-मय लक्ष्मी से ही इस बालक का अङ्ग भूषित किया गया है। अथवा इस बालक के सुन्दर अङ्गों में मानों अति सुगन्धित स्नेह (तेल या प्रेम) से अभ्यङ्ग हुआ है और सौरभ्य (विश्वव्यापी सौगन्ध्यामृतसार) से उबटन हुआ है, माधुर्य्यामृतसार से स्नान कराया गया है और लावण्यसार से मार्जन किया गया है। सौन्दर्यसार सर्वस्व से अनुलेपन और त्रैलोक्य-लक्ष्मी से ही इसका शृंगार हुआ है।

अभ्यङ्ग स्नान-मार्जन आदि से लोक में यत्किञ्चित् स्निग्धता-मधुरता-लावण्यादि का सम्पादन होता है, यहाँ तो स्नेह-माधुर्य्य-लावण्य-सौन्दर्यादि सुधासार-सर्वस्व से ही अभ्यङ्ग आदि हुआ है। यह बालक मानों अभिनव नीलमणीन्द्र का अंकुर है, अथवा श्यामल तमाल का सुभग मृदुल पल्लव है, अथवा मानों नवाम्भोद का अति स्निग्ध कन्दल है, या त्रैलोक्य-लक्ष्मी का अत्यन्त उत्कृष्ट और सुरभित कस्तूरिका-तिलक है, किंवा सौभाग्यसंपत्ति का अति चिक्कण एवं सर्वाकर्षण-संपन्न सिद्धाञ्जन है। क्या यह बालक सुरभित श्यामल मृगमद कर्दम है, या श्यामामृत-महोदधि के मन्थन से समुद्भूत अति स्निग्ध और मधुर नवनीतपिण्ड है, अथवा मृगमद-रस से श्यामलीकृत शुद्ध दुग्धफेनखण्ड या सौन्दर्य-माधुर्य सुधाजलनिधि का रत्न है, किंवा सुछवि युवती का ललित लोचन है।

पहले तो श्रीनन्दरानी बालक के दिव्याङ्ग में अपना प्रतिबिम्ब देखकर 'यह कौन है' ऐसी शंका से व्याकुल हो उठीं और सोचने लगीं कि "क्या प्रसव के समय मेरा रूप धरकर यह कोई योगिनी आ गयी है।" पश्चात् नृसिंह मंत्र जपती हुई उससे 'दूर हो' ऐसा कहती हैं। तत्पश्चात् दीर्घश्वास के सम्बन्ध द्वारा निजप्रतिबिम्ब मिटने

पर श्रीव्रजरानी ने उस अद्भुत बालक को देखा, जिसका अङ्ग मृगमदसार-पंक के समान अत्यन्त सुकोमल है, जिसका मुख चन्द्र-चूर्णित घनान्धतम की तरह स्निग्ध श्यामल अलकावली से शोभित है और जो मानों सबके मन को आकर्षित करने के लिये ही दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधे हुए कालिन्दी-तरङ्ग की तरह चरण को चला रहा है। स्वयं परम कोमलाङ्गी होती हुई भी अंक में लेने से भयभीत होती हैं कि कहीं मेरे कठोर अङ्ग से बालक का सुकुमार शरीर पीड़ित न हो, अपने पयोधर के अग्र को उसके अधरपुट में रखकर वे पयःपान कराने लगीं। फिर व्रजपुरन्ध्रियों के शिक्षानुसार श्रीकृष्ण को गोद में लेकर मूर्त अमृत-रस की तरह स्तन-रस पिलाने लगीं। स्नेह के आवेग से दुग्ध अधिक प्रस्रुत होकर मृदुल बिम्बाधर के प्रान्त से कपोलतल को आप्लावित करने लगा, तब श्रीव्रजरानी सादर सस्नेह सुकोमलतर आँचल से उसको पोंछने लगीं।

श्रीव्रजरानी की समस्त सखियाँ बालक को देखकर प्रमुदित होती हैं और विचार करती हैं—"अहो! इस शिशु को शिर पर धारण करें, किंवा नयनों में धारण करें, किंवा हृदय या हृदय के मध्य में इसे बिठला लें।" फिर देखती हुई कल्पना करती हैं, मानों देदीप्यमान नीलमणि से इस बालक के सर्वाङ्ग का निर्माण हुआ है। कुरुविन्द (अरुण कान्तिवाले मणि) से बिम्बाधर, एवं पद्मराग से श्रीचरण और हस्त तथा पक्व दाड़िम-बीज के समान शिखरमणि से नखों का निर्माण हुआ है, अतः क्या यह मणिमय बालक है? पुनः बालक के श्रीअङ्ग की कोमलता का अनुभव करके कठिन मणिमयत्व की कल्पना को अनुचित समझकर दूसरी कल्पना करती हैं, मानों नीलेन्दीवर से बालक के सकल अवयवों का बन्धूक से बिम्बाधर ओष्ठ का, जवाकुसुम से पाणिपाद का और प्रान्त रत्न मल्ली-कोरक से नखसमूह का निर्माण हुआ है, अतः क्या यह कुसुममय बालक है? फिर सोचती हैं कि क्या वस्तुतः अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत-सौन्दर्य-माधुर्य-बिन्दु का उद्गमस्थान और अचिन्त्य अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासिन्धु-सार-सर्वस्व किंवा सकेलि सुषमा और शोभासार को ही लेकर किसी अद्भुत अलौकिक जगन्मोहन काम ने ही अपने सु-करकमल से इस बालक का निर्माण किया है!

श्रीव्रजेश्वरी अपने ललन श्रीबालकृष्ण को स्नेहस्नुत पयोधर पिलाती हुई, दक्षिण वक्षःस्थल में मृणालतन्तु के समान स्वच्छ सुभग सुस्निग्ध दक्षिणावर्त रोमराजिस्वरूप श्रीवत्स चिह्न को देखकर स्तनरस-कणों के निपातविन्यास को समझकर मृदुल अञ्चल से पोंछती हैं, परन्तु पोंछने पर भी जब वह न मिटा तब यह कोई 'महापुरुष-लक्षण है' ऐसा चिन्तन करने लगीं। पुनः वक्षःस्थल के वामभाग में स्वर्ण सरीखे वामावर्त रोमराजीरूप लक्ष्मी चिह्न को देखकर कल्पना करती हैं, क्या यह सुकोमल नवल तमाल-पल्लव पर बैठी हुई अतिसूक्ष्म पीतवर्ण की कोई विहङ्गी है,

या अति सुन्दर स्निग्ध नीलाम्बुद के अंकुर पर शोभायमान सुन्दर विद्युत्कलिका है, या किसी दिव्य कसौटी पर रञ्जित कनक-रेखा है। अरुण-कमल के सदृश मुख, श्रीहस्त और चरण सहित दीप्यमान श्यामल सर्वाङ्ग को देखकर समझती हैं कि यह चार-पाँच अरुण कमलकोश से संयुक्त सुन्दर यमुना-तरङ्ग हैं।

अमृतमय मुखचन्द्र और सुन्दर अलकावलियों को देखकर श्रीनन्दरानी कल्पना करती हैं कि यह क्या सौन्दर्य्य-माधुर्य्यमय मादक मधु का अधिक पान कर लेने से उन्मदान्ध अतएव भ्रमण में असमर्थ निश्चल मधुकरसमूह है, किंवा स्निग्ध श्यामल गाढ़ान्धकार के अंकुर-समूह ही अलक-समूह रूप में भासमान हो रहे हैं! नयनों को देखकर उनमें मुकुलित नीलोत्पल की कल्पना और सुन्दर युगल कपोलों में दिव्य नीलमणिमय जल के विशाल बुद्बुद की कल्पना करती हैं। और अति-सुभग युगल श्रवण को देखकर उनमें श्यामल महो (तेजो) मयी लतिका के अभिनवोन्मिषित युगल पल्लव की कल्पना करती हैं। तिमिर-द्रुम के अंकुर के समान नासाशिखर, यमुना के बुद्बुद के समान दोनों नासापुट, द्विदल जवाकोरक के समान अधर, ओष्ठ परिपक्व तथा छोटे-छोटे यमल (सहजात या युग्म) जम्बूफल के समान चिबुक (ठोढ़ी) को निरीक्षण कर नयनों के फल को पाकर व्रजरानी ने आनन्द-जलधि में अपनी आत्मा को अवगाहन कराया।

इतने ही में श्रीमन्नन्दराय के समीप जाकर व्रजपुरपुरन्ध्रियों ने पुत्रजन्म का मङ्गल सन्देश सुनाया। ग्रीष्म से सूखे हुए सरोवर को अमृत-धाराओं से सरस करते हुए अद्भुत मधुर घन-गर्जन की तरह पुत्रजन्म श्रवण करते ही श्रीमन्नन्दराय जैसे हर्षवर्षा में स्नान कर, अमृत महार्णव में प्रविष्ट होकर, आनन्द-मंदाकिनी से आलिङ्गित होकर, बालक के अवलोकन के लिये उत्कण्ठित हो उठे। यद्यपि आनन्द-मूर्च्छा के समय सूतिका-भवन में प्रवेश असम्भव था, तथापि स्वयं उपस्थित मूर्तिमान् ब्रह्मानन्द चमत्कार ने ही श्रीव्रजराज के श्रीहस्त को पकड़कर सूतिका-भवन में पहुँचाया। फिर भी स्खलन संभव था, अतः समुचित सुकृतसमूह चातुर्य्य ही आकर्षण करता हुआ सूतिका-भवन की ओर ले चला। इतना ही नहीं, आनन्द-मूर्च्छा के पश्चात् उत्पन्न होनेवाली उत्कण्ठा ने अपने दोनों हस्तों से पृष्ठ की ओर प्रेरित किया। इस तरह इन सबकी सहायता से सूतिका-भवन में पहुँचकर यशोदोत्सङ्गलालित श्रीकृष्ण को देखकर वे विचार करने लगे कि क्या यह अखण्ड सान्द्रानन्द का बीज है, किंवा जगन्मङ्गल मङ्गलोदय का अंकुर है, अथवा सिद्धाञ्जनलता का पल्लव है, या चिरतर-समय-समुत्पन्न सुकृतकल्पमहीरुहाराम का कुसुम है, अथवा समस्त उपनिषत् कल्पलताश्रेणी का सुन्दर फल है, किंवा श्रीव्रजेश्वरी की श्रीअङ्गरूपा अपराजितालता का ही कुसुम है। इस तरह अभिनव बालक को देखकर श्री नन्दराय मानों सर्वमनोरथ-सम्पत्ति से सिद्ध हो गये, आनन्द साक्षात्कार चमत्कार से विक्षिप्त हो गये या लिखित चित्र की तरह जड़ीकृत हो गये।

इस प्रकार प्रथम आनन्द-मूर्च्छा में प्रसुप्त होने के बाद श्रीकृष्ण-दर्शन-सुख का अनुभव कराने के लिये चेतनादेवी ने ही इन्हें प्रतिबोधित किया। उज्जृम्भमाण विपुल आनन्द से पुलकावली और आनन्द वाष्पकणनिकर-निपात आदि से लक्षित किसी अलौकिक दशा को प्राप्त होकर सनन्द, उपनन्द, सन्नन्द आदि तथा विप्रगण सहित पुरोधस से जातकर्मादि संस्कार कराकर अपार सम्पत्ति रत्न-मणि-भूषण-वसन-गोधनादि का उन्होंने दान दिया। श्रीमन्नन्दराय के दान-काल में चिन्तामणि, कल्पतरु, कामधेनुओं के समुदाय शक्तिहीन से हो गये, रत्नाकरों में नाना मत्स्यादि मात्र ही शेष रह गये, किं बहुना त्रैलोक्य-लक्ष्मी के भी पास लीला-कमल ही अवशिष्ट रहा। श्रीव्रजराजकुमार श्रीकृष्ण का जन्म हुआ, यह मङ्गलमयं ध्वनि मुखोंमुख, मार्गोमार्ग, कानों-कान सर्वत्र फैल गई और सब सोचने लगे कि श्रीयशोदा अद्भुत कल्पलता है कि जिसमें भगवत्प्रकाशरूप दिव्य फल प्रकट हुआ। मूर्त्तिमती वात्सल्य-रसाधिष्ठात्री महालक्ष्मी के समान तथा चलती-फिरती तेजोमयी मञ्जरी के समान अपने कुल को यश देनेवाली श्रीयशोदा धन्य है।

इस तरह अपने मधुर चरित्रों से अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र आत्मारामों को भक्तियोग में लगाने (प्रवृत्त करने) के लिये और नर-लीला रस की रचना से अपने भक्तों को आनन्दित करने के लिये श्रीव्रजराज के भवन में मूर्त्तानन्द श्रीकृष्णचन्द्र प्रकट हुए। मुक्त मुनियों के अभिलषित परमानन्दसार-सर्वस्व श्रीकृष्ण-फल को श्रीदेवरूपिणी श्रीदेवकी ने उत्पन्न किया, श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी ने उसका प्रकाशन तथा पालन किया और श्रीव्रजाङ्गनाओं एवं तदीय चरणाम्बुजानुरागियों ने उस सुमधुर फल का सम्यक् सम्भोग किया—

"मुक्तमुनीनां मृग्यं किमपि फलं देवकी फलति।
तत्पालयति यशोदा प्रकाममुपभुञ्जते गोप्यः॥"

यथासमय श्री गर्गजी नामकरण संस्कार के लिये पधारे। श्रीकृष्ण की अद्भुत सौन्दर्य्य-माधुर्य्य-सुधा का समास्वादन करके वे मन ही मन सोचते हैं कि अहो! यह यशोदोत्सङ्ग-लालित शिशु मृगमद-अनुलेप के सामने मेरे अंगों को तथा कर्पूरवर्ती के समान मेरे नेत्रों को शीतल करता है और अगर-धूम-गन्ध के समान घ्राण को तृप्त करता है। यह तो आनन्द-कन्द के समान मेरे हृदय में प्रविष्ट हो रहा है।

"कर्पूरवर्तिरिव लोचनमङ्गकानि पङ्क्ती यथा मृगमदस्य कृतेन्दुलेपः।
घ्राणं धिनोत्यगुरुधूपइवायमुच्चैरानन्दकन्द इव चेतसि च प्रविष्टः॥"

इतना ही नहीं, यह तो अपने प्रेम से मेरे धैर्य्य को हिलाये देता है और शरीर में कम्प तथा रोमाञ्च उत्पन्न करता है। हन्त! मैं तो इस बालक का नामकरण करने को आया था परन्तु इसने तो मेरे ही नाम को विलोपित कर दिया।

"धैर्यं धुनोति बत कम्पयते शरीरं रोमाञ्चयत्यतिविलोपयते मतिञ्च।
हन्तास्य नामकरणाय समागतोहमालोपितं पुनरनेन ममैव नाम॥"

यदि मैं इसके सुन्दर चरण-कमलों को अपने हृदय में धर लूँगा तो लोग मुझे उन्मत्त कहेंगे और यदि मैं ऐसा नहीं करता तो वह उत्कट औत्कण्ठ्य ही मेरे धैर्य्य-बन्धन को तोड़ देगा।

"पादौ दधामि यदि मां हृदये जनोऽयमुन्मत्तमेव बत वक्ष्यति चेत्करोमि।
तच्चातिचापलमहो न करोमि वा चेदौत्कण्ठ्यमेव हि लविष्यति धैर्य्यबन्धम्॥"

परन्तु चाहे कुछ भी हो, आज जन्म सफल हो गया, नयन सफल हो गये; विद्या, तपस्या, कुल भी सफल हुए और यदुवंश की भगवती आचार्य्यता भी सफल हो गयी।

"जन्माद्यसाधु सफलं सफले च नेत्रे विद्यातपः कुलमहो सफलं समस्तम्।
आचार्य्यता भगवती हि यदोः कुलस्य मामद्य हन्त नितरामकरोत्कृतार्थम्॥"

इस तरह प्रेम से श्रीमुनिराज आनन्दसिन्धु में निमग्न हुए से, पीयूष को पिये हुए से, जागते हुए भी सोते से, सुनते हुए भी बधिर से और बोलते हुए भी मूक के समान रह गये।

व्रजदेवियों सहित श्रीनन्दरानी और रोहिणी, श्रीबलराम और कृष्ण इन दोनों शिशुओं को चलना सिखलाती हैं। रोहिणी अपने ललन कृष्णचन्द्र का हस्तकमल पकड़कर चलाती हैं। हस्त छोड़ने पर श्रीबालकृष्ण दो-चार पग चलकर लड़खड़ाते हुए गिर पड़ते हैं और रोने लगते हैं तब माता उठाकर चुम्बन करती है, फिर किञ्चित् दूर खड़े होकर कृष्ण माँ का मुख विलोकन करते हैं। नेक दूर जाने पर गति मन्थर हो जाती है और समीप पहुँचने पर किलकते हुए दौड़ने लगते हैं। धीरे-धीरे दोनों भाई तोतरे शब्दों में 'माँ माँ ता ता' वचनामृत वितरण करने लगते हैं। अर्द्धोदित दन्तों की श्रेणी और मधुर अक्षरों की चित्र-श्रेणी ने माँ को चित्र सा कर दिया। शुक के समान बाल भगवान् धात्रीजनों से बोलना सीखते हैं और तर्जनी से प्रश्न करते हैं। शनैः-शनैः बलराम 'कृष्ण' और कृष्ण बलराम को 'आर्य्य' कहने लगते हैं। जब माता कहीं जाने से मना करने के लिये डराती हैं, तब दोनों वहाँ जाने के लिये कौतुकवशात् प्रवृत्त होते हैं। "चञ्चल चल ना ना" माता के ऐसे वाक्य को सुनकर छद्म से हँसते हुए लौटकर दोनों माता को निवृत्त करते हैं और फिर उसी वाञ्छित कार्य्य में लग जाते हैं।

"नैव नैव चल चञ्चल रे रे वाक्यमेतदवकर्ण्य जनन्याः।
मायया स्म परिवृत्य हसित्वा तां निवर्त्य ललिते वरिर्वति॥"

अत्यन्त आसक्ता माता कभी हँसते कभी रोते हुए दोनों शिशुओं को पकड़कर घर में लाती है और उबटन अभ्यङ्ग वेश-परिवर्तनादि शृङ्गार करके सुलाती है। कभी दोनों जानु तथा हस्तों से चलते हुए शुभ्र पाषाणमय स्थल में अपने अङ्ग का प्रतिबिम्ब देखकर बालक चकित होते हैं और उसे पकड़ने दौड़ते हैं, पर जब

प्रतिबिम्ब मूर्त्ति भी उन्हें पकड़ना चाहती है, तब आप संकुचित होकर साशंक माँ के अंक में छिप जाते हैं। कभी स्फटिक तथा महेन्द्र नीलमणि के समान श्यामगौर-दिव्य तेजवाले चन्द्रमा और नवनील नीरदांकुर की तरह, पुण्डरीक, नीलोत्पल की तरह, ज्योत्स्नाशकल और तिमिरसार-शकल के समान राम तथा कृष्ण दोनों व्रजकर्दम में आनन्द से खेलते हैं। एक-दूसरे की दिव्य-दीप्ति से श्याम-गौर दोनों तेजों का विनिमय होने लगता है। कभी दृप्त वृषभादिकों के सामने निःशंक दौड़ते हैं, कभी व्यालों को पकड़ना चाहते हैं, तो कभी अग्निशिखा पर आक्रमण करना चाहते हैं।

एक दिन अपने ही भवन में श्रीश्यामघन नवनीत चुरा रहे थे। इतने में ही मणिमय स्तम्भ के भीतर अपनी ही साँवली सलोनी मङ्गलमयी मूर्त्ति को देखकर उसीसे कहते हैं कि "मेरी माँ से चोरी न बताना, बराबर हिस्सा भले ही बँटवा लो।" इन वचनों को माता एकान्त में चुपके सुन रही थी। कौतुकात् जननी के पास आ जाने पर कृष्ण अपने अङ्ग-प्रतिबिम्ब को दिखलाकर कहते हैं—"माँ, यह कौन है ? लोभ से नवनीत चुराने के लिये घर में घुसा है। मेरे मना करने पर भी नहीं मानता, डाँटने पर यह भी बिगड़ने लगता है। माँ, तू तो जानती है कि मुझे माखन अच्छा नहीं लगता।" किसी दूसरे दिन माँ को किसी और काम में व्यग्र देखकर फिर आप नवनीत चुराने पहुँच गये। माँ आकर देखती और पूछती है कि कृष्ण कहाँ है ? यह सुनकर आप कहते हैं कि "मैया, कङ्कण के पद्मराग-तेज से मेरा हाथ जल रहा है, इसीलिये उसे नवनीतभाण्ड में छोड़कर शीतल कर रहा हूँ।" ऐसे मनोहर कर्णरम्य वचनों को श्रवण करके माता कहती है—"आओ, वत्स आओ, देखूँ तो तेरा हाथ कैसे तप रहा है ?" कृष्ण हाथ फैलाते हैं। उसका चुम्बन करके माता कहती है—"सचमुच हाथ जल रहा है, यहाँ से पद्मराग को दूर करो।"

एक दिन पूर्ण-चन्द्रिका से धौत अपने मणिमय प्राङ्गण में व्रज-देवियों के साथ गोष्ठी करती हुई व्रजरानी विराजमान थीं। वहाँ श्रीकृष्ण ने चन्द्रमा को देखा और पीछे से आकर शिर से खिसके हुए पट पर माता की स्खलित वेणी को पकड़कर कहने लगे कि "माँ, मैं इनको लूँगा।" बालक को गद्गद-कण्ठ देखकर माँ स्नेहार्द्रचित्त हो गयी और अपने पास बैठी हुई सखियों पर दृष्टि डालकर कहने लगी कि "तुम्हीं पूछो, यह क्या माँगता है ?" विनय, प्रणय, स्नेहसहित वे पूछती हैं, "बेटा, क्या क्षीर चाहते हो ?" कृष्ण 'नहीं'। तब फिर क्या 'सुन्दर दधि ?' 'नहीं।' 'फिर क्या कूर्चिका ?' "नहीं नहीं"। 'तब क्या आमिक्षा ?' 'अरे नहीं'। 'तब बेटा, क्या नवनीत लोगे ?' 'उँहूँ।' 'तब फिर क्यों मचलते हो और माँ को कुपित करते हो ?' श्रीकृष्ण अँगुली उठाकर चन्द्र को दिखलाते हुए कहते हैं कि "मैं तो वह नवनीत-खण्ड लूँगा।"

"किं क्षीरं न किमुत्तमं दधि न ना, किं कूचिका वा न ना-
ऽऽमिक्षा किं न न किं तवेप्सितमहो हैयङ्गवीनं घनम् ।
दास्यामो न विषीद वत्स नतरां कुप्यस्व मात्रे गृहो-
त्पन्नेनारुचिरित्युदङ्गुलिदलः शीतांशुमालोकयन् ॥"

व्रजदेवियाँ कहती हैं कि अरे बेटा, यह नवनीत नहीं है, व्योमवीथी-तड़ाग में यह कलहंस है । कृष्ण—"तब तो फिर इसीके साथ खेलूँगा, देखो कहीं भाग न जाय" ऐसा कहकर भूमि पर चरण युगलों को नचाते हुए बड़ी उत्कंठा से व्रजदेवियों के कण्ठ में लिपट जाते हैं और कहते हैं 'मेरे लिये इसे ला दो ।' जब वे बाल्यावेश से रोने लगते हैं तब कुछ व्रजदेवियाँ कहती हैं—"बेटा ! इन लोगों ने प्रतारण किया है । यह कलहंस नहीं, किन्तु पीयूष-रश्मि चन्द्रमा है ।" इसपर कृष्ण फिर कहते हैं–"मैं उसीको खेलने के लिये माँग रहा हूँ ।" बालक को जोरों से रोते देखकर माँ गोद में उठा लेती है और कहती है—"लाल, यह न राजहंस है, न चन्द्रमा; वह नवनीत ही है, पर दैवात् उसमें विष मिल गया है, उसे कोई खाता नहीं है ।" कृष्ण ने उत्सुक होकर पूछा "माँ, विष क्या होता है ? वह इसे कैसे लग गया ?"

पूर्व आवेश छोड़कर रसान्तर को प्राप्त श्रीकृष्ण की कथा-श्रवण में जिज्ञासा देखकर माता सोचती है कि चलो अच्छा ही हुआ । फिर आलिङ्गन करके मधुर स्वर में कहती है, "बेटा, एक क्षीरसागर है ।" झट कृष्ण पूछ बैठते हैं—"वह कौन है ?" माता उत्तर देती है, "जैसे यह दूध दिखाई देता है, वैसे ही दूध का समुद्र है ।" पर बाल-कृष्ण को इस उत्तर से सन्तोष कहाँ ? वे फिर पूछते हैं—"माँ, कितनी गौओं के स्तनों से इतना दूध निकला कि समुद्र बन गया ?" यशोदा उत्तर देती हैं 'वत्स, वह गो-दुग्ध नहीं है ।' यह बात बालक की समझ में नहीं आती है । वह कहता है, " बस रहने दे माँ, झूठी बातें मत बना । भला बिना गौओं के भी कहीं दूध होता है ?" इसपर हँसते हुए माँ कहती है, "बेटा, जिसने गौओं में दूध रचा है वही बिना उनके भी क्षीर-सागर रच सकता है ।" कृष्ण "माँ, वह कौन है ?" माता "वह भगवान् हैं जो सब संसार के कारण हैं ।" कृष्ण "माँ, फिर भगवान् कौन हैं ?" माता "वत्स, वे अजन्मा हैं ।" इसपर कृष्ण चुप हो जाते हैं और यशोदा कथा आगे बढ़ाती है । "बेटा, एक बार देवताओं और असुरों के विवाद में असुरों को मोहन करने के लिये उन्हीं भगवान् नें क्षीर-सागर का मन्थन किया था । वहाँ मन्दराचल मथानी का दण्ड और नागराज वासुकि रज्जु बने थे, जिसको एक ओर से देवता और दूसरी ओर से असुर खींचते थे ।" इसपर कृष्ण बीच ही में बोल उठे "जैसे गोपाङ्गनाएँ दधि मथती हैं ।" 'हाँ' कहकर माता फिर कथा सुनाती है, "क्षीरसागर मथने पर उसमें से कालकूट नाम का विष निकला ।" कृष्ण "दूध में कहीं विष होता है ? वह तो माँ सर्प में होता है ।" माता 'अरे, सुन तो बेटा, देवताओं की प्रार्थना पर उस कालकूट विष को भगवान्

शङ्कर ने पान किया। उस समय विष के जो बिन्दु गिर पड़े थे, उन्हींको पीकर भुजंग विषधर बन गये। यह उसी भगवान् की शक्ति है जिससे दुग्ध में भी विष हो गया। यह नवनीत-खण्ड (चन्द्र) भी उसी क्षीरसागर के मन्थन से निकला था, इसीलिये इसमें विष का अंश है। तभी तो लोग इसमें कलङ्क मानते हैं। इसके लिये हठ न करके घर का नवनीत खा लो बेटा!" यह कथा समाप्त भी न होने पायी थी कि भगवान् कृष्ण 'हूँ' 'हूँ' करते सो गये।

कभी व्रजदेवियाँ कहती हैं, "हे कुलेश लाल, रे मोहन, बलिहारी जाऊँ नेक थि, थि, नाचो तो।" यह सुनकर ताल व लय से भगवान् नाचते हैं।

"निर्मञ्छनं तव भजाम कुलेशलाल्य बाल्यातिमोहन बलानुज नृत्य नृत्य।
इत्यङ्गनाभिरसकृत्थि थि थीत्थि थीति क्लृप्तेन तालवलयेन हरिर्ननर्त॥"

मुग्ध होकर जब व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं कि "वाह, वाह, कितना सुन्दर नाच है", तब और नाचते हैं। परन्तु जब वे सौष्ठव तथा स्खलन में मुदित होकर हँसने लगती हैं, तब लज्जित होकर श्यामसुन्दर माँ की गोद में भाग जाते हैं। कभी वे गोपियों के कहने पर माता के समीप वेणु बजाते हैं। **"निर्मञ्छनं तव नयामि मुखस्य तात, वेणुं पुनर्ललन वादय वादयेति। ऊचुर्यदा स जननीजनकोपकण्ठे, तं वादयन्नथ तदा सरसीकरोति।"** श्रीकृष्ण भगवान् की बाल-लीलाएँ अनन्त हैं। उनका वर्णन कहाँ तक किया जाय। यह सारा विश्वप्रपञ्च उनकी लीला ही तो है।

●

साक्षान्मन्मथमन्मथः

ब्रह्म इन्द्रादि देव-शिरोमणियों पर विजय प्राप्त कर लेने से कामदेव को अखर्व गर्व हुआ और उसे रुचि हुई कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक श्रीकृष्णचन्द्र पर विजय प्राप्त करूँ। ऐसा सोचकर भगवान् के पास जा, उसने अपना मनोगत भाव प्रकट किया।

भगवान् ने कहा, कि तुम मुझसे कैसे लड़ना चाहते हो, दुर्ग के आश्रयण से, या मैदान में। काम ने कहा 'भगवन्! इन दोनों युद्धों का स्वरूप क्या है?' भगवान् बोले कि दुर्ग का युद्ध यह है कि मैं विरक्त होकर, एकान्त निर्जन वन में समाधिस्थ हो जाऊँ, और फिर तुम यदि अपनी माया और कलाओं से मुझे मोहित और क्षुब्ध कर सको, तब तुम्हारी विजय है, और न क्षुब्ध कर सको तो मेरी विजय होगी।

मैदान का युद्ध दूसरे प्रकार का है। वह तब सम्भव है, जब श्रीमद्वृन्दावन-धाम के यमुना का स्वच्छ सुकोमल पुलिन हो, अमृतमय पूर्ण चन्द्रमा की दिव्य ज्योत्स्ना फैली हो, शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन का सञ्चार हो, विविध विहङ्गों के कल-रव एवं भ्रमरमण्डलियों के गुञ्जार से निनादित पुष्पित वनराजि की लोकोत्तर सुहावनी छटा व्यक्त हो रही हो, हंस-सारस शोभित सरोवर की अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौरस्य सम्पन्न रति के गर्व को दूर करनेवाली अपरिगणित व्रज-बालाओं के मध्य में उनके मुखचन्द्र का चुम्बन करते हुए, और उनके अवयवों का आलिङ्गन करते हुए भी, यदि मेरे मन में विकार न हो तो मैं विजयी रहूँगा; और यदि मलयानिल तथा कान्ताओं के हाव-भाव और विलासों से मेरे मन में क्षोभ हो जाय तो जीत तुम्हारी है।

कामदेव मन ही मन विचार करने लगे कि यदि इन्होंने दुर्ग का आश्रयण किया, तो मेरी विजय फिर नहीं होने की, क्योंकि जिस समय ये नरनारायण रूप से योगा-सनासीन होकर बदरिकाश्रम में तप कर रहे थे, उस समय इन्द्र को यह भ्रम हुआ कि ये मेरे ऐन्द्र पद के लिये तपस्या कर रहे हैं, तब मैं इन्द्र का भेजा हुआ वसन्त ऋतु तथा अप्सराओं के साथ नरनारायण के आश्रम में गया। अप्सराओं के अशेष हाव-भाव, वसन्त की सहायता और मेरे बाण सब निष्फल हुए, फिर भी इनमें क्रोध का सञ्चार नहीं हुआ, कि पुनः इन्होंने हम सबोंका आतिथ्य किया। तब अप्सराओं ने कहा था कि 'हे नाथ! जिस भाँति सद्योजात बालिका हाव-भाव कटाक्षों से अपने प्रपितामह को मोहित करना चाहे, उसी भाँति आपकी माया से मोहित होकर, हम सब आपको मोहित करने चली हैं।

भगवान् ने आश्वासन करके सबको विदा किया, सो किलेबन्दी के युद्ध में इन्हें कौन पायेगा ? अतः काम ने कहा 'भगवन् ! आप मैदान में ही मुझसे युद्ध कीजिये ।' भगवान् ने कहा 'तथास्तु, मैं मैदान में ही तुमसे युद्ध करूँगा ।'

कामदेव भी 'बहुत अच्छा' कहकर चला तो गया, पर उसने जाकर श्रीव्रजाङ्गनाओं के शरीररूप काञ्चन दुर्ग का आश्रयण किया। इधर श्रीकृष्णचन्द्र ने विचार किया कि द्वितीया से चतुर्दशी तक चन्द्रमा अपूर्ण रहते हैं, अतः उनपर राहु भी आक्रमण नहीं करता, सो भगवान् शङ्कर की कोपाग्नि से दग्धप्राय अपूर्ण कंदर्प पर विजय प्राप्त कर लेने में कौन-सी महत्ता है ? अतः कंदर्प को पूर्ण करके ही उसका जीतना युक्त है ।

बस, यह सोचकर श्रीकृष्ण भगवान् ने मुरली को, अपने अमृतमय मुखचन्द्र पर धारण करके, उसे अधर सुधा से पूरित किया, और वेणु छिद्रों द्वारा निःसृत गीत-पीयूष को श्रोत्रपुटों द्वारा व्रजाङ्गनाओं के हृदय में पहुँचाकर, दग्धप्राय कन्दर्प को पुनरुज्जीवित किया । श्रीकृष्ण की अधर सुधा से दग्धप्राय काम उत्तेजित हो उठा । वेणुवादन व्याज से मानों फूत्कार द्वारा कामाग्नि को उत्तेजित करके, उसमें अधर-सुधा-सिञ्चन द्वारा मानो घृत की आहुति दी ।

इतने पर भी व्रजेन्द्रनन्दन ने यह सोचा कि यह कन्दर्प मन से उत्पन्न होनेवाला है, इसीलिये मनसिज या मनोज कहलाता है। श्रीव्रजाङ्गनाओं का मन मेरा भक्त है अतः भगवद्भक्त पिता के सन्निधान से, कन्दर्प के प्रागल्भ्य में प्रतिबन्ध हो सकता है। यही सोचकर भगवान् ने वेणु-गीत-पीयूष-प्रवाह से श्रीव्रजाङ्गनाओं के मन को हरण कर लिया, यथा—**व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।**

इतरप्रवाह स्वसंसृष्ट वस्तु को गन्तव्य स्थान में ले जाता है, परन्तु वेणुगीत-पीयूषप्रवाह तो स्वसंसृष्ट पदार्थों को अपने उद्गम स्थान श्रीकृष्ण के सन्निधान में पहुँचाता है, अथवा श्रीकृष्णचन्द्र के मुख पङ्कज से निर्गत वेणुपीयूष व्रजाङ्गनाओं के अनावृत कर्णकुहर में प्रविष्ट होकर, उनके हृदय में विद्यमान धैर्य्य-वैराग्य-विवेक-लज्जादि रत्नों से पूरित मञ्जूषा को हर ले गया, इसलिये काम अत्यन्त स्वच्छ हो गया, और वेणुगीत पीयूष से आप्यायित होकर अत्यन्त प्रगल्भ हो गया ।

इधर वसन्त ने भी सोचा कि मित्र का अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक विश्वपति भगवान् से संग्राम है, मुझे भी अपने मित्र की सहायता करनी चाहिये । मेरे मित्र मनोज पुष्पधन्वा हैं, पुष्प ही इनके अस्त्र-शस्त्र हैं । विरहीजनों के हृदय विदारण करने के कारण ही मानो रक्तरंजित लाल किंशुक बरछी का काम करता है । कमल कुन्द कुड्मल केतकी आदि ही भाला का कार्य्य करते हैं । ऐसे ही अन्यान्य पुष्प भी अस्त्र-शस्त्र का काम करते हैं । यह समझकर ही वसन्त ने विविध प्रकार के कमल, कमलिनी, कुमुद, कुमुदिनी, केतकी, चम्पक, मालती आदि अनेक प्रकार के पुष्पों को विकसित किया ।

इस भाँति मित्र की सहायता से सम्पन्न, हृष्ट-पुष्ट हो, तथा शस्त्र से सुसज्जित होकर, व्रजाङ्गनाओं के श्रीअङ्गों के ही दिव्य काञ्चनमय कामगामी दुर्ग में अधिष्ठित हुआ, और श्रीमद्वृन्दारण्यधाम में श्रीकृष्णचन्द्र से संग्राम करने के लिये गया।

भगवान् उस दिव्य धाम में, आयी हुई श्रीव्रजाङ्गनाओं के मध्य में, निर्विकार भाव से धर्म-तत्व का उपदेश करने लगे। तब कन्दर्प ने कहा कि इन व्रजसुन्दरियों के संग में अङ्ग-सङ्ग एवं विविध प्रकार के रास विलासों में, यदि आपका मन क्षुब्ध और मोहित न हो, तभी आप विजयी हो सकते हैं।

श्रीकृष्णजी ने 'तथास्तु' कहकर वैसा ही किया। श्रीव्रजाङ्गनाओं के श्रीअङ्ग-रूप काम दुर्ग पर आक्रमण करके ब्रह्मादि-जय-संरूढ़-दर्प-कन्दर्प के दर्प का दलन कर दिया। इतना ही नहीं, किन्तु अपने स्वरूपभूत ब्राह्मसंस्पर्श से व्रजाङ्गनाओं को आत्मसात् करके उन्हें सर्वथा निर्विकार कर दिया। परिरम्भण करके, अलक-उरु-नोवी-स्तन का स्पर्श करके, परिहास, नखपात, क्ष्वेलि, अवलोक हास से भी कन्दर्प को निगृहीत करके ही व्रजसुन्दरियों को रमण कराया, यथा—

"बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरूनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपती रमयाञ्चकार ॥"

श्रीव्रजाङ्गनाओं के साथ श्रीकृष्णजो के नानाविध हाव-भाव कटाक्षों तथा कन्दर्प वसन्त आदि के अस्त्र-शस्त्र प्रयोग सब व्यर्थ हो गये, और आत्माराम श्रीकृष्ण ज्यों के त्यों निर्विकार रह गये।

अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत कामबिन्दु का उद्गमस्थान, जो साक्षात् मन्मथ है, उसके भी मन को श्रीकृष्णचन्द्र ने मथ डाला, इसलिये वे साक्षात् मन्मथ-मन्मथ कहलाते हैं। वस्तुतः प्रेममयी व्रजाङ्गनाओं के स्मरण से काम का दर्प दलित हो सकता था। भावुकों का मत है कि श्रीकृष्ण के नखमणि चन्द्रिका की एक रश्मि-छटा के ही दर्शन से साक्षात् मन्मथ मोहित हो गया। इतना ही नहीं, उसने उत्कट उत्कण्ठा से यह दृढ़ संकल्प कर डाला कि सहस्रों जन्मों तक तीव्रातितीव्र तपस्याओं के द्वारा व्रजाङ्गनाभाव को प्राप्त करके, प्रियतम प्राणधन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द की नखमणि चन्द्रिका की रश्मि छटा का सेवन करूँगा। इसलिये ही तो भगवान् साक्षात् मन्मथ-मन्मथ हुए।

ब्रह्मसाक्षात्कार तथा ब्राह्मसंस्पर्श से, कामादि विकारों का आत्यन्तिक क्षय हो जाना स्वाभाविक ही है, फिर प्रेममयी व्रजाङ्गनाओं और उनके प्रियतम प्राणधन भगवान् में काम का प्रभाव क्या पड़ सकता था? काम पराजित होकर ही प्रद्युम्नरूप से श्रीकृष्ण का पुत्र बना, अतएव श्रीकृष्ण और व्रजाङ्गनाओं के रमण में काम का उपयोग नहीं है, किन्तु वहाँ तो प्रेम का ही उपयोग होता है, और वही प्रेम कामपद व्यपदेश्य होता है, तभी तो भावुकों ने कहा है, **"प्रेमैव गोपरामाणां काम**

इत्यगमत् प्रथाम् ।" गोपाङ्गना का प्रेम ही काम नाम से प्रसिद्ध हुआ। वस्तुतः कृष्ण-विषयक काम काम ही नहीं हो सकता। भगवान् ने कहा है कि मुझमें जिसको बुद्धि प्रविष्ट हो चुकी है, उन लोगों का काम काम नहीं है, जैसे भर्जित किंवा क्वथित बीज अंकुरित नहीं होता, वैसे ही श्रीकृष्णविषयक काम संसार का मूल नहीं होता, यथा—

"न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिताः क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेष्यते ॥"

नायिका-नायक परस्पर मिलन का मूलभूत स्नेहविशेष ही काम है। शृङ्गाररस सभी रसों में श्रेष्ठ और सबका अङ्गी है। उसे उज्ज्वल रस कहते हैं। किसी पदार्थ की तृष्णा प्राणी के हृदय को कण्टक के समान उद्वेजित करती है। तृष्णारूप कण्टक से व्यथित अतएव चञ्चल मन पर, व्यापक अखण्ड अनन्त ब्रह्मानन्द का प्राकट्य नहीं होता। यहीं अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति से, क्षणिक-तृष्णा वृत्ति की निवृत्ति से शान्त अन्तःकरण पर ब्रह्मात्मक सुख की अभिव्यक्ति होती है।

नायक-नायिका के परस्पर सम्मिलन की तृष्णा सर्वातिशायिनी होती है, अतएव उस समय तृष्णा से व्यथित हृदय में अशांति, चञ्चलता भी अधिक होती है, ऐसे अवसर में परस्पर सम्मिलन से, तृष्णा कण्टक के निकलने से, क्षणभर के लिये शान्त अन्तःकरण पर ब्रह्मानन्द के प्राकट्य की भी विशेषता रहती है। इसीलिये और रसों की अपेक्षा शृङ्गाररस की प्रधानता है।

तत्पश्चात् शिशुओं के समर्पण के ब्याज से एवम् दृष्टियों से प्रियतम का अङ्गसङ्ग प्राप्त करके, दुरन्त भाव से भरी हुई अन्तरात्मा से, उन्होंने अपने प्राणनाथ का परिरम्भण किया—

"पत्न्यः पतिं प्रोष्य गृहानुपागतम् उत्तस्थुरारात्सहसाऽऽसनाशयात्।
तमात्मजैर्दृष्टिभिरन्तरात्मना, दुरन्तभावाः परिरेभिरे पतिम् ॥"

जल और तरङ्ग का सम्मिलन ही यथार्थ में अत्यन्त व्यवधानशून्य सम्मिलन है। हाँ, कुछ भावुकों का कहना है कि सुकोमल कमल का मकरन्दमधु पान करनेवाला मधुप होता है, परन्तु वास्तव में यदि कमल को ही रसना और घ्राण हो, तभी व्यवधानशून्य उसके सौगन्ध्य और सौरस्य का अनुभव किया जा सकता है।

जीवात्मा और परमात्मा के मिलन का अनेक भावों से शास्त्रों में वर्णन किया गया है। यद्यपि शुद्ध प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा नित्य प्राप्त वस्तु है, तथापि जब प्राप्ति का वर्णन किया जाता है, तब कहीं तो 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' ब्रह्मविद् का यहाँ ही ब्रह्म-सम्भोग करना कहा जाता है, और कहीं 'सुखेन ब्रह्म-संस्पर्शमत्यन्त-सुखमश्नुते' बाह्य संस्पर्श से अत्यन्त विरक्त, ज्ञानी का ब्रह्मसंस्पर्शजन्य लोकोत्तर सुख का भोग करना कहा जाता है। निर्विशेष चित्सुखस्वरूप ब्रह्म के संस्पर्श की कल्पना अद्भुत है।

कहीं श्रुतियों ने इसे अन्य दृष्टान्त से स्पष्ट किया है, '**तद्यथा प्रियया भार्य्यया संपरिष्वक्तो नान्तरं किञ्चन वेद न बाह्यम्** ।' जैसे कान्त अपनी प्रियतमा भार्य्या से परिरम्भण करके प्रेमानन्द के उद्रेक में बाह्याभ्यन्तर प्रपञ्च को भूल जाता है, भेद में व्यवधान की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती । अतः भेदयुक्त सम्मिलन से रसिकों को सन्तोष नहीं होता । पुत्र, देह, मन, अन्तरात्मा से जितनी अन्तरङ्गता, व्यवधान-शून्यता उपलब्ध होती है, उतनी अधिक प्रीति व्यक्त होती है ।

सर्वान्तर सर्वापेक्षया सन्निहित अन्तरात्मा से ही प्राणियों को निरतिशय एवम् निरुपाधिक पर प्रेम होता है, अतः भगवान् के साथ घनिष्ठ प्रेम तभी होता है, जब उनकी नितान्त अन्तरङ्गता व्यक्त हो । अतः अभेद बोध आवश्यक होता है, फिर भी अत्यन्त अभेद में ब्रह्म से स्पर्श या प्राज्ञात्मा का परिष्वङ्ग नहीं बनता, अतः काल्पनिक भेद और पारमार्थिक अभेद स्वीकार किया जाता है । घटाकाश का यथा महाकाश के साथ सम्मिलन है तथैव जीवात्मा का परमात्मा के साथ सम्मिलन होता है, परन्तु इससे भी सरस सुन्दर दृष्टान्त है, तरङ्ग-जल का ।

जैसे वीची के भीतर, बाहर, मध्य या सर्वाङ्ग में जल भरपूर रहता है, इसी तरह जीवात्मा में ब्रह्मात्मा का सम्मिलन है । वीची और वारि के निर्जीव दृष्टान्त को सजीव रूप में लाते हुए, उसीको नायिका और नायक का रूपक दे दिया गया । सजीव दृष्टान्तों में नायिका-नायक से बढ़कर कोई भी ऐसा दृष्टान्त नहीं है, जहाँ घनिष्ठ व्यवधानरहित सम्मिलन बनता हो अतएव अन्तरङ्ग पति-पत्नी का वही सम्बन्ध माना गया है, जो वारि-वीचि का है ।

उक्त प्रकार से यद्यपि भगवान् परमानन्द घन ही सब कुछ हैं और वही सर्वान्तरात्मा और सर्वद्रष्टा एवं सर्वविज्ञाता हैं, फिर विज्ञाता को किससे जानें, "**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्**" तथापि निरुपाधिक निर्दृश्य रूप से सदानन्द घन भगवान् का साक्षात्कार बिना उनकी कृपा नहीं होता, तभी भगवती श्रुति ने भगवान् को जानने के लिये श्रद्धा, भक्ति और ध्यान योग को प्रधान कारण कहा है, '**श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि**' । श्री ब्रह्माजी ने भी यही कहा था कि हे नाथ ! यद्यपि आपका सर्वावभासक दिव्यस्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है, तथापि आपके श्रीचरणकमल प्रसाद से अनुगृहीत ही प्राणी इसे जान सकता है, अन्यथा नाना प्रकार की युक्तियों से सदा विवेचन करने पर भी यह दुर्लभ ही है ।

"अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन् ॥"

यद्यपि पूर्ण विरक्त एवं शान्त समाहित महापुरुष वेदान्तों के श्रवण-मनन-निदिध्यासन से परम तत्व का साक्षात्कार कर सकते हैं, तथापि शीघ्रातिशीघ्र तत्व साक्षात्कार के लिये, किसी विशेष स्वरूप की उपासना अत्यन्त आवश्यक है, कारण

कि प्राणियों के चित्त में नाना प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं अन्धकार, प्रकाश आदि दृश्यों का स्फुरण ही बना रहता है, निद्रा या विक्षेप से शून्य अवस्था दुर्लभ है। दृश्य के स्फुरण निरोध बिना, दृश्यातीत निर्दृश्य विशुद्ध तत्व का स्फुरण अत्यन्त असंभव है। जगत् यद्यपि दुःखमय है, तथापि मोहवश जगत् के चिन्तन में मिठास प्रतीत होती है, और प्रपञ्चातीत भगवान् परमानन्दमय एवं सर्वानर्थनिवर्तक हैं, तथापि उनमें जीव का आकर्षण नहीं होता। जैसे ज्वराक्रान्त व्यक्ति को तिग्म आतप में स्वाद किंवा सर्पदंशन के विष से प्रभावित प्राणी को कड़ुवी नीम में मिठास प्रतीत होती है, वैसे ही मायामोहित प्राणियों को विषम विषमय विषयों में ही स्वाद आता है। जैसे पित्तदोष से दूषित रसनावाले प्राणी को मधुर मिश्री में तिक्तता का अनुभव होता है, वैसे ही अनादि दुर्वासनाओं से दूषितान्तःकरण प्राणियों को भगवान् में रूक्षता भासित होती है। तभी तो मन्त्रद्रष्टा भगवान् से इस बात को भी प्रार्थना करते हैं कि हे देव ! आप मेरा निराकरण न करें और आप ही मुझपर ऐसी कृपा करें कि आपका निराकरण (उपेक्षा या विस्मरण) न करूँ, क्योंकि मैं आपको न भूलूँ, यह मेरे वश की बात नहीं है।

"नाथ जीव तव माया मोहा, सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा।"

"माहं ब्रह्म निराकुर्य्याम् मा मा ब्रह्म निराकरोत्॥"

इससे यह स्पष्ट है कि प्रभु कृपा से ही प्राणियों की प्रवृत्ति प्रभु की ओर होती है। तभी महानुभावों ने कहा है—

"सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीशमन्ये।

पुंसां भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया रतिः स्यात्॥"

हे कृपामय ! असतों को दुष्प्राप आपके श्रीचरण पङ्कज की शरण मैं आया हूँ, यह आपका ही अनुग्रह है, क्योंकि जब संसार की निवृत्ति होने को होती है तभी हे अब्जनाभ ! प्राणियों की सदुपासना के द्वारा आपमें प्रीति होती है। ठीक ही है, प्रभु की अनुकम्पा बिना प्रभु में प्रीति नहीं, परन्तु प्रभु में प्रीति बिना, भास्वती भगवती अनुकम्पा देवी का प्राकट्य भी कैसे हो। वास्तव में बीज और अंकुर की तरह श्री अनुकम्पा और भगवती भक्ति में इतरेतर निमित्तनैमित्तिकभाव ही युक्त है, अतएव श्रीजगद्धरभट्ट ने स्तुति कुसुमाञ्जलि में कहा है—

"नानुग्रहस्तव विना त्वयि भक्तियोगं, नानुग्रहं तव विना त्वयि भक्तियोगः।

बीजप्ररोहवदसावनयोर्न कस्य भूत्यै परस्परनिमित्तनिमित्तिभावः॥"

परम कृपामय भगवान् यह देखकर कि मायामोहित जीवों की प्रवृत्ति शब्दादि प्रपञ्च की ओर ही अधिक प्रवृत्त होती है, और बिना मेरा समाश्रयण किये, अनर्थ निवृत्ति कथमपि संभव नहीं है, जैसे कोई परम कारुणिक चिकित्सक, किसी अदीर्घदर्शी अबोध

शिशु का कुपथ्य में अभिनिवेश और महौषध एवं पथ्य में विद्वेष देखकर, महौषधि को ही परम मनोहर तदभिलषित रूप में प्रकट करके प्रदान करता है, ठीक वैसे ही भगवान् अपने उसी वेदान्तवेद्य अखण्ड अनन्त परमानन्दघन निराकार निर्विकार लोचनातीत स्वरूप को अपनी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्ति के दिव्य प्रभाव से, ऐसे सर्वमनोहर सुमधुर स्वरूप में प्रकट करते हैं कि जिसके दर्शन-स्मरण-श्रवण से ऐसा कौन सचेतन है, जो मोहित न हो जाय।

"कहहु सखी अस को तनुधारी, जो न मोह यह रूप निहारी।"
"श्रवणवन्त अस को जग माहीं, जिनहिं न रघुपति कथा सुहाहीं।"

अक्षरनिष्ठ अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र ब्रह्ममहेन्द्र प्रभृति देवाधिदेव से लेकर खग, मृग, वन, गिरि, सरित, सरोवर, वृक्ष-लताओं में भी उस मधुर मनोरम मङ्गलमय स्वरूपदर्शन-स्पर्शन से आनन्दोद्रेक में पुलकावलो और आनन्दाश्रुओं का सञ्चार होता है।

तभी व्रजाङ्गनाओं ने कहा है—

"का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन संमोहितार्य्यचरितान्न चलेत् त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥"

हे जीवनधन! वृन्दावनचन्द्र मनमोहन! आपके अमृतमय मुखचन्द्र से निःसृत कलपदायत गीत-मूर्च्छना से कौन स्त्री आर्य्यचरित से चलायमान नहीं हो सकी, त्रैलोक्य सौभग जिस मङ्गलमय वपु का निरीक्षण करके गौ, द्विज, मृगद्रुमों में भी पुलकावली का सञ्चार होता है, जहाँ प्राणियों का मन प्राकृत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की ओर आकर्षित होता था, वहाँ अपनी दिव्यलीला शक्ति से अशब्द, अस्पर्श, अरूप, वेदान्तवेद्य सदानन्दघन भगवान् ही निखिलरसामृतमूर्ति धारण कर अपने दिव्य ब्रह्मरसात्मक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धों से हठात् प्राणियों के मन को आकर्षित करते हैं। जो भगवान् भक्तों के सर्वस्व एवं ज्ञानियों के एकमात्र परमतत्व हैं, वही नास्तिक से नास्तिक के भी सब कुछ हैं, भेद इतना ही है कि वे अपने सर्वस्व में निरतिशय प्रेम करते हुए भी उन्हें पहचानते नहीं। यद्यपि यह बात असंभव सी प्रतीत होती है, परन्तु विवेचन करने में अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। चाहे कैसा भी नास्तिक क्यों न हो वह अपने अभाव (या मरने) से घबड़ाता है। वह यही चाहता है कि मैं सदा रहूँ।

जब किसी साधारण से साधारण की आत्मरक्षा और अस्तित्व के लिये व्यग्रता होती है, तब एक मनुष्य, चाहे नास्तिक हो क्यों न हो, क्या अपना अस्तित्व नहीं चाहता? क्या वह अपने अस्तित्व को मिटाना पसन्द करेगा? यदि नहीं, तो फिर ब्रह्म अस्तित्व का पूर्णानुरागी हुआ या नहीं? अब यह बात दूसरी है कि वह अपने आप कौन है, जिसका अस्तित्व चाहता है। यदि सौभाग्यवश कभी इस ओर

दृष्टि जायगी, बस तभी वह समझ लेगा कि विनश्वर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार यह सभी दृश्य हमारे हैं। हम इनसे पृथक् इनके द्रष्टा हैं, और उसी निर्विकार स्वरूप स्वात्मा का ही सदा अस्तित्व चाहते हैं। विवेचन करने से यह विदित हो जाता है, स्वप्रकाश दृक् का अस्तित्व तत् स्वरूप ही है, अतएव आत्मा स्वप्रकाश कहा जाता है। इसलिये जगत् को अनेकानेक वस्तुओं में चाहे जितना भी संदेह, विपर्य्यय या अज्ञान हो, परन्तु स्वात्मा है या नहीं, या नहीं ही है, इस प्रकार आत्मविषयक संदेहादि किसीको नहीं है।

जीवनगत परमेश्वर, धर्म, कर्म सभी का अभाव साबित करनेवाले शून्यवादो को भी अनिच्छया स्वात्मा का अस्तित्व मानना पड़ेगा। क्योंकि जो सबके अभाव का सिद्ध करनेवाला है, अगर वह रह गया, तब तो स्वातिरिक्त ही सबका अभाव सिद्ध होगा। अपना अभाव नहीं हो सकता, सर्व निराकर्त्ता सर्व निषेध की अवधि एवं साक्षिभूत के अस्वीकार करने पर शून्य भी अप्रामाणिक होगा। अतः वही अत्यन्त अबाधित, सर्व बाध का अधिष्ठान एवं साक्षिभूत, अस्तित्व या सत्ता भगवान् का रूप है, साथ ही बोध और प्रकाश के लिये प्राणी मात्र में उत्सुकता दिखाई देती है, पशु-पक्षी भी स्पर्श से, आघ्राण से, किसी-न-किसी तरह से ज्ञान के प्रेमी हैं। यह ज्ञान को वाञ्छा प्राणी में उत्तरोत्तर बढ़ती दिखाई देती है कि हमें अब अमुक तत्व का ज्ञान हो, अब अमुक का ज्ञान हो।

इतिहास, भूगोल, खगोल, भूततत्व एवं अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैव सभी तत्वों को जानने के लिये मन चाहता है, किं बहुना, सर्वज्ञता बिना ज्ञान से संतोष नहीं होता। पूरी-पूरी सर्वज्ञता कहाँ हो सकती है, यह विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सर्व (पदार्थ) जिस स्वप्रकाश अखण्ड विशुद्ध भान (बोध) में कल्पित है, वही सर्वावभासक एवं सर्वज्ञ हो सकता है, क्योंकि प्रकाश या भान अत्यन्त असंग एवं निरवयव और अनन्त है, दृश्य के साथ सिवाय आध्यात्मिक सम्बन्ध के और संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः यदि सर्वज्ञ होने की वाञ्छा है, तो सर्वावभासक सर्वाधिष्ठान विशुद्ध अखण्ड बोध होने की क्या वाञ्छा है? यह अखण्ड बोध ही सच्चिदानन्द भगवान् का चिद्रूप है। जैसे पूर्वोक्त अखण्ड अनन्त स्वप्रकाश सता या अस्तित्व ही अपना तथा सबका निजो रूप है, वैसे ही यह अबाध्य अखण्ड बोध भी सबका अन्तरात्मा है।

इसी तरह आस्तिक-नास्तिक ही नहीं, किन्तु पशु-कीट पर्यन्त भी आनन्द के लिये व्यग्र हैं, प्राणिमात्र के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि की जितनी चेष्टाएँ एवं हलचलें हैं, वे सभी आनन्द के लिये हैं। बिना किसी प्रयोजन के किसी-की भी प्रवृत्ति नहीं होती, किं बहुना उन्मत्त भी, चाहे भ्रान्ति या अज्ञान से ही सही, आनन्द के लिये ही समस्त चेष्टाएँ करता है, समस्त वस्तुओं में संदिहान एवं भ्रान्त

होता हुआ भी प्राणी, जिसके लिये नाना चेष्टाएँ करता है, उसके विषय में, उसे संदेह या भ्रम अथवा अज्ञान हो, यह कैसे कहा जा सकता है ।

इस तरह जिसके लिये समस्त चेष्टाएँ हो रही हैं, वह आनन्द अत्यन्त प्रसिद्ध है । संसारभर की समस्त वस्तुओं में प्रेम जिसके लिये हो, और जो स्वयं निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम का आस्पद हो, अर्थात् जो अन्य के लिये प्रिय न हो, वही आनन्द होता है । देखते ही हैं कि समस्त आनन्द के साधनों में प्रेम अस्थिर होता है । स्त्री-पुत्रादि में प्रेम तभी तक है, जब तक वे अनुकूल हैं, प्रतिकूल होते ही वे द्वेष्य हो जाते हैं, परन्तु सुख और आनन्द सदा ही प्रिय रहता है । कभी किसीको भी आनन्द से द्वेष हो, यह नहीं कहा जा सकता । इस तरह नास्तिक से भी नास्तिक, आनन्द को चाहता है, उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होता है, और उसके लिये लालायित होता है, परन्तु उसमें पहचानने की ही कमी है । क्योंकि जिस आनन्द और सुख के लिये नास्तिक व्यग्र है, उसे पहचानता नहीं । वह तो सुख-साधन स्त्री-पुत्रादि, शब्द-स्पर्श आदि संभोग में ही, सुख की भ्रान्ति से फँसकर, उसमें ही संतुष्ट हो जाता है । विवेचन करने से विदित हो जाता है कि जिनमें कभी प्रेम कभी द्वेष होता है, वह सुख नहीं है, सदा ही जिसमें निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम होता है, वही सुख है । जागतिक संभोग साधन पदार्थ ऐसे हैं नहीं, अतः वे सुख रूप नहीं हैं, किन्तु अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति में तृष्णा प्रशमन के अनन्तर, जिस शान्त अन्तर्मुख मन पर सुख का आभास पड़ता है, उस आभास या प्रतिबिम्ब का निदान या बिम्बभूत जो शुद्ध अन्तरात्मा है, वही आनन्द है, क्योंकि जो लक्षण आनन्द का है वही अन्तरात्मा का है । जैसे सब कुछ आनन्द के लिये प्रिय है, आनन्द और किसी के लिये प्रिय नहीं होता, ठीक ऐसे ही समस्त वस्तु आत्मा के लिये प्रिय होती है, आत्मा किसी दूसरे के लिये प्रिय नहीं होता; अतः अन्तरात्मा ही आनन्द है और निरतिशय निरुपाधि परप्रेम का आस्पद है, उसीका आभास अन्तर्मुख अन्तःकरण पर पड़ने से अहं सुखी इत्यादि व्यवहार होता है । यही सुख किंवा अन्तरात्मा है । इसीके लिये समस्त कार्य्य-करण-संघात की प्रवृत्ति होती है, यही सुख-दुःख-मोहात्मक संघात से विलक्षण, सुख-दुःख-मोहातीत, असंहत, असंग, अद्वितीय तत्व ही—सच्चिदानन्द का आनन्द रूप है एवं प्राणीमात्र स्वतन्त्रता (बन्धन से छूटना) चाहता है । एक चींटी को भी पकड़ने पर, वह व्याकुलता के साथ हाथ-पैर चलाती है, शुक-सारिका आदि विहङ्गम सुवर्ण के भी पञ्जर में रहकर सुन्दर मधुर भक्ष्य-पेय को नहीं पसन्द करते, किन्तु बन्धनमुक्त होकर स्वतन्त्रता से वन में खट्टे फल को भी खाकर जीवन बिताना अच्छा समझते हैं, इस तरह प्राणीमात्र बन्धन से छूटने तथा स्वतन्त्रता के लिये लालायित हैं ।

ऐसी स्थिति में कौन नास्तिक बन्धनमुक्ति और स्वतन्त्रता न चाहेगा, परन्तु स्वतन्त्रता का वास्तविक रूप विवेचन करने से स्पष्ट होगा कि यह भी भगवान्

का ही स्वरूप है, क्योंकि बिना असंग सच्चिदानन्द भगवान् को प्राप्त किये, बन्धन-मुक्ति स्वतन्त्रता की कल्पना अत्यन्त ही निरालम्बन है। जब तक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारणदेह का सम्बन्ध विद्यमान है, तब तक स्वतन्त्रता कैसी? भले ही कोई माता, पिता, गुरुजनों तथा वेद-शास्त्र की आज्ञाओं को न माने और उनसे अपने को स्वतन्त्र मान ले, परन्तु जन्म, जरा, व्याधि, दरिद्रता, विपत्ति, मृत्यु आदि के परतन्त्र तो प्राणिमात्र को होना ही पड़ता है। क्योंकि जब तक कुछ स्वतन्त्रता को त्यागकर, शास्त्रों एवं गुरुजनों के परतन्त्र होकर, कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा, मल विक्षेप आवरण को शरीर त्रय बन्धन किंवा जीव भाव से मुक्त होकर, निजी निर्विकार स्वरूप को न प्राप्त कर लें, तब तक पूर्ण स्वातन्त्र्य मिल सकता नहीं।

विवेचन से स्पष्ट होता है कि सर्वोपाधि विनिर्मुक्त असंग अनन्त स्वप्रकाश प्रत्यगभिन्न सच्चिदानन्द भगवान् का ही स्वरूप है। ऐसे ही प्राणीमात्र को यह भी रुचि होती है कि सब कुछ हमारे अधीन हो, और मैं स्वाधीन रहूँ, यहाँ तक कि माता, पिता, गुरुजनों के प्रति भी यही रुचि होती है कि ये सब हमारी प्रार्थना मान लिया करें, और सब तरह से मेरे अनुकूल रहें। यही स्थिति देवताओं के प्रति भी होती है। यह सभी भाव जीव भाव के रहते नहीं हो सकते, समस्त कल्पित पदार्थ कल्पना के अधिष्ठानभूत भगवान् के ही परतन्त्र हो सकते हैं, इस तरह परमार्थतः पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण बोध, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य एवं पूर्ण नियामकत्व भगवान् में ही होता है। जब आस्तिक-नास्तिक, सभी पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण नियामकत्व, पूर्ण बोध, पूर्णानन्द, पूर्ण अबाध्यतया सत्ता के लिये व्यग्र, तथा इनकी प्राप्ति के लिये जी-जान से प्रयत्न करते हैं, तब कौन कह सकता है कि अज्ञानी किंवा नास्तिक जिसकी प्राप्ति के लिये व्यग्र हैं, वह तत्व भक्तों और ज्ञानियों के ध्येय ज्ञेय परमाराध्य परब्रह्म भगवान् नहीं हैं, क्योंकि प्राणीमात्र किंवा तत्व मात्र के अन्तरात्मा भगवान् ही हैं, फिर उनसे विमुख होकर निःसत्व, निःस्फूर्त्ति कौन होना चाहेगा? इसी आशय से श्री वाल्मीकि की उक्ति है कि **"लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः"** लोक में ऐसा कोई हुआ नहीं, जो राम का अनुगामी न हो।

निजी सर्वस्व के बिना किसीको भी कैसी विश्रान्ति? अतएव तरङ्ग को जैसे समुद्रानुगामिता है, ठीक वैसे ही प्राणीमात्र की भगवदनुगामिता है, भेद यही है कि ज्ञानी अपने प्रियतम को जानकर प्रेम करता है, दूसरे उसीके लिये व्यग्र होते हुए भी उसे जानते नहीं।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध में भी विराट् आदि भगवान् के स्थूलरूप के ध्यान के अनन्तर, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक प्रभु की मधुर मङ्गलमयी मूर्त्ति का ध्यान बतलाया गया है। ध्यान से चित्त की पूर्ण एकाग्रता होने पर, भगवान् के अनन्त अखण्ड स्वप्रकाश बोधस्वरूप का साक्षात्कार कहा गया है। उक्त स्वरूप में दृढ़

निष्ठा के लिये भगवान् के मधुरस्वरूप के श्रीचरणों का पुनः ध्यान और अनुराग सहित परिरम्भण कहा गया है, "हृदोपगुह्यार्हपदं पदेपदे।" भगवान् के अचिन्त्य अनन्त मधुर मङ्गलमय स्वरूप में प्रेम और भजन सर्व साधन तथा सर्व फलस्वरूप है। अतएव इसमें साधकों तथा सिद्धों दोनों ही की प्रवृत्ति होती है।

"साधन सिद्ध राम पद नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥"

प्रभु के श्रीचरणारविन्द सौगन्ध्यामृत सिन्धु के एक बिन्दु के भी समास्वादन करने से, सनकादिक शुकादिक जैसे ब्रह्मनिष्ठ महामुनीन्द्र भी मुग्ध हो जाते हैं।

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दरेणुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥"

अतएव श्रीजनकजी जैसे विदेह तत्वनिष्ठों की यह अनुभूतियाँ हैं—

"इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥"
"सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा॥"

ठीक ही है, तभी तो यह कहा जाता है कि अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को ही भक्तियोग विधान करने के लिये अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, भगवान्, अद्भुत-सौन्दर्य्यमाधुर्य्यसुधाजलनिधि दिव्यमूर्त्ति धारण करते हैं, अन्यथा छोटे कार्य्यों के लिये प्रभु का अवतार ऐसा ही अनुचित होगा, जैसे मशक निवारणार्थ भुशुण्डी का प्रयोग (मच्छड़ हटाने के लिये तोप चलाना) अनुचित होता है, परन्तु समस्त नामरूपक्रियात्मकप्रपञ्च से व्यावृत्तमनस्क अमलात्मा परमहंसों को भजनानन्द प्रदान करने के लिये, प्रभु का दिव्य स्वरूप धारण परमावश्यक है।

अद्वैत ब्रह्मनिष्ठ परमहंसों को भक्तियोग प्रदान कर उन्हें श्रीपरमहंस बनाना, यही प्रभु के प्राकट्य का मुख्य प्रयोजन है। जैसे मिश्रित क्षीर-नीर का हंस विवेचन करता है, वैसे सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति प्राकृत प्रपञ्च से पृथक्, असंग अनन्त चेतन तत्व का विवेचन कर लेनेवाले हंस कहे जा सकते हैं, परन्तु वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार तो दृक्-दृश्य, आत्मा-अनात्मा, परात्पर पूर्णतम सर्वभासक भगवान् और प्रकृति प्राकृत प्रपञ्च का ऐसा सम्बन्ध है, जैसे दिव्य मणिमाला और उसमें कल्पित सर्प का, अर्थात् सत्य एवं अनृत का जैसे आध्यासिक सम्बन्ध है, वैसे ही दृश्य प्रकृति और उसके भासक एवं अधिष्ठानभूत भगवान् का आध्यासात्मिक सम्बन्ध है। अतः सत्यानृत के विवेचन से जैसे सत्य ही अवशिष्ट रहता है, अनृत का सर्वथा अभाव हो जाता है, इसी तरह दृक्-दृश्य का भी विवेचन करने पर अनृत स्वरूप दृश्य प्रकृति का अभाव हो जाता है, केवल सर्वदृक् भगवान् ही अवशेष रहते हैं।

ऐसे वेदान्त सिद्धान्तानुसार सत्यानृत रूप क्षीर-नीर का विवेचन है, नीर-स्थानीय दृश्य को मिटाकर, परमसत्य भगवान् में ही स्थित होनेवाले परमहंस कहे जा

सकते हैं, परन्तु "**नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम् न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्** ।" "**राम प्रेम बिनु सोह न ज्ञाना** ।" इत्यादि अभियुक्तोक्तियों के अनुसार विदित होता है कि बिना भगवान् के मधुर मङ्गलमय स्वरूप में पूर्णानुराग हुए, उनका ज्ञान भी सुशोभित नहीं होता। अतः भक्तियोग से ज्ञान को सुशोभित करके, परमहंसों को श्रीपरमहंस बना देना, बस यही मुख्य प्रयोजन प्रभु के मधुर मङ्गलमय स्वरूप धारण करने का है। क्योंकि भजनीय के बिना भक्तियोग बन ही नहीं सकता। भगवत्तत्त्व से भिन्न प्रपंच जिनकी दृष्टि में है ही नहीं, उनका भजनीय सिवा भगवान् के और क्या हो सकता है? रहा भगवान् का अचिन्त्य अनन्त अव्यपदेश्य निराकार स्वरूप, सो उस स्वरूप में तो वे परिनिष्ठित ही हैं। महावाक्यजन्य परब्रह्माकारावृत्ति के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध जानकर, मन-बुद्धि एवं सर्वेन्द्रियाँ, तथा रोम-रोम भी, प्रभु के साथ सम्बन्ध के लिये लालायित हैं। इन्द्रियाँ स्वयम्भू से पराङ्मुख रची जाकर, अपनी हिंसा किया जाना इसीलिये समझती हैं कि उन्हें उनके प्रियतम से बहिर्मुख कर दिया गया है। "**पराञ्चिखानि व्यतृणत्स्वयम्भूः** ।" महर्षि आदिकवि भी यही कहते हैं कि जिसने स्नेहभरी दृष्टि से श्रीरामचन्द्र को नहीं देखा, और श्रीरामचन्द्र ने अनुकम्पाभरी दृष्टि से, जिसे नहीं देखा, वह सर्वलोक में निन्दित है, और उसकी स्वात्मा भी उसकी विगर्हणा करती है। "**यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति । निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माऽप्येनं विगर्हति ।।**" जैसे कमलनयन पुरुष के वे अतिशोभन नयन व्यर्थ हैं, यदि कभी उनके रूपदर्शन में उनका उपयोग न हुआ, वैसे ही ज्ञानी के भी प्रारब्धभोग-पर्य्यन्त अनिवार्य्य रूप से रहनेवाले देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि व्यर्थ और नीरस ही रहे, यदि उन सबका सदुपयोग प्रभु के सौन्दर्य्य, माधुर्य्य, सौरस्यामृत आदि के समास्वादन में न हुआ। इसीलिये श्रीव्रजाङ्गनाओं ने भी कहा है कि नेत्रवानों के नेत्रादि करणग्रामों की सार्थकता और इनका चरमफल यही है कि श्री व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के अनुरागभरे कटाक्ष-पात से युक्त, वेणु चुम्बित अमृतमय मुखचन्द्र के सौन्दर्य्य-माधुर्य्यामृत का निर्निमेषनयनों से पान किया जाय और घ्राण से सौगन्ध्यामृत का, त्वक् से सुस्पर्शामृत का आस्वादन किया जाय, अन्यथा इन करणग्रामों का होना बिलकुल व्यर्थ ही है। "**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः** ।" इस प्रकार अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोम को, अपने दिव्य रस से सरस और मङ्गलमय बनाने के लिये भगवान् का प्रादुर्भाव है।

यद्यपि सर्वोपाधिविनिर्मुक्त ब्रह्म निरतिशय परप्रेमास्पद और परमानन्दरूप है, उससे अधिक प्रेमास्पदता और परमानन्दरूपता की कल्पना कहीं नहीं हो सकती, तथापि जब तक प्रारब्ध का अवशेष है, तब तक ज्ञानी को भी अन्तःकरणरूप उपाधि पर ही ब्रह्म का दर्शन होता है। अन्तःकरण से ब्रह्मदर्शन वैसा ही समझना चाहिये, जैसे नेत्र से सूर्य्यदर्शन, परन्तु जैसे दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से, नेत्र द्वारा सूर्य्य

का अतिदिव्य एवं स्पष्ट रूप दिखाई देता है, वैसे ही दिव्य लीलाशक्ति से परम मनोहर सगुणरूप में, प्रकट तत्व में, अन्तःकरण से और विलक्षण चमत्कार अनुभूत होता है, परन्तु प्रारब्धक्षय हो जाने पर, सर्वोपाधियों के मिटने पर, साक्षात् सूर्यरूप हो जाने पर, जो सूर्य्य का रूप आत्मरूप उपलब्ध होता है, वह तो सर्वथा ही अनुपमेय है। जैसे श्रीवृषभानुनन्दिनी दर्पण में अपने मुखचन्द्र की मधुरिमा का अनुभव करती हैं, अस्वच्छ दर्पण आदि की अपेक्षा स्वच्छ आदर्श पर, किंवा श्रीकृष्ण के वक्षस्थल पर, उन्हें अपने मुखचन्द्र की मधुरिमा अधिक भासित होती है, परन्तु उनके मुखचन्द्र का जो मुख्य माधुर्य्य है, वह तो उनके अन्तरात्माभूत प्रियतम श्रीकृष्ण को ही विदित हो सकता है, किञ्चित् भी व्यवधान होने पर रसास्वाद में कमी ही रहती है। अतएव भावुकों का कहना है कि यदि मधुर रूप में ही चक्षु हो, तब ही रूपमाधुर्य्य का, और यदि पुष्प में ही घ्राण हो, तब ठीक गन्ध माधुर्य्य का अनुभव हो सकता है।

यद्यपि वस्तु वही है, तथापि अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्ति के अद्भुत प्रभाव से, ज्ञानियों का भी मन प्रभु के इस मधुर स्वरूप में बलात् आकर्षित हो जाता है। जैसे फल, वृक्ष, अंकुर, बीज यद्यपि भूमि के ही स्वरूपविशेष हैं, तथापि फल में भूमि, बीज, अंकुर, वृक्ष इन सभी की अपेक्षा विलक्षण सौन्दर्य्य-माधुर्य्य-सौगन्ध्य-सौरस्य होता है। एवं गुलाब के बीज, या नाल में, जैसे शाखा, उपशाखा, कण्टक, पत्र आदि के उत्पादन करने की शक्ति है, वैसे ही पुष्प के उत्पादन करने की शक्ति है, परन्तु जैसे कण्टकादि उत्पादिनी शक्ति की अपेक्षा, सौन्दर्य्य-माधुर्य्य-सौगन्ध्य-सम्पन्न पुष्प उत्पादन करने की शक्ति विलक्षण होती है, उसी तरह भगवान् की महाशक्ति में जैसे प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति है, वैसे ही उससे परम विलक्षण परात्पर पूर्णतम भगवान् की स्वरूपभूता, मधुर मनोहर मङ्गलमयी मूर्ति के प्रादुर्भाव करने-वाली शक्ति भी है।

उसी अचिन्त्य दिव्य लीलाशक्ति के योग से, निराकार भगवान् साकार उसी तरह होते हैं, जैसे शैत्य के योग से निर्मलजल वर्फरूप, अथवा संघर्षविशेष से अव्यक्त अग्नि या विद्युत् दाहक और प्रकाशरूप में व्यक्त होता है। निराकार ब्रह्म की अपेक्षा भी भगवान् की मधुर मूर्ति में वैसे ही चमत्कार भासित होता है, जैसे इक्षु (ईख), दण्ड और चन्दन वृक्ष ही मधुर और सुगन्धित होते हैं, यदि कदाचित् इक्षु में सुमधुर फल और चन्दन वृक्ष में अति सुन्दर और सुगन्धित पुष्प प्रकट हो, तब उनके मधुरता और सौगन्ध की जितनी बड़ाई की जाय, उतनी ही कम है। इसी तरह अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत आनन्द बिन्दु उद्गम स्थान, अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्द घन ब्रह्म ही अद्भुत रसमय है, फिर उसके फलरूप मधुर मङ्गल स्वरूप में कितना चमत्कार हो सकता है, यह सहृदय ही जान सकते हैं। इक्षुरस सार

शर्करा सिता आदि का सार जैसे कन्द होता है, वैसे ही औपनिषद् परब्रह्म रससार भगवान् का मधुर मनोहर सगुण स्वरूप है।

तभी किसीने श्रीकृष्ण को देखकर कल्पना किया था कि क्या यह श्रीव्रजाङ्गनाओं का प्रेमरस सारसमूह है, अथवा सात्वतवृन्द का मूर्तिमान सौभाग्य है, किंवा श्रुतियों का गुप्तवित्त ब्रह्म ही श्यामल महोमयी मूर्त्ति को धारण करके प्रकट हुआ है।

"पुञ्जीभूतं प्रेमगोपाङ्गनानां मूर्त्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्॥"

इसी तरह—

"शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥"
'परममिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु बल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥"

कुछ महानुभाव निगमाटवी के ब्रह्मतत्वान्वेषकों के परिश्रम पर दयार्द्र होकर, उनके अन्वेष्टव्य ब्रह्म को श्रीयशोदा के उलूखल में बँधा बतला रहे हैं, तो कुछ श्रीमन्नन्दराय के प्राङ्गण में धूलि-धूसरित वेदान्तसिद्धान्त के नृत्य का कौतुक बता रहे हैं, परमकौतुकी प्रभु में यह कौतुक ही तो है। इतने पर भी लोगों के प्रश्न होते हैं कि निराकार भगवान् साकार कैसे हो सकता है? परन्तु इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता कि जब कौतुकी कृपालु की लीला से निराकार जीव साकार होता है (क्योंकि सर्व मत से जीव निराकार तथा निरवयव है) और स्पर्शविहीन आकाश, स्पर्शयुक्त वायु के रूप में अवतीर्ण होता है, तथा रूपरहित वायु रूपवान् तेज के रूप में और रसगन्धविहीन तेज और जल का क्रमेण रसयुक्त जल और गन्धवती पृथ्वी रूप में प्रादुर्भाव होना सम्भव है तब क्या वह निराकार होकर भी साकार रूप में नहीं प्रकट हो सकते?

ज्ञानी के निर्वृत्तिक मन पर अविषय रूप से प्रकट वही वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्दघन भगवान् अनन्तकोटिकन्दर्प के दर्प को दूर करनेवाले, दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य सुधा-जलनिधि, मधुरातिमधुर स्वरूप से प्रकट होकर, अपने स्नेह द्वारा भावुक के द्रवीभूत अन्तःकरण को अपने रङ्ग में रङ्ग देते हैं।

ठीक सौन्दर्य का आस्वादन हो सकता है, यह बात तो ठीक नहीं घटती है कि परमानन्द सारसर्वस्व श्रीकृष्ण ही अपनी मधुरिमा (माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानुनन्दिनी) का अनुभव करते हैं। ऐसे ही काल्पनिक भेद से ज्ञानी अपने स्वरूपभूत भगवान् के मधुररूप का अनुभव करते हैं।

भावुक के द्रुत चित्त पर निखिलरसामृत मूर्त्ति भगवान् का प्राकट्य ही भक्ति पद का अर्थ होता है। आशय यह है कि अन्तःकरण लाक्षा के समान कठिन द्रव्य

है, परन्तु तापक अग्नि के साथ सम्बन्ध होने से जैसे लाक्षा पिघलती है, वैसे ही स्नेह-रागादि तापक भावों के साथ सम्बन्ध होने से, अन्तःकरण भी पिघलता है। यही कारण है कि रागास्पद कामिनी, तथा द्वेषास्पद सर्पादि पदार्थों को ग्रहण करता हुआ चित्त, पिघलकर अपने में उन पदार्थों के स्वरूपों को अंकित कर लेता है, इसीके लिये उनका विस्मरण न होकर, पुनःपुनः स्मरण होता है। उपेक्ष्य तृण आदि की स्मृति इसलिये कम होती है कि उनमें राग, द्वेष या भय आदि नहीं हुए, अतः चित्त की द्रुति वहाँ नहीं हुई।

भावुकों का कहना है कि लाक्षा जब तक पिघली नहीं होती है, तब तक उसमें कोई रङ्ग व्यापक और स्थिर नहीं होता। अतः तापक अग्नि के सम्बन्ध से लाक्षा इतनी पिघलायी जाय कि सौ पर्त के तंजेब में छानने लायक हो जाय, तब गंगाजल के समान निर्मल और द्रुत उस लाक्षा में जो रङ्ग छोड़ा जायगा वह लाक्षा के अणु-अणु में सर्वांग में व्यापक तथा स्थिर हो सकेगा। फिर तो यदि लाक्षा चाहे कि मैं अपने से रङ्ग को पृथक् कर दूँ, या रङ्ग ही चाहे कि मैं पृथक् हो जाऊँ, तो भी दोनों ही पृथक् होने में असमर्थ हैं। ठीक इसी तरह भगवद्विषयक राग आदि गङ्गाजल के समान निर्मल और द्रवीभूत चित में परमानन्दघन भगवान् का प्राकट्य होने पर, किन्तु पिघली हुई लाक्षा में रङ्ग की तरह सर्वांश में व्यापक तथा स्थिर रूप से भगवान् की स्थिति होती है। भावना के प्रभाव से इसका अपरिच्छिन्न अनन्त आन्तर विस्तार अन्तःकरणप्राण तथा रोम-रोम में फैल जाता है, तब तो आन्तर रूप से तथा बाह्य रूप से सर्वथा ही भगवान् का अनुभव होने लगता है।

अपने प्रियतम भगवान् के स्वरूप में होनेवाले तीव्रराग और उनके विरह-व्यथामय तीव्र ताप से, भावुक के गुणरूप सर्वकोशों का भस्मीभाव हो जाने, और भावनामय भगवत्सम्मिलन सौख्यरस से मन, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोम के आप्यायन होने पर, बाह्यआभ्यन्तर सर्व रूप से भगवत्तत्व का अवगाहन होता है। इस तरह अनिमित्ता भागवती भक्ति गुणमय कोशों को जला देती है, तभी निरुपाधिक एवं निरावरण होकर भावुक अपने भगवान् से मिल सकता है, भगवद्-विरहव्यथा तापमयी भक्ति से जिसके अन्नमयादि पञ्चकोशों के त्रिविध तनु नहीं तप्त हुए, वे परम तत्वामृत के समास्वादन के अधिकारी नहीं हो सकते। यही **'अतप्त तनुर्नतदासोऽश्नुते दिवं'** इस श्रुति का आशय है। **"तपसा कृच्छ्रादिना भगवद्विरह-जन्यतीव्रतापेन भक्तिपरिणामभूतेन ज्ञानाग्निना वा न तप्तातनुर्यस्य स दिवम्परमात्म-तत्वामृतं नाश्नुते।"**

कृच्छ्रादि तप से, तथा भगवद्विरहजन्य तीव्र ताप से, और भक्ति के परिणाम-भूत ज्ञानाग्नि से, जिसके स्थूल-सूक्ष्म-कारण यह तीनों तनु नहीं सन्तप्त हुए, वे परमतत्त्व का आस्वादन कैसे कर सकते हैं? इसलिये अनिमित्ता भागवती भक्ति को

सिद्धि से भी श्रेष्ठ कहा जाता है, जैसे भोजन को जठराग्नि पचा डालती है, वैसे ही अनिमित्ता भक्ति पञ्चकोशों को जीर्ण कर देती है।

"अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निर्गीणमनलो यथा॥"

भक्ति ही ज्ञानरूप में परिणत होकर मूलाविद्या का भी विध्वंस करती है। भट्टोजीदीक्षित 'क्लृपि संपद्यमाने च' इस वार्तिक के उदाहरण रूप में कहते हैं— "भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, ज्ञानाकारेण परिणमते।" श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में ज्ञान-वैराग्य श्रीभक्ति के ही पुत्र हैं, माता योग्य पुत्र की उत्पत्ति से ही सौभाग्यवती समझी जाती है, और पुत्र माता की भक्ति से ही सौभाग्यवान् होता है, अतः जहाँ ज्ञान भक्ति का फल है, वहाँ भक्ति ज्ञान तथा ज्ञानियों की भी परम पूज्या एवं भजनीय देवता है। ज्ञान, भगवत्प्राप्ति, मुक्ति आदि यद्यपि भक्ति के फल हैं, तथापि फल की अपेक्षा साधन में ही अधिक प्रीति युक्त होती है। यह देखते ही हैं कि यद्यपि धन का फलभोग, धर्म और मोक्ष ही है, तथापि लोभी धन के संग्रह और रक्षा के सामने भोग, धर्म, मोक्ष सभी पुरुषार्थों की तिलाञ्जलि दे देते हैं, क्योंकि उनकी यही दृढ़ धारणा है कि यदि साधन रहेगा तब स्पष्ट ही सब साध्य सहज ही में सिद्ध हो सकेंगे। द्रवीभूत लाक्षा में एक हुए रङ्ग को तरह भक्त के प्रेमार्द्र हृदय में एक हुए भगवान् यदि चाहें, तो भी पृथक् नहीं हो सकते।

"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात् हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मः सभवति भागवतप्रधान उक्तः॥"

बरबस भी जिसके मंगलमय नाम से, बड़ी से बड़ी पापराशि नष्ट हो जाती है, ऐसे परमस्वतन्त्र सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् जिसके अन्तकरण में स्नेहार्द्रता रूप प्रणय-पाश में बँधकर निकल न सकें, वही प्रधान भागवत होते हैं। तभी तो किसी प्रेमी ने, राग से पिघले हुए अपने अन्तःकरण में उसी द्रवावस्था रूप प्रणयपाश से प्रभु को बाँधकर उनकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, महाशक्ति को भी कुण्ठित करके निःशंक होकर कहा है, अच्छा यदि आप मेरे हृदय से निकल सकें तो मैं आपके पौरुष को देखूँगा।

"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥"

ऐसे ही अगर भक्त भगवान् को अपने हृदय से पृथक् करना चाहें, तो भी नहीं कर सकता। इसीलिये तो व्रजाङ्गना श्रीकृष्ण से अपना मन हटाने के लिये उनमें दोषानुसंधान करती हैं। हे सखि! असितों (कालों) से सख्य नहीं करना चाहिये, परन्तु क्या करें, श्यामसुन्दर श्री व्रजेन्द्रनन्दन को कथा और कथार्थ तो हम लोगों के लिये दुस्त्यज ही है। एक सखी श्रीकृष्ण प्रेम में मूर्च्छित अपनी प्रियतमा

सखी के उपचार में लगी हुई थी, इतने ही में कोई सखी आकर कुछ कृष्ण की चर्चा चलाने लगी, उपचार में लगी हुई सखी वारण करती कहती है—

"सन्त्यज सखि तदुदंतं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः ।
स्मारय किमपि तदितरद्विस्मारय हन्त मोहनं मनसः ॥"

हे सखि ! यदि अपनी प्रिय सखी को विश्रान्ति लेने देना चाहती है, तो यहाँ उन (श्री व्रजराजकुमार) की चर्चा न चला, किन्तु किसी और की याद दिलाकर, किसी तरह मनमोहन को भुला दे । महामुनीन्द्रगण जिन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द में मन लगाने के लिये बाह्य विषयों में दोषानुसंधान द्वारा मन को हटाते हैं, ये व्रज-देवियाँ अपने मनमोहन श्रीकृष्ण से मन हटाकर अन्य विषयों में लगाना चाहती हैं । योगीन्द्रगण अपने हृदय में जिसके स्फूर्तिलेश के लिये लालायित हैं, उन्हीं सर्वप्राणि-परप्रेमास्पद जीवनधन प्रभु को, वे हृदय से निकालना चाहती हैं । ठीक ही है, पूर्ण-द्रवीभूत लाक्षा और उसमें स्थायीभावापन्न रङ्ग इन दोनों का इतना अद्भुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि दोनों का ही परस्पर पृथक् होना असम्भव है । उसी तरह भगवद्भावना से द्रवीभूत अन्तःकरण पर भगवान् की स्थायीभावापत्ति होने से, फिर परस्पर का पार्थक्य असंभव हो जाता है । यद्यपि जीव का भगवान् के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध इससे भी बहुत अधिक घनिष्ठ है, जैसे तरङ्गों की समुद्र के बिना स्थिति ही नहीं है, ऐसे भगवान् के बिना जीव की सत्ता ही नहीं है ।

"सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा । बारि बीचि जिमि गावहिं बेदा ॥"

और यहाँ ही मुख्य प्रीति है, तथापि स्वरूपसाक्षात्कार के पहले, यह स्वाभाविक निरुपाधिक प्रीति असम्भव है । अतः स्वाभाविक प्रीति यह सभी उस द्रवा-वस्थारूप प्रणयन के यहाँ ही अन्तगर्त है ।

●

श्रीवृन्दावन में वर्षा और शरत्

श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अध्याय २० में वर्षा तथा शरत् का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है। श्रीमद्वृन्दारण्यधाम में भी प्राणियों को उद्भूत करनेवाली वर्षा ऋतु प्रकट हुई, गर्जन और दामिनी से युक्त सान्द्र नीलाम्बुद के द्वारा नभोमण्डल आच्छन्न हो गया। सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतियाँ भी स्पष्ट नहीं देख पड़तीं। यह स्थिति उस तरह की है जैसे निर्गुण ब्रह्मरूप जीव सत्व, रज, तम आदि गुणों से आच्छन्न हो जाता है और उसकी स्वरूपभूत ज्योति अनुभूत नहीं होती। किंवा निरभ्र ज्योतिर्मय आकाश गर्जन, विद्युत्, नीलाम्बुद आदि से आच्छन्न और अस्पष्ट-ज्योति हो गया, जैसे निष्प्रपञ्च ज्योतिर्मय ब्रह्म सत्व, रज, तम के प्रपञ्च से आवृत होकर अस्पष्ट ज्योति सा हो जाता है। किंवा आकाश मेघादि से आवृत होकर वैसे शोभित होने लगा, जैसे निर्गुण ब्रह्म सगुण साकार श्रीकृष्ण रूप में शोभित होता है। चिक्कण, सजल, जलद, नीलाम्बुद के समान श्रीकृष्ण के अवयव व्यक्त हुए और विद्युत् के समान पीताम्बर तथा मन्दगर्जन के समान वेणुनाद। जैसे आकाश की सूर्य्यादि ज्योतियाँ स्पष्ट नहीं दीखतीं, वैसे ही श्रीकृष्ण का स्वप्रकाश, तेजोमय स्वरूप वस्त्र, भूषण एवं व्रजाङ्गनाओं से आवृत होने के कारण स्पष्ट नहीं दिखलायी देता।

सूर्य्य ने आठ महीने अपनी तिग्म रश्मियों के द्वारा भूमि से खींचे हुए जल को यथोचित समय पर छोड़ना (देना) आरम्भ किया, जैसे राजा प्रजा से कर लेकर यथासमय उसे पुनः प्रदान करता है। जैसे कृपालु लोग तप्त प्राणियों को देखकर दयार्द्र हो उनके रक्षण, आप्यायन के लिये अपने जीवन तक का उत्सर्ग कर देते हैं, वैसे ही दामिनीयुक्त बड़े-बड़े मेघ अपने तड़िद्रूप नेत्रों से विश्व को तप्त देखकर वायु-रूप दया से कम्पित होकर विश्व का आप्यायन करने के लिये जीवन (उदक) बरसने लगे।

ग्रीष्म से तप्त और कृशा, दुर्बला पृथ्वी पर्जन्य की वर्षा से पुष्ट हो उठी, जैसे कामना से तपस्या करनेवाले तपस्वी का शरीर काम-प्राप्ति से पुष्ट हो जाता है। सायङ्काल में अन्धकार के कारण खद्योतों (जुगनुओं) का प्रकाश होने लगा, परन्तु चन्द्र, शुक्र आदि ग्रहों का प्रकाश नहीं, जैसे कलियुग में पाप के कारण पाखण्डों (वेदविरुद्ध आगमों) का विस्तार होता है, वेदों का नहीं। बादलों के निनाद को सुनकर प्रथम प्रसुप्त मण्डूकों ने बोलना आरम्भ कर दिया, जैसे नित्य ध्यान, जपादि नियम के पश्चात् आचार्य के निनाद को सुनकर शिष्य लोग वेदाध्ययन करने लगते हैं। क्षुद्र नदियाँ कभी बढ़ने पर उत्पथगामिनी होती हैं या शुष्क हो जाती हैं, सत्पथ-गामिनी नहीं होतीं, जैसे इन्द्रिय परतन्त्र या निरंकुश प्राणी की देह, द्रव्य सम्पत्तियाँ या तो उच्छृङ्खल अपात्रगामिनी होती हैं, अथवा नष्ट हो जाती हैं। भूमि बालतृणों से हरित, इन्द्रगोपों (लालरंग के कीट विशेषों) से रक्त और शिलीन्ध्रों (छत्राकों) की छाया से पीत वर्ण की होकर ऐसी लगती है, जैसे राजा की सेना-सम्पत्ति सुशोभित

होती है। वृष्टि के लगातार होने पर क्षेत्र सस्य सम्पत्ति से युक्त होकर 'सब कुछ दैवाधीन है' ऐसा न जाननेवाले धनिक कृषकों को सुख देते हैं, वृष्टि-विच्छेद होने पर सूखते हुए अनुताप पहुँचाते हैं। नव जल के निषेवण से जल-स्थल के सभी जीवों ने रुचिर रूप धारण कर लिया, जैसे परमधर्ममय, सुखमय श्री हरि की सेवा से सभी सद्यः परम रुचिर हो जाते हैं। सरिताओं से सङ्गत होकर वात से उद्भूत तरङ्गों द्वारा सिन्धु क्षुब्ध हो उठा, जैसे कामवासना से युक्त अपक्व योगी का चित्त विषयों के योग से चञ्चल हो उठता है। वर्षा की धाराओं से हन्यमान होते हुए भी पर्वत, नदी विचलित नहीं होते, जैसे भगवद्भक्त भगवान् के ध्यान में तल्लीन चित्तवाले होने के कारण विविध व्यसनों (दुःखों) से अभिभूत होने पर भी चलायमान नहीं होते।

तृणों से आच्छन्न और असंस्कृत होने से मार्ग सन्दिग्ध हो उठे, जैसे ब्राह्मणों द्वारा अभ्यास न किये जाने से कलिकाल के प्रभाव से श्रुतियाँ हत-सी हो जाती हैं। वर्षा में पथिकों के गमनागमन बन्द हो जाने और तृणों से आच्छन्न होने से मार्गों में सन्देह होने लगता है, जैसे ब्राह्मणों के पुनः-पुनः आवर्त्तन (अभ्यास) न करने से कुछ काल में श्रुतियाँ विस्मृत हो जाती हैं। सर्व प्राणियों को जीवनभूत जल का प्रदान करनेवाले महोपकारक लोकबन्धु मेघों में विद्युतों का सौन्दर्य स्थिर नहीं है, जैसे गुणवान पुरुषों में भी कामिनी स्थिर प्रीति नहीं कर सकती। निर्गुण (जयारूप गुण से रहित) इन्द्रधनुष गुणवान् (गर्जन शब्दरूप गुण) सम्पन्न आकाश में शोभित होता है, जैसे गुणमिश्रणमय, व्यक्त प्रपञ्च में निर्गुण पुरुष शोभित होता है। अपनी ज्योत्स्ना (चन्द्रिका) से ही प्रकाशित बादलों द्वारा आच्छन्न होकर चन्द्रमा पार्थक्य से स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, जैसे आत्मा की ज्योति से ही भासित (प्रकाशित) "अहं विद्वान्", "अहं दाता,', "अहं शूरः" इत्यादि अहं मति से आच्छन्न पुरुष सर्वपृथक् रूप से स्पष्ट नहीं प्रकाशित होता—

"न रराजोडुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्घनैः।
अहम्मत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा॥"

मेघ के आगमोत्सव में मयूर प्रसन्न हो उठे, जैसे गृह में तप्त, विरक्तचित्त पुरुष अच्युत भक्त के आगमन में प्रसन्न हो उठते हैं—

"मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दन् शिखण्डिनः।
गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाऽच्युतजनागमे॥"

वर्षा में वृक्ष पादों से जल पान कर नाना रूपवाले शाखा, पल्लव, पुष्प, फल आदि से समन्वित हो उठे, जैसे पहले तपस्या से दुर्बल तपस्वी कामों के सेवन से अनेक रूप देहवाले हो जाते हैं, पङ्ककण्टकादियुक्त अशान्त सरोवरों पर भी सारस, चक्रवाकादि टिके हुए हैं।

जैसे अशान्त, उल्वण कर्मवाले गृहों में भी वैषयिक सुख-लेश की आशा से कटुम्बी लोग टिके रहते हैं। पर्जन्य की वर्षा में जलौघों से सेतु छिन्न-भिन्न वैसे ही

हो जाते हैं, जैसे कलियुग में पाखण्डियों के असद्वादों से वेदमार्ग, वर्णाश्रम धर्म छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वायु की प्रेरणा से मेघ प्राणियों के लिये अमृतमय जल देते हैं, जैसे ब्राह्मणों की प्रेरणा से राजा लोग अर्थियों को अभीष्ट अर्थ प्रदान करते हैं।

पुनः शरद् के प्रभाव से कमलों की उत्पत्ति से जल स्वच्छ, प्रकृतिस्थ हो गया, जैसे भ्रष्ट लोगों का चित्त योग सेवा से पुनः स्वस्थ, शान्त हो जाता है। शरद्-ऋतु ने आकाश, भूत, पृथ्वी और जल के बादल, शवलता (साङ्कर्य), पङ्क और मलिनता को हर लिया, जैसे कृष्ण की भक्ति चारों आश्रमियों के अशुभों को हर लेती है। मेघ अपने सर्वस्वभूत जल को छोड़कर शुभ्र तेजयुक्त होकर शोभित होते हैं, जैसे सर्वेषणाओं से विनिर्मुक्त होकर मुक्तकिल्विष मुनि शान्त होते हैं—

"सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः।
यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः॥"

पर्वत कहीं निर्मल जल दे रहे हैं, कहीं नहीं, जैसे—ज्ञानी लोग यथावसर ज्ञानामृत देते हैं, अथवा नहीं देते—

"गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्।
यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा॥"

गाध (छिछले) जल में रहनेवाले मीनादि क्षीयमाण (सूखते हुए) जल को नहीं जानते, जैसे कुटुम्बी प्रतिदिन क्षीण होती हुई आयु को नहीं जानता। थोड़े जल के मीन शरद् के सूर्य्य ताप से तप्त होने लगे, जैसे दरिद्र, कृपण, अजितेन्द्रिय कुटुम्बी क्षुद्रादि (भूख आदि) प्रयुक्त तापों से तप्त होता है। स्थल शनैः-शनैः पङ्क को और वीरुध (वृक्षादि) अपक्वता को छोड़ने लगे, जैसे धीर पुरुष शरीरादि अनात्माओं में शनैः-शनैः अहंता और ममता को छोड़ता है। शरद् के आगमन में समुद्र का जल निश्चल हो गया, जैसे मन के उपरत हो जाने पर मुनि आगमों के अभ्यास से उपरत होकर तूष्णी (चुप) हो जाता है।

कृषक लोगों ने दृढ़ सेतुओं द्वारा जल को खेतों में रोक लिया, जैसे इन्द्रियों का निरोध करके मुनि लोग उनके द्वारा बहते ज्ञान को रोकते हैं। रात्रि में उदित होकर चन्द्रमा भूतों के अर्कतापों को हर लेते हैं, जैसे बोध (ज्ञान) प्राणियों के देहाभिमान को हर लेता है। किंवा जैसे मुकुन्द व्रजयोषितों के तापों को हर लेते हैं। शरद् के निर्मल तारकों से युक्त निर्मेघ आकाश शोभित होने लगा, जैसे शब्द ब्रह्म के अर्थ को प्रकाश करनेवाले सत्वयुक्त चित्त को शोभित होता है। व्योम (आकाश) में उडुगणों के साथ चन्द्रमा अखण्ड मण्डल होकर शोभित होता है, जैसे वृष्णिचक्रों (यादवमण्डल) से आवृत यदुपति कृष्ण शोभित होते हैं। समशीतोष्ण प्रसून-वन-मारुत का आश्लेष करके सब लोगों ने ताप छोड़ दिया, परन्तु कृष्णहृतचेता व्रजाङ्गनाएँ तप्त ही रहीं। गौ, खग, मृग, नारी शरद् के सम्बन्ध से पुष्पिणी होकर अपने

वृषों (पतियों) से अन्वीयमान हुई, जैसे ईश की सभी क्रियाएँ फल से युक्त होती हैं। सूर्य्योत्थान में कुमुद को छोड़कर सभी कमल खिल उठे, जैसे योग्य राजा से दस्यु को छोड़कर सभी लोग निर्भय होते हैं। वणिक्, मुनि, नृप, स्नातक सभी वर्षा से रुके थे, शरद् आने पर वे अपने-अपने अर्थों को प्राप्त होते हैं, जैसे असिद्ध (मुक्ति को अप्राप्त जीव) प्रलयकाल के अनन्तर सृष्टि के समय अपने पूर्वाजित कर्मानुसार शरीरों को प्राप्त होते हैं—

"वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे।
वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते॥"

इन्हीं भावों को लेकर गोस्वामी श्री तुलसीदासजी ने रामायण किष्किन्धा-काण्ड में वर्षा के अन्त और शरद् के आगमन का वर्णन किया है—

"दामिनि दमक रह न घन माहीं, खल कै प्रीति यथा थिर नाहीं।
बरसहिं जलद भूमि नियराये, जथा नवहिं बुध बिद्या पाये।
भुमि परत भा डाबर पानी, जनु जीवहिं माया लपटानी।

हरित भूमि तृन संकुल, समुझ परहि नहिं पंथ।
जिमि पाखण्डी वाद तें, लुप्त होहिं सद्ग्रंथ॥

दादुर धुनि चहुँ दिसा सुहाई, बेद पढ़हिं जनु बटु समुदाई।
नवपल्लव भये बिटप अनेका, साधक मन जस मिलें बिवेका।
अर्क जवास पात बिनु भयऊ, जस सुराज खल उद्यम गयऊ।
ससि सम्पन्न सोह महि कैसी, उपकारी कै सम्पति जैसी।
ऊसर बरसै तृन नहिं जामा, जिमि हरिजन हिय उपज न कामा।
जहँ तहँ रहे पथिक थकि नाना, जिमि इन्द्रीगन उपजै ज्ञाना।

कबहुँ दिवस महुँ निबिड़तम कबहुँक प्रगट पतंग।
बिनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग॥

वर्षा बिगत सरद ऋतु आई, लछिमन देखहु परम सुहाई।
उदित अगस्त पंथ जल सोषा, जिमि लोभहिं सोखै संतोषा।
सरिता सर निर्मल जल सोहा, संत हृदय जस गत मद मोहा।
रस-रस सूख सरित सर पानी, ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।
बिनु घन निरमल सोह अकासा, हरिजन इव परिहरि सब आशा।
कहुँ कहुँ वृष्टि सरद ऋतु थोरी, कोउ कोउ पाव भगत जिमि मोरी।

चले हरषि तजि नगर नृप, तापस बनिक भिखारि।
जिमि हरि भगति पाइ श्रम, तजहि आश्रमी चारि॥"

●

वेणुरव

वेणुरव में ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का स्वरूप और उनकी मङ्गलमयी लीला है, अतः उसके वर्णन में प्रभु का वर्णन है। पहले तो श्रीकृष्ण ही रसामृत मूर्त्ति हैं, उनमें भी साधनता और साध्यता दोनों हैं। श्रीहस्त, श्रीचरणारविन्दादि अन्यान्य अङ्गों में साध्यता है और साधनता भी, किन्तु आनन्द केवल साध्य ही है, सब उसीके लिये है, पर वह किसीके लिये नहीं। यही तो ब्रह्म का भी लक्षण है, अतः दोनों एक ही हैं। शब्दादि सर्व-पदार्थ जैसे आनन्द के लिये हैं, वैसे ही आत्मा के लिये हैं, "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।" जैसे आनन्द निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद है, वैसे आत्मा भी निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पद है। जिसमें कभी प्रेम हो कभी नहीं, वह अपर प्रेमास्पद है। ऐसा जो नहीं, वह प्रेमास्पद है। औपाधिक अपर और स्वाभाविक पर है। औपाधिक उपाध्यधीन होता है, स्वाभाविक उपाध्यधीन नहीं होता, वह मिटता नहीं है। संसार के सब प्रेम औपाधिक हैं, जैसे स्त्री-पुत्रादि प्रेम। इतना ही नहीं, संसार में देवता पर भी प्रेम तब होता है, जब वह अनुकूल होता है। मन्त्रों में भी कोई अरिमन्त्र, कोई मध्यम मन्त्र होते हैं। जिससे अनुकूल फल नहीं, वह अरिमन्त्र होता है। इसी विचार से कहा है कि जब समान तत्व और समान साधक मिलें, तब मन्त्रसिद्धि ठीक होती है। अस्तु, सारांश यह कि जब देवता भी आत्मानुकूल हों, तब उनमें प्रेम होता है। देखा जाता है कि शैव वैष्णव से और वैष्णव शैव से द्वेष करते हैं। वास्तव में पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु एक ही है, पर व्यर्थ उनमें द्वेषास्पदता-रागास्पदता की कल्पना करते हैं। रामभक्तों को रामायण में जो मिठास प्रतीत होती है, वह इतर ग्रन्थों में नहीं। वृन्दावन में तो कृष्ण में भी भेद मानते हैं। एक बायें मुकुटवाले श्रीकृष्ण, दूसरे दायें मुकुट-वाले श्रीकृष्ण। वास्तव में बायें-दायें में भी कुछ रहस्य है, कुछ भाव अवश्य है। वेणुगीत प्रसङ्ग में बायें मुकुटवाले ही श्रीकृष्ण हैं। "वामबाहुकृतवामकपोलः" श्री भगवान् की ललित मूर्त्ति में मुकुट बायीं ओर ही झुकता है। कहते हैं, जहाँ वामाङ्ग में श्रीवृषभानुनन्दिनी विराजमान हैं, वहाँ श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण परमानन्द का वामाङ्ग की ओर ही झुकाव है। इसीलिये उस परिस्थिति में मुकुट का बायीं ओर झुकाव स्वाभाविक है। जहाँ श्रीकृष्ण और बलराम हैं, वहाँ दक्षिण में। जहाँ नन्द बाबा दक्षिण में और वाम में श्री नन्दरानी, मध्य में बलराम नन्दराय के पास, श्रीकृष्ण यशोदा के पास, उस समय मुकुट का दायें बलराम की ओर झुकाव होता है। यही वास्तव में रहस्य है।

अस्तु, विषय यह है कि आनन्द-निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेमास्पद है और अन्य औपाधिक एवं सातिशय। आनन्द और आत्मा एक ही वस्तु है। आनन्द से जैसे कभी शत्रुता नहीं होती, वैसे ही आत्मा से कभी शत्रुता नहीं होती। सर्वद्रोह

हो सकता है, पर आत्मद्रोह नहीं होता। श्रीकृष्ण निखिलरसामृतमूर्त्ति आनन्दसार सर्वस्व हैं। वे साध्य ही साध्य हैं, साधन नहीं, अतः परप्रेमास्पद हैं। इनमें भी कुछ भावुक तारतम्य मानते हैं, कहते हैं कि उनमें भी अमृतमय मुखचन्द्र की सुधा केवल साध्य ही है, किसीकी साधन नहीं। पर भावुक कहते हैं कि उसमें भी देवभोग्या अधरसुधा भगवद्भोग्या अधरसुधा का साधन है और वह भी सर्वाभोग्या अधर-सुधा का साधन है। परस्पर भावापत्तिपूर्वक वह सर्वाभोग्या अधरसुधा केवल साध्यमात्र है, किसीका साधन नहीं है। वह रव से अभिव्यक्त होती है, अतः प्राधान्यतः यहाँ रव वर्णन किया गया है।

उसमें श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द और उनकी लीला भी निहित है। इसलिये **"भागवत"** में श्री शुकदेव कहते हैं—

"इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे॥"

इस वेणुरव में अमृतत्व का उपलम्भ होता है, जिससे ब्रह्मा, शक्र, सनकादि भी मोहित होते हैं—

"शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः।"

इस रव का प्राधान्य इसीलिये है कि उससे पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु प्रकट होते हैं। वैसे तो प्रभु सर्वत्र हैं ही, पर जब व्यञ्जक नहीं, तब क्या हो? इसलिये भावुक व्यक्ति भगवान् से भी अधिक व्यञ्जक नाम को बड़ा मानते हैं। अरबों की सम्पत्ति घर में भरी हो पर यदि वह विदित नहीं, तो उसका क्या उपयोग? घरवाला हल ही चलाता रहेगा। नाम यह निधिका—खजाने का—बीजक है, पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम प्रभु निधि हैं और नाम उसका बीजक है। यही श्री तुलसीदासजी ने कहा है—**"नाम निरूपण नाम जतन ते, सोइ.......प्रकटत जिमि मोल रतन ते।"** नाम द्वारा प्रयत्न करने पर प्रभु प्रकट होते हैं। अतः कहा है कि **"कहहु नाम बड़ ब्रह्म ते"**, **"राम एक तापस तिय तारी, नाम कोटि खल कुमति सुधारी।"** नाम मूल चिकित्सा है और राम पल्लव चिकित्सा। **"राम भालु कपि कटक बटोरा, सेतु हेतु स्रम कीन्ह न थोरा। नाम लेत भव सिन्धु सुखाहीं, करहु बिचार सुजन मन माहीं।"**

श्रीराम ने भालु, बन्दरों को लेकर प्राकृत शतयोजन समुद्र पार किया, किन्तु नाम लेने से अपार भवसिन्धु सूख जाता है, अतः सबसे नाम बड़ा है। वेदान्त भी कहते हैं कि वाक्य-श्रवण से तत्व साक्षात्कार होता है। भक्त भी भगवत् साक्षात्कार का मूल श्रवण ही मानते हैं। निर्गुण साक्षात्कार में भी श्रवण की ही अपेक्षा है। व्रजाङ्गनाओं को भी उद्बुद्ध उभयविध शृङ्गार रसात्मा श्रीकृष्ण के लिये वेणुरव ही अपेक्षित है। इसलिये वे मूल वेणुरव को पकड़ती हैं कि उसीसे श्रीकृष्णचन्द्र परमा-नन्दकन्द व्यक्त होंगे। जैसे हृदय में प्रथम से ही विराजमान निर्गुण परब्रह्म तत्व का

साक्षात्कार श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा महावाक्य से ही होता है, वैसे ही सगुण, साकार सच्चिदानन्द परब्रह्म का भी साक्षात्कार उनके चरित्रों एवं गुणगणों के श्रवण से ही होता है। चरित्रश्रवण से प्रथम चरित्रनायक भगवान् का मानस रूप प्रकट होता है। उसी मानसी भगवदीय प्रतिमा का ध्यान करते-करते ही माया-यवनिका के, जिससे कि भगवान् आवृत होते हैं—अपसारण से भगवान् का दिव्य रूप प्रकट होता है, इस तरह शब्द से ही भगवान् का प्राकट्य होता है। फिर जब भगवान् के चरित्रों और भगवन्नामों से भगवान् का प्राकट्य होता है, तब साक्षात् भगवान् के मुखचन्द्र से निर्गत वेणुगीत पीयूष के पान से भगवान् का प्राकट्य होना स्वाभाविक ही है। शब्द प्रकाशक और अर्थ प्रकाश्य होता है। अतः शब्द ब्रह्म रूप में व्यक्त भगवदवरसुधा से भगवान् का प्राकट्य होना स्वाभाविक है। समस्त प्रवाह अपने से संसृष्ट पदार्थ को गन्तव्य स्थल की ओर ले जाते हैं, परन्तु वेणुध्वनि का विलक्षण प्रवाह अपने में संसृष्ट तत्त्व को अपने उद्गम स्थान श्रीकृष्ण की ओर ही ले जाता है—

"सर्वः प्रवाहः सर्वत्र स्वानुकूल्येन कर्षकः।
वेणुध्वनिप्रवाहस्तु प्रातिकूल्येन कर्षति॥"

आश्चर्य से सबका ही उधर आकर्षण होता है, फिर जब स्वयं माधव ही उसपर मोहित हो जाते हैं, तब फिर औरों का तो कहना ही क्या है?

उस वेणुरव का ही वर्णन करती हुई व्रजाङ्गनाएँ परस्पर अभिरमण करती हैं। इस रव द्वारा सदानन्द रूप भी हृदय में व्यक्त होता है। कृष्ण पद का अर्थ ही सदानन्द है। कहा है—

"कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥"

"कृष्" धातु का अर्थ भू—सत्ता और "ण" का अर्थ निर्वृति—आनन्द है। तथा च 'सत्ता आनन्द' यह कृष्ण पद का अर्थ है। इसका अर्थ कोई तमाल श्यामलत्विट् यशोदास्तनन्धय श्रीकृष्ण ही करते हैं, इसमें भी विरोध नहीं है। उसमें भी सत्ता और आनन्द दोनों का ऐक्य है। स्वयंप्रकाश सत्तारूप आनन्द, आनन्दरूप सत्ता, दोनों एक ही बात है। सत्तारूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी एवं आनन्दरूप श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द और श्रीवृषभानुनन्दिनी वैसे ही अभिन्न हैं, जैसे सत्ता और आनन्द। यदि आनन्द में सत्ता न हो, तो सत्ता के बिना आनन्द असत् हो जाय। फिर जो असत् है वह आनन्द कैसे? वैसे ही आनन्द से वियुक्त शुद्ध सत्ता भी नहीं है। जड़ों की सत्ता दूषित, सविशेष, सप्रपञ्च है, किन्तु शुद्ध सत्ता निरुपद्रव, निर्विशेष आनन्द रूप ही है। अन्य सब सत्ताएँ विनश्वर हैं। वैषयिक आनन्द विनश्वर ही है, अतः वह सदानन्द कहाँ? यहाँ आनन्द और सत्ता ये दोनों परस्पर विशेषण हैं। वह आनन्द अबाध्य है, जगदानन्द बाध्य। इसलिये श्रीकृष्ण का स्वरूप

वास्तविक सद्रूप एवं आनन्द रूप है। जो अत्यन्त अबाध्य, नित्य, स्वप्रकाश है, उसके साथ जब सत् लगा, तब उसमें सांसारिक से विलक्षणता, नित्यता आयी। यदि सत् में आनन्द न लगाते तो प्रापंचिक सत्ता आती, अतः सत् और आनन्द दोनों को लगाया। सत् और आनन्द कभी परस्पर वियुक्त नहीं होते, इसीलिये श्रीवृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण परस्पर अन्तरात्मा हैं। एक तो यह कि जैसे जल में तरङ्ग, वैसे परम रसामृत मूर्ति श्रीकृष्ण में व्रजाङ्गनाएँ हैं। जैसे चन्द्रमा से चन्द्रिका का, जैसे भानु से प्रभा का, वैसे ही उनका श्रीकृष्ण से अविघटित स्वाभाविक सम्बन्ध है। किन्तु इससे भी अन्तरङ्ग यह सम्बन्ध है, जैसे जहाँ अमृत, वहाँ मधुरिमा, वैसे ही जहाँ परमरसामृत मूर्ति श्रीकृष्ण, वहाँ उनकी माधुर्य्याधिष्ठात्री वृषभानुनन्दिनी। यदि अमृत से मधुरिमा को अलग किया तो फिर अमृतत्व ही क्या? वेदान्ती गुण-गुणी का तादात्म्य मानते हैं, इसलिये सत्ता आनन्दरूप वृषभानुनन्दिनो और श्रीकृष्ण दोनों एक ही हैं। एक ही सदानन्द रूप भगवान् गौर तेज, श्याम तेजरूप में, राधा-माधव उभय स्वरूप में प्रकट हुए हैं।

इसी दृष्टि से कहते हैं कि श्रीकृष्ण का अनन्तर स्वरूप श्रीवृषभानुनन्दिनी तथा बाह्य स्वरूप पुमान् है, तथा वृषभानुनन्दिनी का आन्तर स्वरूप पुमान् और बाह्य वृषभानुनन्दिनी हैं।

हितहरिवंश सम्प्रदाय में कहते हैं कि जैसे गौर-श्याम शीशियों में श्याम-गौर रस भरा हो, वैसे यह दोनों हैं। दोनों शीशियाँ भी एक ही जाति की हैं। गौर शीशी श्याम हृदय की वस्तु है और श्याम शीशी गौर हृदय की वस्तु है। गौर में श्यामरस एवं श्याम में गौररस भरा है। इस तरह परस्पर श्रीकृष्ण और श्रीवृषभानुनन्दिनी परस्पर हृदय की वस्तु हैं, दोनों में परम अन्तरङ्गता है, इसलिये कहा है कि 'उभय उभय भावात्मा' हैं। इस प्रकार वह परम तत्व भरपूर होकर वेणुरव द्वारा व्यक्त होता है।

परमानन्द आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के अधर से संश्लिष्ट वंशी के भी सौभाग्य को देखकर स्वयं श्रीवृषभानुनन्दिनी कहती हैं कि, "हे सखि! हम वंश-जन्म की याचना करती हैं, कुलवधू होना नहीं चाहतीं, क्योंकि वंश-जन्म में श्रीकृष्ण स्वयं ही आसक्ति से सदा मिले परन्तु कुलवधू होने में तो उनका मिलना दुर्लभ हो जायगा—

"याचेऽहं वंशदेहं न तु कुलजवधूदेहमाद्ये हि कृष्णः।
तृष्णा भावेन सज्जन् बहुरुचिविहरन् दुर्लभः स्यात्परत्र ॥"

फिर भला ऐसी वेणु के रव को सुनकर किसका परम कल्याण न होगा?

किरातिनियों का स्मररोग

"पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय पदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ।।"

'श्रीमद्भागवत' के 'वेणुगीत' में प्रसङ्ग आया है कि एक बार वृन्दावन-धामवासिनी किरातिनियों ने वहाँ के हरित घासांकुर, दूर्वा, गुल्म आदि में संलग्न कुंकुम का दर्शन किया। वह कुंकुम श्री भगवच्चरणाम्बुज स्पर्श से उनमें लगा था। उसके दर्शन, स्पर्श और सौगन्ध्य से किरातिनियों के मन में स्मररूप रोग का उदय हुआ। स्मर का अर्थ काम अथवा उत्कण्ठापूर्वक स्मरण है। भावुकों के मतानुसार बाह्य रमण में काम की अपेक्षा है और आन्तर रमण में ताप की। यह दूसरी बात है कि भगवद्विषयक काम आधिदैविक दिव्य काम है। जैसे सुवर्ण की मुद्रिका में दिव्यरत्न के संयोग के लिये लाक्षा अपेक्षित होती है, वैसे ही व्रजाङ्गनाओं को श्रीकृष्ण सम्बन्धार्थ काम अपेक्षित था, और वह यह भूषण था, दूषण नहीं। क्योंकि अन्यत्र काम निन्द्य है, पर भगवच्चरणविषयक होने से वही भूषण है। वैसे किसी विरक्त के लिये जागतिक वैषयिक इच्छा या तृष्णा का होना निन्द्य है, परमार्थ में इन सबका न होना ही उत्तम माना गया है—"**तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति।**" तृष्णा का नाश हो जाना सुख का मूल है। परन्तु कहीं पर यही संतोष दूषण भी है। किसीको भगवच्चरित्र श्रवण, तद्दर्शन आदि में सन्तोष हो जाय, तो क्या यह दूषण न माना जायगा ? यहाँ तो जितना ही अधिक असन्तोष, लोभ, चञ्चलता आदि हो, उतना ही अच्छा है। किसीने कहा है--

"कृष्णभावरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते ।
तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते ।।"

कल्प-कल्पान्तरों के, जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यपरिपाक से श्रीकृष्णविषयक अनुराग होता है। पर वह सीमित न रह जाय, तभी उसका महत्व या पूर्णता है। श्री श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन की कोटि-कोटि कन्दर्प-दलन पटीयसी मनोहारिणी छवि निहारने के लिये सब प्रपञ्च भूल जाय, व्याकुलता बढ़ती जाय, मन तड़फड़ाने लगे, अस्वास्थ्य हो जाय, धैर्य छूट जाय, तभी उसका महत्व है, तभी सफलता है। यदि कहीं यह संतोष हो कि धीरे-धीरे करते चलो, धैर्य्य रखो, तो फिर अनुचित है। यहाँ तो जितनी अधिक व्याकुलता, व्यग्रता, बेचैनी बढ़ेगी, उतनी ही अधिक अनुराग में उत्कृष्टता आयेगी। सब अधिकाधिक व्याकुलता बस का होना ही उस मति का मूल्य है। पुत्र, धन, दारा, गेह, नेह के न मिलने से अधैर्य्य तो सभी को होता है और

होना स्वाभाविक है, परन्तु भगवदर्थ अधैर्य्य, व्याकुलता, अस्वास्थ्य होना बहुत ऊँची बात है। अतः जो लोक में दूषण है, वही यहाँ भूषण है।

भगवत् सम्बन्ध से तृष्णा, काम, लोभ सब भूषण हैं। भगवच्चरण सरोरुह-संमिलन के लिये भावुक का मनोमिलिन्द तड़फड़ाये, उसके लोकोत्तर माधुर्य्य पराग में लाम्पट्य दिखलाये, तो यह उसका महाभूषण है। जिस वृत्तिविशेष से कामिनी संमिलन के लिये कामुक उत्कण्ठित या व्याकुल हो उठता है, वही स्मर है। ऐसे ही जिस वृत्तिविशेष से व्रजदेवियों को श्रीकृष्ण परमात्मा के संमिलन के लिये उत्कट उत्कण्ठा और व्याकुलता है, वही स्मर या लोकोत्तर प्रणय है। पर, बात यह है कि किसी भी वस्तु का महत्व उसके स्वरूप, विषय और आश्रय के महत्व से होता है। श्रीकृष्ण का चौर्य आश्रय से उत्तम हो सकता है, परन्तु स्वरूप से वह निन्द्य है। आश्रय की सरसता से आश्रित में सरसता, उत्तमता आ सकती है। क्षीरसागर की लहरी या तरङ्ग क्षार होगी और क्षीरसागर की लहरें क्षीरमयी मधुर होंगी। ऐसे ही भगवदाश्रित वस्तु तदात्मक होगी। यहाँ के चौर्य का महत्व आश्रय की महत्ता से है, अतएव भक्तों के द्वारा यह खूब गाया गया। साधारण पुरुषों का चौर्य गाया नहीं जाता, प्रत्युत किसी का चौर्य ज्ञात होने से उसके साथ सर्वविध सम्बन्ध त्याग हो जाता है। चोरी के साथ झूठ भी लगा था, बिना उसके चोरी का काम ही नहीं चल सकता। एक बार बालकृष्ण ने मिट्टी खायी। शिशु सखाओं ने व्रजेन्द्रगेहिनी यशोदा से शिकायत कर दी—"**मैया ! आज लाला ने मिट्टी खायी है।**" बाल लीलोत्सव मुग्ध, परम भाग्यवती यशोदा ने कृत्रिम कोप से श्री श्यामसुन्दर नन्दनन्दन के सुकोमल छोटे-छोटे दोनों हाथों को अपने एक हाथ में पकड़ लिया और दूसरे हाथ में छड़ी लेकर बोलीं—"**क्यों लाला, तूने आज मिट्टी खायी ?**" भगवान् डर गये, सोचा 'अब मार पड़ेगी, इसलिये झूठ बोल दो।' कहने लगे—"**माँ ! मैंने मिट्टी नहीं खायी**" "**नाहं भक्षितवानम्ब**"। यशोदा ने घुड़ककर कहा—"**तुम्हारे ये सखा लोग जो कह रहे हैं ?**" तब तो कहने लगे-"**सर्वे मिथ्याभिशंसिनः**" "ये सब झूठ बोल रहे हैं।" भगवान् ने यशोदा को विश्वास दिलाने और अपनी सफाई पेश करने के लिये कहा—"**यदि तुझे विश्वास नहीं तो इन सबके सामने मेरा मुख देख ले**" "**समक्षं पश्य मे मुखम्।**" भगवान् ने सोचा था कि ऐसा कह देने से अम्बा को विश्वास हो जायगा और वह मुँह खुलवाकर न देखेगी। परन्तु नन्दरानी भी पूरी थी। उसने कहा—"**अगर ऐसी बात है तो मुख खोल दे—"तर्हि व्यादेहि।**" अब तो भगवान् फँस गये। अगत्या व्याध से डरे पक्षी की तरह मुख खोल दिया—"**व्यादत्ताव्याहतैश्वर्थः।**" मुख के खुलते ही उसमें सागर, भूधर, वन, पर्वत दीख पड़े। यशुमति डरी, उसके हाथ से छड़ी गिर गयी, वह बेहोश हो गयी। कुछ टीकाकार भगवदुक्तियों को सत्य ही सिद्ध करते रहने के कारण "**नाहं भक्षितवान्**" की व्याख्या करते हैं—"**नाहं किञ्चिद् वाह्यं भक्षितवान् किन्तु सर्वं मदन्तरस्थमेव**" अर्थात् मैंने कोई बाहर की वस्तु

नहीं खायी, मेरे उदर में ही है। परन्तु श्री जीव गोस्वामी आदि का कहना है कि भगवान् झूठ बोले ही और बोलना ही चाहिये था। बात यह है कि भगवान् की दो प्रधान शक्तियाँ हैं—एक माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति और दूसरी ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति। उस समय व्रज में माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति का साम्राज्य था, भगवान् श्रीमन्नन्दरानी यशोदा के उत्सङ्ग में लालित हो रहे थे। ऐश्वर्याधिष्ठात्री महाशक्ति उस समय रुद्धप्रवेशा थी। वह प्रभु की सेवा का अवसर ढूँढ़ रही थी। जब उसने देखा कि हाथ में छड़ी लिये यशोदा अब मेरे प्रभु को, प्राणधन को मारे बिना न रहेगी, तब अपने कौशल से उन्हें बचाने का प्रयत्न किया, यशोदा को श्रीमुख में अनन्त ब्रह्माण्ड दीख पड़े। भावुकों की तो यहाँ तक भावना है कि प्रभु ने यशोदा से अपने बचने के लिये सिर्फ कहभर दिया था कि "समक्षं पश्य मे मुखम्", वास्तव में वे अपना मुख खोलकर दिखाना नहीं चाहते थे, क्योंकि मिट्टी तो आखिर खायी ही थी। तब खुल कैसे गया ? तो मातृकोपरविरश्मि द्वारा उनका मुखकमल स्वयं ही विकसित हो गया।

तात्पर्य यह है कि लीलारसपोषिका ऐसा झूठ दोष नहीं गिना जाता, किन्तु गुण ही गिना जाता है। इसी भाव की 'भागवत' में कुन्ती की स्तुति है—

"गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावत्, या ते दशाऽश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।"

हे व्रजेन्द्रनन्दन, श्यामसुन्दर! जब आपकी अघटितघटनापटीयसी माया से मुग्ध हुई यशोदा रस्सी लेकर बाँधने लगी, उस समय "**वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य**" मुख नीचा किया, आँखें डबडबा आयीं, अञ्जनमिश्रित अश्रु कपोल पर लुढ़क आये, मानो नीलकमल के कोश पर ओस के कण या मुक्ताबिन्दु शोभा पा रहे हैं। "**सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति**" जिससे काल भी भयभीत होता है, उसका यशोदा से डरना मुझे मुग्ध कर रहा है।

यह सब कुछ अप्राकृत तत्व में प्राकृतवत् प्रतीति है, अलौकिकता का भाव है। "**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतः प्रभोः।**" उस अचिन्त्य, अनन्त, अग्राह्य, अलक्षण, अव्यपदेश्य तत्व का सगुण, साकार विग्रह रूप में इसीलिये प्राकट्य है कि किसी भी भाव से लोगों को उसमें प्रीति हो और उनका कल्याण हो। सहज भाव रागानुगा प्रीति है। रागतः प्राप्त में विधि नहीं होती, वह तो अत्यन्त अप्राप्त में होती है। कान्ता को अपने कान्त में स्वाभाविक राग होता है, देवता में विधिप्राप्त राग है। सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् प्रभु इसी आशय से सहज भाव से उपास्य बनने के लिये प्राकृत होते हैं।

"कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥"

कामी को जो कामिनी में राग होता है, लोभी को जो धन में राग होता है, वही राग प्रभु के प्रति सहज होना चाहिये। माता का जो अनुराग अपने बालक के

प्रति होता है, चाहे वह काला-कलूटा दिव्य-भव्य कैसा भी हो—वैसा ही सहज भाव प्रभु के प्रति होना चाहिये। श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी का यही स्वाभाविक वात्सल्य भाव मनमोहन श्यामसुन्दर के प्रति था।

तभी तो उनका मृद्भक्षण लीला पर छड़ी लेकर मारने का माधुर्य्य भाव है। इस माधुर्य्य-भाव-प्रसङ्ग में बाल विहारी प्रभु के असत्य भाषण को प्रकारान्तर से सत्य बताना, माधुर्य्यपोषकों की दृष्टि में लीपापोषी करना है। हाँ, तो प्रकृत में यह झूठ और इसी तरह चौर्य भी श्रीकृष्ण के आश्रय-माहात्म्य से माहात्म्यवान् हैं। जैसे क्षीरसमुद्र या मधुर समुद्र की लहरीतरङ्ग मधुर, वैसे ही आनन्द सुधासिन्धु प्रभु की समस्त लीलाएँ मधुर हैं—**"मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।"**

व्रजाङ्गनाओं का "काम" विषय के माहात्म्य से पवित्र है। यहाँ देखना यह है कि उनका काम किसमें था? वह था उसी पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीश्यामसुन्दर में। शुद्ध विवेचन से तो **"रसो वै सः"** के अनुसार वही—परब्रह्म श्रीकृष्ण ही रसस्वरूप हैं। उन्हींके विकृत रूप नवरस हैं। जैसे सत्ता एक ही है **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** किन्तु शुभ, अशुभ सब कुछ उसीका परिणाम है। वही 'सत्' पुण्य रूप से विवर्तित होकर उपादेय और पापरूप से विवर्त होकर अनुपादेय हो जाता है। वही सत् अशेष विशेषातीत होकर शुद्ध सत् है। 'शृङ्गार' भी उसी रस का विवर्त है। आलम्बन या आश्रय की पवित्रता अथवा अपवित्रता से उसमें पवित्रता या अपवित्रता का आरोप होता है, स्वतः रस निर्विशेष है। जहाँ प्राकृत कामिनी-कामुक उस रस के आश्रय होंगे, वहाँ वह दोष होगा, अतएव उनका शृङ्गार दोष वह है। सहस्रों दिवस के ब्रह्मविषयक मनन, चिन्तन से भी इतनी भावना नहीं बनती, जितनी अनेक जन्मों के मलिन संस्कारों के कारण क्षणिक कान्ता दर्शन, स्मरण, चिन्तन से बनती है। अनेक स्थापित किये गये प्रतिकूल भाव लुप्त हो जाते हैं। पर, यह बात उसी अवस्था में है, जहाँ अवलम्बन या आश्रय दोषयुक्त है। व्रजाङ्गनाओं को 'स्मर' है सही, पर किसमें? **"नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतः प्रभोः"** में, मनुष्यों का कल्याण करने के लिये साकार रूप में प्रकट हुए ब्रह्म में। उसमें किसी भी तरह जीवों की प्रवृत्ति होने से उनका कल्याण ही कल्याण है। चाहे प्रेम से, भक्ति से और चाहे काम, क्रोध, भय, स्नेह आदि से भी भगवच्चिन्तन होने से कल्याण होता है—

"कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥"

कंस को भय से, शिशुपाल को द्वेष से, गोपियों को स्नेह से पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म कल्याण-गुण-गण-निलय, कल्याणदायक के प्रति एकान्त दृढ़निष्ठा हुई। कहा जा सकता है कि वेन भी तो द्वेषी था, उसको भगवद्विषयक एकान्त दृढ़ निष्ठा क्यों नहीं हुई—और शिशुपाल को क्यों हुई, जिसने गिनकर भगवान् श्रीकृष्ण को

गो गालियाँ दीं ? सबके देखते-देखते उसमें से एक ज्योति निकलकर श्रीकृष्ण के मुख में लीन हो गयी। कारण स्पष्ट है कि शिशुपाल को भगवान् के अस्तित्व में दृढ़ निश्चय था और वेन ईश्वर को मानता ही न था, वह तो अपने को ही सर्वेश्वर प्रख्यात करता था। कहा है कि प्राणी भय या काम से जितनी अधिक तन्मयता को प्राप्त होता है, उतना अन्य किसी प्रकार से नहीं होता है—**"यथा कामाद् भयाद्वाऽपि मर्त्यस्तन्मयतामियात् ।"** शिशुपाल और कंस का भी यही हाल था--बैठते, सोते, चलते, खाते, घूमते हुए, उन्हें कृष्ण ही कृष्ण दिखलायी पड़ते थे, सारा जगत् उनके लिये कृष्णमय था—

"आसीनः संविशस्तिष्ठन् भुञ्जानः पर्यटन् महीम् ।
चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत्तन्मयं जगत् ।।"

भृङ्गीकीट न्याय से जीव में तल्लीनता होनी चाहिये। दृढ़ अभिनिवेशवश जहाँ नहीं, वहाँ भी उसकी प्रतीति हो। सिद्धान्त भी तो यही है **"अस्तीत्येवोपलब्धव्यम्"** परन्तु वेन को यह निश्चय नहीं था। प्रसङ्ग में गोपाङ्गनाओं का काम शिशुपाल के द्वेष से कहीं बढ़कर था। इनकी निष्ठा बहुत ऊँची थी। इस प्रकार इनका काम विषय या आलम्बन की महिमा से महामहिम हुआ। अतः किसी वस्तु का माहात्म्य विषय की महत्ता से महत्ववान् होता है।

इस प्रसङ्ग में एक बड़ी सुन्दर सूक्ति है—

"प्रथयति नवनीतचोरतां ते, व्रजयुवतीजनजारतां जनो यो ।
वितरसि निजभावमीश तस्मै, स्वकृतधियो परिगोपनाय नूनम् ।।"

अर्थात् हे प्रभो ! जो आपकी माखनचोरी और गोपियों के साथ जारभाव का प्रख्यापन करता है, आपको **"चोरजारशिखामणि"** नाम से बदनाम करता है, उसे आप निजभाव—अपना रूप दे देते हैं, अपने में मिला लेते हैं, मुक्त कर देते हैं। यह इसलिये नहीं कि आप उसपर दया करते हैं, अपितु इसलिये कि यह अलग रहकर हमारी निन्दा करता फिरेगा और जब अपने में मिला लिया तो वह भी अपने ही जैसा हो गया, फिर निन्दा किसकी करेगा ? यह भक्त कवि की अपने प्रसाधन पर मीठी व्यंग्य छार है। भाव यह है कि उस विशुद्ध पूर्णतम तत्त्व के चोर व जार रूप में किये गये चिन्तन से भी पूर्ण पद प्राप्त होता है। भगवान् को व्रजयुवतीजन का जार बताया, परन्तु वह जार यह लौकिक जार नहीं जो **"जरयति आत्मविज्ञानं निःश्रेयसम्"** से ख्यात होता है। गोपियों का जार तो अलौकिक है। वह तो **"जरयति अविद्या तत्कार्यात्मकं प्रपञ्चं यः स जारः"** है। **"जरयत्याशु या कोषं निगीर्णमनलो यथा"** की तरह अथवा **"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन !"** की तरह यह तो प्राणमय, अन्नमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमयादि पञ्च कोषों को जलानेवाला जार है। उत्तप्त वियोगाग्नि से समस्त पाप-तापों को दग्ध कर देनेवाला

जार है। यहाँ "**नातप्ततनुर्न तदामोऽश्नुते दिवम्**" की बात ही नहीं रह जाती, जो फिर परिपक्व हो। पर, यह तभी है जब निर्निमित्त भाव से भक्ति हो। कहा है— "**अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।**" चिन्तामणि में दीपक बुद्धि से प्रवृत्त होने पर भी जैसे मिलेगी चिन्तामणि ही, वैसे ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, पूर्णतम पुरुषोत्तम में जार बुद्धि से प्रवृत्त होने पर भी मिलेगा वही तत्व, जो अखण्ड, अनन्त, अचिन्त्य, अव्यक्त, कूटस्थ, साक्षि भास्य है। गोपियों को उनकी एकान्त दृढ़ निष्ठा से वही मिला। इस तरह गोपियों का काम विषय की महत्ता से महत्त्ववान् हुआ है।

श्रीकृष्णवियोग-ताप शान्त्यर्थं कुङ्कुमलिप्त श्रीव्रजदेवियों के वक्षोजों से श्रीकृष्ण के पादपद्मों में संलग्न जो कुङ्कुम था, वही उनके गोचारणार्थं वन में आने से तृणों में लगा। उसके दर्शन करने से पुलिन्दियों को—शबर रमणियों को कामरूप रोग उत्पन्न हुआ। अथवा "**स्मरो वा व आशाया भूयान्**" से स्मर का अर्थ जब उत्कट उत्कण्ठा लिया गया, तब यह अर्थ हुआ कि उस कुङ्कुम के दर्शन से उन किरातिनियों को साक्षात् श्रीकृष्ण की दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्योपेत लावण्यामृतमूर्ति के दर्शन की तीव्र अभिलाषा हुई। उसके पूर्ण न होने से हृदय में श्रीकृष्ण-वियोग-ताप का वेगवान् उदय हुआ। उसे मिटाने के लिये तृणों में संलग्न उसी कुङ्कुम को उन सबोंने अपने मुख और वक्षःस्थल में लगाया—"**लिम्पन्त्य आननकुचेषु**.......।" परन्तु इससे भी उनकी व्याकुलता, व्यग्रता मिटी नहीं, प्रत्युत जब और भी बढ़ती गयी, तब उन्हें संशय हुआ कि कहीं यह कुङ्कुम ही तो हमारी आधि-मानसी व्यथा का कारण नहीं है? तुरन्त उन्हें यही निश्चय भी हो गया और उसे उन्होंने "**आधिमत्वा जहुः**" अर्थात् मानसी व्यथा का कारण समझकर त्याग दिया। इसपर श्रीकृष्ण-प्रणय-प्रमत्त गोपियाँ कहती हैं—हमारे अङ्ग में लिप्त कुंकुम श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर के सुकोमल श्रीचरणों में लगा था। उसे देखने मात्र से ही इन पुलिन्दियों को रोग उत्पन्न हुआ, असह्य मानसी व्यथा हुई, अतः इन्होंने उसे त्याग दिया। हाँ सखि! हम इतनी बड़ी हतभागा हैं कि जिनके अङ्ग-संलग्न वस्तु के देखने से भी लोगों में रोग उत्पन्न होता है।

अथवा "**तद्दर्शनस्मररुजः**" का यह अर्थ है कि उन भिल्लपुरन्ध्रियों ने श्रीकृष्ण-चरणसंसक्त उस कुंकुम का दर्शन किया, अवघ्राण किया और स्पर्श किया। इससे उन सबोंने अपनी सब मनोव्यथाओं का त्याग किया—अर्थात् वे भगवद्भावापन्न हो गयीं। बात यह हुई कि उस विलक्षण और आकर्षक कुंकुम के दर्शन आदि से ही उन किरात-कामिनियों को श्रीकृष्णदर्शनविषयक उत्कट उत्कण्ठा हुई और श्रीकृष्ण-दर्शन न होने से उन्हें तीव्रातितीव्र ताप हुआ। उत्कट उत्कण्ठा से जब तीव्र ताप होगा, तभी श्रीकृष्ण परब्रह्म का दर्शन हो सकेगा। नहीं तो कल्प-कल्पान्तरों से, युग-

युगान्तरों से जीव भगवद्विमुख है, पर उसे कहाँ तीव्र वियोग ताप होता है ? अतः उत्कट उत्कण्ठा की ही प्रथम अपेक्षा है। उसका भी मूल वही कुंकुम है। वह कुंकुम साधारण कुंकुम नहीं, अपितु प्रथम वह श्रीवृषभानुनन्दिनी के उरोज में संलग्न था, फिर वहीं से श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर के श्रीचरणों में संपृक्त हुआ। उसीके दर्शन से पुलिन्दियों को श्रीकृष्ण दर्शन की उत्कट उत्कण्ठा हुई और उसके पूर्ण न होने के कारण उत्पन्न हुए तीव्रातितीव्र ताप से उनके हृदय में इतना अधिक दुःख का आविर्भाव हुआ कि अनेक कल्पों के दुःख उसमें समा गये और दग्ध हो गये। इनके साथ ही कुंकुम परंपरा से पूर्णतम पुरुषोत्तम के श्रीचरणसम्पर्क से इतना अधिक अनन्तानन्त गुणित आनन्द प्राप्त हुआ कि उससे वे पूर्ण हो गयीं, कृतकृत्य हो गयीं। श्रीमद्वल्लभाचार्य कहते हैं - उस कुंकुम के दर्शन से, उसके विलिम्पन से इन भिल्लिनियों में श्रीराधा-स्वरूप का अथवा श्रीलक्ष्मी-स्वरूप का प्रवेश हुआ। यह एक विलक्षण तत्व है; व्यापक वस्तु है। श्याम समुद्र में श्रीराधा, माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति है। जब तत्वज्ञानी भी आत्माराम होते हैं, तब पूर्णतम पुरुषोत्तम का रमण बाह्य वस्तु में कैसे हो सकता है ? उनका तो अपने में ही रमण बनता है। श्रीजानकीरमण, श्रीराधारमण, गिरा और अर्थ की तरह, जल और वीचि की तरह अभिन्न हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—"**गिरा अर्थ जल वीचि जिमि कहियत भिन्न न भिन्न। बन्दौं सीताराम पद।**" महाकवि कालिदास ने भी श्रीपार्वतीरमण को वाणी और अर्थ की तरह अभिन्न बतलाया है—"**वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥**"

श्रीजानकी, श्रीराधा, श्रीपार्वती आदि उस अखण्ड, अनन्त, अचिन्त्य, अव्यक्त, आनन्दसागर परब्रह्म की तरङ्ग आदि की तरह निजी अभिन्न वस्तु हैं। इससे भी अन्तरङ्ग भाव जल और उसके माधुर्य्य के अभेद का है। यों उस परम तत्व का अपने में ही रमण सम्भव है। इन किरातिनियों में कुंकुम सम्बन्ध से श्रीराधा रूप का उदय हुआ। उससे उनमें वही अन्तरङ्गता आयी और उस दिव्य तत्व के रमण का अनुभव उन्हें हुआ। अतः उन्होंने "**आधिं जुहुः**" मानसी व्यथा को त्यागा और पूर्ण हो गयीं। जैसे प्रभु श्रीराधा को मिले, वैसे ही किरातिनियों को भी मिले, क्योंकि "**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्यधिष्ठितम्**" के अनुसार वह पूर्णतम तत्व सर्वत्र ही अव्याहत रूप से वर्तमान है। अतः दीन-हीन दशा में भी हताश होने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है उत्कट उत्कण्ठा से प्रभु स्मरण और प्रभु के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की। फिर तो किरातिनियों की ही तरह सभी पूर्ण हो सकते हैं।

•

वेणुगीत

श्रीवेणुगीत में श्रीगोपाङ्गनाओं की आसक्ति का वर्णन है, पीछे के प्रकरण में श्रीवृन्दावनधाम की वर्षा और शरद ऋतुओं का वर्णन हो चुका है। वहाँ कहा गया है कि वन से आनेवाली परम सौगन्ध्य-सौरस्यसम्पन्न अनेकविध पुष्पों के समशीतोष्ण वायु का आलिङ्गन करके श्रीवृन्दावन एवं व्रज के समस्त जनों ने तो तिग्मरश्मि-जन्य ताप भुला दिया।

किन्तु गोपाङ्गनाओं का अपने निरतिशय निरुपाधिक परमप्रेमास्पद प्रियतम श्रीकृष्णवियोग से जन्य ताप शान्त नहीं हुआ—

"आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूतवनमारुतम्।
जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः॥"

(भाग० स्कं० १० अ० २० श्लोक ४५)

राजा परीक्षित से श्रीशुकदेवजी ने कहा कि वर्षाकाल के व्यतीत होने पर जब शरद् ऋतु का आगमन हुआ, तब श्रीवृन्दावनधाम के सरित-सरोवर आदि जलाशयों के जल स्वच्छ तथा निर्मल हो गये। नाना प्रकार के कमल-कमलिनी, कुमुद-कुमुदिनी के समुदायों की मनोहर सुरम्य सुगन्धि से सुगन्धित मन्द शीतल समीर से श्रीवृन्दारण्यधाम परम-रमणीय हो गया। उसी समय परमानन्द रसामृत मूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण ने गौओं तथा गोपवृन्दों के साथ श्रीवृन्दावनधाम में प्रवेश किया।

"इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना।
न्यविशद्वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः॥"

कुछ आचार्यों के मतानुसार इस अध्याय में श्रीगोपाङ्गनाओं का आसक्तिनिरोध वर्णित है। निरोध तीन प्रकार का होता है—(१) प्रेमनिरोध, (२) आसक्तिनिरोध और (३) व्यसननिरोध। पहले राग होने से कुछ काल पर्यन्त प्रियतम से अन्य का विस्मरण होता है, यही 'प्रेमनिरोध' या 'रागनिरोध' है। ऐश्वर्य, माधुर्य्य-व्यञ्जक विभिन्न लीलाओं से प्रेमनिरोध का वर्णन है। प्रियतम का अधिकाधिक स्मरण होने से उसमें आसक्ति होकर अन्य का विस्मरण होता है, वही 'आसक्ति-निरोध' कहा गया है। यहाँ गोपाङ्गनाओं के आसक्तिनिरोध का वर्णन है। आगे चलकर उस आसक्ति के अधिकाधिक गाढ़ होने से उसका छूटना असम्भव हो जाता है। अतः वह व्यसनरूप हो जाता है। इसीलिये वह 'व्यसननिरोध' कहा जाता है। इसका वर्णन रासपञ्चाध्यायी युगल गीत में है। सर्वविस्मरणपूर्वक निरतिशय निरुपाधिक परमप्रेमास्पद प्रियतम श्रीकृष्ण स्वरूप में श्रीव्रजाङ्गनाओं की तन्मयता

ही 'आसक्तिनिरोध' है। जितनी अधिक तन्मयता, उतना ही अधिक विश्वविस्मरण होता है।

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥"

इस दशविध पुराण लक्षणान्तर्गत निरोध का लक्षण, अपनी समस्त शक्तियों के सहित अखण्ड, अनन्त आत्मस्वरूप भगवान् का शयन कहा गया है—**"निरोधोऽस्यानुशयनं आत्मनः सह शक्तिभिः।"** इस मत में महाप्रलय ही निरोध है। सृष्टिकाल में शक्तियाँ कार्यरूप में परिणत होती हैं, और प्रलयकाल में समस्त कार्य स्वकारणभूत शक्तियों में लीन हो जाता है, और भगवान् स्वस्वरूपभूत उन शक्तियों को साथ में लेकर उसे अपने स्वरूप में लीन करके शयन करते हैं। जैसे अंकुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फल, सौगन्ध्य, सौरस्यादि के उत्पादनानुकूल समस्त शक्तियाँ बीज में निहित होती हैं, वैसे ही परब्रह्म अखिल ब्रह्माण्डोत्पादिनी शक्तियों को साथ लेकर प्रलयावस्था में शयन करते हैं। यहाँ ब्रह्म का शयन वास्तविक न होकर सुप्तशक्तियों के कारण औपचारिक है, क्योंकि 'भागवत' में ही अन्यत्र ब्रह्म को **'सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्'** कहा गया है। 'सुप्ताः शक्तयो यत्र असौ सुप्तशक्तिः' इस तरह प्रलयावस्था में शक्तियाँ विद्यमान होती हुई भी कार्यकरणक्षम नहीं रहतीं। ब्रह्म तो अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाशबोधस्वरूप होने से 'असुप्तदृक्' है। उपनिषदों ने भी कहा है कि 'द्रष्टा–सर्वभासक–की दृष्टि का–स्वरूपभूत अखण्डभान का–लोप कभी नहीं होता। हाँ, भगवान् भी महाप्रलयकाल में प्रपञ्चोत्पादनादि व्यापार से विवर्जित होने से शयन से–सोते हुए से–प्रतीत होते हैं। उस अखण्ड अनन्तबोध का–ज्ञान का भी अस्त-उदय नहीं होता, वह सदा ही एकरस बना रहता है—**"नास्तमेति न चोदेति।"**

घटादि की उत्पति के पूर्व उनका ज्ञान रहता है, फिर तदनुसार कुलाल घटादि को उत्पन्न करता है। **"आसीज्ज्ञानमथोह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्।"** अर्थात् प्रलयावस्था में शुद्ध ज्ञान और प्रकृति-प्रपञ्चरूप अर्थ दोनों मिले हुए ही थे। यहाँ ज्ञान पद से घटादि ज्ञान नहीं, अपितु **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** यह ज्ञान लिया गया है। इस तरह समस्त दार्शनिक सिद्धान्तानुसार अपनी समस्त शक्तियों के साथ आत्मा का सो जाना ही निरोध है, परन्तु कुछ के मतानुसार अखिल विश्व का विस्मरणपूर्वक भगवान् में मन की तन्मयता ही निरोध है।

पहले प्रेमास्पद के अद्भुत गुण, उसकी अद्भुत अचिन्त्य महिमा एवं ऐश्वर्य के ज्ञान तथा सौरस्य, सौगन्ध्य आदि के अनुभव से उसमें राग होता है। विष्णुसहस्रनाम, गीता आदि में अनुराग होने के लिये पहले उनके माहात्म्य पाठ का विधान है। अतः यहाँ भी पहले अध्यायों में पूतना-वध, गोवर्द्धनोद्धारण आदि से भगवान्

श्रीकृष्ण में राग-प्रेम उत्पन्न होने के लिये उनका महत्व बतलाया गया है। यहाँ आसक्तिनिरोध का वर्णन है, और व्यसननिरोध रासलीला के बाद युगलगीत में वर्णन किया गया है। राग, आसक्ति एवं व्यसन वैसे तो निन्द्य एवं त्याज्य ही हैं, किन्तु कहीं-कहीं आलम्बन की महत्ता से इनका महत्व बढ़ जाता है। लौकिक स्त्री, पुत्र, धनादि में राग एवं आसक्ति पतन का मूल है, किन्तु यही राग और आसक्ति यदि भगवान् के श्रीचरणों में हो जाय तो क्या कहना है, ऐसा तो किसी महानुभाव को ही लोकोत्तर सौभाग्य हो सकता है।

यही बात व्यसन के सम्बन्ध में भी है, माता, पिता, गुरुजन, शास्त्र और स्वयं अपने आप द्वारा सहस्रधा प्रयत्न करने पर भी जो छुड़ाये न छूटे, वही व्यसन कहा जाता है। वही व्यसन, यदि सांसारिक पदार्थों का हो, तो वह पतन का मूल है, उसका तो नाश ही इष्ट है। परन्तु, भगवत्प्रेम व्यसन तो बड़ी कठिनाई से सम्पादन किया जाता है। ऐसा व्यसन सनकादि, शुकादि, काकभुशुण्डि आदि में ही देखने में आता है—"**आशा बसन व्यसन यह तिनहीं। रघुपतिचरित होंहि तहँ सुनहीं।**"

श्रीहनुमानजी का भी ऐसा ही व्यसन है कि जहाँ-जहाँ श्रीमद्राघवेन्द्र भगवान् रामचन्द्र के मङ्गलमय परमपवित्र चरित्रों का कीर्तन होता है, वहाँ-वहाँ मस्तक पर अपने अञ्जलिबद्ध हस्त को रक्खे हुए आनन्दाश्रु से पूर्णलोचन होकर खड़े रहते हैं—

"यत्र-यत्र रघुनाथकीर्त्तनं तत्र-तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥"

प्राकृतजनों को कोई बात समझानी हो, तो लौकिक दृष्टान्त रखना पड़ता है। इसीलिये श्री रघुनाथजी के प्रति अपने प्रेम को दिखलाने के लिये श्री स्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

"कामिहिं नारि पियारि जिमि, लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम॥"

लाम्पट्य अत्यन्त निन्द्य है, परन्तु मनोमिलिन्द यदि भगवच्चरणाम्बुजमकरन्दमधु का लम्पट हो तो यह कितने सौभाग्य की बात हो? साधारण दृष्टि से राग, आसक्ति एवं व्यसन अत्यन्त निन्द्य हैं, किन्तु सर्वात्मा, सर्वाधिष्ठान, अचिन्त्यानन्त आनन्द सुधाजलनिधि श्रीकृष्ण में प्रेम निरोधादि का होना उनके बिना क्षणभर भी रह न सकना—कितना दुर्लभ है? आज तो संसार की यह स्थिति है कि विषय-चिन्तन, स्त्री-पुत्र-धनादि के चिन्तन के बिना रहना कठिन हो रहा है, किन्तु इस चिन्तन को वहाँ से हटाकर यदि भगवच्चरण पङ्कज का चिन्तन न किया तो "**पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्**" के चक्र से निकलना कठिन होगा।

श्रीगोपाङ्गनाओं के आसक्ति निरोध को दिखलाने के लिये श्रीशुकदेवजी ने कहा कि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गौ, गोवत्स, गोपाल, बलराम आदि के साथ श्रीवृन्दारण्यधाम में पधारे—

"इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना।
न्यविशद्वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः॥"

जल-क्रीड़ा के लिये स्वच्छ सुगन्धित जल का होना आवश्यक है। इसलिये श्रीवृन्दावन ने भगवान् की क्रीड़ा के लिये आनन्द सामग्री को प्रस्तुत कर दिया। शरदऋतु के सम्बन्ध से श्री यमुना, राधाकुण्ड आदि सरितसरोवरों के जल अत्यन्त स्वच्छ-निर्मल हो गये, और एक पद्म की कौन कहे, पद्म के आकर विकसित हुए। कुमुद-कुमुदिनी, कमल-कमलिनी के अनन्त समुदाय के मादक मोहक दिव्य सौगन्ध्य से मिश्रित समीर द्वारा समस्त वृन्दारण्यधाम आविष्ट हो गया—गमक उठा। पद्म का सौगन्ध्य बड़ा अलौकिक होता है। उसके आभोग, पत्र, पराग, मधु आदि में भी विलक्षण सौगन्ध्य, सौन्दर्य, सौरस्य होता है। चम्पक, केतकी आदि में भी आभोग, पराग, मधु, सौगन्ध्य आदि होते हैं, किन्तु पद्म का मधुर, मन्द, मादक सौगन्ध्य कुछ और ही वस्तु है। भ्रमर को वह अन्यापेक्षया विशेष प्रिय है। इसीलिये कवियों ने पद्म की ही शोभा का विशेषरूप से वर्णन किया है। अतः ऐसे दिव्य सौगन्ध्य सम्पन्न पद्मों के सुगन्ध से मिश्रित वायु से व्याप्त वृन्दारण्य में श्रीकृष्ण पधारे।

वृन्दावनधाम के तरु, लता, तृण, पल्लव, फल, पुष्प, सरित्, सरोवर, भूमि आदि सभी में भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तरङ्ग निवेश हुआ, एतावता वृन्दारण्यधाम श्रीकृष्णमय हो गया। क्योंकि श्लोक में 'न्यविशत्' पद का प्रयोग हुआ है जिसमें 'नि' का अर्थ नितरां—अत्यन्त है। बात ठीक भी है, क्योंकि अप्राकृत भगवान् की लीला प्राकृत पदार्थों से नहीं हो सकती है. इसलिये निखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण ने वृन्दावन-स्थित सकल तत्त्वों में अन्तरङ्गतया निविष्ट होकर उन्हें रसमय, अप्राकृत बना लिया। अब श्रीकृष्ण की उनसे क्रीड़ा ठीक-ठीक तरह से हो सकेगी।

श्रीवल्लभाचार्य्य के मत में श्रीकृष्ण का यह वृन्दावनधाम में निवेश सरित्-सरोवर वनतरु में स्थित आधिदैविकी शक्ति के साथ रमण है। भगवत्संमिलन के लिये केवल व्रजाङ्गनाएँ ही नहीं, परा-अपरा प्रकृति सब लालायित हैं। वृन्दावनधाम के तरु, लता, गुल्म, सरसी आदि सभी भगवत् सम्मिलन के लिये लालायित हैं। अतः भगवान् ने निवेश एवं वेणुकूजनरूप उद्बोधन से वनदेवताओं को निजागमन सूचित किया, जिससे वे परमात्मरति के लिये सजग हो जायँ। लौकिक कामिनी का रमण प्राकृत होता है, किन्तु यहाँ श्रीकृष्ण का श्रीवनदेवियों आदि के साथ अप्राकृत आन्तर रमण है। उसी रमण के लिये वेणुकूजन द्वारा वनदेवताओं को उद्बोधन किया गया—

**"कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्गद्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम्।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः सह पशुपालबलश्चुकूज वेणुम्॥"**

श्रीवृन्दारण्य की शोभा का वर्णन क्या किया जाय ? फूले हुए वनों की पंक्तियों से सुशोभित मत्तभ्रमरावली के मधुर गुञ्जार एवं पक्षिगणों के मनोहर कलरव से

वृन्दावनधाम के सरोवर, सरिता, वृक्ष, लता, पर्वतादि परम शोभित और निनादित हो रहे हैं। कहीं काञ्चनमयी भूमि में मरकतमणिमयी श्यामल दूर्वाएँ सुशोभित हैं, कहीं मरकतमणिमयी भूमि पर काञ्चनमयी दूर्वाएँ शोभायमान हैं। कहीं पद्मराग-मणिमय वृक्षों पर स्फटिक मणिमयी दिव्य लताएँ विकसित हैं, तो कहीं स्फटिक मणि-मय स्वच्छ तरु पर पद्मरागमणिमयी सुन्दर लताएँ विराजमान हैं। कहीं महेन्द्रनील-मणिमयी भूमि पर काञ्चनमयी दिव्य दूर्वाएँ सुशोभित हो रही हैं, तो कहीं काञ्चनमयी देदीप्यमान भूमि पर महेन्द्रनीलमणिमयी दूर्वाएँ विस्तृत हैं। यह प्राकृत कथा का वर्णन नहीं है। आज का मत तो कहता है कि जो दीखता नहीं, वह है ही नहीं। आज श्रीवृन्दावन की वह लोकोत्तर शोभा दृष्टिगोचर नहीं होती, अपितु सर्वत्र रूक्षता एवं कण्टकाकीर्ण वृक्ष ही दिखलाई पड़ते हैं। वैसे ही काशी की भी दिव्य अलौकिक शोभा का वर्णन पुराणों से जाना जाता है, किन्तु लोगों को यहाँ भी ईंट, चूना, पत्थर ही दिखलाई देते हैं।

कहा जाता है कि आधुनिक वैज्ञानिकों ने समस्त भूमण्डल का पता लगा लिया है, उन्हें सुमेरु, सप्तद्वीप, क्षीरसिन्धु आदि न मिले होते तो अवश्य दिखलाई पड़ते, परन्तु कहना पड़ेगा कि कुछ ऐसी भी स्थिति है कि, जो हो और दिखलाई न पड़े। प्रत्येक वस्तु के दर्शन में कुछ सुख अथवा कुछ दुःख होता है। अतः मानना पड़ेगा कि वस्तु दिखलाई पड़ने में पाप-पुण्य रूप अदृष्ट की भी हेतुता है। क्यों किसी वस्तु को देखने पर दुःख और घृणा होती है? कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता। सुख-दुःख को देखकर उनके कारण पुण्य-पाप का अनुमान करना चाहिये। अतः यह मानना पड़ता है कि वस्तुदर्शन में अदृष्ट हेतु होने से शास्त्रोक्त कुछ वस्तुओं का हमें दर्शन नहीं प्राप्त होता। इसमें हेतु हमारे वैसे अदृष्ट का अभाव है, न कि उन वस्तुओं का अभाव।

'महाभारत' में एक कथा है कि अलकनन्दा में बहकर आये हुए किसी एक दिव्य सौगन्ध्य, सौन्दर्यसम्पन्न पुष्प को देखकर द्रौपदी ने उसकी जोड़ी का दूसरा पुष्प लाने के लिये भीमसेन से आग्रह किया। भीमसेन ने अलकनन्दा के तट से जाते-जाते बहुत दूर तक जाने पर मार्ग में एक वृद्ध वानर को देखा, जो अपनी पूँछ से मार्ग को रोके हुए सोया था। भीम ने उससे अपनी पूंछ हटा लेने के लिये कहा। वानर ने उत्तर दिया कि 'मैं अत्यन्त वृद्ध होने के कारण उसे हटा सकने में असमर्थ हूँ, तुम हटा लो।' भीम ने पहले हाथ की दो अंगुलियों से उसकी पूंछ हटाना चाहा, परन्तु जब न हटा सके, तब एक हाथ से जोर लगाया। अन्ततः दोनों हाथों की पूर्ण शक्ति से प्रयत्न करने पर भी जब पूंछ अपने स्थान से तिलमात्र भी न हटी, अपितु मूर्च्छित हो गये, तब थोड़ी देर में सावधानी आने पर आश्चर्यचकित होकर उन्होंने वानर से कहा:—"मैंने सुना है कि मेरे भाई कोई हनुमान नामक हैं, जो अत्यन्त बलवान हैं,

उन्होंने त्रेता में लङ्का-विजय में रामचन्द्र की बहुत सहायता की थी। क्या आप वही हनुमान तो नहीं हैं?"

यह श्रवण कर वानर ने कहा, 'हाँ, मैं वही हूँ।' तब भीमसेन ने उनको प्रणाम कर कहा कि मैं आपका वह दिव्य स्वरूप देखना चाहता हूँ, जिसको धारण कर आपने राक्षसों का संहार किया था। हनुमान ने कहा, 'उस रूप को देखने की तुम्हारी सामर्थ्य नहीं है। अतः उसको देखने का आग्रह मत करो।' परन्तु भीम ने जब अपना आग्रह न छोड़ा, तब भीम के हठ को देखकर हनुमान ने अपना वह कनक भूधराकार परमतेजोमय दिव्यरूप धारण करना आरम्भ किया। अभी पूर्णरूप देख भी न पाये थे कि उसके प्रचण्ड तेज से भीम की आँखें झँप गयीं, मूच्छित हो गये। हनुमान ने अपना रूप संवृत्त कर भीम को सावधान किया और कहा कि 'अब तुम यहाँ से ही पीछे लौट जाओ, आगे की दिव्य सुवर्ण रत्नमयो भूमि आदि देखने योग्य तुम्हारी सामर्थ्य एवं योग्यता नहीं है।' ऐसे ही द्वित, त्रित नामक महर्षियों को घोर तपस्या के बाद भी श्वेतद्वीप में कुछ नहीं दिखाई दिया। बहुत तपस्या के बाद एक व्यक्ति का दर्शन हुआ। उसने कहा, 'इस जन्म में तुम्हें यहाँ और कुछ न दिखाई देगा, रामावतार में तुम भगवान् का दर्शन कर सकोगे।'

तात्पर्य यह कि प्रत्येक वस्तु के दर्शन में योग्यता की अपेक्षा होती है। वह योग्यता धर्माधर्म कृत ही है। इसलिये यह कहना भी सङ्गत नहीं है कि भगवान् दिखलाई नहीं देते, अतः हैं ही नहीं। क्योंकि आज के मनुष्यों की वैसी योग्यता न होने से पुण्य कर्मों से उनका दर्शन नहीं होता। अस्तु, श्रीमद्वृन्दावनधाम की अलौकिक दिव्यशोभा का तो फिर कहना ही क्या है? अरविन्द, मालती, चम्पक, मल्लिका आदि अनेकविध विकसित पुष्पों के सौगन्ध्य से मत्त भृङ्ग और हंस, कारण्डव, चक्रवाक, पारावत, शुक, मयूर आदि विहङ्गमों के आनन्दोद्रेक में—प्रेमोन्माद में होनेवाले कलरव के झंकार से जिसके वनराजि, सरोवर, सरित्, सरसी, निर्झर, पर्वत आदि प्रतिध्वनित—निनादित हो रहे हैं ऐसे श्रीमद्वृन्दारण्यधाम में भगवान् श्रीकृष्ण, बलराम, गोपालों के साथ गौओं को चराते हुए पधारे—"**मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः।**" यहाँ श्रीकृष्ण के लिये मधुपति पद का प्रयोग किया गया है। मधु अर्थात् वसंत के पति— अधिपति ही मधुपति हैं। इसका आशय यह हुआ कि वन में मधु का—वसन्त का सञ्चार होने से ही शोभा बढ़ जाती है, फिर साक्षात् मधुपति—वसन्ताधिपति—का प्रवेश होने पर तो कहना ही क्या? इन सबसे यहाँ लीलाभूमि आदि की महिमा कही गयी। रङ्गमञ्च की सजावट के बिना जैसे वहाँ नाट्यलीला सम्पन्न नहीं हो सकती, वैसे ही यहाँ श्रीकृष्ण की अद्भुत मङ्गलमयी लीला के लिये श्रीवृन्दावन की सजावट अपेक्षित है। इसीलिये इस प्रसङ्ग के पहले श्री बलराम की स्तुति के व्याज से श्रीवृंदावन भूमि आदि की स्तुति की गयी है।

श्रीकृष्ण ने श्री बलराम से कहा—ये सब मुनिगण, देवगण हैं, जो वृक्ष, लता, तृण, गुल्म आदि के रूप से आपके पादस्पर्श के लिये लालायित हैं। अथवा आपके चरणों से स्पृष्ट भूमि का स्पर्श करके, वन्दन करने के लिये फल-पुष्पों सहित झुककर मानों उसका आलिङ्गन करते हैं। अथवा महापुरुष के स्वागतार्थ मानों वृंदावन स्वयं उनका आतिथ्य करता है। मन्द, सुगंधित, शीतल वायु वहन से मानों व्यजन कर रहा है, अनेकविध कुमुद-कुमुदिनियों से युक्त, उनके मधुर मकरन्दगन्ध से सुगंधित उद्वेलित सरिताओं से मानों पाद्य-अर्घ्य दे रहा है।

भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर मनोहर वंशीध्वनि को श्रवण कर व्रज को कामधेनुरूपा गौओं से क्षीर अपने आप प्रस्रवित होने लगता है। आनन्दविभोर होने से देहभान भूलकर वे गौएँ अविरत बहनेवाली क्षीरधारा को रोकने में असमर्थ होती हैं। स्तन्यपान के लिये प्रवृत्त हुए बछड़े भी उस आनंदसिन्धु में मग्न होने के कारण उस क्षीर को पान करना भूल जाते हैं। अतः सतत प्रवाहित होनेवाले क्षीर से समस्त वृंदावन भरपूर हो जाता है, उसमें कतिपय अम्लफलों के योग से वह क्षीर जमकर दधि हो जाता है। उसमें कथञ्चित् प्रबल वायु से आलोड़ित होने पर हैयङ्गवीन—मक्खन भी प्रादुर्भाव हो जाता है एवं उसमें वृक्षों से बहनेवाली मधुधाराओं का मिश्रण होने से एक विलक्षण मधुपर्क सम्पन्न हो जाता है। वृंदावन उससे भगवान् का अर्हण करता है। मधुधारा, पत्र, पुष्प, पल्लव, फल आदि सामग्रियों से नैवेद्य आदि अर्पण करता है। इस तरह समष्टि-व्यष्टि रूप से वृंदावन एवं उसके समस्त तत्त्व, भगवान् का आतिथ्य करते हैं—

"अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥
एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपदं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्॥"

यहाँ सन्देह किया जा सकता है कि ये जड़वृक्षादि आतिथ्य कैसे कर सकते हैं? इसलिये कहा गया कि ये वृक्षादि जड़ नहीं, अपितु भगवान् के परमप्रिय-भक्तगण, योगीन्द्र, मुनीन्द्र एवं देवगण हैं। दूसरों की जड़ता मिटाने के लिये उन्होंने जड़रूप धारण किया है। इनके दर्शन, श्रवण, स्पर्श करने से लोगों की जड़ता मिट जाती है—**"अन्येषां तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्।"** अथवा 'तम' का दुःख भी अर्थ होता है, अतः दुःखनिवृत्ति के लिये उन्होंने तरुजन्म ग्रहण किया। आशय यह है कि भगवान् के विप्रयोगजन्य अपने तीव्रताप को भगवत्सम्मिलन से मिटाने के लिये तरु, लता, गुल्म आदि बनकर श्रीवृन्दावन में अवतीर्ण हुए कि भगवान् जब गोचारण के लिये यहाँ पधारेंगे, तब उनके स्पर्श से अपना संताप मिटायेंगे। वे तरु अपनी अपेक्षा भ्रमर एवं विहङ्गमों को अधिक सौभाग्यशाली मानते हैं, क्योंकि वे

स्वयं स्थानस्वरूप में होने के कारण एक ही स्थान पर स्थिर रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्ण जब कृपा कर स्वयं वृन्दावन धाम में पधारें, तब उनका सम्मिलन प्राप्त हो, पर ये भ्रमर, विहङ्गम तो उनके प्रियतम प्राणधन श्रीकृष्ण जहाँ विराजमान होते हैं, वहाँ जाकर उनका दर्शन प्राप्त कर अपना संताप मिटाते हैं। वृन्दावनस्थ सभी तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण की आराधना में अपना सौभाग्य मानते हैं। जिसके पास जो है, उसीसे वह प्रभु को आराधना करने लगता है, इस प्रकार गम्भीर गुंजार से मानों भगवान् का यशोगान करते हैं, मयूर नृत्य कर प्रभु को प्रसन्न करना चाहते हैं, हरिण-हरिणी अपने विशाल विस्तृत नेत्रों से दर्शन करते हैं, कोकिला प्रेमोन्माद में अपनी मधुरसूक्तियों से प्रभु का स्तवन करती है।

कोई यह न समझे कि इन्द्र, लक्ष्मी, कुबेर आदि दिव्यातिदिव्य सामग्रियों से पूजा करने पर भी जिसको प्रसन्न नहीं कर पाते, उस अखिल ब्रह्माण्डनायक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् की आराधना मैं साधारण पुरुष कैसे करूं? क्योंकि भगवान् तो भावप्रिय हैं, वे भावपूर्वक की हुई सबकी सेवा स्वीकार करते हैं। भावविहीन अनन्त पूजा सामग्रियों से उन्हें प्रसन्न नहीं किया जा सकता। भावयुक्त प्रेमसहित अर्पण की हुई साधारण से साधारण वस्तु से, एक तुलसीदल और चुल्लू जल चढ़ा देने से, वे भक्तवत्सल भक्तों के हाथ बिक जाते हैं—

"तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुल्लुकेन च।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥"

यहाँ तो श्रीमद्वृन्दारण्य धाम के तरु, लता, गुल्म, तृणादि सभी योगीन्द्र मुनीन्द्रगण भगवान् के परमभक्त होने से भगवदीयों में मुख्य हैं—"**प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्याः**" अतः भगवान् उनकी की हुई सपर्या को अवश्य स्वीकार करते हैं। जब कोई राजा गुप्तवेष में प्रयाण करता है, तब उसके नौकर-चाकर भी गुप्तवेष में उसका अनुसरण करते हैं, वैसे ही यहाँ अनन्त ब्रह्माण्डनायक, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अचिन्त्य, अनन्त, अप्रमेय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, निर्गुण, निराकार, कूटस्थ, एकरस, सच्चिदानन्दघन, परब्रह्म ही जब अपने उस स्वरूप को छिपाकर अचिन्त्यानन्त अद्भुत सौगन्ध्य, सौरस्य, सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्यादि सम्पन्न, परमानन्दसुधासागर सारसर्वस्व होकर श्रीमद्व्रजेन्द्रगेहिनी श्रीमन्नन्दरानी के परम-मङ्गलमय अङ्क में अवतीर्ण हुए, तब उनके परमान्तरंग भक्तगण भी श्रीमद्वृन्दारण्य-धाम में तरु, लता, तृण, सरित आदि रूप में प्रादुर्भूत हुए हैं। अतः वे सब भगवदीय हैं, प्रभु ने उनकी अर्पण की हुई साधारण पूज्य सामग्री को बड़े प्रेम से स्वीकार किया।

पृथु ने भगवान् से कहा था कि 'भगवन्! आपके मंगलमय जिस चरणार-विन्द की सेवा मैं करता हूँ, लक्ष्मी भी उसीका समाश्रयण करती हैं। ऐसी स्थिति में लक्ष्मी के साथ कहीं हमारा झगड़ा न हो जाय? ऐसा होने पर नाथ! आप

किसका पक्ष लेंगे ? मुझे विश्वास है कि आप तो आप्तकाम, पूर्णकाम, आत्माराम, निष्काम हैं, इसलिये, लक्ष्मी का पक्ष न लेकर मेरा ही साथ देंगे'—

"अप्यावयोरेकपतिस्पृधोः कलिर्न स्यात्कृतत्वच्चरणैकतानयोः।
जगज्जनन्यां जगदीश वैशसं स्यादेव यत्कर्मणि नः समीहितम् ॥"

भगवान् ने पृथु का साथ दिया। लक्ष्मी का निवास भगवान् के विशाल वक्षः-स्थल पर है; भक्तों की अर्पित पुष्पमाला को भगवान् अपने श्रीकण्ठ में धारण करते हैं। भक्तों की दी हुई माला का त्याग कैसे करें, इसलिये पुष्पों के कुम्हला जाने पर भी प्रभु अपने वक्षःस्थल पर से उस माला का परित्याग नहीं करते। उस माला के भार से लक्ष्मी दब जाती हैं, यह सब कष्ट सहन न हो तो लक्ष्मी भले ही छोड़कर चली जायँ पर भगवान् भक्त की माला की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं ? बेचारी लक्ष्मी सब सह लेती है। सूखी माला को अपने ऊपर पड़ी देखकर लक्ष्मी को अनुचित प्रतीत होता होगा। पर इससे क्या ? परम चञ्चला लक्ष्मी भगवान् के चरणपङ्कज को प्राप्त कर पूर्ण निश्चला बन गयी है। सपत्नी के साथ भी उसे रहना स्वीकार है, पर प्रभु के श्रीचरण को छोड़कर वह नहीं जा सकती। ऐसा ही अद्भुतमहत्व भगवान् के श्रीचरणों का है। तुलसी भगवान् के श्रीचरणपङ्कज में विराजमान है। लक्ष्मी को यद्यपि भगवान् के श्रीवक्षःस्थल पर सम्माननीय निवास प्राप्त है, तो भी तुलसी रूप सपत्नी से एवं भृत्यगणों से सेवित भगवान् के श्रीमत्पदाम्बुज मकरन्द को ही वह प्राप्त करना चाहती है—"**श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्। ....यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासः।**"

अस्तु, ऐसे परमसुन्दर श्रीमद्वृन्दारण्यधाम में क्रीड़ा करने के लिये श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण पधारे। क्रीड़ा दो प्रकार की होती है—जलक्रीड़ा, और स्थल क्रीड़ा। वृन्दावन की शोभा इस समय दोनों प्रकार की क्रीड़ाओं के लिए उपयुक्त है। स्वच्छ जल से परिपूर्ण सरसी, सरित, सरोवरों से सज्ज होने के कारण जल क्रीड़ा में एवं पद्माकर सुगन्धि वायु से व्याप्त होने से स्थल क्रीड़ा में उपयुक्त है—"**इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना। न्यविशद्वायुना वातम्।**" एतावता उभयविध क्रीड़ा की सामग्री से सज्जता कही गयी, पर जब तक जिस तत्त्व का भगवत्सम्बन्ध नहीं, तब तक वह नीरस है, अशोभन है, अमङ्गल है। हिरण्मय ब्रह्माण्ड के उत्पन्न होने पर वह अचेतन था। उसमें प्रविष्ट होकर वह्नि, वायु, आदित्य आदि देवताओं ने उसे उठाने का अपने सामर्थ्यभर बहुत प्रयत्न किया तो भी उस विराट् का उत्थान नहीं हुआ—"**नोदतिष्ठत्तदा विराट्।**" अन्त में जब भगवान् ने उसमें प्रवेश किया तब वह उठ सका—

"चित्तेन हृदयं........क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा।
विराट्-तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठतः ॥"

भगवान् के बिना कहीं भी शान्ति नहीं, शोभा नहीं। इसीलिये वृन्दावन के तरु, लता आदि समस्त भगवान् का अपने से समागम होने पर अपनी कृतार्थता मानते हैं। जब सर्वत्र भगवत्प्रवेश हो, तब इनमें रसात्मकता आये। इसीलिये श्रीमद्वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण का प्रवेश हुआ। सच्चिदानन्द रूप भगवान् सर्वान्तरात्मा होने से सर्वव्यापक हैं, इसलिये यद्यपि वृन्दावन के समस्त तत्त्वों में सदंश एवं चिदश अभिव्यक्त था और आनन्दांश अव्यक्त था, निखिल रसामृतमूर्त्ति अभिव्यक्त परमानन्द सुधासिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण के प्रवेश से सच्चिदंश गौण होकर आनन्दांश पूर्णतया अभिव्यक्त हो गया और समस्त वृन्दावन धाम रसात्मक हो गया। अतएव यहाँ भगवान् का वृन्दावन में आत्यन्तिक प्रवेश कहा गया है—"**न्यविशद्वायुना वातम्** ॥" (न्यविशत्‌नि-नितराम्, अविशत्)।

कुसुमित वनराजि से उन्मत्तभृङ्ग एवं विहङ्गमों के निनाद से उद्बुद्ध हुई वन-देवताएँ श्रीकृष्ण सम्मिलन के लिये सजग हो उठीं। तब मधुपति रूप से श्रीकृष्ण का वृन्दावन में निवेश हुआ। यहाँ 'मधु' चैत्रमास को भी कहते हैं और उसका पति वसन्त हुआ। अतः हरे, पीले, लाल पत्र-पुष्पों से सुसज्जित वसन्त के समान अनेक-विध वर्ण विशिष्ट पत्र-पुष्पादि से सुशोभित सुन्दर वनमाला धारण किये हुए भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावन धाम में पधारे। अथवा 'मधु' शब्द से वसन्त का भी बोध होता है, अतः तदधिपति वसन्त में भी अपूर्व शोभा का सञ्चार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपने लोकोत्तर अद्भुत सौरस्य, सौगन्ध्यादि से वनस्थों को आह्लादित करते हुए पधारे। अथवा सरस शृङ्गाराधिपति ही मधुपति हैं, अतः निखिलरसामृतमूर्त्ति होने पर भी विशेषतया शृङ्गाररसामृत मूर्त्ति श्रीकृष्ण ने श्रीमद्वृन्दारण्यधाम में प्रवेश किया। रस में रसान्तर का सञ्चार होने से उसका महत्त्व अधिक हो जाता है और यदि शृङ्गाररस में शृङ्गार का प्रवेश हो तो उसके महत्त्व का क्या कहना ? ऐसे ही शृङ्गाररसामृत मूर्त्ति श्रीकृष्ण के निवेश से समस्त वृन्दावन आह्लादित हो उठा। वन में निविष्ट होकर श्रीकृष्ण ने वेणु कूजन किया। यहाँ 'चुकूज' का प्रयोग है अर्थात् 'कूजयामास'। आशय यह है कि श्रीकृष्ण के मुखसंस्पर्शमात्र से वेणु स्वयं गान करने लगा।··· जड़ वेणु भी शृङ्गाररस-स्वरूप श्रीकृष्ण की अधरसुधा की विशेषता से गाने लगा—चेतन का कार्य करने लगा।

कहा जा चुका है कि भगवान् श्रीकृष्ण सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध उभयविध शृङ्गार रसात्मा हैं। शृङ्गार रस के दो भेद हैं—(१) सम्प्रयोग (संयोग) रूप और (२) विप्रयोग (वियोग) रूप। श्रीकृष्ण की मूर्त्ति प्राकृत पुरुषों के समान अस्थि, चर्म, मांसमय नहीं है, अपितु उभयविध शृङ्गाररसमय है और वे उभय रस भी उद्बुद्ध हैं, उद्वेलित हैं, पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हैं। वैसे तो जिस समय संयोगात्मक शृङ्गार अनुभूयमान होता है, उस समय वियोगात्मक शृङ्गार का अनुभव नहीं होता

और वैसे ही विप्रयोगात्मक शृङ्गाररसानुभव काल में सम्प्रयोगात्मक शृङ्गाररस का अनुभव नहीं होता, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण में यही विशेषता है कि यहाँ उभयविध शृंगार रस का एक कालावच्छेदेन पूर्णप्राकट्य है और दोनों का अनुभव भी एक ही काल में हो रहा है। वनदेवियों को सम्प्रयोगात्मक श्रीकृष्ण और व्रजदेवियों को विप्रयोगात्मक श्रीकृष्ण अभिव्यक्त हैं। श्रीकृष्ण का दिव्य स्वरूप वन में है, उससे वनदेवियों–आधिदैविकी शक्तियों–का रमण सम्पन्न है। यद्यपि गोपाङ्गनाएँ उस समय व्रज में हैं और गोपालों के साथ श्रीकृष्ण उनसे दूर हैं, तथापि उन्हींके यह उद्‌बुद्ध सम्प्रयोग शृङ्गाररसात्मा श्रीकृष्ण अनुभूयमान हैं। सर्वविध क्रिया शक्ति का संचार गोपालों में एवं ज्ञान शक्ति का सञ्चार बलभद्र में है।

यह सब स्थिति व्रजदेवियों को पूर्णतया ज्ञात है। यह आसक्ति की महिमा है, आसक्ति के प्राखर्य से दूरस्थ श्रीकृष्ण की सब लीलाएँ व्रजस्थ श्री गोपाङ्गनाओं को प्रत्यक्ष अनुभूयमान हो रही हैं। विद्या जैसे पञ्चपर्वा है, वैसे अविद्या भी पञ्चपर्वा है। अविद्या में अन्तिम आसक्ति और विद्या में अन्तिम भक्ति है। इन दोनों का स्वरूप प्रायः एक ही है। गोपाङ्गनाओं की श्रीकृष्णविषयिणी आसक्ति अत्यन्त उत्कट थी, उन्होंने समस्त सांसारिक सुख एवं तत्सामग्रियों को तुच्छ समझ लिया था, श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन मनमोहन श्रीकृष्ण ही उनके ज्ञेय, ध्येय, परमाराध्यसर्वस्व थे। दूर रहने पर श्री व्रजाङ्गनाओं को उनके समस्त रहन-सहन, गति, विलासादि का साक्षात् अनुभव होता है। इसलिये गोपाङ्गनाएँ महायोगीन्द्र की गति पर अवस्थित थीं। उन्हें आसक्तिवशात् विप्रयोग काल में ही भगवान् का मानस सम्मिलन प्राप्त होने से संप्रयोगात्मक शृङ्गार का अनुभव हुआ।

उस उद्‌बुद्ध सम्प्रयोगात्मक विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गार रसात्मक प्रियतम प्राणधन भगवान् श्रीकृष्ण स्वरूप वेणुगीत को श्रवण कर व्रजदेवियों को स्मरोदय हुआ—**"तद्‌व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्।"** उत्कण्ठापूर्वक स्मरण ही 'स्मर' है। **"स्मरोवाव आशाया भूयान्"** इस श्रुति के अनुसार स्मर का तात्पर्य यहाँ काम में नहीं है। अर्थात् वेणुगीत को श्रवणकर गोपाङ्गनाओं को उस वेणुगीत के उद्‌गमस्थल श्रीकृष्ण का अत्यन्त उत्कट उत्कण्ठापूर्वक स्मरण हुआ। ज्यों ही श्रीव्रजाङ्गनाओं के निरावरण कर्णकुहरों द्वारा वेणुगीत उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट हुआ त्यों ही श्रीकृष्ण स्वरूप के स्मरण की धारा बह चली। कुछ व्रजाङ्गनाओं के मन में वस्तुतः काम का भी उदय हुआ।

अथवा स्मरोदय का अर्थ **"स्मरेण स्मरेणन उदयो यस्य"** ऐसा किया। अर्थात् श्रीकृष्ण जब श्रीमद्‌वृन्दावन में पधारे, तब यहाँ के पद्मामोदित वायु के संस्पर्श एवं भृङ्गविहङ्गमों के कलरव को श्रवण कर उससे उन्हें व्रजदेवियों का स्मरण हुआ और उसी स्मर—भावविशेष रूप उद्दीपन विभाव से वेणुगीत का उदय हुआ। भगवान्

तो वेणुवादनविनोदपरायण हैं, वे रोज ही वेणु बजाते हैं, किन्तु आज के वेणुगीत में कुछ वैशिष्ट्य है।

अथवा "**तासामेव स्मरेण स्मरणेन उदयो यस्य, तं स्मरोदयम्**" अर्थात् विचित्र कोकिला आदि के मधुर शब्द के श्रवण से वृषभानुनन्दिनी श्रीराधा का स्मरण होने से वेणुगीत का उदय हुआ।

साधारण भक्त भगवान् से मिलने का उपाय सोचा करता है, और उत्कण्ठा-पूर्वक उनका स्मरण करता रहता है। जब उत्कण्ठा अत्यन्त बढ़ जाती है, तब यही उत्कण्ठा भगवान् में चली जाती है और पहले जैसे भक्त भगवान् से मिलने के उपाय सोचा करता था, वैसे ही अब भगवान् भक्त से मिलने के उपाय सोचते हैं। कामुक जैसे कामिनी के सम्मिलन के लिये उत्कण्ठित होकर अनेक उपाय सोचता है, वैसे ही भगवान् भी अपनी भक्तिरूपा आह्लादिनीशक्ति परमान्तरङ्गा माधुर्याधिष्ठात्री महाशक्तिरूपा श्रीमद्वृषभानुनन्दिनी आदि के सम्मिलन के लिये उत्कण्ठित रहते हैं और सोचते हैं कि उनसे मिलने का कोई उपाय निकालना चाहिये। कामुक जैसे कामिनी को वश में करने के लिये किसी मोहनमन्त्र का प्रयोग करें, वैसे ही श्रीकृष्ण श्रीराधा, ललिता, विशाखा आदि परमान्तरङ्गा······ माधुर्याधिष्ठात्री एवं तदंशभूता व्रजाङ्गनाओं को वश में करने के लिये मोहनमंत्र ढूँढ़ने लगे। फिर उन्होंने वंशी की आराधना प्रारम्भ की।

यहाँ एक बात बड़े महत्व की है, व्रजाङ्गनाओं ने पहले श्रीकृष्ण प्राप्ति के लिये जैसे कात्यायन्यर्चन व्रत का अनुष्ठान किया था वैसे ही भगवान् ने वंशी आराधन किया, वंशी साक्षात् भगवान् रुद्र हैं—"**रुद्रस्तु भगवान् वंशः।**" बिना भगवान् शिव की आराधना किये क्या अभीष्ट फल कभी प्राप्त हो सकता है?—"**इच्छित फल बिनु शिव आराधे। लहहिं कि कोटि योग जप साधे।**" इसलिये श्रीकृष्ण ने श्रीमद्व्रजाङ्गनाओं की प्राप्ति के लिये वंशीरूप भगवान् रुद्र का आराधन आरम्भ किया। आराधना का प्रकार भी विचित्र था। अपने सुमधुर कोमल अधर पल्लव पर वंशी को शयन कराते हैं, अपने अनेक दिव्य रसमणिजटित मुकुट का उसपर छत्र करते हैं, परम देदीप्य-मान सुवर्ण मणिमय कुण्डलों से आरती उतारते हैं, सुमधुर अधर सुधा का भोग लगाते हैं और अपनी कोमल अंगुलिदलों से उसका पादसंवाहन करते हैं—पैर दबाते हैं। इस प्रकार आराधन करते-करते श्रीकृष्ण को यह जानने की इच्छा हुई कि अभी इष्टदेव प्रसन्न हुए या नहीं। इसके लिये वंशी की परीक्षा चली। एक दिन उसकी ध्वनि से यमुना की गति रुक गयी। वंशी के उस दिव्य प्रभाव को देखकर विश्वास बढ़ा, श्रद्धा बढ़ी, इससे पूजा भी बढ़ी, आराधना और तन्मयता से चलने लगी। एक दिन वृन्दावन के पाषाण वंशी की ध्वनि को श्रवण कर द्रवीभूत हो गये, पशुपक्षी, देवताओं के विमान आदि की गति रुक गयी, सब स्तब्ध हो गये। इस प्रकार से जब

पूर्ण रीति से वंशी की परीक्षा हो गयी, तब श्रीकृष्ण ने आज गोपाङ्गनाओं के लिये उसे बजाया—"**तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।**"

उस वेणुगीत को जैसे श्रीव्रजाङ्गनाओं ने सुना, वैसे ही औरों ने भी सुना, परन्तु रसिकता के अभाववश औरों पर उसका प्रभाव न हुआ। ठीक ही है, अरसिकों से रस का निवेदन निष्फल ही होता है—"**अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ।**" अतः समस्त व्रजवासियों ने उसे सुना, पर रसिकशिरोमणि का कुछ व्रजाङ्गनाओं पर प्रभाव अधिक व्यक्त हुआ।

यहाँ आश्रुत्य पद का प्रयोग है अतः आ ईषत् श्रुत्वा यह अर्थ हुआ। अर्थात् वेणुवादन दूर वृन्दावन में हुआ और गोपाङ्गनाएँ व्रज में थीं अतः उन्होंने दूर होने के कारण स्पष्ट नहीं सुना, अपितु ईषत् थोड़ा सुना। सुनते ही मूर्च्छित हो गयीं, कुछ देर के बाद उनकी मूर्च्छा भङ्ग हुई। श्री व्रजसीमन्तिनियों ने वेणुगीत सुना और दूसरों ने वेणुकूजन सुना। कूजन में अर्थविहीन केवल ध्वनि होती है। परन्तु गीत सार्थक अर्थयुक्त होता है। इसीलिये जिन व्रजदेवियों ने गीत सुना, उनके अन्तःकरण में गीत के अर्थ श्रीमद्व्रजेन्द्रकिशोर मनमोहन श्यामसुन्दर का सुन्दर स्वरूप अभिव्यक्त हुआ, किन्तु अन्यों ने कूजन सुना, अतः उनके मन में उस मधुरमूर्त्ति का उदय नहीं हुआ। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि ने भी वेणुकूजन सुना, सभी एक भावविशेष में मुग्ध तो हुए। किसीकी समाधि भी भङ्ग हुई, परन्तु किसीको उसका तत्त्व रहस्य निश्चित रूपेण ज्ञात न हो सका—"**शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ।**" चतुर्दश भुवनों में वंशी का रव हुआ। सभी मुग्ध हुए, जिनपर विशेष प्रभाव पड़ा वे भावावेश में प्रेमोन्माद में मूर्च्छित हो गये। आज भी श्रीकृष्ण की नित्य लीलाएँ चल रही हैं, आज भी वंशीवादन हो रहा है। भगवान् जैसे श्री व्रजाङ्गनाओं को चाहते हैं, वैसे प्रत्येक प्राणी को चाहते हैं। प्रत्येक के लिये उनका वेणुगीत सदा गाया जा रहा है। उस गीत की मनोहरता भी सर्वजनों के लिये है, "**सर्वभूतमनोहरम्**" परन्तु महामोहावृतमनस्क होने के कारण लोगों की प्रवृत्ति उधर नहीं होती।

"**काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ।**" यहाँ 'काश्चित्' पद से यह भाव निकला कि कान्तभाववती व्रजाङ्गनाओं को तो स्मरोदय हुआ परन्तु श्रीमन्नन्दगेहिनी श्री यशोदा, श्री रोहिणी आदि मान्याओं में उसी वेणगीत के श्रवण से वात्सल्य भाव का उदय हुआ। अस्तु, कुछ व्रजाङ्गनाएँ वेणुगीतकूजन को श्रवण कर मूर्च्छित हुईं, कुछ काल में पुनः सावधानता आने पर वेणुगीत सुना, उसका तत्त्व समझकर प्रेमोन्माद में पुनः मूर्च्छित हो गयीं। भगवान् के अनुग्रहविशेष से पुनः सावधान होकर अपनी सखियों से उस तत्त्व का वर्णन करने में प्रवृत्त हुईं।

"तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।
काश्चित्परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥"

"तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् ।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृपः ॥"

जब भगवान् श्रीकृष्ण ने वेणुकूजन किया–वंशो बजायी—तब सभी श्रवणकर्ता उससे प्रभावित हुए। क्योंकि कूजन या ध्वनि का यह स्वभाव है कि श्रोता पर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य करती है। विशेषतः इस वेणुकूजन के श्रवण से सबमें भगवदीयता का भाव आविर्भूत हुआ। कूजन, नाद की यह महिमा है कि जिससे यह सम्बन्धित हो, उसे भगवान् का बना दे। यहाँ कूजन, रव और गति भिन्न-भिन्न हैं। क्योंकि यह भगवदधर सुधा से संवलित हैं। भगवान् की अधरसुधा के सभी समान अधिकारी नहीं हैं, अतः स्वस्वाधिकारानुसार उसमें अधरसुधा वितरण के लिये वेणुवादन में भी कूजनादि भेद हैं। अधरसुधा के तीन भेद हैं—१. देवभोग्या, २. भगवद्भोग्या, ३. सर्वभोग्या। ये तीनों सुधाएँ श्रीकृष्ण के एक ही अधर में रहती हैं। परन्तु, इनका दान उन योग्य अधिकारियों को ही होता है, सबको नहीं। यहाँ भावुकों का भाव यह है—**"अधर एव लोभः"** इस उक्ति के अनुसार भगवान् का अधर ही साक्षात् मूर्तिमान् लोभ है। जैसे भगवान् का मन चन्द्रमा, सूर्य नेत्र आदि हैं, वैसे ही मूर्तिमान् लोभ अधर है। भाव यह है कि भगवान् ने अपने अधरसुधारूप कोष का अध्यक्ष लोभ को बनाया। अध्यक्ष–भण्डारी कृपण होना चाहिये। वह जिसे जिस वस्तु का और जितने का अधिकारी समझे उसे उस वस्तु को उतना ही प्रदान करे। इसीलिये भगवान् ने स्वाधरसुधा का अध्यक्ष लोभ को बनाया, जिससे वह एक ही अधर में रहनेवाली तीन तरह की सुधा को अधिकारानुसार प्रदान करे। अतः यहाँ यद्यपि वेणुकूजन को व्रजस्थ सभी प्राणियों ने सुना, परन्तु उसके द्वारा वितरित होनेवाली अधरसुधा को प्राप्ति श्री वृषभानुनन्दिनी, ललिता, विशाखा आदि अधिकारिणी अन्तरङ्गभूता व्रजाङ्गनाओं को ही हुई।

पहले कहा जा चुका है कि वेणुच्छिद्र द्वारा निर्गत भगवान् श्रीकृष्ण की अधर-सुधा के सम्बन्ध से सब रसात्मक हो गये। यों देखें तो निखिल विश्व आनन्दरूप ही है। क्योंकि यह समस्त चराचर जगत् एक अखण्ड, अनन्त, निर्विकार आनन्द से उत्पन्न हुआ, उसी में स्थित है और उसी में लीन होता है अतः आनन्दस्वरूप ही है। जैसे घट, शराव, उदञ्चनादि पदार्थ मृत्तिका से उत्पन्न होते हैं, उसीमें स्थित होते हैं और अन्त में उसी में लीन होते हैं, अतः मृत्तिकास्वरूप ही हैं।

तो भी विश्व की आनन्दरूपता माया से आवृत होने **"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।"** के कारण अभिव्यक्त नहीं है—**"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।"** जैसे काष्ठों में अग्नि व्यापक होते हुए भी अव्यक्त है, दाहकत्व-प्रकाशकत्व रूप में व्यक्त नहीं है, परन्तु, दाहकत्व-प्रकाशकत्वविशिष्ट साक्षात् व्यक्त अग्नि से उन काष्ठादि

का सम्बन्ध होते ही उनमें भी अग्नि व्यक्त हो जाता है, वैसे ही समस्त विश्व आनन्दरूप–रसात्मक होते हुए भी उसकी रसात्मकता अभिव्यक्त नहीं है। जब शुकादि ऐसे महापुरुषों का, जिनकी साक्षाद्भगवत्सम्बन्ध से रसात्मकता व्यक्त हो गयी है, अनुग्रह प्राप्त होता है, तब उसकी स्वाभाविकी रसात्मकता अभिव्यक्त हो जाती है। "**देवो भूत्वा देवं यजेत्।**" अर्थात् भक्त स्वयं भगवद्रूप होकर भगवान् का यजन करे, इस सिद्धान्त के अनुसार अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दमय निखिल रसामृतमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण का अन्तरङ्ग रमण उन्हींके साथ हो सकता है जिनकी भगवदीयता, रसात्मकता अभिव्यक्त हो चुकी हो। इसीलिये जिनकी भगवदीयता, रसरूपता पहले व्यक्त नहीं थी, उनकी वह रसस्वरूपता इस वेणुकूजन से व्यक्त हुई। जहाँ वह पहले से ही व्यक्त थी, वहाँ स्मर का—स्मरण का उदय हुआ। नाद से उद्दीपन-विधया भी स्मृति हो सकती है। नाद के श्रवण से उसके उद्‌गमस्थल की स्मृति होनी स्वाभाविक है।

संसार के समस्त प्रवाहों का स्वभाव है कि वह अपने में निपतित वस्तु को अपने गन्तव्य स्थान में ले जाता है। जैसे गङ्गा के प्रवाह में पड़ा हुआ पुष्प गङ्गा के गन्तव्य स्थान की ओर बह जाता है, परन्तु वेणुनादप्रवाह का इससे विपरीत स्वभाव है। वह अपने में निपतित वस्तु को गन्तव्य स्थल की ओर न ले जाकर अपने उद्‌गमस्थान की ओर ले जाता है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र निर्गत वेणुगीत के अखण्ड प्रवाह में निपतित श्री व्रजाङ्गनाओं का मन उस प्रवाह के उद्‌गमस्थान श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की ओर बह चला और मन के पीछे उनका शरीर भी बह चला।

इस वेणुकूजन के प्रभाव से कुछ गोपाङ्गनाओं को सचमुच ही स्मर का–काम का–उदय हुआ, क्योंकि यह कूजननाद काम का मुख्य दूत है—"**मन्मथस्याग्रदूतः।**" यह नाद मोहनमन्त्र है, अतः इसे श्रवण कर श्रीव्रजगोपिकाएँ मूर्छित हुईं। यह मूर्च्छा सञ्चारो भाव है। यहाँ तो मूर्च्छा क्या, अपस्मार तक रस है। संसार के राग में तो सभी मूर्च्छित हैं, परन्तु श्यामसुन्दर मनमोहन श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के लोकोत्तर सुमधुर अद्भुत सौरस्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्यसम्पन्न माधुर्य पर मोहित होकर मूर्च्छित होने का विलक्षण सौभाग्य तो माधुर्याधिष्ठात्री परमान्तरङ्गा श्रीवृषभानुनन्दिनी आदि कतिपय व्रजसीमन्तिनियों का ही है। अस्तु, उस परम मनोहर मोहनमन्त्र वेणुकूजन के श्रवण से मूर्च्छित होने पर श्रीकृष्ण के अनुग्रहविशेष से कुछ को सावधानता प्राप्त हुई। तब सावधान होकर उन्होंने उस कूजन की ओर अपने नेत्र और मन को लगाया। पहले वेणुकूजन का प्रयोजन उन्हें सावधान कर संकेत करना था। जब वे सावधान हो गयीं तब श्रीकृष्ण ने वेणुद्वारा गीत गाया जो स्पष्टार्थक था। यह गीत भगवदीय रस का निरूपक है अर्थात् भगवान् के लीला विशिष्ट तात्कालिक

स्वरूप का स्पष्ट निर्देश इस वेणुगीत से हुआ। जिन गोपिकाओं ने उसे सुना, उनके अन्तःकरण में भगवत्स्वरूप व्यक्त हुआ। उनके विविध हाव-भाव आदि व्यक्त हुए। इन सबसे वे फिर मूर्च्छित हुईं क्योंकि इस समय गीतार्थ द्वारा श्रीकृष्ण के रसात्मक साक्षात् स्वरूप का उन्हें स्मरण हुआ। बारम्बार स्मरण के बाहुल्य से कुछ गोपाङ्गनाओं को तो अन्तःकरण में प्रियतम प्राणधन श्रीकृष्ण का आलिंगन प्राप्त हुआ। फिर उनमें से ही किन्हींने अपनी सखियों से उसका वर्णन करना आरम्भ किया–

"तद्वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम्।
नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप॥"

परन्तु उस वेणुगीत से श्यामसुन्दर मनमोहन श्रीकृष्ण का स्मरण हुआ, परन्तु उसका वर्णन करने में स्मरवेगवश वे समर्थ न हो सकीं। मन से एक बार एक ही कार्य हो सकता है, या तो वे अनुभव करें या स्मरण करें। परन्तु, अनुभव या स्मरण के साथ-साथ वर्णन नहीं हो सकता। शिव, काकभुशुण्डि, सनक, शुकदेव आदि सबकी यही स्थिति है। वे लोग या तो भगवान् के परम मंगलमय दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यादि का अनुभव स्मरण करते हैं या वर्णन किया करते हैं। यह वर्णन भी बुद्धिपूर्वक नहीं, अपितु उद्गार है। भावना करते-करते रस जब अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, रोम-रोम में भर जाता है तब वह मुख में आकर उच्छालित हो उठता है, वही उनका उद्गार है। वर्णनकाल में श्रीकृष्णचेष्टित का स्मरण हो जाने से वर्णन ही नहीं हो सकता। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण को तो गोपिकाओं द्वारा वर्णन कराना अभीष्ट है, क्योंकि तभी वह सुधा भगवद्भोग्या बन सकेगी। भगवान् के अधर में रहनेवाली सुधा भगवद्भोग्या कैसे हो? भगवान् स्वयं अपने आप ही स्वाधरोष्ठ स्थित सुधा का पान करें यह तो विपरीत है। तब यह हो कैसे? हाँ, इसका एक ही प्रकार है। जब भगवान् के अधरपल्लवों से सम्बन्धित वेणु में भरपूर होकर उसके छिद्रों से निकलकर वह सुधा व्रजसीमन्तिनियों के निरावरण कर्णकुहरों द्वारा उनके अन्तःकरण में निविष्ट होकर, वहाँ से उनके अन्तःकरण, प्राण, अन्तरात्मा, इन्द्रिय, रोम-रोम में भरपूर होकर मुख में आकर उनके अधरपल्लवों द्वारा वर्णित हो, तभी वह सुधा भगवद्भोग्या हो।

यहाँ कुछ लोग सन्देह करते हैं कि यह असङ्गत है क्योंकि पहले श्लोक में **"चुकूज वेणुम्"** से वेणु का कूजन कहा गया और दूसरे ही श्लोक में **"आश्रुत्य वेणुगीतम्"** से वेणुगीत कहा गया यह कैसे? कूजन तो अर्थसम्बन्धविहीन ध्वनिमात्र है किन्तु गीत का तो कुछ अर्थ होता है। ऐसी स्थिति में पहले श्लोक में जिसे कूजन कहा गया, दूसरे ही श्लोक में उसकी ही गीतोक्ति असङ्गत है। एवञ्च जब स्मरवेग से विक्षिप्त मनस्क होने के कारण वर्णन न कर सकीं—**"तद्वर्णयितुमारब्धा।**

नाशकन् स्मरवेगेन।" तब बीच में "**बर्हापीडं नटवरवपुः।**" इत्यादि वर्णन और "**इति वेणुरवं श्रुत्वा**" यह सब कैसे ? इसका समाधान यह है कि यहाँ पहले श्लोक में श्रीकृष्ण का श्रीवृन्दावन-प्रवेश वर्णित है, दूसरे में उनके द्वारा वेणुकूजन। इस कूजन द्वारा अन्तःकरण में श्रीकृष्णस्वरूप का अनुभव करके ज्यों ही कोई व्रजाङ्गना अपनी सखियों से अपने अनुभव का वर्णन करने लगीं, त्यों ही भावनाजन्य स्मरवेग से मूर्च्छित हो गयीं। फिर सावधान होने पर वर्णन का प्रयत्न करने पर पुनः श्रीकृष्ण का स्मरण हुआ, क्योंकि वर्णन करने के लिये उस वर्णनीय तत्त्व का पहले स्मरण होना स्वाभाविक था। किन्तु उसका स्मरण होने से पुनः मूर्च्छित हो गयीं।

इस तरह जब-जब वर्णन करने का प्रयत्न करती हैं, तब-तब स्मरवेग के कारण मूर्च्छा आ जाने से वर्णन करने में असमर्थ हैं। परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण को तो उनसे वर्णन कराना इष्ट है क्योंकि जब व्रजाङ्गनाओं के द्वारा उसका वर्णन हो, तभी वह भगवान् की अधरसुधा भगवद्भोग्यारूप में अभिव्यक्त हो। अतः भगवान् ने कृपा कर अपने उद्बुद्ध संप्रयोगात्मक विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गार रसात्मकस्वरूप को अधरसुधारूप से स्वाधरपल्लव पर विराजमान वेणु में भरकर उस वेणु के छिद्रों द्वारा निर्गत गीतपीयूषरूप से श्री व्रजसीमन्तिनियों के निरावरण कर्णकुहर द्वारा उनके निर्मल स्वच्छ अन्तःकरण पङ्कज में प्रविष्ट होकर उनकी अन्तरात्मा, अन्तः-करण, प्राण, इन्द्रिय, रोम-रोम में भरपूर होते हुए उनके अधरपल्लव तक परिपूर्ण हो गये, अब वह परिपूर्ण अधरसुधा उन श्रीव्रजाङ्गनाओं के प्रयत्न निरपेक्ष ही अपने आप उनके अधरपल्लवों से "**बर्हापीडं नटवरवपुः**" इस गीत रूप में उच्छलित होकर अभिव्यक्त हो उठी। इसीलिये यह उस अनुभूत तत्त्व का उद्गार है, वर्णन नहीं। किसी अतिदिव्यपात्र में कोई सुमधुर रस भरा हुआ हो, और भरपूर होने से वायु के आघात से वह रस उच्छलित होकर पात्र में से निकल पड़ता है या स्वयं ही उस रस में कोई अलौकिक उफान आने से वह रस स्वयं उद्वेलित होकर छलक पड़ता है। ऐसी ही अवस्था भावुकों की होती है। वे लोग किसी उद्दीपनादि सामग्री को देखते ही अपने प्रियतम के स्मरण से विह्वल होकर पुलकित हो उठते हैं, देहभान भूल जाते हैं, पुनः-पुनः स्मरणजन्य भावनाविशेष से उनके मानसपङ्कज में विराज-मान मूर्तिमान वह दिव्यरस उनके रोम-रोम में भरपूर होकर स्वयं उनके मुख से शब्द ब्रह्मरूप कथा सुधा द्वारा बरबस अभिव्यक्त हो उठता है।

श्रीहनूमानजी को भी भीम के दर्शन द्वारा जैसे अपने ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र की स्मृति हुई वैसे ही भावुकों को किसी उद्दीपन सामग्री के दर्शन से अपने प्रियतम प्राणधन का स्मरण होता है। जैसे चन्द्रदर्शन से समुद्र उद्वेलित होता है, वैसे ही उत्ताल तरङ्गों से परम सुन्दर श्रीमुखचन्द्र को देखकर श्रीवृषभानुनन्दिनी श्री राधिका के अन्तःकरण में विराजमान अनुरागरससारसागर उद्वेलित होकर कथारूप में व्यक्त हो उठता है। यही अवस्था श्रीकृष्ण की भी है—

वृषभानुनन्दिनी के दिव्य सौन्दर्यमय श्रीमुखचन्द्र की मनोहर शोभा का अवलोकन कर उनके मानसपङ्कज में विराजमान अनुरागरसामृत सिन्धु उद्वेलित-विक्षुब्ध-हो उठता है। जैसे पूर्णिमा आदि अवसरों पर ही सागर की वैसी स्थिति होती है, वैसे ही प्रसङ्गविशेषों पर ही यह बात होती है।

भगवान् का सगुण, निर्गुण दोनों रूपों का कर्णरन्ध्र से ही हृदय में प्रवेश होता है। भगवान् के मधुर मनोहर सौन्दर्यादि गुणगणों के श्रवण से निर्मल, विशुद्ध, गङ्गाजल के अखण्ड प्रवाह की तरह द्रुत मानसवृत्ति प्रवाह का श्रीभगवान् की ओर चल पड़ना ही भक्ति है अथवा भगवान् के दिव्य गुणगणों के श्रवणमात्र से लाक्षा की तरह अत्यन्त द्रुत स्वच्छ अन्तःकरण में भगवान् की परम मनोहर मङ्गलमयीमूर्ति का दृढ़ अङ्कित होना ही भक्ति है—

"मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनो गतिरविच्छिन्ना यथागङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
द्रुतस्य भगवद्धर्मधारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसोवृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥"

इसका मूल कथा-श्रवण है। उधर (निर्गुणोपासना में) शब्द ब्रह्म (महावाक्यरूप) है। परमानन्द रसामृतमूर्ति भगवान् ही कथासुधारूप में भावुकों के निरावरण कर्णकुहर द्वारा निर्मल हृदय पङ्कज में प्रविष्ट होते हैं और भावना से वृद्धिङ्गत होकर भक्त के मन, इन्द्रिय, प्राण, रोम-रोम में भरपूर होकर कथासुधारूप में परिणत होते हैं। इसपर यदि कोई तर्क करे कि भावुक के हृदय में व्यक्त भगवान् की मूर्ति भावनामयी कही जा सकती है, यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान् ही स्वयं भक्त हृदय में अभिव्यक्त होते हैं? परन्तु यह ठीक नहीं है।

क्योंकि—

"व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुण विगत विनोद।
सोइ अज भक्त प्रेमवश कौशल्या की गोद॥"

के अनुसार भगवान् को आना-जाना कहाँ है, वे तो सर्वव्यापक हैं, सर्वत्र हैं, केवल माया जवनिका से आवृत हैं, बस उस माया जवनिका के अपसारण का ही विलम्ब है, वे अपनी दिव्य महिमा से जहाँ उसका अपसारण करते हैं, वहीं उनका प्राकट्य हो जाता है। उत्तरा के गर्भ में परीक्षित को जो भगवद्दर्शन हुआ वहाँ भगवान् ने उत्तरा के गर्भ में क्या कहीं बाहर से प्रवेश किया था? वे तो सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक होने से वहाँ भी थे ही, केवल अपने परम मङ्गलमय दिव्य अनुग्रह से मायाजवनिका का अपसारण करके प्रकट हो गये। इन सब विवेचनों से स्पष्ट हो गया कि निःसन्देहरूप से परमार्थ तत्त्व ही शब्द ब्रह्म के रूप में भावुकों के मुख द्वारा निकलता है और वही भावुकों के कर्णरन्ध्र द्वारा हृदय में आविर्भूत होता है यह असाधारण कथासुधा की चर्चा है।

इधर भगवान् ने सोचा कि स्मरवेग से विक्षिप्त मनस्क इन व्रजाङ्गनाओं से गीतार्थ का वर्णन न बन सकेगा, अतः निखिलरसात्मक निज मूर्त्ति को निरावरण बनाकर वेणुगीत पीयूषरूप में कर्णकुहर द्वारा गोपिकाओं के हृदय-पङ्कज में पहुँचायें। यह गीत पूर्व कूजनादि की अपेक्षा से अद्भुत है। भावुकों ने श्रीकृष्ण को फलात्मक माना है, साधन नहीं। सुख फलात्मक होता है अतः उसके ही स्त्री-पुत्रादि साधन हैं। जिसके लिये सब कुछ हो और जो स्वयं अन्य किसी के लिये न हो वही फल होता है। स्त्री, पुत्र, धन-धान्यादि सब पदार्थों की अपेक्षा सुख के लिये है। यदि कहा जाय कि सुख किस लिये ? तो कहना पड़ेगा कि सुख और किसी के लिये नहीं, सुख-सुख ही के लिये चाहिये। अतः स्त्री-पुत्रादि सब सुख के साधन हैं और सुख फलात्मक है। ऐसे ही भगवान् तो सुख के भी सुख होने से परम फलस्वरूप हैं क्योंकि परमआनन्द रसमूर्त्ति हैं। जैसे खाँड के खिलौने के समस्त अवयव खाँड के ही होते हैं, वैसे ही निखिल रसामृत मूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण के हस्तारविन्द, पादारविन्द, मुखारविन्द, सभी श्रीअङ्ग परमानन्दमय ही हैं—"**आनन्दमात्रं करपादमुखोदरादिः।**"

भगवान् का श्रीमुखचन्द्र पूर्णानुराग रससार सागर समुद्भूत है। कमल जैसे प्राकृत सरोवर से उत्पन्न होता है, वैसे भगवान् का मङ्गलमय मनोहर श्री वदनारविन्द पूर्णानुराग रससार समुद्भूत है। प्राकृत जल के सरोवर में पङ्क-मृण्मय होता है, उस पङ्क से उत्पन्न होनेवाला पङ्कज कितना सौरस्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्य सुस्पर्श सम्पन्न होता है ? अब यदि क्षीरमय सरोवर हो तो उसमें पङ्क भी क्षीरसार नवनीतमय ही होगा और उससे समुत्पन्न पङ्कज का सौन्दर्य सौगन्ध्य, सौरस्यादि भी अलौकिक ही होगा। यहाँ तो श्री श्रीकृष्णमुख पङ्कज पूर्णानुराग रससार सरोवर समुद्भूत है। अतः उस सरोवर का पङ्क भी पूर्णानुराग रससार सर्वस्व ही होगा। उससे प्रादुर्भूत श्रीकृष्णमुखेन्दीवर की शोभा, सौन्दर्य, माधुर्य, सौगन्ध्य, सौरस्य आदि का तो कहना ही क्या ?

अतः श्रीकृष्ण का समस्त विग्रह फलात्मक है, साधन नहीं। विधिनिषेध साधन में ही हुआ करते हैं, फल में नहीं। अघासुरहनन आदि कहीं-कहीं श्रीकृष्ण में साधनता भी थी परन्तु ध्यानकाल में तो वे सुखमात्र स्वरूप होने से शुद्ध फलात्मा ही हैं। यदात्मक श्रीकृष्ण होंगे, तदात्मक ही उद्बुद्ध सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गाररसस्वरूप भगवद्भोग्या अधरसुधा भी होनी चाहिये। अन्यान्य अङ्गों में साधनत्व का निवेश होने पर भी अधरसुधा में तो केवल फलात्मकता ही है। लौकिक रस तो अनुभव करते-करते कुछ काल में विरस हो जाते हैं, परन्तु इस रस की यह विशेषता है कि यह कभी विरस नहीं होता, अपितु जैसे-जैसे अधिकाधिक अनुभूत होता है, वैसे-वैसे वृद्धिगत होता है। कामिनी सम्प्रयोगादि में यह बात नहीं है, वहाँ तो कामिनी आदि में विरसता आ जाती है पर यहाँ का रस तो कभी विरस होता ही नहीं—"**यह रस विरस होत नहिं कबहूँ।**"

हाँ, तो यह रस गोपिकाओं की अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, रोम-रोम में भरपूर होकर श्रीव्रजाङ्गना के अधरपल्लव द्वारा—

"वर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम् ।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥"

इत्यादि वेणुगीत पीयूषरूप में उद्वेलित होकर अभिव्यक्त हो गया। 'वर्हापीडं' यह साधारण श्लोक नहीं है, किन्तु साक्षात् भगवद्भोग्या अधरसुधा ही है। पीछे कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण के अधर में रहनेवाली सुधा उन्हींके लिये संभोग्य कैसे हो सकती है? यह रसशास्त्र के विरुद्ध है। परन्तु भगवान् को उस सुधा का संभोग इष्ट है। पर यह तभी हो सकता है कि जब यह भगवद्भोग्या अधरसुधा श्रीव्रजाङ्गनाओं के अधरपल्लवों में अभिव्यक्त हो। तब ही संप्रयोगात्मक शृंगार में भगवद्भोग्या अधरसुधा भगवान् को प्राप्त हो सकेगी। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द ने उस सुधा को वेणु में पूरित कर उसके छिद्रों से श्रीव्रजाङ्गनाओं के कर्णकुहर द्वारा उनके हृदय में प्रविष्ट किया। किन्तु जब वह व्रजाङ्गनाओं के द्वारा वर्णित होकर उनके अधरपल्लव पर विराजमान हो, तब उसमें भगवद्भोग्यता आवे। गोपिकाएँ तो विह्वल होकर उसका वर्णन करने में असमर्थ हो रही थीं, किन्तु श्रीकृष्ण को तो वर्णन कराना अभीष्ट था। अतः उन्होंने अपनी कृपाविशेष से श्रीव्रजाङ्गना हृदयस्थ उस सुधा को भावना द्वारा अभिवृद्ध कर उनके मुख द्वारा वर्णन व्याज से अभिव्यक्त किया अर्थात् वह भगवद्भोग्या अधरसुधा वेणुगीतरूप में श्रीव्रजाङ्गनाओं के मुखपङ्कज में आयी। वह वर्णन उद्गार होने से प्रयत्ननिरपेक्ष एवं बुद्धिनिरपेक्ष है, अतः स्वाभाविक है। वही "**वर्हापीडं नटवरवपुः**" है, यही वेणुरव है—"**इति वेणुरवं राजन्**" अर्थात् जो भगवद्भोग्या अधर-सुधा व्यक्त हुई, वह एतत् श्लोकात्मक है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि इस श्लोक और अर्थ दोनों में अभेद है। नाम-नामी, शब्द-अर्थ में अभेद होता है। प्रियतम, प्राणधन निरतिशय निरुपाधिक परप्रेमास्पद भगवान् श्रीकृष्ण का श्रीव्रजाङ्गनाओं के साथ बाह्य और अन्तर दोनों रमण विवक्षित है। बाह्यरमण प्रिया-प्रियतम के बाह्य देह के संसर्ग से होता है किन्तु अन्तररमण तो बाह्य देहसंसर्गनिरपेक्ष प्राणों का, मन का, अन्तरात्मा का सर्वाङ्गीण तादात्म्य से ही बन सकता है। पर श्री गोपिकाओं से श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का आन्तररमण तो तब हो, जब सचमुच ही श्रीकृष्ण उन गोपिकाओं के अन्तर में विराजमान हों। भावनाओं के प्राखर्य से भी भावित का साक्षात्कार होता है, पर है वहाँ भावनामय ही मूर्ति। उसके साथ होनेवाले सम्प्रयोग को तात्त्विक नहीं कहा

जा सकता। अपितु वह भ्रमात्मक है क्योंकि वहाँ अनुभव संवाद नहीं है। स्वरूप का वर्णन होने से एक दिव्य तेजोमय तत्त्व अभिव्यक्त होता है, वही मनोमयी मूर्ति है। उस मूर्ति में भी रमण होता है परन्तु वह साक्षात् भी है ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह भावनामूलक मनोमयी मूर्ति है। हाँ, भगवान् की मनोमयी मूर्ति की भावना भी अनन्त महिम है, इसमें कोई सन्देह नहीं। विधुरपरिभावितकामिनी के साक्षात्कार और भगवान् की मङ्गलमयी, भावनामयी मनोमयीमूर्ति के सौन्दर्य, माधुर्य समास्वादन में बड़ा अन्तर है। पहला अनर्थ का–पतन का–मूल एवं द्वितीय परम कल्याण का मूल है।

भगवान् की जैसे धातुमयी, पाषाणमयी, काष्ठमयी प्रतिमा होती है, वैसी ही मनोमयी प्रतिमा होती है। पाषाणादिमयी मूर्ति के अवलम्ब से जैसे शनैः शनैः भगवदभिव्यक्ति होती है, वैसी ही मनोमयी मूर्ति के चिन्तन से भगवत्साक्षात्कार होता है। विधुरपरिभावितकामिनी साक्षात्कार स्थल में कामिनी विद्यमान न होने से वह केवल भावना है, भ्रम है, किन्तु भगवान् सर्वान्तरात्मा, सर्वव्यापक हैं, भावुकपरिभावित मनोमयी भगवन्मूर्ति की भावना के प्राखर्य से होनेवाला भगवत्साक्षात्कार तात्त्विक है क्योंकि जहाँ भगवान् का भावनाभावित साक्षात्कार हो रहा है वहाँ सर्वान्तरात्मा भगवान् स्वयं विराजमान हैं। इसीलिये अघासुर वध-प्रसङ्ग में कहा गया है कि श्री शुकदेवजी ने जब कहा कि द्विजमांस रुधिराशी महापापी अघासुर के मुख से दिव्य ज्योति निकलकर भगवान् श्रीकृष्ण के मुख में प्रविष्ट हुई, तब यह सुनकर परीक्षित को सन्देह हुआ कि 'यह क्या? बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रों को भी जो गति परम दुर्लभ है, वह उस दुष्ट दानव अघासुर को कैसे प्राप्त हुई?'

इसपर श्री शुकदेव ने कहा कि जिस अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश, परमानन्दमूर्ति भगवान् के श्रीअङ्ग की केवल मनोमयी भावनामयी मूर्ति एक बार भावुक के स्वच्छ, समाहित अन्तःकरण पङ्कज पर आविर्भूत होकर भागवती गति-सायुज्य मुक्ति का प्रदान करती है, वही सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन नित्य, स्वप्रकाश रूप से माया एवं मायिक प्रपञ्च को तिरस्कृत करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं जिसके उदर में प्रविष्ट हुए, उसकी मुक्ति में क्या सन्देह है?

"सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥"

भावुक का रसिक मन भगवान् को बनाता है, भक्त जैसी-जैसी मूर्ति की भावना करता है, भगवान् को वैसा ही वैसा स्वरूप धारण करना पड़ता है—**"यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।"** साधारण मनुष्यों की कल्पना मनोराज्य है, परन्तु भावुक की कल्पना फलपर्यवसायिनी होती है। इसलिये भावना का प्राखर्य होने पर भक्तोपहृत वस्तु भगवान् में उपलब्ध हो सकती है। यहाँ तर्क

हो सकता है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि तो प्रमाण हैं किन्तु भावना प्रमाणकोटि में परिगणित नहीं है, अतः भावनाभावित मनोमयीमूर्ति का साक्षात्कार, विधुरपरिभावित कामिनी साक्षात्कार के समान भ्रमात्मक है। किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि पहले कह आये हैं कि विधुरपरिभावितकामिनी साक्षात्कार स्थल में वहाँ कामिनी के न होने के कारण प्रमाणान्तर के साथ विसंवाद होने से वह साक्षात्कार भले ही भ्रम हो, परन्तु निर्गुण परब्रह्मसाक्षात्कार स्थल में तो उपनिषदादि प्रमाणान्तर संवाद है अर्थात् शब्दप्रमाणभूत उपनिषद् ब्रह्म का जैसा स्वरूप बतलाती हैं, वैसा ही यहाँ साक्षात्कार भी हो रहा है अतः इसको भ्रम नहीं कहा जा सकता। भगवान् सर्वव्यापक हैं किन्तु माया-जवनिका से समावृत होने के कारण सबको प्रकाशित नहीं होते—**"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।"** किन्तु वही भगवान् भक्त की भावना से या स्वानुग्रहविशेष से जहाँ उस माया जवनिका का अपसारण कर देते हैं, वहीं उनका प्राकट्य हो जाता है। अर्थात् भावनामयी मूर्ति ही प्राकृतत्व को छोड़कर अप्राकृतत्व को धारण कर लेती है। यह ध्यान की महिमा है, ध्यान के बढ़ने से अलौकिकत्व आता है। उत्तरा के गर्भ में अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से परीक्षित् की रक्षा करने के लिये क्या कहीं बाहर से आकर प्रविष्ट हुए? प्रह्लाद के रक्षार्थ खम्भे में कहाँ से आये? सर्वव्यापक होने से वह वहाँ पहले से थे ही, केवल अनुग्रह से भक्त-रक्षार्थ माया-जवनिका को दूर कर वहाँ प्रकट हो गये। ऐसे ही निर्गुणब्रह्म-साक्षात्कार-स्थल में भी तत्व सर्वव्यापक होने से श्रवण-मनन से ही माया-जवनिका का अपसरण हो जाने पर उसकी उपलब्धि हो जाती है, क्योंकि ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञानगम्य सबके हृदय में स्थित है—**"ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्यधिष्ठितम्।"** किन्तु उस माया-जवनिका का पुनः आवरण न हो जाय इसलिये उस श्रुत, मत, साक्षात्कृत तत्वाकाराकारित विशुद्ध मानसीवृत्ति के निरन्तर आदरपूर्वक अखण्ड प्रवाहरूप निदिध्यासन की अपेक्षा है। इस तरह निर्गुण-सगुण भगवान् का साक्षात्कार भ्रम नहीं, किन्तु परमार्थभूत है।

अस्तु, प्रकृत में उद्बुद्ध सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गारस्वरूप निखिल रसामृतमूर्ति श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही 'बर्हापीडं' आदि वेणुगीत-रूप में श्रीव्रजाङ्गनाओं के मानसपङ्कज में पधारे और भावनाविशेष द्वारा वृद्धिङ्गत होकर उन व्रजाङ्गनाओं की अन्तरात्मा, मन, प्राण, इन्द्रिय आदि में भरपूर होकर उनको अप्राकृत बनाकर मधुर मनोहर मङ्गलमयमूर्ति में अभिव्यक्त होकर उन्होंने श्रीव्रजाङ्गनाओं के साथ आन्तररमण किया। यह आन्तररमण ही यथार्थ रमण है, यहाँ देहादि का व्यवधान नहीं है बल्कि अन्तःकरण में ही श्रीकृष्ण का प्राकट्य होने से व्रजाङ्गनाओं से उनका व्यवधानरहित परम आन्तर रमण सम्पन्न हुआ है। यहाँ का वैलक्षण्य यह है कि एक काल में ही सम्प्रयोग-विप्रयोग उभयात्मक शृंगाररस का अनुभव होता है, और दोनों ही उद्बुद्ध–उद्वेलित हैं। इसी बात को दिखलाने

के लिए 'वेणुरव' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'र' अग्निबीज होने से उससे विप्रयोगात्मक उद्बुद्ध शृंगाररस का ग्रहण है और 'व' अमृतबीज होने से उससे सम्प्रयोगात्मक उद्बुद्ध शृङ्गाररस गृहीत हुआ है।

इस रस की यही विशेषता है कि वह बड़े-बड़े निर्विकल्प समाधिसिद्ध निर्गुण-ब्रह्मस्वरूपनिष्ठ महायोगीन्द्र मुनीन्द्रों को भी अपनी ओर बलात् आकर्षित कर लेता है। आत्मस्वरूप में रमण करनेवाले, चिज्जड़ाध्यासरूप ग्रन्थि का छेदन करनेवाले शुकादि, सनकादि महामुनीन्द्रगण भी उस अखण्ड, अनन्त, असङ्ग, कूटस्थ, स्वात्मस्वरूप में स्थिति को छोड़कर उस अचिन्त्य, अनन्त, सुमधुर अखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण के परम मङ्गलमय, लोकोत्तर, अद्भुत, मनोहर सौन्दर्य, माधुर्य के समास्वादन में आसक्त हो जाते हैं—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥"

शौनकजी को इस बात पर बड़ा सन्देह हुआ कि 'उन शुकदेवजी ने, जो जन्म से ही सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदरहित, अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश, निर्गुण परब्रह्म में परिनिष्ठित थे, जिनकी अखण्ड स्थिति चाहे आकाश टूट पड़े, मेरु विशीर्ण हो जाय या समुद्र सूख जाय तो भी टस से मस नहीं होती थी, सांसारिक मायामोह के जाल में बँध जाने के भय से जो द्वादश वर्षपर्यन्त माता के उदर से बहिर्भूत न होकर वहीं निर्गुण, निराकार तत्त्व में सर्वात्मना परिनिष्ठित रहे, जैसे-तैसे गर्भ से निकलते ही अरण्य की ओर चल पड़े, तत्त्ववित् होने के कारण स्त्री-पुरुष आदि भेद जिनकी दृष्टि में आता ही न था, उन महायोगी श्रीशुकदेव ने अष्टादशसहस्र श्लोकवाली भागवत महासंहिता को अपने पिता श्री व्यास से कैसे अध्ययन किया ?' इसपर सूतजी ने कहा—

"बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम् ।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः ॥"

श्री व्यास ने यह श्लोक अपने कतिपय शिष्यों को पढ़ाकर उन्हें श्रीशुकदेव के पास अरण्य में भेजा। शिष्यों ने अरण्य में शुकदेवजी के पास जाकर बड़े मधुर स्वर में उक्त श्लोक को पुनः-पुनः पढ़ा। उसे श्रवण कर और तद्वर्णित श्यामसुन्दर मदनमोहन भगवान् श्रीकृष्ण की मधुर मनोहर मूर्ति का चिन्तन कर उनकी समाधि भग्न हो गयी। प्रेम में विभोर होकर नाचने लगे। शिष्यों ने जाकर व्यासजी से सब हाल सुनाया। व्यासजी ने सोचा कि उस श्लोक का प्रभाव तो पुत्र पर हुआ, पर वह अब तक आया क्यों नहीं ? दिव्य दृष्टि से देखने पर उन्होंने निश्चित किया कि उसे यह सन्देह हो

गया कि "ऐसे लोकोत्तर सौन्दर्य लावण्य सम्पन्न भगवान् मुझ जैसे दीन पर कृपा **कैसे** करेंगे ?" बस, व्यासजी ने एक दूसरा श्लोक पढ़ाकर शिष्यों को पुनः शुकदेवजी के पास भेजा। शिष्यों ने उस श्लोक को मधुर स्वर से गाकर शुकदेवजी को सुनाया—

"अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसया पाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥"

अर्थात् "आश्चर्य है कि जिस लोकबालघ्नी दुष्ट राक्षसी पूतना ने प्रभु को मार डालने की इच्छा से कालकूट हलाहल विषसंपृक्त स्तन्यपान कराया पर उसको भी जिसने माता को प्राप्त होने योग्य सद्गति प्रदान की, उस भगवान् से अधिक दयालु, कृपामय और दूसरा कौन होगा ?" श्री ब्रह्माजी को भी इस बात की बड़ी चिन्ता हुई थी कि भगवान् इन व्रजनिवासी गोपों से कैसे ऋणमुक्त होंगे ? ब्रह्मा ने जब भगवान् से कहा कि "हे देव ! मुझे यह सोचकर बड़ा मोह हो रहा है कि आप इन ग्वालों को क्या देकर उनके ऋण से मुक्त होंगे ? यदि कहें कि इसकी क्या चिन्ता है ? उन्हें त्रैलोक्य-सुख देकर उऋण हो जाऊँगा। परन्तु भगवन् ! आप ही सर्वफलात्मा — अनन्त सौख्य सिन्धु हैं। निखिल ब्रह्माण्ड के समस्त प्राणी जिस आनन्दसुधासिन्धु के एक बिन्दु को प्राप्त कर आनन्दित हो रहे हैं—"**अस्य मात्रामुपजीवन्ति**" वही अनन्त, अखण्ड, महान् आनन्दसिन्धु मूर्तिमान जिनके आँगन में धूलि-धूसरित होकर विहरण कर रहा है, उन्हें आनन्दविन्दु का लोभ क्या दिखलाया जाय ? इसलिये उन्हें त्रैलोक्य सुख देकर भी आप उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकेंगे। यदि कहें कि केवल इन व्रजवासियों को ही नहीं, उनके समस्त कुल को मैं अपने आपको देकर ऋणमुक्त हो जाऊँगा तो भगवन् ! क्या जो व्यवहार आपको विषमिश्रित स्तन्य-पान करानेवाली पूतना के साथ, वही इन धाम, अर्थ, सुहृत्, प्रिय देह, पुत्र, प्राण एवं अन्तरात्मा आदि सब कुछ आपके श्रीचरणों पर न्यौछावर करनेवाले इन व्रजवासियों के साथ भी उचित होगा ? क्या "**टके सेर भाजी, टका सेर खाजा**"वाली बात होगी ? पूतना के कुल-कुटुम्ब में ही ऐसा कौन बचा है जिसे आपने सद्गति न प्रदान की हो ? तृणावर्त, अघासुरादि सभी पूतना के कुटुम्बियों को तो आपने आत्मसमर्पण किया है।

अस्तु, तात्पर्य यह निकला कि विषप्रदान करनेवाली पूतना को भी जिन्होंने आत्मसमर्पण किया, योगीन्द्र मुनीन्द्रों को स्वप्न में भी जिनका दर्शन दुर्लभ है, उन कमलदल से भी शतकोटि गुणित अधिक कोमल अपने श्रीचरणों से उसके अङ्ग पर क्रीड़ा की, जिसके प्रभाव से पूतना का शव जब जलाया गया, तब उसमें से ऐसी दिव्य सुगन्धि का प्रसार हुआ जो तीन योजन की आसमंतात् भूमि में व्याप्त हो गया, उस कृपासिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण से अधिक दयालु कौन होगा ? इस श्लोक को श्रवण करते ही श्री शुकदेवजी गद्गद हो गये और व्यासजी के पास जाकर उनसे समस्त

'भागवत' का अध्ययन किया। ऐसे योगीन्द्रों के भी निर्गुण ब्रह्मनिष्ठ, शान्त, समाहित अन्तःकरणों को अपने दिव्य सुमधुर मनोहर सौरम्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्य आदि गुणगणों से आकर्षित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपने ग्वालबालों के साथ श्रीमद्वृन्दारण्य धाम में पधारे। कैसे पधारे? "**नटवरवपुः बिभ्रत्**" अर्थात् नट के समान और वर के समान शृंगार धारण करके पधारे। यहाँ 'नट' पद से विप्रयोगात्मक एवं 'वर' पद से सम्प्रयोगात्मक शृङ्गाररस अभिप्रेत है। नट चन्द्रमा, वायु आदि वास्तविक सामग्रियों के अभाव में भी अपने अभिनयों द्वारा रस का अभिव्यञ्जन करता है। प्रियतम के साथ सर्वाङ्गीण संश्लेष विद्यमान होने पर भी अकस्मात् वियोगजन्य तीव्र ताप का अनुभव होता है। 'नट' पद से उसी विप्रयोगात्मक शृङ्गाररस का ग्रहण किया है। भावुकों के यहाँ सम्प्रयोगात्मक शृङ्गार की अपेक्षा विप्रयोगात्मक शृङ्गार का अधिक सम्मान है इसीलिये अभ्यर्हितत्वात् नट पद का प्रयोग पहले किया। किसीने श्रीकृष्ण से कहा—"महाराज! ललिता, विशाखा आदि आपकी प्रियतमाएँ आपके वियोग से अत्यन्त दुःखी हैं, आप एक बार व्रज में जाकर उन्हें दर्शन क्यों नहीं दे आते?" श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि "अब उन्हें हमारी आवश्यकता ही नहीं रही। क्योंकि हम जब उनके पास रहते हैं, तब उन्हें हमारा केवल वाह्य रमण ही अनुभूत होता है किन्तु मेरे समीप न रहने पर मानस संस्मरण की विशेषता से उन्हें हमारे सर्वाङ्गीण आन्तर रमण का अनुभव होता है—इस तरह जैसे सम्प्रयोग-काल में भी विप्रयोग का अनुभव होता है, वैसे ही विप्रयोगअवस्था में कभी-कभी सम्प्रयोग का आनन्द प्राप्त होता है। इसी स्थिति का वर्णन इस श्लोक में मिलता है-

"प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा,
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा सा,
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥"

जब विप्रयोगात्मक शृङ्गार उद्वेलित होता है तब सकल जगत् प्रभुमय हो जाता है, अतः 'नटवत्' कहा। सभ्यों को रसास्वादन कराने के लिये जैसे नट विचित्र स्वरूप को धारण करता है, वैसे ही श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ने श्रीव्रजाङ्ग-नाओं के मन को आकर्षित करने के लिये विचित्र वेश धारण किया है। एवञ्च 'वर' पद से प्रत्यग्रभोक्ता, दूल्हा लिया जाता है। विवाहार्थ जाते हुए वर जैसे सर्वापेक्षया अधिक सुन्दर वस्त्र, आभूषण आदि धारण कर अपने को सुसज्जित करता है, वैसे ही श्रीकृष्ण भी सुन्दर वेश धारण कर श्रीमद्वृन्दारण्य धाम में पधारे। 'वर' पद सम्प्रयोगात्मक शृंगार का द्योतन करता है। इस तरह नटवरवपु से उद्‌बुद्ध सम्प्रयो-गात्मक, विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गाररसात्मकता भगवान् श्रीकृष्ण की बतलायी गई है।

'बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः॥

भगवान् परमानन्दकंद श्रीकृष्णचन्द्र नटवरवपु को धारण किये, बर्हमय आपीड़ को धारण किये, वैजयन्ती माला को पहने, कानों में कर्णिकार पहने, गोपवृन्द के संग वेणु को अधरसुधा से पूरित करते हुए श्रीवृन्दारण्य धाम में पधारे। अनन्त ब्रह्माण्ड के प्राणियों को आनन्दित करनेवाले रसों के उद्गम-स्थान, निखिलरसामृत-सिन्धुसार से प्रभु श्रीकृष्ण के अङ्गों का निर्माण है। निखिलरसामृतमूर्ति होते हुए भी विशेषतः उद्बुद्ध उभयविध शृङ्गाररस से आपके श्रीअङ्ग का निर्माण है। अन्यत्र सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक दोनों ही शृङ्गार एक-कालावच्छेदेन उद्बुद्ध एवं उद्वेलित नहीं होते। यहाँ परस्परविरुद्धधर्माश्रय अणोरणीयान् महतो महीयान् प्रभु श्यामसुन्दर में तो दोनों ही प्रकार के शृङ्गाररस एककालावच्छेदेन व्यक्त होते हैं।

"तुव मुखचन्द्र चकोरी मेरे नयना।
अरबरात निशदिन मिलिवे को,
मिलेइ रहत मानो कबहुँ मिलेना॥"

अद्भुत प्रेमोन्माद में श्रीकृष्ण और वृषभानुनन्दिनी को सम्प्रयोग में भी विप्रयोग और विप्रयोग में भी सम्प्रयोग की स्फूर्ति होती है। अस्तु, इस तरह उद्वेलित सम्प्रयोगात्मक-विप्रयोगात्मक उभयविध शृङ्गाररससारसर्वस्व से ही नटनागर के श्रीअङ्ग का निर्माण हुआ है। अतः वे नटवरवपु हैं, अथवा "**नटवरवपुः—नटेभ्योऽपि वरं वपुः यस्य सः।**" नटों से भी वरशोभन, सुन्दर वपु को धारण किये हुए भगवान् पधारे। नट तो बहुत हैं, नाचनेवाले सब ही हैं, पर व्रजमोहन श्रीकृष्णचन्द्र का नट-वरवपु कुछ लोकोत्तर ही है, भगवान् श्रीशंकर विश्वनाथ का तांडव नृत्य प्रसिद्ध है, जिसको देखने के लिये सम्पूर्ण इन्द्र, चन्द्र, वरुणादिक देवता, अप्सरा, सिद्ध, महर्षि, यक्ष, किन्नरादिक सर्व पधारते हैं! प्रदोषकाल में जब भगवान् नटराजराज भूत-भावन विश्वनाथ का तांडव नृत्य होता है, तब सब देव तो क्या, स्वयं श्रीकृष्णचन्द्र भी पधारते हैं, उनका ऐसा अद्भुत नृत्य है इसीलिये वह नटराजराज हैं। उनके जैसा तांडव नृत्य किसीका नहीं, पर श्रीकृष्ण परमानन्दकंद मनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन का तांडव नृत्य तो ऐसा विलक्षण है जो कालिय नाग के फणों पर हुआ। उसकी सामग्री भी विचित्र है, जब प्रभु कालिय ह्रद में प्रविष्ट हुए, उसके उन्नत फणों पर जब नृत्य करने लगे, तब देवता, अप्सरागण वाद्य बजाने लगे। इस नृत्य के लिये दूसरा उदाहरण ही नहीं है, इसलिये 'नटवरवपुः' कहते हैं। नट से, नटराज से, नट-राजराज से भी शोभन वपु को भगवान् ने धारण किया। यह स्वरूप ऐसा है, जिसे

देखकर चर-अचर, जड़-चेतन सब नाच उठे, इसलिये '**नटनं आनंदोल्लासविकारं राति ददातीति नटवरं तद्वपुरिति नटवरवपुः**'—जो स्थावर-जंगम सबको आनन्दोल्लास प्रदान करे, वह नटवर है। इसकी विशेषता क्या कही जाय, औरों की तो बात ही क्या, वह स्वरूप स्वयं व्रजेन्द्रनंदन श्यामसुन्दर मनमोहन भगवान् को ही नचा देता है। भगवान् नाचे ही—

"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषिताङ्गम्॥"

भावुक जन कहते हैं, भगवान् मानव-लीला के उपयुक्त मायाबल को दिखाते हुए ऐसे स्वरूप को धारण करते हैं कि वह स्वरूप स्वयं उन्हें ही विस्मय में डाल देने-वाला हो जाता है। अहो ! वह सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य अद्भुत है, वह भाग्यवान् हैं जो ऐसे स्वरूप-रस का आस्वादन करते हैं। अपने अमृतमय मुखचन्द्र को देखने का सौभाग्य तो स्वयं भगवान् को नहीं, वह तो वृषभानुनंदिनी को, व्रजाङ्गनाओं को, भक्तों को ही है, भगवान् केवल मणिमय प्रांगण में मणिस्तम्भों में आत्मप्रतिबिम्बों को ही देखते हैं।

"रत्नस्थले जानुचरः कुमारः संक्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्।
आदातुकामस्तदलाभखेदान्निरीक्ष्य धात्रीवदनं रुरोद॥"

नन्दरानी के मणिमय प्रांगण में घुटनों को टेकते हुए चलते-चलते आप अपने मुखचन्द्र के प्रतिबिम्ब को देखकर मुग्ध हो गये, नाच उठे।

"रूप-राशि छबि अमित बिहारी, नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी।"

अपने श्रीअङ्ग के सौन्दर्य को देखकर, अपने मुखचन्द्र का प्रतिबिम्ब देखकर स्वयं चाहते हैं मैं इसे ले लूँ, प्यारी वस्तु बिना हृदय में रक्खे दूर से देखने में संतोष नहीं होता। वास्तव में यह भावना भक्तों की होती है, पर वही भावना व्रजेन्द्रनंदन श्यामसुन्दर मनमोहन को अपने श्रीअङ्ग का प्रतिबिम्ब देखकर हुई और वे उसे लेना, पकड़ना चाहते हैं किन्तु वह पकड़ने में आता नहीं इसलिये खिन्न हो गये, और व्र[illegible]-रानी अम्बा का मुख देखकर रोने लगे, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक जिसे देखकर मुग्ध हो गये, तब उसे चराचर विश्व देखकर नाच उठे, इसमें आश्चर्य ही क्या? भगवान् अपनी सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता सब कुछ भूल गये, इस प्रकार स्वयं भगवान् को ही विस्मय में डाल दिया ऐसा वह स्वरूप है—"**भूषणानां भूषणानि अंगानि यस्य सः॥**"

उनके एक-एक अङ्ग भूषणों को भूषित करनेवाले हैं, भगवान् के भूषण प्रभु के श्रीअङ्ग को भूषित नहीं करते, प्रभुधारित किरीट, कौस्तुभ, कुण्डल, कटक, अङ्गद जो हैं उनसे प्रभु का श्रीअंग सुशोभित हो यह नहीं, किन्तु प्रभु के शिर से किरीट, कानों के सम्बन्ध से कुण्डल, हाथों से कटक, बाहु से अंगद, कण्ठ से कौस्तुभ आदि भूषण ही भूषित होते हैं यही वास्तव में ऊँचा सिद्धान्त है। यही कहा है—"**चलाऽपि**

यच्छ्रीर्न जहाति तत्पदम् ।" लक्ष्मी, शोभा, श्री सर्वत्र चञ्चला कही जाती है। वस्तु-मात्र में शोभा रहती है, पर कब तक, जब तक 'जायते, अस्ति वर्धते' बस ! यहीं तक, जहाँ 'विपरिणमते' आया कि शोभा घटी। वृक्ष के अंकुर, पत्र, पुष्प, फल तक शोभा, बाद घटना शुरू। इस रीति से जगत् के वस्तुमात्र में शोभा चञ्चला ही चञ्चला है, किन्तु अचला कहाँ है ? केवल प्रभु के मङ्गलमय श्रीअङ्ग में। क्यों ? वहाँ पर उसके स्वभावानुसार जायते, अस्ति, वर्धते तक ही है, आगे के विकार नहीं। यों तो भगवान् षड्विकाररहित हैं, पर वह निर्गुण, निराकार सच्चिद्घन दृष्टि से। भक्त भावुकों की दृष्टि में तो वे सगुण, साकार, परमानन्द, निखिलरसामृतमूर्त्ति हैं। तभी तो नन्दरानी से जन्म 'जायते', व्रजराज नंदबाबा के मङ्गलमय गोद में शैशव-कौमार पौगण्ड-कैशोरादि अवस्थाओं के कारण 'वर्धते' बस ! आगे विपरिणामादि नहीं। शोभा चञ्चला होने पर भी घटे कैसे ? वहीं की वहीं पड़ी है।

'देवीभागवत' में गोलोकवर्णन के सम्बन्ध में बड़ी विचित्र गाथा है—गोलोक-वासी श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द रूप के पास वृषभानुनंदिनी का वास। यहाँ शोभा तथा प्रभा, क्षमा, शान्ति, दान्ति यह सब गोपाङ्गनाएँ हैं ऐसा वर्णन है। वहाँ श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनंदन भगवान् के साथ शोभा गोपांगना विहार करती थी। उस समय श्रीवृष-भानुनंदिनी पधारीं, उन्हें देखते ही लज्जा और भय से शोभा ने देहत्याग दिया और उसीमें से सब ब्रह्माण्ड में विद्वान् के मुख आदि वस्तुओं में वह बँट गयी। ऐसी ही क्षमा, शान्ति, दान्ति इत्यादि की कथा है। तात्पर्य यह कि वृषभानुनंदिनी से लज्जित शोभा, क्षमादि इतर वस्तुओं में बँटी। आध्यात्मिकी, आधिभौतिकी, आधिदैविकी शक्तिरूप में जो शोभादि भगवान् में रहा करती हैं वह अपनी ही लालसा से रहती हैं, भगवान् उन्हें बुलाते नहीं। उद्धव से प्रभु कहते हैं, 'निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्'—सर्वगुण अपनी गुणत्वसिद्धि के लिये मुझे भजते हैं, मैं भी उनको स्वीकार कर लेता हूँ, अगर वह भक्तिपुरःसर होकर आयें तो। लक्ष्मी को भी भगवान् ने थोड़े ही चाहा, वही कहती है—'सुमंगलः कश्चन कांक्षते न माम्'। समुद्र-मंथन से जब लक्ष्मी का जन्म हुआ, तब उसने स्वयंवर के लिये देव, दानव, दैत्य, महर्षि सबको देखा, मगर मन तो उसका था 'सुमंगल' में। उनमें केवल दोष यही है कि 'कांक्षते न माम्।' वह सोचती थी—'जो मुझे चाहते हैं, वे मुझे पसंद नहीं हैं। जिसे मैं चाहती हूँ, वह मुझे नहीं चाहते। वह भी क्यों चाहें, वह स्वप्रकाश सच्चिद्-घन परमानंद रूप में ही स्थित हैं तिसपर भी उन्हीं को वरा। इसपर श्री भगवान् ने उसको अपने परमसुभग वक्षःस्थल पर ही स्थान दिया। ऐसे ही सब गुण-गणों का भी हाल है। भगवान् उन्हें नहीं चाहते, वह भगवान् को चाहते हैं। भगवती महा-लक्ष्मी को भगवान् श्रीशंकर में भी गुण मिले, पर लक्ष्मी उनके वेश से डर गयी। संसार में सामान्यतः जामाता (दामाद) कैसा ही हो सास को अच्छा लगता है, पर पार्वती-विवाह में हिमालयपत्नी मैना भी डर गयी थी। माता गौरी नहीं डरी। गौरी

को जैसा शिव का साक्षात्कार था वैसा महालक्ष्मी को नहीं था। उसे तो शुद्धत्वादि-सर्वगुण ठीक जँचे पर अमंगलत्व से डर गयी।

"महोक्षः खट्वांगं परशुरजिनं भस्म फणिनः।"

लक्ष्मी के लिये शिव के मोहक स्वरूप का प्रादुर्भाव न होना भाव के अनुकूल ही था। सुमंगल में तो चमक-दमक सब कुछ, पर वह तो चाहते ही नहीं। भावुक कहते हैं कौस्तुभादि ने न जाने कितनी तपस्या की। इसलिये कि भगवान् हमें स्वीकार करें, तब भगवान् ने स्वीकार किया। कौस्तुभादि की कितनी भाग्य-महिमा? गोपांगनाएँ कहती हैं—

'सखि हों व्रजरज क्यों न भई।'

व्रजरज होतीं तो उड़कर लगतीं भगवान् के श्रीअंग में। उसमें कोई विघ्न नहीं हो सकता था। कौस्तुभ तो सदा वक्षःस्थल पर विराजमान है। यहाँ तक कि वृषभानुनंदिनी भी कौस्तुभ की ईर्ष्या करती हैं। वह कहती हैं—सखि, यदि भगवान् किसीको भी न मिलते तो संताप न होता, मगर माला तो सदा ही प्रभु के वक्षःस्थल पर विहार करती है। कहो, माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानुनंदिनी जिसकी ईर्ष्या करे उसका कम सौभाग्य है? कुंडल की, जो नित्य भगवान् के कपोलों का चुंबन करता है, क्या कम महिमा है? इन्होंने कितनी तपस्या की होगी? '**गोपालचंपू**' में कहा है—कुंडलों पर मकरी की भावना कर कहती है, 'हे मकरि! तू हमारे श्यामसुन्दर मनमोहन के कपोलों का चुम्बन करती है।' यह सब गोपांगनाओं की ईर्ष्या। अस्तु, गुण अपने आश्रय में आनन्द और महत्त्व की अतिशयता का आधान करते हैं और अनर्थ का निवारण करते हैं।

अनन्त आनन्दस्वरूप श्रीकृष्ण में आनन्द और महत्व निरतिशय है, उसमें अतिशयता का आधान हो ही नहीं सकता, एवं अनर्थों का स्पर्श भी नहीं, फिर उनमें गुणों की जरूरत ही क्या? वैसे ही भूषणों से शोभा बढ़ाने की जरूरत ही क्या? जहाँ स्वयं लक्ष्मी ही निवारा करती है। भगवान् को किसी की अपेक्षा नहीं, किन्तु उन-उन वस्तुओं की तपस्या पर प्रसन्न होकर भक्ति को देखकर उनको स्वीकार किया। रामजी की जब बरात निकली तब सब शकुन आप ही प्रकट भये। उन्होंने सोचा, अगर इस समय न गये तो फिर सफलता कब मिलेगी? एवं सब प्रकार के भूषणभूषित भगवान् अपने स्वरूप को देख विस्मय में पड़ गये और नाच उठे।

"मुनि अस ब्याह सगुन सब नाचे। अब कीन्हें विरंचि हम सांचे॥"

नाच का मूल आनन्दोल्लास है, वह किससे? निज प्रतिबिंब-दर्शन से। तात्पर्य, प्रभु स्वरूप ही ऐसा है जो चराचर विश्व को नचाये और भगवान् को भी नचाये, स्वगुण भी भुलाये, फिर जहाँ नटवरवपु हुए वहाँ क्या कहना है? नट सभ्यों को रसास्वादन कराने के लिये विचित्र प्रकार का वेश धारण करता है, यहाँ

तो भगवान् अपनी ही रुचि से स्वभाविक ही वैसे हैं। नट सर्व सभ्यों को रस में ओतप्रोत करने के लिये विशेष तैयारी करता है, यहाँ तो वह बात नहीं।

'नटेभ्योऽपि वरं वपुः यस्य सः।'

वर - दूल्हा की तरह जो स्वभाव से ही सुन्दर हैं। लोक में जहाँ लगन शुरू हुआ वहाँ उबटन वगैरह लगाना शुरू हुआ। अधिक दहेज के लिये सौन्दर्य-वृद्धि का प्रयत्न करना, चमक-दमक शुरू। और जब विवाह का समय हो तो क्या पूछना ? दूल्हा नट से भी अपने को सुन्दर बनाना चाहता है। देव सदा के लिये विचित्र वेश बनाये रखते हैं। नर का तो विचित्र वेश कादाचित्क है, सदा के वेश में विचित्रता नहीं। विचित्रता के लिये वेशविशेष की आगन्तुकता विवक्षित है। इसीलिये यह पाठ लिया गया है कि---

"नटवरवपुः", "नटश्चासौ वरश्च नटवरः तस्येव वपुर्यस्य सः।"

नट का तात्पर्य द्विभुजत्व में है। व्रजलीला का सर्वस्व तो द्विभुजत्व ही है, इसलिये 'नटवरवपुः'। यदि भगवान् का विचित्र वेश होता और द्विभुज न बना होता तो वह आनन्द न आता, व्रजवासियों में उनके लिये ऐसा ममत्व न होता। व्रजवासी कहते हैं—श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द में अगर परमेश्वरता व्यक्त हो जाय तो भगवान् फीके हो जायँ। चतुर्भुज में किसी को प्रीति न होती, वे लोग आश्चर्य में पड़ते। भावुकों के माधुर्य भाव में ईश्वर भाव की अभिव्यक्ति नहीं। परमेश्वर से लोग डरते हैं, उनसे संकोच होता है, यहाँ तो मनमोहन श्यामसुन्दर प्राणेश्वर हृदयेश्वर अपने हृदय की वस्तु हैं, परमेश्वर नहीं। अप्राकृतत्व अलौकिकता की अभिव्यक्ति स्वाभाविकता में बाधक होती है। जिस भगवान् के भ्रुकुटिभंग पर सब नाचें, अनंत-कोटिब्रह्माण्डनायक प्रभु के कोमल मंगलमय दोनों हाथों को अपने एक हाथ में पकड़ नंदरानी यशोदा-'सा गृहीत्वा करे कृष्ण मुपालभ्य हितैषिणी' छड़ी दिखाकर कहती "लाला मारूँ", अगर परमेश्वर समझती तो यह न होता, जब अपने मुख में संपूर्ण विश्व दिखाकर परमेश्वरता व्यक्त की, तब छड़ी हाथ से गिर भी पड़ी, माधुर्यरस चला गया, अतः 'नटवरवपुः' याने द्विभुज। इसका अर्थ यह नहीं कि हम चतुर्भुजत्व का खंडन करते हैं, मगर जैसी जिसकी भावना उसके लिये भगवान् भी वैसे ही हैं।

'नटवरवपुः'-- नट के समान और वर के समान वपु धारण किये कहा गया है। नटवरवपु देवताओं का सदा ही विचित्र वेश होता है। नर इच्छया विचित्र वेश धारण करते हैं। रस-विशेषास्वादन के लिये भगवान् के विचित्र वेश में आगंतुकता विवक्षित है। वैसे तो परमानन्द रसामृतमूर्ति सदा ही भगवान् हैं, मगर आज इच्छया परम मधुर वेश धारण किये हैं। यही कहा है—नटवरवपुः। नरवपु होने से ममता, निर्भर अनुराग अत्यन्त निःसंकोच भाव होता है, अन्यथा चतुर्भुजत्व में ऐश्वर्याभिव्यक्ति होगी, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमता पदे-पदे

व्यक्त होगी, जिससे संकोच होने के कारण भगवान् से प्रेम में स्वाभाविकता न आ सकेगी। प्रेम में स्वाभाविकता का होना ही उसका उत्कर्ष है। ईश्वर में अनुराग का विधान किया जाता है, भगवान् में भक्ति की विधि बतलायी जाती है। "**विधिरत्यन्तमप्राप्तौ**' अत्यन्त अप्राप्तिमें ही विधि होती है, जैसे—'**अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।**' यहाँ अग्निहोत्र में स्वाभाविक प्रीति नहीं, वैसे ही भगवान् में प्रीति स्वाभाविक नहीं, इसलिये विधि होती है, "**तस्मात् भारत सर्वात्मन् भगवान् हरिरीश्वरः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च**" इत्यादि, अभय कामनावाला प्राणी भगवान् में भक्ति करे। इस तरह विधि जहाँ है तहाँ उसकी अप्राप्ति समझी जाती है, एवं प्राणि-स्वभाव ऐसा है कि जहाँ विधि तहाँ प्रेम कम। जैसा माता-पिता में पुत्र का प्रेम तब तक, जब तक स्त्री नहीं; स्त्री में प्रीति, माता-पिता में नहीं; माता-पिताकी प्रीति में पुण्य कहा है। '**मातृदेवो भव पितृदेवो भव**' इत्यादि वाक्यों से विधान किया है। इतना ही नहीं, मातृ-पितृ-प्रीति न रहने पर हानि भी बतलायी गयी है, तात्पर्य, देवता-प्रीति से माता आदि में प्रीति अधिक सम्भव है। मातृ-पितृ-प्रीति से देवता प्रीति कठिन है, माता जैसा प्रेम अगर भगवान् में हो तो क्या पूछना है, मगर न होने से ही भगवान् में प्रीति का विधान किया गया। भगवान् की अपेक्षा मातृप्रीति स्वाभाविक है, आगे चलकर मातृप्रीति से भी स्त्रीप्रीति स्वाभाविक है। इसीलिये यहाँ पर "**मातृदेवो भव**" इत्यादि से मातृप्रीति का विधान किया गया है। आगे बढ़कर '**स्वदाररति**' की विधि बतलायी गयी है, इसलिये कि अपनी स्त्री पर प्रीति की अपेक्षा उच्छृङ्खल मनोवृत्तिवालों को कुलटा में, वेश्याओं में प्रीति अधिक होती है, इसी स्वाभाविकता में शास्त्रों ने लगाम लगायी। प्राणी स्वभाव से ही कामचार होता है। जो जल बहा जा रहा है उसे रोकने के लिये ही बाँध बाँधा जाता है। यही अर्थ श्रुति-सेतु का है। विधान-निषेध यह बंध है, वह प्राणी की उच्छृङ्खलता, स्वाभाविकता को नियन्त्रित करने के लिये है, किन्तु जैसे बहते जल को रोकने का प्रयत्न करो, तब वह तोड़ मारता है, वैसे ही स्वाभाविक प्रीति को रोकने से वह अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है। संसार में यह दोष होने से सर्वथा हेय है, परन्तु जो संसार में दोष, वही भगवान् में गुण है। अर्थात् भगवान् के सम्बन्ध से गुण भी दोष हो जाते हैं, जो भगवान् अनन्त-कोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वान्तरात्मा, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् निरुपाधिक परप्रेमास्पद हैं, उनमें पुराण, शास्त्र, वेद कहते हैं कि अपनी मनोवृत्तियाँ सांसारिक तुच्छ वस्तुओं से विमुख होकर भगवान् की ओर प्रवाहित हो उठें, इसीमें पूर्ण कृतकृत्यता है, लेकिन वह बड़ा कठिन है। कुछ बड़े-बड़े योगी अमलात्मा परमहंस मुनीन्द्र यतीन्द्र योगी समाधि आदि से वैसा करने में समर्थ होते हैं। मगर यहाँ तो वैसी परिस्थिति नहीं है, यहाँ तो ऐसा हो जाय कि वही सच्चिद्घन पूर्णतम पुरुषोत्तम सर्वान्तरात्मा भगवान् स्वाभाविक

परप्रेमास्पद हो जायँ। जैसे किसी कामिनी को प्रियतम प्रेष्ठतम प्राणेश्वर के उत्कट सम्मिलन की उत्कंठा हो, वैसी स्वाभाविकी उत्कट उत्कंठा भगवान् में हो जाय। जो कोई रोकने को उपस्थित हो उसे तोड़ मारे, वह स्थिति यहाँ आयी, श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन मनमोहन नटवरवपु हैं तो सामान्य जनों को अलौकिक में प्रीति नहीं। पर लौकिक में प्रीति हो तो उससे नरक हो। प्रीतिमात्र तो विवक्षित है नहीं, उससे मतलब नहीं, नहीं तो सारा संसार किसी न किसी में प्रीति होने के कारण मुक्त हो जाय। नहीं, प्रीति हो अलौकिक में! भगवान् हैं तो अलौकिक, किन्तु बनेंगे नर, 'नटवरवपुः', अति अद्‌भुत विचित्र वेशधारी, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक की अलौकिकता कहीं प्रकट हो जाय तो काम बिगड़ जाय। इसलिये अलौकिकता को छिपाकर लौकिक स्वरूप में प्रगट होना पड़ता है, जिससे लोगों की प्रीति में स्वाभाविकता हो। इसीलिये 'बबन्ध प्राकृतं यथा' जैसे प्राकृत को बाँधते हैं, वैसे यशोदा अपने लाला को बाँध लेती है। 'प्राकृतं यथा' —हैं तो अप्राकृत, पर बाँध लेती है प्राकृत जैसे। कहा ही है—

"ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावें।"

यही अलौकिक में लौकिकता-व्यक्त है, कुन्ती माता कहती है—

"गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद्या ते दशाश्रुकलिलांजनसंभ्रताक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥"

हे नाथ! आपकी वह लीला व्यामोह-सिन्धु में उन्मज्जन-निमज्जन कराती है—

"तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्वरस्ततोऽवरुह्यापससार भीतवत्।
गोप्यन्वधावन्न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः॥"

नवनीत-भांडों को फोड़कर उलूखल पर विराजमान श्यामसुन्दर नवनीत को अपने मुख में छोड़ते, अपने ग्वालबालों के मुख में छोड़ते, रामावतार के साथी बंदरों के मुख में देते हैं तथा लौट-लौटकर देखते हैं कि कहीं मैया तो नहीं आती। इतने में देखा तो मैया आयी, प्राङ्गण में भागते लाला को देखकर, अम्बा छड़ी लेकर दौड़ी, अम्बा को देख प्रभु भी भयभीत होकर उलूखल से कूदकर भागे। यशोदा मैया व्रजरानी भी पीछा करने लगी, किसका? **"न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः।"** जिसको अमलात्मा परमहंस यतीन्द्रों का निर्मल चित्त पकड़ने में समर्थ न हुआ उसी पूर्णतम पुरुषोत्तम अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक निखिलरसामृतमूर्ति प्रभु को नंदगेहिनी 'लाला आज तो तुझे बना दूँगी' कहकर पकड़ना चाहती है। किसी तरह प्रभु पकड़ में आयें। यशोदा कहती, 'लाला तू बड़ा लंगर हो गया है, मैं आज तेरा सब लंगरपन भुला दूँगी।' कुन्ती कहती, नाथ! इतना कहकर जब यशोदा मैया ने रज्जु ली तब तो आपकी विचित्र दशा हुई। आपके नील-कमल-कोशसमान कपोल पर अंजनमिश्रित अश्रुबिंदु बड़े ही सुशोभित मालूम पड़े, सिर नीचा किया हुआ, आँखें डबडबाई हुईं; अंजनमिश्रित अश्रु कपोलों पर ऐसे

शोभित होते हैं जैसे नील कमल के कोशों पर मोती विराजमान हों। क्या शोभा कही जाय ! आप डर रहे हैं। भयभीत होकर अपने मुखारविन्द को नीचा किये रोते हैं, जिनके डर से डर भी डरे, जो कालकाल महाकालेश्वर महामृत्युञ्जय—

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥"

सकल प्रपञ्च को मृत्युरूप दाल-शाक के साथ मिलाकर जो खा जाय, वह व्रजगेहिनी की छड़ी से डरे। यह सब भाव जब अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता प्रकट होती, तब न रहता। एक जगह कहा है, "मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्"–भगवान् भक्तों को मुक्ति दे देते हैं, भक्ति जल्दी नहीं देते, क्योंकि भगवान् को भक्ति के भावबन्धन में बँधकर परतन्त्र हो जाना पड़ता है, यहाँ स्वाभाविक प्रेम है। इसी कारण वृन्दारण्य में ग्वालबालों को, व्रजांगनाओं को विष्णु-शिव तत्वात्मक परमात्मा में वैसी प्रीति न होती, वैसी उत्कण्ठा न होती, जैसी "नटनरवपु" भगवान् में।

कहीं एक ऐसी कथा सुनी है—भगवान् जब व्रज से मथुरा में गये, तब गोपाङ्गना विरहिणी होकर विलाप करने लगीं। किसीने कहा—'मथुरा बहुत दूर थोड़ी है, तुम वहीं जाकर प्रभु से मिल आओ'। व्रजाङ्गनाओं ने ऐसा विलाप किया कि उनके अश्रुसागर में जग डूब जाय, लोगों ने बहुत कुछ कहा-सुना तो वहाँ पर सब गयीं, भगवान् को द्वारपाल के खबर देते ही प्रभु ने कहा 'आने दो'। व्रजांगनाएँ भीतर गयीं और श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द का ऐश्वर्य देखा, देखते ही चट सबने घूँघट काढ़ा, कहने लगीं, 'यह तो हमारे मनमोहन नहीं हैं; मुरलीमनोहर काली कमलीवाले नन्दलाल हमारे सर्वस्व हैं।' एक बार की ऐसी कथा है कि कोई वासंतिक रासोत्सव था। उसमें श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन भगवान् रासविलास कर रहे थे, इतने में भगवान् एक लता की आड़ में छिप गये, तब गोपाङ्गनाएँ भगवान् को खोजतीं पूछतीं डोल रही थीं। दैवात् वहाँ पहुँचीं जहाँ भगवान् छिपे थे। इनको देखते ही प्रभु ने चतुर्भुज रूप धारण किया, जब चतुर्भुज भगवान् को देखा तो भक्ति से उनको केवल प्रणाम कर कहा—'भगवन् ! आप हमारे श्यामसुन्दर व्रजलाल से भेंट करा दो, उनसे हमें मिला दो।' भगवान् ने 'तथास्तु' कहा। वह चतुर्भुज से बिलकुल न खिचीं, यही बात 'नटवरवपुः' में है। द्विभुज मोहन मुरलीधर में जो प्रीति है, वह अन्यत्र नहीं। चतुर्भुजत्वादि भगवान् का ऐश्वर्यभाव है। उसका प्रभाव माधुर्य भाव के प्राकट्य में नहीं। इतना ही क्यों, जैसा सूर्य के सामने चन्द्रमा का प्रकाश नहीं, वैसा ही माधुर्य भाव के विकास में, माधुर्य भाव के प्राखर्य में ऐश्वर्य भाव का प्रकाश नहीं, श्रीवृषभानुनंदिनी में माधुर्य भाव का पूर्ण प्रकाश है।

अस्तु, यहाँ जैसे कहा जा चुका है कि हो अलौकिक ही, पर प्रीति उसमें लौकिक दृष्टि से हो, अलौकिकता उसकी छिपी हो, भगवान ने व्रज में तो बहुत

ही साजात्य प्रकट किया। पहिले नरत्वेन, पीछे गोपत्वेन, सगे-संबंधी रूप से। 'विष्णु-पुराण' में कथा है—जब भगवान् ने गोवर्धन को उठाया तब वह अद्भुत प्रभाव देख-कर सब समझ गये कि यह गोप नहीं, गोपवेशधारी ईश्वर हैं। भगवान् समझे यह हमसे संदेह करते हैं। बस प्रभु रोने लगे, गोपालों ने देखा कन्हैया रो रहा है तो सब मनाने लगे कि 'क्यों रोते हो लाला ?' तब प्रभु ने कहा 'इसलिए कि तुम हमें अपना नहीं समझते, अजनबी समझते हो।' प्रीति में अलौकिकता बिलकुल प्रकट न हो, संदेह यत्किंचित् न हो।

एक समय जब भगवान् ने मिट्टी खायी तब बलदाऊ ने अम्बा से आकर कहा कि कन्हैया ने मिट्टी खायी। सुनकर वह चली मारने को और प्रभु को पकड़कर कहा, 'लाला, तूने मिट्टी क्यों खायी ?' तो प्रभु ने डरकर कहा, 'नाहं भक्षित-वानम्ब'—मैया मैंने मिट्टी नहीं खायी। यह ऐश्वर्य दिखलाने के लिये नहीं, किंतु प्राकृत शिशु के समान अम्बा से डरकर। तब अम्बा कहती है—'सब यही कहते हैं'। प्रभु ने कहा, 'सब झूठ हैं', मैया बोली 'बलराम भी तो कह रहे हैं।' भगवान् ने कहा, 'आज ग्वालबालों ने दाऊ को मिला लिया है, इसीलिये वह भी झूठ बोल गये, अगर विश्वास न हो तो मुँह देख ले।' भाव यह कि मुँह दिखाने को तैयार हो जाने से अम्बा समझ लेगी कि मिट्टी नहीं खायी है, अगर मिट्टी खायी होती तो मुँह दिखाने के लिये तैयार न होता, एक झूठ छिपाने के लिये दुगुनी-तिगुनी झूठ बोलनी पड़ती है। पर अम्बा भी बड़ी जबर। उसने कहा 'मुँह खोल देखूँ तो सही' सुनकर भगवान् ने मुँह खोल दिया। खोल क्या दिया, भावुक कहते हैं कि मातृकोपसूर्यरश्मि से प्रभु-मुखकमल खिल गया। जब खिला तो भीतर ब्रह्मांड ! यह कैसा हुआ ? इसका कारण यह कि भगवान् की ऐश्वर्याधिष्ठात्री महामाया प्रभु के पीछे-पीछे सेवा का अवसर ढूँढ़ती हुई घूम रही थी।

माया कहती, 'भगवन् ! लोक आपको बड़ा तंग करते हैं, यह मुझसे नहीं सहा जाता।' प्रभु ने कहा 'तू चुपचाप रहकर तमाशा देख, कुछ करने के फेर में न पड़', तथापि उसे न मानती हुई जब माँ मुँह में मिट्टी देखने लगी तो ऐश्वर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति ने सोचा कि अगर माँ मिट्टी को देख लेगी तो तेरे प्रभु को पीटेगी, यह मेरे होते ठीक नहीं। इसीलिये उस ऐश्वर्याधिष्ठात्री शक्ति ने मुंह में ब्रह्मांड दिखाया। मैया के हाथ की छड़ी गिर गयी। भगवान् ने सोचा, यह मामला बिगड़ रहा है। झट **'व्यतनोद् वैष्णवीं मायां'**, यशोदा मैया आँख खोलकर देखते ही समझ गयी कि मेरे लाला को कुछ अलाय-बलाय है, तब उसके निवारण के लिए थूः थूः करने लगी। भगवान् माया को कहते हैं—'ले, तूने मुझे बचाया क्या, थू थू करा दिया।' अस्तु, यह सब भाव नटनरवपु में ही संभव है। कहा है—**"मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जः"** ॥

इस तरह आगे 'विभ्रत्' है। क्यों ? **"एवं नटवरस्येव वपुः नटवरवपुः तादृशं विभ्रत्।"** पहले कहा गया कि भगवान् रसात्मा हैं, तो भी रस अमूर्त होने के कारण

चल-फिर नहीं सकता, परम तत्व भी चलता-फिरता नहीं, उद्बुद्ध उभयविध संप्रयोग विप्रयोग शृङ्गार रसात्मा एक अमूर्त पदार्थ है, रस वस्तु हृदयस्थ है, केवल अमूर्तरस वेणु न बजाता, न चलता, न फिरता, वह तो केवल वृषभानुनन्दिनी के हृदय में है, इसीसे कहा—'बिभ्रत्'। अमूर्तरस यहाँ मूर्त बना, इसलिये कि भावुक उसे सर्वेन्द्रिय-ग्राह्यरूप से ले सकें। अमूर्तरस तो मनोग्राह्यमात्र है, वेदान्त में परम वस्तु का आस्वाद मनोग्राह्य ही कहा है—"बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्", "स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते" अतः कहा उसमें सर्वेन्द्रियग्राह्यता नहीं, भावुकों को तो मनोग्राह्यतामात्र से संतोष नहीं, किन्तु सर्वेन्द्रियों में, अन्तरात्मा में, अन्तःकरण में, प्राण में, रोम-रोम में उसका अनुभव हो, इन्हीं भावुकों की इच्छापूर्ति के लिये 'बिभ्रत्'। अमूर्तउद्बुद्ध उभयविध संप्रयोग विप्रयोगात्मक शृंगाररस मूर्त श्रीकृष्णचन्द्रपरमानंदकंद के रूप में मूर्त होकर देखा जाय, जैसा रस का ही परिणाम शर्करादि जैसे रस का ही निर्यास—गोंद, वैसे ही परमानंद रस का निर्यास भगवान्, गोंद रस का ही घनीभाव होता है—आगे इसकी अभिव्यक्ति में बड़ी ऊँचाई रक्खी है। यह मूर्त कैसे बना ?

"अनाघ्रातं भृङ्गैरनपहृतसौगन्ध्यमनिलैः।
अनुत्पन्नं नीरेस्वनुपहतमूर्मीकणभरैः॥
अदृष्टं केनापि क्वचन च चिदानन्दसरसो।
यशोदायाः क्रोड़े कुवलयमिवौजस्तदभवत्॥"

नटवरवपुः बिभ्रत्—से कहा गया कि उद्बुद्ध उभयविध संप्रयोग विप्रयोग शृङ्गाररस स्वयं अमूर्त होने से उसका गमनागमन न हो सकता—अतः "बिभ्रत्"। है तो अमूर्त ही, पर भक्तानुग्रहविशेषात् उसीने नटवरवपु धारण किया, अमूर्तरस मूर्तरूप में प्रकट हुआ, भक्त कहते हैं, वेदांतियों का ब्रह्म केवल मनोग्राह्य, बुद्धिग्राह्य है, सर्वेन्द्रियग्राह्य नहीं, पर वे तो चाहते हैं निखिलरसामृतमूर्ति भगवान् को सर्वेन्द्रिय-ग्राह्य बनाना, सर्व इन्द्रियाँ मन-बुद्धि की ईर्ष्या करती हैं, उनको पूर्णतम पुरुषोत्तम का आस्वादन करते देख नेत्र, श्रोत्र, सर्व ही लालायित हो जाते हैं और क्या रोम-रोम अपने प्रियतम प्राणधन के संश्लेष के लिये उत्कंठित होता है, व्याकुल हो उठता है। भगवान् का संमिलन कौन न चाहेंगे ? कहते हैं–'पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्'। स्वयंभू ने इंद्रियों को बहिर्मुख रचा। 'व्यतृणत्' में तृहु धातु हिंसार्थक है। स्वयंभू ने इंद्रियों को बनाया अर्थ में व्यरचयत् कहते हैं, हिंसितवान् क्यों ? तो उसने उन्हें बहिर्मुख बनाकर मार डाला, उनको सर्व प्राणियों के परमप्रेमास्पद भगवान् के रसास्वाद से वंचित किया। 'प्रिय बियोग सम दुख जग नाहीं', 'लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः' लोक में ऐसा कोई नहीं है जो प्राणेश्वर का वियोग सहन करे, जो इन्द्रियों को बहिर्मुख न बनाया होता तो अंतरात्मा का आस्वादन करते। इसलिये स्पष्ट है कि सर्व इन्द्रियाँ भगवत्तत्त्व के अनुभव बिना, भगवद्दर्शन

बिना, भगवान् के स्वरूपरस के आस्वादन बिना, भगवान् के मंगलमय श्रीअंग के संस्पर्श बिना, अपने को अकृतार्थ हतभाग्य समझती हैं, वह अपना हिंसन समझती हैं, जैसे मति ब्रह्माकार होकर रस का आस्वादन करती है, वैसे हम भी करें। यह भाव आगे **'अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः'** इत्यादिमें और स्पष्ट होगा। वाल्मीकि ने लिखा है—

"यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते॥"

जिसने राम को स्नेहभरी दृष्टि से नहीं देखा, और जिसे राम ने कृपादृष्टि से नहीं देखा, वह सर्वलोक में निन्दित है, उसकी अन्तरात्मा भी उसकी विगर्हा करती है। इसी प्रकार सर्व इन्द्रियों की निरर्थकता है कि जिनका भगवान् में उपयोग न हुआ हो, इसीलिये भक्तगण इतने ही में संतुष्ट नहीं कि वह उद्‌बुद्ध उभयविध संप्रयोग विप्रयोगात्मक श्रृङ्गाररसात्मक श्रृङ्गाररसात्मा भगवान् केवल बुद्धिग्राह्य हो, वह तो उसका रोम-रोम से, सर्वेन्द्रियों से संस्पर्श अवगाहन चाहते हैं—अतः उनके मनोवासनानुसार उद्‌बुद्ध उभयविध श्रृङ्गाररसात्मक तत्व ने सर्वेन्द्रियग्राह्य होने के लिये सर्व भाव से समास्वादन करा देने के लिये नटवरवपु होकर वृन्दारण्य में प्रवेश किया।

'बिभ्रत्'—'डुभृञ् धारणपोषणयोः'। इसके धारण-पोषण दोनों अर्थ हैं कि उद्‌बुद्ध उभयविध श्रृङ्गाररसात्मक भगवान् वेणुवादन करते हुए जो वृन्दारण्य में पधारते हैं, वह कौन? तो श्रीवृषभानुनंदिनी के हृदय की वस्तु, भावुकों के हृदय की वस्तु, यानी भावुकों का भाव ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद के रूप में प्रगट हुआ, एवं च भगवान् भक्त मनोभावनामय हैं।

'स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य', 'स्व-स्वीया तेषां इच्छा स्वेच्छा, तन्मयः नतु भूतमयः।'

यह वपु भूतमय, मायामय, प्रकृतिमय नहीं किंतु भावुकों के प्रीतिमय, इच्छामय है, उद्‌बुद्ध उभयविध श्रृंगाररसात्मक स्वरूप कहा था तो श्रीवृषभानुनंदिनी के अंतःकरण में, श्री व्रजांगनाओं के अन्तःकरण में। नायकविषयक श्रृंगार नायिका के ही अंतःकरण में (हृदय में) उद्‌बुद्ध होता है। यह अमूर्त रस श्रीवृषभानुनंदिनी के हृदय की वस्तु मूर्त होकर श्रीवृंदारण्य धाम में कैसे? तो सर्वेन्द्रिय ग्राह्य होने के लिये। उद्‌बुद्ध उभयविध श्रृंगाररसात्मा यदि हृदयस्थ वस्तु फिर सर्वेन्द्रिय ग्राह्य नहीं, पर वही हृदयस्थ वस्तु वृंदारण्यधामस्थ हुई। हृदयस्थ ही पहले कैसे? तो शुरू से ही उसका धारण-पोषण श्रीकृष्णचंद्र परमानंदकंद ने ही किया, **'आशाभृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र'**। व्रजांगना कहती है—'हे श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनंदन, आपके सम्मिलन की आशा को शुरू से ही धारण किया, पोषण किया, उस आशा-कल्पलता का बीज व्रजांगनाओं के स्निग्ध हृदय-क्षेत्र में आरोपण किया, रूखड़ पथरीले बालुकामय क्षेत्र में यह आशा कल्पलता अंकुरित न होगी, अर्थात् भगवत्सम्मिलन

की आशाकल्पलता हृदय में बोयी जाय, वह अंकुरित हो, पुष्पित-फलित हो।' प्रत्याशित वस्तु का सम्मिलन ही उसकी सफलता—यह भगवत् कृपा से भावुक हृदय में प्रकट होती है। व्रजांगनाओं के हृदय में भगवत्सम्मिलन की आशा को भी उन्होंने ही बोया, पोषण किया, इस इक्कीसवें अध्याय में वह पुष्पित हो गयी, उसी फूल की सुगंधि वेणुगीत द्वारा निकलेगी। भाव यह कि श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनंदन श्रीकृष्णचंद्र ने ही श्रीवृषभानुनंदिनी के, श्रीव्रजांगनाओं के हृदय में स्वसम्मिलन की उत्कण्ठा को, आशा को बोया और वही शृंगाररस का स्वरूप है। जब कभी वह आशा कल्पलताङ्कुर मुर्झाने लगता है तो व्रजांगना अपने अश्रुबिन्दु से उसे सींचना चाहती हैं, जब कि श्रीकृष्णचंद्र परमानंदकंद के वियोगानलरूप वाडवाग्नि से वह दग्ध होने लगता है तब वही श्रीकृष्णचरणारविन्द-परागरूप कज्जल को आँखों में लगाती हैं, श्रीकृष्णपादपंकजपराग से यह अग्नि प्रशान्त होती है। इस शृङ्गार रस का धारण-पोषण श्रीकृष्णचंद्र ने ही किया, यहाँ पर भी हृदयस्थ उद्बुद्ध उभयविध संप्रयोग विप्रयोगात्मक शृङ्गाररस को मूर्त होने के लिये धारण और पोषण किया।

अब भूषण का वर्णन—बर्हापीड— बर्हमय आपीड, वैजयन्ती, कर्णिकार, पीताम्बर यह सब भूषण है, स्वरूप केवल 'नटवरवपु' यदि नटवत् वरवत् वपु का ऊपरला अर्थ करें तो शोभा और भूषण आ जाता है, नट ही विचित्र वेश-वसन से अपने को सजाता है, अर्थात् वैसा अर्थ लेने से वैसे वपु का बोधन है, किन्तु इसके अलावा नटपद से वरपद से विप्रयोग संप्रयोगात्मक शृंगार कहा गया तो भगवान् का उद्बुद्ध उभयविध शृङ्गारात्मक रसस्वरूप आता है। भगवान् के तीन शृङ्गार हैं, 'भूषिता अप्यभूषयन्।' श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकंद जब गोपाल बलराम के साथ माता के भवन से निकलने के पहले ही माता उबटन लगाकर अभ्यंग करने के बाद नानाविध विचित्र दिव्य अलंकारों से भूषित करके गोचारण के लिये वृन्दारण्य में भेजती, फिर वन में आकर जब ग्वालबाल वन की सामग्रियों से भूषित, कर्णिकार से आभूषित करते, गुञ्जा की परमसुन्दर माला पहनाते हैं, उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररस का यह निर्यास रूप, आनंद-सुधासिन्धु का मंथन कर यह अद्भुत सारतम तत्व विनिःसृत हुआ, पूर्णानुराग रससार सिन्धु से प्रभु के सर्वाङ्ग का निर्माण हुआ, जब स्वरूप के प्रादुर्भाव होने पर उबटन, अभ्यंग, अनुलेपन, स्नान वगैरह। पहले उद्वर्तन। आनन्दवृंदावन चम्पू में लिखा है कि 'उद्वर्त्तितमिव सौरभ्येण' अन्यों को सौरभ्य के लिये उबटन, यहाँ भगवान् के स्वरूप को तो सौरभ्य से ही उबटन, अनंतकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत जो सौरभसारसर्वस्व वही आपके लिये उबटन 'अभ्यक्तमिव स्नेहेन' अन्यत्र लोगों में स्नान से मधुरिमा व्यक्त की जाती है, यहाँ तो भगवद्विषयक भावुकों के स्नेह से भगवान् के श्रीअङ्ग का अभ्यङ्ग हुआ। अनन्तब्रह्माण्डगत माधुर्यबिन्दु के उद्गमस्थान माधुर्यसिन्धु के सार से आपको स्नान कराया गया, श्रीकृष्णचंद्र

की मंगलमयी मूर्ति का स्नान माधुर्यामृतसारसर्वस्व से, 'मार्जितमिव लावण्येन' मुक्ताफल मध्य की चमक को लावण्य कहते हैं, उस लावण्यसारसर्वस्व से ही मार्जन। अब अनुलेपन 'अनुलिप्तमिव सौन्दर्येण' अन्यत्र अनुलेपन से सौन्दर्य, यहाँ सौन्दर्यसार सर्वस्व से ही अनुलेपन। 'भूषितमिव त्रैलोक्यलक्ष्म्या' अनंतकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत लक्ष्मी से ही आप भूषित हैं, यह स्वाभाविक श्रृंगार। नंदरानी से किया हुआ श्रृंगार, उसके बाद ग्वालबालों द्वारा वन में किया हुआ श्रृंगार वही 'बर्हापीडं'।

'बिभ्रत्'-- बर्हमय आपीड को धारण किये हुए, आपीड शिरोभूषण मयूर पिच्छ से निर्मित अद्भुत मुकुट को धारण किये हुए। नाचते हुए मयूर से ही जो मयूर पिच्छ निःसृत होता है उसे बर्ह कहते हैं, उसीसे यह बना, मयूर को जब आनंदोल्लास होता है तब वह नृत्य करता है। घन गर्जन से मेघश्याम की अद्भुत घटा का निरीक्षण करते मंद-मंद गर्जन से रसोल्लास रसोद्बोधन के साथ जब वह नृत्य करता है तभी वह पिच्छ गिरता है, उसको धारण कर उद्बुद्ध उभयविध श्रृङ्गार रस को और उद्बोधित किया, यह उद्दीपन कोटि में आ गया, उसको अपने भूषण में धारण कर भगवान् ने रसोल्लास व्यक्त किया, यहाँ जितनी-जितनी उद्बुद्ध उभयविध श्रृङ्गाररसात्मा में रस की अभिव्यक्ति होगी उतना ही भावुकों में रसोल्लास होगा। जब भक्त यह जानते हैं कि भगवान् मिलने के लिये उत्कण्ठित हैं तब तो उनके उत्कण्ठा का पारावार नहीं रह जाता, इसीको और बढ़ाने के लिये भगवान् ने पिच्छ धारण किया। **''राधाप्रियमयूरस्य पत्रं राधेक्षणप्रभम्।''** जिस मयूर के चन्द्रक को भगवान् ने आभूषण बनाया वह श्रीवृषभानुनंदिनी के निकुञ्ज का है, श्रीकृष्ण परमानंदकंद के श्रीअंग के समान उस मयूर के कण्ठ की श्यामलता थी इसीलिये श्रीकृष्णचन्द्र का स्मारक होने के कारण, श्रीवृषभानुनन्दिनी उस मयूर को अपने पास रखती हैं, और उसीका पिच्छ भगवान् धारण करते हैं। इस पिच्छ का चंद्रक श्रीवृषभानुनंदिनी के नयन के समान है, इसलिये भगवान् ने वह भूषण शिरोधार्य किया, भक्त की संबंधित वस्तु को भगवान् अपना शिरोभूषण बनाते हैं। अथवा यह कि श्रीराधा के शीर्षजूट जूड़ा के सदृश यह पिच्छ अतः यह राधा के अलंकार जूट के सदृश होने के कारण भगवान् ने अपना भूषण बनाया। साथ ही अगले प्रसंग में तीन भाव दिखाये हैं, अत्यंत सरस नूतन अरुणवर्ण का आम्रपल्लव होने से उसको भी प्रभु ने अपने भूषण में धारण किया, उसकी अरुणिमा से राग दिखाया, यह उद्बुद्ध उभयविध श्रृंगाररसात्मक स्वरूप अङ्गी है, और सब अङ्ग हैं, तो उससे इस स्वरूप में रजःकृत एक रागजन्य विक्षेप सूचित किया, और पिच्छ की जो श्यामलता है उससे लिलक्षयिषित तम से गाढ़ आसक्ति दिखायी, सरस अरुण पल्लव से राग दिखाया। रस में यह सब राग हो रहा है, वैसे तो राग में रस है, यहाँ तो उद्बुद्ध उभयविध श्रृंगाररसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द में राग

आसक्ति व्यसन हो रहा है, तात्पर्य यह कि भक्त, रसस्वरूप श्री भगवान् में राग आसक्ति व्यसन प्राप्त करना चाहते हैं, अर्थात् जहाँ उस तरह का राग आसक्ति व्यसन भक्त करता है, वैसे ही आगे श्री भगवान् भक्त में राग आसक्ति व्यसन करते हैं, जैसे श्रीवृषभानुनंदिनी का, व्रजांगनाओं का श्रीकृष्ण-परमानन्दकन्द मनमोहन श्यामसुन्दर में राग आसक्ति व्यसन वैसे ही श्री भगवान् का श्रीवृषभानुनन्दिनी में, व्रजाङ्गनाओं में राग आसक्ति व्यसन। पहिले भक्त का भगवान् में, फिर भगवान् का भक्त में, जैसे बताया वृषभानुनंदिनी के हृदय की वस्तु श्रीकृष्णचन्द्र, वैसे ही श्रीश्यामसुन्दर के हृदय की वस्तु वृषभानुनंदिनी। कहा जा चुका है कि यह लौकिकवत् प्राकृतवत् व्यक्त हो मगर है वह अलौकिक। रस रसालम्बन रसाश्रय तीन-तीन जाति के होते हैं, यहाँ एक ही है। परमरसामृत सिन्धु के ये तीन विकास हैं। श्रीकृष्णचन्द्र और वृषभानुनन्दिनी परस्पर के हृदय हैं, जैसे श्रीकृष्णचन्द्र के स्वरूप से श्रीवृषभानुनन्दिनी का हृदयगत उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररस मूर्त हुआ, वैसे श्रीवृषभानुनन्दिनी के स्वरूप से श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का हृदयगत उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररस मूर्त हुआ, अतः दोनों उभयात्मक हैं, इस दृष्टि से दोनों ओर इस स्वरूप में रसाभिव्यक्ति हुई, जैसे वीर रस में वीर रस का, करुण रस में करुण रस का संचार वैसे उभयविध शृंगाररसात्मा में रसाभिव्यक्ति, यही कहा **'बर्हापीडं नटवरवपुः।'**

अब 'बिभ्रत्' बर्हापीड से अलग, **'कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रत्'** कानों में कनेल के फूलों को धारण किये। 'कर्णयोः' द्विवचन, 'कर्णिकारं' एकवचन अतः उसमें भी द्वित्व की कल्पना कोई करते हैं, अथवा कभी वाम में, कभी दक्षिण में। एतावता रसवैदग्धी विशेष कहा। इसमें भावुक कहते हैं, भगवान् के दो कर्ण रस के उद्भावक हैं, कानों में रसानुभावक रसोद्बोधक पुष्प धारण करने से रस को उद्वेलित किया। किंवा द्विविध शृंगार के अनुभावक दोनों कर्ण। संप्रयोग काल में हास-रास-विलास मिश्रित वचनों से उस रस की पुष्टि विप्रयोग काल में भी वेणुदूत द्वारा जब भक्तों को भगवान् आहूत करते हैं तब श्रोत्रों का ही काम है, अथवा एकान्त में भक्त जब भगवान् का चिन्तन करते हैं **'तच्चिन्तनं तत्कथनं'** उससे भावनापरिपाक की महिमा से इन श्रोत्रों द्वारा ही दूरस्थ व्रजाङ्गनाओं के आर्तिविलाप भगवान् को अनुभूत होते हैं, एवञ्च इसमें मुख्य जो कान उनको भूषित किया। अर्थात् कभी संप्रयोग शृंगार का पोषण, कभी विप्रयोग शृंगार का पोषण भगवान् ने किया। और लोग कहते हैं कर्णिकार याने कनेल नहीं, पीतवर्ण का उत्पलाकार पुष्प, उसका स्वभाव है सूर्याभिमुख रहना, जिधर सूर्य जाय उधर ही वह जाय, कर्णिकार पुष्प के इस स्वभाव को जानकर उसको आपने धारण किया। भगवान् सूचित करते हैं कि हमारे प्रेमी जिधर मुँह करते हैं वैसे मैं भी उन्हें अभिमुख होता हूँ, एतावता जिधर भक्तगण उधर ही उभयविध शृंगाररस उन्मुख, इसीलिये उनको धारण कर यही दिखलाया।

'बिभ्रद्वासः कनककपिशं'—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द कनकवर्ण पीताम्बर धारण किये हुए पधारे। यह इसलिये कि रस आवृत रहे। उद्बुद्ध उभयविध श्रृंगाररस ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द हैं, वह रस अगर निवारण हो जाय तो रसाभास हो जायगा, निरावरणरस रसाभास कहा जाता है, इसलिये उसे आवृत रखना चाहिये। यह रस उच्छलित रस है, उद्बोधित रस है, श्रृंगाररस स्वरूप श्रीकृष्णचंद्र भगवान् ने मयूर पिच्छमय मुकुट को धारण कर सूचित किया, रसोल्लास में ही मयूर का चन्द्रक गिरता है, इसीलिये उसका धारण रसोल्लास का लक्षण है, ऐसा उद्बुद्ध उभयविध श्रृंगाररस यदि आवृत न हो तो रसाभास हो जाय, अतः **'कनककपिशं वासो बिभ्रत्'** रस आवृत रहने से ही रस है, वैसे भी उत्कंठा विशेष बढ़ाने के लिये रस आवृत ही रहना चाहिये। श्रीवृन्दारण्यधाम में श्रीबिहारीजी के मंदिर में बार-बार क्षण-क्षण पर परदा होता है, क्योंकि ऐसे ही में उत्कंठा बनी रहती है, निरावरण निर्विघ्न रस में उत्कंठा की कमी होती है, वास्तव में रस तो आस्वादन से घटता नहीं, फिर भी लौकिक रीति से अलौकिक रस का आस्वादन प्रभु दे रहे हैं। अति सुन्दरी परम रमणीया नायिका भी मुखचन्द्र पर घूंघट रखती है, अतः उद्बुद्ध उभयविध श्रृंगारात्मा भगवान् कनक कपिश पीताम्बर से अपने को आवृत किये। अर्थात् भक्तों को श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के मिलने में जो रुकावट आवरण है वह माया है, माया ही निरावरणरूप से प्रभु को देखने नहीं देती। वैसे ही गोपाङ्गनाओं को निरावरण उद्बुद्ध उभयविध श्रृंगाररसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के दर्शन में बाधक पीताम्बर है। श्री वल्लभाचार्य भी पीताम्बर को माया ही मानते हैं। भगवान् भी कहते हैं, **'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः'** इसीलिये सबको भगवत्तत्व का अनुभव नहीं होता, अगर हो तो वह केवल भगवत्कृपा से ही। केवल पीताम्बर वस्त्र नहीं किन्तु तप्तकांचन के सदृश सुवर्णवर्णाम्बर क्यों? सुवर्ण मोहक है, बड़े-बड़े ईमानदारों का ईमान डुबानेवाला सुवर्ण ही होता है। अतः सुवर्णवर्ण पीताम्बर व्यामोहक कनकतुल्या माया। जो इस कनक के व्यामोह को उल्लंघन करे, वही उस आवरण से आवृत ब्रह्म को देख सकता है। यदि कनक के आवरण में फँसा तो रसात्मा ब्रह्म को क्या देखेगा!

"वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च।
तासु तेष्वप्यदासक्तः साक्षात् भर्गो नराकृतिः॥"

ऐसे आवरण से अपने श्रीअंग को आवृत कर भगवान् श्रीवृन्दारण्यधाम में पधारे। अर्थात् जो भगवान् को देखना चाहते हैं, उनके सामने प्रथम माया की चमक-दमक आती है, अगर उसे उल्लंघन किया तो ठीक, केवल कनक के समान ही नहीं किन्तु अग्नितप्त सुवर्ण सदृश देदीप्यमान चमकीले पीतवर्णवाले पीताम्बर से अपने श्रीअंग को आवृत किया। पीताम्बर की चमक कई तरह की होती है, कोई कहते हैं

सुवर्णवर्ण, कोई दिव्य-दीप्तिमान् विद्युत् के सदृश, कोई कदम्ब किंजल्क सदृश, कोई रविकर सदृश, यहाँ तो बिजली से भी शतगुणित सहस्रगुणित देदीप्यमान पीताम्बर है, वह प्रभु के श्रीअंग को विलक्षण शोभा देता है, जैसे इंद्रनील मणि के पर्वत पर दामिनी दमके वैसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद के महेंद्रनीलमणि को लज्जित करनेवाले स्वरूप पर पीतांबर दामिनी के समान दमक रहा है। अद्भुत शोभा दे रहा है, किंवा जिस रीति से सजल नीलांबुद पर, मेघश्याम पर दामिनी दमकती है, वैसे प्रभु के श्रीअंग पर पीतांबर देदीप्यमान होता है, उसमें भी यह सजल नीलजलद जल देनेवाला है, श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद तो आनंदरस—अनुरागरसवर्षी हैं, प्रेमानंदमयरसवर्षी हैं, यह कोई अद्भुत सुधामय जलद है, अतएव अद्भुत दामिनी के दमक को लज्जित करनेवाले पीतांबर से आवृत है, श्यामल जलद जलमय ही होता है, यहाँ भी श्रीकृष्णचन्द्र उद्बुद्ध उभयविध शृंगार रस स्वरूप ही हैं, शृंगाररस की अधिष्ठात्री देवता विष्णु श्याम और शृंगार रस स्वरूपवर्णन में उस रस का वर्ण भी श्याम ही कहा है, एवं प्रकार से पीताम्बर प्रभु के श्रीअंग पर अद्भुत छवि दे रहा है।

भावुक कहते हैं यह माया है, पर यह प्राकृत माया नहीं, किंतु यह एवंगुण विशिष्ट पीतांबर श्रीवृषभानुनंदिनी ही हैं, किं बहुना—श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के श्रीअंग पर यावान् भूषण हैं सब श्रीवृषभानुनंदिनी ही हैं, इसी प्रकार श्रीवृषभानुनंदिनी के श्रीअंग पर यावान् भूषण है वह सब श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद ही हैं।

"श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरंजनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति॥"

वृषभानुनंदिनी के, व्रजांगनाओं के कानों में जो कमल फूल हैं, रात्रिविकासी स्थलोद्भव कमलविशेष कुवलय होता है, वह श्रीकृष्ण अर्थात् उनके श्रोत्र भूषण भगवान् श्रीकृष्ण। वह अपनी आँखों में जो अंजन लगाती हैं वह क्या प्राकृत अञ्जन नहीं! वह श्यामसुंदर व्रजेन्द्रनंदन ही अंजन होकर उनके नयनों में विराजमान हैं, काष्ठपाषाणमय भूषण उनके नहीं।

"ईदृशा पुरुष-भूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक् तदीयकुलशीलयौवनं धिक् तदीयगुणरूपसम्पदः॥"

ऐसे पुरुषभूषण से जो सुभ्रू अपने हृदय को नहीं भूषित करती उनके कुल, शील, यौवन और गुणरूप संपत्ति को धिक्कार है। श्यामसुन्दर पुरुषभूषण, पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र से जिन्होंने अपने को भूषित नहीं किया वह अपने को कंकड़-पत्थरों से भूषित करें। श्रीकृष्णचन्द्र के पादपंकजपराग को ही अंजन रूप से लगाती हैं, उनके हृदय में महेंद्रनीलमणि की माला भी श्रीकृष्णचन्द्र परमानंद ही हैं, संसार की अन्य युवती भले ही कंकड़-पत्थरों से अपने को भूषित करें, पर वृन्दावन

तरुणियों का मंडन तो एक श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद ही हैं। वैसे श्रीकृष्ण परमानंदकंद मनमोहन मदनमोहन श्यामसुन्दर भगवान् उनके हृदय में हैं ही पर बाहर भी वही, हृदय के बाहर-भीतर एक ही हो। श्रीव्रजांगनाओं के, श्रीवृषभानुनंदिनी के अंतरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियाँ, रोम-रोम सबमें, उपरिष्टात् अधस्तात् सर्वतः श्रीकृष्ण ही श्रीकृष्ण। श्रीवृषभानुनंदिनी के श्रीअंग पर जो नील साड़ी, नील अद्‌भुत दिव्य निचोल, इन्द्रनील चूड़ी, हृदय विलिपित मृगमद कस्तूरिका सब भगवान् ही भगवान्। सबका वर्णन कहाँ तक किया जाय, अतः संक्षेप में बताया कि **'मंडनमखिलं हरिर्जयति'**, **'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** ऐसे प्रभु के सिद्धांत ही हैं। पूर्णतम पुरुषोत्तम श्यामसुन्दर को भी वृषभानुनंदिनी के अतिरिक्त भूषण ही नहीं जिन्हें भगवान् अपने भूषण बनावें। श्रीव्रजांगनाओं के, श्रीवृषभानुनंदिनी के भूषण भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद तो श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद के भी सब आभूषण श्रीवृषभानुनंदिनी ही श्रीव्रजांगना ही हैं, श्रीप्रभु का अन्तरङ्गस्वरूप श्रीवृषभानुनंदिनी, श्रीवृषभानुनंदिनी के अन्तरङ्गस्वरूप श्रीभगवान्। तभी कहा, **'उभयोभयभावात्मा'** जैसे भक्तमनोभावनामय भगवान् वैसे भगवन्मनोभावनामय भक्त। भक्त के हृदय भगवान्, भगवान् के हृदय भक्त, इसी दृष्टि से पीतांबर से आवृत हैं। जैसे अद्‌भुत अनन्त परमानंद सुधा-सिंधु में मधुरिमा होती है, उसी रीति से श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद निखिलरसामृतसिंधु में माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानुनंदिनी और उसकी अंशभूता श्रीव्रजाङ्गना। श्रीकृष्ण परमानंदकंद एक तरुणतमाल हैं, श्रीवृषभानुनंदिनी सुवर्णलता हैं, जैसे सुवर्णवर्णा लता से परिवेष्टित तरुणतमाल सुशोभित हो वैसे श्रीवृषभानुनंदिनी से श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद एवं दोनों का अद्‌भुत अविघटित सुस्थिर सम्बन्ध है।

श्रीभगवान् के श्रीकंठ में वैजयन्ती। **'वै निश्चयेन जयन्ती जयशालिनी'**, मानो कंदर्प ने जिस धनुष से निखिल विश्व को विजय किया, और उसने उसे छोड़ दिया वही यह वैजयन्ती माला। श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद के नखमणिमय चंद्रिका के दर्शन से कंदर्प मूर्छित हुआ, अनंतकोटि ब्रह्मांडनायक कंदर्प-दर्पदलनपटु भगवान् के गले की यह पंचवर्ण पुष्पग्रथित अम्लान पुष्पमाला अद्‌भुत सौगंध्य से युक्त है। श्रीभगवान् के पास तीन शक्ति हैं। उद्‌बोधक, आच्छादक, विक्षेपक। कानों के कर्णिकार उद्‌बोधक, पीताम्बर आच्छादक है, ब्रह्मस्वरूपोपलब्धि में वह विघ्न है परंतु रसज्ञों के लिये रस भी है और ततोऽप्यधिक विक्षेपक वैजयंती, व्रजांगना उद्विग्न हो जाती है। वह समझती है, हमारे श्यामसुन्दर के ये सब आवरण हैं, क्योंकि रसास्वादनपरायण रसिक निर्विघ्न निरुपद्रव निरावरण रसास्वादन चाहता है, क्या उनको पीताम्बर का व्यवधान, वैजयन्ती का व्यवधान सह्य होगा? जहाँ हार-कंचुक का भी व्यवधान असह्य वहाँ पीताम्बर का, वैजयन्ती का व्यवधान कैसे सह्य होगा? ऐसा

श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद का अद्भुत दिव्य स्वरूप। इन सबसे दुर्लभता सूचित है, दुर्लभता ही में रस है। चकारात् वनमाला भी, श्रीकंठ से मधुर मनोहर पादारविंद तक। इन सबसे श्रीअंग आवृत हैं, जैसे ज्योतिर्मय जलदावृत नभोमंडल आच्छादित हो जाता, वैसे श्यामल, महोमय, आनंदरसमय वपु अनेक आवरणों से आवृत हो अस्पष्ट ज्योति हो गया, उस पीताम्बर के मध्य में से श्रीअंग की देदीप्यमान श्यामलता चमकती है। जैसे विद्युत् से आवृत होने पर भी इन्द्र नीलमणि पर्वत की श्यामलता चमकती है वैसे ही **'सो जानइ सपनेहु जिन देखा'** जिनको स्वप्न में भी एक बिंदु-मात्र भी आस्वादन करने को मिला, वे ही जान सकते हैं। आपके सर्व अलंकारों की झलक जिसके मन में आयी वह सदा के लिये बिक गया। श्यामलता कैसी ? **'कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं'** श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद का वपु है तो अतसीपुष्प सदृश, नीलांबुज, नील नीरधर के समान तब भी वह **'त्विषाऽकृष्णं'** एक अद्भुत दीप्ति में छिपा है। अतएव श्यामल महोमय कहा जाता है। तेज दो प्रकार के एक श्याम तेज, एक गौर तेज, गौरतेज श्रीवृषभानुनंदिनी का श्यामतेज भगवान् श्रीकृष्ण का, तेज में श्याम-लता छिपी है, व्यक्त है केवल प्रकाश दीप्ति, अनन्तकोटि सूर्यों को लज्जित करनेवाली दीप्ति में श्यामलता आवृत है, इसलिये वह विचित्र योग है, महेन्द्र नीलमणि की तेजस्विता सुशोभितता, अपूर्वता सुचिक्कणता, पंकज की कोमलता, तापापनोदकता मनोहारिता, इनका भगवान् के श्रीअङ्ग में मधुर मिश्रण है, भावुक का मन मधुकर के समान है, मधुकर जैसे अनेक पुष्पों से मधु लेता है, उसी तरह भावुक भगवान् की मूर्ति इन तत्वों को लेकर वह बनाता है।

भगवान् के अद्भुत अलंकार सहित मूर्ति का वर्णन क्या किया जाय, कोटि सूर्यों के समान दिव्य रत्नों से जड़ित अद्भुत मोरपिच्छयुक्त मुकुट, देदीप्यमान कुंडलों की झलक, सुगंधित पुष्पों की माला, श्यामल कपोल पर सुन्दर कुंडल। कपोलों पर लटकती हुई श्यामल स्निग्ध सचिक्कण अद्भुत अलकावली की शोभा तो अवर्णनीय है, जैसे श्यामल नागों के शिशु अमृतमय चन्द्रमा का रस लेने के लिये गये हों, किंवा जैसे नीलकमलकोश पर भ्रमरवृन्द आकर रसास्वादन के लिये निश्चल निस्तब्ध विराज-मान हों, अथवा सुन्दर टेढ़े-टेढ़े घुंघुराले अलकों की वह अलकावली स्निग्ध सचिक्कण श्यामल अमृतमय नीलाम्वुज पर पराग लोभ से बैठे मानो भ्रमरवृन्द ही हैं। फिर गुञ्जारव क्यों नहीं ? कारण यह कि, वह अद्भुत मादक मकरन्दपान कर उन्मत्त होकर चंचलतारहित होकर स्तब्ध हो गये, ऐसा मुखचन्द्र अग्र हाथी के बच्चे के शुण्डा सदृश गोल सुडौल सुचिक्कण दीप्तिमय योग्य चढ़ाव-उतार के श्रीभुज हैं, दिव्य कुंकुम मिश्रित हरिचन्दन से विलिपित, भुजा है। भगवान् के श्रीअङ्ग पर कुंकुममिश्रित हरिचन्दन इस तरह सुशोभित होते हैं जैसे चन्द्रमा की चन्द्रिका से व्याप्त इन्द्रनील-मणि-अङ्गद कंकणादि, हस्तांगुलिदलों में मुद्रिका, नखों में अरुणिमा ऐसे श्रीहस्तों से वेणु को उठाकर अधर पर रखकर अधर सुधापूरित कर रहे हैं।

रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्—वेणु के छिद्रों को अधरसुधा से पूरित करते हुए भगवान् वृन्दारण्यधाम में पधारे, मानो श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द की रुचि है वेणुच्छिद्रों को अधरसुधा से पूरित करने को। नटनागर नटवरवपु श्रीकृष्ण की रुचि भी नटखट, इसलिये कि लोग हमारे वेणु में दूषण बतलाते हैं। छिद्रों को दूषण कहते ही हैं **'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति'** एक छिद्र कहीं हो तो अनर्थ होता है, यहाँ तो सात छिद्र हैं। इस सप्तछिद्रयुक्त वेणु को लोग निन्दित, कलंकित समझेंगे, इसलिये हम उसे अपनी सुमधुर अधरसुधा से पूरित कर दें। याने परमानन्दकंद श्रीकृष्णचन्द्र के श्रीहस्तारविन्द में रहनेवाली, उनके अधर पर विराजमान वेणु सछिद्र रहे यह ठीक नहीं, ऐसी भगवान् की रुचि है, इसीलिये **'रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्'**—अधर-सुधा ने सोचा अरे जड़ वेणु! मैं अपने अद्‌भुत प्रभाव से तुझे सप्राण बना दूँ! बस, इस अभिप्राय से सुमधुर अधरसुधा ने वेणु को सप्राण बनाना चाहा और वह अधर-सुधा के संस्पर्श से सप्राण होकर सुमधुर गीत विस्तार करने लगी। अब अधरसुधा ने सोचा कि वेणु तो जड़ की जड़ ही रह गयी। अधरसुधा के परंप्रवीण सम्बन्ध से वृक्षों से मधुधारा बहने लगी, सरोवरसरसी, कमल-कमलिनी, कुमुद-कुमुदिनी रोमांचित हो गये, यमुना रुकी, पाषाण द्रवरूप हो गया, मगर वेणु सूखी की सूखी ही रही। वेणु सच्छिद्र है, पोली है, रसशून्य है, हृदयशून्य है, इसीलिये इसपर अधरसुधारस का प्रभाव न पड़ा। इसका प्रभाव सहृदय पर ही पड़ता है, अहृदय पर नहीं। कहते हैं मलयाचल पर चन्दन वृक्ष के संपर्क से, संपूर्ण वृक्ष चन्दन हो जाते हैं, मगर बाँस, बाँस ही रह जाता है। औरों में हृदय है, और सब पोले, हृदयशून्य सच्छिद्र नहीं है, बाँस हृदय शून्य निःसार है। कहते हैं, ग्रन्थि रहना अच्छा नहीं। एक चिज्जड़ ग्रन्थि न जाने कब की है। यह ग्रन्थि मिटना कठिन है। कहते हैं, अमुक बड़े गठीले चित के हैं। बाँस में तो गाँठ ही गाँठ है। एक छिद्र हो तो सहस्रों अनर्थ उत्पन्न होते हैं, यहाँ तो ७ छिद्र हैं, अतः उसपर प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये अधरसुधा ने यह सोच-कर, वेणुछिद्रों में रस भरकर उसे सप्राण किया था, पर उस वेणु को छोड़कर वह व्रजाङ्गनाओं के निरावरण कर्ण कुहरों द्वारा वेणुगीत रूप में उनके हृदयों में पहुँचा। यहीं उसने अपना सब विक्रम, सब माधुर्य व्यक्त किया। यहाँ पर चक्रवर्ती ने ऊपर के कुछ थोड़े भाव कहे हैं। अथवा अधरा नीचीना (तुच्छा, अपकृष्टा) सुधा अपि यस्याः साक्षात् सा अधरसुधा, श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द की अधरसुधा में ऐसी मधु-रिमा है, जिससे सुधा भी अति तुच्छ मालूम हो। अर्थात् देवताओं के, चन्द्रमा के और धन्वन्तरि के अमृत को अपकृष्ट बनानेवाली, यह जो अधरसुधा, उससे भगवान् वंशी को पूरित करने लगे।

वंशी में सुमधुर अधरसुधा प्रविष्ट होती है, वह भी स्वयं अमूर्त है। छिद्र में आकाश भरा है। अमूर्त पदार्थ से आकाश निश्छिद्र नहीं होता। अतः अमूर्त रस से

वंशी निश्छिद्र न हुई। वास्तव में वेणु को भगवान् ने अधरसुधा दी ही नहीं, केवल संपर्क होने से क्या होता है? प्रभुकृपा से वह जिसको मिले, उसपर ही प्रभाव होता है। उसी जल में जोंक, उसीमें कमल, उसीमें मछली रहती है। अधिकारी, योग्य पात्र ही वस्तु को ग्रहण करता है, अर्थात् वेणु को वास्तव में अधरसुधा का संप्रदान ही नहीं हुआ। वह केवल वेणुपात्र द्वारा व्रजाङ्गनाओं को भेजी गयी। दर्वी से रस चलाया-परोसा जाय, परन्तु दर्वी को रसास्वाद थोड़े ही आता है। वह तो रसोपभोग सामग्री है। वेणुपात्र द्वारा अधररस गोपाङ्गनाओं को दिया गया, इसलिये कि गोपाङ्गनाएँ सन्निहित नहीं थीं। वृन्दारण्यस्थ श्रीकृष्ण परमानन्दकंद की अधरसुधा का संभोग व्रजस्थिता व्रजाङ्गनाओं को कैसे हो, अतः अधरसुधा को साधनभूत वेणु के छिद्रों में भरकर व्रजाङ्गनाओं के हृदय में पहुँचाया। वेणु दर्वी के समान होने से सूखा, सच्छिद्र ही रह गयी। यहाँ केवल श्रीप्रभु की इच्छा ही कारण है, वेणु सबके लिये समान है। जैसे स्वातिबिन्दु बाँस में वंशलोचन, गो में गोरोचन, शुक्ति में मुक्ता, गजकर्णी में गजमुक्ता होता है, वैसे ही अधरसुधा भिन्न-भिन्न पात्रों में पड़ती है, वेणु केवल उसको विभिन्न-विभिन्न पात्रों में पहुँचानेवाली हुई।

यहाँ कई पक्ष हैं। यों तो जब श्रीव्रजाङ्गना वेणु पर प्रसन्न हों, तब प्रशंसा ही करती हैं, '**याचेऽहं वंशदेहम्**'। कहती थी—"सखि! हम तो वंशदेह की याचना करती हैं। यदि विधाता हमारे ऊपर प्रसन्न हों, तो हमें वंश देह दें। गोपाङ्गना देह में हमें कृतार्थता नहीं है। यदि वंशदेह होता तो सम्भव था कि कभी भगवान् के अधर पर सोती, अधरसुधा का आस्वादन करती पर हम तो कुलाङ्गना ठहरी, हमें यह अवसर प्राप्त नहीं हो सकता।" जब गोपाङ्गना वेणु की ईर्ष्या करती तब तो उसके दोष ही दोष कहती थी। अस्तु, यह आया कि षट्धर्म सहित रसरूप धर्मी को वेणुछिद्रों द्वारा व्रजाङ्गनाओं के हृदय में पहुँचाना, वेणु का कार्य था। "**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।**" इत्यादि भगवान् में छः धर्म हैं। अर्थात् सम्पूर्ण षट्भगसम्पन्न, अचिन्त्य, अखण्ड, अनन्त, रसधर्मी, पूर्णतम, पुरुषोत्तम भगवान् हैं। वेणु में सप्तछिद्र हैं। अतः षट्छिद्रों द्वारा एक-एक भगधर्म एवं सातवें छिद्र द्वारा षट्धर्म सहित भगवान् अधरसुधा द्वारा वंशी में प्रवेश कर, तद्द्वारा श्रीव्रजांगनाओं के हृदय में प्रवेश करते हैं ऐसा भावुकों ने कहा है। तीन तरह की अधरसुधाएँ हैं, और उसके संभोगाधिकारी भी तीन हैं। जिन्हें निरोध सम्पन्न हुआ, वे ही सुधा के अधिकारी हैं। निरोध याने सम्पूर्ण विश्वविस्मरणपूर्वक श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द में मन का लय होना। वह भी तीन प्रकार का है, प्रेमनिरोध, आसक्तिनिरोध और व्यसन-निरोध। प्रेमनिरोध सम्पन्न को देवभोग्या, आसक्तिनिरोध सम्पन्न को भगवद्भोग्या, व्यसननिरोध सम्पन्न को सर्वाभोग्या कहा गया है। वे सिद्धान्त श्री वल्लभाचार्यजी ने बताये हैं। यह देव कौन हैं? श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में निरोध, एकादश-

स्कन्ध में मुक्ति और द्वादशस्कन्ध में मुक्ति-आश्रय ब्रह्म है। निरोध वर्णन होने से दशम ही मुख्य है, क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्र में मनोलय होना ही सब कुछ है। इनके मत में मुक्ति बड़ी विलक्षण है। कहते हैं, पूर्णतम पुरुषोत्तम परमानन्द में जो मुक्त हुए जीव जाकर मिल जाते हैं, ऐसा जो मुक्तत्व उसकी मुक्ति मुक्ति है। परमपुरुषार्थ तो श्रीकृष्णचन्द्र का लीलारसास्वादन है। जो मुक्त हो गये, वे क्या लीलारसास्वादन कर सकते हैं? मुक्तों का स्वरूप से निष्कासन ही पुष्टिमार्गीय मुक्ति है।

भागवत के अनुसार "**मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।**" अर्थात् काल्पनिक, औपाधिक रूप छोड़कर पारमार्थिक भगवद्रूप में लीन होना। पारमार्थिक रूप अखण्ड, अनन्त, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, स्वप्रकाशात्मक है, यह अद्वैतियों की मुक्ति है। कोई कहते हैं, जीव का निजी रूप गोपाङ्गनाभाव है। उसे छोड़कर जो सांसारिक स्त्रीत्व-पुंस्त्व में आया, उसको छोड़कर पूर्वभाव में जाना ही मुक्ति है। दूसरे कहते हैं, जीव स्वभाव से ही श्री भगवान् का नित्यदास है। जहाँ दूसरे भाव आये कि वह भाव बिगड़ा, उन्हें छोड़कर—श्री भगवान् हमारे स्वामी, हम उनके दास, इस रूप को प्राप्ति मुक्ति है। किन्तु यहाँ की मुक्ति, जीव की मुक्तित्व से मुक्ति है अर्थात् जीव को मुक्तता से छुट्टी मिले। एक कथा है कि एक बार श्री देवर्षि नारद प्रफुल्लित अद्भुत आमोदमय वृन्दारण्य में पधारे। वहाँ पर श्रीवृषभानुनन्दिनी तथा व्रजांगनाओं के दिव्य प्रेममय हास-रास-विलास-विलासित भावों का अनुभव किया तो रोने लगे। नारद को रोते देख व्रजरमणियों ने पूछा कि ऐसे आनन्द समुद्र में अवगाहन करने के समय रोते क्यों हो? नारद ने कहा—"हम रोते उनके लिये हैं, जो मुक्त हो गये हैं। जो बन्धन में हैं, उनको तो सम्भव है कि यह रस मिल सके। उनको श्रीवृषभानुनन्दिनी तथा श्रीकृष्ण परमानन्द के ऐसे अद्भुत प्रेमरसमय शृङ्गार का दर्शन हो सकेगा, मगर मुक्तों को तो बिलकुल ही असम्भव है। इसी भावना से कहते हैं कि वेदान्तियों की मुक्ति पाषाण कल्प है, किन्तु उसके निरूपण का यह अवसर नहीं।

आश्रय—ऊपर कहे हुए मुक्तों को भगवल्लीलोपयोगी दिव्य देहादिकों का प्रदान करना, पूर्णतम पुरुषोत्तम लीन जीवों का निष्कासन करने पर उन मुक्तिमुक्तों को लीलापरिकरोपयोगी बनाना आश्रय है, इसीको प्रत्यापत्ति कहते हैं। इसके अनुसार वह जीव वृन्दावन में गुल्म, लता, पाषाण, वृक्ष हुए। मुक्त, मुनीन्द्र, अमलात्मा, महात्मा परमहंस ही आकर सर्वरूप में प्रकट हो गये हैं, इन्हींकी भोग्या सुधा देवभोग्या है। "**द्योतनात्मकत्वात्, प्रकाशात्मकत्वात्, श्रीकृष्णस्वरूपत्वात् देवाः, किं वा दीव्यन्तीति देवाः।**" श्रीकृष्णचंद्र से क्रीड़ा के लिये जो आये वे देव हैं। दिव्धातु तो बड़ा ही व्यापक अर्थ रखता है। '**दिवुक्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु**'। ये देव पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र के साथ लीला परिकर होने के

लिये प्रादुर्भूत हुए। इनको भी प्रेमनिरोध हुआ। ये श्रीप्रभु के प्रेम में संसार विस्मरण-पूर्वक मन से उनमें लीन हो गये। एक स्थिति तो यह कि '**वृन्दावनं परित्यज्य पदमेकं न गच्छति**' तब तो ठीक ही है, पर जब भगवान् गये तब तरु-गुल्म वगैरह शुष्क क्यों न हो गये ? कारण यह कि बहिर्मुख नहीं, इनकी भावना यह है कि श्रीकृष्णचन्द्र कहीं गये ही नहीं। अगर वे प्रभु का वहाँ अभाव समझते, तो मुर्झाते, रोते, जल जाते, अतः प्रेमनिरोधसम्पन्न लता, तरु-गुल्म, खग-मृगों में देवभोग्या अधरसुधा का संचार हुआ। भगवान् के मुखचन्द्र से निःसृत जिस वेणुनादामृत का वृक्ष-लता, खग-मृग, पशु आस्वादन करते हैं, वह देवभोग्या अधरसुधा है। यह सुधा है श्रोत्रपेया, मुखपेया नहीं, इस सुमधुर अधरसुधा का संभोग श्रोत्रों द्वारा ही होता है।

एक बात यहाँ समझनी चाहिये कि वास्तव में रसस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रपरमानन्दकन्द की मंगलमयी लीला भी रसस्वरूप है। उनके लीला परिकर भी रसस्वरूप हैं और लीलाभूमि भी रसस्वरूप है। भगवान् तो वास्तव में आत्मरति हैं। जब श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के भक्त आत्मरति हैं, उनको रमण करने के लिये स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि अनात्मसामग्री अपेक्षित नहीं है, तब उनके ध्येय पूर्णतम, पुरुषोत्तम, भगवान् आत्माराम, आप्तकाम आत्मा में रमण करेंगे, इसमें संशय ही क्या ? वह अपने आपमें रमण करते हैं—'**नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति**'। भगवान् की रति आत्मा में, श्रीवृषभानुनन्दिनी में और श्री व्रजांगनाओं में है। सब उन्हींके रूप हैं। '**स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नीति होवाच।**' अन्तिम सर्वाधार अपने आप ही में स्थित होता है। पृथिवी का आधार जल, जल का तेज, तेज का वायु, वायु का आकाश, उसका तन्मात्र, उसका अहंकार, उसका महत्तत्व, उसका अव्यक्त प्रकृति, उसका सत्त्व; अब उसका आधार क्या ? वह तो स्वयं निराधार अपने आप ही में स्थित है। इसलिये श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द सर्वत्र आप ही में व्यक्त हुए। इस दृष्टि से आत्मरति बने, परन्तु जब सब ही रसस्वरूप आत्मरति हैं, तो किसी एक को दूसरी ओर आकर्षण, प्रेम, आसक्ति, व्यसन कैसे ? क्योंकि जैसे श्रीकृष्णपरमानन्दकन्द स्वरूप में रमण करनेवाले हैं, वैसे ही वृषभानुनन्दिनी और व्रजाङ्गना आदि भी हैं। अर्थात् परस्पराकर्षण नहीं होगा, यदि आकर्षण नहीं तो नानाविध विलास क्यों ? एक में अनेकत्व क्यों ? '**एकोऽहं बहुस्यां**' यह क्यों ? इसका उत्तर केवल यही कि लीलारसास्वादनार्थं।

अब प्रश्न यह होता है कि आत्माराम, आप्तकाम, पूर्णतम, पुरुषोत्तम को लीलारसास्वादन कैसे ? बात ठीक है, पर यह तो आपत्ति सभी मतों में है। तब फिर किसलिये कहते हैं '**आप्तकामस्य का स्पृहा**' और कैसे फिर सब प्रपञ्च सम्भव है ? अब पहला उत्तर यह—जो सर्वमतसिद्ध भी है—कि आप्तकाल भगवान् को अपना प्रयोजन तो कुछ नहीं, पर अनादिबद्ध जीवों के लिये, प्रभु जगन्निर्माण करते हैं,

एक में अनेकता करते हैं। यदि कहो **'न रहे बाँस न बजे बाँसुरी'** यह बात निरर्थक है, अनादिकाल से एक में अनेकता व्यक्त है, जीवभाव नया नहीं है। जैसे जब से आकाश है, तब से ही उसमें श्यामलता भ्रान्ति है, वैसे ही अनादि जीव हैं, अनादि प्रकृति है, किन्तु अनादि रहने पर भी सान्त हैं (यथा प्रागभाव)। अद्वैत मत यही है कि एक सच्चिदानन्द परमात्मा को छोड़कर सभी सान्त हैं **'प्रकृति पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि'** ? समझो कि लीलारस विशेष के लिये निखिल रसामृतसिन्धु पूर्णतम, पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द ने अपने आपको ही सर्वस्वरूप में विकसित किया, अतएव शुद्ध रसमय लीला में प्राकृतता नहीं है। यदि यह कहो कि आकर्षण नहीं—तो लीला कैसे ? तो प्रभु एक वैष्णवी मोहिनी माया से सबोंके स्वरूपों को आवृत, मोहित कर देते हैं। अतः निखिल रसामृतमूर्ति होते हुए भी वे अपने आपको भूल जाते हैं। इसी तरह श्रीवृषभानुनन्दिनी, व्रजाङ्गना इत्यादि भी अपने को भूल जाते हैं। यदि स्वयम् तृप्त हैं, तो दूसरे की स्पृहा कैसी ? किन्तु इस वैष्णवी मोहिनी माया से यशोदा माता प्रभु के मुखारविन्द में चराचर विश्व को देखती हुई भी, अपने को भूल गयीं, वैसे ही यहाँ भी सब अपने स्वरूप को भूल गये। यदि कोई कहे कि रुचि से अपने को भुलाना कैसे ? तो लोग जैसे भङ्ग पीकर अपने को अपनी रुचि से मोहित करते हैं। यह क्यों ? विस्मृति के लिये। विस्मृति में भी स्वाद है, रस है, यदि वह स्वेच्छामूलक हो। अर्थात् जैसे प्राकृत मानव भङ्गादि मादक आसवों द्वारा स्वरूपविस्मृतिपुरःसर लीला में प्रवृत्त होता है वैसे ही वैष्णवी माया से भगवान् भी लीला में प्रवृत्त होते हैं। एवं यह स्पष्ट है कि इस मङ्गलमयी रस की लीला से, उसके मनन, निदिध्यासन से प्राणियों का परम कल्याण है। जन्म, कर्म तो सबके ही हैं, और प्राणियों के जन्म, कर्म बन्धनकारक भी होते हैं, मगर भगवान् के जन्म-कर्म बन्धन नहीं।

"जन्मकर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोर्जुन॥"

श्रीभगवान् और जीव के जन्म, कर्म क्या बराबर हैं ? जीव के जन्म-कर्म सुनते-देखते कल्प-कल्पान्तर बीत गये, अब भगवान् के जन्म-कर्म सुनने चाहिये। उसीके द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद की प्राप्ति होगी। श्रीकृष्ण के जन्म-कर्म के श्रवण से प्राणियों के जन्म-कर्म छूटते हैं, प्राणियों के जन्म-कर्म श्रवण से जन्म-कर्म परम्परा बढ़ती है। अतः वह भगवान् की लीला ही थी, पर वह अप्राकृत थी। स्वाभाविक आसक्ति के लिये लौकिक रूप में कही गयी है। संसार की आकांक्षा, वाञ्छा, आशा, तृष्णा और श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद के सम्मिलन की आकांक्षा, वाञ्छा, आशा, तृष्णा क्या बराबर हैं ? नहीं, दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। वह आशा पिशाची है, यह आशा कल्पलता है। इसलिये यह ठीक निर्विवाद है

कि पूर्णतम, पुरुषोत्तम, निखिलरसामृतमूर्ति, श्रीकृष्णपरमानंदकंद ने अपने आपको सर्वरूप में व्यक्त किया। फिर भी लीला रस, आसक्ति के लिये यहाँ स्वरूपानन्द विस्मरण अपेक्षित है। इस तरह भगवत्स्वरूप होते हुए भी इन देवों को विस्मृति के कारण सुधा की ओर आकर्षण उत्पन्न है। उनके प्रेमनिरोध के अनुकूल यह देवभोग्या सुधा है, व्रजाङ्गनाएँ जो श्रीकृष्णचन्द्र के अमृतमय मुखचन्द्र की अधरसुधा के भोगने योग्य हैं, परन्तु व्रजस्थ हैं, वे कैसे भोगें ? इसलिये वेणुछिद्रों में प्रवेश कराके गीतरूप से निरावरण कर्णकुहरों द्वारा उनके हृदय में पहुँचाना है जिसे वे अंत:करण, अंतरात्मा, प्राण, रोम-रोम में अनुभव करके आन्तररमण प्राप्त करेंगी। भगवद्भोग्या अधरसुधा इसलिये प्रयुक्त है, जिससे सर्वभोग्या अधरसुधा के अनुभव की योग्यता प्राप्त हो। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के अमृतमय मुख से निर्गत जो वेणुगीतपीयूष है, उसको निरावरण कर्णकुहरों द्वारा पान कर अंत:करण में उसे भावना से परिवर्तित करती हुई व्रजाङ्गना फिर उसीको उद्गाररूप में वर्णन करती हैं। वही अधरसुधा व्रजाङ्गनाओं के अधरपल्लव में आती है, इसीसे अधरपल्लव पवित्र हो जाता है। अपवित्र मुख से श्रीकृष्णपरमानंदकंद के अधरपल्लव में रहनेवाली सर्वभोग्या अधर-सुधा का संभोग नहीं हो सकता। अत: जब वे वेणुगीतपीयूष का श्रोत्र से आस्वादन करेंगी और भावनापरिवर्धन उद्गार वर्णन से मुख पवित्र होगा, तभी वह सर्वभोग्या अधरसुधा के लिये अधिकारसंपन्न होंगी।

पहिले भगवान् भक्त में रमण करते हैं, तब भक्त भगवान् में रमण करने के अधिकारी होते हैं। यदि श्रीकृष्णचन्द्रपरमानंदकंद के मुखपंकज से वेणुगीत पीयूष द्वारा व्रजाङ्गनाओं के मुखपंकज का अधरपल्लव शुद्ध हो लेगा, तब श्रीव्रजाङ्गनाएँ भगवद्रमण योग्य होंगी। सम्प्रयोगात्मक शृङ्गार में, श्रीकृष्ण भी व्रजाङ्गनाओं के पवित्र अधरपल्लव में अधरसुधा का संभोग करेंगे। इस तरह व्रजाङ्गनाओं के अधरपल्लव में स्थित सुधा भगवद्भोग्या सुधा है। व्रजांगनाओं के अधरपल्लव में रहनेवाली सुधा भी श्रीकृष्ण की ही अधरसुधा है, क्योंकि भगवान् के अधर में रहने-वाली भगवद्भोग्या अधरसुधा ही वेणु छिद्रों में प्रविष्ट होकर, गीतपीयूष रूप में व्यक्त होकर व्रजाङ्गनाओं के श्रोत्र, अन्त:करण, अन्तरात्मा में भरपूर हो, अधरपल्लव में वर्णनव्याज से प्राप्त होकर सम्प्रयोग काल में भगवद्भोग्या हुई थी। भगवान् के अधर में रहकर वह भगवद्भोग्या नहीं हो सकती थी, इस प्रकार हो गयी।

'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च' यहाँ भी श्री का अर्थ श्रीवृषभानुनन्दिनी है। वैसे तो श्री शब्द का प्रयोग लक्ष्मी में भी होता है, पर जहाँ श्री तथा लक्ष्मी का पृथक् पठन है, वहाँ श्री का अर्थ लक्ष्मी क्यों किया जाय ? 'लक्ष्मी' अर्थ में श्रयते हरि: या सा श्री:, श्रयते सेवते (श्रिञ् सेवायाम्) ऐसे अर्थ हैं, किन्तु यहाँ श्रीयते सर्वैर्गुणैर्या सा, ऐसा कर्म में प्रत्यय। जो समस्त गुणगणों से, अद्भुत सौन्दर्य, सौरस्य, सौगन्ध्य इत्यादि

से सेवित हो, वह श्री। यह सेविका श्री नहीं, सेव्या श्री है अर्थात् सकल गुण-गण मूर्तिमान् होकर जिसकी सेवा करें, वह श्रीवृषभानुनन्दिनी श्री हैं। जितनी भी अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत सौरस्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्य, मार्दव, माधुर्यादि गुणों की अधि-ष्ठात्री महालक्ष्मी महाशक्तियाँ हैं, वे मूर्तिमती होकर राधा की सेवा में उपस्थित हैं। इसीलिये गोलोकधाम में मूर्तिमती शोभादि गोपाङ्गनाएँ राधाजी की सेवा में उपस्थित हैं। अब वृषभानुनन्दिनी की सुन्दरता की कल्पना कौन करे? अनन्तकोटि ब्रह्माण्डा-न्तर्गत सौन्दर्य बिन्दु का उद्गम स्थान जो सौन्दर्यसिन्धु उसकी अधिष्ठात्री महालक्ष्मी श्रीवृषभानुनन्दिनी की सेवा में रहती हैं। भगवान् श्यामसुन्दर, व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण-चन्द्र परमानन्द की तो माधुर्याधिष्ठात्री स्वयं वृषभानुनन्दिनी ही हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत जो मार्दव है, उसकी अधिष्ठात्री देवी महालक्ष्मी के चरण इतने कोमल हैं कि कोमल से कोमल कमल की पँखुड़ी के गड़ने का डर रहता है। इतनी मृदुलता जिसके चरणों में है उस महालक्ष्मी के हस्तारविंद कितने कोमल होंगे, कुछ ठिकाना नहीं। ऐसी जो महालक्ष्मी हैं, वे अपने सुकोमल श्रीहस्तों से वृषभानुनन्दिनी के श्रीचरणों को स्पर्श करने में सकुचाती हैं, कि कोमल चरणों में कहीं आघात न लग जाय। ऐसे ही क्षमाधिष्ठात्री, दयाधिष्ठात्री, शोभाधिष्ठात्री, करुणाधिष्ठात्री शक्तियाँ सर्वगुणगणों सहित निरन्तर श्रीवृषभानुनन्दिनी का सेवन करती हैं।

कोई भावुक तो कहते हैं कि '**श्रीयते हरिणाऽपि या सा श्रीः।**' जैसे भक्त भगवान् को भजते हैं, वैसे ही भगवान् भक्त को। ठीक ही है, भगवान् स्वयं कहते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'।

यदि श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द को भजती हैं, तो वैसे ही भक्तभजनानुविधायी भगवान् भी वृषभानुनन्दिनी को कैसे न भजें? आनंदवृन्दा-वनचंपू में एक कथा है—

एक समय श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द अपने शुक को पढ़ाते थे, साथ-साथ श्रीराधा का ध्यान भी कर रहे थे। आखिर किसीका ध्यान तो करना ही चाहिये। भक्त भगवान् का ध्यान करते हैं, तो भगवान् भक्त का करेंगे ही। उसी ध्यानानन्द में महाराज के नयनों से अश्रु बह रहा था। श्रीअंग में पुलकावली हो गयी थी। भारत की कथा है कि भगवान् भीष्मजी का ध्यान कर रहे थे, उसी समय धर्मराज युधिष्ठिर पहुँचे और भगवान् को ध्यान करते देख चकित हो गये। सोचते हैं कि भगवान् किसका ध्यान करते हैं? इतने में भगवान् का ध्यान खुला, युधिष्ठिर पूछते हैं—'आप अभी किसका ध्यान करते थे, भगवन्!' भगवान् ने कहा—"इस समय भीष्म शरशय्या पर पड़े हुए हमारा ध्यान कर रहे थे। हमारा भी व्रत है कि '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते**' इसलिये हम भी उन्हींके ध्यान में तन्मनस्क रहे।" अस्तु, इन पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु की माधुर्याधिष्ठात्री देवता राधा हैं, उन्हींके ध्यान में भगवान्

रहे, उन्हींका जप भी करते रहे। वंशी में भी वही बजाते थे **'ताहि श्याम वंशी में गावत।'** शुक को भी पढ़ाते थे कि **'वत्स पठ धाराधरवपुः श्रीमन्नारायणोऽवतु।'** इस व्याज से धाराधरवपु में 'धाराधारा' कहने से राधा का नाम लेते थे। 'मरा मरा' कहने से वाल्मीकि भी राम में परिनिष्ठित हो गये। ऐसा उलटा क्यों? इसलिये कि अगर अम्बा नन्दरानी के सामने स्त्री का नाम लें, तो वह क्या समझेंगी? अतः प्रकट नहीं लेते। वैसे अम्बा व्रजगेहिनी नन्दरानी समझे कि हमारा लाला बड़ा भक्त है, स्नान कर भगवान् का नाम जपा करता है। तात्पर्य यह कि **'श्रीयते श्रीकृष्णेनाऽपि या सा श्रीः।'** वह श्री जहाँ नहीं वहाँ श्रीकृष्ण का रमण नहीं। वही श्रीराधा माधुर्याधिष्ठात्री शक्ति, माधुर्यसारसर्वस्व श्रीकृष्णचन्द्र के अमृतमय मुखचन्द्र में अधर-सुधा के रूप में विराजमान हैं। इसलिये जब अधर सुधा को वंशी के छिद्र में निक्षिप्त कर व्रजाङ्गनाओं के हृदय में पहुँचाया तो वही अधरसुधा व्रजाङ्गनाओं के मुख-पंकज में आयी। वह स्वरूप उनके अन्तरात्मा में, अन्तःकरण में, प्राणों में, रोम-रोम में आ गया। वही वृषभानुनन्दिनी हैं। अतः वहाँ श्री का याने वृषभानुनन्दिनी का संचार है और जहाँ उनका संचार है वहीं श्रीकृष्ण परमानन्द का रमण होता है। पूर्णतम, पुरुषोत्तम भगवान् अपनी ही माधुर्याधिष्ठात्री शक्ति का आस्वादन करते हैं। फूलों में स्वयं अगर घ्राणशक्ति हो तो वे जैसा आघ्राण करेंगे, वैसे ही यह रमण है। तथा च यह आया कि भगवान् आत्मरति हैं। ठीक ही है, जिनका ध्यान करनेवाले अमलात्मा परमहंस मुनीन्द्र अपने रमण के लिये किसी की अपेक्षा नहीं करते, उनके ध्येय, आराध्यदेव श्रीप्रभु अनात्मरति कैसे होंगे? तथा च जहाँ-जहाँ इनका प्राकट्य नहीं, वहाँ श्रीकृष्ण का रमण भी नहीं।

प्राणिमात्र के लिये अपेक्षित यही है कि वह ब्रह्म संस्पर्श, ब्रह्म रस संभोग का प्रयत्न करे। यही जीवन की सफलता है। यहाँ के षड्रस भोगते-भोगते कल्प-कल्पान्तर बीत गये, अतः प्रत्येक उस ब्राह्मरस स्पर्श के लिये लालायित हो यही ठीक है। **"जाकर मन इन सन नहिं राता। तेहि जग वंचित कीन्ह विधाता॥"**

जिसका मन इनके लिये उत्कंठित न होता हो, वह प्राणी नहीं। अस्तु, यह हो तब श्रीकृष्ण सबमें रमण करें। प्रथम ब्रह्म जीव में रमण करे, फिर जीव ब्रह्म में। व्रजांगनाओं में कोई ऋषिरूपा थी, कोई अग्निरूपा, कोई साधनसिद्धा, कोई नित्य-सिद्धा, कोई जनकपुरनिवासिनी। उन सबोंमें प्रथम श्रीकृष्णचंद्र परमानंदकंद का रमण हो, फिर उनका श्रीकृष्ण में। यहाँ पर दोनों के रमण में भेद है, वह पीछे कहेंगे। पर प्रश्न यह है कि भगवान् भक्त में रमण कैसे करें? वह तो आप्तकाम, आत्माराम हैं। परन्तु श्रीवृषभानुनन्दिनी तो उनकी आत्मा ही हैं। क्या आनन्दसुधा सिन्धु से उसका माधुर्य पृथक् है? इसलिये श्रीकृष्ण की आत्मा ही वृषभानुनन्दिनी हैं। उनका रमण उन्हींमें है, फिर व्रजाङ्गना में कैसे रमण करें? इसका उत्तर यह है कि जहाँ श्रीकृष्ण-

चंद्र की आत्मा का संचार है, वहीं उनका रमण–इसीलिये व्रजांगनाओं में पहले श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द ने आत्मा का संचार किया। श्रीकृष्ण परमानन्दसिन्धु की माधुर्य्यसार-सर्वस्वभूता अधरसुधा वृषभानुनन्दिनी ही हैं। वेणुगीत द्वारा वे ही भगवद्भोग्या सुधा के रूप में व्रजाङ्गनाओं के श्रोत्रों द्वारा उनके अन्तःकरण, अन्तरात्मा, प्राण, इन्द्रियों एवं रोम-रोम में परिपूर्ण हो गयीं। अतएव व्रजाङ्गना भी वृषभानुनन्दिनी रूप होकर कृष्ण की आत्मा ही होंगी, अब उनमें रमण भी श्रीकृष्ण का आत्मा में ही रमण है। क्या उनमें आत्मा का मुलम्मा हुआ? नहीं, उसके केवल संसर्ग से उनमें तन्मयता हो गयी। यदि माधुर्य सारसर्वस्व ऊपर का ऊपर ही रहता तो मुलम्मा कहा जाता। यहाँ तो भगवान् ने अपनी अधरसुधा को वेणु के द्वारा उनके हृदय में भरकर भावना से परिवर्धित कर सर्वत्र स्वरूप में भरपूर कर तन्मय कर दिया। सूर्य का प्रतिबिंब जल पर पड़ता है, दर्पण पर पड़ता है, काष्ठ पर नहीं, दीवार पर नहीं। पर दीवार को यदि जल से तर कर दें, तो दीवार पर भी प्रतिबिंब पड़ेगा। आत्मा का प्रतिबिंब अन्तःकरण पर पड़ता है, घट पर नहीं, पर चक्षु द्वारा जब अन्तःकरण घटाकाराकारित हो तब घट पर भी पड़ता है, जैसे जलमय दीवार पर सूर्य प्रतिबिंब। इसी तरह जैसा सूर्य प्रतिबिंब मुख्य रूप से जल पर पड़ता है, दीवार पर जल संसर्ग से ही पड़ता है, वैसे ही श्रीकृष्ण का मुख्य रमण वृषभानुनन्दिनी में और अन्यत्र वृषभानु-नन्दिनी के संसर्ग से होता है। माधुर्यसारसर्वस्व अधरसुधा के संचार से सर्वत्र संसर्ग होने के कारण भगवान् का सर्वत्र रमण होता है, सिद्धांत यह है कि एक पूर्णतम पुरुषोत्तम रसस्वरूप परम तत्व अपने आप ही श्रीकृष्ण रूप में, वृषभानुनन्दिनी के रूप में प्रकट है, वही व्रजाङ्गनाओं के रूप में, लीलाभूमि के रूप में भी प्रकट है पर मोहिनी शक्ति से सब आवृत रहा। किन्तु जिसका जो रूप है वह व्यक्त हो ही जाता है। व्यक्त अग्निवाले काष्ठ के सम्बन्ध से, जैसे अव्यक्त अग्निवाले काष्ठ में भी अग्नि की अभि-व्यक्ति हो जाती है, उसी तरह व्यक्त आत्मस्वरूपवाली वस्तु के सम्बन्ध से अव्यक्त आत्मस्वरूपवाली वस्तु में भी आत्मा का प्राकट्य हो जाता है। वास्तव में व्रजाङ्ग-नाएँ भी रसस्वरूपा हैं; किन्तु उनमें माधुर्य स्वरूप अव्यक्त था। उससे जब वृषभानु-नन्दिनी के व्यक्त स्वरूप का सम्बन्ध हुआ, तब वह व्यक्त हो गया। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द की अधरसुधा व्यक्त माधुर्यसारसर्वस्व है। उसके सम्बन्ध से व्रजाङ्गना में भी वह व्यक्त हो गया। हम तो कहते हैं कि जितना भी विश्व है वह—"**आनन्दाद्-ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्य-भिसंविशन्ति।**"

इस सिद्धान्त के अनुसार आनन्दस्वरूप ही है। यह तो जैसे किसीको अमृत-सिन्धु में क्षारसिन्धु की भ्रान्ति हो वैसे ही अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्द सिन्धु में भवसिन्धु की भ्रान्ति होती है। "**आनन्दसिन्धु मध्य तव वासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा॥**"

'आनन्दसिन्धु के बरफ की तू पुतली है, तेरे भीतर-बाहर सर्वत्र आनन्द भरपूर है।' इस तरह यह आया कि सबका असली स्वरूप आनन्द ही है, पर वह अव्यक्त है, श्रुति कहती है--'**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथ्वी।**'

वस्तुतः काष्ठ, अग्नि भी पृथक्-पृथक् वस्तु नहीं है। आत्मा से ही आकाश, उससे वायु, वायु से तेज उत्पन्न हुआ। तेज से ही जल, उससे पृथ्वी, उसीसे काष्ठादि। और यह सिद्धान्त है कि कारण से भिन्न कार्य नहीं। फिर तो जैसे मिट्टी से उत्पन्न घट मिट्टी से पृथक् नहीं वैसे ही तेज से उत्पन्न जल तेज से पृथक् नहीं, जल से उत्पन्न पृथ्वी और उससे उत्पन्न काष्ठ भी अग्नि या तेज से भिन्न नहीं। इस तरह काष्ठ, अग्नि का भी वास्तविक भेद नहीं रहता। तथापि काष्ठ तेज का आवरक होता है। कार्य से कारणस्वरूप का आवरण होता ही है। एवं सर्व तत्वों की आनन्दस्वरूपता आवृत है। जहाँ माधुर्यसारसर्वस्व सुमधुर अधरसुधा के वेणुगीतपीयूष का आस्वादन प्राप्त होता है, वहाँ उस व्यक्त आनन्दस्वरूप से आनन्द व्यक्त होता है, वहीं आत्मरति श्रीकृष्ण का रमण भी होता है। यह लचर दलील की बात नहीं, शुद्ध भित्ति पर स्थित सिद्धांत है। अगर कोई समझना चाहता है तो समझ ले। तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण का रमण आत्मा में है, अनात्मा में नहीं।

अभिव्यक्ति कई तरह से होती है। जिन्हें वंशीगीत सुनने को नहीं मिला उन जीवों को '**प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्**' के अनुसार भगवान् की मङ्गलमयी कथासुधा के श्रवण से स्वाभाविक आनन्दरूपता व्यक्त होती है। सर्वत्र इसीलिये श्रवण ही मुख्य कहा है। '**मद्गुणश्रुतिमात्रेण**', '**द्रुतस्य भगवद्धर्मात् धारावाहिकतां गता**', '**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः**' इत्यादि से श्रवण का माहात्म्य स्पष्ट है। भगवान् के गुणगणों के श्रवण से अन्तःकरण में भगवान् का प्राकट्य होता है। गुणचरित्र श्रवण द्वारा भगवान् के स्नेह से द्रवीभूत चित्तवृत्ति का भगवान् की ओर अखण्ड प्रवाह ही भक्ति है। श्रवण से भगवान् अवश्य भक्त के हृदय में व्यक्त होते हैं, परन्तु श्रवण भी उसी तरह का हो। उच्चकोटि के परमहंस भावुक अपने हृदय में भगवत्तत्व का अनुभव करते हुए 'भावना' से उसका परिवर्धन करते हैं। जैसे कहीं का थोड़ा स्रोत बहुत जगह के झरने से बड़ा होता है वैसे जो कोई भावुक पूर्णरूप से श्रवण, मनन, निदिध्यासनों से भगवत्तत्व का हृदय में साक्षात्कार, अवगाहन, चिन्तन किया करते हैं वहाँ वही रस सर्वत्र अन्तःकरण, प्राण, रोम-रोम में भरपूर होता है। कहीं किसी तरह से उसका उद्गार कथासुधारूप में निकला, तब वह प्राकृत कथा नहीं, भगवत्तत्व ही उस रूप से व्यक्त होता है। प्रसिद्ध है कि महर्षि वाल्मीकि का शोक ही श्लोक रूप में व्यक्त हुआ। '**शोकः श्लोकत्वमागतः**'।

महर्षि अपने शिष्य भरद्वाज को लेकर तमसातीर पर आये। वहाँ क्रौञ्च-क्रौञ्ची विहार कर रहे थे। इतने में किसी व्याध ने क्रौञ्च को बाण मारा। वह मर गया और क्रौञ्ची करुण-विलाप करने लगी। महर्षि का हृदय करुणारस सागर से भरपूर था। आश्रम में जानकीजी पधारी थीं, लोकापवादभय से श्रीमद्रामजी ने उन्हें लक्ष्मण द्वारा त्याग दिया था। जब लक्ष्मण को रथ पर विह्वल देखा तो जनकनंदिनी ने पूछा–'लक्ष्मण, आपकी यह दशा किसलिये? इसपर लक्ष्मण ने जो कहा वह सुनकर जनकनन्दिनी मूर्छित हो गयीं। उन्हें वहीं छोड़कर लक्ष्मण अयोध्या चले गये। वाल्मीकि ने शिष्यों द्वारा सुनकर जनकनन्दिनी से वृत्तान्त पूछा। अनन्तर उनका सान्त्वन कर ऋषिपत्नियों के संरक्षण में उन्हें रक्खा। वहाँ यथाकाल उनके दो पुत्र हुए। रामवियोग में जनकनन्दिनी के क्रन्दन से जो अद्भुत कारुण्यरससागर हृदय में लहरा रहा था, वही क्रौञ्ची विलाप से उमड़ पड़ा।

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥"

यह बुद्धिपूर्वक लिखा गया श्लोक नहीं, शोक ही श्लोक बन गया है।

कोई भी कोई बात समझ के साथ कहे, वह उद्गार नहीं। रस में उफान आ जाता है। वह उच्छलित हो उठता है। संकुचित दिव्यपात्र में भरपूर रस वायु के हलचल से या किसी अन्य कारण से उच्छलित हो उठे, वह उद्गार है। इसीसे भावुक श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द के मङ्गलमय, परम पवित्र चरित्र का हृदय में अवगाहन करते हैं, वही कहीं प्रश्नवशात् लीलासुधारससार परमानन्दरसामृतमूर्ति भगवान् जब निकलते हैं, तो कथासुधारूप में। यही व्यक्त अग्नि है। भावुकों के मुखपंकज से विनिःसृत श्रीकृष्ण कथासुधा श्रोत्रों द्वारा भक्त हृदय में गयी तो वहाँ भी कृष्ण-स्वरूप व्यक्त हो उठता है। **'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं'** के अनुसार वैसे तो सब भगवान् हैं ही, पर अव्यक्त रहते हैं। जिसको वे व्यक्त हैं उसके मुखपद्म से कथासुधारूप में जहाँ गये वहाँ पर भी व्यक्त हो जाते हैं। बस फिर जहाँ ही श्रीकृष्ण को आत्मा व्यक्त होती है, वहीं आत्मा-राम श्रीकृष्ण का रमण होता है। श्रीकृष्ण के रमण के पश्चात् भावुकों का भी कृष्ण में रमण होता है। तात्पर्य यही कि आनन्दस्वरूप कृष्ण से सारा विश्व ही उत्पन्न है। अतः सभी कृष्ण की आत्मा हैं। किसी तरह भी जहाँ अव्यक्त आत्मा व्यक्त हुई वहीं कृष्ण का रमण होता है। विशेषतः व्रजाङ्गनाओं को तो परम्परा से नहीं, साक्षात् श्रीकृष्ण के ही मुखचन्द्र की अधरसुधारूप श्रीकृष्ण की आत्मरूपा वृषभानुनन्दिनी श्री वेणुगीत रूप में प्राप्त हुईं, अतः उनकी अव्यक्त रसरूपता-आत्मरूपता-सुतरां व्यक्त हो उठी। अतः सब व्रजाङ्गनाएँ वृषभानुनन्दिनीस्वरूपा हो गयीं, और श्रीकृष्ण परमानन्दकंद के अधर में रहनेवाली अधरसुधा व्रजांगनाओं के अधर में आयी। उसका संभोग श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द ने किया अतः वह भगवद्-भोग्या सुधा है। अब व्रजांगनाओं का रमण श्रीकृष्ण में होगा।

छांदोग्योपनिषद् में कहा कि जीवात्मा नाना प्रकार के कर्मों को करके चान्द्रमस लोक में चन्द्रस्वरूप धारण करते हैं और वे चन्द्रभावापन्न होकर देवताओं के अन्न—भोग्य—हो जाते हैं। तो कर्म क्या देवताओं के खाने की सामग्री होने के लिये किया जाता है ? नहीं, यहाँ अन्न का अर्थ संभोगसाधन है। जैसे राजाओं की सभा के सभ्य (सदस्य) राजा के मनबहलाव के लिये होने के कारण उनके उपकरण समझे जाते हैं, वैसे ही जीव भी इन्द्रसभा के सभ्य होकर उनकी आनन्द सामग्री होंगे। यही उनकी भोग्यता है। इस रीति से समस्त जीवजगत् परमात्मा का आराधन कर उनका यश विस्तीर्ण करता है, इसलिये वह परमात्मा का भोग्य है। भगवान् तो वास्तव में आप्तकाम, आत्माराम हैं, फिर भी भक्तों के लिये स्वरूप धारण करते हैं। भक्तों के मन में भी वैसी ही उत्कण्ठा रहती है। वे भगवान् के पीताम्बर, भगवान् के चन्दन, भगवान् के मस्तक पर विराजित मुकुट-किरीट, भगवान् के श्रीअङ्ग पर शोभायमान गुञ्जा, श्रीकण्ठ में वैजयन्ती, वन्यस्तबक-पुष्पमयी माला होकर उनकी सेवा करना चाहते हैं। इन्द्रादिक निष्काम नहीं हैं। भगवान् निष्काम हैं। केवल लोगों के लिये वह सकाम हो जाते हैं। इस तरह जीवों का भगवद्भोगसाधन बनना जीवों की भोग्यता है। इसी तरह भगवान् भी जीव के भोग्य हो जाते हैं, यह बात अलग है। यह समझो कि इन सब सामग्री से—भगवद्भोग्या अधरसुधा के संचार से—भगवदात्मभूता माधुर्यसारसर्वस्व श्रीवृषभानु-नन्दिनी का संचार होगा, तब श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का रमण होगा। पहले जीव में भगवान् का भोग्यत्व होकर उसमें भगवान् का रमण होता है, फिर भगवान् जीव के भोग्य होते हैं और उनमें जीव का रमण होता है। प्रथम श्रीकृष्ण का व्रजाङ्गना में रमण, फिर व्रजाङ्गना का श्रीकृष्ण में रमण। भोग्य परतन्त्र होता है, भोक्ता स्वतन्त्र। व्रजाङ्गनाओं में–जीवों में–पारतन्त्र्य, श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द में स्वातन्त्र्य। स्वाधीन (कृष्णाधीन) जो जीव व्रजाङ्गनाएँ हैं, उनमें श्रीकृष्ण रमण करेंगे। जहाँ जीवात्मा–व्रजाङ्गनाएँ भगवान् में रमण करते हैं, वहाँ जीवात्मा–व्रजाङ्गनाएँ–भोक्ता और भगवान् भोग्य, व्रजाङ्गना में स्वातन्त्र्य और श्रीकृष्ण में पारतन्त्र्य, यह उलटा होगा। मगर बात यह बहुत ऊँची है। यह दार्शनिक दृष्टि है।

हाँ, तो यहाँ कहा है शृङ्गाररस का प्राधान्य। संप्रयोग विप्रयोगात्मक शृंगाररसात्मा की यह लीला है। शृंगाररस में यह स्थिति रहती है कि नायिका भोग्या होती है और नायक भोक्ता। इसको साधारणी स्थिति कहते हैं। असाधारणी स्थिति में नायकनायिकाभावापन्न तथा नायिकानायकभावापन्न हो जाती हैं। लौकिक शृंगार में तो सब आरोप ही आरोप हैं, तत्त्वतः कुछ नहीं। रसोद्रेक में एक प्रकार का अभिमान हो जाता है। उस स्थिति में विपरीत रति होती है। किन्तु यहाँ केवल अभिमान ही नहीं, वस्तुतः नायकनायिकाभावापन्न तथा नायिकानायक-

भावापन्न हुई हैं। स्वातन्त्र्य ही पुंस्त्व है और पारतन्त्र्य ही स्त्रीत्व। पुमान्, एक पूर्णतम, पुरुषोत्तम ही हैं। निरंकुश, पूर्ण स्वातन्त्र्य केवल उन्हींमें है। तद्व्यतिरिक्त जीवों में आधिपारतन्त्र्य, व्याधिपारतन्त्र्य, जरापारतन्त्र्य, मरणपारतन्त्र्य-अनेकविध पारतन्त्र्य बन्धन हैं। जितने-जितने अंश में पारतन्त्र्य मिटता गया, उतने अंश में स्त्रीत्व भी मिटा। जितने-जितने अंश में स्वातन्त्र्य का उदय हुआ, उतने-उतने अंश में पुंस्त्व का भी उदय हुआ। अविद्या, कामकर्मादि जरादि, किसी प्रकार का भी पारतन्त्र्य जिनमें नहीं, ऐसे एकमात्र पुमान् श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द हैं। ततः अन्यत्र स्त्रीत्व-पारतन्त्र्य है। गोस्वामीजी भी यही कहते हैं—**'पर बस जीव स्वबस भगवन्ता।'** इस दृष्टि को लेकर भगवान् पूर्णस्वतन्त्र, भक्त पूर्णपरतन्त्र। भक्त अपने अंतःकरण को, अन्तरात्मा को, प्राणों को सर्वथा पूर्णतम, पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण परमात्मा के अनुकूल, अनुगामी बना दे। उनकी रुचि से पृथक् अपनी रुचि न रहे।

"आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यविसर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।"

सब तरह अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का त्याग करें। जहाँ वेद, शास्त्र, पुराणादि से सुना कि यह प्रभु को नहीं रुचता उसे तुरत छोड़ दे। भगवान् अवश्य संरक्षण करेंगे, यह दृढ़ विश्वास, गोप्तारूप में श्रीभगवान् का ही वरण, अपने आपको श्रीभगवान् के श्रीचरणारविन्दों में समर्पण कर देना तथा अपने में दैन्याभिव्यक्ति, अपने में अपकर्ष का चिन्तन; इस प्रकार की शरणागति से जीव पूर्णरूप में अपना पारतन्त्र्य व्यक्त कर देता है। ऐसी स्थिति में भक्त भोग्य होता है और उसमें भोक्ता भगवान् का रमण होता है। यह स्थिति जहाँ पलटी वहाँ भगवान् भक्तपरतन्त्र हो जाते हैं।

'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा।'
'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।'
'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज॥'

भगवान् कहते हैं कि भक्त मुझे अपने वश में कर लेते हैं। परम भगवद्भक्त राजा अम्बरीष का दुर्वासा की कृत्या से रक्षण करने के लिये जब दुर्वासा पर चक्र छूटा, तो दुर्वासा देवताओं की शरण में गये। सब देवताओं ने कहा कि हम भक्त-विद्रोही का रक्षण नहीं कर सकते। आगे ब्रह्मा, शिव का भी यही जवाब हुआ। आखिर दुर्वासा श्रीभगवान् महाविष्णु के पास गये। तब भगवान् कहते हैं कि, 'आपका रक्षण करना तो ठीक ही है, पर क्या करूँ? मैं स्वतन्त्र नहीं। स्वतन्त्र अगर होता तो अवश्यमेव आपका रक्षण करता। मैं भक्तपरतन्त्र हूँ। कारण, मेरा व्रत है कि—**"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"**

हमारे भक्त इतने तन्मय हो जाते हैं कि वे मुझसे अतिरिक्त कुछ जानते ही नहीं। तब फिर मैं भी उनसे अतिरिक्त क्या जानूँ?' इसीको लेकर यह आया कि पहले, भक्त में अत्यन्त पारतन्त्र्य, भगवान् में स्वातन्त्र्य; पीछे 'ये यथा' के अनुसार भक्त में स्वातन्त्र्य, और भगवान् में पारतन्त्र्य होता है।

'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।'

बड़े-बड़े देवाधिदेव जिनका ध्यान करते हैं, **'भीरपि यद्बिभेति'**, उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के दोनों श्रीहस्त अपने एक हाथ में पकड़कर नंदरानी एक हाथ से छड़ी दिखायें और भगवान् भी उस छड़ी से डरें, यही पारतन्त्र्य है। इससे स्पष्ट है कि पहले भगवान् में स्वातन्त्र्य, फिर भक्त में स्वातन्त्र्य; पहले भगवत्सम्मिलन के लिये भक्त लालायित, फिर भक्तसम्मिलन के लिये भगवान् लालायित। परमभक्त मधुसूदन सरस्वती ने वृन्दावन में जाकर भगवत्साक्षात्कार के लिये गोपाल सहस्रनाम के चार पुरश्चरण किये, पर उनको साक्षात्कार न हुआ। फिर काशी में आये और यहाँ पर श्रीकालभैरव का अनुष्ठान किया। उस अनुष्ठान पर श्रीभैरव प्रसन्न हुए। कहा--वर माँगो। इसपर मधुसूदन सरस्वती ने कृष्णसाक्षात्कार ही माँगा। भैरव कहते हैं कि वृन्दावन जाओ और वहाँ गोपालसहस्रनाम का पुरश्चरण करो। मधुसूदन कहते हैं कि मैंने तो वहाँ पर चार पुरश्चरण किये, पर साक्षात्कार नहीं हुआ। इसपर श्री कालभैरव ने पापों के चार पहाड़ दिखलाये और कहा कि उन पुरश्चरणों से ये नष्ट हुए, अबकी बार साक्षात्कार होगा। मधुसूदन सरस्वती पुनः वृन्दावन गये, गोपालसहस्रनाम का अनुष्ठान किया और तब भगवान् का प्राकट्य हुआ। जब श्रीश्यामसुन्दर सामने आकर खड़े हुए, तो मधुसूदन सरस्वती ने चट अपना मुँह फेर लिया। जिधर-जिधर श्यामसुन्दर जाकर खड़े हों उधर-उधर से मधुसूदन अपना मुँह फेर लें। आखिर श्रीकृष्णचन्द्र ने ही उन्हें मनाना शुरू किया। कहाँ यह स्थिति कि वह श्रीकृष्ण के लिये लालायित और कहाँ यह कि अब श्रीकृष्ण ही उन्हें मनाते हैं। महास्वातन्त्र्य के प्रथम पारतन्त्र्य अपेक्षित है। अगर स्वतन्त्रता चाहते हो, तो उसका कुछ त्याग भी करो। हम वेद, शास्त्र, माता, पिता, धर्म-कर्मों से भी स्वतन्त्रता चाहते हैं, पर यह स्वतन्त्रता तो परतन्त्रता के घोर गर्त में गिरानेवाली है। बालक माता, पिता, अध्यापकों के परतन्त्र न हों, तो वे उच्छृङ्खल होंगे। फिर जन्म-जन्म के लिये घोर अनर्थमय कंटकाकीर्ण गर्त में पड़ेंगे। कोई भी राष्ट्र स्वतन्त्रतारक्षा के लिये सैनिक संगठन करना चाहे तो वह सेनापति के अत्यन्त परतंत्र हो। अगर सेना उसकी आज्ञा का उल्लंघन करे तो विजय, स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो सकती। अतः परम सिद्धान्त यह है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भक्त के परतन्त्र होते हैं। जिनके भ्रुकुटिविलास से सबको नचानेवाली माया जिनके सामने नाचे वे स्वयं नाचते हैं—**'तद्वतो दारुयन्त्रवत्'** परमानन्दमूर्ति श्रीकृष्ण कठपुतली के समान व्रजाङ्गनाओं के परतन्त्र हो गये।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभतानि यंत्रारूढानि मायया॥"

सर्वभूतों के हृदय में स्थित होकर भगवान् काठ की पुतली के समान सबको नचाते हैं, और वे ही फिर प्रेम-परतन्त्र होकर भक्तों के खिलौने बन जाते हैं। तथा च भक्त में भगवद्भावापत्ति, भगवान् में भक्तभावापत्ति, इसीका नाम परस्परभावापन्नता है। यह रसोद्रेक, आनन्दोद्रेक में होता है। अतएव श्रीकृष्ण में व्रजाङ्गनाभावापत्ति और व्रजाङ्गनाओं में श्रीकृष्णभावापत्ति कही गयी। वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्ण हो गयीं और श्रीकृष्ण वृषभानुनन्दिनी हो गये, यह भावना की महिमा है। औरों की भावना अभिनिवेश, अभिमान अदृढ़ और भगवान् का तथा वृषभानुनन्दिनी का अभिमान सुदृढ़ है। जब रसोद्रेक में विपरीत रति का संचार हुआ, वृषभानुनन्दिनी का श्रीकृष्ण में अभिमान-पुरःसर प्रवेश हुआ, तब वृषभानुनन्दिनी में भी श्रीकृष्ण का अभिमानपुरःसर प्रवेश हुआ। इसीलिये कहा जाता है कि—**'शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः।'**

दोनों परस्पर अन्तरात्मा हैं। शिव संहारक और विष्णु पालक देवता हैं। संहार में तमोगुणप्राधान्य और पालन में सत्वगुणप्राधान्य होता है। सत्व स्वच्छ, शुभ्र प्रकाशात्मक तथा तम आवरणात्मक, काला है। अतः शंकर को कृष्ण होना चाहिये और विष्णु को शुक्ल, पर यहाँ तो सब उलटा ही है। क्यों? परस्पर सुदृढ़ उपास्योपासकभाव से परस्पर का रङ्ग परस्पर में आया। कारण—**"सेवक स्वामि सखा सिय पीके।"**

शिव भगवान् के सेवक भी, स्वामी भी, सखा भी, अतः स्वच्छ, सत्वमय विष्णु की भावना की महिमा से शिव शुक्ल हो गये, भावना की ही महिमा से विष्णु श्यामल हो गये। ऐसे ही देखें तो संकीर्णता को अवकाश नहीं।

कहीं कहीं तो ऐसा भी लिखा है कि श्रीशंकर ही श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं, क्योंकि दोनों परस्पर अन्तरात्मा ही हैं न! जैसे रुद्ररूपा वंशी मानी गयी, वैसे ही कहीं श्रीकृष्ण को काली का अवतार माना है। प्रकृत में यह आया कि साधारण शृंगार में भावना अभिमानमात्र है। यहाँ तो स्वरूपपरिवर्तन भी है। यहाँ वृन्दारण्य, श्रीकृष्णपरमानन्दकन्द, वृषभानुनन्दिनी, व्रजांगनाएँ, एतत् समवेत मङ्गलमयी लीलाभूमि उस अचिन्त्य, अनन्त, अद्भुत, प्रेमानन्दरससिन्धु में क्षणे-क्षणे आविर्भूत-तिरोभूत होते रहते, उन्मज्जन-निमज्जन करते रहते हैं। उस स्थिति में कभी श्रीकृष्ण वृषभानुनन्दिनी के रूप में, कभी वृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्ण रूप में प्रकट होती हैं। यही कहा **'उभयोभयभावात्मा।'** आया यह कि साधारण नायक में उत्कट रस ही व्यक्त नहीं हो सकता, पर निखिलरसामृतमूर्ति उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्ण तो रसस्वरूप ही हैं। इनके सम्पर्क से इतना उत्कट, अद्भुत, अनन्तरस उद्भूत हो

गया कि परस्पर भावापत्ति हो गयी। यह श्रीकृष्ण पूर्णतम, पुरुषोत्तम स्वयं भोक्ता ही हैं, भोग्य नहीं, व्रजांगना स्वयं स्त्री, भोग्या। अतएव उनके भोक्ता श्रीकृष्ण भोग्य नहीं हो सकते। उनके ही क्या, दूसरे पुरुषों के भी भोग्य वे नहीं हो सकते। पुरुष पुरुषों के भोग्य नहीं होते। पारतन्त्र्य लक्षण स्त्रीत्व ही सबमें हैं, अतः सब भोग्य ही हैं। तो क्या स्वयं श्रीकृष्ण ही अपना भोग करें ? नहीं। यह इस रीति के विरुद्ध है। अब अधरपल्लव की सर्वभोग्या सुधा, किसकी भोग्या ? देवभोग्या खग, मृग, पशु, तरु, लता, गुल्मादिकों को, भगवद्भोग्या श्रोत्रद्वारा व्रजांगनाओं को, अब सर्वभोग्या का भोक्ता कौन ? यह तब भोग्य हो कि जब भगवान् भोग्य हों। यह कैसे हो ? उनका भोक्ता तो कोई भी नहीं हो सकता। इसलिये कहा कि जब भगवद्भोग्या अधरसुधा व्रजांगनाओं में सर्वत्र भरपूर हुई और व्रजांगनाओं में श्रीकृष्ण का रमण हुआ, उन्होंने उस भगवद्भोग्या अधरसुधा का संभोग किया, तब लोकोत्तररसोद्रेक से व्रजांगनाओं में श्रीकृष्णभावापत्ति और श्रीकृष्ण में व्रजांगनाभावापत्ति हुई। उस समय श्रीकृष्ण भोग्य हुए। इसलिये सर्वभोग्या अधरसुधा का भोग व्रजांगनाओं को प्राप्त हुआ। सारांश यह कि साधारण स्थिति में जो अधरसुधा किसीको भोग्य नहीं वह सर्वभोग्या है। जहाँ श्रीकृष्ण ने रमण किया वहाँ विपरीत भावापत्ति हुई।

भक्तों में इसके अनेक उदाहरण हैं। विष्णुपुराण में प्रह्लाद का प्रसंग बड़ा ही सुन्दर वर्णित है। प्रह्लाद के अंग में शिला बाँधकर उसे समुद्र में फेंक दिया गया। जितनी उसको अधिक यातना हुई उतनी उसको विष्णुप्रीति अधिक बढ़ी। यहाँ तो कुछ विघ्न-बाधा हुई कि कहते हैं, भजन हमारे कुल में सहता नहीं। एकादशी को अगर कोई मरा, तो कहते हैं कि एकादशी हड्डी है। कनक जैसे-जैसे दग्ध किया जाता है वैसे-वैसे उसका मूल्य बढ़ता है, वह चमकता है, निखरता है। वैसे ही भक्त अधिकाधिक निखरता है। अतएव भक्तों को कष्ट, विपत्तियाँ आती हैं, पर वे धैर्य-पुरःसर आगे ही बढ़ते हैं। पहली स्थिति यह कि "भूतानि विष्णुः", सर्वं विष्णुमय है। फिर "अहं विष्णुः" की भावना का दाढर्य सम्पादित होता है। तब प्रह्लाद का पैर जिस क्षण समुद्र में पड़ता, आसमुद्र भूमण्डल डगमग करने लगता। यह भावना-महिमा से विष्णुभावापत्ति है। इसी तरह छान्दोग्य में "भूमैवाधस्तात्" इत्यादि से सर्वत्र सर्व दिशाओं में भूमा पूर्णतम पुरुषोत्तम को बतलाकर "अहमेव सर्वतः" ऐसा बतलाया है। श्री वल्लभाचार्य भी इसे मानते हैं, पर कहते हैं कि यह संचारी भाव है। कुछ देर के लिये प्रेमोन्माद में आता है। रास-पञ्चाध्यायी में व्रजांगना कहती हैं—"कृष्णोऽहं पश्यत गतिं।" सखि ! मैं श्यामसुन्दर ही हूँ। उधर वृषभानु-नन्दिनी की स्थिति—"मधुरिपुरहमितिभावनशीला।" सखी कृष्ण से संदेश कहती है कि आपकी प्रियतमा आपकी प्रतीक्षा करती-करती श्रीकृष्ण हम ही हैं, यह भावना करती है। प्रेम और ज्ञान का अन्तिम भाव एक ही है। श्रीकृष्ण ने—मक्खन चुराने-वाले लाला ने —'दासोऽहं', 'दासोऽहं' का जप करनेवाले, भावना करनेवाले, भक्तों

का 'दा' चुरा लिया। बच गया **'सोऽहं'**, यह प्रेममार्ग से। वेदान्तमार्ग अलग है। शृंगाररस में नायक-नायिका परस्परभावापन्न होते हैं। वैसे ही श्रीकृष्ण और व्रजांगना वृषभानुनन्दिनी में परस्पराभावापत्ति हो गयी। अतः जो किसी के भोग्य नहीं, उनके भोग्य हो जाने के कारण उस सर्वाभोग्या अधरसुधा की प्राप्ति व्रजांगनाओं को हुई।

"वृंदारण्यं स्वपदरमणम्"—वृन्दारण्य कैसा? स्वपदरमणम्। **"स्वपदं वैकुण्ठधाम तस्मादपि रमणम्। किंवा स्वपदेन (स्वस्य पदमधिष्ठानं) रमणम्।"** वैकुण्ठ दो—१. भौमवैकुण्ठ, २. परमवैकुण्ठ। वृंदारण्य भौमवैकुण्ठ है। वह परमवैकुण्ठ से भी रमण है। वैकुण्ठवासी यहाँ आये, तो वह भी यहाँ आया। जहाँ भगवान् जाते हैं वहाँ उनका धाम भी पधारता है। इसी अभिप्राय से सुमित्रा लक्ष्मणलाल से कहती हैं—**"अयोध्यामटवीं विद्धि।"** गोस्वामीजी कहते हैं—

"जहाँ राम तहँ अवध निवासू, जहाँ भानु तहँ दिवस प्रकासू।"

इससे यह बात निकलती है कि जहाँ श्रीकृष्ण हैं वहाँ वैकुण्ठ। भावुकों का हृदय भी वैकुण्ठ है। श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द का वृन्दारण्य कहाँ? व्रजाङ्गनाओं के हृदय में। वहाँ जो प्रेमसुधातरंगिणी बही व यमुना, उनके उन्नत विशाल वक्षोज गोवर्धनादि पर्वत, रोमपंक्ति वन, इसी तरह सर्वभावों का संपादन होता है। सजातीय-विजातीय-भेदरहित श्रीकृष्ण परब्रह्म का प्राकट्य कहाँ? महावाक्यजन्य परब्रह्माकाराकारित मानसिक वृत्ति पर। जैसे सूर्यकान्त पर अग्निरूप में सूर्य का प्राकट्य होता है वैसे निर्वृत्तिक अन्तःकरण की जो परब्रह्माकाराकारित वृत्ति है उसी पर ब्रह्म का प्राकट्य होता है। भक्तहृदय कैसा? अति निर्मल, स्निग्ध, पवित्र, भगवदाकाराकारितवृत्तिमान्। भूमि से लेकर क्रमशः सर्वोपरि अव्यक्त और उसके ऊपर भगवान्। यही अव्यक्त शेष है। **'शिष्यते यः स शेषः'**, कार्यों के कारणों में लय होने के बाद कारण ही शेष रहता है। वह अव्यक्त मायावच्छिन्न चैतन्य महाकारण सहस्रफणायुक्त है। उसीपर श्रीमन्नारायण शयन करते हैं। वही महाकारणातीत, कार्यकारणातीत परब्रह्म है। भागवत में कहा है—**'अव्याकृतमनन्ताख्यं'** वही प्रकृतिविशिष्ट चैतन्य अनन्त भगवदधिष्ठान आसन है। भगवदाकाराकारित, स्वच्छ, स्निग्ध मनोवृत्ति पर सगुण, साकार ब्रह्म का प्राकट्य है। जहाँ भगवान् हैं वहाँ इसको जाना पड़ेगा, क्योंकि उसके बिना राम का प्राकट्य नहीं होगा। अतएव भक्तहृदय ही अवध और भक्तहृदय ही वृन्दारण्य। उसके सब जगह प्रकट करने में कठिनाई है, मेहनत है। पर वह है व्यापक। जैसे नेत्र जिसे कहते हैं वह नेत्रगोलक और उसके भीतर अतीन्द्रिय, इन्द्रिय है, वैसे वृन्दारण्य गोलक और उसमें मुख्य वृन्दारण्य। वहाँ लौकिकता का भान दोषवश होता है। भगवान् तो अपने आपमें ही प्रतिष्ठित हैं। वह शेष केवल अव्यक्त जडांश नहीं, किन्तु अव्यक्तांश पर चेतनांश होता है। वृन्दा-

रण्यादि सर्व अद्भुत, अनन्त, परमानन्दसिन्धु में से ही विकसित हैं। उसमें भी उसके भी ऊपर भगवत्स्वरूप वृन्दावन अलग है। वृन्दारण्य अव्यक्त रूप है। उसमें रसरूप वृन्दारण्य है। और स्वस्वरूपभूत वृन्दारण्य में ही भगवान् का रमण हुआ।

'स्वपदरमणं, स्वपदादपि रमणम्'—वैकुण्ठ से भी रमण। व्रजाङ्गना कहती हैं– **'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।'**

हे श्यामसुन्दर, आपके मङ्गलमय जन्म से व्रज अत्यन्त सुशोभित हो उठा। **"वैकुण्ठात् सर्वस्मादपि लोकात् अधिकं जयति।"** कैसे ? लक्ष्मी वृन्दावन में सदा सेवा करती है, वैकुण्ठ में सेव्या है। व्रज में लक्ष्मी श्रीजी के चरणारविन्दरज के स्पर्श के लिये लालायित हैं। **"यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽचरत्तपः।"** यमुनाघाट बिल्ववन में लक्ष्मी तपस्या करती है। इस प्रकार वह यहाँ पर सेविका है। ऐसे **'स्वपद्भ्यां रमणम्।'** जहाँ पर श्रीचरणारविन्द पाषाणों पर अंकित हैं। पाषाण पर खड़े होकर किये वंशीनिनाद से वह कोमल हो जाने से भगवत्पद वहाँ पर अंकित हो उठा। ऐसे वृन्दारण्य में भगवान् पधारे।

वृन्दारण्य स्वयं सुशोभित है ही, पर प्रभु के श्रीचरणारविन्दों से अङ्कित होने के कारण वह अधिक सुशोभित हुआ। अथवा **'स्वपदं रमणं रतिजनकं यस्य तत्'** भगवान् के श्रीचरणारविन्दों से रमण, रति, आनन्द प्राप्त होता है जिसको, ऐसा वृन्दावन। अर्थात् प्रभु के श्रीचरणों के स्पर्श में वृन्दारण्य को अद्भुत, लोकोत्तर आनन्द प्राप्त होता है। भगवान् का चरण ही आनन्दमय मङ्गलमय है। इसलिये जिसको भी स्पर्श हो उसीको आनन्द होगा ही, पर विशेषरूप से जो सरस हैं उनको अधिकाधिक आनन्द होता है। अतः वृन्दारण्य को अधिक आनन्द–रमण–हुआ। वृन्दारण्य सरस है, आर्द्र है। तभी भगवान् के श्रीपद वहाँ अङ्कित होते हैं। यदि बहुत सा श्रवण भी कर लिया, पर हृदय आर्द्र सरस न हो, तो प्रभु के पद अङ्कित नहीं हो सकते। कठोर लाक्षा पर अङ्क सुस्थिर नहीं होता। अग्नि सम्बन्ध से लाख द्रुत होने पर अङ्क (मुहर) वहाँ सुस्थिर होगा। इसी रीति से हृदय यदि आर्द्र है तभी भगवान् के मङ्गलमय चरण अङ्कित होंगे। कठोर हृदय में यदाकदाचित् प्रसङ्गवश अभिव्यक्त होने पर भी सुस्थिर अङ्कित न हो सकेंगे। प्रसङ्गवश खल भी उत्तमोत्तम वार्तालाप प्रसङ्ग में रहते हैं, मगर वे उसमें स्थिर नहीं होते। वहाँ मालूम होनेवाला रस रसाभास है। अतएव हृदय द्रुत करने का प्रयत्न करें, तो प्रभु में स्थायी रति हो। इसलिये वृन्दारण्य द्रुत होने से वहाँ श्रीचरण अंकित होते हैं और उसको रमण–आनन्द–रति प्राप्त होती है। यह तो वृन्दारण्य का अद्भुत भाग्य है कि वहाँ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के निरावरण चरण हैं। यह भाग्य आज तक किसी को प्राप्त नहीं हुआ। द्वारका में भगवान् का निवास था, वहाँ वे थे राजाधिराज। राजाधिराज के निरावरण चरणों का स्पर्श भूमि को कैसे हो सकता है ? तभी तो मथुरा

को भी मथुरानाथ के चरणों का स्पर्श नहीं। उसे यह सौभाग्य ही नहीं है। यह वृन्दारण्य को ही सौभाग्य है, क्योंकि यहाँ पर गोचारण रूप स्वधर्मपालनार्थ प्रभु निरावरण चरण ही पधारे।

आनन्द वृन्दावन चम्पू में कथा है कि—एक बार श्रीकृष्णचन्द्र गोचारणार्थ वन जाने को मचल पड़े। प्रभु ने कहा—'मैया, मैं तो गोचारण के लिये जाऊँगा। माता नन्दरानी यशोदा और बाबा नन्दराय तो अपने ललन को एक क्षण के लिये भी अपने से वियुक्त होने देना नहीं चाहते थे। फणी को जैसे मणि में लोकोत्तर अनुराग होता है, वैसे नन्दराज को हमारे ललन गोचारण के लिये जायँ, यह वियोग कैसे सहन हो? रात्रि में जब व्रजगेहिनी अपने ललन को अङ्क में लेकर सोती, तो बीच-बीच में जागती, बार-बार अपने ललन को स्पर्श करती। जैसे किसी महारंक को चिन्तामणि मिले और वह उसे बार-बार सम्हाले, वैसे ही व्रजेन्द्रगेहिनी का प्रभु में अद्भुत अनुराग था जिससे वह बार-बार चुम्बन करती, मस्तक सूँघती। वही श्रीकृष्ण गोवत्सचारण के लिये जाने को मचले। फिर तो यह श्यामसुन्दर नटखट की मचल। मैया कहती—'न जाओ लाला!' लाला कहते—'नहीं मैया, मैं तो जाऊँगा। यह गोचारणरूप अपना स्वधर्म है। उसका पालन करना ही चाहिये।' आखिर जब श्यामसुन्दर न माने, तो कहा—'अच्छा लाला, ठीक मुहूर्त मिले तो जाना। मैं गर्ग महाराज से पूछूंगी।' भगवान् की इच्छा होने पर क्या देर! उसी समय श्री गर्गाचार्य आ गये। प्रभु को देख, पूछा—'आज क्यों लाला मचला हुआ है?' नन्दरानी ने कहा—'महाराज! लाला कहता है मैं गोचारण के लिये वृन्दावन जाऊँगा, सो आप मुहूर्त बताओ।' गर्गाचार्य ने भी पत्रा-वत्रा देखकर बतलाया-'ठीक तो है। यह गोपाष्टमी बड़ा अच्छा दिन है। उसी दिन मुहूर्त करो।' गर्गाचार्य का वचन सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र परम प्रसन्न हुए। गोपाष्टमी आयी। उस दिन विधि-विधान-पूर्वक गोपूजन हुआ। अम्बा ने श्रीकृष्ण से गौओं को साष्टांग प्रणाम कराया। प्रभु अपने अम्बा, बाबा को प्रणाम कर वृन्दारण्य पधारने निकले। अब अम्बा बार-बार गोपालों को समझाती, कहती कि 'देखो, हमारे लाला की रक्षा करना; भला? उसे अकेले कहीं न जाने देना।' श्रीकृष्ण का श्रीहस्तारविन्द गोपालों के हाथ में देती। इस तरह कहते-कहते मैया-बाबा साथ-साथ चलते हैं, यह देख श्यामसुन्दर कहते हैं-'मैया, जाऊँगा मैया।' बाबा ने कहा—'लाला पादत्राण तो पहनो!' प्रभु कहते—'नहीं, गौ हमारी इष्टदेवी हैं। यदि निरावरण चरण से ये जायेंगी, तो हम कैसे पाद-त्राण धारण करें? पशुपालन ही हमारा इष्टदेवताराधन है।' आराधन में यही प्रकार होता है। दिलीप भी जब नन्दिनी के साथ उसकी सेवा करने वन में गये तब इसी तरह से गये।

"स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥"

श्रीकृष्णपरमानन्दकन्द ने तो धर्मसंस्थापनार्थ अवतार लिया है—**'यदा यदा हि धर्मस्य'** ऐसा भगवान् का ही वचन है। स्वयं आचरण प्रचार द्वारा धर्म स्थित होता है। इसीलिये गोचारण द्वारा स्वधर्मस्थापन किया। भगवान् गौओं की खूब सेवा करते हुए चलते हैं। इसोलिये निरावरण-चरण चले। अतएव वृन्दारण्य को साक्षात् चरणस्पर्श हुआ, इतरों को परम्परया। अन्य किसी धाम को भी कृष्ण के निरावरण चरणों का स्पर्श नहीं हुआ। इसीलिये जो अन्यत्र सेव्या श्रीलक्ष्मी, वह भी यहाँ पर सेविका होकर रहती है। एवं चरणसंबद्ध वृन्दावन के सम्बन्ध से ही समस्त भूमि ने अपने को सौभाग्यशालिनी समझा। इसलिये कि प्रभु हमारे में ही हैं, भूमि गर्वीलो हो गयो।

व्रजाङ्गनाओं ने भूमि को देखकर पूछा कि 'हे धरित्री, तुमने कौनसा तप किया कि श्रीकृष्णचन्द्रपरमानन्दकन्द के निरावरण चरणों का तुम्हें स्पर्श हुआ!

"किन्ते तपः क्षिति कृतं बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसंभव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥"

हे सखि धरित्रि, कौन योग, कौनसो आराधना तुमने की जिससे तुम्हें श्यामसुन्दर केशव के श्रीचरणों का स्पर्श हुआ? बताओ तो, हम भी वहीं करें। यदि तुम्हारी तपस्या जान लें, तो युग-युग में वही करें कि कल्पकल्पान्तर में कभी न कभी वह चरण हमें प्राप्त हो। धरित्री ने पूछा—तुमने हमारे इस सौभाग्य को कल्पना कैसे की? व्रजाङ्गना ने कहा—श्रीश्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन के श्रीचरणारविन्दस्पर्श से होनेवाला उत्सव हम देख रही हैं। आनन्दोद्रेक से आह्लाद में रोमाञ्च होता है। कार्य से ही कारण का अनुमान किया जाता है। यह चरणस्पर्श का ही फल है कि तुम्हारे रोएँ खड़े हो रहे हैं। भूमि पर जो वृक्ष, लता, तरु, गुल्म, औषधियाँ, दूर्वाएँ हैं, वही रोमाञ्च है। श्रीकृष्णपरमानन्द के चरणसंस्पर्श से ही ऐसा आनन्द हो सकता है। धरित्री ने कहा—यह रोमाञ्चरूप लतादि क्या आज ही के हैं? नहीं, ये तो कितने ही दिनों के हैं। व्रजाङ्गनाओं ने कहा—अब के नहीं; न सही। जब भगवान् वामन ने अपने चरणों से तीनों लोक को नापा था, उस समय उन मङ्गलमय चरणारविन्दों के स्पर्श से यह रोमावली उद्गत हुई होगी। आखिर कारण क्या? कुछ भी कहो, उनके चरणस्पर्श बिना यह रोमाञ्च नहीं हो सकता। ऐसा आह्लाद अन्यत्र कहीं नहीं होता। धरित्री ने फिर कहा—नहीं, ये और पहले के हैं। क्या वामनावतार के पहले वृक्ष-लतादि रोमाञ्च नहीं थे? व्रजाङ्गनाओं ने कहा—**'आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन'** सखि, तब के भले हो न हों, पर जब हमारे प्रियतम प्राणधन ने वराहावतार लेकर रसातल से तुम्हारा उद्धार करते समय परिरम्भण किया उस समय से यह रोमावली होगी। यह रोमोद्गम ब्राह्मरससंस्पर्श से ही हो सकता है। इसलिये अब नहीं, तो वामनावतार में, तब नहीं, तो वाराहावतार ही में सही। सखि

धरित्रि, छिपाओ मत, बतलाओ, बतलाओ, हम भी तुम्हारी ही तरह तपस्या करें। इसी कारण वृन्दारण्य के संस्पर्श से सब भूमि रोमाञ्चित हो गयी। भूमि अपने सौभाग्य पर गर्वीली होकर इठलाती है। जैसे **'बिनु स्रम बिन्ध्य बड़ाई पावा'**, वही बात यहाँ भूमि के पक्ष में भी है।

विन्ध्याचल के एक देश चित्रकूट को श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र ने चरण से स्पर्श किया। वहाँ पर तपस्वी वेश से भगवान् ने निवास किया। इतने से ही विन्ध्य ने बड़ाई पायी। एक दिन देवर्षि नारद उसके यहाँ पधारे। कहा - तुम तो बहुत पुराने हो, लेकिन सब लोक हिमालय को बड़ा समझते हैं। यह कुछ अटपट-सी बात मालूम होती है। विन्ध्य ने सोचा—मेरु की सूर्य प्रदक्षिणा करते हैं, इसीसे उसे लोग बड़ा समझते हैं। तो वही बन्द कर दिया जाय। बस, विन्ध्य बढ़ने लगे। सूर्य भगवान् का मार्ग बन्द हो गया। सब धर्म, कर्म, उपासना, अग्निहोत्रानुष्ठान बन्द हो गये। सूर्योदय हो नहीं, तो कुछ हो कैसे ? तब सब देवता, ऋषि संत्रस्त होकर अगस्त्य ऋषि की प्रार्थना करने काशी में आये। ऋषि की प्रार्थना कर उन्हींको भेजा। विन्ध्य अगस्त्य का शिष्य था। उन्हें देखकर उसने खर्वरूप धारण किया, प्रणाम किया। अगस्त्य प्रसन्न होकर बोले—'जब तक मैं उधर से नहीं लौटता तब तक ऐसे ही पड़े रहो। अगस्त्य दक्षिण समुद्र पर चले गये और विन्ध्य जैसा का तैसा पड़ा रहा। फिर श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र ने जब चित्रकूट पर निवास किया, तब विन्ध्य ने पुन: बिना श्रम उत्कर्ष पाया। उसके शत्रु भी उसकी महिमा गाने लगे। तात्पर्य यह कि भगवान् के मङ्गलमय श्रीचरणों के स्पर्श से वृन्दारण्य ही नहीं, समस्त भूमण्डल सौभाग्ययुक्त हुआ।

किंवा **"स्वपदयोः रमणं रतिजनकं-स्वपदरमणम्।"** भगवान् के मङ्गलमय श्रीचरणारविन्दों को आनन्द देनेवाला। अर्थात् अतिरम्य भूमि, सुकोमल वालुका, श्यामल-श्वेत दूर्वाएँ एवं अद्भुत, अभिनव पत्र, पुष्प, पल्लवों से वृन्दारण्यभूमि सुशोभित है। जहाँ श्रीकृष्ण के चरणारविन्द जायँ, वहाँ कठोरता न मालूम पड़े, अत: वृन्दारण्य ने अपने को सजा रखा। प्रभु चरणों में कहीं आघात न लगे। ऐसे वृन्दारण्य धाम में भगवान् पधारे। जहाँ-जहाँ प्रभु के श्रीचरणारविन्द का विन्यास होता है, वहाँ-वहाँ वृन्दारण्य अपने हृदयकमल को विकसित करता है। भगवान् के चरणारविन्द वृन्दारण्य के हृदय पर ही विन्यस्त होते हैं। व्रजाङ्गनाएँ इसका बड़ा संताप करती हैं कि प्रभु के चरण अत्यन्त सुकोमल हैं, उन्हें वृन्दारण्य के दूर्वा, कुश-कण्टक गड़ते होंगे। अलौकिक प्रतीति चाहिये ही। व्रजाङ्गनाओं को यह बात सदा खटकती ही रहती है कि श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में कण्टकादि कहीं गड़ न जायँ—

"यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीता वयं प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित्कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥"

हे श्यामसुन्दर, व्रजेन्द्रनन्दन, मनमोहन ! आपके श्रीचरण सुजात, सद्योजात, सुकोमल कमल से भी शतकोटिगुणित कोमल हैं। उनको अपने हृदय पर हम ताप-पापशान्त्यर्थ धारण करती हैं। पर संकुचित होती हैं कि चरण सुकोमल हैं, हमारे हृदय कठोर हैं, अतः कठोर हृदय के सम्पर्क से चरण में कहीं आघात न लगे। इसलिये भयभीत होकर कर्कश हृदयपर–वक्षोज पर–मनमोहन श्रीकृष्ण के चरणारविन्द धारण करती हैं, उसीसे आप अटवी का अटन करते हैं, वन में विहरण करते हैं ! क्या वहाँ वृन्दारण्य के जो दूर्वा, लता-गुल्म, तृण, अंकुर, कण्टक हैं, उनसे आपके सुकोमल चरण व्यथित नहीं होते ? हा ! क्या कहें, श्री श्यामसुन्दर को इतना कष्ट, और हम अभी भी जीवित हैं !

इसी भाव से उनकी निष्कामता प्रकट होती है। यहाँ स्वसुखसुखित्व नहीं, तत्सुखासुखित्व है। इससे श्यामसुन्दर के सुख में सुखिनी होना कहा गया। पिता जब अपने बालक का मुख चुम्बन करने लगता है तब बालक को उसकी दाढ़ी-मूँछें गड़ती हैं, बालक को वह अच्छी नहीं लगतीं, वह रोता है। पर पिता अपने रस में बालक के रोने की पर्वाह नहीं करता। **"आत्मनस्तु कामाय प्रियं भवति"** यही सिद्धान्त है। पत्नी, पति, पुत्र इत्यादि उनके लिये प्यारे नहीं, अपने लिये प्यारे लगते हैं।—**"न वाऽरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।"** पिता बालक की तरफ ध्यान नहीं रखता, चुम्बन की बौछार लगा देता है। राग का स्वाभाविक था कि व्रजाङ्गनाएँ चरणों का पूर्ण आलिङ्गन करतीं, किन्तु उनका हृदय डरता है कि प्रभुचरण कोमल से कोमल है और हमारा हृदयप्रदेश अतिकठोर है। यहाँ पर चरणों को पीड़ा होगी। यही ध्यान है। अपने सुख पर ध्यान नहीं। प्राप्त यही था कि चरणों का गाढ़ आलिङ्गन करतीं, परन्तु वे रागोद्रेक को दबा देती हैं। जो कुछ हो, उन्हें अपनी पर्वाह नहीं है। यह भाव कहीं साधारण कामिनी में हो सकता है ? इसलिये कहा है कि **'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्'** गोपाङ्गनाओं को काम नहीं था किन्तु उनका प्रेम ही काम शब्द से प्रख्यात हुआ था। इस दृष्टि से व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं कि श्रीचरणों को कष्ट होते हुए देखकर भी क्या हम जीवित रह सकती हैं ? हाँ ! हमारे जीवन का कारण यह है कि ब्रह्मा ने शरीर-निर्माण कर हमें प्रदान किया, पर आयु आपके हाथ दी। नहीं तो अब तक कभी की मर जातीं, किन्तु आपके दर्शन की लालसा से यह नेत्र मरने नहीं देते। **'भवानेव आयुर्यासां तासां भवदायुषाम्।'** यह व्रजाङ्गनाओं की भावना है। वास्तव में वृंदावन नीरस नहीं, क्योंकि **'स भगवान् कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि'** के अनुसार यह उनका स्वरूप ही है। वृन्दारण्य को मनमोहन के चरण की कोमलता, चरण की सरसता का ध्यान था। इसलिये वह चरणों के नीचे अपना हृदयकमल विकसित करता था। वैसे तो उनके चरणस्पर्श से महान् कठोरों की कठोरता भी दूर होती है। वज्र भी मक्खन के सदृश सुकोमल हो जाता है।

"जिन्हहिं निरखि मग सांपिनि बीछी।
तजहिं सहज विष तामस तीछी॥"

सिंहिनी को भी पुत्र में राग होता है, पर सर्पिणी को नहीं होता। इसीसे इसको निर्दय, पुत्रभक्षिका, पुत्रादिनी कहते हैं। डाइन को भी पुत्र में राग होता है, पर इसको नहीं। परन्तु ऐसी सर्पिणी एवं वृश्चिक भी भगवान् के चरणों का दर्शन कर अपने सहज तामस भाव तथा तीक्ष्ण विष को छोड़ देते हैं, निर्विष, शान्त, सात्विक हो जाते हैं। फिर वृन्दारण्य के दूर्वा, लता, कण्टक कोमल हो जायँ इसमें आश्चर्य ही क्या? वह तो वस्तु ही ऐसी है। **"वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः।"**

भगवान् के चरणों को आनन्द देनेवाला, व्रजाङ्गनाओं को 'घबड़ाओ मत! प्रभु के चरणों को कष्ट नहीं होगा' ऐसा आश्वासन देनेवाला जो वृन्दारण्य धाम, उसमें गोपवृन्दों के संग गीतकीर्ति भगवान् पधारे। यह वृन्दा का अरण्य है। वृन्दा याने तुलसी। पहले जो वृन्दा जालन्धर दैत्य की पत्नी थी, उसका अरण्य। तात्पर्य यह कि जो दैत्यभोग्या वृन्दा थी, वह अब भगवदीया—भगवान् की वस्तु हो गयी। यह वृन्दा–तुलसी–लक्ष्मी, वृषभानुनन्दिनी की तरह गोलोकधाम में रहनेवाली भगवदीया दिव्य महाशक्ति थी, किन्तु किसी प्रकार के दुर्दैव से भगवान् की महाशक्ति भगवद्भोग्या होती हुई भी दैत्यभोग्या हो गयी और महारागिनी हुई। अरुचिपुरःसर जालन्धर दैत्य के प्रति रागिणी हो उठी। फिर पूर्णतम, पुरुषोत्तम, श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द ने अपनी अनुकम्पा-विशेष से दैत्य का वध कर वृन्दा को स्वीकार किया। कथा ऐसी है कि—जालन्धर से श्री शिव का संग्राम हो रहा था। उसकी पत्नी पतिव्रता वृन्दा थी। जब तक उसका पातिव्रत्य भङ्ग न हो, तब तक जालन्धर का बध नहीं हो सकता था। इसलिये श्रीमहाविष्णु ने जालन्धर का वेश धारण किया और वृन्दा के घर में जाकर जब उसका पातिव्रत्य भङ्ग किया, तब वह दैत्य मरा। यह ऊपरी भाव जरा टेढ़ा है। लोग कहेंगे कि श्रीमहाविष्णु ने ऐसा कैसे किया? परन्तु अन्तरङ्ग भाव कुछ और है। धर्माधर्म के विचार में उनका गौरव-लाघव देखा जाता है। जालन्धर स्वयं पातिव्रत्य नहीं मानता था, वेदोक्त मर्यादा को विघटित करता था। फिर जो सर्व धार्मिक मर्यादाओं का व्यापादक है, वह पातिव्रत्य क्या जानता? ऐसे सर्वधर्मनाशक जालन्धर का नाश करने के लिये किंचित् धर्म-व्यत्यय भी करना हो, तो वह सह्य है। एक सत्य से दस हजार गो-ब्राह्मणों का वध होता हो, तो उससे क्या लाभ? वहाँ तो झूठ ही बोले। वहाँ सत्यभाषण मिथ्याधर्म है। यदि हमारे सत्य से अपरिमित धर्म की हानि होती हो, तो उसको महिमा नहीं है।

अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि हमारे गाण्डीव धनुष की जो निन्दा करेगा उसका सिर उतार लूँगा। एक बार प्रसंग ऐसा आया कि कर्ण से युद्ध में विह्वल हुए धर्मराज

ने ही गांडीव की निन्दा कर दी। सुनकर अर्जुन ने सोचा—मैं क्षत्रिय हूँ, मेरी प्रतिज्ञा सुदृढ़ है। युधिष्ठिर को मारने के लिये अर्जुन ने तलवार निकाल ली। भगवान् श्रीकृष्ण बीच में पड़े और अर्जुन से कहा—'अरे! तू धर्म जानता भी है? परमाराध्य ज्येष्ठ भ्राता धर्मराज क्या तेरे वध्य हैं? प्रतिज्ञापालन के लिये उनको '**युष्मत्**' शब्द से सम्बोधित कर, यही बड़ों का वध है।' अर्जुन समझ गया, उसने धर्मराज के लिये 'तुम', 'तुम' शब्द का कई बार प्रयोग किया। इतने से युधिष्ठिर उद्विग्न हो गये। यह देखकर अर्जुन कहने लगा—'अब मैं आत्महत्या करूँगा, मैंने धर्मराज के लिये 'त्वं' पद का प्रयोग किया।' कृष्ण ने कहा—'पागल है, तू अपनी बड़ाई–आत्मश्लाघा कर, यही अपना वध है। फिर अपनी खूब बड़ाई अर्जुन ने गायी। इस तरह भगवान् ने चातुर्य से पाण्डवों की नैया को पार लगाया। इसीलिये कहा है कि "**कैवर्तकः केशवः**"। इसीलिये धर्माधर्म का गौरव-लाघव सोचना चाहिये। यदि सर्वधर्म का शत्रु जालन्धर अन्य उपायों से नहीं मरता, तब एक धर्म को विघटित कर अनन्त धर्म का संगठन करना नैतिक ही है।

दूसरी दृष्टि से देखें तो वास्तव में वहाँ पातिव्रत्य भंग ही नहीं हुआ, क्योंकि विष्णु वृन्दा के परम पति थे। वस्तुतः पातिव्रत्य धर्म से भी विष्णुसम्बन्ध को ही तो प्राप्त करना है। सारांश यह निकला कि पहले वृन्दा भगवदीया ही थी, गोलोक-धाम-निवासिनी थी, दुर्दैववशात् जालन्धरभोग्या हो गयी थी। यह वृन्दा प्राणियों की बुद्धि है, वास्तव में इसका सम्बन्ध मुख्य साक्षी से ही होना चाहिये। इसलिये बुद्धि का पूर्णतम पुरुषोत्तमाकाराकारित होना, यही स्वाभाविक सफलता है। दुर्दैव यह है कि वह जगदाकाराकारित हो रही है। जीवों को बुद्धि मिली है भगवत्प्राप्ति के लिये, सांसारिक निर्णयों के लिये नहीं। इसलिये इसकी परम सफलता इसीमें है कि भगवत्संबन्ध सुस्थिर हो, वहाँ भगवदभिव्यक्ति हो। यह प्रभु की महान् कृपा है कि दैत्य सम्बन्ध छुड़ाकर उस दैत्यभोग्या वृन्दा को भगवद्भोग्या बनायें। यही स्थिति संसार में भी है। बुद्धियों पर शैतान का अधिकार है या भगवान् का? साधारण बुद्धि शैतानभोग्या हो गयी है, तभी तो वह पाप, ताप, दम्भों में लगायी जाती है। उसका फल ही है नाना योनियों में भटकते रहना। वास्तव में घट उत्पन्न होते ही आकाश से परिपूरित हो जाता है; जल, दुग्ध या मृत्तिका से पीछे परिपूरित होता है। इसी तरह बुद्धि उत्पन्न होते ही आकाशोपम परमात्मा से ही भरपूर हुई, इसमें प्रपञ्च जो भरा है वह आगन्तुक है। तथापि बुद्धि इस प्रपञ्च की पतिव्रता हो गयी है। एक क्षण के लिये भी उसमें से प्रपञ्च नहीं निकलता। यही बुद्धि का दृश्य में राग, प्रीति, पातिव्रत्य दृढ़ हो गया। अब पूर्णतम, पुरुषोत्तम ही कृपा करें, हठात् यदि दैत्यसम्बन्ध छुड़ायें तभी कुछ हो, वह स्वयं तो निवृत्त होती नहीं। इसी बुद्धि के बल से ही यह दैत्य संसार में अनेक अनर्थ बढ़ा रहा है। कौन इस दैत्य का वध

करें ? सब देवाधिदेव परेशान हैं। जब प्रभु बलात् इस दैत्य के संसर्ग को छुड़ायें, नकली पातिव्रत्य बिगाड़ें, तभी कल्याण हो। असली पति भगवान् ही हैं क्योंकि शुरू में वह बुद्धि भगवदाकाराकारित होकर पीछे सर्वाकाराकारित होती है। यही कथा वहाँ हुई। गोलोकनिवासिनी वृन्दा को शाप हुआ। जालन्धर भी गोलोक-निवासी गोप था, वह दैत्य हुआ, उसकी यह पत्नी हुई। उसका यह सम्बन्ध आगन्तुक था, इसलिये रुद्रादि के लाचार होने पर छल से दैत्य सम्बन्ध छुड़ाकर स्वकीया को स्वीकार किया गया। ऐसे ही इस बुद्धि का शैतान से संसर्ग छुड़ाकर प्रभु अपना संसर्ग स्थापित करें, बुद्धि के सर्वाकार को छुड़ाकर उसमें अपना आकार स्थापित करें, तभी तो आनन्द होगा, स्वातन्त्र्य होगा।

उस वृन्दा का अरण्य ही वृन्दारण्य है। अथवा—**"वृन्दायाः वनं यौवनं वृन्दावनम्।"** वृन्दा का यह यौवन है अर्थात् यह वृन्दावन वृन्दा का देदीप्यमान स्वरूप ही है। वृन्दा की स्थिति है, हर स्थिति में श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों से सुशोभित होना। जहाँ प्रभु शालिग्राम में विराजमान हों वहाँ वह तुलसी रूप में सेवा करती है। जब प्रियतम, प्राणधन, पूर्णतम, पुरुषोत्तम रूप में प्रभु ने व्रज में अवतार लिया, तब वह यहाँ वृन्दावन में प्रगट हुई। यहाँ जो यमुना है, वह वृन्दा के हृदय की प्रेमानन्दरससरिता, जो तरु हैं वे रोमाञ्च और भूमि ही देह है। इसलिये व्रजाङ्गनाएँ ईर्ष्या करती हैं कि, सखि ! देखो, मनमोहन श्यामसुन्दर वृन्दारण्य में पधारे हैं। यहाँ सब विपरीत ही विपरीत हो रहा है। हमारी अधरसुधा का वे कितना दुरुपयोग करते हैं। सखि ! जड़, सच्छिद्र शुष्क बाँस के छिद्रों में उसे भरते हैं। हम चाहती हैं, हमारे हृदय में उनके चरणारविन्द स्थापित हों, पर नहीं, वे वृन्दारण्य में प्रथम पधारे। अथवा **"स्वपदरमणम् स्वस्याः आत्मीयायाः वृषभानु-नन्दिन्याः पदैः रमणम्।"** अर्थात् श्रीवृषभानुनन्दिनी के मङ्गलमय चरणारविन्दों से सुशोभित वृन्दारण्य में श्रीकृष्ण पधारे। रासलीलादि में वृषभानुनन्दिनी का आगमन वहाँ होता है, इसलिये उनके चरणों से भूषित अरण्य में पधारे। एतावता उद्दीपनविशेष सिद्ध हुआ। श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द की अन्तरङ्ग प्रेयसी श्रीवृषभानु-नन्दिनी के चरण से अङ्कित वृन्दारण्य देखकर प्रसन्नता हुई। इसलिये कहा गया 'प्राविशत्' अर्थात् वृन्दारण्य में प्रविष्ट हुए।

क्या करते हुए प्रवेश किया ? **"रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्।"** यहाँ 'वेणोः' से पुंस्त्व सूचित किया। वेणु पुमान् है अर्थात् पुमान् वेणु के छिद्रों में अधर-सुधा को पूरित करते हुए भगवान् पधारे। दूसरी दृष्टि यह है कि वेणुछिद्रों में अधरसुधा का सन्निवेश कर, भगवद्भोग्या अधरसुधा को व्रजाङ्गनाओं में और देवभोग्या को खगादिकों में पहुँचाना है। इसके लिये वेणु केवल पात्र ही है। अधर-सुधा का रस वेणु को नहीं मिलता इसीका उपपादन है। जब भगवान् के अधरसुधा

से पाषाण भी द्रवित हुए तब वेणु क्यों न सुधरी ? उसमें हरापन क्यों न आया ? वह ज्यों का त्यों क्यों रहा ? इसका कारण यही है कि वह केवल पात्रमात्र रही, उसको कुछ मिला नहीं। अन्य दृष्टि से कहें, तो वेणु बड़ी चतुर भगवान् की प्रिय सखी है। वह वेणुरूप में अपने आपको छिपाकर पुमान् रूप में अभिव्यक्त होकर श्यामसुन्दर के अधर पर विराजित होकर उसकी मधुर सुधा का पान करती है। वह इसलिये वेणु बनी कि कोई उसकी ईर्ष्या न करे, कोई न जाने कि यह श्यामसुन्दर का रसास्वादन करती है, नहीं तो कोई उसे चुरा लेगा। वृषभानुनन्दिनी ने तो कई बार उसको चुराया भी था। अतः वह वंशी सग्रन्थि एवं शुष्क होकर रहती है। क्योंकि वह चतुरा है। ऊँची कोटि के रसिक अपने रस को प्रकट नहीं करते। रोयेंगे तो भी भीतर ही भीतर, बाहर नहीं। इस तरह वेणु बड़े धैर्य से रसास्वादन करती हुई भी अपने को शुष्क बनाये रखती है। सोचती है कि यदि मुझमें हरे-हरे पल्लव निकल आये, तो श्यामसुन्दर हमें छोड़ देंगे। कहेंगे कि यह हमारे काम की नहीं रही। जिस रसाभिव्यक्ति में श्यामसुन्दर उसे छोड़ दें, वह रस किस काम का ? माना कि यदि वेणु श्यामसुन्दर के अमृतमय मुखचन्द्र पर आसीन होकर अधरसुधारसास्वादन से प्रफुल्लित हो गयी तब तो वह बजेगी ही नहीं। अधरपल्लव पर लिटाना, सुधा का स्वाद देना यह सब तब तक ही, जब तक वह सरस न हो। इसलिये वह अपने को सरस नहीं होने देती। जहाँ परम्परा से अधरसुधास्वादन से पाषाण द्रुत हो गये, नदियाँ स्तब्ध एवं रोमाञ्चित हो गयीं वहाँ साक्षात् आस्वादन लेनेवाली वेणु सरस क्यों न हो ? इस चातुर्य का पता गोपियों को लग गया। इसीलिये व्रजाङ्गनाएँ आगे कहती हैं—"**गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः।**" सखि ! इस वेणु ने कौन पुण्य किया है।

कहीं ऐसा भी है कि एक अवसर में श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन जब श्रीराधा के गुणगान में व्यग्र थे, उस समय भगवान् के मुखपङ्कज से सरस्वती प्रकट हो गयी। जब उसने अनन्तकोटि कन्दर्पदर्पदलनपटीयान् स्वरूप को देखा, तब मुग्ध हो गयी और आलिङ्गन चाहा। श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा—"यदि मुझसे ऐसा परिरम्भण चाहती हो तो वृंदारण्य में वेणुरूप से प्रकट हो।" जब वहाँ जाकर उसने घोर तप किया, बड़ी-बड़ी यातनाएँ सहन कीं, काटी गयी, छीली गयी, तपाकर सीधी की गयी, उसमें छिद्र किये गये, तब वह श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के मुखचन्द्र पर विराजमान हुई। अब प्रभु उसको अपने अधरपर्यङ्क पर लिटाकर, मुकुट का छत्र धरकर, कुण्डलों से आरती कर, अधरसुधा का भोग लगाकर, अपने कोमल अङ्गुलिदलों से उसका पादसंवाहन करते हैं। उसपर बड़े प्रसन्न हैं। इस प्रकार वेणु को सुधारस से पूरित करते हुए भगवान् श्रीवृन्दारण्यधाम में पधारे।

"इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम्।
श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेभिरे॥"

वेणुछिद्रों में प्रविष्ट होकर भगवान् की अधरसुधा ही **"बर्हापीडं"** इस श्लोक के रूप में व्यक्त हुई। इसमें उद्‌बुद्ध उभयविध शृङ्गाररस है। जब कहा कि— **"नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप।"** अर्थात् स्मरवेग से विक्षिप्तमनस्क होने से व्रजाङ्गनाएँ उसके वर्णन में असमर्थ हुईं। जब 'नाशकन्', वर्णन न कर सकीं, तब यह वर्णन कैसा ? इसका समाधान यह है कि परम अन्तरङ्ग वक्ता श्री शुक प्रायः व्रजाङ्गनाओं में तन्मय होकर लीला का वर्णन करते हैं। इसलिये जिस समय वे जिस लीला का वर्णन करते थे, उस समय उस रस में तन्मय हो जाते थे। इसलिये जब श्रीव्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के मुखचन्द्र से निर्गत वेणुरव—वेणुनाद—को श्रवण करतीं तब उसके वर्णन में प्रयत्नशील होतीं। किन्तु वेणुनाद महामोहनमन्त्र है, उससे वे मूर्छित हो जातीं। कथञ्चित् भगवत्कृपा से लब्धावस्थिति होकर पुनः वेणुगीत सुनती हैं। नाद तो नादमात्र है, गीत में कुछ अर्थ होता है। अतः वेणुगीतार्थ श्रीकृष्ण व्रजाङ्गनाओं के हृदय में, अन्तःकरण में, अन्तरात्मा में, अभिव्यक्त होते हैं। फिर वे वर्णन की चेष्टा करतीं और पुनः स्मरण से मूर्छित होती हैं। पहले वेणुनाद से मूर्छित, फिर उसके उद्‌गमस्थान श्रीकृष्णचन्द्र के स्मरण से मूर्छित, फिर गीतार्थानुभव से मोहित होती हैं। अन्त में जब वर्णन करना चाहतीं तो विक्षिप्तमनस्का होकर न कर सकतीं। उनकी इस अशक्ति को देखकर तन्मयावस्थाप्राप्त शुक ही स्वयं वर्णन करते हैं। इसमें हेतु यह कि यहाँ यह शुक वाक्य है। यदि गोपियों का वर्णित होता तो 'गोप्य ऊचुः', ऐसा लिखते। वैसा न होने से स्पष्ट है कि लीलारसभावापन्न होकर गोपाङ्गनाभावापन्न श्री शुक स्वयं कहते हैं—**"इति वेणुरवं राजन्"**, दूसरा भाव यह है कि राजा को संबोधित कर शुकदेव कहते हैं कि व्रजाङ्गनाओं के मन में क्षोभ क्यों हुआ ? श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द का यादृश स्वरूप अभिव्यक्त होकर क्षोभकारक हुआ, वह है—**"बर्हापीडं"** इत्यादि। ऐसे उद्‌बुद्ध उभयविध शृङ्गाररसात्मक स्वरूप का हृदय में अनुभव करने से उनका हृदय स्मरवेग से क्षुब्ध हुआ। अतः कहा गया है—**"यादृशं स्वरूपं मनःक्षोभकरं जातं तादृशमाह—बर्हापीडमिति।"** इसीलिये भावुक कहते हैं कि श्री शुक अन्तर्लीला-निविष्ट हैं, साक्षात् श्रीवृषभानुनन्दिनी के नित्यनिकुञ्ज में रहनेवाले शुक हैं। उन्हींका यह अवतारविशेष है, जिनको श्रीवृषभानुनन्दिनी श्रीकृष्ण का नाम पढ़ाती हैं और श्रीकृष्ण भी जिनको वृषभानुनन्दिनी का नाम पढ़ाते हैं। अतः ये लीलारस का प्रत्यक्ष आस्वादन करते हुए वर्णन करते थे। फिर भी उन्होंने अधिकारानुसार ही गुप्त शब्दों में वर्णन किया, **"इति वेणुरवम्।"**

यहाँ 'र' से अग्निबीज विप्रयोगात्मक शृङ्गार, और 'व' से अमृतबीज संयोगात्मक शृङ्गार विवक्षित है। वह **'सर्वभूतमनोहरम्'** है। श्री जीवगोस्वामी कहते हैं कि यहाँ भूतपद से चेतनाचेतन, स्थावर-जंगम सब लेना और मनोहर पद की

लक्षणा विकारकारी अर्थ में करनी चाहिये। इस वेणुरव ने सर्वप्राणिमात्र, चेतनाचेतनों में विकार उत्पन्न कर दिया। कहा है कि **"अस्पन्दनं गतिमतां पुलकं तरूणाम्।"** जो गतिमान् थे, वे निश्चल हो गये, यमुना का प्रवाह रुक गया, पर्वत-पाषाण द्रवित होकर बह चले। इसलिये यह मनोहर पद विकारकारी में पर्यवसायी है। अतः स्थावर-जङ्गम सब क्षुब्ध हो उठे—**'श्रुत्वा व्रजस्त्रियः सर्वाः।'** अन्य जगह क्षोभ तो हुआ ही पर अधिक श्रीव्रजाङ्गनाओं में हुआ। वहाँ उसने अपना अत्यन्त पराक्रम व्यक्त किया। जहाँ चेतनाचेतनों तक क्षोभ पहुँचा, फिर व्रज के लोगों की क्या कहा जाय ? एक तो सबके मन को हरनेवाला, फिर जो प्रेम का प्रधानस्थान, वहाँ उसके प्रभाव का कहना ही क्या है ? भक्ति वृद्धा होकर सर्वत्र घूमती हुई जहाँ आकर युवती हो गयी, जो भक्ति का परम दिव्य क्षेत्र है—चाहे ऊपर से वह भले हो नीरस भूमि मालूम हो, पर अन्तरङ्ग अत्यन्त स्निग्ध और सरस है, उस व्रज के मनुष्य, तत्रापि स्त्रियाँ, जिनका हृदय अत्यन्त कोमल होता है और उनमें भी श्रीव्रजाङ्गनाएँ, जिन्होंने उस मनोहर वेणुरव का श्रवण किया; उन कान्तभाववती और सख्यभाववती सौभाग्यवतियों पर उसका विशेष प्रभाव पड़ा।

किनपर प्रभाव पड़ा ? सबपर—**'सर्वाः**। इस पद से नित्या, साधनासद्धा आदि पूर्णतम, पुरुषोत्तम, परम रसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण नित्य हैं, उनकी माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानुनन्दिनी नित्या तथा उसकी अंशभूता व्रजाङ्गनाएँ भी **'नित्या'** हैं। सदा गोलोकधाम में परमानन्दकन्द भगवान् विराजते हैं। वहीं श्रीवृषभानुनन्दिनी और वहीं अन्तरङ्गा अंशभूता व्रजाङ्गनाएँ भी विराजती हैं। साधनसिद्धा में दो भेद हैं—श्रुतिरूपा और ऋषिरूपा। यह कहा गया है कि **'अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव।'** अर्थात् आज तक श्रुतियाँ परमरसामृतमूर्ति भगवान् को ढूंढ़ रही हैं। ढूंढ़ते-ढूंढ़ते इनको जब मूर्तिमान् प्रभु प्राप्त हुए और उनके अद्भुत गुणगणों पर प्रसन्न हुए, तब उन्होंने ब्राह्मरसस्पर्श की इच्छा प्रकट की। प्रभु ने उनको व्रज में आने को कहा। वही साधनसिद्धा हैं। वह भी नित्या ही हैं, क्योंकि ब्रह्म में ही श्रुतियों का निरन्तर रमण होता है। निष्कर्ष यह है कि **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** समस्त वेद उस पूर्णतम पुरुषोत्तम का ही प्रतिपादन करते हैं।

इस सिद्धान्तानुसार सर्व श्रुतियों का तात्पर्य परमेश्वर में ही है, वहीं उनका रमण है। इन श्रुतियों में दो भेद हैं—एक अनूढ़ा, दूसरी ऊढ़ा। उसमें अनूढ़ा कन्या वह हैं जिन्होंने श्रीकृष्णप्राप्ति के लिये कात्यायनी पूजन किया। दूसरी हैं ऊढ़ा—उनमें भिन्न-भिन्न पतियों की ममता मात्र थी। वास्तव में तो यही था कि—जिस समय ब्रह्मा ने वत्सगोपालादिकों का हरण किया था, और प्रभु स्वयं ही एक वर्ष तक सब कुछ बने थे; उस समय सब गोपकुमारियों के विवाह ऊपरी दृष्टि से दूसरे गोपों के साथ हुए, परन्तु वस्तुतः सबके विवाह प्रभु से ही हुए थे। क्योंकि श्रीकृष्ण

हो उस समय सब गोपरूप में विराजमान थे। इसलिये लोकदृष्ट्या वह अन्यविवाहिता होती हुईं भी प्रभु की ही स्वकीया थीं। उनमें परकीयात्व का केवल आरोपमात्र था। इसलिये कहा गया है—**'न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गमः'** व्रजाङ्गनाएँ कभी भी प्राकृत पतियों से सङ्गत नहीं हुईं, किन्तु प्रभु ही उनके सर्वस्व थे यही बात **'श्रुतिरूपा'** में भी है।

कई श्रुतियाँ साक्षात् प्रभु में तात्पर्य रखती हैं, जैसे **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** इत्यादि। कई परम्परया अग्नि, यम और वरुण आदि की स्तुति द्वारा प्रभु के साथ सम्बन्ध रखती हैं। जिन श्रुतियों का जो अर्थ होता है उनके साथ उनका सम्बन्ध है, यही प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध भी कहा जाता है। रामायण में कहा है—**'गिरा अर्थ जल बोचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न। बन्दौं सीताराम पद····।'** कहा जाता है कि वाणी और अर्थ का भेद वास्तव में भेद नहीं है। गिरा और अर्थ का सम्बन्ध पति-पत्नी सम्बन्ध है। अर्थ पति और गिरा पत्नी है।

'कदाचनस्तरीरसि' यह श्रुति इन्द्रस्ताविका होने से इन्द्रपत्नी है। जिसका जो प्रतिपाद्य है, वही उसका पति है। वैसे ही जिनका साक्षात् परमात्मा ही अर्थ है, अन्य अर्थ नहीं, उनके साक्षात् पति परमात्मा ही हैं। जिनका आपाततः अर्थ अन्य है, परन्तु महातात्पर्य ब्रह्म में है-- अवान्तर तात्पर्य इन्द्रादि में और महातात्पर्य ब्रह्मप्रकाशन में है, ऐसी भी श्रुतियाँ हैं। इसलिये एक श्रुति ऐसी है जिसका मुख्य पति परमात्मा ही है। जैसे **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि यही प्रभु को स्वकीया हैं और जो इन्द्रादि का प्रतिपादन करती हुई प्रभु में पर्यवसित होती हैं, उनके अवान्तर पति इन्द्रादि और मुख्य पति प्रभु ब्रह्म हैं। ऐसी परिस्थिति में कहा कि **'कथमयथाभवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्'** अर्थात् कोई कहीं भी पैर रखे, आखिर वह पृथ्वी पर ही है। इस प्रकार सब तत्व परम्परा से ब्रह्म ही में हैं। कटक, मुकुट, कुण्डलादि क्या सुवर्ण नहीं हैं ? समुद्र की लाखों तरङ्गें समुद्र ही से हैं, परमात्मा से बने इन्द्रादि सब परमात्मा ही हैं।

मीमांसक जाति में शक्ति मानते हैं, वह **'त्व'** प्रत्ययवेद्या है। जैसे घटत्व अर्थात् घट का भाव, घटरूप में परिणत मृत्तिका, एवं मृत्तिकात्व का अर्थ जल, जलत्व का तेज, तेजस्त्व का वायु, वायुत्व का आकाश, आकाश का अहंतत्व, उसका महत्तत्त्व, उसका अव्यक्त और उसका सत्तत्व में पर्यवसान होता है। इसलिये सबका अर्थ वही है। **'सा सत्ता सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः'**। अतः जितनी जातियाँ हैं, सबका पर्यवसान ब्रह्म में ही है।

> **"सर्वेषामपि भावानां भावार्थो भवति स्थितः।**
> **तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तु निरूप्यताम् ॥"**

अर्थात् सब वस्तुओं का भावार्थ—स्वकारण में पर्यवसित होता है, उसका भी सत्ता में, और वही सत्ता शुद्ध याथात्म्य ब्रह्म है, फिर श्रुतियों का अर्थ ब्रह्म में

पर्यवसित हो इसमें क्या आश्चर्य ? आखिर शब्द कहेंगे किसको ? प्रपञ्च को, वह तो परब्रह्म ही है। अतः जो कुछ भी करे सबका पर्यवसान सत्ता में ही होता है और वही परब्रह्म है। फिर भी उनका अवान्तर अर्थ, वह और वह, विभिन्न पदार्थ ही हैं। घट का साक्षात् अर्थ कंबुग्रीवादिमान व्यक्ति है। किन्तु जब गम्भीरता से विचार करें तब उसका अर्थ ब्रह्म ही होता है। असली रूप वही है, नकली रूप अलग-अलग हैं। इसलिये व्रजाङ्गनाओं के नकली ममता के आस्पद विभिन्न गोप थे, परन्तु उनसे व्रजाङ्गनाओं का सङ्गम नहीं हुआ था।

जब व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णपरमानन्दकन्द के साथ रासलीला कर रही थीं, तब व्रज में ब्राह्मी रात्रि प्रकट हुई। उस रासलीला की दिव्य शोभा को देखकर चन्द्र मध्याकाश में स्थगित हो गया **'विस्मितः शशाङ्कः'**। छ मास की रात्रि थी, घर में सब गोपों को अपनी-अपनी दाराएँ अपने-अपने पास मिलीं--**'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः ॥'** एतावता यह सिद्ध हुआ कि ये व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण की स्वकीया थीं।

जब श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के संग विहार करती थीं, तब भी उनका मायामय स्वरूप सब गोपों के पास था। इसीलिये कहा--**'न जातु'**। तो बात यही आयी **'व्रजदेवीनां पतिभिः सह संगमः'** कि जिन श्रुतियों का अवान्तर तात्पर्य इन्द्रादिकों में है, वह परकीया और जिनका साक्षात् प्रभु में है वह स्वकीया हैं। इनमें भी तटस्था, प्रौढ़ा, मुग्धा इत्यादि बहुत भेद हैं। कोई निषेधमुखेन, कोई विधिमुखेन प्रभु में पर्यवसित होती हैं। इस तरह अवान्तर अर्थ भी तब तक आदरणीय है, जब तक महातात्पर्य का ज्ञान नहीं होता। लोक में भी गौण पति एवं मुख्य पति होते हैं। राजादि गौण पति और असली पति पूर्णतम पुरुषोत्तम परमात्मा हैं। जब तक उनकी प्राप्ति नहीं हुई तब तक अवान्तर पति का अनुसरण अपेक्षित ही है।

जल ब्रह्म और तरंग जीव हैं। **'सो तैं तोहिं ताहिं नहिं भेदा। वारि वीचि जिमि गावहिं वेदा ॥'** जैसे वारि में वीचि, वैसे पूर्णतम पुरुषोत्तम में जीवभाव है। इनमें एक तरंग का दूसरे तरङ्गों के साथ सम्बन्ध गौण है। जल के साथ मुख्य, सुस्थिर, स्थायी सम्बन्ध है। परन्तु अन्तर्मुखता न होने के कारण अपने असली सम्बन्ध पर दृष्टि नहीं जाती। यदि तरंग जल का अपलाप करे तो स्वयं कैसे रहेगा ? वैसे ही जीव ब्रह्म का खण्डन करेगा तो स्वयं रहेगा कैसे ? वास्तव में वह ब्रह्म ही है, परन्तु अन्तर्मुख न होने के कारण ब्रह्म को नहीं देखता—**'आनन्दसिंधु मध्य तव वासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा ॥'** असली को भूलकर नकली को देखता है।

हम जीव नकली सम्बन्धी दारादिकों से सम्बन्ध जोड़ेंगे पर असली सम्बन्धी ब्रह्म से नहीं। सब कुछ करेंगे नकली के लिये। पर एक तरङ्ग का दूसरी तरङ्ग से

सम्बन्ध कितने दिन ? एक न एक दिन वियोग होगा ही। जीव का जीव से सम्बन्ध आगन्तुक है। अतएव क्षणभंगुर है। इसीलिये सबके परमपति श्रीपूर्णतम पुरुषोत्तम ही, सबके मुख्य पति हैं। रास-प्रसङ्ग में, जब प्रभु ने व्रजाङ्गनाओं से लौट जाने के लिये कहा तब उन्होंने कृष्ण से एक कहानी कही और पूछा—"एक साध्वी स्त्री थी। एक बार जब उसके पति विदेश गये, तब वह पतिदेव की मूर्ति बनाकर पूजा करती थी। एक दिन ऐसा अवसर आया कि वह मूर्ति की पूजा करती थी, इतने में पतिदेव आ गये और स्त्री से कहा किवाड़ा खोलो।" अब प्रश्न है कि वह किवाड़ा खोले या मूर्ति की ही पूजा करती बैठे ? प्रभु ने कहा—"असली पति का स्वागत करना चाहिये।" व्रजाङ्गनाओं ने कहा—हमारा भी उत्तर हो गया।

तात्पर्य यह है कि शालिग्राम का विष्णु बुद्धि से पूजन, वैसे ही प्राकृत पतियों का परमपति बुद्धि से पूजन करना चाहिये। इसीलिये कन्यादान में कहते हैं—

'विष्णुरूपाय वराय लक्ष्मीरूपां कन्यां संप्रददे।' अतः जगत् की सब हलचलें पूर्णतम पुरुषोत्तम की ओर हैं। जब तक वह प्राप्त नहीं होता तब तक गति बनी ही रहेगी। इसलिये सब श्रुतियों का महातात्पर्य ब्रह्म ही में निर्द्धारित है। इस तरह स्वकीया, परकीया, मुग्धा, प्रौढ़ा कान्तभाववती, सख्यभाववती, श्रुतिरूपा और मुनि-रूपा सब व्रजाङ्गनाएँ वेणुरव को श्रवण कर उसका वर्णन करती हुईं, आनन्दोन्माद में तन्मयतावशात् एक दूसरी को ही श्रीकृष्ण समझकर परिरम्भण करने लगीं। प्रेमोन्माद में श्रीकृष्ण ही उन्हें सर्वत्र दीखने लगे। अथवा यों कहिये कि वर्णन करती हुईं स्वबुद्ध्यारूढ़ प्रभु को मङ्गलमय मूर्ति का परिरम्भण करने लगीं।

वेणुरव में ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का स्वरूप और उनकी मङ्गलमयी लीला है। अतः उसके वर्णन में प्रभु का वर्णन है। पहले तो श्रीकृष्ण ही रसामृत-मूर्ति हैं। उनमें भी साधनता और साध्यता दोनों हैं। श्रीहस्त और श्रीचरणार-विन्दादि अन्यान्य अङ्गों में साध्यता है और साधनता भी। किन्तु आनन्द केवल साध्य ही है, सब उसीके लिये है, पर वह किसीके लिये नहीं। यही ब्रह्म का लक्षण है। अतः दोनों एक ही हैं। शब्दादि सब पदार्थ आनन्द के लिये हैं, वैसे ही आत्मा के लिये भी हैं। **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** जैसे आनन्द निरतिशय, निरुपा-धिक और परप्रेमास्पद है, वैसे आत्मा भी निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेमास्पद है।

जिसमें कभी प्रेम हो और कभी नहीं, वह अपरप्रेमास्पद है। जो ऐसा नहीं, वह परप्रेमास्पद है। औपाधिक 'अपर' और स्वाभाविक 'पर' है। औपाधिक उपाध्यधीन होता है और स्वाभाविक उपाध्यधीन नहीं होता। वह मिटता नहीं। संसार के सब प्रेम औपाधिक हैं, जैसे स्त्री-पुत्रादि प्रेम। इतना ही क्यों, संसार में देवता पर भी जब वह अनुकूल होता है तभी प्रेम होता है। मन्त्रों में भी कोई अरि-मन्त्र, कोई मध्यम मन्त्र है। जिससे अनुकूल फल नहीं होता वह अरिमन्त्र है।

इसी विचार से कहा है कि जब समान तत्व और समान साधक मिलें तब मन्त्रसिद्धि ठीक होता है। आजकल तो यह सब विचार हो नहीं है। शास्त्र कहते हैं, पहले ठीक विचार कर लो, फिर मन्त्र लेना।

अस्तु, सारांश यह कि जब देवता भो आत्मानुकूल हो तब उनमें प्रेम होता है। देखा जाता है कि शैव विष्णु का द्वेष और वैष्णव शिवद्वेष करते हैं। वास्तव में पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु एक ही हैं, पर व्यर्थ उनमें द्वेषास्पदता, रागास्पदता को कल्पना करते हैं। रामभक्तों को रामायण में जो मिठास प्रतीत होता है, वह इतर ग्रन्थों में नहीं।

वृन्दावन में तो कृष्ण में भो भेद मानते हैं। एक बायें मुकुटवाले श्रीकृष्ण, दूसरे दायें मुकुटवाले श्रीकृष्ण। वास्तव में बायें-दायें में भी कुछ रहस्य, कुछ भाव—अवश्य है। वेणुगीतप्रसङ्ग में बायें मुकुटवाले हो श्रीकृष्ण हैं। '**वामबाहुकृतवामकपोलः**' श्रीभगवान् की ललित मूर्ति में मुकुट बायीं ओर हो झुकता है। कहते हैं जहाँ वामाङ्ग में श्रीवृषभानुनन्दिनी विराजमान हैं, वहाँ श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण परमानन्द का वामाङ्ग में ही झुकाव है। जैसे उनका झुकाव, वैसे उनके भूषणों का भी झुकाव है। इसलिये उस परिस्थिति में मुकुट का बायीं ओर झुकाव स्वाभाविक है। जहाँ पर श्रीकृष्ण और बलराम, वहाँ पर दक्षिण में और जहाँ नन्दबाबा दक्षिण में और वाम में श्रीनन्दरानी, मध्य में बलराम नन्दराय के पास, श्रीकृष्ण यशोदा के पास, उस समय मुकुट का दायें बलराम की ओर झुकाव होता है। यही वास्तव में रहस्य है। यह झगड़ा आखिर जब कचहरी में गया तो जज ने कहा --मुकुट को सीधा रखो।

अस्तु, मूल विषय यह था कि आनन्द निरतिशय, निरुपम, परप्रेमास्पद है और अन्य, औपाधिक सातिशय हैं। आनन्द और आत्मा एक ही बात। आनन्द से जैसे कभी शत्रुता नहीं होती वैसे ही आत्मा से भी कभी शत्रुता नहीं होती। सर्वद्रोह हो सकता है, पर आत्मद्रोह नहीं होता। श्रीकृष्ण निखिलरसामृतमूर्ति, आनन्दसार-सर्वस्व हैं। वे साध्य ही साध्य हैं, साधन नहीं। अतः परप्रेमास्पद हैं। इनमें भी कुछ भावुक तारतम्य करते हैं और कहते हैं कि उनमें भी केवल अमृतमय मुखचन्द्र की सुधा ही साध्य है, वह किसी की साधन नहीं। पर भावुक कहते हैं कि उसमें भी देवभोग्या अधरसुधा, भगवद्भोग्या अधरसुधा का साधन और वह भी सर्वभोग्या अधरसुधा का साधन है। परस्पर भावापत्तिपूर्वक वह सर्वभोग्या अधरसुधा का साध्यमात्र है, वह किसी का साधन नहीं है। वह रस से अभिव्यक्त होती है। अतः प्राधान्यात् यहाँ रववर्णन किया गया है। उसमें श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द और उनकी नित्य लीला भी निहित है, इसलिये '**इति वेणुरवं राजन्।**'

इस वेणुरव में अमृतत्व का उपालम्भ होता है, जिससे ब्रह्मा, शुक, सनकादि भी मोहित होते हैं—"**शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः।**"

इस रव का प्राधान्य इसीलिये है कि उससे पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु प्रकट होते हैं। वैसे तो प्रभु सर्वत्र हैं ही पर जब व्यञ्जक नहीं तब क्या ? इसलिये भावुक व्यंग्य भगवान् से भी अधिक व्यञ्जक नाम को बड़ा मानते हैं। अरबों की सम्पत्ति घर में भरी हो पर वह विदित नहीं तो उसका क्या उपयोग ? घरवाला हल ही चलाता रहेगा। 'नाम' यह खजाने का बीजक है। पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम प्रभु 'निधि' हैं और 'नाम' उसका बीजक है। यही कहा है—

"नाम निरूपण नाम जतन ते।
सोइ प्रकटत जिमि मोल रतन ते॥"

इस नामबीजक द्वारा प्रयत्न करने पर प्रभु प्रकट होते हैं। कहा है कि— **'कहहुँ नाम बड़ ब्रह्म ते', 'राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल-कुमति सुधारी॥'** नाम मूल चिकित्सा है और राम पल्लव चिकित्सा।

"राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु स्रम कीन्ह न थोरा॥
नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥"

श्रीराम ने भालु-बन्दरों को लेकर प्राकृत शतयोजन समुद्र पार किया किन्तु नाम लेने से अपार भवसिन्धु ही सूख जाता है। अतः सबसे नाम बड़ा है। वेदान्त कहते हैं कि वाक्य-श्रवण से तत्त्वसाक्षात्कार होता है। भक्त भी भगवत्साक्षात्कार का मूल श्रवण ही मानते हैं। निर्गुण-साक्षात्कार को भी श्रवण की ही अपेक्षा है। व्रजाङ्गनाओं को भी उद्बुद्ध उभयविधि शृंगाररसात्मा श्रीकृष्ण के लिये वेणुरव ही अपेक्षित है। इसलिये वह मूल वेणरव को पकड़ती हैं कि उसी रव से श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकंद व्यक्त होंगे।

जैसे हृदय में प्रथम से ही विराजमान निर्गुण परब्रह्म तत्त्व का श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा महावाक्य से ही साक्षात्कार होता है उसी तरह सगुण साकार सच्चिदानन्द परब्रह्म का भी साक्षात्कार उन चरित्रों एवं गुणगणों के श्रवण से होता है। चरित्रश्रवण से प्रथम चरित्रनायक भगवान् का मानसरूप प्रकट होता है, उसी मानसी भगवदीय प्रतिमा का ध्यान करते-करते ही माया जवनिका के अपसारण से, जिससे कि भगवान् आवृत होते हैं, उस भगवान् का दिव्य रूप प्रकट होता है। इस तरह शब्द से ही भगवान् का प्राकट्य होता है, फिर जहाँ भगवच्चरित्रों और भगवन्नामों से भगवान् का प्राकट्य होता है तब साक्षात् भगवान् के मुखचन्द्र से निगत वेणुगीतपीयूष के पान से भगवान् का प्राकट्य होना स्वाभाविक है। शब्द प्रकाशक और अर्थ प्रकाश्य होता है। शब्दब्रह्मरूप में व्यक्त भगवदधरसुधा से भगवान् का प्राकट्य होना स्वाभाविक है।

उस वेणुरव को ही वर्णन करती हुई व्रजाङ्गनाएँ परस्पर अभिरमण करती हैं। इस रव द्वारा सदानन्द रूप ही हृदय में व्यक्त होता है। कृष्ण पद का अर्थ ही

सदानन्द है। कहा है—"**कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः।**" कृष् धातु का अर्थ भू—सत्ता और 'ण' का अर्थ निवृति—आनन्द है। तथाच '**सत्ता—आनन्द**' यह कृष्ण पद का अर्थ है। '**तमालश्यामलत्विट् यशोदास्तनन्धय**' श्रीकृष्ण ही इसका अर्थ कोई कहते हैं, इसमें भी विरोध नहीं है। उसमें भी सत्ता और आनन्द दोनों का ऐक्य है। स्वयंप्रकाश सत्तारूप आनन्द, आनन्दरूप सत्ता दोनों एक ही बात है। सत्तारूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी एवं आनन्दरूप श्रीकृष्ण हैं। श्रीकृष्णचन्द्र में परमानंदकंद और श्रीवृषभानुनन्दिनी वैसे ही अभिन्न हैं जैसे सत्ता और आनन्द। यदि आनंद सत्ता न हो तो सत्ता बिना आनन्द असत् हो जाय। फिर जो असत् है, वह आनंद कैसे? वैसे ही आनंद से वियुक्त शुद्ध सत्ता नहीं है। जड़ों की सत्ता दूषित, सविशेष सप्रपञ्च है, किन्तु शुद्ध सत्ता निरुपद्रव, निर्विशेष आनंदरूप ही है और सब विनश्वर सत्ता है। यों तो वैषयिक आनन्द भी विनश्वर है, अतः सदानन्द कहाँ? आनन्द, सत्ता दोनों परस्पर विशेषण हैं। वह आनन्द अबाध्य है, जगदानन्द बाध्य, इसीलिये वह श्रीकृष्ण का स्वरूप वास्तविक सद्रूप एवं आनन्दरूप है जो अत्यन्त अबाध्य नित्य स्वप्रकाश है। उसके साथ जब सत् लगा, तब सांसारिक से विलक्षणता, नित्यता आयी, एवं सत् में आनन्द न लगाते तो प्रापंचिक सत्ता आती। अतः सत् और आनन्द दोनों को लगाया। यह सत् और आनन्द परस्पर वियुक्त कभी नहीं होते, इसलिये वृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण परस्पर अन्तरात्मा हैं। एक तो यह कि जैसे जल में तरंग, वैसे परमरसामृत-मूर्ति श्रीकृष्ण में व्रजाङ्गना, जैसे चन्द्रमा में चन्द्रिका, जैसे भानु से प्रभा का, वैसा उनका अविघटित स्वाभाविक संबंध है, किन्तु इससे भी अंतरंग यह सम्बंध है, जैसे अमृत में मधुरिमा, एवं जहाँ परमरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण वहाँ उनकी माधुर्याधिष्ठात्री वृषभानुनन्दिनी। अमृत से मधुरिमा को अलग किया, फिर अमृतत्व ही क्या? वेदान्ती गुण-गुणी का तादात्म्य मानते हैं। इसलिये सत्ता-आनन्दरूप वृषभानुनन्दिनी और श्रीकृष्ण दोनों एक ही हैं। एक ही सदानन्दरूप भगवान् गौरतेज-श्यामतेज रूप में राधा-माधव उभय रूप में प्रकट हुए। इसी दृष्टि से कहते हैं कि, श्रीकृष्ण का आंतरस्वरूप वृषभानुनन्दिनी तथा बाह्यस्वरूप पुमान् है तथा वृषभानुनन्दिनी का आंतरस्वरूप पुमान् और बाह्यस्वरूप वृषभानुनंदिनी हैं। हितहरिवंश संप्रदाय में कहा है कि गौरश्याम शीशियों में श्यामगौर रस भरा हो, वैसे यह दोनों हैं। दोनों शीशी भी एक जाति की ही हैं। गौर शीशी श्याम हृदय की वस्तु है और श्याम शीशी गौर हृदय की वस्तु है। गौर में श्यामरस एवं श्याम में गौररस भरा है। इस तरह परस्पर श्रीकृष्ण और वृषभानुनन्दिनी परस्पर हृदय की वस्तु हैं, दोनों में परम अन्तरङ्गता है। इसलिये कहा है कि '**उभयोभयभावात्मा**' हैं। इस प्रकार वह परमतत्त्व भरपूर होकर वेणुरव द्वारा व्यक्त होता है। इसलिये उसका वर्णन करती हुई व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णचन्द्रपरमानंदकंद का परिरंभण करती हुई अनुराग

की महिमा से परस्पर को परिरंभण करने लगीं। अथवा श्रीकृष्ण साक्षात्कार से रमण करने लगीं।

गोप्य ऊचु:—

"अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥"

श्रीधराचार्य के मत में 'गोप्य ऊचु:' नहीं है, इसलिये '**अनुवर्णनेनाहुः–अक्षण्वतामिति**' ऐसा उन्होंने लिखा है। 'गोप्यः' का अर्थ सनातन गोस्वामी '**गोपयन्ति श्यामसुन्दरमिति गोप्यः**' करते हैं। व्रजाङ्गनाएँ अपने श्यामसुन्दर को छिपाती हैं, इसलिये कि कोई उन्हें जान न जाय।

व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—हे सखियो! नेत्रवानों का, नेत्रधारियों का यही फल है। क्या? जल्दी नहीं कहते बना, प्रेमभार से विवश हो गयीं, अतः सहसा हृद्‌गत तत्व निर्देष्टुं अशक्य हो गया। वह निकलता ही नहीं, सखि! क्या? वह इस समय उनका हृदय ही जानता है। यहाँ '**अक्षण्वतां**' से '**सर्वेन्द्रियवतां**' यह अर्थ करना चाहिये। इन्द्रियवानों का और उनकी इन्द्रियों का यही फल है। '**आवृत्तचक्षुः**' माने केवल आँखों को मींचकर ही दर्शन न होगा, अपितु चक्षूपलक्षित सर्वेन्द्रियों का निग्रह आवश्यक है। यहाँ भी व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—हे सखि! सर्वेन्द्रियवानों का यही फल है, केवल चक्षुमानों का नहीं। क्या? तब कहते हैं कि वे जो परमरसामृतमूर्ति व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द हैं, उनके मङ्गलमय अङ्गों के सौरस्यादि का आस्वादन करना। नहीं तो फिर निर्गुण, निराकार परब्रह्म तो इन्द्रियानुपभोग्य है। '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**' इन्द्रियाँ तो विफल हुईं न? बुद्धिग्राह्य होने पर भी क्या हुआ? महावाक्यजन्य तदाकाराकारित अन्तःकरणवृत्ति से स्पर्श किया, निर्वृत्तिक अन्तःकरण को भी स्पर्श न मिलेगा। फिर भी मान लो कि उसको मिला, पर इन्द्रियों को तो नहीं मिला। ठीक स्पर्श जीवात्मा को–सर्वोपाधिविनिर्मुक्त को–मिलेगा। इसीलिये कहती है कि सखि! इन्द्रियवानों के इन्द्रिय होने की सफलता मनमोहन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के अमृतमय मुखचन्द्र का इन नयनों से दर्शन, भुजाओं से परिरम्भण, प्राणों से उनके सौरभ का अवघ्राण, रसना से प्रियतम प्रधान के अमृतमय मुखचन्द्र की सुमधुर अधरसुधा पान करने को मिले। सर्वेन्द्रिय द्वारा संभोग योग्य सर्वों के परम प्रेमास्पद केवल बुद्धिग्राह्य हों, यह सह्य नहीं, किन्तु सर्व रोम-रोम भी उतावले हो उठेंगे। भले ही कैवल्य की कोई स्थिति हो, जहाँ इन्द्रियों का रोना-धोना कुछ नहीं, परन्तु यदि वह स्थिति न हो, तो पूर्ण आस्वादन सभी को हो। क्योंकि कोई भी तत्व भगवद् विप्रयोग में है। उस सत्तारूप से भी वियुक्त होना, असत्, स्फूर्तिविहीन, निस्फूर्ति, नीरस हो जाना कौन चाहेगा? कौन अपने को स्फूर्तिविहीन, नीरस, सत्ताविहीन होना चाहेगा? कहा है—

'लोके नहि स विद्येत यो न राममनुव्रतः' परमप्रेमी का लक्षण यही है कि जो प्रियतम के वियोग में रह न सके। **'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्'** एक लव, निमेष में भी युग, कल्प, महाकल्प हों। **"गोपीनां परमानन्द आसीत्गोविन्ददर्शने। क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाऽभवत् ॥"** व्रजाङ्गनाओं को श्यामसुन्दर के दर्शन में महाकल्प भी क्षण के समान और वियोग में क्षण भी कल्प के समान बीतता था, यही तीव्रताप है।

इतना ही नहीं, बल्कि वियोग में रह ही न सके? यही उत्कट प्रेम है। जल से वियुक्त कहीं तरङ्ग रह सकेगा? यह शुद्ध प्रेम का लक्षण है कि प्रिय के वियोग में न रह सके। सत् से वियुक्त होने से असत् हो जाता है। श्रीकृष्ण परमानंद रसस्वरूप के वियोग में नीरसता, निस्फूर्तिता हो जाती है। इस प्रकार जब सब ही श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द के अनन्य प्रेमी हैं, तब इन्द्रियों को ईर्ष्या होती है कि जो श्रीकृष्ण प्रभु प्रकट हैं, हाय! हम उनसे वंचित हैं। वह रोती हैं, **'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः'** जो ध्यान में श्रीकृष्ण का अनुभव करते हैं, उनके नेत्रादि इन्द्रियाँ तड़फड़ाती रहती हैं, लालायित रहते हैं, अतः एक कहती है—**'अक्षण्वतां फलमिदं'**। दूसरी कहती है—**'न परं विदामः परं किंचित्'** तो यह कुछ है ही नहीं।

परन्तु **'वयं तु न विदामः'** हम तो नहीं जानतीं। हमें खण्डन-मण्डन से क्या मतलब? किसीके लिये भले ही परमात्मा हो पर हमारे तो श्यामसुन्दर हैं। भावुक कहते हैं—श्यामसुन्दर चाहे जैसे हों, चाहे प्रियतम प्राणधन हमसे द्वेष करते हों, या करुणा करते हों, पर हमारे ज्ञेय, ध्येय सब कुछ वही हैं। यह शर्त नहीं कि यदि वह प्रेम करें तभी हम उनसे प्रेम करें। यह तो व्यापार हुआ। सौन्दर्य की शर्त नहीं। वह व्यभिचारिणी भक्ति होगी। अटल भक्ति के माने यही है कि चाहे जो जैसा हो, अपनी वस्तुओं में निरतिशय प्रीति होती है। वही ठीक है। अतः वह खण्डन-मण्डन नहीं करती। वह तो कहती है कि **'अन्ये अन्यज्जानन्तु नाम वयं तु न विदामः'** अर्थात् मोक्षादि अन्य फलों को भले ही कोई जानते हों, परन्तु हम नहीं जानती। मान लिया कैवल्य हुआ, किन्तु वह सर्वेन्द्रियग्राह्य नहीं है। इसलिये इन्द्रियवानों को लालसा यही है कि वह श्रीकृष्ण प्रभु सर्वेन्द्रियग्राह्य होकर प्राप्त हों।

व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—सखि! **'वयं उपनिषद्रूपा'** हम उपनिषद्रूपा हैं। यदि हम न जानेंगी तो दूसरा कौन जानेगा? फल तो श्रुति ही कहती है। फिर वेदविहीन नये फल को कोई जानते हों, तो जानें। अर्थात् वेदप्रामाण्यवाले सारभूत फल निर्णय में उपनिषदों को ही प्रमाण मानते हैं, इसलिये यही फल है, दूसरा नहीं।

इससे भी ऊँची बात यह है कि ब्रह्मदेव कहते हैं—'येषां तु भाग्यमहिमा' इन व्रजाङ्गनाओं के–घोष निवासियों के–अनन्त अद्भुत भाग्य की महिमा, हम उसे क्या गायें? हम तो अपने को कृतार्थ समझते हैं। हम कौन? ग्यारह इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवता। जो व्रजाङ्गनाजन आपके उद्बुद्ध उभयविध शृङ्गाररसात्मक परमरसामृत-

मूर्ति आपके आनन्द का साक्षात्कार करते हैं, उनकी महिमा तो अलौकिक है। हम इन्द्रियों को अधिष्ठात्री देवता अपने को अत्यन्त भाग्यवान् समझते हैं। यह क्यों? इसलिये कि जब व्रजाङ्गना अपने हृषीक चषकों से आपके श्रीअंगों के सौन्दर्यामृतसुधा का पान करती हैं, तब उनकी अधिष्ठात्री देवता होने से हमारा परम्परा से हृषीक चषकों से सम्बन्ध होता है, व्रजाङ्गनाएँ अपने हृषीक चषक इन्द्रियपानपात्रों से श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द के सौन्दर्यमाधुर्य-सौगन्ध्यामृत का पान करती हैं। इसलिये मुख्य पात्र व्रजाङ्गनाएँ हैं। पान का साधन इन्द्रियपानपात्र है। जैसे नेत्रपानपात्र द्वारा आपके अमृतमय मुखचन्द्र के सौन्दर्यामृत का, घ्राणपानपात्र द्वारा सौगन्ध्यामृत का, श्रोत्रपानपात्र द्वारा वेणुगीत तथा अमृत वचनों का, रसनापानपात्र द्वारा अमृतमय मुखचन्द्र की सुमधुर अधरसुधा का पान करना। यहाँ व्रजाङ्गनाएँ पानकर्त्री हैं। इन्द्रियरूप पानपात्र का सम्बन्ध रस से कहा है—'**दर्वी पाकरसं यथा।**' यहाँ ब्रह्मा कहते हैं कि हम तो चषक भी नहीं हैं। इन्द्रिय भी करण हैं, जब उनको भी रस-संभोग नहीं, तब उन इन्द्रियों के अधिष्ठाता हम देवताओं को वह रससंभोग कहाँ?

व्रजाङ्गनाएँ श्रोत्र द्वारा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के वचनसुधा का पान करती हैं, उसमें यह इन्द्रियाँ दोना हैं। पानपात्र को क्या स्वाद आयेगा? कटोरा क्या स्वाद ले? तथापि उस रस को छूनेवाला एक चषक भी अपने को कृतकृत्य मानता है, और हम तो परम्परया भी अपने को कृतार्थ मानते हैं। फिर इन्द्रियाँ और उनसे भी अधिक व्रजाङ्गनाएँ कितनी भाग्यवती हैं। हम इतना ही अपना भाग्य समझते हैं कि हम जिन इन्द्रियों के देवता हैं, उनके द्वारा व्रजाङ्गनाएँ प्रभु के सौन्दर्य-सौगन्ध्यादि का पान करती हैं, इसलिये '**एषां तु भाग्यमहिमाऽच्युत तावदास्ताम्।**' जहाँ ब्रह्मादि देव ऐसा परम्परया कहते हैं, वहाँ व्रजाङ्गनाएँ क्यों न कहें कि '**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः**'। सखि! हमारा-तुम्हारा संवाद है। संमति है कि नहीं? कहती है 'इदं' याने उस समय जो स्वरूप प्रस्फुरित होता था, जिसका '**बर्हापीडं नटवरवपुः**' से वर्णन किया गया है, वही वृन्दावन-विहारी यहाँ '**इदं**' से कहे गये हैं।

व्रज में व्रजाङ्गनाओं को श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का दर्शन होता ही है, फिर वे अत्यन्त आर्त क्यों? तो कहती हैं कि यद्यपि व्रजस्थ श्रीकृष्ण का दर्शन तो करती ही हैं, तथापि अन्यान्य स्वरूपों में इस समय का विशेष दर्शन है। '**इदं इति बुद्धिस्थत्वादिदमा निर्देशः**'; अर्थात् द्वारकावासी, मथुरावासी, व्रजवासी सब भले ही एक हों, परन्तु मनमोहन का यह '**नटवरवपु**' है। इन **व्रजेशसुत** नन्दरायसुवन **श्रीकृष्ण** और बलराम इनके गौओं को अपने वृन्दावन में निवेश कराते हुए वंशी-विभूषित वक्त्र नेत्रों द्वारा जिसने देखा उसीकी इन्द्रियों की सफलता है। बलराम यद्यपि व्रजेशसुत नहीं, तथापि '**पालितपुत्रत्वात्**' यह आरोप है। कोई-कोई वसुदेव को

भी व्रजेश कहते हैं, पर वह खींचा-तानी है। नन्दराय के पुत्रललन—कृष्ण और वसुदेव के बलराम, मगर व्रज यही समझता था कि दोनों व्रजेशनन्दन ही हैं। इसलिये '**व्रजेशसुतयोः**' यहाँ द्विवचन कहा गया है। '**वक्त्रं**' यह एकवचन एकवद् भाव से हो सकता है, पर इसमें सरसता नहीं है। व्रजाङ्गनाओं के मन में तो मनमोहन श्रीकृष्ण का ही अमृतमय मुखचन्द्र था। तब फिर '**व्रजेशसुतयोः**' क्यों ? इसलिये कहते हैं— '**अनुवेणुजुष्टं**'। यह श्री बलराम के मुख का व्यावर्तन है। व्रजेशसुत बलराम और श्रीकृष्ण, दोनों में जो वेणुजुष्ट है उसके सौन्दर्य-माधुर्य सुधा का पान किया।

इनके मन में सिवा श्रीकृष्ण के दूसरी बात ही नहीं है अथवा—जब तक उनको होश-हवास था, तब तक अपने को सँभाला। कोई कुछ कहेंगे कि कुछ गड़बड़ी है क्या ? '**गुप्त प्रेम सखि सदा दुरैये**' इसलिये कहा—'हम तो दोनों की बात कर रही हैं अर्थात् संभालकर द्विवचन दिया। 'व्रजेश' इसलिये कहा कि हम व्रज में बसती हैं, तो उनके लड़के की प्रशंसा करनी ही चाहिये। यहाँ तक तो ठीक, पर आगे सँभाले सँभल न सकीं। प्रभु का मुखचन्द्र सन्मुख आया, वह तो व्रजाङ्गनाओं के हृदय के पूर्णानुरागरससार सरोवर से निकलनेवाला ही है। जैसे तूफान से सागर उद्वेलित हो उठता है उसी प्रकार व्रजाङ्गनाओं को हुआ, और वे अपने भावों को सँभाल न सकीं।

यहाँ वल्लभाचार्य कहते हैं—जिन्हें भगवान् ने आधिदैविक देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि का प्रदान किया है, उनके लिये यही परम फल है कि कृष्णचन्द्र के सौन्दर्यादि का आस्वादन करें। जैसे कोई कमलनेत्र पुरुष सदा अन्धकार ही में स्थित रहे तो उसके नेत्रों का होना ही निरर्थक है, वैसे ही भगवान् ने कृपा कर आधिदैविक देहादि को प्रदान किया है, उनसे यदि प्रभु की सुधा का आस्वादन न किया, तो वे विफल हैं। हाँ, यह हो सकता है कि किंचित् काल अन्धकार में स्थिति हो, पर सर्वदा हो तो नेत्रों का होना न होना बराबर ही हो जायगा। इस स्थिति को वल्लभाचार्य '**सर्वात्मभाव**' कहते हैं, अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कारादि विस्मरणपूर्वक सर्वत्र श्यामसुन्दर का ही दर्शन होना। इस अवस्था में निजी अस्तित्व पृथक् नहीं रहता, इसलिये स्वपार्थक्येन श्रीकृष्ण प्रभु का भी भान नहीं होता। इसीलिये उनके सुधास्वादन का भी भान नहीं रहता, किन्तु इसे कदाचित्क, याने संचारी भाव कहते हैं।

यह भाव (सर्वात्मभाव) विशेषकर विप्रयोग में मानते हैं। इसीको आन्तर-रमण भी कहते हैं। अर्थात् बाह्यसंप्रयोग न होने पर भी आन्तरसंप्रयोग होता ही है। इसकी भी बड़ी महिमा गायी गयी है। कहते हैं—'**संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्य**'। संगम और विरह, इनमें प्रियतम का विरह ही अच्छा है। क्योंकि संगम में प्रियतम एक ही हैं, विरह में निखिल विश्व ही प्रियतम हो जाता

है। जिधर दृष्टि जाय उधर प्रियतम ही प्रियतम दिखलाई पड़ते हैं। फिर भी इस भाव को सार्वदिक् मानें तो गड़बड़ हो जाय, इसलिये ही कमलनेत्र पुरुष की उपमा दी। प्रभु के अधरसुधा का आस्वादन यही परम फल है।

ध्यानाभ्यासी लोग अन्त में सर्व विस्मरण चाहते हैं। **'विष्णुपुराण'**, **'भागवतादि'** में जहाँ ध्यान कहा है, वहाँ सांग, सपरिवार, सर्वभूषणादि सहित का ध्यान है किन्तु मन तो महाचंचल बेताल है। उसका एक जगह होना ही कठिन है, अत: मन प्रभु के भूषणों का ही चिंतन करे। मन अनेक विषयों में क्यों न स्थित हो, पर वह अनेकता प्रभु के स्वरूप में ही हो। वहाँ से उसको अलग न जाने देना बस ध्यान की यही सीमा है। चंचल बन्दर को पद्मासन पर बैठकर निर्विकल्प समाधि कैसे लगे? तो उसके लिये यह उपाय करो—पहले एक बगीचे से यह बाहर न जाय। फिर एक ही वृक्ष पर, फिर एक ही शाखा पर बैठा रहेगा। मन बन्दर से भी अधिक चंचल है। क्षण में स्वर्ग से नरक तक दौड़ लगाता है। इसको पहले आलम्बन दो। भक्तगाथा श्रीकृष्ण की लीला आलम्बन है। फिर मूर्ति में ही रहे। इस प्रकार विषय-संचार सीमित किया जाय। जितना अधिकाधिक विषयचिन्तन, उतनी ही चंचलता अधिकाधिक। जितनी श्रीकृष्णचिन्तन में संलग्नता, उतनी स्थिरता अधिक।—**'मामनुस्मरतश्चितं मय्येव प्रविलीयते।'** मक्षिका की सन्तान दुर्गन्धित वस्तु पर बैठती है, चन्दन पर नहीं। भावुक कहते हैं कि प्रथम श्रीकृष्ण के सर्वाङ्ग का भूषणसहित ध्यान, फिर श्रीअङ्गों का, फिर केवल मन्दहासयुक्त मुखचन्द्र का ही ध्यान करना चाहिये—**'तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा।'** यदि सुस्मित मुखचन्द्र में मन एकाग्र हुआ, तो फिर कुछ चिन्तन न करे। अन्त में मुखचन्द्र का चिन्तन होते-होते और अलौकिक सौन्दर्य, माधुर्य सुधास्वादन में मन स्तब्ध हो जाता है, विभोर-विह्वल हो जाता है, वाग्-गद्गदा होती है, चित्त द्रवता है, सर्वेन्द्रियों को निश्चेष्टता प्राप्त हो जाती है। 'प्रेम भरा मन' श्रीभरत-राम-संमिलन के अवसर पर भरतप्रेम रस में सराबोर हो गया, मन निज गति से रहित हो गया। उस समय न किसीने कुछ कहा, न पूछा, कहा—**'मन बुधि चित अहमिति बिसराई।'** इससे बढ़कर निर्विकल्प समाधि कहाँ? चारो अन्तःकरण निश्चल हो गये। इस प्रेमामृतसिन्धु में जब प्रेमी का उन्मज्जन-निमज्जन होता है, तब फिर सर्व विस्मरण हो जाता है। कहा है—**'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥'**

इसीलिये 'भागवत' तृतीयस्कन्ध में कपिल-देवहूति संवाद में परब्रह्म का उपदेश कर सगुण साकार का ध्यान बतलाया है। पहले श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द के सर्व आभूषणों का चिन्तन करे। कहा है—**'तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्नियुङ्क्ते।'** एवं भगवान् के स्वरूप में उस मन को आसक्त कर सर्व विश्व से हटा ले। अन्त में

प्रेमोन्माद में ऐसा होता है कि दूसरों का ध्यान दूर रहा, ध्येय स्वरूप भी छूट जाता है। किन्तु प्रेमी यह नहीं चाहते कि हमारे मन को भगवान् भूल जायँ, क्योंकि वह मुमुक्षु के लिये है। भक्त मुमुक्षु नहीं होता, वह ब्रह्मलोकान्त विरक्त होकर प्रभु के मुखचन्द्र का दर्शन ही चाहता है। कहा है—

"न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ताह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥"

सर्वात्मभाववाले भक्त को चाहे श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र के दर्शन में क्षणिक सर्व-विस्मृतिपुरःसर सर्वत्र प्रभु का ही भान हो जाय, पर सर्वदा के लिये यह इष्ट नहीं मानते। वह चाहते हैं कि सावधानी से प्रभु की सेवा करें। इसी भाव को लेकर कहा है—'**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।**' यहाँ यद्यपि '**चन्द्र**' पद नहीं दिया, तथापि आगे के '**पीतं**' से ज्ञात होता है कि '**चन्द्रमुख**' यदि चन्द्र न हो तो पेय कैसे हो? '**पिबत भागवतं रसमालयं**' यहाँ निगमकल्पतरु से विगलित रसमय फल पीने के लिये कहा है। कहते हैं फल तो चोष्य होता है, पेय नहीं। उसमें बकला, गुठली होती है, अतः कहा '**रसं**' अर्थात् '**रसवत्**' (**गुणवचनान्मतुप्**)। आम्रफल रसवान् होता है, उसमें भी कुछ त्याज्य होता ही है। यहाँ रसात्मकता कही इसीलिये कि यहाँ कुछ छोड़ने की चीज है ही नहीं। इसी अर्थ से यहाँ '**पीबो**' कहा है। जिन्होंने श्रीकृष्णचन्द्र के वक्त्र का पान किया। इससे मुखचन्द्र का ग्रहण होता है। चकोरी जैसे अमृतमय चन्द्रमा की चन्द्रिका को पान करती है, वैसे ही व्रजाङ्गनाएँ श्याम-सुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के अमृतमय मुखचन्द्र के सौरस्य-सौगन्ध्यादि समन्वित सुमधुर अधरसुधा चन्द्रिका का पान करती हैं। इसलिये यह प्राकृत वक्त्र नहीं, पूर्णानुरागरससारसागराविर्भूत चन्द्रमा है। इसीलिये वह निपान करने योग्य है। ऐसा जिन्होंने पान किया; उन्हींके नेत्रों का साफल्य है।

अथवा यह कि, सखि! जिन्होंने नेत्रों द्वारा अनुरागपुरःसर श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रनन्दन के मुखचन्द्र का दर्शन किया, वे परम सौभाग्यशाली हैं। उनमें भी वे जिन्होंने सर्वाभोग्या अधरसुधा का पान किया। यह एक प्रेमार्तिजन्य व्याकुलता है, अतृप्ति है। उसके कारण जो अपनी सर्वस्व निजी, नित्यप्राप्त वस्तु है, उसमें भी दुर्लभता की प्रतीति होती है। कहती हैं—सखि! मनमोहन के मुखचन्द्र का दर्शन करनेवाले कई तरह के हैं। भगवान् के अन्यान्य अवतारों के मुखचन्द्र का दर्शन करनेवाले, द्वारकास्थ, मथुरास्थ, व्रजस्थ, मुखचन्द्र के दर्शन करनेवाले, हम तो इस समय का, जब कि वे अपने सखाओं द्वारा वन में निवेशन करनेवाले हैं, तब उनका दर्शन करती हैं। जिन्होंने '**जुष्टं**' प्रीति-अनुराग-स्नेहपुरःसर '**पौनःपुन्येन अभ्यसन**' किया, उनका साफल्य है। फिर जिन्होंने सर्वभोग्या अधरसुधा का पान किया, उनका क्या पूछना?

'पशूननु'—व्रजाङ्गनाएँ गौवों को जब अपने दर्शन में विघ्न समझतीं, तब उन्हें पशु कहने लगती हैं। कहती हैं उनका दर्शन हमें परम दुर्लभ है। जहाँ क्षण भी कल्पकोटिशत, वहाँ सम्पूर्ण दिवस कैसा बीतता होगा ? निर्निमेष नयनों से श्रीकृष्ण-चंद्र के आगमन की प्रतीक्षा करती रहती हैं। जब श्रीकृष्ण पधारते हैं तब धूलि उड़ती देख पानी भरने के व्याज से झरोखों में से धूलि में ही टकटकी लगाती हैं कि श्रीकृष्ण आते हैं। कहीं विलम्ब होता तो ब्रह्मा, रुद्र को कोसतीं कि जब श्यामसुन्दर आते हैं तब ऋष्यादि उन्हें वंदन करते हैं। अतः उन्हें आने में देर लग जाती है— **'वंद्यमानचरणः पथि वृद्धैः'**। यदि ब्रह्मादि वंदन करते हैं, तब व्रजाङ्गनाओं को बड़ा खलता है कि देखो सखि ! पहले तो उनके आने में देर और फिर ये अमर बीच में आये। इसी समय जब प्रभु सखाओं और गौओं की ओट में हो जाते हैं, तब गौओं को 'पशु' कहती हैं। जो हृदय न पहिचाने, वह पशु है। सखि ! इनको हमारे हृदय का क्या पता ? हमें विप्रयोग में कितना कष्ट होता है ! यदि इनको हमारी पीड़ा मालूम होती, तो यह आड़ न हो जातीं। इसलिये गौ को पशु कहा। इन्हींके लिये हमारा नित्य विप्रयोग होता है। ज्ञानदृष्टि से पशु हैं ब्रह्मनिष्ठ—**'सर्वानविशेषेण पश्यतीति पशुः'**। यह सब अमर ब्रह्मनिष्ठ गोरूप में श्रीकृष्ण का दर्शन करने आये हैं। साथ-साथ विधाता को भी कोसती हैं कि, **'जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृत् दृशान्'**। जब सायंकाल को श्रीकृष्ण आते हैं और हमारे नैन दर्शन में संलग्न होते हैं, तब पलकें पड़ती हैं। यह बड़ा विघ्न है ! इन पलकों को बनानेवाला जड़ था। यदि रसिक होता तो पलकें न बनाता। यह उसने बड़ी गलती की है।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं :—व्रजाङ्गनाएँ परस्पर कहती हैं, सखियों ! आप लोग विधाता के दिये हुए नेत्र, श्रोत्र, त्वक्, मन, बुद्धि आदि को विफल कर रही हो। इसलिये धैर्य-लज्जा को जलांजलि देकर श्रीवृन्दावन में श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद के अमृतमय मुखचन्द्र का दर्शन करके नेत्रादि को सफल करो—**'यैर्दृष्टंस्पृष्टं निपीतं तेषामेव इन्द्रियसाफल्यम्।'** यदि इन श्रोत्रों से श्यामसुन्दर के वचनामृत का पान नहीं किया तो बधिर होना ही अच्छा। यदि इन नयनों से मनमोहन का विलोकन नहीं होता, तो विलोचन न होना ही ठीक है। तभी तो जिन भावुकों को स्वप्न में भी इस रस का आस्वादन हुआ उन्हें अन्य दर्शनादि सुहाते नहीं। कहा है— **'लखी जिन लाल की मुसकान, तिनहीं बिसरी सुध-बुध सबही।'** सुनते हैं कि एक बार सूरदासजी दर्शन के लिये वृन्दावन में पहुँचे। वहाँ प्रभु को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते कुएँ में गिर पड़े। इतने में जिसको ढूँढ़ते थे, वही आया,—श्यामसुन्दर मनमोहन पधारे। अपनी विशाल भुजाओं से उन्हें बाहर निकाला। भगवान् की मंगलमय भुजाओं का अमृतमय सुस्पर्श प्राप्त होते ही विदित हो गया कि यह प्राकृत वस्तु नहीं, ब्राह्मस्पर्श है। अहा हा ! सूरदासजी का शरीर रोमांचित हो उठा। सूर आनन्दोद्रेक में डूब

गये। इतने में भगवान् कहते हैं–'अब हम जाते हैं।' सूर ने कहा–'कैसे जाओगे ?' और पकड़ लिया। भगवान् ने हाथ छुड़ा लिया। सूर कहते हैं–'अच्छा, **"हस्तमुत्क्षिप्य यातोसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्। हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥"** हे श्याममुन्दर ! हाथ छुड़ाकर भाग रहे हो ! नाथ मैं जीव हूँ, आप अनंतकोटिब्रह्माण्ड-नायक हो। इसलिये आश्चर्य नहीं। हम तब जानें, जब आप हृदय से निकलें !' **'प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मः'** जैसे द्रवीभूत लाक्षा में जो रंग पड़े, वह स्थायी हो जाता है, निकाले निकलता नहीं। रंग चाहे कितनी ही कोशिश करे कि मैं लाह से निकल जाऊँ या लाह चाहे जितनी कोशिश करे कि मैं रंग को निकाल दूँ, तो नहीं निकाल सकते। दोनों लाचार हैं। एवं भक्त के चित्त में से भगवान् निकलना चाहें या भक्त भगवान् को निकालना चाहे तो हो नहीं सकता। ऐसी विलक्षण परतंत्रता दोनों में हो जाती है। सारांश, प्रभु ऐसे भक्त-परतंत्र हैं। वे सूर के पास लौट आये। सूर ने कहा, 'प्रभो ! अपने मुखचन्द्र का दर्शन तो दीजिये'। सूरदास को प्रभु के श्रीअंग का संस्पर्श तो मिला ही था। भगवान् ने दर्शन दिये, सूरदास कृतार्थ हो गये। जब प्रभु विदा होने लगे, तब सूरदास कहते हैं 'नाथ ! अब नेत्रों को ले जाइये ! जिन नेत्रों से आपका दर्शन हुआ, उनसे क्या अब यह तुच्छ जगत् देखा जायगा ?'

'अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्'—कहा कि लज्जा से कैसे देख सकोगी ? पहले तो श्रीकृष्ण का दर्शन ही दुर्लभ, फिर जड़ विधाताकृत पलकें, फिर लज्जा, तब दर्शन इनमें से हो कैसे ? तब कहा—"सखि ! उनका मुखचन्द्र ऐसा है कि **'अनुरक्तकटाक्ष-मोक्षम्।'** चलो तो, जैसे ही उनके मुखचंद्र का दर्शन करोगी वह अपने भ्रकुटीकाम-कोदण्ड को तानकर, नयनशरसंधान कर, कटाक्षों की वर्षा कर हृदय, बुद्धि, मन का हरण कर शुद्ध भावों की स्थापना करेंगे। लज्जादि को जलांजलि देनी होगी। जैसे सानुराग कटाक्षों का मोक्ष होता है, वैसे हो श्रीकृष्ण के अमृतमय मुखचन्द्र को देखोगी। शुद्ध रसास्वादन होगा।"

कोई इस श्लोक का भाव ऐसा कहते हैं :—किसी व्रजाङ्गना ने श्रीकृष्ण मनमोहन का वृन्दारण्य में जाते समय दर्शन किया था और जब तक धूलि दीख रही थी तब तक निर्निमेष अतृप्त एकटक दृष्टि से निहार रही थी। पर जब धूलि भी गयी तो चित्रलिखित सी बैठी हुई श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द को अलौकिक झाँकी देखती रही। उस समय वेणुगीत सुना। एकदम स्मृति आयी। आँखें झिलमिलायीं, तो दूसरी कहती है, सखि ! नेत्र क्यों नहीं खोलती ? कहा—**'अक्षण्वतां फलमिदं'**—सखि ! श्यामसुन्दर का दर्शन ही परम फल था। वह इस समय दीख नहीं रहा है, फिर किसलिये नेत्र खोलें ? अथवा आँख मीचे हुए श्रीकृष्ण-ध्यान में निमग्न व्रजाङ्गना को देखकर दूसरी पूछती–'ऐसा क्यों ?' कहा–'सखि ! यह तो जो विशेष विह्वलता, दुर्दशा, मूर्छा, दीनता है, यह नेत्रोंवालों का फल है। यदि नेत्र न होते, प्रभु के, मनमोहन के

मुखचन्द्र का दर्शन न होता, तो यह दुर्दशा न होती।' कहा–'सखि ! क्या फल है ? आपने अनुभव किया ?' 'नहीं !' '**वयं सुविदाम एव**'–हमने तो दूर से अनुभव किया। जिन्होंने सम्यक् पान किया, वही जाने सखि ! ! !'

"चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालानुरक्तपरिधानविचित्रवेशौ ।
मध्ये विराजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रंगे यथा नटवरौ क्वच गायमानौ ॥"

इसका थोड़ा सा भाव कहकर फिर पहले श्लोक पर आयेंगे क्योंकि इसका उसमें सम्बन्ध है। 'हे सखि ! वृन्दावन में श्रीकृष्ण कैसे हैं ?' (इन व्रजाङ्गनाओं को आसक्ति की महिमा से वहीं घर पर बैठे-बैठे श्रीकृष्ण का दर्शन हो रहा है) सुकोमल नवीन हरे-हरे, लाल-लाल आम्रपल्लव श्रीकृष्ण और बलराम के अंगों के भूषण हैं। मुकुट, कुंडल, हार, अंगद, कंकण, कांची, नूपुर इत्यादि रत्नमय भूषण हैं ही, किंतु इनके अतिरिक्त यह वेश सुकोमल, देदीप्यमान, अरुण, सरस आम्रपल्लव को धारण किया और मयूरपिच्छ से बनी हुई कलिकाएँ धारण कीं, उन कलिकाओं का मंडलमय मुकुट विशाल भाल पर विराजमान है। यह प्राकृतिक शृंगार है। मोरमुकुट के संनिधान में ही सजाव के साथ बर्हमय अर्थात् मयूरपिच्छ के बने हुए गुच्छे हैं। उत्पल तथा अब्ज अर्थात् रात्रिविकासी तथा दिवसविकासी दो प्रकार के कमलों की माला शोभती है। ऊपर से दामिनीद्युतिविनिंदक अद्भुत पीताम्बर से श्रीअंग आवृत है। यही परिधान अर्थात् नीलाम्बर-पीताम्बर से विचित्र मनोरम वेशवाले वे श्रीकृष्ण-बलराम दोनों वृन्दावन के पशुपालगोष्ठी में नटवर वेश धारण किये विराजमान हैं। कदचित् गायन और नृत्य भी करते हैं। यहाँ इसी श्लोक के आगे वेणुचर्चा है। इससे यह कहना है कि वह उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मक श्रीकृष्ण नटवर वेश धारण किये हुए गोपाल वेश में रस का अभिनय करते हुए विराजमान हैं। ऐसे सरस उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के दर्शन का यही अवसर है। चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जादि धारण से रसात्मक स्वरूप विचित्र हो गया अर्थात् परमानंद रसामृतमूर्ति पूर्णतम पुरुषोत्तम में विचित्रता आ गयी। स्वयं रसात्मा में यह तीन-चार बातें १. आम्रपल्लव, २. बर्हस्तबक, ३. उत्पलाब्जमाला और ४. पीताम्बरविशेष हैं। स्थायीभाव, व्यभिचारिभाव, अनुभाव, ये तीन भाव होते हैं। चूतप्रवाल से उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मक स्वरूप में शृङ्गार रस का स्थायीभाव प्रदर्शित किया। सरस सुकोमल अरुण आम्रपल्लव से सरसता, अरुणिमा राग सूचित है, कोमलता सूचित है। लौकिक दृष्टि से व्रजाङ्गनाओं के हृदय में यह रूप व्यक्त करना है। उनके हृदय में यदि निर्विशेष स्वरूप व्यक्त हो तो उनके सर्वेन्द्रियों के साफल्य की आशा नहीं है। '**बर्हस्तबक**' से व्यभिचारीभाव दिखलाया। एक रस धर्मी होता है और एक रस होता है धर्म। प्रभु का मंगलमय श्रीअंग रसधर्मी है। उसमें सरस आम्रपल्लव धारण से रस स्थापित

किया, एवं रसात्मा श्रीकृष्ण में रस का संचार हुआ। भावुक रस के लोभी होते हैं, यह तो ठीक है, पर यहाँ तो रस भी इसका लोभी हो रहा है। संचारीभाव (व्यभिचारीभाव) बर्हस्तबक से कैसे? तो इसका भाव यह है कि मयूर में रसाक्रान्ति कादाचित्क है। नील नीरद के दर्शन से जब उसमें रसोल्लास होता है, तब वह नृत्य करता है और उसी समय उसके पिच्छ गिरते हैं। ऐसा मयूरपिच्छ धारण कर (मूर्च्छादि ३३) संचारीभाव दिखलाया। रस को उत्पन्न कर ये अस्तंगत हो जाते हैं। सदा नहीं रहते। विभाव दो तरह के होते हैं—आलंबनविभाव और उद्दीपन विभाव। रस का आलंबन (विषय) आलंबनविभाव है। व्रजाङ्गनाओं के लिये रसालंबन श्रीकृष्ण हैं अर्थात् वही आलंबनविभाव हैं। जिन-जिन भावों से प्रियतम में भाव अधिक हो, वह वेणु, मलयानिल, चंद्रादि उद्दीपन विभाव हैं। यह तीनों (आलंबन-उद्दीपन विभाव और अनुभाव) रसानुभव करानेवाले होते हैं। इनमें उत्पलाब्जमाला से अनुभाव दिखाया गया है। तथा च उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्णचंद्र परमानन्दकंद में समस्त रसानुभव की सामग्री है। व्रजाङ्गनाएँ निर्विशेष समझकर उद्विग्न हो जायँ, इसलिये विचित्र सरस होकर श्रीकृष्ण का प्राकट्य हुआ है। अथवा आम्रपल्लव से रजोगुण सूचित किया। उसकी सरसता से सानुरागता तथा अरुणिमा से राग। सत्वगुण स्वच्छ होता है, तमोगुण श्यामल तथा रजोगुण लाल। यद्यपि निर्गुण, निराकार, परमात्मा में सत्व, रज, तम ये तीनों गुण नहीं हैं, वे प्राकृत में होते हैं। किन्तु यहाँ पर ध्यान रखना चाहिये कि रागमात्र सूचन के लिये रजोगुण सूचन है। अप्राकृत अलौकिक में भी सत्व, रज, तम हैं। तभी श्री वल्लभाचार्य व्रजाङ्गनाओं में सात्विकी, राजसी, तामसी ऐसे तीन भेद करते हैं। उन प्रत्येक में भी त्रिविध हैं और एक निर्गुण। इस प्रकार दस तरह की व्रजाङ्गना बतलाते हैं। '**गोपीगीत**' में सबकी उक्तियाँ अलग-अलग दिखलायी हैं। '**रासपंचाध्यायी**' को उन्होंने तामस प्रकरण कहा है। तात्पर्य यह है कि प्राकृत विषय दूषण से दूषित है। जहाँ लीला है, वहाँ अवष्टम्भात्मक तम, चांचल्यात्मक रज और प्रकाशात्मक सत्व की अपेक्षा है ही। वह लीला चाहे प्राकृत हो या अप्राकृत। किन्तु यहाँ लीला है अप्राकृत, अलौकिक। अतः इसमें भी तीनों दिखलाया है। सरस आम्रपल्लव धारण कर अरुणिमा, राग, प्रेम सूचित किया है। यह उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्ण व्रजाङ्गना वृषभानुनंदिनी के प्रति सराग हैं, यह सूचित किया जाता है। क्योंकि वे उदासीन हैं ऐसा किसीको विभ्रम न हो। यदि उनमें राग न हो, तो निराशा हो जाय। उदासीन हों, तो वृषभानुनंदिनी, व्रजाङ्गनाएँ प्रभु को अपना रसालंबन कैसे बनायें? रसालंबन नीराग, नीरस, हृदयशून्य थोड़े ही होता है। इसीलिये उदासीनता, निराकारता का संगोपन करने के लिये आम्रपल्लव धारण कर सरसता तथा सापेक्ष्य सूचित किया है। इस लीला में निरपेक्षता छिपायी जाती है, सापेक्षता प्रकट की जाती है। नहीं तो क्षीरसागर जिसकी

राजधानी है वह क्षीर की चोरी कैसे करें ? इसलिये सब गुण ऐश्वर्यमायादि छिपाये जाते हैं।

बर्हस्तबक धारण से तमोगुण सूचित किया है। वह अवष्टम्भात्मक है। अवष्टम्भ का अर्थ है रुकावट। इससे आसक्ति सूचित होती है। आसक्ति तमोगुण का कार्य है। जैसे कोई दुराग्रही दुरभिनिवेशवशात् विषयसेवन से हटाये नहीं हटता, यह आसक्ति का स्वरूप है। तत्सूचक श्यामल मयूर-पिच्छ के गुच्छाओं से निर्मित मुकुट धारण कर वृषभानुनंदिनी-विषयिणी आसक्ति व्यक्त की। कहा कि "मैं उदासीन नीरस नहीं, मैं तो नित्य निकुंजेश्वरी वृषभानुनंदिनीस्वरूपासक्त श्रीकृष्ण हूँ।" ऊँची दृष्टि से यह भगवान् की भक्त में आसक्ति है। भक्त कहते हैं–"प्रभु जब उदासीन, स्तब्ध हैं, तब हमारी रक्षा का ध्यान कैसे रखेंगे!" यह आसक्तिभाव विशेषकर वृषभानुनंदिनी में ही बनता है। वे वृषभानुनंदिनी के आसक्ति का—अनुकम्पा का पात्र ही बनना चाहते हैं। कहते हैं कि वृषभानुनंदिनी के वसनपवन से श्रीकृष्णचंद्र अपने को कृतार्थ मानते हैं। उत्पलाब्जमाला (रात्रि विकासी-दिवस विकासी कमल-माला) धारण से सत्त्व सूचन करते हैं। पहले से राग का, दूसरे से गाढ़ासक्ति का तथा तीसरे से व्यसन का सूचन है, अर्थात् वृषभानुनंदिनी के मुखचंद्र के दर्शन-चिंतन का—भक्तानुसंधान का व्यसन सूचित करने के लिये उत्पल तथा सौरभ से स्थिर वासना विवक्षित है। ऐसा उद्बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्मा श्रीकृष्णचंद्र परमानन्दकन्द एवं वृषभानुनंदिनी-विषयक राग-आसक्ति-व्यसनयुक्त तत्त्व व्यक्त हुआ। यही भक्तों के काम का है। नीरस, निर्विकार नहीं। यह रसधर्मी श्रीकृष्ण का स्वरूप व्यक्त है। अथवा इससे रसरूप सौगन्ध्य व्यक्त है। सरस आम्रपल्लव से सरसता, बर्हस्तबक से रूप और उत्पलाब्जमाला से सौगन्ध्य सूचित है। यदि **'रसे रसानंगीकरात्'** इस मत के अनुसार ब्रह्म नीरूपादि हो तो भावुकों के किस काम का ? रूप रसादियुक्त होने से सर्वाभोग्या अधरसुधा की लालसावाली व्रजाङ्गनाओं की, रूपभोगियों की और सौगन्ध्यभोगियों की भी उसमें प्रवृत्ति होगी, यह दिखलाना है। ऐसा यह रसात्मक रूप सर्वथा छिपाने की चीज है, इसलिये पीताम्बर से वह ढका हुआ है। अर्थात् कपटचातुर्य से राग, आसक्ति, व्यसन छिपाना है। यहाँ पर भाववृक्ष का राग बीज, आसक्ति कलिका तथा व्यसन फूल कहा है। अर्थात् श्यामसुन्दर की सुमधुर अधरसुधापान से व्रजाङ्गनाओं के सस्नेह सरस हृदय में श्रीकृष्ण प्रभु ने वंशी द्वारा भावबीज बोया। बीज भी किन्हीं देशों में बाँस से बोया जाता है। इसलिये वह बाँस के वंशी से ही बोया। बोते ही वह अंकुरित हुआ, उसमें आसक्ति कली लगी। कली में भी रूप, रस, सौरभ रहते हैं, पर छिपे रहते हैं। इसके बाद जब व्यसन हुआ, तब वह फूल उठा। जब पुष्प विकसित हुआ तब रूप, रस और सौरभ व्यक्त हुए। इस प्रकार व्यसनावस्था

(संसार का व्यसन नहीं, वह तो घोर नरक का मूल है) ही भावुक जीवन को सुखमय बना देती है। बिना दर्शन, परिरंभण, अधरामृतपान के न रहा जाय, यह राग, आसक्ति, व्यसन है। यह महाभाग्य की बात है।

कोई बर्ह अलग लेते हैं और स्तबक अलग लेते हैं। बर्ह याने मयूरपिच्छ तथा स्तबक याने फूलों के गुच्छे। उत्पलाब्जमाला से यह दिखलाया कि विकसित उत्पल में ही पूर्ण रूप से रस, रूप, सौरभ होते हैं। रस, रूप, सौरभ कलिका में भी होते हैं, पर वह अविकसित हो तो कैसे मालूम पड़ें। इसलिये उत्पल-अब्ज दोनों लिया। कारण यह है कि रात्रिविकासी दिवस में अविकसित रहता है और दिवसविकासी रात्रि में अविकसित रहता है। यदि एक ही प्रकार हो, तो नैरंतर्येण उनकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती है।

एक कान में कर्णिकार, दूसरे में उत्पल और दक्षिण हस्त में अब्ज (नीला कमल) है अर्थात् पहला स्वरूप जो **'बर्हापीडं नटवरवपुः'** द्वारा वर्णित किया था उसी स्वरूप का इसमें वर्णन है। और भी कुछ-कुछ सामग्री है, इतना ही भेद है। श्री वल्लभाचार्य कहते हैं—यहाँ तीनों से रज, तम, सत्व बोधित है अर्थात् आम्रपल्लव से रज, मयूरपिच्छ से तम और उत्पलाब्जमाला से सत्व का सूचन है। इसलिये इनके ही विशेष आकार से आविर्भूत नव रसों का सूचन भी है एवं उद्‌बुद्ध उभयविध शृंगाररसात्म श्रीकृष्णचंद्र नवरस सम्मिलित हैं, अतएव तत्कृत वैचित्र्य भी है। यही बात **"विचित्रवेषौ"** से दिखलायी।

कह सकते हैं कि तब तो यहाँ विरोध प्रतीत होता है। वहाँ कहा था कि केवल रस ही नाट्य में व्यक्त होता है। संप्रयोग में रसधर्म सहित रसधर्मी व्यक्त होता है। **'नटवरवपुः'** में यही कहा है। **'नट'** से विप्रयोगात्मक शृंगार और **'वर'** (दूल्हा) से संप्रयोगात्मक शृंगार कहा था, तो नटवत् जहाँ केवल रस है, रस धर्मी नहीं क्योंकि जहाँ सामग्री सहित रस प्रकट है, वहीं धर्म सहित रस धर्मी है। जहाँ सामग्रीरहित नट की तरह अभिनय द्वारा सब आरोपित ही आरोपित होते हैं, तथाच सामग्री बिना रस की जहाँ व्यंजना होती है वहाँ केवल रस होता है। परन्तु जहाँ वर (दूल्हा) प्रत्यग्र भोक्ता है वहाँ तो सर्व नायक-नायिका स्पष्ट हैं, सामग्री भी प्रत्यक्ष है। अतः वहाँ धर्मसहित धर्मी का प्राकट्य है। अब यहाँ आम्रपल्लव से स्थायीभाव, मयूरपिच्छ से व्यभिचारीभाव और उत्पलाब्जमाला से अनुभाव दिखलाया। उनमें राग, आसक्ति, व्यसन कहा। उन्हें भाव वृक्ष का अंकुर, कलिका, फूल बतलाया। उसमें रूप, रस, सौरभ का विकास कहा। व्यसन द्वारा निरंतर भोग कहा, जिसमें श्रीकृष्णचंद्र परमानंदकंद का पूर्णरूपेण आस्वादन बतलाया। जब उत्पलाब्ज विकसित है, तब ही उसका रूप, रस और सौरभ स्थिर है। फिर श्रीकृष्ण संभोग का व्यसन हुआ। 'अहोरात्रं वासना स्यात्' यहाँ व्यसन की निरंतरता है और

वही व्यसन भी है। जो छूट जाय वह व्यसन नहीं, जिसके बिना रहा न जाय, वही तो व्यसन है। वेद-शास्त्रादि के प्रयत्न करने पर भी जो न छूटे, वह व्यसन है। उसीके आच्छादन के लिये, उसीको छिपाने के लिये परिधान बतलाया। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण परमानंद रागवान्, आसक्तिमान और व्यसनवान् होकर व्यक्त हैं एवं वे रसधर्मी हुए। अब विप्रयोग न रहा, संप्रयोग हुआ। यही संदेह है, इसपर कहते हैं कि यह भो अभिनय हो है। यद्यपि एक दृष्टि ऐसो है कि वहाँ वनसुन्दरी आधिदैविकी शक्तियों को पूर्णतम पुरुषोतम श्रीकृष्ण का संप्रयोग रस हो प्राप्त है। वहाँ प्रभु के प्रत्यक्ष रमण करने से। पर व्रजाङ्गनाओं के लिये विप्रयोग हो है। सामग्री होते हुए भी नट अभिनय द्वारा सामग्री व्यक्त करता है। वैसे संप्रयोग न होने पर भी आरोपादि द्वारा उसका प्राकट्य है। अभिनय कहीं शब्दों द्वारा, कहीं कायिक व्यापार द्वारा और कहीं विभिन्न सामग्री-धारण द्वारा होता है। यहाँ प्रभु का सरस श्रृंगारात्मक स्वरूप व्रजाङ्गनाओं में व्यक्त कर उन्हें आंतर रमण कराना है। बाह्य रमण में जितनी सामग्री होती है उतनी ही आंतर रमण में भो अपेक्षित है। अन्तर केवल यह है कि बाह्य सम्बन्ध नहीं होता, इस समय के गोपालगोष्ठी के नटवर वेश का व्रजाङ्गनाएँ आसक्तिवशात् अनुभव कर रही हैं। यहाँ सभा गोपालों की है, पर यह अभिनय वहीं के लिये नहीं, व्रजाङ्गनाओं के लिये भी है। एवं विशेषणविशिष्ट स्वरूप का अमृतमय, मुखचंद्रनिर्गत वेणुगीत द्वारा व्रजाङ्गनाएँ अनुभव कर रही हैं। तात्पर्य यह है कि विप्रयोगात्मक ही श्रृंगार व्रजाङ्गनाओं के लिये है। और जगह और नटों द्वारा जो भावना सामाजिकों द्वारा होती है, वह अभिनिवेश मात्र है, मनोराज्य मात्र है। किंतु यहाँ पर तो इनकी भावना फलपर्यवसायिनी है। भावुकों की भावना मनोराज्य नहीं होती। वह जैसी भावना करते हैं, वैसी वस्तु हो जाती है। कहा है कि '**यद्यद्धियात उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।**' अर्थात् भावुकों की जैसी भावना होती है, वैसा ही प्रभु स्वरूप बनाते हैं। इस दृष्टि से इस अभिनय द्वारा भी श्रीव्रजस्थिता व्रजाङ्गनाओं में जो भाव व्यक्त होंगे, वे सच्चे ही होंगे। यहाँ यद्यपि केवल '**वर**' हो कह सकते थे, पर विप्रयोग मर्यादा रक्षणार्थ '**नट**' भी कहा। अभिनय सामग्री सहित आधिदैविक शक्तियों में संप्रयोग और व्रजाङ्गनाओं में विप्रयोग उत्पन्न करते हुए प्रभु नट की तरह नटवर वेश से सभी भावों को व्यक्त करते हैं। इसका अनुभव करती हुई व्रजाङ्गना कहती है—सखि! विधाता के दिये हुए लोचनों को अर्थात् अंग-प्रत्यंग को सफल करो। इतने सुन्दर दर्शन व्रज में न होंगे। पशुओं, गोपालों की भीड़ में मनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन जब व्रज से वृन्दावन में जाते हैं, तब दर्शन निर्विघ्न नहीं होता। पशु, लज्जा, पलकें, गोपालवधू इनका व्यवधान हो जाता है। सखि! निकुंज में छिपकर श्यामसुन्दर का दर्शन करेंगे। यहाँ वैसा संवाद, नृत्य, गायन नहीं हो सकता—'**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः।**'

यहाँ व्रजेशसुत इसलिये कहा कि यदि श्वश्रू ननन्दा कान दें तो दें, हम क्या अनुचित कहती हैं ? जड़, चेतन, पशु जब सब ही व्रजराजकुमार के अमृतमय मुख-चन्द्र के दर्शनाभिलाषुक हैं, वे प्राणिमात्र के परप्रेमास्पद हैं तब कुछ चिन्ता नहीं। सखि ! चलो **'गायमानौ गायेन मानः सत्कारः ययोः तौः'** नट का लोग सम्मान करते हैं, पर सर्वस्व नहीं देते। यहाँ प्रभु के लोकोत्तर गायन में गोपाल सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। **'गायेन मानः अहङ्कारः ययोः'** प्रभु कहते हैं—आओ, तुममें है कोई ऐसा गायन करनेवाला। एतावता अभिनय तीन प्रकार का दिखलाया –१ परमसात्विक, २ नृत्य द्वारा तामस, ३ गायन द्वारा राजस। ऐसे श्रीकृष्ण-बलराम **'मध्ये विरेजतुः'**।

"गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुंक्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रुमभुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः॥"

व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं, सखि ! इन गोपालों की सौभाग्य-महिमा कौन कहे, वे परम अंतरंग हैं। सखि ! वे तो श्यामसुन्दर के सखा गोपालगण श्यामसुन्दर के मुखचन्द्र का दर्शन करते हैं, परिरंभण भी करते हैं और खेल खेलते हैं। उनकी महिमा अचिन्त्य है। वह सौभाग्य हमें कहाँ ? वैसी स्वतन्त्रता हमें कहाँ ? पर सखि ! देखो, यह जो नीरस दारुमय वेणु है इसका सौभाग्य तो देखो ! सनातन गोस्वामी कहते हैं कि यहाँ महाभाव की स्फूर्ति है। उससे व्रजांगनाओं को श्रीकृष्णचंद्र परमानंदकंद की मंगलमयी मूर्ति के सर्वभोग्या अधरसुधा में, अत्यन्त आसक्तिवशात् स्फुरितभाव से अलौकिक उन्माद प्रकट हुआ। अतः सेर्ष्य मिथ्या कल्पना करती हुई बोलती हैं, पर यह महाभाव भक्तिरस में ऊँची कोटि का है, अधिरूढ़ मादन-मोदनाख्य अवान्तर भाव हैं। आसक्तिविशेष से व्रजांगनाओं के अंतरात्मा में महाभाव की स्फूर्ति हुई। अतः मिथ्या कल्पना उस रसमय भक्तिरसामृत-सिन्धु की लहरी है। यहाँ मूर्छा-मरण-अपस्मार रस हैं। संसार के लिये जो विपत्ति है वही यहाँ की सम्पत्ति है। प्रियतम प्राणधन श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के विप्रयोगजन्य तीव्र ताप में व्रजांगनाओं की मूर्छा यहाँ रस-रूप है। संसार की तृष्णा तृष्णा है, आशा दुराशा पिशाची है। भगवान् के चरणारविन्द की आशा कल्पलता है। यहाँ की ईर्ष्या मिथ्याकल्पना रसमयी है। इसलिये वेणु को शुष्क काष्ठ कहना रस है। सनातन गोस्वामी कहते हैं—वंशी में शुष्कता, नीरसता, सच्छिद्रता, सग्रन्थिता के आरोप में भगवान् को रस आता है, वेणु भी प्रसन्न होती है। व्रजांगना कहती है—सखि ! यदि श्यामसुन्दर मनमोहन किसीसे न मिलते तो कोई संताप न होता, पर अपने संगी गोपाल बालकों को प्रभु निर्भरपरिरंभण करते हैं, इसलिये ईर्ष्या होती है। सखि ! यह कुण्डलस्थ मकरी निःशंक होकर श्रीकृष्णचन्द्र के मुख चन्द्र का चुम्बन करती है, माला श्यामसुन्दर के वक्षःस्थल पर बिहरती है, इन जड़ वस्तुओं को–अनधिकारी जड़ों को–परमरसामृत-मूर्ति श्रीकृष्णचन्द्र का संस्पर्शादि सर्व प्राप्त है, हम हतभागिनियों को नहीं। अस्तु,

गोपालों का कथंचित् सोढव्य है। यह वंशी जड़, देखो! शुष्क, काष्ठ, निःसार, पोला, सच्छिद्र, सग्रन्थि, नीरस, वेणु, वंशी इसने कौन पुण्य किया, कौन तप-जप-ध्यान किया, जिससे इसको यह अलौकिक परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। सखि! यदि यह विदित हो तो हम भी बाँस को वंशी वही तपस्या करके बनें। गोपांगना जन्म में कृतार्थता—सफलता नहीं प्राप्त है। सखि! यह साधन कोई दुरूह है। क्योंकि अपने तो उपनिषदरूपा हैं—वेदऋचा हैं। जितना भी पुण्यकर्म जप-तप है, सब वेदों से ही प्रकाशित होता है, तो सखि! इसने कौन सा अद्भुत कर्म किया जो हमें भी दुर्ज्ञेय है, जिसका अनुष्ठान कर इसने यह सौभाग्य प्राप्त किया। "**दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।**"

'वेणुः' ऐसा पुंस्त्व का निर्देश कर यह सूचित किया कि पूर्णतम पुरुषोत्तम रूप में प्रगट भगवान् का संभोग गोपांगना-भावापन्न ही करेंगे। यह तो पुमान् है, यह भगवान् का संभोग कैसे करे? यह अनधिकारी है। फिर शुष्क भी है। सरस होता तो बात दूसरी रही। 'वंशी' कहते तो अधिकार सूचित होता। इसीलिये जानबूझ-कर वैसा नहीं कहा। तो यह वेणु हमारे श्यामसुन्दर के हस्तारविंद में निरंतर विराजमान है, कभी उदर में, कभी मुखचंद्र में, कभी वक्षःस्थल पर विराजता है। अस्तु, अब तो **'सुधामपि भुंक्ते'** सर्वत्र रहने की, इतनी धृष्टता तो की पर यह धृष्टता तो देखो। दामोदरमनमोहन के अधरसुधा का संभोग करने लगा। अब तक यही धृष्टता थी कि प्रभु का आलिंगन-संस्पर्शादि करता रहा यह पर्याप्त था पर अब आगे बढ़ा। सखि! **'अयं वेणुः युष्माकं दामोदराधरसुधां'** आप लोगों की व्रजांगनाओं की निधि परमधनभूता दामोदर के अमृतमय मुखचन्द्र को स्वयं याने आपकी सम्मति बिना पान किया। हमारे श्यामसुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र हैं, उनके श्रीअंग का स्पर्श किया। हमारे मनमोहन की सुधा को हमारी आज्ञा बिना भोगने लगा। नेक पूछा भी नहीं। गोपिकानाम्—तदेकाशयैव गोपिकानाम् (गुपू रक्षणे) यह अमृतमय मुखचंद्र को अधर-सुधा हम गोपिकाओं की है। एक मनमोहन श्यामसुन्दर के सुमधुर अधरसुधा के संभोग के लिये ही हमने अपने देह-प्राणों का रक्षण कर रक्खा है, केवल इस आशा से कि कभी वह अधरसुधा भोगने को मिलेगी, नहीं तो यह कभी चले गये होते। सखि! वह जीवनाधार प्राणाधार सर्वस्व है। यह ममता कि प्रभु हमारे हैं। मन-मोहन श्यामसुन्दर हमारे ही हैं। सखि! हमसे कुछ पूछताछ न किया। **'दामोदराधर-सुधां'** कहा, क्या मनमोहन का ठेका तुम लोगों ने ले रक्खा है? यह तो पूर्णतम पुरुषोत्तम निखिल विश्व के हमारे ही प्रणयपाश से वह बँधे हैं। हमारी ब्रजेन्द्रगेहिनी ने उनको प्रणयपाश से बाँध रक्खा था। यदि हमारे न होते, तो कैसे बाँधे जाते? यदि सबके होते, तो और भी बाँधते। क्या किसीने बाँधा? ललन को जब नंदरानी बाँधने लगीं, तो रज्जु दो अंगुल कम हुई। गोकुलभर की रस्सियाँ लगीं पर बछड़ों की नहीं! वह व्रजेन्द्रगेहिनी अपने ललन के सुकोमल अंग को कठोर रज्जु से कैसे

बाँधे ? रेशमों की सुकोमल डोरियाँ थीं जिसमें लाला को कष्ट न हो। वात्सल्यरस-सागर जिसके हृदय में उमड़ रहा है, वह करुणामयी पुत्रवत्सला अम्बा कैसे कठोर रज्जु ले ? दो अंगुल की कमी हुई। भावुक कहते हैं कि परमात्मा बँधते, पर बिलकुल बँध जायँ, तो गजब हो जाय, जब सब रज्जु कम पड़ी तब वृषभानुनंदिनी आयीं, कहा—'हमारे वेणी का पाश है, लो'। जब उन्होंने अपनी वेणी का बंधन दिया, तब प्रभु ने कहा—इसके बंधन में तो हैं ही। भगवान् माधुर्याधिष्ठात्री के प्रणयपाश में हैं ही। **'दाम-रस्सी थी उदर में जिसके'** अर्थात् वृषभानुनंदिनी के, हमारी स्वामिनी के उस वेणीबंधन से श्रीकृष्ण बँधे थे। हमारे थे तभी न बँधे ! इसलिये उनकी सुमधुर अधरसुधा हमारी है। ऐसी प्राणाधारभूता सुधा को यह वेणु भोगने लगी। अब तक क्षमा किया, अब नहीं रहा जाता। '**हे गोप्यः !**' आप लोग क्यों गोपी हुईं, गोपी जन्म में जन्म की सार्थकता नहीं है, वेणुजन्म में है, अतः चलो वेणु बनने का प्रयास करो। कहा सखि ! आप यों हो दोषारोपण उसमें करती हो। दामोदर का मुखचंद्र तो ज्यों का त्यों ही सरस है। यदि वह संभोग करता तो वह शुष्क हो जाता ! कहा—रस ही रस तो रहा है, सुधा तो सब उसने भोग लिया। "**अवशिष्टं रसो रसमात्रं यथा स्यात्तथा।**"

अथवा—कहा सखि ! शुष्क बाँस का वेणु कितना भोगेगा, भोग लेने दो। हमारे श्रीकृष्णचंद्र की अधरसुधा अपरिमित है, अनन्त है। "**अवशिष्टो रसो रागो यस्मिन् तत्।**"

यह भी नहीं। हमारे श्यामसुन्दर की अधरसुधा का संभोग कर तृप्त हो गयी, पर नहीं, अभी इसका राग मिटा नहीं। कितने दिन से अधरसुधा को भोगती है, पर वही लालसा बनी ही है। इसलिये वह सदा के लिये सौत बन गयी। ऐसे भक्तों की भावना यह है कि हमारे भगवद्रस का सब ही आस्वादन करें। भक्त यदि सौतियाडाह करें, तो दूसरे को भक्त बनावें कैसे ? यदि उनमें मूलतः होती तो सोचते कि उसमें कमी होगी। वास्तव में सांसारिक रस कम होनेवाला है, पर यह परमानन्दरसामृतस्वरूप सच्चिद्घन परब्रह्म अपार है, कितना ही संभोग करो चुकेगा थोड़े ही ! कितने ही परमहंसों ने रस लिया पर चुका नहीं। इसलिये वह भोक्ता दूसरे भोक्ता से ईर्ष्या नहीं करते। जिनका भोग्य ससीम हो, वह दूसरों का उपस्थान नहीं चाहते हैं। यह तो अगाध है, इसलिये कहते हैं आओ, बल्कि वञ्चितों को देखकर घबड़ाते हैं। कहा है—**'जाकर मन'** जिन्होंने इन परम रसामृतमूर्ति का स्वाद न लिया उनके नाम वह आँसू गिराते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु इसीलिये रोते थे कि यह लोग श्रीकृष्णरस से वंचित हैं। कुछ लोग कहते हैं—श्रीगौरांग को उन्माद का रोग था। था तो मगर दूसरे ढंग का। भावुक कहते हैं ऐसा उन्माद हमें हो जाय। जहाँ की वस्तुस्थिति ऐसी है, कि ईर्ष्यापूर्वक मिथ्या कल्पना है। यह प्रेम का

विचित्र एक भाव है—अतृप्ति है—तृष्णा है। भक्तों को यदि सन्तोष हो कि आज वही पूजा करें तो भक्त कैसे? वह जानते हैं कि हम अगर भोग न लगावें तो प्रभु भूखे रहेंगे। यह भावना हो गयी कि प्रभु तृप्त हैं तो भाव बिगड़ गया। यह सहृदय हृदयवेद्य है। इस अपरिमित अगाधरस में भी भाव का—हमारी सर्वस्वभूता अधरसुधा का संभोग यह वेणु करता है। न जाने यह कितने दिन तक हमारे में हिस्सा बँटायेगा। अथवा—"**अवशिष्टं वशिष्टं (वष्टिभागुरिरल्लोपः) न वशिष्टः रसमात्रं यस्मिन्।**" इस वेणु ने अधरसुधा का इतना संभोग किया कि रस भी नहीं रह गया। निरवशेष संभोग किया। अथवा—क्या प्रमाण कि शुष्क बाँस का वेणु, ज्यों का त्यों पड़ा हुआ, दामोदर के सुमधुर अधरसुधा का भोग करता है? कुछ भी सरस होता तो भोगता। इसलिये तुम व्यर्थ बहक रही हो। कहा नहीं, देखो! इसका अवशिष्ट रस हृदिनी में है। देखो, यह सच्छिद्र है तो एक ओर से संभोग करता है, दूसरी तरफ से निकलता है। इसलिये यह दामोदर के अधरसुधा को निर्लज्ज होकर पान करता जाता है। यह अतृप्तिपुरःसर धैर्य छोड़कर पीता ही जाता है। वही वेणुनादरूप में निकलता है। यह वेणुगीत सुमधुर अधरसुधा वेणुनाद रूप में प्रकट होकर नदियों को मिला। देखो, उस वेणुरव वेणुगीत पीयूषरूप में प्रकट दामोदर के अधर की अधरसुधा को पान कर सरसियों को रोमांच हो रहा है। यही कहा '**हृष्यत्त्वचः**' जिसके उच्छिष्ट रस को पान कर सरसियों में कमल-कमलिनी विकसित होते हैं—रोमांच हो रहे हैं। बड़े आनन्दोद्रेक में रोमांच होते हैं, तो क्या इसके उच्छिष्ट पान करनेवाली—हृदिनी पान करती है तो यह नहीं करता होगा? कैसे कहती हो '**बहन**'! '**तरवोऽश्रुमुमुचुः**'—सखि! तरुओं में भी उसी नाद से मधुधाराएँ टपकने लगीं। श्रीकृष्णचंद्र जब मुखचंद्र पर वेणु धारण कर गीत विस्तार करने लगते हैं तब लताओं में, वृक्षों में मधुधारा टपकने लगती है। उसीपर व्रजाङ्गनाओं की कल्पना है कि मानो वृक्ष आनन्दाश्रु मोचन कर रहे हैं। शोकाश्रु गरम होते हैं। आनन्दाश्रु ठंडे होते हैं। टोह करके पहिचानना चाहिये। जैसे आर्यजन परमरसामृतसिंधु में अवगाहन कर आनन्दाश्रु छोड़ते हैं, वैसे ही, अथवा यह, कि वेणु ने जरूर दामोदर के अधरसुधा का भोग किया है, क्योंकि, ये जो सरसी सरिताएँ कमलसंयुक्त हो रही हैं, वह यह आनन्द है कि हमारे जल से ही यह बाँस का वेणु सौभाग्यशाली है जो—"**गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः।**"

व्रजसीमन्तिनी कहती है—हे सखि, इस वेणु ने कौन-सा पुण्यकर्म किया जो यह दामोदर के अधरसुधा को पान करने लगी, अभी तक तो हृदय में करारविंद में रहती रही, पर अब तो अधरसुधा का संभोग कर रही है। यहाँ पर 'दामोदर' से राधादामोदर का द्वंद्व विवक्षित है, तो दामोदर से याने द्वंद्व में एक का नाम लेने से अन्य सम्बन्ध का भी बोध होता है, अर्थात् इस वेणु ने रासेश्वरी नित्यनिकुंजेश्वरी जो वृषभानुनन्दिनी है उसके जो प्रियतम प्राणधन श्रीदामोदर हैं उनके सुमधुर

अधरसुधा को भी पान करना आरम्भ किया। इसलिये हमारी स्वामिनी रासेश्वरी नित्यनिकुंजेश्वरी वृषभानुनंदिनी के प्रियतम प्राणधन मनमोहन श्यामसुन्दर के अमृतमय मुखचंद्र की अधरसुधा हमारी ही है।

उसपर वेणु का अधिकार नहीं, तो भी यह संभोग करती है हम लोगों की संपत्ति प्राणाधार सर्वस्व को, यह स्वयं स्वातंत्र्येण–यथेष्ट–यह नहीं कि थोड़ा, बिना पूछे-ताछे भोग रही है। दूसरी गोपिका पूछती है, सखि ! यह कैसे जाना कि यह अधरसुधा का भोग कर रही है ? यह तो नीरस काष्ठ है, अधरसुधा का पान तो चेतन का धर्म है, अचेतन का नहीं और चेतन में भी सबका नहीं, केवल गोपांगनाभावापन्नों का ही। इसलिये पुंस्त्वेनापि भोगायोग्यता दिखलायी। यह वेणु तो पुमान् तत्रापि अचेतन काष्ठमय नीरस है, याने अगर चेतन हो, तत्रापि गोपांगनाभावापन्न हो, सरस हो, रसाक्रान्त हो, तब दामोदर के अधरसुधा के संभोग की योग्यता प्राप्त होती। तब कैसे कल्पना करती हो कि इस वेणु ने अधरसुधा का पान किया ? तो कहा—मातृतुल्या सरसियों को रोमांच हो रहा है। रोमांच हर्षोद्रेक में होता है, तो यह सरसियों का रोमांच निर्हेतुक कैसे हो सकता है ? इनके हर्ष का मूल्य यही कि इन्हीं के जल से यह वेणु पालित-पोषित है। उसका यह लोकोत्तर सौभाग्य देखकर, जैसे माता अपने पाले-पोसे बच्चे को साम्राज्याधिरूढ़ देखकर पुलकावलीयुत होती हैं, वैसे ही यह सरिता सोचती है कि हमारे ही जल से पालित वेणु आज श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के मुखचन्द्र पर विराजमान होकर अधरसुधा का पान कर रही है। तो इस रोमांच से ही पता चलता है कि वेणु अधरसुधा का भोग लेती है। कुलवृद्धतुल्य तरुओं तथा लताओं से बहती हुई मधुधारा हर्ष के आँसू हैं। यह समझ रहे हैं कि हमारे वंश में उत्पन्न बाँस का वेणु इतना सौभाग्यशाली हुआ कि अधरसुधा का पान कर रहा है। अथवा यह कि सरसियों को अधरसुधा का संभोग प्राप्त नहीं है किन्तु यह दूसरे के संभोग से ही आनन्दित है। निनादरूप में परिणत दामोदर के अधरसुधारस को अपने उच्छिष्टरूप में सरसियों को और वृक्षों को वेणु ने दिया। वह महामोहन नादरूप में प्रकट रस सबोंने लिया। वेणूच्छिष्ट रससंभोग से सरसियों को होनेवाला रोमांच व्याज से आनन्द है। तो वेणु को कितना आनन्द होता होगा ! इसलिये हम भी गोपीजन्म त्यागकर वेणुजन्म लें।

अथवा—यह वेणु कितना निर्दय है कि हमारी वृषभानुनंदिनी के दामोदर के अधरसुधा को स्वयं भोगता है और अपने कुटुम्बियों को भी बाँटता है। देखो न ! नदियाँ रोमांचित हो उठी हैं, वृक्ष में आनंदाश्रु आये हैं।

अथवा यह दुरुपयोग करता है। दूसरे की संपत्ति को--सर्वस्व को—लेता है तो ले, पर ऐसी दुर्लभ वस्तु सुमधुर अधरसुधारस उसको यह अतृप्ति से इतना पान

करता है कि छिद्रों से वह रस निकलकर सरसियों को भी आप्लावित करता है अर्थात् इन अनधिकारियों को प्रदान करता है। जो रस वृषभानुनंदिनी को तथा हमको दुर्लभ है, उसे इन जड़ और पाषाणों को देना कितना निर्दयता का काम है। अथवा सखि! दामोदर के अवशिष्ट अधरसुधारस को इन सरसियों ने पान किया जलविहार के अवसर में। पर वह रस नहीं था, द्रवमात्र और वह भी उच्छिष्ट है। सुधा का पान तो वेणु ने ही कर लिया, उसके उच्छिष्ट को पान करके भी इनको इतना आनन्द हुआ और उस सरसीतट के तरुओं ने सरसी का जल पान किया इस परम्परा से उनको वेणूच्छिष्ट प्राप्त है। अथवा तरुओं को उसकी प्राप्ति न होने से वे रोने लगे, देखो! हमारे सजातीय बाँस का वेणु पान करता है। सरसियों को भी थोड़ा मिला। हम हतभाग्यों को कभी भी नहीं मिला। कहा तरुओं को तो संभावना ही नहीं, फिर वह अप्राप्ति में क्यों रोते हैं? भृत्यों को साम्राज्याप्राप्ति में दुःख होता है? तो यह रङ्कभृत्योपम वृक्ष है। कहा **'यथार्याः'**—जैसे आर्य लोग। यद्यपि दामोदर के अधरसुधारस-संभोग की प्राप्ति उन्हें नहीं तथापि शोक करते हैं। साधारण स्थिति में गोपांगनाभावप्राप्ति बिना सुमधुर अधरसुधारस को प्राप्ति नहीं, फिर भी श्रवण से श्रोता लोग अश्रुमोचन करते हैं। वैसे ही यह परोपकारक छाया, फल, फूल, काष्ठ से सेवा करनेवाले वृक्ष, शोक में अश्रुमोचन करते हैं तो मालूम होता है कि वेणु परमपुण्यवान् है।

अच्छा सखि! फिर क्या बात है, भोग लेने दो! तो कहते हैं वह अवशिष्ट रस **'गोपिकानां अवशिष्टरसं'** जिस रस का यह वेणु दुरुपयोग कर रहा है वह गोपाङ्गनाओं का अवशिष्ट ही रह रहा है। याने गोपियों ने एक दामोदर के अधरसुधा की आशा से ही इतर सर्वरसों को त्याग दिया तो जिसपर रहकर हम लोगों ने सर्व त्याग कर दिया, उसका स्वयं पान कर रहा है।

यहाँ रस का अर्थ राग-प्रीति है, 'व्रजांगनाओं के राग-रस-प्रीति का विषय यही है। नीरस में जो रस-राग है वह **'परं दृष्ट्वा निवर्तते'** पूर्णतम पुरुषोत्तम के मुखचन्द्र का दर्शन करके वह निकल जाता है। उसको भूल जाते हैं। **'इतररागविस्मारणं नृणाम्।'** मनमोहन श्रीकृष्णचंन्द्र परमानन्दकंद का अधरामृत संसार के इतर रागों को भुलानेवाला है। बिना एक रस पाये दूसरा भूले कैसे? इसलिये यह मनमोहन के अधरसुधा में रस जिनको हुआ उनको रस में रस आया, इतर रस उनके लिये तुच्छ हैं। अगर ऐसा हो कि वेणु ने भी तुम्हारी तरह व्रत धारण किया हो अर्थात् इस रस की आशा से और रसों की आशा त्याग दी हो। यह और दूसरा कुछ नहीं करती। पानी वगैरह कुछ नहीं लेती। इसलिये शुष्क तपस्विनी बनी है। तो तुमने जैसे अधरसुधा को प्राणाधार बनाया, वैसे उसने भी प्राणाधार बनाया। कितनी वह तपस्विनी है! उसकी ईर्ष्या क्यों? कहा ईर्ष्या नहीं करती तो भी यह अधरसुधारस इसीका नहीं है। हमारा भी तो है। **'गोपिकानामपि'**। इसमें हमारा भी हिस्सा

है यदि यह बात है, तो फिर बाँटकर लेना चाहिये। पर यह 'हमारे भी हिस्से को बिना बाँटे मनमानी अधरसुधा का भोग कर रही है। यही दोष है।

कहा यह वेणु नहीं, वेन राजा है, उसका लक्षण इसमें पूरा-पूरा मिलता है। वेन क्या कहता था–'न दातव्यं' इत्यादि। 'हे प्रजाओ ! तुम जप-तप मत करो, केवल मेरा श्रवणादि करो, मैं ही सब कुछ हूँ।' यह वेन भी हम सबको यही सिखाता है — कुछ मत करो, केवल मेरा ध्यान धरो। सचमुच हमारा सब काम इसके श्रवणमात्र से छूट जाता है। सब कर्म-धर्म छूट गया। आश्चर्य यही कि उस वेन ने क्या कुशल कर्म किया कि उसे यह सौभाग्य मिला ? उस वेन से इसमें यह विशेषता है कि वह एक मुख से स्वसिद्धान्त का प्रचार करता था, यह सात मुख से करता है। सचमुच एक बार जिसने इस मोहनमंत्र को सुना उसका सब छूट गया। **'शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः।'**

सनकादि महामुनींद्रगण आश्चर्य में चकित हैं कि यह वेणु क्या कह रहा है ? कहा सखि ! वह तो वेन रहा, यह तो वेणु है। कहा यह णत्व उत्व की ओढ़नी ओढ़-कर आया है। अगर वैसे आता तो कोई सुनता नहीं क्योंकि वह नास्तिक प्रख्यात था। तो सखि ! इस वेन ने कौन सा पुण्य किया कि वह समर्थ हो गया, और थकता भी नहीं, इसलिये निरंतर अधरसुधा का पान करता है। खैर, जो कुछ करता तो करता ही है, श्यामसुन्दर के अधरसुधा का संभोग कर रहा है, **'अहो धन्या वयम्।'** यदि किसीका पालित शिशु सम्राट् हो तो उसे कितना आनन्द होता है, तो सरसी नदी यह सोचती कि जगत्वंद्य पूर्णतम पुरुषोत्तम के मुखचंद्र की सुमधुर अधरसुधा का संभोग करता जिसके लिये व्रजांगनाएँ ललचा रही हैं, हमारे जल से यह परिपुष्ट है। उसीके आनन्द से कमल-कमलिनी व्याज से रोमांच आये हैं। व्रजांगना कहती हैं—सखि ! वेणु को अपने जल से पालन करनेवाली सरिता अपने को धन्य समझती है। तो अनुमान करो कि यह हमारे प्राणाधार का अवश्य संभोग करता है। अगर उसपर विश्वास न हो तो वृक्षों को देखो; उनमें मधुधारा टपकती है। वृक्ष सोचते हैं कि बाँस भी तो हमारी ही जाति का है। हमारी जाति में ऐसा सौभाग्यशाली वेणु हुआ जो सुमधुर अधरसुधा का संभोग करता है। जैसे वंश में सत्पुरुष हो तो एक्कीस पीढ़ी तरने की आशा होती है। इसलिये भगवद्भक्तों को देखकर उनके पितर प्रसन्न होकर आनन्दाश्रुवर्षा करते हैं, वैसे ही वृक्ष मधुधारा टपकाते हैं। अब तक सखि ! क्षमा किया, अब वह वेणु **'गोप्यः'** चुराना चाहिये। जिसको मनमोहन ढूंढ़ते फिरें। दुरुपयोग कर रहा है इसलिये **'गोप्यः'** चुराय लेना चाहिये।

इसपर श्री वल्लभाचार्य कहते हैं--वास्तव में यह वेणु दामोदर के अधरसुधा का पान करता है कि नहीं, यह विचारणीय है। कहती हैं—सखि ! मुखसंस्पर्श से यहीं विदित होता है कि हमारे प्रियतम के अधरसुधा का यह पान करता है, जैसे हमें,

वैसे ही इसे। क्या कारण है कि हमें अधरसुधा प्राप्त हो इसे नहीं ? यदि पान किया है तो यह सोचो कि यह इसने पाया कैसे ? तो मर्यादामार्ग से नहीं सही, पर अनुग्रह-मार्ग से पुष्टिमार्ग से पाया है। अर्थात् स्वयं प्रभु ने ही इस वेणु को अधरसुधा दे दिया। लो ठीक है, यदि अनुग्रह से देना चाहते थे तब तो इसे गोपांगनादेह की प्राप्ति होती, उसके द्वारा यह भोग करता। पर यह पुमान् सच्छिद्र नीरस सग्रंथि है। अनुग्रह से भी प्राप्त हो, परंच उसके लिये योग्यता संपादन तो आवश्यक है। इसलिये प्रतीत होता है कि यह केवल स्पर्शमात्र करता है, संभोग नहीं। वास्तव में श्रीकृष्णचन्द्र की भगवद्भोग्या सुमधुर अधरसुधा श्री व्रजवनिताओं को देने के लिये वेणु में निक्षिप्त किया अर्थात् वेणु दर्वी समान है। दर्वी से रस दूसरे को दिया जाता है, वह स्वयं रसग्राही नहीं होती। व्रजाङ्गनाओं को दिवस में अधरसुधा कैसे प्राप्त हो इसलिये यह काम रचा और व्रजाङ्गनाओं को अनुग्रहविशेष से हृदय में प्रविष्ट किया। जैसे संप्रयोग में संभोग होता ही है पर विप्रयोग में भी भोग होता है। इसलिये वेणु को सुधा संभोग का अधिकार नहीं, यह केवल पात्र ही मात्र है। तो यदि संभोग नहीं तो कौन सा ऐसा कर्म इसने किया कि आनन्दरससिन्धु के रस का लाभ इसे नहीं होता। तात्पर्य, अधरसुधा के असंभव में **'किम्'** आक्षेपार्थ और संभव में प्रश्नार्थक है।

अच्छा सखि ! यह देखना कि आखिर श्री व्रजाङ्गनाओं को जो सुमधुर अधरसुधा प्रदान की जायगी वह वेणु द्वारा की जायगी। वेणु का छिद्र ही वेणु का का मुख है उसीके द्वारा मिलेगी, कहा ही है—**'रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्।'**

इसलिये व्रजाङ्गनाओं के लिये भी जो सुधासंप्रयुक्त है, वह पहिले-पहिले वेणु-छिद्रों में ही प्रविष्ट होगी, क्या कारण है कि वह संभोग न करे ? अपने मुख में आये रस का पान वह कैसे न करे ? कहा—यदि अनुग्रह मार्ग से मनमोहन श्यामसुन्दर ने स्वयं ही उसे प्रदान किया तो फिर तुम जलती क्यों हो ? कहती हैं, नहीं। यह **'स्वयं'** संभोग कर रहा है, मनमोहन ने इसे नहीं दिया। हमारे लिये ही उसके छिद्रों में भरपूर किया है। जैसे अन्य के लिये संप्रदान किये हुए रस को अन्य पहुँचानेवाला संभोग करे वैसे ही इस वेणु ने किया और वह भी लुका-छिपाकर नहीं, फूंक करके।

"वृन्दावनं सखि ! भुवो वितनोति कीर्ति यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्॥"

श्री व्रजाङ्गनाएँ आपस में कहती हैं–हे सखि ! यह वृन्दावन भूमण्डल की कीर्ति का विस्तार कर रहा है। सखि ! देवकीसुत भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के मंगलमय श्रीचरणारविन्द की शोभा को इसने पाया, यानी स्वयं श्रीवृन्दारण्यधाम की शोभा महिमा मनोवचनातीत है, क्योंकि वृन्दारण्यधाम भगवत्स्वरूप है। जैसे भगवान् की महिमा अचिन्त्य अनन्त अद्भुत है, वैसे वृन्दारण्य की महिमा भी अचिन्त्य अनन्त अद्भुत है; इसलिये उसकी महिमा क्या बढ़ेगी, किन्तु उससे भूमण्डल

की शोभा विस्तृत हुई। 'वृन्दावन' का अर्थ—'वृन्दस्य गुणसमूहस्य, गुणिसमूहस्य अवनं यस्मात् तत्।'

रसिकवृन्द और गुणवृन्द का अवन संत्राण रक्षण जिससे है अर्थात् रसिक जनों के एकमात्र जीवन का आलम्बन श्रीवृन्दारण्य धाम है। इसपर भावुकों की बड़ी ऊँची-ऊँची भावनाएँ होती हैं, कहते हैं—"मिलन्तु" अगर वृन्दावन के बाहर कोटि-कोटि चिन्तामणि मिले, इतना ही क्या, स्वयं श्री व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर मनमोहन वृन्दारण्य की सीमा के बाहर खड़े होकर बुलावें, तो मत जाओ। कहते हैं— 'विपिनराज सीमा के बाहर हरिहूँ को न निहार।'

यह हम कह चुके हैं कि वस्तु तो वहाँ अचिन्त्य अनन्त परमानन्द रसामृत-मूर्ति भगवान् हैं, उनमें कमी-बेशी नहीं है, वे पूर्ण ही हैं, पर स्थानभेद से अलग-अलग महिमान्वित होता है—बाँस में बंशलोचन, गोकर्ण में गोरोचन, गजकर्ण में गजमुक्ता, सीपी में मुक्ता इत्यादि; मूल में कोई फेर नहीं, वैसे श्रीकृष्ण निखिलरसामृत मूर्ति उद्बुद्ध उभयविध शृङ्गार रसात्मा ही हैं, पर वृन्दारण्य धाम वह सीपी है, जहाँ श्रीकृष्णपरमानन्दकन्द अधिक शोभासमन्वित होते हैं। अन्यत्र द्वारकाधीश में ऐश्वर्य का, मथुरानाथ में बलादि का प्राकट्य है, पर श्रीवृन्दारण्यधीश श्रीकृष्ण में माधुर्य का प्राकट्य है, ऐश्वर्यादि तिरोहित है। इसलिये जहाँ जितना माधुर्य-भावका अधिक प्राकट्य है वहीं भावुकों की सरसता है। अतः वही व्याख्या 'व्रजाङ्गना वृन्दस्य जीवनं वृन्दावनं' है। नहीं तो प्रभु के वियोग में संतप्त व्रजाङ्गनाएँ व्रज में पड़ी तड़पती थीं, मनमोहन के वियोग में व्याकुल हो रही थीं, मथुरानाथ के दर्शन के लिये मथुरा न जातीं ? नहीं, उनका श्री व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर में प्रेम है, वह मथुरानाथ, गोलोकनाथादि को नहीं चाहती थीं, केवल व्रजनाथ को चाहती थीं। इस तरह व्रजाङ्गनावृन्द का अवन संत्राण, अथवा समस्त गुणवृन्द का भवन जहाँ है वह वृन्दावन है। गोपाङ्गनाएँ कहती हैं—'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः' आपके जन्म से व्रज बहुत अधिक विजयी होता है, वैकुण्ठादि लोकों से भी। क्योंकि हाँ, वैकुण्ठनाथ भगवान् की प्राणेश्वरी होने के कारण लक्ष्मी सेव्या आराध्या हैं, वही इस व्रज में सेविका (श्रयते) हैं, तो वृन्दावन में समस्त गुणों का अवन संत्राण ठीक ही है। इसलिये सर्वमानमोदनादि गम्भीर शक्ति के जो उत्कृष्टतर भाव हैं, वे उज्ज्वल 'नीलमणि' इत्यादि ग्रन्थों में वर्णित हैं। सब भाव सामस्त्येन कहीं उपलब्ध नहीं होते, इस वृन्दावन में ही सबका संत्राण होता है।

यहाँ ही प्रेम की सब अवस्थाएँ विराजमान हैं। साधारण रूप में प्रेम का अणुपरिमाण सर्वत्र है। चराचर में कोई ऐसा तत्व नहीं जहाँ प्रेम की मात्रा न हो। उस प्रेम का सदुपयोग-दुरुपयोग होना यह दूसरी बात है। कोई माता-पिता में, कोई भगवान् में प्रेम करते हैं, कोई दुराचार में, पर है सर्वत्र। बिना राग के एक

परमाणु भी दूसरे परमाणु से मिलते नहीं। वह सम्बन्ध रसमूलक है, अतः यह सर्वत्र भरपूर है। जैसे ब्रह्म से सर्व प्रपञ्च उत्पन्न है, इसलिये सर्वत्र ब्रह्मभाव भरपूर है, वैसे ही आनंदरूप ब्रह्म से ही जगत् उत्पन्न होने से वह आनंद प्रेम सर्वत्र भरपूर है, और होना भी चाहिये। सबका निजी स्वरूप भगवान् ही हैं, उसको पाना अत्यन्त आवश्यक है। जैसे अम्बा शिशु को इतनी सामग्री देती है कि वह सीधा अपने पास पहुँचे, वैसे यह जीवजगत् भगवान् से बिछुड़ा है, उसको फिर अपने पास आने की जो भगवान् ने सामग्री दी है, वह है प्रेम; अतः वह सबमें है। प्रेम तो अन्यत्र है ही, उसे सब सांसारिक पदार्थों से हटाकर भगवान् के श्रीचरणारविंदों में लगा दो। अब मध्यम परिणाम प्रेम—जो नारदादि के पास कभी घटता-बढ़ता है। विशेष दर्शन होने में उद्रेक होता है, उसकी कमी से कमती होती है। यह परिमाण प्रेम व्रजाङ्गनाओं में और परममहत्परिमाण श्रीवृषभानुनंदिनी में है। इन सब अवस्थाओं का संत्राण यहाँ होने से यह '**वृन्दावन**' है। जैसे काशी त्रिलोक से न्यारी है, वैसे वृन्दावन भू से अलग है। मुक्ति चाहो तो काशी, प्रेम चाहो तो वृन्दावन; कहा है—**'काशी वृन्दावनं विना'** इसमें सांसारिकता प्रतीत होती है, पर वास्तव में नहीं है। यहाँ के सूर्यादि सब अलौकिक हैं। वैसे वृन्दावन में प्राकृतता प्रतीत होती है। पर वह है अप्राकृत। जैसे श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकंद प्राकृत दिखाई देते हैं पर हैं अप्राकृत, यही तो माधुर्य की महिमा है। वृन्दावन में करीली भूमि मालूम होती है पर है असाधारण प्रेममय, जिसका पता भावुकों को ही चलता है। इसीलिये कहते हैं—**'एतेनाऽभौमत्वमपि ध्वनितम्।'** कुछ ऐसा मानते हैं कि जैसे विन्ध्याचल के एक अंश चित्रकूट पर श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र पधारे तो विन्ध्य की महिमा बढ़ी **'बिनु श्रम बिन्ध्य बड़ाई पावा'** वैसे अहो भाग्य भूमण्डल का, कि जिसके एकदेश वृन्दारण्य धाम में श्रीव्रजेन्द्रनन्दन ने निवास किया, इसीलिये **'धन्यं भूमण्डलं' 'वृन्दावनं सखि'।**

'सखि! यह देवकीसुत है' लेकिन वसुदेवसुत नहीं, स्त्री सम्बन्ध सूचन के लिये यह कहा। भाव यह कि प्रभु हम स्त्रियों के ऊपर कृपा करेंगे। वृन्दावन द्वारा भूमण्डल को प्रभु के श्रीचरणारविन्दों के स्पर्श का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह भाग्य वैकुण्ठ को नहीं; क्योंकि वहाँ प्रभुनिरावरण चरण नहीं हैं, किन्तु गरुड़ पर—सिंहासन पर हैं, पादत्राणयुक्त होते हैं। यह भाग्य मथुरा को नहीं, द्वारका को भी नहीं। वहाँ कभी अश्वों पर, रथों पर, सिंहासन पर और पादत्राणयुक्त ही होते हैं। यहाँ तो गोचारण के व्याज से गौओं के पीछे-पीछे निरावरण चरण ही घूमते हैं। (गोचारण-लीला पहले कह चुके हैं) अतः साक्षात् भू को स्पर्श मिला **'यद्देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि।'** श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द के श्रीचरणों में ध्वज-वज्र-अंकुशादि चिह्न हैं। इस विषय में १५-१७-१८-१९ चिह्न माननेवाले बहुत मत हैं। एक-एक चिह्न की अद्भुत महिमा है। कमलचिह्न ध्यान से भावुक का अतिचञ्चल मनमधुप भगवान् के कमल-मकरन्दपान में आसक्त होकर निश्चल होता है। अंबुजध्यान से

त्रिविधतापतप्त मन क्षण में शान्त हो जाय। अंकुशध्यान से मत्त मनोगज अतिशीघ्र वश होता है। वज्रध्यान से कठिन अनन्तपाप-पर्वतों का विदारण होता है। यवध्यान से धनधान्यविहीन कभी नहीं होता। ऐसे हर एक ध्यान के अलग-अलग प्रयोजन बतलाये हैं। वह सब चिह्न व्रजभूमि में अङ्कित होते हैं, क्योंकि व्रजभूमि है आर्द्रकोमल सरस भक्तिभूमि, शुष्कनीरस भूमि में प्रभु के पादपङ्कज चिह्न कैसे पड़ें ? वृन्दादेवी भक्तिमती हैं, अतएव आर्द्र है। व्रजाङ्गनाएँ ईर्ष्या प्रकट करती हैं—देखो सखि ! देवता ऐसे हैं, जो भूमि को नहीं छूते, यही उनका लक्षण है। श्रीअगस्त्याश्रम में जब रामचन्द्र, लक्ष्मण, जानकी आये, वहाँ एक रथ देखा जिसको तेजस्वी गण उठाये थे। तब लक्ष्मण के पूछने पर रामचन्द्र ने इन्द्र का आगमन बतलाया। हनुमान्‌जी ने सीता को भूमि पर देखकर पूछा—देवता नहीं हो तो कौन हो ? देवों के चरण भू को नहीं छूते तो देवेन्द्र के चरण तो दुर्लभ ही हैं, फिर पूर्णतम पुरुषोत्तम के चरणस्पर्श तो अति दुर्लभ—**'पुरुष एवेदं सर्वं'** विराडात्मा पुरुष का आधिभौतिक पाद ही मही है, आध्यात्मिक पाद अतीन्द्रिय है और आधिदैविक पाद आनंद रूप है। तात्पर्य—जहाँ पुरुष-चरणस्पर्श दुर्लभ, वहाँ पुरुषोत्तम चरणस्पर्श हुआ। अहो भाग्य है ! हम लोग कैसी हतभागिनी हैं। यह वृन्दावन दैत्यों की भूमि, वृन्दा दैत्य-पत्नी की भूमि है, पर भाग्य तो देखो। वास्तव में जैसी वृन्दावन की भूमि है वैसा हमारा हृदय भी है; वह कठोर है, यह भी कठोर है; वहाँ गोवर्धनाद्रि, यहाँ वक्षोज, वहाँ गङ्गा, यहाँ अनुराग-गङ्गा, वहाँ वनराजि, यहाँ रोमराजि, वहाँ पर तो प्रभु ने पादस्थापन किया, हमारे हृदय पर नहीं। वह कितनी सौभाग्यशालिनी है। इसलिये कहते हैं **'देवकीसुत।'** यदि कहीं यशोदानन्दन होते, तो कुछ न कुछ सम्बन्ध जोड़ते, हमसे आप प्रेम रखते, हमारी आशा पूर्ण करते। हे महाराज ! हम जानती हैं **'न खलु गोपिकानन्दनो भवान्'** ऐसी कठोरता न होती। देवकी का-हमारा क्या सम्बन्ध ! वह क्षत्रियाणी, उसका हृदय कठोर, उसके हृदय से आपका जन्म होने से वही कठोरता आपके हृदय में उतरी है। यदि गोपिकानन्दन होते तो जैसा उनका हृदय भोलाभाला होता है, वैसा आपका भी हृदय भोलाभाला ही होता।

भगवान् वृन्दावन भूमि पर पादन्यास करते हैं, हमारे हृदय पर नहीं, यही ताप है, ईर्ष्या है। इस रहस्य को समझनेवाली बिरलो हो है। इसलिये कहा—**'हे सखि'** (एकवचन) अन्यत्र **'हे सख्यः'** (बहुवचन) का प्रयोग करते हैं। कुछ लोग कहते हैं—यह ईर्ष्या नहीं हो सकती, क्योंकि निर्गुणा गोपी है। सात्विकी-राजसी-तामसी में यह संभव है। एक पक्ष ऐसा है कि, है तो यह निर्गुणा पर इस रस की स्थिति ऐसी है कि निर्गुणा में भी रस का संचार होता है अथवा दैन्य द्वारा सर्वथा निर्गुणत्व का ही सूचन है। देखो सखि ! हमसे अधिक सौभाग्य-शालिनी यह भूमि है। हमें गोपाङ्गना जन्म में जो प्राप्त नहीं वह इस भूमि को

प्राप्त है। उनका भाव यह है कि जैसे श्यामसुन्दर के चरणसंपर्क से वृन्दारण्य की शोभा है वैसे ही प्रभु के चरणसंपर्क से हमारे हृदय की शोभा है। जहाँ पाद-पंकज नहीं है वहाँ शोभा भी नहीं है। कुछ भावुक कहते हैं कि–"**गोप्यः किमाचरदयं**" इससे प्रथम वेणु-महिमा वर्णन किया, जिससे उसके सर्वातिशायिनी होने से वृष-भानुनन्दिनी दुःखित हुई। इसलिये उन्हींको सम्बोधित करती हुई कहती है। अतः एकवचन का प्रयोग हुआ। यह वृन्दावन भूमण्डल की विचित्र कीर्ति को विस्तार करता है, इसमें अपना और वृषभानुनन्दिनी का उत्कर्ष बोधित किया। वृन्दारण्य धाम तो केवल भूमि की कीर्ति का ही विस्तार कर रहा है। स्वयं उसका आनन्द नहीं जानता, रस का अभिज्ञ नहीं है अतएव भाग्यशाली नहीं है। केवल परोपकार ही परोपकार करता है इसलिये इनका भाव यह है कि अस्मदादि स्वयं श्री व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर के अद्भुत अनुराग-रस का आस्वादन करती हैं। वृन्दावन व्रजभूमि में परस्पर उपकार्योपकारक भाव है। इस वृन्दावन से व्रजभूमि की महिमा विस्तृत होती है, व्रजभूमि से वृन्दावन को लक्ष्मी प्राप्त होती है। '**यस्मात् व्रजभुवः सकाशात् देवकीसुतपदाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्म्यो येन**' प्रभु के मंगलमय श्रीचरणार-विन्द की शोभा को उस भूमि द्वारा वृन्दावन ने प्राप्त किया। भूमि जब आर्द्र अनुरागवती होती है, तब इसपर भगवान् के मंगलमय श्रीचरणचिह्न अंकित होते हैं, इसीलिये वृन्दावन ने भी भूमि की कीर्ति को बढ़ाया। इस तरह परस्पर उपकार्यो-पकारक भाव है। देवकीसुत क्यों कहा? इसपर वल्लभाचार्य कहते हैं–-यह कहने-वाली गोपांगना श्री नन्दगेहिनी के गेह में ही रहनेवाली पालित-पोषित कन्या है। ऐसी स्थिति में श्रीनन्दनन्दन यशोदानंदन श्रीकृष्ण कहने में वह नन्दपालित कन्या सम्बन्ध में अनौचित्य देखती है। इसीलिये कहा 'देवकी सुत'। अथवा सुना था गर्गा-चार्य के मुख से '**प्रागयं वसुदेवस्य**' इत्यादि, उसे स्मरण कर कहा। अथवा नन्दरानी का ही दूसरा नाम देवकी था। विष्णुपुराण में लिखा है–'**द्वेनाम्नी नन्दभार्यायाः यशोदा देवकीति च।**' फिर भी विचार यह कि '**देवकीसुतपदा अम्बुजैरिवलब्धा लक्ष्मीर्येन**' देवकीसुत के दिव्य चरण से वृन्दावन ने ऐसी शोभा पायी जैसे कमल शोभा पाते हैं। अर्थात् फुल्ल पंकज की तरह वृन्दावन की अद्भुत शोभा क्षणे-क्षणे विकसित होती थी। कहा सखि! इसमें क्या आश्चर्य? श्यामसुन्दर के मंगलमय श्रीचरणारविंद व्यापी वैकुण्ठ में विराजते हैं वैसे ही वृन्दारण्य धाम में हैं तो क्या आश्चर्य? व्यापी वैकुण्ठ में रहनेवाला वृन्दारण्य धाम भूमण्डल में विराजता है। वास्तव में वह नेत्र-गोलक है जिसे लोग नेत्र कहते हैं, नेत्रेन्द्रिय इस गोलक के भीतर है; ऐसे ही वृन्दावन धाम है। अतींद्रिय वृन्दावन धाम जिस भूमि में रहता है उसे भी वृन्दावन कहा जाता है। एवं सर्वोपलब्ध वृन्दावन धाम नेत्रगोलक समान है अर्थात् भावुक उपासनागम्य अतीन्द्रिय वृन्दावन धाम है। यही उसकी अद्भुत महिमा है। तब

इस भूमि पर वह प्रकट कैसे है ? तो भक्ति से क्या नहीं होता ? जहाँ भक्ति है वहीं प्रभु के श्रीचरणारविंद प्रकट होते हैं। ठीक ही है, जहाँ पादपंकज है वहीं शोभा है, महिमा है। इसकी प्रतिष्ठा इसीसे है। कहते हैं, यहाँ तो श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकंद के चरण ही भक्तिरूप हैं, भक्तिमार्ग में चरण की ही प्रधानता है। इसलिये वृन्दावन में चरण प्रतिष्ठित कर भक्ति की स्थापना की। चरण को अम्बुज की उपमा देते हैं। अम्बुज कोमल शीतल तापापनोदक है, वैसी ही भक्ति भी है, और उसका वृन्दा में स्थापन है। अतः विशेष भक्ति स्त्रियों ही में दिखलायी। इसीलिये श्री वृषभानु-नन्दिनी में भक्ति की पराकाष्ठा है, एवं यहाँ के प्रसंग में हरिणी, गौ, मयूरी, पुलिंदी इनका ही वर्णन है। उनका हृदय अधिक कोमल है। कोमल हृदय भगवद्वियोगजन्य तीव्र ताप से जल्दी द्रुत होता है। स्वभाव से ही कठिन पदार्थ ताप से द्रुत नहीं होता। इसलिये उनके हृदय में भगवत्सम्बन्ध स्थापित हो तो हृदय द्रुत हो जाय। ऐसा होते ही वहाँ श्री प्रभु के पादपंकज की स्थापना होती है। इस प्रकार वृन्दा-रण्य धाम में चरण अंकित हो गये और चिह्न स्थायीभावापन्न हो गये।

यह भावुकों को मान्य ही है कि जहाँ-जहाँ भगवान् के श्रीचरणपंकज हैं वहाँ-वहाँ श्रीवृन्दारण्य धाम है। व्यापी वैकुण्ठ धाम में ही श्री भगवान् का प्राकट्य होता है। इसलिये कहा—'**स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वमहिम्नीति होवाच**'। श्री भगवान् अपने आपमें ही प्रतिष्ठित हैं। सर्वाधार और अपने आप आधार एवं आधाराधेय दोनों एकात्मक हैं, अथवा यों कहिये कि अव्यक्त के उपरिष्ठात् सत्तत्त्व की स्थिति है। (यह विषय पीछे कहा जा चुका है) एवं यह आया कि, इस प्रकार वृन्दावन ने लक्ष्मी पायी तथाच भक्ति और ज्ञान भी पाया—'**गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूर-नृत्यं, गोविंद गवां इन्द्रः।**' प्रभु ने इन्द्र का मानमर्दन किया, इन्द्र ने कुपित होकर मूसलाधार वृष्टि द्वारा गोकुल को बहा देने की, मिटा देने की आज्ञा दी, पर प्रभु ने ७ दिन तक गोवर्धन धारण कर गोकुल का संत्राण किया। यह इन्द्र को पता लगा, वह सुरभी के पीछे-पीछे प्रार्थना करने आये। भाव यह कि गोकुल के, गौओं के रक्षण के लिये प्रभु का अवतार है। इसलिये इनपर कृपा है। आकर सुरभी ने कहा— हम सब अपने ईश्वर इन्द्ररूप से आपको अभिषेक करना चाहती हैं। प्रभु ने प्रार्थना स्वीकार की, सुरभी ने दुग्ध से अभिषेक किया, तब से गोविंद नाम प्रख्यात हुआ। गोपालचूड़ामणि भगवान् वन्यवेश धारण किये हुए, गोपाल-गोवत्स आदि से परि-वेष्टित जैसे वन में पधारते हैं, वैसे उनके मंगलमय अमृतमय मुखचन्द्र के दर्शन से मयूर-मयूरी लोग प्रसन्न हो जाते हैं और जानते हैं कि कोई अद्भुत दामिनी से विद्युल्लता के समान पीताम्बर से परिवेष्ठित नवनील नीरद मन्द-मन्द गर्जन तुल्य वेणुनिनाद करता हुआ अभिव्यक्त हुआ है। उनको देखते ही मयूर नाचने लगते हैं। उस पीताम्बर के अद्भुत दमक-चमक आनन्दोल्लास में विभोर होकर नाचते हैं।

एक मयूर नहीं, 'मयूराः' यह भक्ति की सूचना। इन मयूरों की तरह भक्त भी प्रफुल्ल होकर नाचने लगते हैं, मानो वृन्दारण्य धाम भी नाचने लगा। उस स्थिति में कपोत, हंस, कारंडवादि दूसरे जन्तु सबके सब ऊँचे गोवर्द्धन सानु पर बैठकर उस नृत्य को देख, मनमोहन श्यामसुन्दर के मंगलमय श्रीअंग को देख और वेणु का मधुर-मधुर नाद श्रवण कर जहाँ के तहाँ चित्रलिखित से रह जाते हैं।

वल्लभाचार्य कहते हैं—इससे ज्ञान सूचित है, और सब ज्ञानी मयूर भक्त हैं। सो पशु-पक्षी तथा सर्पादि तामस हैं और ज्ञान तो सात्विक है। तो इसीलिये वह सब गोवर्धन के उच्च शिखर पर निर्भय होकर बैठे हैं—**'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः'**। तात्पर्य, श्रीवृन्दारण्य धाम ने ज्ञान, भक्ति सबको प्राप्त कर लिया, इसीलिये वह धन्य है सखि! **'वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्।'** कुछ भावुक कहते हैं—**'गोविन्दस्य वेणुरेव मनुः मोहनमन्त्रः'** गोपालचूड़ामणि श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकंद का वेणुनाद ही मोहनमन्त्र है। उसीसे मत्त होकर मयूरों ने नृत्य आरम्भ किया। उसको देखकर अन्य सब स्तब्ध होकर तल्लीन हो गये। कोई कहते हैं, मनु—धर्मशास्त्रोपदेष्टा। और जगह के मनु और कोई हों, यहाँ का मनु तो वेणु ही है। इसीके उपदेश से हम लोगों ने कुल-शील-लज्जा सबको तिलांजलि दे दी। वह कहता है—सब छोड़ो, केवल प्रभु के श्रीचरणारविन्दों में मन लगाओ। इसीलिये कहा—संसार के सब प्रवाह दूसरी तरफ खींचते हैं, वेणुध्वनिप्रवाह प्रभु की ओर खींचता है (वेणु में वेन राजा की कल्पना कही जा चुकी है)। **'अद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्', 'अद्रिसानुषु अपरतानि सर्वाभ्यः क्रियाभ्य उपरतानि अत्र समस्तसत्त्वानि।'**

ऐसा वृन्दारण्यधाम है। कुछ लोग कहते हैं—मयूरपिच्छधारी प्रभु को देखकर जैसे अन्य समस्त प्राणी स्तब्ध हो गये वैसे मयूर क्यों नहीं हुए? उसे नृत्य कैसे सूझी? तो कहते हैं—मयूरों को श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द दामिनीपरिवेष्टित मन्द गर्जन करते हुए नवनील नीरद स्वरूप में ही प्रकट हुए। जैसे **'मल्लानामशनिः'** के वर्णन के अनुसार हर एक को अलग-अलग प्रभु दीखे, वैसे ही यहाँ भी मयूरों के लिये मेघस्वरूप में प्रकट होने से उनको नाचना ही सूझा। एवं कोकिलाओं को सरस वसन्तस्वरूप की प्रभु में स्फूर्ति हुई। अथवा यह मयूरपिच्छधारी श्रीकृष्ण मयूर-प्रिय हैं। उनको देखकर मयूर ने नाचना आरम्भ किया और प्रार्थना की कि आप बजाओ और हम नाचें। कैसा सुन्दर दृश्य है। मनमोहन श्यामसुन्दर वेणुनाद करते हैं और मयूर नृत्य करते हैं। यही कहा—'वेणुमनु'। वेणु में गायन भी और वादन भी, तदनुकूल नृत्य हो रहा है और सब खग-मृगादि सभ्यवृन्द द्रष्टा-श्रोता स्तब्ध हैं। अब जिस प्रकार बजानेवाले वादक ने अगर ठीक बजाया, तो उसपर प्रसन्न होकर इनाम दिया जाता है, वैसे ही मयूर ने श्रीभगवान् के वादन पर प्रसन्न होकर पिच्छ दिया और प्रभु ने भी बड़े आदर के साथ उसको अपने मस्तक पर धारण किया। अथवा

पहिले तो मयूर ने दामिनीपरिवेष्टित नवनीलनीरद मानकर नृत्य आरम्भ किया। उसके नृत्य को देखकर भगवान् ने वेणु-वादन आरम्भ किया तो पीछे भेद खुल गया। नवनीलनीरद में गम्भीरता, श्यामलता, तापापनोदकता, मनोहारिता इत्यादि जो गुण हैं वह तो सब प्रभु में हैं ही पर आखिर वह नीरद यह अमृतद, वह जलद, यहाँ प्रेमानन्द की वर्षा। प्राकृत दामिनी से अनंतकोटिगुणित दीप्तिसम्पन्न पीताम्बर और वेणुवादन की अद्भुत मनोहारिता इत्यादि। प्राकृत नीरदों से जब उसे विशेष अतिशयिता का अनुभव होता तब मयूर भी स्तब्ध हो जाते हैं। इस पक्ष में पहले **'मयूरेभ्यः अन्यानि'** ऐसा अर्थ किया। अब **'अवरतानि अन्यसमस्ततत्त्वानि'** अवरते अन्ये रजस्तमसी अवरत उपरत है अन्य रज तम जिसमें। वह समस्त सत्व जिसमें रज और तम की **सामस्त्येन निवृत्ति** है ऐसा पूर्णरूपेण विकसित सत्व जहाँ है ऐसा श्रीवृन्दारण्यधाम 'वृन्दावन'। **'वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्ति।'**

कहते हैं, गोपालचूड़ामणि श्रीकृष्णचन्द्र परमानंदकंद के वेणुनाद के अनंतर जो मत्त मयूरों का नृत्य उससे प्रेक्ष्य जो अद्रिसानु उसपर सर्वप्राणि स्तब्ध हो गये। अर्थात् **'प्रेक्षामर्हन्तीति ते प्रेक्ष्याः।'** गोवर्धन के शिखर तो यों ही मनोहर थे, फिर प्रभु के सान्निध्य को प्राप्त होकर बड़े सुहावने बने थे। उनकी शोभा लोकोत्तर बढ़ी थी अथवा उस अवसरविशेष में प्रेक्ष्य हुए जब इन्द्र की पूजा रोककर गोवर्धन की पूजा करायी और सब भोग **'शैलोऽस्मि'** कहते हुए स्वयं लिया। इसलिये कहा—

"गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्ववरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥"

●

चीरहरण

"नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ।।"

"भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द की लीलाएँ अद्‌भुत एवं अलौकिक हैं। भावुकों को तो परमानन्द रसात्मिका लीलाएँ आत्मरूप ही बना लेती हैं, परन्तु अविवेकी कुतार्किकों को वे व्यामोह में भी छोड़ देती हैं—

"राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे ।।"

जड़ ही क्यों ? भगवान् की दुर्गम-सुगममङ्गलमयी सगुण लीलाएँ मुनियों को भी कभी-कभी मोहित कर देती हैं। तभी तो महानुभावों ने कहा है—

"निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण न जानै कोय।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होय ।।"

नवनीत:चौर्य्य, चीर हरण, रास रस, ये सब लीलाएँ ऐसी हैं कि जिनपर अनेक शंकाएँ की जाती हैं। प्राणियों के कल्याणार्थ महानुभाव समाधान भी किया ही करते हैं, फिर भी बिना कुछ श्रद्धा-विश्वास किये, केवल शुष्कतर्कों से समाधान मिलना कठिन है।

भगवान् और भगवान् की लीलासम्बन्धिनी मति तर्क से नहीं प्राप्त होती—"**नैषा तर्केण मतिरापनेया**" (श्रुतिः)। आस्तिकता के साथ विचार करने से विदित होता है कि जिन लीलाओं के वक्ता अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्र भगवान् श्री शुक हैं, जिन्हें स्वस्वरूपभूत परमानन्द रसामृत समास्वादन के सिवा, दृश्यमात्र अत्यन्त असत्कल्प हो चुका है, और श्रोता राजर्षि परीक्षित हैं, साम्राज्य-सिंहासन त्यागकर गंगातट पर निर्जल व्रत धारण किये, कुशासन पर बैठे हुए, आत्मकल्याण के लिये व्यग्र हैं, जिनके जीवन की अवधि कुल सात ही दिन की है, जिस समाज में महा-महा ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवर्षि विराजमान हैं, वहाँ किसी भी ग्राम्यकथा का सञ्चार कैसे हो सकता है ?

अस्तु, आज हम भी चीर हरण लीला पर विचार करेंगे। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के बाईसवें अध्याय में चीर हरण का प्रसंग आता है। उसके पहले, अध्याय में गोपाङ्गनाओं की भगवत्क्रीड़ा में परम आसक्ति कही गयी है। अब नन्द-व्रजकुमारिकाओं की आसक्ति का निरूपण किया जाता है। कुमारिकाएँ श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द भगवान् को वर रूप में प्राप्त करने के लिये दुर्गम-संगमनी भगवती कात्यायिनी की अर्चना में लगी हैं। स्मरण रहे कि इनमें परमानन्दरसामृत मूर्ति

भगवान् की माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति श्रीवृषभानुनन्दिनी और उनकी अंशभूता ललिता, विशाखा प्रभृति, एवं अन्याय नित्य सिद्ध व्रजकुमारिकाएँ भी सम्मिलित हैं।

उनकी साधना रसविशेष के पोषण में, एवं लीलाविशेष के विकासार्थ ही है, परन्तु साधन सिद्धाओं की साधना तो ठीक श्रीकृष्णप्राप्ति योग्यता सिद्धयर्थ हैं। युवती व्रजाङ्गनाएँ इन कुमारिकाओं से भिन्न हैं। उनमें भी अनन्यपूर्विका, अन्यपूर्विका आदि भेद हैं। इन कुमारिकाओं में भी आगे चलकर अन्य पूर्विका-अनन्यपूर्विका का भेद तो है, परन्तु वस्तुतः श्रीकृष्ण सम्बन्धी सभी व्रजयुवतीजन अनन्य पूर्विका ही थीं। रसविशेष विकास के लिये, उनमें अन्यपूर्विकात्व की कल्पना थी।

महानुभावों ने इनका भेद इस तरह कहा है—पहले नित्यसिद्धा और सिद्धा दो भेद हैं। नित्य सिद्धा श्रीकृष्ण के साथ ही अवतीर्ण होती हैं, और बहुत उपासनाओं और मनोरथों द्वारा, श्रीकृष्ण प्रसाद से सिद्ध होनेवाली सिद्धा कही जाती हैं। नित्य सिद्धाओं में भी ऊढ़ा (विवाहिता), अनूढ़ा (कन्या) ये दो भेद हैं। ऊढ़ा भी अपने पति की सम्बन्धिनी कभी नहीं होतीं, किन्तु केवल पति की ममतामात्र के भाजन हैं—
"न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गमः।"

व्रजदेवियों का कभी अपने पतियों से समागम नहीं हुआ। भगवान् की अचिन्त्य शक्ति योगमाया से, उनके पतियों को मायामयी अन्य ही सेवा में उपस्थित मिलती हैं। अतएव रासक्रीड़ावसर में, जब कि व्रजाङ्गनाएँ श्रीमद्वृन्दारण्यधाम में थीं, तब भी सभी गोपों ने अपनी-अपनी दाराओं को अपने पास ही पाया था। **"मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः।"** अनूढ़ा कन्या ही थीं। श्रीकृष्ण की इच्छानुसार नित्य सिद्धाओं में भी ऊढ़ा (विवाहिता) हुईं, उसका परम प्रयोजन दुर्लभता की प्रतीति होना ही था।

शास्त्रों का मत है कि नायिका-नायक में परस्पर संमिलन की जितनी दुर्लभता हो, उतनी ही अधिक रसाभिव्यक्ति होती है। जहाँ माता-पिता, गुरुजनों एवं शास्त्रों का अत्यन्त निषेध हो, जहाँ अत्यन्त दुर्लभता हो, वहीं उत्कट प्रीति होती है। जैसे प्रवहणशील जल रोकने से, अधिक वेगवान् होता है, वैसे ही स्वाभाविक राग एवं प्रेम के आस्पद में स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। उधर रुकावट एवं विघ्न-बाधाओं से मनोवेग अधिक बढ़ता है, दुर्लभता से उत्कण्ठा भी अधिक बढ़ जाती है। इसीलिये परकीया रति श्रेष्ठ समझी जाती है—**"यत्र निषेधविशेषः या च मिथो दुर्लभता तत्रैवासह्यते चेतः।"**

फिर भी परकीया रति घोर नरक का मूल है, अतः शास्त्रों ने उसकी घोर निन्दा की है, परन्तु सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर सर्वपति भगवान् के सम्बन्ध से समस्त दूषण भी भूषण ही हो जाते हैं। इसीलिये यहीं पर परकीया रति का वास्तविक सदुपयोग होता है।

जैसे यहाँ महाकामिनी तन्मय होकर दुर्लभजार उपपति का चिन्तन करती है, वैसे यदि किसी जीवात्मा का मन पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् का चिन्तन करे, तो उसका अहोभाग्य है। जैसे कोई महाकामुक अति दुर्लभ अपनी प्रेयसी कामिनी के संमिलन की लालसा में व्यग्र हो, परमानन्द रसात्मक भगवान् जिन व्रजाङ्गनाओं के चिन्तन में ऐसे व्यग्र हों, उन व्रजाङ्गनाओं के महा-महा भाग्यों का कौन वर्णन करे ? अतएव महानुभावों ने कहा है, "**नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढ़ा तद्-गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।**" अर्थात् जो कवियों ने शृंगार रस में परोढ़ा (परकीया) कामिनी को अनभिमत माना है, वह तो गोकुल कुलाङ्गनाओं को छोड़-कर माना है अर्थात् यहाँ की नायिका और नायक दोनों ही अलौकिक हैं। ऐसे ही स्वरूप सिद्धा भी कन्या होकर, कात्यायिनी भगवती की अर्चना द्वारा, श्रीकृष्ण लीला के लिये साधक भाव को प्राप्त हुई थीं।

इनके अतिरिक्त श्रुतियों की अधिष्ठात्री महाशक्तियों ने, जब परमतत्व का अन्वेषण करते करते महा-महा तपस्या के पश्चात् श्रीकृष्ण का दर्शन पाया, तब उन्होंने उनके साथ रमण (तादात्म्येन संमिलन) की इच्छा प्रकट की। श्रीकृष्ण ने कहा कि "तुम मेरी आराधना द्वारा व्रजकुमारिका बनो, तब वहाँ तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।" इस तरह कृष्ण का वर प्राप्त करके वे भी नन्दव्रजकुमारिका हुई हैं। उनमें आगे चलकर साक्षात् परब्रह्मपर्य्यवसायिनी "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि श्रुतियाँ अनन्य पूर्विका या स्वकीया हुई हैं, एवं कर्मकाण्ड या अन्यान्य देवता तत्व पर्य्यवसायिनी श्रुतियाँ परकीया हुई हैं, जैसे "**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।**" "**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः॥**" इत्यादि श्रुति-स्मृति के अनुसार समस्त वेदों का महातात्पर्य्य परब्रह्म में ही है। अन्यान्य अविचारित रमणीय या अवान्तर हो तात्पर्य्य होता है। वैसे ही यहाँ भी श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाओं का, अन्य सम्बन्ध केवल काल्पनिक है, मुख्य सम्बन्ध तो उनका भगवान् से ही है।

उनमें भी श्रुतिरूपा गोपाङ्गना वाच्य-वाचक के अभेद रूप से ब्रह्मरूपा ही हैं, ओंकार मूलवाचक है, उसका वाच्य परब्रह्म है। समस्त वाङ्मय ओंकार का विकार है, और सारा प्रपञ्च ब्रह्म का कार्य्य है। अतः ओंकार का विकारभूत समस्त वाङ्मय, ब्रह्म के कार्य्यभूत सम्पूर्ण प्रपञ्च का वाचक है। वाच्य और वाचक का अभेद हुआ करता है, इसीलिये समस्त वाङ्मय भी वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है।

इसके सिवा श्रुतियों के अवान्तर तात्पर्य अन्य-अन्य होने पर भी, उनका प्रधान तात्पर्य तो ब्रह्म में ही है। शब्द से दो बातों का बोध हुआ करता है—जाति और व्यक्ति। त्वतलादिप्रत्ययवेद्य जाति भाव रूप ही होती है। "**तस्यभाव-स्त्वतलौ**" इस पाणिनि सूत्र के अनुसार घट की भावरूप जाति ही घटत्व है, वह वस्तुतः एक भावविशेष में स्थित मृत्तिका ही है। इस प्रकार घट का वाचक 'घट'

शब्द भी मूलतः उसके कारण मृत्तिका का ही बोधन करता है। इसी प्रकार जितने शब्द हैं वे सब अपने अभिधेय विभिन्न पदार्थों के मूल कारण परब्रह्म के ही वाचक हैं। अतः अवान्तर श्रुतियों का भी मुख्य तात्पर्य तो परब्रह्म में ही है। विचार किया जाय तो वस्तुतः वाच्य-वाचक का भेद भी नहीं है। ये दोनों एक ही चेतन के विवर्त हैं। अभिधेय-प्रपञ्चजननानुकूल शक्त्यवच्छिन्न चेतन का विवर्त अभिधेय है, और **"अभिधानात्मक-प्रपञ्च जननानुकूल-शक्त्यवच्छिन्न"** चेतन का विवर्त अभिधान है। जिस प्रकार एक ही परब्रह्म में अभिधान-अभिधेय रूप अनन्त तरङ्गें प्रादुर्भूत हो गयी हैं, किन्तु "तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वन्नानियमात्" इस न्याय के अनुसार तरङ्गाभिन्न समुद्र के साथ तरङ्गों का अभेद होने के कारण, उनका आपस में भी अभेद है।

यह बात तो तरङ्ग से तरङ्गान्तर के अभेद की रही, किन्तु मूल दृष्टि से तो अभिधानात्मक तरङ्ग जिस समुद्र में हैं, लक्षणावृत्ति से वह उस समुद्र का ही बोधन करती है, हाँ, अभिधेयात्मक तरङ्गान्तर को वह अभिधावृत्ति से बोधित करती है, क्योंकि किसीकी भी शक्ति अपने शक्य में ही सफल हुआ करती है, अपने कारण में नहीं होती। दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि शक्तियोंवाला अग्नि अपने दाह्य काष्ठादि को ही दग्ध कर सकता है, अपने स्वरूपभूत अग्नि का दहन नहीं कर सकता। मूल रूप से तो तरङ्गें समुद्र से भिन्न नहीं हैं, यह दूसरी बात है कि **"अकारो वै सर्वभाक्"** इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण वाङ्मय-प्रपञ्च का अकार में, अकार का उकार में और उकार का मकार में तथा उसके पश्चात् सम्पूर्ण प्रपञ्च का तुरीय में लय होता है।

तात्पर्य यह है कि अभिधानात्मिका श्रुतियाँ अनन्त चैतन्यानन्द सुधासिन्धु की तरङ्गों के समान हैं, और वे उसकी अभिधेयरूप अन्य तरङ्गों के साथ वृद्धि को प्राप्त होकर प्रकाशित होती हैं, क्योंकि अभिधेय अर्थ उनके शक्य हैं। श्रुतियाँ अपने उद्गमस्थलभूत परमतत्त्व का तो लक्षणा से ही बोध कराती हैं। यद्यपि किसी दृष्टि से "घट" का वाच्य घटाकार में परिणत मृत्तिका भी हो सकती है, तथापि लोक में "घट" पद का वाच्य घट व्यक्ति ही समझी जाती है। इस प्रकार अभिधानात्मक ब्रह्म तरङ्ग का वाच्य अभिधेयात्मक ब्रह्म तरङ्ग तो है, परन्तु लक्षणा से ही है। फिर मीमांसकों ने तो जाति में ही शक्ति मानी है। जाति घटत्वादि को कहते हैं, जिसे घट भाव भी कहा जा सकता है, घट कार्य्य है, कार्य का भाव कारण से व्यतिरिक्त नहीं हुआ करता। समस्त कार्यों का भाव कारण में ही पर्य्यवसित होता है, अतः समस्त शब्दों की वाच्यता का पर्य्यवसान कारण परम्परा क्रम से सन्मात्र में ही होता है। इसलिये सारे शब्दों का वाच्य परमात्मा ही है। इस प्रकार वाच्य-वाचक का अभेद है, और समस्त श्रुतियाँ तत्पदार्थ से अभिन्न ही हैं।

श्रुतियाँ दो प्रकार की हैं, अन्यपरा और अनन्यपरा। अनन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं जो साक्षात् रूप से परब्रह्म में पर्य्यवसित होती हैं, जैसे—"**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**" तथा अन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं, जिनका साक्षात् तात्पर्य्य तो अन्य देवतादि में है, किन्तु परम्परा से उनका महातात्पर्य परब्रह्म में ही होता है। जैसे—"**इन्द्रो-यातोऽवसि तस्य राजा**" इत्यादि। इन्हें ही ऊढ़ा और अनूढ़ा अथवा अनन्यपूर्विका भी कह सकते हैं। अर्थात् एक वे गोपियाँ जो केवल कृष्णपरायण हैं, और दूसरी वे जो श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य पुरुषों के साथ विवाही गयी हैं। इनके ये दो भेद भी प्रतीतिमात्र के लिये हैं, वास्तविक नहीं। वरुणादि देवताओं में श्रुतियों का तात्पर्य तभी तक जान पड़ता है, जब तक "**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**" इस वाक्य के अनुसार उनका महातात्पर्य एक मात्र परब्रह्म में ही नहीं जान पड़ता है। वास्तव में तो जिस प्रकार तरङ्ग समुद्र से भिन्न नहीं हैं, और घटादि मृत्तिका से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार उपक्रम, उपसंहारादि षड्विध लिङ्ग से समस्त श्रुतियों का तात्पर्य्य ब्रह्म में ही है। किन्तु फिर भी लीला विशेष के विकासार्थं वस्तुतः अनन्यपरा श्रुतियों में भी अन्यपरात्व की प्रतीति होती है।

यहाँ संदेह होता है कि श्रीराधिका प्रभृति व्रजाङ्गनाएँ परमात्मा समझी जाती हैं। इतना ही नहीं, बल्कि श्रीव्रजाङ्गनाओं को ही श्रीकृष्ण-प्रेयसी कहा गया है—"**यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाऽचरत्तपः।**"

जिन श्रीकृष्ण पाद-पङ्कज-रज की कामना से श्रीललना तपस्या करती हैं—

"नायंश्रियोऽङ्गजनितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ:..............................॥"

जो प्रसाद श्रीव्रजसीमन्तिनियों को प्राप्त हुआ है, वह लक्ष्मी को भी नहीं मिल सकता, फिर देवाङ्गनाओं की तो बात ही क्या? श्रीदामोदर की अधरसुधा गोपिकाओं की ही है। "**दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्**" इत्यादि वचनों से यही विदित होता है कि श्रीव्रजाङ्गनाएँ अन्यों से असंस्पृष्ट भगवान् की ही शुद्ध प्रेयसी थीं, फिर "**यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते।**" जिनका धाम, अर्थ, सुहृत्, प्राण, अन्तरात्मा सब कुछ श्रीकृष्ण ही के लिये था, वे श्रीकृष्ण से भिन्न को पति रूप से स्वीकार कैसे कर सकती थीं? वह रुक्मिणी की तरह यह दृढ़ प्रतिज्ञा कर सकती थीं कि—"**जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्यात्।**"

अर्थात् "हे नाथ! व्रत से कृश प्राणों को मैं छोड़ दूंगी", फिर उनका अन्य सम्बन्ध कैसे सम्भव है? परन्तु यहाँ यह समाधान समझना चाहिये कि श्रुतार्थापत्ति प्रमाण द्वारा अर्थात् श्रुत तत्तत् प्रमाण वचनों के अर्थ उपपादन करने के लिये यह मानना चाहिये कि भगवान् की दिव्य लीला शक्ति से ही सबको वैसी प्रतीति मात्र हुई है। श्रीकृष्णसम्मिलन की आशा से ही ऐसी प्रतीति होने पर भी व्रजाङ्गनाओं ने जीवन की रक्षा की। उनका अन्य पुरुषों के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ, किन्तु उन्हीं

के समान मायामयी अन्य अङ्गनाओं से ही उन पतियों का सम्बन्ध होता था। श्रीकृष्ण प्रेयसी व्रजाङ्गना सदा ही असंस्पृष्ट रही थीं। जैसा कि कहा गया है—

"नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया।
मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥"

यह भी उनकी उत्कण्ठा बढ़ाने के लिये एक लीला थी। जैसे निर्धन प्राणी धन पाकर बड़ा प्रसन्न होता है, उसके नष्ट होने पर उसकी चिन्ता में इतना तल्लीन होता है कि अन्य समस्त प्रपञ्च को भूल ही जाता है, वैसे ही इसमें वैचित्र्यसम्पादनार्थ ही व्यूढ़ा और कुमारी भेद थे।

उनके सिवा दण्डकारण्य निवासी मुनिगण भी गोपकुमारी के रूप में प्रकट हैं। वे भी भगवान् रामचन्द्र को देखकर मोहित हो गये थे। अहो! खरदूषण जैसे मांसरुधिराशी क्रूरकर्मा हिंस्र राक्षस भी जिनकी सरसता, मनोहरता पर मुग्ध हो जाते हैं, और कहते हैं, **"यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा, बध लायक नहिं पुरुष अनूपा"**, वीतराग अरण्यवासी मुनिगण उनपर मुग्ध हो जायँ, तो क्या आश्चर्य? यहाँ तो रामचन्द्र मर्य्यादा पुरुषोत्तम थे, उन्होंने यही वरदान दिया कि लीला पुरुषोत्तम रूप से आप लोग व्रजकुमारिका होकर मिलें। वे भी व्रजकुमारिका बनकर कात्यायिनी की अर्चना में लगे। इसी तरह कुछ देवाङ्गनाएँ भी भगवत्कृपा से सिद्धि प्राप्त कर भगवान् को प्राप्त हुई थीं। ऐसे ही कोई भौमवैकुण्ठ में रहनेवाली भौमी थीं, कोई अभौम वैकुण्ठ की अभौमी थीं। युग-युगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरों से, यह सब पूर्णतम पुरुषोत्तम सर्वप्राणियों के पर-प्रेमास्पद श्रीकृष्ण के संमिलन के लिये व्यग्र हो घोर तपस्या कर रहीं थीं, अब उन्हें व्रजवास, व्रजकुमारिका जन्म प्राप्त हो गया है। इन्हें यद्यपि श्रीकृष्ण दर्शन होता है, परन्तु अभी इन्हें श्रीकृष्ण अति दुर्लभ प्रतीत होते हैं। दुर्लभ वस्तु प्राप्त करने के लिये भगवती का आश्रयण करना ही चाहिये। पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिये तो ब्रह्मविद्यारूपा कात्यायिनी का अवलम्बन युक्त ही है। **"मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्तदोषैर्विद्यासि सा भगवती परमा हि देवी।"**

अस्तु, समस्त दोष मोक्षार्थी मुनि अम्बा को श्रीविद्यारूप से सेवते हैं। इसलिये श्रीमन्नन्दव्रजकुमारिका कृष्णप्राप्ति के लिये कात्यायिनी के शरण गयीं। लौकिकी दृष्टि से भी यह अत्यन्त पवित्र भाव है। कुलीन कुमारिकाएँ सुन्दर वरप्राप्ति के लिये श्रीदेवी की आराधना करती हैं। श्रीकृष्ण का लोकोत्तर सौन्दर्य्य-माधुर्य्यादि गुणगण भुवनविख्यात था। ऐसे सुन्दर सर्वगुणसम्पन्न सत्कुलोत्पन्न श्रीकृष्ण के प्रति कुमारिकाओं को अपने वरण के लिये स्पृहा होनी स्वाभाविकी है। अतः उस मनोरथ-पूर्ति के लिये उनका कात्यायिनी अर्चन व्रत ठीक ही था। जैसे दुर्लभ पदार्थ को प्राप्ति के लिये लोक में देवता का आराधन किया जाता है, वैसे ही दुर्लभ श्रीकृष्ण

की प्राप्ति के लिये नन्दव्रजकुमारिकाएँ भी कात्यायिनी के आराधन में लगीं। भिन्न-भिन्न फलों के लिये श्रीकृष्ण की आराधना में कृष्ण-प्रेम गौण रहता है, फल-प्रेम मुख्य होता है। श्रीकृष्ण के ही लिये श्रीकृष्ण की आराधना में श्रीकृष्ण ही फल होते हैं और वे ही साधन भी होते हैं, परन्तु श्रीकृष्णप्राप्त्यर्थ कात्यायिनी की आराधना में श्रीकृष्ण फल ही हैं, उनमें साधनता का निवेश नहीं है। केवल शुद्ध फल श्रीकृष्ण के लिये श्रीकुमारिकाओं का कात्यायिनी व्रत अद्भुत कृष्णप्रेम का साधन है।

वे अरुणोदय के समय ही कालिन्दी के निर्मल जल में स्नान करके जल के समीप में ही देवी की सिकता (बालुका) मयी मूर्ति बनाकर पूजा करती थीं। यौवन सञ्चार के पहले ही श्रीकृष्ण-प्रेम में मोहित होकर, वे उन्हें पति चाहने लगी थीं। महानुभावों ने कहा है कि व्रजकुमारिकाओं के अंगों में अनंग का सञ्चार तो अवस्था-क्रम से ही हुआ, परन्तु सांग श्रीश्यामसुन्दर तो बहुत पहले ही उनके अंग ही क्या, अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियों एवं रोम-रोम में प्रविष्ट हो गये थे। वे सुगन्धित पुष्पों, बलियों, धूप, दीप एवं प्रवाल, फल, तण्डुल आदि नाना प्रकार के उच्चावच उपहारों से श्रीकात्यायिनी का पूजन करती थीं। कभी-कभी प्रेम में पूजा का क्रम विस्मृत हो जाता था। श्रीकात्यायिनी की प्रार्थना करती हुई कहती थीं—"हे कात्यायिनी! आप कात्यायन मुनिवंशप्रकाशक होने से परम धर्मदात्री हो। हे महायोगिनी! आप अघटितघटनापटीयसी हो, अतः हमारे लिये दुर्घट श्रीकृष्ण वर संमिलन भी आपकी कृपा से संगत होगा। हे अम्ब! आप हो अधीश्वरी सर्वोत्कृष्ट स्वामिनी हो। आपको छोड़कर हम सब किसकी शरण जायँ। हे देवि! श्रीमन्नन्दगोप राजकुमार को ही हमारा पति बनाओ। उनकी आराधना से भी यह सिद्ध हो सकता है, किन्तु उनके लिये उन्हींसे प्रार्थना करनी रसानुकूल नहीं है। आपकी प्रसन्नता के लिये हम आपको नमस्कार करती हैं।"

"कात्यायनि महामाये महा योगिन्यधीश्वरि।
नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः॥"

परम प्रेमोल्लासवश श्रीव्रजकुमारिकाएँ श्रीदेवी की पूजा में प्रवृत्त हुई हैं, इसमें अनन्यता का व्याघात नहीं होता। भगवत् प्रेम गन्ध के सम्बन्धी गन्धवाह वायु को भी प्रेमी स्पर्श करते हैं। शुद्ध प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, अन्यान्य देवतोपासना आदि तो साधन मात्र है। परम साध्यस्वरूप प्रेम के प्रसङ्ग में वह गौण हो जाता है। प्रेम में माधुर्य्य भाव की ही प्रधानता रहती है। वहाँ ऐश्वर्य्य की स्फूर्ति नहीं होती। अनन्य भक्ति बिना ऐश्वर्य्यस्फूर्ति नहीं होती। माधुर्य्यानुभव काल में ऐश्वर्य्य का अनुभव होने पर आश्चर्य्य होता है। अहो! प्रेम से ही व्रजांगनाओं ने भगवान् को वश कर लिया, जिसे कि ब्रह्मा आदि न पा सके, परन्तु अपनी

स्वाभाविकी दृष्टि से व्रजाङ्गना केवल शुद्ध-माधुर्य्य का ही आदर करती थीं। यह कात्यायिनी अर्चन व्रत शुद्ध मधुर प्रेम का ही विलास है। अतएव वे उनसे **"भगवान् पति दो"** ऐसा न कहकर नन्दगोपराजकुमार पति माँगती हैं।

ऋषिरूपा होने के कारण उन्हें इस मंत्र का प्रत्यक्ष हुआ। यहाँ कात्यायिनी आधिदैविकी संहारिणी शक्ति हैं। अतः भगवान् की अप्राप्ति के हेतुभूत प्रतिबन्ध को वही दूर कर सकती हैं। भगवत्प्राप्ति प्रतिबन्धक दुरदृष्ट मिटाने का साधन तप भी है, परन्तु वह तो ऋषिरूपा कुमारिकाओं में पहले से ही सिद्ध है। अतः आधिदैविक प्रतिबन्धक मिटाने के लिये आधिदैविकी महाशक्ति कात्यायिनी ही समर्थ हैं। कहा जा सकता है कि यदि आधिदैविक प्रतिबन्धक है, तब तो वह भगवान् की इच्छा से ही होगा, फिर इसकी निवृत्ति कैसे होगी? परन्तु वह महाशक्ति महाभागा है। अल्प-भागा होने से उन्हें भगवान् की आज्ञा न होती, श्रीयशोदा के यहाँ जन्म न होता। अतः महाभागा भगवती कात्यायिनी की प्रार्थना से प्रभु अपनी इच्छा को भी भगवती की इच्छानुगुण कर देंगे। हे देवि! आप प्रभु की ज्येष्ठा भगिनी हैं। सब तरह से आप हमारे मनोरथ को पूरा कर सकती हैं। यदि आप यह कहें कि यह प्रतिबन्ध हमसे नहीं दूर हो सकता, तो ठीक नहीं। क्योंकि आप महायोगिनी हैं। यदि आप देवकी के उदर से बलराम को रोहिणी के उदर में पहुँचा सकती हैं, तो मेरे भगवत्प्राप्ति प्रतिबन्धक आधिदैविक दुरदृष्ट को क्यों नहीं मिटा सकतीं? यदि कहें कि यह आधिदैविकी प्रतिबन्धक शक्ति अत्यन्त बलवती है, तो भी देवि! आप अधीश्वरी हैं। भगवान् की आप अन्तरंग शक्ति हैं। सर्वप्रकार से आप व्रजराजकुमार को हमारा पति बना सकती हैं। यदि यह कहो कि भगवान् किसी के पति नहीं हो सकते, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जब श्रीव्रजराज के कुमार हो गये, तो हमारे पति बनने में क्या आपत्ति है? फिर आप देवी हो, किसी अलौकिक रीति से भी आप यह कार्य कर सकती हो। हम इसके बदले में आपको केवल नमन कर सकती हैं।

इस तरह नन्दव्रजकुमारिका श्रीकृष्ण में आसक्त मन होकर भद्रकाली भगवती की अर्चना किया करती थीं। उषःकाल में ही उठकर अपने-अपने वर्गों से आहूत होकर अन्योऽन्याबद्ध बाहु होकर, उच्चैः स्वर से श्रीकृष्ण का ही गायन करती हुई प्रतिदिन कालिन्दी नहाने जाती थीं। थोड़े ही काल के आराधन से उनका मन श्रीकृष्ण में आर्पित हो गया। व्रत का फल यह भी है, परन्तु अभी महाफल अवशिष्ट ही है। अस्तु, पूर्णमासी के दिन नित्य प्रति के समान ही तीर पर आकर, पूर्ववत् वस्त्रों को खोलकर, श्रीकृष्ण के मङ्गलमय यश का गायन करती हुई प्रसन्नता से जल-विहार करने लगीं। व्रत की पूर्ति का दिन था, प्रसन्नता से देहानुसंधानशून्य होकर, मानस, वाचिक, कायिक तन्मयता से श्रीकृष्ण यश गाती हुई विहार करने लगीं।

कुछ भावुकों का कहना है कि रास-क्रीड़ा के समान अन्योऽन्य बाहुबद्ध होकर गोपाङ्गनागण परिवेष्टित श्रीकृष्ण को गाती हुई, कालिन्दी में विहार करने लगीं। कालिन्दी के अवगाहन से सर्वप्रकार के दोष दूर होते हैं। **'कलिं द्यति खण्डयति इति कलिन्दः, तस्यापत्यं कन्या कालिन्दी'**। इस व्युत्पत्ति के अनुसार कलिन्द पर्वत ही कलि दोष को दूर करनेवाला है। उसकी कन्या में भी वे ही सब गुण हैं। अतः कालिन्दी श्रीयमुनाजी का सेवन करने से उन गोपकुमारिकाओं का परस्पर कलह, भगवान् के साथ कलह, और कलिकाल के दोष दूर होंगे। पुनः अत्यन्त शुद्ध होने पर श्रीकृष्णप्राप्ति की योग्यता सम्पन्न होगी।

भावुकों का कहना है कि श्रीयमुना में स्नान करते ही प्राणी को श्रीकृष्ण सम्मिलन की योग्यता हो जाती है। प्राकृत स्त्रीत्व-पुंस्त्व भाव वर्जित होकर, शुद्ध गोपाङ्गना भाव की प्राप्ति ही रसोपासना का मूल है। वेदान्तियों के समान ही रसिकों के यहाँ भी पहले 'त्वं' पदार्थ का शोधन अपेक्षित होता है। स्वरूप निष्ठा के अनन्तर ही निखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण की रसोपासना का अधिकार प्राप्त होता है। यह सब भाव बहुकाल के परिश्रम से सिद्ध होता है, परन्तु श्रीकालिन्दी के सेवन से सहज ही में यह भाव मिल जाता है। योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण व्रजाङ्गनाओं के व्रत का अभिप्राय जानकर, उस कर्म की सिद्धि के लिये ही अपने दाम, सुदाम, वसुदाम, किङ्किणी, गन्ध-पुष्पकादि परम अन्तरङ्ग सखाओं से परिवृत होकर वहाँ गये। ये सखा श्रीकृष्ण के साक्षात् अन्तःकरण ही हैं।

"भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः।
वयस्यैरावृतस्तत्र गतस्तत्कर्मसिद्धये ॥"

यह लीला अलौकिक एवं अप्राकृत है, यही बात प्रदर्शित करने के लिये इस श्लोक में श्रीकृष्ण के लिये भगवान् और योगेश्वरेश्वर इत्यादि विशेषण आये हैं। अर्थात् भगवान् व्रजकुमारिकाओं की शुद्धभावना से की गयी आराधना से सन्तुष्ट होकर, उनकी कर्मसिद्धि के लिये पधारे हैं, गोपियों के नग्न अंग देखने के लिये नहीं। योगसिद्ध प्राणी भी प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, फिर योगेश्वर तो सर्वज्ञता, सत्य संकल्पता आदि के स्वामी होते हैं, उनके मन में ऐसी वासनाओं का जागृत होना नितान्त असम्भव है। फिर महा-महायोगेश्वर जिनके पाद-पङ्कज का सेवन करते हैं, वे योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण अजात यौवन उन कुमारिकाओं का नग्न अंग देखने की ही रुचि से वहाँ गये, ऐसी दुर्भावना जिनके मन में उठे, उनसे अधिक हतभाग्य कौन हो सकता है? नन्ददासजी ने श्रीकृष्ण और व्रजांगनाओं के सम्बन्ध को इसी रूप में दिखलाया है। **"तरंगन वारि ज्यों"**। जैसे तरंग के प्रत्यंश में वारि भरपूर है, वैसे ही व्रजांगनाओं के अन्तरात्मा अन्तःकरण किं बहुना रोम-रोम में श्रीकृष्ण रस भरपूर है। परमानन्द रसामृत सिन्धु की तरंगस्थानीया

व्रजांगनाओं की अपेक्षा भी परमानन्द रसामृतसारसर्वस्व श्रीकृष्ण की माधुर्य्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी अधिक अन्तरंग हैं। जैसे अमृत स्वयं अभेद सम्बन्ध से अपनी मधुरिमा का अनुभव करे, उसी तरह निखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण अपनी माधुर्य्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी श्रीवृषभानुनन्दनी का अनुभव करते हैं।

नायिका-नायक के रूपक से जीवात्मा-परमात्मा के सम्मिलन का वर्णन किया जाता है। अत्यन्त अभिन्न सदा सम्मिलित स्वरूप में भी वियोग एवं तज्जन्य व्याकुलता आदि की प्रतीति होती है।

"सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा।
बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥"

कुछ महानुभावों का कहना है कि नन्द व्रजकुमारिकाओं के कात्यायिनी अर्चन व्रत में चार दोष आ गये। भले ही वे भक्तिमार्ग के गुण हों, परन्तु कर्ममार्ग में तो दोष ही हैं। कालिन्दी स्नान में मौन और सवस्त्र होना आवश्यक था, परन्तु ये वस्त्र-निक्षेपपूर्वक कृष्णयश गान करती हुई स्नान में प्रवृत्त हुईं। अतः मौन का त्याग और वस्त्र का त्याग ये दो दोष हुए, और व्रत-नियम में रहकर क्रीड़ा और देह-विस्मरण भी दोष ही हैं। कर्म में किसी प्रकार की व्यंग्यता न आये, सम्यक् रूप से उसका अनुष्ठान हो, इसलिये ही कर्म फलनिरपेक्ष एवं असक्त होकर, कर्मों के अनुष्ठान का आदेश किया जाता है।

क्योंकि ऐसा होने से कर्तव्यबुद्ध्या तत्परता से कर्मों का ही अनुष्ठान किया जाता है, फलापेक्षया उसमें गौणता बुद्धि या असावधानी नहीं आने पाती। कर्मफल की चिन्ता और आसक्ति से साधक को कर्मानुष्ठान में उचित सावधानी नहीं रह जाती। ऐसी स्थिति में कर्म को व्यंग्यता अवश्य हो जाती है। लीलावती, कलावती को सत्यनारायण व्रत कथा में प्रीति एवं विश्वास था, परन्तु जब उन्होंने पति और जामाता का आगमन सुना, तब लीलावती पति-सम्मिलन की उत्सुकतावश पुत्री को पूजा में लगाकर, स्वयं पूजा छोड़कर पति से मिलने चली गयी। पुत्री भी उसी उत्सुकता के कारण पूजा समाप्त कर, बिना प्रसाद ग्रहण किये ही चली गयी। बस, व्रत में व्यंग्यता आ गयी, अन्ततोगत्वा फिर विघ्न भी खड़ा हो गया।

इधर व्रजकुमारिकाओं को भी व्रत-फल, श्रीकृष्ण-प्राप्ति की उत्सुकता से व्रत के नियमों का स्मरण नहीं रहा। जन्मजन्मान्तरों, कल्पकल्पान्तरों की श्रीकृष्ण-सम्मिलन-वाञ्छा का प्रवाह कैसे रोका जाय? श्रीकृष्ण प्रेमोन्माद में उन्हें कर्म और उसके नियम भूल गये। वे विभोर होकर वस्त्र और मौन दोनों को त्यागकर, श्रीकृष्ण यशगान करने लगी थीं। प्रेमोन्माद में ही जल-क्रीड़ा करती-करती, देह, दैहिक समस्त प्रपञ्च को भूल गई थीं। यह सब कर्ममार्ग में अवश्य दोष हैं, परन्तु प्रेममार्ग में तो यही सब गुण हैं। प्रेमी तो उसी पूजा को सफल और सांग मानते हैं, जिसमें आराध्य देव की

स्मृति एवं तन्मयता में पूजा और उसकी सामग्री विस्मृत हो जाय। हाँ, तो भक्ति सिद्धान्त के गुणों से प्रसन्न होकर, भगवान् कर्ममार्ग के दोषों से उत्पन्न हुई व्यंग्यता को दूर करने के लिये प्रकट हुए। याज्ञिक लोग उनकी स्मृति और नामोक्ति से ही कर्मच्छिद्र दूर किया करते हैं।

"यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्योवन्दे तमच्युतम्॥"

श्रीकृष्ण उनके हितकारी परमानन्दरस स्वरूप हैं, और योगेश्वरेश्वर हैं। अतः अन्तःस्थित सब प्रकार के दोषों के निकालने में समर्थ हैं। योगेश्वर लोग योगबल से अन्तःप्रविष्ट होकर, दोष को दूर करते हैं, फिर योगेश्वरेश्वर की तो बात ही क्या है?

कुछ महानुभावों ने "योगेश्वरेश्वर" इस शब्द में से यह अभिप्राय निकाला है कि भगवान् योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, अतएव उन अपरिगणित व्रजकुमारिकाओं में प्रत्येक का मनोरथ पूर्ण कर सके, और व्रजकुमारिकाओं के नेत्रों के सामने रक्खे हुए सभी वस्त्रों के चुराने में समर्थ हुए। प्राणत्याग से भी अधिक दुष्कर जिनका लज्जा-त्याग था, उन कुल-कुमारियों को जल से निकालकर, निरावरण रूप से नमन कराने का सामर्थ्य भी उन्हीं में था, फिर निर्जन प्रदेश में उनके निरावरण सर्वाङ्ग का दर्शन करने पर भी, अत्यन्त स्वाधीन परम सुन्दरियों का संभोग आदि न करना भी योगेश्वरेश्वर श्रीभगवान् का ही कार्य्य है।

"ऐश्वर्य्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भगइतीरणा॥"

समग्र ऐश्वर्य्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री एवं सम्पूर्ण ज्ञान, वैराग्य जिनमें विद्यमान हों, उन्हें भगवान् कहा जाता है। भिन्न-भिन्न साधकों में भगवान् की कृपा से भगवान् का ही कुछ (असमग्र या असम्पूर्ण) ऐश्वर्य्य एवं धर्म प्राप्त होता है। यही स्थिति ज्ञान-वैराग्य की भी है। साधारण धर्मात्मा पुरुष भी नग्न कुमारी को या परस्त्री को देखने के लिये उत्सुक नहीं होते। सम्पूर्ण रूप से धर्म जिसमें विराजमान है, उनकी ऐसी उत्सुकता क्यों होगी? कोई भी वैराग्यवान् एवं ज्ञानवान्, मायामय विषयों के प्रलोभन में नहीं फँसता, फिर सम्पूर्ण वैराग्य, ज्ञानसम्पन्न भगवान् व्रजकुमारिकाओं के सुन्दर निरावरण अङ्गमात्र देखने के लिये ऐसा कैसे कर सकते थे?

अतएव, भावुकों का कहना है कि यह उन व्रजकुमारिकाओं की विशेषता है। भगवान् ने अपने अद्भुत माधुर्य्यादि लोकोत्तर चमत्कार से समग्र ज्ञान-वैराग्य-वान् सनकादि, शुकादि मुनीन्द्रों के मन को खींच लिया है। अतएव अत्यन्त निःस्पृह-निष्काम होने पर भी भगवान् में उन सबका आकर्षण हुआ, परन्तु ये व्रजाङ्गनाएँ भगवान् से भी अधिक गुणवती हैं, अतः अपने लोकोत्तर प्रेम से समस्त ज्ञान-वैराग्य-

वान् के मन को भी खींच लिया। इसीलिये कहा है कि समस्त जीव तो भगवान् के साथ रमण करने के लिये सदा लालायित रहते ही हैं, किन्तु अहोभाग्य उन लोगों का है कि जिनके साथ रमण करने के लिये भगवान् उत्सुक हैं। यह केवल विशुद्ध प्रेम की ही महिमा है कि उनके कर्म सिद्ध करने के लिये वयस्यों से समावृत भगवान् पधारे। बड़ी शीघ्रता से उनके वस्त्रों को लेकर कदम्ब पर चढ़ गये, और हँसते हुए बालकों के साथ उनसे इस तरह परिहास करने लगे—"क्यों शीतल जल में कम्पित हो रही हो? निकलकर शुष्क वस्त्र धारण करो, अथवा हे व्रज-बालिकाओ! इस कदम्ब की शाखा में इतने वस्त्रों को किसने लाकर बाँधा है? क्या आप सब जानती हैं? मैं तो गौ चराते हुए दूर से यह देखकर कि मेरे कदम्ब में आज विचित्र वस्त्रों के ही फल-फूल लगे हैं, अभी इसपर चढ़ा हूँ। यदि आप लोग यह कहें कि यह हमारे वस्त्र हैं, तो यह तो सम्भव नहीं। तुम्हारे वस्त्र इतने ऊँचे कैसे चढ़ सकते थे? यदि कहो कि तुम्हींने चुराकर इतने ऊँचे रख दिया है तो ठीक है। क्या यह भी कहने का साहस करोगी? क्या नन्दराय का पुत्र मैं चोर हूँ? क्या तुम लोग मथुरास्थ कंस के पास जाना चाहती हो? यदि कहो कि वस्त्र ही देखो-पहचानो, यह पुरुष के वस्त्र हैं या स्त्री के हैं? परन्तु क्या इस संसार में तुम्हीं स्त्री हो, और कोई स्त्री नहीं है? यदि कहो कि यह ठीक है, परन्तु इस निर्जन वन में हम व्रजबालाओं को छोड़कर और कौन स्त्री आ सकती हैं? अये! रहःसञ्चारिणी व्रजबालाओ! क्या आप ही लोग रहस्य क्रीड़ा करती हैं? यदि कहो कि अन्यथा विद्वान्! हम लोग यहाँ खेलने नहीं आतीं, किन्तु कदम्ब देवता श्रीदुर्गा की पूजा करने आती हैं, तो भी क्या तुम्हीं दुर्गा की पूजा करती हो? अये मुग्धाओ! यहाँ तो प्रत्येक अर्धरात्र में वैमानिकी देवियाँ आकर दुर्गा की पूजा करती हैं। यदि कहो कि ठीक है, परन्तु वे वस्त्र छोड़कर क्यों जातीं? परन्तु बालाओ, तुम इस तत्व को नहीं जानतीं। आज पुनः पूजा के लिये वे वस्त्र छोड़ गयी हैं।"

व्रजबालाएँ कहती हैं, 'हे कृष्ण! आप ही इस रहस्य को नहीं जानते, यह वस्त्र हमारे ही हैं।' श्रीकृष्ण ने कहा, "व्रजबालाओं! यदि सचमुच यह तुम्हारे ही वस्त्र हों तो आओ, अपना-अपना वस्त्र पहचानकर विश्वास के लिये शपथ करके ले लो। चाहे सब लोग साथ ही आओ, चाहे दो-तीन मिलकर, अथवा एक-एक ही आओ। मिलकर आने में भीड़ में, कोई लोभवती अधिक वस्त्र भी ले सकती है। यदि न आओगी तो वस्त्र नहीं मिलेंगे। यदि समझती हो कि मैं कपटी हूँ, मुझपर विश्वास नहीं है, तो मैं शपथपूर्वक सत्य कहता हूँ आप लोग व्रतों से कर्षित (दुर्बल) हैं। मैं परिहास नहीं करता हूँ। आप तपस्विनियों पर दया, भक्ति एवं धर्म का भी भय है, यदि मुझे मिथ्यावादी समझकर अविश्वास करती हो, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि मैंने कभी भी इस जन्म में इतनी अवस्था तक झूठ जाना ही नहीं।

इस बात को यह सब बालक जानते हैं। यदि कहो कि दूर से ही इस जल में वस्त्रों को फेंक दो, या बालकों द्वारा भेज दो, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि यह वस्त्र तुम्हारे हैं या अन्य के यह नहीं जाने जाते। धार्मिक लोग दूसरों की वस्तुओं को नखाग्र से भी नहीं छूते। अतः तुम्हीं लोग आकर अपने-अपने वस्त्रों को पहचानकर ले लो। हम दूसरों की वस्तु को न लेते हैं, न देते हैं, न छूते हैं। यदि यह समझती हो कि हम लोग कुल कुमारी हैं, तुम्हारे पास आने में डरती हैं, तो पहले तुममें से कोई एक साधारण बाला आये, फिर देख लेना यदि उसके साथ कोई विडम्बना हो तो न आना। अथवा तुम सब मिलकर आओगी तब तो कोई डर ही नहीं है। अये सुमध्यमाओ! तुम्हें आने में क्यों संकोच होता है? व्रजाङ्गनाओ! आप लोग जो कहती हैं कि हम राजा से जाकर कहेंगी, तो यह सब निरर्थक है, क्योंकि अभी तो आप लोग नग्न हैं, ऐसी अवस्था में न कंस के पास जा सकती हो, न श्रीनन्दराय के पास ही जा सकती हो। दूसरा कोई तुम्हारे पास है भी नहीं, तब आप लोग राजा के पास कैसे जा सकेंगी? यदि आप लोग अपने को मेरी दासी कहती हैं और हमारी आज्ञा मानती हैं, तो यहाँ आकर अपना वस्त्र लो।" भगवान् के ऐसे परिहास वचनों को सुनकर कृष्णाकृष्टचेता होकर, शीतल जल में आकण्ठमग्ना होकर, प्रेमार्तिपुरःसर **'हे अंग'** ऐसा सम्बोधन करती हुई बोलीं—

"मा नयं भोः कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम्।
जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः॥"

ऐसा अन्याय मत करो, हम तो आपको व्रजशिरोमणि, प्रियतम श्रीनन्दराय का पुत्र समझती हैं, हम काँप रही हैं, वस्त्र दे दो।

ऐसा कहकर सब प्रेमसागर में निमग्न हो गयीं। प्रियतम के प्रेमालाप में मनोलोप हो गया, बाह्य दृष्टि से परस्पर एक दूसरी को देखती हुई कहती हैं, "अयि कमलेक्षणे! श्यामसुन्दर तुम्हें बुलाते हैं।" दूसरी कहती है, "अयि सुधामुखी! तुम्हीं जाओ, इन्हें सुधा पान करा दो।" इस तरह परस्पर परिहास करती रहीं, निकलीं नहीं। श्रीकृष्ण के रसमय रहस्य वचनों को सुनकर कुमारिकाएँ रसाविष्ट हो गयीं। उसी स्थिति में उन्हें आन्तर दृष्टि से ही श्रीकृष्ण सम्बन्ध प्राप्त हुआ। बाह्यज्ञान होने पर, लज्जित होकर, प्रत्यक्ष के समान श्रीकृष्ण सम्बन्ध मानकर, संवादार्थ अन्योऽन्य का वीक्षण करने लगीं। अन्योऽन्य का ज्ञान न होने से कौतुकमय रस का आस्वादन करती हुई हँसने लगीं, और कहने लगीं, "अये सखि! जब प्रियतम श्रीकृष्ण के बिना रह सकना असम्भव ही है, तब फिर मनमोहन की ही रुचि का पालन करो। लज्जा को जलाञ्जलि दो", बस हाथों से अंगों का आच्छादन करके निकलीं।

प्रीति की यही विशेषता है कि प्रियतम के सम्बन्ध से तीव्रातितीव्र दुःख भी परमानन्दमय होकर प्रतीत हों। वेश्या को नहीं, किन्तु एक साध्वी सती पतिव्रता

के लिये सर्वाधिक कष्ट लज्जात्याग में ही होता है। प्राणों का परित्याग उनके लिये सरल है, परन्तु लज्जात्याग अतिदुष्कर है, किन्तु श्रीकृष्णप्रेम में, श्रीकृष्ण सम्बन्ध से, उसको भी वे सहन कर सकीं। महानुभावों ने इस सम्बन्ध में भी उनका महत्व गाया है।

'आसामहोचरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥"

श्रीउद्धवजी का कहना है, "अहो! इन श्रीव्रजाङ्गनाओं के पाद-पङ्कज-रज-सेवन करनेवाले वृन्दावन के गुल्म, लता, औषधियों में कुछ मैं भी हो जाऊँ। क्योंकि, इन्होंने दुस्त्यज स्वजन एवं आर्य्यपथ को छोड़कर श्रुतिविमृग्य मुकुन्द पदवी का सेवन किया।" यहाँ साफ विदित होता है कि स्वैरिणी वेश्याओं के समान इनके लिये लज्जा या आर्य्यधर्म का त्याग सुगम नहीं था; किन्तु जैसे दुर्व्यसनी को दुर्व्यसन दुस्त्यज होता है, माता, पिता, गुरुजनों एवं शास्त्रों के उपदेश और अपने चाहने पर भी नहीं छूटता, वैसे ही सुदृढ़ व्रजाङ्गनाओं की आर्य्य धर्मनिष्ठा थी। स्वैरिणियों को आर्य्यधर्म से सम्बन्ध ही नहीं होता, तब वह उन्हें दुस्त्यज क्यों होगा? परन्तु यहाँ तो आर्य्यधर्म अत्यन्त दुस्त्यज था। तभी उसको त्यागकर श्रीकृष्ण के भजने का लोकोत्तर माहात्म्य है। आर्य्यपथ को सुरक्षित रखकर श्रीकृष्ण को भजनेवालों से भी इनका माहात्म्य अधिक है। अतएव यद्यपि स्वकर्म से भगवान् का आराधन करना प्रथम कोटि है—

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।"

तथापि उससे भी ऊँची एक कोटि और है, जहाँ सर्वकर्म संन्यास करके एकमात्र भगवत्परायण हुआ जाता है—

"नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।"
"अज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स हि सत्तमः॥" (भा०)

यहाँ ध्यान देने की बात है कि दुस्त्यज त्याग के कारण ही श्रीव्रजाङ्गनाओं की दिव्य महिमा है। विशेषता यह है कि किसी को दुराचार, दुर्विचार एवं तद्भावनाजन्य दुर्व्यसन दुस्त्यज होता है, परन्तु यहाँ तो आर्य्य-पथ ही दुस्त्यज है। आर्य्य-पथ पर चलकर उच्छृङ्खल पथ का त्याग किया जाता है, यह धर्मनिष्ठा की अद्भुत महिमा है कि आर्य्य-पथ दुस्त्यज हो जाय। वेश्याओं के लिये क्या आर्य्यमार्ग दुस्त्यज है? जिसने जिसका संस्पर्श तक न किया, वह उसके लिये दुस्त्यज कैसे हो सकता है? इसीलिये वेदों ने पहले पहल श्रौतस्मार्त कर्मानुष्ठान रूप आर्य्य मार्ग के आश्रयण द्वारा उच्छृङ्खल पथरूप स्वाभाविक काम कर्म ज्ञान के त्याग का आदेश किया है। जैसे किसी दुराचारी को दुराचार का दुर्व्यसन हो जाता है, फिर माता-

पिता, गुरुजनों एवं शास्त्रों के शतशः निषेध से भी, उन दुर्व्यसनों से निवृत्ति कठिन हो जाती है। जो प्राणी माता-पिता, गुरुजनों के आदेशानुसार वेदादि सच्छास्त्रोक्त धर्मों का सेवन करने लगता है, फिर शनैः-शनैः उसके उच्छृङ्खलता सम्बन्धी समस्त संस्कार छूट जाते हैं और सद्धर्मों के संस्कार सुस्थिर हो जाते हैं। यहाँ तक कि फिर उसे सद्धर्म का ही सद्व्यसन हो जाता है, और उसका भी छूटना कठिन हो जाता है। पहले पहल जब पाशविक कर्मों की प्रधानता रहती है, तब तक सत्कर्मों में प्रवृत्ति दुष्कर होती है। अतएव कर्मों का प्रशंसन करके उनका विधान किया जाता है, परन्तु सत्कर्मानुष्ठान द्वारा दुष्कर्मों का त्याग कर, जब सत्कर्मनिष्ठा के संस्कार दृढ़ हो जाते हैं, तब नैष्कर्म्यप्राप्ति के लिये या निदिध्यासनादि तत्परता सम्पादन के लिये, उनका त्याग कराना अभीष्ट है।

एतदर्थ उनका त्याग अभीष्ट होता है। त्याग के ही लिये कहीं-कहीं कर्मों की निन्दा भी की जाती है :—"**प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपाः**"। यह एक सर्वसम्मत नियम है कि किसी पदार्थ की स्तुति उसके ग्रहण के लिये और निन्दा उसके त्याग के लिये की जाती है। उच्छृङ्खलता और पाशविकता स्वाभाविकी है। श्रौतस्मार्तशृङ्खला-निबद्ध चेष्टा दुर्लभ है। रागप्राप्त द्रव्य क्रियादि की निन्दा द्वारा निषेध करके, स्वतः अप्राप्त धर्म की प्रशंसा पुरस्सर विधान किया जाता है।

श्रीव्रजाङ्गनाएँ पूर्ण स्वधर्मनिष्ठा द्वारा पाशविकी भावनाओं से अत्यन्त असंस्पृष्ट रहीं। स्वधर्मनिष्ठा उनकी इतनी दृढ़ थी कि जैसे दुर्व्यसनी को दुर्व्यसन दुस्त्यज होता है, वैसे ही उनकी धर्मनिष्ठा आर्य्यधर्म दुस्त्यज था। जिस समय श्रीकृष्ण ने अपने अमृतमय मुखचन्द्र पर वेणु को धारण करके उसे सुमधुर अधरसुधा से पूरित कर बजाया, उस समय व्रजाङ्गनाएँ अपने जातिधर्म, वर्णधर्म, आश्रमधर्म एवं कुल-धर्म में लगी थीं। कोई गोदोहन कर रही थी, कोई पति शुश्रूषा में लगी थीं, तो कोई शिशुओं को पयःपान करा रही थीं। व्रजाङ्गनाओं ने अपनी रुचि से कर्मों का त्याग नहीं किया, किन्तु श्रीकृष्णमुखचन्द्र निर्गत वेणुगीतपीयूष के सम्पर्क से श्रीव्रजाङ्ग-नाओं के हृदयस्थ प्रेममहार्णव के उद्वेलित हो जाने पर वे अपने को सँभाल न सकीं। जैसे गंगा के तीव्र प्रवाह में पड़कर शतधा बचने का प्रयत्न करने पर भी प्राणी को बहना ही पड़ता है, वैसे ही वेणुगीत समुद्बुद्ध प्रेमप्रवाह में व्रजाङ्गनाएँ बह चलीं। शतधा बचने का प्रयत्न करने पर भी वे श्रीमद्वृन्दारण्य धामवर्ती व्रजचन्द्र श्रीकृष्ण के पास पहुँच गयीं। जैसे ग्रहगृहीत प्राणी अपने वश में नहीं होता वैसे ही श्रीकृष्ण ग्रहगृहीतात्मा होकर वे अस्वतन्त्र हो गयीं, "**निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः**"।

इससे विदित होता है कि व्रजाङ्गनाओं की आर्य्यधर्मनिष्ठा कितनी अविचल थी। पाशविकी चेष्टा उनको वश में तो क्या, स्पर्श तक नहीं कर सकती थी, किन्तु

लोकोत्तर श्रीकृष्ण प्रेम ने ही, उन्हें स्वजन और आर्य्य धर्म त्याग द्वारा संन्यास के लिये बाध्य किया। जैसे कोई कर्मनिष्ठ कर्मों के महाफलभूत भगवत्-साक्षात्कार के लिये ही सर्वकर्मों का संन्यास करता है, वैसे ही सर्व धर्मों के महाफल श्रीकृष्ण प्रेम के लिये ही व्रजाङ्गनाओं ने सर्वधर्मों का संन्यास किया।

कोई त्याग पतन का मूल और कोई परम कल्याण का मूल होता है। किसी व्यभिचारी (जीव) के लिये स्त्री का आर्य्यधर्म त्याग करना महापाप है, परन्तु परमात्मा श्रीकृष्ण के लिये आर्य्यधर्म का भी संन्यास युक्त ही है। साध्यप्राप्ति होने पर साधन का संन्यास स्वाभाविक ही है। काम, क्रोध और लोभ आदि से अपने कर्मों का संन्यास पाप है, परन्तु सर्वचेष्टा विवर्जित निर्विकल्पसमाधि द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के लिये सर्वकर्मों का संन्यास युक्त ही है। विवेकियों ने कर्मों को ही कर्म संन्यास द्वारा नैष्कर्म का मूल बतलाया है।

"वेदोक्तमेवकुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यसिद्धि लभते रोचनार्था फलश्रुतिः ॥"

धर्म, राष्ट्र एवं शरणागत की रक्षा के लिये प्राणों का त्याग बड़े महत्व का है, किन्तु कञ्चन-कामिनी के लिये, चोरी-व्यभिचारादि द्वारा प्राणत्याग का महत्व नहीं है, अपितु महापाप का मूल है। ठीक ऐसे ही सर्वकर्म-समर्हणीय भगवान् के लिये सर्वकर्मों का त्याग, संन्यास शब्द से आदरणीय होता है। अन्य लौकिक पदार्थों के लिये आर्य्य धर्म का त्याग महापाप है।

दुस्त्यज दुर्व्यसन एवं पाशविकी चेष्टाओं को दूर करने के लिये दुस्त्यज धर्म-निष्ठा की अपेक्षा होती है, और फिर उस दुस्त्यज धर्मनिष्ठा के त्याग के लिये दुस्त्यज ब्रह्मनिष्ठा या भगवदनुराग की अपेक्षा होती है। श्रीव्रजाङ्गनाओं का श्रीकृष्णप्रेम दुस्त्यज था। सर्वत्याग का मूल यही था, परन्तु इसके त्याग का कोई भी और कहीं भी साधन ही नहीं था। जैसे योगी-मुनि विषयों से मन को हटाकर श्रीकृष्ण में लगाना चाहते हैं, वैसे ही व्रजाङ्गनाएँ, श्रीकृष्ण से मन हटाना चाहती हैं। जैसे ग्रह-गृहीतात्मा ग्रह से अपने को मुक्त करना चाहता है, वैसे ही कृष्णग्रहगृहीतात्मा व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण से अपने आपको मुक्त करना चाहती हैं। जैसे मुमुक्षु विषयों में दोषानुसंधान करते हैं, वैसे ही वे श्रीकृष्ण में दोषानुसंधान करती हैं।

"मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा स्त्रियमकृतविरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्यस्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥"

हे सखि! श्रीकृष्ण अन्यान्य जन्मों के भी कपटी ही हैं, इन्होंने सीता के प्रेमार्थ रामावतार में व्याध की तरह छिपकर कपीन्द्र बाली को मारा। कामानुरागिणी शूर्पणखा का नाक-कान काटकर विरूप कर दिया। वामनावतार में राजा बलि की पूजा ग्रहण कर उन्हें बाँधकर पाताल भेज दिया। जैसे काक जिस पत्रावली (पत्तल)

में खाता है, उसीमें छिद्र कर देता है, सखि ! इनकी भी वही स्थिति है। सखि ! जैसे श्यामल पीतपङ्ख मधुरभाषी बिम्बोष्ठ भ्रमर सरस पुष्पों के परागों का रसास्वादन करके फिर उसे त्याग देता है, वैसे ही पीत पटधारी बिम्बाधरोष्ठ मधुरालापी श्याम-सुन्दर ने भी यावत्प्रयोजन प्रेम करके हम लोगों को त्याग दिया है। हे सखि ! असितों (कालों) का सङ्ग कदापि न करना चाहिये। लो, हम भी महेन्द्रमणि की मालाओं, चूड़ियों, मृगमद एवं नीलाम्बर का त्याग करेंगी। केशों की भी श्यामलता मिटाने के लिये उनपर धूलि धारण करेंगी। परन्तु सखि ! इतना दोषानुसन्धान करने पर भी मनमोहन श्रीकृष्ण की वह मधुर मूर्ति एक क्षण के लिये भूलती नहीं। उनकी लीलाएँ, हास-विलास और क्रीड़ाएँ विस्मृत नहीं होतीं।

एक बार एक गोपाङ्गना, श्रीकृष्णप्रेम में मूर्च्छित थी। एक सखी इत्र, गुलाब जल और व्यञ्जन से उपचार कर रही थी कि इतने ही में, एक तीसरी सखी आकर कुछ श्रीकृष्ण लीला का गायन करने लगी। श्रीकृष्ण नाम सुनते ही प्रथम ने कहा—

"संत्यज सखि तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
स्मारय किमपि तदितरद् विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥"

"हे सखि ! यदि इसको तू थोड़ी-सी भी शान्ति लेने देना चाहती है, तो श्रीकृष्ण का उदन्त (कथा) मत चला। किसी दूसरी वस्तु का स्मरण करा। सखि ! उस मनमोहन श्यामसुन्दर को किसी तरह भुला दे।" अहो ! योगीन्द्रगण बाह्य विषयों से मन को प्रत्यावर्तित करके जिन श्रीकृष्ण में लगाना चाहते हैं, यह बाला उन्हीं श्रीकृष्ण से मन हटाकर विषयों में लगाना चाहती है। योगीन्द्रगण एक क्षण के लिये अपने मन में जिसकी स्फूर्ति चाहते हैं, यह मुग्धा उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्र परमा-नन्दकन्द को अपने मन से निकालना चाहती है।

"प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनोधित्सति।
बालाऽसौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती ततः॥
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदयं योगी समुत्कण्ठते।
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥"

जो ब्रह्मनिष्ठा औरों को दुष्प्राप्य है, वही इनके लिये दुस्त्याज्य है। अन्यान्य दुस्त्यजों का भी त्याग हो सकता है, परन्तु यह अन्तिम दुस्त्यज है। श्रीभगवान् से अधिक माधुर्य कहाँ सम्भव है कि जिससे उसका त्याग सम्भव होगा ? जैसे लोकैषणा, पुत्रैषणा और वित्तैषणा विनिर्मुक्त ब्रह्मनिष्ठ सर्वकर्म संन्यासी का कर्मत्याग भूषण है, दूषण नहीं है, वैसे ही श्रीकृष्ण प्रेमोन्माद में लोक-वेदातीत श्रीव्रजाङ्गनाओं का लज्जा एवं आर्य्यधर्मत्याग भूषण ही है, दूषण नहीं है। जैसे मुख्य पति की प्राप्ति में पति की प्रतिमा के पूजन का त्याग, किंवा मुख्यविष्णु की प्राप्ति में विष्णु-

प्रतिमा का पूजनत्याग दोष नहीं है, वैसे ही परमाराध्य परम पति भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति में व्रजाङ्गनाओं का आर्य्यधर्मत्याग भूषण ही है।

कर्म और उपासनाओं से मलविक्षेप की निवृत्ति द्वारा ज्ञान से ब्रह्म का स्फुरण होता है। ब्रह्म स्फुरण होने पर फिर सर्वचेष्टाओं से विवर्जित होकर ब्रह्मनिष्ठा ही सम्पादन करनी होती है। उस समय कर्म और उपासना किसी प्रकार का भी प्रयत्न उस निष्ठा में प्रतिबन्धक होने से त्याज्य ही है। इसीलिये कहा है—**"तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।"**

भगवान् के अनुभव और सेवन में जिसका जब तक उपयोग है, वह तब ही तक ग्राह्य है। जब वही भगवदनुभव का प्रतिबन्धक हो, तब तो वह निःसंकोच रूप से त्याज्य है। भगवत्प्राप्त्यर्थ या धर्म और राष्ट्र आदि के रक्षार्थ प्राणत्याग 'त्याग' है और पर स्त्री, पर धन के लिये प्राणत्याग भी **"त्याग"** है, परन्तु एक की पुण्यरूपता तथा दूसरे की पापरूपता स्पष्ट ही है, यथा :—

"जाते होय सनेह राम पद सो सब भाँति हमारो॥"
"तजिये तिनहि कोटि बैरी सम यद्यपि परम सनेहो॥"
"अञ्जन कहा आँखि जेहि फूटै बहुतक कहौं कहाँ लों॥"
"सो सब कर्म धर्म जरि जाऊ। जहँ न राम पद पङ्कज भाऊ॥"
"योग कुयोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥"

सारांश यही कि पति-शुश्रूषा, पतिव्रत और लज्जा आदि सभी आर्य्य धर्मों का परम फल यही है कि समस्त प्राणियों के निरतिशय, निरुपाधिक, परप्रेमास्पद सर्वाराध्य और सर्वपति भगवान् श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो। जब तक जो इसके अनुकूल है, तब तक ही वह आदरणीय है, परन्तु जब वही उस चरमध्येय की प्राप्ति में प्रतिबन्धक होने लगा तब तो उसका त्याग ही श्रेष्ठ है—**"बलि गुरु तज्यो कन्त ब्रजबनितनि भे जग मङ्गलकारी।"**

अतः श्रीनन्दव्रजकुमारिकाएँ भी श्रीकृष्णप्रेम के विपरीत लज्जा त्यागकर श्रीकृष्ण के सामने निकल आयीं। उन्होंने परस्पर विचार किया कि "हे सखि! श्रीकृष्ण सम्मिलन की आशा ऐसी दुश्छेद्य है कि मरणजन्य पीड़ा से भी शतगुणित अधिक लज्जात्याग के कष्ट को सहकर भी प्राण वियोग नहीं होने देती। सखि! प्रियतम हठीले हैं। ये अपने हठ को नहीं छोड़ेंगे। इतने ही में यदि कोई आ जायगा, तो हम सब और बिडम्बनाम्बुधि में निमग्न हो जायँगी। अतः प्रियतम के हठ को रक्खो, लज्जा को तिलाञ्जलि दो, सखि आँख मूँदकर सर्वतः प्राप्त गाढ़ान्धकार से ही अपने अङ्गों को छिपाकर श्रीकृष्ण के सामने चलो।" यह विचारकर वे अङ्गों को हाथों से ढँककर, श्रीकृष्ण के सन्मुख आयीं। श्रीकृष्ण भी उनकी दृढ़ भक्ति, दिव्यत्याग को देखकर उनके शुद्ध भाव से प्रसन्न हो उठे और सोचा कि अहो! इन्होंने दुष्कर

त्याग किया, और तो और, कुलाङ्गनाजनों के स्वभावसिद्ध दुस्त्यज लज्जा को भी इन्होंने तृण के समान त्याग दिया। अच्छा अब इनकी एक परीक्षा और लेनी चाहिये। यदि ये उसमें उत्तीर्ण हो गयीं, तब तो इनके वस्त्र ही नहीं, वस्त्रों के साथ अपने आपको भी समर्पित करना होगा। बस, यह ठानकर श्रीकृष्ण बोले (भगवान् उनके शुद्ध भाव से प्रसन्न हुए, न कि उनके गुह्याङ्ग दर्शन से) **"शुद्धभावप्रसादितः, स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम्।"** अक्षतयोनि उन कुमारिकाओं को देखा, अथवा **"आहतास्तिरस्कृता वीक्ष्य"** तिरस्कृताओं को देखा। नाना अपमानों से भी अभग्न-मनस्क व्रजाङ्गनाओं को देखकर प्रसन्न हुए, और उनके वस्त्रों को अपने स्कन्ध पर धारण करके (उनके अधोवस्त्रों को अपने उत्तमाङ्ग पर धारण करके भक्तवश्यता दिखलायी) बोले—"आप लोगों ने जो विवस्त्र होकर जल में स्नान किया, इससे देवता का अपमान हुआ, आप लोगों का व्रत खण्डित हो जायगा। हन्त ! आप लोगों ने कितना कष्ट करके व्रत किया फिर भी यदि वह भङ्ग हो जाय, तो कितने विडम्बना की बात है। अस्तु, अब आप लोग उस अपराध की शान्ति के लिये शिरपर अञ्जलि बाँधकर प्रणाम करके अपना अधोवस्त्र लें।"

श्रीकृष्ण की ऐसी उक्ति सुनकर, सरल स्वभाव की व्रजबालाओं ने नग्न स्नान से व्रत भङ्ग मानकर उसकी पूर्ति की कामना से श्रीकृष्ण को प्रणाम किया। समस्त कर्मों की व्यंगता को दूर करनेवाले श्रीकृष्ण हैं।

"यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्योवन्दे तमच्युतम्॥"

जिसके स्मरण तथा नामोच्चारण से तप और यज्ञक्रियादि की न्यूनता मिटकर उनकी पूर्ति हो जाती है, उन अच्युत भगवान् की वन्दना अवश्य ही कर्मों की व्यंग्यता को मिटा देती है। यहाँ भी स्पष्ट है कि शुद्धभाव से किये गये श्रीकृष्ण प्राप्त्यर्थ व्रत की व्यंग्यता वारणार्थ ही व्रजाङ्गनाओं ने श्रीकृष्ण की आज्ञा मानी। महा महात्याग कर और कठोरातिकठोर कष्ट सहन करके भी व्रजकुमारिकाएँ अपने व्रत की साङ्गता चाहती हैं।

जब श्रीकृष्ण ने अञ्जलि बन्धन के लिये कहा, तो व्रजाङ्गनाओं ने नीचे ही अञ्जलि बन्धन किया। श्रीकृष्ण ने कहा कि मूर्धा पर अञ्जलि बन्धन ही प्रणाम है। जब उन्होंने एक हाथ से आच्छादनीय अंग को आच्छादित करके एक हाथ द्वारा शिर से प्रणाम किया, तब भी श्रीकृष्ण ने कहा—एक हाथ का प्रणाम भी अशास्त्रीय है। फिर उन्होंने निश्चल एवं निष्कपट भाव से श्रीकृष्ण को सर्वान्तरात्मा और सर्वेश्वर समझकर व्रतपूर्त्यर्थ प्रणाम किया।

वस्तुतः जीव भगवान् के सन्मुख निरावरण एवं निष्कपट होने में अनेक तरह से आनाकानी करता है, परन्तु जब भगवान् जिसपर अनुकम्पा करते हैं तब किसी

न किसी तरह उसे अपने सामने कर ही लेते हैं। यह प्रभु की विचित्र लीला है, बड़े-बड़े मुनीन्द्रगण इसलिये लालायित रहते हैं कि प्रभु मुझे अपने सन्मुख करें, उनमें मेरा मन आसक्त हो, परन्तु जिसपर प्रभु की कृपा होती है उसकी चाहे इच्छा न हो, तो भी उसके शतधा आनाकानी करने पर भी भगवान् उसको खींच लेते हैं। तभी प्रेमी लोगों ने कृष्णावेश को ग्रहावेश कहा है। बलि ने भी कहा है कि "नाथ ! आप हम सबके परोक्ष गुरु हैं, हम लोगों की इच्छा न होने पर भी बलात् सन्मुख कर लेते हैं। क्योंकि बिना सर्वव्यवधानशून्य निरावण हुए जीव की कृतकृत्यता नहीं होती।"

परमानन्द रसामृत सिन्धु भगवान् की तरङ्ग स्थानीया उनकी चिदानन्दमयी शक्तियाँ ही जीव हैं। वही भगवान् की अन्तरङ्गा एवं परा प्रकृति या शक्ति पद से कही जाती हैं। **"प्रकृतिं विद्धि मे परां", "जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्य्यते जगत्।"** जब तरङ्ग के भीतर-बाहर-मध्य में या अंश-अंश में जल भरपूर रहता है, तब महा समुद्र में तरङ्ग का क्या व्यवधान (पर्दा) ? वैसे ही जब चिदानन्दमयी जीव शक्तियों के अन्तर-बाह्य सर्वत्र परमानन्द रसामृत मूर्ति श्रीभगवान् व्याप्त हैं, तब उन भगवान् से जीव का क्या छिपाव ? विश्व के स्थूल, सूक्ष्म और कारण त्रिविध शरीरों की समस्त हलचलों का जो कारण एवं भासक साक्षी है, उससे क्या छिप सकता है ? प्राणियों के मन, बुद्धि और अहंकार को सभी सद्भावनाओं और दुर्भावनाओं का जो साक्षी है, पिपीलिकाओं की भी समस्त मनोवृत्तियों का जो सर्वथा ज्ञाता है, उससे क्या छिपाव ? फिर भी अनादि अनिर्वचनीय मोहिनी शक्ति के प्रभाव से मोहित वे शक्तियाँ भगवान् से अपने अंगों को आवृत रखना चाहती हैं और उनसे लज्जा करती हैं। वे ही व्रजाङ्गना हैं, और सर्वान्तरात्मा सर्व साक्षी ही श्रीकृष्ण हैं।

"चैतन्याभासोपेतबुद्धिवृत्तियाँ" भी व्रजाङ्गना कही जा सकती हैं। उनके प्रकाश साक्षी श्रीकृष्ण हैं। यद्यपि साक्षी की अन्तरंगता न समझने से उनसे छिपने की चेष्टा होती है। साभास मनोमयी वृत्तिरूपा श्रुतियाँ भी व्रजाङ्गना हैं, उनका तात्पर्य्य या हृदय जिस परम तत्व में निहित है, उन परमानन्द रसामृत मूर्ति भगवान् से उनका क्या अन्तर ? जैसे जल में शीतलता, अमृत में मधुरता वैसे ही श्रीकृष्णचन्द्र में श्रीवृषभानुनन्दिनी राधिका हैं। परमानन्द रसामृत मूर्ति श्रीकृष्ण-चन्द्र की माधुर्याधिष्ठात्री महालक्ष्मी ही श्रीराधा है।

वेदान्तियों ने गुण-गुणी का तादात्म्य माना है। अतएव गन्धात्मिका ही पृथ्वी है। कर्पूर और उसकी गन्ध का तादात्म्य स्पष्ट ही है। इस दृष्टि से अमृत और उसके माधुर्य का परमानन्द रसामृत सिन्धु और उसकी माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति का अभेद ही है। तभी भावुकों ने श्रीकृष्ण हृदयवर्ती महाभावस्वरूप श्रीराधा को और उनके हृदयवर्ती मूर्तिमान् शृङ्गारस्वरूप श्रीकृष्ण को माना है। अतएव

महाभाव परिवेष्टित मूर्तिमान् शृङ्गार रस के ही रूप में भावुकजन राधाकृष्ण का दर्शन करते हैं। श्रीकृष्णाङ्गवर्ती पीताम्बर एवं विविध भूषण श्रीराधा और व्रजदेवियाँ ही हैं (श्रीराधा के अंग में कस्तूरिका, महेन्द्र नीलमणि, हार व नीलाम्बर रूप में श्रीकृष्ण ही हैं)।

"श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मंडनमखिलं हरिर्जयति॥"

वृन्दावन तरुणी व्रजदेवियों के कानों में कुवलय (कमलविशेष), नेत्रों में अञ्जन, उर (हृदय) में महेन्द्र नीलमणि की माला, किं बहुना समस्त मण्डन (भूषणालङ्कार) श्रीकृष्ण ही हैं। इस तरह विचार करने पर सर्व प्राणियों के निरतिशय निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान् से छिपाव की बात ही नहीं बनती। मोटी दृष्टि से देखें, तो भी चाहे कितनी भी असूर्य्यम्पश्या साध्वी सती पतिव्रता क्यों न हो, परन्तु क्या वह अपने अङ्गों को वायु से असंस्पृष्ट रख सकती है? जल से क्या उसके गुह्यातिगुह्य का स्पर्श नहीं होता? तेज, वायु, किंवा आकाश से कौन स्त्री अपने अंगों को अदृष्ट एवं असंस्पृष्ट रख सकती है? तस्मात् यही कहना होगा कि स्वपति से भिन्न अन्य पुरुष से ही आवरण किया जाता है।

जब यह स्थिति है, तब तो फिर आकाश का भी कारण अहंतत्व, उसका भी कारण महत्तत्व, महत्तत्व का कारण अव्यक्त तत्व और उसका भी कारण या अधिष्ठान सत्तत्व सबसे अन्तरङ्ग है। फिर सर्वान्तरङ्ग सर्वान्तरात्मा उस स्वप्रकाश सर्वभासक सत्तत्व से व्यवहित, अदृष्ट कौन वस्तु हो सकती है? विश्व में कोई भी अणु या परमाणु ऐसा नहीं, जो सत्ता और स्फूर्ति से अनालिंगित हो, फिर व्रजांगना या कोई साध्वी स्त्री या कोई चिदानन्दमयी जीव शक्ति, किं बहुना कोई भी तत्व स्वप्रकाश सदानन्दघन श्रीकृष्ण से अनालिङ्गित असंयुक्त कैसे हो सकता है?

जब कोई जल, तेज, वायु और आकाश से भी अपने आपको अस्पृष्ट नहीं रख सकता, तब वह उन सबके परम कारण अधिष्ठान या प्रकाशक से कैसे अपने को असंस्पृष्ट रख सकता है? भोक्ता के साथ भोग्य का तादात्म्य ही भोग है। **"सविता गोभी रसं भुङ्क्ते"** सूर्य्य अपनी रश्मियों से रस का संभोग करते हैं। यहाँ भी रश्मि द्वारा रस की सूर्य्य के साथ अभेदापत्ति ही भोग है। भोक्ता भोग्य को अपने साथ तादात्म्य कर लेता है। अनुकूल-प्रतिकूल विषयों के एवं तज्जन्य सुख-दुःखों के साक्षात्कार को ही भोग कहा जाता है। यह साक्षात्कार जड़ मन, बुद्धि और अहंकार आदि से असम्भव है। अतः स्वप्रकाश चेतन से ही समस्त विषयों का साक्षात्कार या भोग सम्पन्न होता है। अतएव बौद्ध बोध से भिन्न एक पौरुषेय बोध मानने की अपेक्षा पड़ती है। जैसे जपाकुसुमादिद्वारा लोहित स्फटिक पर प्रतिबिम्बित पुरुष में भी उसी लौहित्य का भान होता है, उसी तरह श्रोत्रादि इन्द्रियप्रत्युपस्थापित शब्द-स्पर्शादि

विषयों के आकार से आकारितवृत्तिमदन्तःकारण के आरोपित सम्बन्ध से चिदात्मा में भी विषयाकारता बन जाती है। जैसे जपाकुसुमोपाधि से लोहित स्फटिक। स्वप्रतिबिम्बित पुरुष में भी अपने लौहित्य आकार का समर्पण कर देता है, वैसे ही इन्द्रियों द्वारा विषयाकाराकारित वृत्तिमदन्तःकारण भी स्वप्रतिबिम्बित चैतन्य में अपनी विषयाकारता का समर्पण करता है।

बस, इस तरह असंग में परस्परया विषय सम्बन्ध, प्रकाशकता या भोक्तृता बनती है। सभी विषयों का मुख्य भोक्तृत्व चिदात्मा में ही बनता है, तथा च सभी कान्तास्पर्शादि सुख का भी मुख्यभोक्ता अन्तरात्मा श्रीकृष्ण ही हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि, भोग में साधन हैं। समष्टि मन का अभिमानी चन्द्रमा सभी भोगों के साधन हैं। इतने पर भी सर्वदर्शन, सर्व स्पर्श में साधक बनकर भी वे व्यष्टि अभिमानशून्य होने से अप्रत्यवायी हैं। उसी तरह समष्टि अन्तरात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सर्व भोक्ता होने पर भी अप्रत्यवायी ही हैं। जैसे सब मनों का अभिमानी होने से चन्द्र के स्पर्श से किसी भी साध्वी का पतिव्रत नहीं बिगड़ता वैसे ही सर्वान्तरात्मा श्रीकृष्ण का संस्पर्श किसीके भी पतिव्रत का व्यापादक नहीं है—

"गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीड़ने नेह दोषभाक्॥"

जो गोपियों और उनके पतियों एवं सभी का अन्तरात्मा है वह सर्वाध्यक्ष व सर्वथा निर्लेप एवं निर्दोष ही रहता है।

भोक्ता से भोग्य के अत्यन्त अव्यवधान को भोग कहा गया है। चिदात्मा भोक्ता का विषयों के साथ इन्द्रिय, मन और बुद्धि के द्वारा अव्यवधान होता है। भगवान् की चिदानन्दमयी जीवशक्तियों का उनके साथ स्वाभाविक आत्यन्तिक अव्यवधान है। भ्रमर पुष्प-पराग का रसास्वादन करता है, परन्तु यह सम्बन्ध या अव्यवधान कृत्रिम है। हाँ, यदि पुष्प में ही अपने सौगन्ध्य या परागरसास्वादन की शक्ति हो, तब ही पूर्ण भोग या रसास्वादन बन सकता है, परन्तु यहाँ तो परमानन्द रसामृत मूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण ही अपने माधुर्य (माधुर्याधिष्ठात्री श्रीवृषभानु-किशोरी) का आस्वादन करते हैं।

श्रीराधा की अंशभूत या चिदानन्दमयी जीवशक्तियों का तादात्म्येन संमिलन, संभोग आदि सम्पन्न होता है। जैसे महा समुद्र में तरङ्ग होते हैं, वैसे ही भगवान् में जीवों का भाव है। अतएव, जैसे एक तरङ्ग का सम्बन्ध दूसरे तरङ्ग से होता है, उसी तरह एक जीव का सम्बन्ध दूसरे जीवों से होता है। यह सम्बन्ध आगन्तुक और स्थायी होता है। परन्तु, तरङ्ग का महासमुद्र के साथ सम्बन्ध स्वाभाविक होता है, (जब तक तरङ्ग है तब तक उसके साथ समुद्र का सम्बन्ध भी अनिवार्य है) वैसे ही जीव का भगवान् के साथ सम्बन्ध ही अकृत्रिम एवं स्वाभाविक है। इसीलिये

भावुकों का कहना है कि किसी भी स्त्री के मुख्य पति भगवान् ही हैं। कोई भी जीव हो, उसके साथ जीव का सम्बन्ध अस्थायी ही है। सभी तरङ्ग जैसे समुद्र के परतन्त्र होते हैं वैसे ही सभी जीव भगवान् के परतन्त्र होते हैं।

इस तरह पारतन्त्र्यरूप स्त्रीत्व सभी जीवों में है। जीवभाव मिटकर परमात्म-भावप्राप्ति में ही पूर्ण स्वातन्त्र्य एवं पुंस्त्व प्राप्त होता है। तथा च किसी भी स्त्री का अखण्ड सौभाग्य एवं पातिव्रत्य तभी रह सकता है, जब वह अनन्त अखण्ड भगवान् को ही अपना पति बनाये। जीवों का कर्मानुसार सम्बन्ध-विच्छेद होता ही है। अतः अखण्ड सम्बन्ध न रहने से सौभाग्य एवं पातिव्रत्य अखण्ड नहीं रह सकता। अतएव अनन्त, अखण्ड, नित्य, सहज सम्बन्धी भगवान् ही सबके मुख्य पति हैं, उन्हींसे सम्बन्ध जोड़ना मुख्य है। दूसरे पति तो उसी मुख्य पति की प्रतिमा हैं, मुख्य परम पति की प्राप्ति में प्रतिमा की गौणता होनी स्वाभाविकी है। जैसे शालग्रामप्रतिमा-पूजन मुख्य-विष्णुप्राप्ति का साधन है, उसी तरह लौकिक पति का पूजन मुख्य पति भगवान् की प्राप्ति का साधन है। तभी कन्यादान का संकल्प इस भाव से होता है कि "**विष्णुरूपाय वराय लक्ष्मीरूपामिमां कन्यामहं संप्रददे।**" इसीलिये बड़ी श्रद्धा से साधन का आदर करना ही चाहिये। अज्ञानियों की दृष्टि से व्यभिचारिणी किन्तु परम पतिव्रता व्रजाङ्गनाओं की मुख्य परम पति भगवान् में अद्भुत निष्ठा देखकर ही अरुन्धती प्रभृति सतीवृन्द उनके लिये श्रद्धा से शिर झुका देती हैं। "**श्रद्धारज्यवरुन्धतीमुखसतीवृन्देन वन्द्ये हि ताः।**" किसी समय रासक्रीड़ा करते-करते श्रीकृष्ण लीलाविशेषार्थं किसी निकुञ्ज में छिप गये। जब अन्वेषण करती हुई व्रजाङ्गनाएँ वहाँ पहुँचीं, तो छिपने के ही भाव से श्रीकृष्ण ने श्रीमन्नारायण का रूप धारण कर लिया, परन्तु श्रीमन्नारायण के अद्भुत ऐश्वर्य्य-सौन्दर्य्य और माधुर्य्यपूर्ण रूप पर व्रजाङ्गनाओं का आकर्षण नहीं हुआ। वे श्रद्धा-भक्ति से भगवान् को प्रणाम कर कहने लगीं—"**हे भगवन्! आप कृपा कर हमारे मनमोहन श्यामसुन्दर श्रीव्रजेन्द्र-नन्दन से हमको मिला दो।**" कोई जीव चाहे कितना ही पतिव्रतधर्मसम्पन्न हो, किन्तु ईश्वरीय ऐश्वर्य्य-माधुर्य्य में उसका आकर्षण होना स्वाभाविक है, परन्तु व्रजाङ्गनाओं की अद्भुत, अखण्ड, अनन्य निष्ठा सचमुच अरुन्धती प्रभृति सतियों के भी मन को चकित कर देती है। अस्तु, इस तरह अवनत व्रजाङ्गनाओं को देखकर, परम करुण भगवान् ने उनके शुद्ध भाव से प्रसन्न होकर उन्हें वस्त्र दे दिये। वस्त्र के साथ अद्भुत ब्राह्म संस्पर्श का प्रदान किया, या अपने आपको ही समर्पण कर दिया। अहो! उनका कितना दृढ़ प्रलम्भ किया गया, उन्हें लज्जाविहीन किया गया, उनका प्रस्तोमन किया गया, उन्हें क्रीड़नक (खिलौना) सा बनाया गया, उनका वस्त्र अपहरण किया गया, फिर भी उन्होंने श्रीकृष्ण में दोष बुद्धि नहीं की; किन्तु प्रियतम मनमोहन के संग से परम प्रसन्न हुईं। अपने वस्त्रों को पहनकर प्रेष्ठ-संगम

के लिये सज्जित होकर श्रीकृष्णाकर्षितचित्त होने के कारण अचल और चित्र-लिखित सी रह गयीं।

प्रथम तो व्रजाङ्गनाओं से त्यक्त होकर लज्जा श्रीकृष्ण की शरण गयी, अन्त में श्रीकृष्ण का बल पाकर, फिर वह नेत्रों के ही मार्ग से श्रीव्रजाङ्गनाओं में आयी। कोई भी पदार्थ अहंता और ममतापूर्वक ही सेवन करने से बन्धक होता है, भगवान् में समर्पित कर देने से, फिर वही भगवान् का प्रसाद होकर निर्गुण हो जाता है— **'मत्प्रसादान्ते निर्गुणम्'**। यहाँ तक कि यद्यपि राग, तृष्णा, मोह आदि राजस-तामस भाव अत्यन्त त्याज्य एवं निन्द्य होते हैं, परन्तु भगवान् के सम्बन्ध से उनका भी सर्वाधिक मूल्य हो जाता है—**"तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्। तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः।"**

रागादि तब ही तक स्वरूप सुख अपहारी होने से चोर हैं, गृह तब ही तक कारागार है, मोह तब ही तक सम्बन्धक है, जब तक प्राणी भगवान् का भक्त नहीं होता। श्रीकृष्णानुरागी को तो राग भी होगा तो श्रीकृष्ण में ही, मोह होगा तो श्रीकृष्ण में ही, भक्त का गृह भी भगवदालय होने से निर्गुण ही है।

विषय से ही वैराग्य है, जैसे वैराग्य से वैराग्य इष्ट नहीं है, वैसे ही ज्ञान-वैराग्य के भी फलभूत भगवान् से भी वैराग्य इष्ट नहीं है। इसीलिये सनकादि, शुकादि जैसे अमलात्मा परमहंस महामुनीन्द्रगण सहस्रों ज्ञान-वैराग्यों का समर्पण करके भगवान् के श्रीचरणों में राग या तृष्णा की प्रार्थना करते हैं—

"कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्यात् चेतोऽलिवद्यदिनु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदितेऽङ्घ्रि शोभाः पूर्य्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥"

श्रीसनकादि का कहना है कि "हे नाथ! यदि आपके श्रीचरणों में अलि (भौंरे) के समान मन आसक्त हो और आपके गुणगणों से यदि कर्णरन्ध्र निरन्तर पूरित होता रहे, तब तो भले ही अपने कर्मों के अनुसार नरकों में जन्म हो तो भी कोई चिन्ता नहीं।" अतः भगवान् के सम्बन्ध से तृष्णा और राग का भी अद्भुत महत्व हो जाता है। भगवान् में मोह, भगवान् में राग, उनके सम्मिलन की तृष्णा किसी परम सौभाग्यशाली को ही प्राप्त हो सकती है।

किसी भावुक ने कहा है—

"कृष्णभावरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र मूल्यमपि लौल्यमेकलं जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥"

श्रीकृष्णप्रेमरसभक्तिभावित मति दुर्लभ है। यदि वह मिल सके तो उसे खरीदना ही जीवन का साफल्य है, परन्तु उसका मूल्य भी केवल लौल्य (व्याकुलता) है। वह भी करोड़ों जन्मों के संकल्पों से किसी सौभाग्यशाली को प्राप्त होता है। प्राणी को भगवान् की प्राप्ति में अविद्या, लज्जा और अहंकार आदि ही व्यवधान हैं।

अपने को भगवान् से भिन्न समझकर उनसे अपने को छिपाने और आवृत रखने का प्रयास किया जाता है। वस्त्ररूप अविद्या के छिन जाने पर व्रजाङ्गनाएँ अहंकार और लज्जा से अपने को छिपाना चाहती थीं, परन्तु सर्वव्यापक, सर्वप्रकाशक, सर्वसाक्षी, सर्वान्तरात्मा भगवान् ने यह भी अनुचित समझा और सर्वथा निरावरण, निश्छल होने का अनुरोध किया। भगवान् के संकल्प से व्रजाङ्गनाओं ने वैसा ही किया।

अत्यन्त निरावरण होकर शुद्ध भाव से दोनों हाथों से मूर्धाञ्जलि बन्धनपुरःसर प्रणाम किया। भगवान् ने शुद्धभाव से प्रसन्न होकर अपना प्रसाद करके लज्जा आदि सभी आवरणों को लौटा दिया, परन्तु अब वे सब भगवत्प्रसाद हो गये।

जीव की मोहिनी अविद्या भी भगवत्प्रसाद होकर वैष्णवी माया हो जाती है। भगवल्लीला में उपयोगी भेद का समर्थक होने से भक्तों में भगवान् वैष्णवी माया का सञ्चार करते हैं। जब श्रीनन्दरानी को अपने ललन श्रीकृष्ण के मुख में निखिलविश्व देखकर यह बोध हुआ कि "अरे! यह तो पूर्ण परब्रह्म परमात्मा हैं, मैं तो मोह में इन्हें पुत्र मान रही हूँ", बस, वहीं भगवान् ने देखा कि यह ऐश्वर्य्य ज्ञान तो लीला में बाधक होगा।

वात्सल्य भाव का माधुर्य्य विलक्षण है। ऐश्वर्य्य का बोध रहने से प्रत्येक प्रवृत्ति में भय और संकोच रहेगा। निःसंकोच, निर्भर, ममत्वपुरःसर वात्सल्य रस में ऐश्वर्य्य बाधक ही होगा। अतएव **"व्यतनोद्वैष्णवीं मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः।"** उस पुत्रस्नेहमयी वैष्णवी माया का विस्तार किया, जिससे शुद्ध वात्सल्य रस की वृद्धि हो।

पहले तो भगवान् भजनेवालों को भक्ति दे देते हैं, मुक्ति नहीं देते हैं, क्योंकि मुक्ति में तो भक्त भगवत्स्वरूप हो जाता है, परन्तु भक्ति में तो भगवान् को अपने वश में कर लेता है। भक्ति की ही महिमा से भगवान् यशोदा की छड़ी से एवं उलूखल बन्धन से भयभीत होकर रोते हैं। **"माँ मैंने मिट्टी नहीं खायी"** ऐसा झूठ भी बोलते हैं—**"अस्त्वेवमंग भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्।"**

तथापि जब भगवान् भक्ति दे देते हैं, तब फिर अपनी लीला में बाधा नहीं डालना चाहते। ऐश्वर्य्य बोध होने पर वैष्णवी माया से पुनः उसे छिपाकर लीला सुख का आस्वादन करते और कराते हैं।

"गोप्याददेत्त्वयि कृतागसि दाम तावद् याते दशाश्रुकलिलाञ्जनसंभ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥"

माधुर्य्याधिष्ठात्री महाशक्ति की यही तो महिमा है कि यहाँ ऐश्वर्य छिप जाता है, यहाँ स्वतन्त्र भगवान् भी भक्त परतन्त्र होते हैं। परम निर्भय काल के भी काल रूप भगवान् भी भयभीत होते हैं। अनन्त जीवों को मुक्ति देनेवाले भगवान् भी

प्रणय पाश में बँध जाते हैं, यहाँ पूज्यता और समाधि अनादरणीय होती है, सेतुधारक ही यहाँ भिन्न सेतु हो जाता है।

वस्तुतः प्रकृति, प्राकृत प्रपञ्च के विधि-निषेधों का प्रपञ्चातीत रसमय भगवान् में न होना स्वाभाविक ही है, फिर भी जिन्हें स्वाभाविक काम, कर्म, ज्ञानरूप मृत्यु से तरना है, उनके लिये तो भगवान् का मर्य्यादामय, सेतुधारक स्वरूप ही अपेक्षित है। जैसे भगवदवतारभूत नर-नारायण एवं ऋषभदेव के चरित्र ब्रह्मचारियों, गृहस्थों के अनुकरणीय हैं, वैसे ही संसारतितीर्षु के लिये श्रीकृष्ण चरित्र भी अनुकरणीय है। यह तो केवल चिन्तन से पापनाशक है।

इसीलिये, भावुकगण तत्वबोध के अनन्तर भी भक्ति के लिये द्वैत प्रतीति को स्वीकार करते हैं। अतः पूर्ण निरावरण होकर, रसमय आवरण भगवान् और भक्त दोनों को अभीष्ट होता है—

"द्वैत मोहाय बोधात्प्राक् जाते बोधे मनीषया।
भक्तयर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥"

निरावरण रूप से प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परब्रह्म के साक्षात्कार के पहले द्वैत केवल मोह के ही लिये है, परन्तु भक्ति के लिये भावित द्वैत तो अद्वैत से भी सुन्दर है।

"पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिः स्यात्सा तु मुक्तिशताधिका ॥"

पारमार्थिक अद्वैत और भजन के लिये द्वैत, बस इस तरह की जो भक्ति है, वह तो सैकड़ों मुक्तियों से श्रेष्ठ है।

इस तरह प्रेमतत्वज्ञ, भगवान् के साथ आत्मा का अभेद जानकर भी, आहार्य्य भेदभाव से भगवान् को भजता है।

"प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या पदयुगपरिचर्य्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात् ॥"

प्रियतमा चाहे प्रेमोद्रेक में अपने प्रियतम के वक्षःस्थल पर क्रीड़ा करे, चाहे सावधानी से प्रियतम के पाद-पद्म की सपर्य्या (सेवा) करे, उसके लिये सभी ठीक है। वैसे ही तत्त्वनिष्ठ चाहे अभेद भाव से समाधि में निरत रहे, चाहे भेदभाव से भजन भाव में निरत रहे, उसके लिये दोनों ही शोभा देते हैं। फिर भी रसिकों का कहना है कि—

"विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः ॥"

भगवान् के साथ भक्त का भेदभाव मिट जाने पर भी सुधीजनों को भेदभाव से ही व्यवहार में भगवान् की सपर्य्या करनी चाहिये। अपने प्रियतम प्राणेश्वर के साथ किसी तरह का छिपाव या भेदभाव न रहने पर भी प्रेयसी प्रियतम को घूँघट-पट के ओट से तिरछे नैनों से ही देखती है।

"बहुरि बदन विधु अञ्चल ढाँकी । पियतन चितै भौंह करि बाँकी ।।"

कितना सुन्दर भाव है। श्रीजानकीजी ग्रामबधूटियों के पूछने पर अपने देवर लषनलाल का वर्णन करके, अपने प्राणेश्वर का संकेत कितने मधुर मनोहर सुन्दर ढंग से करती हैं। बस, वह कवि के अक्षरों से ही व्यक्त होता है।

हाँ, तो आवरण, लज्जा, अहंकार सब कुछ लेकर उसे अपने से सम्बन्धित करके, श्रीकृष्ण ने फिर व्रजाङ्गनाओं को दे दिया। यह आवरण, लज्जा और अहंकार बड़ा सरस होता है। यह निरहंकारता आदि का फल होता है। भगवान् का दिया हुआ भगवान् सम्बन्धी मोह, भगवान् की दी हुई सभी वस्तु सरस और मङ्गलमयी हैं। आवरण, लज्जा, अहंकार के बिना शृङ्गार रस की मिठास ही मिट जाती है। यहाँ नायिका जितने ही आवरण, लज्जा और अहंकार से युक्त होती है, जितनी ही उसमें दुर्लभता व्यक्त होती है, उतनी ही अधिकाधिक रस की अभिव्यक्ति होती है। नायिका की शोभा ही लज्जा, मान और आवरण में है, फिर श्रीकृष्ण की प्रेयसी श्रीव्रजाङ्गनाओं में वह सब होना ही था।

श्रीवृषभानुनन्दिनी का उद्गार सुनिये—

"दुरापजनवर्तिनी रतिरपत्रपाभूयसी।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये।।
गुरुक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौःस्थ्यं गता।
न जीवति तथापि किं परम दुर्भरोऽयं जनः।।"

अहो! दुराप (दुर्लभ) जन में रति और लज्जा का प्राबल्य, परवश शरीर, कुलीन वंश में जन्म, तत्रापि गुरुजनों की विषमयी उक्तियों से मति और विकल होती जाती है। अहो! फिर भी क्या यह परम दुर्भर प्राणी नहीं जीता? परन्तु यह सभी भाव श्रीकृष्ण रति के वर्धक हैं। मानिनी नायिकाओं का दर्प और मान भी रस है। श्रीवृषभानुकिशोरी की मानलीला प्रसिद्ध ही है। इस तरह जो पहले भगवत्सम्मिलन में प्रतिबन्धक एवं व्यवधान थे, वही अब रसस्वरूप एवं रस के वर्धक हो गये। निखिलरसामृतमूर्ति कृष्णाङ्गसंस्पृष्टवस्त्र रसात्मक हो गये। उनको धारण करने से व्रजाङ्गनाओं को श्रीकृष्णाङ्ग संस्पर्श का सुख मिला और उनके अङ्ग-अङ्ग, रोम-रोम, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, अन्तरात्मा सर्वत्र कृष्णरस का सञ्चार हुआ। श्रीव्रजबालाएँ रसमयी हो गयीं।

अप्राकृत रसस्वरूप श्रीकृष्ण के सौन्दर्य्य, माधुर्य्य, सौरस्य, सौगन्ध्य आदि गुणों का अनुभव प्राकृत अङ्गों, इन्द्रियों एवं अन्तःकरणों से नहीं हो सकता। अप्राकृत रसरूप श्रीकृष्ण का अनुभव करने के लिये रसात्मक शरीरेन्द्रियादि की अपेक्षा होती है। साथ ही रसात्मक श्रीकृष्ण का रमण भी रसात्मक ही में हो सकता है। श्रीकृष्ण आत्मरति हैं, अतः जब तक व्रजाङ्गना रसात्मक श्रीकृष्णमय न हो जायँ,

जब तक वे श्रीकृष्ण रमणार्ह नहीं हो सकतीं श्रीकृष्णाङ्ग संस्पृष्ट वस्त्रों के संसर्ग से व्रजाङ्गनाओं के प्राकृत भाव की निवृत्ति एवं श्रीकृष्णभाव की प्राप्ति होती है। जैसे अभिव्यक्त अग्नि के सम्बन्ध से अनभिव्यक्त अग्निवाले काष्ठ में भी अग्नि की व्यक्ति हो जाती है, अग्नि सर्वत्र व्यापक है, केवल प्राकट्य की ही विशेषता होती है, उसी भाँति **"रसो वै सः"**, **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** इत्यादि श्रुतिवचनों के आधार पर यह प्रसिद्ध है कि रसात्मक ब्रह्मस्वरूप ही सब कुछ है। केवल अनाद्यनिर्वाच्याविद्यामय नाम-रूपों द्वारा वह तत्त्व आवृत रहता है। निरावरण रसात्मक ब्रह्म श्रीकृष्ण के सम्बन्ध से सभी वस्तु निरावरण रसात्मक श्रीकृष्णमय हो जाती हैं। बस, इस तरह श्रीकृष्ण के स्पर्श से व्रजाङ्गनाओं के वस्त्र निरावरणस्वरूप हो गये, फिर उनके धारण से व्रजाङ्गनाओं में भी रसात्मकता आ गयी।

लोक में भी प्रियसंस्पृष्ट पुष्पमाला, वस्त्र आदि को प्रेमी बड़े अनुराग से हृदय एवं नयनों में लगाते हैं। श्रीकृष्ण-संस्पृष्ट वस्त्र को धारण कर व्रजाङ्गना रसाक्रान्त हो उठीं। श्रीकृष्णबल पाकर लज्जा नेत्रों द्वारा पुनः उनमें प्रविष्ट हुई। श्रीकृष्ण ने वस्त्र और अपने आपको तो दे दिया, परन्तु उनके मन को चुरा लिया। अतः प्रेष्ठ-संगम के लिये लालायित होकर वे व्रज न जा सकीं। परमानन्द रसात्मक श्रीकृष्ण के सम्मिलन, संस्पर्श, संभोग तादात्म्यापत्ति के लिये जो न लालायित हो, उसका जीवन सचमुच व्यर्थ है। अस्तु, श्रीकृष्ण ने उन व्रजकुमारिकाओं के संकल्प को जान लिया कि इन्होंने मेरे ही पादस्पर्श की कामना से यह व्रत धारण किया है, फिर तो श्रीकृष्ण भक्त-परतन्त्र होकर गोपी की प्रेम रज्जु से बँधकर दामोदर हो गये। प्रेम-पाशगृहीत होकर बोले, साध्वियो! आप लोगों के संकल्प को मैंने जान लिया और मैंने उसका अनुमोदन किया, वह सफल होने योग्य है। मुझमें जिनके मन और बुद्धि निविष्ट हैं, उनकी कामनाएँ कामना न होकर केवल रसरूप ही होती हैं। जैसे भर्जित एवं क्वथित धान से अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही मद्विषयक काम संसार का हेतु नहीं बनता। हाँ! जैसे भर्जित वा क्वथित बीज विशिष्ट-स्वादयुक्त होने से आस्वादनीय होता है, वैसे ही मद्विषयक काम रसात्मक होने से रसिकों को आस्वादनीय होता है। अस्तु, अब आप लोग व्रज जायँ। जिस उद्देश्य से आप लोगों ने आर्य्या की अर्चना की है, वह इन रात्रियों में सफल होगी।"

"मयेमारंस्यथ क्षपाः।" यद्यपि कहा जाता है कि उसी क्षण श्रीव्रजाङ्गनाओं का मनोरथ पूर्ण करना चाहिये था, परन्तु गंभीरता से विचार करें तो विदित होगा कि पूर्वकथनानुसार आत्मरति भगवान् का रमण आत्मा में ही होता है। अतः व्रजाङ्गनाओं में जब तक पूर्ण रसात्मकता न होगी तब तक उनमें रमण असंभव है।

जब से प्राणी भगवान् का अर्चन-स्मरण आरम्भ करता है, तभी से प्राणी का प्राकृतभाव नष्ट होने लगता है, और भगवत्स्वरूपभूत अप्राकृत रसात्मकता आ

जाती है। व्रजकुमारिकाएँ युगों से श्रीकृष्णप्राप्ति के लिये तप, जप, ध्यान कर रही थीं। बहुत अंशों में उनका प्राकृतत्व नष्ट हो चुका था, अप्राकृत रसरूपता भी उनमें बहुत अंशों में आ गयी थी। तथापि अभी वह सब अपूर्ण ही था। भगवत्संमिलन की उत्कट उत्कण्ठा और ध्यानमय संमिलन, परिरम्भणादिजन्य रस के आस्वादन से रसमय देहेन्द्रिय, मन और बुद्धि की पुष्टि होती है। वियोगजन्य दुःख के तीव्र ताप से देहेन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि का दाह होता है, परन्तु उत्कण्ठा और वियोग भी उस वस्तु में नहीं होता, जिसका मिलना ही असम्भव है।

अति सुलभ पदार्थ में भी उत्कण्ठा नहीं होती और अति दुर्लभ में भी असंभव बुद्धि से प्रीति की कमी होती है। जिन्हें साम्राज्य आदि का मिलना असम्भव प्रतीत होता है उनकी उधर उत्कण्ठा या प्रयत्न कुछ नहीं होता।

एक दीन-हीन भिक्षुकी को सम्राट् का संमिलन असम्भव है, अतः उसे उसकी उत्कण्ठा भी नहीं होती। जीव भी अपने को कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुखी और महापापी समझकर, और भगवान् को अनन्तब्रह्माण्डनायक समझकर उनसे अपना मिलना असम्भव समझे तो न उसे संमिलन की उत्कण्ठा होती है और न उत्कट प्रयत्न ही करता है। इसीलिये भगवत्संमिलन से वञ्चित रहता है।

भगवत्संमिलन की उत्कट उत्कण्ठा ही भक्ति है। भक्ति हुई कि भगवान् का संमिलन हुआ। इसीलिये भगवती श्रुति भगवान् की चिदानन्द रसमयी जीव शक्तियों को भगवत्संमिलन की सुलभता दिखलाती है—"**द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**" तुम दोनों सुपर्ण हो, तुम दोनों का स्वाभाविक सख्य है, तुम दोनों सदा सम्बन्धित और एक ही स्थान में रहते हो। तुम भगवान् के हो, भगवान् तुम्हारे हैं। भगवान् तुम्हारे संमिलन की प्रतीक्षा में हैं। तुम श्रद्धा-भक्ति से एक बार भगवान् के मंगलमय नाम का उच्चारण करो। समस्त पाप-ताप से मुक्त होकर भगवत्प्राप्ति के योग्य हो जाओगे।

इस तरह चिदानन्दमयी जीव-शक्तियों को प्रभुमिलन की सम्भावना, उत्कण्ठा, उत्सुकता होती है। जब कभी सुलभ समझकर असावधानी होने लगती है तब **'दूरात्सुदूरे'** कहकर उसकी दुर्लभता भी बतायी जाती है। जप, तप और देवाराधनादि द्वारा जीव शक्ति को शुद्ध जिज्ञासा तथा प्रेप्सा होती है। श्रीव्रजाङ्गनाओं को भी कात्यायिनी समर्चन द्वारा वर प्राप्त करके भगवत्संमिलन की संभावना और उत्कट उत्कण्ठा हुई, परन्तु फिर भी अभी उत्सुकता और उत्कण्ठा की अपेक्षा है। इसीलिये भगवान् अभी कुछ अवधि का निर्देश कर रहे हैं। परम बुभुक्षु के सन्मुख जिस समय मधुर मनोहर पक्वान्न उपस्थित हो और उसके संमिलन की सम्भावना हो गयी हो, तो फिर उत्सुकता का ठिकाना नहीं रहता।

व्रजाङ्गनाओं को, श्रीकृष्णाङ्गसंस्पृष्ट-वस्त्रद्वारा श्रीकृष्णाङ्ग-संस्पर्श का रसास्वाद होने से अधिकाधिक आकर्षण हुआ। किसी भी रस का जब तक अनुभव न हो, तब तक उधर आकर्षण नहीं होता। यही स्थिति ब्रह्मरस की है। श्रीनारदजी को भी जब एक क्षण के भगवत्स्वरूप के माधुर्य्य का अनुभव हुआ, तब उन्हें एक विचित्र लालसा और चटपटी हुई।

"ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसः।
आनन्दाश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥"

फिर अनेकशः प्रार्थना करने पर भी भगवान् ने यही कहा कि—"**सकृद्यद्दर्शितं रूपमेतत्कामायतेऽनघ।**" एक बार तुम्हें स्वरूप-माधुर्य्य का अनुभव कराया। यह केवल उत्कट कामना के लिये। उत्कट कामना से ही प्राणी समस्त पाप-तापों को नष्ट कर देता है।

इसीलिये भावुकों ने कहा है—

"न वै जनोजातु कथञ्चनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्भवदङ्गसंसृतिम्।
स्मरन् मुकुन्दांऽघ्र्युपगूहनंपुनर्विहातुमिच्छेन्नरसग्रहो यतः॥"

मुकुन्दसेवी औरों के समान कभी संसृति में नहीं पड़ता, किन्तु वह मुकुन्द के श्रीचरण का उपगूहन (आलिङ्गन) करता हुआ, उसके सुस्पर्श सौगन्ध्यामृत रस का आस्वादन करता हुआ उसे कभी छोड़ना नहीं चाहता। अस्तु, श्रीव्रजाङ्गनाओं को श्रीकृष्ण के श्रीअङ्ग एवं अमृतमय मुखचन्द्रिका का दर्शन हुआ। उनके वचनामृत, हास-परिहास का आस्वादन हुआ, एवं वस्त्र द्वारा परम्परया श्रीकृष्णाङ्ग का संस्पर्श भी हुआ, अतः सर्वात्मना श्रीकृष्ण की ओर उनका आकर्षण हुआ, और वरप्राप्ति से श्रीकृष्ण का पूर्ण संस्पर्श हो सकेगा, यह भी संभव हो गया।

अब उनको उत्सुकता और उत्कण्ठा उन्हें क्षण-क्षण को युग के या कल्प के समान प्रतीत कराने लगी। अब एक-एक क्षण का विलम्ब उनके लिये असह्य हो गया। एक-एक क्षण के वियोगजन्य तीव्र ताप से उनके अविद्या, काम, कर्म, हृदय-ग्रन्थि, किं बहुना गुणमय पाँचों कोश जलने लगे और क्षणिक संमिलनकल्पनाजन्य लोकोत्तर सुख से, रसमय स्वरूप परिपुष्ट होने लगा। जब यह कार्य्य पूर्ण हो जायगा, तब रास के लिये वेणुगीत पीयूष से उनका आकर्षण करके, उनके साथ विलासादि रमण होगा। कुछ ऐसी भी व्रजाङ्गनाएँ थीं कि जिनके प्राकृत पञ्चकोशों और रसात्मक स्वरूप का दाह तब तक भी नहीं हुआ था। जब कृष्ण का वेणुनाद सुनकर वे श्रीमद्वृन्दारण्य धाम की ओर चलीं तब उनके पिता, भ्राता और पति आदि ने उन्हें रोककर उन्हें गृह में बन्द कर दिया। जब वह किसी तरह निकल न सकीं, तो वहाँ ही नेत्र मींचकर श्रीकृष्ण का ध्यान करने लगीं।

दुःसहप्रेष्ठविरहजन्य तीव्र ताप को देखकर समस्त अशुभ कर्म कम्पित हो गये, और अच्युत के ध्यानप्राप्त आश्लेषजन्य आनन्द को देखकर समस्त पुण्य भी

संकुचित होकर दुर्बल हो गये। अर्थात् उन्होंने यह सोचा था कि समस्त पाप मिलकर भी किसीको इतना कष्ट नहीं पहुँचा सकते, जितना इन व्रजाङ्गनाओं को श्रीकृष्ण-वियोग के एक क्षण में ताप हुआ है, और सभी पुण्य मिलकर कोटि कल्पों में भी इतना आनन्द नहीं दे सकते जितना उन्हें श्रीकृष्ण के ध्यानप्राप्तपरिरम्भण के एक क्षण में हो सकता है।

बस, तीव्र ताप से गुणमय त्रिविध शरीर या पञ्चकोश को जलाकर वह ध्यान-प्राप्त आश्लेषरस दिव्य स्वरूपसम्पन्न होकर श्रीकृष्ण को प्राप्त हुईं। इसीलिये निर्गुणा भागवती भक्ति को सिद्धि से भी श्रेष्ठ और सर्वकोशदाहिका कहा गया है।

"अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥"

अनिमित्ता भागवती भक्ति सिद्धि से भी श्रेष्ठ होती है। जैसे भुक्त अन्न को जठराग्नि पचा डालती है, उसी तरह वह पञ्चकोशों को जला डालती है। **"अतप्त-तनुर्नतदामोऽश्नुते दिवम्।"**

इसी वियोगजन्य तीव्र ताप से जिसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों तनु (देह) नहीं तप्त हुए, वह अमृतमय कृष्णरस का अनुभव नहीं पा सकता।

अतः उत्कण्ठा और तापवृद्धि के लिये तो यह एक वर्ष की अवधि दी गयी है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण कामुक नहीं थे, कोई भी कामुक दुर्लभ परम सुन्दरी नग्न कामिनियों को स्वाधीन पाकर क्षणभर भी धैर्य नहीं धारण कर सकता, फिर एक वर्ष की अवधि वह कब रख सकता है? यह तो योगेश्वर श्रीकृष्ण का ही काम है कि जलक्रीड़ापरायण नग्न व्रजसुन्दरियों को स्वाधीन एवं परमानुरागिणी, प्रेष्ठासंगमसज्जिता बनाकर, स्वयं परम निर्विकार ही रहकर, स्पर्श के लिये एक वर्ष की अवधि नियत करते हैं।

इससे केवल ब्राह्मसंस्पर्श की अभिलाषिणी व्रजकुमारिकाओं की कामनापूर्ति मात्र भगवान् ने की है—**"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"**

उनकी योग्यता के परिपाकार्थ ही **"मयेमा रंस्यथ क्षपाः"** वरदान है।

"इमाः क्षपाः" इस पद प्रयोग से मालूम पड़ता है कि वे रात्रियाँ प्रत्यक्ष हैं। भगवान् अंगुल्या निर्देश करते हुए कहते हैं कि इन रात्रियों में आप लोग मेरे सङ्ग रमण करना। यद्यपि भविष्य की रात्रियों का प्रत्यक्ष होना असम्भव है, तथापि मालूम होता है कि जैसे राजा की दानरुचि समझकर राजा का अमात्य देय वस्तु को उसी क्षण उपस्थापित कर देता है, उसी तरह श्रीकृष्ण की दानरुचि जानकर ही योग-माया ने उन रात्रियों की अभिमानिनी शक्तियों को उपस्थित कर दिया। उन्हींकी ओर अंगुल्यानिर्देश करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि आप लोग इन रात्रियों में रमण करना।

अनन्त, अखण्ड और ब्राह्मरस का संभोग परच्छिन्न रात्रियों में नहीं हो सकता। अतः एक ही प्रहर-चतुष्टयवती रात्रि में अनन्त कोटि दिव्य ब्राह्मी रात्रियों का निवेश करके यह रासलीला श्रीकृष्ण-रमण-सम्पन्न होती है। वे विलक्षण व्रजाङ्गनाओं की श्रीकृष्ण-रसदात्री रात्रि परम रसमयी है। रासपञ्चाध्यायी के प्रारम्भ में ही इनका स्मरण किया गया है—

"भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥"

श्रीकृष्ण, उनकी लीलाएँ, लीलाओं का काल और धाम सब भगवत्स्वरूप ही होते हैं। इसीलिये—"इमाः, ताः" आदि पदों से उनकी विलक्षणता, तत्पदार्थता आदि जानी जाती है।

बस, इस तरह श्रीकृष्ण से वर पाकर भगवान् की आज्ञानुसार व्रजाङ्गनाएँ, भगवान् के चरणाम्भोज का चिन्तन करती हुई बड़ी कृच्छ्रता (कष्ट) के साथ व्रज गयीं। "**तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः। वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः॥ दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः। वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन् प्रियसंगनिर्वृताः॥ परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसंगमसज्जिताः॥ गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिँल्लज्जायितेक्षणाः। तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया। धृतव्रतानां संकल्पमाह दामोदरोऽबलाः। संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्॥ मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति॥ न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते॥ भर्जिता क्वथिता धानाः प्रायो बीजाय नेष्यते। याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथक्षपाः॥ यदुद्दिश्यव्रतमिदंचेरुरार्यार्चनं सतीः।**" श्रीशुकउवाचः—"**इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः॥ ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजं कृच्छ्रान्निर्विविशुर्व्रजम्।**" अतएव जैसे सर्वभुक् अग्नि के समान कोई सर्वभक्षी नहीं हो सकता, रुद्र के समान कालकूटभोजी नहीं हो सकता, कृष्ण के समान गोवर्धन नहीं उठा सकता, वैसे ही चोरहरण, रासलीला का भी आचरण कोई नहीं कर सकता। यदि मूढ़ता से कोई करेगा तो अवश्य ही उसका सर्वनाश हो जायगा। शास्त्रविरुद्ध श्रेष्ठों के आचरणों का अनुकरण कदापि न करना चाहिये। अतएव श्रुति ने कहा है, "**यानि मेऽनवद्यानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि।**" वही कार्य किसी के लिये अदोषावह होता है, किसीके लिये शास्त्रविरुद्ध एवं सावद्य होता है। ऋषभदेव के लिये अवधूतचर्या ठीक ही है, परन्तु औरों के लिये वही अनुचित है। वैसे ही कृष्ण-लीला कृष्ण ही के लिये है, दूसरों के लिये नहीं। दूसरे तो यही शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं कि ओह! श्रीकृष्ण ऐसी परम सुन्दरी स्वाधीन नग्न व्रजबालाओं के दर्शन से निर्विकार एवं अक्षुब्ध मनस्क रहे, ऐसे ही दृढ़ ब्रह्मचर्य और मन की स्थिरता और एकाग्रता बनानी चाहिये।

●

वेदान्त-रससार

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्या-हृदयनन्दनो रामः।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः॥

वेद-शास्त्रार्थ-परिशीलन—संस्कृत-मानस महानुभावों से यह तिरोहित नहीं है कि प्राणियों के चतुर्वर्ग की अविकलरूप से प्राप्ति का अति सुन्दर पथ वेदों ने प्रदर्शित किया है। विशेषतः धर्म और ब्रह्म के बोध में तो एक मात्र वेद ही प्रमाणभूत है। अतएव "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (प्रवर्तक और निवर्तक वैदिक वाक्यों से लक्षित, अनर्थ श्येनादि से व्यावर्तित, अग्निहोत्र-दर्श-पौर्णमासादि अर्थ ही धर्म है), "यः शास्त्र-विधिमुत्सृज्य", "तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते", "तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि", "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः", इत्यादि आर्ष-वचनों से धर्म को वेदादिशास्त्रैकसमधिगम्य माना है।

वेद अनादिअविच्छिन्नसम्प्रदाय परम्परा से प्राप्त हैं। कोई भी पुरुष स्वातन्त्र्येण उनका निर्माण करनेवाला नहीं है। परमात्मा भी पूर्व कल्पीयवेदानुपूर्वी सापेक्ष ही उत्तरकल्पीय आनुपूर्वीका निर्माण करते हैं।

अतः प्रमाणान्तर से अर्थोपलम्भपुरःसर निर्मातृत्वरूप कर्तृत्व उन परमात्मा में भी नहीं है। अतः अपौरुषेय वेदों को ही सकल पुंदोषशंका-कलंक-पङ्क से असंस्पृष्ट होने के कारण उनका सर्वानपेक्ष प्रामाण्य है।

अतएव परमेश्वरनिर्मितत्व वेदों के प्रामाण्य का प्रयोजक नहीं है, किन्तु परमेश्वर के स्वरूपादि की सिद्धि ही वेदों के अधीन है। अन्यथा वैदिक जिन-जिन युक्तियों से वेदकार को परमेश्वर या तदवतार मानकर तन्निर्मितत्वेन वेदों का प्रामाण्य व्यवस्थापन करेंगे, उन्हीं-उन्हीं युक्तियों से भिन्न-भिन्न मतवादी भी अपने धर्मग्रन्थ-रचयिता को परमेश्वर सिद्ध करके उससे निर्मित अपने धर्मग्रन्थों का प्रामाण्य व्यवस्थापन करेंगे।

अस्तु, इन सब बातों के कथन का आशय यही है कि वेदों का धर्म और ब्रह्म-स्वरूप निर्णय में अनपेक्ष प्रामाण्य है। कल्पसूत्र, स्मृत्यादि और अन्यान्य आर्षग्रन्थों का प्रामाण्य वेद सापेक्ष ही है। अतएव वेद के साथ जिन वचनों का विरोध होता है, उनका प्रामाण्य कभी भी स्वीकार नहीं किया जाता, चाहे वे वचन किसी भी आर्ष-ग्रन्थ के क्यों न हों।

वेदों में अवान्तर अनेक भेदों के होते हुए भी प्रधान रूप से मन्त्र और ब्राह्मण ये दो भाग हैं। उनका शाखा-भेद होने से अनेकता होनेपर भी विषय प्रायः सबका

समान ही है। प्रायेण मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प-सूत्र साथ ही चलते हैं। यद्यपि उन सभी का महातात्पर्य सर्वप्राणिपरप्रेमास्पद परिपूर्ण परमानन्दघन भगवान् में ही है यथा "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" तथापि अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, परमसूक्ष्म भगवत्तत्व की उपलब्धि और उसमें स्थिति बहिर्मुख प्राणियों के लिये कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अतः योग्यता-सम्पादन के लिये अनेक प्रकार के कर्म और उपासनाओं की अत्यन्त आवश्यकता है। अतः वेदों का अवान्तर तात्पर्य्य उनमें भी है।

वेदों के महातात्पर्य्य के विषयभूत परमानन्दघन भगवान् में ही सकल प्रपञ्च को उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और प्रतीति होती है। अतः जैसे तरंग के भीतर, बाहर, मध्य में जल ही भरपूर होता है, वैसे ही भोक्ताभोग्य सकल प्रपञ्च के भीतर, बाहर, मध्य में परमानन्द रसात्मक भगवान् ही भरपूर है। किं बहुना एक आनन्द सुधा-सिन्धु भगवान् ही अपनी अघटितघटनापटीयसी मायाशक्ति के प्रभाव से नाना दृश्य रूप में प्रतीत होते हैं, यथा श्रुतिः "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्दमभिप्रयन्त्यभिसंविशन्ति, आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्", "एकोऽहम् बहुस्याम्" इत्यादि।

जैसे आनन्द स्वरूप से दुःखात्मक प्रपञ्च प्रादुर्भूत होता है, वैसे ही चैतन्य से जड़ प्रपञ्च का प्रादुर्भाव होता है। यह बात अभिन्ननिमित्तोपादान कारणवादियों को माननी पड़ती है और उसी तरह त्रिकालाबाध्य परमार्थ सत्य भगवान् से अनृतात्मक प्रपञ्च का प्रादुर्भाव होता है, यह भी मानना चाहिये।

प्रपञ्च आनन्द से उत्पन्न होनेवाला और आनन्द में विलीन होनेवाला है, यह उपर्य्युक्त श्रुतियों से स्पष्ट सिद्ध होता है। जैसे समुद्र से उत्पन्न और विलोन होनेवाला तरंग समुद्र ही है, वैसे ही आनन्द से उत्पन्न और उसीमें विलोन होनेवाला प्रपञ्च भो आनन्दात्मक ही होना चाहिये तथा सर्वप्रकाशक चैतन्यघन से उत्पन्न होनेवाला प्रपञ्च चेतनात्मक ही होना चाहिये। परन्तु प्रपञ्च में दुःखरूपता और जड़ता सर्वानुभवसिद्ध एवं सर्वमान्य है, अतः कहना पड़ता है कि कारणगत अनिर्वचनीय शक्ति से कार्य में अनिर्वचनीय विलक्षणता होती है। इसी वास्ते यद्यपि स्पष्ट देखते हैं कि जल से भिन्न बर्फ और तन्तु से भिन्न पट कोई पृथक् पदार्थ नहीं है, तो भी जल और तन्तुओं की अपेक्षा उनमें (बर्फ और पट में) विलक्षणता अवश्य है। इसीलिये आनन्द और स्वप्रकाशचैतन्यरूप परमात्मा से भिन्न जड़ और दुःखरूप प्रपञ्च उत्पन्न होता है।

अब यह देखना चाहिये कि दुःखजड़रूप प्रपञ्च सत्य है या मिथ्या ? यदि पूर्वोक्त न्याय से विचार करें तो स्पष्ट विदित होगा कि कार्य और कारण में अनिर्वचनीय विलक्षणता है। अतः जैसे आनन्द चैतन्यात्मक ब्रह्म से जड़ तथा दुःखात्मक

प्रपञ्च का होना सम्मत है, वैसे ही परमार्थसत्य परमात्मा से मिथ्या प्रपञ्च का प्रादुर्भाव मानना युक्त है। इन विवेचनों से सिद्ध हुआ कि परमानन्द स्वप्रकाश परमार्थसत्य भगवान् से दुःखात्मक, जड़ात्मक, मिथ्या अर्थात् अपरमार्थिक व्यवहारोपयोगी, व्यावहारिक प्रपञ्च का प्रादुर्भाव होता है।

जैसे अग्नि में दाहिका-शक्ति अग्नि से विलक्षण होती है, वैसे ही त्रिकालाबाध्य सद्रूप ब्रह्म की जो प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति है, वह भी उससे विलक्षण है। अतः त्रिकाला-बाध्य-रूप सत् से विलक्षण उसकी शक्ति शुद्ध सद्रूप अधिष्ठान के बोध से बाधित होती है। साथ ही क्वचिदपि कथञ्चिदपि न प्रतीत होनेवाले अत्यन्त असत् खपुष्पादि से भी विलक्षण सत् की शक्ति है, क्योंकि वही सकल प्रपञ्च की जननी है। इस तरह परमात्म-निष्ठ वह शक्ति, जिससे परमात्मा अपने आपको सकल प्रपञ्चरूप से व्यक्त करता है, सत् और असत् दोनों से विलक्षण है, अतएव उसको अनिर्वचनीय कहते हैं।

इस शक्ति को ही 'माया', 'प्रकृति', 'अविद्या', 'अज्ञान' आदि शब्दों से कहा जाता है। जैसे "योगमायासमावृतः" इत्यादि वचनों से माया द्वारा ज्ञानानन्द-स्वरूप ब्रह्म का आवरण कहा है, वैसे ही "अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्" इस वाक्य से अज्ञान को भी आवरक कहा है। जैसे "मायामेतां तरन्ति ते" इस वाक्य में माया का तरण कहा है, वैसे ही "ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः" इस वचन से ज्ञान को अज्ञान का नाशक कहा है।

ज्ञानाभावरूप अज्ञान को आवरणकर्तृत्व नहीं हो सकता, भावाभाव के असमकालिक होने से ज्ञान से ज्ञानाभावरूप अज्ञान का नाश भी नहीं हो सकता, अतः अज्ञान सदसद्विलक्षण मायाशक्ति रूप ही है। जैसे 'चित्', 'अचित्' इन दोनों शब्दों से चेतन और जड़ दोनों भावरूप ही गृहीत होते हैं, वैसे ही ज्ञान, अज्ञान इन दोनों शब्दों से परमात्मा और उसकी शक्ति अनिर्वचनीय मायागृहीत होती है। वह शक्ति जैसे सद्विलक्षण है, वैसे ही चित् से भी विलक्षण है, अतः 'अचित्' जड़ समझी जाती है। उसीके द्वारा सच्चिदात्मक तत्व का जड़ प्रपञ्चरूप से विवर्त होता है।

जैसे शक्ति की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश अपने आधारभूत शक्तिमान् से ही होते हैं, वैसे हो अचित् की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश अचित् के आधारभूत चित् के ही परतन्त्र हैं। यह स्पष्ट ही है कि अचित् की प्रवृत्ति और प्रकाश चित् ही से है। यदि वह स्वतः प्रकाश हो तब तो उसे अचित् ही नहीं कह सकते। ऐसे ही अज्ञान की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रकाश यह सभी ज्ञानस्वरूप परमात्मा से ही है। अतएव "मैं अज्ञानी हूँ" इस प्रकार अज्ञान का प्रकाश नित्य अखण्ड ज्ञानस्वरूप साक्षी से ही होता है।

यहाँ यह समझना चाहिये कि ज्ञान दो प्रकार का है। एक तो अंतःकरण की चैतन्य प्रतिबिम्बोपेत वृत्तिरूप, जो उत्पन्न होनेवाले और विनाशी रूप से लोक में शब्द-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञानादि रूप से प्रसिद्ध है, और दूसरा स्वप्रकाश चैतन्यानन्द ब्रह्मरूप, जो लौकिक ज्ञान और निद्रा-अज्ञानादि का भासक, कूटस्थरूप, **"सत्यं ज्ञानमनन्तं"**, **"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"** इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध है।

ब्रह्मरूप ज्ञान ही अचिच्छक्तिरूप अज्ञान एवं तत्कार्यरूप सकल प्रपञ्च को सत्व और प्रकाश देकर कार्यकरणक्षम बनाता है। इस तरह परमानन्द रसात्मक भगवान् से ही सत्ता, स्थिति, स्फूर्ति प्राप्त करके नीरस, असत्, स्फूर्तिरहित प्रपञ्च सरस, सत्य, स्फूर्तिमान् सा प्रतीत हो रहा है। अतएव जैसे दहन-सामर्थ्यशून्य लौह-पिण्ड को अनित्य और सातिशय दहन-सामर्थ्य प्रदान करनेवाला, नित्यनिरतिशय-दहन-सामर्थ्यसम्पन्न अग्नि, दग्धा का भी दग्धा कहा जाता है और जैसे अनेक प्रान्ताधिपतियों को राजा बनानेवाला सर्वाधिपतिराजराज कहा जाता है, वैसे ही अनित्यों को नित्य, अचेतनों को चेतन, असत्यों को सत्य बनानेवाले वेदान्त-वेद्य परमानन्द रसात्मक भगवान्, नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, सत्यों के सत्य कहे जाते हैं। जैसे सर्वाधिपति राजराज से निर्मित राजगण, प्रान्तीयों की अपेक्षा राजा होते हुए भी, सम्राट् की अपेक्षा प्रजा ही हैं; वैसे ही नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, सत्यों के सत्य, भगवान से निर्मित नित्य, चेतन, सत्य पदार्थ (चिदाभास साभास अन्तःकरणरूप जीव, तथा आकाश घटादि) में तथा असत्य रज्जु सर्पादि की अपेक्षा चेतन, नित्य, सत्य होते हुए भी, परमनित्य, सत्य, चैतन्य की अपेक्षा अनित्य, असत्य, अचेतन ही हैं। जैसे आकाश की उत्पत्ति श्रुति-सिद्ध है तथापि क्षणिक पदार्थों की अपेक्षा वह स्थिर है, अतः उसको न्यायसिद्धान्तानुसारी नित्य कहते हैं। जैसे उत्पत्ति विनाशवाले, साभासवृत्तिरूप ज्ञान जड़ होते हुए भी घट की अपेक्षा चेतन कहे जाते हैं, वैसे ही लोकसिद्ध मिथ्या रज्जु-सर्पादि की अपेक्षा अबाध्य होने के कारण घटादि भी सत्य कहे जाते हैं। इन्हीं आपेक्षिक नित्य-चेतन, सत्य, सरस पदार्थों को वेदान्ती सकल सत्शास्त्रों के महातात्पर्य का विषयीभूत, निखिल रसों के समुद्गम-स्थान, भगवान् की अपेक्षा अनित्य, जड़, नीरस, दुःखरूप या व्यवहारोपयुक्त, व्यावहारिक नित्य, व्यावहारिक सत्य, व्यावहारिक चेतन अथवा व्यावहारिक सुख कहते हैं।

पारमार्थिक सत्य, चैतन्य, नित्यआनन्दरस-स्वरूप तो भगवान् ही हैं, इसी अभिप्राय से **"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनाम्"**, **"सत्यस्य सत्यम्"** इत्यादि श्रुति-वचन भगवान् को नित्य का नित्य, सत्य का सत्य कहते हैं। गोस्वामी श्री तुलसीदासजी भी अपने राम को प्राण के प्राण, जीव के जीव, सुख के सुख कहते हैं—

"आनन्दहुँ के आनन्ददाता ।"

"प्रान प्रान के जीव के जिय सुख के सुख राम ।
तुम तजि तात सुहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम ।"

जैसे घटाकाश का जीवन महाकाश और तरंग का जीवन समुद्र है, वैसे ही जीव के जीवन भगवान् हैं ।

अस्तु, इस तरह सिद्ध हुआ कि परमार्थतः सब कुछ भगवान् ही हैं । भगवान् से भिन्न जो कुछ प्रतीत होता है, वह मिथ्या ही है । जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, वैसे ही परमात्मा में प्रपञ्च का भ्रम है । यही सत्य से मिथ्या पदार्थ की उत्पत्ति का प्रकार है । इसी सिद्धान्त को श्री गोस्वामीजी ने भी रामचरितमानस में पुष्ट किया है—

"झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने ।
जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ॥"

अतः सिद्ध हुआ कि परमानन्दघन भगवान् से भिन्न होकर परमार्थ सत्य कोई भी पदार्थ नहीं है । जैसे वायुआदि क्रम से आकाश के द्वारा ही समुद्भूत घट-रूप उपाधि से आकाश में महाकाश और घटाकाश ये दो भेद हो जाते हैं, वैसे ही परमात्मा से समुद्भूत उपाधियों के द्वारा चैतन्यानन्दघन भगवान में ही जीव और परमेश्वर ये दो भेद हो जाते हैं । वस्तुतः घट, आकाश का कार्य होने से उससे पृथक् नहीं है ।

अतएव विद्वान, जैसे कार्य को विज्ञान-दृष्टि से कारण में प्रलीन करके, घटरूप उपाधि को आकाश में बाधित कर घटाकाश और महाकाश के भेद को बाधित कर देते हैं, वैसे ही अधिष्ठानरूप, शुद्ध सत्य के बोध से, सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय शक्ति, एवं तत् कार्यरूप उपाधियों को सद्रूप ब्रह्म में ही बाधित करके, जीव और परमेश्वर के भेद का भी निराकरण कर देते हैं । अर्थात् जैसे घट को पृथ्वी में, पृथ्वी को जल में, जल को तेज में, तेज को वायु में एवं वायु को आकाश में लय करने पर महाकाश से भिन्न न घटरूप उपाधि रहती है और न घटोपहित घटाकाश ही रहता है, वैसे ही आकाश को अहंतत्व में, अहंतत्व को महत्तत्व में और उसको अव्यक्त में, अव्यक्त को सत्तत्व में विलीन कर देने पर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अज्ञानरूप उपाधि तथा इन उपाधियों से उपहित जीव, ये सभी अखण्डानन्द-रस भगवान् ही हो जाते हैं । भगवान् से भिन्न उनका कोई भी स्वरूप नहीं रहता ।

इसी वास्ते भगवती श्रुति ने कहा है—**"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत", "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मातत्वमसि", "अयमात्मा ब्रह्म", "अहं ब्रह्मास्मि"** अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है, क्योंकि तज्ज, तल्ल, तदन है । ब्रह्म से ही समस्त प्रपञ्च की उत्पत्ति, स्थिति एवं विलयन होता है । यह सर्व दृश्य प्रपञ्च इस

आत्मा का स्वरूप ही है, ब्रह्म ही समस्त प्रपञ्च की आत्मा है और ब्रह्म ही तुम हो। यह आत्मा ब्रह्म है। "अहं" पद लक्ष्यार्थ प्रत्यगात्मा ब्रह्म ही है। किं बहुना **"सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"**, "वहिरन्तश्च **भूतानामचरं चरमेव च"** अर्थात् चराचर सकल प्रपञ्च के भीतर-बाहर ब्रह्म ही है, और जिस चराचर प्रपञ्च के भीतर-बाहर ब्रह्म है, वह चराचर प्रपञ्च भी ब्रह्म ही है। सर्वदृश्यरूप क्षेत्र और द्रष्टारूप क्षेत्रज्ञ ये सभी भगवान् ही हैं। श्री भगवान् की भी उक्ति है—**"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्व क्षेत्रेषु भारत।"** बाह्याभ्यन्तर कार्यकारण सब कुछ अज अव्यक्त ब्रह्म ही है। **"अजायमानो बहुधा व्यजायत"**, **"एकोहं बहुस्याम्"**, **"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"** अर्थात् अजायमान और एक ही परमतत्व माया से बहुरूप में जायमान सा प्रतीत होता है। जो इस अजायमान अखण्डैकरस, अद्वितीय वस्तु में वस्तुतः जायमानता और नानात्व देखता है, जो ब्रह्म भगवान् की निर्विकारकूटस्थता और अखण्डैकरसता का व्यापादन या उसे कलङ्कित करना चाहता है, वह प्राणी उसी अपराध से पुनः-पुनः मृत्यु को प्राप्त होता है। अतः इसे परमार्थतः एक रूप से ही देखना चाहिये। **"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"** अर्थात् जो भगवान् में थोड़ा भी भेद की कल्पना करता है, उसे भय होता है। **"उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति द्वितीयाद्वैभयं भवति।"** इतना ही नहीं, संसार में ब्रह्म और धर्म, लोक एवं वेद, किं बहुना जिस किसी भी पदार्थ को प्रभु से भिन्न या पृथक् देखा जाता है, वह पदार्थ ही अपना घोर अपमान समझकर भिन्नदर्शी को परमार्थं से प्रच्युत कर देता है। **"सर्वं तम् परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद"** प्रियतम का विप्रयोग किसीके लिये भी सह्य नहीं है। प्रेम की पराकाष्ठा यही है कि प्रियतम से वियुक्त होकर प्रेमी क्षणभर भी अपना जीवन न रख सके। श्री व्रजाङ्गनाओं का अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के वियोग में एक क्षण भी अनन्त कोटि कल्प के समान प्रतीत होता था। परमार्थ दृष्टि से तो प्रियतम का वियोग होते ही प्रेमी का स्वरूप ही नहीं रह सकता। क्या बिम्ब से वियुक्त होकर प्रतिबिम्ब का और महाकाश से वियुक्त होकर घटाकाश का एवं महासमुद्र से वियुक्त होकर तरंग का स्वरूप रह सकता है? इनमें तो कहने के लिये ही भेद है, वस्तुतः भेद नहीं है। इसीलिये श्री गोस्वामीजी ने श्रीराम और जनकनन्दिनी में वारि और बीचि का दृष्टान्त रखकर अभेद सिद्ध किया है :—

"गिरा अर्थ जलबीचि सम; कहियत भिन्न न भिन्न।"

फिर कोई भी तत्व भगवान् की सत्ता और स्फूर्ति से वियुक्त होकर अपना स्वरूप कैसे रखे, क्योंकि सत्ता स्फूर्तिसम्बन्धशून्य होने पर सभी तत्व निःसत्व और निःस्फूर्ति हो जाते हैं। स्फूर्ति और सत्तारहित पदार्थ का स्वरूप ही क्या हो सकता है, अतः जिन पदार्थों को परमार्थ सद्रूप, स्वयंप्रकाश, स्फूर्तिरूप भगवान् से भिन्न समझा जाता है, उन्हें मानों उनके प्रियतम से वियुक्त किया जाता है। उन्हें सत्ता-स्फूर्तिविहीन तथा निःसत्व, निःस्फूर्ति बनाकर अपमानित किया जाता है।

अतः वे पदार्थ उस भिन्नदर्शी को स्वार्थ से प्रच्युत कर देते हैं। इन्हीं श्रुति-स्मृति-सिद्ध पारमार्थिक अभेद और काल्पनिक व्यवहार में आनेवाले व्यावहारिक भेद को सिद्ध करने के लिये वेदान्तों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब, घटाकाश-महाकाश, समुद्र-तरंग आदि अनेक दृष्टान्त जीव और भगवान् के स्वरूप में रखे गये हैं। दृष्टान्त एकदेशी हुआ करते हैं। उनका सर्वांश दृष्टान्त में नहीं संगत हुआ करता। इसी वास्ते जैसे घट के गमन में, जिस आकाश के साथ घट-सम्बन्ध विच्छिन्न हुआ वह महाकाश हुआ और जो महाकाश था वही घट के संसर्ग से घटाकाश हो गया।

इसी तरह अन्तःकरण के गमन में पूर्वदेशस्थअन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यमुक्त हो गया, एवं अपूर्व चेतन बद्ध हो गया, एवं नीरूप निरवयव पदार्थ न प्रतिबिम्बित होता है और न प्रतिबिम्ब का आधार होता है।

फिर आत्मा और अन्तःकरण ये दोनों ही नीरूप एवं निरवयव हैं। इनका प्रतिबिम्ब या प्रतिबिम्बाधारता कैसे होगी इत्यादि शंकाएँ निर्मूल हैं, कारण कि अलौकिक अर्थ में लौकिक पदार्थ पूर्णरूप से दृष्टान्त नहीं हुआ करते। केवल विवक्षित अंश में दृष्टान्त-दार्ष्टान्त की समता होती है। यहाँ केवल उपाधि द्वारा उपहित में काल्पनिक भेद तथा उपाधिगत दूषण या भूषण का भान होना और परमार्थतः अभेद तथा सर्वोपाधिदोषादि विवर्जित होना इतना ही अंश विवक्षित है। जैसे घटाकाश का महाकाश से भेद और उसमें गमनागमनादि नाना प्रकार की कार्यकरणक्षमता यह सब घटोपाधिकृत हैं, जैसे महा समुद्र से तरंग का भेद और उसका चाञ्चल्यादि वायुरूप उपाधि से जन्य है, जैसे प्रतिबिम्ब में बिम्ब का भेद एवं मलिनता, चञ्चलता आदि जलदर्पणादिउपाधिजन्य है, उसी तरह जीव में निर्विकार, परमचैतन्यतानन्द, रसात्मक भगवान् से भिन्नता कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुखित्व-दुःखित्वादि नाना अनर्थों का योग एवं अविद्या अन्तःकरण रूप उपाधिकृत है। उपाधि के विलयन में एक परमानन्द भगवान् ही अवशेष रहता है।

इस प्रकार से तत्व की अद्वितीयता, अनन्तता और लोकसिद्ध व्यवहार की उपपत्ति दिखलाने के लिये अनेक प्रकार के दृष्टान्तों का उपपादन है। जिसकी बुद्धि में जिस दृष्टान्त से पारमार्थिक अभेद और भेद व्यवहार बुध्यारूढ़ हो उसके लिये वही दृष्टान्त प्राधान्येन उपादेय है, क्योंकि शास्त्रों का किसी दृष्टान्त में तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य तो केवल व्यावहारिक भेदोपपादनपूर्वक पारमार्थिकाद्वैतबोधन में ही है। इस इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि परमानन्द रसात्मक भगवान् ही चिदानन्दमयी जीव शक्ति के भीतर, बाहर तथा मध्य में भरपूर हैं। किं बहुना जीवशक्ति विशुद्धरसरूप-भगवान् ही हैं। आनन्दसुधासिंधु भगवान् की लहरी रूप जीवशक्ति भी "चेतन अमल सहज सुखराशि" ही है। जैसे बर्फ की पुतली सिंधु के बीच में रहकर प्यास की रटन रटे, किंवा जैसे निखिल रसामृतसिन्धुसारसर्वस्व कृष्णसुधा में अहर्निश सर्वाङ्गीण

संश्लेष रूप अवगाहन करती हुई भी, कृष्णप्रेयसी श्री वृषभानुनन्दिनी अधिरूढ़ महा-भाव की विलक्षण अवस्था-विशेष-परवश होकर "**हा प्राणवल्लभ, कहाँ हो**" इस प्रकार मिलन के लिये व्यग्र होती हैं। "**अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोह-नेति मधुरं विदधत्यकस्मात्**", वैसे ही प्रियतम की मोहिनीमायाशक्ति से परमानन्द रसार्णव भगवान् में बर्फ पुतली की तरह निमग्न जीव-शक्ति, प्रियतम को भूलकर, अनन्त संतापों में निमग्न सन्तप्त हो रही है।

शास्त्र तथा आगमों के प्रबोधन से ही अज्ञान विस्मरण विभ्रम की निवृत्ति होती है :—"**आनन्दसिन्धु मध्य तव बासा, बिनु जाने कत मरत पिपासा**", "**सो तै ताहि, तोहि नहिं भेदा, बारि बीचि जिमि गावहिं बेदा**"। तू वही है, तुझमें-उसमें किञ्चित् भी भेद नहीं है, जैसे वारि और वीचि का भेद "**कहियत भिन्न न भिन्न**"। श्रीमद्भागवत के पुरञ्जन और पुरञ्जनी के आख्यान में, जिस समय जीवरूप पुरञ्जन मायावश अपने परम अन्तरङ्ग, प्रियतम सखा को भूलकर बुद्धि पुरञ्जनी का अत्यन्त अनुरागी होकर अनवरत पुरञ्जनी के चिन्तन में तन्मय हो गया, उस समय पुण्य-परिपाक से पतिरूप गुरु की आराधना से सन्तुष्ट होकर, श्री हंसरूपधारी भगवान् ने प्रकट होकर पूछा कि तुम हमें जानती हो ? पुरञ्जनी ने कहा "प्रभो ! मैं आपको नहीं जानती।" इसपर भगवान् ने कहा "ठीक है, मेरे विस्मरण का ही तो यह फल है। मुझे भूलने से ही अनेकानर्थमूल संसृतिचक्र में प्राणियों को भटकना पड़ता है। देखो, "**अहंभवान्न चान्यस्त्वं त्वमेवाहं विचक्ष्व भोः, न नौ पश्यन्ति कवयश्छिद्रं जातु मनागपि**" मैं ही तुम्हारा पारमार्थिक स्वरूप हूँ, तुम मुझसे पृथक् नहीं हो। मैं ही तुम हो और तुम ही मैं हूँ। इस भाव को गम्भीरता से देखो। कवि लोग हमारे और तुम्हारे में कभी किंचिन्मात्र भी भेद नहीं देखते।" श्री परीक्षित की भी अन्त में "**अहं ब्रह्म परंधाम ब्रह्माहं परमं पदम्**" ऐसी ही दृढ़ धारणा हुई। अन्यान्य वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की भी ऐसी धारणा है—"**अहं वै भगवो देवते त्वमसि त्वं वै भगवो देवते अहमस्मि।**" हे भगवन् ! मैं ही तुम हो और तुम ही मैं हूँ, क्योंकि जो लोग प्रेम करते हैं तो उन्हें यही कहना पड़ता है कि मुझे कुछ नहीं चाहिये, केवल प्रभुप्रेम में या प्रभुस्वरूप के सौन्दर्य्यमाधुर्य्यसुधासमास्वादन में मुझे लोकोत्तर रस आता है। ऐसी स्थिति में विवेकी जनों को स्पष्ट हो जाता है कि वह प्रेमी अपने आनन्द के लिये ही प्रभु में प्रेम करता है, प्रभुस्वरूप-सम्बन्धी सौन्दर्य्यमाधुर्य्यरसामृत के आस्वादन से ही उसकी आत्मा को आनन्द होता है।

इसीलिये जिनके ऐसे भी भाव हैं कि प्रियतम मुझसे अनुकूल हों या प्रतिकूल, सर्वगुणसम्पन्न हों या सर्वगुणरहित, सौन्दर्य-माधुर्य्य-सुधाजलनिधि हों या सौन्दर्य-माधुर्य्य-विहीन, सब प्रकार से हमारे ध्येय, ज्ञेय, प्रियतम प्रभु ही हैं :—

"असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा, गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात्करुणाम्बुधिर्वा, कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममायम् ।।"

उनकी आत्मा को सुख और शान्ति सब प्रकार से प्रभुसमाश्रयण में ही होती है। इसलिये ये समस्त भाव आत्मा के लिये हुए। प्रभु के लिये लोक-परलोक सब प्रकार की सुखशान्ति का किं बहुना प्राणादि समस्त प्रियतम वस्तुओं का त्याग किया जाता है। यहाँ पर भी सूक्ष्म रूप से देखने पर यही विदित होता है कि उस प्रेमी की आत्मा को ऐसा ही करने पर सुख मिलता है, अतः यह सब कुछ आत्मा के लिये ही है।

लोक में कोई धार्मिक पुरुष धर्म-रक्षा के लिये आत्मा की आहुति दे देते हैं। वेदों में भी एक यज्ञ ऐसा है जिसमें यजमान अपना सर्वस्व ब्राह्मणों को देकर स्वयं अपने को अग्निकुण्ड में समर्पण कर देता है। परन्तु इन सभी स्थलों में इस प्रकार के उत्कट त्याग और तपस्याओं का लक्ष्य अन्तरात्मा की अनन्त शान्ति में ही है। इसी प्रकार के भावों को लक्ष्य में रखकर आत्मा के औपाधिक चिदाभास-स्वरूप-बाध के लिये साधिष्ठान चिदाभास से ही प्रयत्न किया जाता है। इसीलिये भगवती श्रुति ने स्पष्ट निर्णय करके यहाँ भी सर्वोपप्लव-विवर्जित, परमानन्दरूप चिदात्मा का शेष रहना लक्ष्य रखा है—"**आत्मानं प्रियमुपासीत**" अर्थात् प्रिय रूप से आत्मा की ही उपासना करनी चाहिये। आत्मा से भिन्न को जो प्रिय कहता है, उसे प्रिय के लिये रुदन करना पड़ता है।

जब ब्रह्मा ने श्रीकृष्ण के गोवत्सों और वत्सपालों का हरण किया, तब एक वर्ष पर्यन्त श्रीकृष्ण ही वत्स और वत्सपाल के रूप में व्यक्त हुए। उस समय समस्त गौओं को अपने-अपने बछड़ों में और व्रजदेवियों को अपने-अपने शिशुओं में ऐसा अभूतपूर्व लोकोत्तर प्रेम हुआ, जैसा कभी अपने मुख्य अङ्गजों में नहीं हुआ था। इस बात को श्री शुकदेव के मुखारविन्द से श्रवण करके जब श्री परीक्षितजी ने आश्चर्य प्रकट करते हुए इसका कारण पूछा, तब श्री शुकदेवजी ने यही कहा कि राजन्! संसार में समस्त वस्तुओं की अपेक्षा आत्मा ही प्रिय होता है; तदितर पुत्र, वित्त, कलत्रादि आत्मा के ही लिये प्रिय होते हैं। देह को ही आत्मा माननेवाले जो देहात्मवादी हैं, उन्हें भी जितना देह प्रिय है, उतने देह-सम्बन्धी पुत्रादि नहीं। श्रीकृष्ण समस्त जीवों के अन्तरात्मा हैं, अतः समस्त प्राणियों के निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम के आस्पद हैं, अतः उनमें अपने आत्मजों की अपेक्षा अधिक प्रेम होना युक्त ही है।

"सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यकलत्राद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ।।
देहात्मवादिनां राजन्"
"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं सकलात्मनाम्।"

जिसमें प्रेम किसी दूसरे के लिये होता है, उसमें कभी प्रेम का अभाव भी हो जाता है, क्योंकि वह औपाधिक प्रेम होता है। अतएव अनित्य एवं सातिशय होता है, जैसे अनुष्ण जल में उष्णता अग्नि के संसर्ग से होती है, स्वतः नहीं, वैसे ही जल में औपाधिक उष्णता अनित्य एवं सातिशय है, परन्तु जिस अग्नि के संसर्ग से जल में उष्णता व्यक्त हुई, उस अग्नि में तो उष्णता नित्य एवं निरतिशय है। इसी तरह संसार की समस्त वस्तुओं में प्रेम आत्मा के संसर्ग से ही होता है। वित्त, क्षेत्र, साम्राज्यमात्र में प्राणियों को प्रेम नहीं होता, क्योंकि कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में, साम्राज्यादि अनेक प्रकार के अभ्युदय सम्बन्धी साधन हैं ही। मान लीजिये कि हम और हमारा देश किसी राष्ट्र के बिलकुल परतन्त्र हो, हमारा सर्वस्व किसी ने अपहरण कर लिया हो, तो भी सम्पत्ति और राष्ट्र या साम्राज्य आक्रमणकारी अपहर्ता के पास तो हैं ही, उसमें हमें सन्तोष क्यों नहीं होता ? यहाँ विज्ञसम्मत हेतु यही हो सकता है कि यद्यपि कहीं न कहीं तो सब कुछ है सही, तथापि वह हमारा तो नहीं है। वित्त, क्षेत्र, राष्ट्र या साम्राज्यमात्र में ही हमारा प्रेम नहीं होता, किन्तु हमारा 'अपने' वित्त, क्षेत्र, राष्ट्रादि में प्रेम होता है। इस तरह स्वसम्बन्ध से ही स्वदेश, स्वराज्य, स्ववित्त, स्वक्षेत्र में प्राणियों को अधिक प्रेम होता है। सुन्दर पुत्र-कलत्र में भी स्वसम्बन्ध होने से ही प्रेम होता है। सुन्दरी कामिनी में भी "यह मुझे मिले, मेरी हो जाय" इस तरह स्वसम्बन्धित्वापादन को ही रुचि होती है। इसी तरह "उच्च से उच्च ऐश्वर्य मुझे, मेरे देश को, मेरे सम्बन्धियों को हो" इस प्रकार स्वसम्बन्धी में ही, स्वानुकूल में ही, प्रेम दृष्टि-गोचर होता है।

किं बहुना अनन्त कोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् ही अपनी अचिन्त्य दिव्य-लीलाशक्ति से श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र एवं श्रीकृष्णचन्द्रस्वरूप में प्रकट होते हैं, परन्तु उनमें भी स्वसम्बन्ध से प्रेम का तारतम्य देखा जाता है। जो अपने इष्टदेव हैं, उनके सौन्दर्य, माधुर्य, ऐश्वर्य एवं चरित्रादि में जितना प्रेम, जितना आकर्षण होता है, उतना अन्य में नहीं। और तो क्या, कृष्णस्वरूप में ही महानुभावों ने पाँच भेदों की कल्पना कर डाली है। वे द्वारकास्थ, मथुरास्थ कृष्ण के अतिरिक्त **"व्रजे वने निकुञ्जे च श्रेष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्"** के अनुसार पूर्ण, पूर्णतर, पूर्णतम भेद से व्रजस्थ, वृन्दावनस्थ, लीलानिकुञ्जस्थ श्रीकृष्ण में भेद स्वीकार कर पूर्णतम लीलानिकुञ्जनायक श्रीकृष्ण में ही अपना हृदय आसक्त करते हैं। अन्य के स्वरूपसौन्दर्यादि में उनके चित्त आकर्षित नहीं होते हैं। अतएव एक बार लीलया किसी निकुञ्ज में छिपे हुए श्रीकृष्ण को ढूंढ़ती हुई व्रजाङ्गनाएँ जब मनमोहन के पास पहुँच गयीं, तब श्रीकृष्ण ने शीघ्र ही विष्णुस्वरूप में प्रकट होकर अपने उस व्रजराजकुमारस्वरूप को छिपा लिया; और अपने आपको सर्वगुणसमलंकृत श्रीमन्नारायण के रूप में प्रकट किया; पर श्री व्रजाङ्गनाओं का मन उस रूप में किंचित् भी आकर्षित नहीं हुआ, किन्तु उन्हें प्रणाम

कर वे "हे देव, हमारे प्रियतम को मिला दो" यह कहकर वहाँ से अपने प्रियतम को ढूँढती हुई आगे चली गयीं।

कुछ वस्तु के उत्कर्ष से उसमें प्रेम नहीं होता है, किन्तु स्वसम्बन्ध से ही वस्तु की उत्कृष्टता भी व्यक्त होती है। अतएव "**गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा**" इत्यादि वचनों से पहले ही कह आये हैं कि "अनन्त गुणसमलंकृत हो या सर्वगुणविहीन हो, जो अपना है वही सर्वस्व है।" पूर्णतम होने के कारण ही उनकी ओर सभी का चित्त आकर्षित नहीं होता है—

"महादेव अवगुणभवन, विष्णु सकल गुणधाम।
जाकर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम॥"

जिसमें स्वसम्बन्ध की घनिष्ठता हो गयी वही सर्वस्व है। जिसमें जितनी-जितनी स्वानुकूलता है, उसमें उतनी ही प्रेम की अधिकता और जिसमें जितनी स्वप्रतिकूलता है, उसमें उतनी ही द्वेष की अधिकता होती है। कोई व्यापारी बहुत दिनों के बाद अपने घर को लौट रहा था। मार्ग में किसी सराय में उसने निवास किया। दैवात् उसी सराय में रात को उसकी स्त्री अपने अत्यन्त रुग्ण पुत्र को लेकर आयी। रुग्ण बालक दुःख से घबराकर, चीख मारकर रो रहा था। उस व्यापारी ने अपनी नींद में बाधक समझकर बालक और उसकी माँ को रोष के साथ खरी-खोटी सुनायी। परन्तु प्रातःकाल होने पर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि यह तो मेरे ही स्त्री और पुत्र हैं, तब तो उनके साथ ही वह अपने आप भी रोने लगा। इस तरह विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु में भी आत्मा के स्वसम्बन्ध की घनिष्ठता से प्रेम की अतिशयता और अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु में भी स्वसम्बन्ध की घनिष्ठता न होने से प्रेम की न्यूनता होती है। इतना ही नहीं, दूसरे की उत्कृष्ट वस्तु में द्वेष या ईर्ष्या पर्यन्त का सञ्चार हो जाता है। तभी तो ये कट्टर नवीन शैव-वैष्णव परस्पर एक-दूसरे के इष्ट का उत्कर्ष नहीं सहन कर सकते हैं।

अब सोचने की बात है कि जिसके सम्बन्ध से निकृष्ट में भी लोकोत्तर प्रेम और जिसके सम्बन्ध बिना परम उत्कृष्ट में भी द्वेष या ईर्ष्या होती है, वह निरतिशय निरुपाधिक प्रेम का आस्पद है कि नहीं। जब शर्करा के सम्बन्ध से स्वभावतः माधुर्य-शून्य पदार्थों में भी मधुरिमा का अनुभव होता है, तब क्या शर्करा में मधुरिमा का अभाव कहा जा सकता है? जब स्वस्वरूप आत्मा के सम्बन्ध से प्रेम के अयोग्य पदार्थों में भी प्रेम होता है, तब क्या आत्मा में अन्यशेषता या प्रेम की निकर्षता कही जा सकती है? प्रत्युत स्पष्ट रूप से यही कहा जा सकता है कि आत्मा के सन्निहित में प्रेम का आधिक्य और विप्रकृष्ट में प्रेम की न्यूनता होती है। तभी देखते हैं कि प्रियतम, कलत्र एवं पुत्र की रक्षा के लिये अनेकानेक प्रयत्न से उपार्जन की हुई रत्नादि सम्पत्तियों को त्याग देने में विलम्ब नहीं होता, किन्तु कलत्र, पुत्र प्रभृति

यदि अपने शरीर के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं, तो अप्रिय ही नहीं किन्तु शत्रु समझे जाते हैं।

किसी गृह में अग्नि लग रही है, पता चलता है कि अत्यन्त प्रिय पुत्र गृह के भीतर रह गया है। गृहपति अत्यन्त व्याकुल होता है, रुदन करता है, लोगों से कहता है—"भाई, चाहे कोई हमारा समस्त धन-धान्य रत्नादि ले ले, परन्तु हमारे प्रिय पुत्र को जलते हुए भवन से निकाल लाये।" यह सब कुछ होते हुए भी अपना शरीर इतना प्रिय है कि कोई अत्यन्त धन के लोभ से भी उसका नाश नहीं सहन कर सकता। जिसका प्रिय पुत्र है, वह स्वयं जलते हुए घर में प्रवेश नहीं करता; केवल बाहर दूर खड़ा तड़फड़ाता है। ठीक ही है, संसार के समस्त नाते इस देह के ही साथ हैं, उसके नष्ट होने पर समस्त नाते मिट जाते हैं। नहीं तो इस अपार संसार में अनन्त जन्म के देह-सम्बन्धियों का यदि स्मरण रहे तब कितनी माताएँ, कितने पिता और कितने पुत्र-कलत्रादि कुटुम्बी कहाँ-कहाँ हैं, उन सभी के सुख-दुःख में कितना सुख-दुःख देखना पड़े। एक ही जन्म के कुटुम्बियों के सम्बन्ध में क्या दशा हो रही है। अस्तु, देह के नष्ट होते ही स्त्री, पुत्र, धन-धान्य तथा अखण्ड साम्राज्य से सम्बन्ध छूट जाता है। कदाचित् दूसरे जन्म में किसी को स्मरण भी रहे कि यह साम्राज्य और विशाल धवलधाम सब मेरे ही हैं। पर अब बिना वर्तमान अधिपति की आज्ञा के उसे अपने ही निर्मित उस धवलधाम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं है और गत जन्म में उसके नियुक्त भृत्य ही उसे प्रवेश नहीं करने देते हैं। ठीक है, देह तक ही समस्त सांसारिक सम्बन्ध हैं। अतः समस्त पुत्र, कलत्रादि बहिरङ्ग पदार्थों की अपेक्षा देह प्रिय होता है। ऐसे ही देह की अपेक्षा इन्द्रियाँ, उनकी अपेक्षा मन, मन की अपेक्षा बुद्धि एवं बुद्धि से भी अहमर्थं और उससे भी अन्तरङ्ग विशुद्ध चिदात्मा प्रिय है।

इन्द्रिय-शक्ति के बिना शरीर मृतकप्राय हो जाने के कारण भाररूप हो जाता है। जब मन किन्हीं काञ्चन, कामिनी प्रभृति विषयों की ओर खिंच जाता है, तब प्राणी मनःसन्तोषार्थ देह और इन्द्रियों की भी परवाह नहीं करते। किसी प्रकार की अकीर्ति आदि से यदि मन को उद्वेग होता है, तब देहादि-त्याग के लिये विष या शस्त्र का प्रयोग किया जाता है। जब प्राणी मन की चञ्चलता से संतप्त होता है, तब उसके भी निग्रह का उपाय ढूँढता है और निश्चयात्मिका बुद्धि द्वारा संकल्प-विकल्पात्मक मन का भी निग्रह करता है। जब प्राणी को मन आदि करणग्राम के निरोध या निर्व्यापारता का आनन्द अनुभव होने लगता है, तब तो वह दुःखात्मक दृश्य के प्रतीति-निरोध के लिये बुद्धि को भी निरोध करके निगृहीत करने की चेष्टा करने लगता है।

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥"

इस रीति से क्रमशः आत्मा के सन्निहित अतएव अन्तरङ्ग बुद्ध्यादि के उद्वेग-निराकरण एवं अनुकूलता-सम्पादन करने के लिये बहिरङ्ग करणों का निग्रह किया जाता है। अध्यात्म शास्त्रों में मनोनाश वासनाक्षय प्रसिद्ध ही है। यहाँ तक कि जो यह 'अहं' पद का वाच्यार्थ है, वह भी अन्तःकरण के अहंकारांश से उपहित आत्मा का औपाधिक रूप है। अतः वह भी असह्य होने के कारण निर्ग्राह्य हो जाता है, क्योंकि 'अहं' पद का लक्ष्यार्थ रूप जो निरुपाधिक शुद्ध स्वरूप है वही मन, बुद्धि एवं अहमर्थ और उसके सुखित्व, दुःखित्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सर्व दृश्य का भासक और मिथ्याभूत समस्त भास्य के बाध का साक्षी, वस्तुतः भास्यभासकातीत, सर्वोपप्लव-विवर्जित, त्रिकालाबाध्य, स्वप्रकाश परमानन्द चिदात्मा है। उसके स्वाभाविक अखण्डानन्द की अभिव्यक्ति में 'अहमर्थ' भी प्रतिबन्धक ही है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि कुछ दार्शनिकों के मत में 'अहं' का वाच्यार्थ ही आत्मा है जो कि 'अहं कर्ता', 'अहं भोक्ता', 'अहं सुखी', 'अहं दुःखी' इस रूप से अनुभव में आ रहा है, अतः उसका नाश आत्मा का ही नाश है। मेरा देह, मेरी इन्द्रियाँ, मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा अहंकार, इस प्रकार जो ममता के आस्पद हैं, वे अनात्मा हैं, और मेरी बुद्धि सुस्थिर है, मैं अपनी बुद्धि द्वारा अपने मनको निगृहीत करूँगा, इस प्रकार जो 'अहंता' का आस्पद 'अहमर्थ' है वही शुद्ध आत्मा है। उससे परे जीव का अपना कोई स्वरूप नहीं है, अतः 'अहमर्थ' का नाश करना आत्मा ही का नाश करना है।

तथापि अभिज्ञ वेदान्ती का सिद्धान्त है कि 'अहं' का वाच्यार्थ आत्मा नहीं है, किन्तु लक्ष्यार्थ ही आत्मा है। अर्थात् जैसे अग्नि के सम्बन्ध से अग्नि की दाहकता, प्रकाशकता आदि शक्तियों से युक्त होने से लौहपिण्ड में अग्नि का भ्रममात्र होता है, शुद्ध निरुपाधिक अग्नि लौहपिण्ड से पृथक् है, वैसे ही आत्मा के घनिष्ठ संसर्ग से अहमर्थ (मैं) में प्रेमास्पदता और चेतनता अधिक प्रतीत होती है, अतएव उसमें आत्मा की भ्रान्तिमात्र है। वस्तुतस्तु मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा सुख, मेरा दुःख, मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी या केवल मैं, ये सभी भास्य हैं, इनकी प्रतीति होती है, इनका सुस्पष्ट भान होता है।

भास्य से भासक या भान पृथक् ही है। जिस रीति से चार्वाक प्रभृति को देह में ही आत्मबुद्धि हुई, क्योंकि आत्मा के ही पारम्पर्येण सम्बन्ध से देह में भी किञ्चित् चेतनता, इष्टता या प्रेमास्पदता भासित होती है और उसीसे उन अत्यन्त अज्ञ, लौकिक, पामर एवं चार्वाकों को देह-नाश में ही आत्म-नाश की बुद्धि हुई, उसी प्रकार 'अहमर्थ-नाश' में 'आत्म-नाश' की बुद्धि इतर दार्शनिकों को भी हुई। **'अहं श्यामो', 'अहं गौरः'** मैं काला हूँ, मैं गौर हूँ, स्थूल हूँ, कृश हूँ इस तरह स्थौल्यादि धर्मवान् देह में जैसे अहमर्थ के अभेद का अध्यास होता है, वैसे ही चिज्जड़ग्रन्थि अहमर्थ में चैतन्यानन्दघन भगवान् का अभेदाध्यास होता है।

इसी वास्ते सर्वस्पर्शविहीन ("स्पृश्यन्ते इति स्पर्शाः विषयाः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार समस्त दृश्य ही स्पर्श हैं) अर्थात् सर्वदृश्य-विहीन, परम सूक्ष्म, सर्वाव-भासक, स्वप्रकाश, चैतन्यानन्दघन, परम अभय भगवान् में अज्ञों को भय होता है। देखा जाता है कि प्राणियों को स्थूल पदार्थों का ही आधिक्येन भान होता है इसीलिये नील, पीत, हरित रूपों की जैसी स्फुट प्रतीति होती है वैसी अनेक रूपों का प्रकाश करनेवाली प्रभा की स्फुटता नहीं होती। प्रभा का प्रकाश करनेवाले नेत्रालोक का विज्ञान उससे भी अधिक दुर्लभ है। कोई ही यह समझता है कि जैसे प्रभा के न होने पर रूप का प्रकाश नहीं हुआ और प्रभा के होने पर रूप का प्रकाश हुआ, अतः प्रभा रूप से पृथक् है, वैसे ही नेत्र-निमीलन काल में प्रभा का भी भान नहीं था और नेत्रोन्मीलन काल में प्रभा की प्रतीति हुई, अतः नेत्र के उन्मीलन-काल में एक अति सूक्ष्म नेत्रालोक ही प्रभा पर व्याप्त होकर प्रभा का प्रकाशन करता है। अस्तु, इसके उपरान्त भी नेत्रालोक की मन्दता और पटुता का प्रकाश करनेवाला मानसालोक (मानस-प्रकाश) नेत्रालोक से पृथक् ही है, जिससे कि मेरी नेत्र-ज्योति मन्द है या तीव्र है, यह जाना जाता है। मनुष्य मन के काम, संकल्प, संशय आदि अनेक विकारों को जानकर निश्चयात्मिका बुद्धि से निश्चय करता है कि मैं स्थिर बुद्धि से मन और उसके विकारों को निरुद्ध करूँगा। यहाँ स्पष्टतया तीनों अंशों की प्रतीति होती है—जिसका निरोध या नाश करेंगे वह मन और उसके संशयादि विकार, जिससे निरोध करेंगे वह साधनरूपा निश्चयात्मिका बुद्धि जिसके विषय में उसकी बुद्धि मन्द या अत्यन्त सूक्ष्म है इस तरह के अनुभव होते हैं और जो बुद्धि द्वारा मन का निरोध करनेवाला है वह 'अहं' अर्थात् 'मैं'। इसी प्रकार से "अहं बुद्ध्या मनः संयच्छामि" (मैं बुद्धि से मन का नियन्त्रण करूँगा) ऐसे अनुभव में 'मैं', 'बुद्धि' और 'मन' इन तीनों की प्रतीति होती है। अतः ये सभी तो प्रतीति के विषय हो गये, इनकी प्रतीति या भान इनसे अवश्य पृथक् है, क्योंकि एक में प्रकाश्य-प्रकाशक भाव नहीं बन सकता। इसीलिये प्रकाश्य से प्रकाशक भिन्न होता है, यह बात लोक में प्रसिद्ध है।

प्रकाशान्तर-निरपेक्ष प्रकाशमान 'स्वयंप्रकाश' कहा जाता है। मन, बुद्धि और मैं का भासक, अकेला शुद्ध भान तो भास्य न होने से स्वयंप्रकाश है। अतः यह भान ही सर्वदा प्रकाशान्तर-निरपेक्ष भासमान होकर स्थिर है और तदतिरिक्त सभी भास्य अस्थिर हैं। इसीलिये जागर और स्वप्न में 'अहं' और 'बुद्धि' एवं 'मन' यद्यपि उपलब्ध होते हैं, परन्तु सुषुप्ति में इन सबका अभाव हो जाता है। उस समय भी जागर और स्वप्न में सकल दृश्य के भाव का और सुषुप्ति में समस्त व्यक्त दृश्य के अभाव का प्रकाश करनेवाला, एवं सर्व दृश्य के विलयन का आधारभूत, सुषुप्ति व गाढ़ निद्रा या अज्ञान का भासन करनेवाला, कूटस्थ भानरूप आत्मा ही विराज-मान रहता है। इसीका संकेत भागवत में इस तरह किया है—

"सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ॥"

इस प्रकार अखण्ड, अनन्त, परमसूक्ष्म वस्तु का बोध अत्यन्त दुर्लभ है। जिन स्थूल पदार्थों का बोध प्राणियों को है, उनके नाश में सर्वनाश या आत्मनाश की प्रतीति होनी युक्त ही है। इसीलिये श्री गौड़पादाचार्य भगवान् कहते हैं कि—
"अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिनाम्। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥"
सर्वस्पर्श, सर्वदृश्य-सम्बन्ध से रहित, भास्य-विवर्जित, परमसूक्ष्म, अखण्डानन्द रूप काल्पनिक सर्वभाव तथा अभावों का भासक, कूटस्थ भान आत्मा, तत्त्वज्ञ से भिन्न समस्त योगियों के लिये दुर्दर्श है, क्योंकि दृश्य ही जिनका सर्वस्व है, दृश्य से भिन्न स्वप्रकाश अखण्डानन्त द्रष्टा पर जिनकी कभी दृष्टि गयी ही नहीं, उन्हें दृश्य के नाश से परमानन्दसुधासिन्धु के सर्वतोभावेन भरपूर होने पर भी सर्वस्वनाश होने की ही प्रतीति होती है। किसी भिक्षुकी के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर किसी सम्राट् ने उसे साम्राज्ञी होने को कहा; किन्तु भिक्षुकी यह समझकर कि हमारी भिक्षा माँगने की सामग्री और भिक्षा का आनन्द चला जायगा, साम्राज्ञी बनने से डर गयी। कारण कि साम्राज्ञी के सुख की कल्पना कभी उसकी दृष्टि में हुई ही नहीं, उसे तो भिक्षा और उसके ही आनन्द का सर्वदा संस्कार रहा। ठीक इसी तरह जिन्हें कभी अखण्डानन्दमय, निर्विकार दृक् के अनन्त सौख्य की अनुभूति हुई ही नहीं, केवल कटु दृश्य के ही अक्षुण्ण संस्कार प्राप्त हो रहे हैं, उनको दृश्य ही सरस प्रतीत होता है।

परमात्मस्वरूप उन्हें उद्वेजक प्रतीत होता है। जैसे सेंधा नमक का ढेला पानी में मिल जाने से नष्ट हुआ कहा जाता है, वास्तव में उपाधि के साथ संसर्ग मिटने से केवल उसका औपाधिक रूप ही मिटता है, वैसे ही पञ्चकोशादि उपाधि मिटने से चेतन में तत्कृत अवच्छेद ही मिटता है, आत्मतत्त्व शुद्ध निर्विकार भानरूप से तो विद्यमान ही रहता है। जैसे नीम के कीड़े को नीम में ही स्वाद आता है और मिसरी या चीनी से उसे उद्वेग होता है, वैसे ही दृश्य-रागी को अत्यन्त कटु दृश्य में ही प्रीति होती है। सर्व दृश्य-रूप उपद्रव से रहित, परमानन्दघन भगवान् से उन्हें घबराहट होती है। जैसे पुत्र-कलत्रादि कुटुम्ब के अनुरागी विषयी प्राणियों को स्वर्ग या वैकुण्ठ भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार सप्रपञ्च सुख के रोगियों को निरावरण अद्वैतानन्द में रुचि नहीं होती। इसीलिये वे अद्वैत, अखण्ड, अनन्त, ब्रह्मानन्दरूप मुक्ति से घबराते हैं। किसी-किसी का तो यहाँ तक कथन है कि चाहे शृगाल भले ही हो जायँ परन्तु अद्वैतियों का निर्विशेष मोक्ष हमें नहीं चाहिये। ठीक ही है, विषयी का तो सर्वस्व विषय ही है। अतः जहाँ विषय का अत्यन्त अभाव हो ऐसे ब्रह्म या मोक्ष से उनका क्या सम्बन्ध ? जिस मोक्ष में नृत्य, वादित्र, गीत और सरस रूप एवं मधुर रस की अनुभूति नहीं ऐसे नीरस, निर्विषय, मोक्ष में उन्हें

शुष्क पाषाण-बुद्धि क्यों न हो ? वस्तुतः यह उनके संस्कारों का ही दोष है, सप्रपञ्च सातिशय, क्षुद्र साधन-परतन्त्र सुख का ही उन्हें अनुभव है। उन्हींमें उन्हें संस्कार या राग है, तो फिर तद्विलक्षण, निष्प्रपञ्च, निरतिशय, अनन्त, स्वतन्त्र, आनन्दाम्बुधि की कल्पना भी उनके मन में कैसे हो ?

अति स्वल्प भी विवेचन करने पर विवेकियों को निरायास, निष्प्रपञ्च, अपरिच्छिन्न आनन्द की महत्ता का ज्ञान हो जाता है। जब किसी रसिक को अत्यन्त अभिलषित रसमय पदार्थ एवं रसमयी कान्ता की प्राप्ति होती है, तब किञ्चित् काल उसे अत्यन्त हर्ष होता है। परन्तु अन्त में उसे छोड़कर वही पुरुष सोने के लिये प्रवृत्त होता है। क्यों ? यह क्या बात है ? जिस प्रियतमा कान्ता के मिलन के लिये पहले उसे इतनी व्यग्रता, इतनी व्याकुलता थी, आज उसी प्रेयसी के सम्मिलन में केवल उसीमें उसकी तल्लीनता होनी चाहिये, पर अब वह निद्रा को बुलाता है। मनुष्य की तो कौन कहे, ब्रह्मा और विष्णु की भी जिनके सन्निधान में दिव्यातिदिव्य रमण-सामग्रियाँ विद्यमान हैं, द्वैत प्रपञ्च में जितनी भी उच्च से उच्च कोटि की सौख्य-सामग्रियाँ हैं, वे सभी वहाँ विद्यमान हैं, फिर भी उन अद्भुत सप्रपञ्च सौख्यों को छोड़कर सुषुप्ति में क्यों प्रवृत्ति होती है ? शायद इसीलिये कि वहाँ निष्प्रपञ्च, अद्वैत सुख की अनुभूति होती है, जिसकी एक छाया मात्र ही सातिशय प्रपञ्च सुख में होती है।

किं बहुना भगवद्भावापन्न, अत्यन्त उच्च कोटि के अनुरागी, जिन्हें अपने प्रियतम प्राणधन के वियोग में मरण से भी अनन्त कोटि गुणित संताप होता है; जिनके क्षणमात्र के प्रियतम-वियोगजन्य तीव्र ताप को निरीक्षण करके अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त पाप यह सोचकर संताप से दुर्बल हो जाते हैं कि हम सभी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत अनन्त प्राणियों के अनन्त पाप एकत्रित होकर भी, अनन्त कल्पों में भी रौरवादि महानरकों द्वारा इतना सन्ताप नहीं सम्पादन कर सके, जितना सन्ताप (कष्ट) इन्हें एक क्षण के प्रियतम-वियोग-जन्य तीव्र ताप में हुआ है। और जिन प्रेमियों को केवल ध्यान में प्राप्त प्रियतम के मानस आलिङ्गन में ऐसा अद्भुत आनन्द होता है, जिसे देखकर अनन्त ब्रह्माण्ड के पुण्यपुञ्ज यह सोचकर क्षीण हो जाते हैं कि हम सभी पुण्य मिलकर भी क्या अनन्त कल्पों में किसीको इतना आनन्द दे सकते हैं, जितना आनन्द इन्हें अपने प्रियतम के मानस परिष्वङ्ग से एक क्षण में हुआ है ? वे ही प्रेमी सौभाग्यवश जब अपने प्रियतम के चिर अभिलषित उस मङ्गलमय धाम में पहुँच जाते हैं जहाँ कहीं मरकतमयी भूमि पर सुवर्ण-वर्णा लतावल्ली एवं अद्भुत अनन्त ज्योतिर्मय वृक्ष हैं। कहीं कनकमयी भूमि पर मरकतमयी लताप्रतान एवं परम मनोहर श्यामल दूर्वाएँ हैं। अपनी दिव्य दीप्तियों से सूर्य-चन्द्र की दीप्तियों को भी तिरस्कार करनेवाले मणि तथा रत्न प्रकाश कर

रहे हैं, हंस, सारस, कारण्डव, पिकादि कलरव कर रहे हैं; कहीं नाना प्रकार के अद्भुत खग-मृग विचरते हैं। कहीं मरकत मणियों के समान वृक्षों पर कनकमयी वल्लियाँ शोभायमान हो रही हैं, कहीं कनकमय मञ्जुल-कुञ्जों पर मरकतमयी लताएँ विराजमान हैं, कहीं पद्मराग मणि के वृक्ष स्फटिकमयी लताओं से परिवेष्टित हैं और अनेक प्रकार की विचित्र मणिमयी शाखाओं से शोभित हो रहे हैं। प्रत्येक शाखा अद्भुत अनन्त रङ्गों के विचित्र मणिमय पल्लवों से भूषित है। प्रत्येक पल्लव नाना रङ्गों के पुष्पस्तवकों से शोभायमान है तथा प्रत्येक पुष्प पर नाना प्रकार सौगन्ध्यमधुलुब्ध भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं। नाना प्रकार की दीप्तियों से दीप्यमान प्रकट पुष्पों से शोभित मधुमयी मनोरम लताएँ विलक्षण शोभा फैलाती हैं। समस्त वृक्ष और लताएँ एक काल में ही मुकुलित, प्रफुल्लित, फलित एवं पक्व फलों से भी युक्त हो रहे हैं। वहाँ के अद्भुत सौन्दर्य, माधुर्यादि गुणों का वर्णन शारदा के लिये भी अशक्य है। ऐसे मङ्गलमय धाम में प्रेमी अपने सर्वस्व चिराभिलषित प्रियतम का परिष्वङ्ग करके फूले नहीं समाते हैं।

परन्तु यदि प्रियतम और उनकी मङ्गलमयी लीला की मञ्जु सामग्री अखण्ड अनन्त आनन्दस्वरूप ही है, तब तो उस अपरिमित रस के आस्वादन से उनको विरति नहीं हो सकती, क्योंकि वह अद्वैत आनन्दैकरस ही हैं, दूसरी वस्तु नहीं। यदि वस्तुतः पारमार्थिक अखण्डैकरस अद्वैत आनन्द से पृथक् है, तब तो वही बात हुई कि जैसे लोक में किसीको दुष्प्राप्य धवलधाम और मनोहर उद्यान देखकर उनकी प्राप्ति के लिये बड़ी उत्कण्ठा होती है और उनके मिलने पर कुछ क्षण बड़ा हर्ष भी होता है, परन्तु कुछ ही काल में चित्त अन्य विषयों के चिन्तन में व्यग्र हो जाता है और वे समस्त सौख्य-सामग्रियाँ सामने होने पर भी अपना प्रभाव उसके चित्त पर नहीं डाल सकतीं। फिर तो वह और ही चिन्ता में ग्रस्त हो जाता है। दूसरे की दृष्टि में वह बहुत सुखी होने पर भी अपनी दृष्टि में दुःखी होता है। ठीक वैसे ही थोड़ी देर में नाना प्रकार के रसास्वादन के अनन्तर मन कुछ और चाहने लगता है। वहाँ भी यदि नींद में बाधा पड़ी तब तो प्रजागर दोष समझा जाने लगता है। कहने का आशय यही कि प्रियतम से मिलकर भी प्रेमी की सोने के लिये प्रवृत्ति होती है। वस्तुतः जिनके पास जितनी अधिक भोग-सामग्री है, वे उतना ही अधिक सोने में प्रवृत्त होते हैं। यह सब इसीलिये कि चाहे कितना ही सुख क्यों न हो, परन्तु वह दुःखरूप ही है। दृश्यदर्शन में श्रम है, अतः उससे परिश्रान्त होकर प्राणी निरायास, अखण्ड, आनन्द ब्रह्म में विश्रान्ति चाहता है। वास्तव में सभी तत्त्व अपने अधिष्ठानभूत परमात्मा से वियुक्त होकर संतप्त होते हैं। जैसे किसी सूत्र में बँधा हुआ कोई पक्षी प्रतिदिशा में भ्रमण करने से परिश्रान्त होकर विश्रान्ति के लिये, बन्धनसूत्र के आश्रय काष्ठ का ही समाश्रयण करता है, वैसे ही नाना प्रकार

के कर्मों से परतन्त्र होकर जीव, जाग्रत एवं स्वप्न की अवस्थाओं में, स्वाश्रयभूत प्रभु से वियुक्त होकर, भिन्न-भिन्न विषयों में भटकता है। जाग्रत् एवं स्वप्न के हेतुभूत अविद्या, काम कर्मों के क्षीण होने पर, वह पुनः विश्रान्ति के लिये भगवान् का ही अवलम्बन करता है। श्रुतियों में जीव को प्रभु का अंश बतलाया है और कहा है कि जैसे अग्नि से विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) का निर्गम होता है, उसी तरह परमात्मा से जीवों का निर्गम होता है। **"तद्यथा अग्नेर्विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे जीवाः सर्वे लोकाः।"**

निष्कल, निरवयव, अखण्ड, अनन्त परमात्मा में छेदन-भेदनादि द्वारा किसी तरह से भी खण्ड होना असम्भव होने से मुख्य अंश-अंशि भाव तो सम्पन्न नहीं होता। अतः काल्पनिक अंश-अंशि भाव लोग मानते हैं। अन्यान्य लोग कहते हैं कि जैसे चन्द्रमा का शतांश शुक्र है, वैसे ही परमात्मा का अंश जीव है। इनके मत में **"तत्सदृशत्वे सति ततो न्यूनत्वम्"** यही अंश-कथन का आशय है। परन्तु अद्वैतवादियों का कहना है कि चन्द्रमा का और शुक्र का अंश-अंशि भाव बहुत बाह्य एवं औपचारिक है। अतएव शुक्र का चन्द्रमा से उद्गम न होने से उसके साथ शुक्र का कोई विशेष सम्बन्ध होना सिद्ध नहीं होता, किन्तु परमात्मा से उद्गम और उससे विशेष सम्बन्ध रखनेवाले जीव का अंशांशिभाव अन्तरङ्ग ही होना चाहिये। अतः जैसे घटोपाधि से घटाकाश महाकाश का अंश कहा जाता है, वायु उपाधि से तरङ्ग महासमुद्र का अंश है, उसी तरह अविद्या या अन्तःकरण उपाधि से जीव परमात्मा का अंश कहा जाता है। उपधियों के विक्षोभ में उपहित का अनुपहित से पार्थक्य और उनकी उपशान्ति में उपहित का अनुपहित से ऐक्य होता है। जिस समय आकाश से वायु-जलादि क्रमेण घट उत्पन्न होता है, उस समय घटाकाश की उत्पत्ति एवं महाकाश से उसके पार्थक्य की प्रतीति होती है। घट का विलयन होने पर घटाकाश का महाकाश के साथ सम्मिलन प्रतीत होता है। वायु के स्पन्दनकाल में महासमुद्र से तरङ्ग की उत्पत्ति एवं उसकी समुद्र से भिन्नता प्रतीत होती है और वायु के निःस्पन्दनकाल में तरङ्ग का विलयन प्रतीत होता है। निरावरण तथा द्रवीभूत जल की अभिव्यक्ति में बिम्ब से प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति एवं बिम्ब से भिन्नता प्रतीत होती है, और जल के सावरण होने पर या शैत्ययोग से घनीभूत होने पर प्रतिबिम्ब की बिम्बभावापत्ति होती है। इन सभी उदाहरणों से केवल यही बात दिखलायी जाती है कि जैसे स्वभाव से घटाकाश, तरङ्ग तथा प्रतिबिम्ब महाकाश, महासमुद्र एवं बिम्ब से पृथक् नहीं हैं, उनसे भिन्नता एवं विलक्षणता उपाधि से प्रतीत होती है, वैसे ही जीव स्वभावतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है। उसमें भिन्नता एवं परमात्मा से विलक्षणता केवल उपाधियों से प्रतीत होती है। जैसे महाप्रलय में समस्त प्रपञ्च समष्टि सबीज ब्रह्म में विलीन होता है, वैसे ही सुषुप्ति में भी समस्त प्रपञ्च का विलयन

श्रुति ने कहा है। अतः सुषुप्ति में उपाधियों के विलीन होने पर जीव परमात्मा से मिलता है। जब तक जल निरावरण एवं द्रुत रहता है, तब तक उसकी चञ्चलता एवं मलिनता से प्रतिबिम्ब भी चञ्चल एवं मलिन प्रतीत होता है। ऐसे ही अन्तः-करण जब तक निरावरणस्वरूपेण व्यक्त रहता है, तब तक उसमें प्रतिबिम्बित चिदा-नन्दतत्त्व भी उसकी व्याकुलता एवं मलिनता से व्याकुल एवं मलिन सा रहता है। यही बात **"ध्यायतीव लेलायतीव"** इस श्रुति में कही गयी है। परन्तु जिस समय अविद्यापरिणाम अन्तःकरण अविद्या में विलीन हो जाय या निद्रारूप गाढ़ आवरण से आवृत हो जाय, उस समय जैसे जल के सावरण एवं घनीभाव में प्रतिबिम्ब बिम्ब ही हो जाता है, बिम्ब से पृथक् रहता ही नहीं, अतः उससे किसी प्रकार के अनर्थ का सम्बन्ध नहीं होता; ठीक वैसे ही सुषुप्ति में जीव परमात्मा में मिल जाता है, पृथक् उसका स्वरूप ही नहीं रहता। अतएव किसी प्रकार के अनर्थ का योग उस समय उसको नहीं होता। इसीलिये श्रुति **"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति"** इत्यादि वचनों से उस स्थिति को स्पष्ट सिद्ध कर रही है। जीव जाग्रत् और स्वप्न में कर्मों के वश होने से अद्वैत निष्प्रपञ्च परमात्मसुख से वञ्चित होकर द्वैतरूप दुःखसागर में भटकते-भटकते परिश्रान्त हो जाता है और विश्रान्ति के लिये फिर कर्मों के उपरत होने पर 'सत्'पदवाच्य सबीज परमात्मा में मिलता है। अतः दृश्य में, द्वैत में वस्तुतः सुख का लेश भी नहीं है, केवल अज्ञों ने भ्रान्ति से उसमें सुख की कल्पना की है।

लौकिक विषयानन्द में भी जहाँ जितना भेद भाव मिटता है, वहाँ उतना ही अधिक आनन्द व्यक्त होता है। चञ्चल चित्त में अधिक मात्रा में द्वैत का भान होता है, अतः उस अवस्था में अधिक दुःख होता है। अभिलषित विषय की प्राप्ति में तृष्णा-कण्टक के अपगम से चित्त में स्वस्थता, एकाग्रता एवं कुछ अन्तर्मुखता होती है, कुछ मात्रा में द्वैत मिटता है, अतएव कुछ मात्रा में आनन्द की प्राप्ति होती है। समाधि में द्वैत की प्रतीति अधिक मिटती है, अतएव वहाँ अधिक आनन्द मिलता है। सौषुप्तसुख के भी उत्कर्ष में द्वैत की अप्रतीति हेतु है। अतएव वहाँ दृष्टान्त भी उसी ढंग का है— **"तद्यथा प्रियया भार्यया सम्परिष्वक्तो नान्तरं किञ्चन वेद न बाह्यम्"** अर्थात् जैसे प्रियतमा से विप्रयुक्त कोई नायक चिरकाल से अभिलषित अपनी प्रेयसी की प्राप्ति होने पर उसके परिरम्भण से आनन्दोद्रेक में बाह्य-आभ्यन्तर सर्वविध दृश्य को भूल जाता है; जगत् क्या है, मैं क्या और कहाँ हूँ इसका उसे ज्ञान ही नहीं रहता वैसे ही जागर एवं स्वप्न के द्वैत प्रपञ्च से उद्विग्न जीव भी निष्प्रपञ्च प्राज्ञ परमात्मा के परिरम्भण से दृश्य क्या और कहाँ है और मैं क्या हूँ, इत्यादि आन्तर-बाह्य सब प्रकार के प्रपञ्च को भूल जाता है।

दुःखरूप द्वैत में केवल अपेक्षाकृत सुख की कल्पना है। रज-तम के उद्रेक में मोह-विषाद का विस्तार होता है। उसकी अपेक्षा सत्त्व के उद्रेक से अन्तर्मुखता में

अर्थात् द्वैत-प्रतीति की कमी में सुख का व्यवहार होता है। और तो क्या कहें, अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् को भी दृश्य की प्रतीति में सन्ताप ही होता है। अतएव श्रुति ने कहा है कि "द्वैत का ज्ञान होना ही परमात्मा का तप है"—"**यस्य ज्ञानमयं तपः**"। जैसे हम सबके लिये कृच्छ्रादिरूप तप है, वैसे ही परमात्मा के लिये द्वैत ज्ञान ही तप है। यह ठीक ही है, क्योंकि जो बात बहिर्मुखों के लिये नगण्य है वही अन्तर्मुखों को और ही प्रकार से अनुभूत होती है। देखते ही हैं कि और अङ्गों में दण्ड के आघात से भी उतना कष्ट नहीं होता, जितना नेत्र में ऊर्णा तन्तु के निक्षेप से होता है। जिन दोषों एवं दृश्य प्रतीतियों से बहिर्मुखों को कुछ भी सन्ताप नहीं होता, उन्हींसे अन्तर्मुख योगियों को बहुत विक्षेप होता है। तो फिर योगेश्वर भगवान् के लिये दृश्यदर्शन कृच्छ्रादिकों की तरह घोर तप हो तो इसमें क्या आश्चर्य है।

कठोरों के लिये जो कुछ नहीं, वही सुकुमारों के लिये बहुत है, इसीलिये आचार्यों ने कहा है कि—

"निःश्वसितमस्य वेदा विक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः॥"

अर्थात् भगवान् के निःश्वास से ही वेदों का प्रादुर्भाव होता है, वीक्षण से ही पञ्चभूतों की सृष्टि होती है, स्मित (मन्दहास) से ही सकल चराचर जगत् बन जाता है और प्रभु की सुषुप्ति में ही समस्त प्रपञ्च का प्रलय हो जाता है। प्रभु के वीक्षण एवं मन्दहास (मुसकुराहट) से कितने अद्भुत अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों का प्राकट्य होता है। प्रभु के वीक्षणादि में जैसा अद्भुत प्रभाव है, वैसे ही प्रभु की सुकुमारता भी अद्भुत है। अतः वीक्षण ही में उन्हें इतना श्रम तथा कष्ट होता है कि वही तप हो जाता है। बस, वीक्षण और मन्दहास में ही परिश्रान्त होकर वे विश्रान्ति के लिये सुषुप्ति में पहुँच जाते हैं। वीक्षण करके थोड़ा सा मुस्कुरा देना और सो जाना, बस इतना ही उनका कार्य है।

अब सहृदय महापुरुष कल्पना करें कि अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक श्रीभगवान् को भी जब वीक्षण और मुसकुराहट के अनन्तर ही विश्रान्ति के लिये सुषुप्ति की आवश्यकता है तब फिर द्वैत में सुख है या अद्वैत में ? द्वैत में चाहे जहाँ भी जितना भी जो कुछ भी सुख है, वह निष्प्रपञ्च अद्वैत ब्रह्मसुख की अपेक्षा न्यून ही नहीं अपितु दुःखरूप है। सर्व सौख्य-सम्पन्न द्वैतदर्शन से उद्विग्न होकर अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् विश्रान्ति के लिये अद्भुत अद्वैत सुख का समाश्रयण करते हैं, फिर उनके भक्तों को दुःखरूप द्वैत में ही आनन्द हो यह कैसे हो सकता है ? अतः यह सिद्ध हुआ कि समस्त जीवों एवं उन सबके नियामक तथा आराध्य भगवान् को द्वैतदर्शन में सुख का लेश भी नहीं है। जो कुछ भी सुख की कल्पना है, वह केवल राजस-तामस भावों

के उद्रेक से चाञ्चल्य और द्वैतदर्शन के आधिक्यरूप दुःख की अपेक्षा से ही है। जितनी-जितनी प्रपञ्च की निवृत्ति एवं अन्तर्मुखता होती है, उतने-उतने अंशों में सुख की कल्पना है। सुषुप्ति में द्वैतदर्शन की पर्याप्त निवृत्ति होती है, अतः वहाँ सुख भी पर्याप्त होता है। इसीलिये जीव और उनके भगवान् दोनों की प्रवृत्ति स्वरूपभूत निष्प्रपञ्च सुख के लिये होती है।

जिस जीव को एक दिन नींद नहीं आती, वह घबरा जाता है और उसे प्रजागर दोष समझकर नींद के लिये सहस्रों उपचार करता है। उस समय चाहे कितनी भी दिव्यातिदिव्य सौख्यसामग्रियाँ क्यों न प्राप्त हों, सबकी सब बेकार प्रतीत होती हैं, उनकी प्रतीति भी खटकती है। सब कुछ छोड़कर केवल सोने के ही लिये जीव व्यग्र हो उठता है। यह क्या निष्प्रपञ्च अद्वैत सुख की महत्ता नहीं है? अब कृतप्रज्ञ यह सोच सकते हैं कि जब सावरण निष्प्रपञ्च अद्वैत सुख में सबका इतना आकर्षण है, तब निरावरण, निरतिशय, निष्प्रपञ्च अद्वैत ब्रह्मसुख में सभी का कितना प्रेम होगा? यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि सौषुप्त निष्प्रपञ्च ब्राह्मसुख सावरण एवं सबीज है, इसीलिये इसे प्राप्त कर भी जीवों का पुनरुत्थान होता है और जीवों को ही कर्मफल देने के लिये लीलया भगवान् का भी उत्थान होता है। अधिष्ठान के साक्षात्कार से जिन लोगों के अज्ञानरूप बीज की निवृत्ति होती है उन निर्बीज ब्रह्मभावापन्नों का पुनरुत्थान नहीं होता।

सबीज से ही समस्त प्रपञ्च का प्रादुर्भाव होता है—जैसे अखण्ड, अनन्त नभोमण्डल में एक अतिक्षुद्र मेघ का अङ्कुर होता है, उसी तरह अनन्त, अखण्ड, परिपूर्ण परमानन्द स्वप्रकाश भगवान् के अति स्वल्प प्रदेश में अनन्त अचिन्त्य दिव्य महामाया शक्ति होती है। उसके भी अति स्वल्प प्रदेश में अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-जननी अनन्त अवान्तर शक्तियाँ होती हैं। एक-एक शक्ति में सत्व, रज, तम के प्राधान्याप्राधान्य से विद्या-अविद्या तामसी प्रकृति आदि अनेक भेद हो जाते हैं।

रज और तम के लेश से भी अनाक्रान्त अतएव विशुद्धसत्त्वप्रधाना शक्ति को माया या विद्या कहते हैं; एवं रज तथा तम से संस्पृष्ट अविशुद्ध सत्त्वप्रधाना शक्ति को अविद्या कहते हैं, और तमःप्रधाना शक्ति तामसी प्रकृति कही जाती है। यद्यपि कहीं-कहीं मूल प्रकृति में भी माया और अविद्या पद का प्रयोग होता है, जैसे **"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"** इत्यादि, तथापि वह कार्य और कारण के अभेद से औपचारिक समझना चाहिये। जैसे मीमांसक गोविकार पय में भी गो-पद का प्रयोग उपचार से मानते हैं, यथा **"गोभिः श्रीणीत मत्सरम्"** वैसे ही कहीं कार्य का प्रयोग कारण में हो जाता है। अतः मूल महाशक्ति की अवान्तर शक्तियों के विभाग में विद्या-अविद्या आदि पदों का प्रयोग शास्त्रसम्मत है।

विद्या या मायारूप उपाधि से उपहित चैतन्य ईश्वर-चैतन्य है और अविद्या उपाधि से उपहित चैतन्य जीव-चैतन्य है। तामसी प्रकृति से भोग्यवर्ग का प्रादुर्भाव

होता है। इस तामसी प्रकृतियुक्त परमात्मा से महत्तत्त्व एवं महत्तत्त्व से अहंतत्त्व की उत्पत्ति होती है। यद्यपि श्रुतियों में "**तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः**" इत्यादि वचनों द्वारा सीधे परमात्मा से ही आकाश की उत्पत्ति होना प्रतीत होता है तथापि "**बुद्धेरात्मा महान् परः, महतः परमव्यक्तं अव्यक्तात्पुरुषः परः**" इत्यादि श्रुतियां से ज्ञात होता है कि "परमात्मा और उनकी शक्ति अव्यक्त के अनन्तर एवं आकाश के पहले महत्तत्त्व तथा अहं तत्त्व नामक पदार्थ भी हैं।" गीता ने भी "**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च**" इस श्लोक से अपञ्चीकृत (परस्पर असम्मिलित) आकाशादि पृथिव्यन्त पञ्चमहाभूत एवं अहंकार (अहंतत्त्व), बुद्धि (महत्तत्त्व) तथा 'अव्यक्त तत्त्व' इन आठ प्रकृतियों के रूप में उन्हींका वर्णन किया है। उन्हींका "**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥**" इस श्लोक में भी वर्णन किया है। इस श्लोक में मन शब्द से आकाश के कारण अहंतत्त्व को ही समझना चाहिये, बुद्धि पद से अहंतत्त्व का कारण महत्तत्त्व को समझना चाहिये और अहंकार से महत्तत्त्व का कारण अव्यक्त को समझना चाहिये क्योंकि ऐसा ही प्रकृति-विकृति भाव सर्वत्र प्रसिद्ध है। यथाश्रुत मन, बुद्धि एवं अहंकार का कार्य-कारण भाव कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, और यहाँ "**भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**" से भिन्न-भिन्न आठ प्रकृतियाँ विवक्षित हैं। यह तभी सम्भव है, जब भूमि का जल से, जल का अनल (तेज) से, अनल का वायु से एवं वायु का आकाश से, आकाश का अहंतत्त्व से, उसका महत्तत्त्व से और महत्तत्त्व का अव्यक्त तत्त्व से आविर्भाव माना जाय। अतएव "**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च**" इस गीता-वचन में स्पष्ट ही अहंतत्त्व, महत्तत्त्व तथा अव्यक्ततत्त्व का वर्णन है। इस तरह श्रुति-स्मृति के तात्पर्य विवेचन से स्पष्ट विदित होता है कि साक्षात् परमात्मा से आकाश की उत्पत्ति नहीं हुई, अपितु महत्तत्त्व आदि के क्रम से ही हुई है। अतएव जहाँ कहीं सत्तत्त्व परमात्मा से सीधे तेज की ही उत्पत्ति श्रुत है, वहाँ भी आकाश एवं वायु की उत्पत्ति के अनन्तर आकाश-वायुरूप में आविर्भूत परमात्मा से तेज की उत्पत्ति समझनी चाहिये।

श्रुतियों में जो "**तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम्**" (परमात्मा ने ईक्षण=निरीक्षण (विचार) किया कि एक मैं बहुत हो जाऊँ) इत्यादि रूप से ईक्षण और अहं का उल्लेख मिलता है, इससे भी अहंतत्त्व एवं महत्तत्त्व का ही द्योतन होता है। किसी कार्य के निर्माण में ज्ञान एवं अहंकार की आवश्यकता होती है। व्यष्टि द्वारा ही समष्टि भाव समझे जाते हैं। समष्टि तत्त्व को बुद्ध्यारूढ़ करने के लिये प्रथम व्यष्टि का ही अवलम्बन करना पड़ता है। इसी वास्ते श्रुति ने ही "**स एकाकी न रेमे**" (उस पुरुष को एकाकी होने के कारण अरति हुई) इसी कारण अब भी प्राणियों को अकेले होने पर रमण, आनन्द नहीं होता। "**तस्मादेकाकी न रमते**" ऐसा कहा है। यही कारण है कि उपासनाओं में जैसे प्रत्यक्ष शालग्राम में अप्रत्यक्ष विष्णु की बुद्धि की

जाता है, वैसे ही प्रत्यक्ष व्यष्टि जाग्रत् अवस्था एवं स्थूल शरीराभिमानी विश्व में समष्टि स्थूल प्रपञ्चाभिमानी वैश्वानर की दृष्टि एवं व्यष्टि, स्वप्नावस्था एवं सूक्ष्म शरीराभिमानी तैजस में समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्चाभिमानी हिरण्यगर्भ की दृष्टि, तथा व्यष्टि सुषुप्ति अवस्था एवं अज्ञानरूप कारणशरीराभिमानी प्राज्ञ में समष्टि अज्ञानरूप कारणशरीराभिमानी कारण ब्रह्मरूप अव्यक्त की दृष्टि कही गयी है। इससे विपरीत विराट् में विश्व-दृष्टि नहीं कही गयी क्योंकि समष्टि अप्रत्यक्ष है।

आकाश के एक देश में छोटी सी बादल की एक टिकुली देखकर आकाशव्यापी महामेघमण्डल की कल्पना की जाती है। जैसे स्वल्प परिमाणवाले दीप्तिमान् अग्नि को देखकर अखण्ड ब्रह्माण्डव्यापक दीप्तिमान् अग्नि की कल्पना की जाती है, वैसे ही अनुभूत व्यष्टि अज्ञान एवं ज्ञान तथा अहंकार से समष्टि अज्ञान तथा महत्तत्त्व एवं अहंतत्त्व का भी बुद्धि में आरोहण हो सकता है। समस्त तत्त्व क्रमशः परमात्मा से उत्पन्न और उसीमें लीन होते हैं। सुषुप्ति में भी प्रपञ्च का लय प्रतीत होता है। हम स्पष्ट रूप से देखते हैं कि घोर सुषुप्ति में सोया हुआ पुरुष न कुछ जानता है, न उसे अहंकार होता है और न वह कुछ कार्य कर सकता है, क्योंकि समस्त इन्द्रियगण और अहंकार उस समय अज्ञान में लीन होते हैं। "**सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते**" इसी वास्ते सुषुप्ति अवस्था में रहनेवाला आत्मा ही ब्रह्म है, ऐसा प्रजापति के उपदेश को सुनकर इन्द्र को यही अनुपपत्ति प्रतीत हुई थी कि सुषुप्ति में अपने या दूसरे किसीका तो ज्ञान होता नहीं, फिर इसमें पुरुषार्थ ही क्या है? यहाँ भी अहंकारादि का आत्यन्तिक लय नहीं है, क्योंकि जागर में उनकी पुनः प्रतीति होती है। अस्तु, यह तो बहुत ही प्रसिद्ध है कि सुषुप्ति दशा में जीव को कुछ भी ज्ञान नहीं होता। परन्तु इस बात को भी विज्ञ पुरुष ही समझ सकते हैं कि "मैं सुखपूर्वक सोया और कुछ भी नहीं जाना।"—इस प्रकार की जो स्मृति सुषुप्ति से उत्थित पुरुष को होती है, यह भी बिना अनुभव के असम्भव है, क्योंकि बिना अनुभव के कोई स्मरण नहीं होता। अतः सुषुप्तोत्थ पुरुष के स्मरण से निश्चय होता है कि सुषुप्ति में गाढ़ निद्रा एवं सौषुप्त-सुख का प्रकाशक कोई स्वाभाविक अखण्ड नित्य विज्ञान अवश्य था। यहाँ जो लोग यह कहते हैं कि सुषुप्ति में कोई भावरूप सुख या अज्ञान नहीं होता किन्तु दुःख के अभाव एवं ज्ञान के अभाव में ही सुख एवं अज्ञान का व्यवहार होता है, उनको यह बतलाना चाहिये कि ज्ञानाभाव का ज्ञान कैसे होगा? अभाव के ज्ञान में अनुयोगी (अधिकरण) एवं प्रतियोगी (जिसका अभाव हो) का ज्ञान आवश्यक होता है। जैसे घटाभाव जानने के लिये अनुयोगी (घटाभाव के अधिकरण भूतलादि) तथा प्रतियोगी (घट) इन दोनों का ज्ञान आवश्यक होता है। अन्यथा किसका अभाव कहाँ है, ऐसी जिज्ञासा शान्त नहीं होती।

यदि सुषुप्ति में ज्ञानाभाव के अधिकरण एवं उसके प्रतियोगी का ज्ञान रहा हो, तब उस ज्ञान के होते हुए, वहाँ ज्ञानाभाव कैसे कहा जा सकता है? जिस

भूतल में कोई भी घट हो वहाँ घटाभाव का व्यवहार कैसे हो सकता है ? यदि सुषुप्ति में ज्ञानाभाव के अनुयोगी एवं प्रतियोगी का ज्ञान नहीं था, तब तो उस ज्ञाना-भाव की अनुपलब्धि या प्रत्यक्ष द्वारा कथमपि ज्ञान नहीं हो सकता है।

अतः आत्मस्वरूप का आवरण करनेवाला अज्ञान पूर्वकथनानुसार भाव रूप ही है। जैसे सूर्य के आवरक मेघ का प्रकाश सूर्य से ही होता है, उसी तरह नित्य विज्ञानानन्दघन आत्मा के आवरक अज्ञान का प्रकाश साक्षी-रूप आत्मा से ही होता है। अस्तु, इस प्रसङ्ग का स्पष्टीकरण अन्यत्र किया जायगा। प्रकृत प्रसङ्ग यही है कि सुषुप्ति दशा में निद्रा या अज्ञान से समावृत साक्षी द्वारा अज्ञान का प्रकाश होता है। अहंकार आदि वहाँ नहीं होते। सुषुप्ति के अनन्तर प्रथम निद्रा की निवृत्ति में कुछ ऐसा ज्ञान होता है, जिसमें किसी तरह के विशेष विकल्प का स्फुरण नहीं होता। यहाँ दो स्थितियाँ हैं—विषय-विशेष के स्फुरण के बिना वौद्ध ज्ञान होता है, जिसे व्यष्टि महत्तत्त्व कह सकते हैं; जिसके अनन्तर अहंकार का उल्लेख होता है, इसीलिये अज्ञान से ज्ञान की उत्पत्ति मानी जाती है। सुषुप्ति में अज्ञान ही होता है और उसके अव्यवहित उत्तर जागर या स्वप्न में ही कुछ ज्ञान होता है। समष्टि अज्ञान रूप माया से महत्तत्त्व की उत्पत्ति होती है। जैसे अव्यक्त से व्यक्त का प्रादुर्भाव है वैसे ही अज्ञान से ज्ञान का प्रादुर्भाव होना युक्त ही है। उत्पन्न व्यक्त ज्ञान के सिवा निद्राभङ्ग के अनन्तर एक नित्य-सिद्ध निरावरण ब्रह्मरूप अखण्ड बोध की भी अभिव्यक्ति होती है। तत्परतापूर्वक उसीके साक्षात्कार से जीव सदा के लिये बन्धन से मुक्त हो जाता है। विवेकियों का कहना है कि आत्मा के आवरण दो हैं—एक तो दृश्य का स्फुरण और दूसरा अज्ञान। जाग्रत् स्वप्न में आत्मा विक्षेपरूप दृश्य से समावृत रहता है और सुषुप्ति में अज्ञान से आवृत होता है। जब समाधि में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति इन पाँचों वृत्तियों का निरोध होता है अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं से अतीत तुरीया-वस्था का आविर्भाव होता है, तब निरावरण विशुद्ध आत्मतत्त्व का दर्शन होता है। अज्ञानादि सब दृश्यों को जो प्रतीति या भान किंवा प्रकाश है, वही अखण्ड एवं अनन्त आत्मा है। बिना प्रतीति, बिना भान, बिना प्रकाश किसी पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध होता। जो पदार्थ है वह अवश्य ही केनचित्क्वचित्कथञ्चित् विज्ञात है, इसी वास्ते प्रतीति के भीतर ही समस्त देश, समस्त काल और समस्त वस्तुएँ हैं। यह सर्वभासक, निर्मल अखण्ड प्रतीति ही परमात्मस्वरूप है।

यह अखण्ड प्रतीति आकाश की तरह पोली नहीं है किन्तु ठोस है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब का स्फुरण होता है, वैसे ही इस प्रतीति में दृश्य का स्फुरण होता है। जैसे बिना दर्पण-प्रतीति के प्रतिबिम्ब का प्रकाश नहीं होता वैसे ही बिना स्वयंप्रकाश प्रतीति के स्फुरण हुए दृश्य का स्फुरण नहीं होता। अतएव श्रुति है—

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" जैसे दर्पण-स्फुरण के पीछे प्रतिबिम्ब स्फुरण होता है वैसे ही स्वयंप्रकाश प्रतीति स्फुरण के अनन्तर दृश्य का स्फुरण होता है। असङ्ग, अनन्त, स्वप्रकाश, सद्धन, चिद्धन, आनन्दघन, निरवयव, निष्कल परमात्मा में प्रपञ्चसंसर्ग का प्रकार यही है। सभी वादिगण परमात्मा को अखण्ड, असङ्ग, निष्कल तथा अनन्त स्वरूप मानते हैं।

ऐसी परिस्थिति में प्रपञ्च की स्थिति कैसे और कहाँ सम्भव है? या तो प्रपञ्च को किसी ऐसे देश-काल में रक्खें जहाँ परमात्मा न हों या परमात्मा को आकाश की तरह सावकाश पोला मानें। परन्तु ये दोनों ही पक्ष शास्त्रविरुद्ध हैं। क्योंकि शास्त्रों ने परमात्मा को ब्रह्म शब्द से बोधित किया है। ब्रह्म शब्द **"बृहि वृद्धौ"** धातु से बनता है। अतः ब्रह्म शब्द का **"बृहत् या महान्"** यह अर्थ होता है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि किसी बृहत् या महान् वस्तु को ब्रह्म कहते हैं। अब यह विवेचन करना रहा कि ब्रह्म की वह बृहत्ता सापेक्ष है या निरपेक्ष, सातिशय है या निरतिशय? अर्थात् जैसे घट, पट, मठ आदि में बृहत्ता है और आकाश में भी, परन्तु घट-पट-मठादि में सापेक्ष बृहत्ता है और आकाश में निरपेक्ष है, वैसे ब्रह्म में कैसी बृहत्ता होनी चाहिये? इसपर विज्ञ जनों की सम्मति यही है कि जब कोई संकोचक पद हो तब ब्रह्म में सापेक्ष बृहत्ता की कल्पना की जाय। जैसे **"सर्वे ब्राह्मणा भोजनीयाः"** इस वचन में सर्व पद का संकोच किया जाता है। जहाँ सार्वत्रिक सार्वदेशिक सर्व ब्राह्मणों का एकत्रीभाव या भोजन असम्भव हो, वहाँ **"निमन्त्रिताः सर्वे ब्राह्मणा भोजनीयाः"** इस प्रकार सर्वपद का संकोच करके निमन्त्रित सर्व ब्राह्मण का ग्रहण होता है। वैसे यहाँ भी यदि कोई संकोचक प्रमाण होता या निरतिशय बृहत्ता में किसी तरह की अनुपपत्ति होती, तब तो यह कहा जा सकता था कि "इस प्रकार के इतने महान् को ब्रह्म कहें।" जब किसी प्रकार का कोई संकोचक प्रमाण नहीं है और निरतिशय महत्ता में कोई अनुपपत्ति नहीं है, तब सर्वप्रकार एवं सर्व से अधिक निरतिशय महान् को ही ब्रह्म कहना चाहिये। महत्ता की अतिशयता की कल्पना-परम्परा जहाँ विरत हो जाय, जिससे अधिक बृहत्ता की कल्पना हो ही नहीं सके, उसीको ब्रह्म कहते हैं। फिर भी भगवती श्रुति ने **"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"** इस वचन में लक्षण या विशेषण रूप में अनन्त पद का प्रयोग किया है, जिससे निरतिशय बृहत्ता की और भी पुष्टि हो जाती है। इस तरह सर्व प्रकार से सिद्ध हुआ कि निरतिशय महान् को ही ब्रह्म कहते हैं।

जो वस्तु किसी देश में हो और किसी देश में न हो, वह तो देश-परिच्छिन्न ही है, उसमें निरतिशय बृहत्ता कैसी? और जो कभी मिट जाय वह तो काल-परिच्छिन्न एवं अनित्य है, वह भी अनन्त महान् नहीं हो सकती और यदि किसी दूसरी अन्य वस्तु का अस्तित्व हो, तब तो अन्योन्याभाव का प्रतियोगी होने से ब्रह्म वस्तु-

परिच्छिन्न हो जायगा। अतः फिर भी निरतिशय महत्ता उसमें नहीं हो सकती। इसलिये निरतिशय तथा अनन्त महत्ता के लिये ब्रह्म को सर्व देश-काल-वस्तु से अतीत एवं अपरिच्छिन्न मानना चाहिये। अर्थात् ऐसा कोई देश-काल या वस्तु नहीं है, जहाँ ब्रह्म न हो, बल्कि "देश-काल-वस्तु में ब्रह्म है" ऐसा कथन भी औपचारिक ही है। जैसे तन्तु-निर्मित पट में तन्तु का अस्तित्व, कनक-निर्मित कटक-कुण्डल-मुकुटादि में कनक का अस्तित्व, तरङ्ग में जल का अस्तित्व एवं कल्पित सर्प में अधिष्ठानरूप से रज्जु का अस्तित्व है, बस उसी प्रकार, "देश-काल-वस्तु में ब्रह्म का अस्तित्व है" ऐसा व्यवहार प्राकृत, विवेकी पुरुषों में हुआ करता है। वस्तुतः जैसे तन्तुओं से भिन्न होकर पट नाम की कोई तात्त्विक वस्तु नहीं है एवं कनक से भिन्न कुण्डलादि पृथक् वस्तु नहीं है और जल से भिन्न तरङ्ग नाम का कोई पदार्थान्तर नहीं है, किन्तु तन्तु आदि में ही पटादि की कल्पना है, ठीक वैसे ही ब्रह्म से भिन्न होकर देश-काल-वस्तु कुछ है ही नहीं। अतः देश-काल-वस्तु में ब्रह्म नहीं, किन्तु देश-काल-वस्तु ही ब्रह्म में कल्पित है। इसी वास्ते "**यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु। प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥**" भगवान् के इस वचन से यह कहा गया है कि जैसे आकाशादि पञ्च महाभूत उच्चावच नाना प्रकार के भौतिक प्रपञ्चों में प्रविष्ट होते हुए भी अप्रविष्ट हैं, उसी तरह मैं महाभूतों में प्रविष्ट हूँ और अप्रविष्ट भी हूँ।

कार्यवर्ग में महाभूतादि कारणों की उपलब्धि होती है, अतः प्रवेश की कल्पना है। वस्तुतः "**प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह संभवः**" प्रथम से ही जो व्यापक हैं, उनका प्रवेश क्या कहा जाय? इसी अभिप्राय से "**न त्वहं तेषु ते मयि**" इस वचन से भगवान् ने ही अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है कि सर्व प्रपञ्च मुझमें है, मैं प्रपञ्च में नहीं हूँ। इससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म से रहित कोई देश या काल है ही नहीं, जहाँ भगवान् से भिन्न किसी वस्तु की स्थिति हो। किन्तु जब सभी देश और काल ही ब्रह्म में हैं, तब फिर देशनिष्ठ, कालनिष्ठ वस्तु सुतरां ब्रह्म में ही पर्यवसित होगी।

अब देखना यह है कि देश, काल एवं वस्तु ये असङ्ग ब्रह्म में कैसे रहते हैं। श्रुतियों ने ब्रह्म को ही समस्त प्रपञ्च का उपादान एवं निमित्त कारण भी बतलाया है। यदि थोड़ी देर के लिये प्रकृति को ही उपादान मान लें, तो भी वही प्रश्न उठता है कि प्रकृति कहाँ है—ब्रह्म में या उससे पृथक्? जब ब्रह्म से पृथक् देश, काल नहीं तो पृथक् देश में प्रकृति की कल्पना कैसे उठ सकती है? यदि ब्रह्म में ही प्रकृति है तब वहाँ भी वही प्रश्न है कि किस सम्बन्ध से ब्रह्म में प्रकृति रहती है? यदि प्रकृति या जगत् का ब्रह्म के साथ कोई सम्बन्ध मानें तो ब्रह्म में असङ्गता नहीं रहती है। साथ ही उपादान को छोड़कर अन्यत्र कार्य की सत्ता भी नहीं कही जा सकती। वारि को छोड़कर वीचि एवं सुवर्ण को छोड़कर कुण्डलादि पृथक् कैसे रह

सकते हैं ? साथ ही प्रपञ्च तथा भगवान् का स्वभाव भी अत्यन्त विरुद्ध है। ब्रह्म अपरिच्छिन्न, प्रपञ्च परिच्छिन्न, ब्रह्म अमृत, प्रपञ्च मर्त्य, ब्रह्म सुख-दुःख-मोहातीत, प्रपञ्च सुख-दुःख-मोहात्मक, तथा ब्रह्म परम-सत्य स्वप्रकाश परमानन्दरूप और प्रपञ्च अनृत जड़ दुःखरूप है। ब्रह्म निरवयव तथा निष्कल और प्रपञ्च सावयव, सकल है। अतः ब्रह्म और प्रपञ्च का सम्बन्ध कैसे और कौन हो सकता है ? निर्गुण तथा निष्क्रिय होने के कारण ब्रह्म द्रव्य नहीं कहा जा सकता। अतएव उसमें संयोग या समवाय दोनों नियामक सम्बन्ध नहीं हो सकते। निष्कल निरवयव में भी यह सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः केवल आध्यासिक सम्बन्ध मानना उचित है। इसी आशय से "**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥**" "**न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥**" आदि वचन आये हैं, जिनका भाव यह है कि मुझ अव्यक्त-मूर्ति से समस्त साकाश प्रपञ्च व्याप्त है, समस्त भूत मेरे में हैं पर मैं उनमें स्थित नहीं हूँ, वास्तव में तो समस्त प्रपञ्च मुझमें स्थित भी नहीं हैं।

आशय यह है कि बहिर्मुख प्राणियों की दृष्टि में प्रपञ्च ही स्पष्ट रूप में विद्यमान है, प्रपञ्चातीत भगवान् का तो अस्तित्व ही दुर्गम है, अतः प्रथम प्रपञ्च के कारण-रूप से या आधार तथा भासक सत्ता स्फूर्तिप्रद-रूप से भगवान् के अस्तित्व पर विश्वास होना यह सबसे बड़ी बात है। कुछ अभिज्ञ प्रपञ्च देखकर उसके आधार या कारण का अन्वेषण करते हैं। यदि भगवान् प्रथम ही यह कह दें कि न मैं प्रपञ्च में हूँ, न प्रपञ्च मुझमें है, तब तो निज दृष्टिसिद्ध प्रपञ्च के कारण का अन्वेषण करनेवाला साधक भगवान् से निराश होकर परमाणु, प्रकृति या अन्य किसीको प्रपञ्च के कारण-रूप से निश्चय करेगा। अतः भगवान् प्राणिकल्याणार्थ प्रथम यही कहते हैं कि "मैं ही जगत् का कारण हूँ। यदि तत्त्वतः विवेचन किया जाय तब तो जगत् नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। परन्तु यदि अज्ञ बुद्धिसिद्ध व्यावहारिक जगत् है, तो मेरे में ही है। मैं ही इसके भीतर, बाहर, मध्य में तथा मैं ही इसका भासक हूँ।" जब इस तरह प्रभु के उपदेश से प्राणी को प्रपञ्च से भिन्न एक भगवान् पर विश्वास हो जाता है तब फिर ठीक-ठीक तत्त्व का उपदेश किया जाता है कि वस्तुतः मेरे से भिन्न होकर प्रपञ्च है ही नहीं; जो कुछ है वह बस, एक मैं ही हूँ।

जैसे भ्रान्ति से किसीको अमृतसागर में क्षारसागर की कल्पना हो, ठीक वैसे ही एक अखण्ड आनन्दसागर में ही भवसागर की कल्पना है। आनन्दसागर ही भ्रान्ति से भवसागर के रूप में भासित होता है। आनन्दसागर से भिन्न होकर भवसागर नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। भीतर, बाहर, सर्वत्र अचिन्त्य, अनन्त, अखण्ड संवित्सुखसागर का भान हो रहा है, इसीलिये गोस्वामीजी कहते हैं— "आनंदसिन्धु मध्य तव बासा। बिनु जाने कत मरसि पियासा।" अतः भगवान् सर्व-

कारण, सर्वाधार, सर्वभूत होकर भी असङ्ग और सर्वरहित हैं। आनन्दसागर और भवसागर का संयोग समवाय आदि सम्बन्ध तो बनता नहीं। अतः केवल आध्यासिक ही सम्बन्ध है—अर्थात् आध्यासिक सम्बन्ध से प्रपञ्च ब्रह्म में रह सकता है। इसे यों भी समझ सकते हैं, जैसे दर्पण में आकाशमण्डल, सूर्यमण्डल, चन्द्र एवं नक्षत्रमण्डल, भूधर, सागरादि नाना प्रकार के दृश्य प्रतिबिम्बरूप से दिखाई देते हैं—वस्तुतः हैं ही नहीं, केवल प्रतीत होते हैं, ठीक वैसे ही महाप्रतीति-रूप दर्पण में यह समस्त चराचर-प्रपञ्च देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और अज्ञान ये सभी प्रतिबिम्ब के समान न होते हुए भी प्रतीत होते हैं। समस्त देश एवं क्षण, प्रहर, दिवस, पक्ष, मास, अब्द, युग, कल्प तथा गत-आगत नाना प्रकार के काल, ये सभी अखण्ड अनन्त निर्मल असङ्ग प्रतीतिरूप दर्पण में ठीक प्रतिबिम्ब की तरह प्रतीत हो रहे हैं।

जैसे रूपादि-ग्रहण के लिये प्रवृत्त भी चक्षु सौरादि आलोक का ग्रहण करता है, पीछे आलोकावभासित रूप का ग्रहण करता है, ठीक वैसे ही सर्वभासिका प्रतीति का स्फुरण पहले होता है। तदनन्तर प्रतीति-प्रकाशित अहंकारादि दृश्य का स्फुरण होता है। किंवा जैसे पहले दर्पण का ग्रहण होता है, पीछे दर्पणान्तर्गत प्रति-बिम्ब की प्रतीति होती है, वैसे ही पहले प्रतीतिरूप दर्पण की प्रतीति होती है। यही "**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**" इस श्रुति का आशय है। परमात्म-प्रकाश के पीछे सर्व दृश्य का प्रकाश होता है और परमात्म-प्रकाश से ही सकल दृश्य प्रकाशित होता है। चक्षुरादि इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, अहंकार ये सभी अपने-अपने प्रकाश्य विषयों का प्रकाशन करनेवाले हैं, अतः ज्योति हैं। परन्तु इन ज्योतियों का भी प्रकाशन करनेवाला विशुद्ध-भान-रूप परमात्मा ज्योतियों का भी ज्योति है—"**ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।**"

तम-रूप अज्ञान का भी प्रकाशक वही है। अतः "**देशः स्फुरति देशोऽस्ति। कालो भाति कालोऽस्ति। वस्तूनि स्फुरन्ति वस्तूनि सन्ति**" इत्यादि रूप से "देश की प्रतीति, काल की प्रतीति, वस्तुओं की प्रतीति, एवं देश है, काल है, वस्तु है, इस प्रकार देश-काल-वस्तु की सत्ता अत्यन्त स्पष्ट है। जैसे दर्पण से प्रतिबिम्ब कवलित है, दर्पण के बिना उसकी प्रतीति ही नहीं हो सकती, वैसे ही देश, काल तथा समस्त वस्तुएँ अबाधित सत्ता एवं अखण्ड अनन्त प्रतीति से कवलित हैं। अतः बिना प्रतीति और सत्ता के देशादि की सिद्धि हो ही नहीं सकती। सत्ता और स्फूर्ति से विहीन देशादि असत् तथा निःस्फूर्ति हो जाते हैं।

यद्यपि प्रतिबिम्ब से भिन्न बिम्ब दर्पण से पृथक् हुआ करता है, परन्तु यहाँ तो सत्ता और प्रतीतिरूप दर्पण से भिन्न कोई देश ही नहीं, जहाँ बिम्ब की तरह किसी पृथक् वस्तु की स्थिति हो सकती हो। इसी वास्ते हम भी जगत् को प्रतिबिम्ब न कहकर प्रतिबिम्ब के समान कहते हैं। वस्तुतत्त्व के बुद्ध्यारोहण के लिये दृष्टान्त

का उपादान किया जाता है। दृष्टान्त इतने ही अंश में है कि जैसे दर्पण में न होकर भी प्रतिबिम्ब स्पष्टरूप से दर्पण में प्रतीत होता है, उसी तरह ब्रह्म में न होता हुआ भी प्रपञ्च अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। यह दूसरी बात है कि प्रति-बिम्बाधार दर्पण से भिन्न भी देश है और वहाँ प्रतिबिम्ब का निमित्त बिम्ब भी है। परन्तु यहाँ दृश्याधार अखण्ड ब्रह्मरूप दर्पण से भिन्न कोई देश नहीं, अतएव यहाँ बिम्ब के समान कोई सत्य वस्तु निमित्त भी नहीं। किन्तु एकमात्र अनिर्वचनीय शक्ति के अद्भुत माहात्म्य से प्रतिबिम्ब की तरह वस्तुतः अत्यन्तासत् दृश्य प्रपञ्च की प्रतीति होती है। वह शक्ति ही जैसे सर्व दृश्य की कल्पना का मूल है, वैसे ही अपनी कल्पना का भी मूल वह स्वयं ही है। जैसे भेद ही घट-पट का भेदक है, और वही घट-पट से अपना भी भेद सिद्ध करता है किंवा जैसे अनुभव ही अपने विषयों का और अपने भी व्यवहार का जनक है तथा नैयायिकों का आत्मा ही सर्वज्ञेय का तथा अपना भी ज्ञाता है, वैसे ही वह शक्ति ब्रह्म को ही सर्व दृश्यरूप में तथा अपने भी रूप में प्रतिभासित करती है। जैसे निष्प्रतिबिम्ब दर्पण-मात्र पर दृष्टि डालने से प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता, वैसे ही निर्दृश्य चितिरूप नित्यदृक् पर दृष्टि डालने से दृश्य, दर्शन और साभास-अहमर्थरूप अनित्य द्रष्टा इन सभी का अत्यन्ताभाव हो जाता है।

प्रतिबिम्ब में जब दृष्टि आसक्त होती है उस समय भी यद्यपि दर्पण का दर्शन होता ही है, क्योंकि बिना दर्पण के दर्शन तो प्रतिबिम्ब का दर्शन हो ही नहीं सकता, तथापि शुद्ध निष्प्रतिबिम्ब दर्पण का दर्शन नहीं होता। उसी समय दृश्यादि दृष्टि काल में भी दृश्य के अधिष्ठानभूत अखण्ड स्फुरण रूप भगवान् का भान है ही, क्योंकि बिना स्फुरण किसी भी दृश्य की सिद्धि नहीं होती, तथापि स्पष्ट शुद्ध अनन्त भान नहीं व्यक्त होता है। उसके लिये ही वैराग्यपूर्वक दृश्य की ओर से दृष्टि को व्यावर्तित करके केवल निर्दृश्य विशुद्ध अखण्ड भान पर दृष्टि स्थिर करना होता है। उसी तरह अधिष्ठान का साक्षात्कार होने पर फिर केवल जब तक प्रारब्ध का अवशेष है, तभी तक व्युत्थान-काल में दृश्य का स्फुरण होता है। प्रारब्ध क्षय होने पर सदा के लिये दृश्य मिट जाता है और अखण्ड आनन्द परिपूर्ण भगवान् ही अवशिष्ट रहते हैं।

जब तक यह स्थिति नहीं मिलती, तब तक सुषुप्ति में सावरण ही ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। जैसे मेघ से समावृत मेघ का अवभासक सूर्य है, बस, वैसे ही अज्ञान से समावृत अज्ञान का प्रकाशक निष्प्रपञ्च अद्वैत स्वप्रकाशानन्द रूप आत्मा सुषुप्ति में जीव को मिलता है। जैसे घोर निद्रा से किसी तरह अकस्मात् जागने पर विशेष विकल्प विस्फुरण के बिना कुछ ज्ञान होता है, विवेकी-जन वैसे ही ब्रह्मानुभव का प्रकार बतलाते हैं। घोर निद्रा से जागने के पश्चात् एवं द्वैत-प्रतीति के प्रथम निष्प्रतिबिम्ब दर्पण की तरह शुद्ध, निर्दृश्य, निरावरण, चिदात्मक प्रकाश ब्रह्म का दर्शन होता है, वैसे ही जागरण के अन्त में और सुषुप्ति के पूर्व में भी निरावरण तत्त्व

की उपलब्धि होती है, जाग्रत् काल में अन्त:करण-रूप कमल की वृत्तिरूप पंखुरियाँ विकसित होती हैं। इसी वास्ते द्वैत दृश्य का सम्यक् स्फुरण हुआ करता है। अन्त:-करण के विकास या चाञ्चल्य में ही द्वैत का दर्शन होता है, इसीलिये किन्हीं महानु-भावों ने कहा है कि **"चित्तं तु चिद् विजानीयात् तकाररहितं यदा।"** चित्त में जब तक द्वितीय 'तकार' का योग है तब तक वह दृश्य है; 'तकार' संसर्गरहित होते ही वह केवल 'चित्' परमात्मा ही हो जाता है। चित् ही किञ्चित् मननशील शक्ति को धारण करके मन हो जाता है। जैसे मृत्तिका के होने में ही घट की उपलब्धि होती है और उसके न होने पर नहीं होती, ठीक वैसे ही चित्त की चञ्चलता में ही, अर्थात् जाग्रत् और स्वप्न में दृश्य दिखाई देते हैं। मूर्च्छा, समाधि या सुषुप्ति में चित् का चाञ्चल्य नहीं होता, अतएव वहाँ द्वैत-दर्शन भी नहीं होता। अत: जैसे घट मृत्तिका रूप ही है, वैसे द्वैत-दृश्य भी चित्तरूप ही है। विषय-चिन्तनरूप चित्त का चाञ्चल्य मिटने पर दृश्य की भी समाप्ति हो जाती है।

इस तरह क्रमश: जब सुषुप्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति होने लगती है, तब चित्त की वृत्तियाँ संकुचित होने लगती हैं। जैसे-जैसे उनका संकोच होता है, वैसे-वैसे दृश्य का दर्शन न्यून होने लगता है। जब अन्त:करण-कमल अत्यन्त मुकुलित हो जाता है, तब दृश्य-दर्शन बिलकुल बन्द हो जाता है। कुछ क्षण के अनन्तर तामसी निद्रा से वह समावृत हो जाता है, फिर घोर तम छा जाता है।

इसी तरह जब निद्रा भङ्ग होती है, तब पहले तामसी निद्रा दूर होती है। फिर कुछ क्षण के अनन्तर निद्रारूप आवरण से रहित मुकुलित अन्त:करण-कमल, शनै:-शनै: पुन: विकसित होकर, सम्यक् रूप में द्वैत का दर्शन करने लगता है। इस तरह से मनोव्यापारस्वरूप प्रयत्न से द्वैत व्यक्त होता है। निर्व्यापाररूप विश्रान्ति में स्वाभाविक अद्वैत व्यक्त होता है। जो वस्तु प्रयत्न से, परिश्रम से सिद्ध की जाती है वह कृत्रिम, अनित्य तथा असत्य होती है, और जो बिना व्यापार, बिना परिश्रम, नित्यसिद्ध हो, वही स्वाभाविक एवं सत्य है। मूल श्रुति भी परिश्रमरहित निर्व्यापार दशा का वर्णन अद्वैत-रूप से ही करती है **"सदेव सौम्य इदमग्र आसीत्"**, **"एकमेवा-द्वितीयम्।"** और ईक्षण, कामना, तप तथा संकल्परूप परिश्रम से बहुभवन का वर्णन करती है—**"तदैक्षत एकोऽहम् बहु स्याम्"**, **"सोऽकामयत स तपस्तप्त्वा इदमसृजत्"** इत्यादि।

जागर के अन्त एवं सुषुप्ति के पूर्व में तथा सुषुप्ति के अन्त एवं जागर के पूर्व में कुछ क्षण निष्प्रतिबिम्ब दर्पण की तरह शुद्ध निर्दृश्य चिद्रूप अखण्ड भान का दर्शन होता है। परन्तु अति सूक्ष्म होने के कारण सर्वसाधारण की समझ में नहीं आता। जैसे हम सदा ही उत्तराभिमुख होकर नक्षत्र-राशियों पर दृष्टि डालने पर ध्रुव का दर्शन करते हैं, तथापि "अयं ध्रुव:" इत्याकारक स्पष्ट विवेकपूर्वक ध्रुव को नहीं

पहचानते; कुछ लोगों के न पहचानने में तो लक्षण का अज्ञान हो हेतु है और कुछ लोगों को "अमुक-अमुक नक्षत्रों के सन्निधान में तथा उत्तर दिशा में सदा अचल रूप से स्थिर रहनेवाले नक्षत्र का नाम ध्रुव है" इस प्रकार से लक्षण का ज्ञान है। तथापि वे लक्षण को लक्ष्य में समन्वित करके ध्रुव को पहचानने के लिये तत्पर नहीं होते, इसीलिये उन्हें प्रतिदिन ध्रुव को देखने पर भो उसकी पहचान नहीं होती। अतः लक्षण-ज्ञान एवं परिचय के लिये, अन्य दृश्य की ओर से दृष्टि व्यावर्तनपूर्वक तत्परता से ही प्रयत्न करने पर स्पष्टरूपेण ध्रुव का परिचयपूर्वक दर्शन होता है। ठीक इसी तरह सदा ही सुषुप्ति एवं जागर के अन्त में यद्यपि सभी को निर्दृश्य शुद्ध दृक्-रूप स्वयंप्रकाश अखण्ड भान का दर्शन होता है, तथापि परिचयपूर्वक स्पष्ट साक्षात्कार नहीं होता।

सदा स्वप्रकाशरूप से भासमान में भी जो "नास्ति" (नहीं है) और "न भाति" (नही प्रतीत होता है) इत्याकारक व्यवहार-योग्यता है, वही आवरण-शक्ति का विलक्षण चमत्कार है; और स्वप्रकाश अनन्त अद्वैत में जड़ परिच्छिन्न द्वैत प्रपञ्च का भान करा देना, यही विक्षेप-शक्ति का विलक्षण चमत्कार है। इसोकी निवृत्ति के लिये आचार्य-परम्परा से वेदान्तों का श्रवण तथा मनन करके अद्वितीय परमात्मा के लक्षणों का संस्कार अन्तःकरण में स्थिर करना चाहिये। किसी भी वस्तु को जानने के लिये अन्य विषयों से चित्त को व्यावर्तित करने और तत्परतापूर्वक परिचय करने की आवश्यकता होती है। परन्तु यहाँ तो श्रवण-मननादिजन्य स्वरूप के संस्कार ही परिचय, प्रयत्न के स्थान में अपेक्षित हैं, क्योंकि जैसे छाया के पीछे चलने से छाया का ग्रहण नहीं हो सकता, वैसे ही प्रयत्न से शुद्ध वस्तु को उपलब्धि नहीं हो सकती —**"कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते।"** निर्व्यापार होने पर ही वस्तु-बोध हो सकता है। परन्तु केवल निर्व्यापारता योगियों को भी होती है, उन्हें अद्वैत ब्रह्म का आपरोक्ष्य फिर भी नहीं होता। इसका कारण यह है कि स्वरूपपरिचयानुकूल श्रवणादि द्वारा संस्कार वहाँ सम्पादित नहीं किये गये हैं।

आत्मा पर प्राथमिक आवरण अनिर्वचनीय अज्ञान, और द्वितीय विक्षेपरूप द्वैत, तृतीय अर्धनिद्रापूर्वक स्वप्न और चतुर्थ पूर्ण निद्रा या सुषुप्ति है। मेघाच्छन्न भाद्रपद अमावास्या की रात्रि की तरह सुषुप्ति में आत्मा का अत्यन्त अप्रकाश रहता है। मेघरहित रात्रि के समान स्वप्न में किञ्चित्प्रकाश होता है। चान्द्रमसी रात्रि की तरह जाग्रत् में पर्याप्त प्रकाश होता है। मेघाच्छन्न दिवस की तरह समाधि में आत्मा का प्रकाश होता है। निरावरण सूर्य की तरह तत्त्वसाक्षात्कार में आत्मा का प्रकाश होता है।

निरावरण ब्रह्म-स्वरूप साक्षात्कार के लिये देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि का अत्यन्त निरोध और वेदान्ताभ्यासजन्य संस्कार इन दोनों की आवश्यकता

है। जैसे "**गोसदृशो गवयः**" इत्याकारक वाक्यजन्य दृढ़तर संस्कारवाले पुरुष को 'नेत्र' और 'गवय' का सन्निकर्ष होते ही "**अयं गवयः**" ऐसा बोध हो जाता है, वहाँ विचार की आवश्यकता नहीं होती; और गवय का नेत्रों से सम्बन्ध होने पर भी "यह गवय है" ऐसा बोध नहीं होता, जब तक कि "गौ के सदृश गवय होता है" ऐसा ज्ञान नहीं होता। अतः जहाँ सन्निकर्ष होने पर भी "**गोसदृशो गवयः**" इस वाक्य के बिना "**अयं गवयः**" इत्याकारक साक्षात्कार में विलम्ब हो, वहाँ "यह गवय है" इस ज्ञान में वाक्य ही हेतु है, इन्द्रिय-सन्निकर्ष सहकारी मात्र है, एवं जहाँ "**गोसदृशो गवयः**" इस वाक्य के संस्कार होने पर भी नेत्र-सन्निकर्ष बिना साक्षात्कार में विलम्ब है, वहाँ सन्निकर्ष ही मुख्य हेतु है और वाक्य सहकारी है। ठीक इसी तरह योगियों को निरोध समाधि होने पर भी वेदान्ताभ्यासजन्य संस्कार बिना साक्षात्कार में विलम्ब है। अतः वहाँ ब्रह्मसाक्षात्कार में वेदान्त-वाक्य ही मुख्य कारण है, निरोध सहकारी है। जहाँ वेदान्ताभ्यास होने पर भी निरोध बिना साक्षात्कार में विलम्ब है, वहाँ निरोध को ही मुख्य हेतुता है, वाक्य सहकारी है। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने कहीं वेदान्तों को, कहीं संस्कृतनिरुद्ध मन को, ब्रह्म-साक्षात्कार में हेतु माना है और कहीं महावाक्य को ही मुख्य हेतु कहा है। इससे सिद्ध होता है कि वेदान्ताभ्यासजन्य संस्कार से युक्त निरुद्ध अन्तःकरण से निरावरण ब्रह्म का साक्षात् होता है।

जैसे पूर्णिमा के किसी अवस्था-विशेष-विशिष्ट चन्द्रमा पर ही राहु का प्राकट्य होता है, वैसे ही निर्वृत्तिक निरुद्ध मन पर ही ब्रह्मस्वरूप का प्राकट्य होता है। "**असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।**" असत्य काल्पनिक मार्ग पर स्थित होकर सत्यवस्तु की प्राप्ति का प्रयत्न किया जाता है। अप्राकृत भगवान् की मङ्गल-मयी मूर्ति को प्राकृत कमल महेन्द्र नीलमणि प्रभृति उपमानों से उपमित किया जाता है। क्या कोई भी आस्तिक सर्वांश में भगवान् में इन उपमानों को मान सकता है?

एक के विज्ञान में सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा का समर्थन करने के लिये श्रुति ने यह दृष्टान्त दिया है कि जैसे एक मिट्टी के विज्ञान में समस्त मृण्मय पदार्थ का "**यह सब मिट्टी ही है**" इस प्रकार विज्ञान हो जाता है, वैसे ही एक परमात्मा के विज्ञान से समस्त परमात्म-कार्य का विज्ञान हो जाता है। परन्तु यहाँ भी तो मृत्तिका सावयव एवं परिणामिनी है, तो फिर निरवयव कूटस्थ अपरिणामी भगवान् का प्रपञ्च-रूप में परिणाम कैसे सम्भव है? और परमात्मा के विज्ञान में समस्त प्रपञ्च का विज्ञान भी होना कैसे सम्भव है? यह बात नहीं है, यहाँ तो केवल जैसे कारण से भिन्न कार्य की सत्ता नहीं; कारण की ही सत्ता से कार्य में सत्ता और स्फूर्तिमत्ता प्रतीत होती है, वैसे ही परमात्मा से भिन्न प्रपञ्च की सत्ता नहीं; एक परमात्मा की ही सत्ता और स्फूर्ति से प्रपञ्च में सत्ता और स्फूर्ति की प्रतीति होती है। इतने ही अंश में दृष्टान्त

है। इसी प्रकार घट से ही महाकाश में देश की कल्पना और उससे ही महाकाश में घटाकाश-व्यवहार और घट के गमन में घटाकाश के गमन की प्रतीति होती है।

वस्तुतः न तो महाकाश से भिन्न घटाकाश है और न उसका गमन ही होता है, वैसे ही अनन्त अखण्ड शुद्ध भगवान् में उपाधियोग से ही भेद और गति, उत्क्रान्ति आदि की प्रतीति होती है, वस्तुतः कुछ नहीं है। उपाधि-विरहित देश में उपाधि के जाने से वहाँ नवीन जीवभाव की कल्पना हो जाती है। यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि देश की कल्पना भी तो उपाधि के ही अधीन है। इसके अतिरिक्त ऐसी कल्पना से अधिष्ठान में तो कोई हानि ही नहीं है। यों तो समस्त प्रपञ्च ही उसीमें कल्पित है; परन्तु इससे क्या वह बद्ध समझा जाता है? क्या कल्पित जल से मरुभूमि आर्द्रा होती है? जब निरवयव निष्प्रदेश निष्कल में काल्पनिक उपाधि द्वारा ही काल्पनिक प्रदेश का व्यवहार होता है, तब तत्त्वतः प्रदेश या उसके बन्ध और मोक्ष की कल्पना तात्त्विकी कैसी?

यदि पूछा जाय कि फिर किसका बन्ध-मोक्ष तात्त्विक है, तो इसका उत्तर यही है कि किसी का नहीं। अतएव **"न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता।" "अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नाऽन्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।"** सत्यज्ञानानन्दात्मक भगवान् से भिन्न होकर बन्ध-मोक्ष नाम के कोई पदार्थ नहीं हैं। केवल अज्ञान से बन्ध और मोक्ष ये दो संज्ञाएँ होती हैं, अतः केवल कल्पित-उपाधि से कल्पित प्रदेश में कल्पित ही गमनागमन और कल्पित ही बन्ध-मोक्ष होते हैं। कल्पितोपाधि का अनुगामी जो कल्पित प्रदेश है वही कल्पित बन्ध से पीड़ित और कल्पित मोक्ष से मुक्त होता है। यदि बन्ध सत्य हो तभी मोक्ष भी सत्य हो सकता है। अधिष्ठानावशेष के अभिप्राय से भगवत्प्राप्ति, मोक्ष या निरावरण भगवान् ही सत्य हैं। इसी तरह **"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोनुगच्छन्"** इत्यादि श्रुति-स्मृतियों में परमात्मा के जीवरूप से प्रवेश में दृष्टान्त-रूप से यह आया है कि जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न जल में प्रविष्ट होकर अनेकधा भासमान होते हैं, वैसे ही परमात्मा भिन्न-भिन्न उपाधियों में प्रविष्ट होकर अनेकधा भासमान होते हैं। ऐसे ही **"घटे भिन्ने घटाकाश आकाशः स्याद्यथा पुरा"** इत्यादि वचनों में जैसे घट के नष्ट होने में घटाकाश का महाकाश में मिलना होता है, वैसे ही उपाधि-भङ्ग होने पर उपहित जीव निरुपाधिक परमात्मा में ही मिल जाता है। इन उक्तियों के आधार पर पारमार्थिक अभेद और व्यावहारिक भेद-सिद्धि के लिये ये सभी दृष्टान्त ग्रहण किये जाते हैं।

यहाँ आत्मा के प्रतिबिम्ब समर्थन की कोई आवश्यकता नहीं है। इस बात को प्रायः सभी दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा स्वयं यद्यपि स्थौल्य, कार्श्य, श्यामत्व, गौरत्वादि धर्मों से विवर्जित है, तथापि देह के साथ विलक्षण सम्बन्ध के कारण

देहगत ही स्थौल्यादि धर्म आत्मा में भासमान होते हैं। ठीक इसी तरह प्रतिबिम्ब-वादियों का यही आशय है कि आत्मा स्वयं यद्यपि अकर्ता, अभोक्ता, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव, सर्वभासक भावरूप है, तथापि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्रभृति उपाधियों के संसर्ग से आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि अनर्थ उसी तरह भासित होने लगते हैं, जैसे अचञ्चल एवं स्वच्छ सूर्य का चञ्चल एवं मलिन जल में प्रतिबिम्ब होने पर जल की ही चञ्चलता एवं मलिनता सूर्य में भासित होने लगती है।

जीव जब अपने को नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरुपम-सुख-संविद्रूप न समझकर कर्ता, भोक्ता समझने लगता है, तब उसको उपाधिसंसर्ग से तद्धर्मारोप के कारण प्रतिबिम्ब कहने लगते हैं। उपाधिसंसर्गातीत होने पर शुद्ध-बिम्ब रूप ही हो जाता है। जैसे प्रतिबिम्ब की अपेक्षा ही से गगनस्थ सूर्य में बिम्ब का व्यवहार होता है। प्रतिबिम्ब की अपेक्षा न करने से बिम्बता-प्रतिबिम्बता-रूप धर्मों से रहित शुद्ध सूर्य का व्यवहार होता है, वैसे ही प्रतिबिम्बात्मक जीव की अपेक्षा विशुद्ध चिदात्मक परमतत्त्व में ही परमेश्वरत्व का व्यवहार होता है। जोवभाव की अपेक्षा न करने से जीवत्व-परमेश्वरत्व धर्म-रहित निर्विकार शुद्ध परमात्मा ही का व्यवहार होता है।

भगवती श्रुति ने परमात्मा को ही समस्त प्रपञ्च का उपादान तथा निमित्त कारण कहा है। इसीसे एक विज्ञान से सर्व-विज्ञान की प्रतिज्ञा सिद्ध की गयी है। परन्तु जब परमतत्त्व असङ्ग, निरवयव, निष्कल एवं सुख-दुःखमोहातीत है, तब उसमें सकल सुख-दुःख-मोहात्मक प्रपञ्च की स्थिति कैसे हो सकती है? प्रपञ्चातीत परमतत्त्व के निरवयव एवं असङ्ग होने से ही कार्यकारण भाव की भी सङ्गति नहीं होती। निरवयव तथा निर्गुण निष्क्रिय होने के कारण संयोग-सम्बन्ध एवं समवाय-सम्बन्ध भी प्रपञ्च के साथ नहीं हो सकता। अतः केवल दर्पण में प्रतिबिम्ब एवं रज्जु में सर्प की तरह ब्रह्म में प्रपञ्च का आध्यासिक सम्बन्ध ही कहा जा सकता है।

ब्रह्म में आध्यासिक सम्बन्ध मानने से प्रपञ्च का जब मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है, तो ऐसी स्थिति में एक के विज्ञान में सर्व के विज्ञान का कैसे समर्थन किया जा सकता है? जैसे रज्जुज्ञान में सर्प का 'बाध' कहा जाता है, 'विज्ञान' नहीं, वैसे ही ब्रह्म के विज्ञान में सर्व-पद से विवक्षित प्रपञ्च बाधित या मिथ्या हो जाता है। अतः जिस ब्रह्म का विज्ञान होने में प्रपञ्च का बाध होना निश्चित है, उस ब्रह्म के ज्ञान में सर्व प्रपञ्च का विज्ञान कैसे कहा जा सकता है? तथापि यहाँ श्रुति का आशय गम्भीर है। जैसे 'शत्रु-गृह' का भोजन करूँ या न करूँ? बालक के ऐसे प्रश्न पर जननी कहती है—**'विषं भुङ्क्ष्व'**। इस वाक्य का उत्तान अर्थ यही है कि "विष खा" परन्तु क्या पुत्रवत्सला जननी अपने शिशु को विष-भोजन का आदेश दे सकती है? यदि नहीं, तो यही कहना होगा कि इस वाक्य का अभिप्राय शत्रु-गृह-भोजन-निवृत्ति में है—**"शत्रुगृहभोजनाद्वरं विषभोजनं, अतो मा भुङ्क्ष्वेति।"** ठीक वैसे ही भगवती

श्रुति का परमात्म-विज्ञान से जड़ दुःखमय प्रपञ्च के निरर्थक विज्ञान के प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं हो सकता, किन्तु मधुरतम भगवान् के ज्ञान से पहले यद्यपि सर्वपद वाच्य प्रपञ्च के बोध में कुछ पुरुषार्थ-बुद्धि होती है तथापि परमानन्दस्वरूप भगवान् का बोध होने पर तो नीरस प्रपञ्च का बोध अत्यन्त निरर्थक हो जाता है। अतः अपुरुषार्थ होने से परमात्म-विज्ञान में सर्व-विज्ञान विवक्षित नहीं है, अपितु प्रपञ्च का बाध ही अनर्थ-निवृत्ति रूप होने से विवक्षित हो सकता है। पुत्र-वत्सला जननी की तरह परम हितैषिणी भगवती श्रुति यह समझकर कि प्रपञ्च विज्ञान के लिये व्यग्र जीव प्रपञ्चातीत ब्रह्मज्ञान के लिये कैसे प्रयत्नशील हो, ब्रह्म के विज्ञान में सर्व-विज्ञान का प्रलोभन देकर अधिकारियों के हृदय में ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न करना चाहती है।

साधारणतया प्राणियों को उत्सुकता अनेक प्रकार के भूत भौतिक पदार्थों के विज्ञान में ही होती है। एक-एक भौतिक भाव को जानने में बहुत धन, जन तथा शक्तियों का क्षय किया जाता है। नाना प्रकार के पार्थिव, आप्त, तैजस, विशिष्ट तत्त्वों का बोध होने पर भी अभी तक इयत्ता निश्चित नहीं हो सकी है। एक नगण्य तृण को भी समस्त विशेषताएँ क्या सहस्रों जीवन में भी जानी जा सकेंगी? तब भी पदार्थविज्ञान की उत्सुकता प्राणियों के हृदय से निकलती नहीं है। इस तरह निरर्थक पदार्थविज्ञान में उत्सुकता एवं आसक्ति और परम सार्थक भगवत्तत्त्व-विज्ञान से बहिर्मुख जीवों के हृदय में भगवत्तत्त्व-विविदिषा उत्पादन करने के लिये भगवती श्रुति कहती है कि "हे शिशुओ! यह तुम समझते ही हो कि जिन भौतिक तत्त्वों की विशेषताओं को जानने के लिये तुम व्यग्र हो, उनका सामस्त्येन बोध लक्ष कल्पों में भी होना कठिन है। अच्छा, यदि तुम्हें सर्व प्रपञ्च का ही तत्त्व जानना है तो तुम ब्रह्म का विज्ञान सम्पादन करो। बस, एक ब्रह्म के ही विज्ञान में सबका विज्ञान हो जायगा।" इस तरह सर्व विज्ञान के प्रलोभन में आकर यदि प्राणी ब्रह्म-विज्ञान के लिये उत्सुक हुआ और उसने उचित साधनानुष्ठानपूर्वक ब्रह्म का विज्ञान सम्पादन कर लिया, तब तो जिस प्रपञ्च-विज्ञान के लिये प्रथम वह अत्यन्त व्यग्र था, उत्सुक था वही प्रपञ्च जब रज्जु-सर्प के समान या स्वप्न की तरह बाधित हो जाता है, तब उसे निस्तत्त्व समझकर उस प्रपञ्च की जिज्ञासा ही प्रशान्त हो जाती है। जिज्ञासा-निवृत्ति को ही ज्ञान कहते हैं। इस तरह ब्रह्म के विज्ञान में प्रपञ्च की जिज्ञासा का ही मिट जाना प्रपञ्च का विज्ञान है।

परमात्मतत्त्व से भिन्न यदि किसी भी तत्त्व का अस्तित्व है, तब तो उसकी जिज्ञासा भी अनिवार्य होगी। इसलिये अज्ञलोक-बुद्धि-सिद्ध प्रपञ्च की प्रसक्त निमित्त एवं उपादानरूप द्विविध कारणता भी परमतत्त्व में ही समर्थन की जाती है, क्योंकि केवल निमित्त या केवल उपादान के विज्ञान में सर्व का विज्ञान नहीं हो सकता।

मृत्तिका के विज्ञान में घटादि मृण्मय पदार्थों का यद्यपि विज्ञान हो सकता है, तथापि निमित्त-कारणरूप दण्ड, कुलालादि का ज्ञान नहीं होता एवं दण्ड, कुलालादि के ज्ञान में मृत्तिका या उसके घटादि का ज्ञान नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में एक के विज्ञान में सर्व का विज्ञान तभी हो सकता है, जब एक ही परमतत्त्व समस्त प्रपञ्च का उपादान तथा निमित्त दोनों ही कारण हो। इसीलिये प्रपञ्च की–निमित्त, उपादान—उभय-कारणता परमात्मा में ही समर्थन की जाती है।

अधिष्ठान-स्वरूप परमात्मा के विज्ञान में जब प्रपञ्च-बुद्धि बाधित हो जाती है, तब उपादानता निमित्तता भी परमात्मा में बाधित हो जाती है। ऐसी स्थिति में कार्य-कारणातीत शुद्ध रूप की स्थिति होती है। प्रपञ्च के प्रतीति-काल में ही तमःप्रधान प्रकृति-युक्त सच्चिदानन्द में उपादानता और सत्त्व-प्रधान प्रकृति-युक्त सच्चिदानन्द में निमित्तता उपपन्न होती है। तम आवरक है, अतः उससे सावरण सच्चिदानन्द में जड़ प्रपञ्च के अनुरूप जड़ता भासित होती है। प्रकाशात्मक सत्त्व के योग से निरावरण स्वप्रकाशात्मक सच्चिदानन्द में कुलालादि निमित्त-कारण के अनुरूप सर्व विज्ञान होता है। दोनों ही प्रकार की प्रकृति मूल प्रकृति के अन्तर्गत है, और मूल प्रकृति भी ब्रह्म में परिकल्पित है।

अधिष्ठान के बोध से प्रकृति तत्कार्यात्मक प्रपंच का बाध हो जाता है। भोग्य-वर्ग का बाध, स्वरूप से ही होता है। परन्तु भोक्तृवर्ग का बाध उपाधि तत्संसर्ग के बाधाभिप्राय से ही होता है। इसी अभिप्राय से **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** इत्यादि स्थलों में **"योऽयं स्थाणुः पुमानेषः"** की तरह बाध-सामानाधिकरण्य से सर्व पदार्थ का ब्रह्म के साथ अभेद बोधन किया जाता है। और **"तत्त्वमसि"** इत्यादि स्थलों में **"सोऽयं देवदत्तः"** की तरह भाग-त्याग लक्षणा के द्वारा मुख्य सामानाधिकरण्य से 'त्वं' पदार्थ जीव का 'तत्' पदार्थ ब्रह्म के साथ अभेद बोधित होता है। 'त्वं' पदार्थ जीव के साथ अभेद बिना 'तत्' पदार्थ परमात्मा में निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमास्पदता, परमानन्दरूपता, स्वप्रकाशता आदि ही नहीं सिद्ध हो सकती, क्योंकि जो पदार्थ अत्यन्त सन्निहित है वही स्वतः अपरोक्ष अर्थात् अन्यनिरपेक्ष स्वप्रकाश होता है, और वही परम अन्तरङ्ग एवं अत्यन्त परिचित स्वप्रकाश होने के कारण निरतिशय प्रेम का आस्पद होता है। निरतिशय प्रेमास्पद ही परमानन्दरूप हुआ करता है।

यदि तत्पदार्थ परमात्मा जीव से भिन्न एवं तटस्थ हो तो उसमें उपर्युक्त सब बातें नहीं बन सकतीं। पृथिवी, आकाशादि बाह्य पदार्थ एवं देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि आन्तर समस्त दृश्य पदार्थों का द्रष्टा सर्वप्रकाशक 'त्वं' पद लक्ष्यार्थ साक्षी ही होता है। अहंकार, बुद्धि आदि सभी उसकी अपेक्षा असन्निहित, बहिरंग, परतःप्रकाश, सातिशय, सोपाधिक प्रेम के आस्पद ही हैं। 'त्वं' पद लक्ष्यार्थ सर्वद्रष्टा साक्षी

ही सबसे अन्तरङ्ग सन्निहित है। जैसे अन्यान्य पदार्थ सूर्यादि प्रकाश सम्बन्ध से प्रकाशमान होते हैं, परन्तु सूर्यादि स्वतः-प्रकाशमान होते हैं, वैसे ही बुद्धि, अहंकारादि अन्यान्य दृश्य-पदार्थं इस साक्षी के सम्बन्ध से प्रकाशमान होते हैं, और यह साक्षी स्वतःप्रकाश होता है। यह "त्वं" पद लक्ष्यार्थ स्वात्मा ही सर्वान्तरङ्ग है। यहाँ ही परम-सान्निध्य का भी पर्यवसान होता है, क्योंकि अपने से परम-सन्निहित अपना अन्तरात्मा ही हो सकता है। अन्य पदार्थों में कुछ न कुछ देश, वस्तु आदि का व्यवधान रहने से पूर्ण सान्निध्य नहीं बन सकता। देह, इन्द्रियादि की अपेक्षा कुछ सन्निहित (समीप होनेवाले) मन, बुद्धि, अहंकार, ज्ञान, अज्ञान, सुखादि भी अप्रकाशमान होकर नहीं रहते। किन्तु ये जब कभी रहते हैं तब स्वप्रकाश साक्षी के संसर्ग से भासमान होकर ही रहते हैं। सुख, दुःखादि हों और भासमान न हों, ऐसा कदापि नहीं होता, तब फिर अत्यन्त सन्निहित स्वान्तरात्मा अप्रकाशमान हो यह कैसे हो सकता है? "जो सर्वद्रष्टा सर्व-भासक होता है, वह सदा-सर्वदा अन्य प्रकाश से निरपेक्ष स्वतःप्रकाशमान होता है" इसी अभिप्राय से श्रुति ने कहा है कि जो सबको जाननेवाला है, उसे किससे जानें—"**विज्ञातारमरे ! केन विजानीयात्**"?

यदि भगवान् ही प्रत्यगात्मरूप से भी विराजमान हैं, तब तो उनमें उक्त श्रुति के अनुसार स्वप्रकाशता बन सकती है। जो व्यवधान-रहित, अन्य प्रकाश-निरपेक्ष, स्वतः साक्षात् अपरोक्ष है वही ब्रह्म है—"**यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म**"। अन्यथा कोई भी लक्षों जन्म की अनन्त तपस्याओं से भी अति दुर्गम परम-परोक्ष भगवान् में सर्वविज्ञातृता, अन्य-निरपेक्ष परम प्रकाशमानता कैसे सिद्ध कर सकता है? क्या कोई अत्यन्त परोक्ष तटस्थ परमेश्वर को साक्षात् अपरोक्ष कहने का साहस कर सकता है? यदि वह परमेश्वर सर्व-विज्ञातारूप साक्षात् अपरोक्ष हो, तो उसके विषय में अनेक प्रकार की अनुपपत्तियाँ एवं विप्रतिपत्तियाँ कैसे हो सकती हैं? जब इन्द्रिय, मन आदि द्वारा पारम्परीण अपरोक्ष घटादि में भी संशय-विपर्ययादि नहीं होते, तब साक्षात् अपरोक्ष परमात्मा में संशयादि कैसे हो सकते हैं? फिर यदि वह साक्षात् अपरोक्ष है, तो उसके बोध के लिये श्रवण-मननादि उपायोपदेश भी व्यर्थ हैं। क्योंकि अनुभव-विरोध स्पष्ट ही है। अतः यदि भगवान् में उक्त श्रुतियों के अनुसार साक्षादपरोक्षत्वरूप स्वप्रकाशता आदि का समर्थन करना है, तो अनिच्छयापि कहना पड़ेगा कि भगवान् ही सर्वप्रकाशक, सर्वान्तरात्मा, सर्वसाक्षी, प्रत्यगात्मा रूप से भी विराजमान हैं। उसी रूप से उनमें साक्षात् अपरोक्षता, स्वप्रकाशरूपता उपपन्न होती है।

इसी परम-सन्निहित स्वप्रकाश आत्मा में अध्यारोपित अपूर्णता अपरिच्छिन्नता आदि की निवृत्ति के लिये श्रवणादि भी सार्थक होते हैं। परोक्ष 'तत्पदार्थ' असन्निहित एवं परोक्ष होने के कारण प्रेमास्पद भी नहीं होता, क्योंकि सन्निहित एवं अपरोक्ष में ही निरतिशय प्रेम हो सकता है। इसलिये निरुपाधिक परमप्रेमास्पद आत्मा ही

है। अतएव वही परमआनन्दरूप भी है। परोक्ष परमात्मा में स्वाभाविक निरुपाधिक निरतिशय प्रेम अत्यन्त अप्रसिद्ध एवं अनुभव से विरुद्ध है। परमात्मा में प्रेम और भक्ति की अभ्यर्थना की जाती है। "**या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।**" "हे नाथ! जैसे अविवेकियों की विषयों में स्वाभाविक प्रीति होती है, वैसी ही आपको स्मरण करते हुए मेरे हृदय में आपमें अटल प्रीति हो।" अतएव भगवती श्रुति ने भी प्रत्यगात्मा को ही सर्वाधिक प्रेम का विषय बतलाया है। देवताओं में भी प्रेम आत्म-कल्याण के लिये ही किया जाता है, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। परोक्ष तत्त्व प्रेम का आस्पद नहीं है, वह आनन्द या परमानन्द रूप कैसे हो सकता है? अतः जैसे स्वप्रकाशता परोक्ष परमात्मा में असङ्गत है, वैसे ही परप्रेमास्पदता और परमानन्दरूपता भी असङ्गत है। इन उपर्युक्त हेतुओं से कहना पड़ता है कि वेदान्तवेद्य परात्पर पूर्णतम भगवान् सर्वान्तरतम सर्वप्रत्यगात्मा हैं। अतएव निरतिशय निरुपाधिक परप्रेम के आस्पद एवं परमानन्दरूप हैं। आनन्द चैतन्य परम-सत्य भगवान् ही सर्वप्रत्यगात्मरूप से स्थित हैं। अचिन्त्य-अनन्त-कल्याण-गुण-गण-निलय भगवान् ही सच्चिदानन्द रूप हैं।

समस्त गुण-गणों का पर्यवसान आनन्द में ही होता है, क्योंकि सर्वगुणों का उपयोग अनर्थ-निबर्हण, सौख्यातिशय एवं महत्त्वातिशय के आधान में ही होता है। निरतिशय-सुखस्वरूप एवं निरतिशय-महान् भगवान् में सर्वगुणों की समाप्ति होती है।

कुछ लोग कहते हैं कि सौन्दर्य्य-माधुर्य्यादि गुणसम्पन्न सगुण साकार भगवान् में ही आनन्द है। अदृश्य अग्राह्य अचिन्त्य निराकार निर्विकार परमात्मा पाषाणरूप है। उसमें सुख का लेश भी नहीं है। परन्तु यदि यहाँ विवेचन किया जाय तो यही विदित होता है कि जहाँ कहीं भी किसी प्रकार के सुख का स्वरूप होता है, वह सभी सुख निराकार ही है। कहीं भी सुख का स्वरूप नील, पीत, हरित या मूर्त नहीं देखा जाता है। चिरकाल के विप्रयोग से सन्तप्त कामुक अपनी प्रियतमा कान्ता के परिरम्भण से आनन्द का अनुभव करता है, उत्कट पिपासा एवं बुभुक्षा से परिपीड़ित पुरुष को शीतल, मधुर, सुगन्धित जल एवं सौगन्ध्य, सौरस्य, माधुर्य्यसम्पन्न पक्वान्न के मिलने पर आनन्द होता है। यहाँ विवेचन करना चाहिये कि यह जो आनन्द है उसका क्या रूप है। नील या पीत, लघु या गुरु, बृहत्परिमाण-परिमित या मध्यमपरिमाण-परिमित है? यहाँ यह कहना न होगा कि शीतल सुमधुर जल, पक्वान्न या कामिनी स्वयं आनन्दरूप नहीं हैं, क्योंकि बुभुक्षा, पिपासा तथा कामव्यथा बिना कामिनी आदि में आनन्द का गन्ध भी उपलब्ध नहीं होता। वह आनन्द सर्वत्र ही अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अगन्ध, अदृश्य तथा निराकार ही है।

प्रेमास्पद में प्रेम के उद्रेक से आनन्द का उद्रेक होता है। आनन्द के उद्रेक में आन्तर-बाह्य सर्व दृश्य जगत् का विस्मरण होता है। तभी चिरकाल-कामित कामिनी

के परिरम्भणजन्य आनन्द के उद्रेक में आन्तर-बाह्य दृश्य का विस्मरण होता है। ऐसे ही सुषुप्ति-काल में प्राज्ञ परमात्मा के सम्मिलनजन्य आनन्द से प्रपञ्च का विस्मरण होता है। सप्रपञ्च ब्रह्म में सातिशय प्रेम होता है। अतएव वहाँ सातिशय आनन्द तथा प्रपञ्च-विस्मरण भी कुछ मात्रा में ही होता है। सर्वोपाधि विनिर्मुक्त भगवान् ही निरावरण होने के कारण निरतिशय प्रेम के आस्पद हैं। उन्हींके सम्मिलन में निरतिशय आनन्द होता है, और तभी सम्पूर्ण रूप से सर्वदृश्य का अत्यन्ताभाव होता है। अधिष्ठान साक्षात्कार द्वारा जब तक आवरण निवृत्ति नहीं होती, तब तक जीव को पूर्णरूपेण ब्रह्म का परिष्वंग नहीं होता। जितना व्यवधान-शून्य प्रियतम-परिष्वंग होता है, उतना ही अधिक आनन्द व्यक्त होता है। सृष्टि या प्रबोध-काल में भोग्य और भोक्ता सभी अपने महाकारण से दूर हो जाते हैं। प्रलय तथा सुषुप्ति में वे सभी अपने कारण के सन्निधान में पहुँच जाते हैं।

यद्यपि जैसे तरङ्ग किसी अवस्था में भी सागर से वियुक्त नहीं होते, किन्तु सदा सागर के अंक में ही उनकी स्थिति होती है, महासागर से फेन, बुद्बुद, तरंग की तरह परमानन्दसुधासागर से उत्पन्न होनेवाले समस्त तत्त्वों की स्थिति प्रभु के मङ्गलमय श्री अङ्ग में ही है, तथापि, भ्रममूलक भेद और वियोग इतना स्पष्ट व्यक्त हो रहा है कि स्वाभाविक अभेद एवं सम्बन्ध अत्यन्त तिरोहित हो गया है। विस्मृत कण्ठमणि का अन्वेषण तथा महासागर के अन्तर्गत होनेवाले हिमउपल की पिपासा इस विषय के पोषक सुन्दर उदाहरण हैं। महाप्रलय के समय समस्त प्रपञ्च क्रमेण सबीज ब्रह्म में लीन होता है। समस्त वन, पर्वत, नगर, ग्रामादि पार्थिव प्रपञ्च पृथिवी में विलीन हो जाते हैं। पृथिवी जल में, जल तेज में, तेज वायु में एवं वायु आकाश में लय हो जाता है। सृष्टिकाल में जैसे महाकारण, कार्योन्मुख विकसित होकर, सविशेषभाव को प्राप्त होता है, वैसे ही प्रलय काल में समस्त कार्य, कारणोन्मुख संकुचित होकर निर्विशेष भाव को प्राप्त होता है।

तन्तु में अङ्गप्रावरण, शीतापनयनादि कार्य-करण-क्षमता नहीं होती; परन्तु पट में होती है यद्यपि वह तन्तुओं से भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ न होकर केवल आतानवितानात्मक तन्तुरूप ही है। तथापि उसमें अङ्ग प्रावरण तथा शीतापनयन करने का सामर्थ्य होता है। तन्तु में वह सामर्थ्य नहीं है, वैसे ही घट में जलानयन करने का सामर्थ्य है, किन्तु मृत्तिका में नहीं। मृत्तिका जलानयन कर्तृत्वविशेषरहित होने से निर्विशेष है। घट जलानयनकर्तृत्वयुक्त होने से सविशेष होता है। पट में शीतापनयन कार्य-कारितारूप विशेष है। अतः वह सविशेष है। तन्तु उससे हीन होने के कारण निर्विशेष है। यद्यपि विवेचन करने पर उपादान कारण से भिन्न कार्य कुछ होता नहीं, तथापि कारण की अपेक्षा कार्य में कुछ अनिर्वचनीय विलक्षणता अवश्य होती है। मृत्तिका घट-रूप में व्यक्त होकर सविशेष होती है। घट के मृत्तिका

में लीन होने पर घट की अपेक्षा वह निर्विशेष और मृत्तिका की अपेक्षा घट सविशेष होता है। जल निर्गन्ध है पर उसका कार्य पृथिवी गन्धवती है। नीरस तेज से रसवान् जल, एवं नीरूप वायु से रूपयुक्त तेज की उत्पत्ति होती है। कारण की अपेक्षा कार्य सविशेष एवं कार्य की अपेक्षा कारण निर्विशेष होता है। आकाश में शब्द होता है। आकाश को भी 'अहंतत्व' (अहंकार) में एवं अहंकार को 'महत्तत्व' (समष्टिज्ञान) में, 'महत्तत्व' को 'अव्यक्त' में लय चिन्तन करने से अत्यन्त निर्विशेषता होती है। महानिद्रा, तम, सुषुप्ति में सर्वदृश्य का परमात्मा में लय होता है। सुषुप्ति या प्रलय में जिस भगवत्स्वरूप में सर्व भोग्य एवं भोक्ता का लय होता है, वह भी विश्वशक्ति-विशिष्ट ही है। यहाँ सबीज ब्रह्म में ही सबीज प्रपञ्च का विलयन होता है। अतएव पार्थक्य भी सूक्ष्म रूप से विद्यमान ही रहता है।

क्षीर-नीर के सम्मिश्रण में एकता सी हो जाती है, परन्तु वस्तुतः क्षीर-नीर के अवयव पृथक्-पृथक् ही रहते हैं। इसीलिये हंस उनका विवेचन कर लेता है। महासमुद्र में नाना निर्झर-निर्झरिणी एवं महानदियों का संगम होता है। स्थूलदर्शियों की दृष्टि में यद्यपि समुद्र के साथ सबकी एकता हो जाती है, परन्तु अभिज्ञ जन समझते हैं कि महासमुद्र में सभी निर्झर, सरिताओं के जल पृथक्-पृथक् विद्यमान हैं। सर्वज्ञ-कल्प योगिजन एवं सर्वज्ञशिरोमणि भगवान् उन सबका विवेचन एवं पृथक्करण कर सकते हैं। ठीक इसी तरह अनन्त ब्रह्माण्ड-जननी महाशक्ति-विशिष्ट भगवान् में अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड एवं तदन्तर्गत अनन्त जीव तथा उनके अनन्त कर्म और सभी भोग्य प्रपञ्च विलीन होते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म दशा में पहुँचने के कारण यद्यपि जीवों के लिये उनका विवेचन एवं पृथक्करण अशक्य है, तथापि सर्वान्तरात्मा सर्वेश्वर भगवान् सभी का विवेचन एवं पृथक्करण कर सकते हैं। अनन्त ब्रह्माण्ड, अनन्त जीव एवं उनके अनन्त कर्मों तथा उनके फलों को जानकर यथायोग्य विवेचन, नियोजन, यही परमेश्वर का विशेष कार्य है। किन-किन ब्रह्माण्डों के, किन-किन जीवों के, किन-किन जन्मों के, किन-किन कर्मों का फल किन-किन देशों एवं कालों में, किस तरह प्रदान करना चाहिये, यह ज्ञान, कर्म एवं जीव इन दोनों ही के लिये अशक्य है। न तो कर्म ही अपने अनन्त स्वरूपों एवं फलों को जान सकते हैं और न जीवों को ही अनन्त कर्म एवं तत्फलों का ज्ञान है। यदि हो भी तो फल सम्पादन की शक्ति नहीं है। क्योंकि परमेश्वर के सिवा सभी की शक्तियाँ क्षुद्र ही हैं। यदि जीव को कर्म एवं उनके फलों का ज्ञान तथा फल-सम्पादन की शक्ति भी हो, तो भी जीव अपने शुभ कर्मों के शुभ फलों के ही सम्पादन में रुचि रख सकता है। अशुभ कर्म एवं तत्फलों के सम्पादन में उसकी कथमपि रुचि एवं प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् के बिना अन्यत्र सर्व ब्रह्माण्डान्तर्गत सर्व जीव तथा उनके कर्म तथा फलों का ज्ञान और कर्म-फलदान की शक्ति का होना असम्भव है।

इस तरह अविद्याकामकर्मविशिष्ट जीव का ही सुषुप्ति अवस्था में सबीज ब्रह्म के साथ सायुज्य (एकता) होता है। ब्रह्म-सम्मिलन में जीव को अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होती है। परन्तु सुषुप्ति में सावरण जीव का सावरण ब्रह्म के साथ सम्मिलन होता है, इसलिये व्यवधान का अवशेष रहता है। व्यवधानरहित ब्रह्म-सम्मिलन तो तभी हो सकता है जब जीव स्वयं निरावरण होकर निरावरण ब्रह्म के साथ सम्मिलन प्राप्त करे। इस आवरणनिवृत्ति के लिये स्वधर्मानुष्ठान, भगवदाराधन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, अधिष्ठानभूत भगवान् का साक्षात्कार किया जाता है। अज्ञानरूप आवरण की निवृत्ति से ही जीव को व्यवधान-शून्य ब्रह्म का सम्मिलन प्राप्त होता है। जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द हस्तिनापुर से श्री द्वारका पधारे, उस समय प्रोषितभर्तृका द्वारकास्थ श्रीकृष्णपट्टमहिषीगण प्रियतम का आगमन सुनकर प्रिय-सम्मिलन के लिये आसन से एवं आशय से उठीं—'**उत्तस्थुरारात्सहसासनाऽशयात्।**' यहाँ देशकृत व्यवधान निराकरण के लिये श्रीकृष्ण-प्रेयसीवर्ग का आसन से अभ्युत्थान हुआ। वस्तु-कृत व्यवधान के निवारण के लिये आशय से अभ्युत्थान है—"**आशेरते कर्मवासना यत्रासावाशयः।**" आशय शब्द से अन्तःकरण विवक्षित है, जो कि समस्त कर्मवासनाओं का आलय है। आशय भी पञ्चकोश का उपलक्षण है, अर्थात् श्रीकृष्ण-प्रेयसी आशयोपलक्षित पञ्चकोश कञ्चुक से समावृत स्वरूप से प्रिय-सम्मिलन में त्रुटि समझकर पञ्चकोश कञ्चुक से पृथक् होकर निरावरण रूप से प्रियतम-सम्मिलन के लिये उठीं। यहाँ पञ्चकोशातीत 'त्वंपदलक्ष्यार्थ' ही जीव का निजी शुद्ध स्वरूप है और 'तत्पदलक्ष्यार्थ' व्यापक महाचेतन ही उसका अंशी है। अंश और अंशी का मुख्य सम्बन्ध होता है। जैसे पृथ्वी का अंश लोष्ठ या पाषाण आदि पृथ्वी की ओर आकर्षित होता है, वैसे ही परमात्मा के अंश जीवों का भी उस ओर आकर्षण होता है। जिनके मत में चन्द्र का शतांश बृहस्पति नक्षत्र है, इस प्रकार का केवल औपचारिक अंशांशिभाव है, उनका आकर्षण भले ही न हो, पर यहाँ तो श्रीकृष्ण-प्रेयसी-गण पञ्चकोश-कञ्चुक से निरावरण होकर व्यवधानशून्य प्रियतम-सम्मिलन के लिये ही आशय से अभ्युत्थित हुईं। उन्होंने यह समझा कि जब प्रियतम-व्यवधायक आनन्दोद्रेकजन्य रोमाञ्च की उद्गति भी असह्य है, तब पञ्चकोश कञ्चुक का व्यवधान कैसे सह्य हो सकता है? इस तरह प्रत्यक् चैतन्य से अभिन्न परब्रह्म के स्वरूप का साक्षात्कार होने पर ही अज्ञान एवं तत्कार्य-रूप व्यवधायक आवरण की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। निरतिशय परप्रेमास्पद प्रत्यगात्मा के साथ एकता होने से तत्पदार्थं परमात्मा में भी निरतिशय निरुपाधिक परप्रेमास्पदता व्यक्त होती है और साक्षात् अपरोक्षता परमानन्दरूपता भी स्फुट होती है। इसके विपरीत परमात्मा को प्रत्यक् भिन्न पराक् बहिरङ्ग मानने से स्वयंप्रकाशता, परप्रेमास्पदता तथा परमानन्दास्पदता किसी तरह सिद्ध नहीं हो सकती। अतः साधक को अपने भगवान् की पूर्णता, परमानन्दता आदि सिद्धि के लिये स्वात्मसमर्पण करना ही पड़ता है।

अनात्मज्ञ प्रत्यगात्मा से भिन्न अन्यान्य समस्त प्रपञ्चों का भगवान् में समर्पण करता है, परन्तु प्रत्यगात्मा का अस्तित्व पृथक् रखता है। आत्मज्ञ प्रियतम के सब प्रकार के परिच्छेद से शून्य पूर्णता की सिद्धि के लिये प्रत्यगात्मा को भी भगवान् में समर्पित कर देता है। जैसे घटाकाश अपने आपको महाकाश में, किंवा तरङ्ग अपने आपको महासमुद्र में समर्पण करता है, वैसे ही जीवात्मा अपने आपको भगवान् में समर्पण कर देता है। यही "**मामेकं शरणं व्रज**" आदि भगवदादेश का पालन है। "**मामेकमद्वितीयं शरणमाश्रयं व्रज निश्चिनु। यथा घटाकाशस्याश्रयो महाकाशः तरङ्गस्याश्रयो महासमुद्रः।**" यही निर्विकार अद्वैत चिदात्मा परम तात्त्विक है। इससे भिन्न समस्त नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्च अतात्त्विक असत् है, अतएव गीता ने देहात्म-ज्ञान, भेदज्ञान, ऐकात्म्यज्ञान इत्यादि भेद से तामस, राजस, सात्त्विक त्रिविध ज्ञान का वर्णन किया है।

"सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं सात्त्विकं स्मृतम्।।"

जिस शास्त्र तथा आचार्य द्वारा उपदिष्ट ज्ञान से परस्पर विभक्त समस्त भूतों में एक त्रिकालाबाध्य, अव्यय, अधिष्ठानस्वरूप परमात्मा का दर्शन होता है, वही सात्त्विक ज्ञान है। जैसे कटक, मुकुट, कुण्डलादि नाना नामरूपवाले अलंकारों में सुवर्ण, किंवा सर्प, धारा, माला आदि विकल्पनाओं में अधिष्ठान रज्जुखण्ड ही विद्य-मान है, वैसे ही अत्यन्त विषम प्रपञ्च में अधिष्ठानरूप से एक स्वप्रकाश सदानन्द परमात्मा विराजमान है। यही अद्वैत ब्रह्मवाद गीतोक्त सात्त्विक ज्ञान है। यही "**ब्रह्मैवेदं सर्वं, आत्मैवेदं सर्वं**" इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है। "**पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्। वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं राजसं स्मृतम्।।**" जिस भिन्न-भिन्न पदार्थविषयक ज्ञान से पृथक् प्रकार के नाना भाव जाने जाते हैं, वह राजस ज्ञान है। यह भेद-ब्रह्मज्ञान गीतोक्त राजस ज्ञान है। "**सर्वं परस्परं भिन्नं**" यह ज्ञान श्रुति में कहीं भी प्रतिपादित नहीं है।

"यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तज्ज्ञानं तामसं स्मृतम्।।"

देहादि कार्य्य में ही आसक्त अतत्त्वार्थविषयक ज्ञान तामस ज्ञान होता है। श्रीमद्भागवत में भी सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदरहित, स्वप्रकाश, नित्य-विज्ञान को ही तत्त्व कहा है।

"वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।"

अद्वय ज्ञान को ही तत्त्वविद् लोग तत्त्व कहते हैं, उसीको ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् कहा जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि यहाँ ब्रह्म से परमात्मा में और

उससे भगवान् में उत्कर्ष विवक्षित है। यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण की सभा में बैठे हुए यादवों ने आकाश-मार्ग से आते हुए देवर्षि श्री नारदजी को प्रथम केवल तेज:पुञ्ज ही समझा। कुछ समीप आने पर कोई देहधारी समझा और अधिक समीप होने पर पुरुष एवं सर्वथा सान्निध्य में श्री नारद समझा।

"चयस्त्विषामित्यवधारितम्पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥"

ठीक उसी तरह तत्त्व से अति दूर स्थित अधिकारी को प्रथम केवल चिन्मात्र ब्रह्म का बोध होता है, कुछ सामीप्य होने पर योगियों को कतिपय गुण-विशिष्ट परमात्मा, सर्वथा सान्निध्य होने पर अनन्त कल्याण-गुणगण-विशिष्ट भगवान् के रूप में तत्त्व का उपलम्भ होता है। इन्हीं लोगों में ही मनमानी कल्पना करनेवाले कुछ लोग श्रीकृष्ण को आदित्यस्थानीय और ब्रह्म को प्रकाशस्थानीय मानते हैं। कुछ श्री वृषभानुकिशोरी के नख-मणि-प्रकाश या नूपुर-प्रकाश को ही औपनिषद् परब्रह्म कहते हैं। परन्तु वैदिकों की दृष्टि में तो वेदों का महान् तात्पर्य्य ब्रह्म ही में है और वही सब तरह से सर्वोत्कृष्ट है।

संकोच का कारण न होने से वृद्ध्यर्थक 'बृहि' धातु से निष्पन्न 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ निरतिशय बृहत्तम तत्त्व होता है। जो देश-काल-वस्तु परिच्छेदवाला हो वह तो परिच्छिन्न होने के कारण क्षुद्र ही है, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि जड़ हो तो भी दृश्य होने से अल्प और मर्त्य होगा। अत: अनन्त स्वप्रकास सदानन्द तत्त्व ही 'ब्रह्म' पद का अर्थ होता है और वही भूमा अमृत है। उससे भिन्न सभीको अल्प और मर्त्य ही समझना चाहिये। फिर अनन्त पद के साथ पठित 'ब्रह्म' शब्द का तो सुतरां यही अर्थ है। उसमें अतिशयता की कल्पना निर्मूल है। किसी राजा ने ऐसी कहानी सुनना चाहा कि जिसका अन्त ही न हो। एक चतुर ने सुनाना प्रारम्भ किया—राजन्! एक वृक्ष था, उसकी अनन्त शाखाएँ थीं, उन शाखाओं में अनन्त उपशाखाएँ थीं, उपशाखाओं में भी अनन्त पल्लव थे और उनपर अनन्त पक्षी बैठे थे। कुछ काल में एक पक्षी उड़ा 'फुर्र'। राजा ने कहा—आगे कहिये, इसपर उसने कहा–'दूसरा उड़ा फुर्र'। तब राजा ने कहा–और आगे कहिये, तब उस चतुर ने कहा कि पहले पक्षियों का उड़ना पूरा हो तब आगे बढ़ूँ। यहाँ एक-एक पक्षी का उड़ना समाप्त ही नहीं हो सकता। इसी तरह कल्पनाओं का अन्त ही नहीं है। अत: एक शब्द में यही कहा जाता है कि अतिशयता की कल्पना करते-करते वाचस्पति तथा प्रजापति की भी मति जब विरत हो जाय, और जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना कर ही न सके तब उसी अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परमानन्द-घन भगवान् को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं। उसीका 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादि व्याससूत्रों से विचार किया गया है।

प्रकाश की अपेक्षा आदित्य में जिस अतिशयता की कल्पना की जाती है, उससे भी अनन्तकोटि-गुणित अतिशयता की कल्पना के पश्चात् जिस अन्तिम निरतिशय सर्व बृहत् पदार्थ की सिद्धि हो, उसमें भी देश-काल-वस्तु के परिच्छेदों को मिटाकर, परिच्छिन्न या एकदेशिता आदि दूषणों का अत्यन्ताभाव सम्पादन करके, तब उसे ब्रह्म शब्द का अर्थ जानना चाहिये। इसीको "तत्त्व" कहा जाता है। इसका ही लक्षण है—**"तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।"** इसीका नाम ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् है। लक्षण के भेद से लक्ष्य-भेद हो सकता है, नाम-भेद से नहीं। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्व घट का एक लक्षण है। अतएव घट-कुम्भ-कलशादि नाम से उसका भेद नहीं है। हाँ, ब्रह्म अनेक हैं—कार्यब्रह्म, कारणब्रह्म, कार्यकारणातीतब्रह्म। ऐसी स्थिति में यह हो सकता है कि कार्यकारणातीत वेदान्तवेद्य शुद्ध-ब्रह्मरूप भगवान् के प्रकाशस्थान में कार्यब्रह्म या कारणब्रह्म हो। प्रायः यह भी कहा जाता है कि निर्गुण ब्रह्म भगवान् का धाम है। यद्यपि धाम का अर्थ ऐसे स्थलों में स्वरूपभूत आत्मज्योति का ही बोधक होता है **'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।'** हे नाथ! आप परमात्मा हैं, परम प्रकाश (परम ज्योति) और परम पवित्र हैं। तथापि कुछ अविवेकियों की यही अटल धारणा है कि धाम के माने निवासस्थान ही होता है। अस्तु, वे लोग अव्यक्तरूप कारण-ब्रह्म को ही वेदान्तवेद्य ब्रह्म मान बैठते हैं। कार्यकारणातीत तत्त्व तक उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। इस कारण यदि ब्रह्म को धाम भी मान लें तो भी सिद्धान्त में कोई बाधा नहीं पड़ती। यह भेद वेदान्तियों को इष्ट ही है कि स्थूल कार्यब्रह्म के ऊपर सूक्ष्म कार्यरूप ब्रह्म, उसके ऊपर कारणब्रह्म और इस अव्यक्त कारणब्रह्म के ऊपर कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म स्थित है। यह अन्तिम तत्त्व ही अद्वितीय अनन्त शुद्ध बोधरूप है। इसका ही विवर्त समस्त चराचर प्रपञ्च है। यदि सर्वाधिष्ठान होने के कारण इसे सर्वधाम, सर्वनिवासस्थान भी कहें, तो भी कोई हानि नहीं। इसी अंश का स्पष्टीकरण भागवत के इन पद्यों में किया गया है—

"ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥"

एक अद्वितीय नित्य बोध ही भ्रान्त जनों को अविद्याप्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि आदि द्वारा शब्दादिधर्मक प्रपञ्चरूप से भासित होता है।

●

निर्गुण या सगुण ?

श्री भगवान् के स्वरूप में अन्तरात्मा और अन्तःकरण के आकर्षित हो जाने पर सहज ही में प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अखण्डानन्द स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। श्री कपिलदेवजी ने अपनी माँ श्री देवहूतिजी को प्रथम असंग, अनन्त, निराकार, निर्गुण परमतत्त्व का सम्यक् उपदेश करने के अनन्तर उसमें स्थिति के लिये सगुण स्वरूप का वर्णन करके उसके ध्यान की परमावश्यकता बतलायी है। अति मधुर सुन्दर भगवान् के स्वरूप में चित्त जैसे-जैसे अधिक आकर्षित होता है, वैसे ही वैसे उसकी निर्मलता और स्वच्छता बढ़ती है एवं चित्त के अधिकाधिक स्वच्छ होने पर प्रभु-स्वरूप में चित्त की और अधिक आसक्ति होती है। जैसे अयस्कान्त मणि (चुम्बक) में स्वच्छ लौह का अत्यधिक आकर्षण होता है, वैसे ही अमलान्तरात्मा का भगवत्स्वरूप में अत्यधिक आकर्षण होता है। प्रेमानन्द के उद्रेक में मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और सर्वाङ्ग का शैथिल्य तथा नैश्चल्य हो जाता है। लौकिक प्रेम में भी वाङ्निरोध, कण्ठावरोध आदि देखा ही जाता है। फिर अलौकिक भगवान् के प्रेमानन्द में सर्वकरण-शैथिल्य तथा नैश्चल्य होना भी श्री भरत और राम के सम्मिलन में प्रसिद्ध ही है।

"मिलेउ प्रेम पूरण दोउ भाई।
मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
प्रेम भरा मन निज गति छूछा।
कोउ कछु कहै न कोउ कछु पूछा॥"

इस तरह भगवान् के मधुर मुखचन्द्र तथा श्रीचरणारविन्द की दिव्य नख-मणि-चन्द्रिकाओं में मन को एकाग्र करने से मन भी प्रेमोन्माद में विह्वल हो उठता है। प्रथम बाह्य विषयों से मन को हटाकर अनन्त-कोटि सूर्य के दिव्य-प्रकाश को तिरोहित करनेवाले श्री भगवान् के परम प्रकाशमय मनोहर श्रीअङ्ग और दिव्याति-दिव्य भूषण-वसन तथा साङ्गोपाङ्ग परिकरादि का चिन्तन किया जाता है। पश्चात् प्रेम और अनुराग की वृद्धि में श्रीचरणारविन्द या अमृतमय मुखचन्द्र में ही मन की एकाग्रता सम्पादन की जाती है। प्रेम-प्राखर्य्य में मन की इतनी शिथिलता होती है कि परम मधुर भगवान् से भिन्न वस्तु के चिन्तन की तो चर्चा ही क्या? साक्षात् श्री भगवान् के अनन्त कोटि चन्द्रसागर-सार-सर्वस्व निष्कलंक पूर्णचन्द्र की मधुर दीप्ति को लजानेवाले सुस्मित मुखचन्द्र को ग्रहण करने में भी वह असमर्थ हो जाता है। इस तरह सर्व प्रपञ्चों से हटकर अपने ध्येय में स्थित मन को जब ध्येय-ग्रहण में भी सामर्थ्य न रहा, तब जो वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्द भगवान् अभी तक ध्येयरूप में

स्थित थे, वही अब ध्येय-ध्यान-ध्याता और उन तीनों के अभाव के प्रकाशरूप से अभिव्यक्त होते हैं। ध्याता-ध्यान-ध्येय, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय आदि त्रिपुटियों का ऐसा स्वभाव है कि इनमें एक के मिटने से तीनों ही मिट जाते हैं।

"एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः॥"

ध्येय न रहने पर ध्यान भी नहीं रहता, क्योंकि ध्येयाकार मानसी वृत्ति को ही ध्यान कहा जाता है और ध्यानरूपा वृत्ति के आश्रय अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को ही ध्याता कहा जाता है। अतः जब ध्यान नहीं तब ध्यान का आश्रयभूत ध्याता भी नहीं उपलब्ध होता है और ध्याता तथा ध्यान के न होने पर ध्याता के ध्यान का विषयीभूत ध्येय भी कैसे उपलब्ध हो सकता है। इस तरह जो सर्वावभासक भगवान् अभी ध्येय-रूप से स्थित थे वे ही किसी समय के सर्वभावभासक तथा इस समय सर्वाभाव के भासक रूप से अभिव्यक्त हो जाते हैं। इस तरह प्रभु के अमृतमय मुखचन्द्र के माधुर्यामृत-सौन्दर्य्यामृत पान से उन्मत्त मन की शिथिलता और निश्चलता होते ही ध्यान-ध्येय-ध्याता के भाव तथा अभाव के भासक शुद्ध प्रत्यङ्ङन्तरात्मा स्वरूप से अनन्त अखण्ड व्यापक आनन्दघन भगवान् प्रकट हो जाते हैं। इस तरह सहज ही में भगवान् अपने ही मधुर स्वरूप में मन को खींचकर और अपने माधुर्य्य सौन्दर्यामृत पान से मन को विभोर कर, त्रिपुटी मिटाकर, सर्वाभावभासक शुद्ध सच्चिदानन्दरूप में प्रकट होकर भक्त को सदा के लिये कृतार्थ कर देते हैं।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध में भी विराट् आदि भगवान् के स्थूलरूप के ध्यान के अनन्तर अनन्त कोटि ब्रह्मांड-नायक प्रभु की मधुर मङ्गलमयी मूर्ति का ध्यान बताया गया है। ध्यान चित्त की पूर्ण एकाग्रता होने पर भगवान् के अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश बोधस्वरूप का साक्षात्कार कहा गया है। उक्त स्वरूप में दृढ़ निष्ठा के लिये पुनः-पुनः भगवान् के मधुर स्वरूप के श्रीचरणों का पुनः-पुनः ध्यान और अनुराग सहित परिरम्भण कहा गया है—**"हृदोपगुह्यार्हपदं पदे पदे।"** भगवान् के अचिन्त्य, अनन्त, मधुर मङ्गलमय स्वरूप में प्रेम और भजन सर्वसाधन तथा सर्वफल स्वरूप है। अतएव इसमें साधक तथा सिद्ध दोनों की ही प्रवृत्ति होती है—

"साधन सिद्धि रामपद नेहू।
मोहि लखि परत भरत मत एहू॥"

प्रभु के श्रीचरणारविन्द-सौगंध्यामृत-सिन्धु के एक बिन्दु के समास्वादन करने से सनकादि शुकादि जैसे ब्रह्मनिष्ठ महामुनीन्द्र भी मुग्ध हो जाते हैं—

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दरेणुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥"

अतएव श्री जनकजी जैसे विदेह तत्त्वनिष्ठों की यह अनुभूतियाँ हैं—

"इनहिं बिलोकत अति अनुरागा।
बरबस ब्रह्म-सुखहि मन त्यागा॥
सहज बिराग रूप मन मोरा।
थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा॥"

ठीक ही है, तभी तो कहा जाता है कि अमलान्तरात्मा परमहंस महामुनीन्द्रों को ही भक्तियोग विधान करने के लिये ही अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भगवान् अद्भुत सौंदर्य-माधुर्य-सुधाजलनिधि दिव्यमूर्ति धारण करते हैं। अन्यथा छोटे कार्यों के लिये ब्रह्म का अवतार वैसा ही है जैसा मच्छर हटाने के लिये तोप का प्रयोग। परन्तु समस्त नामरूप-क्रियात्मक प्रपञ्च से व्यावृत्तमनस्क अमलात्मा परमहंसों को भजनानन्द प्रदान करने के लिये प्रभु का दिव्य स्वरूप धारण परमावश्यक है।

अद्वैत-ब्रह्मनिष्ठ परमहंसों को भक्तियोग प्रदान कर उन्हें श्री परमहंस बनाना यही प्रभु के प्राकट्य का मुख्य प्रयोजन है। जैसे मिश्रित क्षीर-नीर का हंस विवेचन करता है, वैसे सांख्य सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति प्राकृत-प्रपञ्च से पृथक्, असङ्ग अनन्त चेतनतत्त्व का विवेचन करनेवाले हंस कहे जा सकते हैं। परन्तु वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार तो दृक्, दृश्य, आत्मा, अनात्मा या परात्पर पूर्णतम सर्वभासक भगवान् और प्रकृति प्राकृत-प्रपञ्च का ऐसा सम्बन्ध है जैसे मुक्ताहार और उसमें कल्पित सर्प का। अर्थात् सत्य एवं अनृत का जैसे आध्यासिक सम्बन्ध है वैसे ही दृश्य प्रकृति और उसके भासक एवं अधिष्ठानभूत भगवान् का आध्यासिक सम्बन्ध है। अतः सत्य एवं अनृत के विवेचन से जैसे सत्य ही अवशिष्ट रहता है, अनृत का सर्वथा अभाव हो जाता है, वैसे ही दृक्-दृश्य का भी विवेचन करने पर अनृतस्वरूप दृश्य प्रकृति का अभाव हो जाता है, केवल सर्वदृक् भगवान् का अवशेष रह जाता है। ऐसे वेदान्तसिद्धान्तानुसार सत्यानृत-रूप क्षीर-नीर का विवेचन कर नीरस्थानीय दृश्य को मिटाकर परम सत्य भगवान् में ही स्थित होनेवाले परमहंस कहे जा सकते हैं। परन्तु **"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्"**, **"रामप्रेम बिनु सोह न ज्ञाना"** इत्यादि अभियुक्तोक्तियों के अनुसार विदित होता है कि बिना भगवान् के मधुर मङ्गलमय स्वरूप में पूर्णानुराग हुए उच्च ज्ञान भी सुशोभित नहीं होता। अतः भक्तियोग से ज्ञान को सुशोभित करके परमहंसों को श्री परमहंस बना देना ही प्रभु के मधुर मङ्गलमय स्वरूप धारण करने का मुख्य प्रयोजन है, क्योंकि भजनीय के बिना भक्तियोग बन ही नहीं सकता। भगवत्तत्त्व से भिन्न प्रपञ्च जिनकी दृष्टि में है ही नहीं, उनका भजनीय सिवा भगवान् के और क्या हो सकता है।

रहा भगवान् का अचिन्त्य अनन्त अव्यपदेश्य निराकारस्वरूप, सो उस स्वरूप में तो वे परिनिष्ठित ही हैं। महावाक्यजन्य परब्रह्माकार वृत्ति के साथ ब्रह्म

का सम्बन्ध जानकर मन, बुद्धि एवं सर्वेन्द्रियाँ तथा रोम-रोम भी प्रभु के साथ सम्बन्ध के लिये लालायित होते हैं। इन्द्रियाँ स्वयम्भू से पराङ्मुख रची जाकर अपना हिंसन किया जाना इसीलिये समझती हैं कि उन्हें उनके प्रियतम से बहिर्मुख कर दिया गया है—"**पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः**"। महर्षि वाल्मीकि आदिकवि भी यही कहते हैं कि जिसने श्रीरामचन्द्र को स्नेहभरी दृष्टि से नहीं देखा और श्रीरामचन्द्र ने अनुकम्पाभरी दृष्टि से जिसे नहीं देखा, वह सर्वलोक में निन्दित है, और उसकी स्वात्मा भी उसकी विगर्हणा करती है।

> **"यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति।**
> **निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माऽप्येनं विगर्हति॥"**

जैसे कमलनयन पुरुष के वे अतिशोभन नयन व्यर्थ हैं, जिनका रूप-दर्शन में कभी उपयोग न हुआ, वैसे ही ज्ञानी के भी प्रारब्ध-भोग पर्य्यन्त अनिवार्य्य रूप से रहनेवाले देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारादि व्यर्थ और नीरस ही हैं, यदि इन सबका सदुपयोग प्रभु के सौन्दर्य्य माधुर्य्य सौरस्यामृत आदि के समास्वादन में न हुआ।

इसीलिये श्री व्रजाङ्गनाओं ने भी कहा है कि नेत्रवानों के नेत्रादि करण-ग्रामों की सार्थकता और इनका चरम फल यही है कि श्री व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र के अनुरागभरे कटाक्षपात से युक्त वेणुचुम्बित अमृतमय मुखचन्द्र के सौन्दर्यमाधुर्य्यामृत का निर्निमेषनयनों से पान किया जाय; घ्राण से सौगन्ध्यामृत और त्वक् से सुस्पर्शामृत का आस्वादन किया जाय। अन्यथा इन करणग्रामों का होना बिलकुल व्यर्थ ही है—"**अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः**"। इस प्रकार अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोम को अपने दिव्यरस से सरस और मङ्गलमय बनाने के लिये ज्ञानी के निर्वृत्तिक मन पर अविषय रूप से प्रकट वही वेदान्त-वेद्य सच्चिदानन्दघन भगवान्, अनन्तकोटि कन्दर्प के दर्प को दूर करनेवाले दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-जलनिधि मधुरातिमधुर स्वरूप से प्रकट होकर अपने स्नेह द्वारा भावुक के द्रवीभूत अन्तःकरण को अपने रङ्ग में रँग देते हैं। यद्यपि सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त ब्रह्म निरतिशय परप्रेमास्पद और परमानन्दरूप है, उससे अधिक प्रेमास्पदता और परमानन्दरूपता की कल्पना कहीं नहीं हो सकती; तथापि जब तक प्रारब्ध का अवशेष है, तब तक ज्ञानी को भी अन्तःकरणरूप उपाधि पर ही ब्रह्म का दर्शन होता है। अन्तःकरण से ब्रह्मदर्शन वैसा ही समझना चाहिये जैसे नेत्र से सूर्य्यदर्शन। परन्तु जैसे दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से नेत्र द्वारा सूर्य्य का अति दिव्य स्पष्ट स्वरूप दिखाई देता है, वैसे ही दिव्य लीला-शक्ति से वही भगवत्तत्व जब परम मनोहर सगुण-रूप में प्रकट होता है तब अन्तःकरण से उसमें विलक्षण चमत्कार अनुभूत होता है।

परन्तु प्रारब्ध-क्षय हो जाने, सर्वोपाधियों के मिटने तथा साक्षात् सूर्य्य-रूप हो जाने पर जो सूर्य्य को आत्मरूप उपलब्ध होता है, वह तो सर्वथा ही अनुपमेय है। जैसे श्री वृषभानुनन्दिनी दर्पण में अपने मुखचन्द्र की मधुरिमा का अनुभव करती हैं। अस्वच्छ दर्पण आदि की अपेक्षा स्वच्छ आदर्श पर किंवा श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर उन्हें अपने मुखचन्द्र की मधुरिमा अधिक भासित होती है, परन्तु उनके मुखचन्द्र का जो मुख्य माधुर्य्य है वह तो उनके अन्तरात्मभूत प्रियतम श्रीकृष्ण को ही विदित हो सकता है। किञ्चित् भी व्यवधान रहने पर रसास्वादन में कमी ही रहती है, अतएव भावुकों का कहना है कि यदि मधुर रूप में ही चक्षु हों तभी रूप-माधुर्य्य का और यदि पुष्प ही में घ्राण हो, तब ठीक सौगन्ध्य का आस्वादन हो सकता है। यह बात तो ठीक यहीं घटती है कि परमानन्द-सारसर्वस्व श्रीकृष्ण ही अपनी मधुरिमा (माधुर्य्याधिष्ठात्री श्री वृषभानुनन्दिनी) का अनुभव करते हैं। वैसे ही काल्पनिक भेद से ज्ञानी अपने स्वरूपभूत भगवान् के मधुर रूप का अनुभव करते हैं। यद्यपि वस्तु वही है, तथापि अचिन्त्य दिव्य लीला-शक्ति के अद्भुत प्रभाव से ज्ञानियों का भी मन प्रभु के इस मधुर स्वरूप में बलात् आकर्षित हो जाता है। जैसे फल, वृक्ष, अंकुर, बीज यद्यपि भूमि के ही स्वरूप-विशेष हैं तथापि फल में भूमि, बीज, अङ्कुर, वृक्ष इन सभी की अपेक्षा विलक्षण सौन्दर्य्य-माधुर्य्य-सौगन्ध्य-सौरस्य होता है। एवं गुलाब के बीज या नाल में जैसे शाखा-उपशाखा, कण्टक-पत्र आदि के उत्पादन करने की शक्ति है, वैसे ही पुष्प के उत्पादन करने की शक्ति है। परन्तु कण्टकादि-उत्पादिनी शक्ति की अपेक्षा सौगन्ध्य-माधुर्य्य-सौन्दर्य्य-सम्पन्न पुष्प उत्पादन करने की शक्ति विलक्षण है वैसे ही भगवान् की महाशक्ति में भी प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति है और उससे परम विलक्षण परात्पर पूर्णतम भगवान् की स्वरूपभूत मधुर मनोहर मङ्गलमयी मूर्ति का प्रादुर्भाव करनेवाली शक्ति भी है। उसी अचिन्त्य दिव्य लीला-शक्ति के योग से निराकार भगवान् उसी तरह साकार होते हैं, जैसे शैत्य के योग से निर्मल जल बर्फ रूप में, अथवा संघर्ष-विशेष से अव्यक्त अग्नि या विद्युत् दाहक और प्रकाशक रूप में व्यक्त होता है। निराकार ब्रह्म की अपेक्षा भी भगवान् की मधुर मूर्ति में वैसे ही चमत्कार भासित होता है।

इक्षु (ईख) दण्ड और चन्दन-वृक्ष ही मधुर और सुगन्धित होते हैं। यदि कदाचित् इक्षु में सुमधुर फल और चन्दन-वृक्ष में अति-सुन्दर और सुगन्धित पुष्प प्रकट हो तो उनकी मधुरता और सौगन्ध्य की जितनी ही बड़ाई की जाय उतनी ही कम है। इसी तरह अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत आनन्दबिन्दु का उद्गमस्थान अचिन्त्य अनन्त परमानन्दघन ब्रह्म ही अद्भुत रसमय है। फिर उसके फलरूप मधुर मङ्गल स्वरूप में कितना चमत्कार हो सकता है, यह सहृदय ही जान सकते हैं। इक्षुरससार शर्करासिता आदि का सार जैसे कन्द होता है, वैसे ही औपनिषद् परब्रह्म-रससार

भगवान् का मधुर मनोहर सगुण स्वरूप है। तभी किसीने श्रीकृष्ण को देखकर कल्पना की थी कि क्या यह श्री व्रजाङ्गनाओं का प्रेमरससारसमूह है, अथवा सात्वत-वृन्द का मूर्तिमान् सौभाग्य है, किंवा श्रुतियों का गुप्तवित्त ब्रह्म हो श्यामल मोहमयी मूर्ति को धारण करके प्रकट हुआ है—

"पुञ्जीभूतं प्रेम गोपाङ्गनानां मूर्तीभूतं भागधेयं यदूनाम्।
एकीभूतं गुप्तवित्तं श्रुतीनां श्यामीभूतं ब्रह्म मे सन्निधत्ताम्॥"

इसी तरह—

"शृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
धूलीधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥
परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥"

कुछ महानुभाव निगमाटवी के ब्रह्मतत्त्वान्वेषकों के परिश्रम पर दयार्द्र होकर उनके अन्वेष्टव्य ब्रह्म को यशोदा के उलूखल में बँधा हुआ बतला रहे हैं, तो कुछ श्रीमन्नन्दराय के प्राङ्गण में धूलिधूसरित वेदान्तसिद्धान्त के नृत्य का कौतुक बता रहे हैं। परम कौतुकी प्रभु में ये सभी कौतुक ही तो हैं। इतने पर भी लोगों के प्रश्न होते हैं कि निराकार भगवान् साकार कैसे हो सकते हैं, परन्तु इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता कि जब कौतुकी कृपालु की लीला से निराकार जीव साकार होता है, क्योंकि सर्वमत से जीव निराकार तथा निरवयव है और स्पर्शविहीन आकाश, स्पर्शयुक्त वायु के रूप में तथा रूपरहित वायु रूपवान् तेज़ के रूप में और रसगन्धविहीन तेज जल के रूप में, और रसयुक्त जल गन्धवती पृथ्वीरूप में अवतीर्ण होता है तब क्या वे निराकार होकर भी साकार रूप में प्रकट नहीं हो सकते ?

भावुक के द्रुतचित्त पर निखिल-रसामृत-मूर्ति भगवान् का प्राकट्य ही 'भक्ति' पद का अर्थ होता है। आशय यह है कि अन्तःकरण लाक्षा (लाख) के समान कठिन द्रव्य है, परन्तु तापक अग्नि के साथ सम्बन्ध होने से जैसे लाक्षा पिघलती है, वैसे ही स्नेह-रागादि तापक भावों के साथ सम्बन्ध होने से अन्तःकरण भी पिघलता है। यही कारण है कि रागास्पद कामिनी तथा द्वेषास्पद सर्पादि पदार्थों को ग्रहण करता हुआ चित्त पिघलकर अपने में उन पदार्थों के स्वरूपों को अंकित कर लेता है। इसीलिये उनका विस्मरण न होकर पुनः-पुनः स्मरण होता है। उसे तृण आदि की स्मृति इसीलिये कम होती है कि उनमें राग-द्वेष या भय आदि नहीं हुए। अतः चित्त की द्रुति वहाँ नहीं हुई। भावुकों का कहना है कि लाक्षा जब तक कम पिघली होती है, तब तक उसमें कोई रंग व्यापक और स्थिर नहीं होता, अतः तापक अग्नि के सम्बन्ध से लाक्षा इतनी पिघलायी जाय कि सौ पर्त के कपड़े में छानने लायक हो जाय। तब गंगाजल के समान निर्मल और द्रवीभूत उस लाक्षा में जो रंग छोड़ा

जाय, वह लाक्षा के अणु-अणु में, सर्वांश में व्यापक तथा स्थिर होता है, फिर चाहे लाक्षा भी चाहे कि मैं अपने से रंग को पृथक् कर दूँ, या रंग ही चाहे कि मैं पृथक् हो जाऊँ, परन्तु दोनों ही पृथक् होने में असमर्थ हैं। ठीक इसी तरह भगवद्विषयक राग आदि से गंगाजल के समान निर्मल और द्रवीभूत चित्त में परमानन्दघन भगवान् का प्राकट्य होने पर फिर पिघलती हुई लाक्षा में रंग की तरह सर्वांश में व्यापक तथा स्थिर रूप से भगवान् की स्थिति होती है। फिर तो भावना के प्रभाव से अपरिच्छिन्न अनन्त आन्तर रस की अभिव्यक्ति अन्तःकरण प्राण तथा रोम-रोम में सर्वत्र फैल जाती है, और आन्तर तथा बाह्य रूप से सर्वथा ही भगवान् का अनुभव होने लगता है।

अपने प्रियतम भगवान् के स्वरूप में होनेवाले तीव्र राग और उनके विरह-व्यथामय तीव्र ताप से भावुक के गुणमय सर्व कोशों का भस्मीभाव हो जाने और भावनामय भगवत्-सम्मिलनसौख्य रस से मन, प्राण, इन्द्रिय, देह तथा रोम-रोम के आप्यायन होने पर बाह्य-आभ्यन्तर सर्वरूप से भगवत्तत्व का अवगाहन होता है। इस तरह जब अनिमित्ता भागवती भक्ति गुणमय कोशों को जला देती है, तभी निरुपाधिक एवं निरावरण होकर भावुक अपने भगवान् से मिल सकता है। भगवद्विरह-व्यथा-तापमयी भक्ति से जिसके अन्नमयादि पञ्चकोशरूप त्रिविध तनु नहीं तप्त हुए, वे परमतत्त्वामृत के समास्वादन के अधिकारी नहीं हो सकते। यही **"अतप्ततनुर्न तदामोऽश्नुते"** इस श्रुति का आशय है। **"तपसा कृच्छ्रादिना भगवद्विरहजन्यतीव्रतापेन भक्तिपरिणामभूतेन ज्ञानाग्निना वा न तप्ता तनुर्यस्य स तत् परमात्मतत्वामृतं नाश्नुते।"** कृच्छ्रादि तप, भगवद्विरह-जन्य तीव्र ताप और भक्ति के परिणामभूत ज्ञानाग्नि से जिनके स्थूल, सूक्ष्म, कारण ये तीनों तनु नहीं संतप्त हुए, वे परमतत्त्व का आस्वादन कैसे कर सकते हैं? इसीलिये अनिमित्ता भागवती भक्ति को सिद्धि से भी श्रेष्ठ कहा जाता है। जैसे निगीर्ण अन्न को जाठराग्नि पचा डालती है, वैसे ही अनिमित्ता भक्ति पञ्चकोशों को जीर्ण कर देती है—

"अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा॥"

भक्ति ही ज्ञानरूप में परिणत होकर मूल अविद्या का भी विध्वंस करती है। भट्टोजीदीक्षित **"क्लृपि संपद्यमाने च"** इस वार्तिक के उदाहरणरूप में कहते हैं—**"भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते, ज्ञानाकारेण परिणमते।"**

श्रीमद्भागवत के माहात्म्य में ज्ञान, वैराग्य ये श्रीभक्ति के ही पुत्र बतलाये गये हैं। ज्ञान, भगवत्प्राप्ति, मुक्ति आदि यद्यपि भक्ति के फल हैं, तथापि फल की अपेक्षा साधन में ही अधिक प्रीति युक्त होती है। यद्यपि धन का फल भोग, धर्म, मोक्ष ही है तथापि लोभी धन के संग्रह और रक्षा के सामने भोग, धर्म, मोक्ष इन सभी पुरुषार्थों

को तिलाञ्जलि दे देते हैं, क्योंकि उनकी यही दृढ़ धारणा है कि यदि साधन है तब सब साध्य सहज ही में सिद्ध हो सकते हैं। माता योग्य पुत्र की उत्पत्ति से ही सौभाग्य-वती समझी जाती है, और पुत्र माता की भक्ति से ही सौभाग्यवान् होता है। अतः जहाँ ज्ञान, भक्ति का फल है वहाँ भक्ति, ज्ञान तथा ज्ञानियों की भी परम पूज्य एवं भजनीय देवता है। द्रवीभूत लाक्षा में एकमेक हुए रंग की तरह भक्त के प्रेमार्द्र हृदय में एकमेक हुए भगवान् यदि चाहें तो भी पृथक् नहीं हो सकते—

"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरंवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मो स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥"

बरबस भी जिनके मङ्गलमय नाम से बड़ी से बड़ी पापराशि नष्ट हो जाती है ऐसे परम-स्वतन्त्र सर्वशक्तिसम्पन्न भगवान् जिसके अन्तःकरण में स्नेहार्द्रतारूप प्रणय-पाश में बँधकर निकल न सकें वही प्रधान भागवत होते हैं। तभी तो किसी प्रेमी ने राग से पिघले हुए अपने अन्तःकरण में उसी द्रवावस्थारूप प्रणयपाश से प्रभु को बाँधकर उनकी सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता-महाशक्ति को भी कुण्ठित करके निःशंक होकर कहा है—"अच्छा, यदि आप मेरे हृदय से निकल सको तो मैं आपके पौरुष को समझूँ—

"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि चेद्यासि पौरुषं गणयामि ते॥"

ऐसे ही भक्त भगवान् को यदि अपने हृदय से पृथक् करना चाहे तो भी नहीं कर सकता। इसीलिये तो व्रजाङ्गना श्रीकृष्ण से अपना मन हटाने के लिये उनमें दोषानुसन्धान करती हैं—"हे सखि! असितों (कालों) से सख्य नहीं हो करना चाहिये, परन्तु क्या करें; श्यामसुन्दर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की कथा और कथार्थ तो हम लोगों के लिये दुस्त्यज ही है।" एक सखी श्रीकृष्ण-प्रेम में मूच्छित अपनी प्रियतमा सखी के उपचार में लगी हुई थी। इतने ही में दूसरी सखी आकर कुछ कृष्ण की चर्चा चलाने लगी। उपचार में लगी हुई सखी वारण करती हुई कहती है—

"संत्यज सखि तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
स्मारय किमपि तदितरद्विस्मारय हन्त मोहनं मनसः॥"

हे सखि! यदि अपनी प्रिय सखी को विश्रान्ति लेने देना चाहती है तो यहाँ उन (श्रीव्रजराजकुमार) की चर्चा न चला, किन्तु किसी और बात की याद दिला-कर किसी तरह मनमोहन को इसके मन से भुला दे।

महामुनीन्द्रगण बाह्य विषयों से मन को हटाकर श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्द में मन लगाना चाहते हैं, किन्तु ये व्रजदेवियाँ अपने मनमोहन श्रीकृष्ण से मन हटाकर अन्य विषयों में लगाना चाहती हैं। योगीन्द्रगण अपने हृदय में जिसके स्मृति-लेश के लिये लालायित हैं, उन्हीं सर्वप्राणि-परप्रेमास्पद जीवनधन प्रभु को वे हृदय से निका-

लेना चाहती हैं। ठीक ही है, पूर्ण द्रवीभूत लाक्षा और उसमें स्थायिभावापन्न रङ्ग इन दोनों का इतना अद्भुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है कि दोनों ही का परस्पर पृथक् होना असम्भव है। उसी तरह भगवद्भावना से द्रवीभूत अन्तःकरण पर भगवान् की स्थायिभावापत्ति होने से फिर परस्पर का पार्थक्य असम्भव हो जाता है। यद्यपि जीव का भगवान् के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध इससे भी बहुत अधिक घनिष्ठ है, जैसे तरङ्गों की समुद्र के बिना स्थिति ही नहीं, वैसे भगवान् के बिना जीव की सत्ता ही नहीं।

"सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा।
बारि बीचि जिमि गावहि बेदा॥"

तथापि स्वरूप-साक्षात्कार के पहले यह स्वाभाविकी निरतिशय निरुपाधिक प्रीति असम्भव है, अतः भगवान् और उनमें स्वाभाविकी प्रीति ये सभी उस द्रवावस्थारूप प्रणय के ही पराधीन हैं। इसीलिये किसी महानुभाव ने कहा है कि—

"अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्म क्रीडामृगीकृतम्॥"

अहो आश्चर्य! मैं तो उस प्रेमबन्धन का वन्दन करता हूँ जिससे बँधकर सबको मुक्ति देनेवाला और स्वयं नित्यमुक्त ब्रह्म भी भक्तों का खिलौना बन जाता है। वस्तुतः निरतिशय निरुपाधिक परप्रेमास्पद पूर्णतम पुरुषोत्तम का स्वरूप ही प्रेम है।

लोक में यद्यपि प्रेम और उसका आश्रय, एवं विषय ये तीनों पृथक् होते हैं तथापि अलौकिक दिव्य-प्रेम में तीनों ही एक हैं। अतएव "**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**" इत्यादि वचनों से निरुपाधिक प्रेम और प्रेमास्पद का अभेद कहा गया है— "**प्रेमी प्रेम-पात्रन में बतायो है अभेद वेद।**" इसीलिए "**जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न। वन्दौं सीताराम पद**" इत्यादि वाक्यों से महानुभावों ने मुख्य प्रेमी और प्रेमास्पद सीता और राम में अभेद कहा है। जैसे अमृत और उसकी मधुरिमा का अतिघनिष्ठ तादात्म्य-सम्बन्ध होता है, वैसे ही परमानन्दसुधासिन्धुसार-सर्वस्व श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र और उनकी माधुर्य्याधिष्ठात्री परमाह्लादिनी हृदयेश्वरी श्रीजनकनन्दिनी का भी अत्यन्त घनिष्ठ स्वरूपभूत ही सम्बन्ध है। अर्थात् सर्वान्तरङ्ग एवं सर्व से सन्निहित में ही सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध होता है। अन्तरङ्गता और सान्निध्य की समाप्ति या पर्य्यवसान-निरतिशयता प्रत्यगात्मा में ही होती है। अतः प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न भगवान् में ही प्राणियों का मुख्य प्रेम होता है।

ज्ञानीजन परमार्थतः भगवान् को अपना अन्तरात्मा समझकर पुनः काल्पनिक भेद का अवलम्बन करके भगवान् को भजते हैं। "**पारमार्थिकमद्वैतं द्वैतं भजनहेतवे। तादृशी यदि भक्तिः स्यात् सा तु मुक्तिशताधिका॥**" पारमार्थिक अद्वैत और भजन के

लिये द्वैत, बस इस भावना से यदि भक्ति हो तब तो यह भक्ति अपरिगणित मुक्तियों से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि अद्वैत-प्रबोध बिना यह द्वैत सर्वानर्थ का मूल ही है। राग, द्वेष, शोक, मोह सबका प्रसव इस द्वैत से ही होता है। परन्तु बोध हो जाने पर भक्ति के लिये स्वमनीषाकल्पित द्वैत तो अद्वैत से भी अति सुन्दर है—

"द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥"

भगवान् निर्गुण भी हैं और सगुण भी। उनकी उपासना भेदभावना तथा अभेद-भावना दोनों ही प्रकार से हो सकती है। स्वयं श्रीमुख की उक्ति है कि—

"ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥"

कोई भक्तियोग से, कोई ज्ञानयोग से मेरा यजन करते हुए उपासना करते हैं। कुछ लोग एकत्वभाव से और कुछ पृथक्त्वभाव से मुझ विश्वतोमुख की उपासना करते हैं। ज्ञानी अत्यन्त निष्काम तथा निष्कपट होकर भगवान् को भजता है। अतएव **"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्"**, **"एकभक्तिर्विशिष्यते"** इत्यादि स्थलों में श्रीभगवान् ने ही ज्ञानी को अपने में अनन्य प्रीतिमान् और उसे निज अन्तरात्मा ही बतलाया है।

भगवद्भावापन्न भगवान् के अन्तरात्मस्वरूप ज्ञानी को भगवान् से भिन्न कोई वस्तु ही दृष्टिगोचर नहीं होती। इसीलिये मुक्तोपसृप्य भगवान् को प्राप्त कर लेने से मुक्ति की भी स्पृहा मिट जाती है। अतएव—

"न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥"

ये भक्त उसी तरह कभी निर्विकल्प समाधि से भगवान् के अङ्क में उनके साथ एकमेक होकर विराजमान होते है और कभी श्रद्धाभक्ति से भगवान् के श्रीचरण-कमल के सौन्दर्य्य-माधुर्य्यादि का सेवन करते हैं, जिस तरह प्रेयसी कभी प्रियतम के अंक में एवं वक्षस्थल पर यथेष्ट क्रीड़ा करती है और कभी सावधानी से प्रियतम के पादपद्म का आराधन करती है।

"प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या पदयुगपरिचर्याम्प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्।"

जैसे चतुरा नायिका प्रियतम के साथ एकमेक होकर भी व्यवहार में अपने प्रियतम को चैलाञ्चल के व्यवधान (घूँघट पट की ओट) से ही देखती है।

"बहुरि बदन-बिधु अञ्चल ढाँकी।
पिय-तनु चितै भौंह करि बाँकी॥
खञ्जन मञ्जु तिरीछे नयननि।
निज पिय कह्यो तिनहिं सिय सैननि॥"

ठीक वैसे ही ज्ञानी यद्यपि अपने निरतिशय निरुपाधिक प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न भगवान् के साथ सर्वथा एकमेक ही रहते हैं, तथापि व्यवहार में भेद-भावना से ही अपने भगवान् की भक्ति करते हैं।

"विश्वेश्वरोऽपि सुधिया गलितेऽपि भेदे,
भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः।
प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते,
चैलाञ्चलव्यवहितेन निरीक्षणीयः॥"

अन्तरात्मा, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियाँ तथा रोम-रोम में आन्तर-बाह्य सर्वरूप से प्रभु का सुमधुर स्वरूप अनुभव करने के लिये ही ज्ञानीजन भक्तियोग से श्रीपरमहंस हो जाते हैं और वे ही शुद्ध प्रेमी होते हैं। अतः इनके लिये प्रभु का प्रादुर्भाव है। ऐसे ही शुद्ध-प्रेमियों में श्रीव्रजाङ्गना प्रभृति थीं, जिन्हें श्रीकृष्ण के विरह में एक क्षण भी सहस्रों युग के समान प्रतीत होते थे और श्रीकृष्ण के सम्मिलन में सहस्र कल्प भी क्षण ही के समान प्रतीत होते थे। इस तरह जो प्रभु के बिना प्राण-धारण ही नहीं कर सकते, उनके लिये भी प्रभु का प्राकट्य होता है। इस शुद्ध तत्त्वनिष्ठ प्रेमी के लिये मुख्यरूप से प्रभु का प्राकट्य होता है। फिर तो मुमुक्षुओं के लिये किं बहुना प्राणिमात्र के कल्याण के लिये भी प्रभु का प्राकट्य होता है। इसी वास्ते तो श्री शुकदेवजी ने प्राणिमात्र के निःश्रेयस को ही प्रभु-प्राकट्य का प्रयोजन कहा है—**"नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप। अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः।"** यहाँ 'नृणां' से 'नरमात्राभिमानिनां' यह अर्थ समझना चाहिये। जैसा कि **'न कर्म लिप्यते नरे'** यहाँ पर श्री शंकराचार्य भगवान् ने 'नरे' का 'नरमात्राभिमानिनि' यह अर्थ किया है। भावार्थ यह हुआ कि ज्ञानी और उपासकों से भिन्न साधारण अज्ञ-प्राणियों के निःश्रेयस के लिये निर्गुण निराकार निर्विकार भगवान् का सगुणरूप में प्राकट्य होता है।

अतएव काम, क्रोध, ईर्ष्या, भय, स्नेह आदि किसी भी भाव से भगवान् में चित्त लगाने से प्राणियों का कल्याण हो जाता है, अर्थात् यहाँ ज्ञान के बिना भी प्राणियों का कल्याण हो जाता है। जैसे विष-बुद्धि से भी अमृतपान करने से अमृतत्व-लाभ होता है, वैसे ही ब्रह्मबुद्धि बिना भी जिस किसी तरह भी श्रीकृष्ण का सेवन करने से भगवत्प्राप्ति हो ही जाती है; क्योंकि वस्तु-शक्ति ज्ञान की अपेक्षा नहीं करती। यद्यपि यों तो जब **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सब कुछ ब्रह्म ही है तो फिर प्राकृत स्त्री-पुत्र आदि के प्रेमियों को भी मुक्त हो जाना चाहिये, क्योंकि जब सब वस्तु ब्रह्म ही है, ज्ञान की अपेक्षा है ही नहीं, फिर पत्नी-सेवन भी ब्रह्मसेवन क्यों न माना जाय ? इत्यादि शंकाएँ होती हैं। तथापि भगवान् निरावरण ब्रह्म हैं और प्रपञ्च सावरण ब्रह्म है। बस, इसी भेद से भगवान् का सेवन ज्ञान बिना

भी कल्याणकारक है, और प्रपञ्च-सेवन ज्ञान बिना प्रपञ्च का ही प्रापक है। जैसे मेघ के सम्बन्ध से आदित्य का रूप छिप जाता है, परन्तु दिव्य उपनेत्र या दूरबीन के सम्बन्ध से आदित्य का स्वरूप आवृत नहीं होता, किन्तु अतिदिव्य स्वरूप में स्पष्ट होता है, वैसे ही प्रपञ्चोत्पादिनी मलिन शक्ति के सम्बन्ध से प्रपञ्चरूप में प्रकट ब्रह्म का निजी दिव्यरूप तिरोहित या आवृत हो जाता है। परन्तु दिव्य लीलाशक्ति के योग से दिव्य मधुर सगुण साकार श्रीराम, श्रीकृष्ण रूप में प्रकट परब्रह्म का स्वरूप आवृत नहीं होता, किन्तु दिव्य स्वरूप में प्रकट होता है। अतः निरावरण रूप में ज्ञान की आवश्यकता नहीं, सावरण रूप में ही है। सत्त्वादिगुणकृत प्रभाव से विनिर्मुक्त होने के कारण ही ये निर्गुण भी कहे जाते हैं। इसी आशय से 'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्' इत्यादि उक्तियाँ हैं। इन्हें जारबुद्धि से समाश्रयण करके भी कुछ व्रजाङ्गनाएँ मुक्त हो गयीं—'**तमेव परमात्मानं जारबुद्धयाऽपि संगताः। जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥**' जैसे चिन्तामणि में दीपक-बुद्धि से भी प्रवृत्त होने से प्राप्ति चिन्तामणि की ही होती है वैसे ही निरावरण श्रीकृष्ण परमात्मा में किसी भी बुद्धि से प्रवृत्त क्यों न हो प्राप्ति अखण्ड अनन्त निरावरण ब्रह्म की ही होगी।

●

व्रज-भूमि

श्रीव्रजराज-किशोर के प्रेम में विभोर भावुकों का सर्वस्व श्रीव्रजतत्त्व, अपार, महामहिम, वैभवशाली तथा प्रकृति-प्राकृतप्रपञ्चातीत है। साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द वृन्दावनचन्द्र के ध्वज-वज्राङ्कुशादियुक्त, परमपावन, योगीन्द्र-मुनीन्द्र-ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिवन्द्य पादारविन्द से अङ्कित व्रजतत्त्व के सम्बन्ध से भूमि ने अपने को परम सौभाग्यशालिनी समझा है। अहो ! जिसके कृपा-कटाक्ष की प्रतीक्षा ब्रह्मेन्द्रादि देवाधिदेव भी करते रहते हैं, वह वैकुण्ठाधिष्ठात्री सर्वसेव्या महालक्ष्मी ही जहाँ सेविका बनकर रहने के लिये लालायित है, उस सर्वोच्च-विराजमान व्रजभूमि के अद्भुत वैभव का कौन वर्णन कर सकता है ?

परमाराध्यचरण श्रीव्रजदेवियों ने वृन्दावन-नव-युवराज नन्दनन्दन के प्रादुर्भाव से व्रज की सर्वाधिक विजय बतलायी है :—

"जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।"

लोक और वेद से अतीत दिव्य-प्रेमवती व्रजयुवतीजन वहाँ प्राणपण से अपने प्राणनाथ प्रियतम परप्रेमास्पद के अन्वेषण में प्रेमोन्माद से उन्मत्त होकर इधर-उधर डोल रही हैं। लोक तथा वेद में यह प्रसिद्ध ही है कि '**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**' अर्थात् संसारभर की समस्त वस्तुएँ स्वात्म-सम्बन्ध से ही प्रेमास्पद होती हैं। स्वदेह, स्वपुत्र, स्वकलत्र एवं गेह-ग्राम-नगर-राष्ट्र यहाँ तक कि इष्ट देवता भी स्वात्म-सम्बन्धी ही प्रिय होते हैं। परमात्मा के स्वरूपान्तरों में भी वैसा प्रेम नहीं होता, जैसा स्वात्म-सम्बन्धी इष्टदेव में होता है। जब शर्करादि मधुर पदार्थों के सम्बन्ध से अमधुर चूर्णादि भी मधुर प्रतीत होते हैं तब शर्करादि स्वयं निरतिशय माधुर्य से सम्पन्न हो—यह बात जैसे निर्विवाद सिद्ध है, वैसे ही जिस स्वात्मतत्त्व के सम्बन्ध से अनात्मा भी प्रेमास्पद होता है, वह स्वात्मतत्त्व स्वयं निरतिशय निरुपाधिक प्रेम का आस्पद है—यह बात भी निर्विवाद सिद्ध है। परन्तु, ये व्रजसीमन्तिनियाँ तो अपने जीवनधन अशेषशेखर नट-नागर के लिये ही अपने स्वात्मा से भी प्रेम करती हैं।

उनका भाव है कि "हे दयित ! हे चपल ! आपके सुख के लिये ही हम इन प्राणों को धारण करती हैं। हृदयेश्वर ! यदि यह देह, प्राण, आत्मादि आपके उपयोग में न आयें तो ये किस काम के ? हम लोग तो आपके लिये ही इन सौन्दर्य-माधुर्य-सौगन्ध्य-सौकुमार्य आदि गुणों की रक्षा करती हैं। हे प्राणवल्लभ ! नन्दलाल ! समस्त सौख्यजात तथा तच्छेषी आत्मा—ये सभी आपके लोकोत्तर मनोहर मन्दहास-

माधुर्य-सुधासिन्धु पर न्योछावर हैं। किंवा, पादारविन्दगत नखमणि-ज्योत्स्ना पर राई-नोन के समान वारने योग्य हैं।"

धन्य है वह मङ्गलमय व्रजधाम जो ऐसी व्रजराजकुमार-प्रेयसी व्रजदेवियों के पादपद्म से समलंकृत है; जहाँ नयनाभिराम घनश्याम मनमोहन की मोहिनी मुरलिका की मधुर ध्वनि से त्रिलोकी के चराचर चकित हो रहे हैं; जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र-मुख-पङ्कज-निर्गत वेणुगीत-पीयूष से पाषाण द्रवीभूत होकर बह चले, तथा प्रेमार्त होकर कलिन्द-नन्दिनी महेन्द्र-नीलमणि के सदृश घनीभूत हो गयी; जहाँ गौएँ छविधाम घनश्याम के परम कमनीय माधुर्य का अनिमीलित नयन-पुटों से अधैर्य के साथ पान कर रही हैं, और श्रोत्रपुटों से वेणुगीत पीयूष का आस्वादन कर रही हैं; जहाँ प्रेमविभोर वत्सवृन्द सुतवत्सला जननी के प्रेमप्रसृत स्तन्यामृत-पान के लिये प्रवृत्त हुए, परन्तु वंशी-निनाद-मन्त्र से मुग्ध हो गये और उनके मुख से दुग्ध बाहर गिरने लगा, अन्दर ले जाने की क्रिया को वे भूल गये; जहाँ के मृग-विहङ्ग भी विविध प्रकार के उपचारों से प्रियतम की प्रसन्नता के लिये व्यग्र हैं।

जिस परम-पावन धाम में तरु-लता-गुल्मादि भी वेणुछिद्र-निर्गत शब्द-ब्रह्मरूप में परिणत भगवदीय अधर-सुधा का पान कर कुड्मल-पुष्प-स्तबकादिरूप रोमाञ्चोद्गम छद्म से, तथा मधुधारारूप हर्षाश्रुविमोक से, अपने दुरन्त भाव का व्यक्तीकरण कर रहे हैं; जिस धाम में प्रेमातिशय से प्रभु पादपद्माङ्कित व्रजभूमिगत ब्रह्मादिवन्द्य-रज के स्पर्श के लिये आज भी समस्त तरु-लताएँ विनम्र हो रही हैं; अथवा मनमोहन के दिये हुए निर्भर प्रेम के भार से ही विनम्र हो रही हैं; जिस व्रज की प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक परमाणु, बलात्कार से जीवन-धन की स्मृति उत्पन्न कर प्रियतम के सम्मिलन की उत्कण्ठा को उत्तेजित करते हैं, जिस व्रज में निवास करनेवाले सौभाग्यशाली महापुरुषधौरेयों के ऋणी अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक को भी होना पड़ा, उस व्रज का महत्त्व किन शब्दों में, किस लेखनी द्वारा व्यक्त किया जाय ?

सत्यलोकपति ब्रह्मा ने कहा कि "हे नाथ ! आप इन लोकोत्तर-सौभाग्यशाली व्रजवासियों को क्या देकर उनसे उऋण होंगे ?" इस बात को सोचता हुआ मेरा मन निश्चय करने में असमर्थ हो व्यामोह को प्राप्त होता है।

प्रभु ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक हूँ। मेरे पास दिव्यातिदिव्य अनन्त वस्तुएँ हैं जिन्हें देकर मैं इनके ऋण से उन्मुक्त हो सकता हूँ। फिर तुम्हें ऐसा व्यामोह क्यों ?"

इसपर ब्रह्मा ने कहा—"प्रभो ! इन अनन्तानन्त दिव्य वस्तुओं के प्रदान से आप इन घोष-निवासियों से उऋण नहीं हो सकते। क्योंकि, अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डान्तर्गत सब दिव्यातिदिव्य तत्त्व तो केवल सुख के अभिव्यञ्जक होने से ही उपादेय हो सकते हैं, पर उन अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डगत व्यक्त सौख्य-बिन्दु के परम-उद्गम-स्थल

अचिन्त्यानन्तसौख्यसिन्धु आप ही हैं। फिर, भला जिनके प्राङ्गण में साक्षात् अनन्त परमानन्द-सुधासिन्धु ही कन्दर्पकामित परम-कमनीय कान्तिमय मूर्तिमान् धूलि-धूसरित होकर विहरण करें और रसिकेन्द्रवर्ग नन्दप्राङ्गण में जिस अप्रमेय सबाह्या-भ्यन्तर तत्त्व को उलूखल-निबद्ध दारुयंत्रवत् व्रजसीमन्तिनी-वर्ग-विधेय बतलाते हैं, उन्हें तुषार-बिन्दु-स्थानीय सौख्याभिव्यञ्जक वस्तु के प्रदान से आप कैसे प्रसन्न कर सकते हैं ? जैसे कृतसंज्ञक चतुरङ्क द्यूत के विजित होने पर त्र्यङ्क-द्व्यंक-एकांक द्यूत भी उसके अन्तर्भूत हो जाते हैं, किंवा सर्वतः संप्लुतोदकस्थानीय महासमुद्र को प्राप्त कर लेने पर वापी-कूप-तड़ागादिगत जल की अपेक्षा नहीं रह जाती, वैसे ही सौख्य-सुधानिधि सर्वफलात्मास्वरूप प्रभु के स्वायत्त होने पर फल्गु फलों की अपेक्षा कौन विवेकी कर सकता है ? अत: हे गोपालचूड़ामणे ! आप व्रजनिवासी वर्ग के ऋण से कैसे उन्मुक्त हो सकते हैं ?"

चतुर-चूड़ामणि व्रजवन-नवयुवराज बोले :—"ब्रह्मन्, तब तो मैं स्वात्म-समर्पण द्वारा इनके ऋण से उऋण हो जाऊँगा। जब मैं ही सर्व फलात्मा हूँ तो मैं इनको स्वात्म-समर्पण से भी प्रसन्न कर सकता हूँ।"

ब्रह्माजी ने कहा—"नाथ ! वह स्वात्म-समर्पण तो आपने सर्वफल-समर्हणीय श्रीचरणों की जिघांसा से विषलिप्त-स्तन्यपान करानेवाली द्वेषवती उस पूतना के लिये भी किया है। आप यदि यह कहें कि कुल-कुटुम्ब समेत व्रजवासियों को स्वात्म-समर्पण कर उऋण हो सकूँगा तो भी ठीक नहीं, क्योंकि पूतना का भी कोई कुल-कुटुम्ब आपकी प्राप्ति से वञ्चित नहीं रहा। भला जब आपका स्वात्म-समर्पण इतना सस्ता है कि बालघ्नी पूतना को भी आपने स्वात्मप्रदान कर दिया, तब जो धरा-धन-धाम-सुहृत्-प्रिय तनय तथा आत्मा को भी आपके पादारविन्द-माधुर्य पर न्योछावर करनेवाले व्रजवासी जन हैं, उनसे आप स्वात्म-समर्पण मात्र से कैसे उऋण हो सकते हैं ? यद्यपि कहा जा सकता है कि बड़े-बड़े योगियों को भी दुर्लभ स्वात्म-समर्पण उनके लिये पर्याप्त है, परन्तु विज्ञजनों की दृष्टि में व्रजधाम-निवासियों की पदवी योगीन्द्र-मुनीन्द्रों को भी दुर्लभ है; क्योंकि यम-नियम-प्राणायाम-प्रत्याहारादि द्वारा बाह्य-विषयों से मन को संयत कर योगीन्द्र अनुक्षण जिस तत्त्व के अनुसन्धान का प्रयत्न करते हैं उसी तत्त्व में इन व्रजनिवासियों की स्वारसिकी प्रीति है। राग यद्यपि प्राणियों के नि:सीम स्वात्मसौख्य का अपहरण करनेवाला होने के कारण शत्रुवत् परिहार्य है, परन्तु, परम-सौभाग्यशाली इन घोषनिवासियों का राग तो प्रियतम-परम-प्रेमास्पद आपके मङ्गलमय स्वरूप में ही है। मोह भी प्राणियों की स्वाभाविकी स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवाला होने से साक्षात् शृङ्खलारूप है; परन्तु इनका तो मोह भी आपमें ही है। अतः इनके तो रागमोहादि दूषण भी भूषणरूप हैं। कारण, भगवत्तत्त्व-व्यतिरिक्त प्रापञ्चिक पदार्थविषयक ही रागादि

त्याज्य हैं। भगवद्विषयक रागादि की प्रेप्सा तो प्रत्येक प्रेक्षावान् को ही होती है। कथञ्चित् वैराग्य से भी विराग हो सकता है, पर प्रेममय भगवान् से नहीं। तात्पर्य यह कि सर्वविषयक राग-त्याग से यद्विषयक राग की उत्कट प्रेप्सा सम्पादन की जाती है, तद्विषयक उत्कट-राग-सम्पन्न इन घोषनिवासियों के माहात्म्य की एक कला की भी बराबरी कौन कर सकता है ?"

"एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवाऽऽपिता,
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥
तावद्रागादयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः ॥"

"प्रभो ! अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-नायक स्वयं आप जिनके ऋणी हैं, उन घोष-निवासियों की महिमा कौन वर्णन करे। सत्यलोकाधिपति जगत्पितामह श्रीब्रह्माजी भी व्रज के रजःस्पर्शलाभार्थ व्रजवृन्दाटवी के तृण-गुल्मादि के रूप में जन्म लेने के सौभाग्य की अभिलाषा रखते हैं। उनको आशा है कि यहाँ के तृण-गुल्मादि होने से भी व्रजवासियों के चरण-रज का अभिषेक उन्हें प्राप्त होगा। उस व्रज के अन्तर्गत भगवान् की अनेक लीला-भूमि हैं, जो साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्रविषयिणी प्रीति का उद्दीपन करनेवाली हैं। यमुना-पुलिन, गोवर्द्धनाद्रि, गह्वरवन, कदम्बखण्डियाँ, नन्द-ग्राम, बरसाना, उद्धवक्यार, चरणाद्रि आदि ऐसे-ऐसे मनोहर स्थान हैं जहाँ के परमाणु-परमाणु में श्रीकृष्ण-प्रीति का सञ्चार करने की अद्भुत शक्ति देखी जाती है। वज्र-सदृश कठोर चित्त भी वहाँ हठात् द्रवीभूत हो जाता है।"

श्रीवृन्दावन-धाम तो व्रजभूमि का सर्वस्व है। श्रीव्रजभक्तों की पद-पङ्कज-रज के संस्पर्श-लोभ से, **"नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः"** के अनुसार, साक्षात् श्रीकृष्ण से भी अन्यून महाभागवत उद्धव भी वृन्दावन-धाम के तृण-गुल्मादि होने की स्पृहा प्रकट करते हैं।

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।"

श्रीमत्प्रबोधानन्द सरस्वती प्रभृति महानुभाव तो वृन्दावनधामबहिर्भूत अनन्त चिन्तामणियों की ही नहीं वरञ्च श्री हरि की भी उपेक्षा करने की सलाह देते हैं—

"मिलन्तु चिन्तामणिकोटिकोटयः,
स्वयं हरिर्द्वारमुपैतु सत्वरः।"

"विपिन-राज सीमा के बाहर हरिहूँ को न निहारो" आदि।

वेदान्तवेद्य परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन परब्रह्म निरतिशय होने के कारण, तारतम्यविहीन होने पर भी वृन्दावनधाम में जैसा मधुर अनुभूयमान होता है वैसा और स्थलों में नहीं। अतएव भावुकों ने—

"व्रजे वने निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्।"

के अनुसार द्वारकास्थ, मथुरास्थ श्रीकृष्ण-व्यतिरिक्त श्रीकृष्ण में भी व्रजस्थ-वृन्दावनस्थ-निकुञ्जस्थ भेद से तारतम्य स्वीकृत किया है।

अभिप्राय यह है कि जैसे एक ही प्रकार का स्वाति-बिन्दु स्थलवैचित्र्य से विचित्र परिणामवाला होता है, शुक्तिका में पड़कर मोती के रूप से, बाँस में वंशलोचनरूप से, गोकर्ण में गोरोचनरूप से, गजकर्ण में गजमुक्तारूप से परिणत होता है, वैसे ही वेदान्तवेद्य तत्त्व एकरूप होता हुआ भी अभिव्यञ्जक स्थल की स्वच्छता के तारतम्य से, अभिव्यक्ति-तारतम्य होने से, तारतम्योपेत होता है।

जैसे सूर्यतत्त्व की अभिव्यक्ति काष्ठ-कुड्य आदि अस्वच्छ पदार्थों पर वैसी नहीं होती, जैसी निर्मल जल, काँच आदि पर होती है, वैसे ही राजस-तामस स्थलों में ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति वैसी नहीं हो सकती, जैसी निर्मल विशुद्ध स्थलों में।

यह निर्मलता जैसे पार्थिव-प्रपञ्च में स्पष्ट अनुभूयमान है, वैसे ही त्रिगुणात्मक प्रपञ्च में गुण-विमर्द-वैचित्र्य से क्वचित् प्रत्यक्षानुमानद्वारा, क्वचित् आगम तथा श्रुतार्थापत्ति द्वारा तारतम्योपेत होकर ज्ञात होती है। इसीलिये किसी स्थल में जाने से वहाँ अकस्मात् चित्तप्रसाद और किसी स्थल में चित्तक्षोभ आदि चिह्नों द्वारा भी स्थल-वैचित्र्य की अनुभूति होती है। व्रजवन-निकुञ्जों में क्रमशः एक की अपेक्षा दूसरे में वैचित्र्य है। अतएव, वहाँ पूर्ण-पूर्णतर-पूर्णतमरूप से एक ही श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द का प्राकट्य होता है।

तीर्थों की यह विशेषता प्रत्यक्ष है कि जिस तीर्थ में जितनी अद्भुत सात्त्विकता एवं शक्ति है, वहाँ उतनी ही सरलता से प्रभु की विशेषता की अनुभूति होती है। परन्तु जैसे कामिनी का रूप कामुकों पर ही प्रभावकारी होता है और सर्प-व्याघ्रादि-दर्शन से अधिक उद्वेग भीरु को ही होता है, वैसे ही सात्त्विक तथा भगवत्परायण को तीर्थगत विलक्षण शक्तियाँ प्रभावान्वित करती हैं. यद्यपि वैसे कुछ न कुछ प्रभाव तो सभी तरह के पुरुषों पर होता है, तथापि वह व्यक्त नहीं होता। परन्तु श्रुतार्थापत्ति द्वारा तीर्थों में शक्ति-वैलक्षण्य अवश्य ज्ञात है।

भावुकों ने व्रजतत्त्व को हिततम वेदवेद्य प्रेमतत्त्व का स्वरूप अर्थात् शरीर ही माना है। प्रेमतत्त्व के व्रजधाम-स्वरूप देह में श्रीव्रजनवयुवतिजन इन्द्रियरूपिणी हैं। मनःस्वरूप रसिकेन्द्रवर्गमूर्धन्यमणि श्री व्रजराज-किशोर हैं तथा प्राणरूपा-प्रज्ञा के स्थान में श्रीव्रजनवयुवति-कदम्ब-मुकुटमणि कीर्तिकुमारी श्रीराधा हैं। यहाँ—

"इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥"

इस श्रुति के अनुसार जैसे देह इन्द्रियों के, इन्द्रियाँ मन के और मन प्राणरूपा प्रज्ञा के परतन्त्र होता है, (यहाँ पर **"यो वै प्राणः सा प्रज्ञा"** इस श्रुति-वाक्य के अनुसार क्रिया-शक्ति-प्रधान प्राण और ज्ञानशक्ति-प्रधान प्रज्ञा का ऐक्य विवक्षित है) एवं पूर्व पूर्व का उत्तरोत्तर में ही सम्मिलन होने से तद्रूपता ही होती है, उसी तरह व्रज श्रीकृष्णप्रेयसी व्रजाङ्गनाओं से विभूषित तथा उन्हींके अधीन है। व्रजवनिताजन का जीवन श्रीव्रजेन्द्रकुमार हैं तथा श्रीकृष्ण-हृदय की अधीश्वरी प्राणाधिका राधिका हैं और वह केवल प्रेमसुधा-जलनिधि में ही पर्यवसित होती हैं।

प्रेममय व्रज प्रेमोद्रेक में व्रजाङ्गनारूप ही हो जाता है और व्रजाङ्गनाएँ **'असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिकाः'**, **'कृष्णोऽहं पश्यत गतिम्'** इत्यादि वचनों के अनुसार, श्रीकृष्ण-भावरस-भरिता होकर नन्दनन्दनस्वरूपा हो जाती हैं। रसिकशिरोमणि श्रीकृष्ण प्रेमोन्माद में निजप्रेयसी श्रीवृषभानुनन्दिनी-स्वरूप हो जाते हैं तथा श्रीराधिका प्रेमस्वरूप में ही साक्षात् अपने प्रियतम के साथ निमग्न होती हैं।

इस प्रकार साक्षात् वेदान्तवेद्य परम-रसात्मक-सुधाजलनिधि के ही दिव्य-विकास-प्रेममय तत्त्व उसीमें पर्यवसित होते हैं। इसी तरह अनाद्यनन्त रससागर में रसमय प्रिया-प्रियतम और उनके परिकर की रसमयी लीला का धाम अप्राकृत श्रीव्रज भी रसमय ही है।

यद्यपि व्रज में माधुर्य-शक्ति का प्राधान्य है, तथापि क्वचित् ऐश्वर्य-शक्ति का भी विकास होता ही है। क्योंकि माधुर्य-शक्ति का ही अधिक आदर होने पर भी, ऐश्वर्य-शक्ति मूर्तिमती होकर प्रभु की सेवा करने के सुअवसर की प्रतीक्षा करती रहती है। प्रभु भी उसका अत्यन्त तिरस्कार नहीं करते हैं। इसीसे मृद्भक्षण आदि लीलाओं में मुखान्तर्गत ब्रह्माण्ड-प्रदर्शन आदि ऐश्वर्य-शक्ति के कार्य देखे जाते हैं। अतः, विशुद्ध माधुर्य-भाव का प्राकट्य श्रीवृन्दावनधाम में ही माना जाता है।

भावुकों का कहना है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत सौख्यबिन्दुओं का परम उद्गम-स्थान जो अनन्त सौख्य-सुधा-सिन्धु है, उसका मन्थन करने पर सार से भी सारभूत नवनीत-स्थानीय जो तत्त्व हो, उसका भी पुनः सहस्रधा-कोटिधा मन्थन करने पर जो परम दिव्य-तत्त्व निःसृत हो वही वृन्दावनधाम का स्वरूप है। कारण-रूप जो अक्षर-ब्रह्म है, वही व्यापी वैकुण्ठ वृन्दावन है।

कार्य-कारणातीत वेदान्त के परम-तात्पर्य के विषयीभूत परमतत्त्व श्रीकृष्ण के प्राकट्य का स्थल कारणात्मा अक्षर ही है। **"पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि"**, **"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्"** इत्यादि श्रुति-स्मृति के अनुसार मायाविशिष्ट कारणब्रह्म एकपाद है। उसके ऊपर त्रिपाद्विभूति अमृत है।

जो महानुभाव वेदान्त-वेद्य, कार्य-कारणातीत परमतत्त्व को ही वृन्दावन मानते हैं, उनके सिद्धान्त में वहाँ का निवासी कृष्ण-तत्त्व अवैदिक ही होगा। इतना ही कहना पर्याप्त है, क्योंकि एक ही में आश्रयाश्रयित्व असम्भव है।

"**अव्याकृतमनन्ताख्यमासनं यदधिष्ठितम् ।**" इस उक्ति के अनुसार भी अनन्त-संज्ञक अव्याकृत ही भगवान् का आसन है। उन्हींका नाम शेष भी है। "**शिष्यते-अवशिष्यते इति शेषः**" अर्थात् जो अवशिष्ट रहे वही शेष कहा जाता है। कार्य के प्रलयानन्तर कारण ही शेष रहता है। उसका कोई कारणान्तर नहीं है जिसमें उसका प्रलय हो। कारण सप्रपञ्च है। निष्प्रपञ्च ब्रह्म का वही निवासस्थल है। "**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्**" इस भगवदुक्ति के अनुसार सगुण कारण-ब्रह्म की, एकपादस्थानीय की प्रतिष्ठा "**त्रिपादूर्ध्वमुदैत्**" ऊर्ध्व अर्थात् कार्य-कारणानन्तर्भूत ब्रह्म परमात्मा ही है।

किन्हीं महानुभावों के सिद्धान्त में यह प्रकट वृन्दावन ही अक्षर ब्रह्मव्यापी वैकुण्ठ है। परन्तु उसका वह स्वरूप अभावितान्तःकरण पुरुष को उपलब्ध नहीं होता है। अद्वैतसिद्धान्त में समस्त प्रपञ्च ही ब्रह्मस्वरूप है परन्तु शास्त्राचार्योपदेशजन्य संस्कारों से संस्कृतान्तःकरण पुरुषधौरेय को ही वह उपलब्ध होता है। इसीलिये अद्वैतसिद्धान्त-परिनिष्ठित प्रबोधानन्द सरस्वती तदनुसार ही श्रीवृन्दावन को सच्चिदानन्दमय बतलाते हुए लिखते हैं—

"यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुः आनन्दसच्चिद्घनतामुपैति ।"

"जिस वृन्दावन-धाम में प्रविष्ट होते ही कीट-पतङ्गादि भी आनन्द सच्चिद्घन-स्वरूप हो जाते हैं", परन्तु, तादृशी प्रतीति तब तक नहीं होती जब तक प्राकृत-संसर्ग का बिलकुल अभाव नहीं होता।

यद्यपि जीव स्वभाव से ही "चेतन अमल सहज सुखराशी" है, परन्तु आविद्यिक अनात्म संसर्ग से अनेकानेक अनर्थ-परिप्लुत प्रतिभासित होते हैं। अविद्या का विद्या द्वारा अपनयन होने पर उनका स्वाभाविक स्वरूप व्यक्त होता है। अतएव, कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् की अभिव्यक्ति का स्थल ही वृन्दावन है।

भगवदाकार से आकारित वृत्ति पर भगवत्तत्व का प्राकट्य होता है उसे भी वृन्दावन कहते हैं। इस तरह साभास अव्याकृत एवं साभास चरमावृत्ति को भी वृन्दावन कहते हैं। इसीलिये जो महानुभाव वृन्दावन के उपासक होते हुए भी प्रसिद्ध वृन्दावन में प्रारब्धवश नहीं रह पाते, वे भी व्यापी वैकुण्ठ, कारण-तत्त्व-स्वरूप ब्रह्म के व्यापक होने से, तत्स्वरूप वृन्दावन का प्राकट्य शक्ति-बल से कहीं भी रहकर सम्पादन करते हैं।

भावुकों की दृष्टि में नित्य-निकुञ्ज श्रीवृन्दावन से भी अन्तरङ्ग समझा जाता है। नित्य-निकुञ्ज में वृषभानुनन्दिनीस्वरूप महाभाव-परिवेष्टित शृङ्गार-स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र परमानन्दकन्द नित्य ही रसाक्रान्त रहते हैं। यहाँ प्रिया-प्रियतम का सार्वदिक् सर्वाङ्गीण सम्प्रयोग का भान भी सर्वदा ही रहता है। जैसे कि सन्निपात-ज्वर से आक्रान्त पुरुष जिस समय शीतल मधुर जल का पान करता है ठीक उसी समय में पूर्ण तीव्र पिपासा का भी अनुभव करता है, वैसे ही नित्य निकुञ्ज-धाम में

जिस समय प्रिया-प्रियतम पारस्परिक परिरम्भण-जन्य रस में निमग्न होते हैं, उसी काल में तीव्रातितीव्र वियोग-जन्य ताप का भी अनुभव करते हैं।

सारस-पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोग-जन्य रस का ही अनुभव करती है और चक्रवाकी विप्रयोग-जन्य तीव्र-ताप के अनन्तर सहृदय-हृदय-वेद्य सम्प्रयोग-जन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है, परन्तु वह भी विप्रयोग-काल में सम्प्रयोग-जन्य रसास्वादन से वञ्चित रहती है। किन्तु नित्य-निकुञ्ज में श्री निकुञ्जेश्वरी को अपने प्रियतम परमप्रेमास्पद श्री व्रजराजकिशोर के साथ सारस-पत्नी लक्ष्मणा की अपेक्षा शतकोटि-गुणित दिव्य सम्प्रयोग-जन्य रस की अनुभूति होती है, और साथ ही चक्रवाकी की अपेक्षा शतकोटि-गुणित अधिक विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप के अनुभव के अनंतर पुनः दिव्य रस की भी अनुभूति होती है। ऐसे ही विषय में भावुकों ने कहा है–

"मिलेइ रहैं मानों कबहुँ मिले ना।"

जैसे भावुकों के भावना-राज्यवाले शून्य निकुञ्ज में ही प्रियतम संकेतित समय में पधारते हैं, किसी अन्य के सान्निध्य में नहीं, वैसे ही वेदान्तियों के यहाँ भी भगवान् से व्यतिरिक्त जो सब दृश्यपदार्थ हैं उनके संसर्ग से शून्य निर्वृत्तिक और निर्मल अन्तःकरण में ही 'तत्पदार्थ' का प्राकट्य होता है।

जैसे सर्व-व्यापारों से रहित होकर पूर्ण प्रतीक्षा ही प्रियतम के सङ्गम का असाधारण हेतु है, वैसे ही वेदान्तियों के यहाँ भी पूर्ण प्रतीक्षा अर्थात् कायिकी, मानसी आदि सर्व चेष्टाओं के निरोध होने पर ही **'त्वं पदार्थ'** को **'तत्पदार्थ'** का सङ्गम प्राप्त होता है। सर्व दृश्य-संसर्गशून्य निर्वृत्तिक निर्मल अन्तःकरणरूप निकुञ्ज में पूर्ण प्रतीक्षा-परायण व्रजाङ्गना-भावापन्न **'त्वं पदार्थ'** श्रीकृष्णस्वरूप **'तत्पदार्थ'** के साथ यथेष्ट तादात्म्य सम्बन्ध प्राप्त करता है। यही संक्षेप में व्रजधामतत्त्व तथा उसका रहस्य है।

●

सर्वसिद्धान्त-समन्वय

"यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै,
विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं,
तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥"

यह बात विदितवेदितव्य महानुभावों से तिरोहित नहीं है कि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डगत विविधवैचित्र्योपेत, भोग्यभोक्तृकर्तृकरणादिनिर्माणपटीयसी, अचिन्त्याऽनिर्वाच्यकार्य्यानुमेयस्वानुरूपरूपा, श्रुतिसमधिगम्य-याथातथ्यभावा, अवान्तराऽनन्त-शक्तिकेन्द्रभूता महाशक्ति जिन प्रत्यस्तमिताऽशेषविशेषमनोवचनातीत प्रज्ञानानन्दघन स्वमहिमप्रतिष्ठ भगवान् के आश्रित होकर उन्हींकी महिमा से सत्ता स्फूर्ति प्राप्त करके सावधानी से जगन्नाट्यनियन्त्री होती हुई भी प्रभु की भ्रुकुटिविलासानुविधायिनी होती है, उन सकल अकल्याणगुणगणप्रत्यनीक-निखिल-कल्याण-गुण-गण-निलय, अचिन्त्यानन्तसौन्दर्यमाधुर्यसुधासिन्धु नटनागर में समस्त परस्पर-विरुद्ध धर्मों का सामञ्जस्य होते हुए भी स्वमति-प्रभव-तर्क एवं स्वाभिमत-शास्त्र तदर्थ विवेचनादि द्वारा नाना प्रकार (का) विकल्प कुछ काल से ही नहीं वरन् अनादिकाल से करते हुए परीक्षक-दार्शनिक-वृन्द श्रवणया दृष्टिगोचर होते आते हैं।

उन दार्शनिकों का, पारस्परिक अनेक प्रभेद होते हुए भी, भारतीय भाषा में वैदिक तथा अवैदिक शब्द से निर्देश किया जाता है। वेद-तन्मूलशास्त्रानपेक्षव्यक्ति-विशेष-निर्मित शास्त्र एवं स्वमतिप्रभव तर्कादि द्वारा तत्त्वों का निर्धारण करनेवाले अवैदिक कहलाते हैं। तद्विपरीत भ्रमप्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवादि पुरुष स्वभाव-सुलभदोषसंसर्गरहित अपौरुषेय वेद तन्मूलशास्त्र तथा तत्संस्कार-संस्कृत प्रज्ञातन्त्र तत्त्वनिर्धारण एवं तत्प्राप्त्यर्थ प्रयत्न करनेवाले वैदिक कहलाते हैं।

यद्यपि **"भूतं भव्यञ्च यत् किञ्चित् सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति"** इस अभियुक्तोक्ति से तथा सूत्ररूप से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमयाद्यात्मवाद, शून्यवाद इत्यादि वेदों में पाये जाते हैं तथापि न तो वे वाद सर्वथा सिद्धान्तरूप से वेदों में माने ही गये हैं और न तत्तद्वादाभिमानी अपने वादों के वैदिकत्व में आग्रह करते या गौरव ही मानते हैं। अतः उनके वैदिकत्वाऽवैदिकत्व में कोई विवाद नहीं। वैदिक सिद्धान्तियों का भी जब कि अंशभेद में प्राधान्याप्राधान्य-भाव से वैमत्य ही नहीं प्रत्युत बाह्यों से भी अधिक पारस्परिक संघर्ष है, तब एक शृङ्खलासम्बन्धशून्य परस्पर स्वतन्त्र विचारपद्धति को समाश्रयण करनेवालों में मतभेद तथा संघर्ष होना

स्वाभाविक ही है। परन्तु इतना होने पर भी क्या सभी सिद्धान्त सर्वांश में नितान्त भ्रममूलक तथा अनिष्टप्रद हैं, अथवा सर्वांश में सभी प्रमामूलक एवं पुरुषार्थप्रद हैं, यह बात कोई भी बतलाने का साहस नहीं करता।

यह सत्य है कि स्वसिद्धान्तातिरिक्त सभी प्रायः भ्रममूलक एवं परमपुरुषार्थ से च्युति के हेतु हैं। ऐसे स्वगोष्ठीसिद्धसिद्धान्ताभिमानी आज भी कम नहीं हैं। एक-वस्तु-विषयक प्रमाज्ञान एक ही होता है, नानाज्ञान अयथार्थ होते हैं। एक-वस्तु-विषयक अनेक प्रतिपत्तियाँ अवश्य ही प्राणियों को भ्रम में छोड़ती हैं।

चार्वाकों का कहना है कि जब तक जीये सुख-पूर्वक जीये। देह के भस्म हो जाने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। इनके मत में नीति और काम-शास्त्र के अनुसार अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ हैं। अन्य कोई पारलौकिक धर्म या मोक्ष नाम का कोई पुरुषार्थ नहीं है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु ये चार ही भूत हैं। ये ही जब देह के आकार में परिणत होते हैं, तब उनसे चैतन्य शक्ति उसी तरह उत्पन्न हो जाती है, जैसे अन्न-कण आदि से मादक शक्ति उत्पन्न होती है, किंवा हरिद्रा और चूना से एक तीसरा लाल रङ्ग पैदा हो जाता है। अतएव, देह के नाश से उस चैतन्य का नाश हो जाता है। इसलिये चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है। प्रत्यक्ष प्रमाण से अतिरिक्त अनुमान, आगम आदि प्रमाणों की इस मत में मान्यता नहीं है। इसीलिये देह से भिन्न आत्मा होने में कोई भी प्रमाण नहीं है। कामिनी-परिरम्भण-जन्य सुख ही स्वर्ग है, कण्टकादि-व्यथा-जन्य दुःख ही नरक है। लोकसिद्ध राजा ही परमेश्वर है, देह का नाश ही मुक्ति है। 'मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ' इस अनुभव से स्पष्ट है कि देह ही आत्मा है। 'मेरा देह है' यह अनुभव 'राहोः शिरः' के समान औपचारिक है। इसपर बौद्धों का कहना है कि बिना अनुमान-प्रमाण को स्वीकार किये काम नहीं चल सकता। पशु की भी प्रवृत्ति-निवृत्ति बिना अनुमान की नहीं होती। हाथ में हरी घास लिये पुरुष को देखकर पशु की उस ओर प्रवृत्ति और दण्डोद्यतकर पुरुष को देखकर उस ओर से निवृत्ति होती है। यह सब इष्ट-अनिष्ट का हेतु समझे बिना नहीं हो सकता। इसके सिवा अनुमान प्रमाण नहीं है। यह वचनप्रयोग भी वहीं सार्थक है, जहाँ अनुमान प्रमाण है, ऐसा अज्ञान सन्देह या भ्रम हो, कारण, इन्हींकी निवृत्ति के लिये वाक्यप्रयोग की आवश्यकता होती है। परन्तु दूसरे के अज्ञान, सन्देह, भ्रम आदि का निश्चय दूसरे को प्रत्यक्ष नहीं, अतः आकृति आदि से उनका अनुमान या वचन प्रमाण से निर्णय करना होगा। यह सब बिना किये यदि जिस किसीके प्रति अनुमान प्रमाण नहीं है, ऐसा कहने लग जायँ तो एक तरह का उन्माद ही समझा जायगा। अनुमान से स्पष्ट ही विदित होता है कि अचेतन देह से भिन्न आत्मा है।

इन बौद्धों में चार भेद हैं—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। उनका कहना है कि जो सत् है वह क्षणिक है, जैसे दीपशिखा या बादलों का समूह।

अर्थक्रियाकारिता ही पदार्थों का सत्त्व है, वह सबमें है। अतः क्षणिकत्व भी सबमें है। उनके मत में बुद्ध ही देव हैं और समस्त विश्व क्षणभंगुर है। वैभाषिक के मत में बाह्य शब्दादि अर्थं और आन्तर ज्ञान दोनों ही प्रत्यक्ष ग्राह्य हैं। परन्तु सौत्रान्तिक आन्तर अर्थात् ज्ञान को ही प्रत्यक्ष और बाह्य अर्थ को अनुमेय मानता है। उसका कहना है कि एकाकार ज्ञान में शब्द-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञान, रूप-ज्ञान इस तरह जो अनेक विलक्षणताओं की प्रतीति होती है, वह बिना बाह्य अर्थ के नहीं बन सकती। अतः ज्ञान की विलक्षणता के उपपादक रूप से बाह्य अर्थों का अस्तित्व अनुमानगम्य है। योगाचार सविकल्प-बुद्धि को ही तत्त्व मानता है। वह बाह्य अर्थ का अस्तित्व नहीं स्वीकार करता। माध्यमिक सर्वशून्य ही मानता है। कहा जाता है कि बुद्धदेव का परम तात्पर्य सर्वशून्यता में ही था। विज्ञानवादी प्रवृत्तिविज्ञान (नीलादिज्ञान) को मिटाकर आलयविज्ञानधारा 'अहं अहं' इत्याकारक को ही मुक्ति मानता है। इसपर जैनों का कहना है कि बिना किसी स्थायी आत्मा को स्वीकार किये ऐहलौकिक-पारलौकिक फल साधनों का सम्पादन व्यर्थ है। यदि आत्मा क्षणिक ही है तो कर्मकाल में आत्मा अन्य और भोगकाल में अन्य ही हुआ। परन्तु यह कथमपि सङ्गत नहीं, क्योंकि जो कर्त्ता है, वही फलभोक्ता भी होता है।

अबाधित प्रत्यभिज्ञा से भी एक स्थायी आत्मा की सिद्धि होती है। "जो मैंने चक्षु से घट देखा था, वही मैं हाथ से स्पर्श कर रहा हूँ। मैं, जिसने स्वप्न में हस्ती देखा था, वही मैं जाग रहा हूँ।" अतः स्पष्ट है कि स्वप्न, जागर आदि में एक ही आत्मा है। जो यह कहा जाता है कि क्षणिक विज्ञान सन्तान में ही पूर्व विज्ञानकर्त्ता होगा, उत्तरविज्ञान-भोक्ता होगा, ऐसी परिस्थिति में भी दूसरे के कर्म का दूसरा भोक्ता नहीं होगा। क्योंकि इसमें कार्य्य-कारण भाव ही नियामक होगा। अर्थात् एक विज्ञानधारा में तो कार्य्य-कारण भाव है, परन्तु दूसरी विज्ञानधारा के साथ दूसरी विज्ञानधारा का कार्यकारण भाव नहीं है। जैसे मधुर रस से भावित कर्षित भूमि में बोये हुए आम्र-बीजों की मधुरिमा अंकुर, काण्ड, स्कन्ध, शाखा, पल्लवादि द्वारा फल में भी पहुँचती है, जैसे लाक्षारस से सींचे हुए कार्पास-बीजों की रक्तता अंकुरादि परम्परा से कपास में पहुँचती है, वैसे ही जिस विज्ञान-सन्तान में कर्म और कर्म-वासना आहित होती है उसी में फल भी होता है।

यह भी ठीक नहीं है। कारण, दोनों ही दृष्टान्तों में बीजों का निरन्वय नाश नहीं होता है, किन्तु बीज के ही सूक्ष्म अवयव भिन्न-भिन्न भावना से भावित होकर फलादि रूप में पूर्ण विकसित होते हैं। परन्तु क्षणिकवादी के मत से तो विज्ञान का निरन्वय नाश होता है। इसके सिवा जैसे पिपीलिकाओं से भिन्न होकर उनकी पङ्क्ति नाम की कोई वस्तु नहीं है, ठीक वैसे ही सर्वत्र सन्तानी से भिन्न होकर सन्तान कोई वस्तु नहीं है। ज्ञान-ज्ञेय दोनों भिन्न काल में हों तो भी ग्राह्य-ग्राहक

भाव नहीं बनेगा और यदि सव्येतर विषाण के समान समकाल में हो तो भी ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं बनेगा अतः स्थायित्व स्वीकार करना ही चाहिये। अतः **'अकृताभ्यागमकृतविप्रणाश'** आदि दोषवारणार्थ स्थायी आत्मा का मानना अनिवार्य्य है।

इनके मत में अनादि एक परमेश्वर कोई नहीं है किन्तु तप आदि से आवरण के प्रक्षीण हो जाने पर जिस आत्मा को अशेष विज्ञान हो गया वही सर्वज्ञ है। वह क्रमेण अनेक होते हैं। उन सर्वज्ञों से निर्मित आगम ही शास्त्र हैं, देह-परिमाण-परिमित आत्मा है। बन्ध दशा में जीव जल में लोष्टबद्ध तुम्बिका के समान डूबता-उतराता है। मोक्ष दशा में उसकी लघु तूल के समान सतत ऊर्ध्व गति होती है।

नैयायिकों का कहना है कि आत्मा देहादि से भिन्न व्यापक एवं ज्ञानादि गुणों से युक्त और नाना है। विश्वकर्त्ता एक परमेश्वर को स्वीकार किये बिना जगन्निर्माण, कर्मफल-व्यवस्था आदि कुछ भी न बनेगी। प्रत्यक्ष, अनुमान और एक सर्वज्ञ परमेश्वर-निर्मित वेद एवं तदविरुद्ध आर्ष आगम एवं उपमान प्रमाण हैं। तत्त्वज्ञान द्वारा सर्वदुःखोच्छेद ही मुक्ति है। सांख्यवादी कहता है कि आत्मा व्यापक, असङ्ग, अनन्त चेतनरूप है। वह ज्ञानादि गुण एवं कर्तृत्वादि दोषों से रहित है। प्रकृति ही पुरुष के भोग अपवर्ग सम्पादन के लिये महदादि प्रपञ्चाकार में परिणत होती है। प्रकृति-प्राकृत तत्त्वों और उनके धर्मों के साथ विवेक न होने से ही आत्मा में कर्तृत्वादि धर्म का भान होता है। वस्तुतः वे नित्यशुद्धबुद्धमुक्त असङ्ग हैं। अतः सांख्य-विवेक से स्वरूपावस्थान ही मोक्ष है। योगियों का आत्मा और प्रकृति आदि सांख्यों के समान ही है। अष्टाङ्ग योग द्वारा चित्त-वृत्ति-निरोध सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपूर्वक द्रष्टा का स्वरूपावस्थान ही उनका मोक्ष है। प्रकृति का नियमन एवं योगादि पुरुषों को अभीष्ट-सिद्धि का मूल एक परमेश्वर भी उनके मत में मान्य है। वह क्लेश कर्म-विपाक एवं आशय से अपरामृष्ट है। पूर्व-मीमांसकों का कहना है कि जैसे खद्योत (जुगनू) प्रकाश-अप्रकाश उभयरूप होता है वैसे ही आत्मा चेतन-अचेतन उभयात्मक है। वेद-विहित कर्मों के द्वारा वह शुभ सुखज्ञान-रूप से परिणामी होता है। वेदप्रतिषिद्ध कर्मों द्वारा दुःखादिज्ञानाकार से परिणत होता है। उनके मत में वेद अनादि, अपौरुषेय अतएव स्वतःप्रमाण हैं। अर्थापत्ति अनुपलब्धि प्रमाण द्वारा भी पदार्थों का निर्णय किया जाता है।

उत्तर-मीमांसकों में तो बहुत मतभेद है, क्योंकि प्रायः भारतीयों का अधिक तत्त्वान्वेषी समाज उसमें आदर रखता है। इसीसे शाक्तागम, शैवागम, वैष्णवागमादि पथानुयायियों की दृष्टि में अपने आगमों का प्राधान्य होते हुए भी बादरायण महर्षि प्रणीत वैदिक-तात्पर्य्य-निर्णायक चतुर्लक्षणी उत्तरमीमांसा से अनुमत स्वसिद्धान्त होने से गौरव मानना उनके लिये अनिवार्य हो गया।

इसीलिये अनेक महानुभावों ने उसे अपनाया और उसपर स्वाभिमत भाष्य टीका-टिप्पणियाँ कीं। एक ही शास्त्र में नहीं, एक ही सूत्र में, सहस्रों भावपूर्ण गम्भीर व्याख्यान हों ! क्या उस शास्त्र-सूत्र-निर्माता या तदाधारभूत वेद भगवान् की महत्ता साधारण बुद्धि के बाह्य का विषय नहीं है ? अस्तु, उत्तरमीमांसा-भाष्यकारों का अतिसंक्षिप्त प्रधान विषय दिखलाते हैं —द्वैतवादी प्रकृति, पुरुष तथा परमेश्वर इत्यादि श्रुति-सूत्र-प्रतिपाद्य विषय मानते हैं। अद्वैतप्रतिपादक श्रुति-सूत्र प्रथम तो हैं ही नहीं, यदि हैं तो भी वे गौणार्थक हैं। अर्थात् उनका स्वार्थ में कुछ तात्पर्य्य नहीं है। ध्यान में रखना चाहिये कि पूर्वमीमांसक से लेकर उत्तरोत्तर सभी सिद्धान्तियों का **"प्रमाणं परमं श्रुतिः"** ऐसा उद्घोष है।

विशिष्टाद्वैतवादियों का कहना है कि अद्वैत नहीं है, यह कहना केवल धृष्टता है। जब कि अद्वैतवादिनी श्रुति विद्यमान हैं, तब उनका तात्पर्य्य अद्वैत में नहीं है यह भी कैसे कहा जा सकता है ? अतः चित्-अचित् उभयविशेषण-विशिष्ट परमतत्त्व अद्वितीय है और वही जगत् का निमित्त तथा उपादान दोनों ही कारण है, केवल निमित्त ही नहीं।

"नीलमुत्पलम्" तथा शरीर-शरीरी के समान विशेषण-विशेष्य का पारस्परिक भेद होते हुए भी अभेद या अद्वैत सूपपन्न है। इस पक्ष में भेदवादिनी तथा अभेद-वादिनी दोनों ही प्रकार की श्रुतियों का सामञ्जस्य हो जायगा। इस सिद्धान्त के अनन्तर द्वैताऽद्वैतवादी कहते हैं कि विशिष्टाऽद्वैत भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस पक्ष में विशेषण-विशेष्य का वस्तुतः भेद ही मानते हो तब अद्वैत कैसे हो सकता है ? विशिष्टाऽद्वैत केवल प्रयोग-चातुर्य्य है। अतः इस पक्ष में भी अद्वैतवादिनी श्रुति निरालम्बन ही रह जाती हैं। इस वास्ते चिदचिद्भिन्नाऽभिन्न परमतत्त्व जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है और वही श्रुति सूत्र के तात्पर्य्य का विषय है। जैसे **"सुवर्णं कुण्डलं"** ऐसे प्रयोग तथा विचार से भी सुवर्ण स्वरूप ही कुण्डल है। इस वास्ते सुवर्ण कुण्डल का अभेद, एवं सुवर्ण जानने पर भी **"किमिदम्"** ऐसी कुण्डलविषयिणी जिज्ञासा होती है, इसीलिये दोनों का भेद भी है।

पयोव्रती दधि नहीं भक्षण करता, दधिव्रती पय से बचता है; गोरसव्रती दोनों ही का भक्षण करता है। इस तरह व्यवहारपार्थक्य से भेद होता है। 'तदधीनस्थिति-प्रवृत्तिमत्वेन' अर्थात् सुवर्णादि कारण के अधीन ही कार्य की स्थिति एवं प्रवृत्ति होती है। अतः अभेद भी है। ठीक ऐसे ही चित् भोक्तृवर्ग, अचित् भोग्यवर्ग परमतत्त्व के अधीन ही स्थिति प्रवृत्तिवाले हैं। अतः परमतत्त्व से अभिन्न हैं; व्यवहार में विरुद्ध धर्म देखने में आता है अतः भिन्न भी हैं। इस वास्ते चिदचिद्भिन्नाऽभिन्न परमतत्त्व ही में शास्त्र का अभिप्राय है।

शुद्धाद्वैतवादी इतने पर भी सन्तुष्ट नहीं होते ! उनका कहना है कि परमतत्त्व से पृथक् चित्-अचित् किसी तरह से हैं, तभी आप **'तदधीनस्थितिप्रवृत्तिमत्त्वेन'** इस उपाधि से अभेद मानते हैं। वस्तुतः विशिष्टाऽद्वैतवादियों के समान आपके यहाँ भी अद्वैतवादिनी श्रुति सम्यक् स्वार्थपर्यवसायिनी नहीं होती। परमात्मा से व्यतिरिक्त तत्त्व मानने से तत्त्व में परिच्छेद होने से "निरतिशय पूर्णता" भी बाधित होगी। इस वास्ते विशिष्टत्व-भिन्नत्वादि-शून्य शुद्धसच्चिदानन्द परमात्मा ही श्रुति-सर्वस्व है। इस पक्ष में भेदवादिनी तथा अभेदवादिनी दोनों प्रकार की श्रुतियाँ अबाधित रहेंगी। भेदाऽभेद का परस्पर विरोध होने से एकत्र सामञ्जस्य होना भी असम्भव है।

इस पक्ष में **"एकोऽहं बहु स्याम्"** इत्यादि श्रुतिशतसिद्ध एकतत्त्व ही का बहु-भवन अघटित-घटना-पटीयान् आत्मयोग की महिमा से सम्यक् सूपपन्न हो जायगा। परमेश्वर समस्त विरुद्ध धर्मों का आश्रय है। अतः अणोरणीयस्त्व, महतोमहीयस्त्व, सर्वधारकत्व, सर्वसंसर्गराहित्य, स्वाभिन्न सुख-दुःख-मोहात्मक-प्रपञ्चनिर्मातृत्व, अवि-कृतपरिणामित्व भी होने में कोई आपत्ति नहीं।

विचित्रस्वरूपाभिन्नआत्मवैभव ही सर्वसमाधान में पर्याप्त है; सदंशाश्रित मायाशक्ति, चिदंशाश्रित संविच्छक्ति, आनन्दाश्रित आह्लादिनी शक्ति के सम्बन्ध से सदादि अंशों का ही प्रकृति-प्राकृत तथा पक्षत्रयाऽनुमोदित अणुपरिमाणचित्कणस्वरूप भोक्तृवर्ग एवं ज्ञान आनन्द के प्राधान्याऽप्राधान्य से अन्तर्यामी श्रीकृष्ण आदि रूप में अविकृत परिणाम निर्दुष्ट होने से सर्वव्यवहार भी समञ्जस है। इस पक्ष में कारणांश को लेकर अद्वैतवादिनी, सप्रपञ्च को लेकर द्वैतवादिनी श्रुतियाँ भी ठीक लग जायँगी।

इसी तरह शैवों तथा पाशुपतों ने भी उत्तरमीमांसा पर भाष्य किया है। द्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि अंशों में वैष्णव भाष्यकारों और शैव भाष्यकारों में भेद नहीं है। प्रत्युत सबका यह दावा है कि यह वाद मुख्य रूप से हमारे ही हैं, दूसरों ने इन्हें चुराया है। वैष्णवमतानुयायियों का कहना है कि शैव भाष्यकार ने वैष्णव विशिष्टा-द्वैत को चुराकर अपना रूप-रङ्ग देकर व्यक्त किया है। शैव मतानुयायियों का कहना है कि वैष्णव विशिष्टाद्वैतियों ने ही शैवविशिष्टाद्वैतियों के मत को चुराया है। वैष्णव **"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"** इस सूत्र के ब्रह्म पद का विष्णु अर्थ करते हैं, शैव शिव अर्थ करते हैं। वैष्णवों में भी परस्पर विवाद है। कोई ब्रह्म शब्द में श्रीमन्नारायण, कोई रामचन्द्र, कोई श्रीकृष्ण, कुछ लोग श्रीकृष्ण के भी द्वारकास्थ, मथुरास्थ, व्रजस्थ, वृन्दावनस्थ, निकुञ्जस्थ स्वरूपों में मतभेद उठाते हैं। शाक्ताद्वैतवादी अनन्त, अखण्ड, प्रकाशात्मक शिव और उसकी स्वभावभूता, उससे अत्यन्त अभिन्न विभाशक्ति को शक्ति कहते हैं। वही शक्ति बाह्योन्मुख होकर प्रपञ्चव्यञ्जिका होती है। अन्तर्मुख होकर केवल शिवस्वरूपा ही होती है।

इसके बाद अद्वैतवादियों का कहना है कि आपका भी कहना ठीक है, परन्तु पूर्वोक्त सिद्धान्तियों का भी कहना निर्मूल नहीं। **"वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः"**, **"सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति"** इत्यादि श्रुतियों से वेदों का परम तात्पर्य **"एकमेवाऽद्वितीयम्"** इत्यादि श्रुतिसहस्रसिद्ध सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य, पूर्णप्रज्ञानानन्दघन परमात्मा में ही है।

अवान्तर तात्पर्य्य पारमार्थिक सत्ता से कुछ न्यून सत्तावाले अर्थात् अपरिच्छिन्न पूर्ण परमतत्त्व की परमार्थ सत्यता से न्यून सत्तावाले अघटित-घटना-पटीयसी अचिन्त्यानिर्वाच्य भगवदीय शक्ति एवं तदीयविकासविविधवैचित्र्योपेत, विश्वजनीनाऽनुभवनिवेदित विश्वव्यवहारोपयुक्त सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्ध पदार्थों में भी है। अघटितघटनापटीयान् आत्मवैभव हम भी मानते हैं पर उसे अनिर्वाच्य स्वभाव और मानना चाहिये ? क्योंकि यदि उसे परमात्मतत्त्व से व्यतिरिक्त परमार्थ सत्य मानें तो अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियाँ विरुद्ध होती हैं। असत् खपुष्पादिवत् मानें तो प्रपञ्चनिर्माणपटीयस्त्व नहीं बनता। परमार्थसत् परन्तु परमतत्त्व से अत्यन्त अभिन्न मानें तो तद्वत् ही अविकारी कूटस्थ होने से उसमें सुख-दुःख-मोहात्मक प्रपञ्च की हेतुता नहीं बनती।

भेदाऽभेद सत्त्वासत्त्व विकृतत्वाविकृतत्व समान सत्ता से एक जगह हो नहीं सकते। अन्यथा विरोधमात्र ही दत्ताञ्जलि हो जायगा। यदि श्रुतिप्रामाण्यात् ऐसा मानें सो भी नहीं; क्योंकि शास्त्र अज्ञात-ज्ञापक होते हैं; न कि अकृतकर्तृ। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, शास्त्र उसके स्वरूप को वैसा ही बतलाते हैं। वस्तु-स्वभाव को अन्यथा नहीं करते। इस वास्ते जैसे पट अन्वय-व्यतिरेकादि युक्ति तथा वाचारम्भणादि श्रुतियों के विचार से तन्तु-व्यतिरिक्त नहीं होता, किन्तु आतानवितानात्मक तन्तु ही पट है तथापि अङ्गप्रावरण, शीतापनयनादि कार्य्य तन्तुओं से नहीं होता किन्तु पट ही से होता है। अतः विलक्षण अर्थ-क्रिया-निर्वाहक होने से सर्वथा अभिन्न भी नहीं कह सकते। ठीक वैसे ही **"अघटित-घटनापटीयान्"** आत्मयोग भी परमतत्त्वापेक्षया न्यून-सत्ताक अनिर्वाच्य मानना चाहिये। ऐसा मानने में विषम सत्ता होने से द्वैताऽद्वैत का विरोध भी नहीं होगा।

क्योंकि समान सत्तावाले भावाभावों का ही परस्पर विरोध होता है; न कि विषम सत्तावालों का भी। व्यावहारिक सत्ता के रूप्याभाववान् शुक्तितत्त्व में प्रातिभासिक सत्ता से रूप्यभाव होने में कोई आपत्ति नहीं। तद्वत् परमार्थ सत्ता से अद्वैत तदपेक्षया न्यून अर्थात् व्यावहारिक सत्ता से द्वैत होने में कोई विरोध नहीं। इस पक्ष में व्यावहारिक अर्थात् व्यवहारकाल में आकाशादिवत् अबाध्यक्रियादिनिर्वाहक सत्यतासम्पन्न द्वैत को लेकर समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार तथा अद्वैतवादिनी श्रुतियों का अवान्तर तात्पर्य के विषयभूत द्वैत में सामञ्जस्य भी पूर्वोक्त सिद्धान्तियों के अनुसार सम्पन्न होगा; तथा त्रिकालाबाध्य व्यवहारातीत परमार्थ सत्य स्वप्रका-

शात्मक परमतत्त्व के अभिप्राय से अद्वैतवादिनी श्रुति ही नहीं, अपितु समस्त श्रुतियाँ भी अपने महातात्पर्य के विषयभूत अनन्तानन्दात्मक तत्त्व में पर्यवसित हो जायँगी।

इन सिद्धान्तों के सिवा स्वाभाविक भेदाभेद, सोपाधिक भेदाभेद, चिदचिद-विभक्ताद्वैत आदि अनेक सिद्धान्त हैं। परन्तु प्रायः उक्त मतों से मिलते-जुलते या गतार्थ हो जाते हैं। इनमें वैसे तो प्रायः परस्पर सभी अन्योन्य का खण्डन तथा स्वमतमण्डन करते हैं, परन्तु कुछ तो सिद्धान्तमात्र में विवाद करते हुए भी स्वाभिमत तत्त्वप्राप्त्यर्थ ही प्रयत्न करते हैं; इस वास्ते उनके यहाँ अधिक संघर्ष नहीं प्रवेश करने पाता। परन्तु कुछ लोगों की तो सिद्धान्त या स्वाभिमत तत्त्वप्राप्त्यर्थ प्रयत्न करने से तत्परता छूटकर परमत-खण्डन या परकीय इष्टदेव तथा आचार्यों के दोष प्रकट करने में ही प्रवृत्ति होती है।

जैसे 'शैव' या 'वैष्णव' लोगों की कट्टरता प्रसिद्ध है; सुना जाता है कि शिव-काञ्ची, विष्णुकाञ्ची आदि परमपुण्य स्थलों में प्रथम ऐसी दशा थी कि एक दूसरों के देवता के उत्सव या रथयात्रा आदि काल में 'अभद्र' अर्थात् शोक के चिह्न एवं अवहेलना का भाव प्रदर्शित किया करते थे। विष्णुभक्त शिव की निन्दा और शिव-भक्त विष्णु की निन्दा करते थे। भस्म, रुद्राक्ष, ऊर्ध्वपुण्ड्र, तप्तमुद्रा, कण्ठी आदि विषयों पर ही अतिगर्हणीय कलह करते थे।

प्रज्ञा का तत्त्व पक्षपात होना स्वभाव है। जरा ध्यान देकर विचारिये कि क्या उक्त समस्त सिद्धान्त सोपानारोहक्रम से किसी सिद्धान्तभूत परमार्थ सत्य परमतत्त्व में पर्यवसित होते हैं; अथवा परस्पर-विरुद्ध होने से सुन्दोपसुन्दन्याय से निर्मूल हो जाते हैं? द्वितीय पक्ष तो ठीक नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि भला थोड़ी देर के लिये बाह्यों को छोड़ भी दें, तो भी तत्तद्वादाभिमानियों से अभिमत तत्तद्देवताओं के अवतारभूत तत्तदाचार्य मात्सर्यादि दोषशून्य **"प्रमाणं परमं श्रुतिः"** का उद्‌घोष करते हुए **"सर्व-भूतानुकम्पया"** प्रवृत्त होकर अतात्त्विक निष्प्रयोजन सिद्धान्त-स्थापन क्यों करेंगे?

इस वास्ते प्रथम पक्ष ही में कुछ सार प्रतीत होता है। अब प्रश्न यह होता है कि फिर उक्त सिद्धान्तों में कौन सा सिद्धान्त ऐसा है कि जिसमें साक्षात् या परम्परया सभी सिद्धान्तों का सामञ्जस्य हो? क्योंकि द्वैत-अद्वैत अत्यन्त विरोधी सिद्धान्तों का परस्पर सामञ्जस्य होना मानों तेज-तिमिर या दहन-तुहिन का ऐक्य सम्पादन है। इस विषय में समन्वय-साम्राज्य-पथानुसारी शास्त्र-तात्पर्य-परि-शीलन संस्कृतप्रेक्षावानों का कहना है कि **"वेदैकसमधिगम्य"** तत्त्व में आस्था रखने-वाले सिद्धान्तों का सामञ्जस्य तो सिद्ध ही है।

विशेष विचार से तो अदृष्ट कुछ न मानकर एकमात्र दृष्ट पदार्थ को माननेवाले बाह्य चार्वाक का भी दृष्ट को परमार्थसत्तया कुछ न मानकर केवल अदृश्य, अव्यक्त,

अव्यवहार्य परमार्थतत्त्व को ही माननेवाले अद्वैतियों से परम्परया अविरोध हो सकता है।

इस वास्ते यद्यपि द्वैत में अद्वैत का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, तथापि अद्वैत में द्वैत का अन्तर्भाव हो सकता है। लोक में देखते ही हैं कि एक वटबीज से अनन्त वट-वृक्ष, एक मृत्तिका से अनन्त घट-शरावादि पात्र होते हैं। श्रुति भी—

"एकोऽहं बहु स्याम्, तदात्मानमेवाऽकुरुत"

इत्यादि वाक्यों से एक का ही बहुभवन बतला रही है। तस्मात् जैसे महासमुद्र में वायु के योग से तरङ्ग, फेन, बुद्बुद अनेक विकार स्वरूप से समुद्र का ही प्रादुर्भाव होता है, उसी तरह अनिर्वाच्य भगवदीय शक्ति के तादृश ही योग से अनिर्वाच्य प्रपञ्च रूप से निरवयव, निष्क्रिय, प्रज्ञानानन्दघन का अनिर्वाच्य प्रादुर्भाव होना श्रुतिसिद्ध है। भगवच्छक्ति की अनिर्वचनीयता तथा तत्कृत द्वैत का परमार्थ सत्य अद्वयानन्दब्रह्म के साथ अविरोध दिखा ही चुके हैं। अस्तु, जैसे प्रदीपशिखा या प्रकाश स्वसन्निहित स्वच्छता तारतम्योपेत बहुसंख्यक काँच के योग से तत्तदाकाराकारित हो जाती है, क्योंकि प्रकाश्य को प्रकाशता हुआ प्रकाश प्रकाश्याकार हो ही जाता है, ठीक उसी तरह आनन्दमय से लेकर अन्नमय ही पर्यन्त नहीं, अपितु तत्तद् इन्द्रियों द्वारा संसृष्ट शब्दाद्यात्मक पुत्र-कलत्रादि पर्यन्त के सन्निधान से तत्तदाकाराकारित विशुद्ध आत्मतत्त्व ही हो जाता है।

उपाधि के सम्बन्ध से उपहित की उपाधिस्वरूपवत्ता स्फटिकादि में प्रसिद्ध है। अतएव तत्तदुपाधियों के सम्बन्ध से उनके साथ अभेदभावापन्न आत्मा का आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, अन्नमय तथा पुत्र रूप से निर्देश श्रुतियों में पाया जाता है। इसी वास्ते सकलविभ्रमास्पद परमतत्त्व में नानाप्रकार वादिविप्रतिपत्ति स्वस्वमतिवैभवानुसार तत्त्वग्रहण यह सभी समञ्जस है। उन्हीं लोक-बुद्धि-सिद्ध स्वरूपों का सोपानारोह क्रम से परमात्मतत्त्व-प्रतिपत्ति के लिये मातृपितृशतादपि हितैषिणी भगवती श्रुति उत्तरोत्तर अनुवाद करती हैं। पुत्रादि से आत्मभाव की व्यावृत्ति के लिये अन्नमय देह में आत्मभाव रखनेवाले चार्वाक का भी मत अभिमत होने से अद्वैत में उपयुक्त है।

देह से आत्मभावव्यावृत्त्यर्थं प्राणमय में भी आत्मभाव अपेक्षित है। प्राणमय से आत्मबुद्धि हटाने के लिये मनोमय में आत्मभाव भी ठीक ही है एवं अभासान्वित क्षणिकबुद्धि वृत्तिसन्तति में तथा सन्ततिक्षय रूप में विज्ञान तथा शून्य का अभिमान रखनेवाले विज्ञानवादी एवं शून्यवादी बौद्धों का भी मत परमतत्त्वप्रतिपत्ति में क्रमशः पूर्वप्रतिपन्न आत्मभाव व्यावृत्ति के लिये उपयुक्त हो सकता है। संघातव्यतिरिक्त शरीर परिमाण आत्मा माननेवाला "आर्हत" सिद्धान्त भी संघाताभिमान-व्यावृत्ति के लिये उपादेय ही है।

नैयायिक, वैशेषिक भी व्यवहारोपयुक्त पदार्थ अनुमानादि प्रमाण संघातातिरिक्त विभु आत्मा सिद्ध कर परमतत्त्व प्रतिपत्ति के परम उपकारक हैं। सांख्य प्रकृति पुरुष का क्षीर-नीर से भी घनिष्ठ सम्मिश्रण मिटाकर असङ्ग, चेतन, विभु आत्मा को सिद्ध करते हैं। योगी तद्व्यतिरिक्त, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव परमेश्वर सिद्ध कर परम पुरुषार्थभूत भगवदाराधन के साधक हो जाते हैं।

मीमांसकों ने भी भगवदाराधन का परम हेतु वर्णाश्रमानुसार वैदिक कर्मों का स्वरूप निर्णय कर अत्यन्त उपकार किया, जिनका कि भगवान् **"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः"** इत्यादि वचनों द्वारा परमतत्त्व प्रतिपत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध करते हैं।

यहाँ से अब उत्तर-मीमांसकों की आवश्यकता देखनी चाहिये, परन्तु इसके पहले यह बात समझ लेनी चाहिये कि उक्त अथवा वक्ष्यमाण दार्शनिकों का विषय विशेष में प्राधान्य तदितर में गौण अभिप्राय मानकर ही समन्वय किया जा सका है। अन्यथा सर्वांश में प्राधान्य होने से विरोध अनिवार्य्य होगा, इस वास्ते तत्तत्, दार्शनिकों के प्रधान अंश उपयुक्त होने से ग्राह्य एवं अविरुद्ध हैं, जैसा कि विद्वानों में न्याय, वैशेषिक सर्वांश को प्रतिपादन करते हुए भी प्रमाण शास्त्र ही कहलाते हैं।

पूर्वोत्तर-मीमांसा वाक्यशास्त्र कही जाती है। व्याकरण पदशास्त्र कहा जाता है। इन उक्तियों का अभिप्राय यही है कि उक्त शास्त्रों का प्रधान विषय प्रमाणादि ही है, अन्य गौण। अतः गौण अंश में विरोध होते हुए भी प्रधानांश सर्वमान्य हैं। अभिप्राय यह है कि जो दार्शनिक जितने अंश में पूर्ण तत्त्वप्राप्ति के उपयोगी जो बात कहते हैं, उनका वही अंश ग्राह्य है, तदितर अग्राह्य है। जो लोग जितने अंश में पुरुषार्थ मानते हैं, उसीके हेतु का निर्णय करते हैं। निद्रालस्यादि तामस भावों की अपेक्षा राजस विषयोपभोगादि श्रेष्ठ पुरुषार्थ तथा अन्वयव्यतिरेक सिद्ध तत्साधन माननेवाले चार्वाक भी अंशतः अभिज्ञ ही हैं। जो विचारक दृष्टाऽदृष्ट-भेद से जितने पुरुषार्थ जिन-जिन प्रमाणों से मानते हैं वे उन्हीं-उन्हीं प्रमाणों से उनके साधनों का भी निश्चय करते हैं। महर्षि लोगों ने भी जिस विषय के अन्वेषण में समाधि द्वारा असाधारण प्रयत्न किये हैं उस विषय में उनकी असाधारण मान्यता होती है। जैसे महर्षि पाणिनि की शाब्दिकी व्यवस्था में, जिन विषयों में प्राधान्य नहीं उन विषयों में विरोध अनिवार्य है। अस्तु, उत्तरमीमांसा के द्वैत सिद्धान्तपरक भाष्यकार **"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।"** इत्यादि भगवद्वाक्यानुसार परमतत्त्व साक्षात्कार का असाधारण कारण भगवद्भक्ति एवं तदुपयुक्त अनन्त कल्याण-गुण-गणाश्रय उपास्य स्वरूप तद्भिन्न उपासक स्वरूप-निर्णय करते हैं।

विशिष्टाद्वैतियों ने परमेश्वर के साथ जीव का कुछ असाधारण सम्बन्धपूर्वक भक्ति के आधिक्य एवं अद्वैतवादिनी श्रुतियों का निरादर हटाने का प्रयत्न किया।

द्वैताऽद्वैतवादियों ने **"अन्योऽसावहमन्योस्मि, न स वेद"** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार उपासना में उपास्योपासक के अभेद ज्ञान की आवश्यकता समझते हुए भेदाभेद का बराबर आदर सिद्ध किया। शुद्धाऽद्वैतियों ने भगवत् तत्त्व से व्यतिरिक्त तत्त्व मानने में वस्तु की पूर्णता में बाधा समझकर शुद्धाऽद्वैत तत्त्व का स्थापन किया।

यद्यपि शुद्धाऽद्वैत सिद्धान्त में उक्त भगवदीय आत्मवैभव से ही एक का बहु-भवन सिद्ध होने से लौकिक-वैदिक समस्त व्यवस्था सूपपन्न है तथापि **"अजायमानो बहुधा व्यजायत", "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"** इत्यादि श्रुतियों से अजायमान का जायमानत्व, एक का बहुत्व माया से ही सिद्ध है। क्योंकि परमार्थतः एक ही वस्तु का अजत्व, जायमानत्व, एकत्व-बहुत्व असम्भव है। इस वास्ते वस्तुतः सबाह्याभ्यन्तर अज सजातीत-विजातीय-स्वगतभेदशून्य स्वप्रकाशप्रज्ञानानन्द घन में ही अचिन्त्याऽनिर्वाच्य स्वात्मशक्ति के अनिर्वाच्य सम्बन्ध से ही जायमानत्व, बहुत्व स्वीकार करना चाहिये। इसी वास्ते अद्वैतवादी अनिर्वचनीयवादी भी कहलाते हैं।

वेदान्तियों की ब्रह्ममीमांसा का भिन्न-भिन्न भाष्यकार भिन्न-भिन्न अर्थ करते हैं। परन्तु उसका मुख्य तात्पर्य्य किसमें है यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। कहना न होगा कि महर्षियों के अभिप्रायों का ज्ञान महर्षियों को ही होता है। शुक्र-नीतिसार में शुक्राचार्य्य के मन्तव्यानुसार वेदान्त का अद्वैत में ही मुख्य तात्पर्य्य है। **"ब्रह्मैकमद्वितीयं स्यान्नेह नानास्ति किञ्चन, मायिकं सर्वमज्ञानाद्भाति वेदान्तिनां मतम्।"** (चतुर्थाध्याये तृतीये प्रकरणे) सर्वभेदविवर्ज्जित ब्रह्म ही सब कुछ है, नाना कुछ भी नहीं है। तद्व्यतिरिक्त समस्त प्रपञ्च मायिक ही है। यही वेदान्तियों का मत है। इसके सिवा जिन दार्शनिकों ने वेदान्त मत का खण्डन किया है उन्होंने भी अद्वैत ही को वेदान्त-सिद्धान्त मानकर अनुवादपुरस्सर खण्डन किया है। सांख्यों तथा नैयायिकों में पाञ्चरात्र पाशुपतों तथा बौद्धों ने भी अद्वैत को ही वेदान्त मत मानकर खण्डन किया है। अब यहाँ प्रेक्षावानों को विचार करना चाहिये कि जब क्रमशः उक्त प्रकार से सभी सिद्धान्त अद्वैत की ओर (ही) अग्रसर हो रहे हैं और विचार दृष्टि से सभी का प्रधान-प्रधान अंशों में अविरोध सिद्ध होता है तब कलह के लिये स्थान कहाँ रह जाता है।

द्वैतसिद्धान्ताऽनुयायियों का परम तात्पर्य्य श्रीमद्भगवच्चरणाम्बुज के अनुराग में ही है। यह बात अद्वैतवादियों को भी सम्मत है। यह बात दूसरी है कि कोई भगवान् के भूतभावन श्रीसदाशिव रूप में, कोई श्रीविष्णु रूप में, कोई पतितपावन श्रीमद्रामभद्र रूप में, कोई श्रीकृष्ण आनन्दकन्द रूप में तथा अन्यान्य रूप में प्रेम रखते हैं। विद्वानों का कहना है कि जैसे एक ही गगनस्थ सूर्य्य-तत्त्व घट, सरोवरादि अनेक उपाधियों में प्रतिबिम्बित होकर बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भावापन्न होता है, ठीक उसी

तरह अनिर्वाच्य मायामय गुणों के परस्पर विमर्द वैचित्र्य निबन्धन विविध उपाधियों के योग से "**माया आभासेन जीवेशौ करोति**" इत्यादि श्रुति के अनुसार अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड तद्गतजीवेशादि रूप से एक ही परमतत्त्व प्रादुर्भूत होता है। जैसे परम विशुद्ध गगनस्थ सूर्य ही प्रतिबिम्बापेक्षया बिम्बपदवाच्य होते हुए सर्वथा अविकृत है वैसे ही अनन्तकोटिब्रह्माण्ड तद्गत जीव एवं अवान्तर तत्तन्नियन्ता ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रादि नियम्य की अपेक्षा परम विशुद्ध तत्त्व ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड के नायक होते हुए भी सर्वथा अविकृत है। जैसे वे ही सूर्य नील-पीत आदि उपनेत्रों से नील-पीत आदि अनेक रूपों में भासमान होते हैं वैसे ही एक ही परमतत्त्व विष्णुस्वरूपादि भावना-भावितमनस्कों को विष्णु रूप में और सदाशिव भगवान् की भावना से भावितमनस्कों को सदाशिव रूप में उपलब्ध होते हैं।

अतएव विशिष्टाद्वैत श्रीकण्ठीय शैवभाष्य की टीका करते हुए श्रीमदप्पययाजी दीक्षित कहते हैं कि यद्यपि सकल सच्छास्त्रों का महातात्पर्य अखण्ड अनन्त विशुद्ध अद्वैत ब्रह्म में ही है तथापि साम्ब सदाशिव की भक्ति बिना प्राणियों को अद्वैत वासना और निष्ठा नहीं हो सकती—"**यद्यप्यद्वैत एव श्रुतिशिखरगिरामागमानाञ्च निष्ठा, साकं सर्वैः पुराणैः स्मृतिनिकरमहाभारतादिप्रबन्धैः। प्रत्नैराचार्यरत्नैरपि परिजगृहे शङ्कराद्यैस्तदेव, तत्रैव ब्रह्मसूत्राण्यपि च विमृशतामभान्ति विश्रान्तिमन्ति॥ तथाप्यनुग्रहादेव तरुणेन्दुशिखामणेः॥ अद्वैतवासना पुंसामाविर्भवति नान्यथा।**" वही रजस्तमोलेशादि से अननुविद्ध, अचिन्त्याऽनिर्वाच्य अन्तरङ्गा आह्लादिनी शक्ति के योग से विभिन्न-विभिन्न भक्तों के भावानुसार भिन्न-भिन्न मंगलमय विग्रहरूप में शिवपुराण तथा स्कन्दपुराण में शिवरूप से, विष्णुपुराण में विष्णुरूप से, श्रीमद्भागवत में श्रीकृष्ण रूप से और श्रीरामायण में श्रीरामभद्र रूप से—

> "**वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।**
> **आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥**"

के अनुसार गाये जाते हैं। अन्यथा जैसे विष्णुपुराणादि में विष्णु का परत्व, सदाशिवादि का अपरत्व पाया जाता है वैसे ही स्कन्दपुराणादि तथा महाभारत में भी भीष्म के सामने युधिष्ठिर के लिये श्रीकृष्ण-मुख से ही सदाशिव का परत्व और तदतिरिक्त का अपरत्व पाया जाता है।

शिवपरक पुराणों को तामस, राजस बतलाकर उनसे पीछा छुड़ाना भी सहृदयहृदयग्राह्य नहीं हो सकता। क्योंकि शिवपरक पुराणों में भी केवल शिव-माहात्म्य-प्रतिपादक पुराण ही कल्याणकारक हैं, तदतिरिक्त नहीं। अश्रुतशिवमाहात्म्य पुरुष नरकगामी होता है; ऐसे एक-दो नहीं, सहस्रों वचन दिखलाये जा सकते हैं। विरुद्ध क्रियासंकल्पासिद्धि आदि अनेक दोषों के भय से सर्वसम्मति से ईश्वर एक ही है, दो नहीं। पुराणों के निर्माता महर्षि व्यास सर्वलोक-कल्याणार्थ प्रवृत्त

होकर परस्पर-विरुद्ध बातें कह भी कैसे सकते हैं ? वेदों में जैसे **"नारायणो ह वा इदमग्र आसीत्"** से नारायण का ही अस्तित्व पाया जाता है वैसे ही **"एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः"** इत्यादि वचनों से रुद्र का ही अस्तित्व भी पाया जाता है।

ठीक यही समस्त दूषणगण, त्रिपुण्ड्र, ऊर्ध्वपुण्ड्र, भस्म, गोपीचन्दन, रुद्राक्षादि विषयों में भी समझना चाहिये। अर्थात् कहीं केवल भस्म, त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य, तदितर की निन्दा, कहीं ऊर्ध्वपुण्ड्र की स्तुति, तदितर की निन्दा। यदि ऊर्ध्वपुण्ड्र की विधि उपनिषदों में पायी जाती है तो भस्म तथा रुद्राक्ष का माहात्म्य जाबालोपनिषदादि में पाया जाता है। यदि काठरायण, माठरायणादि अत्यन्त अप्रसिद्ध श्रुतियों का भी प्रामाण्य साम्प्रदायिक मानते हैं, तो मुक्तिकोपनिषत् प्रमाण तथा लोकप्रसिद्धि सिद्ध रुद्राक्ष, भस्म, जाबालादि उपनिषदों के प्रामाण्य में बाधा ही क्या हो सकती है ? अस्तु, यह साम्प्रदायिक कलह, कलहप्रियों को ही शोभा देता है। दुराग्रही लोग लाख प्रयत्न से भी अपना दुराग्रह नहीं छोड़ सकते !

अतः इस विवाद में हम पाठकों के समय का अपव्यय नहीं चाहते। परन्तु उक्त विषयों में समन्वय पद्धति के मर्मज्ञों की उक्त तथा वक्ष्यमाण व्यवस्था ध्यान से पढ़नी चाहिये। उनका कहना यह है कि पूर्वोक्त बिम्बादिदृष्टान्तानुसार एक ही परमतत्त्व का भावानुसार नाम-रूप वेश-भूषा-भेद से उपासना तथा तत्तदनुरूप नियत उपकरण भिन्न-भिन्न उपनिषद् तथा पुराणों में बतलाये गये हैं और नियत रूपादि में निष्ठा परिपाक के लिये नियत रूप का ही माहात्म्य, तदितर की निन्दा प्रतिपादन की गयी है। जैसे वेदों में क्रम से उदित, अनुदित, समयाध्युषित होम का विधान भी पाया जाता है और वहाँ ही उक्त होमों की निन्दा भी पायी जाती है। परन्तु उक्त निन्दाओं का तात्पर्य निन्दा में न होकर किसी एक की दृढ़ता सम्पादन करने में ही है।

अर्थात् जिसने जिस पक्ष को स्वीकार किया उसको उसीमें दृढ़ निष्ठा रखनी चाहिये। दूसरे पक्ष का अवलम्बन नहीं करना चाहिये। क्योंकि वैदिकों की ऐसी मर्यादा है कि निन्दा का तात्पर्य निन्दा में न होकर किसी विधेय की स्तुति में होता है। जैसे वेदों में एक जगह अविद्यापदवाच्य कर्मों के करनेवालों को अन्धंतम की प्राप्ति कही है। विद्यापदवाच्य उपासना में निरतों को उससे भी घोर अदर्शनात्मक तम **"अन्धं तमः प्रविशन्ति"** की प्राप्ति कही है।

परन्तु उक्त विद्या तथा अविद्या का शास्त्र में विधान पाया जाता है। शास्त्रविहित कृत्य की अकर्तव्यता **"नहि शास्त्रविहितं किञ्चिदकर्तव्यतामियात्"** इत्यादि भगवान् शङ्कराचार्य की उक्ति के अनुसार हो नहीं सकती। यदि उनकी निन्दा में ही तात्पर्य होता तो **"विद्यया देवलोकः"** इत्यादि श्रुति-सिद्ध फल अनुपपन्न होगा, क्योंकि कहीं पर भी निषिद्ध कृत्य की शुभफलकता श्रुति-सिद्ध नहीं है। इस वास्ते

वैदिकों ने समुच्चय विधान की स्तुति के ही लिये एक-एक की निन्दा मानी है। ठीक इसी तरह उक्त निन्दाओं का भी तात्पर्य निन्दा में न होकर स्वोपास्य देव में दृढ़ता के लिये स्तुति में ही है। किंवा जैसे कोई कौतुकी अपनी मुग्धा भार्या को चिढ़ाने के लिये अपने कुत्ते को श्याल के नाम से पुकारकर गाली देता है, न कि श्याल को गाली देता है। मुग्धा अपने भ्राता को गाली समझकर चिढ़ती है।

शिवपुराणादि-प्रतिपाद्य अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर शिवतत्त्व में ही दृढ़ निष्ठा के लिये शिवस्वरूपाभिन्न विष्णुपुराणादिप्रतिपाद्य सर्वेश्वर श्रीविष्णु के नाम से ही ब्रह्माण्डान्तर्गत कार्य्य विष्णु की निन्दा की गयी है, तथा विष्णुपुराणादि-प्रतिपाद्य अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर श्रीविष्णुतत्त्व के उपासकों के निष्ठादाढर्यार्थं तदभिन्न ही श्रीशिव के नाम से कार्य्य ब्रह्मकोटि में प्रविष्ट रुद्र की निन्दा की जाती है। कहीं-कहीं तो शिव या विष्णु की उपासना से नरक होना तक लिखा पाया जाता है। ऐसे स्थलों में भी नरक का अर्थ नरक न होकर कार्यकारणातीत परमतत्त्व-प्राप्ति की अपेक्षा से ब्रह्मलोकादि ही नरक पद से कहे गये हैं; क्योंकि वेदों में भी "**असुर्या नाम ते लोकाः**" इत्यादि मन्त्र में परमात्म-तत्त्व की अपेक्षा देवताओं को भी असुर बतलाया गया है।

असुरों का अर्थात् अशोभन परमात्मव्यतिरिक्त अशोभन प्रपञ्च में या असुप्राणादि अनात्मा में रमण करनेवालों के स्वभूत अदर्शनात्मक तम से आवृत वह लोक अर्थात् फल है, जहाँ "**आत्महन**" आत्मा के वास्तविक नित्य शुद्ध-बुद्ध स्वरूप को न जानकर कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनेक कलङ्क को आरोपण करनेवाले अनात्मज्ञ कहे जाते हैं।

जैसे यहाँ देवलोकादि की निन्दा में तात्पर्य नहीं, किन्तु आत्मज्ञानार्थ प्रयत्नातिशय करने ही के लिये है वैसे शास्त्रों के गम्भीर अभिप्राय किसी की निन्दा में न होकर स्वोपास्य निष्ठा या (किसी) बड़े कल्याण-विषयक प्रयत्न में प्रवृत्ति के लिये समझना चाहिये। अनभिज्ञ लोग मुग्धा भार्या की तरह दुःखी होकर परस्पर कलह करते हैं। बुद्धिमान् तो अपने स्वप्रकाशात्मक पूर्ण परम प्रेमास्पद को ही सर्व-स्वरूप सर्वोपास्य समझकर मुदित होते हैं और रागद्वेषादिरहित भगवान् के किसी एक रूप में निष्ठा रखते हैं। जैसे किसी मर्मज्ञ भावुक की उक्ति प्रसिद्ध है—

"श्रीनाथे जानकीनाथे विभेदो नास्ति कञ्चन।
तथापि मम सर्वस्वं रामः कमललोचनः॥"

तथा—

"महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे,
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि।
न वस्तुभेदप्रतिपत्तिरस्ति मे,
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे॥"

इत्यादि। जब एक ही परमतत्त्व भगवान् भक्तानुग्रहार्थं अनेकधा प्रादुर्भूत होते हैं तब उन्हींके एक स्वरूप या नाम को समाश्रयण कर दूसरे स्वरूप या नाम का तिरस्कार या निन्दा करनी कितनी बड़ी भूल है। क्या अपने ही एक अंग का तिरस्कार करनेवाले मूर्ख अनन्य भक्त पर भी कोई प्रसन्न हो सकता है ? शिवप्रधान या विष्णुप्रधान पुराणों में भी शिव तथा विष्णु के ही मुख से स्थलान्तरों में सम्यक् अभेद या परस्पर उपास्योपासक-भाव तक भी सुना जाता है। इसे विष्णुसहस्रनाम शाङ्कर भाष्य में देखना चाहिये। विस्तार-भय से वहाँ के वचन न देकर वैष्णवकुल-कमल-दिवाकर श्री गोस्वामी तुलसीदासजी की ही कुछ उक्ति दी जाती है। आपका कहना है कि—

"शिव-पद-कमल जिन्हहिं रति नाहीं।
रामहिं ते सपनेहुँ न सुहाहीं॥"
"सेवक स्वामि सखा सिय पिय के।
हित निरुपधि सब विधि तुलसी के॥"

कुछ सांप्रदायिक महानुभाव श्रीपार्वतीरमण सदाशिवजी तथा श्रीविष्णुजी के प्रणाम आदि में अपने अनन्य वैष्णवत्व या शैवत्व की त्रुटि समझते हैं परन्तु विचार करने से सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि शैव या वैष्णव केवल विष्णु या शिव को प्रणाम करना छोड़ देने से अनन्य वैष्णव या शैव नहीं हो सकते क्योंकि चाहे कोई शिव को प्रणामादि करना छोड़ भी दे परन्तु कामिनी-काञ्चन-कैङ्कर्य कैसे छूट सकता है ? उसके बिना छूटे तो लोगों को विधर्मियों के पीछे-पीछे स्वार्थवश घूमना या नत होना अपरिहार्य ही है, तब अनन्य शैव या अनन्य वैष्णव कैसे हो सकते हैं ? वस्तुतः परमेश्वर के आराधन का परम उत्कृष्ट मार्ग स्वस्ववर्णाश्रम-धर्म ही है जैसा कि शास्त्रों में कहा है—

"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दन्ति मानवाः।
वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते भक्त्या नान्यत्तत्तोषकारणम्॥"

वर्णाश्रमानुसार वैदिक अग्निहोत्रादि कृत्यों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र, विष्णु आदि सभी देवताओं का यजन करना पड़ता है अतः कोई भी वैदिकत्वाभिमानी कैसे कह सकते हैं कि हम अनन्य वैष्णव या शैव हैं, अन्य देव का अर्चन नहीं करेंगे। तस्मात् अनन्यता का अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि देवता, ब्राह्मण, गुरु, माता, पिता आदि गुरुजनों को अर्चा-पूजा छोड़ देनी चाहिये किन्तु अनन्यता का अर्थ यही है कि देवपितृगुरुब्राह्मणादि सभी का आराधन-पूजन करो परन्तु वह सभी हो भगवदर्थ, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

"सब कर मांगें एक फल, राम-चरन-रति होहु।"

इत्यादि। इसी प्रकार व्यवस्था भस्मादि के विषय में समझनी चाहिये। कारण कि रागतः प्राप्त पदार्थ की निन्दा निषेध के लिये होती है। जैसे सुरामांसादि रागतः प्राप्त हैं, अतः उनकी निन्दाओं का तात्पर्य उनके निषेधों में हो सकता है। भस्म, त्रिपुण्ड्रादि राग से तो प्राप्त हैं नहीं; किन्तु किन्हीं शास्त्रवचनों से ही प्राप्त हैं। शास्त्र-प्राप्त का अत्यन्तबाध शास्त्रान्तर से भी नहीं हो सकता; क्योंकि शास्त्रान्तर निरव-काश हो जायगा।

षोडशीग्रहण "**अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति**" इस शास्त्र से ही प्राप्त है। अतः "**नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति**" इस साक्षात् निषेध से भी अत्यन्तबाध नहीं होता; किन्तु विकल्प ग्रहणाऽग्रहण का ही माना गया है। ठीक इसी तरह शास्त्रप्राप्त भस्म-त्रिपुण्ड्रादि का विकल्प या सम्प्रदाय-भेद से व्यवस्था है; अर्थात् "**शैवों**" तथा "**वैष्णवों**" के लिये सम्प्रदायानुसार व्यवस्था एवं श्रौतस्मार्तकर्म-निरत कर्मठों को प्रातः-सायं भस्म इतरकाल में यथाकाम। यही पद्धति देखने में भी आ रही है। लिखा भी है कि—

"स्नात्वा पुण्ड्रं मृदा कुर्य्याद्‌धुत्वा चैव तु भस्मना।
देवान् विप्रान् समभ्यर्च्य चन्दनेन समाचरेत्॥"

आहिताग्नि लोग किसी समय भस्मादि और किसी समय चन्दनादि लगाते हैं। इतरों के लिये यथाकाम ही समझना चाहिये। निषेध का विषय श्मशानादिगत भस्म है, न कि आहवनीयादिगत पवित्र भस्म। सामान्यवचनों का भी श्रुतियों से संकोच उचित ही है। अभिप्राय यह है कि अद्वैतवादियों का इन मतभेदों में आग्रह नहीं है।

उनमें यथारुचि त्रिपुण्ड्र, ऊर्ध्वपुण्ड्र, शिव या विष्णु का सम्यक् आदर है। इस वास्ते इन विषयों में अद्वैतियों का किसीके साथ विरोध नहीं है। तीर्थ, व्रत, मन्दिर, शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, शक्ति आदि प्रतिमार्चन, वर्णाश्रमानुसार श्रौतस्मार्त-कृत्य आदि विषयों का उनके यहाँ कितना आदर या प्रचार है इसका पता काश्यादि पुण्य-स्थलों में ही नहीं प्रत्युत ग्रामीणों में भी उनके अनुयायियों के दर्शन से ही सुस्पष्ट लग सकता है।

भगवान् शङ्कराचार्य का सिद्धान्त है कि अनादिकाल से प्रवृत्त यह संसारचक्र बिना परमतत्त्व, परब्रह्म के स्वरूप-साक्षात्कार के कदापि नहीं शान्त हो सकता। भगवत्स्वरूपसाक्षात्कार के लिये वर्णाश्रमानुसार शिष्टाचारप्राप्त सभी लौकिक-वैदिक कृत्य अनुष्ठानसहित भगवद्भक्ति ही परमावश्यक है।

"वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्मस्वनुष्ठीयताम्।
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्॥"

साधनापञ्चक से—

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां, क्षयात् पापस्य कर्मणः।"
"कषाये कर्मभिः पक्वे, ततो ज्ञानं प्रवर्तते॥"
"भक्त्या मामभिजानाति।"

इत्यादि वचनों के अनुसार अद्वैत तत्त्व अव्यवहार्य्य है, अतः व्यावहारिक सत्य नहीं कहा जा सकता। द्वैत प्रपञ्च ही व्यवहार्य्य होने से व्यावहारिक सत्य कहा जा सकता है। द्वैत-अद्वैत समान सत्ता से विरुद्ध होते हैं अतः पारमार्थिक व्यावहारिक सत्ता-भेद से व्यवस्था उचित है। इसी वास्ते उन्होंने स्वयं बदरीनारायण आदि पुण्यस्थलों में शतशः शिव और विष्णु की प्रतिमाएँ स्थापन करके भक्ति का सम्यक् प्रचार किया।

रहा भगवद्व्यतिरिक्त समस्त प्रपञ्च को मिथ्या बतलाना, सो भगवान् तथा भगवद्भक्त दोनों को ही अभीष्ट है। भगवान् ही स्वयं कहते हैं, यही बुद्धिमानों की बुद्धिमत्ता है जो कि मरणशाली मिथ्या शरीर से मुक्त परम सत्य अमृत को प्राप्त कर लेते हैं।

"एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत् सत्यमनृतेनेह, मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥"
(श्रीमद्भागवत)

"तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं, स्वप्नाभम्।"
(श्री० भा० ब्रह्मस्तुतिः)

"रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।"

"जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई॥"

समस्त शास्त्रों का परम तात्पर्य्य केवल भगवत्तत्त्व में ही है, उसी परमतत्त्व-प्राप्ति के लिये अवान्तर तात्पर्य्य-विषयभूत अन्यान्य विषयों का निर्देश है।

इसी अभिप्राय से "सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति" इत्यादि उक्तियाँ हैं। मिथ्या भी संसार पूर्वकथनानुसार बिना सम्यक् धर्मानुष्ठान किये नहीं निवृत्त हो सकता। प्राचीन तथा अर्वाचीन साम्प्रदायिक कलहशून्य वैष्णव ज्ञानेश्वर, तुकाराम, तुलसी-दास आदि सभी महानुभावों ने वैराग्यादि के लिये संसार के मिथ्यात्व पर बड़ा जोर दिया।

देहादि को ही सत्य माननेवाले प्राकृत पुरुषों से देहादिपोषणार्थ कितने अनिष्टों की सम्भावना है, यह विज्ञों से तिरोहित नहीं है। श्री सूरदास, हरिदास प्रभृति भावुक-वृन्दों ने भी प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के चरित्र-गान में ही अपना अमूल्य समय व्यतीत किया, न कि निःसार जगत् की सत्यता-प्रतिपादन में।

मिथ्या कहने का भी अभिप्राय यही है कि "त्रिकालाऽबाध्य" परमार्थ सत्य भगवान् की सत्यता के समान इसकी सत्यता नहीं है; किन्तु व्यवहार में आनेवाली

केवल व्यावहारिक सत्यता है, न कि गगनकुसुम के समान अत्यन्त असत्। मिथ्या शब्द का यहाँ अपह्नव अर्थ नहीं है, अपि तु अनिर्वचनीयता अर्थ समझना चाहिये, जैसे अविद्या शब्द का विद्या-व्यतिरिक्त कर्म विवक्षित है। अधर्म से धर्मविरुद्ध पापादि विवक्षित है, न कि विद्या का अभाव या धर्म का अभाव।

यद्यपि साधारणतया लोक में सत्यता एक ही प्रकार की प्रसिद्ध है तथापि अध्यात्मशास्त्रवेत्ता सूक्ष्म स्तर-भेद से सत्यता में महान् भेद समझते हैं। उनकी दृष्टि में बिना (वस्तु) सत्ता के किसी वस्तु की अपरोक्ष प्रतीति असम्भव है। इसी वास्ते रज्जु-सर्प आदि की भी प्रतीति तत्काल उत्पन्न अनिर्वाच्य सर्प को विषय करनेवाली होती है। क्योंकि अत्यन्त असत् खपुष्पादि के समान रज्जु-सर्प की अपरोक्ष प्रतीति तथा भय-कम्पादि की जनकता नहीं हो सकती, इस वास्ते उसे असत् खपुष्पादि से विलक्षण परन्तु रज्जुज्ञान से बाध्य होनेवाला मानना चाहिये; अतः व्यावहारिक घटादि से भी विलक्षण प्रातिभासिक सत्य कहलाता है एवं आकाशादि, जो कि व्यवहारकाल में कभी बाधित न होने से रज्जुसर्पादि से विलक्षण हैं तथा ब्रह्म-साक्षात्कार होने से एकमात्र ब्रह्म ही रह जाता है, तद्व्यतिरिक्त का बाध हो जाता है, अत: त्रिकालाऽबाध्य परमार्थ सत्य से भी विलक्षण हैं। वे व्यावहारिक सत्य कहलाते हैं, और जो सदा एकरस परम तत्त्व है वही परमार्थ सत्य कहलाता है। जैसे द्वैत-वादियों के यहाँ घट की अनित्यता, आकाश की नित्यता, रूप-विलक्षणता सत्यता के बराबर होने पर भी समञ्जस है वैसे ही बाधित होने से मिथ्यात्व बराबर होते हुए भी व्यावहारिक समस्त प्रपञ्च की विनिवृत्ति के लिये व्यावहारिक साधनों की ही आवश्यकता है। शास्त्रों में स्वाभाविक कामकर्म लक्षण मृत्यु के अपनयनार्थ ही अविद्यापदवाच्य कर्मों का विधान भी है—"**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा।**"

विशुद्धस्वान्ततत्त्वनिष्ठ के लिये "**योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते**" के अनुसार विधिपूर्वक सर्व-कर्म-संन्यास शास्त्रानुसार ठीक ही है। अब रहा यह कि जीव-परमेश्वर के भेद न मानने से ठीक भगवदुपासना नहीं हो सकती, इस वास्ते अद्वैतियों के साथ विरोध है, तो यह भी नहीं, क्योंकि यावत् प्रारब्ध अविद्या लेश की अनुवृत्ति प्रारब्धरूप प्रतिबन्धक से अद्वैतवादी भी मानते हैं। अत: जब तक उपाधि का अस्तित्व है तब तक जीव-परमेश्वर का वास्तविक अभेद होते हुए भी व्यावहारिक भेद अनिवार्य्य है।

जब तक जल विद्यमान है तब तक जैसे प्रतिबिम्ब-भाव अवश्य है वैसे ही जीवभाव भी अनिवार्य्य है। जैसे वायुयोग से समुद्र में तरङ्ग भाव होता है, वैसे ही अनिर्वाच्य भगवच्छक्ति के योग से जीवभाव भी अनिवार्य्य होगा। इसी दृष्टि से भेद-भाव भगवद्भक्ति में पर्याप्त है।

इसी वास्ते श्रीमच्छङ्कर भगवत्पाद ने कहा है कि—"**सत्यपि भेदापगमे, नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वं, सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचिदपि समुद्रो न तारङ्गः**"

हे नाथ ! जैसे तरङ्ग यद्यपि समुद्र से वस्तुतः भिन्न नहीं होता, किन्तु वायुयोग से अवस्थान्तरापन्न समुद्र ही तरङ्ग कहलाता है, तथापि व्यवहार से समुद्र-तरङ्ग का भेद सिद्ध ही है। उस व्यवहार-सिद्ध भेद दशा में भी समुद्र का तरङ्ग है, ऐसा ही कहा जाता है, तरङ्ग का समुद्र है ऐसा नहीं ! ठीक इसी तरह हमारा-आपका यद्यपि वास्तविक भेद नहीं है तथापि मायाकृत व्यवहार-सिद्ध भेद विद्यमान है। ऐसी दशा में भी हे प्रभो ! मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं।

यदि कहा जाय कि भक्ति के लिये पारमार्थिक भेद ही अपेक्षित है, अभेद-ज्ञान भक्ति का प्रतिबन्धक है, तो यह भी उचित नहीं मालूम पड़ता, कारण कि प्रथम तो भेद लोक में अनादिकाल से प्रसिद्ध ही है। लोक-प्रसिद्ध भेद को ही लेकर परमानर्थ के हेतु तथा नश्वर भी कामिनी, कांचन आदि विषयों में अनिवार्य्य प्रेम देखा जाता है। यहाँ तक कि भावुकों ने—

"कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी प्रिय जिमि दाम।"

इत्यादि वचनों से भगवान् में तादृश प्रेम पाने की बड़ी उत्कण्ठा प्रकट की है।

अतः व्यावहारिक भेद से प्रेम सिद्धान्त के निर्वाह में कोई अनुपपत्ति नहीं। दूसरे यह कि अभेद प्रथमोपस्थित ही नहीं है। क्योंकि अभेदज्ञान तो धर्मानुष्ठानपूर्वक भगवदाराधनादि द्वारा विशुद्ध स्वान्त को ही श्रवणादि में बड़े प्रयास से सिद्ध हो सकता है। फिर वह प्रेम में ही प्रतिबन्धक क्यों हो सकता है ? इस वास्ते सिद्ध हुआ कि व्यवहार-भेद या द्वैत लेकर भगवत् प्रेम सम्यक् सम्पादन किया जा सकता है।

यह प्रथम प्रसिद्ध ही है। प्रतिबन्धक भी उसका कोई उपस्थित नहीं। अतः द्वैतियों का अद्वैतियों के साथ भी कोई विरोध नहीं हो सकता। यदि द्वैतियों का भगवत् प्रेम में परमतात्पर्य न होकर द्वैत या भेद-सिद्धि में ही तात्पर्य हो तब अवश्य अद्वैतियों के साथ विरोध अनिवार्य है। क्योंकि अद्वैतियों का तो परमतात्पर्य्य या परमपुरुषार्थ निष्प्रपञ्च ब्रह्म अद्वैत-सिद्धि में ही है। समान विषय में विरुद्ध विकल्प अवश्य ही विरोध का प्रयोजक होता है, परन्तु यह हो नहीं सकता। क्योंकि द्वैत-भेद आबालगोपाल सर्वत्र प्रसिद्ध है। अतः उसके साधन का प्रयास व्यर्थ है।

यदि द्वैतसिद्धि ही मोक्ष या परम पुरुषार्थ की हेतु होती तो अनायास ही समस्त प्राणी अब तक विमुक्त हो गये होते। नाना प्रकार के कर्मोपासना-ज्ञानादि साधनोपदेश करनेवाले वेदशास्त्रों की आवश्यकता ही नहीं होती। कठिनातिकठिन तप आदि की भी कोई आवश्यकता न होती ! इसीलिये सूरदास प्रभृति अर्वाचीन भक्त-शिरोमणि भी निःसार संसार की सत्यता-असत्यता के झगड़े में न पड़कर केवल भव-भयहारी भगवान् के प्रेम में ही निमग्न रहते थे।

प्रेमतत्त्व पर भी यदि कुछ गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाय तो वस्तुतः प्रेमतत्त्व व्यवधानाऽसहिष्णु होने से अभेद का ही पोषक है। जहाँ भावुकों को

अनुरागातिशय से प्रियतम के संश्लेषकाल में रोमावलियों की भी उद्गति व्यवधायक होने से सहृदयहृदयवेद्य अनिर्वाच्य व्यथा पहुँचानेवाली होती है, पुत्रवत्सला जननी प्रिय पुत्र को प्रेम से हृदय में लगाकर पुनः-पुनः चिपटाने का प्रयत्न करती है, तब क्या प्रेम को व्यवधानाऽसहिष्णु नहीं कहा जा सकता ? वस्तुतः जहाँ जितनी मात्रा में प्रेम-तत्त्व का आधिक्य है वहाँ उतनी ही मात्रा में व्यवधान या पार्थक्य असह्य है। इन्हीं अभिप्रायों से उत्तरोत्तर आचार्यों ने जीव तथा परमेश्वर के असाधारण सम्बन्ध अर्थात् व्यवधानरहित सम्बन्ध-सिद्धि के लिये विशिष्टाऽद्वैत, द्वैताऽद्वैत इत्यादि अभेदानुगुण पक्ष स्वीकार किया है।

श्रुति भी **"आत्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति"** इत्यादि वचनों से स्वभिन्न देवादि में गौण प्रेम तथा व्यवधानशून्य स्वात्मा में ही सर्वातिशायी प्रेम को प्रदर्शित कर प्रेम को व्यवधानाऽसहिष्णुत्व स्वाभाव्य सिद्ध करती है। प्रेम का स्वरूप ही वस्तुतः रसमय है। रसस्वरूप वस्तु परमात्मा ही है। **"रसो वै सः"** भाव-विशेषों से द्रुतचित्त पर अभिव्यक्त जो निखिल-रसामृत-सिन्धु भगवत् तत्त्व है वही प्रेमपदवाच्य होता है। प्रेम उक्त प्रकार से स्वाश्रय-विषय में व्यवधान मिटाने के अनुकूल है। जैसे रश्मिजाल या प्रकाश अपने उद्गमस्थल आदित्य में ही निरतिशय तथा अव्यभिचारी भाव से रहता है, अन्यत्र सातिशय तथा व्यभिचारी भाव से ही रहता है। ठीक वैसे सर्वान्तरतम प्रत्यगभिन्न परम प्रेमास्पद रसस्वरूप भगवत्तत्त्व से ही प्रादुर्भूत रसमय प्रेमतत्त्व निरतिशय तथा अव्यभिचारी भाव से अपने उद्गमस्थल ही में होता है। अन्यत्र सातिशय एवं व्यभिचारी भाव से होता है।

जैसे एक ही समुद्र में समुद्रतरङ्ग एवं परस्पर सम्बन्ध वस्तुतः अविभिन्न होते हुए भी त्रिधा व्यवहृत तथा अनुभूत होते हैं, वैसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डान्तर्गत निखिल सौख्य जिसके तुषार के समान हैं, उसी अचिन्त्याऽनन्त सौख्य-सुधासिन्धु परमतत्त्व में परम विशुद्ध आह्लादिनी शक्ति के सम्बन्ध से प्रेम तथा उसके आश्रय विषय का अद्भुत चमत्कारी अनुपम विकास है।

प्रेमतत्त्व के लिये स्वाभिवृद्ध्यर्थ स्वाश्रय विषय का विप्रयोग अपेक्षित है। उससे भी कहीं अधिक अव्यवधान लक्षण संप्रयोग भी अपेक्षित होता है। क्योंकि प्रथम किसी तरह संप्रयोग संपन्न होने पर ही विप्रयोग भी रस का अभिव्यञ्जक होता है। विप्रयोगाग्नि-संतप्त भावुक का संप्रयोगाऽमृत विना जीवन ही असं[illegible]ा है। यह बात दूसरी है कि बहिरङ्ग अल्पदर्शी देशादिकृत व्यवधानराहित्य [illegible] ही तृप्त हो जाते हैं। सूक्ष्मज्ञ तथा अन्तरङ्ग भावुक, देशकृत, कालकृत, वस्तुकृत, समस्त व्यवधान-राहित्य विना नहीं तृप्त होते।

यही बात स्वात्मसमर्पण-रूप भक्ति के विषय में भी समझनी चाहिये। अर्थात् कुछ महानुभाव वित्त, पुत्र, कलत्र, देहादि समर्पण कर स्वरूप का अस्तित्व रखते हुए

भी तृप्त हो जाते हैं एवं कुछ महानुभाव अपरिच्छिन्न स्वप्रकाशात्मक परमतत्त्व में अनेकाऽनर्थोपप्लुत जीवभाव के पृथक् अस्तित्व की कल्पना स्वप्रकाश सूर्य्य में अंधकार की कल्पना के समान अनुचित समझकर स्वस्वरूप को भी भगवान् में सर्वथा समर्पण कर भगवान् की पूर्णता के बाधक का अपनयन करते हैं।

इसी वास्ते भगवान् भी अभेद का समर्थन करते हैं—**"विभक्तमिव च स्थितम्"**। परमतत्त्व वस्तुतः एक होता हुआ भी सुर, नर, तिर्यगादि रूप से बहुधा स्थित है। 'विभक्तमिव' इत्यादि स्थलों में जो तटस्थ ईश्वर की विभक्तवत् व्यवस्थिति मानते हैं उनके यहाँ अप्रसिद्धरूपदोष अनिवार्य्य है। क्योंकि स्वरूप से परमेश्वर विभक्तवत् अर्थात् वस्तुतः एक परन्तु पृथक्-पृथक् स्थित के समान होता है। यह अत्यन्त अप्रसिद्ध है। **"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि"** क्षेत्रज्ञ त्वंपदार्थ को 'मां विद्धि' परमात्मस्वरूप ही समझना चाहिये। क्षेत्रज्ञ शब्द का जीव ही अर्थ है, परमेश्वर नहीं। क्योंकि जैसे माया का असाधारण सम्बन्ध परमेश्वर के साथ है अतः **"मायिनं तु महेश्वरम्"** के अनुसार मायी महेश्वर है, वैसे ही क्षेत्र का असाधारण सम्बन्ध जीव से ही है। अन्यथा क्षेत्र दुःखादि का सम्बन्ध भी परमेश्वर में अनिवार्य्य होगा। 'क्षेत्रज्ञ' तथा 'मां' का यदि एक ही अर्थ है तब अभेद सम्बन्ध से शाब्दबोध भी असम्भव है, यदि पृथक् है तो भी उद्देश्य-विधेय में लक्षण-लक्ष्य की तरह ज्ञातता-अज्ञातता अपेक्षित है।

"रामं सीतापतिं विद्धि" इत्यादि स्थलों में भी ज्ञात राम को उद्देश्य कर अज्ञात सीतापतित्व विधेय है। यहाँ भी दो में एक को उद्देश्य कर एक को विधेय मानना चाहिये। क्षेत्रज्ञ यदि ईश्वर रूप से प्रसिद्ध है तो उसे ईश्वरत्व विधान व्यर्थ है, यदि अप्रसिद्ध है तो भी ईश्वरत्व विधान निष्प्रयोजन है। ईश्वर को क्षेत्रज्ञातृत्व विवक्षित हो तो भी **"एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः"** इत्यादि वचनों से क्षेत्रज्ञ पृथक् निर्देश व्यर्थ होगा। क्योंकि क्षेत्रज्ञाता को सीधे ईश्वर बतलाया जा सकता था।

फिर क्षेत्रज्ञ संज्ञा निर्धारण कर परम्परा से ईश्वरत्व कहना सर्वथा अपार्थक है। सर्वज्ञ को क्षेत्रज्ञ मात्र कथन प्रतिकूल ही है। क्षेत्रज्ञ शब्द से यदि परमेश्वर कहा गया, तब जीव का स्वरूप पृथक् दिखलाना चाहिये। भोग्यवर्ग-प्रतिपादनानन्तर भोक्तृवर्ग का निरूपण ही संगत होने से भोक्तृवर्ग को लङ्घन कर नियन्ता का प्रतिपादन भी असङ्गत है। इस वास्ते **"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्"** इत्यादि श्रुति के अनुसार प्रसिद्ध क्षेत्र तथा उसके ज्ञाता को अनुवाद कर यथायोग्य बाध सामानाधिकरण्य या मुख्य सामानाधिकरण्य से परमात्मत्व-विधान ही भगवान् को अभिप्रेत है।

अतएव 'पैंगी रहस्य' श्रुति भी **"अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः"** इत्यादि वचनों से शारीर अर्थात् शरीराभिमानी जीव को ही क्षेत्रज्ञ बतलाती है। यदि शारीर

शब्द का अर्थ भी "**शरीरे भवा**" इस व्युत्पत्ति से परमेश्वर मानें तो शरीर में होने-वाला व्यापक आकाश भी शारीर पद से कहा जा सकता है। पर यह लोकाऽप्रसिद्ध है, अतः ठीक नहीं।

सारांश यह निकला कि अद्वैत सिद्धान्त सर्वाऽविरुद्ध एवं भगवान् और उनके भक्तों को सर्वथा अभिमत है। अतः सोपानारोह-क्रम से सभी सिद्धांत उक्त सिद्धांत के अनुकूल हैं। कोई-कोई महानुभाव यह भी कहते हैं कि उक्त अद्वैत सिद्धान्त में सगुण भगवान् भी व्यावहारिक या मिथ्या तत्त्व हैं, तब मिथ्यातत्त्व में अनुरक्ति कैसे संभा-वित हो सकती है ? परन्तु विचार करने से यह कथन निर्मूल है। जैसे प्राची दिक्-सम्बन्ध से पूर्णचन्द्र का सम्यक् प्रादुर्भाव होता है वैसे ही परम विशुद्ध अनिर्वाच्य दिव्य शक्ति के सम्बन्ध से परमतत्त्व का दिव्य मङ्गलमय विग्रह रूप में प्रादुर्भाव होता है।

व्यावहारिक कहने का भी अर्थ अलीक या रज्जु-सर्प के समान नहीं हो सकता जैसे पार्थिवत्व अंश में बराबर होते हुए भी हीरकादि में महद् वैषम्य है एवं व्यावहारिकत्व अंश में बराबर होते हुए भी विष अमृत में महान् भेद है। ठीक इसी तरह जगदुपादानभूता माया शक्ति तथा भगवान् के मङ्गलमय विग्रह रूप में विकास की निमित्तभूत विशुद्ध शक्ति में महान् प्रभेद है। जैसे मेघादि अस्वच्छ पदार्थ के सम्बन्ध से यद्यपि सूर्य्य-स्वरूप समावृत है परन्तु विशुद्ध काँचादि के योग से सूर्य्य-स्वरूप समावृत न होकर प्रत्युत अधिक विशुद्ध रूप में प्रकट होता है। ठीक वैसे ही अचिन्त्य विशुद्ध शक्ति के योग से परमतत्त्व का स्वरूप समावृत भी नहीं होता। प्रत्युत आत्माराम मुनीन्द्रों के भी चित्त को आकर्षण करनेवाले दिव्य स्वरूप में प्रकट होते हैं। इतना भेद अवश्य है कि अद्वैत सिद्धान्ती जहाँ एक ओर भगवान् को अचिन्त्यानन्त समस्त कल्याणगुणगणास्पद मानते हैं वहाँ दूसरी ओर "**निर्गुणं, निष्क्रियं, शान्तम्**" इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सत्ता-भेद से निर्गुण, निष्क्रिय, निष्कल भी मानते हैं।

अन्यान्य सिद्धान्ती केवल सगुणतत्त्व को ही मानकर निर्गुण का सर्वथा अपलाप ही करते हैं। अर्थात् सगुण को ही प्राकृत गुणगणराहित्य के अभिप्राय से निर्गुण भी कहते हैं। द्वैती लोग आदित्यतत्त्व के समान सगुण भगवान् को मानकर आतप के समान निर्गुणतत्त्व को मानते हैं। अद्वैतियों का कहना है कि गुणादि की आवश्यकता स्वाश्रय में सौख्यातिशय या महत्त्वातिशय सम्पादन के लिये ही हो सकती है।

परमतत्त्व अनन्त पद, समभिव्याहृत ब्रह्म पद तथा "**एतस्यैवाऽऽनन्दस्य मात्रा-मुपजीवन्ति**" इत्यादि श्रुति से निरतिशय आनन्दस्वरूप स्वतः सिद्ध है। अतः गुणकृत अतिशयता-राहित्य तथा निर्गुणत्व श्रुति के अनुरोध से स्वतः निर्गुण तत्त्व में ही गुण

स्वतः अपने गुणत्वसिद्धयर्थं भगवत्तत्त्व का समाश्रयण करते हैं। इस वास्ते भगवान् स्वरूप से निर्गुण होते हुए भी सगुण कहे जा सकते हैं।

"निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।" (श्री० भा० एका०)

आदित्यस्थानीय सगुण तत्त्व, आतपस्थानीय निर्गुण तत्त्व देश में यदि अविद्यमान है तब तो परिच्छिन्नता अनिवार्य्य है। यदि निरतिशय रूप से सर्वत्र परिपूर्ण है तब नामान्तर से निर्गुण परम तत्त्व ही हुआ। क्योंकि अतिशयता की कल्पना जहाँ जाकर स्थगित हो जाती है वहीं निरतिशय प्रज्ञानानन्दघन परमतत्त्व कहलाता है।

नाम में कोई विवाद नहीं। यदि शून्यवादी या विज्ञानवादी इसी तत्त्व को शून्य या विज्ञानतत्त्व शब्द से कहते हों तो अद्वैतियों का नाममात्र में कोई विवाद नहीं। यदि **"असद्वा इदमग्र आसीत्"** इत्यादि श्रुति तथा दार्शनिकों से प्रसिद्ध क्षणिक विज्ञान संतति या तत्त्वयरूप अत्यन्ताऽसत् विज्ञान या शून्य मानते हों तो उक्त परम तत्त्व से महान् भेद सुस्पष्ट सिद्ध है। अतः उक्त प्रकार से परमतत्त्व स्वरूप से निर्गुण और निरपेक्ष होते हुए भी सगुण तथा साकार है। जैसे प्राची दिक्, चन्द्राभिव्यक्ति में, वायु तरङ्गाभिव्यक्ति में निमित्त मात्र है वैसे ही अचिन्त्याऽनिर्वाच्य परम विशुद्ध शक्ति भी भगवान् के सगुण स्वरूप में प्रादुर्भाव के निमित्त मात्र है। जैसे प्राची या वायु स्वयं चन्द्र या तरङ्ग रूप नहीं है वैसे ही विशुद्ध शक्तिमात्र सगुण भगवान् नहीं हैं।

भगवान् तो स्वतः नित्यशुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव ही हैं। इसी भाँति तत्त्वदर्शी सर्वस्वरूप प्रत्यक्चैतन्याभिन्न प्रज्ञानानन्दघन भगवान् में आत्मभाव से प्रतिष्ठित हुए भी व्यावहारिक भेद समाश्रयण कर अपरिगणित कन्दर्पदर्पदलन पटीयान् सौन्दर्य्यसुधासिन्धु के मुनिमनमोहक माधुर्य का भी समास्वादन करते हैं।

इस तरह से यद्यपि अकुटिल भाव से श्रुतिस्मृति तदनुकूल तर्कानुमोदितमार्ग द्वारा समस्त विरुद्ध धर्म एवं सिद्धान्तों का साक्षात् या परम्परया सामञ्जस्य वेदों के परमतात्पर्य्य विषयभूत भगवान् में निर्विवाद सिद्ध है तथापि लीला-विशेष अभिनय के लिये वस्तुतः अनन्यपूर्विकाओं में भी अन्यपूर्विकात्व के लोक-दृष्टि-सिद्ध आरोपवत् अभिप्राय-भेद से सकल विवादास्पदत्व भी लीलामय के स्वरूपाऽननुरूप नहीं है।

वेदान्त के इस अद्वैत सिद्धान्त से नास्तिकों तक का विरोध नहीं पड़ता। जो भगवान् भक्तों के सर्वस्व एवं ज्ञानियों के एकमात्र परम तत्त्व हैं, वही नास्तिकों से नास्तिकों के भी सब कुछ हैं। यह बात असम्भव सी प्रतीत होती है परन्तु विवेचन करने से अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है। चाहे कैसा भी नास्तिक क्यों न हो, वह अपने अभाव से घबराता है, वह यही चाहता है कि मैं सदा बना रहूँ। साधारण से साधारण प्राणी भी आत्मरक्षा के लिये व्यग्र रहता है। कोई भी अपने अस्तित्व को मिटाना नहीं चाहता। इस तरह नास्तिक भी अपने अस्तित्व का पूर्णानुरागी है। अपने आप कौन है, जिसका अस्तित्व वह चाहता है, इसे वह न जानता हो, यह बात दूसरी है।

यदि सौभाग्यवश कभी इस ओर भी उसकी दृष्टि फिर गयी, तब तो वह समझ लेगा कि विनश्वर देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार तथा ये सभी दृश्य मेरे हैं और मैं इनसे पृथक् तथा इनका द्रष्टा हूँ और मैं उसी निर्विकार, दृक्-स्वरूप स्वात्मा का ही सदा अस्तित्व चाहता हूँ। विवेचन करने से यह भी विदित होता है कि स्वप्रकाश दृक् का अस्तित्व 'तत्' स्वरूप ही है। इसीलिये आत्मा स्वप्रकाश कहा जाता है। जगत् की अनेकानेक वस्तुओं में चाहे जितना भी सन्देह हो, परन्तु 'मैं हूँ या नहीं' ऐसा आत्म-विषयक संदेह किसी को भी नहीं होता। जगत्, परमेश्वर, धर्म, कर्म सभी का अभाव सिद्ध करनेवाले शून्यवादी को भी अनिच्छया स्वात्मा का अस्तित्व मानना ही पड़ता है। कारण, जो सबके अभाव का सिद्ध करनेवाला है, यदि वह रह गया तब तो स्वातिरिक्त ही सबका अभाव सिद्ध होगा, अपना अभाव नहीं सिद्ध हो सकता। सर्व-निराकर्ता, सर्वनिषेध की अवधि एवं साक्षीभूत के अस्वीकार करने पर शून्य भी अप्रामाणिक होगा। अतः वही अत्यन्त अबाधित, सर्वबाध का अधिष्ठान एवं साक्षी-भूत अस्तित्व या सत्ता ही भगवान् का 'सत्' रूप है।

साथ ही बोध और प्रकाश के लिये प्राणिमात्र में उत्सुकता दिखाई देती है। पशु-पक्षी भी स्पर्श से, आघ्राण से, किसी तरह ज्ञान के प्रेमी हैं। यह ज्ञान की वाञ्छा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। हमें अब अमुक तत्त्व का ज्ञान हो, अब अमुक का हो, इतिहास, भूगोल, खगोल, भूततत्त्व एवं अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैव सभी तत्त्वों को जानने को मन चाहता है। किं बहुना, बिना सर्वज्ञता के, ज्ञान में सन्तोष नहीं होता। पूर्ण सर्वज्ञता कहाँ हो सकती है यह विवेचन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सर्व पदार्थ जिस स्वप्रकाश, अखण्ड, विशुद्ध भान (बोध) में कल्पित हैं, वही सर्वावभासक एवं सर्वज्ञ हो सकता है। क्योंकि प्रकाश या भान अत्यन्त असंग एवं निरवयव और अनन्त है। उसका दृश्य के साथ सिवा आध्यासिक सम्बन्ध के और संयोग, समवाय आदि सम्बन्ध बन ही नहीं सकता। अतः यदि सर्वज्ञ होने की वाञ्छा है तो सर्वाव-भासक, सर्वाधिष्ठान, विशुद्ध, अखण्ड बोध होने की ही वाञ्छा है। यह अखण्ड बोध ही भगवान् का 'चित्' रूप है। जैसे पूर्वोक्त अखण्ड, अनन्त, स्वप्रकाश सत्ता या अस्तित्व ही अपना तथा सबका निज रूप है, वैसे ही यह अबाध्य, अखण्ड बोध भी सबका अन्तरात्मा है।

ससार में पशु, कीट, पतंग कोई भी ऐसा नहीं है जो आनन्द के लिये व्यग्र न रहता हो। प्राणिमात्र के देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार आदि की जितनी भी चेष्टाएँ एवं हलचलें हैं, वे सभी आनन्द के लिये हैं। बिना किसी प्रयोजन के किसीकी भी प्रवृत्ति नहीं होती। एक उन्मत्त भी, चाहे भ्रम या अज्ञान से ही सही, आनन्द के लिये ही समस्त चेष्टाओं को करता है। समस्त वस्तुओं में भ्रान्त होता हुआ भी प्राणी जिसके लिये नाना चेष्टाएँ करता है उसके विषय में उसे सन्देह या भ्रम अथवा अज्ञान

हो, यह कैसे कहा जा सकता है ? इस तरह जिसके लिये समस्त चेष्टाएँ हो रही हैं, वह आनन्द बहुत प्रसिद्ध है। संसारभर की समस्त वस्तुओं में प्रेम जिसके लिये हो और जो स्वयं निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम का आस्पद हो अर्थात् जो अन्य के लिये प्रिय न हो, वही 'आनन्द' होता है। देखते ही हैं कि समस्त आनन्द के साधनों में प्रेम अस्थिर होता है। स्त्री, पुत्र आदि में प्रेम तभी तक है, जब तक वे अनुकूल हैं, प्रतिकूल होते ही उनसे द्वेष हो जाता है। परन्तु, सुख और आनन्द सदा ही प्रिय रहता है। कभी भी, किसीको भी आनन्द से द्वेष हो, यह नहीं कहा जा सकता। इस तरह सभी आनन्द को चाहते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील तथा लालायित रहते हैं।

परन्तु उसे पहचानने की कमी है; क्योंकि जिस आनन्द और सुख के लिये नास्तिक व्यग्र है, उसे पहचानता नहीं। वह तो सुख-साधन स्त्री-पुत्र, शब्द-स्पर्श आदि संभोग में ही सुख की भ्रान्ति से फँसकर उसमें ही सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु विवेचन से विदित हो जाता है कि जिनमें कभी प्रेम, कभी द्वेष होता है, वह सुख नहीं, किन्तु सदा ही जिसमें निरतिशय एवं निरुपाधिक प्रेम होता है, वही सुख है। जगत् के सम्भोग-साधन पदार्थ ऐसे हैं नहीं, अतः वे सुखरूप नहीं, किन्तु अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति में तृष्णाप्रशमन के अनन्तर जिस शान्त अन्तर्मुख मन पर सुख का आभास पड़ता है, उस आभास या प्रतिबिम्ब का निदान या बिम्बभूत जो अन्तरात्मा है, वही 'आनन्द' है। जो लक्षण आनन्द का, वही अन्तरात्मा का भी है। जैसे सब कुछ आनन्द के लिये प्रिय है, आनन्द और किसीके लिये प्रिय नहीं, ठीक वैसे ही समस्त वस्तु आत्मा के लिये प्रिय होती है, आत्मा किसी दूसरे के लिये प्रिय नहीं होता। अतः अन्तरात्मा ही आनन्द है और वही निरतिशय, निरुपाधिक परम प्रेम का आस्पद है। उसीका आभास अन्तर्मुख अन्तःकरण पर पड़ने से 'मैं सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है। इसीके लिये समस्त कार्य-करण-संघात की प्रवृत्ति होती है। यह सुख-दुःख-मोहात्मक, नानात्मक, संघात से विलक्षण सुख-दुःख-मोहातीत, असंहत, असङ्ग, अद्वितीय तत्त्व ही भगवान् का 'आनन्द' रूप है। इस तरह सभी 'सच्चिदा-नन्द' भगवान् के उपासक हैं।

प्राणिमात्र स्वतन्त्रता चाहते हैं। एक चींटी भी पकड़ी जाने पर व्याकुलता के साथ हाथ-पैर चलाती है। शुक, सारिका आदि पक्षी सोने के पिंजड़े में रहकर सुन्दर मधुर भोजन की अपेक्षा बन्धनमुक्त हो, स्वतन्त्रता से वन में खट्टे फलों को भी खाकर जीवन व्यतीत करने ही में सच्चे आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह प्राणिमात्र बन्धन से छूटने तथा स्वतन्त्रता के लिये लालायित है। ऐसी स्थिति में कौन नास्तिक बन्धनमुक्ति और स्वतन्त्रता न चाहेगा ? परन्तु स्वतन्त्रता का वास्तविक रूप विवेचन करने से स्पष्ट होगा कि यह भी भगवान् का ही स्वरूप है। बिना असङ्ग सच्चिदानन्द

भगवान् को प्राप्त किये बन्धन-मुक्ति और स्वतन्त्रता की कल्पना अत्यन्त ही निराधार है। जब तक स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देह का सम्बन्ध बना है, तब तक स्वतंत्रता कैसी ? भले ही कोई माता-पिता गुरुजनों तथा वेद-शास्त्र की आज्ञाओं को न माने और उनसे अपने को स्वतंत्र मान ले, परन्तु जन्म, जरा, व्याधि, दरिद्रता, विपत्ति, मृत्यु आदि के परतंत्र तो प्राणिमात्र को होना ही पड़ता है। कारण, जब तक कुछ स्वतंत्रता त्यागकर शास्त्रों एवं गुरुजनों के परतंत्र होकर कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा मल, विक्षेप, आवरण को दूर करके शरीरत्रय-बंधन से मुक्त होकर निजी निर्विकार स्वरूप को न प्राप्त कर ले तब तक पूर्ण स्वातंत्र्य मिल सकता ही नहीं। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'स्वतंत्रता' भी सर्वोपाधिविनिर्मुक्त, असङ्ग, अनन्त, स्वप्रकाश, प्रत्यगभिन्न भगवान् का ही स्वरूप है।

इसी तरह प्राणिमात्र को यह भी रुचि होती है कि सब कुछ हमारे अधीन हो और मैं स्वाधीन रहूँ। यहाँ तक कि माता-पिता, गुरुजनों के प्रति भी यही रुचि होती है कि ये सब हमारी प्रार्थना मान लिया करें और सब तरह से मेरे अनुकूल रहें। यही स्थिति देवताओं के प्रति भी होती है। ये सभी भाव भी जीवभाव के रहते नहीं हो सकते। समस्त कल्पित पदार्थ कल्पना के अधिष्ठानभूत भगवान् के ही परतंत्र हो सकते हैं। इस तरह परमार्थतः पूर्ण अस्तित्व, पूर्ण बोध, पूर्ण आनन्द, पूर्ण स्वातन्त्र्य एवं पूर्ण नियामकत्व, ये सब भगवान् में ही होते हैं। जब आस्तिक-नास्तिक सभी पूर्ण स्वातन्त्र्य, पूर्ण नियामकत्व, पूर्ण बोध, पूर्णानन्द, पूर्ण अबाध्यता या सत्ता के लिये व्यग्र तथा इनकी प्राप्ति के लिये जी-जान से प्रयत्न करते हैं, तब कौन कह सकता है कि अज्ञानी किंवा नास्तिक जिसकी प्राप्ति के लिये व्यग्र है, यह वही भक्तों और ज्ञानियों के ध्येय, ज्ञेय, परमाराध्य, परब्रह्म भगवान् नहीं हैं ? क्योंकि प्राणिमात्र किंवा तत्त्वमात्र का अन्तरात्मा भगवान् ही है। फिर उनसे विमुख होकर निःसत्त्व, निःस्फूर्ति कौन होना चाहेगा ? इसी आशय से श्री वाल्मीकि की उक्ति है—"**लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रतः।**" लोक में ऐसा कोई हुआ ही नहीं, जो राम का अनुगामी न हो। निज सर्वस्व के बिना किसीको भी कैसी विश्रान्ति ? अतएव तरङ्ग की जैसे समुद्रानुगामिता है, ठीक वैसे ही प्राणिमात्र की भगवदनुगामिता है। भेद यही है कि ज्ञानी अपने प्रियतम को जानकर प्रेम करता है, दूसरे उसीके लिये व्यग्र होते हुए भी उसे जानते ही नहीं।

"विश्वेश्वरयतीन्द्रस्य श्रीगुरोश्चरणाब्जयोः।
कृतिरेषार्पिता भूयान्मुदे सुमनसां सदा॥"

●

क्या ईश्वर और धर्म बिना काम चलेगा ?

मथुरा 'धर्म संघ' के विशेषाधिवेशन में 'अखण्ड ज्योति' के सम्पादक ने अपने कुछ मित्रों की राय और अपने सन् १९४२ के २० सितम्बर के अङ्कवाले लेख की ओर ध्यान दिलाया और यह बतलाया कि "आज चार मुख के ब्रह्मा, छः मुख के षडानन, हजार मुख के शेष भी यदि कहें कि माला जपने से सुख-शान्ति होगी, तो भी दुनिया इस बात को नहीं मान सकती, जब कि पूजा-पाठ और माला जप होते हुए भी सोमनाथ का मन्दिर टूट ही गया, काशी विश्वनाथ को पलायन करना ही पड़ा। आज भी सब देशों की अपेक्षा यहाँ अधिक धर्म होता है, यहां छप्पन लाख साधु अपना समय निरन्तर भजन में ही लगाते हैं। इसके अतिरिक्त अनेकों गृहस्थ भी भजन करते हैं। बड़े-बड़े मठ-मन्दिर करोड़ों की सम्पत्तियों से भरपूर हैं। गणितज्ञों ने गम्भीर विवेचन करके यह निश्चय कर लिया है, कि हर एक व्यक्ति पीछे पौने तीन घण्टे का भजन पड़ता है। इस तरह प्रति व्यक्ति के पीछे दो आने की आय और उसमें से डेढ़ पैसे का दान पड़ता है। इस तरह सम्पूर्ण देशों की अपेक्षा यहाँ का धर्म, दान और भजन अधिक है। यदि इनका सदुपयोग हो (धर्मादि की सम्पत्तियों का सदुपयोग हो) तो कितनी ही यूनिवर्सिटियाँ चल सकती हैं। आज की दुनिया धर्म से ऊब गयी है, अतः आज 'टन-टन', 'पों-पों' से काम नहीं चलेगा। लोगों को धार्मिक बनने का उपदेश करने के पहले वर्तमान स्वरूप और उसके परिष्कार की ओर ध्यान देना होगा।"

वस्तुतः ऐसी अनेकों शंकाओं का मूल कारण है, अपने धर्म, कर्म, सभ्यता एवं संस्कृति से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रों का अध्ययन न करना, उसके विपरीत इतिहासों, साहित्यों का अभ्यास और विपरीत वातावरण में पलना।

जब धर्म के स्वरूप पर हम विचार करते हैं तो मालूम होता है कि धर्म केवल माला जपना ही नहीं बतलाता, किन्तु वह तो अधिकारानुसार सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय सब प्रकार के कर्त्तव्यों को सोच-समझकर यथायोग्य काम करने को कहता है। अतः इस प्रश्न का अवकाश ही नहीं रहता कि जब घर में आग लगी हो तो पानी ढूँढकर बुझाने का प्रयत्न करना चाहिये, केवल 'राम-राम' कहने से काम नहीं चल सकता। परन्तु यहाँ भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि घर में आग लगने पर 'राम-राम' कहते बैठे रहना सबसे हो भी नहीं सकता। जब 'राम-राम' जपते हुए भी जल, अन्न, वस्त्र की आवश्यकता प्रतीत होती है, बच्चा-बच्ची पैदा करने की भावना होती है, तो घर की आग बुझाये बिना रहा भी कैसे जा सकता है। हाँ, आग बुझाने के लिये अन्यान्य उपायों को काम में लाते हुए यदि

'राम-राम' कहता रहेगा, तो ईश्वर-कृपा से आग शीघ्र ही बुझ भी सकती है। विपरीत भावना से, प्रचण्ड वायु से आग अधिक उत्तेजित भी हो सकती है, परन्तु जिसे पूर्ण विश्वास है वह 'राम-राम' के सहारे भोजन-पानादि की भी परवाह नहीं करता। जिसके मन में घर में आग लगने पर भी नाम का भाव दिखाई देता है, उसकी आग भगवत्कृपा से अवश्य बुझ जायेगी। परन्तु वैसी धारणा और योग्यता न होने पर भी जो भोजन-पान-व्यवहारादि कार्यों में तत्पर रहते हुए भी, समाज तथा राष्ट्र के हित में नहीं प्रवृत्त होते हैं; किसी भी धार्मिक, सामाजिक कार्यों के अवसर पर केवल राम-नाम का सहारा पकड़ते हैं, वे तो योग्यता और अवसर को न सोचकर एक सत्सिद्धान्त को केवल कलङ्कित ही करने का प्रयत्न करते हैं।

वैराग्य के स्थान में राग, राग के स्थान में वैराग्य, प्रवृत्ति के स्थान में निवृत्ति और निवृत्ति के स्थान में प्रवृत्ति—अनुचित है, हानिकर है।

"नीकीहू फीकी लगत, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनत युद्ध में, रस सिंगार न सुहात॥"

परन्तु यदि दूसरा उपाय ही दृष्टिगोचर न हो, तब तो सिवा भगवान् के सहारा के और चारा ही क्या है? इसीलिये तो जहाँ एक परमविश्वासी उच्चकोटि के भगवद्भक्त के लिये भगवद्भजन ही सर्वाभीष्टपूरक है, वैसे ही एक अत्यन्त आर्त्त या अर्थार्थी एवञ्च सर्वसाधनविहीन का एक मात्र भगवान् ही सहारा है। तत्त्वनिष्ठ कृतकृत्य ज्ञानी भक्त स्वभाव से ही भगवान् को भजते हैं। जिज्ञासु ज्ञान-प्राप्त्यर्थ भगवान् को भजते हैं। अर्थार्थी, आर्त्त अपनी अर्थ-प्राप्ति और आर्तिनिवृत्ति के लिये परमेश्वर को भजते हैं। किसी भी कामनावाला व्यक्ति अपनी अभीष्टपूर्ति के लिये तत्तत् उपायों का अनुष्ठान करता हुआ भी, उनकी सफलता के लिये परमेश्वर की आराधना करता है। जिज्ञासु भगवच्चरण-पङ्कज-समर्पण-बुद्ध्या धर्मों का अनुष्ठान करता है। वेदान्तों का श्रवण, मनन, निदिध्यासन करता है। आर्त्त, अर्थार्थी शास्त्र के अनुसार नैतिक, आर्थिक उपायों का प्रयोग करता है, फिर भी 'मामनुस्मर युद्धय च' के अनुसार अपने अस्त्र-शस्त्रबल का गर्व, बौद्ध और बाहुबल के घमण्ड को छोड़कर, ईश्वर का आश्रयण करना पड़ता है। क्योंकि ईश्वर अनुकूल होने पर ही सम्पूर्ण लौकिक उपायों की सफलता होती है। भगवदुपेक्षित प्राणी के लिये सम्पूर्ण उपाय भी व्यर्थ हो जाते हैं। इसीलिये माता-पिता के द्वारा अनेक उपचारों से लालन-पालन करते रहने पर भी, बालकों की मृत्यु देखी जाती है। चिकित्सकों के अनेक उपचार करने पर भी रोगी मरते दिखते हैं। अतएव—

"बालस्य नेह शरणं पितरौ नृसिंह
नार्तस्य चागदमुदन्वति मज्जतो नौः।"

(भा० प्रह्लादस्तुतिः ७।९।१९)

"मातु मृत्यु पितु शमन समाना। सुधा होहिं विष सुनु हरियाना॥
मित्र करहिं सत रिपु की करनी। ताकहँ बिबुध नदी बैतरनी॥
सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥"
"राम विमुख सम्पति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥
सजल मूल जिन्ह सरितन्ह नाहीं। बरसि गये पुनि तबहिं सुखाहीं॥"

अतः साधन-सम्पन्नों को भी श्रीभगवान् का आश्रयण आवश्यक है। फिर तो जो साधन-विहीन हैं, उनके लिये तो सिवा भगवान् के और सहारा ही क्या है ?

जैसे एक वीतराग तत्त्वनिष्ठ कृतकृत्य केवल भगवान् के ही सहारे रहता है, उसके सम्पूर्ण योगक्षेम का भगवान् ही निर्वाह करते हैं।

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥"

अनन्य भावना से भगवान् की आराधना में तत्पर प्राणियों को अप्राप्त अभीष्ट-प्राप्तिरूप योग और प्राप्तरक्षणरूप क्षेम श्रीभगवान् ही पूरा करते हैं। वैसे ही साधन-विहीन विश्वासी आर्त्त-अर्थार्थी को भी एकमात्र भगवान् ही सहारा हैं। अतः उसके भी योग-क्षेम को भगवान् ही वहन करते हैं। परन्तु भारत की स्थिति तो आज उससे भी अधिक चिन्तनीय है। वह तो आज आत्माराम कृतकृत्य नहीं, निष्काम मुमुक्षु नहीं, साधन-सम्पन्न आर्त्त एवं अर्थार्थी नहीं, इतने पर भी भगवद्विश्वासी नहीं अर्थात् आर्त्त-अर्थार्थी होने पर भी आर्त्तिनिवृत्ति और अर्थप्राप्ति के लिये अपेक्षित साधनों से भी रहित है। ऐसी स्थिति में भी निराश्रय निष्कपटभाव से भगवान् को पुकारने से काम चल सकता था, परन्तु इस समय भगवान् से विश्वास उठ गया है। गिरते समय प्राणी के हाथ-पाँव यद्यपि स्वभाव से ही किसी सहारे को टटोलने लगते हैं और दुनिया के सम्पूर्ण सहारों के कमजोर होने पर, एकमात्र भगवान् का ही बल रह जाता है। अतः स्वाभाविक रूप से भगवान् का आश्रयण ही शेष रह जाता है। फिर भी जब ब्रह्मा, शेष आदि के कहने पर भी भगवान् के पुकारने में विश्वास न हो, तो इसे राष्ट्र का दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। रहा यह कि जप, पाठ, पूजा करते हुए भी सोमनाथ का मन्दिर टूट गया, विश्वनाथ भाग गये, हिन्दू जाति का सर्वस्व लुट गया; फिर ईश्वर या धर्म को पुकारने से क्या लाभ ? परन्तु यदि ठण्डे दिल से विचार करें, तो इस शंका का कुछ भी महत्त्व नहीं है। पहले तो यह सोचना चाहिये कि क्या किसी उपाय के कभी असफल हो जाने मात्र से, सर्वदा के लिये उसे व्यर्थ और बेकाम समझ लेना उचित है ? क्या कभी वायुयान के फेल हो जाने या किसी यन्त्र के कल-पुर्जों के बेकार हो जाने पर सर्वदा के लिये उनको बेकार समझ लिया जाता है ? देखते तो यह हैं कि बार-बार वायुयानों, मोटरों, रेलों तथा अन्यान्य यन्त्रों के बेकार या हानिकारक होने पर भी उनका निर्माण और

सञ्चालन बन्द नहीं हुआ। बड़े-बड़े आविष्कारक वैज्ञानिक बार-बार विफल होने पर भी प्रयत्न का पीछा नहीं छोड़ते, फिर लाखों सफलता के भी तो उदाहरण विद्यमान हैं, फिर उनके आधार पर विश्वास ही क्यों न किया जाय ?

असफलता का कारण कोई त्रुटि ही समझी जाती है। किसी यन्त्र के एक छिद्र या कीलों की गड़बड़ी या कमी-वेशी से वह व्यर्थ या हानिकारक हो सकता है। इसी तरह जो कार्य-कारण-भाव अपौरुषेय अतएव भ्रम-प्रमादादि स्पर्श से शून्य प्रामाणिक शास्त्र से सिद्ध है, कतिपयस्थलीय व्यभिचारदर्शन मात्र से उसका विघटन नहीं समझा जा सकता। जैसे वैज्ञानिक-निर्दिष्ट पद्धति से विपरीत किञ्चित् भी उलट-फेर होने पर यन्त्र-सञ्चालन और निर्माण व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक समझे जाते हैं, वैसे ही शास्त्र-निर्दिष्ट पद्धति में किञ्चित् भी गड़बड़ी होने पर जप, पाठ, पूजा आदि धर्म बेकार या हानिकारक हो सकते हैं, परन्तु इतने मात्र से ही उन शास्त्रों का अप्रामाण्य या उन जप, पाठ, पूजाओं में सर्वदा के लिये अश्रद्धा कदापि उचित नहीं। जब अनेकों स्थलों में वैज्ञानिक-निर्दिष्ट पद्धति से काम करने पर सफलता देखी जा चुकी है, तब तो स्पष्ट ही है कि जहाँ कहीं यन्त्रों की विफलता या हानिकारकता देखी जाय, वहाँ सञ्चालन, निर्माण में ही कर्तृ-क्रियादि की विगुणता या अन्यान्य किसी प्रकार की त्रुटि का ही फल-बल से कल्पना करना उचित है। इसी तरह जप, पाठ, पूजा आदि किन्हीं भी प्रामाणिक शास्त्रोक्त उपायों को जब अनेकों स्थलों में सफल होते देख रहे हैं, तो कतिपय स्थलों में व्यर्थता देखकर फल-बल से ही उनके अनुष्ठान में या साधनों में या कर्ताओं में अवश्य ही किसी प्रकार की त्रुटि समझ लेनी चाहिये। चिकित्सकों के शास्त्रोक्त अनेक उपाय कहीं व्यर्थ हो जाते हैं, साथ ही कहीं हानिकारक भी साबित होते हैं, तो भी वे उपाय सर्वदा व्यर्थ और सर्वदा के लिये हानिकारक हैं, यह समझना भारी भूल है। किन्तु यही समझना उचित है कि जब यह अनेकों स्थलों में सफल होते हैं, तो प्रयोक्ता या प्रयोग की ही कोई त्रुटि होने से कहीं विफल होते हैं। इस तरह सहज ही में समझा जा सकता है, कि जब अनेक जगह पूजा, पाठ, जप आदि की सफलता प्रत्यक्ष ही देखी जाती है, फिर भी कहीं सोमनाथ आदि स्थलों में यदि पूजादि की व्यर्थता हुई, तो इससे प्रयोक्ताओं या प्रयोगों में ही त्रुटि की कल्पना कर लेनी चाहिये, न कि पूजादि उपायों को ही सर्वदा के लिये व्यर्थ और हानिकारक मान लेना चाहिये। अध्यक्षों और पूजकों के अत्याचारों, अनाचारों और मन्दिरों के अपचारों से मूर्ति में से देव-तत्त्व हट जाता है। अनुष्ठानों में, मन्त्रोच्चारण में किसी तरह की गड़बड़ी या अनुष्ठाताओं के आचार-विचारों में गड़बड़ी से अनुष्ठान व्यर्थ और हानिकारक हो सकते हैं, परन्तु इतने से ही सब अनुष्ठान वैसे ही नहीं समझे जा सकते। इसके सिवा जैसे दो मल्लों के युद्ध में प्रबल मल्ल की विजय, दुर्बल का पराभव होता है वैसे ही किसी अनर्थ को दूर करने के लिये

किये गये पुरुषार्थ से, अनर्थ के जनकभूत प्रारब्ध कर्म से संघर्ष होता है। यदि पिछले अनर्थारम्भक कर्मों की प्रबलता रही और अनर्थ निवारक वर्तमान पुरुषार्थ कमजोर रहा तो पुरुषार्थ की व्यर्थता हो जाती है, परन्तु यदि अनर्थारम्भक प्रारब्ध कर्मों से पुरुषार्थ प्रबल हुआ तो अवश्य ही सफलता मिलती है। भेद यही है कि प्रारब्ध कर्म अब घटाये-बढ़ाये नहीं जा सकते, पुरुषार्थ बढ़ाया जा सकता है। अतः पुरुषार्थ से कभी भी निराश होने की आवश्यकता नहीं है। कोई भी अनुष्ठान, पूजन, भजन यदि तीव्र संवेग से युद्ध प्रयोक्ता द्वारा सुचारु रूप से किया जाय, तो वह अवश्य सफल होता है। जहाँ कहीं विफलता होती है, वहाँ उपर्युक्त त्रुटियों की ही कल्पना उचित है। अनुष्ठानादि में अविश्वास उचित नहीं है। नैयायिकों ने भी शास्त्रों के कुछ कर्मों की विफलता देखकर उनमें कर्तृ-क्रियादि वैगुण्य की ही कल्पना की है।

जो कहा जाता है कि 'सोमनाथ आदि के मन्दिर तोड़नेवालों को कुछ भी दण्ड न मिला' सो ठीक ही है। एक बार काशी के एक योग्य विद्वान् ने मुझसे कहा कि 'आज दुर्गाजी की चाँदी की आँखों को चोर चुरा ले गये। महाराज! यदि दुर्गाजी से अपने ही आँख की रक्षा न हुई, तब वे हम सबकी रक्षा कैसे कर सकेंगी ?' किसी एक और व्यक्ति ने शिवजी पर चढ़े हुए अक्षत या फलों को ले जाती हुई मूषिका को देखकर यह समझ लिया था कि 'मूर्तिपूजा व्यर्थ है, मूर्ति में देवत्व नहीं है।'

ऐसी बातों पर विचार करने से विदित होता है कि यह कितनी मोटी दृष्टि की बात है। व्यापक परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र ही रहता है, सम्पूर्ण विश्व उन्हींमें रहता है। सोना, उठना, बैठना सम्पूर्ण कर्म उन्होंमें होता है। जिस तरह गर्भस्थ बालक की सम्पूर्ण चेष्टाएँ माँ के गर्भ में ही होती हैं, फिर भी माता कुपित नहीं होती। वैसे ही जीवों की अनेकों हलचलें उसी परमात्मा में होती हैं, 'क्षमाशील परमात्मा सबको ही सहन करता है।'

"उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजाऽऽगसे।
किमस्तिनास्ति व्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥"

ब्रह्माजी कहते हैं—'हे अधोक्षज! गर्भगत बालक के पादोत्क्षेपण को जननी क्या अपराध मानती है ? यदि नहीं, तो अस्तिनास्ति व्यपदेश से भूषित यह सम्पूर्ण विश्व क्या आपकी कुक्षि से बाहर है ?' भगवद्ध्यान के प्रभाव से एक ज्ञानी प्राणी भी देहाभिमानशून्य होता है। उसके एक बाहु में कोई कण्टक चुभाता है, दूसरे बाहु में कोई चन्दन-लिम्पन करता है। वह उतना उदार, सहनशील एवं देहाभिमानशून्य होता है कि न अनुकूलाचरणवालों पर प्रहृष्ट हो, न प्रतिकूलाचरणवालों पर कुपित हो। फिर भी अपने-अपने कर्तव्य के अनुसार ही उन सबको यथासमय फल मिलता है। जब एक देहवाले भगवद्भक्त ज्ञानी की ऐसी स्थिति है, तब अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-नायक भगवान् का तो कहना ही क्या है। उसके तो अपरिगणित देह हैं और वह

महाज्ञानी सर्वत्र असङ्ग और अभिमानशून्य है। वह किसीके सम्मान या अपमान में किस तरह क्षुब्ध हो सकता है? भावुक लोग शास्त्रों के आज्ञानुसार उसकी अनन्तानन्त प्रतिमाओं का निर्माण कर मन्त्रों से आवाहन, प्रतिष्ठापनादि द्वारा उसकी आराधना करते हैं और अपने कर्म के अनुसार ही यथाकाल फल पाते हैं। शास्त्र के अनुसार मन्त्रों एवं आराधनाओं के अनुसार पूजा-ग्रहण करने और फल देने के लिये ही भगवान् का उन मूर्तियों में प्राकट्य होता है। कोई उन मूर्तियों का अपमान करके भगवान् का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता है। जिस तरह सूर्य पर निष्ठीवन करने से वह सूर्य पर न जाकर अपने ही ऊपर पड़ेगा, आकाश पर मुष्टिप्रहार या तलवार का चलाना बेकार है, वैसे ही भगवान् पर प्रहार या उनकी मूर्तियों का तोड़ना बेकार है। अनन्त मूर्तियों में रहनेवाले भगवान्, विश्वमूर्ति एवं अमूर्ति भगवान् इतने उदार और क्षमाशील तो हैं ही कि मूर्ति तोड़नेवालों के कर्म ही उन्हें फल देते हैं। साधारण व्यक्ति जैसे असहिष्णु कोई भी शासक नहीं होते, फिर परमेश्वर की तो बात ही दूसरी है। किन्हीं कर्मों के फल अवसर के अनुसार ही होते हैं। 'ओडायर' की हत्या करनेवाला व्यक्ति तत्काल ही पकड़ लिया गया था, परन्तु तत्क्षण ही उसे फाँसी नहीं दी गयी, न गोली से उड़ा दिया गया। बाकायदे न्यायालय में न्याय हुआ। फिर दण्ड निश्चित हुआ। यथाकाल दण्ड दिया गया। जब प्राकृत शासकों में भी इतनी सहिष्णुता और काल-प्रतीक्षा होती है, तब फिर परमेश्वर ही सहिष्णु और कालप्रतीक्षक क्यों न हों?

सम्राट्, स्वराट्, विराट् या गवर्नर, कमिश्नर आदि कोई भी अपने अपमान करनेवाले व्यक्ति को, स्वयं पकड़ने या तत्क्षण दण्ड देने में नहीं प्रवृत्त होते, किन्तु उनके कर्मचारी लोग ही उसे पकड़ने में प्रवृत्त होते हैं। वे ही न्यायाध्यक्ष का न्याय पाकर यथाकाल दण्ड देते हैं। इसी तरह ईश्वर की मूर्तियों का अपमान करनेवालों को तत्क्षण ही परमेश्वर दण्ड नहीं देता, किन्तु उसके कर्मचारी ही यथाकाल दण्ड देते हैं। कितने ही अज्ञ कहा करते हैं कि 'यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् हो, तो मैं उसे गाली देता हूँ, उसकी मूर्ति को तोड़ता हूँ, मेरे सामने आये या मेरा मुँह बन्द कर दे।' परन्तु सोचना यह चाहिये कि यदि बड़े-बड़े तपस्वी युगयुगान्तरों, कल्प-कल्पान्तरों की तपस्या के पश्चात् उसका दर्शन पाते हैं, अनन्त तपस्याओं से उसका अस्तित्व निर्णय कर पाते हैं फिर वह इन अज्ञों के कहने मात्र से कैसे प्रकट हो या उनके कथनानुसार उनका मुँह कैसे बन्द करे? क्या किसी सम्राट् को ऐसा कहने पर वह प्रवृत्त होगा? वस्तुत: जैसे सावधान पुरुष उन्मादी या बालक की बातों पर ध्यान न देकर उसपर कृपा ही करता है, वैसे परमेश्वर भी कृपा ही करते हैं, 'जो करनी समुझें प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कल्प सतकोरी।' द्वित, त्रित आदि महर्षियों ने किसी यज्ञ में भगवान् को प्रकट करने की प्रतिज्ञा कर ली, परन्तु जब भगवान्

प्रकट हुए तब वे शाप देने को प्रस्तुत हुए, इसपर ऋषियों ने समझाया कि वे प्रभु भक्ति से ही प्रकट हो सकते हैं, अहङ्कार से नहीं। अतः ऐसा करना साहस है। हिरण्यकशिपु आदि को भी मारने के लिये भगवान् का प्रह्लाद की भावना से प्राकट्य हुआ।

"सहे सुरन्ह बड़ काल विषादू। नरहरि प्रकट कीन्ह प्रह्लादू॥"

इसके अतिरिक्त वे भगवान् के नित्यपार्षद हैं, भगवान् की लीला के अङ्ग होकर ही उनका जन्म था। इसलिये उनके लिये भगवान् का प्राकट्य ठीक है, परन्तु साधारण जन्तुओं के लिये तो वैसा ही होगा, जैसे मच्छर को मारने के लिये तोप का दागना। जिन कीटों को भगवान् की कोई भी शक्ति पूर्ण दण्ड दे सकती है, उनके कहने से भगवान् का प्रकट होना अत्यन्त ही अनुपयुक्त है। इसलिये मूर्तितोड़कों को दण्ड देने के लिये भगवान् का प्राकट्य नहीं हुआ और न कोई चमत्कारपूर्ण तात्कालिक घटना घटी। चींटी, मूषिका आदि की प्रवृत्ति अज्ञानपूर्विका होती है, चौरादि में भी अज्ञान की ही बहुलता है। अतः उनकी स्थिति क्षम्य ही है; किन्तु विद्वेषाभि-निविष्टचेताओं को यथाकाल दण्ड भोगना पड़ा ही। सुना जाता है, औरङ्गजेब ने मरते समय अपने पुत्र को पत्र लिखकर अपना दुःख बड़े दैन्यपूर्ण शब्दों में निवेदन किया और सोमनाथ के मन्दिर को तोड़नेवाला महमूद गजनवी मरने के समय अपने सामने सोने-चाँदी का ढेर लगवाकर (जिसे वह लूट लाया था) खूब रोया।

कहीं-कहीं लोगों को बहुत सन्देह हो जाता है, जब वे देखते हैं कि अत्याचारी प्रसन्न हैं और सदाचारी धर्मात्मा दुःख पा रहे हैं। परन्तु यह निश्चय रखना चाहिये कि जैसे विषवृक्ष में विष का ही फल लगता है, अमृत फल नहीं; वैसे ही पाप से दुःख ही होगा, सुख नहीं; पुण्य से सुख ही होगा, दुःख नहीं। हाँ, विलम्ब हो सकता है। कोई भी बीज अपना फल देने में कुछ काल ले सकता है, परन्तु यह कभी नहीं हो सकता कि विषवृक्ष में अमृत का फल लगे। कोई प्राणी चैत्र में भले हो मटर या चना बोता हो, परन्तु यदि उसने कार्तिक में गेहूँ बोया है, तो उसे चैत्र में काटने को तो गेहूँ ही मिलेगा। इसी तरह कोई प्राणो भले ही अधर्म-अत्याचार कर रहा हो, मूर्ति तोड़कर, शास्त्र-धर्म तोड़कर पाप करता हो, परन्तु इस समय फल तो वही भोगने को मिलेगा जैसा कर्म पहले कर चुका है। हाँ, उग्र पापों और पुण्यों का फल जल्दी मिलता है, परन्तु वह भी कुछ तो अवसर की प्रतीक्षा करता ही है।

"त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिःपक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते॥"

इसीलिये नल, राम, युधिष्ठिरादि धर्मनिष्ठ होते हुए भी दुःखी थे। रावण, दुर्यो-धनादि विपरीतगामी होने पर भी सुखी थे। परन्तु अन्त में उन्हें अपने पापों का भी फल भोगना पड़ा ही। राम, युधिष्ठिरादि सुखी हुए, रावणादि का सर्वनाश हो गया।

"सौ लख पूत सवा लख नाती। तेहि रावन कें दिया न बाती ॥"

ऐसे ही औरङ्गजेब आदि की भी पूर्वजन्म की तपस्या थी, उसीके प्रभाव से उन लोगों का उतना तेज और वैभव था। जब तक उसकी समाप्ति नहीं हुई, तब तक उनका पराभव असम्भव था। सामान्यत: यही होता है कि तपस्या से राज्य और राज्य से नरक होता है। जब प्राणी पीड़ित, पददलित, उच्छोषित, विताडित होता है, तब उसे न्याय, धर्म और ईश्वर सूझता है। ऐसा होते ही कुछ उन्नति और प्रभुता होती है; बस, उसी समय अपने आपको सम्हालना बुद्धिमानी है। अधिकार की कुर्सी मिलते ही न्याय, धर्म और ईश्वर को भूल जाते हैं।

"नहिं कोउ अस जन्मेउ जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं ॥"

बस, उसी समय रावण, औरङ्गजेब जैसी प्रवृत्ति होने लगती है। परमेश्वरीय दण्ड उन्हें मिलता है, परन्तु न्यायकारी को परमेश्वर काल की प्रतीक्षा करके ही उन्हें शुभ कर्मों का फल भोग लेने पर ही अशुभ कर्मों का फल प्रदान करते हैं। श्री हनुमान् ने रावण के विचित्र वैभव को देखकर यही निश्चय किया कि 'अहो! यदि इसमें अधर्म बलवान् न होता तो यह शक्र सहित समस्त लोकपालों का स्वामी ही होने योग्य था।'

"यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः।
स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता ॥"

लोकपाल भयभीत होकर इसके भ्रुकुटी का ही विलोकन करते रहते हैं।

"कर जोरे सुर दिसिप बिनीता। भ्रुकुटि बिलोकहिं परम सभीता ॥"

हनुमान्‌जी ने समझाया कि रावण! तुमने बहुत कुछ सत्कर्म किया है, उसका फल तुम्हें प्राप्त है—

"उत्तम कुल पुलस्त्य कर नाती। सिव बिरञ्चि पूजेउ बहुभाँती ॥
बर पायहु कीन्हेंउ सब काजा। जीतेहु लोकपाल सुर राजा ॥"

परन्तु अब अधर्म के फलभोग का समय आ रहा है, सावधान हो जाओ।

तात्पर्य यही कि अत्याचारी को भी अपने सत्कर्मों का फलभोग मिलता है, अवसर पाकर सत्कर्मों का भी फल मिलता है। ऐसे ही धर्मात्मा को भी पिछले प्रारब्ध तीव्रतम अधर्म का भी फल भोगना पड़ता है।

जो कहा जाता है कि भारत 'धर्म-धर्म' चिल्लाता है, तो भी उसका पतन ही पतन दृष्टिगोचर होता है। दूसरे देश धर्म का नाम भी नहीं लेते, फिर भी हमपर शासन कर रहे हैं। परन्तु यह भी अविचारित-रमणीय बात है। 'दूर के ढोल सुहावने लगते हैं।' यह हम कह चुके हैं कि जहाँ भी कहीं उन्नति देखो वहाँ उसके मूलभूत धर्म की कल्पना कर लेनी चाहिये। विषवृक्ष में अमृतफल कदापि नहीं लगता। जहाँ धर्म की चर्चा नहीं वहाँ ऐसी-ऐसी भयानक विपत्तियाँ आती हैं कि नगर के नगर ज्वालामुखियों में जल जाते हैं। कभी-कभी बड़े-बड़े देश के देश अकस्मात् धरातल में

विलीन हो जाते हैं। कभी समुद्र की गोद में दिखाई देते हैं। कभी भयानक संग्रामों से आपस में ही कट मरते हैं। शान्ति की दृष्टि से आज भी भारत में और देशों की अपेक्षा गनीमत है। आध्यात्मिकता और धार्मिकता का ही फल है कि आज भी यहाँ लूट-खसूट कर दूसरों की सम्पत्तियों को आत्मसात् करने में संकोच है। यहाँ की सभ्यता-संस्कृति आज भी बची है।

संसार में हजारों संस्कृतियाँ उत्पन्न होकर मिट गयीं, परन्तु प्राचीनतम भारतीय संस्कृति आज भी सुरक्षित है। आज भी भौतिक दृष्टि में कितने ही बढ़े चढ़े देशों के समझदार विद्वान् भारत से बहुत कुछ आशा कर रहे हैं। कितने ही पाश्चात्य विद्वान् शान्ति-सुख के लिये बराबर भारत की शरण आ रहे हैं। इसके अतिरिक्त आज तो ऐसा कोई भी राष्ट्र और समूह नहीं है, जो धर्म या ईश्वर को किसी न किसी रूप में न स्वीकार करता हो। धर्मवादिनी, ईश्वरवादिनी संस्थाओं को गैरकानूनी करार देनेवालों, ईश्वर और धर्म को साम्यविरोधी समझकर अपने देश से निकल जाने का आदेश देनेवालों ने भी आज परमेश्वर को पुकारना प्रारम्भ किया है। लाखों वैज्ञानिक, हजारों विज्ञानशालाएँ जिनकी आज्ञानुसार सफल प्रयोगों में तत्पर हैं, उन लोगों ने भी अस्त्र-शस्त्र संगठन-बल, बाहु-बल, बौद्ध-बल से सम्पन्न होकर भी, आज परमेश्वर को पुकारने में अपना और अपने राष्ट्र का कल्याण समझना आरम्भ कर दिया है। ऐसी स्थिति में भारत को आज धर्म और माला-जप की आवश्यकता न प्रतीत हो, यह आश्चर्य है।

जो कहा जाता है कि यहाँ आज भी धर्म के नाम पर सब देशों से अधिक धन और समय का व्यय होता है, सो अवश्य ठीक है। परन्तु सदुपयोग, दुरुपयोग नाम की भी तो कोई वस्तु है। यह स्पष्ट ही है कि अधिकतर धन और समय का धर्म के नाम पर अपव्यय होता है। अपरिगणित धर्मादे की सम्पत्तियों का दुरुपयोग हो ही रहा है। यदि धर्म के यथार्थ स्वरूप का प्राकट्य या सच्छास्त्रों के प्रचार से अविद्या-निरसन में उनका उपयोग हो तो सचमुच लाभ हो सकता है। इसी तरह छप्पन लाख साधुओं की गणना की भी बात है। तात्पर्य यह है कि शास्त्र के अनुसार शुद्ध भावना से ही किया गया जप, तप, धर्मानुष्ठान लाभदायक होता है। अन्यथा देखते ही हैं कि धुन्धु ने बहुत काल तक अनन्त तप किया था, परन्तु भावना वेदादि शास्त्रों और धर्म के विरोध की थी, इसीलिये उस तप का भी अन्तिम पर्यवसान उत्तम नहीं हुआ। सदुपयोग से एक पैसे का भी दान लाभदायक होता है, दुरुपयोग से हानिकारक होता है। एक पैसा दान देकर कोई रूई खरीदकर बत्ती-निर्माण कर ठाकुरजी की आरती करता है; कोई एक पैसा पाकर बंसी खरीदकर मत्स्य मारता है। कोई अरबपति अहंकार से प्रतिष्ठामात्र के लिये लाखों का दान कर सकता है। बाह्य प्रयोजन उससे अधिक सम्पन्न हो सकते हैं। परन्तु भावना की विशेषता उस दान में

नहीं है। एक वृद्धा गरीबनी श्रद्धा से अपने अर्ध सेटक अन्न से छटाँक अन्न का दान करती है। भावना की दृष्टि से अरबपति के लक्षदान से इस छटाँक दान का महत्त्व कहीं अधिक है। आज जहाँ साँप की चर्बी, मछली के तेल को घृतरूप में विक्रय करके करोड़ों रुपयों का लाभ प्राप्त कर लेने पर लाखों का दान किया भी गया तो वह कितने महत्त्व का हो सकता है? उस दान को लेनेवालों, खानेवालों की क्या दशा होगी?

इसके अतिरिक्त आज दान के नाम पर पापमयी संस्थाएँ भी तो चल रही हैं। जहाँ से नास्तिकों का सृजन होता है, जहाँ से नास्तिकता तथा तन्मूलक धर्म का प्रचार होता है ऐसी भी संस्थाएँ दान और धर्म के ही नाम पर चल रही हैं। इस प्रकार के दान और धर्म से देश को सुख-शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? अर्थ-काम-परायण संसार अर्थ-काम के सम्पादन में तो अपना सम्पूर्ण पुरुषार्थ लगा देता है, परन्तु धर्म और मोक्ष को दैव या प्रारब्ध पर छोड़ देता है।

जितनी सावधानी और चतुरता है, सब अर्थ-काम में ही उपयुक्त की जा रही है। 'एक राजा के दो मंत्री थे, एक व्यापार कार्य में दक्ष, दूसरा संग्राम में दक्ष था; परन्तु अनभिज्ञतावश राजा ने उनका विपरीत उपयोग किया। व्यापारनिपुण को संग्राम में, संग्रामनिपुण को व्यापार में लगा दिया, जिसका फल व्यापार में हानि और संग्राम में पराजय हुई।' इसी तरह अर्थ-काम-सम्पादन में चतुर प्रारब्ध को धर्म, मोक्ष में लगा दिया गया; धर्म-मोक्ष-सम्पादन में चतुर पुरुषार्थ को अर्थ-काम में नियुक्त कर दिया है। इसीलिये दोनों के विषय में गड़बड़ी हो रही है। वस्तु और अवसर का दुरुपयोग होने से हानियों का ठिकाना नहीं रहता। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और ईश्वर बड़ी उत्तम चीज हैं, परन्तु इन्हींका दुरुपयोग करने से अनर्थ हो सकता है। ईश्वर और धर्म के सहारे सामाजिक, लौकिक विचारणीय स्थिति की उपेक्षा बुरी है। समाज-राष्ट्र के हित का प्रश्न आने पर वैराग्य और विश्वमिथ्यात्व भावना का प्राधान्य खतरनाक है; जब कि भोजन-पानादि से वैसा उत्कट वैराग्य नहीं है। आज कितने ही व्यक्ति तो साधुओं को धर्म-संस्कृति के रक्षण में अप्रवृत्त देखकर उन्हें कोसते हैं। कितने ऐसे भी हैं, जो दुनिया के अनर्थ करने में, प्रपञ्च रचने में किञ्चित् भी सङ्कोच नहीं करते; परन्तु धर्म-संस्कृति के रक्षणार्थ उद्योग को प्रपञ्च ही मानते हैं। राष्ट्र और विश्व की शान्ति को असम्भव, और तदर्थ प्रयत्न करनेवालों को सर्वथा स्वार्थपरायण ही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। विशेषतः गृहस्थों और युवकों का कार्यकाल में वैराग्य, असमर्थों का कार्य में राग होना हानिकारक है। आज भी शास्त्र और धर्म को सरपञ्च मानकर, शास्त्र और धर्म का प्रसार करते हुए, उसीके आधार पर यदि सङ्गठन किया जाय तो सम्पूर्ण अनर्थ दूर हो सकता है। परन्तु शास्त्र जाननेवाले और धर्म में प्रेम रखनेवाले इस ओर से अत्यन्त अपरिचित और विमुख हो रहे हैं।

शास्त्र और धर्म से अपरिचित ही उच्छृङ्खल मार्ग से संघटन करना और विश्व की समस्या हल करना चाहते हैं। दूसरे के गुणों को न देखकर दोषों का ही दर्शन करते हैं। अपने दोषों का बिल्कुल चिन्तन न करके गुण ही देखना चाहते हैं।

शास्त्रज्ञ धार्मिक जन शास्त्रोक्त-मार्ग के अनुसार चलकर राष्ट्र या संसार का पथप्रदर्शन नहीं करना चाहते। शास्त्र और धर्म के रहस्य और महत्त्व को न समझनेवाले लोग, धर्मों और शास्त्रों में आमूलचूल परिवर्तन करना चाहते हैं। वे श्रौत-स्मार्त्तवर्णाश्रम-धर्म की बातों को आज अनावश्यक समझते हैं। भगवदाराधना में अपेक्षित परम माङ्गलिक घण्टा-शंख निनाद का 'टन-टन', 'पों-पों' कहकर प्रहसन करते हैं। मठाधीश, मन्दिराधिपति, जागीरदार सन्त-महन्त अपने द्रव्यों को धर्मकार्य में, संस्कृत विद्यालय, पुस्तकालय तथा धर्म-प्रचार कार्य में नहीं लगाना चाहते, तो दूसरे उन सबको छीनकर सत्कार, पूजा आदि को हटाकर या साधारण करके स्कूल, कालेज और यूनिवर्सिटी बनाना चाहते हैं। विधवाश्रम, हरिजन फण्ड, अनाथालय तथा अस्पताल में सब कुछ लगाना चाहते हैं। यदि आस्तिक अपनी माता, बहिनों को सावित्री, सीता जैसी साध्वी बनाने का प्रयत्न नहीं करते, तो दूसरे लोग विलायती लेडी बनाने में सफल होना ही चाहते हैं।

हम इतना ही कहना चाहते हैं कि समय रहते लोगों को सावधान हो जाना चाहिये। लोग बड़े गर्व के साथ कहते हैं कि 'अब गत शताब्दियों के दिन लद गये। आज के वैज्ञानिक युग में पुराने जमाने के सड़े-गले नियमों की कोई आवश्यकता नहीं है। मनुष्य को चाहिये कि दुनिया के परिवर्तन के साथ ही अपने आपको परिवर्तित करते चलें। देश-काल की परिस्थिति के अनुसार धर्म, कर्म और शास्त्र का निर्माण होना चाहिये।' इन लोगों की बातों पर ध्यान दिया जाय, तो प्रतीत होगा कि यह विचार भी अब पुराने होते जा रहे हैं; तथापि जैसे सावन के अन्धे को ग्रीष्म में भी हरियाली की ही प्रतीति हो, वैसे ही आज के लोगों की धारणा है। जिन विचारों और आचारों को पाश्चात्य लोग भी छोड़ रहे हैं, भारत के नक्काल आज भी उन्हीं की नकल उतारने में तथा पाश्चात्यों की भद्दी नकल उतारने में परेशान हैं। धार्मिकता, आध्यात्मिकता से शून्य वैज्ञानिक-सभ्यता के दुष्परिणाम से पाश्चात्य विद्वान् भी उद्विग्न हो रहे हैं, वे लोग भी धर्म और ईश्वर की आवश्यकता समझ रहे हैं। परन्तु भारतीयों को आज भी नवीन सभ्यता का ही स्वप्न दीखता है। संसार में कोई चीज पुरानी या नयी होने से ही आदरणीय नहीं होती, किन्तु उसके गुणागुण की ओर अच्छी तरह से ध्यान देना चाहिये—

"सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।"

पृथ्वी, आकाश, वायु, आत्मा और स्वास्थ्य पुराना ही है, परन्तु क्या इतने से ही यह सब हेय हैं ? भोजन करके भूख मिटाने और पानी पीकर प्यास मिटाने की पद्धति पुरानी ही है, फिर भी क्या त्याज्य है ? रोग, विपत्ति नवीन होने पर भी क्या

आदरणीय है ? यदि नहीं, तब तो अनादि अपौरुषेय वेदादि सच्छास्त्रों द्वारा प्रदर्शित मार्ग से लौकिक-पारलौकिक उन्नति के लिये प्रयत्न करना हीउचित है। जो मार्ग शास्त्रोक्त न भी हो फिर भी शास्त्र के अविरुद्ध हो, तो काम में लाया जा सकता है। वेद, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन का प्रचार होने पर सब तरह की समस्याओं का समाधान हो जाता है।

कोई भी मार्ग, यदि वह परिणाम में हानिकारक न हो तभी स्वीकृत होना चाहिये। जिस विषसंयुक्त भोजन से अन्त में मौत के मुँह में पड़ना पड़े, फिर भले ही उससे तात्कालिक तुष्टि, पुष्टि, क्षुन्निवृत्ति भी हो तो क्या लाभ ? जिस शास्त्र या धर्म-विरुद्ध उपाय से तात्कालिक लाभ भी हो, परन्तु यदि अन्त में पतन हो तो उससे क्या लाभ ? इसीलिये तो बुद्धिमानों ने अनर्थानुबन्ध, अकर्मानुबन्ध, अननुबन्ध अर्थ को छोड़कर अर्थानुबन्ध और धर्मानुबन्ध अर्थ को ही श्रेष्ठ समझा है। धर्मोल्लंघन करके प्राप्त किये गये अर्थ को अनादरणीय बतलाया है।

"अकृत्वा परसन्तापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अनुल्लङ्घ्य सतां मार्गं यत्स्वल्पमपि तद्बहु॥"

'दूसरों को सन्ताप न पहुँचाकर, खलों के घर न जाकर, सज्जनों का मार्ग-लङ्घन न करके जो थोड़ी भी चीज है, वही बहुत बड़ी समझनी चाहिये—

"अतिक्लेशेन येह्यर्थाः धर्मस्यातिक्रमेण च।
शत्रूणां प्रणिपातेन मा च तेषु मनः कृथाः॥"

'अतिक्लेश से, धर्मोल्लङ्घन से, शत्रुप्रणिपात से जो अर्थ मिलता हो, उसमें कभी भी मन न लगाना चाहिये।'

आस्तिकों, शास्त्रज्ञों का यह आग्रह नहीं कि कोई नवीन मार्ग सामाजिक, नैतिक, राष्ट्रीय उत्थान के लिये न ग्रहण करना चाहिये। यदि कोई सरल-सुगम-निर्विघ्न उपाय प्राप्त होता हो तो शास्त्रोक्त मार्ग की कठिनाई का अनुभव क्यों करें ?

"अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।"

'यदि गृहकोण में मधु मिल जाय तो मधु के लिये पर्वत पर क्यों जाया जाय ?' परन्तु यदि शास्त्रविरुद्ध मार्ग से परिणाम में पतन और नरकादि दुःख भोगना पड़े तब तो उसकी उपेक्षा उचित ही है। यही अध्यात्मवादी आस्तिकों की भौतिकवादियों से विशेषता है। भौतिकवादी सामाजिक या वैयक्तिक अभ्युत्थान के मार्ग को निर्धारण करते हुए धार्मिक-आध्यात्मिक के हानि-लाभ की चिन्ता नहीं रखते। अध्यात्मवादी, धर्मवादी लोग भी पूर्णरूप से राष्ट्रीय, सामाजिक अभ्युत्थान का प्रयत्न करते हैं, परन्तु सर्वदा यह ध्यान रखते हैं कि उसी उपाय का अवलम्बन किया जाय जिससे लाभ की अपेक्षा परिणाम में हानि न हो और परलोक न बिगड़े।

●

श्रीरासलीलारहस्य

इस अपार संसार-समुद्र में जिन लोगों के मन निरन्तर गोते लगा रहे हैं, उन्हें सब प्रकार के दुःखों से मुक्त कर अपने परमानन्दमय स्वरूप की प्राप्ति कराने के लिये अहैतुककरुणामय दीनवत्सल श्रीभगवान् ही स्वयं धर्मावबोधक वेद रूप में अवतीर्ण होते हैं। जिस समय कालक्रम से सर्वसाधारण के लिये वेद का तात्पर्य दुर्बोध हो जाता है उस समय श्रीहरि ही पुराणादि रूप में आविर्भूत होते हैं। पुराणों का मुख्य प्रयोजन वेदार्थ का निरूपण करना ही है। किन्तु यह सब रहते हुए भी परस्पर मत-भेद रहने के कारण वेदार्थ-सम्बन्धी विरोध का निराकरण भगवान् की उपासना के द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरण से ही हो सकता है। जिन लोगों की विवेकदृष्टि पारस्परिक विवाद के कारण नष्ट हो गयी है उन्हें वेदार्थ का बोध कराकर परम कल्याण की प्राप्ति करने के लिये ही श्रीमद्भागवत का प्रादुर्भाव हुआ है, जैसा कि कहा है—

"कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः॥"

अर्थात् धर्म एवं ज्ञानादि के सहित भगवान् के स्वधाम सिधारने पर जिन मनुष्यों की दृष्टि कलियुग के कारण नष्ट हो गयी है उनके लिये इस समय इस पुराण रूप सूर्य का उदय हुआ है। वस्तुतः, यह ग्रन्थ वेदार्थ-विरोध की निवृत्ति में सूर्य के ही समान है—

"अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां सर्वोपनिषदामपि।
गायत्रीभाष्यभूतोऽसौ ग्रन्थोऽष्टादशसंज्ञितः॥"

अर्थात् यह श्रीमद्भागवतपुराण ब्रह्मसूत्र और समस्त उपनिषदों का तात्पर्य है, तथा यह अष्टादशसंज्ञक ग्रन्थ गायत्री का भाष्यस्वरूप है।

प्राचीन आर्षग्रंथों में श्रीमद्भागवत एक अत्यन्त देदीप्यमान उज्ज्वल ग्रंथरत्न है। इसके दशम और एकादश स्कन्धों में परमानन्दघन लीला-पुरुषोत्तम भगवान् कृष्णचंद्र की दिव्यातिदिव्य लीलाओं का वर्णन है। लीलाविहारी श्रीश्यामसुन्दर सर्वथा रसमय हैं। उनकी कोटि-कोटि कन्दर्प-कमनीय मनोहर मूर्त्ति भावुक भक्तों के लिये जैसी-जैसी मनोमोहिनी है वैसो ही उनकी लीलाएँ भी हैं। यों तो भगवान् की सभी लीलाएँ लोकोत्तर आनन्दातिरेक का सञ्चार करनेवाली हैं, तथापि उनकी व्रजलीलाएँ तो महाभाग भक्तों एवं कविपुङ्गवों का सर्वस्व ही हैं। उनमें भी, जिसका आविर्भाव एकमात्र रसाभिव्यक्ति के लिए ही हुआ था, वह महारास तो मानो सर्वथा माधुर्य का ही विलास था। प्रभु की रासक्रीड़ा जैसी मधुर है वैसी ही रहस्यमयी भी है।

उसके भीतर जो गुह्यातिगुह्य रहस्य निहित है वह आपाततः दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। वह इतना गूढ़ है कि उसमें जितना प्रवेश किया जाता है उतना ही अधिकाधिक दुरवगाह्य प्रतीत होता है। हम यथामति उसका विचार करने का प्रयत्न करते हैं।

इस रासलीला का वर्णन श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध के अध्याय उनतीस से तैंतीस तक है। ये पाँच अध्याय 'श्रीरासपञ्चाध्यायी' के नाम से सुप्रसिद्ध हैं। ये श्रीमद्भागवत रूप कलेवर के मानों पाँच प्राण हैं; अथवा यदि इन्हें श्रीमद्भागवत का हृदय कहा जाय तो भी अयुक्त न होगा।

रासपञ्चाध्यायी के आरम्भ में 'श्रीबादरायणिरुवाच' ऐसा पाठ है। इस पाठ का भी एक विशेष अभिप्राय है। यहाँ 'बादरायणिः' शब्द से वक्ता का महत्त्व द्योतित कर उसके द्वारा प्रतिपादन किये जानेवाले विषय की महत्ता प्रदर्शित की गयी है। लौकिक नीतियों के विषय में तो प्रायः इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि उनका वक्ता कौन है; वहाँ केवल उस उक्ति की महत्ता का ही विचार किया जाता है।

"ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः।"

किन्तु धार्मिक अंशों में यह नियम नहीं है। वहाँ तो वक्ता की योग्यता का विचार सबसे पहले किया जाता है। जिस प्रकार गायत्री मन्त्र है, उसका अर्थ किसी भी भाषा में कितने ही सुन्दर ढंग से कर दिया जाय, तथापि जापक की उसमें श्रद्धा नहीं हो सकती और न मूल गायत्री के जप से होनेवाला महान् फल ही उससे प्राप्त हो सकता है। अतः धर्म के विषय में मनुष्य को 'वक्तृविशेष-सस्पृह' होने की आवश्यकता है। यहाँ वक्ता के कथन की अपेक्षा उसके व्यक्तित्व का प्रामाण्य ही अधिक अपेक्षित है।

यदि देखा जाय तो लौकिक विषयों में भी यही नियम अधिक काम कर रहा है। हमें एक साधारण पुरुष की ऊँची से ऊँची बात उतनी मूल्यवान् नहीं जान पड़ती, जितनी कि किसी गण्यमान्य व्यक्ति की साधारण-सी बात जान पड़ती है। जिस पुरुष के प्रति हमारी श्रद्धा है उसकी बहुत मामूली बात पर भी हम बहुत ध्यान देते हैं। इससे निश्चय होता है कि लौकिक विषयों में यद्यपि प्रायः 'वक्तृविशेषनिःस्पृहता' होती है; वहाँ बालक से भी शुभ ज्ञान ग्रहण करने चाहिये'—यही नीति काम करती है तथापि सर्वांश में नहीं। कभी-कभी वक्ता की आप्तता का मूल्य वहाँ भी बढ़ जाता है।

यही बात वेद के विषय में है। वेद बहुत युक्ति-युक्त अर्थ को कहता है, इसीलिये वह माननीय हो-ऐसी बात नहीं है; बल्कि बात तो ऐसी है कि वेद का कथन होने के कारण ही वेदार्थ माननीय है। चोर अच्छी बात कहे तब भी उसमें आस्था नहीं हो सकती।

अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। रासपञ्चाध्यायी के वक्ता श्रीबादरायणि हैं।

"बदराणां समूहो बादरं नरनारायणाश्रमोऽयनमाश्रयो यस्य स बादरायणः तस्यापत्यं बादरायणिः।"

'बदर' बेर को कहते हैं, यहाँ उससे नरनारायणाश्रम उपलक्षित है। वही जिनका अयन आश्रय निवास स्थान अर्थात् तपोभूमि है वे भगवान् व्यासजी ही बादरायण हैं। उन्हींके पुत्र श्रीबादरायणि हैं। यहाँ भगवान् शुकदेवजी को जो 'बादरायणि' कहा गया है उसका तात्पर्य यही है कि उनका महत्त्व अपने व्यक्तित्व के कारण ही नहीं है बल्कि पिता और पिता की निवास-भूमि से भी उनकी पवित्रता द्योतित होती है। अर्थात् भगवान् श्रीशुकदेवजी स्वयं ही पवित्र हों, ऐसी बात नहीं है, उन्हें तो उनके पिता ने परम-पवित्र बदरिकाश्रम में तप करके उस तप के फल-स्वरूप ही प्राप्त किया था। बदरिकाश्रम ज्ञानभूमि है; अतः वहाँ जो तप होगा वह भी अत्यन्त विलक्षण ही होगा। उसके फलस्वरूप श्रीभगवान् या भगवान् के परमान्तरंग निकुञ्जमन्दिरस्थ लीलाशुक ही श्री शुकदेवरूप में प्रादुर्भूत हुए हैं।

भगवान् व्यासजी में भी केवल तप से ही तेज आया हो – ऐसी बात नहीं है, वे तो वेदार्थ का निरूपण करने के लिये अवतीर्ण हुए साक्षात् श्रीनारायण ही थे। **'केशवं बादरायणम्'**। यों तो वे स्वयं ही नारायण हैं; तिसपर भी उन्होंने बदरिकाश्रम में विविध प्रकार का तप किया है। उन्हींसे जिसका जन्म हुआ है वे श्री शुकदेवजी ही इस तत्त्व के वक्ता हैं।

इससे सिद्ध होता है कि उनका कथन भी कोई साधारण बात नहीं है। महा-पुरुष कोई ग्राम्य-कथा नहीं कहा करते। उनके सामने तो ग्राम्य-कथाओं का विघात हो जाया करता है, किसी दूसरे को भी ऐसी बात कहने का साहस नहीं होता, फिर वे स्वयं तो ऐसी बात कहेंगे ही क्यों? वे अवश्य किसी दिव्यातिदिव्य रहस्य का ही उद्घाटन करेंगे। यह तो रही वक्ता की बात; उनके सिवा श्रोता भी कैसे हैं? महा-राज परीक्षित्! **'गर्भदृष्टमनुध्यायन्परीक्षेत नरेष्विह'** अर्थात् जिन्होंने जन्म लेते ही इधर-उधर देखकर लोगों में यह परीक्षा करनी चाही थी कि जिस मनोमोहिनी मूर्ति को मैंने गर्भ में देखा था वह यहाँ कहाँ है, जो गर्भ में ही भगवान् का दर्शन कर चुके थे। ध्रुवादि ने साधन द्वारा योगमाया का निराकरण करके भगवत्तत्त्व का साक्षात्कार किया था, किन्तु इन्हें तो भगवान् की अनुकम्पा से ही उनका दर्शन हो गया था। उनके वंश का महत्त्व भी सुस्पष्ट ही है। इस प्रकार जैसे भगवान् बादरायणि मातृ-मान्, पितृमान् और आचार्यवान् हैं, वैसे ही पार्थ-पौत्र महाराज परीक्षित् भी हैं।

वे यद्यपि स्वभाव से ही तत्त्वज्ञ, शास्त्रज्ञ, ऐहिक, आमुष्मिक विषयों से विरक्त एवं सर्वान्तरतम प्रत्यगात्मा का साक्षात्कार करने के इच्छुक थे, तथापि राजा होने के कारण किसी शृङ्गाररसप्रधान कथा के श्रवण में उनकी अभिरुचि होनी सम्भव थी।

किन्तु इस समय तो उन्हें अनिवार्य विप्र-शाप हो चुका था; इसलिये सात दिन में उनकी मृत्यु निश्चित हो जाने के कारण वे परम उपरत हो गये थे। यदि साधारण मनुष्य को भी अपनी मृत्यु का निश्चय हो जाय तो वह किसी ग्राम्य-कथा के श्रवण में प्रवृत्त नहीं हो सकता; फिर महाभागवत महाराज परीक्षित् जैसे सर्वसाधनसम्पन्न पुरुषों की प्रवृत्ति तो उसमें हो ही कैसे सकती है ?

वस्तुतः श्रीमद्भागवत कोई साधारण ग्रन्थ नहीं है। श्री शुकदेवजी का तो मिलना ही बहुत दुर्लभ था; फिर जिस ग्रन्थ का वे वर्णन करें उसका महत्त्व क्या कुछ साधारण हो सकता है ? जिस समय शौनकादि महर्षियों ने यह सुना कि इस ग्रन्थ का वर्णन श्री शुकदेवजी ने किया है तो वे आश्चर्यचकित हो गये और बोले—

"तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते ॥"

'वे व्यासनन्दन तो महायोगी, समदर्शी, विकल्पशून्य, एकान्तमति और अविद्यारूप निद्रा से जगे हुए थे। वे तो प्रच्छन्न भाव से मूढ़वत् विचरते रहते थे। वे किस प्रकार इस बृहत् आख्यान का श्रवण कराने में प्रवृत्त हो गये ?'

उनकी महिमा को द्योतित करनेवाला एक अन्य श्लोक भी है—

"यं प्रव्रजन्तमनपेतमपेतकृत्यं द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥"

अर्थात् जिन्होंने उपनयनसंस्कार के लिये विधिवत् गुरूपसदन नहीं किया और जैसे-तैसे पिता के उपनयन संस्कार कर देने पर भी जो उपनयन सम्बन्धी क्रिया-कलाप से उपरत थे उन शुकदेवजी को जाते देखकर उनके विरह से आतुर होकर जिस समय 'हे पुत्र ! हे पुत्र !', इस प्रकार पुकारते हुए श्री व्यासजी उनके पीछे गये तो प्रत्येक वृक्ष में से जो 'पुत्र' शब्द की प्रतिध्वनि आ रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो वृक्ष भी तन्मयभाव से 'पुत्र-पुत्र' चिल्ला रहे हैं। भगवान् शुकदेवजी परम तत्त्वज्ञ और महायोगी होने के कारण सर्वभूतहृदय हैं।

"सर्वभूतानां हृत् अयते विजानाति"

जो सम्पूर्ण भूतों के हृत् और उसके विचारों को जानते हैं अथवा 'स सर्वभूतानां हृत् अयते नियमयति' जो समस्त प्राणियों के हृत् का अयन नियमन करते हैं, इन व्युत्पत्तियों के अनुसार श्री शुकदेवजी सर्वभूतहृदय हैं। उनके सिवा अन्य तत्त्वज्ञ भी यद्यपि अपने पारमार्थिक स्वरूप से सर्वान्तरात्मा ही हैं, तथापि दूसरे के चित्त के नियन्त्रणादि की शक्ति बिना योग के नहीं हो सकती; इसीसे 'हृत् अयते नियमयति' यह दूसरी व्युत्पत्ति उनके महायोगित्व का परिचय देती है। उससे उनका परमतत्त्व और महायोगी होना सिद्ध होता है। इस प्रकार सबके हृदय होने के कारण वे वृक्षों के भी अन्तरात्मा हैं। अतः उस समय वृक्षों से 'पुत्र' शब्द की जो प्रतिध्वनि हो रही

थी उससे जान पड़ता था कि वह वृक्षों के द्वारा मानो स्वयं ही श्रीव्यासजी को 'पुत्र' कहकर सम्बोधन कर रहे थे। ऐसा करके वे उन्हें उपदेश कर रहे थे कि "पिताजी ! आप जो हमें पुत्र-पुत्र कहकर पुकार रहे हैं यह आपका व्यामोह ही है। हमारा-आपका जो पिता-पुत्र सम्बन्ध है, वह तात्त्विक नहीं है। कभी हम आपके पुत्र होते हैं तो कभी आप भी हमारे पुत्र हो जाते हैं; अतः आपको इस मायिक सम्बन्ध के मोह में न फँसना चाहिये।"

उस समय एक दूसरी घटना भी हुई। उससे भी उनकी निर्विकार समदृष्टि का पता चलता है। उस घटना का वर्णन इस श्लोक द्वारा किया गया है—

"दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥"

श्री शुकदेवजी के पीछे-पीछे भगवान् व्यास जा रहे थे। मार्ग में एक जलाशय पर कुछ देवाङ्गनाएँ स्नान कर रही थीं। श्री व्यासजी यद्यपि वस्त्र धारण किये हुए थे तथापि उन्हें देखकर उन अप्सराओं ने लज्जावश अपने वस्त्र धारण कर लिये; किन्तु बाल-योगी दिगम्बर-वेश शुकदेवजी को देखकर ऐसा नहीं किया। भगवान् शुकदेवजी परम सुन्दर थे। वे श्यामवर्ण होने के कारण साक्षात् आनन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्र के समान मनोमोहक थे। उनकी मनोहर मूर्ति को देखकर कुल-कामिनियों के अन्तःकरणों में भी क्षोभ हो जाता था; तथा बहुत से बालक उनके पीछे लगे रहते थे। ऐसे होने पर भी उन्हें देखकर देवाङ्गनाओं ने वस्त्र धारण नहीं किये किन्तु वृद्ध और विकलेन्द्रिय व्यासजी को देखकर बड़ी फुर्ती से वस्त्र पहन लिये। यह देखकर जब व्यासजी ने उनसे इसका कारण पूछा तो वे कहने लगीं—"महाराज ! आपको तो स्त्री-पुरुष का भेद है किन्तु आपके पवित्र-दृष्टि पुत्र को ऐसा कोई भेद नहीं है। इसका आत्म-भाव शुद्ध परब्रह्म में सुस्थिर है, दृश्य पर तो इसकी दृष्टि ही नहीं है। हम लोग अप्सराएँ हैं। हमसे लोगों की मनोवृत्ति छिपी नहीं रह सकती। महर्षियों की तपस्या भङ्ग करने के लिये ही हमारी नियुक्ति की जाती है। अतः **'तांत बाजी और राग बूझा'**, हम महर्षियों को देखते ही उनके हृदय को परख लेती हैं।"

वस्तुतः दृश्य संसर्ग ही दृष्टि के मालिन्य का हेतु है। जहाँ वह दृश्य संसर्ग से निवृत्त हुई कि उसका मालिन्य भी निर्मूल हो गया। ऐसी स्थिति प्राप्त होते ही परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। यही स्थिति श्री शुकदेवजी की थी।

भला जो गोदोहन-वेला से अधिक कहीं खड़े नहीं होते थे उन श्री शुकदेवजी ने किस प्रकार श्रीमद्भागवत सुनायी ?' ऐसी शङ्का होने पर श्री सूतजी ने कहा, यह महाराज परीक्षित् का सौभाग्य ही था।

"स गोदोहनवेलां वै गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम्॥"

यहाँ एक दूसरी शङ्का भी हो सकती है। महाभारत के कथनानुसार श्री शुकदेवजी अपने तप के प्रभाव से ब्रह्मभावापन्न हो गये थे। उन्हें बाह्य प्रपञ्च का अनुसंधान भी नहीं रहा था। फिर इस महासंहिता के स्वाध्याय में उनकी किस प्रकार प्रवृत्ति हुई ?

इसका उतर श्री सूतजी महाराज ने इस प्रकार दिया है—

"हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान्बादरायणिः ।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः ॥"

सूतजी कहते हैं—ठीक है, यद्यपि श्री शुकदेवजी ऐसे ही निर्विशेष परब्रह्म में परिनिष्ठित थे, शास्तृ, शिष्य आदि सम्बन्धों में उनकी प्रवृत्ति होनी सर्वथा असम्भव थी; तथापि उन्हें एक व्यसन था। उससे आकृष्ट होकर ही उन्होंने इस महान् आख्यान का अध्ययन किया था। व्यास-सूनु भगवान् शुकदेवजी की बुद्धि श्रीहरि के गुणों से आक्षिप्त थी, वह हरिगुणगान की मनोमोहिनी माधुरी में फँसी हुई थी। 'हरते इति हरिः' जो बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रों के मन को भी हर लेते हैं उन दिव्य मङ्गलमूर्ति भगवान् का नाम ही 'श्रीहरि' है। भगवान् के परम दिव्य नाम, गुण, चरित्र एवं स्वरूप ऐसे ही मधुर हैं। उन्हींके गुणों ने श्री शुकदेवजी के शुद्धब्रह्माकारवृत्तिसम्पन्न मन को भी हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। इसीसे उन्होंने इस बृहत् संहिता का स्वाध्याय किया था।

अहा ! उन श्रीव्यासनन्दन की हरिभक्तिप्रवणता का कहाँ तक वर्णन किया जाय ? यद्यपि निरन्तर आत्मसुख में विश्रान्त रहने के कारण उनकी मनोवृत्ति किसी दूसरी ओर नहीं जाती थी; उनके हृदय से द्वैतप्रपञ्च का सर्वथा तिरोभाव हो गया था; तथापि परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की ललित लीलाओं ने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर ही लिया। इसीसे उन्होंने भगवल्लीला के निगूढ़तम रहस्यभूत इस महाग्रन्थ का आविर्भाव किया।

**"स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नमामि ॥"**

'स्वसुखनिभृतचेताः' स्वानन्द से ही पूर्ण है चित्त जिनका, यद्यपि प्राणियों का चित्त विषयों से पूर्ण देखा जाता है, तथापि स्वभावतः वह आत्मानन्द से ही पूर्ण है। जिस प्रकार घट की आकाश द्वारा स्वाभाविक पूर्णता जलादि द्वारा होनेवाली अस्वाभाविक पूर्णता से निवृत्त-सी हो जाती है, उसी प्रकार चित्त की स्वाभाविक ब्रह्माकाराकारिता उसकी अस्वाभाविक विषयाकाराकारिता से निवृत्त हुई-सी जान पड़ती है। किन्तु श्री शुकदेवजी का चित्त तो विषयव्यामोह से निवृत्त होकर आत्मानन्द में ही विश्रान्त हो गया था। इसीसे उन्हें **'स्वसुखनिभृतचेताः'** कहा है। इस प्रकार **'तद्व्युदस्तान्यभावः'** आत्मानन्द में विश्रान्त होने के कारण अन्य पदार्थों से जिनकी

सत्यत्वबुद्धि निवृत्त हो गयी है, ऐसे जिन शुकदेवजी ने **'अजितरुचिरलीलाकृष्टसारः'** जिनकी ब्रह्माकारवृत्ति की निश्चलता भगवान् अजित की रुचिर लीला से अपहृत हो गयी है; ऐसे होकर कृपावश इस तत्त्वप्रदर्शक पुराण का विस्तार किया, उन निखिल-पापापहारी श्रीव्यासनन्दन को मैं प्रणाम करता हूँ।

यद्यपि ऐसे महानुभावों की प्रवृत्ति ग्रन्थाध्ययन में नहीं हुआ करती, तथापि भगवल्लीलाओं से आकृष्टचित्त होने के कारण ही उन्होंने इस महासंहिता का अध्ययन किया था।

"परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे अध्यगात् संहितामिमाम्॥"

इस सम्बन्ध में एक इतिहास भी प्रसिद्ध है। एक बार श्री शुकदेवजी संसार से उपरत होकर वन में चले गये और वहाँ ध्यानाभ्यास में तत्पर होकर समाधिस्थ हो गये। उनकी बुद्धिवृत्ति निखिल दृश्य प्रपञ्च का निरास कर अशेष-विशेष-शून्य शुद्ध बुद्ध मुक्त परब्रह्म में लीन हो गयी और उन्हें बाह्य जगत् का कुछ भी भान न रहा। इसी समय भगवान् व्यासदेव के कुछ शिष्यगण उधर आ निकले। उन्होंने उन बाल-योगीन्द्र को देखकर कुतूहलवश श्री व्यासजी से जाकर कहा कि, भगवन्! हमने वन में एक परम सुन्दर बालक को देखा है। वह बहुत दिनों से पाषाण-प्रतिमा के समान निश्चल भाव से एक ही आसन से बैठा हुआ है। उसे बाह्य जगत् का कुछ भी भान होता नहीं जान पड़ता।

तब भगवान् व्यासदेव ने सारी परिस्थिति समझकर उन्हें एक श्लोक कण्ठ कराया और कहा कि तुम उस बालयोगी के पास जाकर इसे सुमधुर ध्वनि से गाया करो। तदनन्तर शिष्यगण वन में जाकर इस श्लोक का गान करने लगे—

"बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः॥"

शिष्यों के निरन्तर गान करने से भगवान् शुकदेवजी के अन्तःकरण में इस श्लोक के अर्थ की स्फूर्ति हुई। यह नियम है कि जितना ही चित्त शुद्ध होगा उतना ही शीघ्रतर उसमें भगवत्तत्त्व का अनुभव होगा। इसीसे किन्हीं-किन्हीं उत्तम अधि-कारियों को, जिनकी उपासना पूर्ण हो चुकी होती है, महावाक्य का श्रवण करते ही स्वरूप-साक्षात्कार हो जाता है।

उस श्लोकार्थ की स्फूर्ति होने पर भगवद्विग्रह की अनुपम रूपमाधुरी ने उनके चित्त को क्षुभित कर दिया। उनकी समाधि खुल गयी और उन्होंने श्रीश्यामसुन्दर की स्वरूपमाधुरी का वर्णन करनेवाले इस श्लोक को कई बार उन बालकों से कहलाया और कितनी ही बार आनन्दविभोर होकर स्वयं भी कहा। शिष्यों ने भगवान् व्यास-देव के पास उन्हें यह सारा वृत्तान्त सुनाया। श्रीव्यासजी सोचने लगे कि इसे सुनकर

भी वह आया क्यों नहीं ! जब उन्होंने ध्यानस्थ होकर इसके कारण का अन्वेषण किया तब उन्हें मालूम हुआ कि उसे यह सन्देह है कि जिसका सौन्दर्यमाधुर्य ऐसा विलक्षण है वह मेरे जैसे अकिञ्चन पुरुष से स्नेह क्यों करेगा ? तब व्यासजी ने इस शंका की निवृत्ति करने के लिये भगवान् की दयालुता को प्रकट करनेवाला यह श्लोक उन बालकों को पढ़ाया और पूर्ववत् उन्हें श्री शुकदेवजी के पास जाकर इसे गाने का आदेश किया ।

"अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।"

(भाग० ३।२।२३)

इस श्लोक को सुनकर श्री शुकदेवजी को आश्वासन हुआ और उन्होंने बालकों से पूछा कि तुमने यह श्लोक कहाँ से याद किया है ? बालकों ने कहा—'हमारे गुरुदेव श्री व्यास भगवान् ने एक अष्टादश सहस्र श्लोकों की महासंहिता रची है । ये श्लोक उसीके हैं ।'

यह सुनकर वे भगवान् व्यासदेव के पास आये और उनसे उस महाग्रन्थ का अध्ययन किया । अध्ययन करने में एक दूसरा हेतु और भी था । **'नित्यं विष्णुजनप्रियः'** भगवान् शुकदेवजी को सर्वदा विष्णुभक्तों का संग प्रिय था । श्रीमद्भागवत वैष्णवों का परमधन है । अतः इसके कारण उन्हें सदा ही वैष्णवों का सहवास प्राप्त होता रहेगा, इस लोभ से भी उन्होंने उसका अध्ययन किया ।

इससे शौनकजी के प्रश्न का उत्तर हो जाता है । वे हरिगुणाक्षिप्तमति थे, इसीलिये आत्माराम होने पर भी उन्होंने इस महासंहिता का अध्ययन किया । वस्तुतः भगवान् के गुणगण ही ऐसे हैं—

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ।।" (भाग० १।७।१०)

यहाँ 'निर्ग्रन्थाः' इस पद के दो अभिप्राय हैं—(१) 'निर्गता ग्रन्थयो येभ्यस्ते' अर्थात् ब्रह्म में परिनिष्ठित होने के कारण जो आत्मानात्मसम्बन्धी ग्रन्थियों से मुक्त हो गये हों वे निर्ग्रन्थ हैं । अथवा (२) 'निर्गता ग्रन्था येभ्यस्ते' परब्रह्म में परिनिष्ठित होने के कारण जिनका ग्रन्थावलोकन छूट गया हो । वास्तव में योग की सिद्धि तो होती ही उस समय है, जिस समय कि शास्त्रोक्त विविध वादों से विचलित हुई बुद्धि उन सब विवादों से ऊपर उठकर निश्चल भाव से एक तत्त्व में स्थित हो जाय ।

"श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।" (गीता २।५३)

जिस समय बुद्धि मोहातीत हो जाती है उस समय वह श्रोतव्य और श्रुत से उपरत हो जाती है; फिर तो एकमात्र ब्रह्मवीथि में ही उसका विचरण हुआ करता है।

श्रीभगवान् कहते हैं—

"यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥" (गीता २।५२)

श्री विद्यारण्य स्वामी तो ऐसी अवस्था में शास्त्रसंन्यास की व्यवस्था भी करते हैं—

"शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्॥"

भगवती श्रुति भी कहती है—

"तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ।" (मु० उ० २।२५)

यहाँ यह विरोध प्रतीत होता है कि जब श्रुति-स्मृति और आचार्य सभी का यह मत है कि स्वरूप-साक्षात्कार होने के पश्चात् शास्त्राभ्यास में प्रवृत्ति नहीं होती और होनी भी नहीं चाहिये तो श्री शुकदेवजी की इस महाग्रन्थ के अध्ययन में कैसे प्रवृत्ति हुई? इसका एकमात्र हेतु, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यही था कि वे हरिगुणाक्षिप्तमति थे। वे यद्यपि स्वयं उसमें प्रवृत्त नहीं हुए थे तथापि भगवान् के गुणों की मधुरिमा ने उन्हें स्वयं उस ओर खींच लिया था।

वेदान्तसिद्धान्त में भी यह युक्तियुक्त ही है। इस विषय में आचार्यों का ऐसा मत है कि जिस समय ब्रह्मज्ञान होता है उस समय आवरण नष्ट हो जाता है, किन्तु प्रारब्धभोगोपयोगी विक्षेप तो बना ही रहता है। ब्रह्मज्ञान से केवल मूलाविद्या का नाश होता है, लेशाविद्या तब भी रह जाती है। उसकी निवृत्ति प्रारब्ध क्षय होने पर होती है। इसीसे श्री नारद, सनकादि, शुकदेव और वसिष्ठादि परमसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं की लोक में भी नाना प्रकार की चेष्टाएँ देखी जाती हैं। जिस प्रकार परम ब्रह्मनिष्ठ होने पर भी श्री नारदजी को हरिनाम-सङ्कीर्तन और सनकादि को हरिगुण-गान का व्यसन था, उसी प्रकार श्री शुकदेवजी को भी हरिकथामृत के पान का व्यसन था। जिस प्रकार स्वरूपानुभव हो जाने पर भी प्रारब्धभोग के लिये इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार हरिगुणगान में भी प्रीति हो ही सकती है। वस्तुतः भगवान् में आत्माराम-चित्ताकर्षकत्व एक गुण है। उसीसे आकृष्ट होकर भगवान् शुकदेवजी ने इस शास्त्र का अध्ययन किया था।

इससे सिद्ध हुआ कि ऐसे पूर्ण परब्रह्म में परिनिष्ठित महामुनि शुकदेवजी की इस कारण से इस भागवत-शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्ति हुई, तथा इसके वर्णन में इसलिये भी प्रवृत्ति हुई कि जिससे विष्णुजन स्वयं ही आकर उन्हें मिल जाया करें।

इस भागवत-शास्त्र में भगवान् का दिव्यातिदिव्य रहस्य निहित है; अतः जिस प्रकार वशीकरणमन्त्र से लोगों को अपने अधीन कर लिया जाता है, उसी प्रकार इस परम मन्त्र के कारण भक्तजन स्वयं ही आकृष्ट हो जाते हैं। इसके सिवा भगवान् के गुण, चरित्र और स्वरूप की माधुरी स्वयं भी ऐसी मोहिनी है कि बड़े-बड़े सिद्ध मुनीन्द्र भी उनके कीर्तन में प्रवृत्त हो जाया करते हैं। भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य ने नृसिंहतापिनीय उपनिषद् के भाष्य में कहा है—

"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा तं भजन्ते।"

अर्थात् मुक्तजन भी लीला से देह धारण कर भगवान् का गुणगान किया करते हैं। यही बात सनकादि के विषय में भी कही जा सकती है।

जिस समय महाराज परीक्षित गङ्गातट पर आकर बैठे उस समय बहुत से ऋषि, मुनि, सिद्ध एवं योगीन्द्रगण उनके पास आये। उन सबसे उन्होंने यही प्रश्न किया कि 'भगवन्! मैं मरणासन्न हूँ; अतः मुमूर्षु पुरुष के लिये जो एकमात्र कर्तव्य हो वह मुझे बतलाइये।' इस विषय में उस मुनीन्द्र-मण्डली में विचार हो रहा था; भिन्न-भिन्न महानुभाव अपने भिन्न-भिन्न मत प्रकट कर रहे थे; अभी कुछ निश्चय नहीं हो पाया था कि इतने ही में शुकदेवजी आ गये। उनसे भी यही प्रश्न हुआ। राजा ने पूछा, 'भगवन्! अब मेरी मृत्यु में केवल सात दिन शेष हैं; अतः कोई ऐसा कृत्य बतलाइये जिसके करने से मैं धीरों की प्राप्तव्य गति को प्राप्त कर सकूँ।'

तब श्री शुकदेवजी बोले, 'राजन्! अन्य अनात्मज्ञ लोगों के लिये तो सहस्रों साधन हैं, परन्तु भक्तों के लिये तो एकमात्र श्रीहरिश्रवण ही परमावलम्ब है।' इसके तीन भेद हैं—श्रीहरि का स्वरूपश्रवण, गुणश्रवण और नामश्रवण। इसी प्रकार श्रीहरि-कीर्तन भी तीन प्रकार का है—स्वरूपकीर्तन, गुणकीर्तन और नामकीर्तन। उपनिषदादि से भगवान् का स्वरूपकीर्तन होता है, इतिहास-पुराणादि से रूप-गुण-कीर्तन होता है और विष्णुसहस्र-नामादि से नामकीर्तन होता है। कर्मकाण्ड भी भगवान् का ही स्वरूप है—

"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।"

कर्म ही क्या, यह सारा प्रपञ्च एकमात्र भगवान् ही तो है; भूत, भविष्यत्, वर्तमान जो कुछ है भगवान् से भिन्न नहीं है—

"पुरुष एवेदग्वं सर्वं यत्किञ्च भूतं यच्च भाव्यम्।"

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण सबके आदि, अन्त और मध्य में श्रीहरि का ही कीर्तन किया गया है—

"वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥"

इस प्रकार श्री शुकदेवजी ने भगवच्छ्रवण ही उस समय मुख्य कर्त्तव्य बतलाया और इसीके लिये श्रीमद्भागवत श्रवण कराया। श्रीमद्भागवत में दस प्रकार से भगवान् का कीर्तन किया गया है—

"अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥"

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। इनमें भी दशम की विशुद्धि के लिये ही शेष नौ का कीर्तन किया गया है—

"दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।"

इसका तात्पर्य यही है कि दशम स्कन्ध में जो दशम तत्त्व का निरूपण किया गया है उसकी विशुद्धि के लिये ही उससे पूर्ववर्ती नौ स्कन्ध हैं।

वह दशम तत्त्व आश्रय है। श्रीमद्भागवत में आश्रय का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते।
स आश्रयः परब्रह्म भगवच्छब्दसंज्ञितः॥"

यहाँ 'आभास' और 'निरोध' इन दो शब्दों से ही उपर्युक्त नौ तत्त्वों का निरूपण किया है। अतः 'निरोध' शब्द से यहाँ मुक्ति अभिप्रेत है। आभास अध्यारोप को कहते हैं और निरोध अपवाद को। इन अध्यारोप और अपवाद के द्वारा ही उसके अधिष्ठानभूत निष्प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व का वर्णन किया जाता है।—

"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।"

अध्यारोप के द्वारा ब्रह्म को निखिल प्रपञ्च का चरम कारण मानकर उससे सृष्टि का क्रम बतलाया जाता है और अपवाद के द्वारा दृश्यमात्र का अनात्मत्व प्रतिपादन करते हुए साक्षी चेतन का शोधन किया जाता है। इसी क्रम से शुद्ध परब्रह्म लक्षित हो सकता है। जीव को स्वभावतः तो शुद्धतत्त्व का बोध है नहीं; अतः इस दृश्यप्रपञ्च के कारण के अन्वेषणपूर्वक ही उसका बोध कराया जाता है। इसीसे मातृपितृशतादपि हितैषिणी भगवती श्रुति ने भी यही कहा है—

"सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत॥" इत्यादि।

इस प्रकार ब्रह्म को प्रपञ्च का कारण प्रतिपादन करने में श्रुति का केवल यही तात्पर्य है कि जिसमें लोग परमाणु, प्रकृति आदि जड़ वस्तुओं को इसका कारण न मान लें।

इसमें यह शङ्का हो सकती है कि दृश्य तो असत्, जड़ एवं दुःखस्वरूप है; उसका कारण सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है? कार्य में सर्वदा कारण के

गुणों की अनुवृत्ति हुआ करती है। कारण और कार्य की विजातीयता प्रायः देखने मे नहीं आती। इसका समाधान यह है कि यद्यपि मुख्यतया तो यही नियम देखा जाता है, परन्तु कहीं-कहीं इसमें विषमता भी होती देखी गयी है। देखो, जड़ गोबर से बिच्छू आदि चेतन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से जड़ प्रपञ्च की उत्पत्ति भी हो ही सकती है।

इस प्रकार यद्यपि आरम्भ में तो ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का ही प्रतिपादन किया जाता है तथापि अन्ततः सिद्धान्त तो यही है कि प्रपञ्च की उत्पत्ति ही नहीं हुई। इसलिये यह जो कुछ प्रतीत होता है, बिना हुआ ही दिखाई देता है। इसीसे यह अनिर्वचनीय है। अतः आभास और निरोध-आरोप और अपवाद अर्थात् बन्ध और मोक्ष अज्ञानजनित ही हैं—

"अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्।
अजस्रचिन्त्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनि॥"

श्रुति कहती है—

"न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यविनाशी वारेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा।"

यहाँ 'प्रेत्य' का अर्थ है 'मरना'। जिस समय तत्त्वज्ञ देहेन्द्रियाद्याकार में परिणत भूतों से उत्थान करता है उस समय वह मानो मर जाता है। फिर उसका कोई नामरूप नहीं रहता। जैसे नमक का डला समुद्र का जल ही है। वह वायु आदि के संयोग से लवणखण्ड के रूप में परिणत हो गया है। उसे यदि समुद्र में डाल दिया जाय तो वह फिर उपाधि के संसर्ग से शून्य होकर समुद्ररूप ही हो जायगा। उसी प्रकार अन्नमयादि कोशों में परिणत जो उपाधि है, उससे सम्बन्ध छूट जाने पर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है।

मोक्ष क्या है? श्रीमद्भागवत कहता है—

"मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।"

अर्थात् आत्मा जो देहेन्द्रियादिरूप उपाधि के तादात्म्याध्यासकर्तृत्वसे भोक्तृत्वादि अनेकानर्थयुक्त सा प्रतीत होता है, उसका सब प्रकार के सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदों को छोड़कर अपने शुद्धस्वरूप में स्थित होना ही मुक्ति है। वैष्णवाचार्य कहते हैं कि जीव ब्रह्म का नित्य दास है; अतः भगवद्विप्रयोग को छोड़कर उसका भगवत्सान्निध्य में स्थित होना ही मुक्ति है। तथा जो मधुर भाग-वाले हैं, वे ऐसा मानते हैं कि जीव जो प्राकृत स्त्री-पुरुषादि भावों को प्राप्त हो गया है, उसका इनसे छूटकर गोपीभाव में स्थित होना ही मुक्ति है।

जीव सत्य भी है और मिथ्या भी। ऐसा होने पर ही उसमें बन्ध और मोक्ष की भी सिद्धि हो सकती है। जीव स्वरूप से तो नित्य है, किन्तु अन्तःकरणादि विशेषणविशिष्ट होने के कारण अनित्य भी है, जिस प्रकार आकाशरूप से तो नित्य है,

किन्तु घटरूप विशेषण के नाशवान् होने के कारण अनित्य भी है, क्योंकि विशेषण के अभाव से भी विशिष्ट का अभाव माना जाता है। विशिष्ट वस्तु का अभाव तीन प्रकार से माना गया है—(१) विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; (२) विशेष्य-भावप्रयुक्त विशिष्टाभाव और (३) उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; अर्थात् विशेषण, विशेष्य और उन दोनों के अभाव के कारण होनेवाला अभाव; जिस प्रकार दण्डी पुरुष का अभाव दण्डाभाव, पुरुषाभाव अथवा इन दोनों का ही अभाव होने पर भी माना जाता है; जिस तरह घटाकाश का परिच्छिन्नत्व घटरूप उपाधि के ही कारण है, उसी प्रकार उपाधिसंसर्ग के कारण ही पूर्ण परब्रह्म में जीव भाव है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

"एकमपि सन्तमात्मानमनेकमिव अकर्तारं सन्तं कर्तारमिव अभोक्तारं सन्तं भोक्तारमिव मन्यन्ते इत्येव जीवस्य जीवत्वम् ।"

अतः उपाधि के मिथ्यात्व के कारण जीवत्व भी मिथ्या है और उपाधि के असम्बन्ध से वह सत्य भी है। यह अवच्छेदवाद की प्रक्रिया है।

इस प्रकार आभास और निरोध दोनों ही मिथ्या हैं तथा ये दोनों जिसमें अधिष्ठित होने से सिद्ध होते हैं वह परब्रह्म ही आश्रय नामक दसवाँ तत्त्व है। इसका दशम स्कन्ध में निरूपण किया गया है। 'दशमे दशमो हरिः' पहले नौ स्कन्ध इसी की परिशुद्धि के लिये हैं। दशम स्कन्ध के आदि, अन्त और मध्य में बहुत सी ऐश्वर्य-पूर्ण घटनाओं का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार एक सुधासिन्धु में नाना प्रकार के तरङ्गों का प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार दशम स्कन्ध में जितनी लीलाओं का प्रादुर्भाव हुआ है वे सब भगवान् की नित्य लीला की ही अभिव्यक्तिमात्र हैं। अतः भगवल्लीला सम्बन्धी जितना विषय है, वह सब भगवद्रूप ही है।

आचार्यों का ऐसा मत है कि सम्पूर्ण भागवत में दशम स्कन्ध सार है, उसका भी सारातिसार रासपञ्चाध्यायी है। सम्पूर्ण शास्त्र भगवान् के वाङ्मय विग्रह हैं; भिन्न-भिन्न शास्त्र उस वाङ्मय भगवद्विग्रह के ही स्वरूप हैं। उनमें श्रीमद्भागवत भगवान् का सविशेष-निर्विशेष सम्मिलित स्वरूप है। उनमें सर्ग-विसर्गादि दसों तत्त्वों का सांगोपांग वर्णन है। किन्तु दशम स्कन्ध में केवल आश्रय नामक दशम तत्त्व का ही वर्णन है। अतः दशम स्कन्ध मानो आश्रय नामक दशम तत्त्व का ही वाङ्मय विग्रह है तथा उसमें जो रासपञ्चाध्यायी है वह उसका प्राण है। इस रासपञ्चाध्यायी के अनेक प्रकार अर्थ किये जाते हैं। आचार्यगण जो एक ही वाक्य की अनेक प्रकार व्याख्या किया करते हैं उसमें उनका यही तात्पर्य होता है कि किसी-न-किसी प्रकार जीवों का भगवान् में प्रेम हो। देवर्षि नारद को संक्षेप में श्रीमद्भागवत का उपदेश करके उनसे भी ब्रह्माजी ने यही कहा था—

"यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय॥"

श्रीमद्भागवत में यद्यपि शुद्ध निर्विशेष सच्चिदानन्दघन तत्त्व ही वर्णित है तथापि यह आग्रह भी उचित नहीं है कि उसमें द्वैत का वर्णन है ही नहीं, और न निर्गुणवादियों का यह कथन ही उचित है कि उसमें सगुणवाद नहीं है। वास्तव में भागवत में प्रेम विघातक वेदान्त नहीं है। इसमें तो भक्ति, विरक्ति और भगवत्प्रबोध तीनों का ही वर्णन है।

पहले कहा जा चुका है कि रासपञ्चाध्यायी श्रीमद्भागवत का प्राण है। इसमें सर्वान्तरतम वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। याज्ञिकों के यहाँ इसका बड़ा अच्छा क्रम है। वेदी के सबसे निकट यूप होता है। पात्र उसकी अपेक्षा भी अन्तरतम है। देवताओं का अन्तरङ्ग हविष्य है और पात्र उसकी अपेक्षा बहिरङ्ग हैं, तथा अध्वर्यु उनकी अपेक्षा भी बहिरङ्ग हैं। इसलिये यदि ऋत्विक्‌गण कोई पात्र लाते हैं तो स्वयं यूप के बाहर होकर निकलते हैं, किन्तु पात्र को यूप और वेदी के बीच में होकर निकालते हैं।

यद्यपि यह दशम स्कन्ध समग्र ही आश्रयरूप है, तथापि लीलाविशेष के लिये इसमें भी अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग की कल्पना की गयी है। जिनका भगवान् से जितना ही अधिक संसर्ग है वे उतने ही अधिक अन्तरङ्ग हैं। इसका वर्णन 'उज्ज्वल-नील-मणि' नामक ग्रन्थ में बहुत स्पष्टतया किया गया है। मथुरावासियों की अपेक्षा गोकुल-निवासी अधिक अन्तरङ्ग हैं, उनसे भी श्रीदामादि नित्यसखा अन्तरङ्ग हैं, उनकी अपेक्षा गोपाङ्गनाएँ अन्तरङ्ग हैं, गोपाङ्गनाओं में ललिता-विशाखा आदि प्रधान यूथेश्वरियाँ अधिक अन्तरङ्ग हैं और उन सभी की अपेक्षा श्रीवृषभानुनन्दिनी अन्तरतम हैं। क्योंकि इस क्रम से, रासलीला में सर्वान्तरतम व्रजाङ्गनाओं का ही प्रसङ्ग है, यह सर्वान्तरतम लीला है।

इससे पूर्व भगवान् ने गोपों को अपना स्वरूप-साक्षात्कार कराया था। यद्यपि कालियदमन, गोवर्धनधारण, अघासुरादि के वध तथा अन्य अनेकों अति-मानुष-लीलाओं के कारण गोपगण यह समझ चुके थे कि कृष्ण कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। फिर वरुणलोक में उनका ऐश्वर्य देखकर तो गोपों को यह निश्चय हो ही गया था कि ये साक्षात् भगवान् हैं, तथापि अन्त में भगवान् ने अपने योगबल से उन्हें अपने निर्विशेष स्वरूप का साक्षात्कार कराया और फिर वैकुण्ठलोक में ले जाकर अपने सगुण स्वरूप का भी दर्शन कराया। इस प्रकार उन्होंने गोपों को रासदर्शन का अधिकारी बनाया। यह अधिकार बिना स्वरूप-साक्षात्कार के प्राप्त नहीं होता। आजकल व्रज में इसे छठी भावना कहते हैं—'छठी भावना रास की।' पहली पाँच भावनाओं को क्रमशः पार कर लेने पर ही रासदर्शन का अधिकार प्राप्त

होता है। पाँचवीं भावना में देह-सुधि भूल जाती है—'पाँचे भूले देह-सुधि'। अर्थात् इस भावना में ब्रह्मस्थिति हो ही जाती है। ऐसी स्थिति हुए बिना पुरुष रासदर्शन का अधिकारी नहीं होता।

श्रीमद्भागवत में जहाँ गोपों को वैकुण्ठधाम में ले जाकर अपने सगुण-स्वरूप का साक्षात्कार कराने की बात आती है वहाँ उनके प्रत्यावर्तन के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। इससे कुछ लोगों का ऐसा मत है कि यह भगवान् के नित्यधाम की नित्यलीला का ही वर्णन है। इस लोक में यह लीला हुई ही नहीं थी। यदि ऐसी बात हो तब तो भगवान् की इस लोकोत्तर लीला के विषय में कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि इस लोक में न होने के कारण इसमें इस लोक के नियमों की रक्षा करना आवश्यक नहीं हो सकता। किन्तु यदि भगवान् ने इस लोक में ही यह लीला की हो तब भी उनके—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥"

इस कथन से जो विरोध प्रतीत होता है वह ठीक नहीं, क्योंकि भगवान् के विषय में ऐसा नियम नहीं है कि वे लोकमर्यादा का अतिक्रमण करते ही न हों। जब उनके अनन्य भक्त और तत्त्वनिष्ठ मुनिजन भी मर्यादातिलङ्घन करते देखे गये हैं तो साक्षात् भगवान् के विषय में तो कहना ही क्या है। उनके पादपद्ममकरन्द का सेवन करनेवाले मुनिजनों की गतिविधि भी सर्वसाधारण के लिये सुबोध नहीं हुआ करती।

"यत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्।"

वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि आत्मतत्त्व सभी प्रकार के शुभाशुभ कर्मों से शून्य है। जब कि उस आत्मतत्त्व को जाननेवाले महापुरुषों की अविलुप्त महिमा भी कर्मों से न्यूनाधिक नहीं होती तो श्रीकृष्णरूप में अवतीर्ण साक्षात् परमात्मतत्त्व का किसी भी शुभाशुभ कर्म से किस प्रकार संश्लेष हो सकता है? कूटस्थ स्वयंप्रकाश परब्रह्म में अध्यस्त देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उपाधियों के व्यापारयुक्त होने से ही उस निर्व्यापार आत्मतत्त्व में व्यापारवत्ता की कल्पना होती है। इस प्रकार के कल्पित गुणों या दोषों से अधिष्ठान में कोई गुण या दोष नहीं हो सकता। **'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्', 'घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम्'** इत्यादि श्रुति-स्मृति भी परमात्मा को सब प्रकार के कर्मों से असंस्पृष्ट बतलाती हैं। अतः प्रकृति और प्राकृत सब प्रकार के प्रपञ्च से अतीत परमात्मा सब प्रकार की शृङ्खलाओं से शून्य है।

वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी अनादि एवं अनिर्वचनीय अविद्याजनित मायामय शोकमोहादि सन्तापों से सन्तप्त प्रत्येक प्राणी को दुःख-निवृत्ति और सुख-प्राप्ति के लिये अनेक उपायों का अन्वेषण करना ही पड़ता है; इसीसे मायामय देहादि की चेष्टारूप कर्मों में उनके शुभाशुभ भेद से विधि या निषेध किया जाता है। जिस प्रकार

विष की निवृत्ति विष से ही की जाती है उसी प्रकार मायामयी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों के निराकरण के लिये वैदिक और स्मार्त्त शृङ्खलाओं को स्वीकार किया जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रपञ्च के हेतुभूत अनादि अज्ञान की निवृत्ति परमात्मतत्त्व के ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। परमात्मा के ज्ञान के लिये मनःसमाधान की आवश्यकता है, क्योंकि उस परमतत्त्व का अपरोक्ष साक्षात्कार निर्वृत्तिक चित्त द्वारा ही हो सकता है और मनोनिरोध के लिये देह तथा इन्द्रियादि की चेष्टाओं का निरोध होना चाहिये। इनका निरोध सहसा नहीं हो सकता। पहले उनकी प्रवृत्ति को नियमित करना होगा और उन्हें नियमित करने के लिये ही विधि-निषेधात्मक वैदिक-स्मार्त्त कर्मों का विधान किया गया है। इसीसे कहा है—

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि विधि-निषेध की अपेक्षा अज्ञानियों को ही है; किन्तु जो जन्म-मरणरूप संसार से अतीत, मृत्युञ्जय तत्त्वदर्शी हैं उन्हें इस प्रकार की शृङ्खला अपेक्षित नहीं है; फिर जो उन मुक्तात्माओं के भी गन्तव्य हैं उन श्रीभगवान् के लिये तो ऐसी कोई शृङ्खला हो ही कैसे सकती है? भगवान् में तो दो विरुद्ध धर्मों का आश्रयत्व देखा ही जाता है। वे 'अणोरणीयान्' भी हैं और 'महतो महीयान्' भी। भगवान् में ही नहीं, यह बात तो कारणमात्र में रहा करती है। देखो, एक ही पृथिवीतत्त्व में दुर्गन्ध और सुगन्ध दोनों ही रहते हैं। अतः भगवान् एक ही साथ दोनों प्रकार के आचरण दिखलायेंगे। वे योगारूढ़ों के लिये समस्त वैदिक और स्मार्त्त शृङ्खलाओं का उच्छेद करके एकमात्र भगवान् में ही स्वारसिकी प्रीति का उपदेश करेंगे, तथा आरुरुक्षुओं के लिये अपने वर्णाश्रमधर्म का यथावत् पालन करने की आवश्यकता प्रदर्शित करेंगे।

जो भगवच्चरणानुरागी हैं वे भी अपने वर्णाश्रमधर्म का तिरस्कार नहीं किया करते। हाँ, यह अवश्य है कि उनकी मुख्य लगन भगवत्प्रेम के लिये ही होती है। उनकी यह भावना रहती है—

"या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥"

वे यह भी चाहते हैं कि उनकी लौकिक-वैदिक प्रवृत्ति यथावत् बनी रहे। तथापि भगवत्प्रेम का अतिरेक होने पर उसमें विशृङ्खलता हो ही जाती है। यही बात आत्माराम तत्त्वज्ञों के विषय में भी समझनी चाहिये। भगवान् के दिव्य मङ्गलमय रूप में प्रादुर्भूत होने के जो मुख्य उद्देश्य हों सबसे पहले उन्हींका निश्चय करना उचित भी है; इसलिये अब हमें यह विचार करना है कि भगवान् के अवतार का प्रधान प्रयोजन क्या है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।"

परन्तु यह बात ऐसी है जैसे मच्छड़ को मारने के लिये तोप लगायी जाय। भला जो भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, जिनके सङ्कल्पमात्र से सम्पूर्ण प्रपञ्च बन गया है तथा जिनके विषय में यह कहा जाता है—

"निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि स्मितमेतस्य चराचरम् अस्य च सुप्तं महाप्रलयः ।"

उन्हें क्या इस तुच्छ कार्य के लिये अवतार लेने की आवश्यकता है ? अतः इसका तो कोई ऐसा कारण होना चाहिये जहाँ भगवान् की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठित हो जाती हो और जिसके लिये उन्हें दिव्य-मङ्गल-विग्रह धारण करना अनिवार्य हो जाता हो।

हमें इसका उत्तर महारानी कुन्ती के इन शब्दों से मिलता है—

"तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः ।।"

कुन्ती कहती हैं—"भगवन् ! जो अमलात्मा परमहंस मुनि हैं उनको भक्तियोग का विधान करने के लिये आपका अवतार होता है; हम स्त्रियाँ इस रहस्य को कैसे समझ सकती हैं ।"

अब हम इस हेतु की महत्ता का विचार करते हैं। यहाँ भगवान् के अवतार का प्रयोजन अमलात्मा मुनियों के लिये भक्तियोग का विधान करना बतलाया गया है। जैसे कर्म का स्वरूप द्रव्य और देवता हैं उसी प्रकार भक्ति का स्वरूप भजनीय है। भजनीय के बिना भक्ति नहीं हो सकती। प्रेमलक्षणा भक्ति का आलम्बन कोई अत्यन्त चित्ताकर्षक और परम अभिलषित तत्त्व ही हो सकता है। जो महामुनीश्वर प्रकृति-प्राकृत प्रपञ्चातीत परमतत्त्व में परिनिष्ठित हैं उनके मन का आकर्षक भगवान् के सिवा प्राकृत पदार्थों में तो कोई नहीं हो सकता। अतः इस बात की आवश्यकता होती है कि उनके परमाराध्य भगवान् ही अचिन्त्य एवं अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यमयी मङ्गलमूर्ति में अवतीर्ण होकर उन्हें भजनीय रूप से अपना स्वरूप समर्पण कर भक्तियोग का सम्पादन करें, क्योंकि जो कार्य पूर्ण परब्रह्म परमात्मा के अवतीर्ण हुए बिना सम्पन्न न हो सकता हो, जिसके सम्पादन में उनकी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कुण्ठित हो जाय उसीके लिये उनका अवतीर्ण होना सार्थक हो सकता है।

वस्तुतः उन महात्माओं के लिये भजनीय स्वरूप समर्पण करने में भगवान् की सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठित हो जाती है, क्योंकि ये शक्तियाँ शुद्ध परब्रह्म से व्यतिरिक्त नहीं हैं, ये उन्हींके अन्तर्गत हैं। अतः जो लोग शुद्ध परब्रह्म में ही निष्ठा

रखनेवाले हैं, उनपर इनका प्रभाव नहीं पड़ सकता। यदि हम वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार स्पष्टतया कहें तो यों समझना चाहिये कि यह सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकृति और प्राकृत अंश को लेकर ही है। ये मायाविशिष्ट ब्रह्म के गुण हैं। इसीसे तत्त्वज्ञ पर इनका प्रभाव नहीं होता, क्योंकि वह गुणातीत होता है, इसलिये गुण उसे अपनी स्थिति से विचलित नहीं कर सकते। 'गुणैर्यो न विचाल्यते।'

किन्तु फिर भी कहा जा सकता है कि तत्त्वज्ञ का प्रारब्ध तो शेष रह ही जाता है। इसीसे प्रारब्धभोग के निर्वाहक पदार्थ उसके भी मन और इन्द्रियादि को अपनी ओर खींच लेते हैं। जिस प्रकार प्रारब्धभोग के लिये उसकी विषयों में प्रवृत्ति होती है उसी तरह विलक्षण कोई रूपमाधुरी उसे अपनी ओर खींच ले सकती है। तत्त्वज्ञ को भी क्षुधातुर होने पर अन्नभक्षण में प्रवृत्त होना ही पड़ता है तथा तृषित होने पर उसे जल की इच्छा भी होती ही है, क्योंकि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इस भाष्य के अनुसार भोजनाच्छादनादि में तो पशु आदि से उनकी समानता ही है। फिर भगवान् के अवतरण की क्या आवश्यकता है और उनकी सर्वशक्तिमत्तादि क्यों कुण्ठित होगी ? इसका निराकरण करने के लिये उपर्युक्त श्लोक में 'अमलात्मनां परमहंसानां मुनीनाम्' ऐसा कहा गया है। जिस प्रकार हंस परस्पर मिले हुए दूध और पानी को अलग-अलग कर देता है उसी तरह जो आत्मा-अनात्मा, दृक्-दृश्य अथवा पुरुष-प्रकृति का विवेक कर सकता है, वह हंस कहलाता है। यह योग्यता सांख्यवादियों में भी देखी जाती है। इसलिये वे भी 'हंस' कहे जा सकते हैं। वे क्षीर-नीर-विवेक के समान दृक्-दृश्य अथवा आत्मा-अनात्मा का विवेक कर सकते हैं; किन्तु उनकी दृष्टि में वे दोनों ही तत्त्व सत्य रहते हैं। वेदान्तियों की दृष्टि में दृश्य की सत्ता नहीं रहती, इसलिये उन्हें परमहंस कहा जाता है। इस प्रकार जिसकी दृष्टि में सम्पूर्ण दृश्य का बाध होकर केवल शुद्ध चेतन ही अवशिष्ट रह गया है उसे परमहंस कहते हैं। ऐसी स्थिति में भी विचार दृष्टि से तो दृश्य का अत्यन्ताभाव निश्चित हो जाता है किन्तु उसकी प्रतीति तो बनी ही रहती है। कहा है—

"आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः।
तावन्न योगगतिभिर्यतिरप्रमत्तो यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्॥"

इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञ को भी कभी-कभी भगवान् की विश्वविमोहिनी माया के अधीन हो जाना पड़ता है। दुर्गासप्तशती में कहा है—

"ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥"

श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

"सो ग्यानिहु कर मन अपहरई। बरियाइँ विमोहबस करई।"

अतः सिद्ध हुआ कि प्रारब्धवश तत्त्वज्ञ का भी पतन हो जाता है। मनुजी ने भी कहा है—'ज्ञानं क्षरति' अर्थात् ज्ञान बह जाता है। इसीलिये ऐसा कहा जाता है कि तत्त्वज्ञ होने पर भी सदा सावधान रहना चाहिये। अतः यहाँ 'अमलात्मनाम्' ऐसा पद और दिया है। अर्थात् जो मलविक्षेप यानी रजोलेश-तमोलेश से निर्मुक्त हैं, जिन महानुभावों के चित्तों को खींचनेवाली कोई भी लौकिक सत्ता नहीं है और जो सदा ही दृश्यातीत शुद्ध चेतन में ही परिनिष्ठित रहते हैं उनका आकर्षण किसी लौकिक पदार्थ से नहीं हो सकता। अतः उन्हें अपनी परमानन्दमयी अहैतुकी भक्ति प्रदान करने के लिये उनके परमाराध्य और एकमात्र ध्येय-ज्ञेय शुद्ध परब्रह्म ही अपनी लीला-शक्ति से सगुण विग्रह धारण करते हैं।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि उन्हें भक्ति प्रदान करने की ऐसी आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यही है कि भगवान् ऐसा करके उन्हें परमहंस से श्रीपरमहंस बनाते हैं। तत्त्वज्ञ लोग यद्यपि सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद-शून्य शुद्ध परब्रह्म का अनुभव करते हैं परन्तु प्रारब्धशेष पर्यन्त निरुपाधिक नहीं होते। यद्यपि उन्होंने देहेन्द्रियादि का मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है तथापि व्यवहार-काल में इनकी सत्ता बनी ही रहती है। समाधिकाल में भी निर्वृत्तिक मनरूप उपाधि रहती ही है। इसीसे वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि निरुपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता। संक्षेपशारीरकार भी अविद्या का आश्रय शुद्ध चेतन को ही मानते हैं। उनका कथन है—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।"

अर्थात् अज्ञान का आश्रय और विषय अखण्ड शुद्ध चेतन ही है। किन्तु जिस समय शुद्ध चेतन अज्ञान का आश्रय और विषय होता है उस समय वह अज्ञानोपहित तो होना ही चाहिये। अतः इसका तात्पर्य यही है कि अज्ञान अज्ञानातिरिक्त उपाधिशून्य ब्रह्म को ही विषय करता है। जिस प्रकार संसार का आदि मूलाज्ञान है उसी प्रकार उसका अन्त भी चरमावृत्ति है। वस्तुतः मूलाज्ञान और चरमावृत्ति में कोई अन्तर नहीं है। चरमावृत्ति परब्रह्म को विषय करती है—इसका तात्पर्य यही है कि वह चरमावृत्ति से व्यतिरिक्त उपाधिहीन ब्रह्म को विषय करती है, क्योंकि चरमावृत्ति तो वहाँ मौजूद ही है। निरुपाधिक ब्रह्म का अनुभव तो प्रारब्धक्षय के अनन्तर उपाधि का नाश होने पर ही होता है।

किन्तु जिस समय वे ही शुद्ध परब्रह्म अपनी अचिन्त्य लीला-शक्ति से कोटि-कामकमनीय महामनोहर श्रीकृष्ण-मूर्ति में प्रादुर्भूत होंगे उस समय उस तत्त्वज्ञ को भी उनका वह दिव्य-दर्शन निर्विशेष ब्रह्मदर्शन की अपेक्षा अधिक आनन्दप्रद प्रतीत होगा। जिस प्रकार सूर्य को दूरवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने पर उसमें जो विचित्रता प्रतीत होती है वह केवल नेत्रों से देखने पर प्रतीत नहीं होती, उसी प्रकार लीला-

शक्त्युपहित सगुण ब्रह्मदर्शन में जो आनन्दानुभव होता है वह अशेष-विशेषशून्य शुद्ध परब्रह्म के साक्षात्कार में भी नहीं होता। इसीसे श्रीरामचन्द्र का दर्शन होने पर तत्त्वज्ञशिरोमणि महाराज जनक ने कहा था—

"इनहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा॥
सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा॥"

महाराज जनक के इस बरबस ब्रह्मसुखत्याग और रामदर्शनानुराग में क्या कारण था? केवल यही कि अब तक वे शुद्ध परब्रह्म रूप सूर्य को अपने नेत्रों से ही देखते थे, किन्तु इस समय वे उसके लीलाशक्तिरूप दूरवीक्षणोपहित स्वरूप का दर्शन कर रहे थे। केवल नेत्र से दीखनेवाले आदित्य की अपेक्षा दूरवीक्षणोपहित आदित्य-दर्शन में विशेषता है ही।

यहाँ एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। आदित्य का वास्तविक स्वरूप कितना वैचित्र्यमय है—यह बात हमारे अनुमान में भी नहीं आ सकती। इसका अनुभव तो आदित्य की पूर्ण सन्निधि प्राप्त होने पर ही हो सकता है। इस समय हमें उसका जो कुछ रूप दिखाई देता है वह किसी-न-किसी उपाधि से संश्लिष्ट ही होता है। जिस प्रकार दूरवीक्षण यन्त्र उसका उपाधि है उसी प्रकार मेघ भी है। किन्तु मेघ उसके स्वरूप का आवरक है, जिसके कारण हमें सूर्य की स्फुट प्रतीति नहीं हो सकती। इसी प्रकार इधर ब्रह्मदर्शन में भी जहाँ भगवान् की लीलाशक्ति भगवद्दर्शन में पटुता प्रदान करनेवाली है, वहाँ मल, विक्षेप और आवरण उसके प्रतिबन्धक हैं। इसीलिये अज्ञजन वस्तुतः ब्रह्मदर्शन करते हुए भी उसे अदृष्ट ही समझते हैं। किन्तु भगवान् के स्वरूप की स्फुट और यथावत् अनुभूति तो सम्पूर्ण उपाधियों से मुक्त होकर उनके साथ तादात्म्य होने पर ही होगी।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मदर्शी तत्त्वज्ञगण जिस निर्विशेष शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं उसकी अपेक्षा भगवान् का सगुण दिव्य-मङ्गल-विग्रह अधिक आकर्षक क्यों है। इस विषय में भावुकों का ऐसा कथन है कि जिस प्रकार पार्थिवत्व में समानता होने पर भी पाषाणादि की अपेक्षा हीरा अधिक मूल्यवान् होता है तथा कपास की अपेक्षा उससे बना हुआ वस्त्र बहुमूल्य होता है, उसी प्रकार शुद्ध परब्रह्म की अपेक्षा उसीसे विकसित भगवान् की दिव्य-मङ्गलमयी मूर्ति कहीं अधिक माधुर्य-सम्पन्न होती है। इक्षुदण्ड स्वभाव से ही मधुर है किन्तु यदि उसमें कोई फल लग जाय तो उसकी मधुरिमा का क्या कहना है? मलयाचलोत्पन्न चन्दन के वृक्ष में यदि कोई पुष्प आ जाय तो वह कैसा सौरभसम्पन्न होगा? इसी प्रकार भगवान् की सगुण मूर्ति के सम्बन्ध में समझना चाहिये।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान् के निर्गुण निर्विशेष स्वरूप में वह परमानन्द है ही नहीं जो कि उनकी सगुण मूर्ति में है। कारण, इक्षुदण्ड की मधुरिमा,

पाषाणादि का मूल्य और चन्दनादि की सुगन्धि—ये सब सातिशय हैं। इनमें न्यूनाधिकता हो सकती है। परन्तु भगवान् में जो सौन्दर्य, माधुर्य एवं आनन्दादि हैं वे निरतिशय हैं। इसलिये चाहे भगवान् की सगुण मूर्ति हो चाहे निर्गुण, इनमें कोई तारतम्य नहीं हो सकता; क्योंकि जो तत्त्व निरतिशय बृहत् और निरतिशय आनन्दमय है उसीको तो निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। जहाँ बृहत्ता अथवा आनन्द का तारतम्य है वह तो ब्रह्म ही नहीं हो सकता। जहाँ यह तारतम्य समाप्त हो जाता है उस अपार संवित्सुखसार ही को तो परब्रह्म कहते हैं। जो तत्त्व देशकालवस्तुकृत परिच्छेद से रहित है वही अनन्त ब्रह्म है; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' तथापि यहाँ जो विलक्षणता बतलायी गयी है वह भगवदभिव्यक्ति के तारतम्य को लेकर भावुक भक्तों के हृदय की भावना हो सकती है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञ के अन्तःकरण पर अभिव्यक्त परब्रह्म के माधुर्यादि की अपेक्षा स्वयं उन्हींकी परमाह्लादिनी लीलाशक्ति पर अभिव्यक्त भगवत्स्वरूप के सौन्दर्य-माधुर्यादि अत्यन्त विलक्षण हो सकते हैं। किन्तु वास्तव में तो सगुणोपासक के लिये जैसा सगुण स्वरूप परमानन्दमय है वैसा ही निर्गुणोपासक के लिये भगवान् का निर्गुण-निर्विशेष स्वरूप भी है।

जो लोग निर्विशेष परब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार कर चुके हैं उन्हें कैवल्य तो ज्ञान से ही प्राप्त होता है; किन्तु वे जीवन्मुक्तिकाल में भी भगवान् की अचिन्त्य लीलामयी शक्ति के योग से दिव्य मङ्गलमय विग्रह में आविर्भूत हुए परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र की सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा का समास्वादन किया करते हैं। अचिन्त्यानन्द सुधासिन्धु श्रीभगवान् के जिस माधुर्य का समास्वादन केवल वृत्ति-शून्य अन्तःकरण से नहीं किया जा सकता उसे भी तत्त्वज्ञ भावुकगण भगवान् की दिव्य लीलाशक्ति की सहायता से अनुभव कर लेते हैं। ऊपर यह कहा जा चुका है कि केवल नेत्रों से सूर्य की वैसी दीप्तिमत्ता अनुभव नहीं होती जैसी कि स्वच्छ काँच आदि की सहायता से होती है। उपाधि-विशुद्धि के तारतम्य से माधुर्य-विशेष के प्राकट्य का भी तारतम्य रहता है। यद्यपि प्राण और इन्द्रियादि की अपेक्षा तो शुद्ध निर्वृत्तिक अन्तःकरण की स्वच्छता विशेष है, तथापि भगवान् की जो लीलाशक्ति उनके अशेष विशेषातीत परमानन्दात्मक शुद्ध स्वरूप को ही अचिन्त्य एवं अनन्त आनन्दमय सौन्दर्य-सुधानिधि, परम दिव्य श्रीकृष्णविग्रह में अभिव्यक्त कर देती है वह उस निर्वृत्तिक अन्तःकरण की अपेक्षा भी अनन्तगुण स्वच्छ है; क्योंकि उसमें रजोगुण या तमोगुण का थोड़ा-सा भी संस्पर्श नहीं है। अन्तःकरण चाहे कितना भी स्वच्छ हो परन्तु वह रजोगुण-तमोगुण से सर्वथा शून्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह तमःप्रधाना प्रकृति के परिणामभूत पञ्चभूतों का ही कार्य है और कार्य में कारणांश की अनुवृत्ति अनिवार्य है।

अतः सिद्ध हुआ कि तत्त्वज्ञगण केवल निर्वृत्तिक अन्तःकरण से वैसी मधुरता का अनुभव नहीं कर सकते जैसी कि लीलाशक्ति के योग से आविर्भूत हुए भगवान्

के सगुण स्वरूप का साक्षात्कार करने पर होती है। इसीसे अमलात्मा तत्त्वज्ञ मुनियों को उनका भजनीय स्वरूप समर्पण कर भक्तियोग के द्वारा उन्हें अपने सौन्दर्य-माधुर्य का समास्वादन कराने के लिये ही परब्रह्म परमात्मा अवतीर्ण होते हैं। उन्हें यदि सगुण साकार ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाय तो भी देहपात के अनन्तर वे कैवल्यपद ही प्राप्त करेंगे। किन्तु सगुणोपासक अपने इष्टदेव का नित्यधाम प्राप्त करेंगे; इसीसे भक्ति-रसायनादि ग्रन्थों में तत्त्वज्ञ को सगुण-दर्शन से केवल दृष्ट-फल माना है और उपासक को दृष्ट और अदृष्ट दोनों।

अतः ऊपर जो बतलाया है इससे यही निश्चय होता है कि भगवान् के अवतार का प्रधान प्रयोजन अमलात्मा परमहंसों के लिये भक्तियोग का विधान करना है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे अपनी लीलाशक्ति से दिव्य मङ्गलमय देह धारण करते हैं। यह लीलाशक्ति भगवान् की परम अन्तरङ्गा है। जिस प्रकार वृक्ष के बीज में उसके शाखा, पल्लव, पुष्प और फल आदि सभी अङ्गों को उत्पन्न करने की अनेक शक्तियाँ रहती हैं उसी प्रकार महाशक्ति में ही विश्वविकास की समस्त शक्तियाँ निहित हैं। अर्थात् वह भगवदीय महामायाशक्ति अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है। उसमें जिस प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्वर्ती विचित्र भोग्य, भोक्ता और उनके नियामक आदि प्रपञ्च को उत्पन्न करने की अनन्त शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार उन अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डों के अधीश्वर श्रीभगवान् के दिव्य मङ्गलमय विग्रह में आविर्भूत होने के अनुकूल भी एक परम विशुद्धा अन्तरङ्गा शक्ति है और वह भगवान् की अनिर्वच-नीया आत्मयोगभूता महाशक्ति के अन्तर्गत होने के कारण अनिर्वचनीयता में अन्य प्रपञ्चोत्पादनानुकूल शक्तियों के समान होने पर भी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ और दिव्य है।

इसे दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—जैसे किसी अत्यन्त दिव्य पुष्प के बीज में अंकुर, स्कन्ध, पत्र और कण्टकादि उत्पन्न करने की भी शक्तियाँ रहती हैं, तथापि उन सबकी अपेक्षा उसमें जो महामनोहर सुरभित सुमन उत्पन्न करने की शक्ति है वह उन सबकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है। यदि एक ही बीज में अनेकों अतीन्द्रिय शक्तियाँ न होतीं तो उस पत्र, पुष्प, कण्टक और शाखा आदि परस्पर अत्यन्त विल-क्षण वस्तुएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। अतः जिस प्रकार कण्टकादि उत्पन्न करनेवाली शक्तियों की अपेक्षा सुकोमल एवं सुगन्धित पुष्प उत्पन्न करनेवाली शक्ति अत्यन्त उत्कृष्ट और विशुद्ध होती है उसी प्रकार प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तियों की अपेक्षा भगवान् की दिव्य मङ्गलमयी मूर्ति का स्फुरण करनेवाली शक्ति परम विलक्षण होनी ही चाहिये। उसीके द्वारा भगवान् अचिन्त्य सौन्दर्य-माधुर्य-सुधामयी मङ्गलमूर्ति धारण करते हैं। इसीसे प्रपञ्चातीत प्रत्यगभिन्न परमात्मतत्त्व में निष्ठा रखनेवाले महामुनीन्द्रों के मन भी अनायास ही उस भगवन्मूर्ति की ओर आकृष्ट हो जाते हैं।

इसी विलक्षणशक्ति का निर्देश पराशक्ति एवं अन्तरङ्गा शक्ति आदि शब्दों से भी किया है। वह शक्ति भी भगवत्स्वरूप में सम्प्रविष्ट रहती हुई ही उसके प्राकट्य का निमित्त होती है। जिस प्रकार उपाधिविरहित, अतएव दाहकत्व-प्रकाशकत्वरहित अग्नि के दाहकत्व-प्रकाशकत्व-विशिष्ट दीप-शिखारूप की अभिव्यक्ति में तेल और बत्ती आदि केवल निमित्तमात्र ही हैं, मुख्य अग्नि तो दीपशिखा ही है, अथवा जैसे तरङ्गविरहित नीरनिधि के तरङ्गयुक्त होने में वायु केवल निमित्त मात्र ही है, वास्तव में तो तरङ्गयुक्त समुद्र विलक्षण रूप में प्रतीत होने पर भी सर्वथा वही है जो कि निस्तरङ्गावस्था में था, ठीक उसी प्रकार विशुद्ध लीलाशक्ति रूप निमित्त से शुद्ध परब्रह्म ही अनन्त कल्याण गुणगणविशिष्ट सगुण विग्रह में अभिव्यक्त होते हैं; किन्तु वस्तुतः उनका वह विग्रह मूर्तिमान् शुद्ध परमानन्द ही है। उसमें उस दिव्य शक्ति का भी निवेश नहीं है, वह तो तटस्थ रूप से ही उसकी निमित्त होती है। इसीसे भगवान् की सगुणमूर्ति के विषय में 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि', 'आनन्दैक-रसमूर्तयः' इत्यादि उक्तियाँ हैं। इसीसे उसकी मधुरिमा बड़े-बड़े सिद्ध मुनीश्वरों के भी मनों को मोहित कर देती है। जिस समय बालयोगी सनकादि वैकुण्ठ-धाम में भगवान् की सन्निधि में पहुँचे उस समय प्रभु के पादारविन्द-मकरन्द के आघ्राण मात्र से उनका प्रशान्त चित्त क्षुभित हो गया—

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥"

इसीसे बहुत से सहृदय महानुभाव निर्विशेष परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर भी प्रभु के प्रेम-पथ के पथिक होते हैं। श्री गोसाइंजी उन्हें 'सयाने सन्त' कहते हैं--

"अस बिचारि जे सन्त सयाने।
मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥"

वे भगवान् से भगवत्सेवा के सिवा और कुछ नहीं चाहते; यहाँ तक कि मुक्ति और अपुनर्जन्म को भी अस्वीकार कर देते हैं---

"न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥"

वस्तुतः भोग-मोक्षादि की वासना रहते हुए तो भगवद्भक्ति की प्राप्ति ही नहीं हो सकती।

"भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥"

अतः जिनका चित्त केवल भगवान् के सौन्दर्य-सुधा-समास्वादन के लिये ही लालायित हो रहा है उन्हें केवल सङ्कल्पमात्र से भगवान् सन्तुष्ट नहीं कर सकते, क्योंकि वे तो मोक्ष का भी तिरस्कार कर देते हैं—

"दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।"

भला, जब उनका सन्तोष कैवल्य भी नहीं कर सकता तो भगवान् क्या करें? उन्हें स्वयं आविर्भूत होना ही पड़ता है। यहाँ गोपाङ्गनाओं को भी भगवद्दर्शन के बिना 'त्रुटिर्युगायते' एक-एक पल युग के समान हो रहा था। उन्हें सन्तुष्ट करने में भगवान् का निर्विशेष रूप असमर्थ था। इसलिये ऐसी अवस्था में भगवान् को मूर्तिमान् होकर अवतीर्ण होना ही पड़ा। क्योंकि उनकी तृप्ति तथा जीवन बिना इसके नहीं हो सकते। भगवान् के अवतीर्ण हुए बिना वे कार्य नहीं हो सकते थे। इसीसे प्रभु का प्रादुर्भाव हुआ।

अब, साथ ही यह भी सोचना चाहिये कि—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥"

यह श्लोक भी ठीक ही है। यहाँ 'साधु' शब्द से गोपाङ्गना जैसे साधु ही समझने चाहिये, जिनका परित्राण भगवान् के दर्शनों के बिना हो ही नहीं सकता था। तथा दुष्कृती भी साधारण नहीं बल्कि भगवान् के अन्तरङ्ग जय-विजय जैसे दुष्कृती समझने चाहिये, जिनका दुष्कृत भगवान् की लीला-विशेष के विकास के ही लिये था; अन्य दुष्कृतियों को तो उनका दुष्कर्म ही नष्ट कर देगा। इसके सिवा धर्म-संस्थापन से भी भक्तियोगरूप धर्म की ही स्थापना समझनी चाहिये, जो कि ऐसे भजनीय के बिना नहीं हो सकती।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए भगवान् भाष्यकारादि ने भगवान् के अवतार का प्रयोजन सर्वसाधारण के कल्याणोपयुक्त धर्म की स्थापना ही बतलाया है। इस प्रकार यद्यपि उनके प्रादुर्भाव का प्रधान प्रयोजन अमलात्माओं के भक्तियोग का विधान करना ही है तथापि अवान्तर प्रयोजन सन्मार्गस्थ साधुओं की रक्षा और वैदिक-स्मार्त्तादि कर्मों की स्थापना भी हो सकता है। आगे के कथनानुसार भगवान् में लोक-शिक्षादि भी देखे ही जाते हैं। भगवान् तो सर्वनियन्ता हैं, इसलिये उनका प्रादुर्भाव योगारुरुक्षओं के लिये भी था और योगारूढ़ों के लिये भी। योगारुरुक्षओं को वैदिक-स्मार्त्त कर्मों में प्रवृत्त करना था और योगारूढ़ों को सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक केवल भगवन्निष्ठा में नियुक्त करना था। अतः भगवान् की यह उक्ति उचित ही है—

"न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥"

वस्तुतः भगवान् तो विधि-निषेधातीत हैं। वे केवल लोकशिक्षा के लिये ही शास्त्रीय शृङ्खला का अवलम्बन करते हैं, क्योंकि शास्त्रादि लोगों को मर्यादापालन में वैसा परिनिष्ठित नहीं कर सकते जैसा कि उस पर्यादा का पालन करनेवाले महापुरुष कर सकते हैं। अतः शास्त्र के अर्थज्ञान के साथ शास्त्रार्थ के अनुष्ठान में परिनिष्ठित व्यक्तियों के सहवास की भी बहुत आवश्यकता है। अतः लोगों को वैदिक-स्मार्त कर्मों में प्रवृत्त करने के लिये ही भगवान् स्वयं भी उनका यथाविधि अनुष्ठान किया करते थे—

"अथाप्लुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥"

इस प्रकार के लोकसंग्रह के लिये ही इन सारी वैदिक एवं स्मार्त मर्यादाओं का पालन किया करते थे। जो बन्दर बहुत चञ्चल होता है उसे संयत करने के लिये बहुत लंबी शृङ्खला बाँधी जाती है। फिर वह जैसे-जैसे शान्त होता जाता है वैसे-वैसे ही उसकी शृङ्खला छोटी कर दी जाती है। यहाँ तक कि अन्त में उसे खुला छोड़ देने पर भी वह चुपचाप बैठा रहेगा। इसी प्रकार अत्यन्त चञ्चल चित्त के निरोध के लिये विधि-निषेधरूप लंबी शृङ्खला की आवश्यकता है। कारण, शास्त्रीय शृङ्खला-शून्य पुरुष के देहेन्द्रियादि की चेष्टाओं का भी नियमन अशक्य है, फिर उनके मन की चेष्टाओं का निरोध कैसे हो सकता है? इसीसे मन को सर्वथा निश्चेष्ट करने के लिये पहले देहादि की शास्त्रीय शृङ्खलानिबद्ध चेष्टा सम्पादन करनी चाहिये परन्तु पीछे जैसे-जैसे उसकी उच्छृङ्खलता कम होती जाती है वैसे-वैसे ही उसकी शृङ्खला भी छोटी होती जाती है। वह पहले तो काम्य कर्म द्वारा स्वाभाविक काम और कर्म का निराकरण करता है, फिर पारलौकिक महत्फलवाले कर्मों से क्षुद्रफलदायक काम्य कर्मों को त्यागता है। तत्पश्चात् निष्काम कर्म द्वारा सभी काम्य कर्मों को छोड़ देता है और फिर ध्यान-समाधि आदि से सब प्रकार की चेष्टाओं का निरोध कर ठीक-ठीक नैष्कर्म्य को प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मतम-साधन का अभ्यास करते-करते अन्त में समाधिस्थ होता है। उस समय कोई आलम्बन न होने पर भी उसका मन सर्वथा निश्चेष्ट रहता है; और फिर उसे किसी प्रकार की शृङ्खला की अपेक्षा ही नहीं रहती।

इसका तात्पर्य यही है कि जो लोग आरुरुक्षु हैं, जो संसारसागर से पार नहीं हुए हैं उनके उपदेशार्थ तो भगवान् लौकिक-वैदिक मर्यादाओं का पालन करते हैं। इसलिये जिन्हें संसाररूप स्वाभाविक मृत्यु को पार करना है उन्हें तो मर्यादापालन-रूप महौषध का सेवन करना चाहिये। उनके लिये तो भगवान् भी मर्यादापालन करते हैं; किन्तु जो योगारूढ़ हैं उनके लिये ऐसी कोई विधि नहीं है; उन्हें एकमात्र भगवन्निष्ठा में ही स्थिर करने के लिये भगवान् मर्यादा का उल्लङ्घन कर देते हैं,

क्योंकि वे स्वयं तो समस्त विरुद्ध धर्मों के आश्रय ही हैं। उनके लिये मर्यादापालन और मर्यादातिलङ्घन दोनों ही समान हैं।

जो अमलात्मा परमहंस योगारूढ़ हैं उनके लिये तो मर्यादा-पालन की अपेक्षा भगवान् का मर्यादातिलङ्घन ही अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि उन्हें तो भगवत्तत्त्व में स्वारसिकी प्रीति ही अभिलषित है और वह तभी हो सकती है जब किसी प्रकार की शृङ्खला न रहे। जहाँ कोई शृङ्खला होती है अर्थात् जहाँ विधि का बन्धन होता है वहाँ स्वारसिक प्रेम नहीं होता। लोक में यह देखा जाता है कि वैषयिक सुख के अभिव्यञ्जक स्त्री-पुत्रादि में मनुष्यों का जैसा स्वाभाविक राग होता है वैसा श्रौत-स्मार्तादि कर्मों में नहीं होता। यही नहीं, जिन्होंने मनोनिरोधपूर्वक अपनी बुद्धि को शुद्ध परब्रह्म में स्थापित कर दिया है, देखा जाता है कि विषय उन्हें भी आकर्षित कर लेते हैं। दृष्ट दुःख उन्हें भी बना ही रहता है। वस्तुतः सुखी तो वे ही हैं जो नारायण-परायण हैं। ऐसे नारायण-परायण महानुभाव विरले ही होते हैं। करोड़ों में कोई एक आध ही भाग्यशाली होता है।

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥"

तथापि सुखी वे ही हैं जो नारायण-परायण हैं। वे नारायण कौन हैं?

"नारो जीवसमूहस्तस्य अयनं प्रवृत्तिर्यस्मात् स नारायणः।"

नार जीवसमूह को कहते हैं उसकी जिससे प्रवृत्ति होती है वह नारायण है; अथवा—

"नारो जीवसमूहः अयनं यस्य असौ नारायणः।"

नार यानी जीव-समूह है आश्रयस्थान जिसका अर्थात् जो अन्तर्यामीरूप से समस्त जीवों में बसा हुआ है वह नारायण है।

"नारं जीवसमूहमयते साक्षित्वेन विजानातीति नारायणः।"

अर्थात् प्रमात्रादि समस्त प्रपञ्च के साक्षी को नारायण कहते हैं।

इस प्रकार शुद्ध परमात्मा ही नारायण है। वही जिसका परायण-आश्रय है अर्थात् जिसका एकमात्र ध्येय श्रीनारायण ही हैं वह नारायण-परायण कहलाता है। उसे विषय अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी तो एकमात्र श्री नारायण में ही स्वारसिकी प्रीति होती है। अतः भगवान् के अवतार का मुख्य प्रयोजन यही है कि जो अमलात्मा मुनि हैं उनको श्री नारायण में स्वारसिकी प्रीति हो।

वस्तुतः, ब्रह्मतत्त्व के चिन्तन में तत्त्वज्ञों की भी ऐसी स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती जैसी विषयी पुरुषों की विषयों में होती है। इस स्वारसिकी प्रवृत्ति के तारतम्य से ही तत्त्वज्ञों की भूमिका का तारतम्य होता है। चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम

भूमिकावाले तत्त्वज्ञों में केवल बाह्य विषयों से उपरत रहते हुए तत्त्वोन्मुख रहने में ही तारतम्य है। ज्ञान तो सबमें समान ही है। जितनी ही प्रयत्न-शून्य स्वारसिकी भगवदुन्मुखता है उतनी ही उत्कृष्ट भूमिका होती है। जिनकी मनोवृत्ति, कामुक की कामिनी-विषयक लालसा के समान, ब्रह्म के प्रति अत्यन्त स्वारसिकी होती है, वे ही नारायण-परायण हैं। वे उसकी अपेक्षा भिन्न भूमिकावाले जीवन्मुक्तों से उत्कृष्टतम हैं।

निर्विशेष परब्रह्म में हमारी जो प्रवृत्ति होती है वह तो शास्त्रविधि के कारण है, किन्तु मनोरमा नारी में चित्त स्वयं ही आकर्षित हो जाता है। हमें शास्त्रविधि के कारण परब्रह्म में तो बलपूर्वक चित्त को लगाना पड़ता है और निषेध के भय से परस्त्री की ओर से उसे बलात्कार हटाना पड़ता है। विधि कहाँ होती है?—'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'–जो वस्तु स्वतः सर्वथा प्राप्त न हो उसके लिये विधि होती है। अग्निहोत्र स्वतः प्राप्त नहीं है; इसी से वेद भगवान् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' ऐसा विधान करते हैं। इसी प्रकार आत्मदर्शन के लिये भी विधि की गयी है —'आत्मा वा रे द्रष्टव्यः'। अतः आत्मदर्शन में स्वारसिकी प्रीति नहीं है और जहाँ स्वारसिकी प्रीति नहीं होती वहाँ निरतिशय प्रेम भी नहीं हुआ करता।*

यद्यपि वेदान्तियों ने आत्मदर्शन में विधि नहीं मानी, क्योंकि विधि पुरुषाधीन क्रिया में ही हुआ करती है, जिसके कि करने-न-करने में पुरुष की स्वतन्त्रता होती है, जिस प्रकार अमुक पुरुष घोड़े पर चढ़कर जाता है, पैदल जाता है अथवा नहीं जाता। किन्तु वस्तु या प्रमाणाधीन ज्ञान में विधि नहीं हुआ करती, क्योंकि वह तो विधि की अपेक्षा न रखकर केवल प्रमाण के अधीन है। यदि प्रमाण को अपने प्रमेय के प्रकाशन में किसी विधि की अपेक्षा मानी जाय तो विधि को भी अपने अर्थ का बोध कराने के लिये दूसरी विधि की आवश्यकता होगी। अतः आत्मदर्शन तो प्रमाण से ही होता है, उसके लिये विधि की आवश्यकता नहीं है। तथापि तत्त्वदर्शन के लिये प्रमाण के

---

* यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि आत्मा तो परप्रेम का ही आस्पद बतलाया गया है और इस कथन से वह ऐसा सिद्ध नहीं होता परन्तु बात ऐसी नहीं है। यहाँ केवल आत्मदर्शन में ही स्वारसिकी प्रीति का अभाव बतलाया गया है, आत्मा में नहीं। वस्तुतः अज्ञानी पुरुषों की भी जो शब्दादि विषयों में स्वारसिकी प्रवृत्ति होती है वह अज्ञानवश आत्मारूप से माने हुए देहेन्द्रियादि की तुष्टि के ही लिये होती है। वे अपने परमार्थ स्वरूप से अनभिज्ञ होते हैं इसलिये देहेन्द्रियादि मिथ्यात्मा के ही परितोष का प्रयत्न करते हैं; परन्तु वस्तुतः उस समय वैसा करके भी वे अपने सत्यात्मा की ही प्रीति का सम्पादन करते हैं, क्योंकि देहेन्द्रियादि मिथ्यात्मा की प्रसन्नता का साक्षी तो शुद्ध चेतन ही है। शास्त्र तो केवल इतना ही करता है कि उन्हें सत्यात्मा का ज्ञान करा देता है; इसी से फिर वे मिथ्यात्मा की प्रसन्नता के लिये उद्विग्न नहीं होते।

व्यापार की अपेक्षा तो है ही और वह प्रमाण-व्यापार पुरुषाधीन है; इसीलिये केवल उसीकी विधि मानी गयी है। अतएव भगवान् भाष्यकार ने बहिर्मुखतादि का व्यावर्तन करनेवाले द्रष्टव्य आदि वचनों को 'विधिच्छाय' (विधि की छायामात्र) कहा है।

वास्तव में यही कारण है कि प्राणियों की मनोवृत्ति शब्द-स्पर्शादि में समासक्त है; वह शुद्ध परब्रह्म की ओर जाती ही नहीं। अतः भगवान् उनकी स्वारसिकी प्रवृत्ति सम्पादन के लिये ही, शब्द-स्पर्श-रूप-रसादिविरहित होने पर भी उनके मन और इन्द्रियों को आकर्षण करने के लिये दिव्य रूप, दिव्य गन्ध और दिव्य स्पर्शवान् होकर अभिव्यक्त होते हैं, क्योंकि परमपुरुषार्थ तो यही है। जब तक भगवान् के प्रति जीव की स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती तब तक तो वह अकृतार्थ ही है। जिस प्रकार रसना के पित्तादि दोष से दूषित हो जाने पर जब किसी बालक को मधुरातिमधुर पदार्थ भी, जो उसकी रोग-निवृत्ति के भी हेतु होते हैं, अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं तो उसकी माता उन्हें उसी वस्तु में मिलाकर देती है, जो कि उसे रुचिकर होती है उसी प्रकार जो परब्रह्म परमात्मा मधुरातिमधुर है, जिससे बढ़कर और कोई मधुर नहीं है, उसमें जीवों को मोह-वश प्रेम नहीं होता; बल्कि विष के समान कटु विषयों में आसक्ति हो जाती है। अतः अपने तत्त्वज्ञ भक्तों को प्रेमानन्द प्रदान करने के लिये ही वे अशब्द एवं रूपरसादिविरहित होने पर भी महामनोहर दिव्यमङ्गलमयी मूर्ति धारण कर अवतीर्ण होते हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य रहता है कि प्राकृत रूप-रसादि वस्तुतः विषरूप ही हैं; किन्तु भगवदीय रूपादि स्वरूप से भी निरतिशय माधुर्यसम्पन्न परमानन्द ही हैं। अतः उनके प्रति अमलात्मा मुनिजन एवं अन्य साधारण प्राणियों की भी समान रूप से स्वारसिकी प्रीति हो जाती है।

देवताओं के प्रति स्वाभाविक प्रेम नहीं होता, क्योंकि वे अदृष्ट होते हैं। इसीलिये उनमें प्रेम करने के लिये शास्त्र को विधान करना पड़ा है। गुरु दृष्ट हैं, इसलिये देवताओं की अपेक्षा उनके प्रति अनुराग होना अधिक सुगम है। परन्तु उनमें आत्मीयता का अभाव है, इसीसे स्वारसिक प्रेम उनमें भी नहीं होता। इसी प्रकार पिता, माता और पत्नी में उत्तरोत्तर आत्मीयता की अधिकता होने के कारण प्रेम की भी अधिकता होती है; तथापि स्वारसिकी प्रीति उनके प्रति भी नहीं होती; इसीसे उनके प्रति प्रेम करने के लिये भी विधि है। यहाँ तक कि विधिनियन्त्रित सर्वापेक्षया अधिक कामुक की कामिनी-विषयिणी प्रीति भी शृङ्खलाशून्य परकीया कामिनी में होनेवाली प्रीति से न्यून ही है। यह बात प्रायः देखी जाती है कि जहाँ-जहाँ विधि है वहाँ-वहाँ स्वारसिकी प्रीति की न्यूनता होती है।

इस दृष्टि से, यदि भगवान् की प्रवृत्ति वैदिक अथवा स्मार्त्त शृङ्खलाओं से नियन्त्रित हो तो वह स्वारसिकी प्रीति को बढ़ानेवाली नहीं होगी और ऐसा न होने

पर उनके अवतार का मुख्य प्रयोजन ही सिद्ध न हो सकेगा। यह ठीक है कि वे मर्यादापालन करते हुए आरुरुक्षुओं को तो मार्गप्रदर्शन कर देंगे, परन्तु अमलात्मा परमहंसों को अपने निरपेक्ष अनन्य प्रेम का पथ न दिखला सकेंगे।

व्यवहार में देखा जाता है कि कितने ही स्थलों में चाञ्चल्य ही रस की अभिव्यक्ति करनेवाला है। जैसे बालक की तो चञ्चलता ही माता-पिता की प्रसन्नता को बढ़ानेवाली है। यदि वह समाहित मुनियों के समान शान्तभाव से बैठा रहे तो यह माता-पिता के मोद में बाधक ही होगा। अतः जो रसज्ञ हैं उनसे यह बात छिपी नहीं है कि बहुत स्थानों में तो अचाञ्चल्य रस का विघातक ही है।

इसलिये यदि भगवान् की चेष्टाएँ वैदिक-स्मार्त्त शृङ्खलाओं से बँधी हुई होंगी तो वे अमलात्मा परमहंसों का परप्रेम से छादन न कर सकेंगी। उन महात्माओं को मर्यादा-पालन का आदर्श अपेक्षित ही नहीं है क्योंकि ऐसा तो वे पहले ही कर चुके होते हैं। उन्हें तो भगवान् में विशुद्ध प्रेम ही अपेक्षित है। किन्तु जहाँ भगवान् अपने ऐश्वर्ययोग से सम्पन्न होंगे वहाँ उसका आविर्भाव होना प्रायः असम्भव है। जिस प्रकार शिशु का अद्भुत चाञ्चल्य माता-पिता के हृदय को आकर्षित कर लेता है, प्रियतमा के मर्यादातीत रसमय हाव-भाव-कटाक्षादि प्रियतम का मोद बढ़ाते हैं, उसी प्रकार यदि भगवान् परमदिव्य मङ्गलमय विग्रह धारण कर रसमयी उच्छृङ्खल चेष्टाएँ करें तो उन्हींसे उनके प्रति उनकी स्वारसिकी प्रीति होनी सम्भव है। इस दृष्टि से विचार करें तो यही निश्चय होता है कि भगवान् का शास्त्रातिलङ्घन दूषण नहीं प्रत्युत भूषण है।

बहुत से भाव ऐसे होते हैं जो ऊपर से तो अन्य प्रकार के जान पड़ते हैं, किन्तु भीतर से उनका और ही रहस्य होता है। यह बात स्पष्ट ही है कि भगवान् प्राकृत नहीं हैं। वे शुद्ध परब्रह्म ही उस रूप से आविर्भूत हुए हैं तथा ये मुनिजन भी पञ्चकोशातीत होने के कारण प्राकृत प्रपञ्च से परे हैं।

इस प्रकार घटाकाश और महाकाश के समान स्वरूप से उनका सम्मिलन है ही। उनका ऐक्य सभी को अभिमत है। किन्तु इस समय वह तत्पदार्थ परमात्मा ही दिव्य मङ्गलमय भगवद्विग्रह-रूप से आविर्भूत हुए हैं और उसी प्रकार त्वं पदार्थ अमलात्मा परमहंसों के रूप में स्थित है। ऐसी स्थिति में, जैसे अव्यक्त रूप से उनका तादात्म्य है उसी प्रकार, यदि व्यक्त रूप से भी तादात्म्य हो तो क्या अभिज्ञों की दृष्टि में वह प्राकृत सम्भोग होगा ? स्वरूप से तो उनका नित्य सम्भोग है ही। **'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति'**, **'अत्र ब्रह्म समश्नुते'** इत्यादि वाक्यों से यह बात कही गयी है।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण 'तत्' पदार्थ हैं और गोपाङ्गनाएँ 'त्वं' पदार्थ हैं। यदि इन दोनों का परस्पर संश्लेष हो तो क्या वह कामक्रीड़ा कही जायगी ? स्थूल दृष्टि से

तो अवश्य यह कामक्रीड़ा-सी मालूम होती है, परन्तु अन्तरङ्ग दृष्टि से तो यह जीव और ब्रह्म का अद्भुत संयोग ही है।

श्रीमद्भागवत में यह कई स्थानों में देखा जाता है कि गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णचन्द्र के वियोग में संतप्त रहती थीं और हर समय उनके दर्शनों के लिये लालायित रहती थीं और इसी प्रकार भगवान् भी व्रजसुन्दरियों की विरह-व्यथा से व्याकुल रहते थे। उन दोनों ही को पारस्परिक संयोग बहुत अभीष्ट था। प्रेम का यह स्वभाव है कि प्रेमी परस्पर गाढालिङ्गन के लिये उत्सुक रहा करते हैं। माता अपने सुकुमार शिशु को हृदय से लगाने में कितना सुख अनुभव करती है। जो जितना अधिक प्रेमास्पद होता है उसका व्यवधान उतना ही अधिक असह्य होता है। यहाँ ऐसा भी कहा जाता है कि जिस समय व्रजाङ्गनाएँ भगवान् का आलिङ्गन करती थीं उस समय उन्हें अपने हार, आभूषण और कञ्चुकी का व्यवधान तो असह्य था ही, प्रत्युत प्रेमातिरेक के कारण जो रोमाञ्च होता था वह भी अत्यन्त अप्रिय जान पड़ता था। अतः सिद्धान्त यही है कि प्रेम का पर्यवसान अभेद में ही होता है, भेद में नहीं होता।

बात क्या है? भगवान् गोपाङ्गनाओं के आत्मा हैं; आत्मा का व्यवधान भला कैसे सह्य हो? द्वारका में जो भगवान् की पट्टमहिषी थीं उनके विषय में कहा जाता है कि जिस समय भगवान् दीर्घकालीन प्रवास के पश्चात् हस्तिनापुर से आये उस समय उन्हें देखकर वे तुरन्त आसन और शय्या से उठीं। किसलिये?–देशकृत व्यवधान को दूर करने के लिये। किन्तु उस समय उन्हें यह विचार हुआ कि हम तो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कञ्चुकों को पहिनकर अपने प्रेमास्पद से मिल रही हैं। अतः हमारा यह सम्मिलन समुचित आनन्दवर्द्धक नहीं हो सकता। इसलिये वे उन सब कञ्चुकों को उतारकर सच्चिदानन्द रूप से भगवान् को मिलीं।

यहाँ गोपाङ्गनाएँ और भगवान् दोनों ही सच्चिदानन्द-स्वरूप थे। अतः उनकी लीला प्राकृत है ही नहीं। इसलिये इसमें मर्यादातिलङ्घन का प्रश्न ही नहीं हो सकता। यह तो वह स्थिति है जिसकी प्राप्ति के लिये सारी मर्यादाओं का पालन किया जाता है।

अतः जिस समय भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ उस समय उन्होंने यही विचार किया कि पहले अवतार के प्रधान प्रयोजन की ही पूर्ति करनी चाहिये। इसीसे पहले उन्होंने अमर्यादित दिव्य लीलाएँ कीं और पीछे मर्यादित लोक-संग्रहमयी। लोक में भी यह प्रायः देखा जाता है कि उपनयन-संस्कार से पूर्व उच्छृङ्खल प्रवृत्ति रहती है और उसके पीछे मर्यादानुसार आचरण किया जाता है। यही बात भगवान् के विषय में भी देखी जाती है। इस प्रकार प्रधान प्रयोजन की पूर्ति के लिये स्वीकार की हुई भगवान् की उच्छृङ्खलता में भी एक प्रकार की सुशृङ्खलता ही है; इस मर्यादातिलङ्घन में भी एक प्रकार का मर्यादापालन ही है।

वेद जो कहता है कि **'जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते'**— उत्पन्न होते ही ब्राह्मण तीन ऋणों से ऋणवान् हो जाता है—सो इन तीनों ऋणों में स्वाध्याय द्वारा ऋषि-ऋण की निवृत्ति होती है, प्रजोत्पादन से पितृ-ऋण का अपाकरण होता है और यज्ञ-यागादि से देव-ऋण का शोधन होता है। यहाँ यदि 'जायमान' शब्द का अर्थ 'जन्म लेते ही' किया जाय तो बालक प्रत्यवायी सिद्ध होगा, क्योंकि उपनयन होने से पूर्व वह इनमें से न तो कोई क्रिया करने में समर्थ ही है और न इनका अधिकारी ही। इसलिये इसका अर्थ 'गृहस्थः सम्पद्यमानः'—गृहस्थावस्था को प्राप्त होने पर ऐसा करना चाहिये। अतएव भगवान् ने संस्कारादि से पहले अमलात्मा परमहंसों के प्रेम-रसाभिवर्धन के लिये उच्छृङ्खल लीलाओं का ही प्रदर्शन किया तथा संस्कारादि के पश्चात् मर्यादित लीलाओं का प्रदर्शन किया।

इस प्रकार यद्यपि इस मर्यादातिक्रमण में भी मर्यादा की रक्षा ही है तथापि भगवान् तो समस्त विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। इसलिये वे एक काल में भी दोनों प्रकार के कार्य कर सकते हैं। जिस प्रकार सर्वाधिष्ठान होने के कारण आत्मा एक ही समय में एक (अपवाद) दृष्टि से अकर्ता-अभोक्ता है किन्तु दूसरी (अध्यारोप) दृष्टि से सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता भी है उसी प्रकार भगवान् में एक ही साथ दो विरुद्ध धर्म रहा करते हैं। निर्व्यापार रहते हुए व्यापार करना और व्यापार करते हुए भी निर्व्यापार रहना—ये यद्यपि परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं तथापि तत्त्वज्ञ महापुरुषों की तो यही दृष्टि है—

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥"

यहाँ 'पश्येत्'—देखे यह भी क्रिया ही है। ध्यानयोगी जो सम्पूर्ण इन्द्रियों की गति को रोककर निश्चल भाव से अपने निर्विशेष स्वरूप का साक्षात्कार करता है वह भी तो एक प्रकार की क्रिया ही है। जो भगवान् अपने भावुक भक्तों के लिये रस-स्वरूप हैं, जिनका **'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति'** इस श्रुति द्वारा प्रतिपादन किया गया है, वे ही अज्ञानियों के लिये भय के स्थान हैं, **'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य'** जो आत्मज्ञों के लिये परम सन्निकृष्ट हैं, वे ही अज्ञों के लिये दूर से भी दूर हैं। अतः भगवान् में तो स्वभाव से ही सम्पूर्ण विरुद्ध धर्म रहते हैं इसलिये यदि एक काल में ही वे विरुद्ध प्रकार के आचरण करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

यही नहीं, जिस प्रकार भगवान् के अवतार मर्यादा-पालन के लिये अपेक्षित होते हैं, उसी प्रकार कर्म-संन्यास के लिये भी उनकी अपेक्षा हुआ करती है। भगवान् राम का अवतार मर्यादापालन के लिये था और ऋषभदेवजी का सर्वकर्म-संन्यास के लिये। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि एक ही भगवान् ने दो प्रकार की चेष्टाएँ

क्यों कीं ? इस विषय में यही कथन है कि वे भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ भिन्न-भिन्न अधिकारियों के लिये थीं। जो मर्यादापालन का अधिकारी है उसके आदर्श श्रीरामचन्द्र हैं और जो सर्वकर्म-संन्यास के अधिकारी हैं उसके पथ-प्रदर्शक भगवान् ऋषभदेव हैं।

सर्वकर्म-संन्यासी तत्त्वज्ञ महानुभावों की भी दो प्रकार की चर्या देखने में आती है। उनमें अधिकांश तो ऐसे हैं जो कामिनी-काञ्चनादि भोग्य पदार्थों का स्वरूप से त्याग कर देते हैं और सर्वदा अलक्षित गति से एकान्त सेवन किया करते हैं, उनमें साधकों के आदर्श तो बदरिकाश्रमनिवासी भगवान् नर-नारायण हैं और सिद्धों के भगवान् ऋषभदेव। वे लोग स्वप्न में भी स्त्री आदि भोग्य विषयों का सङ्ग नहीं करते। उनका नियम होता है कि—

"सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।"

किन्तु कोई-कोई महानुभाव ऐसी विलक्षण धारणावाले होते हैं कि अनेकविध भोग्य सामग्रियों के सान्निध्य में रहकर भी वे उनसे अक्षुण्ण रहते हैं।

ऐसे सिद्धकोटि के महानुभावों के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाएँ हैं। किन्तु वे लीलाएँ अनुकरणीय नहीं हैं, उनके द्वारा तो इस कोटि के महापुरुषों की उच्चतम स्थिति का केवल दिग्दर्शनमात्र होता है।

यद्यपि साधकों के लिये स्त्रियों का चिन्तनमात्र भी महान् अनर्थ का हेतु होता है, तथापि भगवान् ने तो कामजय के लिये ही यह अद्भुत लीला की थी।

टीकाकार श्री श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

"**ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः॥**"

अर्थात् ब्रह्मादि लोकपालों को जीत लेने के कारण जो अत्यन्त अभिमानी हो गया था उस कामदेव के दर्प को दलित करनेवाले गोपियों के रासमण्डल के भूषण-स्वरूप श्रीलक्ष्मीपति की जय हो। वस्तुतः रासक्रीड़ा में प्रवृत्त होकर भगवान् ने मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं किया, बल्कि उन्होंने तत्त्वज्ञों की निष्ठा की दृढ़ता ही प्रदर्शित की है। अहो ! जो साक्षात् शृङ्गाररस की अभिवृद्धि करनेवाले हैं उन अनेकविध दिव्य हाव-भाव कटाक्षों का सम्प्रयोग होने पर भी उनका चित्त तनिक भी विचलित नहीं हुआ। भगवान् की इस स्थिति का श्रीशुकदेवजी ने भिन्न-भिन्न शब्दों में कई जगह वर्णन किया है, जैसे—'**साक्षान्मन्मथमन्मथः**', '**आत्मन्यवरुद्धसौरतः**', '**आत्मारामोऽप्यरीरमत्**' इत्यादि।

भगवान् सर्वेश्वर हैं; उनकी यह लीला कामजय के लिये ही हुई थी। काम ने ब्रह्मादि को जीत लिया था। इससे उसका अभिमान बहुत बढ़ गया था और अब उसने उन सबके स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण से भी युद्ध करने का निश्चय किया। भगवान्

ने उसका यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। कन्दर्प ने भी श्रीकृष्ण के अद्भुत प्रभाव को जानकर विजय की लालसा से श्री व्रजाङ्गनाओं के अङ्गरूप काञ्चनमय कामग दुर्ग का आश्रयण किया और वहाँ प्रधान-प्रधान अवयवों को अपना खास निवासस्थान चुना और अपने मित्र वसन्त की सहायता से नाना प्रकार कुसुमों का ही धनुष-बाण तथा अस्त्र-शस्त्र लेकर स्वाधीन व्रजाङ्गनाओं के काञ्चनमय अङ्गरूप कामग दुर्ग में स्थित होकर युद्ध की पूर्ण तैयारी कर ली। इतने पर भी श्रीकृष्ण ने उसे दुर्बल ही देखा। यह नियम है कि बड़े-बड़े योद्धा दुर्बल शत्रु से युद्ध करना उचित नहीं समझा करते। इसलिये युद्ध करने से पूर्व वे उसे सबल कर देते हैं। अपूर्ण चन्द्र पर राहु भी आक्रमण नहीं करता। जब एक राक्षस की भी ऐसी नीति है तो सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही ऐसा कैसे कर सकते थे ? अतः भगवान् ने पहले तो श्री महादेवजी के कोपानल से दग्ध हुए कन्दर्प को पुष्ट किया। वह गोपाङ्गनाओं के हृदय में स्थित था। उसे वेणुनाद-द्वारा अपनी दिव्य अधर-सुधा का पान कराकर भगवान् ने सबल कर दिया। परन्तु गोपाङ्गनाओं के हृदय में तो मन भी रहता है और वह भगवान् श्रीकृष्ण का परम भक्त है तथा कामदेव मनोज होने के कारण उसका पुत्र है। अतः अपने पिता के विरुद्ध वह कोई चेष्टा कैसे कर सकता था और वृद्ध पिता के सामने उससे कोई धृष्टता भी कैसे बन सकती थी ? इसलिये उसे निःसंकोच करने के लिये भगवान् ने वेणुनाद-द्वारा उस मन को अपने पास बुला लिया। अब कामदेव स्वतन्त्र हो गया। गोपाङ्गनाओं के अङ्ग-प्रत्यङ्गों ने उसके अस्त्र-शस्त्र होकर भी सहायता की तथा चन्द्रमा, वसन्त, यमुनापुलिन, निकुञ्ज और मलय-मारुत भी उसके सहकारी हो गये। इस प्रकार पहले सर्वसाधन-सम्पन्न करके फिर उसे परास्त करने के लिये ही भगवान् ने यह ललित लीला की; इसीसे यहाँ उन्हें 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' कहा गया है।

सृष्टिमात्र का प्रयोजक काम ही है। सृष्टि के आरम्भ में जैसा भाव रहता है उत्तरकालीन प्रपञ्च भी उसीका अनुसरण किया करता है। जैसे सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ को एकाकी रहने पर रमण नहीं हुआ वैसे ही अब भी अकेले रहने पर लोगों को भय और अरमण हुआ करता है। सर्गारम्भ में परमेश्वर कामप्रयुक्त (सङ्कल्प द्वारा प्रेरित) प्रकृति से संयुक्त होकर प्रपञ्च की रचना करते हैं; इसीलिये लौकिक पुरुष भी कामप्रयुक्ता प्रकृतिरूपा पत्नी से संयोग करके प्रजा की रचना करते हैं। श्रुति भी कहती है—'**सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम्**'—भगवान् ने इच्छा की-कि मैं अकेला हूँ, अनेक हो जाऊँ।

वह भगवदिच्छा ही आदि-काम है। आगे यह बतलाया जायगा कि जिस प्रकार एक सत्तत्व ही सुख-दुःखादि शुभाशुभविशेषणविशिष्ट होकर हेय और उपादेय होता है, उसी प्रकार लौकिक और अलौकिक आलम्बन के कारण काम भी हेय और

उपादेय हो जाता है। शुभाशुभविशेषणशून्य सत्तत्त्व तो निर्विशेष ब्रह्म ही है; वह न हेय है, न उपादेय। यह कहने की भी आवश्यकता नहीं कि विशेषण भी विशेष्य से अभिन्न ही होता है। जिस प्रकार मृत्तिका का परिणाम अतएव उससे अविभिन्न घट मृत्तिका के विशेषण रूप से व्यपदिष्ट होता है तथा जैसे घटाकाश का अवच्छेदक और उसका विशेषणभूत घट भी आकाश से अभिन्न ही है, क्योंकि वायु, तेज और जलादि के क्रम से आकाश ही घटरूप हो जाता है और कार्य तथा कारण में अभिन्नता होती है—यह प्रसिद्ध ही है, उसी प्रकार शुभाशुभ विशेषण भी सत्तत्त्व से अभिन्न ही हैं, तथापि व्यवहार में उसके विशेषण होने से उसके भेदक भी हैं।

इस प्रकार प्रपञ्चोत्पादन के लिये प्रकृति के संसर्ग में प्रवृत्त करनेवाली इच्छा या रस ही काम है। यही साक्षात् काम (साक्षान्मन्मथ) है। इस काम का एक बिन्दु ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में व्याप्त है। यह साक्षात्काम रसात्मक ब्रह्म का ही औपाधिक या विकृत रूप है। यह कारणब्रह्म के मायावृत्तिरूप मन में क्षोभ उत्पन्न करता है। फिर जिस प्रकार पुरुष कामक्षुब्ध होकर प्रजोत्पादन के लिये स्त्री से संसर्ग कर उसमें गर्भाधान करता है उसी प्रकार इससे क्षुब्ध हुआ कारणब्रह्म प्रकृतिरूप अपनी योनि से संसृष्ट होकर उसमें गर्भाधान कर देता है। जिस प्रकार स्त्री का गर्भाशय पुरुष का वीर्य प्राप्त होने पर ही प्रजोत्पादन में समर्थ होता है उसी प्रकार पुरुष के चैतन्य-प्रतिबिम्बरूप वीर्य के प्राप्त होने पर ही अर्थात् पुरुष के सान्निध्य से प्राप्त हुए चैतन्य-सामर्थ्य से ही प्रकृति महदादि प्रजाओं को उत्पन्न कर सकती है। जिनका हृदय पाशविक संस्कारों से दूषित है उन नरपशुओं को जिस चर्मखण्ड में योनिबुद्धि है वह वस्तुतः योनि नहीं कही जा सकती। योनितत्त्व तो अतीन्द्रिय है। जिस प्रकार इन्द्रियगोलक से इन्द्रिय-तत्त्व सर्वथा भिन्न और अतीन्द्रिय है उस प्रकार योनितत्त्व भी योनिगोलक से सर्वथा भिन्न है। जो योनितत्त्व का उद्गमस्थल जागतिक सृष्टि का मूल कारण है वही मूलयोनितत्त्व है और उसीको 'प्रकृति' भी कहते हैं। पुरुष का अंशभूत चैतन्य-प्रतिबिम्ब ही वीर्य है। अतः यह नियम है कि प्रकृति और पुरुष का संसर्ग होने पर ही सृष्टि हुआ करती है। अस्तु।

इस प्रकार प्राथमिक काम साक्षान्मन्मथ है। वह विकृत रस-स्वरूप है। उस विकृत रस का याथात्म्य या अधिष्ठान अविकृत रसात्मक परब्रह्म ही है। विकृत रस में जो मन्मथत्व या मोहकत्व है वह अपने अधिष्ठान से ही आता है। अतः उसका अधिष्ठान-भूत परब्रह्म ही 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' है। जिस प्रकार भगवान् को चक्षु का चक्षु, श्रोत्र का श्रोत्र और मन का मन कहा जाता है उसी प्रकार वे काम के काम अर्थात् मन्मथमन्मथ हैं। वे अव्यक्त मन्मथमन्मथ ही इस समय अत्यन्त मधुमयी मनोहर माधवमूर्ति में विराजमान हैं। इसलिये वे 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' हैं।

भगवान् जो चक्षु के चक्षु, श्रोत्र के श्रोत्र, मन के मन और प्राण के प्राण कहे गये हैं उसका क्या रहस्य है ? श्रोत्र किसे कहते हैं ? जो इन्द्रिय शब्द-प्रकाशन में

समर्थ है उसका नाम 'श्रोत्र' है। भगवान् उसे शब्द-प्रकाशन का सामर्थ्य प्रदान करते हैं, इसलिये वे श्रोत्र के श्रोत्र हैं। इसी प्रकार वे चक्षु के चक्षु, मन के मन और प्राण के प्राण भी हैं तथा वे ही साक्षात् मन्मथमन्मथ हैं। मन्मथ काम को कहते हैं। नायक-नायिका के पारस्परिक स्नेहविशेष का नाम 'काम' है। वह एक प्रकार का रस है और भगवान् भी रसस्वरूप हैं; 'रसो वै सः'। भगवान् सम्पूर्ण रसों के अधिष्ठान हैं; वे निर्विशेष रसस्वरूप हैं तथा संसार में जितने रस हैं वे उन रसमय के ही विशेष विकास हैं।

सिद्धान्त दृष्टि से देखा जाय तो शुद्ध सत् अशेषविशेष-निर्मुक्त परब्रह्म ही है। इसी प्रकार शुद्ध चित् भी वही है। सत् और चित् में भी कोई भेद नहीं है। जिसकी सत्ता होगी उसका भान भी अवश्य होगा और जिसका भान होगा उसकी सत्ता भी अवश्य होगी। अतः जो सत् है वही चित् है और जो चित् है वही सत् है। जिस प्रकार सच्चित् सम्पूर्ण प्रपञ्च का कारण है उसी प्रकार आनन्द भी है। **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'** जिस प्रकार सर्वविशेषण निर्मुक्त सत् ब्रह्म है उसी प्रकार निर्विशेष आनन्द भी शुद्ध परब्रह्म ही है। वह हेयोपादेय से रहित है; पुण्य या अपुण्य विशेषण से युक्त होने पर ही वह हेयोपादेय होता है। जो आनन्द किसी उत्तम वस्तु को आलम्बन मानकर अभिव्यक्त होता है उसे प्रेम कहते हैं और जो बन्धनकारी निःकृष्ट पदार्थों के आलम्बन से होता है उसे काम या मोह कहा जाता है। भगवान् विष्णु, शिव एवं गुरुदेव आदि उत्तम आलम्बन हैं। भगवान् तो स्वयं ही रसस्वरूप हैं; उनमें तन्मय हुआ चित्त भी पूर्णतया रसमय हो जाता है। श्रीमधुसूदन स्वामी कहते हैं—

"भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलाम्॥"

प्रेमी के द्रुत चित्त पर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पदावच्छिन्न चैतन्य है वही प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि है। जिस प्रकार अग्नि का ताप पहुँचने पर जतु (लाक्षा) पिघल जाता है उसी प्रकार स्नेहादिरूप अग्नि से भी प्रेमी का अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाता है। विष्णु आदि आलम्बन सात्त्विक हैं; इसलिये जिस समय तदवच्छिन्न चैतन्य की द्रुत चित्त पर अभिव्यक्ति होती है तब उसे 'प्रेम' कहा जाता है और जब नायिकावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसे 'काम' कहते हैं। प्रेम सुख और पुण्य-स्वरूप है, तथा काम दुःख और अपुण्यस्वरूप है। इस प्रकार यदि मूल में देखें तो सत् का ही रूपान्तर सुख और पुण्य हैं तथा उसीका रूपान्तर दुःख और अपुण्य हैं एवं इन सब प्रकार के विशेषणों से शून्य जो सत् है वही परब्रह्म है। ठीक इसी प्रकार जो सर्वविशेषणशून्य रस है वह भी ब्रह्म ही है, वही

साक्षान्मन्मथमन्मथ हैं और वही श्रीकृष्ण हैं। इसीसे काम को वासुदेव का अंश कहा है—**'कामस्तु वासुदेवांशः'**।

यह तो हुआ आध्यात्मिक विवेचन। आधिदैविक दृष्टि से देखें तो भी भगवान् का रूपमाधुर्य ऐसा मोहक था कि जो काम संसार के प्रत्येक प्राणी को मोहित करने में समर्थ है, वही जिस समय अपने दल-बल सहित भगवान् की परम सुन्दर दिव्य मङ्गलमयी मूर्ति के सामने आया तो उनका लावण्य देखकर मानों धूलि में मिल गया। इसीसे उन्हें 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' कहा गया है। वस्तुतः श्रीकृष्णचन्द्र के पादारविन्द की नखमणि-चन्द्रिका की एक रश्मि के माधुर्य्य का अनुभव करके कन्दर्प का दर्प प्रशान्त हो गया और उसे ऐसी दृढ़ भावना हुई कि मैं लक्षों जन्म कठिन तपस्या करके श्रीव्रजाङ्गनाभाव को प्राप्त कर श्रीकृष्ण के पादारविन्द की नखमणि-चन्द्रिका का यथेष्ट सेवन करूँगा, फिर साक्षात् श्रीकृष्ण-रस में निमग्न व्रजाङ्गनाओं के सन्निधान में काम का क्या प्रभाव रह सकता था? यह भी एक आदर्श है। जिस प्रकार साधकों के लिये चित्रलिखित स्त्री को भी न देखना आदर्श है, उसी प्रकार जो बहुत उच्चकोटि के सिद्ध महात्मा हैं उनके लिये मानो यह चेतावनी है कि भाई, तुम अभिमान मत करना; जब तक तुम ऐसी परिस्थिति में भी अविचलित न रह सको तब तक अपने को सिद्ध मत मान बैठना। अहो! जिनके नखमणि की ज्योत्स्ना से भी अनन्तकोटि कन्दर्पों का दर्प दलित हो जाता था, उन परम सुन्दरी व्रजसुन्दरियों को भी जिन्होंने रमाया, उन श्रीहरि के दिव्यातिदिव्य योग का माहात्म्य कहाँ तक कहा जा सकता है?

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कामुकों के लिये तो नर-नारायण का आदर्श भी अनुपयुक्त है। उन्हें तो मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम के ही चरणचिह्नों का अनुसरण करना चाहिये। श्रीनर-नारायण का आदर्श साधकों के लिये है; उन्हें ऋषभदेवजी के आदर्श का अनुकरण नहीं करना चाहिये, क्योंकि सर्वकर्म-संन्यास का अधिकार सबको नहीं है। उनका आचरण तो परमोत्कृष्ट तत्त्वज्ञों के लिये ही है। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण के दिव्यातिदिव्य आचरणों का तो यदि कोई मन से भी अनुकरण करेगा तो पतित हो जायगा, **"नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः"** क्योंकि वे तो निरतिशय ऐश्वर्यवान् साक्षात् भगवान् की ही अलौकिक लीलाएँ हैं। कोई भी जीव इस स्थिति पर नहीं पहुँच सकता। भला भगवान् के सिवा ऐसा कौन है जिसने सम्पूर्ण जगत् को मोहित करनेवाले कामदेव का मान मर्दन किया हो। मदनमोहन तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। करना तो दूर, हर किसीको तो इसे सुनना भी नहीं चाहिये, क्योंकि 'छठी भावना रास की', इसे सुनने-देखने का अधिकार तो देहाध्यास से ऊपर उठे बिना प्राप्त ही नहीं होता।

भगवान् ने जो कहा है कि—

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥"

उसका तात्पर्य यह नहीं है कि श्रेष्ठ पुरुषों के सभी आचरणों का अनुकरण करना चाहिये; बल्कि जो अपनी योग्यता के अनुसार हो उसीका आचरण करना उचित है। भगवान् शंकर हलाहल विष का पान कर गये थे, इसलिये क्या सभी को विष-पान करना चाहिये? तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य अपने शिष्यों से कहते हैं—

"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।"

यह बहुत सम्भव है कि कोई चरित्र महापुरुषों के लिये उचित हो, किन्तु साधारण पुरुषों के लिये उचित न हो। संन्यासी लोग सन्ध्योपासन नहीं करते, इसलिये क्या गृहस्थों को भी उसे छोड़ देना चाहिये? फिर यहाँ तो अलौकिक लीलाकारी भगवान् की बात है, जिसका अनुकरण करना तो दूर रहा, समझना भी महा कठिन है।

इस प्रकार भगवान् की यह रासलीला उच्चकोटि के योगारूढ़ों के लिये ही एक उच्च आदर्श है। इसके श्रवणमात्र से पुण्य होता है। सो कैसे?—उत्तरमीमांसा में ब्रह्म की उपासना कई प्रकार से बतलायी गयी है। वहाँ कहा है—

"सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषणात्।"

इस सूत्र पर ऐसा विचार हुआ है कि ब्रह्म तो एक ही है फिर किस प्रकार की उपासना को किस उपासना में समन्वित करना चाहिये? वहाँ बतलाया गया है कि यद्यपि उपास्य ब्रह्म तो एक ही है, तथापि गुणगण के भेद से उसमें भेद हो जाता है और उपासना का फल तत्तद्गुणविशिष्ट उपास्य के अनुरूप ही मिलता है। जैसे यदि हमारा उपास्य सत्यकामादिगुणविशिष्ट ब्रह्म होगा तो वह हमें सत्यकामादिरूप फल देगा और यदि वामनीत्वादिगुण-गणविशिष्ट ब्रह्म होगा तो उसमें हमें वामनीत्वादि फल प्राप्त होगा।

अब यह प्रश्न होता है कि एक ही ब्रह्म की अनेकविध उपासना क्यों बतलायी गयी है? इसका उत्तर यही है कि यह उपास्य का भेद उपासक की योग्यता और कामना के अनुसार है। यहाँ रासलीला में उपास्य कामविजयी है, इसलिये इसके द्वारा कामविजयरूप फल प्राप्त होगा। इसीसे यहाँ कहा गया है कि—

"विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेच्च।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥"

अर्थात्, 'जो पुरुष श्रद्धासम्पन्न होकर व्रजबालाओं के साथ की हुई भगवान् विष्णु की इस क्रीड़ा का श्रवण या कीर्तन करेगा, वह परम धीर भगवान् में परा-भक्ति प्राप्त करके शीघ्र ही मानसिक रोगरूप काम से मुक्त हो जायगा।'

किन्तु, यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि कामलीला वर्णन या श्रवण करने से कामविजय कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि यह कामलीला नहीं, बल्कि कामविजयलीला है। इसके श्रवण और कीर्तन द्वारा कामविजयी भगवान् ध्येय होंगे; इसलिये उपासक का चित्त कामविजयी हो जायगा।

भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—'**वीतरागविषयं वा चित्तम्**' अर्थात् विरक्त पुरुषों के विरक्त चित्त का चिन्तन करनेवाला चित्त भी स्थिरता प्राप्त करता है। इसका क्या तात्पर्य है ? यही कि विरक्त पुरुषों का ध्यान करनेवाले पुरुषों का चित्त भी क्रमशः उनकी आकृति और भाव का आलम्बन करता हुआ विरक्त हो जाता है। इसी प्रकार भगवान् की माया का वर्णन करने से उद्धार होना बतलाया गया है; जैसे—

"मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदतः।
शृण्वतः श्रद्धया राजन् माययात्मा न मुह्यति॥"

इसका कारण यही है कि यहाँ माया का वर्णन स्वतन्त्र रूप से नहीं है, अपितु माया के नियन्तारूप से ईश्वर का ही वर्णन है। अतः मायाधीश भगवान् का चिन्तन होते रहने से हम भी माया से मोहित न होंगे। इसी प्रकार यद्यपि कामवर्णन से काम की वृद्धि ही हुआ करती है, तथापि यहाँ काम-वर्णन के व्याज से कामविजयी भगवान् का ही वर्णन होने के कारण कामविजयरूप फल ही प्राप्त होगा।

किन्तु, इस लीला के श्रवण और कीर्तन के अधिकारी सभी लोग नहीं हो सकते। उनमें कुछ विलक्षणता होनी चाहिये। उनमें भी वर्णन करनेवाला तो बहुत ही विलक्षण होना चाहिये; क्योंकि भगवान् की जो दिव्यातिदिव्य लीलाएँ हैं उनके श्रवण-मनन से अधिकारियों पर प्रभाव पड़ता ही है। जिस प्रकार वीररसपूर्ण काव्य पढ़ने पर चित्त में वीरता का सञ्चार होता है तथा करुणरसप्रधान ग्रन्थ का अनुशीलन करने पर चित्त करुणार्द्र हो जाता है, उसी प्रकार इस शृङ्गाररसप्रधान लीला के श्रवण या कीर्तन से चित्त में शृङ्गाररस का उद्रेक होना भी स्वाभाविक ही है। हम देखते हैं कि यह जानते हुए भी कि, भगवान् श्रीराम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, उनपर किसी प्रकार की सम्पत्ति या विपत्ति का कोई अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सकता। जिस समय उनके वनगमन आदि वर्णन सुनते हैं तो हठात् नेत्रों में जल आ ही जाता है। अतः भगवान् की इस मधुरातिमधुर लीला के श्रवण-कीर्तन के मुख्य अधिकारी तो वे ही हैं जो संसार की समस्त वासनाओं को जीतकर मनोनिरोधपूर्वक परब्रह्मपरमात्मा का साक्षात्कार कर चुके हैं।

किन्तु यहाँ जो ऐसा कहा है कि '**हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः**' इससे यह भी सिद्ध होता है कि कामरूप हृद्रोग के रोगी भी इसका श्रवण कर सकते हैं। परन्तु वे कम-से-कम उस हृद्रोग से मुक्त होने के पूर्ण इच्छुक तो होने ही चाहिये, विषयी होने पर तो उनका उद्धार हो नहीं सकेगा। उन्हें भी इसे ऐसे वक्ता से श्रवण करना

चाहिये जो पूर्ण तत्त्वनिष्ठ हो तथा जो श्रोता के कामभाव की निवृत्ति करने में सर्वथा समर्थ हो। तब तो अवश्य इसके द्वारा भगवान् के प्रति स्थायी रति का आविर्भाव होगा और उस भगवद्रति के कारण काम का कदापि प्रभाव न होगा।

पहले यह कहा जा चुका है कि इस प्रकरण के आरम्भ में जो 'श्रीबादरायणिरुवाच' है उसका क्या रहस्य है। किन्तु किसी-किसी प्रति में इसके स्थान पर 'श्रीशुक उवाच' भी है। भगवान् शुक की तत्त्वज्ञता सुप्रसिद्ध है और इधर श्रोता भी सर्वसाधन-सम्पन्न कुरुकुल-भूषण महाराज परीक्षित् हैं। यदि ऐसे श्रोता-वक्ता हों, तो अवश्य इसका महान् फल हो सकता है।

'शुक उवाच' इस वाक्य का एक और भी तात्पर्य हो सकता है। प्रायः शुकतुण्ड से सम्बन्धित होने पर फल में और भी अधिक मधुरता आ जाती है। इसीसे कहा है--

"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥"

जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद्‌रूप गौओं का अमृतमय दुग्ध होने से ही परम आदरणीय है उसी प्रकार यह भागवतपुराण भी वेदमूलक होने के कारण ही प्रमाण है। यह साक्षात् कल्पवृक्ष का फल है और वह कल्पवृक्ष भी प्राकृत नहीं, बल्कि स्वयं शब्द-ब्रह्मरूप वेद है। और यह उससे तोड़ा हुआ भी नहीं है, इसलिये इसके विषय में कच्चे या अम्ल होने की भी आशंका नहीं की जा सकती। यह तो स्वयं पककर गिरा हुआ है। इसलिये इसमें अत्यन्त मधुरता और सुगन्ध आ गयी है। इसपर भी शुक के मुख का संयोग हो जाने से तो यह और भी अधिक सरस हो गया है। इसीसे कहा है 'पिबत', इसे पिओ। यद्यपि फल खाया जाता है, परन्तु इसे तो पीने के लिये कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि अन्य फलों के समान इसमें गुठली या छिलका आदि कोई हेय अंश नहीं है, क्योंकि यह तो एकमात्र सुमधुर रसस्वरूप ही है। इसलिये इसका पान ही करना चाहिये। कब तक पान करें? 'आलयम्' अर्थात् मोक्ष पाकर भी।

"जीवनमुक्त महामुनि जेऊ।
हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥"

इस प्रकार जब शुकतुण्डच्युत श्रीमद्भागवत ही पेय है, तो उसकी सारातिसारभूत रासपञ्चाध्यायी के विषय में तो कहना ही क्या है? यही 'शुक उवाच' का गूढ़ रहस्य है।

इसके सिवा व्रज में हमने एक और बात भी सुनी थी। वहाँ के लोग कहा करते हैं—'महाराज, महल की बात माहिलिहि जाने।' अर्थात् महल के भीतर क्या-क्या होता है? इस रहस्य को तो महल के भीतर रहनेवाले ही जान सकते हैं; बाहर

जो घास खोदनेवाला है उसे अन्तःपुर की बातों का क्या पता लग सकता है ? यह रासक्रीड़ा भगवान् की परम अन्तरंग लीला है। इसका मर्म तो वे ही जान सकते हैं जो श्रीराधारानी और नन्दनन्दन के अत्यन्त कृपापात्र हैं; अन्य निष्ठावाले इसका रहस्य नहीं समझ सकते। अतः इसका वक्ता भी वही हो सकता है, जो परम अन्तरंग हो। अतः यह देखना चाहिये कि इसका वक्ता कौन है ? कोई कितना ही आत्मनिष्ठ हो, किन्तु यदि वह इस रस से अनभिज्ञ हो तो कम-से-कम रसिकों की प्रवृत्ति तो उसके वाक्य-श्रवण में हो नहीं सकती। अतः यह देखना चाहिये कि इसके वक्ता का रस में प्रवेश है या नहीं। इसपर वे कहते हैं—'श्रीशुक उवाच' यहाँ जो शुक हैं वे श्रीवृषभानुनन्दिनी के क्रोड़ाशुक हैं। जिस समय श्रीनन्दनन्दन उनके पास से चले जाते थे उस समय श्रीरासेश्वरीजी इन्हें पढ़ाया करती थीं—'कृष्ण कहु, कृष्ण कहु, राधा मति कहु रे'। वे अपने अमृतमय अधरपट से इनकी चंचु को चुम्बन कर इन्हें भगवल्लीलाओं का पाठ पढ़ाया करती थीं। भावुकों का ऐसा कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा का पात्र वही होता है जिसपर श्रीवृषभानुसुता की कृपा होती है; उनकी कृपा, ललितादि प्रधान यूथेश्वरियों के कृपापात्रों पर हुआ करती है और ललितादि की कृपा, अपनी नित्यसहचरियों के कृपापात्र आचार्यों के कृपाभाजनों पर होती है। फिर जिनका चञ्चु स्वयं श्रीवृषभानुनन्दिनी की अधर-सुधा से चुम्बित होता था उन श्रीशुक के मुखारविन्द से निःसृत इस लीला के माधुर्य का तो कहना ही क्या है। अहो ! जिनके अधरामृत का संयोग होने के कारण उनका किया हुआ वेणुनाद सम्पूर्ण चराचर जीवों को मन्त्रमुग्ध कर देता था, वे रसराजशिरोमणि श्रीमाधव भी जिसके लिये लालायित रहते थे उस श्रीवृषभानुनन्दिनी की अधरसुधा की माधुरी का वर्णन कौन कर सकता है ? फिर उन श्रीवृषभानुनन्दिनी की अधरसुधा से पोषित परमहंसशिरोमणि श्रीशुकदेवजी से अधिक रसिक और कौन होगा ?

आनन्द-वृन्दावन-चम्पू में एक बड़ी सुन्दर कथा है कि श्रीवृषभानुनन्दिनी के सन्निधान में एक कलवाक् नामक शुक रहता था। श्रीरासेश्वरीजी मणिपञ्जर से उस शुक को निकालकर अपने श्रीहस्तारविन्द पर बिठलाकर उसे दाड़िमी-बीज खिलाती थीं। एक दिन शुक को दाड़िमी-बीज खिला रही थीं कि दुष्प्राप्य श्रीकृष्णचन्द्र में उत्कट प्रीति और भूयसी लज्जा और गुरूक्ति-विषवर्षणों से मति की विकलता, अपने वपु की परवशता और कुलीनवंश में जन्म आदि सोचते-सोचते श्री श्रीरासेश्वरी के मुखारविन्द से यह श्लोक निकल पड़ा—

"दुरापजनवर्त्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी गुरूक्तिविषवर्षणैर्मतिरतीव दौःस्थ्यं गता।
वपुः परवशं जनुः परमिदं कुलीनान्वये, न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः॥"

शुक ने इस श्लोक को धारण कर लिया और श्रीवृषभानुदुलारी के श्रीहस्त-कमल से उड़कर जहाँ श्रीव्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण खेल रहे थे, वहीं एक वृक्ष की शाखा

पर बैठकर 'दुरापजनवर्त्तिनी रतिः' इसी श्लोक को पढ़ा। श्रीकृष्ण ने शुक के मुख से विनिःसृत: श्लोक को श्रवण कर आश्चर्य से यह किसी 'महानुरागवती' का शुक है, यह जानकर बड़े मधुर शब्दों में शुक से अपने समीप आने का अनुरोध किया। शुक शाखा पर से उड़कर श्रीकृष्ण के श्रीहस्तकमल पर बैठ गया। श्रीश्यामसुन्दर ने पुनः श्लोक पढ़ने को कहा, शुक ने फिर उसी श्लोक को सुनाया। अपनी प्रेयसी श्रीवृष-भानुदुलारी के प्रिय शुक द्वारा उनकी विरह-व्यथा से समन्वित भावमय श्लोक को धारण करके श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए और शुक को धन्यवाद देने लगे। शुक ने कहा— श्रीव्रजराजकुमार गाढ़ानुराग के भार से निर्भरभंगुरा, बड़े स्नेह से "श्रीकृष्ण" "श्रीकृष्ण" इस मधुमय नाम को पढ़ाती हुई अपनी स्वामिनी के कराम्बुरुह से मैं तो चञ्चलतावश च्युत हो गया हूँ, मुझ अधन्य को आप कैसे धन्य कहते हैं ?

"गाढानुरागभरनिर्भरभङ्गुरायाः, कृष्णेतिनाम मधुरं मृदु पाठयन्त्याः।
धिङ्मामधन्यमतिचञ्चलजातिदोषात्तस्याः कराम्बुरुहकोरकतश्च्युतोऽस्मि ॥"

इतने में ही श्रीकृष्ण का सखा कुसुमासव आ गया। वह भी शुक की वाग्मिता पर मुग्ध हुआ। इसी समय वृषभानुनन्दिनी की सहचरी मधुरिका शुक को ढूँढ़ती हुई वहाँ आयी और कुसुमासव के पूछने पर कहने लगी कि अपनी स्वामिनी का क्रोड़ाशुक ढूँढ़ने के लिये मैं आयी हूँ। कुसुमासव ने झगड़ते हुए कहा कि यह शुक तो हमारे सखा श्रीव्रजराजकुमार का ही है, तुम्हारी स्वामिनी का यह तब समझा जायगा, जब तुम्हारे हाथ पर आ जाय। मधुरिका ने हँसते हुए कहा कि कुसुमासव, तुम्हारे सखा के श्रीहस्त-कमल के संस्पर्श-सुख का अनुभव करके शुष्क वंश की वंशी भी सङ्ग त्याग नहीं करती, फिर यह चेतन पक्षी श्यामसुन्दर के श्रीहस्तारविन्द के स्पर्श-सुख को कैसे त्याग सकता है ? इसी समय श्रीव्रजेन्द्रगेहिनी ने आकर कहा—ललन, भोजन को देर हो रही है, क्यों नहीं आते ? कुसुमासव कहने लगा -अम्बा ! देखो, यह मधुरिका व्यर्थ ही झगड़ती है। हमारे सखा के शुक को अपनी स्वामिनी का बतलाती है। मधुरिका ने नन्दरानी को अभिवादन किया। यशोदा ने स्नेह से मधुरिका का स्पर्श करते हुए कहा—क्यों बेटी, क्या है ? मधुरिका ने कहा - देवि, कोई बात नहीं। यह शुक मेरी स्वामिनी वृषभानुकुमारी का है। इसके बिना वे व्याकुल हैं। मैं तो यही कह रही थी। श्रीव्रजेश्वरी ने कहा—बेटी, तुम जाओ। कुमार के खेलने जाने पर मैं भेज दूंगी। यह सुनकर मधुरिका प्रणाम कर चली गयी। श्रीकृष्ण और कुसुमासव दोनों ने ही प्रसन्न होकर शुक को दाड़िमी-बीज आदि दिव्य पदार्थ खिलाये और फिर कुछ भोजन कर खेलने चले गये। इधर श्रीयशुमति ने अपनी दूती से शुक को भेजवा दिया। शुक ने अपनी स्वामिनी से उनके प्रियतम का सब समाचार सुनाया था।

अतः यहाँ जो 'श्रीशुक' कहा गया है, उसका तात्पर्य 'श्रियः शुकः' श्री जी का शुक, समझना चाहिये। ये वे श्री जी हैं जिनके दिव्यातिदिव्य स्वरूप पर मुग्ध

होकर सौन्दर्य-माधुर्य आदि गुणगण सर्वदा उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं। **'श्रीयते सर्वैर्गुणैरिति श्रीः'** अतः ये शुकदेवजी भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजी के अत्यन्त स्नेह-भाजन और परम अन्तरंग हैं।

हमने ऐसा सुना है कि श्रीराधिकाजी तो उन्हें श्रीकृष्णनाम का ही पाठ पढ़ाती थीं, किन्तु जब वे चली जातीं तो श्रीश्यामसुन्दर प्रेमपूर्वक अपने मधुमय अधर-रसामृत से पोषित कर उन्हें **'राधाकृष्ण राधाकृष्ण'** ऐसा युगल नाम का पाठ पढ़ाया करते थे। उस समय यदि राधिकाजी आ जातीं तो उन्हें बड़ा संकोच होता, और वह फिर यही कहतीं—**'कृष्ण कहु, कृष्ण कहु, राधा मति कहु रे'**। इससे जान पड़ता है कि वे दोनों ही के कृपापात्र थे।

'श्री' शब्द का अर्थ भगवान् भी है। **'श्रीयते सर्वैर्गुणैर्यः स श्रीः'** अर्थात् जो सम्पूर्ण गुणों द्वारा आश्रित हैं वे श्री हैं। अतः वे जैसे श्रीराधिकाजी के लीलाशुक हैं वैसे ही भगवान् के भी हैं। इसलिये वे इस रहस्य से खूब अभिज्ञ हैं और उसका वर्णन करने में भी पटु हैं, क्योंकि शुक की बोली स्वभावतः ही मधुर होती है। इसीसे किसी प्रति में 'श्रीबादरायणिरुवाच' है और किसीमें 'श्रीशुक उवाच' है।

जब श्रीशुकदेवजी इस कथा का वर्णन करने लगे तो उन्होंने सोचा कि यह तत्त्व तो परम दुरवगाह्य है, क्योंकि यह भगवत्स्वरूप है। परन्तु यह है परम श्रेयस्कर। और श्रेय में बहुत विघ्न हुआ करते हैं, 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'। तिसपर भी यह तो परम श्रेय है, इसलिये इसमें और भी अधिक विघ्नों की सम्भावना है। अतः इसके आरम्भ में कोई ऐसा मंगल करना चाहिये जो सब प्रकार के विघ्नों की निवृत्ति करनेवाला हो। भगवान् मङ्गलों के भी मङ्गल और देवों के भी देव हैं—

"मङ्गलं मङ्गलानां च दैवतानां च दैवतम्।"

उनके द्वारा मङ्गल को भी मङ्गलत्व प्राप्त होता है तथा सारे संसार का मङ्गल उस मङ्गलसिन्धु का एक बिन्दु है। मङ्गल में देवता का अनुस्मरण किया जाता है परन्तु वे तो देवताओं के भी देवता का स्मरण करते हैं। इसीसे वे मङ्गलों का भी मङ्गल करते हुए इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

"भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥"

यद्यपि 'भगवान्' शब्द का अर्थ आगे किया जाता है तथापि यह श्रवण मात्र से मङ्गलकारक है, इसलिये यहाँ मङ्गल के लिये भी है। जैसे दूसरे प्रयोजन के लिये लाया हुआ भी जलपूर्ण घट अपने दर्शन मात्र से यात्री के लिये मङ्गलप्रद होता है उसी प्रकार जिसमें नित्य-ऐश्वर्य का योग हो उसे 'भगवान्' कहते हैं। ऐश्वर्य छः हैं—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरितः॥"

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य—इन छः गुणों का नाम 'भग' है। ये छः जिसमें हों वही भगवान् है। ये सबके सब जीव में तो अल्प मात्रा में हुआ करते हैं किन्तु भगवान् में निरतिशय होते हैं। यहाँ 'भगवान्' शब्द में जो मतुप् प्रत्यय है वह नित्ययोग या अतिशायन में है। *तात्पर्य यह है कि भगवान् में जो भग है वह आगन्तुक नहीं है, बल्कि उनका नित्ययोग है और वह निरतिशय है।

अच्छा, यदि भगवान् में नित्य निरतिशय ऐश्वर्य हो भी तो तुम्हें क्या लाभ? इसपर हमें यही कहना है कि यह हमारे हो काम तो आयेगा। और इसका प्रयोजन ही क्या हो सकता है? वस्तुतः भगवान् को तो इसकी कोई अपेक्षा है नहीं, क्योंकि वे तो आप्तकाम हैं। ऐश्वर्य का काम क्या होता है? यही न कि वह अपने आश्रय में महत्त्वातिशय या सौख्यातिशय का आधान करे। जितने गुण हैं उनकी सफलता तभी होती है जब वे अपने आश्रय में सौख्यातिशय महत्त्वातिशय का आधान करें; अतः भगवान् का ऐश्वर्य भी यदि उनमें इस प्रकार के किसी अतिशय का आधान नहीं करते तो वे भले ही अप्राकृत हों, व्यर्थ हैं। ये गुणगण शेष हैं और भगवान् उनके शेषी हैं; तथा शेष शेषी के लिये हुआ ही करता है।

अतः अब यह देखना है कि जिसमें ये गुण हैं वह निरतिशय है या सातिशय? यदि सातिशय है तब तो ऐश्वर्यादि गुण उसमें कुछ अतिशयता का आधान कर सकते हैं और यदि निरतिशय ज्ञान और आनन्द ही भगवान् का स्वरूप है तो किसी अतिशयता का आधान करने में असमर्थ होने के कारण इन गुणों का कोई प्रयोजन ही नहीं हो सकता। वेदान्तप्रक्रिया के अनुसार महत्त्वातिशय का भी आधान ब्रह्म में नहीं हो सकता, क्योंकि, ब्रह्म शब्द की व्युत्पत्ति है 'बृहत्त्वाद्ब्रह्म'—बड़ा होने के कारण वह ब्रह्म है। बृहत्, अनल्प, भूमा ये सब एक ही अर्थ के वाचक हैं। जहाँ कोई संकोचक प्रमाण होता है वहाँ तो अनल्पत्व सातिशय होता है। जैसे 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः' इस वाक्य के अनुसार समस्त ब्राह्मणों को भोजन कराना सम्भव न होने के कारण 'सर्व' शब्द का सङ्कोच करके केवल समस्त निमन्त्रित ब्राह्मणों को भोजन कराना ही समझा जाता है। यहाँ कोई प्रमाण नहीं है जिससे ब्रह्म का अनल्पत्व सातिशय निश्चय किया जाय। अतः सङ्कोचकप्रमाण का अभाव होने के कारण यहाँ वही अर्थ करना चाहिये कि जो निरतिशय बृहत् है अर्थात् जिससे बड़ा और कोई नहीं है वह भूमा ब्रह्म है। जो देश, काल या वस्तु से परिच्छिन्न हो, अर्थात् अन्योन्याभावादि चार प्रकार के अभावों में से किसी का प्रतियोगी हो वह अपरिच्छिन्न (निरतिशय) अनल्प नहीं हो

---

* भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

सकता। अतः सब प्रकार के परिच्छेद से रहित सच्चिदानन्द तत्त्व ही ब्रह्म है। ऐसा अपरिच्छिन्न तत्त्व सब प्रकार के बाध का अधिष्ठान होने के कारण अबाध्य सत् है। यदि वह अबाध्य जड़ हो तो उसके भान के लिये किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा होगी और ऐसा होने पर द्वैत होने के कारण वस्तुपरिच्छेद अनिवार्य होगा। इसके सिवा अभिज्ञों की दृष्टि में जड़ वस्तु निरतिशय बृहत् हो भी नहीं सकती। अतः ब्रह्म सत् और स्वयंप्रकाश है अर्थात् वह अपने से भिन्न किसी प्रकाशान्तर की अपेक्षा से रहित निरपेक्ष प्रकाशस्वरूप है। इस प्रकार अपने से भिन्न द्वैतादि उपद्रव-शून्य होने के कारण वह निरुपद्रुत परमानन्दस्वरूप है और अनन्त भी है। इससे भी ब्रह्म की निरतिशयता सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवत में ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये एक ही तत्त्व के नाम बतलाये हैं। **'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।'** श्री श्रीधर स्वामी का भी यही मत है। किन्तु कुछ लोगों का इससे मतभेद है। श्री जीव गोस्वामी ने तत्त्वसन्दर्भ का आरम्भ इसी श्लोक से किया है। उन्होंने ब्रह्म से परमात्मा को और परमात्मा से भगवान् को उत्कृष्ट माना है। उनका अभिप्राय कविवर माघ के इस श्लोक से स्फुट होता है—

"चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥"

अर्थात् दूर से नारदजी आ रहे थे। पहले तो समझा कि कोई तेजःपुञ्ज आ रहा है; फिर आकृति का भान होने पर मालूम हुआ कि कोई शरीरी है। उसके पश्चात् अवयव-विभाग की प्रतीति होने पर जाना कि कोई पुरुष है और फिर क्रमशः निश्चय हुआ कि नारदजी हैं। अतः श्री जीव गोस्वामी कहते हैं कि जब तक ब्रह्म दूर रहता है तब तक लोग उसे निर्गुण निर्विशेष समझते हैं। फिर उसका विशेष अनुभव होने पर उसे परमात्मरूप से जाना जाता है, किन्तु जो उसकी नित्यसन्निधि में रहते हैं उन्हें वह अचिन्त्यानन्त-कल्याणगुणगणोपेत जान पड़ता है। इस प्रकार अनुभव के उत्कर्ष के साथ उत्तरोत्तर ब्रह्म के निर्विशेष, सविशेष और साकार स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

यहाँ अपने सिद्धान्त का पोषण करने के लिये उन्होंने यह भी कहा है कि ये ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् क्रमशः ज्ञानी, योगी और भक्तों की अपेक्षा से हैं तथा इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है। परन्तु इससे पूर्व तत्त्व का लक्षण करते हुए यह कहा गया है कि **'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।'** अर्थात् जो सजातीय-विजातीय स्वगतभेदशून्य अद्वय ज्ञान है वही तत्त्व है। अतः यह बतलाना चाहिये कि लोग जो विशेषता दिखलाते हैं वह तत्त्व में है या केवल नामों में ही। यदि तत्त्व में कोई भेद न हो तो नामान्तर होने से ही उसके लक्षण में क्या अन्तर आ सकता है? जिस प्रकार यदि घट का यह लक्षण कर दिया कि 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' तो 'कलश' कहने से भी उसमें क्या

अन्तर आ सकता है ? अतः यदि तत्त्व का लक्षण '**तत्त्व यज्ज्ञानमद्वयम्**' ऐसा है तो नाम के भेद से उसमें क्या भेद हो सकता है ?

कोई लोग 'अद्वय' शब्द का अर्थ उपमारहित करते हैं। अतः उनके मत में उपमारहित ज्ञान ही अद्वय है। किन्तु 'अद्वय' शब्द का ऐसा अर्थ करना किसी प्रकार ठीक नहीं है। अद्वय का अर्थ तो देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्य ही है **"नेह नानास्ति किञ्चन"**, **"नात्र काचन भिदास्ति"** इन वचनों में 'नाना' और 'भिदा' के साथ 'किञ्चन' और 'काचन' शब्द का प्रयोग सर्व प्रकार के नानात्व और भेद का निषेध करता है।

अब यदि युक्ति से विचार किया जाय तो भगवान् को अचिन्त्यानन्तकल्याण-गुण-गणसम्पन्न मानने पर उन गुणों के कारण उनके शेषी में कोई उपकार होना भी अवश्य मानना पड़ेगा। यदि आप शेषी को सातिशय मानते हैं तब तो सिद्धान्तविरुद्ध होगा—ब्रह्म का सातिशयत्व तो किसी भी आस्तिक को मान्य नहीं हो सकता। आप जो कहते हैं कि उत्तरोत्तर सान्निध्य के बढ़ने पर भगवान् के उत्तरोत्तर विशेष रूपों का अनुभव होता है उन विशेषताओं का यही तात्पर्य है न कि वे अपने आश्रय में किसी अतिशय का आधान करें। किन्तु यदि परब्रह्म स्वरूप से ही निरतिशय है तो सान्निध्य से उसमें क्या अन्तर पड़ेगा ? यदि सान्निध्य को केवल उसकी विशेषताओं की अभिव्यक्ति का कारण मानोगे तो यह बतलाओ कि तुम्हारा वह सान्निध्य क्रियाकृत है या ज्ञानकृत। यदि क्रियाकृत है तो ब्रह्म में परिच्छिन्नता आ जायगी और यदि ज्ञानकृत है तो मायावाद का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा जो आपको अभीष्ट नहीं है।

ब्रह्म निरतिशय बृहत् है। बृहत्ता की कल्पना करते-करते जहाँ तुम शान्त हो जाओ वह ब्रह्म है। और सान्निध्य के द्वारा तुम जिस अतिशयता का आधान करना चाहते हो उसे तो हम सर्वदेशी मानते हैं। यदि कहो कि जिस प्रकार 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः'—समस्त ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिये इत्यादि वाक्यों में समस्त पद से केवल निमन्त्रित ब्राह्मण ही ग्रहण किये जाते हैं उसी प्रकार यहाँ भी कुछ सङ्कोच कर लिया जायगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ संसार के सम्पूर्ण ब्राह्मणों को भोजन कराना अभिप्रेत ही नहीं है; अतः सङ्कोच तो केवल वहीं किया जाता है जहाँ कोई सङ्कोचक प्रमाण होता है। जो वस्तु देशपरिच्छिन्न, कालपरिच्छिन्न अथवा वस्तुपरिच्छिन्न होती है उसीमें सङ्कोच किया जाना सम्भव है। निरतिशय वस्तु में कोई परिच्छेद नहीं होता, इसलिये उसमें सङ्कोच भी नहीं किया जा सकता—

"यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्।"

अतः ये 'भग' निरतिशय भगवान् में किसी सौख्यातिशय या महत्त्वातिशय का आधान नहीं कर सकते। भगवान् में किसी प्रकार के अनर्थ की सम्भावना नहीं अतः अनर्थ-निवृत्ति में भी गुणों का उपयोग नहीं हो सकता। भगवान् ने यह ऐश्वर्य भक्तों के लिये ही धारण किया है। उनकी यह काम-विजयलीला भी भक्तों के ही लिये थी। इसलिये भगवान् जो अचिन्त्यानन्तकल्याणगुणगण धारण करते हैं वे उपासकों के लिये ही हैं, जिससे कि उनकी उपासना द्वारा वे उन गुणों को प्राप्त कर सकें।

हमने यह विचार इसीलिये किया है कि जो लोग भगवान् को निरतिशय बृहत् आनन्दस्वरूप नहीं मानते उनके मत में वह ब्रह्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म, भूमा इन शब्दों का एक ही अर्थ है। इनका तात्पर्य एक ही वस्तु में है। अतः भूमा कौन है? **'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति'** न कोई और देखता है, न सुनता है और न जानता है, जहाँ कोई अन्य है वह तो अल्प ही है **'यदल्पं तन्मर्त्यम्'**। इसलिये जहाँ भूमा है वहाँ द्वैत नहीं, क्योंकि द्वैत तो वस्तुकृत परिच्छेद में ही हो सकता है। इस प्रकार जहाँ द्वैत का अभाव है वहीं अद्वैत है, इसीसे कहा है—

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्र केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात्' इत्यादि।

अब यदि आप ब्रह्म को अनल्प मानते हैं तो गुणगण कैसे? और यदि गुणगण हैं तो गुणगण और उनके आश्रय का तथा गुणों का स्वगत भेद है या नहीं? यदि उनमें भेद है तो ब्रह्म परिच्छिन्न सिद्ध होगा और इससे उसका ब्रह्मत्व ही बाधित हो जायगा।

यदि कहो कि हम ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् में भेद मानते हैं; हमारे मत में भगवान् परम अन्तरङ्ग सात्वतों के प्राप्य हैं; परमात्मा योगियों के प्राप्तव्य हैं तथा ब्रह्म अत्यन्त बहिरङ्ग ज्ञानियों का ध्येय है। इसीसे भगवान् ने भी योगी को ज्ञानियों से भी बड़ा माना है—**'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः'** और भक्तों को समस्त योगियों से उत्कृष्ट माना है।

"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥"

तो ऐसा मानने से भी उनकी अल्पता सिद्ध होती है क्योंकि तीन होने के कारण उनमें वस्तुकृत परिच्छेद तो है ही। इसलिये ऐसा मानना उचित नहीं।

हम यह तो पहले कह ही चुके हैं कि लक्ष्य का भेद लक्षण-भेद से होता है, नाम से नहीं होता। जैसा कम्बुग्रीवादि पृथुबुध्नोदरत्वादि लक्षण एक होने से घट, कलश—इन नामों का भेद होते हुए भी वस्तु का भेद नहीं होता, ठीक वैसे ही जब लक्षण में भेद नहीं है तो ब्रह्म या भगवान् आदि नामों के भेद से लक्ष्य का भेद कैसे होगा? यहाँ तत्त्व का लक्षण **'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्'** ऐसा किया है। इसलिये उसमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं हो सकता। अतः आश्रय, जो कि तत्त्व है, अनन्त है,

निरतिशय है और अद्वय है; गुणगण उसमें किसी प्रकार के अतिशय का आधान नहीं कर सकते। वे तो अपनी सिद्धि के लिये ही भगवान् का आश्रय लिये हुए हैं। भगवान् कहते हैं—

"निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।"

इस प्रकार गुणों ने यद्यपि अपनी सिद्धि के लिये ही भगवान् का आश्रय लिया है और भगवान् ने भी उनपर कृपा करके उन्हें स्वीकार कर लिया है तथापि इसका कोई अन्तरङ्ग प्रयोजन भी होना ही चाहिये। वह प्रयोजन यही है कि लोग उन अचिन्त्य-गुणगणविशिष्ट भगवान् की आराधना करेंगे और उन्हें उन गुणों की प्राप्ति होगी।

इसीसे श्री शुकदेवजी ने इस लीला के विघ्नों की निवृत्ति के लिये 'भगवान्' शब्द से मङ्गलों का भी मङ्गल किया है। इसके सिवा उन्होंने यह भी सोचा होगा कि यह लीला अत्यन्त दुरवगाह्य है, हम इसका अवगाहन करने में समर्थ नहीं हैं; परन्तु भगवान् का स्मरण करने से हम इस दुरवगाह्य का भी अवगाहन कर सकेंगे। भगवत्स्मरण से हमें भगवदैश्वर्य की प्राप्ति होगी और उससे हमें इसके वर्णन का सामर्थ्य प्राप्त होगा तथा लोक में यह भी देखा जाता है कि वक्ता को रूक्षता के कारण एक अत्यन्त मधुर-प्रसङ्ग भी रूखा जान पड़ता है और वक्ता के माधुर्य से ही किसी रूखी बात में भी सरसता आ जाती है। इसीसे कहा है—**'कवीनां रसवद्वचः'**।

हम पहले कह चुके हैं कि भगवान् शुकदेवजी को स्वयं श्री वृषभानुदुलारी और भगवान् श्यामसुन्दर ने अपनी अधर-सुधा का पान कराकर पढ़ाया था। उस युगलमूर्ति के अधरामृत पान से उनकी वाणी में कितना माधुर्य आ गया था, इसका कौन वर्णन कर सकता है? फिर भी प्रसङ्ग को दुरवगाह्य समझकर उन्होंने भगवान् का स्मरण किया।

इस प्रकार 'भगवान्' शब्द से यह तो मङ्गल और वक्ता का तात्पर्य-सूचन हुआ। परन्तु 'भगवान्' शब्द का यह अर्थ तो ऐसा है जैसे किसी अन्य कार्य के लिये लाये हुए जल के घड़े को देखकर उसे शुभ शकुन का सूचक मानकर देखनेवाले को आनन्द होता है। इसका मुख्य प्रयोजन तो दूसरा ही है। अब हम रासपञ्चाध्यायी के प्रथम श्लोक की व्याख्या आरम्भ करते हैं—

"भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः" ॥ १ ॥

सरलार्थ—उन रात्रियों में शरत्कालीन मल्लिका को विकसित हुई देखकर भगवान् ने भी योगमाया का आश्रय ले रमण करने के लिये मन किया।

विचार करने पर मालूम होता है कि इस श्लोक का तात्पर्य विरोधद्योतन में है। रमण करने की इच्छा तो अनाप्तकामों को हुआ करती है। किन्तु जब कि

भगवान् के चरणारविन्दमकरन्द का रसास्वादन करनेवाले तत्त्वज्ञ भी आत्माराम हुआ करते हैं अर्थात् वे भी रमण के लिये आत्मातिरिक्त साधन की अपेक्षा नहीं करते तो भगवान् को रमण करने की इच्छा होना तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि भगवान् ने रमण करने की इच्छा की तो अवश्य यह बहुत विरुद्ध बात है। रमणकर्ता की भगवत्ता और भगवान् का रमण करना—दोनों ही सर्वथा अनुपपन्न हैं।

यदि कहो कि स्वरूप से तो सभी जीव आप्तकाम हैं—वेदान्त-सिद्धान्तानुसार तो जितना भोक्तृ-भोग्य-वर्ग है सब ब्रह्म ही है; परन्तु जीव तो रमण करने की इच्छा करता ही है। परमात्मा से विमुख होने के कारण इसका ऐश्वर्य तिरोहित हो रहा है, भगवदुन्मुख होने पर उसका ऐश्वर्य अभिव्यक्त हो जाता है। ब्रह्मादि भी तो वस्तुतः जीव ही हैं। अतः यदि भगवान् ने भी रमण की इच्छा की तो क्या आश्चर्य है ?–तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनमें 'भग' है। उनमें समग्र ऐश्वर्य है, समग्र ज्ञान है, समग्र वैराग्य है और समग्र श्री है। जिनमें ऐश्वर्य एवं ज्ञानादि की कमी होती है उन्हींमें वासना होनी सम्भव है। किन्तु जिसमें इनकी पूर्णता है उसमें किसी प्रकार की वासना का प्रादुर्भूत होना सम्भव नहीं मालूम होता। इसके सिवा 'भगवान्' का एक दूसरा लक्षण भी है—

"उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥"

अर्थात् जो उत्पत्ति, नाश, आना, जाना तथा ज्ञान और अज्ञान को जानता है उसे 'भगवान्' कहना चाहिये।

अतः जीव और भगवान् में तो बड़ा अन्तर है। इसीसे ऐसा माना गया है कि जीव ब्रह्म तो हो जाता है, परन्तु भगवान्* नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूपतः निर्विशेष ब्रह्म से तो उसका अभेद है ही किन्तु निरतिशय ऐश्वर्य तो केवल ईश्वर में ही है, यह उसमें नहीं हो सकता। संसार में दो ईश्वर नहीं हो सकते। अतः भगवान् ने रमण करने की इच्छा क्यों की, यह प्रश्न तो खड़ा ही रहता है।

देखो, एक ही पदार्थ के लिये पङ्कज, जलज, अरविन्द एवं कमल आदि कई शब्दों का प्रयोग होता है। उसके ये नाम गुण-विशेषों की अपेक्षा से हैं। जैसे तापापनोदकरूप से उसे 'जलज' कहेंगे तथा उद्भवस्थान से वैलक्षण्य प्रदर्शित करना होगा तो पङ्कज कहेंगे। इसी प्रकार अन्य शब्दों के प्रयोग के विषय में समझो। यही बात भ्रमर, मधुप, मधुकर, अलि एवं षट्पद आदि शब्दों के विषय में भी कही जा सकती है। ये भी यद्यपि एक ही व्यक्ति के वाचक हैं तथापि 'भ्रमर' शब्द से उसकी अस्थिरता का द्योतन होता है और 'मधुप' शब्द से मिष्टप्रियता का। इसी तरह

---

* यहाँ 'भगवान्' शब्द परम-ऐश्वर्यशाली परमेश्वर का बोधक है।

यद्यपि भगवान् ब्रह्म एवं परमात्मा स्वरूपतः तो एक ही हैं, परन्तु इन शब्दों से उसके विशेष-विशेष पक्षों का द्योतन होता है। यहाँ 'भगवान्' शब्द अवश्य रमण के साथ विरोध प्रदर्शन के लिये ही है।

'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे'—भगवान् ने भी रमण करने के लिये मन किया—यह बात उनके औत्सुक्यातिशय का द्योतन करती है। अर्थात् भगवान् को रमण करने की ऐसी उत्सुकता हुई कि उन्होंने मन बना डाला; वस्तुतः तो वे **'अप्राणो ह्यमना शुभ्रः'** ही थे।

किन्तु रमण तो बिना मन के हो ही नहीं सकता। भगवान् का रमण क्या था ? यही न कि अपने सौन्दर्य-माधुर्य को गोपाङ्गनाओं की इन्द्रियों से उपभोग कराना और गोपाङ्गनाओं के सौन्दर्य-माधुर्यातिशय को अपनी इन्द्रियों से भोगना। परन्तु यदि भगवान् सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित हों तो यह भोग कैसे बन सकता है ? उसका मुख्य साधन तो मन है। इसीसे गोपाङ्गनाओं के सौन्दर्य-माधुर्यादि गुणों का समास्वादन करने के लिये भगवान् ने मन बनाया।

यदि कहो कि उन्होंने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये ही मन बनाया था तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ 'चक्रे' इस क्रिया में आत्मनेपद है। आत्मनेपद वहीं हुआ करता है जहाँ क्रिया का फल अपने लिये होता है। जहाँ क्रिया-फल दूसरे के लिये होता है वहाँ परस्मैपद हुआ करता है। इसलिये यदि भगवान् का यह कर्म भक्तों के लिये होता तो यहाँ 'चक्रे' के स्थान में 'चकार' होता।

परन्तु भगवान् को रमण की उत्सुकता होना तो सर्वथा असम्भव है। क्योंकि 'भगवान्' तो कहते ही उसे हैं जिसमें ऐश्वर्य, ज्ञान एवं वैराग्यादि की निरतिशयता हो। इस प्रकार जिसमें नित्य और निरतिशय ऐश्वर्यादि हैं और जो अपने नित्य-स्वरूप में सर्वथा तृप्त है उसे ऐसी रमणेच्छा होना तो अनुपपन्न ही है। इस अनुपपत्ति को सूचित करने के लिये ही यहाँ 'अपि' शब्द दिया है। अर्थात् यद्यपि ऐसा करना था तो अयुक्त ही, परन्तु ऐसा हो ही गया। इसका अनौचित्य हम भी स्वीकार करते हैं। यह गोपाङ्गनाओं के सौभाग्यातिशय की ही महिमा है।

यदि कहो कि इसका हेतु क्या है तो हमारा यही कथन है कि हेतु कुछ भी नहीं है। यह देखा ही जाता है कि आत्माराम मुनिजन भी भगवान् की माधुरी पर आकर्षित हो जाया करते हैं। वास्तव में तो उन्हें भी कोई कर्त्तव्य नहीं हुआ करता।

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥"

तथापि वे भगवच्चर्चा में लगे ही रहते हैं। उन्हें स्वयं भी इस बात का पता नहीं लगता कि हमारा चित्त उसमें क्यों आसक्त है। बहुत हुआ तो कह देंगे—

'इत्थंभूतगुणो हरिः'—भाई, भगवान् हैं ही ऐसे गुणवाले। किन्तु युक्तियुक्त विचार से तो यही सिद्ध होता है कि आत्माराम को किसी भी गुण से आकर्षित नहीं होना चाहिये। यदि कहो कि वे इसलिये भजन-ध्यान में लगे रहते होंगे जिससे कोई ग्रन्थि न रह जाय तो ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि वे निर्ग्रन्थ होते हैं—**'निर्ग्रन्था अपि।'** यद्यपि लोक में ऐसा देखा जाता है कि बिना प्रयोजन के कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि इनका कोई प्रयोजन भी नहीं होता। वस्तुतः भगवान् में यह गुण ही है। जिस प्रकार लोहे को आकर्षित करना अयस्कान्तमणि का स्वभाव है उसी प्रकार भगवान् भी आत्मारामों के चित्तों को अपनी ओर खींच लिया करते हैं। अयस्कान्तमणि यद्यपि सभी प्रकार के लोहे को खींच लेती है तथापि जो लोहा जितना निर्दोष होता है उतना शीघ्र आकृष्ट होता है। इसी प्रकार भगवान् भी तत्त्ववेत्ताओं के निर्मल चित्तों को अधिक आकर्षित करते हैं। यह भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्य का महत्त्वातिशय है।

इसी प्रकार यद्यपि भगवान् आप्तकाम हैं, पूर्ण हैं, निरतिशय हैं; तथापि यह गोपाङ्गनाओं का प्रेमातिशय ही था कि जिसने भगवान् को भी आकर्षित कर लिया, इससे भगवान् के माधुर्य एवं सौन्दर्यातिशय की अपेक्षा भी व्रजाङ्गनाओं के प्रेमातिशय की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। सनकादि और शुकादि भी आत्मरत थे और भगवान् भी आत्मरत हैं; परन्तु भगवान् की आत्मरति में और उनकी आत्मरति में अन्तर है। क्योंकि समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य और समग्र ऐश्वर्य तो एकमात्र भगवान् में ही है, और किसी में नहीं है तथापि भगवान् ने तो अपने सौन्दर्यातिशय से असमग्र ज्ञान-वैराग्यपूर्ण सनकादि को ही मोहित किया परन्तु गोपाङ्गनाओं ने अपने प्रेमातिशय से समग्रज्ञान-वैराग्यसम्पन्न भगवान् को भी मोहित कर लिया। इसीसे यहाँ 'अपि' शब्द का प्रयोग किया गया है।

'चक्रे' में आत्मनेपद और 'अपि' तथा 'भगवान्' पद का स्वारस्य प्रदर्शित करने के लिये ही 'ताः रात्रीः वीक्ष्य' ऐसा कहा गया है। 'तद्' पद प्रायः प्रसिद्ध अर्थ का द्योतक हुआ करता है। यहाँ 'ताः' ऐसा विशेषण देने से मालूम होता है कि वे रात्रियाँ कोई विलक्षण ही थीं। ये वे रात्रियाँ थीं जिन्हें गोपाङ्गनाओं ने **'मयेमा रंस्यथः क्षपाः'** इस वरदान से प्राप्त किया था, जिन्हें उन्होंने व्रताचरण द्वारा कात्यायनी देवी को प्रसन्न करके और फिर उनकी कृपा से श्रीकृष्णचन्द्र की प्रसन्नता प्राप्त करके उनसे वरदानरूप में प्राप्त किया था। इस प्रकार भगवान् और कात्यायनी देवी इन दोनों की प्रसन्नता से प्राप्त हुई वे रात्रियाँ अवश्य कुछ विलक्षण ही होनी चाहिये थीं।

जैसे श्रीकृष्ण-सम्मिलन के लिये व्रजाङ्गनाओं को श्रीकात्यायनी का अर्चन करना पड़ा था, वैसे ही श्रीकृष्ण को भी अपनी प्रेयसियों के मिलने के लिये महारुद्र-

रूपा वंशी का आराधन युक्त ही था। श्रीकृष्ण, उस रुद्ररूपा वंशी को अपने अमृतमय मुखचन्द्र में अधर-पल्लव पर लिटा, अधरसुधा का भोग लगाकर सुकोमल अंगुलिदलों से उसका पादसंवाहन करते हैं। सुन्दर मुकुट का छत्र और कुण्डलों की आभा से उसकी आरती करके श्रीकृष्ण रुद्ररूपा वंशी का साङ्गोपाङ्ग आराधन करते हैं।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवान् की यह लीला कामवश नहीं थी, क्योंकि यदि भगवान् कामुक होते तो इतने दिन पीछे की रात्रियों का निर्देश क्यों करते? कामुकों को तो एक क्षण युग के समान बीता करता है, वे तो दैवकृत काल-व्यवधान को भी सहन करने में असमर्थ होते हैं फिर स्वयं अपनी इच्छा से ही एक वर्ष की अवधि बढ़ाना तो उनके लिये सम्भव ही कैसे होता?

किन्तु भगवान् ने ऐसा किया क्यों? इसका उत्तर यही है कि उनका यह अवधिनिर्देश व्रजाङ्गनाओं की निष्ठा के परिपाक के लिये था। अभी तक तो उन्हें भगवान् की प्राप्ति ही बहुत दुर्लभ जान पड़ती थी, क्योंकि यदि वे भगवान् को सुलभ समझतीं तो कात्यायनी-पूजन और व्रतादि तपस्या का कष्ट सहन क्यों करतीं? तपस्या तो सर्वदा दुर्लभ वस्तु के लिये ही की जाती है और जो वस्तु दुर्लभ होती है उसके प्रति विशेष प्रेम नहीं हुआ करता। देखो, साधारण मनुष्यों को मोक्ष और साम्राज्यादि की प्राप्ति के लिये भी इतनी इच्छा नहीं होती जितनी दस-बीस रुपये और स्त्री-रमणादि प्राकृत भोगों की हुआ करती है, क्योंकि वे तो उन्हें अपने सामर्थ्य से बाहर जान पड़ती हैं। जिस वस्तु के मिलने की सम्भावना नहीं होती उसके लिये उत्कट इच्छा भी नहीं हुआ करती। अतः जब तक उन्हें भगवान् दुर्लभ प्रतीत होते थे तब तक उनके प्रति उनका उत्कट प्रेम नहीं था और भगवत्प्राप्ति का साधन एकमात्र उत्कट प्रेम ही है। अब, जब भगवान् ने प्रकट होकर उन्हें वरदान दिया तो उनको भगवद्दर्शन की योग्यता तो प्राप्त हो गयी थी परन्तु रमण की योग्यता नहीं थी। रमण की योग्यता तो तभी होगी जब भगवान् को सुलभ समझकर उनके प्रति उत्कट प्रेम हो। अतः भगवान् ने उन्हें वही साधन दिया जिससे कि वे उन्हें सुलभ समझने लगें। भगवान् के वर देने से उन्हें भगवान् की सुलभता अनुभव होने लगी और उन्हें विश्वास हो गया कि अब तो भगवान् अवश्य रमण करेंगे। जब किसी इष्ट वस्तु की प्राप्ति की सम्भावना हो जाती है तो उसकी प्रतीक्षा असह्य हो जाया करती है। अतः भगवान् के इस वरदान से उनका प्रेम इतना उत्कट हो गया जितना कि अब तक कभी न हुआ था। इसीलिये भगवान् ने एक वर्ष का व्यवधान रक्खा था।

इसका एक और भी कारण है। यह सिद्धान्त है कि प्राकृत गुणमय शरीर के साथ रमण करने की योग्यता नहीं रखता। इसके लिये अप्राकृत रसमय शरीर होना चाहिये। किन्तु इसकी प्राप्ति कैसे होती है? उसका प्रकार यह है—जिस दिन से प्राणी करुणासिन्धु श्रीभगवान् की कृपा का अनुसन्धान करता है उसी दिन से उसका

अप्राकृत रसमय शरीर बनना आरम्भ हो जाता है। इसे स्पष्टतया समझने के लिये एक बात पर ध्यान देना चाहिये। लोक में यह देखा जाता है कि ग्राह्य-ग्राहक भावों में साजात्य रहा करता है। तैजस नेत्र से तैजस रूप का ज्ञान होता है तथा आकाशीय श्रोत्र से ही आकाशीय शब्द का ज्ञान होता है। मन पाँचों भूतों के सात्त्विक अंश का कार्य है इसीलिये उससे पाँचों भूतों के गुणों का ग्रहण हो सकता है। इसी प्रकार यहाँ भी देखना चाहिये। भगवान् प्राकृत हैं या अप्राकृत ? वे तो सत्यज्ञानानन्तानन्दमूर्ति ही हैं।

"सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः

अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥"

उनके महान् माहात्म्य को समझने में तो वेदान्तविद् भी असमर्थ हैं। उनमें प्राकृत भाव का लेश भी नहीं है। दीपकलिका क्या है ? वह शुद्ध अग्निमात्र ही तो है। जिस प्रकार बत्ती और तैल को निमित्त बनाकर अग्नि ही दाहकत्व-प्रकाशकत्व विशिष्टरूप में परिणत हुआ करता है उसी प्रकार परमान्तरङ्ग अचिन्त्य-दिव्यातिदिव्य लीलाशक्ति को ही निमित्त बनाकर वह शुद्ध परमानन्दघन परब्रह्म ही भगवान् कृष्ण-रूप में प्रकट होता है।

जिस समय भगवान् ऊखल में बँध गये थे उस समय ऐसा कहा गया है—**'बबन्ध प्राकृतं यथा'**। यहाँ **'प्राकृतं यथा'** इस उक्ति का क्या तात्पर्य है ? इसका यही रहस्य है कि भगवान् प्राकृत-भिन्न हैं। गीता में भगवान् ने कहा है—

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥"

इस प्रकार जब स्वयं भगवान् ही कह रहे हैं कि जो पुरुष मेरे दिव्य जन्म-कर्म को जानता है, वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता; तो भगवान् की अप्राकृतता के विषय में किसी सन्देह का अवकाश ही कहाँ है ? वामनपुराण का वचन है—

"सर्वे देहाः शाश्वताश्च नित्यास्तस्य महात्मनः।

हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥"

इसी प्रकार की और भी बहुत सी उक्तियों से सिद्ध होता है कि भगवान् का दिव्य मङ्गल-विग्रह अप्राकृत ही है। जो लोग युक्तिवाद से उसे अनित्य या भौतिक सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं उन्हींसे श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—**'ये तु भगवतो विग्रहं लक्ष्यीकृत्य युक्तिशरानादित्सवस्ते घोरे नरके निपतिष्यन्ति अलं तैः सहालापेन।'** अर्थात् जो लोग भगवान् की दिव्य मङ्गलमयी मूर्ति को लक्ष्य करके युक्तिरूप बाणों को ग्रहण करना चाहते हैं वे घोर नरक में गिरेंगे, उनके साथ बात करने की भी आवश्यकता नहीं है।

ऐसा क्यों है ? जिस प्रकार **'परदारान्नाभिगच्छेत्'** इत्यादि निषेध वाक्यों का अतिलङ्घन करने से जीव नरकगामी होता है उसी प्रकार भगवदीय रहस्य के विषय में कुछ भी वाद-विवाद करनेवाले पुरुष को अवश्य उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है, क्योंकि भगवान् की गति अचिन्त्य है और अचिन्त्य विषयों के सम्बन्ध में तर्क करना सर्वथा निन्दनीय है--**'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।'** अतः भगवद्विग्रह के अप्राकृतत्व के विषय में किसी प्रकार की शङ्का न करनी चाहिये । उसमें, उसका अनित्यत्व सिद्ध करनेवाले, सावयवत्वादि हेतुओं का अभाव है, क्योंकि वह प्राकृतत्व आदि दोषों से रहित है ।

इस क्रम से देखें तो भगवान् अप्राकृत होने के कारण नित्य हैं । यदि कहो कि भगवद्विग्रह को अप्राकृत और नित्य मानने पर तो अद्वैतवाद भी सिद्ध न हो सकेगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रकृति की सत्ता वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार नहीं बल्कि सांख्यमतसम्मत है । वेदान्तियों ने तो **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** इत्यादि सूत्रों से उसका खण्डन किया है ।

यहाँ सांख्यवादी यह आपत्ति करता है कि **'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्'** इस उक्ति के अनुसार जब कि चेतन को सत्त्वगुण के संसर्ग से ही ज्ञान होता है तो सत्त्वगुण-वाली प्रकृति को भी ज्ञान हो ही सकता है; अतः **'ईक्षतेर्नाशब्दम्'** इस सूत्र के अनुसार भी वही जगत् का उपादान कारण होनी चाहिये । यदि कहो कि सत्त्व की अपेक्षा से रहित चेतन में ही ज्ञान (ईक्षण) होता है तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह प्रश्न होता है कि चेतन में नित्य ज्ञान है या अनित्य ? यदि नित्य कहें तब तो पुरुष की स्वतन्त्रता का व्याघात होगा । कारण, नित्य वस्तु का कर्ता के अधीन होना असम्भव है और तुम्हारे कथनानुसार ज्ञान चेतन कर्ता के अधीन होना चाहिये; इसके विपरीत यदि उसमें अनित्य ज्ञान माना जाय तो वह सहेतुक ही होना चाहिये । ऐसी अवस्था में हेतु के सम्बन्ध में भी ऐसा विकल्प होगा कि वह नित्य है या अनित्य । यदि हेतु नित्य है तो उससे नित्य ज्ञान होना चाहिये और यदि अनित्य है तो उसका भी कोई अन्य हेतु होना चाहिये, इससे अनवस्था दोष उपस्थित होगा ।

इन सब आपत्तियों का वेदान्ती इस प्रकार उत्तर देते हैं—प्रकृति में ज्ञान (ईक्षण) नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें जिस प्रकार ज्ञान का हेतु सत्त्वगुण है उसी प्रकार उसका निरोध करनेवाला तमोगुण भी है । अतः केवल चेतन में ही ईक्षण हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है । इस प्रकार यद्यपि उसमें नित्यज्ञान ही सिद्ध होता है तथापि आगन्तुक विषय के संसर्ग से उसका आगन्तुक होना भी सम्भव है ही । जैसे नित्य प्रकाशस्वरूप सूर्य में आगन्तुक प्रकाश्य के संसर्ग से सूर्य प्रकाशित करता है, इस प्रकार आगन्तुक प्रकाशन का व्यपदेश होता है । यहाँ जो प्रकाश्य है वह अनादि और अनिर्वाच्य तत्त्व है । सांख्यवादी की गुणमयी प्रकृति भी उसीके

अन्तर्गत है। परन्तु भगवच्छक्ति परम दिव्य और शुद्ध है तथा मूलप्रकृति त्रिगुणमयी एवं जड़ है। देखो, एक वृक्ष के बीज में कितनी शक्तियाँ रहती हैं। उसमें अति कठोर कण्टकजनन की भी शक्ति है और अत्यन्त मनोज्ञ सौन्दर्य-माधुर्यमय पुष्प उत्पन्न करने की भी। इन दोनों प्रकार की शक्तियों में कोई विलक्षणता है या नहीं ? जिस प्रकार इन दोनों शक्तियों में महान् अन्तर है, उसी प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मक जगत् की उत्पत्ति करनेवाली गुणमयी शक्ति और अति अलौकिक दिव्य मङ्गलविग्रह को व्यक्त करनेवाली लीलाशक्ति में भी बहुत बड़ा अन्तर है। यदि उनमें अन्तर नहीं था तो जिन सनकादि को प्रपञ्च की कारणभूता कोई भी शक्ति मोहित नहीं कर सकती थी, उन्हें भगवान् के चरण-कमलों से लगी हुई तुलसी की दिव्य गन्ध ने क्यों मोहित कर दिया ? अतः सिद्ध यह हुआ कि दिव्य भगवद्विग्रह को प्रकट करनेवाली लीला-शक्ति परा है और जगदुत्पादिनी गुणमयी शक्ति अपरा है।

इससे अद्वैतवाद में भी कोई भेद नहीं आता। जिस प्रकार जल में तरङ्गें रहती हैं और उनका जल से अभेद रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म में भी पराशक्ति अभिन्नरूप से रहती है। यह बात शुद्धाद्वैतियों को भी अभिमत है। जब उनसे पूछते हैं कि भला, शुद्ध ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, तो वे कहते हैं कि भगवान् में एक अघटितघटनापटीयान् आत्मयोग है, उसीसे प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है। इस बात को सिद्ध करने के लिये वे श्रीयशोदाजी के इस वाक्य का प्रमाण देते हैं। जिस समय माता को यह दिखाने के लिये कि मैंने मिट्टी नहीं खायी, भगवान् ने अपना मुँह खोलकर दिखलाया तो उसमें नन्दरानी को सारा ब्रह्माण्ड दिखाई दिया। यह देखकर वे बड़ी आश्चर्यचकित हुईं और सोचने लगीं कि यह क्या भेद है। क्या मुझे ही कोई भ्रम हो गया है, अथवा कोई राक्षसों का उपद्रव है ? ऐसी कोई बात तो है नहीं; अतः मालूम होता है कि यह मेरे इस बालक का ही कोई विलक्षण आत्मयोग है। उस जगह उन्होंने कहा है--

"अथो अमुष्यैव ममार्भकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः।"

यहाँ जो 'यः कश्चन' पद है, वह उस आत्मयोग की अनिर्वचनीयता द्योतित करने के लिये है।

ठीक यही बात अद्वैतवादी भी मानते हैं। यहाँ 'यः कश्चन' कहने का क्या तात्पर्य है ? हम पूछते हैं कि यह आत्मयोग भगवान् से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है, तब तो अद्वैत न रहा और यदि अभिन्न है तो भगवान् की तरह यह कूटस्थ होगा। और कूटस्थ होने पर प्रपञ्चोत्पादन में समर्थ नहीं होगा। इसलिये इसे, न भिन्न कह सकते हैं और न अभिन्न ही। अतः वह भगवान् से अव्यतिरिक्त होने पर भी भगवान् के दिव्यातिदिव्य विग्रह के प्रादुर्भाव का कारण है। इसलिये इस विषय में कोई विशेष मतभेद नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् ने जो उसी समय रमण करने की अनुमति न देकर एक वर्ष का व्यवधान किया, उसका यही तात्पर्य था कि—वे एक साल मेरी प्रतीक्षा में रहकर रसमय विग्रह प्राप्त करें। भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्यादि अप्राकृत हैं; अतः प्राकृत इन्द्रियाँ उन्हें ग्रहण नहीं कर सकतीं। उन्हें ग्रहण करने के लिये तो अप्राकृत देह और इन्द्रियों की आवश्यकता है।

किन्तु उस अप्राकृत रसमय शरीर की क्रमशः अभिवृद्धि होती है। प्राणी जितनी ही मात्रा में भगवदनुसन्धान में तत्पर होता है, उतनी ही उसके रसमय शरीर की पुष्टि होती जाती है और प्राकृत शरीर का क्षय होता जाता है। जिस समय वह पूर्णतया भगवन्निष्ठ हो जाता है उस समय उसे पूर्णतः रसमय शरीर की प्राप्ति हो जाती है और भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है। कात्यायनी-पूजन से गोपाङ्गनाओं के रसमय शरीर का आरम्भ तो हुआ, किन्तु उसकी ठीक पूर्णता नहीं हुई थी। इसीलिये भगवान् ने ऐसा नियम किया। जिस समय इष्ट वस्तु सुलभ मालूम होने लगती है उसी समय उसकी प्राप्ति की उत्सुकता बढ़ती है। कात्यायनी-पूजन के समय गोपाङ्गनाओं को भगवान् सुलभ नहीं जान पड़ते थे; इसीसे उनके प्रति उनका उत्कट प्रेम भी नहीं था।

यह नियम है कि पहले जिस वस्तु का संयोग होता है उसीके वियोग में दुःख हुआ करता है। बिना संयोग के तो प्रेम ही नहीं होता, फिर उसके अभाव में दुःख ही क्या होगा ? मनुष्य का जितना जिसके प्रति अधिक प्रेम होगा उतना ही उसके वियोग में दुःख होगा।

"यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥"

अतः जब गोपाङ्गनाओं को श्री भगवान् के श्रीअङ्ग से संस्पृष्ट वस्त्रद्वारा भगवान् का संयोग हो गया, तो उसीने वियोग होने पर, उनके हृदय में विरहाग्नि प्रज्वलित कर दी। वे जब कभी भगवान् की झाँकी करती थीं तो उनके हृदय में परमानन्द की बाढ़ आ जाती थी और उनके आँखों से ओझल होते ही विरहानल धधक उठता था।

"गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥"

जिस प्रकार सुवर्णादि के शोधन के लिये अग्निसंयोग की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार गोपाङ्गनाओं का रसमय शरीर भी तभी पुष्ट होगा जब वह भगवद्विरहाग्नि में सन्तप्त हो लेगा। इसीसे जब से भगवान् ने यह वर दिया कि 'मयेमा-रंस्यथः क्षपाः' तब से उनके प्रति उनका जो प्रेमातिशय हुआ उसके कारण उनकी

वियोगाग्नि से उनका रसमय शरीर पुष्ट होने लगा तथा उनका जो प्राकृत शरीर था, वह उस वियोगकृत सन्ताप से दग्ध हो गया। इस प्रकार एक वर्ष में वे पूर्णतया परिपक्व हो गयीं।

किन्तु सभी गोपाङ्गनाएँ एक-सी अधिकारिणी नहीं थीं। उनमें जो भगवान् की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्री वृषभानुनन्दिनी और उनकी सहचरी ललिता-विशाखा आदि हैं, वे तो नित्य-सिद्धा हैं। वे तो भगवान् की नित्य सहचरी हैं। जिस प्रकार अमृतमय समुद्र में माधुर्य होता है, उसी प्रकार भगवान् के साथ उनका अभेद ही है। यह बात श्रुतिरूपा मुनिचरी और देवकन्या आदि अन्य गोपाङ्गनाओं के विषय में समझनी चाहिये, जो कि साधनसिद्धा थीं। वे ही इस प्रकार भगवद्विप्रयोगरूप अग्नि से रसमय शरोर का सम्पादन करती थीं। नित्यसिद्धा तो केवल लोक-संग्रह के लिये ही ऐसा करती थीं। उन्हें स्वयं इसकी कोई अपेक्षा नहीं थी। उनमें भी कोई-कोई गोपाङ्गनाएँ ऐसी थीं, जो सालभर में सिद्धा नहीं हुईं; उन्हींके विषय में ऐसा कहा गया है—

"अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥"

जिस समय भगवान् ने अपनी मधुमय वेणु का वादन किया, उस समय उस वेणुनादरूप उद्दीपन-विभावद्वारा जब रससिन्धु भगवान् कृष्ण उन व्रजाङ्गनाओं के अन्तःकरणों में प्रस्फुरित हुए तो उनका मनोमल सर्वथा नष्ट हो गया और उन्हें भगवान् के वियोग में एक-एक पल असह्य हो गया। किन्तु उस समय उनके पतियों ने उन्हें घर में बन्द कर दिया था। इससे उनके हृदय में जो सन्ताप हुआ, उसे देखकर संसार के सारे अशुभ कांप उठे; उन सबने मिलकर भी किसीको उतना कष्ट पहुँचाने में अपने को असमर्थ पाया। किन्तु साथ ही उन्होंने जो ध्यानयोग द्वारा भगवान् का एक क्षण के लिये आश्लेष किया उससे उनके हृदय में जो परमानन्द का उद्रेक हुआ उसे देखकर भी अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत प्राणियों के समस्त पुण्यार्जित सुख क्षीण हो गये। उन्होंने किसीको इतना सुख पहुँचाने में अपने को असमर्थ पाया। इस प्रकार जिन गोपाङ्गनाओं के अप्राकृत रसमय शरीर की पुष्टि अभी नहीं हुई थी, वह अब हो गयी। भगवान् के विप्रयोगजनित सन्ताप से उनका गुणमय शरीर दग्ध हो गया, इसीसे कहा है—**'जहुर्गुणमयं देहम्'**।

इससे सिद्ध हुआ कि गुणमय शरीर का त्याग किये बिना भगवदाश्लेष प्राप्त नहीं हो सकता। यही वेदान्त का भी सिद्धान्त है। वहाँ भी गुणमय शरीर में अना-

सक्त होने पर ही ब्रह्मसंस्पर्श की प्राप्ति होती है और उसीसे परमानन्द का अनुभव होता है। श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है—

"बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥"

पुरुष का ब्रह्म-संस्पर्श प्राप्त करना क्या है? जिस समय श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा जीव अन्नमयादि कोशों से मुक्त होकर स्वरूपस्थ होता है, उसी समय उसे ब्रह्म के साथ अपनी अभिन्नता का अनुभव होता है। इसीलिये महावाक्य के तात्पर्यार्थ में 'तत्' और 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ लिया जाता है, वाच्यार्थ नहीं लिया जाता। यदि अवच्छेदवाद की दृष्टि से देखें तो उपाधिपरिच्छिन्न चेतन ही जीव है और उपाधिनिर्मुक्त ब्रह्म है तथा उपाधि के रहते हुए उनकी एकता का अनुभव नहीं हो सकता। प्रतिबिम्बवाद में भी, जल में प्रतिबिम्बित आकाश के समान बुद्धि-रूप उपाधि में प्रतिबिम्बित चेतन ही जीव है। उसका महाकाशरूप ब्रह्म से जलरूप उपाधि के कारण ही भेद है और उपाधि की निवृत्ति होते ही दोनों की एकता हो जाती है। इस प्रकार उपाधिकृत परिच्छिन्नता आदि दोषों का आरोप करने से ही एक अनन्त पूर्ण तत्त्व दोषवान् सा प्रतीत होता है। इसीसे कहा है—

"एकमपि सन्तमनेकमिव मन्यते।"

अतः जब तक जीव गुणमय शरीर से संसक्त है, तक तक वह ब्रह्म-संस्पर्श का अधिकारी कभी नहीं हो सकता। जिसने उपाधि का बाध करके त्वंपदार्थ का शोधन कर लिया है, वही तत्पदार्थ से अपना अभेद अनुभव करने में समर्थ हो सकता है। इसी प्रकार यहाँ गोपाङ्गनाओं को भी अपने प्राकृत शरीर का अपनोदन कर शुद्ध रसमय शरीर प्राप्त करने के लिये भगवान् ने एक वर्ष का व्यवधान रखा।

उस समय भगवान् ने जो कहा था कि **'मयेमा रंस्यथः क्षपाः'** अर्थात् तुम इन्हीं रात्रियों में मेरे साथ रमण करोगी—इसमें भी एक संदेह होता है। वह यह कि चीरहरण-लीला तो दिन के समय हुई थी और **'इमाः'** (इन) शब्द प्रस्तुत अर्थ का द्योतक है; फिर भगवान् ने **'इमाः क्षपाः'** इन रात्रियों में ऐसा निर्देश कैसे किया? यदि कहो कि वे रात्रियाँ भगवान् की बुद्धि में स्थित थीं, इसलिये यह उक्ति अयुक्त नहीं है तो ठीक है। परन्तु गोपियों को तो इनका प्रत्यक्ष नहीं था। इससे मालूम होता है कि गोपियों को वर देने की इच्छा करने पर भगवान् की सत्यसङ्कल्पता शक्ति से प्रेरित योगमाया ने इन रात्रियों को भगवान् के सामने उपस्थित कर दिया था। जैसे यदि कोई सम्राट् किसीको कोई वस्तु देना चाहता है, तो उसका भाव समझनेवाले सेवक-गण उस वस्तु को लाकर सामने उपस्थित कर देते हैं।

इसके सिवा एक शङ्का यह भी होती है कि रासलीला तो केवल एक रात्रि में ही हुई थी, फिर यह तथा चीरहरण-लीला के अनन्तर वर-प्रदान करते समय भी बहुवचन (इमाः) का प्रयोग क्यों किया गया?

उत्तर—भगवान् अनन्त-गुणमय हैं, उनके अचिन्त्य और अनन्त गुणों का आस्वादन अल्प काल में नहीं हो सकता। व्रजाङ्गनाओं ने भी किसी क्षुद्र फल के लिये कात्यायिनी-पूजन आदि कठोर तपस्या का अनुष्ठान नहीं किया था। अतः यदि उन्हें थोड़े समय के लिये ही भगवत्सुखास्वादन का अवसर प्राप्त होता तो यह उनकी तपस्या का पूरा फल हुआ न समझा जाता। भगवान् के स्वरूप-रसास्वादन के विषय में ही श्रीवृषभानुनन्दिनी का कथन था कि—अरी सखियो! भगवान् के समग्र सौन्दर्य-माधुर्य-रसास्वादन की बात तो दूर है, यदि हमें उसके एक कण का भी आस्वादन करना हो, तो हमारे प्रत्येक रोम में कोटि-कोटि नेत्र होने पर भी हम उसका सम्यक् आस्वादन करने में असमर्थ हैं। जिस समय ये नेत्र भगवान् के एक अङ्ग के दर्शन में लग जायँगे, उस समय इनका सामर्थ्य नहीं कि वहाँ से आगे बढ़ सकें।

इस विषय में ऐसी ही बात अन्यत्र कही गयी है। जिस समय भगवान् रामचन्द्र का विवाहोत्सव हुआ, उस समय उस अपूर्व शोभा को निहारने के लिये ब्रह्मा, शिव, षडानन एवं इन्द्रादि सभी देवगण वहाँ उपस्थित हो गये। भगवान् का वरवेश देखकर वे अपने को अत्यन्त बड़भागी मानने लगे। उस रूप-माधुरी का पान करने के लिये उन्हें अपने नेत्र पर्याप्त न जान पड़े; उस समय जिसके जितने अधिक नेत्र थे, उसने अपने को उतना ही अधिक भाग्यशाली समझा। ब्रह्मादि सभी देवताओं की अपेक्षा अधिक नेत्र होने के कारण देवराज इन्द्र को सबसे अधिक आनन्द हुआ और उन्होंने गौतम ऋषि के शाप को, जिसके कारण उन्हें सहस्र भग प्राप्त हुए थे और जो पीछे मुनि के प्रसन्न होने पर सहस्र नेत्र हो गये थे, अपने लिये परम हितकर माना। उनकी मनोवृत्ति को व्यक्त करते हुए श्री गोसाईंजी महाराज ने कहा है—

"रामहि चितव सुरेस सुजाना।
गौतम साप परम हित माना॥"

यह बात तो इन्द्रादि देवताओं की है। परन्तु गोपाङ्गनाएँ तो प्रेममार्ग की आचार्या हैं, उनमें भी श्रीराधिकाजी तो साक्षात् भगवान् की आह्लादिनीशक्ति हैं, उनके प्रेम की तुलना देवताओं के साथ क्या की जा सकती है? इसीसे इन्द्रादि तो भगवान् की रूपमाधुरी का अधिक से अधिक सहस्र नेत्रों से ही पान करके तृप्त हो गये, किन्तु श्रीवृषभानुनन्दिनी तो कहती हैं कि हमारे प्रत्येक रोमकूप में कोटि-कोटि नेत्र हों तब भी हम श्रीश्यामसुन्दर के सौन्दर्य के एक कण का भी यथेष्ट रसास्वादन नहीं कर सकतीं। भला प्रेम में कभी तृप्ति होती है?

यह नियम है कि वस्तु चाहे एक ही हो; किन्तु उसका जो जितना अधिक रसज्ञ होगा उसे वह उतनी ही अधिक सरस प्रतीत होगी। अरसिकों को रसमय पदार्थ भी उतना सरस प्रतीत नहीं होता। देखो, ब्रह्म सर्वत्र ही है, तथापि उसके

परमानन्द की सबको समान अनुभूति नहीं होती। उसकी स्फुट प्रतीति तो भावुक भक्तगण तथा आत्माराम मुनिजन को ही होती है।

एक चित्रकार ने एक चित्र तैयार किया और उसे वह किसी राजा के यहाँ ले गया। परन्तु राजा ने उसका कोई विशेष रहस्य नहीं समझा; केवल उदासीन भाव से उसका १०,०००) मूल्य देने को कहा। किन्तु चित्रकार ने इस मूल्य में चित्र देना स्वीकार न किया। जिस समय वह उसे लौटाकर ले जा रहा था, बीच में उसे एक राजसेवक मिला। उसने आग्रहपूर्वक वह चित्र दिखाने को कहा। जब चित्रकार ने उसे खोलकर दिखलाया तो वह राजसेवक उसका हस्तकौशल देखकर दङ्ग रह गया। किन्तु उसके पास उस चित्र को मोल लेने योग्य द्रव्य नहीं था। उस समय वह केवल एक धोती बाँधे हुए था। उसने उसमें से लँगोटीभर फाड़कर वह धोती उस चित्रकार को दे दी। चित्रकार ने भी उस धोती के बदले में ही वह चित्र उसे दे दिया।

धीरे-धीरे यह समाचार राजा के कानों तक पहुँचा। राजा ने उसे बुलाकर पूछा कि तुमने जो चित्र हमें १०,०००) में भी नहीं दिया वही हमारे एक साधारण सेवक को केवल उसकी धोती लेकर ही कैसे दे दिया ? तब चित्रकार ने कहा— राजन्! आपने उसका महत्त्व नहीं समझा था; इसलिये आप जो कुछ देते थे वह भी इसका पर्याप्त मूल्य नहीं था; किन्तु आपके सेवक ने उसका महत्त्व जाना और जो कुछ अधिक-से-अधिक वह दे सकता था वही दे भी दिया। इसलिये मैंने आपके १०,०००) की अपेक्षा भी उसकी धोती का अधिक मूल्य समझा था।

एक दिन हमने भी एक चित्र देखा था। उसमें बिल्कुल एक ही रूप की दो स्त्रियाँ बनायी गयी थीं। उन दोनों के आकार-प्रकार एवं वेश-भूषा में कोई भी अन्तर नहीं था। दोनों ही आमने-सामने शोकमुद्रा में बैठी थीं। उस चित्र को देखकर समझ में नहीं आता था कि इसका क्या रहस्य है। बहुत विचार करने पर मालूम हुआ कि इसका प्रसङ्ग इस प्रकार है—एक दिन श्रीवृषभानुनन्दिनी अपने मणिमय प्राङ्गण में बैठी थीं; उस समय उन्हें अपना ही प्रतिबिम्ब दिखाई दिया। उसे कोई अन्य नायिका समझकर उन्हें बड़ा खेद हुआ और उसका रूप-लावण्य देखकर वे सोचने लगीं कि यदि श्रीश्यामसुन्दर ने इस नायिका को देख लिया तो वे हमसे क्यों प्रीति करेंगे। वस्तुतः यह बात जो कही जाती है ठीक ही है कि श्रीभगवान् और वृषभानुदुलारी परस्पर एक-दूसरे के सौन्दर्यातिशय का तो समास्वादन कर सकते हैं परन्तु वे अपने-अपने सौन्दर्य का भोग करने में असमर्थ हैं। **'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः'** उनका सौन्दर्य स्वयं उन्हींको विस्मय में डाल देनेवाला है। यही भाव उस चित्र में व्यक्त किया गया था। किन्तु जिस प्रकार इस रहस्य को समझने से पूर्व हमें वह चित्र विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता था उसी प्रकार उस राजा को भी उस चित्रकार के लाये हुए चित्र में कोई विशेषता नहीं जान पड़ी।

तात्पर्य यह है कि वस्तु तो एक ही होती है; किन्तु जो रसज्ञ हैं उन्हें उसकी विशेष रसानुभूति होती है; अरसिकों को तो आपातदृष्टि से उसका कोई विशेष महत्त्व दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार गोपाङ्गनाएँ भगवान् के सौन्दर्य-माधुर्यातिशय की सबसे बड़ी रसज्ञा थीं; इसलिये उससे दीर्घकाल में भी उनकी तृप्ति नहीं हो सकती थी। वे कात्यायनी-पूजन और विविधविध व्रताचरण रूप तपस्या करके योगारूढ़ हुई थीं। उससे यदि उन्हें एक रात्रि के लिये ही भगवत्सान्निध्य की प्राप्ति होती तो वह उन्हें किसी प्रकार सन्तुष्ट न कर सकता। उन्हें जो महान् फल प्राप्त होनेवाला था वह तो पूर्ण ब्रह्मसंस्पर्श था और ब्रह्मसंस्पर्श ही पूर्ण योगारोहण है। किन्तु यदि यह अल्पकाल के लिये होता तो उससे कैसे तृप्ति हो सकती थी? अतः उन्हें उनकी तपस्या का पूर्ण फल प्रदान करने के लिये भगवान् की योगमाया ने एक ही रात्रि में अनन्तकोटि ब्राह्म रात्रियों का समावेश किया था। इसीसे **'इमाः क्षपाः'** और **'ताः रात्रीः'** इन बहुवचनों का प्रयोग किया गया है। वेदान्त का यह सिद्धान्त है कि अल्प-काल में अनन्त काल का और अल्प देश में अनन्त देश का समावेश किया जा सकता है। स्वप्न में हम देखते ही हैं कि एक क्षण में ही वर्षों के प्रसङ्ग का अनुभव हो जाता है। योगवाशिष्ठ में पाषाणोपाख्यान में एक शिला के भीतर ही ब्रह्माण्ड का प्रदर्शन कराया गया है तथा राजा लवण के उपाख्यान में भी दो-ढाई घड़ी के भीतर ही वर्षों के प्रसङ्ग का अनुभव कराया गया है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रहरचतुष्टयवती एक ही रात्रि में अनन्तकोटि ब्राह्म रात्रियों का समावेश किया गया है, जिससे उनकी चिरकालीन भगवत्सम्भोगलालसा की पूर्णतया पूर्ति हो।

भगवान् के आलिङ्गन का कितना महत्त्व है? इसका वर्णन हम कहाँ तक कर सकते हैं। हनुमान्‌जी की अद्भुत सेवाओं से सन्तुष्ट होकर भगवान् ने कहा था—

"एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥"

अर्थात् हे कपे! मैं तुम्हारे एक-एक उपकार के बदले अपने प्राणों का समर्पण कर सकता हूँ; फिर भी वे बचे ही रहेंगे और उनके लिये हमें ऋणी रहना पड़ेगा। उन्हीं हनुमान्‌जी को उन्होंने अपना अद्भुत आश्लेष प्रदान करते हुए कहा था—

"एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गोऽयमद्भुतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तो ह्यस्य महात्मनः॥"

भक्तों का सर्वस्वभूत यह भगवदाश्लेष वस्तुतः अत्यन्त दुर्लभ है। यह तो ब्रह्मा एवं सनकादि को भी प्राप्त होना कठिन है। इसीको ब्रह्म-संस्पर्श भी कहते हैं।

किन्तु यदि यह ब्रह्मसंस्पर्श बाह्यस्पर्शों के समान क्षणिक ही हुआ तो इसमें विशेषता ही क्या हुई। भगवत्सम्मिलन कभी अस्थायी नहीं हुआ करता; भगवान् की प्राप्ति हो जाने पर तो फिर पुनरावृत्ति ही नहीं होती **'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न**

विद्यते ।' इसी दृष्टि से भगवान् ने एक रात्रि में ही अनन्त ब्राह्म रात्रियों का समावेश करके उन्हें अगणित रात्रियों का अनुभव कराया।

'रात्रीः' शब्द का अर्थ निशा तो है ही, किन्तु इसके सिवा इसका दूसरा तात्पर्य भी हो सकता है। **'रा दाने'** इस कोश के अनुसार **'रा'** धातु का अर्थ **'देना'** है, उसमें **'तृन्'** प्रत्यय जोड़ने पर **'रात्री'** शब्द सिद्ध होता है, जिसका अर्थ **'देनेवाली'** है। अर्थात् गोपाङ्गनाओं को अभीष्ट भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का सौन्दर्य-समास्वादन, उसे देनेवाली रात्रियाँ। **'रात्रीः'** शब्द के पहले जो **'ताः'** विशेषण है वह उन रात्रियों की विलक्षणता द्योतित करता है। **'ताः रात्रीः'** अर्थात् जिनके चरणों का आश्रय लेनेवाले योगीन्द्र-मुनीन्द्रों को भी अपने अभीष्ट तत्त्व की प्राप्ति होती है, उन्हीं गोपाङ्गनाओं की अभिलाषाओं को पूर्ण करनेवाली होने के कारण वे रात्रियाँ विलक्षण थीं ही।

यह दानशीला रात्रियाँ इसलिये अत्यन्त विलक्षण हैं क्योंकि पात्र और देय के महत्त्व से दान का महत्त्व होता है। श्री व्रजांगना जैसे सर्ववन्द्य पात्रों के लिये निखिल रसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण तत्त्व का प्रदान करनेवाली हैं और श्रीकृष्ण जैसे परमपावन पात्र के लिये उन श्रीवृषभानुनन्दिनी का प्रदान किया, जिनके लिये श्रीकृष्ण उत्सुक और लालायित थे। अन्न, वस्त्र, रत्न, भूमि आदि समस्त दानों से ब्रह्मदान सर्वोत्कृष्ट है, समस्त पात्रों में ब्रह्मवित् ही सर्वश्रेष्ठ पात्र है। इसके सिवा जो अधिकारी भी हो और जिसके लिये लालायित हो उसके लिये उस वस्तु का दान बहुत प्रशस्य होता है। यहाँ व्रजाङ्गना सर्वोत्कृष्ट पात्र हैं और श्रीकृष्ण रस के लिये उत्कण्ठित हैं। अतः उन्हें श्रीकृष्ण जैसे दिव्य-रस का प्रदान करनेवाली वे रात्रियाँ धन्य हैं। उनसे भी उत्कृष्ट पात्र सर्वाराध्य श्रीकृष्ण हैं और वे श्रीरासेश्वरी-सम्मिलन के लिये लालायित भी हैं। अतः उनके लिये भी यह दान महत्त्व का है।

'ताः' का तात्पर्य **'तदात्मिकाः'** अर्थात् भगवद्रूपा भी हो सकता है, क्योंकि भगवान् का रमण और रमणसामग्री जो कुछ भी होगा अप्राकृत ही होगा; प्राकृत पदार्थों से उनका रमण होना असम्भव है। जैसे वृन्दावन भगवद्रूप है वैसे ही वहाँ की रात्रियाँ भी भगवद्रूपा हैं।

वे रात्रियाँ कैसी हैं ? **'शरदोत्फुल्लमल्लिका'** :—

'शरदायामपि उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितानि अशेषपुष्पाणि यासु ताः।'

अर्थात् शरत्काल में मल्लिका से उपलक्षित समस्त पुष्प खिले हुए हैं वे रात्रियाँ। नियम तो ऐसा है कि कई तरह के पुष्प दिन में खिलते हैं, कई रात्रि में तथा कई ग्रीष्म में खिलते हैं और कई शरद् ऋतु में। किन्तु उस शरद् ऋतु की रात्रि में सभी पुष्प अपने नियमों को छोड़कर खिल गये थे। इसी प्रकार चित्रकूट पर भगवान् राम के निवास करते समय वहाँ के फलों ने अपनी ऋतुओं का नियम छोड़ दिया था। श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

"सब फल फल्यो रामहित लागी।
रितु-अनरितुहि कालगति त्यागी॥"

उसी प्रकार इस समय मानो सभी पुष्पों ने यही सोचा था कि हमारी शोभा और सुगन्ध की सार्थकता इसीमें है कि हम श्री भगवान् की प्रसन्नता सम्पादन करने में समर्थ हो सकें। जहाँ सारी प्रकृति अपनी प्रजाओं के साथ प्रभु की सेवा में उपस्थित होना चाहती है वहाँ ये पुष्पादि उद्दीपन विभाव भी प्रभु की प्रसन्नता सम्पादन करने को उत्सुक हो रहे हैं। अतः मानो अपनी सार्थकता के लिये ही वे भावोद्दीपन में सहायक हो रहे हैं।

ऐसी रात्रियों को देखकर भगवान् ने रमण करने को मन किया। अर्थात् उचित काल और उद्दीपन सामग्री देखकर ही भगवान् ने अपनी प्रियतमाओं के साथ रमण करने के लिये उनका स्मरण किया। यहाँ '**वीक्ष्य**' शब्द से साभिलाष दर्शन अभिप्रेत है, क्योंकि ये सब सामग्रियाँ भावोद्दीपन करनेवाली थीं। अतः इसका यह तात्पर्य भी हो सकता है—'**शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रीः ताश्च वीक्ष्य।**' अर्थात् शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियों को और उन्हींके द्वारा प्रियतमा गोपाङ्गनाओं को देखकर (उन्होंने रमण करने को मन किया)।

'**ता**': अर्थात् '**स्वस्वरूपभूता व्रजाङ्गनाः।**' इनके दो भेद हैं—एक तो वे जो नित्यसिद्धा हैं और दूसरी वे जो भृङ्गीकीट-न्याय से भगवद्रूपा हो गयी थीं। जिस प्रकार कीट भृङ्गी से व्यतिरिक्त होने पर भी भावनातिशय के कारण भृङ्गीरूप हो जाता है, उसी प्रकार ये गोपाङ्गनाएँ स्वरूपतः भगवान् से भिन्न होने पर भी अनुरागातिशय के कारण भगवद्रूपा हो गयी थीं। वे कहाँ थीं? '**मनःसमुपस्थितः मनसो गोचरीभूताः**' अर्थात् वे भगवान् की मानसिक दृष्टि के सामने थीं! उन्हें दयार्द्र दृष्टि से देखकर भगवान् ने रमण की इच्छा की।

इसके सिवा '**ताः**' शब्द बहुवचनान्त होने के कारण '**तत्**' पद से निर्दिष्ट होने योग्य अनन्त पदार्थों का वाचक हो सकता है। हम '**ताश्च ताश्च ताश्च ताः**' इस प्रकार '**ताः**' पद से कही जानेवाली तीन प्रकार की गोपाङ्गनाओं का विचार करते हैं। इनमें पहले '**ताः**' से श्रुतिरूपा मुनिचरी और अन्य समस्त साधनसिद्धा गोपाङ्गनाएँ कही गयी हैं।

उनमें भी जो श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ वाच्य-वाचक के अभेद रूप से ब्रह्मरूपा ही हैं वे दूसरे '**ताः**' से ग्रहण की जाती हैं। ॐकार मूलवाचक है, उसका वाच्य परब्रह्म है। समस्त वाङ्मय ॐकार का विकार है और सारा प्रपञ्च ब्रह्म का कार्य है। अतः ॐकार का विकारभूत समस्त वाङ्मय ब्रह्म के कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपञ्च का वाचक है। वाच्य और वाचक का अभेद हुआ करता है; इसलिये समस्त वाङ्मय भी वस्तुतः ब्रह्मरूप ही है।

इसके सिवा श्रुतियों के अवान्तर तात्पर्य अन्य होने पर भी उनका प्रधान तात्पर्य तो ब्रह्म में ही है। शब्द से दो बातों का बोध हुआ करता है—जाति और व्यक्ति। त्वतलादि प्रत्ययवेद्य जाति भावरूप ही होती है। **'तस्य भावस्त्वतलौ'** इस पाणिनि-सूत्र के अनुसार घट की भावरूप जाति ही घटत्व है, वह वस्तुतः एक भाव-विशेष में स्थित मृत्तिका ही है। इस प्रकार घट का वाचक 'घट' शब्द भी मूलतः उसके कारण मृत्तिका का ही बोधन करता है। इसी प्रकार जितने शब्द हैं वे सब अपने अभिधेय विभिन्न पदार्थों के मूल कारण परब्रह्म के ही वाचक हैं। अतः अवान्तर श्रुतियों का भी मुख्य तात्पर्य तो परब्रह्म में ही है। विचार किया जाय तो वस्तुतः वाच्य-वाचक का भेद भी नहीं है। ये दोनों भी एक ही चेतन के विवर्त्त हैं। अभिधेय-प्रपञ्चजननानुकूल शक्त्यवच्छिन्न चेतन का विवर्त्त अभिधेय है और अभिधा-नात्मक-प्रपञ्चजननानुकूल-शक्त्यवच्छिन्न चेतन का विवर्त्त अभिधान है। जिस प्रकार एक ही समुद्र में अनन्त तरङ्गें प्रादुर्भूत हो जाती हैं उसी प्रकार एक ही परब्रह्म में अभिधान-अभिधेय रूप अनन्त तरङ्गें प्रादुर्भूत हो गयी हैं। किन्तु **'तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वनियमात्'** इस न्याय के अनुसार तरङ्गाभिन्न समुद्र के साथ तरङ्गों का अभेद होने के कारण उनका आपस में भी अभेद है।

यह बात तो तरङ्ग से तरङ्गान्तर के अभेद की रही। किन्तु मूल दृष्टि से तो अभिधानात्मक तरङ्ग जिस समुद्र में है लक्षणा-वृत्ति से वह उस समुद्र का ही बोधन करती है; हाँ, तरङ्गान्तर को वह अभिधावृत्ति से बोधित करती है, क्योंकि किसी की भी शक्ति अपने शक्य में ही सफल हुआ करती है, अपने कारण में नहीं होती। दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि शक्तियोंवाला अग्नि अपने दाह्य काष्ठादि को ही दग्ध कर सकता है, अपने स्वरूपभूत अग्नि का दहन नहीं कर सकता। किन्तु मूल रूप से तो तरङ्गें समुद्र से भिन्न नहीं हैं। यद्यपि यह दूसरी बात है कि **'अकारो वै सर्वा वाक्'** इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण वाङ्मय-प्रपञ्च का अकार में और अकार का उकार में और उकार का मकार में तथा उसके पश्चात् सम्पूर्ण प्रपञ्च का तुरीय में लय होता है।

तात्पर्य यही है कि अभिधानात्मिकता श्रुतियाँ अनन्त चैतन्यानन्दसुधासिन्धु की तरङ्गों के समान हैं और वे अभिधेय रूप उसकी अन्य तरङ्गों के साथ वृद्धि को प्राप्त होकर प्रकाशित होती हैं, क्योंकि अभिधेय अर्थ उनके शक्य हैं। श्रुतियाँ अपने उद्गमस्थलभूत परमतत्त्व का तो लक्षण से ही बोध कराती हैं। यद्यपि किसी दृष्टि से 'घट' शब्द का वाच्य घटाकार में परिणत मृत्तिका भी हो सकती है तथापि लोक में 'घट' पद की वाच्य घट व्यक्ति ही समझी जाती है। इसी प्रकार अभिधानात्मक ब्रह्मतरङ्ग का वाच्य अभिधेयात्मक ब्रह्मतरङ्ग है, परन्तु है लक्षण से।

फिर मीमांसकों ने तो जाति में ही शक्ति मानी है; जाति घटत्वादि को कहते हैं, जिसे घटभाव भी कहा जा सकता है। घट कार्य है; कार्य का भाव कारण से व्यतिरिक्त नहीं हुआ करता, समस्त कार्यों का भाव कारण में ही पर्यवसित होता है। अतः समस्त शब्दों की वाच्यता का पर्यवसान कारणपरम्परा-क्रम से सन्मात्र में ही होता है। इसलिये सारे शब्दों का वाच्य परमात्मा ही है। इस प्रकार वाच्य-वाचक का अभेद है और समस्त श्रुतियाँ तत्पदार्थ से अभिन्न ही हैं। अतः यहाँ 'ताः' शब्द से सभी श्रुतियाँ ग्रहण की जाती हैं।

श्रुतियाँ दो प्रकार की हैं—अन्यपरा और अनन्यपरा। अनन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं जो साक्षात् रूप से परब्रह्म में पर्यवसित होती हैं—जैसे **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**, तथा अन्यपरा श्रुतियाँ वे हैं जिनका साक्षात् तात्पर्य तो देवतादि में है किन्तु परम्परा से उनका महातात्पर्य परब्रह्म में ही होता है। जैसे **'इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा'** इत्यादि। उन्हें ही ऊढा और अनूढा अथवा अन्यपूर्विका और अनन्यपूर्विका भी कह सकते हैं। अर्थात् एक तो वे गोपियाँ जो केवल कृष्णपरायण हैं और दूसरी वे जो श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य पुरुषों के साथ विवाही गयी हैं। इनके ये दो भेद भी प्रतीतिमात्र के लिये हैं, वास्तविक नहीं। वरुणादि देवताओं में श्रुतियों का तात्पर्य तभी तक जान पड़ता है जब तक **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** इस वाक्य के अनुसार उनका महातात्पर्य एकमात्र परब्रह्म में ही नहीं जान पड़ता। वास्तव में तो जिस प्रकार तरङ्गें समुद्र से भिन्न नहीं हैं और घटादि मृत्तिका से भिन्न नहीं हैं उसी प्रकार उपक्रम-उपसंहारादि षड्विध लिङ्ग से समस्त श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म में ही है।

किन्तु फिर भी लीलाविशेष के विकासार्थ वस्तुतः अनन्यपरा श्रुतियों में भी अन्यपरात्व की प्रतीति होती है; अन्यथा यदि भगवान् को झगड़ा मचाकर आनन्द लेना न होता तो ऐसे अस्पष्ट शब्दों में अपने स्वरूप का वर्णन क्यों करते? सीधे-सीधे अपना तात्पर्य व्यक्त कर देते। इससे मालूम होता है कि यह सब भगवान् की लीला ही थी। इसीसे कोई उन्हें निर्गुण मानते हैं, कोई सगुण मानते हैं, कोई निर्गुण-सगुण उभय रूप मानते हैं और कोई नहीं भी मानते। तथापि इन विविध मन्तव्यों में से किसीसे भी भगवान् क्षुब्ध नहीं होते। इसीसे कहा है—

"यच्छक्तयो वदतां वादिनां वै विवादसंवादभुवो भवन्ति।
कुर्वन्ति चैषां मुहुरात्ममोहं तस्मै नमोऽनन्तगुणाय भूम्ने॥"

अर्थात् जिन भगवान् की अनन्त शक्तियाँ समस्त वादियों की बुद्धियों की आश्रय होती हैं—क्योंकि सम्पूर्ण विरुद्ध भावों के आस्पद भगवान् ही तो हैं—उन्हें भावुक लोग नमस्कार करते हैं। इस प्रकार भगवान् स्वरूप से भी अनेक रूपों में आविर्भूत होते हैं और अनेक शब्द रूप से भी प्रकट होते हैं।

यह सब भगवान् की लीला ही है। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'। एक का अनेकत्व, निष्प्रपञ्च का प्रपञ्चरूपत्व उनका खेल ही है। परन्तु यह खेल निरर्थक नहीं है। प्रत्येक लीला, करनेवाले के तो विनोदार्थ ही होती है; अतः यह भगवल्लीला भी भगवान् के तो विनोदार्थ ही है। परन्तु अन्य जीवों के लिये यह उनके कल्याण का साधन है। वे अनेकविध शब्दों से अपने ही विभिन्न रूपों का बोध कराते हैं। सब जीवों का एक-सा अधिकार नहीं है। कोई सकाम कर्म के अधिकारी हैं, कोई निष्काम कर्म करने योग्य हैं, किन्हींको भगवान् के सगुण रूप की ही उपासना करनी चाहिये, कोई निर्गुणोपासना में प्रवृत्त हो सकते हैं और कोई अभेदचिन्तन के अधिकारी हैं। अपने-अपने अधिकारानुसार ये सब भगवान् का ही भजन करनेवाले हैं। सब लोगों की गति निष्प्रपञ्च ब्रह्म में ही नहीं हो सकती। अतः भगवत्साक्षात्कार के लिये क्रमशः इन सभी सोपानों का अतिक्रमण करना होता है। यद्यपि यह बात अपने अधीन ही है कि हम कर्म न करें, परन्तु ऐसे कितने आदमी हैं जो बिना कर्म किये रह सकते हों? यही बात मन के विषय में भी है। यद्यपि सभी चाहते हैं कि मन निस्पन्द हो जाय और उसकी निस्पन्दता है भी अपने ही अधीन, तथापि इसमें सफलता पानेवाले कितने लोग हैं? अतः सब जीवों के यथायोग्य साधन की व्यवस्था करने के लिये ही भगवान् प्रपञ्चाकार में परिणत हो जाते हैं। यही उनकी प्राप्ति का क्रम है। इस क्रम से बढ़ते-बढ़ते जब तक जीव निष्प्रपञ्च ब्रह्म में परिनिष्ठित नहीं होता तब तक उसे कृतार्थता नहीं हो सकती।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि भगवान् ने प्रपञ्च की रचना की ही क्यों? इसपर हमें यही कहना है कि आरोप होने पर ही उसके अधिष्ठान का अनुसन्धान किया जाता है। अधिष्ठान है, इसलिये आरोप की कल्पना नहीं की जाती, जैसे कि कहा है—

"सत्यारोपे निमित्तानुसरणं नतु निमित्तमस्तीत्यारोपः।"

जिस प्रकार यदि मृत्तिका है तो यह नहीं कह सकते कि घट बनना ही चाहिये; हाँ, घड़े को देखकर उसकी कारणभूता मृत्तिका का अनुमान अवश्य किया जाता है। कार्य तो कारण का व्यभिचारी हो सकता है, किन्तु कारण कार्य का व्यभिचारी नहीं होता। अतः हम प्रपञ्च रूप कार्य की अपेक्षा से उसके कारणभूत परब्रह्म का निश्चय करते हैं; परब्रह्म के प्रपञ्च-निर्माण के प्रयोजन का अनुमान नहीं कर सकते। इसी प्रश्न के उत्तर में यह विचार भी आ जाता है कि कार्य में कारण के सर्वांश की अनुवृत्ति नहीं हुआ करती। जिस प्रकार माला में सर्प का अध्यास होने पर जो 'अयं सर्पः' ऐसा बोध होता है उस समय उसमें माला के आकार एवं इदमंश का तो अनुवेध होता है, किन्तु बहुमूल्यत्व का अनुवेध नहीं होता। इसके सिवा इसका दूसरा न्याय यह भी हो सकता है—

**"विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ।
समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत् ॥"**

अर्थात् विषय (अधिष्ठान) के रूप से ही अध्यस्त पदार्थ रूपित होता है, किन्तु उसके सभी गुणों की उसमें अनुवृत्ति नहीं होती । इसी प्रकार सम्पूर्ण प्रपञ्च का महाकारण जो परब्रह्म है वह सच्चिदानन्दस्वरूप है । उसके सत् और चिदंश की तो समस्त पदार्थों में अनुवृत्ति होती देखी गयी है, परन्तु आनन्दांश का सर्वत्र अनुवेध नहीं होता ।

इस प्रकार, क्योंकि लीलाविशेष के लिये भगवान् ही प्रपञ्चरूप से स्थित हुए हैं, भिन्न श्रुतियाँ भी उन्हींके विभिन्न रूपों का प्रतिपादन करती हैं। कई श्रुतियाँ भगवान् के निर्विशेष रूप का प्रतिपादन करनेवाली हैं—'**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्**' और कई उनके सविशेष रूप का प्रतिपादन करती हैं, जैसे—

"अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।"

इत्यादि । और कोई अन्नमयरूप से उन्हींका प्रतिपादन करती हैं—जैसे '**अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् ।**' इसी प्रकार और भी सब श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न रूप से एक ब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं ।

परन्तु एक ही वस्तु में—एक ही सत्ता में अनेक विकल्पों का होना सम्भव नहीं है । क्रिया में तो विकल्प होना बहुत सम्भव है, जैसे हम घोड़े पर चढ़कर जा भी सकते हैं और नहीं भी जा सकते; परन्तु वस्तु में ऐसा भेद नहीं हो सकता । अतः एक ही ब्रह्म सगुण भी है और निर्गुण भी, यह सत्ताभेद से तो माना जा सकता है, परन्तु एक सत्ता में ऐसा होना सम्भव नहीं है; जिस प्रकार एक ही मृत्तिका उपाधि-भेद से तो घट, शराब और कूँडा आदि भेदवती प्रतीत होती है, परन्तु निरुपाधिक रूप से उसमें कोई भेद नहीं है । अतः श्रुतियों का परम तात्पर्य भले ही एक ही वस्तु में हो किन्तु उनका अवान्तर तात्पर्य तो अन्य में ही हो सकता है । इन अवान्तर तात्पर्यों को लेकर ही सारे वाद-विवाद होते हैं । परन्तु इससे भी कोई हानि नहीं है, क्योंकि उन विभिन्न अर्थों का भी महातात्पर्य तो एकमात्र भगवान् में ही है । अतः जो लोग अत्यन्त अश्रद्धालु हैं उनका ईश्वरखण्डन भी अच्छा ही है, क्योंकि उस अवस्था में भी वे खण्डनात्मक रूप से भगवान् का ही चिन्तन करेंगे । भगवान् तो ऐसे कृपालु हैं कि '**भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ**' किसी प्रकार उनका चिन्तन किया जाय, वे कृपा ही करते हैं । इसीलिये शिशुपाल और कंसादि को भी अन्त में भगवद्धाम की ही प्राप्ति हुई बतलायी गयी है । किन्तु वेन की अधोगति हुई, क्योंकि उसका भगवान् के प्रति वैर भी नहीं था । उसकी तो उपेक्षादृष्टि थी ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्र में सभी प्रकार के अधिकारियों के उद्धार का साधन विद्यमान है । यहाँ तक कि श्रुति में नास्तिकवाद का मूल भी मिलता है; यथा—

"असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायते।"

(छा० ६।२।१)

कहीं-कहीं 'असत्' शब्द का अर्थ 'अव्यवहार्य' भी है। जैसे—कहते हैं कि मिट्टी में घट नहीं है, क्योंकि यद्यपि उसमें कारणरूप से घट है तथापि अव्यवहार्य होने के कारण उसे असत् कहा जाता है। किन्तु यहाँ तो 'असत्' का तात्पर्य शून्य में ही है, क्योंकि आगे—

"कथमसतः सज्जायेत।" (छा० ६।२।२)

ऐसा कहकर उसका खण्डन कर दिया गया है।

अतः जिस प्रकार भगवान् ही अनेक रूप से प्रकट होते हैं उसी प्रकार यहाँ भी अनन्यपूर्विका व्रजाङ्गनाओं में ही लीलाविशेष के विकासार्थं अन्यपूर्विकात्व की प्रतीति होती थी। भगवान् तो पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हैं। उनके साथ प्राकृत प्राणियों का संसर्ग कैसे हो सकता था? अतः ये सब व्रजाङ्गनाएँ स्वरूपतः तो सच्चिदानन्दरूपा ही थीं। पहले यह भी बतलाया जा चुका है कि अभिधानरूपा श्रुतियाँ और अभिधेय-रूप देवता ये सभी वस्तुतः एक ही हैं। परन्तु मूलतः अभिन्न होने पर भी साधकों के कल्याणार्थं भगवान् को शब्द का आविर्भाव करना ही पड़ता है; अन्यथा महाप्रलय में भी भगवान् ने जीवों को मुक्त क्यों नहीं कर दिया? इसका कारण यही था कि वहाँ कल्याणकारिणी सामग्री का अभाव था। अतः परमदयालु और करुणामय होने पर भी भगवान् कल्याण का क्रम रखते हैं। यदि उन पापी, पुण्यात्मा सभी का अक्रम से उद्धार कर दिया करते तो बात ही बिगड़ जाती। अतः प्रपञ्च के मूलभूत अनादि अज्ञान की निवृत्ति के लिये उन्होंने सभी प्रकार के वाक्यों का आविर्भाव किया है। श्रुतिरूप अभिधान और उनका लक्ष्य ब्रह्म, ये ऐसे ही हैं जैसे तरङ्ग और समुद्र। यह तरङ्ग और समुद्ररूप भेद इसीलिये है कि इसके बिना उनका ऐक्यबोध नहीं हो सकता। यदि भेद न हो तो लक्षण कैसे बने? जीव अपने अनादि अज्ञान का निवारण तभी कर सकता है जब वह परब्रह्म के साथ उसके कार्यभूत सम्पूर्ण प्रपञ्च का अभेद अनुभव करे; और उस भेद का निवारण महावाक्यरूप से उत्पन्न होनेवाले बोध के द्वारा ही हो सकता है। किन्तु सब लोग आरम्भ में ही उस अभेद का अनुभव नहीं कर सकते। अतः उस योग्यता की प्राप्ति के लिये अन्यपरा श्रुतियों द्वारा अन्यान्य पदार्थों का निरूपण किया गया है। वास्तव में तो समस्त श्रुतियाँ और उनके प्रति-पाद्य भी अनन्य ही हैं।

यहाँ व्रजाङ्गनाओं में अनन्यपरा श्रुतियाँ ही अनूढा हैं और अन्यपरा ही ऊढा हैं। परन्तु जिस समय '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**' इस सिद्धान्त का निश्चय हो जायगा उस समय यही निश्चय होगा कि वस्तुतः ब्रह्मपरा में ही लीलावश अब्रह्म-परात्व की प्रतीति हुआ करती है। अतः गोपियों का दूसरे गोपों के साथ विवाह

जाना भी केवल विभ्रम ही है। वस्तुतः उनके परमपति तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही थे। उनका अन्यपूर्विकात्व तभी तक अनिवार्य रहेगा जब तक भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वात्मकता सुनिश्चित नहीं होगी।

परन्तु इस बात का निश्चय भा शास्त्राधार पर ही हो सकेगा; अन्यथा साधारण पुरुषों को तो अविचारवश रासक्रीड़ा में व्यभिचार की ही गन्ध आयेगी। परन्तु श्रीमद्भागवत में तो कहा है कि जिन गोपों की स्त्रियाँ रासक्रीड़ा में सम्मिलित हुई थीं उन्होंने भी उन्हें अपने पास ही देखा—'**मन्यमाना स्वपार्श्वस्थान्स्वान्स्वान्दारान्व्रजौकसः।**' यदि कहा जाय कि यह उनकी भ्रान्ति थी तो हम कहते हैं कि गोपों को उनके पत्नीत्व की ही भ्रान्ति क्यों न मानी जाय। यह प्रसङ्ग तो श्रीमद्भागवत में आता ही है कि एक वर्ष के लिये सर्वथा भगवान् ही गोपाल और वत्सरूप हो गये थे। सम्भव है, ये व्रजाङ्गनाओं के पति गोपरूप गोविन्द ही हों।

अतः सिद्ध हुआ कि यह अनन्यपूर्विका व्रजाङ्गनाओं में ही अन्यपूर्विकात्व की प्रतीति थी, जिस प्रकार कि अनन्यपरा श्रुतियों में ही अन्यपरात्व की प्रतीति होती है। यहाँ जिस तरह प्रपञ्च-रचना में दो हेतु बतलाये गये हैं—एक तो भगवान् की लीला और दूसरा जीवों को कल्याण के साधन प्राप्त कराना, उसी प्रकार इस रासलीला के भी दो ही प्रयोजन थे। प्रथम तो भगवान् की यह लीला प्रेमरस के विकास के लिये थी। यहाँ एक ही तत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण और गोपीरूप से आविर्भूत हुआ है। यह प्रेमलीला थी, इसलिये यहाँ उसे नायक और नायिकारूप में परिणत होने की आवश्यकता थी। क्योंकि प्रेम का मुख्य आलम्बन नायक के लिये नायिका है और नायिका के लिये नायक। साहित्यशास्त्र में शृङ्गाररस सबसे उत्कृष्ट माना गया है। वस्तुतः उसके द्वारा परमानन्द की जैसी स्फुटस्फूर्त्ति होती है वैसी और किसी रस से नहीं होती। शृङ्गार अथवा प्रेमरस स्वतः निर्विशेष है। जिस समय उसका आलम्बन भगवान् होते हैं तो वह परमपवित्र प्रेम माना जाता है और जिस समय उसका आलम्बन अस्थि-मांसमय नायक या नायिका होते हैं तो अत्यन्त अधोगतिमूलक काम कहते हैं। किन्तु यहाँ नायक-नायिका रूप में भी शुद्ध सच्चिदानन्दघन ही हैं। अतः रसवृद्धि के साथ यहाँ निकृष्ट आलम्बनजनित मलिनता की तनिक भी सम्भावना नहीं है।

इन नायिकाओं में जो अनन्यपूर्विका थीं उन्हें स्वकीया कहा गया है और जो अन्यपूर्विका थीं उन्हें परकीया। स्वकीया नायिका को नायक का सहवास सुलभ होता है, किन्तु परकीया में स्नेह की अधिकता रहती है। कई प्रकार की लौकिक-वैदिक अड़चनों के कारण वह स्वतन्त्रतापूर्वक अपने प्रियतम से नहीं मिल सकती, इसलिये उस व्यवधान के समय उसके हृदय में जो विरहाग्नि सुलगती रहती है उससे उसके प्रेम की निरन्तर अभिवृद्धि होती रहती है। इसीलिये कुछ महानुभावों ने

स्वकीया नायिकाओं में भी परकीया-भाव माना है; अर्थात् स्वकीया होने पर भी उसका प्रेम परकीया नायिकाओं का-सा था। वस्तुतः तो सभी व्रजाङ्गनाएँ स्वकीया ही थीं, क्योंकि उनके परमपति भगवान् श्रीकृष्ण ही थे; परन्तु उनमें से कई अन्य पुरुषों के साथ विवाहिता थीं और कई अविवाहिता। अतः स्वकीया-परकीया या ऊढा और अनूढा कहना उचित है। इस प्रकार प्रेमोत्कर्ष के लिये ही भगवान् ने यह विलक्षण लीला की थी।

इस लीला का दूसरा प्रयोजन जीवों का कल्याण है। यहाँ जो अनन्यपूर्विका नायिका हैं उनका जो भगवान् के प्रति अतिशय अनुराग है उससे होनेवाली लीला आगे चलकर लोगों को ध्येय होगी। यह बात पहले कही जा चुकी है कि इस प्रकार की काम-विजय-लीला का चिन्तन करने से लोगों को कामजयरूप फल प्राप्त होगा। इसके सिवा यह भी देखना है कि इस प्रकार के उपासकों का ध्येय क्या होगा? भगवान् श्रीकृष्ण या गोपियाँ? सो कोई नहीं, बल्कि उन दोनों का जिस प्रेमपाश से बन्धन है वह प्रेमशृङ्खला ही उनकी ध्येय होगी, क्योंकि उसके अधीन तो वे दोनों ही हैं। जिस प्रकार यदि किसी ऊँट या बैल को पकड़ना होता है तो उसकी नकेल या नाथ ही पकड़ते हैं, उसी प्रकार इस प्रेम-बन्धन को पकड़ने से श्रीकृष्ण और गोपियाँ दोनों ही स्वाधीन हो जायँगे। इसके सिवा इस लीला से सर्वसाधारण को यह भी उपदेश मिलेगा कि इस प्रकार के नायक-नायिकाओं में जैसा उत्कट स्नेह होता है वैसा ही उन्हें भी अपने इष्टदेवों के प्रति रखना चाहिये।

इन व्रजाङ्गनाओं में जो अन्यपूर्विका हैं उनसे यह उपदेश भी मिलता है कि जिस प्रकार वे लौकिक-वैदिक शृङ्खलाओं का विच्छेद करके भगवत्परायण रहती थीं, उसी प्रकार साधकों को भी सारे व्यवधानों को छोड़कर अपने ध्येय में संलग्न होना चाहिये। साधारण पुरुषों को इससे भगवान् की उदारता और करुणा का भी ज्ञान होता है। प्राणियों में सदा ही कोई-न-कोई त्रुटि तो रहा ही करती है। उस समय अपनी हीनता को देखकर अनाश्वास हो जाना स्वाभाविक ही है। जहाँ ऐसा नियम है कि प्राणी वैदिक एवं स्मार्त उपासना करके ही भगवान् को प्राप्त करने की योग्यता पा सकता है, वहाँ जो सर्वसाधनहीन स्थूलदर्शी लोग हैं उन्हें ऐसी आशा होना कि भगवान् हमपर भी उन गोपांगनाओं के समान कृपा करेंगे, बहुत बड़ा आश्वासन है।

आगे चलकर कहा है कि वे गोपियाँ जारभाव से भगवान् को प्राप्त हुईं, **'जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।'** अहो! जो गोपाङ्गनाएँ वैदिक और स्मार्त-शृङ्खलाओं का उल्लङ्घन करके भगवत्परायण हुईं और जिन भगवान् का सर्वथा शुद्ध-भाव से आश्रय लेना चाहिये था उनका ऐसे दूषित भाव से आश्रय लिया, उन गोपाङ्गनाओं का भी भगवान् ने कल्याण कर दिया। यह ऐसी ही बात हुई जैसे पूतना ने विषलिप्त स्तन-पान कराकर भी परमपद प्राप्त किया। जिन भगवान् का सर्वस्व समर्पण करके अर्चन

करना चाहिये था उन्हें विषपान कराना महान् अपराध था, तो भी विषय के माहात्म्य से उसने सद्गति प्राप्त की। उसी प्रकार यद्यपि कामबुद्धि से भगवान् का आश्रय लेना अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि यह सोपाधिक प्रेम है—कामवासना की पूर्ति तक ही रहनेवाला है–और भगवान् को सर्वभूतान्तरात्मा होने के कारण निरुपाधिक प्रेम से ही अभ्यर्चित होना चाहिये, तथापि उनका परम हित ही हुआ। इसके सिवा इसमें एक दोष यह भी हो सकता था कि जो भगवान् उनके वास्तविक परमपति थे उनमें तो उन्होंने जारबुद्धि की और जो अस्वाभाविक प्राकृत पति थे उनमें पति-बुद्धि की। जिस प्रकार तरङ्गों का मुख्य पति तो समुद्र ही है, तरङ्गान्तरों से तो उनका आगन्तुक-सम्बन्ध है, उसी प्रकार जीव का स्वाभाविक-सम्बन्ध तो अपने आश्रयभूत परब्रह्म से ही है, अन्य जीवों से तो केवल आगन्तुक-सम्बन्ध है, इसलिये वह अनित्य भी है, अतः सर्वान्तर्यामी भगवान् का जारबुद्धि से आश्रय लिया गया—यह भी एक बड़ा दोष था। ये सारे अनौचित्य 'अपि' शब्द से सूचित होते हैं। किन्तु ये सब दोष होने पर भी भगवान् से सम्बन्धित होने के कारण गुण हो गये। यह आलम्बन का ही माहात्म्य था। उस जारबुद्धि से यह गुण हो गया कि जिस प्रकार जार के प्रति परकीया नायिका का स्वकीया की अपेक्षा अधिक प्रेम होता है वैसे ही उन्हें भी भगवान् के प्रति अतिशय प्रेम हुआ। अतः इससे उपासकों को बड़ा आश्वासन मिलता है। इससे बहुत त्रुटिपूर्ण होने पर भी उन्हें भगवत्कृपा की आशा बनी रहती है। और प्रेममार्ग में आशा बहुत बड़ा अवलम्बन है, क्योंकि जीव, आशा होने पर ही प्रपन्न हो सकता है। इस प्रकार भगवान् ने अन्यपूर्विका और अनन्यपूर्विका दोनों की प्रवृत्ति अपनी ओर ही दिखलाकर प्रेममार्ग को सबके लिये सुलभ कर दिया है। यह द्वितीय 'ताः' का तात्पर्य हुआ।

अब तृतीय 'ताः' का अर्थ करते हैं। इस 'ताः' का अर्थ है **'तदात्मिकाः'** अर्थात् भगवत्स्वरूपा। पहले 'ताः' से तो वे गोपाङ्गनाएँ विवक्षित थीं जिनका भगवान् के साथ भृंगीकीट-न्याय से साधन द्वारा अभेद हुआ था। दूसरे 'ताः' से वे गोपाङ्गनाएँ कही गयीं जो समुद्र और तरङ्ग के समान मूलतः अभिन्न थीं। यह समुद्र अचिन्त्यानन्द-सुधा-सिन्धु है। इससे एक तो तरङ्गों का अभेद और दूसरा जैसे उसकी सुधा से सुधागत माधुर्य का अभेद। यह बहुत बड़ा अन्तर है। इस प्रकार की स्वरूपभूता व्रजाङ्गनाएँ ही तीसरे 'ताः' से कही गयी हैं।

जिस प्रकार जल में मधुरता, शीतलता आदि कई गुण हैं उसी प्रकार भगवान् में भी कई शक्तियाँ हैं। भगवान् की परमान्तरङ्गा आह्लादिनी-शक्तिरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी और उन्हींकी अवान्तर विकासरूपा ललिता-विशाखा आदि तीसरे 'ताः' से अभिप्रेत हैं। उन श्रीवृषभानुनन्दिनी की पदनख-चन्द्रिका की जो विभिन्न दीप्तियाँ हैं उन्हींके अन्तर्गत ये ललिता-विशाखा आदि हैं। भगवान् की सर्वान्तरतम दिव्याति-

दिव्य शक्ति तो श्रीराधिका ही हैं, उन्हींकी अंशभूता उनकी प्रधान सहचरी हैं। यद्यपि उनमें तारतम्य है तथापि वे हैं सब-की-सब परमान्तरङ्गा ही।

यहाँ जो '**अपि**' शब्द आया है उसका अर्थ 'च', '**और**' समझना चाहिये। अर्थात् शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियों को और उन त्रिविध गोपाङ्गनाओं को देखकर भगवान् ने रमण करने को मन किया। किन्तु उन्होंने मन किया कैसे? इसपर कहते हैं कि स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म भगवान् ने आप्तकाम होकर भी योगमाया का आश्रय लेकर मन बनाया। योगमाया का आश्रय लेने से क्या अभिप्राय है? **'योगाय स्वेन सह तासां संश्लेषाय या माया कृपा तामुपाश्रित्य'** अर्थात्–योग यानी अपने साथ संश्लेष करने के लिये जो माया–कृपा, उसका आश्रय लेकर। यहाँ 'माया' शब्द का अर्थ कृपा है, 'माया कृपायां दम्भे च'। अतः कृपापरतन्त्र भगवान् ने स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म होकर भी केवल कृपावश मन किया।

दूसरी बात यह भी हो सकती है कि—

"युज्यते-सदा संश्लिष्यत इति योगा, महालक्ष्मीः परमान्तरङ्गशक्तिभूता श्रीवृषभानुनन्दिनी, तस्या माया कृपा योगमाया, तामुपाश्रित्य।"

अर्थात्–जो युक्त यानी सदा संश्लिष्ट रहती हैं वे परमान्तरङ्ग-शक्तिभूता श्रीवृषभानुनन्दिनी ही योगा हैं, उनकी माया—कृपा ही योगमाया है, उसका आश्रय लेकर रमण की इच्छा की। तात्पर्य यह है कि अपनी कृपा के अधीन होकर नहीं बल्कि जो श्रीवृषभानुसुता की कृपापात्रभूता तथा उनके चरणकमल-मकरन्द का आस्वादन करनेवाली व्रजाङ्गनाएँ हैं उनकी प्रसन्नता सम्पादन करने के लिये ही भगवान् ने रमण की इच्छा की, क्योंकि ऐसा करने से ही वे अपनी परमान्तरङ्गा आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधिकाजी को प्रसन्न कर सकते थे। जो मधुरभाव के उपासक हैं उनकी यह पद्धति है कि वे पहले अपने आचार्यों का आश्रय लेते हैं, फिर उनके द्वारा गोपाङ्गनाओं की प्रसन्नता लाभ करते हैं, उनकी प्रसन्नता से उन्हें प्रधान-प्रधान यूथेश्वरियों का प्रसाद प्राप्त होता है और तत्पश्चात् श्रीहरि की चिरसङ्गिनी श्रीराधिकाजी की कृपा होती है। इस प्रकार श्रीप्रियाजी के कृपापात्र होने पर ही भगवान् का अनुग्रह होता है। इसमें यह भी भेद है कि शुद्ध परब्रह्म का पदार्थों के साथ सम्बन्ध नहीं होता **'असङ्गो न हि सज्जते'**। अतः यह मानना पड़ता है कि वृत्त्युपहित चेतन ही पदार्थों का प्रकाशक होता है। यदि शुद्ध चेतन ही पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होता तो उसकी सत्ता तो सर्वत्र है, परन्तु घटकुड्यादि में पदार्थों को प्रकाशित करने का सामर्थ्य नहीं है। इसके सिवा चेतन की सत्तामात्र से ही पदार्थों की प्रतीति भी नहीं होती, क्योंकि चेतन का संश्लेष तो सन्निकृष्ट-असन्निकृष्ट सभी वस्तुओं के साथ है। परन्तु प्रकाश केवल उन्हीं वस्तुओं का होता है जिनके साथ प्रमाणजन्य-वृत्त्यभिव्यक्त चेतन का संसर्ग होता है। उसी प्रकार यद्यपि

भगवान् श्रीकृष्ण का सम्बन्ध सभी व्रजाङ्गनाओं से है तथापि जिस प्रकार स्वप्रकाश चेतन अन्तः-करणादिवृत्त्युपहित होकर ही वस्तुओं के प्रकाश का हेतु होता है वैसे ही भगवान् भी अपनी परमान्तरङ्गा आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधिकाजी के कृपापात्रों पर ही अनुग्रह करते हैं। जिस प्रकार मङ्गलमय सुधासिन्धु में जो मधुरिमा है वह उसका स्वरूप ही है उसी प्रकार परमानन्दसिन्धु भगवान् की जो आह्लादिनी शक्ति है वह भगवान् से अभिन्न ही है।

जिस प्रकार घटादि का प्रकाश अन्तःकरणवृत्त्युपहित चेतन से ही होता है किन्तु अन्तःकरण के प्रकाश के लिये किसी अन्य अन्तःकरण की आवश्यकता नहीं होती तथा अन्तःकरणादि तो स्वतन्त्रता से चेतन के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकते हैं किन्तु घटादि अन्तःकरणवृत्त्युपहित होने पर ही उसका प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकते हैं, उसी प्रकार यहाँ जो वृषभानुनन्दिनी हैं वे तो परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के साथ निरपेक्षभाव से असाधारण रमणरूप सम्बन्ध का भोग कर सकती हैं किन्तु अन्य गोपाङ्गनाएँ ऐसा नहीं कर सकतीं। अतः उनमें भी भगवान् का सम्बन्ध स्थापित करने के लिये श्रीवृषभानुदुलारी का सम्बन्धसम्पादन करना पड़ता है। अतः पहले वे इनसे तन्मय हो लेती हैं, उसके पश्चात् भगवान् से सम्बन्ध प्राप्त करती हैं। इसीलिये योगमाया का आश्रय लिया।

अथवा **"योगाय सम्बन्धाय या माया वञ्चना तामुपाश्रितोऽपि ताः वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे"**—योग जो असाधारण सम्बन्ध उसके लिये भी माया यानी वञ्चना का आश्रय लेकर उन्होंने रमण के लिये मन किया। भगवान् रमण के लिये भी माया का आश्रय लिया करते हैं। इसीसे जब ऋषि-पत्नियाँ गयी थीं उस समय भी उन्होंने माया का ही आश्रय लिया था, और उन्हें भी पातिव्रत का ही उपदेश किया था। किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो परब्रह्म हैं। उनका सम्बन्ध भला किसको अभीष्ट न होगा? उनका संसर्ग ही तो परम कल्याण है। उसमें लौकिक भावों का आरोप करना अर्थात् पारमार्थिक तत्त्व में अपारमार्थिक भावों का निवेश करना माया ही है। अतः **'योगे सम्बन्धे या माया वञ्चना सा योगमाया'** ऐसा तात्पर्य समझना चाहिये। अथवा **'अयोगमाया'** ऐसा पद मानें तो **'अयोगाय असम्बन्धाय या माया वञ्चना सा अयोगमाया'** अयोग यानी असम्बन्ध के लिये जो माया—वञ्चना उसीका नाम अयोगमाया है। अर्थात् अपने साथ सम्बन्ध न होने देने के लिये जो माया उसका उन्होंने आश्रय लिया।

'ताः वीक्ष्य' वे जो पूर्वोक्त प्रकार की गोपाङ्गनाएँ थीं, जो इस प्रकार स्वस्व-रूपानुसन्धान में तत्पर थीं उन्हें दयार्द्र-दृष्टि से देख वञ्चना को भूलकर उन्होंने रमण करने के लिये मन किया। अथवा—

"युज्यते इति योगा सदासंश्लिष्टरूपा या वृषभानुनन्दिनी तस्यां या माया कृपा तामाश्रित्य रन्तुं मनश्चक्रे"—

अपनी स्वस्वरूपभूता जो वृषभानुनन्दिनी उनकी प्रसन्नता के लिये रमण करने को मन किया। अर्थात् उन्हें जो रासाभिलाषा हुई उसकी पूर्ति के लिये उन व्रजाङ्गनाओं को देखकर रमण करने की इच्छा की।

अथवा '**न गच्छतीति अगा अगा चासौ मा इति अगमा, अगमायां उपाश्रितः यः स भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे**' अर्थात् जो अचला (नित्यसंगिनी) लक्ष्मीरूपा वृषभानुनन्दिनी हैं उनमें अनुरक्त जो भगवान् उन्होंने रमण करने की इच्छा की। क्योंकि यह रासलीला श्रीराधिकाजी की ही प्रसन्नता के लिये है। भावुकों का ऐसा मत है कि भगवान् के जितने कृत्य हैं वे श्रीवृषभानुनन्दिनी की प्रसन्नता के लिये हैं और श्रीवृषभानुसुता के जितने कृत्य हैं वे श्रीहरि की तुष्टि के लिये हैं। यहाँ जो अन्यान्य गोपाङ्गनाएँ हैं वे सब श्रीराधिकाजी की ही अंशांशभूता हैं।

यहाँ जो 'अपि' है उसका तात्पर्य यह भी मालूम होता है कि व्रजदेवियों को तो पहले ही से भगवान् के साथ रमण की इच्छा थी। इस समय मानो परीक्षित् के चित्त में इस बात का सन्ताप था कि अहो! व्रजाङ्गनाओं ने कात्यायनी-अर्चनादि कठोर तपस्या करके भगवान् को प्रसन्न किया और भगवान् ने भी प्रसन्न होकर उन्हें अभीष्ट वर दिया; किन्तु अब, जब कि प्रेमातिशय के कारण भगवत्-सम्भोग की प्रतीक्षा में गोपाङ्गनाओं को एक-एक पल युग के समान हो रहा था, भगवान् क्यों उपेक्षा कर रहे थे? इस समय भगवान् की उदासीनता देखकर मानो महाराज परीक्षित् मन-ही-मन उनकी निन्दा कर रहे थे, इतने ही में श्री शुकदेवजी कहने लगे—"**भगवानपि ता रात्रीः**' अर्थात् व्रजाङ्गनाएँ तो पहले ही से अभिलाषा रखती थीं, परन्तु आज भगवान् ने भी उनके साथ तादात्म्यापत्तिरूप रमण की इच्छा की।

इससे यह भी सूचित होता है कि भगवान् की इच्छा भक्तों की भावना का अनुसरण किया करती है। कहा भी है—

"यद्यद्धियात उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।
..........................स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि॥"

भावुक लोग अपनी-अपनी भावनामयी बुद्धि से अरूप, अनाम, अप्रमेय परब्रह्म का जिस-जिस रूप से ध्यान करते हैं वैसा ही रूप भगवान् को धारण करना पड़ता है। इसीसे यद्यपि अभी तक भगवान् को रमण की इच्छा नहीं थी, तथापि गोपाङ्गनाओं की भावना के अधीन होने से उनमें भी रमणेच्छा का प्रादुर्भाव हो गया।

किन्तु इन व्रजाङ्गनाओं का भाव तो 'तत्सुखसुखित्व' है। इन्हें अपने सुख की कुछ भी इच्छा नहीं है। संसार में तो अपने सुख की कामना से ही सबसे प्रीति की जाती है—'**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**'। तथापि गोपांगनाओं का प्रेम तो लोक तथा वेद

से अतीत ही है। अतः उन्हें अपने लिये भगवान् में प्रेम नहीं था, बल्कि वे तो भगवान् के ही लिये प्राण धारण करती थीं। उनका तो यही लक्ष्य था कि हे मनमोहन ! ये प्राण और देह आपके काम आते हैं इसीसे हम इन्हें धारण करती हैं, नहीं तो हमें इनकी क्या आवश्यकता है ? भगवान् का वियोग होने पर भी उन्होंने इसीलिये अपने शरीरादि को रख छोड़ा था कि वे भगवत्सेवा के साधन थे। उनका कहना था कि श्रीकृष्ण से वियुक्त होकर भी जो हम जीवित हैं इसका मुख्य कारण यही है कि हमारे प्राण हमारे अधीन नहीं हैं। विधाता ने शरीर तो हमें दिया है; किन्तु प्राण श्रीकृष्ण के अधीन कर दिये हैं। उनका कथन था—'**भवदायुषां नः**' अर्थात् आप ही हमारी आयु हैं। अतः उनका जीवन भगवान् के सुख के लिये ही था। हाँ, उन्हें सुख पहुँचाने में उनको भी सुख मिलता ही था। जो पुरुष भगवान् को सुगन्धित माला और पुष्प समर्पण करता है उसे भी सान्निध्यवश उनका सुवास मिलता ही है। किन्तु यह सुखानुभव आनुषङ्गिक है, उसमें अपना सुख अभिमत नहीं होता।

इस प्रकार जैसे गोपाङ्गनाएँ भगवान् के ही सुख में सुख माननेवाली हैं, वैसे ही भगवान् भी उन्हींको सुख पहुँचाने के लिये सारी लोलाएँ करते हैं। यह तो उनका पारस्परिक भाव है। किन्तु इसका पर्यवसान कहाँ होता है ? इस सम्बन्ध में कह सकते हैं कि वह लोककल्याण के ही लिये है।

परन्तु यदि वे दोनों ही निरपेक्ष हैं, दोनों को ही आप्त-काम होने के कारण सुख की अपेक्षा नहीं है तो फिर यह लीला किसे सुख पहुँचाने के लिये है ? ठीक है, सिद्धान्त भी यही है कि भगवान् श्रीकृष्ण और गोपाङ्गनाओं के रूप में एक ही परमानन्द-सुधासिन्धु प्रस्फुटित हुआ है तो दोनों ही आप्तकाम हैं। इससे लीला का कोई प्रयोजन हो नहीं रहता। और लीला हुई हो थी, यहाँ यह भी प्रश्न हो सकता है कि यह विभाग ही क्यों हुआ ? वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो इसका प्रयोजन कुछ भी नहीं है, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' यह विभाग केवल आत्मसुख के ही लिये है।

किन्तु यह विभाग चाहे लोककल्याण के लिये हो और चाहे 'एकाकी न रेमे'—अकेला रममाण नहीं होता, इसलिये 'एकोऽहं बहुस्याम्' इस प्रकार के सङ्कल्पपूर्वक हो, तथापि जब तक लीला, लीलानायक और दर्शकों को लीला में आसक्ति न हो तब तक तो लीला व्यर्थ ही है। माना कि यह त्रिविध विभाग एक में ही हुआ है तथापि यदि वह स्वस्वरूप में ही परितृप्त है तो लीला का कोई प्रयोजन ही सिद्ध नहीं होता।

अतः यहाँ स्वस्वरूपभूत परमानन्द का आवरण अपेक्षित है। किन्तु उसका आवरण करने में कौन समर्थ है ? माया आवरण कर सकती है, परन्तु भगवान् का आवरण करने में वह भी समर्थ नहीं है। अतः भगवान् के आश्रित रहनेवाली उनकी परमान्तरङ्गा मोहिनी शक्ति, जो कि अनिर्वचनीयता में अन्य समस्त शक्तियों

के समान ही होने पर भी शुद्धता में उनसे उत्कृष्ट है, भगवान् के शुद्ध स्वरूप का आच्छादन करती है और उसीसे स्वरूपभूत परमानन्द का आवरण हो जाने पर यह लीला और लीलापात्रों की कल्पना हो जाती है। जिस प्रकार स्वेच्छा से भाँग पीकर अपने को मोहित किया जाता है उसी प्रकार भगवान् का यह व्यामोहन भी स्वेच्छा से होता है। यदि इस प्रकार अपने स्वरूपभूत परमानन्द का आवरण न होता तो अपने से भिन्न रमणसामग्री की अपेक्षा क्यों होती ? अतः पहले आवरण हुआ, उससे अतृप्ति हुई और फिर लीला हुई। इसीसे उनकी चेष्टाएँ एक-दूसरे की परितृप्ति करनेवाली हुईं। इसमें अन्योन्याश्रयदोष भी नहीं है, रमण की भी व्यवस्था ठीक हो जाती है और 'अपि' शब्द का तात्पर्य भी बन जाता है।

इस श्लोक का एक अर्थ यह भी हो सकता है—'**भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे**'—भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। किसलिये ? '**ताः वीक्ष्य**'—अज्ञानिजनरूपा जो प्रजा है उसे देखकर उसका कल्याण करने के लिये। वह प्रजा कैसी है—'**रात्रीः**'—रात्रि के समान अज्ञानरूप तम से व्याप्त। ये सब प्रजाएँ अनादि हैं; अतः भगवान् का रमण उनके कल्याण के ही लिये है। इसके सिवा वह प्रजा '**शरदोत्फुल्लमल्लिकाः**' भी है—

"**शरदायां जाड्यमय्यां व्यवहारभूमौ उत्फुल्लमल्लिकास्विव सुख-बुद्धयः।**"

अर्थात्—सुखदुःखमोहात्मिका जो जाड्यमयी व्यवहारभूमि, जो कि उत्फुल्लमल्लिका के समान आपात-रमणीय है उसमें सुखबुद्धि करनेवाली। तात्पर्य यह है कि दुःखमयी व्यवहार-भूमि में सुखबुद्धि करनेवाली प्रजा को स्नेहार्द्र-दृष्टि से देखकर रमण की इच्छा की; क्योंकि अज्ञानी प्रजा की सुखदुःखमोहातीत परब्रह्म में स्थिति होना अशक्य है। अतः जो प्राकृत लीलाएँ उनकी अभिरुचि के अनुकूल हैं, उनके कल्याण के लिये भगवान् ने उन्हींके समान रमण करने की इच्छा की। इसलिये—

'**अयोगमायामुपाश्रितः**'—'**अयोगेषु चित्तनिरोधादिनिःश्रेयससाधनशून्येषु या माया कृपा तामुपाश्रित्य**'।

अर्थात् योग—चित्तवृत्तिनिरोधादि निःश्रेयस के साधनों से शून्य जो प्रजा उसपर जो कृपा वही माया है। उसका आश्रय लेकर रमण करने का विचार किया। क्योंकि जो शुद्ध परब्रह्म अशेषविशेषशून्य है उसका साक्षात्कार तो निरोधादि द्वारा ही किया जा सकता है।

"**अयोगेषु सर्वथा अयोग्येषु या माया कृपा तामुपाश्रित्य**"—

जो प्राणी अत्यन्त निकृष्ट कोटि के हैं उनके ऊपर जो कृपा उसका आश्रय लेकर रमण करने का विचार किया। भगवान् पतितपावन हैं, इसीसे भावुक भक्त अपने को सर्वसाधनशून्य देखकर भी भगवत्कृपा के भरोसे निश्चिन्त रहते हैं।

"**हौं पतित, तुम पतितपावन दोउ बानक बने।**"

अतः यह भगवान् की लीला मानो अत्यन्त अयोग्य पुरुषों के ऊपर कृपा करने के ही लिये है; क्योंकि भगवान् के जो वात्सल्य, माधुर्य एवं औदार्य आदि गुण हैं उनकी सफलता तो बिना पतितों के हो ही नहीं सकती। वस्तुतः उदारता और दीनवत्सलता ये सब तो इन्हीं अंशों को लेकर होते हैं कि स्वयं परमोत्कृष्ट होकर भी अत्यन्त निम्नकोटि के पुरुषों के साथ मिलकर उनके साथ पूर्ण आत्मीयता का बर्ताव करें। किन्तु निर्विशेष परब्रह्म या गोलोकवासी भगवान् के साथ ऐसे पतितों का सहवास कैसे हो सकता है ? वहाँ उन निष्कृष्टातिनिकृष्ट पुरुषों के आत्मीय होकर भगवान् कैसे विहार कर सकते थे ?

अथवा—

"अयोगेषु स्वस्मिन्नयुज्यमानेषु या माया कृपा तामुपाश्रितः।"

जिनकी मनोवृत्ति स्वप्न में भी भगवान् की ओर नहीं जाती ऐसे अपने में अयुक्त पुरुषों के प्रति जो माया—कृपा उसका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की; क्योंकि यह लीला अत्यन्त साधन-शून्यों को भी अपनी ओर आकर्षित करनेवाली है। अतः भगवान् ने बहिर्मुख पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये ही यह लीला की थी। निर्विशेष भगवान् में तो प्राकृत पुरुषों की वृत्ति पहुँचनी अत्यन्त कठिन है; इसीसे भगवान् ने यह लोकमनोभिरामा लीला की थी, जिससे विषयी और पशुप्राय जीवों का चित्त भी भगवान् की ओर लग जाय। अहो ! भगवान् का यह खेल कैसा मनोमोहक था !

"अस्पन्दनं गतिमतां पुलकं तरूणाम्।"

उसे देखकर जो गतिमान् थे उनमें निस्पन्दता आ जाती थी और वृक्षों की रोमावली खड़ी हो जाती थी। अर्थात् चेतन पदार्थों में जड़ता आ जाती थी और जड़ों में चेतन की क्रिया होने लगती थी। अतः भगवान् ने बहिर्मुख पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये ही अति अद्भुत मनोरम लीला की थी।

ऐसा कहा जाता है कि प्राणियों के पतन का जो प्रधान हेतु है वह भगवद्विमुखता ही है; तथा भगवदुन्मुखता ही सर्वानन्द का साधन है।

"भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥"

अर्थात्—जो पुरुष भगवान् से विमुख है, जो नामरूपक्रियात्मक प्रपञ्च में ही आसक्त है उसे ही भगवान् की माया से मोहित होने के कारण भगवद्विस्मृति हुआ करती है। स्वरूपविस्मृति के पश्चात् विभ्रम होता है, जो असङ्ग आत्मा में सङ्ग का, अकर्ता में कर्तृत्व का और एक में अनेकत्व की भ्रान्ति करा देता है। उस विभ्रम से द्वैतबुद्धि होती है, द्वैतबुद्धि से ही भय होता है। अतः बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि अनन्य बुद्धि से उस पूर्ण परब्रह्म परमात्मा का ही भजन करे। इससे माया इस प्रकार भाग जाती है जैसे क्रुद्ध तपोधनों के सामने से वेश्या।

माया से ही स्वरूप की विस्मृति हुआ करती है और भगवदुन्मुख होने पर वह भाग जाती है तब स्वरूपसाक्षात्कार हो ही जाता है और फिर विभ्रम का उच्छेद हो जाने के कारण निर्भयता की प्राप्ति हो जाती है। अतः भगवान् ने अज्ञानीरूपा प्रजा का उद्धार करने के लिये ही यह मार्ग निकाला था, क्योंकि भगवान् की माया बड़ी प्रबल है, उससे वे ही बच सकते हैं जो एकमात्र भगवान् का ही आश्रय लेते हैं।

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"

अतः भगवान् ने सर्वसाधनशून्य पामर प्राणियों पर कृपा करने के लिये ही यह लीला की थी, जिससे कि किसी भी प्रकार उनका चित्त भगवान् में लगे।

अथवा 'ताः' शब्द से मुमुक्षुरूपा प्रजा समझनी चाहिये। उसपर कृपा करने के लिये भगवान् ने रमण की इच्छा की। वह मुमुक्षुरूपा प्रजा कैसी है? **'रात्रीः'**—'रा दाने' इस स्मृति के अनुसार दान करनेवाली अर्थात् दानोपलक्षित यज्ञादि कर्म करनेवाली। जैसा कि कहा—**'तमेतं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसा ब्रह्म विविदिषन्ति।'** अथवा **'भगवति स्वरूपेण सह सर्वसमर्पयित्री'** जो भगवान् में अपने स्वरूप के सहित सर्वस्व समर्पण करनेवाली है तथा जो **'शरदोत्फुल्लमल्लिका'** है।

"शराविवत् घ्नन्ति अवखण्डयन्ति उत्फुल्लमल्लिकाद्युपलक्षितानि संसार-सुखानि यासां ताः।"

अर्थात् उत्फुल्लमल्लिकाओं के समान जो स्त्री-पुत्रादिरूप सांसारिक सुख हैं वे शरादि अस्त्र-शस्त्र के समान जिनका खण्डन करती हैं उन मुमुक्षुरूपा प्रजाओं को देखकर। इससे उन मुमुक्षुओं की पूर्ण योग्यता दिखायी गयी है, क्योंकि पूर्ण मुमुक्षु तभी होता है जब कि उत्कृष्ट से उत्कृष्ट सांसारिक सुख भी उसे दुःखरूप दिखाई देने लगे। वास्तव में तो मुमुक्षुता होती ही उस समय है जब संसार भयानक दिखाई देने लगे। उसे सांसारिक सुख शरादि के समान छेदन करनेवाले दिखलाई देते हैं वही मुमुक्षु हो सकता है। ऐसी प्रजाओं को देखकर—

"योगमायामुपाश्रितः—योगाय स्वेन सहासम्बन्धविच्छेदाय।"

अपने साथ उनके असम्बन्ध का छेदन करने के लिये, अर्थात् अपने साथ उनकी अभिन्नता स्थापित करने के लिये भगवान् ने रमण की इच्छा की, क्योंकि यहाँ केवल व्रजदेवियों के साथ ही क्रीड़ा नहीं करनी थी, बल्कि श्रुतियों का आवाहन करके उनका भी अपने में तात्पर्य दृढ़ करना था।

भगवान् की यह लीला ओषधिरूपा होगी। जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषों के लिये यह श्रोत्रमनोभिरामा है वैसे ही मुमुक्षुओं के लिये यह भवौषधिरूपा है। अतः—

"ताः मुमुक्षुरूपाः प्रजाः वीक्ष्य, ताश्च श्रुतीः आहूय, ताभिः सह रन्तुं मनश्चक्रे"—

उस मुमुक्षुरूपा प्रजा को देखकर और उन श्रुतियों का भी आह्वान कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की। अर्थात् मुमुक्षुओं को संसार से निर्विण्ण देखकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। मुमुक्षु लोग संसार से निर्विण्ण क्यों हैं? इसका हेतु यह है—वे विशुद्धान्तःकरण हैं, इसलिये विवेकसम्पन्न हैं और विवेकी के लिये सब कुछ दुःखरूप ही है—**'दुःखमेव सर्वं विवेकिनाम्'**—उनके लिये संसार के सारे सुख भाले और बर्छियों के समान हो जाते हैं। उनके उद्धार का उपाय क्या है? यही कि श्रुतियों का परम तात्पर्य एकमात्र परब्रह्म में ही निश्चित हो। किन्तु पहले यह होता नहीं, अतः भगवान् ने उनका आह्वान कर अपने में उनका तात्पर्य दृढ़ किया। यहाँ जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने व्रजाङ्गनाओं का आवाहन किया था उसी प्रकार व्यासरूप से उन्होंने ब्रह्मसूत्ररूप वेणुनाद द्वारा समस्त श्रुतियों का आवाहन करके उनका परम तात्पर्य परब्रह्म में निश्चित किया है।

"गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।"

यहाँ 'अर्थ' तो पूर्ण परब्रह्म परमात्मा है और 'शब्द' ये श्रुतियाँ हैं। अतः श्रुतियाँ तरङ्ग हैं और ब्रह्म समुद्र है। इसी प्रकार गोपाङ्गनाएँ तरङ्ग हैं और भगवान् श्रीकृष्ण समुद्र हैं। इनका परस्पर तादात्म्य-सम्बन्ध है। उन श्रुतियों का आवाहन कर, अर्थात् अपने में उनका तात्पर्य निश्चय कर, भगवान् ने रमण करने की इच्छा की।

यहाँ भावुकों की दृष्टि से एक और ही अर्थ होता है—

'योगमायामुपाश्रितः'—यः 'अगमायाम् उपाश्रितः'—'न गच्छतीति अगा, अगा चासौ मा अगमा'।

अर्थात् नित्यश्लिष्टा वृषभानुनन्दिनी। वह कौन है?—**'यामुपाश्रितः भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे'**, अर्थात् जिसका आश्रय लेकर भगवान् ने भी रमण करने की इच्छा की। क्यों इच्छा की? शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियों को देखकर।

अथवा यों समझो—

"योगमायामुपाश्रितः भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे—योगाय अघटित-घटनाय या माया इति योगमाया तामुपाश्रितः।"

अर्थात् जो माया अघटितघटनापटीयसी है, उसका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। यहाँ भगवान् को अपना ऐश्वर्य छिपाना था, क्योंकि यह मधुर लीला है, अतः इसमें ऐश्वर्यभाव रस का विघातक है। इसमें प्राकृतांश ही अधिक उपयुक्त है। इसीसे भगवान् की जिन लीलाओं में प्राकृतांश विशेष है उन्हीं-का महत्त्व भी अधिक है, क्योंकि प्राकृत व्यापारों में व्यासक्त प्राणियों को आकर्षित करने में प्राकृतभाव अधिक उपयोगी है।

अतः **'योगमायामुपाश्रितः-योगमायां उप सामीप्येन आश्रितः, न तु साक्षात्'**—सामीप्यवश योगमाया का आश्रय लेकर, साक्षात्रूप से नहीं, जिस प्रकार स्वाभाविक

होने के कारण सूर्य भगवान् अपनी किरणों का आश्रय लेते हैं। उन्हें किरणें धारण नहीं करनी पड़तीं, बल्कि जहाँ वे रहते हैं वहाँ उनकी किरणें भी रहती ही हैं, इसी प्रकार भगवान् की योगमाया भी उनके साथ रहती ही है। अतः अघटनघटन में समर्थ जो योगमाया, उसका सर्वथा समाश्रयण न करके भगवान् ने प्राकृतवत् लीलाएँ कीं, जिससे प्राकृत प्राणियों का विशेष आकर्षण हो सके।

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् की योगमाया सर्वदा उनके साथ रहती है, इसलिये हठात् अपना काम कर देती है। जब मिट्टी खाने के उपरान्त भगवान् ने श्री यशोदाजी से मुख देखने को कहा तो उन्होंने यह नहीं समझा कि मैया सचमुच मेरा मुख देखेगी। वे यही समझते थे कि ऐसा कहने से मुझे निर्दोष समझकर वह छोड़ देगी। परन्तु जब उसने कहा 'दिखला', तो उनका मुख फैल गया।[1] भगवान् ने मुख फैलाया नहीं बल्कि जिस प्रकार सूर्य की किरणों से कमल खिल जाता है उसी प्रकार माता के कोपरूप सूर्य का ताप पाकर भगवान् का मुखकमल खुल गया। उस समय योगमाया ने देखा कि मुख में मिट्टी देखकर माता हमारे प्रभु को मारेगी; इसीसे उसने उनके मुख में सारा ब्रह्माण्ड दिखा दिया। इसी प्रकार इस लीला में भी योगमाया कई ऐश्वर्यभाव दिखायेगी।

अथवा भगवान् ने उन रात्रियों को देखकर **'योगमायामुपाश्रितः–योगाय संश्लेषाय मायः शब्दो यस्यां तां योगमायां वंशीम्'**—व्रजाङ्गनाओं के योग-संश्लेष के लिये माय[2] (शब्द) जिसमें रहते हैं उस वंशी का नाम योगमाया है; उसका आश्रय करके भगवान् ने व्रजाङ्गनाओं को बुलाकर रमण की इच्छा की। यह उचित भी है, क्योंकि जिस प्रकार गिरिराज का आश्रय लेकर भगवान् ने इन्द्र के दर्प का दमन किया था उसी प्रकार कन्दर्पदर्प-दमन इसके द्वारा होगा। वंशी क्या है? यह महारुद्र है और कामदेव के दर्प का दमन महारुद्र ही कर सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि अपने संसर्ग द्वारा स्वस्वरूप बना लेने पर ही किसीके साथ रमण हो सकता है। वस्तुतः भगवद्व्यतिरिक्त तो कोई पदार्थ है नहीं। भगवद्रूप में ही भिन्नता की प्रतीति हुआ करती है; और भगवत्सम्बन्ध से ही उसकी निवृत्ति होकर भगवद्रूपता की प्रतीति होती है। वह सम्बन्ध क्या है? व्यवधान की निवृत्ति। व्यवधान की निवृत्ति होते ही भगवान् से अभेद हो सकता है। अतः भगवान् ने वंशीध्वनि द्वारा अपनी अधरसुधा का सञ्चार करके समस्त वृन्दारण्य और तद्वर्ती गुल्म, लता एवं गोपाङ्गनादि को स्वस्वरूप बना दिया। इसीसे **'योगाय भगवत्संश्लेषाय मायः शब्दो यस्यां तां वंशीं उपाश्रितः'**—योग अर्थात् भगवत्संश्लेष के लिये जिसमें माय अर्थात् शब्द है उस वंशी का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा

---

१. यहाँ अकर्मक 'व्यादत्त' क्रिया का प्रयोग किया गया है। (देखिए भाग० १०।८।३६)

२. मीयते वक्ता अनेन इति मायः शब्दः।

की। मानो उस वंशी की उपासना करके ही भगवान् व्रजाङ्गनाओं के मनों को आकर्षित करने में समर्थ हुए।

अपि शब्द का आशय यही है कि यद्यपि था तो अनुचित, तथापि भगवान् के सम्बन्ध मात्र से उचित ही हो गया, क्योंकि साधारणतया सभी कन्याओं का प्राथमिक सम्बन्ध गंधर्व आदि के साथ होता है। चन्द्रमा तो वैसे सभी के मन के अधिष्ठाता हैं। मन की आवश्यकता सभी सम्भोगों में है और मन को सर्वत्र हो अपने अधिष्ठातृ-देव चन्द्रमा की अपेक्षा है। अतः चन्द्रमा सर्वभोक्ता हैं। परन्तु व्यष्टि अभिमान ही पुण्य-पाप का मूल है, चन्द्रमा सभी के मन के अधिष्ठाता हैं, अतः उनमें व्यष्टि अभिमान नहीं है। इसी कारण उन्हें पुण्य-पाप का संसर्ग नहीं है। जैसे चन्द्रमा सबके मन का अधिष्ठाता है, वैसे ही भगवान् सभी के अन्तरात्मा हैं। जैसे सभी सम्भोगों में मन की अपेक्षा है उससे भी अधिक सभी सम्भोगों में अन्तरात्मा की अपेक्षा है, क्योंकि अनुकूल-प्रतिकूल शब्दस्पर्शादि विषय तथा सुख-दुःखादि का साक्षात्कार अन्तरात्मा के ही अधीन है। शब्दादि विषयों के आकार से आकारित वृत्तिमान् अन्तःकरण, आत्म-चैतन्य-ज्योति से देदीप्यमान होकर ही शब्दादि-विषय का प्रकाशन करता है। भगवान् श्रीकृष्ण समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा हैं, यह बात भी भागवत के निम्न-लिखित वचनों से स्पष्ट है—

"गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानं सकलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥"

जब कि प्राणिमात्र के लिये जल, तेज तथा वायु का सर्वाङ्गीण स्पर्श अनिवार्य है तब ऐसी कौन सी पतिव्रता है जिसके सर्वाङ्ग का स्पर्श वायु, आकाश आदि से न होता हो? फिर भगवान् श्रीकृष्ण तो आकाश और अहंतत्त्व, महत्तत्त्व तथा अव्यक्ततत्त्व इन सभी के अधिष्ठान और इन सभी से आन्तर हैं। इस बात का भी वहीं उल्लेख है जहाँ श्रीकृष्ण की चोरहरण और रासक्रीड़ा प्रभृति लीलाओं का वर्णन है।

"सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमु तद्वस्तु निरूप्यताम्॥"

समस्त वस्तुओं का याथात्म्य उनके कारण में ही पर्यवसित है। उस कारण का भी पर्यवसान जहाँ है वही कार्यकारणातीत सर्वाधिष्ठान परमतत्त्व श्रीकृष्ण हैं। फिर उनसे भिन्न कौन-सा तत्त्व है जिसका निरूपण किया जाय? अतः सर्वान्तरात्मा श्रीकृष्ण के साथ भेद ही क्या हो सकता है? अतः उनके सन्निधान में निष्कपट और निरावरण होने से ही जीव का परम कल्याण होता है।

भगवान् की अचिन्त्य महाशक्तिरूपा योगमाया श्री, भू और लीलारूपा है। इनमें से प्रधानतया लीलाशक्ति का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। पहले जहाँ मुमुक्षुरूपा प्रजा का उल्लेख किया है, वहाँ 'योगमायामुपाश्रितः' इस पद का तात्पर्य इस प्रकार समझना चाहिये—'योगाय स्वस्मिन् योजनाय या माया कृपा' अर्थात् योग—अपने में जोड़ने के लिये जो माया (कृपा); अथवा 'योगाय स्वलीलासुखे योजनाय या माया कृपा'—योग अर्थात् अपने लीलासुख में युक्त करने के लिये जो कृपा; अथवा 'यः भगवान् अगमायामुपाश्रितः'—जो भगवान् अगमा में उपाश्रित हैं उन्होंने रमण की इच्छा की। अगमा क्या है ? 'न गच्छति चलति इति अगः कूटस्थं ब्रह्म, तस्य या प्रमा' अर्थात् जो गमन नहीं करता उस कूटस्थ ब्रह्म का नाम अग है, उसकी प्रमा यानी अपरोक्ष साक्षात्कार ही अगमा है; 'तस्यां' अगमायां तत्सम्पादने मुमुक्षुभिरुपाश्रितः यः सः'—उस अगमा में अर्थात् उसका सम्पादन करने में जो मुमुक्षुओं द्वारा आश्रय किया जाता है, उस परब्रह्म ने मुमुक्षुओं पर अनुग्रह करने के लिये ही रमण करने को मन किया, क्योंकि सच्चिदानन्द रूप श्रीहरि का अपरोक्ष साक्षात्कार उनकी लीला-कथाओं के अनुशीलन से ही होता है।

"पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये।
वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम्॥
तथापरे चात्मसमाधियोगबलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्।
त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते॥"

भाव यह है कि—हे देव ! कोई तो आपके कथामृत-पान से बढ़ी हुई भक्ति के कारण विशुद्धान्तःकरण होकर, वैराग्य ही जिसका सार है ऐसा बोध प्राप्त करके आपके निर्द्वन्द्व धाम को प्राप्त होते हैं, और कोई आत्मसंयम के द्वारा समाधि लाभ कर उससे प्रबल प्रकृति को जीतकर परमपुरुष आपको ही प्राप्त होते हैं। किन्तु उन्हें श्रम होता है और आपकी सेवा में कोई कष्ट नहीं होता।

इससे सिद्ध होता है कि भगवान् ने यह लीला मुमुक्षुओं के कल्याण के ही लिये की थी, जिससे वे उस लीला-कथा का पान करते हुए भगवान् को प्राप्त कर सकें।

और यदि 'अयोगमायामुपाश्रितः' ऐसा पद समझा जाय तो 'न युज्यते उपाधिसङ्गं न प्राप्नोति इति अयोगः तस्य या प्रमा तस्यामुपाश्रितः' अर्थात् जो उपाधिसंसर्ग को प्राप्त नहीं होता उसकी प्रमा अर्थात् अपरोक्षानुभव के लिये जो मुमुक्षुओं द्वारा आश्रित है। अथवा 'योगः उपाध्यध्यासः, तस्य अभावः अपवादः अयोगः'—उपाधिजनित अध्यास के अभाव का ही नाम अयोग है, उसकी जो प्रमा है उसका नाम अयोगमा है, उस अयोगमा के लिये जो भगवान् मुमुक्षुओं द्वारा उपाश्रित हैं उन्होंने

रमण की इच्छा की, क्योंकि यह नियम है कि उपाधिजनित अध्यास का निराकरण सूक्ष्मातिसूक्ष्म परब्रह्म के ज्ञान से ही होता है। यह ज्ञान कब होता है ? इस विषय में भगवान् स्वयं कहते हैं—

"यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥"

अर्थात् मेरी पवित्र गाथाओं के श्रवण और कीर्तन द्वारा जैसे-जैसे यह अन्तरात्मा स्वच्छ होता जाता है वैसे-वैसे ही साधक सूक्ष्म-वस्तु का साक्षात्कार करता जाता है, जिस प्रकार कि अञ्जनयुक्त नेत्र।

अतः उपाध्यध्यास की निवृत्ति का एकमात्र साधन भगवल्लीलाओं का अभ्यास ही है। श्रीमद्भागवत में कहा है—

"स त्वं न चेद्धातरिदं निजं वपुर्विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्।
गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः ॥"

हे भगवन्! यदि आप यह लीलामय विग्रह धारण न करें तो अज्ञान का भेदन करनेवाले विज्ञान की सफाई ही हो जाय। यदि कोई कहे कि हम अनुमान कर लेंगे, क्योंकि चक्षु, श्रोत्र एवं त्वचा आदि इन्द्रियों द्वारा जो विषयों का ग्रहण हुआ करता है वह आत्मतत्त्व के अस्तित्व का द्योतक है। जिस प्रकार शीतलता और उष्णता से रहित लोहपिण्ड में दाहकत्व एवं प्रकाशकत्व देखकर वहाँ दाहकत्व-प्रकाशकत्व समर्पण करनेवाले नित्य-दाहकत्व-प्रकाशकत्वगुणविशिष्ट अग्नि का अनुमान होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के विषयप्रकाशनसामर्थ्य से चिन्मय आत्मा का अनुमान होता है। साथ ही जिस प्रकार यह देखा जाता है कि लोहपिण्डादि में जो दाहकत्व-प्रकाशकत्व है वह सातिशय है और अग्नि में निरतिशय, उसी प्रकार यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्रियादि का प्रकाशक आत्मा निरतिशय-ज्ञानमय है। परन्तु यह केवल अनुमान ही तो है, इसे साक्षात्कार नहीं कह सकते। अतः यदि साक्षात्कार करना है तो भगवान् की लीला आदि का श्रवण करना चाहिये। इससे प्रेम की अभिवृद्धि होगी। प्रेम से चित्त में शिथिलता आयेगी, इससे वह निर्वृत्तिक होगा और निर्वृत्तिक चित्त पर ही परब्रह्म का प्रकाश होगा। अतः भगवत्साक्षात्कार के लिये भगवल्लीलाओं का श्रवण-कीर्तन अनिवार्य ही है। इसीसे भगवान् ने रमण करने की इच्छा की।

अब 'ताः रात्रीः वीक्ष्य' इसपर कुछ और विचार करते हैं। 'रात्रीः परमरस-मर्पयित्रीः' अर्थात् परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण और गोपाङ्गनाओं को परमरस समर्पण करनेवाली उन रात्रियों को देखकर। यहाँ 'ताः' शब्द विलक्षणता का द्योतक है। उनमें मुख्य विलक्षणता तो यही थी कि जिन भगवान् श्रीकृष्ण के विप्रयोग में

गोपाङ्गनाओं को एक-एक पल युगों के समान बीतता था उन्हींने इन रात्रियों को अपने सहवास-सौभाग्य के लिये नियुक्त किया था। व्रजाङ्गनाएँ संसार में सबसे बड़ा सौभाग्य क्या समझती थीं ? वे कहती हैं—

"अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशूननु विवेशयतो वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥"

यहाँ व्रजाङ्गनाओं ने संसारभर में सबसे बड़ा फल यही बताया है कि जिन्हें विधाता ने नेत्र दिये हैं, वे अपने समवयस्क बालकों के साथ पशुओं को गोष्ठ में प्रवेश कराते हुए दोनों नन्दकुमारों के अनुरक्त-कटाक्षमोक्षमण्डित वंशी-विभूषित मुखारविन्द का पान करें। इसके सिवा यदि कोई और भी फल हो सकता हो, तो हम उसे जानतीं नहीं। स्मरण रहे, ये श्रुतियाँ हैं—साक्षात् श्रुतिदेवियाँ हैं, यदि ये ही नहीं जानतीं तो और कौन जानेगा ?

इस श्लोक में 'व्रजेशसुतयोः' यह तो द्विवचन है किन्तु 'वक्त्रम्' एकवचन है। इसका क्या रहस्य है ? इसका तात्पर्य यह है कि गोपाङ्गनाओं का अभिमत तो केवल भगवान् श्रीकृष्ण का ही मुखचन्द्र है; परन्तु परकीया थीं न, इसलिये अपना भाव छिपाने के लिये द्विवचन दिया। किन्तु जब तक वे प्रेमातिशय से विभोर न हुईं तब तक तो भावगोपन कर लिया, पर प्रेमातिरेक होने पर वे अपने को न सम्हाल सकीं और उनके मुख से 'वक्त्रम्' ······ 'अनुवेणु-जुष्टम्' निकल ही गया।

उस वेणुजुष्ट मुख का विशेषण 'अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्' दिया है। यह उसकी मधुरता और लावण्य सूचित करने के लिये है। अर्थात् जिन भगवान् श्रीकृष्ण के मुखचन्द्र पर अनुरागिणी गोपाङ्गनाओं के कटाक्षबाण छूटते थे; अथवा जिस मुख में अनुरागिणी व्रजाङ्गनाओं के लिये कटाक्षमोक्ष होता था। अतः भगवान् का रसस्वरूप मुख ही व्रजबालाओं का ध्येय है, उन्हें भगवत्सम्बन्ध ही परम अभिलषित था। इसी-के लिये वे दूसरों से ईर्ष्या भी करती थीं। एक जगह वे कहती हैं—

"धन्यास्तु मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेशम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सह कृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥"

उन्हें इस समय यह भी ध्यान नहीं था कि ये हरिणियाँ चेतन हैं या अचेतन और इन्हें वस्तुतः भगवान् के प्रति अनुराग है या नहीं। इसीसे वे कहती हैं कि इन हरिणियों का जो प्रेमरसप्लुत नेत्रों से निरीक्षण है उसके द्वारा वे मानों भगवान् की पूजा ही करती हैं। यही नहीं, वे वहाँ की भीलनियों के सौभाग्य की भी सराहना करती हैं—

"पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।
तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम्॥"

वृन्दारण्य के जो तृण-गुल्म-लतादि हैं, उनसे भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों का संयोग होने के कारण उनमें जो भगवान् के पादपद्मों में लगा हुआ प्रियतमाओं का कुचकुङ्कुम लग गया है, उसके सौगन्ध्य से विमुग्ध होकर कामज्वर से सन्तप्त हुई भीलनियाँ उस कुङ्कुम को अपने हृदय और मुख में लगाकर उस ताप को शान्त करती हैं। वे बड़ी भाग्यशीला हैं।

उन्हीं भगवान् श्रीकृष्ण के साथ अनुरागिणी व्रजाङ्गनाओं का संयोग करानेवाली इन रात्रियों की विलक्षणता का वर्णन कौन कर सकता है? जब से भगवान् ने कहा था कि 'मयेमा रंस्यथः क्षपाः' तभी से गोपाङ्गनाओं की दृष्टि इन्हीं रात्रियों पर लगी रहती थी। इन रात्रियों का सर्वत्र ताः इमाः आदि सर्वनामों से ही वर्णन किया गया है। एक बार भगवान् ने भी उद्धवजी से कहा था—

"तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥"

हे उद्धव! उन व्रजाङ्गनाओं ने अपने परम प्रियतम मेरे साथ वे अनन्तकोटि ब्राह्मी रात्रियाँ आधे क्षण के समान बिता दी थीं। जिस प्रकार समाधिस्थ योगियों को अत्यन्त दीर्घ काल भी कुछ मालूम नहीं होता, उसी प्रकार मेरे साथ उन्हें वे रात्रियाँ कुछ भी न जान पड़ीं। किन्तु अब मेरे बिना वे ही रात्रियाँ उनके लिये कल्प के समान हो जाती थीं।

यहाँ 'मया' शब्द में भी विलक्षणता है। इससे अस्मत्प्रत्ययगोचर शुद्ध परब्रह्म भी ग्रहण किया जा सकता है। उसके साथ योग होने पर भी समय कुछ मालूम नहीं होता। अतः इससे पूर्ण योगीन्द्र भी ग्रहण किये जा सकते हैं। परन्तु यहाँ अस्मत्-प्रत्ययगोचर शुद्ध ब्रह्म अभिप्रेत नहीं है बल्कि वृन्दावन-गोचर परमानन्दकन्द श्रीकृष्ण-चन्द्र ही अभिप्रेत हैं। फैली हुई वस्तु यदि इकट्ठी हो जाय तो उसमें कुछ विलक्षणता हो ही जाती है। अतः जो व्यापक पूर्णतत्त्व श्यामसुन्दर-रूप में वृन्दारण्य में गोचर हुआ उसमें विलक्षणता होनी ही चाहिये।

अथवा '**वृन्दावने गाः चारयतीति वृन्दावनगोचरः**'—वृन्दावन में गाएँ चराने के कारण भगवान् वृन्दावन-गोचर हैं। जो परब्रह्म निर्विशेष है वही यदि वृन्दावन में गौ चरानेवाला हो जाय तो उसके प्रति प्रेमातिशय होना ही चाहिये; क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म स्वारसिकी प्रीति का विषय नहीं हो सकता। उसका विषय तो यह वृन्दावनस्थ कृष्ण ही हो सकता है। स्वारसिकी प्रीति प्रायः सजातीयों में ही होती है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रथम तो मनुष्यरूप में अभिव्यक्त हुए; फिर गोप होने के कारण उनके सजातीय ही थे। इसलिये ऐश्वर्यादिशून्य होने के कारण उनके प्रति गोपों का निःसंकोच भाव रहता था। इसीसे गोपालरूप से प्रकट हुए भगवान् के प्रति उन गोपालिकाओं को निःशङ्क प्रीति हुई।

अथवा 'वृन्दावने वृन्दावनवर्तिनां गाः इन्द्रियाणि चारयति स्वस्मिन् प्रवर्तयति इति वृन्दावनगोचरः'—

—वे वृन्दावनवर्ती गोप, बालक, गोपाङ्गना, वत्स, पशु, पक्षी और सरीसृप सभी की इन्द्रियों को अपने प्रति प्रवृत्त करते हैं, इसलिये वृन्दावनगोचर हैं। अहो ! जो भगवान् ब्रह्मादि की भी इन्द्रियों के अगोचर हैं, जो बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रों की इन्द्रियों के भी विषय नहीं होते वे ही अपनी असीम कृपा से वृन्दावनवर्ती जीवों की समस्त इन्द्रियों के विषय हो रहे हैं। इसीसे कहा है—

"इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्यङ्गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण साकं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥"

उन परम पुण्यवान् व्रजवासियों ने उन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के साथ क्रीड़ाएँ कीं जो सत्पुरुषों के लिये साक्षात् ब्रह्मानन्दमूर्ति, भावुक भक्तों के परम इष्टदेव और मायामोहित पुरुषों के लिये नरबालक थे। भावुकों का तो ऐसा कथन है कि जो ब्रह्म औपनिषदों के लिये केवल वृत्तिव्याप्य है, बड़े-बड़े भक्तों की भी केवल भावना का ही विषय है और जो अज्ञानियों के लिये एक बालकमात्र है, वही जिन्हें खेलने को मिल गया उन व्रजवासियों के सौभाग्य की क्या महिमा कही जाय ?

"ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितम्।"

उन गँवार ग्वालबालों के साथ वे ग्रामीणों की-सी ही चेष्टाएँ किया करते थे। यह उनके प्रेमातिशय का ही फल था।

यदि कहो कि ऐसा हो ही नहीं सकता; क्योंकि 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य', 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि वचनों के अनुसार ब्रह्म तो समस्त इन्द्रियों का अविषय है। वह वृन्दावनवासियों की इन्द्रियों का विषय कैसे हो सकता है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि 'यन्मनसा न मनुते' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार वह समस्त इन्द्रियों का अविषय होने पर भी 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इस श्रुति के अनुसार सूक्ष्म बुद्धि का विषय तो है ही। इसी प्रकार वह प्रेमदृष्टि का भी विषय हो ही सकता है। जिस प्रकार 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या' इस श्रुति को देखकर आप यह कल्पना करते हैं कि वह संस्कृत बुद्धि का ही विषय होता है, असंस्कृत बुद्धि का विषय नहीं होता, उसी प्रकार हम भी यह कह सकते हैं कि वह प्रेमदृष्टि का विषय है; क्योंकि इस सम्बन्ध में ये वाक्य प्रमाण हैं—

"भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
....।
नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्ष्यते निजभक्तितः॥"

यदि कहो कि नहीं, मन से ब्रह्म नहीं देखा जा सकता। 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया' इस वाक्य का अर्थ केवल इतना ही है कि महावाक्य के श्रवण से ब्रह्म का आवरण निवृत्त होता है; फिर तो स्वयंप्रकाश ब्रह्म का स्वतः ही स्फुरण हो जायगा, तो हम भी यही कह देंगे कि ब्रह्म स्वयंप्रकाश है, प्रेमदृष्टि से केवल उसका आवरण निवृत्त हो जाता है। अब यदि तुम्हारा ऐसा विचार हो कि इन्द्रियगोचरत्वरूप हेतु के कारण ब्रह्म मिथ्या है तो ऐसा सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियों की अविषयता तो परमाणुओं में भी है, तथापि वे मिथ्या नहीं माने गये हैं। अतः इन्द्रियगोचरता-रूप हेतु मिथ्यात्व का साधक नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्ण के सहवास के कारण ही व्रजाङ्गनाओं ने अनन्त-कोटि ब्राह्मी रात्रियाँ क्षणार्ध के समान बिता दी थीं और अब उनके बिना ही उन्हें साधारण रात्रियाँ भी कल्प के समान हो रही हैं। अतः जिन रात्रियों ने उन्हें इतना सुख पहुँचाया वे अवश्य विलक्षण ही थीं।

इसका एक दूसरा तात्पर्य भी हो सकता है। महाराज परीक्षित् को एक बड़ा सन्देह था। उनके मन में इस बात का बड़ा उद्वेग था कि भगवान् तो बड़े ही भक्त-वत्सल हैं, उन्होंने सदा ही भक्तों के ऊपर बड़ा अनुग्रह प्रदर्शित किया है; नन्द, उपनन्द आदि वृद्ध गोपों को तो उन्होंने अपनी दिव्यातिदिव्य लीलाएँ दिखाकर परमानन्द प्रदान किया, तथा उन्हें ब्रह्मह्लद और महावैकुण्ठ का भी दर्शन कराया; परन्तु जो गोपाङ्गनाएँ अनेकों जन्मों से उनकी मधुरभाव से उपासना कर रही थीं, जिनमें अन्यपरा श्रुतियाँ, ऋषिचरी और देवकन्या आदि साधनसिद्धा व्रजाङ्गनाएँ सम्मिलित हैं, यहाँ तक कि उनमें से अनेकों ने तो भगवत्संस्पर्श की कामना से ललिता, विशाखा आदि यूथेश्वरियों की ही उपासना की थी—उन सबकी ओर से न जाने भगवान् क्यों उदासीन थे? उनकी मनोकामना भी तो पूर्ण होनी ही चाहिये थी। भगवान् तो आप्तकाम हैं, फिर गोपाङ्गनाओं की मनोकामना कैसे पूर्ण हो? गोपाङ्गनाओं की तो यह अभिलाषा बहुत समय से थी किन्तु जब तक भगवान् को रमणाभिलाष न हो तब तक उसकी पूर्ति कैसे हो सकती है? परीक्षित् को यह सन्देह हो ही रहा था कि श्री शुकदेवजी बोल उठे—

"भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥"

तात्पर्य यह है कि 'भगवानपि उपाश्रितः उपासितः मायां वीक्ष्य ता रात्रीश्चक्रे'—उनके द्वारा इस जन्म और पूर्वजन्मों में उपासित हुए भगवान् ने भी माया की ओर देखकर वे विलक्षण रात्रियाँ बनायीं।

इन मुनिरूपा और श्रुतिरूपा व्रजाङ्गनाओं के भी कई भेद हैं। श्रुतिरूपा व्रजाङ्गनाओं में जो अनन्यपरा हैं उनमें भी मानिनी और मुग्धा ये दो भेद हैं। जो

श्रुतियाँ निषेधमुख से परब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं वे मानिनी हैं; जैसे 'नेति नेति', 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि। भावुकों ने इसके बड़े विलक्षण तात्पर्य व्यक्त किये हैं। जिस प्रकार मानिनी नायिका ऊपर से अनभिलाष दिखलाते हुए भी भीतर से सर्वथा नायक का ही अनुकरण करती है उसी प्रकार ये निषेधमुख श्रुतियाँ भी 'न-न' करके ही अपने परम ध्येय परब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं। 'नेति-नेति' वचनामृत बोलती तथा मुग्धा साक्षात् रूप से परब्रह्म का निरूपण करती हैं; जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' इत्यादि।

इसके सिवा जो अन्यपरा श्रुतियाँ, मुनिचरी और देव-कन्यारूपा व्रजाङ्गनाएँ हैं, उनमें कोई तो सख्यभाववाली हैं और कोई कान्तभाववाली हैं। इनमें सख्य-भाववती परिपक्वा हैं और कान्तभाववती अपरिपक्वा हैं। सख्यभाववालियों का नित्य निकुञ्ज-लीला में भी प्रवेश है, क्योंकि उनका व्रत तत्सुखसुखित्व है तथा जो कान्तभाववती हैं वे भी ललितादि की उपासना करके सख्यभाववती हो जाती हैं; जैसा कि कहा है—

"मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥"

अर्थात् जो मेरे में जारभाव रखनेवाली और मेरे स्वरूप को नहीं जानती थीं वे भी यूथेश्वरी आदि के सङ्ग से मुझ परब्रह्म को प्राप्त हो गयीं।

इसका यह भी तात्पर्य है कि जो पहले कान्तभाववाली थीं वे पीछे सख्य-भाववाली हो गयीं। तब इसी श्लोक का दूसरे प्रकार से अर्थ किया जायगा। 'मम इमाः मत्काः'—जो मेरी ममता की आस्पद हैं; मैं स्वयं बड़े-बड़े योगीन्द्रों की ममता का आस्पद हूँ और उनमें मेरी भी ममता है। और अबला हैं; 'बलं आत्मनिष्ठादाढर्यं तच्छून्याः' अर्थात् आत्मनिष्ठा की परिपक्वता से रहित हैं; और मेरी प्राप्ति आत्मनिष्ठों को ही होती है, क्योंकि श्रुति कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'। इसीसे यह भी कहा है—'पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' अर्थात् उपक्रमोपसंहारादि षड्विध लिङ्ग से श्रुतियों का परम तात्पर्य ब्रह्म में निश्चित कर फिर बाल्य से—बालभाव से यानी संशय-विपर्ययरहित होकर स्थित हो। इस प्रकार जो मदीया होने पर भी मेरे में पूर्णतया परिनिष्ठिता नहीं हैं अथवा मेरे प्रति पूर्ण आत्मीयता का भाव नहीं रखतीं। और कैसी हैं? 'अस्वरूपविदः' अर्थात् मैं शुद्ध-बुद्ध-परब्रह्म हूँ ऐसा नहीं जानतीं अथवा जिन्हें मेरी परम प्रेमास्पदता का ज्ञान नहीं है; क्योंकि भगवान् के साथ प्रेम सम्बन्ध हो जाने पर तो भक्त उनपर अपना अधिकार समझने लगता है; तब तो भक्तवर बिल्वमङ्गल की तरह वह भी कहने लगता है—

"हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥"

फिर तो विवश हो जाने के कारण उसके हृदय से हरि कभी हटते ही नहीं।

"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद् हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥"

जिस प्रकार पिघली हुई लाख में यदि हल्दी मिला दी जाय तो फिर उन दोनों का पार्थक्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार भक्त के द्रवीभूत मन से जब भगवान् के स्वरूप का तादात्म्य हो जाता है तो उनका कभी विप्रयोग नहीं होता। फिर भक्तहृदय भगवान् को नहीं भूल सकता और भगवान् भक्त के हृदय को नहीं छोड़ सकते। उन गोपाङ्गनाओं का भाव इतना प्रौढ़ नहीं हुआ था; इसीसे वे अबला और अस्वरूपविद् थीं; किन्तु उन्होंने भी 'ब्रह्म मां परमं प्रापुः'—मुझ परब्रह्म को प्राप्त कर लिया। कौन ब्रह्म? 'परमम्'—परा उत्कृष्टतमा अभिमता मा श्रीराधा यस्य तम्। अर्थात् जिसको पराशक्ति मा*—श्रीराधिकाजी ही अभिमत हैं उस परम ब्रह्म को प्राप्त कर लिया। यह अर्थ सख्यभाववती गोपाङ्गनाओं के लिये अनुकूल ही है, क्योंकि श्रीवृषभानुसुता स्वाधीनभर्तृका होने के कारण मुख्य नायिका हैं; अतः वे ही भगवान् की परम-प्रेयसी हैं। शेष सब सखियाँ कान्तभावशून्य सख्यभाववाली हैं; इसलिये वे उन सबकी भी सेव्य हैं।

वह परब्रह्म कैसा है? 'मा रमणम्—मायां रमणं यस्य' अर्थात् जिसका ब्रह्माकारप्रमा अथवा श्रीवृषभानुनन्दिनी में रमण है; और कैसा है–'जारम्' अर्थात् जो जारबुद्धि से वेद्यमात्र है, वस्तुतः जार नहीं; क्योंकि परमात्मा है। अथवा 'जरयति कामवासनाम् इति जारम्' कामवासना को जीर्ण कर देता है इसलिये ब्रह्म जार है। ऐसे मुझ परब्रह्म को 'ताः शतसहस्रशः संगात्प्रापुः'—उन सैकड़ों-हजारों गोपाङ्गनाओं ने (ललितादि के) सङ्ग से प्राप्त कर लिया। अर्थात् पहले वे कान्तभाववाली थीं किन्तु इनके सहवास से सख्यभाववाली हो गयीं।

'ताः' शब्द विलक्षणता का द्योतक है—यह बात ऊपर कही जा चुकी है। उन रात्रियों की विलक्षणता का यद्यपि पहले भी वर्णन किया जा चुका है तथापि यहाँ हम फिर उनकी कुछ विलक्षणताओं का विचार करते हैं। उनमें एक तो यह बहुत बड़ी विलक्षणता थी कि अनन्तकोटि ब्राह्मरात्रियों का एक ही समय में निर्माण हुआ और वे सबकी सब पूर्णचन्द्रसम्पन्ना थीं। यद्यपि दक्ष प्रजापति के शाप के कारण चन्द्रमा की पूर्णता स्थायी नहीं है तथापि यहाँ भगवान् ने जो रात्रियाँ बनायीं वे सभी पूर्णचन्द्रसमलंकृता थीं। साथ ही एक विशेषता और भी थी। अन्य रात्रियों में चन्द्रमा पूर्व दिशा में उदित होकर जब मध्याकाश में पहुँच जाता है तो फिर वह जैसे-जैसे पश्चिम की ओर जाता है वैसे-वैसे ही उसकी ज्योति क्षीण होने लगती है, परन्तु इन

---

* मीयते सेव्यते प्राप्यते ज्ञायते योगीन्द्रमुनीन्द्रैर्वेदैश्च या सा मा।

रात्रियों में चन्द्रमा की गति केवल मध्याकाश पर्यन्त ही थी। इसके सिवा एक विचित्रता यह भी थी कि रात्रियों का अनुभव केवल व्रजाङ्गनाओं को ही हुआ था। और सबके लिये तो वह एक प्राकृत रात्रि ही थी। यदि सबको ऐसा ही अनुभव होता तो इतने समय तक पुत्रप्राणा यशोदा और स्नेहमूर्ति नन्दबाबा किस प्रकार अपने लाड़ले लाल का पार्थक्य सहन कर सकते ? यह नियम है कि जब किसी दरिद्र को कोई महामूल्य रत्न मिल जाता है तो वह पल-पल में उसकी सँभाल करता रहता है। इसी प्रकार माता यशोदा और नन्दबाबा भी अचिन्त्यानन्दघन परमानन्दमूर्ति भगवान् कृष्ण को पुत्ररूप से पाकर पल-पल में उनका मुखचन्द्र निहारने को लालायित रहते थे और रात्रि में भी कई बार उठकर अपने लाल की देख-रेख करते थे। अतः उस रात्रि में ही वे इतनी देर कैसे सोते रह सकते थे ? परन्तु वे जब उठे तभी उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने पास ही देखा। इस प्रकार, ये रात्रियाँ बड़ी ही विचित्र थीं। इन्हीं रात्रियों में अनन्तकोटि व्रजाङ्गनाओं की चिरकालीन कामना पूर्ण हुई थी।

इस सम्बन्ध में एक और भी विचार है। किन्हीं-किन्हीं का मत है कि उस रात्रि में शरद्, वसन्त और ग्रीष्म इन तीनों ऋतुओं की १८० रात्रियों का अनुभव हुआ था; और उनमें तीनों ही ऋतुओं की रमणोपयोगी सामग्रियाँ विद्यमान थीं। रात्रियों का नाम दोषा है। उनमें सदा ही कुछ न कुछ दोष रहते ही हैं, इससे रात्रि में बहुत से भय भी रहते हैं किन्तु भगवान् ने उन सब दोषों की निवृत्ति के लिये ये निर्दोष रात्रियाँ बनायीं। उनमें उपर्युक्त तीनों ऋतुओं की रात्रियों के समस्त गुण तो थे, किन्तु दोष कोई न था। कोई ऐसा भी कहते हैं कि तीन ही क्या, उनमें तो सभी ऋतुओं की रात्रियों का निवेश किया गया था, क्योंकि वहाँ सभी ऋतुओं में सेवन करने योग्य भोग्य-सामग्री देखी जाती है।

इसके सिवा 'उत्फुल्लमल्लिकाः' इस विशेषण का भी यही तात्पर्य है कि उन रात्रियों में मल्लिकोपलक्षित सभी पुष्प खिले हुए थे। बहुत से पुष्प ऐसे हैं जो रात्रि में नहीं खिलते परन्तु वहाँ कुन्द और कुमुद साथ-साथ खिले हुए थे। जैसे —

"रेमे तत्तरलानन्दकुमुदामोदवायुना।"

और —

"कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः।"

इससे सिद्ध क्या होता है ? सो बतलाते हैं—वसन्त ऋतु कामदेव का मित्र है। वह अभी तक अपने मित्र के वियोग में सन्तप्त था। आज उसने सोचा कि जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपनी सौन्दर्य-सुधा से आत्माराम मुनियों के भी मनों को मोहित करनेवाले हैं आज वे ही श्रीवृषभानुनन्दिनी और उनकी सहचरियों के सौन्दर्य-कण से मोहित हो रहे हैं, 'तद्वशो दारुयन्त्रवत्।' अतः सम्भव है, आज परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र और व्रजसुन्दरियों के सम्प्रयोग में हमारे परम मित्र मनोज का उद्भव हो जाय अतः इनके स्वागत के लिये हमें भी खूब तैयारी करनी चाहिये। इसीसे मानो

मनोजमित्र ऋतुराज ने सारे पुष्पों को एक साथ विकसित कर दिया है। यद्यपि शरद् ऋतु में पुष्पों का विकास रुक जाता है, तथापि पुष्पविकास के विरोधी जाड्यमय शरद् ऋतु में भी मल्लिकादि उपलक्षित समस्त पुष्प खिल गये। अर्थात् उस जाड्यमय समय में भी पुष्पों का विकास ही नहीं हुआ प्रत्युत वे अत्यन्त विकसित हो उठे। किन्हीं-किन्हीं का कथन है कि मल्लिकापुष्प शरद् ऋतु में फुल्लित होते हैं, वसन्त में उन्मुख होते हैं और ग्रीष्म में उत्फुल्ल हो जाते हैं; अतः यहाँ उत्फुल्लमल्लिका कहकर विरोधाभास द्योतित किया है। इससे सूचित होता है कि यहाँ शरद् में वसन्त ऋतु का निवेश किया था।

साथ ही वसन्त ने यह भी सोचा कि भगवान् श्रीकृष्ण हमारे मित्र कामदेव को परास्त करने का आयोजन कर रहे हैं। वह उनका प्रभाव जानता ही था। उसे यह मालूम था ही कि इन्होंने इन्द्र और ब्रह्मा का भी मान मर्दन कर दिया है। यही दशा कुबेर और वरुण की भी हुई थी। अब ये सबपर विजय प्राप्त करके हमारे मित्र को भी जीतना चाहते हैं; परन्तु वे भी किसीसे कम नहीं हैं। वे भी ब्रह्मादि-विजय-संरूढदर्प हैं। अतः वसन्त ने सोचा कि यह बड़ा विकट युद्ध होगा। इसलिये हमें मित्रवर मनोज की सहायता करनी चाहिये; क्योंकि—

"धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपतिकाल परखिये चारी॥"

अच्छा तो, हमें क्या करना चाहिये? वीरों के लिये सबसे बड़ी सहायता यही है कि उनके पास अस्त्र-शस्त्रों की कमी न रहे। हमारे मित्र पुष्पधन्वा हैं और उनके शस्त्र भी पुष्प ही हैं। अतः उनकी सहायता के लिये मुझे समस्त वृन्दारण्य को विविध प्रकार के सुन्दर और सुवासित सुमनों से सुसज्जित कर देना चाहिये। इसीसे उसने यथायोग्य काल की अपेक्षा न करके सब प्रकार के पुष्पों को विकसित कर दिया है। कामोद्रेक के आलम्बन-विभाव नायक के लिये नायिका और नायिका के लिये नायक हैं तथा पुष्प, चन्द्रज्योत्स्ना, मलयानिल आदि उसके उद्दीपन-विभाव हैं। पुष्प तो साक्षात् कन्दर्प के बाण ही हैं। उनमें कुन्दकुड्मल तो शूल का काम करता है। जो उद्दीपन-विभाव नायक-नायिका के संयोग में रसवृद्धि करनेवाले हैं वे ही उनका वियोग होने पर अत्यन्त दुःखद हो जाते हैं। उस अवस्था में कुन्दकुसुम शूल हो जाते हैं, केवल (केवड़ा) भाले का काम करता है और किंशुक (पलाशपुष्प) मानो अर्धचन्द्र बाण हो जाता है। किंशुकपुष्प रक्तवर्ण होता है सो मानो वह विरहियों का वक्षःस्थल विदीर्ण करके उनके रक्त से रञ्जित हो रहा है। इसी प्रकार अन्य पुष्पों में भी विभिन्न शस्त्रास्त्र की कल्पना कर लेनी चाहिये। भगवान् की रची हुई ये रात्रियाँ प्राकृत नहीं थीं। अप्राकृत भगवान् के साथ अप्राकृत गोपाङ्गनाओं की यह अप्राकृत लीला अप्राकृत रात्रियों में ही होनी चाहिये थी। अतः भगवान् ने उन अप्राकृत रात्रियों का निर्माण किया।

इस प्रकार भगवान् ने रात्रियाँ तो बना लीं, परन्तु उनको अपना मन तो है नहीं, 'अप्राणो ह्यमना शुभ्रः।' इसलिये उन्होंने "मनश्चक्रे" मन भी बनाया। तात्पर्य यह है कि अभी तक तो यही समझा जाता था कि भगवान् देह-देही-विभाग से रहित हैं; वे केवल भक्तानुग्रह के लिये ही शरीरादिमान्-से प्रतीत होते थे। परन्तु यह लीला इस तरह नहीं होगी। यहाँ तो उन्हें व्यासक्तचित्त होना पड़ेगा। यदि अमना भगवान् रमण करेंगे तो व्रजाङ्गनाओं की कामना पूर्ण न होगी। इसीसे उन्होंने मन भी बनाया।

परन्तु बनाया कैसे ? 'योगमायां वीक्ष्य'—योगमाया की ओर देखकर। इसमें उन्हें कोई कठिनता नहीं हुई; उन्होंने योगमाया की ओर केवल देख दिया। उस निरीक्षण से सब बात अपने-आप बन गयी। वह योगमाया क्या है ? 'योगाय रमणाय अथवा अघटितघटनाय या माया कृपा' अर्थात् रमण अथवा अघटित घटना के लिये जो माया यानी कृपा है वही योगमाया है। यह ठीक ही है, क्योंकि अमना का मनोनिर्माण और दोषा रात्रियों को निर्दोष बनाना अघटित घटना ही तो है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है उसके अनुसार 'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः' इस पद की व्युत्पत्ति एक अन्य प्रकार से भी हो सकती है।

यथा—

'शरान् ददातीति शरदः वसन्तः तेन उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितानि सर्वाणि पुष्पाणि यासु ताः।'

अर्थात् जो कामदेव को शर प्रदान करता है वह वसन्त ही शरद् है, उसने जिन रात्रियों में मल्लिका से उपलक्षित समस्त पुष्पों को विकसित कर दिया है वे रात्रियाँ ही शरदोत्फुल्लमल्लिका हैं।

शरद् ऋतु विशेषतया जड़ता की सूचक होती है। अतः इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इस लीला के प्रभाव से जाड्यमय—मलविक्षेपादिसमाक्रान्त मन में भी मल्लिका के समान प्रेमतत्त्व का विकास हो जाता है; तथा भगवत्स्वरूप और भगवल्लीलाओं का अनुशीलन ही प्रधानतया प्रेमतत्त्व के आविर्भाव में हेतु है। प्रेम के आविर्भाव में जड़ाजड़ का विचार भी नहीं है। इसीसे यहाँ दिखलाया है कि वृन्दावन में जितने भी तृण-लता एवं वृक्षादि हैं वे अचेतन नहीं बल्कि चेतन ही हैं; यदि वे जड़ अर्थात् स्वभावपरतन्त्र होते तो शरद् ऋतु में असमय ही मल्लिकाओं का विकास कैसे होता ? इन्हें अवसर का ज्ञान है और ये अपने स्वभाव का भी विचार रखते हैं, इसीसे भगवल्लीला का सुअवसर देखकर असमय में भी वे पुष्पादि-सम्पन्न हो गये। इससे सिद्ध होता है कि व्रज के तरुवर एवं लताएँ भी चेतन ही हैं। इसीसे भगवान् ने बलभद्रजी का गुणकीर्तन करते हुए उनसे निवेदन किया था—'प्रायो

अमी मुनिगणा भगवदीयमुख्याः' —ये तरुवर सम्भवतः आपके प्रधान भक्त मुनिजन ही हैं। ये अपने आत्मभूत आपको किसी भी दशा में छोड़ना नहीं चाहते। अतः जिस प्रकार आप मनुष्याकार होकर गूढ़रूप से लीला कर रहे हैं उसी प्रकार ये भी वृक्षादि-रूप होकर आपकी सेवा में उपस्थित हो गये हैं। ये अपनी पुष्पादि-सम्पन्न शाखारूप शिखाओं से आपके पदतलसंस्पृष्ट पृथिवीतल का स्पर्श करना चाहते हैं।

इसके सिवा एक अन्य प्रसङ्ग में यह भी कहा है कि ये वृक्ष मानो वेदद्रुम हैं, इनकी जो शाखाएँ हैं वे मानो माध्यन्दिनी आदि वेद की शाखाएँ हैं, पल्लव मानो उपनिषदें हैं और उनपर जो पक्षी हैं वे मानो आत्माराम मुनिगण हैं—

'आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान् शृण्वन्त्यमीलितदृशो विगतान्यवाचः।'

'जो मनोहर-शोभारूप वृक्ष की भुजाओं पर आरूढ़ होकर अन्य किसी प्रकार का शब्द न करते हुए खुले नेत्रों से वंशीध्वनि श्रवण करते रहते हैं।' यहाँ 'अमीलित-दृशः' यह पद विशेष रहस्यपूर्ण है। यद्यपि कानों से मुरलीध्वनि सुनते समय नेत्रों का व्यापार रुक जाता है, क्योंकि जिस समय मन एक इन्द्रिय के विषय का आस्वादन करने में तत्पर है उस समय वह दूसरे इन्द्रिय के विषय को किस प्रकार ग्रहण करेगा? किन्तु आपके रूप-लावण्य का तो विलक्षण माधुर्य है; वह उनके नेत्रों को बन्द ही नहीं होने देता। अतः मालूम होता है, ये पक्षिगण अवश्य कोई भगवत्कथानुरागी मुनिजन ही हैं।

तात्पर्य यह है कि जहाँ भगवत्प्रकाश होता है वहाँ सभी प्रकार के दोषों का निराकरण होकर समस्त गुणों का समावेश हो जाता है।

'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।'

अर्थात् जहाँ श्रीहरि की अनुरक्ति रहती है वहाँ समस्त गुणों के सहित सम्पूर्ण देव निवास करते हैं और वहाँ समस्त दोषों का अभाव हो जाता है।

"न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः।
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तमे॥"

जो पुण्यात्मा लोग श्रीपुरुषोत्तम भगवान् के प्रति भक्तिभाव रखनेवाले हैं उनमें न क्रोध रहता है, न मत्सरता रहती है और न लोभ या अशुभ मति ही रहती है। अतः यदि भगवल्लीला के लिये रची हुई उन दिव्य रात्रियों में समस्त गुणों का विकास हुआ तो आश्चर्य ही क्या है?

इसीसे यहाँ एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है।

'यः अगमायामुपाश्रितः'—न गच्छन्तीति अगाः तत्रत्याः वृक्षाः तेषां या स्वविषयिणी मा मतिः प्रेमवती बुद्धिः सा अगमा तस्याम् उपाश्रितः तन्निमित्त-मेव भगवान् ता आहूय रन्तुं मनश्चक्रे।

अर्थात् जो विचलित नहीं होते, वे वहाँ के वृक्ष ही 'अग' हैं, उनकी जो अपने प्रति प्रेमवती बुद्धि है वही 'मा' है, उस अगमा का आश्रय कर, अर्थात् उसीके लिये भगवान् ने उन गोपाङ्गनाओं को बुलाकर रमण करने की इच्छा की।

इसका सीधा-सादा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि भगवान् ने योगमाया का आश्रय ले, उनके लौकिक-बन्धनों का विच्छेद करने के लिये उन्हें बुलाकर उनके साथ रमण करने की इच्छा की। भगवान् ने देखा कि ये गोपाङ्गनाएँ जन्म-जन्मान्तर से मेरी उपासना करने के कारण मेरे साथ रमण करने योग्य हो गयी हैं, ये लोककृत लज्जादि-बन्धन के योग्य नहीं हैं, किन्तु दूसरी ओर उन्होंने यह भी देखा कि वे लौकिक बन्धनों से बँधी हुई हैं। इस प्रकार उनका दोनों ओर खिंचाव है। तथापि वे हैं कैसी ? 'रात्रीः' अर्थात् अपने को और अपने सर्वस्व को मेरे ही पादपद्मों में समर्पण करनेवाली हैं। इनके धन, रूप और जीवन सब मेरे ही लिये हैं। इनकी दृष्टि में मेरे बिना जीवन का कोई मूल्य नहीं है। उन्हें इस प्रकार उभयतःपाशारज्जु में बँधा हुआ देखकर भगवान् ने अयोगाय—उनके लोक-कुल-लज्जादिरूप बन्धन के विच्छेद के लिये माया—कृपा का आश्रय लेकर उनके साथ रमण की इच्छा की। इसीसे उन्होंने वेणुनाद के द्वारा उनके लोक एवं कुल आदि के बन्धनों को विच्छिन्न करके उन्हें प्रेमाकुल कर दिया।

अथवा—

"अयस्कान्तमणिं प्रति अयोवत् अच्छति स्वभक्तान् प्रति या सा अयोगा; अयोगा चासौ माया-कृपा अयोगमाया—"

—जो अपने भक्तों के प्रति इस प्रकार आकर्षित हो जैसे लोहा चुम्बक की ओर, उसका नाम अयोगा है, ऐसी जो अयोगा माया—कृपा है उसे ही अयोगमाया समझना चाहिये; क्योंकि भगवान् की कृपा भक्तों के प्रति उसी प्रकार आकर्षित हो जाती है जैसे चुम्बक के प्रति लोहा। यद्यपि भगवान् की कृपा सर्वदा सर्वत्र है तथापि उसका आकर्षण करने में भक्तजन ही समर्थ हैं। अतः भगवान् भी उसी कृपा के अधीन होकर उनके साथ रमण करने को उद्यत हो गये, क्योंकि भगवान् की जो ऐश्वर्यशक्ति और मायाशक्ति हैं, वे भी अपनी नियन्त्री इस कृपाशक्ति के ही अधीन हैं।

अथवा परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र का जो दिव्य मङ्गलमय वपु है वह अयस्कान्तमणि के समान है, उसके प्रति जो अयः—लोहे के समान आकर्षित होती हैं वे व्रजवनिताएँ ही अयोगा हैं। तात्पर्य यह है कि गोपाङ्गनाएँ भगवान् के पास अपनी इच्छा से नहीं गयीं, बल्कि भगवत्सौन्दर्यरूप अयस्कान्त ने उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर लिया। अतः उनपर कृपा करके भगवान् ने वे रात्रियाँ बनायीं।

अथवा—

स्वेन सह युज्यन्ते ये ते योगाः गोपदाराः; तेषां या माया-कृपा तामुपाश्रितः योगमायामुपाश्रितः।

अर्थात् जो अपने से युक्त होनेवाली हैं वे गोपवधूटी ही 'योगा' हैं, उनके प्रति जो माया है उसीका नाम योगमाया है। उसका आश्रय लेकर उन्होंने रमण करने की इच्छा की। इस प्रकार अयोग और योग दोनों ही पदों से गोपाङ्गनाएँ अभिप्रेत हैं। अतः—

योगानामयोगानाञ्च या मा स्वविषयिणी प्रीतिमती* मा प्रमा स्निग्धा मानसी वृत्तिः सा योगमा।

अर्थात् योग और अयोग इन दोनों की ही जो अपने प्रति प्रेममयी मनोवृत्ति है वह योगमा है।

भक्ति और ज्ञान ये दोनों अन्तःकरण के ही परिणाम हैं। परमप्रेमास्पद भगवान् का जो अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक चिन्तन है वही भक्ति है। इसी प्रकार प्रमा भी अन्तःकरण की ही वृत्ति है। परन्तु जो मानसिक द्रवता की अपेक्षा से रहित अन्तःकरण की प्रमेयाकाराकारित वृत्ति है उसका नाम प्रमा है और जो प्रमाण अथवा संस्कारजनित द्रवता की अपेक्षावाली प्रेमास्पदाकारा वृत्ति है उसे भक्ति कहते हैं। वेदान्त में जिन भक्ति और ज्ञान का विचार किया गया है उनके स्वरूप, साधन और फल श्रीमधुसूदन स्वामी ने भिन्न-भिन्न बतलाये हैं। वे कहते हैं कि अन्तःकरण की जो सविशेष भगवदाकाराकारित स्निग्धा वृत्ति है वह भक्ति है और जो अन्तःकरण-द्रवतानपेक्ष महावाक्यजनित निर्विशेष ब्रह्माकाराकारित वृत्ति है उसे ज्ञान कहते हैं।

उनके कथनानुसार भक्ति के तीन भेद हैं—प्राकृत, मध्यमा और उत्तमा। उनमें प्राकृत भक्त वह है जो केवल भगवान् की प्रतिमाओं में ही श्रद्धा रखता है और उन्हींकी पूजा करता है, भगवान् के भक्तों तथा अन्य पुरुषों में श्रद्धा नहीं रखता; यथा—

> **"अर्चायामेव हरये पूजां यो श्रद्धयेहते।**
> **न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥"**

जो ईश्वर में प्रेम करता है, भगवान् के आश्रित रहनेवालों के प्रति मित्रता का भाव रखता है, मूर्खों पर कृपा करता है और भगवद्द्वेषियों की उपेक्षा करता है वह मध्यम है—

> **"ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।**
> **प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥"**

तथा उत्तम भक्त उसे कहते हैं जो सम्पूर्ण प्राणियों में अपना भगवद्भाव देखता है, और समस्त प्राणियों को अपने आत्मारूप भगवान् में देखता है, जैसा कि कहा है—

* प्रीतिर्द्रुतिः प्रणयो द्रवावस्था इति मधुसूदनस्वाम्युक्तेः।

"सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥"

ऊपर के श्लोक का तात्पर्य यह है—'आत्मनः स्वस्य त्वंपदार्थस्य भगवद्भावं तत्पदार्थत्वं सर्वभूतेषु पश्येत्' अर्थात् (जिस प्रकार उपाधि का बाध करने पर घटाकाश की महाकाशरूप से व्यापकता है उसी प्रकार) जो समस्त प्राणियों में तत्पदार्थरूप से त्वंपदार्थ की व्यापकता देखता है एवं भगवदभिन्न आत्मा में समस्त भूतों को कल्पित रूप से देखता है। अथवा 'आत्मनोऽन्तर्यामिणो भगवद्भावमैश्वर्यवत्त्वं नियन्तृत्वं सर्वत्र भावयति तथा भगवति परमैश्वर्यवत्यात्मनि आत्मनियम्यत्वेनाधेयत्वेन च भूतानि पश्येत्' अर्थात् जो सर्वत्र आत्मा यानी अन्तर्यामी का भगवद्भाव—ऐश्वर्यवत्व अर्थात् नियन्तृत्व देखता है और भगवान्—परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा में उसके नियम्य और आधेयरूप से समस्त भूतों को देखता है वही श्रेष्ठ भगवद्भक्त है।

इनमें जो उत्तमा भक्ति है वह भी तीन प्रकार की है। जहाँ भगवदाकाराकारित अन्तःकरण से समस्त विद्यमान जगत् का भगवद्रूप से ग्रहण किया जाय वह प्रथम कोटि की उत्तमा-भक्ति है। ऊपर जो उत्तमा-भक्ति का लक्षण बतलाया है वह प्रथम कोटि की ही है। दूसरी कोटि की उत्तमा-भक्ति वह है जहाँ भगवदाकाराकारित द्रुत अन्तःकरण से प्रपञ्चमिथ्यात्वनिश्चयपूर्वक सबकी भगवद्रूपता का निश्चय किया जाय; जैसे कि कहा है—

"तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं
स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्॥
त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते
मायात उद्यदपि यत्सदिवावभाति॥"

और जहाँ प्रपञ्च के मिथ्यात्व और सत्यत्व दोनों ही भावों से रहित द्रुतचित्त से केवल भगवान् का ही ग्रहण हो वह तीसरी कोटि की उत्तमा भक्ति है; जैसे—

"ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्वृतचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकाङ्गोऽतिनिर्वृतः।
आनन्दसम्प्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने॥"

इस प्रकार द्रुतचित्त की भगवदाकारा मानसी वृत्ति को 'मा' कहते हैं; अयोगों को जो मा—प्रीति अर्थात् मति है वही 'अयोगमा' है, उस अयोगमा में उपाश्रित हुए अर्थात् व्रजाङ्गनाओं की ऐसी प्रीतिमती बुद्धि से आर्कषित हुए भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। अर्थात् अपने प्रति जो ऐसी प्रीतिमती बुद्धि है उसके परतन्त्र हुए भगवान् उन गोपांगनाओं का आवाहन कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की। क्योंकि भगवान् प्रेम-मधु-मधुकर हैं, और जो प्रेम-मधु-आकर सुमनसों के सुमनस हैं उनके

प्रति भगवान् का आकर्षण होना उचित ही है। उधर जिनका चित्त समस्त सुमनाओं के सुमनस श्रीभगवान् के प्रति आकर्षित होता है, वे सुमना कहे जाते हैं। श्रीभगवान् के प्रति आकर्षित होना ही उनका सुमनस्त्व है। अतः शोभन स्वभाववालों का सिद्धान्त यही है कि भगवान् से प्रीति करें। वही वाक् सुन्दर है जिसे भगवान् का गुणगान होता है, वे ही कर्णपुट धन्य हैं जिनसे भगवत्कथाओं का श्रवण होता है और वे ही चरण धन्य हैं जिनसे भगवद्धामों में गमन होता है। इसीसे अर्जुन से भी भगवान् ने यही कहा है —

> **"मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।**
> **निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥**
> **मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
> **मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥"**

यह बात तो अमना भगवान् के विषय में है। ये व्रजाङ्गनाएँ तो सुमनसों की शिरोमणि हैं। अतः उनका जो मन है, वह तो प्रेम का आकर है ही। उनके प्रेमकण से ही समस्त संसार प्रेममय हो रहा है। अतः इनके प्रेममधु-आकर-मन का प्रेम-मधु-मधुप भगवान् समाश्रयण करेंगे ही। इसीसे भगवान् ने गोपाङ्गनाओं का आह्वान कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की।

अथवा योगमायामुपाश्रितः—इस पद का यह तात्पर्य समझो—'**अन्यत्र चञ्चलापि भगवत्यचञ्चला या मा सा अगमा तस्यामुपाश्रितो यः**' अर्थात् अन्यत्र चञ्चला होने पर भी जो भगवान् के प्रति अचञ्चला है उस मा—लक्ष्मी को अगमा कहते हैं। उस अगमा में जो भगवान् उपाश्रित हैं उन्होंने रमण की इच्छा की। यह बात गोपाङ्गनाओं के प्रेमसौष्ठव की द्योतक है। इसीके पोषण में यह भी अर्थ किया जाता है—'अगमा दुरवगममाहात्म्या या मा वृषभानुनन्दिनी तस्यामुपाश्रितः'—जिन श्रीवृषभानुनन्दिनी का माहात्म्य अत्यन्त दुर्बोध है उनमें आश्रित जो भगवान् उन्होंने रमण की इच्छा की। इसका तात्पर्य यह है कि लक्ष्मीजी का माहात्म्य तो सुज्ञेय है, किन्तु श्रीवृषभानुनन्दिनी की महिमा अत्यन्त दुर्बोध है। क्योंकि जिन श्रीभगवान् के कृपाकटाक्ष की अपेक्षा समस्त देवगण रखते हैं वे ही इनके कृपाकटाक्ष को बाट निहारा करते हैं। वे वृषभानुनन्दिनी कैसी हैं? '**न गच्छतीति अगा, अगा अचला सदैकरूपा मा अङ्गशोभा सौन्दर्यलक्ष्मीः यस्याः सा**'—अर्थात् जिनके अङ्ग की शोभा सर्वथा अक्षुण्ण है उन्हीं श्रीराधिकाजी के अद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य से मोहित हुए श्रीभगवान् ने उन्हें बुलाकर उनके साथ रमण करने की इच्छा की।

यहाँ तक अज्ञ और मुमुक्षुओं की दृष्टि से अर्थ किये गये; अब मुक्तों की दृष्टि से व्याख्या करते हैं—

"ताः ज्ञानीरूपाः प्रजा वीक्ष्य ता आहूय ताभिः सह रन्तुं मनश्चक्रे"—

उन ज्ञानीरूपा प्रजाओं को देखकर उनका आह्वान कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की। वे ज्ञानीरूपा प्रजाएँ कैसी हैं ?–'ताः'–तदात्मिका अर्थात् भगवद्रूपा हैं, क्योंकि ऐसा कहा भी है–"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्', 'एकभक्तिर्विशिष्यते' इत्यादि। और कैसी हैं ?–'रात्रीः' अर्थात् भगवान् में अशेष-विशेष-समर्पण करनेवाली हैं। यहाँ पूर्ण स्वात्मसमर्पण है, क्योंकि अन्य-निष्ठाओं में अपना पृथक् अस्तित्व रह ही जाता है। अथवा 'रात्रीः' पद का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि वह आत्मस्वरूपा होने के कारण रात्रियों के समान हैं, क्योंकि ये आत्मस्वरूपा हैं और व्यवहार का अविषय होने के कारण अज्ञानियों के लिये आत्मा रात्रिरूप ही है। अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि जितना व्यावहारिक प्रपञ्च है वह जिसकी दृष्टि में रात्रिरूप अर्थात् असत् है वह ज्ञानीरूपा प्रजा रात्रि है। अथवा जिस प्रकार रात्रि अस्पष्टप्रकाशवाली होती है उसी प्रकार यह ज्ञानीरूपा प्रजा भी अस्पष्टप्रकाशा अर्थात् अव्यक्त गति है; जैसा कि कहा भी है––

'अव्यक्तलिंगा अव्यक्ताचाराः'

"यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥"

पुनः यह ज्ञानीरूपा प्रजा कैसी है ?

"शरद्यपि जाड्यमये अविद्यालेशावशेषयुक्तेऽपि अन्तःकरणे उत्फुल्लानि मल्लिकोपलक्षितशान्तिदान्त्याद्यशेषपुष्पाणि यासां हृदि इति शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।"

अर्थात् शरद् में यानी जिनके अविद्यालेशावशेषयुक्त अन्तःकरण में भी शान्ति, दान्ति आदि मल्लिकोपलक्षित समस्त पुण्य विकसित हो रहे हैं।

अथवा––

"विवेकविचाररूपैः शरैर्दिताः खण्डिताः इति शरदाः उत्फुल्लमल्लिकाः उत्फुल्लमल्लिकाद्युपलक्षितानि संसारसुखानि यासु।"

अर्थात् विवेक-विचाररूप शरों से खण्डित उत्फुल्लमल्लिकादि उपलक्षित संसारसुख हैं जिनमें, वे रात्रियाँ 'शरदोत्फुल्लमल्लिका' हैं।

अथवा—

"शरदा निमित्तेन शान्त्यावहेन उत्फुल्लमल्लिकाभासानि संसारसुखानि यासु।"

अर्थात् शान्ति आदि के कारण जिनके लिये संसारसुख केवल पुष्परूप यानी देखने मात्र के लिये रह गये, ऐसी प्रजाओं को देखकर भगवान् ने योगमाया का आश्रय ले, उन प्रजाओं का आवाहन कर उनके अन्तःकरण में रमण करने का विचार किया; क्योंकि ज्ञानीरूपा प्रजा का रमण अपने आत्मभूत भगवान् के ही साथ होता है। ज्ञानी लोग आत्मरति ही हुआ करते हैं। इसीसे ज्ञानी को लक्ष्य करके कहा है–

'एकभक्तिर्विशिष्यते', क्योंकि उसकी भक्ति, रति, मति एकमात्र भगवान् में ही होती है।

कोई ऐसा भी कहते हैं कि भगवान् की यह लीला मुमुक्षुओं के ही लिये है। इस लीला के व्याज से भगवान् ने निवृत्तिपक्ष का ही पोषण किया है। भगवान् ने इस लीलाद्वारा यह प्रदर्शित किया है कि जिनके एक रोम के सौन्दर्यकण से भी अनन्तकोटि कन्दर्पों का दर्प दलित हो जाता है उन्हीं श्रीहरि के साथ सुरम्य यमुना-कूल में अनन्तकोटि ब्राह्मरात्रियों पर्यन्त रमण करके भी व्रजबालाएँ सन्तुष्ट नहीं हुईं तो साधारण सांसारिक लोग इन बाह्यविषयों से किस प्रकार सन्तुष्ट हो सकते हैं? इस लीला द्वारा भगवान् ने अपने में अनुरक्तों की अनुरक्ति और संसार से विरक्तों की विरक्ति दोनों ही पुष्ट की हैं। इसी प्रकार भगवान् श्रीराम ने भी सीताहरण के पश्चात् शोकाकुल होकर विषयासक्त पुरुषों की दुर्दशा का प्रदर्शन किया था—'कामिन की दीनता दिखाई।' भगवान् श्रीराम स्वयं तो अच्युत हैं, उन्हें कोई भी परिस्थिति कैसे विचलित कर सकती है? और अपनी आह्लादिनी-शक्ति श्रीजनकनन्दिनीजी से उनका वियोग होना भी कब सम्भव है? परन्तु इस नरनाट्य से कामियों की दीनता दिखलाकर उन्होंने विरक्तों के वैराग्य को ही सुदृढ़ किया है। वस्तुतः कामोपभोग से काम की कभी तृप्ति नहीं हो सकती; बल्कि जैसे-जैसे भोग्य सामग्री प्राप्त होती जाती है, वैसे-वैसे ही घृताहुति से अग्नि के समान वह और भी प्रज्वलित होता जाता है—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"

अतः जो ऐन्द्रियिक सुख हैं वे दुःख के ही हेतु और आद्यन्तवान् हैं, इसलिये बुद्धिमान् लोग उनमें सुख नहीं समझते। वे उनसे दूर ही रहते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥"

इन विषयों से सुख कभी नहीं मिल सकता। जिस प्रकार कडुए नीम या तुंबे से मधु, और बालू से तैल निकलना असम्भव है उसी प्रकार वैषयिक भोगों से शान्ति की आशा रखना दुराशामात्र है। गोपाङ्गनाओं ने भगवान् के साथ अनन्तकोटि रात्रियों में रमण किया, किन्तु आखिर उन रात्रियों का भी अन्त तो हुआ ही। सुख में समय बीतते देरी नहीं लगती, जो पुरुष समाधिस्थ हो जाते हैं उन्हें सैकड़ों वर्ष एक क्षण के समान मालूम होते हैं। इसी प्रकार गोपाङ्गनाओं को भी इतना दीर्घ-कालीन रमण इतना सुखप्रद नहीं हुआ जितना दुःखदायी उसका वियोग हुआ। इस बात को दिखाने के लिये ही परम-कृपालु श्रीभगवान् ने मुमुक्षुरूपा प्रजाओं को देखा।

कैसी प्रजा ? 'ताः'—आश्चर्यरूपा, क्योंकि आत्मजिज्ञासा आश्चर्यरूपा ही होती है–'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् ।' अतः वे मुमुक्षुरूपा प्रजा विलक्षण ही हैं। और कैसी हैं ? 'रात्रीः' यानी ठीक रात्रि के अन्धकार के समान आत्मस्वरूप का आच्छादन करनेवाले अज्ञानरूप अन्धकार से व्याप्त हैं। यदि कहो कि नहीं, वे तो विवेकसम्पन्ना हैं तो यहाँ भी 'रात्रीः' पद से 'रा दाने' इस धात्वर्थ के अनुसार दानादिपरा यह अर्थ समझना चाहिये । और कैसी हैं ?—

"शरदोत्फुल्लमल्लिकाः"—शरदा भगवदुपासनात्मकेन निष्कामकर्मणा उच्चैः फुल्लानि विकसितानि अन्तःकरणात्मकानि कमलकुड्मलानि यासाम् ।

अर्थात् शरद् ऋतु में जैसे कमल विकसित होते हैं उसी प्रकार निष्काम कर्मयोग के द्वारा जिनके अन्तःकरणरूप कमलकोश अत्यन्त विकसित हो रहे हैं ।

मन का विकास ही मन का प्रसाद है और मन का प्रसाद होने पर ही भगवत्स्वरूपप्राप्ति होती है—

"आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।"

"प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥"

× × ×

"कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः ।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥"

× × ×

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।"

ऐसी जो मुमुक्षुरूपा प्रजा है उसे देखकर । अथवा यह भी तात्पर्य हो सकता है कि निष्काम-कर्मरूप भगवदाराधन करने से—क्योंकि निष्काम कर्म ही सबसे पहला भगवदाराधन है—जिसमें शान्ति-दान्तिरूप पुष्प विकसित हो रहे हैं। ये पुष्प मुमुक्षुओं को अत्यन्त अपेक्षित भी हैं; जैसा कि कहा है—

"शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत् ।"

इस प्रकार निष्काम-कर्मद्वारा साधनचतुष्टयसम्पन्न हुई प्रजाओं को देखकर उनके हृदयों में श्रुतियों का आह्वान कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की; क्योंकि जो पुरुष भगवदाराधन द्वारा शुद्धान्तःकरण नहीं है उनके अन्तःकरण में श्रुतियों का ब्रह्मपरत्व निश्चित नहीं होता । अशुद्ध अन्तःकरण में ऐसा होना असम्भव है । अतः उन मुमुक्षुओं के अन्तःकरणों में उनका परम तात्पर्य निश्चय कर उनके साथ रमण करने का विचार किया ।

अथवा—

"योगमायमुपाश्रितः"–यः अतामायां स्वस्मादगच्छत्सु गोपदारेषु या माया कृपा तां उपाश्रितः ।

अर्थात् अपने पास से न जानेवाली गोपाङ्गनाओं के प्रति (माया) कृपा का आश्रय लेकर। अथवा—

अगा अचला मा मतिः यस्याः सा अगमा तस्यामुपाश्रितः।

अर्थात् जिनका चित्त भगवान् श्रीकृष्ण से कभी नहीं हटता था, जिनके मन, देह और इन्द्रियवर्ग भगवान् से तनिक भी बिछुड़ना नहीं चाहते थे उन गोपाङ्गनाओं में उपाश्रित हो भगवान् ने रमण की इच्छा की।

जब भगवान् का वेणुनाद सुनकर समस्त व्रजवनिताएँ भगवान् के पास दौड़ आयीं और भगवान् ने उन्हें पातिव्रत का उपदेश देते हुए घर लौट जाने को कहा तो वे कहने लगीं—

"चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा॥"

उन्होंने कहा—जो चित्त गृहकृत्यों में लग सकता था उसे तो आपने हर लिया। रहे हाथ, सो वे भी उसी समय घर के धन्धों में प्रवृत्त होते हैं जब चित्त इनका साथ दे और तभी चरण भी चल सकते हैं। किन्तु अब, जब कि आपने वेणुनाद द्वारा हमारा चित्त हर लिया है, हमारा मन उनमें कैसे लग सकता है? अब तो आपसे विमुख होकर ये चरण आपके चरणों को छोड़कर एक पग भी नहीं चल सकते। अतः हम किस प्रकार व्रज को जायँ और करें तो क्या करें?

इससे सिद्ध हुआ कि व्रजाङ्गनाओं के मन, बुद्धि, इन्द्रिय और देह ये सब भगवत्परतन्त्र हैं।

'अयोगमायामुपाश्रितः'—इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है—

अयोगाय मायाः* शब्दो यस्यां सा अयोगमाया तामुपाश्रितः।

अर्थात् लौकिक-वैदिक व्यवहार में उपयोगी जितने पुत्र, पति आदि हैं उनके अयोग अथवा लौकिक, वैदिक व्यवहारों के अयोग—असम्बन्ध के लिये जिसमें शब्द है उस मुरली का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। व्रजाङ्गनाएँ लौकिक-वैदिक कर्मों में परिनिष्ठित थीं। उनका लौकिक-वैदिक-कर्मों से विच्छेद कराने के लिये अथवा उन्हें भगवद्व्यतिरिक्त सम्बन्धों से छुड़ाने के लिये इस मुरलिका का शब्द अत्यन्त समर्थ है, क्योंकि इसीसे आकर्षित होकर वे सारे सम्बन्धों और कृत्यों को तिलाञ्जलि देकर भगवान् की सन्निधि में आती हैं।

---

* 'माङ्माने शब्दे च'।

अथवा—

"योगमायामुपाश्रितः—योगाय भगवता सम्बन्धाय माया कृपा यस्याः कात्यायन्यास्तां कात्यायनीमुपाश्रितः भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे।"

अर्थात् योग (भगवान् के साथ सम्बन्ध) कराने के लिये जिसकी माया—कृपा है, उस कात्यायनी देवी का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की।

अथवा—

"योगाय सम्बन्धाय मां मतिम् आययति प्रापयति या सा योगमाया कात्यायनी तामुपाश्रितः।"

—योग अर्थात् सम्बन्ध के लिये जो मां–मति को प्राप्त कराती है वह कात्यायनी देवी ही योगमा है, उसका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। क्योंकि कात्यायनी देवी के अर्चन द्वारा ही ऐसा अदृष्ट हुआ था कि जिससे गोपाङ्गनाओं को भगवान् की प्राप्ति हुई।

अथवा—

"योगाय व्रजाङ्गनाभिः सह सम्बन्धाय भगवतः श्रीकृष्णस्य मां मतिम् आययति या सा वृषभानुनन्दिनी योगमाया तामुपाश्रितः।"

—व्रजाङ्गनाओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिये भगवान् की बुद्धि को प्रवृत्त करनेवाली जो श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं वे ही योगमाया हैं, उनका आश्रय कर उन्होंने रमण करने की इच्छा की। लोक में तो सापत्न्यभाववश ईर्ष्या रहा करती है; परन्तु इधर श्रीवृषभानुनन्दिनी परम करुणामयी हैं; उनमें सापत्न्यभाव नहीं है। उनके कारण उनकी लीला-भूमि के जीव-जन्तुओं का भी पारस्परिक विरोध निवृत्त हो जाता है। इसीसे वहाँ समस्त ऋतुओं का एकत्र समावेश होता है। तो फिर स्वयं उन वृषभानुदुलारी में ही विरोध कैसे रह सकता है? वे तो यही चाहती हैं कि सारा संसार मेरे ही समान भगवान् के अति-विशुद्ध सौन्दर्यसुधा-रस का पान करे। यह बात सर्वथा निश्चित ही है कि जब तक जीव भगवान् से तादात्म्य प्राप्त नहीं करता तब तक वह परम पद का अधिकारी नहीं हो सकता और न उसका दुःख ही निवृत्त हो सकता है। इसीसे यह भी देखा जाता है कि जो लोग आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करते हुए परब्रह्म परमात्मा की ओर अग्रसर हो रहे हैं उनकी भी अन्य लोगों के प्रति ऐसी भावना नहीं रहती कि वे हमारी ओर न आयें। महर्लोकवासियों के विषय में भी यही कहा है कि वे सर्वसुखसम्पन्न होने पर भी केवल इसीलिये दुःखी रहते हैं कि उनकी अपेक्षा निम्नतर लोगों में रहनेवाले जीव उस अति विलक्षण भगवत्सुख का समास्वाद नहीं कर सकते। उन अज्ञानियों के प्रति करुणा होने के कारण ही उनके हृदय में खेद होता है—'यच्चित्ततोदः कृपयाऽनिदंविदाम्।' अतः

भक्तिमार्ग या ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त होनेवाले जितने लोग हैं, वे यही चाहते हैं कि अन्य पुरुष भी उन्हींके मार्ग का अनुसरण करें। इसीसे उनमें सम्प्रदायवृद्धि की भावना देखी जाती है।

इस प्रकार जब सामान्य साधकों में भी अपने साथ ही भगवान् की ओर सब लोगों को जाने की प्रवृत्ति देखी जाती है तो साक्षात् प्रेमरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी की सहृदयता एवं लोकहितैषिता के विषय में तो कहा ही क्या जा सकता है? उनमें किसी प्रकार की ईर्ष्या कैसे रह सकती है? वस्तुतः ईर्ष्या तो वहीं रहा करती है जहाँ स्वामी परिच्छिन्न और अल्प-सुख प्रदान करनेवाला होता है। किन्तु यहाँ श्रीराधिकारमण तो अपरिच्छिन्न-अनन्त-सुखमय और सर्वशक्तिसम्पन्न हैं। इसलिये उन्हें किसी प्रकार की ईर्ष्या क्यों होने लगी? अतः अपना आश्रय लेने पर वे उन गोपाङ्गनाओं के साथ रमण करने के लिये भगवान् की मति को प्रेरित कर देती हैं।

अथवा—

"योगाय भगवता श्रीकृष्णेन सह सम्बन्धाय, मां–सर्वेषां मुक्तमुमुक्षुविषयिणां मतिम् आययति प्रापयति इति योगमाया तामुपाश्रितः।"

–जो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के साथ तादात्म्य प्राप्त कराने के लिये मुक्त, मुमुक्षु और विषयी लोगों की मति का सम्पादन करती हैं वे श्रीवृषभानुनन्दिनी योगमाया हैं, उनमें उपाश्रित श्रीभगवान् ने रमण की इच्छा की। श्रीवृषभानुसुता की कृपा से ही मनुष्यों की भगवान् के प्रति प्रवृत्ति होती है; अन्यथा उनका चित्त अनेक प्रकार के ऐहिक-आमुष्मिक भोगों में ही आसक्त रहता है। किन्तु यदि वे विचारपूर्वक देखें तो भगवत्प्राप्ति ही उनका परम स्वार्थ है—"स्वारथ साँच जीव कहँ एहू। मन-क्रम-वचन राम-पद-नेहू॥" शास्त्रों में जैसे स्वार्थ की निन्दा की गयी है वैसे ही उसकी महत्ता भी कम नहीं बतलायी गयी, जैसा कि कहा है—

"स्वकार्यं साधयेद्धीमान् कार्यध्वंसो हि मूर्खता।"

अर्थात् बुद्धिमान् पुरुष को अपना काम बना लेना चाहिये, काम को बिगाड़ देना ही मूर्खता है। कृतार्थता की सभी ने प्रशंसा की है; किन्तु इसका तात्पर्य क्या है? कृतार्थता का अर्थ है काम पूरा कर लेना। यह काम दूसरों का नहीं है, क्योंकि दूसरों के कामों की तो कभी पूर्ति नहीं हो सकती। अतः सिद्धान्त यही है कि स्वकार्यसिद्धि ही कृतार्थता है। स्वप्न में स्वप्नद्रष्टा अत्यन्त प्रयत्न करके भी कितने स्वप्न-पुरुषों का कल्याण कर सकेगा? उन सबके कल्याण का एकमात्र साधन तो यही है कि वह स्वयं जग जाय। इसी प्रकार संसार का परम कल्याण भी अपने ही कल्याण में है। यदि लोकदृष्टि से देखें तो भी जब तक तुम स्वयं कृतकृत्य नहीं हो तब तक तुम्हारी बात कौन सुनेगा? इस दृष्टि से स्वार्थसाधन ही परम कर्तव्य है।

परन्तु स्वार्थ की निन्दा भी कम नहीं की गयी। स्वार्थ से बढ़कर कोई बुराई नहीं मानी गई। अतः समझना चाहिये कि यहाँ 'स्व' शब्द के अर्थ में भेद है। जो पुरुष शरीर को ही 'स्व' समझता है वह क्षुद्र है। यह 'स्व' जितना ही विस्तृत होगा उतना ही स्वार्थ परमार्थरूप हो जायगा। जो पुरुष 'स्व' शब्द का अर्थ शरीर समझेगा उसका सिद्धान्त 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' हो जायगा। जो सारे संसार को अपना आत्मा मानेगा उसकी दृष्टि में लोककल्याण ही आत्मकल्याण होगा और जो स्वयं प्रकाशपूर्ण परब्रह्म में आत्मबुद्धि करेगा वह उस कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि शून्य शुद्ध परब्रह्म में जो कर्तृत्वादि का आरोप हो रहा है उसकी निवृत्ति करेगा। इससे उसके यज्ञादि सारे कर्म ही आत्मार्थ होंगे। इस प्रकार देखते हैं कि वास्तविक स्वार्थ तो बहुत ही ऊँचा है। देह, इन्द्रिय, चित्त और चिदाभास को सुख पहुँचाने के लिये जितनी चेष्टाएँ की जाती हैं वे वस्तुतः स्वार्थ नहीं हैं, क्योंकि ये देहादि तो आत्मा नहीं हैं, बल्कि अनात्मा हैं। यदि कहो कि आत्मा न सही आत्मीय तो हैं ही; अतः आत्मीय होने के कारण भी उनके उद्देश्य से जो कर्म किया जायगा वह स्वार्थ ही कहा जायगा—सो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि उनमें आत्मीयता की प्रतीति भी भ्रम के ही कारण है। आत्मा तो असङ्ग है; इसलिये उसका किसीके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता—'असङ्गो न हि सज्जते'। अतः 'स्व' शब्दवाच्य आत्मा के लिये जो चेष्टा है वह तो परम कल्याणमयी ही है, क्योंकि सबके आत्मा तो भगवान् कृष्ण ही हैं; वे केवल माया से ही देहवान् प्रतीत होते हैं—

"कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥"

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् सर्वात्मा हैं, अतः यथार्थ स्वार्थ भगवत्प्राप्ति ही है। यहाँ 'अखिलात्मनाम्' पद से सविशेषात्मा समझने चाहिये; क्योंकि सविशेषात्माओं का ही आत्मा निर्विशेष आत्मा है, जैसे कि घटाकाशादि का अधिष्ठान महाकाश है।

अतः भक्त, मुमुक्षु और मुक्तों को भी भगवद्विषयिणी सुमति प्रदान करनेवाली श्रीराधिकाजी ही हैं। भावुक भक्तजन तो उस ऐकान्तिकी भगवन्निष्ठा के सामने कैवल्य और अपुनरावर्तनरूप मोक्षपद को भी कुछ नहीं समझते; इसीसे भगवान् कहते हैं—

"न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥"

किन्तु भगवान् के मुख्य भक्त जो ज्ञानी लोग हैं उन्हें किस सुमति की अपेक्षा है? वे तो आप्तकाम हुआ करते हैं। यह ठीक है, परन्तु भगवद्विषयिणी भक्तिरूपा

स्निग्धमति उन्हें भी अभिलषित होती है। देखो, सनकादि की भी क्या अभिलाषा थी?

"कामं भवः स्ववृजिनैर्निरयेषु नः स्याच्चेतोऽलिवद्यदि नु ते पदयो रमेत।
वाचश्च नस्तुलसिवद्यदि तेऽङ्घ्रिशोभाः पूर्येत ते गुणगणैर्यदि कर्णरन्ध्रः॥"

वे कहते हैं—भगवन्! यदि हमारा चित्त, भ्रमर के समान आपके चरणकमलों में निरत रहे, यदि हमारी वाणी तुलसी के समान आपकी पादकान्ति का आश्रय ले और यदि हमारे कर्ण-कुहर आपके गुणगण से पूरित रहें तो हमें भले ही अपने पाप-पुञ्जों के कारण नरकों में भी जाना पड़े—इसकी हमें कोई चिन्ता नहीं है। इस प्रकार श्रीराधिकाजी, जैसे भक्तों को भगवन्निष्ठा और मुक्तों को भगवद्रति प्रदान करती हैं वैसे वे अन्य (विषयी और मुमुक्षु) लोगों को भी प्रमा–भगवत्साक्षात्काररूपा मति प्राप्त कराती हैं; अर्थात् मुमुक्षु और विषयी पुरुषों की भगवान् के प्रति इष्ट बुद्धि कराती हैं, इसलिये वे योगमाया हैं। उन योगमायारूपा श्रीराधिकाजी का आश्रय लेकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की।

अथवा—

"योगाय मां मतिं आययति प्रापयति या सा स्वाङ्गकान्तिर्योगमाया तामुपाश्रितः।"

अर्थात् जो संयोग के लिये मति प्रदान करती है वह अपने अङ्ग की कान्ति ही योगमाया है। उसका आश्रय लेकर, अथवा—

"योगाय व्रजाङ्गनाभिः सह उद्दीपनविधया संयोगाय मां मतिं आययति प्रापयति या सा शरद्वनशोभा तामुपाश्रितः।"

अर्थात् जो उद्दीपन-विभाव होने के कारण व्रजाङ्गनाओं के साथ संयोग करने की मति प्रदान करती है वह शरद्-ऋतु या वन की शोभा ही योगमाया है। उसका आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की।

अथवा—

"श्रीकृष्णस्य योगे सम्प्रयोग एव मा शोभा यस्याः सा वृषभानुनन्दिनी योगमा तस्यामुपाश्रितः।"

अर्थात् श्रीकृष्णचन्द्र के सम्प्रयोग में ही जिनकी शोभा है वे श्रीवृषभानुसुता ही योगमा हैं, उनमें उपाश्रित हुए भगवान् ने रमण की इच्छा की; क्योंकि—

"कहँ चन्द्रिका चन्द्र तजि जाई।
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई॥"

जैसे चन्द्रमा बिना चन्द्रिका की, भानु बिना प्रभा की और सरोवर बिना कमलिनी की शोभा नहीं है वैसे ही परमानन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण के बिना

श्रीराधिकाजी की शोभा नहीं है। इसीसे जिस समय उन्हें भगवान् का सम्प्रयोग प्राप्त था उस समय उनकी कैसी शोभा थी ? किन्तु जब श्रीश्यामसुन्दर का वियोग हुआ तो सारा वृन्दारण्य ही श्रीहीन हो गया; उस समय रसिकशिरोमणिभूता श्रीवृषभानुसुता की जो दशा थी उसका तो वर्णन ही कैसे किया जा सकता है ?

उसके साथ ही यह भी समझना चाहिये कि—

"यस्या योगे सम्प्रयोग एव श्रीकृष्णस्य मा शोभा सा श्रीवृषभानुसुता योगमा तस्यामुपाश्रितः"—

जिनके संयोग में ही श्रीकृष्णचन्द्र की शोभा है वे वृषभानुनन्दिनी ही योगमा हैं। अर्थात् जैसे श्रीकृष्णचन्द्र से विप्रयुक्ता श्रीराधिकाजी की शोभा नहीं है वैसे ही श्रीराधिकाजी के बिना श्यामसुन्दर की शोभा नहीं है। जिस प्रकार प्रभाशून्य सूर्य, चन्द्रिकाहीन चन्द्र और मधुरिमारहित अमृत फीके हैं उसी प्रकार अपनी आह्लादिनी-शक्तिरूपा श्रीकीर्तिसुता के बिना श्रीनन्दनन्दन की शोभा नहीं है। यदि ऐसी बात न होती तो जिनके कृपाकटाक्ष के लिये ब्रह्मा और रुद्रादि देवगण भी लालायित रहते हैं वे श्रीलक्ष्मीजी भी जिनके विशाल वक्षःस्थल में अविचल रूप से निवास करती हुई उनके तुलसीगन्धयुक्त पदपद्मपराग की कामना करती है[1], वे ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र लक्ष्मी की उपेक्षा करके वेणु-निनाद द्वारा समस्त गोपाङ्गनाओं के सहित उन्हें बुलाने का प्रयास क्यों करते ? इससे सिद्ध होता है कि उन श्रीराधिकाजी का सौन्दर्य विलक्षण ही था। समस्त व्रजाङ्गनाएँ भी श्रीराधिका-रूपा होकर ही भगवान् को प्राप्त करती हैं। इसीसे लोक में भगवान् को रुक्मिणी-रमण या सत्यभामावल्लभ न कहकर श्रीराधारमण या गोपीवल्लभ ही कहते हैं। इससे निश्चय होता है कि भगवान् की यथार्थ शोभा श्रीराधिकाजी से ही है।

अथवा—

"योगाय व्रजाङ्गनानां रासादिसुखप्रापणाय या माया वयुनात्मिका[2] सङ्कल्प-शक्तिस्तामुपाश्रितः"।

अर्थात् गोपाङ्गनाओं को रसादि-सुख प्राप्त कराने के लिये जो माया-ज्ञानात्मक सङ्कल्प उसे आश्रय कर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। तात्पर्य यह है कि वहाँ किसी अन्य बाह्य-साधन की अपेक्षा से रहित भगवान् की सत्यसङ्कल्पता ही समस्त लीलोपयुक्त सामग्री का सम्पादन करनेवाली थी।

अथवा—

"योगाय व्रजाङ्गनानां मनोरथपूर्तये या माया दम्भः[3] तामुपाश्रितः"।

---

१. श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥

२. मायां तु वयुनं ज्ञानम्। ३. माया कृपायां दम्भे च।

अर्थात् जो पूर्ण परब्रह्म परम-वैराग्यवान्, परम-ज्ञानवान्, परम-ऐश्वर्यवान् और परम-धर्मवान् हैं उनका मुरलिका द्वारा गोपाङ्गनाओं को बुलाना वास्तविक नहीं था; बल्कि व्रजाङ्गनाओं की कामनापूर्ति के लिये उन्होंने बनावटी रमणेच्छा प्रकट करते हुए ही यह सब लीला की थी। ऐसा मानने पर ही आप्तकाम की रमणाभिलाषा, निष्क्रिय का क्रियाकलाप और निःसङ्ग की कामुकता उत्पन्न हो सकती है।

और यदि 'अयोगमायामुपाश्रितः' ऐसा पदच्छेद किया जाय तो इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये—'अकारो वासुदेवस्तेन सह योगाय मा मतिः शोभा वा यस्याः सा अयोगमा तस्यामुपाश्रितः' अर्थात् अकार वासुदेव का वाचक है, उन श्रीवासुदेव के साथ योग कराने के लिये मति अथवा अङ्गशोभा है जिनकी, वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं, उनमें उपाश्रित श्रीभगवान् ने रमण की इच्छा की।

अथवा—

"अन्यासां अयोगाय, स्वस्यैव च योगाय मा सौन्दर्यलक्ष्मीर्यस्याः सा योगमा"।

जिनकी मा—सौन्दर्यलक्ष्मी, भगवान् का दूसरों के साथ विप्रयोग और अपने साथ संयोग करानेवाली हैं वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं; क्योंकि श्रीवृषभानुनन्दिनी का जो अपूर्व सौन्दर्य है वह भगवान् के चित्त को सब ओर से हटाकर उन्हींमें जोड़ देता है।

अथवा—

"अन्यासामपि व्रजाङ्गनानां सर्वेषां वा प्राणिनां योगाय भगवता श्रीकृष्णेन सह सम्बन्धाय मा सौन्दर्यं यस्याः सा योगमा"।

अर्थात् जिनका सौन्दर्य भगवान् के साथ अन्य गोपाङ्गनाओं का तथा समस्त प्राणियों का सम्बन्ध करानेवाला है वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं, क्योंकि श्रीवृषभानु-नन्दिनी भगवान् श्रीकृष्ण के साथ सबका संयोग कराती हैं।

अथवा—

"योगाय सर्वेषां श्रीकृष्णसम्प्रयोगयोग्यतासम्पादनाय मा शोभा कारुण्यं कृपा यस्याः सा योगमा तस्यामुपाश्रितः"।

अर्थात् जिनकी मा—करुणा या कृपा भगवान् श्रीकृष्ण के साथ संयोग कराने की योग्यता प्रदान करानेवाली है वे श्रीराधिकाजी योगमा हैं; उनमें उपाश्रित श्रीभगवान् ने रमण की इच्छा की।

इसके सिवा किन्हीं आचार्यों का मत है कि भगवान् ने यह रासलीला स्वजनों का ब्रह्मानन्द से उद्धार करके उनमें भजनानन्द स्थापित करने के लिये की थी। अतः उन्होंने सबसे पहले रमण के लिये उन व्रजाङ्गनाओं की इच्छा की। तात्पर्य

यह है कि जिस प्रकार किसी एक मधुरातिमधुर पदार्थ को अनेक रूप में विभक्त करके उसका समास्वादन किया जाता है, उसी प्रकार परमानन्द सिन्धु श्रीभगवान् भी अनेक रूप में विभक्त होकर अपने स्वरूपभूत आनन्द का स्वयं ही आस्वादन करते हैं। इसीसे भगवान् अपनी स्वरूपभूता व्रजाङ्गनाओं में रमणेच्छा उत्पन्न करके भी पहले स्वयं कुछ काल तक 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' इत्यादि श्रुति के अनुसार सर्वसङ्कल्पशून्य और निःस्पृह ही रहे। किन्तु अब उन्होंने भी रमण की इच्छा की। परन्तु यह रमण कैसा है? यहाँ एक ही परमतत्त्व को अनेकों नायकों और नायिकाओं के रूप में प्रकट कर अपने ही स्वरूपभूत आनन्द का रसास्वादन करना है। वास्तव में 'भज सेवायाम्' या 'रमु क्रीडायाम्' के अनुसार एक प्रकार असाधारण भाव से तादात्म्यापत्ति अथवा जो स्वरूपभूत आनन्द है, उसको अपने अनन्य भक्तों में स्थापित करना ही यह भजनानन्द रूप रमण है। इससे आपात-दृष्टि से यह जान पड़ता है कि यदि उस कूटस्थ परमानन्द तत्त्व का अन्यत्र संक्रमण किया गया तो अपने स्वरूप से च्युत होने के कारण उसे अच्युत नहीं कहा जा सकता। इस आशङ्का का निराकरण करने के लिये ही कहा है—'भगवानपि'। अर्थात् जो अप्रच्युत स्वभाव भगवान् अपने अचिन्त्यानन्त ऐश्वर्य के माहात्म्य से अपने स्वरूपभूत परमानन्द का अन्यत्र सञ्चार करके भी सदा अच्युत ही रहते हैं उन्होंने रमण करने की इच्छा की। जिस प्रकार चिन्तामणि, कल्पतरु एवं कामधेनु आदि अपने समीपस्थ लोगों को उनके सङ्कल्पित पदार्थ देकर भी स्वयं अक्षुण्ण ही रहते हैं उसी प्रकार भक्तों को प्रेम प्रदान करने पर भी भगवत्स्वरूप में कोई च्युति नहीं होती।

किन्तु यहाँ पुनः सन्देह होता है कि इस प्रकार स्वरूपानन्द का अन्यत्र संक्रमण होने से भगवत्स्वरूप भले ही अविकारी रहे तथापि वह स्वरूपानन्द तो अपने स्थान का त्याग करने के कारण विकारी हो ही जायगा। वह कूटस्थ या अविकारी नहीं रह सकता। इसीसे कहा है—"योगमायामुपाश्रितः"। भगवान् की योगमाया एक ऐसी शक्ति है जो उस पदार्थ को अन्यत्र ले जाने पर भी विकृत नहीं होने देती। इसीसे भगवान् अपने कूटस्थ परमानन्द को अन्यत्र दूसरों में संक्रमित करके भी स्वयं अविकृत ही रहते हैं और उनके उस आनन्द में भी कोई विकार नहीं होता है।

इसीसे यह देखा जाता है कि यद्यपि भगवान् ने अपने कई भक्तों को स्वात्म-समर्पण किया है तो भी उनमें कोई च्युति नहीं हुई; वे ज्यों-के-त्यों अविकारी ही बने हुए हैं। श्रीब्रह्माजी कहते हैं—

"एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥"

अर्थात्—हे देव ! आप इन घोष-निवासियों को क्या देंगे ? आप विश्वफलात्मा हैं; आपसे बढ़कर और दूसरी क्या वस्तु हो सकती है, जिसे देकर आप उनसे उऋण होंगे ? प्राणी विविध प्रकार के ऐहिक-आमुष्मिक सुख को ही परम पुरुषार्थ समझता है किन्तु जिनके आँगन में उस सुख का परमोद्गम स्थान साक्षात् परब्रह्म मूर्तिमान् होकर धूलिधूसरित हुआ खेल रहा है उनके लिये वे क्षुद्र सौख्यकण कैसे फलरूप हो सकते हैं ? जिन्हें जो वस्तु अप्राप्त होती है वही उन्हें फलरूप से स्वीकृत हुआ करती है। अतः जिन्हें आप आत्मीय-रूप से अहर्निश प्राप्त हैं उन्हें सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होकर भी आप क्या दे सकते हैं ? इसलिये इनके तो आपको ऋणी ही रहना पड़ेगा। इस विषय में कुछ निश्चय न होने के कारण मेरा चित्त मोहित हो रहा है। यदि कहें कि मैं अपने को ही समर्पण कर दूँगा तो इसमें भी कोई महत्त्व की बात न होगी, क्योंकि जो पूतना दम्भ से माता के समान आचरण दिखलाती हुई आपका अनिष्ट करने के लिये स्तनों में विष लगाकर आयी थी उसे भी उसके कुल सहित आपने अपने स्वरूप को ही प्राप्त करा दिया था; फिर जिनके धन, धाम, स्वजन, प्रिय, आत्मा, प्राण और चित्त आप ही पर निछावर हैं उन व्रजवासियों को आप क्या देंगे ? उनके तो आप ऋणी ही रहेंगे। अहो ! जिन व्रजबालकों का उच्च स्वर से किया हुआ हरि-गुण-गान तीनों लोकों को पवित्र कर देता है, उनके चरणकमलों की वन्दना हम बारम्बार करते हैं। इस लोक में वे बड़े ही भाग्यशाली हैं जिन्होंने इस गोकुल में किसी वनवीथिका के पास तृण-गुल्मादिरूप से जन्म लिया है, क्योंकि उन्हें उन कृष्ण-प्राणा गोपवधूटियों के पद-पद्मपराग से अभिषिक्त होने का सुअवसर प्राप्त होता है।* इससे यहाँ यही कहना है कि भगवान् अनेकों को स्वात्मसमर्पण करके भी पूर्णरूप से ही अवशिष्ट रहते हैं। अतः भगवान् की यह योगमाया शक्ति ही है जिससे वे सदा सब कुछ करते हुए भी अक्षुण्ण ही रहते हैं।

उन्होंने रमण की इच्छा कैसे की ? इसपर कहते हैं—

"ताः कात्यायन्यर्चनव्रतसन्तुष्टेन भगवता वरत्वेन प्रदत्ताः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः रात्रीः वीक्ष्य।"

अर्थात् कात्यायनी-पूजन एवं व्रतादि से सन्तुष्ट हुए श्रीभगवान् ने जिन्हें वर रूप से दिया था उन शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियों को देखकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। उन रात्रियों को ग्रहण कर और उनमें आधिदैविकी रात्रियों का निवेश कर भगवान् ने रमण की इच्छा की। ऐसा करके उन्होंने उन रात्रियों को पूर्ण बना दिया, क्योंकि आधिदैविकी रात्रियाँ भगवद्रूपा हैं। इस प्रकार उन सबको पूर्णिमारूप

---

* "वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादपद्ममभीक्ष्णशः। यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥"
"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्॥"

बनाकर और ऋतु को भी शरदृऋतु में ही परिणत कर दिया। अर्थात् समस्त रात्रियों में ऋतु-परिवर्तन का क्रम न रखकर केवल एक ही ऋतु रखा और उनमें मल्लिकादि समस्त पुष्प विकसित कर दिये। इस प्रकार उन रात्रियों को समस्त उद्दीपन सामग्रियों से सम्पन्न कर मुरली-ध्वनि द्वारा गोपाङ्गनाओं का आह्वान कर उनके साथ रमण करने की इच्छा की।

यदि विचार किया जाय तो स्वरूपतः अशेष-विशेष-शून्य पूर्ण परब्रह्म एवं अचिन्त्यानन्द निखिलगुणगणास्पद श्रीभगवान् ये एक ही हैं; क्योंकि सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य एक स्वप्रकाशतत्त्व ही 'भगवत्' शब्द का लक्ष्य है। जैसा कि कहा है —

"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते॥"

अर्थात् जो अद्वय ज्ञानस्वरूप तत्त्व है; तत्त्वज्ञ लोग उसीको तत्त्व समझते हैं। वह 'ब्रह्म', 'परमात्मा' या 'भगवान्' ऐसा कहा जाता है। अतः अद्वितीय परब्रह्म ही भगवान् है। जिस प्रकार 'गच्छतीति गौः' इस व्युत्पत्ति से 'गमेर्डोः' आदि सूत्रों के अनुसार सिद्ध हुआ 'गो' शब्द केवल गमन करनेवाले का ही वाचक नहीं होता, क्योंकि गमन करनेवाले तो सभी पशु हैं, बल्कि गल-कम्बलादियुक्त गो व्यक्ति का ही वाचक होता है, उसी प्रकार यह अद्वय पदार्थ ही भगवत्-पदवाच्य है। किन्तु इसका यौगिक अर्थ लेने पर तो भगोपलक्षित अचिन्त्यानन्तगुणगणास्पद परमेश्वर ही 'भगवत्' शब्द का अर्थ है। इससे यही सिद्ध हुआ कि परमार्थतः जो एक अद्वयतत्त्व सर्वभेदरहित और स्वप्रकाश है वही अपनी अचिन्त्य एवं अनिर्वचनीय लीलाशक्ति से निखिल ब्रह्माण्ड का अधीश्वर भी है। उस भगवान् ने ही रमण की इच्छा की।

यहाँ दोन' प्रकार से विरोध प्रतीत होता है। यदि उसके निर्विशेष रूप पर विचार करते हैं तो 'असङ्गो न हि सज्जते' इस श्रुति के अनुसार उसका रमण होना असम्भव है। जो स्वप्रकाश, असङ्ग और अद्वय है वह किसको देखकर किसलिये किसके साथ कैसे रमण करेगा? और यदि भगवान् के सविशेष स्वरूप पर ध्यान देते हैं तो वे भी सब प्रकार के ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से पूर्ण तथा अचिन्त्यानन्दरूप अपने ऐश्वर्य में सन्तुष्ट रहने के कारण आप्तकाम एवं पूर्णकाम हैं। उन्हें किसीको देखकर रमण की इच्छा कैसे हो सकती है? जो अनाप्तकाम होता है वही अपने से भिन्न किसी पदार्थ को देखकर उसकी आसक्तिवश रमण की इच्छा कर सकता है।

इसीसे 'योगमायामुपाश्रितः' ऐसा कहा है। योग अर्थात् अघटित घटना के लिये जो माया—उस योगमाया का सन्निधिमात्र से आश्रय लेकर भगवान् ने रमण की इच्छा की। तात्पर्य यह है कि इस योगमाया के प्रभाव से ही उस स्वप्रकाश, असङ्ग एवं अद्वय ब्रह्म की अपने से भिन्न प्रतीत होनेवाली गोपाङ्गनाओं के साथ रमण करने

में प्रवृत्ति हो गयी। यही उस माया की अघटितघटनशक्ति है। यह वही माया है जिसके विषय में श्रुति कहती है—

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।"

अर्थात् अपने गुणों से आच्छादित जिस भगवच्छक्ति का ऋषियों ने ध्यान योग से साक्षात्कार किया था, महर्षियों द्वारा साक्षात्कृत तथा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की कारणभूता उस अचिन्त्यानन्त माया शक्ति से ही भगवान् का अपने से भिन्न किसीको देखना, अपने से भिन्न की इच्छा करना और अपने से भिन्न के साथ रमण करना सम्भव है? तात्पर्य यह है कि यद्यपि भगवान् स्वयंप्रकाश, कूटस्थ और अद्वय होने के कारण अपने से भिन्न किसी और को नहीं देख सकते तथापि अपनी इस लीला-शक्ति से उन्होंने अपने से भिन्न रूप से प्रादुर्भूत जो अपनी ही स्वरूपभूता व्रजाङ्गनाएँ हैं, उन्हें देखकर रमण करने की इच्छा की। यह जितना भी अघटन घटन है उसके सम्पादन में भगवान् की माया समर्थ है। इसीसे इन समस्त विरोधों का निराकरण हो जाता है।

इसी प्रकार सगुणपक्ष में भी समझना चाहिये। वहाँ भी भगवान् आप्तकाम, पूर्णकाम, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं सम्पूर्ण वैराग्य और ऐश्वर्यसम्पन्न होने पर भी इस योगमाया अर्थात् योग-सम्प्रयोग के लिये जो माया–कृपा उसका आश्रय लेकर ही वररूप से दी हुई उन रात्रियों को देखकर भक्तानुग्रह परवश हुए उन गोपाङ्गनाओं के साथ रमण करने की इच्छा को स्वीकार करते हैं। अतः यहाँ भी उनकी रमणेच्छा में योगमाया ही प्रधान कारण है।

इस प्रकार जिस समय भगवान् ने उन शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रियों को और गोपाङ्गनाओं को देखकर रमण की इच्छा की—

"तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः॥"

अन्वय—तदा चर्षणीनां शुचो मृजन् दीर्घदर्शनः प्रियः प्रियाया इव करैर्धृतेन अरुणेन प्राच्याः ककुभः मुखं विलिम्पन् उडुराजः उदगात्।

भावार्थ—उसी समय लोगों के शोक का मार्जन करता हुआ तथा जिस प्रकार दीर्घकाल में मिलनेवाला प्रियतम अपनी प्रियतमा के शोक की निवृत्ति करता है उसी प्रकार अपने शीतल करों (किरणों या हाथों) में धारण की हुई उदयकालीन लालिमा से पूर्व दिशा के मुख का लेपन करता हुआ चन्द्रमा उदित हुआ।

व्याख्या—'तदा' अर्थात् जिस क्षण में भगवान् को रमण की इच्छा हुई उसी समय चन्द्रमा उदित हुआ, क्योंकि सेवक की यह रीति है कि जिस समय स्वामी की इच्छा हो उसी समय सेवा में उपस्थित हो जाय। ये उडुराज क्यों उदित हुए? क्योंकि ये उद्दीपन विभाव हैं अर्थात् भगवान् की जो रमणेच्छा है उसे और भी उद्दीप्त

करने के लिये ही इनका प्राकट्य हुआ है। 'उडुराज' शब्द का अर्थ है 'उडूनां तारकाणां राजा' अर्थात् तारों का राजा। इससे उस समय चन्द्रदेव का सपरिवार उदित होना ध्वनित होता है। उनके अभ्युदय से ही चर्षणी जो समस्त प्राणी उनके शरत्कालीन सूर्य से प्राप्त हुए ताप और मनोग्लानि शान्त हो गयी। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

"शरदातप निशि शशि अपहरई।
संतदरश जिमि पातक टरई॥"

वे उदित किस प्रकार हुए?—प्राच्याः ककुभः मुखं करैर्धृतेन अरुणेन विलिम्पन्' अर्थात् अपनी शीतल और सुकोमल किरणों में धारण किये हुए अरुण राग से पूर्व दिशा के मुख को लेपित करते हुए। मानो इस प्रकार नायक-नायिका की रीति को प्रदर्शित करते हुए चन्द्रदेव यहाँ शृङ्गार रस के उद्दीपन बने हुए हैं। यद्यपि चन्द्रमा का सम्बन्ध सभी दिशाओं से है तथापि उनमें पूर्वादिक् ही प्रधान है। अतः पूर्वदिशा के साथ संश्लिष्ट होकर अपनी किरणों में धारण किये हुए अरुण से उसका मुखलेपन करता हुआ और स्वयं भी अनुरक्त होता हुआ वह उदित हुआ। अर्थात् प्राची दिशा से संश्लिष्ट होने पर चन्द्रमा ने उसे भी अनुरक्त किया और वह स्वयं भी अनुरञ्जित हुआ। इससे पूर्वादिक्संसर्ग से उसका अनुराग होना स्वयं सिद्ध है, जैसे नायिका के प्राप्त होते ही नायक अनुरक्त हो जाता है।

इसका भी विशेषण है 'दीर्घदर्शनः'। यह 'उडुराजः' और 'प्रियः' दोनों ही का विशेषण हो सकता है। 'दीर्घं बह्वीनां रात्रीणामन्ते दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिसका दर्शन बहुत-सी रात्रियों के पश्चात् हुआ हो उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। पूर्वदिशा के साथ चन्द्रमा का ठीक-ठीक सम्बन्ध पूर्णिमा को ही होता है, इसलिये चन्द्रमा दीर्घदर्शन है। इधर दृष्टान्त पक्ष में यह प्रिय का भी विशेषण है। अर्थात् जिसका दर्शन बहुत काल के पश्चात् हुआ है ऐसा कोई प्रियतम जिस प्रकार 'शन्तमैः करैः' अपने सुखावह कर-व्यापारों से प्रियतमा का शोक निवृत्त करता है उसी प्रकार चन्द्रमा अपनी किरणों से पूर्वदिशा के मुख को रागरञ्जित करता हुआ उदित हुआ। इस प्रकार कर-व्यापारों से भी शृङ्गार रस का उद्दीपन ही सूचित होता है।

इसे प्रकृत प्रसङ्ग में दूसरी तरह भी लगाते हैं—

'यथा उडुराजः चर्षणीनां शुचो मृजन् शन्तमैः करैः करधृतेन अरुणेन च प्राच्या ककुभः मुखं विलिम्पन् उदगात्तथा दीर्घदर्शनः प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्याः मुखं शन्तमैः करैः करधृतेन अरुणेन कुङ्कुमेन च विलिम्पन् चर्षणीनां गोपीजनानां शुचः शोकाश्रूणि मृजन् उदगात्।'

अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा मनुष्यों का शोकापनोदन करता हुआ तथा अपनी शीतल किरणों से उनमें धारण की हुई उदयकालीन लालिमा से पूर्वदिशा का

मुख लेपन करता हुआ उदित हुआ उसी प्रकार बहुत काल पीछे दिखाई देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा श्रीवृषभानुसुता के मुखारविन्द को अपने करकमलों में धारण किये हुए कुंकुम से लेपन कर गोपीजनों के शोकाश्रुओं का मार्जन करते हुए प्रकट हुए।

यहाँ 'चर गतिभक्षणयोः' इस धातुपाठ के अनुसार 'चर्षणीनाम्' इस पद का अर्थ गति और भक्षणपरायण है। 'गति' शब्द से कर्म और 'भक्षण' शब्द से कर्मफल समझना चाहिये। अतः इससे वे मनुष्य* विवक्षित हैं जो केवल कर्म और कर्मफल में ही आसक्त हैं। इन संसारी लोगों के सर्वविध ताप का निराकरण करता हुआ उडुराज–चन्द्रमा उदित हुआ, क्योंकि वह उदित होकर उद्दीपन-विभाव-रूप से परमानन्दघन श्रीकृष्णचन्द्र के चित्त में रमण की इच्छा उत्पन्न करेगा, जो कि श्रीकृष्ण-प्रेमियों को बहुत काल से अभिलषित है। अतः भगवान् की प्रेयसी व्रजाङ्गनाओं के शोक का मार्जन होने से सारे संसार का शोक मार्जित हो जायगा, क्योंकि यह नियम है कि जिस क्रिया से भगवद्भक्तों का शोक निवृत्त होता है उससे सारे संसार का ही शोक निवृत्त हो जाता है और जिससे भगवद्भक्त सन्तप्त होते हैं उससे सभी को सन्ताप होता है। देखो, जिस समय ध्रुवजी ने भगवत्तादात्म्य को प्राप्त होकर श्वासनिरोध किया था उस समय सारे संसार का ही श्वास निरुद्ध हो गया था। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि भगवान् सर्वात्मा हैं; अतः यदि भगवद्भक्त सन्तप्त होता है तो सारा संसार ही सन्तप्त हो उठता है।

ये गोपाङ्गनाएँ तो भगवान् की अत्यन्त अन्तरङ्ग हैं। ये भगवद्विप्रयोग के कारण चिरकाल से सन्तप्त थीं। अब उस विरहव्यथा का अन्त होनेवाला था। इसीसे भगवान् को रमण की इच्छा हुई।

अतः इसका यह भी अर्थ हो सकता है—

'चर्षणीनां व्रजाङ्गनाजनानां शोकापनोदनेन चर्षणीनां गतिभक्षणपराणां कर्म तत्फलभोगपरिनिष्ठानां जगतामेव शुचो मृजन् उदगात्।'

अर्थात् चर्षणी यानी व्रजाङ्गनाओं की शोकनिवृत्ति करके चर्षणी–कर्म और कर्म-फल-भोग में लगे हुए संसारी लोगों का शोक निवृत्त करते हुए चन्द्रदेव प्रकट हुए। इसीसे उन्हें उडुराज अर्थात् नक्षत्रमण्डल का राजा कहा है। वे परम सौभाग्यशाली और अत्यन्त पुण्यात्मा हैं, क्योंकि उनके कारण गोपाङ्गनाओं की शोकनिवृत्ति

---

* 'चर्षणी' शब्द मनुष्य अर्थ में रूढ़ है। यह बात निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध होती है—

अर्यम्णो मातृका पत्नी तस्यां चर्षणयः सुताः। तास्वेव ब्रह्मणा जातिर्मानुषी परिकल्पिता॥

अर्थ—अर्यमा की पत्नी मातृका नामवाली थी। उसके 'चर्षणी' संज्ञक पुत्र हुए। उन चर्षणियों में ही ब्रह्माजी ने मानुषी जाति की कल्पना की।

होने से सारे संसार का ही सन्ताप शान्त हो जाता है। अतः ये उडुराज 'उडुषु राजत इति उडुराजः' हैं, अर्थात् नक्षत्रों में अत्यन्त शोभायमान हैं।

इधर जिस प्रकार जीवों की शोकनिवृत्ति करने के कारण यह उडुराज पुण्यात्मा है, उसी प्रकार मानो श्रीकृष्णचन्द्र भी उडुराज ही हैं, क्योंकि उन्होंने भी चर्षणी यानी व्रजाङ्गनाओं का शोकापनोदन करके सारे संसार का ही शोक निवृत्त किया है। अतः 'उडुराज' शब्द से उनका भी अन्वादेश होता है। जैसे इस ओर ताराओं में अत्यन्त देदीप्यमान चन्द्रमा है, उसी प्रकार उधर गोपाङ्गनाओं में नायक-रूप से अत्यन्त देदीप्यमान भगवान् श्रीकृष्ण हैं। इसीसे आचार्यों ने यह भी कल्पना की है कि जिस समय भगवान् ने 'अमना' और 'अप्राण' होकर भी योगमाया का आश्रय लेकर गोपाङ्गनाओं के साथ रमण करने का सङ्कल्प किया, उस समय उनमें मन तो था नहीं। मन का अधिष्ठाता चन्द्रमा है। जिस प्रकार सूर्य आदि अधिष्ठातादेवताओं से अधिष्ठित हुए बिना नेत्रादि में रूपादि के प्रकाशन का सामर्थ्य नहीं होता उसी प्रकार मन भी चन्द्रमा से अधिष्ठित हुए बिना सङ्कल्प में समर्थ नहीं हो सकता था। किन्तु यहाँ भगवान् के तो मन ही नहीं था; अतः वे मन के बिना रमण कैसे करते? यद्यपि अपने दिव्य ऐश्वर्य से वे बिना मन के भी रमण कर सकते थे, तथापि लोक-मर्यादा का अतिलङ्घन न करके भगवान् ने नवीन अप्राकृत मन का निर्माण किया, क्योंकि वस्तु की सरसता अथवा नीरसता का आस्वादन तो मन से ही होता है। भगवान् का मन अप्राकृत था, इसलिये उसका अधिष्ठाता चन्द्रमा भी अप्राकृत ही होना चाहिये था। जिस प्रकार चन्द्रमा ताराओं के सहित शोभायमान होता है उसी प्रकार व्रजाङ्गनाओं के मन उडुस्थानीय हैं और भगवान् का मन उन उडुओं का अधिनायक चन्द्रमा है। अतः जिस प्रकार नक्षत्रों से चन्द्रमा की शोभा है उसी प्रकार गोपाङ्गनाओं के मनों से भगवान् के मन की शोभा है।

यहाँ यह शङ्का होती है कि इस अप्राकृत चन्द्रमा की वस्तुतः आवश्यकता क्या थी? यदि भगवान् के रचे हुए नवीन अप्राकृत मन का नियमन करने के लिये इसकी आवश्यकता मानी जाय तो ठीक नहीं; क्योंकि भगवान् तो सर्वशक्तिमान् हैं, वे स्वयं ही उस मन को कार्यसम्पादन की योग्यता प्रदान कर सकते थे। यदि कहें कि व्रजाङ्गनाओं के मनों के अधिष्ठाता जो प्राकृत चन्द्रमा हैं, वे नक्षत्रों के रूप में उदित हैं, उनकी रक्षा करने के लिये ही भगवान् के अप्राकृत मन के अधिष्ठाता अप्राकृत चन्द्रमा का उदय हुआ है, तो ऐसा मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि उनका नियमन भी भगवान् स्वयं ही कर सकते थे। यदि उद्दीपन के लिये इसका उदय माना जाय तो भगवान् को इसके लिये भी किसी साधन की अपेक्षा नहीं है, और यदि अन्धकार की निवृत्ति के लिये इसका उदय मानें तो यह काम भी प्राकृत चन्द्रमा से ही निष्पन्न हो सकता था; अतः इसके उदय का प्रधान प्रयोजन क्या था, यह प्रश्न बना ही रहता है।

इस श्लोक में इसका प्रयोजन 'चर्षणीनां शुचः मृजन्' बतलाया है। इसकी व्याख्या श्री वल्लभाचार्यजी इस प्रकार करते हैं—'चर्षणयः परिभ्रमणशक्तयः तासां शुचः मृजन्' अर्थात् परिभ्रमण-शक्तियाँ ही चर्षणी हैं, उनका शोक निवृत्त करने के लिये इस अप्राकृत चन्द्र का उदय हुआ। ये परिभ्रमण-शक्तियाँ आनन्द की खोज में सारे संसार में भ्रमण करती रहीं, परन्तु आनन्द से इनका कहीं भी संयोग न हुआ। इन्होंने समस्त जीवों में जा-जाकर देखा, परन्तु इन्हें कहीं भी परमानन्द की प्राप्ति नहीं हुई। जो जीव मुक्त होने पर परमानन्द में स्थित होते हैं उनसे इन शक्तियों का सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये इन्हें कहीं भी परमानन्द की प्राप्ति न हुई। अतः 'चर्षणीनां शुचः मृजन्' इसका अर्थ है परिभ्रमण-शक्ति-युक्त जीवों के शोक का मार्जन करता हुआ। अर्थात् अभिप्राय यह है कि जीव ब्रह्मानन्द का रसास्वादन तो समस्त प्राकृत सम्बन्धों से रहित होकर ही कर सकता था, इनसे युक्त रहते हुए उसमें परमानन्दरसास्वादन का सामर्थ्य था ही नहीं। इस अभाव की पूर्ति करने के लिये ही पूर्ण परब्रह्म परमात्मा दिव्यमङ्गलमय विग्रह में आविर्भूत हुए। उनके साथ उनके अप्राकृत रमण के लिये अप्राकृत सामग्री और वैसे ही आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों का भी आविर्भाव हुआ। इस अप्राकृत लीला में अप्राकृत उद्दीपन ही होना चाहिये था, क्योंकि अप्राकृत उद्दीपन के बिना अप्राकृत गोपाङ्गनाओं को अप्राकृत परमानन्द का समास्वादन प्राप्त होना असम्भव था। अतः इस अप्राकृत चन्द्र के उदय का प्रधान हेतु तो अप्राकृत आनन्द का उद्रेक ही है। अन्धकार की निवृत्ति आदि तो इसके आनुषङ्गिक प्रयोजन हैं।

इस वृन्दारण्याकाश में ही उडुराज परमानन्दकन्द श्रीवृन्दावनचंद्र का अभ्युदय होता है। इसके अभ्युदय से ही 'चर्षणीनाम्'—गोपाङ्गनाओं का शोकमार्जन एवं 'प्राच्याः'—पूज्यतमा श्रीवृषभानुनन्दिनी का मुखविलिम्पन होता है। चर्षणी एक ओषधि भी है। जिस प्रकार चन्द्र की अमृतमयी शीतल किरणों से उनकी शरत्कालीन सूर्य-ताप-जनित ग्लानि का निराकरण होता है, उसी प्रकार ओषधि के समान परम-सुकोमलस्वभाव व्रजाङ्गनाओं का विरहजनित सन्ताप भगवान् के करव्यापारों से निवृत्त हो जाता है।

अतः इसे इस प्रकार भी लगा सकते हैं—'चर्षणीनां शन्तमैः करैः शुचो मृजन्' तथा 'अरुणेन प्राच्या मुखं विलिम्पन्।' अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णरूप उडुराज अपने अत्यन्त सौख्यावह कल्याणमय करव्यापारों से चर्षणी यानी सुकुमारी गोपाङ्गनाओं का शोक—विरहजनित ताप शान्त करते हुए तथा अरुण यानी कुंकुम से श्रीराधिका-जी का मुखलेपन करते हुए उदित हुए। यहाँ 'दीर्घदर्शनः' यह 'प्रियः' का विशेषण है। इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है–'दीर्घे कमलपत्रवदायते दर्शने* नेत्रे यस्य'

* दृश्यते ईक्ष्यते अनेन इति दर्शनं लोचनम्।

अर्थात् जिसके नेत्र कमलपत्र के समान विशाल हैं। इससे प्रियतम की प्रेमातिशयता और निर्निमेषता द्योतित होती है; अर्थात् वह प्रियतम के दर्शन में इतना आसक्त है कि उसका निमेषोन्मेष भी नहीं होता।

यदि आध्यात्मिक पक्ष में देखें तो इसका तात्पर्य इस प्रकार होगा—

"यदा यस्मिन्नेव काले भगवान् जनानां हृदयारण्ये रन्तुं मनश्चक्रे तदैव उडुराजः मोहनैशतमोव्याप्तान्तःकरणारण्याकाशे किञ्चित्प्रकाशनशीलशमदमादिरूपेषु यः आह्लादप्रकाशात्मिकया भक्तिप्रभया राजते स भजनानन्दचन्द्रः उदगात्।"

अर्थात् जिस समय भगवान् ने भक्तों के हृदयरूप वन में विहार करने की इच्छा की उसी समय उडुराज—जो मोहरूप घोर अन्धकार से व्याप्त अन्तःकरणरूप आकाश में कुछ-कुछ प्रकाशित होनेवाले शमदमादिरूप उडुओं (नक्षत्रों) में आह्लाद एवं प्रकाशात्मिका भक्तिरूप प्रभा से सुशोभित है, वह भजनानन्दरूप चन्द्र उदित हुआ। इससे सिद्ध होता है कि जिस समय भगवान् अपने भक्त के हृदय में रमण करने की इच्छा करते हैं तभी यह भजनानन्दचन्द्र उदित हो जाता है। वह क्या करता हुआ उदित हुआ ?—

"चर्षणीनां गतिभक्षणशीलानां कर्मतत्फलव्यासक्तमनसां जनानां शुचः आर्त्तीः स्वात्मभूतपरप्रेमास्पदभगवद्विप्रयोगवेदनाः ताः मृजन्।"

अर्थात् वह चर्षणी यानी कर्म और कर्मफलभोग में आसक्त-चित्त पुरुषों के शोक—अपने आत्मभूत परप्रेमास्पद भगवान् के वियोग से होनेवाली वेदना का मार्जन करता हुआ उदित हुआ। अथवा कर्म और कर्म-फल-भोगजनित श्रान्ति ही आर्ति है या जितनी भी वेदनाएँ सम्भव हैं वे सभी आर्ति हैं, उन सभी का मार्जन करते हुए भगवान् उदित हुए। यहाँ 'शुचः' में बहुवचन है; इसलिये यह शोकोपलक्षित समस्त संसार का भी उपलक्षण है। किसके द्वारा शोकमार्जन करता हुआ उदित हुआ ?—

"शन्तमैः करैः—स्वयं शन्तमाः परमसुखरूपाः अन्येषु कराः कं सुखं रान्ति समर्पयन्तीति कराः तैः भगवदीयगुणगणगानतानवितानादिभिः।"

शन्तम करों से अर्थात् जो स्वयं परम सुखरूप हैं और दूसरों को सुख प्रदान करनेवाले हैं उन भगवद्गुणगानादि से भक्तों का शोक निवृत्त करता हुआ उदित हुआ। इस प्रकार यह भजनानन्दरूप चन्द्र का उदय समस्त शोकों की निवृत्ति करनेवाला है, क्योंकि जिस समय जीव भगवद्भजन में प्रवृत्त होता है उसी समय उसके सारे पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं।

"मन-करि विषय-अनल-बन जरई।
होइ सुखी जो एहिं सर परई॥"

यह मनरूप मत्तगजेन्द्र संसारानल में जल रहा है; जिस समय यह भगवद्भजन में लगता है उसी समय मानो शीतल गङ्गाजल में अवगाहन करने लगता है।

अब यह विचार करना चाहिये कि ये जो भजनानन्दचन्द्र, भक्तिरूपा प्रभा और गुणगानवितानादिरूप शन्तम कर हैं इनमें भेद क्या है ? क्योंकि बिना भेद के कोई व्यवहार नहीं हो सकता। वस्तुतः भगवद्भक्तिरूपाप्रभा और भगवदीय गुणगणगानतानादि भजनानन्दचन्द्र के अन्तर्गत ही हैं। इनका भेद 'राहोः शिरः' के समान केवल व्यवहार के लिये है। यद्यपि राहु का शिर राहु से कोई पृथक् पदार्थ हो ऐसी बात नहीं है; तथापि लोक में इसका इस प्रकार सम्बन्ध-ग्रहणपूर्वक व्यवहार अवश्य होता है। जैसे 'देवदत्त हाथों से वृक्ष काटता है' इस वाक्य में 'देवदत्त' कर्ता है और 'हाथ' करण हैं। इसलिये इन दोनों में भेद होना चाहिये। परन्तु वस्तुतः देवदत्त क्या है ? वह हाथ, पाँव, शिर आदि का सङ्घात ही तो है। वह अवयवी है और हाथ-पाँव आदि उसके अवयव हैं। नैयायिकों के मतानुसार अवयव कारण होता है और अवयवी उसका कार्य होता है। लोक में कार्य अपने कारण के द्वारा ही सारे व्यापार किया करता है। इसलिये अवयवी में मुख्यता का व्यपदेश होता है और अवयव में गौणता का। इसी प्रकार भक्तिरूपाप्रभा और भगवद्गुणगानरूप किरणें अवयव हैं तथा भजनानन्द चन्द्र अवयवी है। अतः भजनानन्द कार्य है और भक्ति तथा भगवद्गुणगानादि उसके कारण हैं। यह भजनानन्द चन्द्र हृदयारण्य को सुशोभित भी करता है; क्योंकि जहाँ चन्द्रालोक का विस्तार नहीं होता वह स्थल रमण के योग्य भी नहीं होता। इसी प्रकार जिस हृदय में भजनानन्दचन्द्र की भक्तिरूपा प्रभा का विस्तार नहीं हुआ है वह भगवान् का रमण-स्थल होने योग्य भी नहीं है। तथा वह भजनानन्दचन्द्र और क्या करते हुए उदित हुआ ?—

"प्राच्याः—प्राचि भवा प्राची तस्याः बुद्धेः मुखं सत्त्वात्मकं प्रधानं भागं अरुणेन कुङ्कुमेनेव रागेण विलिम्पन्।"

अर्थात् वह प्राची यानी अपने से पूर्व उत्पन्न हुई बुद्धि के सत्त्वमय प्रधान भाग को, अरुण कुंकुम द्वारा मुखलेपन के समान, अनुरक्त करता हुआ उदित हुआ। यही भजनानन्द चन्द्र का कार्य है। जिस प्रकार अग्नि से पिघले हुए लाख में रङ्ग भर देने पर वह उसी रङ्ग का हो जाता है उसी प्रकार यह बुद्धि के सत्त्वात्मक भाग को द्रवीभूत करके उसमें भगवत्स्वरूपरूपी रङ्ग भर देता है। इससे वह बुद्धिसत्त्व भगवन्मय हो जाता है और फिर किसी समय उसे भगवान् की विस्मृति नहीं होती।

तथा वह भजनानन्दचन्द्र है कैसा ?—

"ककुभः—कं सुखं तद्रूपतया कुषु कुत्सितेष्वपि भाति शोभत इति ककुभः।"

'क' सुख को कहते हैं। वह सुखरूप से कुत्सितों में भी भासमान है इसलिये 'ककुभ' है। उस भजनानन्दचन्द्र का आलोक पड़ने पर तो चाण्डाल भी कृतकृत्य हो सकता है, यथा—

"अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥"

अर्थात् हे प्रभो ! जिसकी जिह्वा पर आपका नाम विराजमान है वह श्वपच भी इन (भक्तिहीन द्विजों) की अपेक्षा श्रेष्ठ है । जो आपका नामोच्चारण करते हैं उन महानुभावों ने तो सब प्रकार के तप, होम, स्नान और वेदपाठ कर लिये । यही नहीं, आपके नामों का श्रवण या कीर्तन करने से तथा कभी आपको प्रणाम या स्मरण कर लेने से चाण्डाल भी शीघ्र ही सवन-कर्म का अधिकारी हो सकता है; फिर हे भगवन् ! जिन्हें साक्षात् आपका दर्शन हुआ हो उनके विषय में तो कहना ही क्या है ?

"यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नुदर्शनात् ॥"

सवनकर्म का अधिकार केवल द्विजों को ही है । अतः इस श्लोक में जो 'सद्यः' शब्द है उसका 'तत्काल' अर्थ करके कोई-कोई ऐसा कहने लगते हैं कि भगवत्स्मरण के प्रभाव से चाण्डाल भी उसी जन्म में सवनाधिकारी यानी द्विज हो सकता है । परन्तु ऐसी बात नहीं है । 'सद्यः' का अर्थ शीघ्र है और शीघ्रता सापेक्ष हुआ करती है । शास्त्रसिद्धान्त तो ऐसा है कि पशु एवं तिर्यक् योनियों को भोग चुकने पर जब जीव को मनुष्य-शरीर प्राप्त होता है तो सबसे पहले उसे पुल्कसयोनि मिलती है । उससे उत्तरोत्तर कई जन्मों में स्वधर्म पालन करते-करते वह वैश्य होता है; और तभी उसे द्विजोचित कृत्यों का अधिकार प्राप्त होता है । अतः यहाँ 'सद्यः' शब्द से यही तात्पर्य है कि यदि चाण्डाल स्वधर्मनिष्ठ रहकर भगवच्चिन्तन करेगा तो उसे एक-दो जन्म के पश्चात् ही द्विजत्व की प्राप्ति हो जायगी; अनेकों जन्मों में नहीं भटकना पड़ेगा । यह क्रम स्वधर्मनिष्ठों के ही लिये है । स्वधर्म का आचरण न करने पर तो शूद्र को भी पुनः चाण्डाल-योनि प्राप्त होती है । जैसे कहा है—

"कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनेन च ।
वेदाक्षरविचारेण शूद्रश्चाण्डालतामियात् ॥"

अर्थात् कपिला गौ का दूध पीने से, ब्राह्मणी के साथ मैथुन करने से और वेदाक्षर का विचार करने से शूद्र भी चाण्डालत्व को प्राप्त हो जाता है । और यदि शूद्र स्वधर्म में तत्पर रहे तो उसी जन्म में देहपात के अनन्तर स्वर्ग प्राप्त कर सकता है ।

"स्वधर्मे संस्थितः सम्यक् शूद्रोऽपि स्वर्गमश्नुते ।"

अतः स्वधर्म का अतिक्रमण कभी न करना चाहिये ।

यदि कहो कि तत्क्षण ही क्यों न माना जाय ? तो ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि जाति नित्य है, वह नामस्मरणमात्र से परिवर्तित नहीं हो सकती । यदि

नामस्मरणमात्र से जाति परिवर्तन हो सकता तो गर्दभी को भी नाम सुनाकर कामधेनु बनाया जा सकता था। परन्तु ऐसा नहीं होता। जाति जन्म से होती है, अतः उसका परिवर्तन जन्मान्तर में ही हो सकता है। जिस प्रकार गौ एवं गर्दभादि योनियाँ हैं उसी प्रकार ब्राह्मण और चाण्डालादि भी योनियाँ हैं। श्रुति कहती है— 'ब्राह्मणयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।'

तात्पर्य यह है कि चाहे जाति परिवर्तन हो या न हो परन्तु नामस्मरण से चाण्डाल भी परम पवित्र तो अवश्य हो सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसकी अस्पृश्यता निवृत्त हो जाती है। अपवित्रता दो प्रकार की है; जातिनिमित्तक और कर्मनिमित्तक। कर्मनिमित्तक पातित्य पुण्य-कर्म से निवृत्त हो सकता है, किन्तु जातिनिमित्तक पातित्य कर्म से निवृत्त नहीं हो सकता। चाण्डाल का पातित्य जातिनिमित्तक है। अतः चाण्डाल शरीर रहते हुए उसकी अव्यवहार्यता का प्रयोजक पातित्य निवृत्त नहीं हो सकता। किन्तु भगवत्स्मरण से वह कर्मजनित पातित्य से मुक्त होकर शुद्धान्तःकरण हो जाता है और उसके द्वारा वह भगवत्प्राप्ति भी कर सकता है; उसका कुल पवित्र हो जाता है और उसे परलोक में वह गति प्राप्त होती है जो भक्तिहीन ब्राह्मण के लिये भी दुर्लभ है। इसीसे भगवान् ने भी कहा है—

"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥"

अतः सिद्ध हुआ कि वह भजनानन्दचन्द्र, कुत्सितों को भी सुख प्रदान करता है इसलिये ककुभ है।

'प्रियः' भी उस भजनानन्दचन्द्र का ही विशेषण है। वह भजनानन्दचन्द्र मानो विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभी प्राणियों के परम प्रेम का आस्पद है। वह लोकमनोऽभिराम होने के कारण विषयी पुरुषों को और भवौषध होने के कारण मुमुक्षुओं को प्रिय है। तथा जीवन्मुक्तों को भी वह अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि इसीके कारण उन्हें भगवत्सान्निध्यरूप परमोत्कृष्ट वैभव प्राप्त हुआ है। इसीसे श्री गोसाइँजी महाराज कहते हैं—

"अस बिचारि जे संत सयाने।
मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥"

अतः बहुत से अद्वैतनिष्ठ तत्त्वज्ञजन भी कल्पित भेद को स्वीकार कर निश्छलभाव से अति तत्परतापूर्वक भगवान् की भक्ति किया करते हैं, जैसा कि कहा है—

× × ×

"यत्सुभक्तैरतिशयप्रीत्या कैतववर्जनात्॥
स्वभावस्य स्वरसतो ज्ञात्वापि स्वाद्वयं पदम्।
विभेदभावमाहृत्य सेव्यतेऽत्यन्ततत्परैः॥"

अर्थात् पूर्ण अद्वैतपद सुभक्तों द्वारा फलाभिसन्धिरूप कैतव (कपट) से रहित होकर उपासित होता है, क्योंकि जो लोग लौकिक या पारलौकिक अभिलाषाओं से पूर्ण होंगे उनकी उपासना कैतवशून्य नहीं हो सकती। हाँ, जो मुक्त हो गया है उसे अवश्य किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती; अतः वही निष्कपट उपासना भी कर सकता है।

इससे निश्चय हुआ कि सुभक्त जो ज्ञानी लोग हैं उनके द्वारा वह अद्वयतत्त्व अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उपासित होता है। जिन लोगों ने समस्त प्रपञ्च का मिथ्यात्व निश्चय कर लिया है वे ही किसी पदार्थ में आसक्ति और प्राप्तव्य-बुद्धि न होने के कारण अद्वयभाव से उसका अकैतव उपासना कर सकते हैं। परन्तु यहाँ शङ्का होती है कि यदि उन्हें जीवन्मुक्तों को कोई प्रयोजन ही नहीं होता तो वे भजन में प्रवृत्त ही क्यों होंगे? इस सम्बन्ध में हमारा कथन है कि जीवन्मुक्त महात्माओं पर शास्त्र का शासन नहीं होता, क्योंकि वे कृतकृत्य हो जाते हैं, जैसा कि कहा है—

"गुणातीतः स्थितप्रज्ञो विष्णुभक्तश्च कथ्यते।
एतस्य कृतकृत्यत्वाच्छास्त्रमस्मान्निवर्तते॥"

अर्थात् प्रथम कोटि में साधक यथाविधि वैदिक और स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करके उपासना द्वारा चित्त के दोषों को निवृत्त करता है; फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा भगवान् का साक्षात्कार करने पर वह गुणातीत, जीवन्मुक्त या स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। इस क्रम से कर्म और उपासना में पूर्वमीमांसा, श्रवण में उत्तर मीमांसा, मनन में न्याय और वैशेषिक तथा निदिध्यासन में सांख्य और योग दर्शन का कार्य समाप्त हो जाता है। इस प्रकार कृतकृत्य हो जाने के कारण फिर अपना कोई प्रयोजन न रहने के कारण शास्त्र यद्यपि उस महापुरुष से निवृत्त हो जाता है, तथापि अपने पूर्वाभ्यास के कारण उससे कर्म और उपासना स्वभावतः होते रहते हैं। श्री मधुसूदन स्वामी कहते हैं—

"अद्वेष्टृत्वादिवत्तेषां स्वभावो भजनं हरेः।"

अर्थात् जिस प्रकार उनमें स्वभाव से ही अद्वेष्टृत्वादि गुण रहते हैं उसी प्रकार भगवान् का भजन करना भी उनका स्वभाव ही है।

यहाँ एक शङ्का यह भी होती है कि भक्ति तो भेद में होती है और तत्त्वज्ञों की अभेददृष्टि रहा करती है, फिर वे भक्तिभाव में कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं? इसपर कहते हैं—'विभेदभात्रमाहृत्य' अर्थात् वे भेदभाव का अध्याहार करके भगवान् का भजन करते हैं। इस प्रकार का काल्पनिक भेद सब प्रकार मङ्गलमय ही है। इसीसे कहा है—

"द्वैतं मोहाय बोधात्प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु मुक्तिशताधिका॥"

अर्थात् द्वैत तभी तक मोहजनक होता है जब तक ज्ञान नहीं होता; जिस समय विचार द्वारा बोध की प्राप्ति हो जाती है उस समय तो भक्ति के लिये कल्पना किया हुआ द्वैत, अद्वैत की भी अपेक्षा सुन्दर है। यदि पारमार्थिक अद्वैत बुद्धि रहते हुए भजन के लिये द्वैतबुद्धि रक्खी जाय तो ऐसी भक्ति तो सैकड़ों मुक्तियों से भी बढ़कर है। भाष्यकार भगवान् श्री शङ्कराचार्यजी की भक्ति भी ऐसी ही थी; इसीसे वे कहते हैं—

"सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥"

अर्थात् हे नाथ! यद्यपि आपका और मेरा भेद नहीं है तथापि मैं आपका ही हूँ आप मेरे नहीं हैं, क्योंकि तरङ्ग ही समुद्र का होता है, समुद्र तरङ्ग का कभी नहीं होता।

इसी विषय में किसी भावुक का कथन है—

"प्रियतमहृदये वा खेलतु प्रेमरीत्या पदयुगपरिचर्यां प्रेयसी वा विधत्ताम्।
विहरतु विदितार्थो निर्विकल्पे समाधौ ननु भजनविधौ वा तुल्यमेतद्द्वयं स्यात्॥"

अर्थात् प्रियतमा चाहे तो प्रणयविधि से प्रियतम के वक्षःस्थल पर विहार करे और चाहे उसके चरणयुगल की परिचर्या में लगी रहे—बात एक ही है। इसी प्रकार जिसे परमार्थबोध प्राप्त हो गया है वह चाहे तो निर्विकल्प समाधि में स्थित रहे और चाहे भगवान् के भजन-पूजन में लगा रहे—कोई भेद नहीं है। जो लोग विचारशून्य हैं उन्हींकी दृष्टि में भगवान् का आत्मत्वेन साक्षात्कार उनका अपमान है। यदि विचार करके देखा जाय तो इस प्रकार का अभेद तो प्रेमातिशय की रीति ही है। प्रेम का अतिरेक होने पर तो भेदभाव की तिलाञ्जलि हो ही जाती है। जो अरसिक हैं, उत्कृष्ट प्रेमातिशय के रहस्य को जाननेवाले नहीं हैं उनकी दृष्टि में प्रियतमा का प्रियतम के वक्षःस्थल में विहार करना अयुक्त हो सकता है, किन्तु रसिकजन तो जानते हैं कि प्रेमातिरेक में ऐसा ही हुआ करता है। अतः अभेदरूप से स्वरूप साक्षात्कार हो जाने पर भी काल्पनिक भेद स्वीकार करके निष्कपट भाव से भक्ति हो ही सकती है। तत्त्वज्ञों के यहाँ ऐसी ही भक्तिका स्वीकार है। इस प्रकार यह भजनानन्दचन्द्र विषयी, मुमुक्षु और मुक्त सभी के लिये प्रिय है।

इसके सिवा और भी वह भजनानन्दचन्द्र कैसा है?—'दीर्घ-दर्शनः-दीर्घ अ.प-बाध्यं दर्शनं यस्य' अर्थात् जिसका दर्शन-ज्ञान किसीसे बाधित नहीं होता। जो ज्ञान

भ्रमात्मक होता है वह तो ज्ञानान्तर से बाधित हो जाता है, किन्तु यह भजनानन्द-चन्द्र ज्ञानान्तर से बाधित होनेवाला नहीं है, यह ज्ञानान्तराबाध्य भजनानन्दचन्द्र चर्षणियों के शोक का मार्जन करता तथा प्राग्भवा तमोव्याप्ता बुद्धि के सत्त्वात्मक प्रधान भाग को अनुरागात्मक कुङ्कुम से लेपन करता हुआ उदित हुआ, जिस प्रकार कोई चिरप्रोषित प्रियतम प्रवास से लौटकर अपनी प्रियतमा के शोकाश्रुओं का मार्जन करते हुए करधृत कुङ्कुम से उसके मुख का लेपन करता है।

अथवा यों समझिये कि जिस समय भगवान् ने रमण करने की इच्छा की उसी समय प्राची–नित्यप्रिया श्रीवृषभानुनन्दिनी का मुख विलेपन करते हुए उडुराज (श्रीकृष्णचन्द्र) उस विहारस्थल में उदित हो गये। यहाँ 'उडुराज' शब्द में उपमालङ्कार है अर्थात् श्रीकृष्णरूप चन्द्र जो कि चन्द्रमा के समान चन्द्रमा हैं वे प्रियतमा श्रीराधिकाजी का मुखविलिम्पन करते हुए उस विहारस्थल में इसी प्रकार प्रकट हुए जैसे चन्द्रमा प्राची दिशा को अनुरञ्जित करते हुए उदित होते हैं। उडुराज जिस प्रकार प्राची दिशा के मुख यानी प्रधान भाग को करों (किरणों) से अनुरञ्जित करते हैं उसी प्रकार यहाँ क्रीड़ाभूमि में श्रीकृष्णचन्द्र करकमलों में ली हुई होलिकारोलिका (होली के गुलाल) से श्रीराधिकाजी का मुखमण्डल अनुरञ्जित करते हैं। जिस प्रकार उदयकालीन चन्द्रमा उदयराग से प्राची दिशा और समस्त आकाश को अरुण कर देता है ठीक उसी प्रकार भगवान् कृष्ण ने प्रकट होकर अपने शन्तम-कर अर्थात् मङ्गलमय कर व्यापारों से समस्त व्रजाङ्गनाओं के मुखमण्डल को अरुण कर दिया। यहाँ 'शन्तमैः करैः' यह भगवान् के समस्त मङ्गलमय अङ्गों का उपलक्षण है। वे अङ्ग मङ्गलमय हैं और मङ्गलकारक भी हैं, क्योंकि भगवान् 'आनन्दमात्रकरपाद-मुखोदरादि' तथा—

"नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दमूर्त्तये।
सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे॥"

आदि वाक्यों के अनुसार शुद्ध सन्मात्र, चिन्मात्र और आनन्द-मात्र तत्त्व हैं; तथा 'एष ह्येवानन्दयति' इस श्रुतिके अनुसार वे ही सब प्राणियों को आनन्दित भी करते हैं, अतः वे आनंदप्रद भी हैं। उन्होंने नित्यप्रिया श्रीवृषभानुनंदिनी के समान अन्य व्रजाङ्गनाओं के मुखमण्डल को भी सुखमय और सुखावह कर-व्यापारों से अरुण किया तथा उनके कर्णरन्ध्रों को वेणुराग से और हृदयाकाशों को प्रेमराग से रञ्जित कर दिया। इस प्रकार वे उदित हुए। यहाँ 'करैः' में जो बहुवचन है वह स्वरूपों की बहुलता के अभिप्राय से भी हो सकता है, क्योंकि यहाँ रासलीला में भगवान् को अनेक रूप से आविर्भूत होना है। अतः भगवान् के अनेक रूपों की अपेक्षा से बहुवचन का प्रयोग उचित ही है।

तथा व्रजाङ्गनाओं को जो भगवान् के साथ विहारावसर प्राप्त न होने का शोक था उसे भी अपने शन्तम कर यानी सुखप्रद लीलामय विहारविशेषों से ही निवृत्त करते हुए भगवान् प्रकट हुए। यहाँ 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इस सूत्र के अनुसार 'मृजन्' में भविष्यार्थ में वर्तमान का प्रयोग हुआ है। अर्थात् भगवान्, अपने साथ विहार करने का सुअवसर न मिलने के कारण जो गोपाङ्गनाओं को शोक था, उसकी निवृत्ति करेंगे इसीलिये उदित हुए हैं। यहाँ—

"रलयोर्डलयोश्चैव सषयोर्बवयोस्तथा।
वदन्त्येषां च सावर्ण्यमलङ्कारविदो जनाः॥"*

इस वचन के अनुसार 'उडुराजः' की जगह 'उरुराजः' भी समझा जाता है। अर्थात् जिस समय भगवान् वृन्दारण्य में पधारे उस समय श्रीयशोदा और नन्दबाबा को विकलता होने की सम्भावना हुई, क्योंकि जिस प्रकार फणि मणि को नहीं छोड़ सकता उसी प्रकार वे भगवान् से विलग नहीं रह सकते थे। अतः भगवान् अनेक रूप से प्रकट हुए। अर्थात् वृन्दारण्य में प्रकट होने पर भी वे एक रूप से श्रीयशोदाजी के शयनागार में ही रहे। इसीसे उन्हें 'उरुधा–बहुधा राजते यः स उरुराजः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उरुराज—अनेक रूप से सुशोभित होनेवाले कहा है।

यहाँ 'प्रियः' यह उडुराज का विशेषण है। जिस प्रकार रसिक और भक्त पुरुष दोनों ही को चन्द्रमा प्रिय है उसी प्रकार भगवान् भी सबके परम-प्रेमास्पद हैं। चन्द्रमा में रसिकों का प्रेम तो शृङ्गाररस का उद्दीपन विभाव होने के कारण है; किन्तु साथ ही वह भक्तों को भी अत्यन्त प्रिय है, क्योंकि उसके मध्य में जो श्यामता है वह उन्हें हृदयाकाश में स्थित ध्यानाभिव्यक्त भगवत्स्वरूप का स्मरण दिलाती है। तथा उसके दर्शनमात्र से भी अपने प्रियतम के प्रति प्रेमियों के अनुराग की वृद्धि होती है। देखो, चन्द्रमा अत्यन्त दूर देश में है तो भी वह समुद्र की अभिवृद्धि का हेतु होता है। जान पड़ता है कि मानो समुद्र अपनी उत्ताल तरङ्गों द्वारा चन्द्रमा से मिलना चाहता है। इससे यह सूचित होता है कि प्रिय वस्तु चाहे कितनी ही दूर रहे, किन्तु प्रेमी को उसके प्रति अनुराग की वृद्धि होती है। इसीसे जब-जब पूर्णचन्द्र का उदय होता है तभी-तभी समुद्र अत्यन्त उत्सुकता से उससे मिलने के लिये उत्ताल तरङ्गों से उछलने लगता है। यह सब देखकर प्रेमियों की ऐसी भावना हो जाती है कि जिस प्रकार यह समुद्र अपने प्रियतम तक पहुँचने के प्रयत्न में बारम्बार असफल होते रहने पर भी हताश नहीं होता उसी प्रकार हमें भी अपने प्रियतम से निराश या निरपेक्ष नहीं होना चाहिये। इस प्रकार प्रेमियों को प्रेमरीति सिखानेवाला,

---

* अर्थात् अलङ्काररहस्यज्ञ महानुभाव र और ल, ड और ल, स और ष तथा ब और व इनकी सवर्णता बतलाते हैं।

भगवान् कृष्ण में रमणेच्छा उत्पन्न करानेवाला तथा समस्त जीवों को आनन्दित करनेवाला होने के कारण चन्द्रमा सब प्रकार से प्रेमास्पद ही है। इसी प्रकार सर्वान्तरात्मा श्रीभगवान् भी सभी के परम-प्रेमास्पद हैं, क्योंकि कोई पुरुष कैसा ही नास्तिक या देहाभिमानी क्यों न हो उसे भी अपनी आत्मा में ही निरतिशय प्रेम होता है।

यह चन्द्रमा कैसा है? '**दीर्घदर्शनः—दीर्घकालानन्तरे अनेक-रात्र्यवसाने दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः**' अर्थात् जिसका दर्शन बहुत-सी रात्रियों के पीछे होता है, क्योंकि पूर्णचन्द्र एक मास के अनन्तर ही उदित होता है। यदि इसे भगवान् का विशेषण माना जाय तो इस प्रकार अर्थ होगा—'दीर्घमबाध्यं दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः' अर्थात् जिनका दर्शन दीर्घ यानी अबाध्य है क्योंकि '**न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्**' इस सूत्र के अनुसार सर्वसाक्षी भगवान् की दर्शनशक्ति का लोप कभी नहीं होता। भगवान् कृष्ण प्रत्यगात्मा होने के कारण ही "**प्रियः**"— परप्रेमास्पद हैं तथा सर्वान्तरतम प्रत्यगात्मा होने के कारण ही सर्वद्रष्टा हैं। जो सर्वद्रष्टा है वह किसीका दृश्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह जिसका दृश्य होगा उसका द्रष्टा नहीं हो सकता और ऐसा होने पर उसका सर्वद्रष्टृत्व बाधित हो जायगा। अतः सर्वद्रष्टा श्रीभगवान् की दर्शनशक्ति का किसी समय लोप नहीं होता।

दर्शन दो प्रकार का है—बौद्धदर्शन और पौरुषेयदर्शन। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा अन्तःकरण का उन इन्द्रियों के विषयों से संश्लिष्ट होकर तदाकार हो जाना बौद्धदर्शन है। यह बुद्धि का परिणाम है। यहाँ बुद्धि ही इन्द्रियों द्वारा विषयों को व्याप्त कर उनके आकार में परिणत हो जाती है।

इसीको कहीं-कहीं पौरुषेयदर्शन भी कहा है। बुद्धि में जो पुरुषत्व का आरोप होता है उसीके कारण बुद्धिनिष्ठ दर्शन पुरुष-निष्ठ-सा जान पड़ता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि में जो विवेक ज्ञान और शब्दादि ज्ञान है इनका अपने में आरोप करके यह पुरुष 'अहं विवेकवान्' और 'अहम् शब्द-ज्ञानवान्' प्रतीत होता है। वस्तुतः तो यह आरोप भी बुद्धि में ही है। पुरुष से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ यह सन्देह होता है कि यदि यह आरोप बुद्धिनिष्ठ है तो इसकी पुरुषनिष्ठता प्रतीत नहीं होनी चाहिये, बुद्धि-निष्ठता ही अनुभूत होनी चाहिये। किन्तु बुद्धि, प्रकृति का विकार होने के कारण जड़ है, अतः यह आरोप अनुभव का विषय (दृश्य) ही होना चाहिये, अनुभवरूप नहीं होना चाहिये। परन्तु ऐसी बात तो है नहीं; इसलिये इसे बुद्धिनिष्ठ ही क्यों माना जाय?

इसका उत्तर यह है कि यह बुद्धिनिष्ठ आरोप बुद्धि में पुरुषत्व की भ्रान्ति कराने के कारण बुद्धिनिष्ठ होने पर भी पुरुषनिष्ठ-सा जान पड़ता है; इसीसे वस्तुतः वह आरोप अनुभव का विषय होने पर भी अनुभवरूप-सा प्रतीत होता है।

इस प्रकार सिद्धान्ततः यही निश्चय हुआ कि बौद्ध बोध ही पौरुषेय बोध-सा प्रतीत होता है। पौरुषेय बोध बुद्धिबोध से भिन्न नहीं है। इसीसे कहा है—'**एकमेव**

दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्'। यहाँ तत्तदाकारवृत्ति ही 'ख्याति' कही गयी है। व्युत्थान-अवस्था में पुरुष ख्यात्याकार हो जाता है—**'वृत्तिसारूप्यमितरत्र'**। वृत्तियाँ शान्त, घोर और मूढभेद से तीन प्रकार की हैं, अतः व्युत्थानावस्था में पुरुष भी शान्त, घोर और मूढरूप हो जाता है।

यह कथन लोकव्यवहारोपयुक्त दर्शन की दृष्टि से है। वास्तव में तो इस बौद्ध-बोध से व्यतिरिक्त पुरुष का स्वभावभूत चैतन्य ही पौरुषेयदर्शन है। यदि बौद्धबोध को ही पुरुष का स्वभाव माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि समाधि-अवस्था में समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने पर पुरुष का क्या स्वभाव रहता है? तात्पर्य यह है कि यदि उसका स्वभाव बौद्धबोध ही है तो उस अवस्था में समस्त बुद्धिवृत्तियों का निरोध हो जाने के कारण वह स्वभावशून्य होकर कैसे रहेगा? कारण, ऐसा कोई समय नहीं है जब कि पुरुष शब्दादि वृत्तियों में से किसीके साथ तादात्म्यापन्न न हो। समस्त वृत्तियाँ पाँच विभागों में विभक्त की गयी हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति; इनमें से किसी न किसीके साथ पुरुष का सारूप्य रहता ही है। जिस प्रकार अग्नि दाहकत्व-प्रकाशकत्वशून्य नहीं रहता उसी प्रकार पुरुष शान्त, घोर या मूढवृत्तियों से शून्य कभी नहीं रहता। अतः ये उसके स्वभाव ही हैं। यदि कहें कि समाधिकाल में वृत्तियों का निरोध हो जाने पर भी वह उस निर्वृत्तिक अन्तःकरण का ही भोक्ता रहता है तो ठीक नहीं, क्योंकि निर्वृत्तिक अन्तःकरण भोगोपयोगी नहीं है, क्योंकि भोग और सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति-रूप पुरुषार्थ-सम्पादन करनेवाली अन्तःकरण रूप में परिणत हुई ही प्रकृति पुरुष की भोग्य हो सकती है। निर्वृत्तिक चित्त में तो ये दोनों ही बातें नहीं हैं। अतः समाधि-अवस्था में पुरुष का कोई स्वभाव ही नहीं रहता। कोई भी भावरूप पदार्थ अपने स्वभाव को छोड़कर नहीं रह सकता। पुरुष भावरूप है, अतः समाधि-अवस्था में भी उसका सद्भाव रहने के कारण क्या हो सकते हैं?

इसपर सिद्धान्ती कहता है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** अर्थात् समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि भाव के दो रूप हैं—औपाधिक और अनौपाधिक। बौद्धबोध पुरुष का औपाधिक रूप है, अतः समाधि में उसका अभाव हो जाने पर भी पुरुष का निरुपाधिक अर्थात् स्वाभाविक स्वरूप तो रहता ही है। यही मुख्य पौरुषेय-बोध है। यह पुरुष का स्वाभाविक चैतन्य ही वास्तविक दर्शन है। दृष्टि दो हैं—नित्या और अनित्या। ख्याति अनित्या दृष्टि है, यह उदयास्तमयशालिनी है। इसकी साक्षीभूता जो नित्या दृष्टि है उसीके विषय में श्रुति कहती है—"**नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'** अर्थात् द्रष्टा की दृष्टि का लोप कभी नहीं होता। यही दीर्घा दृष्टि है और यही मुख्य

भी है। इसीसे भगवान् को अविलुप्तदृक् कहा है। यह दृष्टि समस्त अनित्य दृष्टियों की दृष्टि (साक्षिणी) है; अर्थात् अनित्य दृष्टियों की दृष्टि और उनका द्रष्टा एक ही बात है। यहाँ **'द्रष्टुः दृष्टिः'** यह कथन ऐसा ही है जैसे **'राहोः शिरः'** अर्थात् जिस प्रकार शिर राहु से तनिक भी भिन्न नहीं है उसी प्रकार यह दृष्टि भी द्रष्टा से भिन्न नहीं है, अतः 'द्रष्टु' इस पद में जो षष्ठी है वह समानाधिकरण्य में है; अर्थात् जो दृष्टि द्रष्टा से अभिन्न है वही द्रष्टा की दृष्टि है। और यदि व्यधिकरण-षष्ठी मानकर अर्थ किया जाय तो इसके दो तात्पर्य होंगे—द्रष्टृजन्या दृष्टि या द्रष्टृ प्रकाशिका अर्थात् द्रष्टृविषयिणी दृष्टि। इनमें पहली द्रष्टा के आश्रित है और दूसरी द्रष्टा का आश्रय है तथा पहली अनित्या है और दूसरी नित्या। इससे सिद्ध हुआ कि घटादि-दर्शन का आश्रय तो द्रष्टा है तथा उस द्रष्टा का जो दर्शन है, जिस दर्शन का विषय वह द्रष्टा है वही शुद्ध आत्मा है। वह दृष्टि क्या है ? वह द्रष्टा की स्वरूपभूता है। यहाँ 'द्रष्टा' शब्द से काल्पनिक द्रष्टा अभिप्रेत है। उस (काल्पनिक द्रष्टा) का आश्रय ही उसका पारमार्थिक स्वरूप है, जैसे रज्जु में अध्यस्त सर्प का रज्जु। वह दृष्टि कौन-सी है ? इसका परिचय श्रुति इस प्रकार देती है—

'सा द्रष्टुर्दृष्टिर्यया स्वप्ने पश्यति' इत्यादि।

इस प्रकार जिसके द्वारा स्वाप्निक पदार्थों की प्रतीति होती है वह दृष्टि आत्मस्वरूपा ही है। यहाँ शङ्का होती है कि उसके भी तो उत्पत्ति और नाश देखे जाते हैं; अतः वह भी अनित्या ही है। इसपर हमारा कथन यह है कि ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि उस समय चक्षु आदि इन्द्रियाँ तो अज्ञान में लीन हो जाती हैं और अन्तःकरण विषयरूप हो जाता है। जाग्रदवस्था के हेतुभूत अविद्या, काम और कर्मों का क्षय तथा स्वप्नावस्था के हेतुभूत अविद्या, काम और कर्मों का उदय होने पर, जाग्रदवस्था में अपने-अपने अधिष्ठातृ देवता से अनुगृहीत भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुए भिन्न-भिन्न ज्ञानों के संस्कारों से संस्कृत हुआ अन्तःकरण ही स्वाप्निक-पदार्थों के रूप में परिणत हो जाता है, जिस प्रकार सिनेमा में अनेक प्रकार के चित्रों से चित्रित पट ही विशेष प्रकार के प्रकाश, गति और काँच से संयुक्त होकर नाना प्रकार की गतियाँ करता प्रतीत होता है।

किन्तु उस समय (स्वप्न में) इन सबका दर्शन किसके द्वारा होता है ? यदि कहो कि जिस प्रकार अनिर्वचनीय रूपादि उत्पन्न हुए हैं उसी प्रकार अनिर्वचनीय दृष्टि भी उत्पन्न हो जाती है तो यह हो नहीं सकता, क्योंकि प्रातिभासिक अनिर्वचनीय पदार्थ सदा ज्ञातसत्ताक ही होते हैं। उनका सर्वदा अपरोक्ष-ज्ञान हुआ करता है। किन्तु इन्द्रियाँ अज्ञानसत्ताक भी होती हैं, क्योंकि वे स्वयं अज्ञात रहकर भी वस्तु का प्रकाशन करने में समर्थ हैं। अतः अज्ञातसत्ताक होने के कारण उसका आरोप नहीं हो सकता; अतः स्वाप्निक रूप की दृष्टि शुद्ध आत्मा ही है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि यदि स्वाप्निक रूप की दृष्टिशुद्ध आत्मा ही है तो उसमें दृष्टि, श्रुति, विज्ञाति आदि भेद नहीं हो सकते, क्योंकि वह तो निर्विशेष अर्थात् सामान्यरूप है। उसमें यह नामरूपात्मक भेद कैसे हो गया ? इसका उत्तर यह है कि इन अनिर्वचनीय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध का अनिर्वचनीय सम्बन्ध स्वप्रकाश आत्मा में अनिर्वचनीय श्रुति, अनिर्वचनीय मति एवं अनिर्वचनीय विज्ञाति आदि उत्पन्न कर देता है, जिस प्रकार एकरस प्रकाश भी नील-पीत, हरित काँचों के साथ संश्लिष्ट होने पर तत्तद्रूपवान् प्रतीत होता है। किन्हीं-किन्हीं लैम्पों में देखा जाता है कि उसके भिन्न-भिन्न पार्श्वों में भिन्न-भिन्न वर्ण के काँच लगे रहते हैं। उनके कारण उसकी दीप-शिखा एकरूप होने पर भी भिन्न-भिन्न ओर से विभिन्न वर्ण की दिखलाई पड़ती है। इसी प्रकार एक ही शुद्ध ब्रह्म विविध उपाधियों के कारण विविधरूप प्रतीत होता है। यहाँ दृष्टान्त में दीपशिखा के सन्निहित होनेवाले नील, पीत, हरित काँच समान-सत्तावाले हैं, अर्थात् उन सभी की व्यावहारिक सत्ता है; इसलिये उसका वैवर्ण्य पारमार्थिक भी कहा जा सकता है। परन्तु आत्मा से संश्लिष्ट ये शब्दादि तो अतात्त्विक हैं; अतः अतात्त्विक शब्दादि के सम्बन्ध से होनेवाला तात्त्विक-आत्मा का भेद भी अतात्त्विक ही है।

यहाँ एक बात यह समझ लेनी चाहिये कि चक्षुरादिजन्य रूपाद्याकाराकारित-वृत्तिरूप जो दृष्टि आदि हैं उनके संस्कारों से संस्कृत अन्तःकरण ही शब्दादिरूप से परिणत होता है। अतः दर्शन-श्रवण आदि के संस्कारों से संस्कृत जो अन्तःकरण है उसके सम्बन्ध से ही शुद्ध चैतन्य में दृष्टि, श्रुति आदि अनेक भेद प्रतीत होते हैं; जिस प्रकार सुषुप्ति में यद्यपि अहङ्कार नहीं रहता तथापि जागने पर यही अनुभव होता है कि 'मैं सुखपूर्वक सोया'। इस प्रकार की स्मृति से उस समय भी अहङ्कार की सत्ता सिद्ध होती है। परन्तु वस्तुतः उस समय अहङ्कार नहीं रहता, क्योंकि उस अवस्था में इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि अहङ्कार के धर्म नहीं देखे जाते और धर्म के बिना धर्मी की स्थिति सम्भावित नहीं है; तथापि अहङ्कार न रहने पर भी अहं संस्कार-संस्कृत अज्ञान तो रहता ही है; इसीसे जागृति में उसका परामर्श होता है।

अब हम इस श्लोक के तात्पर्य का एक अन्य प्रकार से विचार करते हैं—

"उडुराजः, उडुषु उडुसदृशर्तुषु राजत इति उडुराजः–वसन्तः। यदैव भगवान् रन्तुं मनश्चक्रे तदैव उडुराजो–वसन्त उदगात्।"

अर्थात् जो उडुस्थानीय अन्य ऋतुओं में शोभायमान है वह वसन्त ही उडुराज है। जिस समय भगवान् ने रमण करने की इच्छा की उसी समय वह वसन्तरूप उडुराज उदित हो गया। वह वसन्त ऋतु कैसा है ? **'दीर्घदर्शनः—दीर्घकाले दर्शनं यस्य।'** अर्थात् वर्तमान जो शरद् ऋतु है उसकी अपेक्षा जिसका दर्शन दीर्घकाल में होना सम्भव है। ऐसा वसन्त ऋतु भी काल का अतिक्रमण करके उदित हुआ।

उसीका विशेषण है **'ककुभः—के स्वर्गे कौ पृथिव्यां भातीति ककुभः'** अर्थात् जो क—स्वर्ग और कु—पृथिवी में भासित होता है। इससे वसन्तोपलक्षित होलिका में होनेवाले उत्सवादि भी सूचित होते हैं। 'प्रिय' भी उसीका विशेषण है, क्योंकि सबके प्रेम का आस्पद होने के कारण वह सबका प्रिय भी है। वह वसन्तरूप ककुभ और प्रिय उडुराज उदित हुआ। क्या करता हुआ उदित हुआ ?

"प्रियसङ्गमाभावजनितविषादान् मृजन् शन्तमैः करैश्च स्वोद्दीपनविभावजनितेन अरुणेन प्रियसङ्गमसम्भावनाजनितेनानुरागेण प्राच्या नित्यप्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्या इव चर्षणीनां श्रीकृष्णेन सह रन्तुं गमनशीलानामन्यासां व्रजाङ्गनानां विरहाग्निना पीतं मुखं विलिम्पन्।"

अर्थात् वह प्रियसङ्गमाभाव के कारण उत्पन्न हुए विषाद को अपनी शान्त किरणों से (अथवा सुखस्वरूप एवं सुखप्रद किरणों से) निवृत्त करते हुए तथा अपने उद्दीपनविभावरूप चन्द्रमा से उत्पन्न हुए अरुण यानी प्रियतम के समागम की सम्भावना से प्रकट हुए अनुराग द्वारा प्राची—नित्यप्रिया श्रीवृषभानुसुता के समान, अन्य सब चर्षणीगण—भगवान् श्रीकृष्ण के साथ रमण करने के लिये अभिसरण करनेवाली समस्त गोपाङ्गनाओं के विरहाग्निजनित पीड़ा से पीले पड़े हुए मुखों का लेपन करते हुए उदित हुए। यहाँ **'प्राच्या मुखम् अरुणेन विलिम्पन्'** इसका अर्थ यह भी हो सकता है—

"प्राच्याः नित्यप्रियायाः व्रजभुवः मुखं मुख्यं भागं श्रीवृन्दारण्यम् अरुणेन किंशुकादिपुष्पविकासेन विलिम्पन्।"

अर्थात् नित्यप्रिया व्रजभूमि के मुख (मुख्य भाग) श्रीवृन्दारण्य को अरुण—किंशुकादि रक्तपुष्पों के विकास द्वारा रञ्जित करते हुए उदित हुए। उस समय वसन्त के उदय से यों तो सभी जीव और भूमियों की ग्लानि निवृत्त हो गयी थी, किन्तु उसने प्रधानतया वृन्दारण्य को तो किंशुककुसुमादि की अरुणिमा से और भी अनुरञ्जित कर दिया था।

इस प्रकार जब समस्त जड़वर्ग भगवान् की लीला में उपयुक्त होने के लिये उद्यत हुआ तो विराट् भगवान् का मनरूप चन्द्रमा भी उस रमणलीला में उद्दीपनरूप से सहायक होकर उदित हुआ, क्योंकि विराट् तो भगवान् का परम भक्त है। उस चन्द्रमा में जो उदयकालीन लालिमा है वह उसका भगवद्विषयक अनुराग है, तथा उसमें जो श्यामता है वह मानो ध्यानाभिव्यक्त भगवत्स्वरूप है। उस चन्द्रमा की जो अरुण कान्ति है वह मानो भगवल्लीला की सम्भावना से प्रादुर्भूत हुए मानसिक उल्लास के कारण जो उसकी मन्द मुस्कान है उसीके कारण विकसित हुई दन्तावली की अधर-कान्तिमिश्रित आभा है। तथा उस चन्द्रमा का जो निखिल-

व्योमव्यापी अमृतमय शीतल प्रकाश है वह भगवद्दर्शन के अनन्तर विराट् भगवान् का उदार हास है। विराट् के ईषत्हास में उसकी देदीप्यमान दन्तपंक्ति की आभा ओष्ठों की अरुणिमा से अरुण होकर प्रकट होती है; किन्तु उसके उदार हास में ओष्ठों के दूर हो जाने से उन ओष्ठों की अरुणिमा का सम्बन्ध बहुत कम रह जाता है, इसलिये उस समय उस दन्तपंक्ति की दीप्ति बहुत स्फुट होती है। नक्षत्रमण्डल ही विराट् भगवान् की दन्तावली है। उस उल्लास के कारण जो हर्षोत्कर्ष से उद्गत रोमावली है वही ये वृक्ष हैं। इस प्रकार भगवल्लीला-दर्शन के लिये उल्लसित होकर विराट् भगवान् का मनरूप चन्द्रमा प्रकट हुआ। उस चन्द्रमा का विशेषण है--

"ककुभः-के स्वर्गे मण्डलरूपेण कौ पृथिव्यां प्रकाशरूपेण च भातीति ककुभः।"

अर्थात् जो मण्डलरूप से आकाश में और प्रकाशरूप से पृथिवी में प्रकाशित होता है, वह चन्द्रमा ककुभ है।

वह क्या करता हुआ उदित हुआ ?

"शन्तमैः करैश्चर्षणीनां श्रीकृष्णरसास्वादनाय वृन्दारण्यं प्रति अभिसरण-शीलानां व्रजाङ्गनाजनानां शुचः तमआदिरूपान् प्रतिबन्धान् मृजन् उद्दीपनविधया वा लोककुलमर्यादारूपान् प्रतिबन्धान् मृजन् उदगात्।"

अर्थात् वह अपनी सुखस्वरूप एवं सुखप्रद किरणों से, श्रीकृष्ण-रसास्वादन के लिये वृन्दारण्य की ओर जानेवाली व्रजाङ्गनाओं के शोक अर्थात् अन्धकारादिरूप प्रतिबन्धों का अथवा उद्दीपनरूप से उनके लोक एवं कुलमर्यादारूप प्रतिबन्धों का निराकरण करता हुआ उदित हुआ। इसके सिवा अपनी नित्यप्रिया श्रीवृषभानु-दुलारी के समान अन्य गोपाङ्गनाओं के भी विरहतापसन्तप्त पीले मुखों को प्रियतम के सङ्गम की सम्भावना से होनेवाले अनुरागरूप उदयकालीन अरुणिमा से अनुरञ्जित करता हुआ उदित हुआ। भगवान् की परमाह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीराधिकाजी तो नित्य ही भगवत्-संश्लिष्टा हैं, अतः उन्हें यह वियोगजनित ताप नहीं है और इसीसे उनके मुख में पीतता भी नहीं है, प्रत्युत नित्य ही दीप्तियुक्त अरुणिमा है। किन्तु अन्य व्रजाङ्गनाओं को यह सौभाग्य उपासना के पश्चात् प्राप्त होता है। अतः उपासना की परिपक्वता से पूर्व, जब कि पूर्वराग का भी प्रादुर्भाव नहीं होता, वे भगवद्विरह से व्यथित रहती हैं और उनका समस्त अङ्ग पीला पड़ जाता है। इस समय इस चन्द्रमा ने उदित होकर प्रियतम के समागम का सन्देश सुनाकर उस पीतिमा को अरुणिमा में परिणत कर दिया।

परम प्रेमास्पद परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र से तादात्म्य-प्राप्ति के लिये भला कौन उत्सुक न होगा ? परन्तु अधिकांश उपासक तो उपासना का परिपाक होने के अनन्तर ही उन्हें प्राप्त कर पाते हैं। किन्तु श्रीराधिकाजी का भगवान् के साथ

शाश्वत सम्प्रयोग है। जिस प्रकार सुधासमुद्र में मधुरिमा नित्य-निरन्तर और सर्वत्र है उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण में उनकी आह्लादिनी शक्ति श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं। अतः श्रीकृष्ण और राधिकाजी का नित्य संयोग है। उनके सिवा और किसीको यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है। यद्यपि तत्त्वतः तो भगवान् सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन ही हैं। अतः उनमें अन्य वस्तु के संयोग का अवकाश तभी हो सकता है जब वह भगवद्रूप हो। विजातीय वस्तु का उसके साथ कभी योग नहीं हो सकता। और वस्तुतः विजातीय कोई वस्तु है भी नहीं। विचारवानों ने तो जीव को भगवत्स्वरूप ही कहा है। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं –

"ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी॥"

जीव में जो सुखित्व-दुःखित्वादि प्रतीत होते हैं वे यदि स्वाभाविक होते तो उसमें भगवत्सम्प्रयोग की योग्यता ही नहीं हो सकती थी। अतः उसके ये धर्म आरोपित हैं। आरोप की निवृत्ति होते ही जीव का भी भगवान् से तादात्म्य हो जाता है। इसी प्रकार श्रीवृषभानुसुता तो भगवान् से नित्यसंश्लिष्टा हैं किन्तु इतर व्रजबालाओं का उनसे कल्पित भेद है। उस भेद की निवृत्ति होते ही उसका भी भगवान् से अभेद हो जायगा।

मायामोहित जीव प्रायः भगवान् की ओर प्रवृत्त नहीं होता; इसीसे वह बाह्य प्रपञ्च में आसक्त रहता है। जिस समय किसी महान् पूर्वपुण्य के प्रभाव से उसकी प्रवृत्ति भगवान् की ओर होती है उस समय वह बाह्य प्रपञ्च से विरत हो जाता है और धीरे-धीरे उसे भगवत्तत्त्व ही परप्रेमास्पद प्रतीत होने लगता है। फिर उसे भगवान् का एक क्षण का वियोग भी असह्य हो जाता है। इस प्रकार के विरहानल से सन्तप्त होकर उसका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो जाता है और जिन दोषों के कारण वह अपने प्रियतम की उपेक्षा का भाजन बना हुआ था वे सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। इस विरहावस्था में उसका मुख पीला पड़ जाता है। भक्तशिरोमणि श्री भरतजी की इसी अवस्था का वर्णन करते हुए श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

"बैठे देखि कुशासन जटामुकुट कृशगात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥"

इस प्रकार प्रियतम के विप्रयोग में प्रियतम के प्रेमास्पदत्व की अनुभूति हो जाती है। जब तक प्रेमास्पद प्रेमास्पदरूप से अनुभूत नहीं होता तभी तक प्रमाद रहता है। उसमें प्रेमास्पदत्व की अनुभूति होने पर तो उसके बिना एक पल के लिये भी चैन नहीं पड़ता। फिर तो उसकी वियोगाग्नि में झुलसकर शरीर दुर्बल हो जाता है तथा मुख पीला पड़ जाता है।

इसी प्रकार गोपाङ्गनाओं के मुख भी भगवद्विप्रयोग में पीले पड़ गये थे। अतः आज जो चन्द्रमा उदित हुए हैं वे एक विलक्षण चन्द्र हैं। आज इनके उदय से

उद्दीपनविधया जो भगवान् के सङ्गम की सम्भावना से एक उत्साहविशेष होगा उससे उनकी वह पीतिमा अरुणिमा में परिणत हो जायगी।

जब कुछ प्रतीक्षा के बाद विलम्ब में प्रेमी का दर्शन होता है तब कुछ विलक्षण ही रस आता है। अतएव उडुराज को दीर्घ-दर्शन कहा है, दीर्घकाल में दर्शन हुआ है जिसका उसे वह दीर्घदर्शन है। इधर श्रीकृष्ण का भी बहुत प्रतीक्षा के बाद विलम्ब में ही दर्शन होता है अतः वे भी दीर्घदर्शन ही हैं। अथवा अनुराग-जन्य विह्वलता से दीर्घकाल तक प्रियामुख दर्शन करनेवाले श्रीकृष्ण दीर्घदर्शन हैं। अथवा दीर्घ अर्थात् नित्य है दर्शनस्वरूपभूता दृष्टि जिसकी वे श्रीकृष्ण दीर्घदर्शन हैं। यहाँ समझ लेना चाहिये कि दृष्टि दो प्रकार की है—एक अन्तःकरणवृत्तिरूपा अनित्य दृष्टि श्रुति आदि और दूसरी आत्मस्वरूपभूता नित्य दृष्टि। उसी नित्य दृष्टि को ही स्वप्न की दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति कहा जाता है—

"सा द्रष्टुर्दृष्टिर्यया स्वप्ने पश्यति।"

यहाँ यह सन्देह होता है कि यदि स्वप्न की दृष्टि, श्रुति, मति एवं विज्ञाति आदि तो आत्मस्वरूपा होने के कारण नित्य हैं; नित्य होने से उनका नाश नहीं हो सकता और नाश न होने से संस्कार नहीं बन सकता, क्योंकि संस्कार ज्ञानादि का नाश होने पर ही उत्पन्न होता है, जिस प्रकार घटज्ञान का नाश होने पर ही घटसंस्कार की उत्पत्ति होती है। इसीसे ज्ञानकाल में स्मृति नहीं हुआ करती। अतः यदि स्वप्न की दृष्टि, श्रुति आदि नित्य हैं तो उनकी स्मृति नहीं होनी चाहिये। परन्तु स्मृति होती ही है। इसका क्या समाधान होगा ?

इसका उत्तर यह है कि स्वप्न के समय दृष्टि, श्रुति आदि तो आत्मस्वरूप ही हैं, तथापि उनके विषयों का नाश तो होता ही है। उनके नाश से ही संस्कार बनता है। इसीसे उनके ज्ञान का भी नाश कहा जा सकता है। यहाँ विलक्षणता यही है कि नित्य होने पर भी उसका नाश कहा जा सकता है। इसमें कारण यही है कि विशेष्य के नित्य बने रहने पर भी विशेषण के नाशवान् होने के कारण विशिष्ट के नाश का व्यवहार होता है; जैसे आकाश के बने रहने पर भी घटरूप विशेषण का नाश होने पर घटाकाश का नाश कहा जाता है। विशिष्ट पदार्थ का अभाव तीन प्रकार माना जाता है—विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव, विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव तथा उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; जैसे कोई दण्डधारी पुरुष है, उसके दण्डित्व का अभाव तीन प्रकार से हो सकता है—(१) दण्डरूप विशेषण का अभाव होने पर, (२) पुरुषरूप विशेष्य का अभाव होने पर अथवा (३) दण्ड और पुरुष दोनों ही का अभाव होने पर। इसी प्रकार यहाँ विशेष्यस्थानीय आत्मचैतन्य तो बना हुआ है, केवल शब्दादि विशेषणों के नाश से ही दृष्टि, श्रुति, मति आदि विशिष्ट-ज्ञानों का नाश कहा जाता है; क्योंकि केवल आत्मचैतन्य ही दृष्टि, श्रुति आदि नहीं

है अपितु अनिर्वचनीय-रूपादि से सम्बन्धित चैतन्य ही दृष्टि-श्रुति आदि है। अतः केवल चैतन्य के बने रहने पर भी रूपादि-विशेष के नाश मात्र से रूपादिविशिष्ट चैतन्य का नाश कहा जा सकता है। इस प्रकार दृष्टि, श्रुति आदि का नाश हो जाने से उनके संस्कार और स्मृति दोनों ही बन सकते हैं।

इसीसे कई आचार्यों ने सुख की स्मृति भी सुख का नाश होने पर ही मानी है, क्योंकि घटादि-वृत्तियों के समान वे सुख की वृत्ति को सुख से पृथक् नहीं मानते। वे कहते हैं कि वृत्ति तो आवरण की निवृत्ति के लिये है। जो वस्तु अज्ञातसत्ताक होती है उसीका आवरण हटाने के लिये वृत्ति होती है। सुख-दुःखादि तो अज्ञात-सत्ताक हुआ ही नहीं करते। यदि कहो कि वृत्ति चैतन्य से सम्बन्ध कराने के लिये है, क्योंकि भिन्न-भिन्न आचार्यों के मतानुसार वृत्ति दो प्रकार की है—आवरणाभि-भवात्मिका और चैतन्य-सम्बन्धार्था। सिद्धान्त यह है कि घटादि का प्रकाश घटाद्य-वच्छिन्न चैतन्य से ही होता है, किन्तु जब तक वह आवृत रहता है तब तक उसका प्रकाश नहीं होता, क्योंकि ज्ञान अनावृत चैतन्य से ही होता है। अतः वृत्ति का काम यही है कि आवरण की निवृत्ति कर अनावृत्त चैतन्य से सम्बन्धित घटादि का ज्ञान कराये। दूसरे आचार्य वृत्ति को चैतन्यसम्बन्धार्था मानते हैं। वे कहते हैं कि सबका परमकारण होने से ब्रह्म का घटादि से सम्बन्ध तो है ही, अतः घटादि का ज्ञान होना ही चाहिये, परन्तु ऐसा होता नहीं। अतः एक विलक्षण सम्बन्ध मानने की आवश्यकता है। उसे अभिव्यंग्य-अभिव्यञ्जक सम्बन्ध कहते हैं। चैतन्य का वस्तु पर अभिव्यञ्जन कैसे होता है? जैसे दर्पणादि में सूर्यादि का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार जिस पदार्थ में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसीका प्रकाश हुआ करता है।

लोक में यह देखा जाता है कि दर्पणादि स्वच्छ वस्तुएँ ही प्रतिबिम्ब को ग्रहण करनेवाली हुआ करती हैं, घटादि अस्वच्छ वस्तुओं में उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी प्रकार चेतन का प्रतिबिम्ब भी अन्तःकरण में ही पड़ता है, कुड्यादि अस्वच्छ वस्तुओं में नहीं पड़ता। किन्तु जिस प्रकार स्वच्छ जलादि का योग होने पर अस्वच्छ कुड्यादि में प्रतिबिम्ब ग्रहण की योग्यता आ जाती है उसी प्रकार स्वच्छ अन्तःकरण का योग होने पर घटादि भी चेतन का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ हो जाते हैं। अन्तःकरण की घटाद्याकाराकारिता वृत्ति चैतन्य के साथ घटादि का सम्बन्ध कराने के लिये ही होती है। जिस समय अन्तःकरण की वृत्ति घटाद्या-कारा होती है उस समय अन्तःकरणवृत्तिसंश्लिष्ट घट चैतन्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर लेता है; इसीसे घट की स्फूर्ति होती है।

इसी प्रकार कोई-कोई आचार्य अन्तःकरण की वृत्ति का प्रधान प्रयोजन जीव-चैतन्य के साथ विषयावच्छिन्न चैतन्य का ऐक्य कराना मानते हैं। उनका मत ऐसा

है कि जो वस्तु जिस चैतन्य में अध्यस्त होती है वही उसका प्रकाशक होता है; अतः घटाद्यवच्छिन्न चैतन्य को अपने में अध्यस्त घटादि का ज्ञान हो सकता है। तथापि प्रमाता जो जीव है उसे उसका ज्ञान किस प्रकार हो? अतः इन्द्रियमार्ग से विषय तक गयी हुई अन्तःकरण की वृत्ति उस विषयावच्छिन्न चेतन के साथ जीवचेतन का अभेद कर देती है। उस समय वह विषयावच्छिन्न चेतन में अध्यस्त विषय अन्तः-करणावच्छिन्न चेतन यानी जीवचेतन में अध्यस्त कहा जा सकता है। अतः इस प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन के साथ विषय का आध्यासिक सम्बन्ध होने से उसके द्वारा उस विषय का स्फुरण हो जाता है।

इससे सिद्ध यही हुआ कि वृत्तियों की आवश्यकता चाहे आवरणाभिभव के लिये मानें चाहे जीव के साथ विषय का सम्बन्ध कराने के लिये मानें और चाहे अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन और विषयावच्छिन्न चेतन के अभेद के लिये मानें, सुख के प्रकाश के लिये वृत्तियों की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सुख तो अन्तःकरण के समान स्वच्छ ही है। घटादि तो अस्वच्छ थे, इसलिये उन्हें चैतन्य सम्बन्ध के लिये वृत्ति की आवश्यकता थी। किन्तु सुख तो स्वतः स्वच्छ है; इसलिये जीवचैतन्य के साथ उसके सम्बन्ध के लिये वृत्ति की आवश्यकता नहीं है। यहाँ अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन के साथ सुखावच्छिन्न चेतन का अभेद सम्पादन के लिये भी वृत्ति की आव-श्यकता नहीं है, क्योंकि सुख का आश्रय तो अन्तःकरण ही है अतः वहाँ आवरणभङ्ग के लिये वृत्ति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि आवरण वहाँ होता है जहाँ पदार्थ की सत्ता ज्ञात नहीं होती। सुख अज्ञातसत्ताक है ही नहीं। इसलिये आवरण न होने के कारण आवरणाभिभवात्मिका वृत्ति की भी आवश्यकता नहीं है। इसीसे सुख को केवल साक्षीभास्य मानते हैं। यदि ऐसा न मानेंगे तो वृत्ति के प्रकाश के लिये भी वृत्ति माननी पड़ेगी। यदि वृत्ति के प्रकाश के लिये वृत्ति नहीं मानते तो सुख के प्रकाश के लिये ही क्यों मानते हो?

यहाँ किन्हीं-किन्हीं का ऐसा मत है कि सुख का स्मरण होता है, इसलिये सुखाकाराकारिता वृत्ति माननी चाहिये, क्योंकि उसका नाश होने पर ही सुख का संस्कार होगा और संस्कार से ही स्मृति होगी। किन्तु विशेष विचार करने पर इसकी आवश्यकता प्रतीत न होगी। सुखज्ञान क्या है? साक्षी का जो सुख के साथ सम्बन्ध है वही सुखज्ञान है। सुख का नाश होने से साक्षीगत सुखसंश्लिष्टत्व का नाश हो जायगा। इस प्रकार सुख के नाश से ही उसका संस्कार बन जायगा और उसीसे स्मृति भी बन जायगी। अतः सुखज्ञान के लिये वृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

नैयायिकों के मत में सुख और सुखज्ञान का कारण आत्ममनःसंयोग है। किन्तु सुख की उत्पत्ति भी आत्ममनःसंयोग से ही होती है। अतः एक आत्ममनःसंयोग

तो सुख की उत्पत्ति के लिये मानना होगा और दूसरा सुखज्ञान के लिये। ये दोनों एक समय हो नहीं सकते। इसलिये जिस समय सुखज्ञान का हेतुभूत आत्ममनःसंयोग होगा उस समय सुख का हेतुभूत आत्ममनःसंयोग नष्ट हो जायगा और उसका नाश हो जाने से सुख भी नहीं रहेगा, क्योंकि असमवायीकारण का नाश होने पर कार्य का भी नाश हो जाता है, जैसे तन्तुसंयोग का नाश होने पर पट का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार सुख के रहते हुए तो सुखज्ञान न हो सकेगा और सुखज्ञान के समय सुख न रहेगा। यद्यपि यहाँ नैयायिकों का कथन है कि असमवायीकारण का नाश होने पर उसके कार्यभूत द्रव्य का ही नाश होता है, गुण का नाश नहीं होता और सुख गुण है; इसलिये इसका भी नाश नहीं हो सकता, तथापि इस संकोच में कोई कारण नहीं दीख पड़ता।

यहाँ हमें इतना ही विचार करना है कि जिस प्रकार जागृत में सुखज्ञान आत्मस्वरूप है उसी प्रकार स्वप्न में शब्दादिज्ञानरूप जो दृष्टि, श्रुति एवं मति आदि हैं वे भी आत्मस्वरूप दर्शन ही हैं। अतः यह दर्शन ही आत्मदर्शन है। अतः **'दीर्घं पौरुषेयं चैतन्यात्मकं अबाध्यं दर्शनं यस्य असौ दीर्घदर्शनः'** अर्थात् जिसका दीर्घ यानी पौरुषेय चैतन्यात्मक अबाध्य दर्शन है उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण दीर्घदर्शन हैं। उनका चैतन्यात्मक दर्शन अलुप्त है। अतः जिन-जिन गोपाङ्गनाओं के अन्तःकरण में जितने प्रीति आदि भाव थे उन सभी के अलुप्तदृक् साक्षी श्रीभगवान् उनकी अभिरुचि की पूर्ति के लिये विहार-स्थल में प्रकट हुए।

अथवा **'दीर्घं सर्वविषयं दर्शनं यस्य असौ दीर्घदर्शनः'** अर्थात् जिसका दर्शन (दृष्टि) दीर्घ—सर्ववस्तुविषयक है उसे दीर्घदर्शन कहते हैं। **'यः सर्वज्ञः सर्ववित्'** इत्यादि श्रुति के अनुसार भगवान् दीर्घदर्शन हैं। अतः सामान्य और विशेष रूप से वात्सल्य-माधुर्य द अनेकविध भावोंवाली व्रजाङ्गनाओं को देखकर केवल माधुर्य-भाववती व्रजाङ्गनाओं की अभिलाषा-पूर्ति के लिये भगवान् प्रकट हुए।

इसपर यदि कोई कहे कि इस प्रकार अलुप्तदृक् अथवा सर्वज्ञ सर्ववित् रूप से भी सभी के अभिप्राय को जाननेवाले श्रीहरि सभी की अभिलाषापूर्ति के लिये प्रादुर्भूत क्यों नहीं हुए ? तो इसका कारण यह है कि भगवान् का यह दर्शन दीर्घ-बहुमूल्य है। उनका जो केवल चैतन्यात्मक सामान्य दर्शन है वह तो सभी भावों का भासक और अधिष्ठान होने के कारण किसीका साधक या बाधक नहीं है। किन्तु यहाँ का यह दर्शन अमूल्य है। यह कृपाशक्ति से उपहित है। अतः यहाँ केवल दृष्टि ही नहीं, कृपा का आधिक्य है। अतः यह बहुमूल्य है। इसीसे कहा है—

"यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति॥"

अर्थात् जो राम को नहीं देखता और जिसे राम नहीं देखते वह समस्त लोकों में निन्दनीय है तथा उसका आत्मा भी उसका तिरस्कार करता है। राम प्राकृत राजकुमार नहीं हैं बल्कि वे सबके अन्तरात्मा हैं। अतः आत्मस्वरूप श्रीराम का दर्शन न करनेवाले आत्मघाती हैं ही। यदि राम आत्मस्वरूप न होते तो उनका दर्शन न करने में इतनी विगर्हा नहीं थी, क्योंकि इतना निन्दनीय तो आत्मा का ही अदर्शन है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥"

अर्थात् जो कोई (ऐसे) आत्मघाती* लोग हैं वे उन असुर्य नामक (अनात्मज्ञों के आत्मभूत देहात्मक) लोकों को जाते हैं जो अदर्शनात्मक अन्धकार से आवृत हैं।

इस दृष्टि से श्रीरामभद्र समस्त प्राणियों के अन्तरात्मा हैं। अतः जिसने उन्हें नहीं देखा और जिसे उन्होंने नहीं देखा वह निन्दनीय है ही। इसलिये इस निन्दा से छूटने के लिये उन अपने स्वरूपभूत श्रीरघुनाथजी का साक्षात्कार करना ही चाहिये। किन्तु यदि राम आत्मस्वरूप हैं तो सर्वविभासक होने के कारण सर्वदृक् हैं ही। उनका न देखना बन ही नहीं सकता। फिर जब ऐसा नियम है कि—

'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'

तो घटादि विषयों के भान से पूर्व भी श्रीराम का भान होना अनिवार्य है ही; क्योंकि जैसे प्रतिबिम्ब का ग्रहण दर्पण-ग्रहण के अनन्तर ही होता है उसी प्रकार चितिरूप दर्पण के ग्रहण के अनन्तर ही चैत्यरूप प्रतिबिम्ब का ग्रहण होता है। अतः ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो घटादि को देखे और चैतन्यात्मक श्रीरामभद्र को न देखे।

तो फिर यह दर्शन कैसा है? यहाँ रामभद्र का दर्शन उनके कृपाकोण से देखना है, तथा विशुद्ध भगवदाकाराकारित मनोवृत्ति पर अभिव्यक्त भगवत्स्वरूप का साक्षात्कार करना जीव का भगवद्दर्शन है। इसी प्रकार यहाँ भगवान् का जो अनुग्रहोपेत दर्शन है वही व्रजाङ्गनाओं की अभिलाषापूर्ति का हेतु होने के कारण दीर्घदर्शन है। यद्यपि भगवान् का अनुग्रह भी समस्त जीवों पर समान ही है, तथापि उसकी विशेष अभिव्यक्ति तो भक्त की भावना पर ही अवलम्बित है। श्रुति कहती है—

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।"

अर्थात् यह आत्मा जिसको चाहता है उसीके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, उसीके प्रति यह अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति करता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

---

* जो आत्मतत्त्व नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है उसको कर्तृत्वभोक्तृत्वादि अनर्थों से संयुक्त मानना उसका अपमान करना है। और 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते' इस भगवदुक्ति के अनुसार यह अपमान उस आत्मदेव की मृत्यु ही है, अतः अनात्मज्ञ आत्मघाती ही है।

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।"

अर्थात् जो लोग जिस प्रकार मुझे प्राप्त होते हैं उसी प्रकार मैं भी उनकी कामना पूर्ण करता हूँ ।

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि पृथिवी में नरदारकरूप से प्रकट हुए श्रीकृष्णचन्द्र में अलुप्तदृक्त्वादि कैसे हो सकते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

"ककुभः—कं सुखं तद्रूपतयैव कौ पृथिव्यामपि भातीति ककुभः ।"

अर्थात् 'क' सुख को कहते हैं, भगवान् 'कु' अर्थात् पृथिवी में भी सुखरूप से भासमान हैं इसलिये ककुभ हैं । तात्पर्य यह है कि परमानन्दसिन्धु श्रीभगवान् पृथिवी पर अवतीर्ण होकर भी परमानन्दरूप से ही अभिव्यक्त हैं । अर्थात् जो अलुप्तदृक् विशुद्ध परमानन्दघन तत्त्व है वही पृथिवी में श्रीनन्दनन्दनरूप से सुशोभित है; अतः इस रूप में भी उसका अलुप्तदृक्त्व अक्षुण्ण ही है । अथवा—

"कं सुखं तद्रूपा कुः पृथिवी भाति यस्मात् असौ ककुभः ।"

अर्थात् क सुख को कहते है, अतः जिनके कारण कु—पृथिवी भी सुखस्वरूपा जान पड़ती है वे भगवान् ककुभ हैं । तात्पर्य यह है कि भगवान् के अलुप्तदृक्त्व और परमानन्दसिन्धुत्व में तो सन्देह ही क्या है, उसकी सन्निधि से तो, 'कु' शब्दवाच्या पृथिवी भी आनन्दरूपा होकर भास रही है । जिस समय रासलीला से भगवान् अन्तर्हित हो गये उस समय श्रीकृष्ण-सौन्दर्यसमास्वादन से प्रमत्त हुई गोपाङ्गनाएँ वृक्षादि से उनका पता पूछती हुई अन्त में पृथिवी से कहती हैं—

"किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥"

अर्थात् 'अरी पृथिवी ! तूने ऐसा क्या तप किया है कि जिसके कारण तू श्रीकृष्णचन्द्र के स्पर्शजनित आह्लाद से हुए रोमाञ्चों से सुशोभित है ? अथवा श्रीउरुक्रम भगवान् के पादविक्षेपजनित चरणस्पर्श से या श्रीवराह भगवान् के आलिङ्गन से तुझे यह रोमाञ्च हुआ है ?'

यहाँ सन्देह हो सकता है कि पृथिवी तो जड़ है, उससे ऐसा प्रश्न करना किस प्रकार सार्थक होगा ? तो इस सम्बन्ध में मेघदूत के यक्ष का दृष्टान्त स्मरण रखना चाहिये । वह भी तो मेघद्वारा अपनी प्रियतमा के पास अपना सन्देश भेज रहा था । बात यह है कि जो विरही होते हैं उन्हें चेतनाचेतन का विवेक नहीं रहता । प्रिया की वियोगव्यथा से पीड़ित भगवान् राम भी मानो विरहियों की दशा का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं—'हे चन्द्र ! तुम पहले श्रीजानकीजी का स्पर्श कर उनके अङ्ग-सङ्ग से शीतल हुई किरणों द्वारा फिर हमारा स्पर्श करो ।' इसी प्रकार यहाँ भी पृथिवी से प्रश्न हो सकता है । विरहिणी व्रजाङ्गनाओं की दृष्टि में तो पृथिवी भगवत्सम्बन्धिनी होने के कारण चेतन ही है ।

अतः वे पृथिवी से पूछती हैं, 'हे क्षिति ! तुमने ऐसा कौन-सा तप किया है ? यदि कहो कि हम तो जड़ हैं, हमारे में तुम्हें तप का क्या चिह्न दिखाई देता है ? तो हमें तो मालूम होता है कि तुमने अवश्य ही कोई बड़ा तप किया है । इसीसे तो तुम्हें भगवान् के चरणस्पर्श का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । इससे तुम्हारा आनन्दोद्रेक स्पष्ट प्रकट होता है, क्योंकि बिना आनन्दोद्रेक के रोमाञ्च नहीं होता । अतः परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के चरण-स्पर्शजनित उल्लास से ही तुम रोमाञ्चित हो रही हो ।' यहाँ पृथिवी की ओर से यह कहा जा सकता था कि पृथ्वी का यह तरुलतारूप रोमाञ्च तो अनादि काल से है इसे तुम श्रीकृष्णचन्द्र के चरणस्पर्श से हुआ कैसे मानती हो ? इसपर कहता है—'यह तो निश्चय है कि इस प्रकार की रोमोद्गति भगवच्चरणों के स्पर्श से ही हो सकती है; चाहे यह श्रीकृष्णचन्द्र के चरणस्पर्श से हुई हो अथवा भगवान् उरुक्रम के पादविक्षेप के समय उनके पदस्पर्श से हुई हो या जिस समय भगवान् ने वाराह अवतार लेकर तुम्हारा आलिङ्गन किया था उस समय उस आलिङ्गनजनित आनन्दोद्रेक से यह रोमाञ्च हुआ हो । तुम्हें भगवच्चरणों का स्पर्श अवश्य हुआ है और तुम हमारे प्राणाधार श्रीनन्दनन्दन का पता भी अवश्य जानती हो; अतः हमपर दयादृष्टि करके हमें उनका पता बतला दो ।'

पृथिवी का इस प्रकार का सौभाग्य तो परम्परा से है । अर्थात् यह सौभाग्य पृथिवी के समस्त देश को प्राप्त नहीं है, बल्कि उसके एक देश को ही है । किन्तु जिस प्रकार भगवान् राम के चित्रकूट पर निवास करने से **'बिनु श्रम बिन्ध्य बड़ाई पावा'** सारा विन्ध्याचल ही सौभाग्यशाली समझा गया, उसी प्रकार यहाँ भी यद्यपि केवल व्रजभूमि को ही भगवान् के चरणस्पर्श का सौभाग्य प्राप्त था, क्योंकि अन्यत्र रथादि या पादत्राणादि का व्यवधान अवश्य रहता था, तथापि उसीके कारण सारी पृथिवी की सौभाग्यश्री की सराहना की गयी । व्रज को तो यह सौभाग्य प्राप्त था ही । इसीसे कहा है—

"जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।"

अर्थात् आपके प्रादुर्भूत होने से व्रज बहुत ही धन्य-धन्य हो रहा है; क्योंकि यहाँ निरन्तर ही लक्ष्मीजी का निवास रहने लगा है । वैकुण्ठ की अधिष्ठात्री महालक्ष्मी वैकुण्ठलोक की सेव्या है, किन्तु यहाँ तो वह श्रयते—सेवते अर्थात् सेवा करती है—सेविका है । यही नहीं, **'वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः'** कहकर तो स्पष्ट ही वृन्दारण्य की शोभा में भगवच्चरणों का ही कारणत्व निर्देश किया गया । अतः सिद्ध हुआ कि जिसके कारण अर्थात् जिनका चरणस्पर्श पाकर 'कु'—पृथिवी भी परमानन्दमयी हो रही है वे श्री भगवान् ही ककुभ हैं ।

अथवा **'कः ब्रह्मापि कुत्सितो भाति यस्मात् असौ ककुभः'** अर्थात् जिनकी अपेक्षा ब्रह्मा भी कुत्सित ही प्रतीत होता है वे भगवान् ही ककुभ हैं । ऐसी स्थिति में उनकी सर्वज्ञता और अलुप्तदृक्‍ता में तो सन्देह ही क्या है ?

ऐसे अचिन्त्यानन्दैश्वर्यशाली श्रीभगवान् व्रजाङ्गनाओं के रमण के लिये वृन्दारण्य में कैसे आये ? इसपर कहते हैं—'**के ब्रह्मणि कौ कुत्सिते अस्मदादावपि समान एव भातीति ककुभः**' अर्थात् वे भगवान् ब्रह्मा और हम जैसे कुत्सितों में भी समान रूप से ही विराजमान हैं इसलिये ककुभ कहे जाते हैं, क्योंकि भगवान् की दृष्टि में उत्कृष्ट-अपकृष्ट भेद नहीं है। भला जब कि भगवान् के स्वरूप का अपरोक्ष साक्षात्कार करनेवाले मुनियों की भी ऐसी स्थिति होती है कि '**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते**' तो फिर स्वयं भगवान् में विषमदृष्टि क्यों होने लगी ?

भगवान् तो समस्वरूप हैं—'**निर्दोषं हि समं ब्रह्म।**' वे केवल वरणमात्र से ही भेददृष्टिवाले से जान पड़ते हैं। जिसने परप्रेमास्पदरूप से उनका वरण किया है उसीको को '**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' इस नियम के अनुसार वे आत्मीयरूप से स्वीकार करते हैं। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

> "**जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।**
> **गहहिं न पाप-पुन्य गुन-दोषू॥**
> **तदपि करहिं समविषम बिहारा।**
> **भक्त-अभक्त हृदय अनुसारा॥**"

तात्पर्य यह है कि भगवान् के सम-विषम व्यवहार में भक्त का हृदय ही हेतु है। परम करुणामय श्रीभगवान् की परमभास्वती अचिन्त्य कृपा अपार है। किन्तु जिसने उसका प्राकट्य कर लिया है उसे ही उसकी उपलब्धि होती है। इसका उपाय यही है कि उस परम प्रेमास्पद तत्त्व को स्वकीय रूप से वरण करे, उसकी प्रार्थना करे और उसे आत्मसमर्पण करे। बस इसीसे वह भगवत्कृपा प्रकट हो जायगी। इस प्रकार परमकरुण और कृपालु श्रीहरि हम जैसे कुत्सितों की मनोरथपूर्ति के लिये भी सब प्रकार कृपा करते हैं।

अब एक दूसरी दृष्टि से इस श्लोक के अर्थ का विचार करते हैं। प्रथम श्लोक की व्याख्या में एक स्थान पर कहा गया था—शरदोत्फुल्लमल्लिका के समान आपात-रमणीय सुखों में ही आसक्त '**ता रात्रीः**' अज्ञानरूप अन्धकार से व्याप्त उस प्राकृत प्रजा को देखकर भगवान् ने रमण करने की इच्छा की। जिस समय भगवान् ने अज्ञानियों के हृदयारण्य में रमण करने की इच्छा की उस समय उसे रमणार्ह बनाने के लिये उनके हृदयाकाश में वैदिक श्रौत-स्मार्त्त धर्मरूप चन्द्रमा का उदय हुआ, क्योंकि जब तक वर्णाश्रमधर्म का आचरण करके मन शुद्ध नहीं होगा तब तक वह भगवत्-क्रीड़ा का क्षेत्र बनने योग्य नहीं हो सकता। हृदय की शुद्धि का प्रधान हेतु वैदिक श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का आचरण ही है। जैसे चन्द्रोदय से वृन्दारण्य भगवत्क्रीड़ा के योग्य होता है उसी प्रकार वैदिक श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करने से मनुष्य का हृदय भगवान् की विहारभूमि बन सकता है।

इसमें 'उडुराजः' का अर्थ एक तो चन्द्रमा ही ठीक है, दूसरे **'रलयोः डलयो-श्चैव'** इत्यादि नियम के अनुसार पहले 'ड' और 'ल' का सावर्ण्य होने से 'उलुराजः' और फिर 'ल' और 'र' का सावर्ण्य होने ने 'उरुराजः' माना जाय तो **'उरुधा राजत इति उरुराजः'** ऐसा विग्रह करके यह अर्थ करेंगे कि यजमान, ऋत्विक्, द्रव्य एवं देवतारूप से अनेक प्रकार सुशोभित होनेवाला यज्ञ ही उरुराज है। धर्म के स्वरूप ये ही हैं। पहले हम कह चुके हैं कि अवयवी अवयवों से अभिन्न होता है। अतः धर्म के अङ्ग होने के कारण ये यजमानादि धर्मरूप ही हैं। **'अष्टादशोक्तमवरंयेषु कर्म'** इस वाक्य के अनुसार कर्म अनेकविध साधनसाध्य ही है। इनमें द्रव्य और देवता तो कर्म के आन्तरिक साधन हैं और ऋत्विक् यजमानादि उसके सम्पादक होने के कारण बहिरङ्ग हैं। इस प्रकार यह वैदिक श्रौत स्मार्त्त कर्म ही चन्द्र है। वह जिस हृदय में उदित होता है उसे ही शुद्ध करके भगवान् की क्रीड़ाभूमि बना देता है।

वह उडुराज कैसा है? **'ककुभः—के स्वर्गे कौ पृथिव्यां भातीति ककुभः'** अर्थात् यह धर्म स्वर्ग और पृथिवी में समानरूप से भासता है। यह सारा प्रपञ्च धर्म का ही कार्य है, यदि धर्म न हो तो यह सब उच्छिन्न हो जाय। धर्म के बिना न यह लोक है और न परलोक ही। **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'** अतः धर्म ही देवताओं का रक्षक है और धर्म ही मनुष्यों का। इसीसे भगवान् ने कहा है—

"देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥"

अर्थात् 'इस वैदिक श्रौत-स्मार्त्त कर्म से तुम देवताओं को सन्तुष्ट करो और देवता तुम्हारा पालन करें। इस प्रकार परस्पर परितुष्ट करते हुए ही तुम परम श्रेय अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकोगे।' इस प्रकार साधारण स्वर्गादि ही नहीं, मोक्ष-प्राप्ति में भी यह वर्णाश्रमधर्म ही मुख्य हेतु है, क्योंकि बिना वर्णाश्रमधर्म का यथावत् आचरण किये चित्तशुद्धि नहीं हो सकती, बिना चित्तशुद्धि के जिज्ञासा नहीं होगी, बिना जिज्ञासा ज्ञान नहीं होगा और ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं हो सकता।

इसीसे यह भी बतलाया है कि **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस (पारलौकिक परमोन्नति) की सिद्धि होती है वही धर्म है। तथा **'ध्रियेते अभ्युदयनिःश्रेयसौ अनेनेति धर्मः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी धर्म ही अभ्युदय और निःश्रेयस का धारण करनेवाला है। वस्तुतः वैदिक श्रौत-स्मार्त्त कर्म ही सम्पूर्ण प्रपञ्च को धारण करनेवाला है; इसीसे कहा है—**'धारणाद्धर्ममित्याहुः'** अर्थात् धारण करने के कारण ही इसे धर्म कहते हैं। अतः शास्त्रानुमोदित वर्णाश्रमधर्म का यथावत् आचरण करने से ही मनुष्य सब प्रकार की सिद्धि प्राप्त कर सकता है, और यही भगवत्पूजन का मुख्य प्रकार है—**'स्वकर्मणा**

तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'। इसीके द्वारा मनुष्य अन्तःकरणशुद्धिरूपा, भगवद्भक्तिरूपा और भगवज्ज्ञानलक्षणा सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

अतः जिसके हृदय में भगवान् रमण करना चाहते हैं उसके हृदय में पहले इस वर्णाश्रम-धर्मरूप चन्द्र का ही उदय होता है। इस उडुराज के प्रियः और दीर्घ-दर्शनः ये दोनों विशेषण हैं। वह उडुराज कैसा है? 'प्रियः'—सबका प्रिय; क्योंकि सभी प्राणी सुख चाहते हैं और सुख का साधन धर्म है। जो लोग ऐहिक अथवा आमुष्मिक सुख चाहते हैं उन्हें धर्म का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि उसकी प्राप्ति का साधन धर्म ही है। इसीसे बुद्धिमान् सुख की परवाह न करके धर्मानुष्ठान पर ही जोर देते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि साधन होने पर साध्य की प्राप्ति हो ही जायगी। अतः जहाँ धर्म होगा वहाँ सुख उपस्थित हो जायगा। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

"जिमि सुख संपति बिनहिं बुलाये।
धर्मसील पहँ जाहिं सुभाये॥"

अर्थात् जहाँ धर्म है वहाँ सब प्रकार के सुख और वैभव को आज नहीं तो कल अवश्य जाना पड़ेगा। यही नहीं, भगवान् को भी धर्म ही प्रिय है, इसीसे वे स्वयं कहते हैं—'**धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।**' अर्थात् मैं युग-युग में धर्म की सम्यक् प्रकार से स्थापना करने के लिये जन्म ग्रहण करता हूँ। यद्यपि सर्वशक्तिमान् होने के कारण वे बिना अवतीर्ण हुए भी धर्म की स्थापना कर सकते थे, तथापि अपनी इस परम प्रेमास्पद वस्तु की रक्षा के लिये उनसे अवतीर्ण हुए बिना नहीं रहा जाता; वस्तुतः प्रेमावेश ऐसा ही होता है। इस विषय में एक आख्यायिका भी प्रसिद्ध है।

कहते हैं, एक बार किसी सम्राट् ने किसी बुद्धिमान् से कहा कि 'यदि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं तो धर्म और भक्तों की रक्षा के लिये अवतार क्यों लेते हैं; इस कार्य को वे अपने सङ्कल्पमात्र से ही क्यों नहीं कर डालते; अथवा उनके बहुत से सेवक भी हैं उन्हींसे इसे पूरा क्यों नहीं करा देते?' इसपर उस बुद्धिमान् ने उत्तर देने के लिये एक मास का अवकाश माँगा। सम्राट् का एक अति सुन्दर पुत्र था, उसके प्रति सम्राट् का अत्यन्त स्नेह था। बुद्धिमान् ने ठीक उसीके आकार को एक मोम की मूर्ति बनवायी और एक दिन, जिस समय सम्राट् अपने बहुत से सेवक और साथियों के सामने महल के तालाब में स्नान कर रहा था उस समय उस पण्डित ने उस मोम के पुतले को दुलार करते हुए तालाब की ओर ले जाकर उसे जल में गिरा दिया। अपने लाड़ले लाल को तालाब में गिरा जान सम्राट् उसकी प्राणरक्षा के लिये तुरन्त तालाब में कूद पड़ा और वहाँ अपने पुत्र की आकृति का एक पुतलामात्र देखकर पण्डित से इस अशिष्टता का कारण पूछा। पण्डित ने कहा—'महाराज! यह आपके प्रश्न

का उत्तर है; जिस प्रकार आपने बहुत से दरबारी और दास-दासियों के रहते हुए भी राजकुमार के मोहवश आपके ध्यान में इस काम के लिये किसीको आज्ञा देने की बात नहीं आयी उसी प्रकार भगवान् भी अपने अत्यन्त प्रिय भक्त या धर्म को सङ्कट में पड़ा देखकर स्वयं अवतीर्ण हुए बिना नहीं रह सकते।'

इस प्रकार यह धर्म-चन्द्र प्रिय है। इसके सिवा यही भगवत्प्राप्ति का भी असाधारण हेतु है; क्योंकि यह वर्णाश्रम धर्म ही भगवान् की आराधना का प्रधान साधन है, इसके सिवा किसी और साधन से उनकी प्रसन्नता नहीं हो सकती—

"वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥"

तथा भगवद्भक्ति ही तत्त्वज्ञान का प्रधान हेतु है; अतः परम्परा से ज्ञान का साधन भी यह धर्मचन्द्र ही है। यह बात सर्वथा सुनिश्चित है कि निर्गुण परमात्मा की प्राप्ति मन, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियों की निश्चलता होने पर ही हो सकती है। इसीसे भगवती श्रुति कहती है—

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥"

अर्थात् 'जिस समय मन के सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं तथा बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसी अवस्था को परमगति कहते हैं।' किन्तु आरम्भ में यह इन्द्रियादि की निश्चेष्टता अत्यन्त दुःसाध्य है। अतः पहले वैदिक श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करके अपने देह और इन्द्रियादि की उच्छृङ्खल चेष्टाओं को सुसंयत करना चाहिये, तभी उनका निरोध करना भी सम्भव होगा।

इसके सिवा और भी यह चन्द्र कैसा है? '**दीर्घदर्शनः—दीर्घेण कालेन फलात्मना दर्शनं यस्य इति दीर्घदर्शनः**'। अर्थात् जिसका दीर्घकाल पश्चात् फलरूप से दर्शन होता है, क्योंकि कर्मफल होने में भी कुछ देरी अवश्य होती है; अथवा कीट-पतङ्गादि अनेक योनियों के पश्चात् जब जीव को मनुष्ययोनि प्राप्त होती है और उनमें भी जब उसका जन्म ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन वर्णों के अन्तर्गत होता है तब उसे इस धर्मचन्द्र का दर्शन होता है, क्योंकि उसी समय उसे वैदिक श्रौत-स्मार्त्त धर्मों का आचरण करने का अधिकार प्राप्त होता है। इसलिये भी वह दीर्घदर्शन है।

अथवा '**दीर्घमनपबाध्यं दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः**' अर्थात् जिसका दर्शन दीर्घ-अबाध्य है ऐसा यह धर्म-चन्द्र है, क्योंकि धर्म का ज्ञान वेदों से होता है और उनका प्रामाण्य किसीसे बाधित नहीं है।

वह धर्मचन्द्र किस प्रकार प्रकट हुआ? '**स उडुराजः चर्षणीनामधिकारिजनानां शुचः तत्तदभिलषिताप्राप्तिजन्या आर्तीः शन्तमैः सुखमयैः करैः सुखप्रदैश्च**

स्वर्गादिफलैर्मृजन् दूरीकुर्वन्नुदगात्' अर्थात् वह चन्द्रमा अधिकारी पुरुषों की अपने अभिलषित पदार्थों की अप्राप्ति के कारण होनेवाली दीनता को स्वर्गादि सुखमय और सुखप्रद फलों द्वारा निवृत्त करता हुआ प्रकट हुआ। साथ ही स्वाभाविक कामकर्मरूप आर्त्ति भी आर्त्ति की जननी होने के कारण आर्त्ति ही है। उसका मार्जन करता हुआ भी प्रकट हुआ। इस पक्ष में यह समझना चाहिये कि जो सुखरूप और सुखप्रद शास्त्रीय काम-कर्मादि हैं, उनसे स्वाभाविक काम-कर्मादि की निवृत्ति होती है।

और क्या करता हुआ प्रकट हुआ ?

"यथा प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्याः मुखमरुणेन विलिम्पन्नुदगात् एवमेवायमपि प्रियो दीर्घदर्शनश्च उडुराजोऽरुणेन कर्मजन्येन सुखेन तद्रागेण वा प्राच्याः प्राचीनाया बुद्धेः मुखं सत्त्वात्मकं भागं विलिम्पन् तद्गतदुःखं दूरीकुर्वन्नुदगात्।"

जिस प्रकार प्रियतम भगवान् कृष्ण अपनी प्रियतमा श्रीवृषभानुनन्दिनी के मुख को अपने करधृत कुङ्कुम से अनुरञ्जित करते प्रकट हुए थे उसी प्रकार यह प्रिय और दीर्घदर्शन चन्द्र भी अरुण-कर्मजनित सुख अथवा उसके राग से प्राची—प्राग्भवा बुद्धि के सत्त्वात्मक भाग को लेपित करते हुए अर्थात् उसके दुःख को दूर करते हुए प्रकट हुए। अथवा यों समझो कि **'प्राच्याः अविवेकदशायाः मुखं जाड्यं स्वजनितेन नित्यानित्यविवेकेन तिरस्कुर्वन्नुदगात्'** अर्थात् बुद्धि की जो अविवेकदशा है, उसके मुख यानी जड़ता को अपने से उत्पन्न हुए नित्यानित्यविवेक से तिरस्कृत करता हुआ प्रकट हुआ, क्योंकि वैदिक श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करने से चित्त शुद्ध होता है। इससे नित्यानित्यवस्तु विवेक होता है और विवेक से बुद्धि की जड़ता निवृत्त होती है।

प्रथम श्लोक में जहाँ 'ताः' पद से मुमुक्षुरूपा प्रजा ग्रहण की गयी है वहाँ इस श्लोक का तात्पर्य इस प्रकार लगाना चाहिये कि जिस समय भगवान् ने मुमुक्षुरूपा प्रजाओं के हृदयारण्य में श्रुतिरूपा व्रजाङ्गनाओं का आवाहन कर उनके साथ रमण करने का विचार किया उसी समय उस हृदयारण्य को अतिशय सुशोभित करने के लिये **'उडुराजः विवेकचन्द्रः उदगात्'**— उडुराज यानी विवेकरूप चन्द्रमा उदित हुआ। उस विवेकरूप चन्द्र को उडुराज क्यों कहा है ? इसपर कहते हैं—**उडुस्थानीयासु किञ्चित्प्रकाशनशीलास्वन्तःकरणवृत्तिषु शमदमादिरूपासु वा राजते अतिशयेन दीप्यते इति उडुराजः'**—क्योंकि वह उडुस्थानीया मन्द प्रकाशमयी अथवा शम-दमादिरूपा अन्तःकरण की वृत्तियों में राजमान—अतिशय देदीप्यमान है, इसलिये उडुराज है। यह विवेक-चन्द्र उन सबकी अपेक्षा अधिक शोभाशाली है, क्योंकि यह सर्ववृत्तिवेद्य परमतत्त्व का अवद्योतक है। अथवा यों समझो कि जिसके अन्तर्गत समस्त वृत्तिवेद्य वस्त्वन्तर हैं यह विवेकचन्द्र उसका ज्ञान कराता है; अथवा समस्त

वृत्तियाँ, उनके विषय तथा आश्रय अर्थात् प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण इन सबका अवभासक जो परमतत्त्व है उसका इस विवेकचन्द्र से ही बोध होता है, इसलिये यह उडुराज है। अथवा शान्तिदान्तिरूपा जो चित्तवृत्तियाँ हैं वे उडुस्थानीया हैं, उनकी शोभा इस विवेक-चन्द्र के पूर्णतया उदित होने पर ही होती है, बिना विवेक के उनमें भी पूर्णता नहीं आती, इसलिये यह उडुराज है।

अथवा **'रलयोः डलयोश्चैव'** इत्यादि नियम के अनुसार **'उरुधा राजते शोभते इति उरुराजः'**–जो अनेक प्रकार से सुशोभित होता है वह उरुराज ही उडुराज है। विवेक के चार भेद हैं—साध्यालम्बन, साधनालम्बन, ऐक्यालम्बन और निर्विकल्पालम्बन। इस प्रकार अनेकों तरह से सुशोभित होने के कारण वह उरुराज है। त्वं पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करना साधनालम्बन विवेक है। पञ्चभूतविवेकपूर्वक तत्पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात् रूप से अनुभव करना साध्यालम्बन विवेक है। तत् और त्वं पदार्थों का ऐक्य निश्चय करना ऐक्यालम्बन विवेक है तथा त्वं पदार्थ की उपाधि देहादि तथा तत्पदार्थ की उपाधि स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण प्रपञ्चादि–इन दोनों प्रकार के विकल्पों को सबके अधिष्ठानभूत स्वप्रकाश परब्रह्म में लीन करके जो निर्विकल्प वस्तु का ज्ञान होता है वह निर्विकल्पालम्बन विवेक है।

यहाँ कोई कह सकता है कि विवेक तो दो मिश्रित वस्तुओं के पार्थक्यकरण का नाम है, किन्तु यहाँ निर्विकल्पावस्था में तो समस्त प्रपञ्च का अस्तित्व ही नहीं रहता। ऐसी अवस्था में किससे किसका विवेक किया जायगा? इस विषय में ऐसा समझना चाहिये कि सम्मिश्रण सर्वदा सत्य पदार्थों का ही नहीं हुआ करता, सत्य और मिथ्या पदार्थों का भी हो सकता है। यदि सत्य पदार्थों का ही सम्मिश्रण होता तो वे विवेक के पश्चात् भी बने ही रहते; किन्तु जहाँ सत्य और असत्य पदार्थों का मेल है वहाँ तो विवेक के अनन्तर असत्य का निवृत्त हो जाना ही भूषण है। इस प्रकार निर्विकल्पालम्बन विवेक भी सम्भव है ही।

अथवा 'उरुतया विस्तीर्णतया राजते शोभते इति उरुराजः' क्योंकि पूर्णरूप से राजमान तत्त्व-विवेक ही है। जो अन्तःकरण विवेकरहित है वह पूर्णतया अनर्थ-शून्य नहीं हो सकता। सभी प्रकार के अनर्थों की निवृत्ति विवेक होने पर ही तो की जाती है; जैसा कि कहा है—

"सर्पान् कुशाग्राणि तथोदकानि ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति चान्ये ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्॥"

अर्थात् ज्ञान में किस प्रकार विशेष फल है वह इसीसे समझ लो कि लोग सर्प, कुशा और जलाशय आदि का ज्ञान होने पर ही उनसे बचते हैं, उनका पता न होने पर तो वे उनके शिकार हो ही जाते हैं।

इसी प्रकार विवेक से ही मनुष्य की प्रवृत्ति भगवत्तत्त्व में होती है। यदि विवेक न हो तो कौन प्रेमास्पद है और कौन त्याज्य है—इसका ज्ञान ही कैसे हो? अतः जो हृदयारण्य विवेकचन्द्र की शीतल और सुकोमल किरणों से अनुरञ्जित नहीं हुआ उसमें भगवान् का प्राकट्य होना असम्भव है। इसलिये भगवत्साक्षात्कार के लिये अन्तःकरण में विवेकरूप चन्द्र का प्रादुर्भाव अवश्य होना चाहिये।

जो लोग इस विवेकचन्द्र को भगवद्भक्ति का बाधक समझते हैं, उनके विषय में क्या कहा जाय? उनके सिद्धान्तानुसार यदि द्वैतस्थिति ही परमकल्याण का हेतु है तो वह तो कीट-पतङ्ग सभी को प्राप्त ही है। अतः वे सभी परम कल्याण के भागी होने चाहिये। वस्तुतः प्रेम का कारण तो अपने परप्रेमास्पदत्व का ज्ञान ही है। यदि हमारी दृष्टि में अपने प्रेमास्पद से भिन्न अन्य पदार्थों की भी सत्ता रहेगी तो हमारा प्रेम उनमें भी बँटा रहेगा और यदि वे सबके सब अपने प्रेमास्पद में ही लीन हो जायेंगे तो हमारा सारा प्रेम सिमटकर एकमात्र उस अपने आराध्यदेव में ही पुञ्जीभूत हो जायगा। प्रेम का नाश तो होगा नहीं, क्योंकि वह आत्मस्वरूप है। अतः निर्विकल्पालम्बनविवेक सम्पन्न हुए बिना तो ठीक-ठीक भगवत्प्रेम हो ही नहीं सकता।

एक बात ध्यान देने की और भी है। निरतिशय प्रेम सदा त्वंपदार्थ के लिये ही हुआ करता है; अपने आराध्यदेव में भी जो प्रेम होता है वह आत्मीय होने के ही नाते होता है। इसीसे भगवती श्रुति कहती है—

'न वारे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति।'

अर्थात् हे मैत्रेयी! देवता लोग देवताओं के लिये प्रिय नहीं होते; बल्कि अपने ही लिये प्रिय होते हैं। जो उपासक अपने को भगवान् से भिन्न समझते हैं वे किसलिये उनमें प्रेम करते हैं? इसीलिये न, कि ऐसा करने से हमारा कल्याण होगा, अथवा ऐसा करने में ही हमें आनन्द आता है; अतः उनका वह भगवत्प्रेम भी आत्मतुष्टि के ही लिये होता है। जिन महानुभावों का ऐसा कथन है कि हमारा सिद्धान्त तो तत्सुखित्व अर्थात् भगवान् के सुख में सुखी रहना है वे भी इसीलिये तो भगवत्सुख में सुखी हैं, न कि उन्हें उसीमें सुख मिलता है।

इस प्रकार यदि यह नियम है कि आत्मा के लिये ही सब कुछ प्रिय होता है तो जो उपासक अपने से भिन्न मानकर किसी उपास्य की उपासना करता है, वह भी वास्तव में तो अपने सुख के लिये ही ऐसा करता है। इस प्रकार उसका उपास्य उसके सुख का शेषभूत हो जाता है किन्तु परप्रेमास्पद तो शेषी ही हुआ करता है, शेष नहीं होता। वह तो शेषी का शेष होने के कारण आपेक्षिक प्रेम का ही आस्पद होता है। आत्यन्तिक प्रेम का आस्पद तो शेषी ही होता है।

अतः हम जिस किसी भी तत्त्व को अपने से भिन्न मानेंगे वह हमारे परप्रेम का आस्पद नहीं होगा। बल्कि जिसे हम अपने से भिन्न मानेंगे वह हमें अपना शत्रु

समझकर अपने परम स्वार्थ से च्युत कर देगा; क्योंकि अपने से भिन्न कोई भी पदार्थ मानने पर द्वैत हो जाता है और थोड़े से भी द्वैत को श्रुति भय का कारण बतलाती है—'**उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति।**' यदि कोई सभी को अपने से भिन्न समझता है तो सभी उसका तिरस्कार करने लगते हैं; जैसा कि श्रुति कहती है— '**सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद।**'

इसपर कोई-कोई महानुभाव कहा करते हैं कि अनुकूलों में भेद रहनेपर भी भय नहीं होता, किन्तु अनुकूलता सदा बनी ही रहेगी, इसमें भी तो कोई प्रमाण नहीं है। आज अनुकूलता है तो कल प्रतिकूलता हो सकती है, अतः अभय अभेद में ही है। इसीसे कहा है—'**अथ य उ एतस्मिन्नदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयंगतो भवति।**' अर्थात् जो कोई इस अदृश्य, अरूप, अनिर्वाच्य और अनिकेत ब्रह्म में अभय स्थिति प्राप्त कर लेता है वह अभय पद को प्राप्त हो जाता है।

यदि हम प्राकृत क्षुद्र पदार्थों को अपने आत्मा या आत्मीयों से भिन्न समझते हैं तो वह हमें स्वार्थ से भ्रष्ट कर देता है तब यदि हम पूर्णपरब्रह्म परमात्मा को अपने सर्वान्तरतम परप्रेमास्पद प्रत्यगात्मा से भिन्न मानेंगे तो वह हमें हमारे परम स्वार्थ से पतित क्यों न कर देगा ? इसीसे विवेकी वेद, शास्त्र, धर्म, ईश्वर इन सभी को, अपना परप्रेमास्पद बनाने के लिये, अपने से अभिन्न समझता है। वह एक अणु को भी अपने आत्मा से भिन्न नहीं समझता। इसलिये यह नास्तिकता नहीं, परम आस्तिकता है। विवेक से भगवतत्त्व के परातत्त्वज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। विवेकी भगवान् को कोई बाह्य वस्तु नहीं समझता, उसकी दृष्टि में तो जिस अपने आत्मा के लिये सारी वस्तुएँ प्रिय होती हैं उसीका वास्तविक स्वरूप भगवान् हो जाते हैं। इसलिये उसका तो भगवान् के प्रति निरुपाधिक और निरतिशय प्रेम हो जाता है।

इस प्रकार यह विवेकरूप चन्द्र भक्तितत्त्व का बाधक नहीं, परम साधक है। उस उडुराज का विशेषण है '**ककुभः—कं ब्रह्मात्मकं कुं कुत्सितं प्रकृतिप्राकृतात्मकं जगत् भासयतीति ककुभः**' अर्थात् क—ब्रह्मस्वरूप सुख और कु—प्रकृति एवं प्राकृत पदार्थों से होनेवाला कुत्सित जगत्—इन दोनों को ही भासित करनेवाला होने से यह ककुभ है। जिस समय जगत् और परमानन्दमय परब्रह्म का विवेक होता है उस समय जागतिक सुख सर्वथा निःसार प्रतीत होने लगता है। ब्रह्मानन्द तो निरतिशय और त्रिकालाबाधित है, किन्तु प्राकृत सुख सातिशय और अनित्य है; अतः ब्रह्मानन्द की बाढ़ में उस प्राकृत सुख का तो विलीन हो जाना ही परम मङ्गल है।

अथवा '**के ब्रह्मणि कुषु कुत्सितेष्वपि भाति दीप्यते इति ककुभः**' अर्थात् यह आत्मानात्मविवेक अथवा विवेक-चतुष्टय चाहे ब्रह्म हो और चाहे कुत्सित—

निम्नकोटि के प्राणियों में हो, दोनों ही की शोभा बढ़ाता है। वस्तुतः न्यूनता तो वहीं है जहाँ इसका अभाव है।

'प्रियः'— यह भी 'उडुराजः' का ही विशेषण है; क्योंकि यह विवेक-चन्द्र परप्रेमास्पद श्री भगवान् की प्राप्ति करानेवाला होने के कारण सभी को प्रिय है, तथा समस्त अनर्थों की निवृत्ति करनेवाला होने से भी प्रिय है।

इसीका विशेषण 'दीर्घदर्शनः' भी है। **'दीर्घमनपबाध्यं दर्शनं यस्य अपौरुषेयत्वेन समस्तपुंदोषशङ्काकलङ्कराहित्येनाप्रमाण्यशङ्काशून्य-वेदजनितत्वात् असौ दीर्घदर्शनः'** अर्थात् अपौरुषेय होने के कारण जो पुरुषोचित दोषों के शङ्कारूप कलङ्कसे रहित है, अतः जिसके अप्रामाण्य की कोई आशङ्का नहीं है उस वेद से उत्पन्न होने के कारण जिसका दर्शन—ज्ञान दीर्घ यानो अबाध्य है, वह विवेकचन्द्र दीर्घदर्शन है, क्योंकि विवेक वेद से होता है और वेद अपौरुषेय होने के कारण सब प्रकार के पुरुषोचित दोषों के शङ्कारूप कलङ्क से रहित है। अथवा इसका दर्शन दीर्घकाल में—अनेकों जन्मों के पश्चात् होता है—इसलिये यह दीर्घदर्शन है; जैसा कि श्रीभगवान् ने भी कहा है —

"बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।"

ऐसा जो विवेकचन्द्र है वह 'चर्षणी'–अधिकारी पुरुषों के 'शुचः'–शोकोपलक्षित विविध दुःखों को विचाररूप अपनी कल्याणमयी और सुखप्रद किरणों से मार्जन करता हुआ उदित हुआ क्योंकि मन की उच्छृंखल वृत्तियों का शमन करने के लिये लाखों उपाय एक ओर और विवेक एक ओर है। उन मानसिक सन्तापों की शान्ति के लिये जो अन्य साधन हैं उनमें से बहुतों का तो अनुष्ठान ही असम्भव है तथा बिना विवेक के उनसे पूर्ण शान्ति भी नहीं होती। किन्तु यथार्थ विवेक तो एक क्षण में ही सभी विक्षेपों को शान्त कर देता है। हमारे चित्त में हर समय ऐसे विचारों का तुमुल युद्ध छिड़ा रहता है कि अमुक कार्य ठीक नहीं हुआ, अमुक पुरुष का व्यवहार उचित नहीं था, हमें अमुक समय तक अमुक कार्य अवश्य कर लेना चाहिये, हमें अमुक झंझट लगा ही हुआ है इत्यादि। यह विक्षेप किसी भी प्रकार की बाह्य सुविधाओं से निवृत्त नहीं हो सकता; किन्तु जिस समय ठीक-ठीक विवेक होता है उस समय इसका ढूंढ़ने पर भी पता नहीं लगता।

आयुर्वेद में भी कई जगह शारीरिक रोगों के हेतु मानसिक रोग ही माने गये हैं। उन मानसिक रोगों की चिकित्सा तो ओषधि आदि से हो ही नहीं सकती। कई स्थलों में तो कारण की चिकित्सा करने से ही कार्य की भी चिकित्सा हो जाती है; किन्तु जहाँ कार्य बहुत उग्र हो जाता है वहाँ पहले ओषधिप्रयोग द्वारा कार्य को निर्बल करके पीछे कारण की चिकित्सा करते हैं। किन्तु यहाँ आध्यात्मिक राज्य में तो यदि शोक, मोह एवं ईर्ष्या आदि रोगों की चिकित्सा हो जाय तो बाह्य व्याधियों

का आश्रयभूत शरीर ही प्राप्त न हो। अतः पूर्ण स्वास्थ्य तो उन मूलभूत रोगों की चिकित्सा होने से ही प्राप्त हो सकता है। इसीसे पूर्वकाल में जब शत्रुओं से पराजित होने पर किसी राजा का राज्य छिन जाता था तो वह महर्षियों की ही शरण लेता था और वे उसे यही उपदेश करते थे --

"यत्किञ्चिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत्।
एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः॥"

अर्थात् तुम जिस वस्तु को ऐसा मानते हो कि वह है उसे यही समझो कि वह है नहीं। ऐसा निश्चय रहने से बुद्धिमान् पुरुष कड़ी से कड़ी आपत्ति प्राप्त होने पर भी व्यथित नहीं होता। वस्तुतः आत्मा से भिन्न जितना भी प्रतीयमान जगत् है, उसमें अस्तित्व-बुद्धिपूर्वक जो भले-बुरेपन का निश्चय करना है, वही सारे दुःखों का मूल है। यह प्रपञ्च तो अनन्त है। इसमें किसी भी समय अनुकूलता-प्रतिकूलता का अभाव हो जाय, यह सर्वथा असम्भव है। अतः जब तक इसमें सत्यत्व बुद्धि रहेगी तब तक हृदय के तापों की शान्ति हो ही नहीं सकती। वस्तुतः अभिनिवेशपूर्वक निरर्थक एक ही वस्तु का बारम्बार अनुसन्धान करना ही पूरा रोग है। किन्तु जिस समय विवेक-चन्द्र का उदय होता है, उस समय सारी अनुकूलता-प्रतिकूलता बालू की भीत के समान ढह जाती है।

वह विवेक-चन्द्र क्या करता हुआ उदित हुआ ?—**'अरुणेन ब्रह्मात्मना विषयेण प्राच्याः प्राचीनायाः धियः मुखं सत्त्वात्मकं भागं विलिम्पन्'** अर्थात् अरुण यानी ब्रह्म-रूप विषय से प्राग्भवा बुद्धि के सत्त्वात्मक भाग को विलेपित करता उदित हुआ। तात्पर्य यह है कि जिस समय विवेक-रूप चन्द्र का प्रादुर्भाव होता है, उस समय बुद्धि पूर्ण परब्रह्मरूप रङ्ग से रंग जाती है। यह नियम है कि बुद्धि अपने विषय से अनुरञ्जित हुआ करती है। विवेक होने पर एकमात्र शुद्ध परब्रह्म की ही सत्ता रह जाती है; इसलिये उस समय बुद्धि ब्रह्मराग से ही अनुरञ्जित हो जाती है। प्रेम यानी राग का आस्पद होने के कारण भी परमात्मा अरुण कहा जाता है। अथवा यों समझो कि **'प्राच्याः अविवेकदशापन्नायाः बुद्धेः मुखं जाड्यात्मकं दुःखात्मकं वा भागम् अरुणेन ब्रह्मसाक्षात्कारजन्येन सुखेन विलिम्पन् तिरोहितं कुर्वन् उदगात्'**—प्राची यानी अविवेक दशा को प्राप्त हुई बुद्धि के मुख—जाड्यात्मक या दुःखात्मक भाग को अरुण यानी ब्रह्मसाक्षात्कारजनित सुख से विलेपित—तिरोहित करता हुआ उदित हुआ।

किस प्रकार उदित हुआ सो बतलाते हैं—**'यथा प्रियः श्रीकृष्णः प्रियायाः श्रीवृषभानुनन्दिन्या मुखम् अरुणेन कुंकुमेन विलिम्पन् उदगात्।'** अर्थात् जिस प्रकार प्रिय श्रीकृष्णचन्द्र अपनी प्रियतमा श्री वृषभानुनन्दिनी के मुख को अरुण कुङ्कुम से विलेपित करते हुए उदित हुए थे, उसी प्रकार यह विवेकचन्द्र उदित हुआ।

इसके सिवा प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए जहाँ 'ताः' शब्द से ज्ञानीरूपा प्रजा ग्रहण की गयी है, वहाँ पर यह समझना चाहिये कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञानियों के विवेकी अन्तःकरण रूप अरण्य में रमण करने की इच्छा की 'तदैव'—उसी समय 'उडुराजः' परमात्मारूप चन्द्र का उनके विवेकी अन्तःकरणरूप वृन्दारण्य में श्रुतिरूपा व्रजाङ्गनाओं के साथ रमण करने के लिये उदय हुआ। यहाँ 'उडुराजः' शब्द का तात्पर्य ऐसा समझना चाहिये—**'उडुस्थानीयेषु परिमितज्ञानक्रियादिशक्तिशीलेषु जीवेषु राजते इति उडुराजः'** अर्थात् परमात्मारूप चन्द्र उडुस्थानीय परिमित ज्ञानक्रियादिशील जीवों में राजमान हैं, इसलिये उडुराज हैं। जीवों की उपाधि मलिन है, इसीसे उनकी ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति अभिभूत रहती है। उनकी शक्ति परिच्छिन्न है। अतः उन्हें विषय के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष होने पर ही कुछ ज्ञान होता है। प्रमाण-निरपेक्ष ज्ञान नहीं होता, क्योंकि सारे प्रमाण आवरण के अभिभावक हैं। किन्तु परमात्मा की ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति अपरिच्छिन्न हैं, उनकी उपाधिभूता लीलाशक्ति भी परम विशुद्धा है। अतः वह अपने आश्रय परमात्मा का आवरण नहीं करती; इसलिये परमात्मा की स्वाभाविकी ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति अपनी उपाधि से अनभिभूता होने के कारण किसी प्रकार के प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। इस प्रकार प्रमाणानपेक्ष ज्ञान क्रियावान् होने के कारण ही परमात्मा अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक राजमान (शोभाशाली) है और इसीसे जीवरूप उडुओं की अपेक्षा से उसे उडुराज कहा है।

अथवा यों समझो कि घटाकाशस्थानीय जीव उडु के समान हैं और महाकाशरूप परमात्मा नियन्तृत्वेन जीवों में विराजमान है। यह नियन्तृत्व ऐसा है कि जैसे घटाकाश महाकाश के अधीन है उसी प्रकार अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य परमेश्वर के अधीन है। इसीसे अभेद होते हुए भी नियमन बन जाता है। अथवा जैसे प्रतिबिम्ब बिम्बाधीन हैं उसी प्रकार जीव ईश्वर के अधीन हैं। इस प्रकार भी वह उडुराज है।

अथवा **'रलयोः डलयोश्चैव'** आदि नियम के अनुसार **'उडुराजः'** के स्थान में **'उरुराजः'** मानें तो यों समझना चाहिये—**'उरुधा जीवेशादिरूपेण बहुधा राजत इति 'उरुराजः'** अर्थात् जीव-ईश्वरादिरूप से अनेक प्रकार राजमान है इसलिये परमात्मा उरुराज है; जैसे कि कहा है—**'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'** अथवा सगुण-निर्गुणरूप से अनेक प्रकार राजमान है, इसलिये उरुराज है; या जायमान और अजायमान रूप से राजमान है, इसलिये उरुराज है; जैसा कि श्रुति कहती है—**'अजायमानो बहुधा व्यजायत'** अर्थात् अजन्मा होने पर भी परमात्मा महदादि रूप से अनेक प्रकार उत्पन्न हुआ है। अथवा रासलीला में वे अनेक रूप से राजमान हुए थे इसलिये उरुराज हैं। श्रुति भी कहती है–'स एकधा भवति दशधा भवति शतधा सहस्रधा भवति' इत्यादि। अथवा बहुत से विभक्त पदार्थों में अविभक्त रूप से अकेला ही विराजमान है इसलिये

परमात्मा उडुराज है। **'अविभक्तं विभक्तेषु'** अर्थात् विभक्त जो कार्यवर्ग उसमें परमात्मा अविभक्त यानी कारणरूप से स्थित है; अथवा विभक्त जो साक्ष्यवर्ग उसमें वह अविभक्त यानी साक्षीरूप से स्थित है; या ऐसा समझो कि विभक्त जो काल्पनिक प्रपञ्च उसमें वह अधिष्ठानरूप से ओतप्रोत है। इन्हीं सब कारणों से परमात्मा उडुराज यानी उडुराज है। वह स्वप्रकाश पूर्ण परब्रह्म परमात्मा, जो सबका महाकारण और स्वरूपतः कार्यकारणातीत है, ज्ञानियों के विवेकी अन्तःकरणरूप अरण्य में रमण करने के लिये आविर्भूत हुआ।

यहाँ रमण का अर्थ है तत्पदार्थ के साथ त्वंपदार्थ का ऐक्य हो जाना। जो अन्तःकरण विवेकचन्द्र की शीतल सुकोमल अमृतमय किरणों से सुशोभित है उस अन्तःकरण-रूप वृन्दारण्य में यह तत्पदार्थरूप भगवान् त्वंपद के अर्थभूत अनन्त जीवरूप व्रजाङ्गनाओं के साथ रमण करने को अर्थात् अपने साथ उनका तादात्म्य स्थापित करने को प्रकट होता है, क्योंकि असली रमण तो यही है कि नायक और नायिका का देश, काल और वस्तुरूप व्यवधान से रहित सम्मिलन हो। यही पारमार्थिक रमण है। लौकिक रमण में तो कुछ न कुछ व्यवधान रहता ही है; क्योंकि जब तक द्वैत बना हुआ है तब तक उसमें विभाग भी रहता ही है।

वे भगवान् रूप उडुराज सबके अभिलषित हैं, इसलिये 'प्रियः' हैं, क्योंकि वे सभी के अन्तरात्मा हैं। आत्मा नाम की वस्तु किसीको भी अप्रिय नहीं होती। संसार में सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति के लिये जितनी चेष्टाएँ होती हैं सब आत्मार्थ ही हैं। ऐसी स्थिति में अपने परप्रेमास्पद भगवान् के साथ कौन रमण करना न चाहेगा ?

इसके सिवा और भी वे कैसे हैं ? **'दीर्घदर्शनः'–'अनाद्यविद्याबीजनिवृत्त्यनन्तरं दीर्घेण कालेन दर्शनं यस्य स दीर्घदर्शनः'** अर्थात् अनादि अविद्यारूप बीजभाव की निवृत्ति के पश्चात् जिनका बहुत देर में दर्शन होता है ऐसे ये भगवान् दीर्घदर्शन हैं। इस संसार में नाना प्रकार के कर्मजाल में फँसे हुए जीव को प्रथम तो नर-देह ही दुर्लभ है; उसमें भी पुंस्त्व-प्राप्ति कठिन है तथा पुरुषों में भी विशुद्ध निष्काम भाव से स्वधर्माचरण करना दुर्लभ है, एवं स्वधर्मपरायणों में भी कोई विरले ही विवेक-वैराग्यनिष्ठ होते हैं। यह भगवद्दर्शन अनेकों सोपानातिक्रमणों के पश्चात् प्राप्त होनेवाला है। इसलिये यह निश्चय ही अत्यन्त दीर्घकालसाध्य है।

किन्तु सबके अन्तरात्मा और परप्रेमास्पद होने के कारण वे सबको सुलभ भी हैं। अतः **'के ब्रह्मणि कुषु कुत्सितेषु सम एव भातीति ककुभः'**–क अर्थात् ब्रह्मा में और कु–कुत्सित जीवों में समान रूप से भासमान होने के कारण ककुभ हैं। वे जिस प्रकार हमारे मन और अहङ्कारादि तथा उनके विकार, श्रद्धा, अश्रद्धा, धी, ह्री आदि के अवभासक हैं उसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर कीट-पतङ्गादि पर्यन्त सभी जीवों के

प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के प्रकाश हैं। इस प्रकार सबको सुलभ होने के कारण वे **'ककुभ'** हैं। अतः **'के स्वर्गे कौ पृथिव्यां सर्वत्रैव भातीति ककुभः'** अथवा **'कं स्वर्गः कुः पृथिवी भाति विभाति यस्मात् स ककुभः'** अर्थात् भगवान् स्वर्ग और पृथिवी सभी जगह भासमान हैं अथवा उन्हींसे स्वर्ग और पृथिवी भी भासमान हैं इसलिये भी वे **'ककुभ'** हैं। अतः सब कुछ उन्हींसे भासित है—**'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'** इस प्रकार वे सभी को सुलभ हैं। इसीसे ज्ञानीरूप चर्षणियों की उपासना से सन्तुष्ट होकर वे अपने साथ उनका तादात्म्य स्थापित कर उन्हें भगवदीय आनन्द का अनुभव कराना चाहते हैं। इसीलिये वे उनके विवेको अन्तःकरण-रूप आकाश में उदित हुए।

क्या करते हुए उदित हुए?—**'करैः स्वांशविशेषैर्वैषयिकसुखैश्चर्षणीनामज्ञ-जनानामपि तत्सुखप्राप्तिनिमित्तान् शुचः शोकान् मृजन् दूरीकुर्वन् उदगात्'** अर्थात् वे अपनी किरणों से अपने अंशभूत वैषयिकसुखों द्वारा चर्षणी यानी अज्ञजनों के भी उस सुख की अप्राप्ति से होनेवाले शोकों को निवृत्त करते हुए उदित हुए। वास्तव में, विचारना चाहिये कि वैषयिक सुख भी क्या हैं? वे अनन्त अविकारी परमानन्दमूर्ति परब्रह्म के कण ही तो हैं। वे उस परमानन्द-सिन्धु की बूँदें ही तो हैं। किन्तु लोग भ्रमवश भगवान् को छोड़कर तुच्छ वैषयिक सुखों को अभिलाषा करके व्यर्थ दुःख पाते हैं। श्री गोसाईंजो महाराज कहते हैं—

> **"अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।**
> **फिरहिं जीव जग दीन दुखारी॥"**

इस प्रकार, क्योंकि वैषयिक सुख परब्रह्म परमात्मा के ही अंशभूत हैं, इसलिये वे उनके द्वारा उन अज्ञ पुरुषों के, जो कि अनन्त भगवत्स्वरूपानन्द से अनभिज्ञ हैं, उन विषयों की अप्राप्ति के कारण होनेवाले शोक को निवृत्त करते हुए प्रकट हुए। और क्या करते हुए प्रकट हुए? **'प्राच्याः प्राचीनायाः निर्वृत्तिकायाः बुद्धेर्मुखं प्रधानं सत्त्वात्मकं भागम् अरुणेन स्वाभिव्यक्तिजनितेन सुखेन विलिम्पन् उदगात्'** अर्थात् वे प्राचीना यानी निवृत्तिकामिनी बुद्धि के मुख यानी प्रधान सात्त्विक भाग को अपनी अभिव्यक्ति से उत्पन्न हुए सुख के द्वारा विलेपित करते हुए उदित हुए। भगवत्सुख का बुद्धि पर ही लेप करना युक्तियुक्त भी है; क्योंकि वही उसे ग्रहण कर सकती है—'स्वयं तदन्तः-करणेन गृह्यते' अर्थात् ब्रह्माभिव्यक्तिजनित जो सुख है उसको अभिव्यक्ति निश्चया-त्मिका बुद्धि पर ही होती है।

वे परब्रह्मरूप उडुराज किस प्रकार उदित हुए, सो बतलाते हैं—**'यथा कश्चित् दीर्घदर्शनः दीर्घेण कालेन दर्शनं यस्य एवंभूतः प्रियः प्रियायाः विप्रोषितभर्तृकायाः शुचः विभागसम्भूतानि शोकाश्रूणि शन्तमैः करैः करव्यापारैः मृजन् करधृतेन अरुणेन कंकुमेन मुखं विलिम्पन् च स्यात्तथा'** अर्थात् जिस प्रकार कोई दीर्घकाल के अनन्तर

आनेवाला प्रवासी पति अपनी वियोगसन्तप्ता प्रियतमा के शोकाश्रुओं को अपने सुशीतल कर-व्यापारों से पोंछता है तथा उसके मुख को अपने हाथ में लिये हुए कुंकुम से लाल कर देता है उसी प्रकार ये उडुराज उदित हुए।

अथवा यों समझो कि जिस समय भगवान् ने रमण करने की इच्छा की और गोपाङ्गनाओं के सौन्दर्य-माधुर्य एवं तप का स्मरण कर उनको वृन्दारण्य में आह्वान करने का संकल्प किया उसी समय उडुराज–प्रेमाम्बुराशि की वृद्धि करनेवाला चन्द्रमा सस्यरूप चर्षणियों के शोकसूर्य की तीक्ष्णतर किरणों से उत्पन्न हुई म्लानता को अपनी सुशीतल किरणों से निवृत्त करता हुआ उदित हो गया।

इसके सिवा 'उडुराजः' इस शब्द से भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भी अभिप्रेत हो सकते हैं; क्योंकि यौवन की अतिशयता[1] के कारण उडुओं—नक्षत्रों—के समान स्वच्छ हैं और रञ्जन यानी अनुराग-जनक होने के कारण राजा हैं। अथवा यदि 'उरुराजः' ही 'उडुराजः' है—ऐसा मानें तो इस प्रकार अर्थ करना चाहिये—'**स्वकीय-प्रेमातिशयेन उरुधा रञ्जयतीति उरुराजः**' अथवा '**उरून् महतस्तत्त्वदर्शिनोऽपि महा-मुनीन् रञ्जयति स्वानुरागयुक्तान् करोतीति उरुराजः**' अर्थात् अपनी प्रेमातिशयता के कारण अनेक प्रकार से रञ्जन करते हैं अथवा जो महान् तत्त्वदर्शी भी हैं उन महामुनियों का भी अपने अनुराग-विशेष के द्वारा अनुरञ्जन करते हैं इसलिये श्रीकृष्णचन्द्र उरुराज हैं। वे प्रिय अर्थात् धन, धाम और सुहृद्वर्ग से भी प्रियतर[2] यानी सबके सर्वस्वभूत और दीर्घदर्शन—जिनका दर्शन दीर्घ यानी अत्यन्त मूल्यवान् है, ऐसे श्रीकृष्णचन्द्र चर्षणी यानी गोपीजनों के शोक—प्रियतम के विरह-जनित सन्ताप को निवृत्त करने तथा 'ककुभः[3]' सौन्दर्यातिशय के कारण मन्दगामिनी प्राची पूजनीया प्रियतमा श्रीवृषभानुनन्दिनी के मानादिजनित आँसुओं को अपने कर-व्यापारों से निवृत्त करते एवं अरुण कुंकुमादि से उनका मुख विलेपित करते विहार-स्थल में आविर्भूत हुए।

श्रीवृषभानुनन्दिनी भगवान् की नित्य सहचरी हैं। जिस प्रकार शक्ति के बिना शिव, मधुरिमा के बिना मिश्री और दाहिका शक्ति के बिना अग्नि नहीं रह सकते उसी प्रकार श्रीराधिकाजी के बिना श्यामसुन्दर नहीं देखे जाते। वे उनकी स्वरूप-

१. यों तो भगवान् की अवस्था इस समय केवल ८-१० वर्ष की थी; किन्तु रास-क्रीड़ा के लिये वे इस समय अपनी योगमाया से युवावस्थापन्न हो गये थे।

२. 'यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्तत्कृते।'
अर्थात् गोपाङ्गनाओं के गृह, धन, सुहृद, प्रिय, आत्मा, पुत्र, प्राण और मन ये सभी जिनके लिये थे।

३. 'कुम्भ मन्दायां गतौ' इस धातु से 'ककुभः' शब्द सिद्ध होता है।

भूता आह्लादिनीशक्ति हैं। उन्हींके कारण श्रीकृष्णचन्द्र की सारी शोभा है; अतः उन्हें छोड़कर वे एक पल भी नहीं रह सकते। वे निरन्तर उनकी सन्निधि में रहते हैं और एक-दूसरे से तादात्म्य को प्राप्त हो परस्पर एक-दूसरे की शोभा बढ़ाते हैं। माधुर्य भाव से उपासना करनेवाले बहुत से भावुकों के मत में तो कृष्णकृपा की प्राप्ति के लिये श्रीप्रियाजी की उपासना ही कर्तव्य है। उनका मत है कि श्रीराधिकाजी स्वाधीनभर्तृका हैं, भगवान् उनके अधीन हैं, वे नित्य निकुञ्ज में निरन्तर श्रीप्रियाजी के सौन्दर्यसमास्वादन के लिये उन्हें अपने माधुर्य रस का नैवेद्य समर्पण करते हैं। इस प्रकार भगवान् से आराधित होने के कारण ही वे 'श्रीराधा' कहलाती हैं। अतः उनका आह्वान करने के लिये भगवान् को वेणुनाद करने की आवश्यकता नहीं थी। वे तो उनकी सन्निधि में ही थीं और उनकी प्रसन्नता के लिये ही यह लीला भी की गयी थी।

ऐसी अवस्था में यह प्रश्न होता है कि फिर भगवान् के वेणुनाद का और क्या प्रयोजन था? यहाँ यही समझना चाहिये कि भगवान् ने अन्य यूथेश्वरी और साधनसिद्धा व्रजाङ्गनाओं को बुलाने के लिये ही वंशीध्वनि की थी। वे चिरकाल से भगवत्सङ्ग के लिये उत्सुक थीं और तरह-तरह के व्रत-उपवास भी कर रही थीं, अतः उन्हें उनकी उपासना का फल देने के लिये ही भगवान् ने वंशी-ध्वनि की।[1]

× × × × ×

इस तरह अखण्डमण्डल श्रीवृषभानुनन्दिनी के मुख के समान चन्द्रमा को तथा उसकी शीतल सुकोमल रश्मियों से रञ्जित मनोहर वन को देखकर श्रीव्रजाङ्गनाओं का मन हरण करनेवाले वेणुगीत पीयूष को प्रवाहित किया। उस प्रेमानन्द समुद्र को बढ़ानेवाले गीत को सुनकर उनका मन मोहित होकर कृष्ण की ओर आकर्षित हो उठा, मानो कृष्ण ने हठात् उनके मन को हर लिया। बस फिर क्या था, जैसे नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती हैं समस्त व्रजाङ्गनाएँ संभ्रम से श्रीकृष्ण की ओर चल पड़ीं। मानो जब प्रेमानन्द में मन बह चला तब मन के परतन्त्र शरीर भी उसी वेग में बह चला। यह गीत पीयूषप्रवाहक इतर प्रवाहों की तरह अपने संसर्गी पदार्थों को गन्तव्य की ओर न ले जाकर उद्गम-स्थान श्रीकृष्ण की ओर ही ले जाता है। किंवा जब श्रीकृष्ण के वेणुगीतरूप चोर ने व्रजाङ्गनाओं के धैर्य, विवेक आदि रत्नों से भरपूर मनोमञ्जूषा को हर लिया तो वे व्याकुल होकर उसीके अन्वेषण के लिये दौड़ पड़ीं। कोई दोहन, कोई परिवेषण छोड़कर, कोई लेपन, मार्जन, अञ्जन, पति-शुश्रूषण छोड़कर उलटे-पलटे भूषण-वसन धारण कर श्रीकृष्ण के पास चल पड़ीं।

१. इसके बाद कुछ प्रवचनों के नोट नहीं लिये जा सके। आगे २१वें श्लोक से व्याख्या चलती है।

पति, पिता, भ्राता आदि के रोकने पर भी वे न रुकीं। जब कुछ व्रजाङ्गनाओं को उनके पति आदि ने गृह के भीतर रोक लिया तो वे वहीं नेत्र मींचकर श्रीकृष्ण का ध्यान करने लगीं। प्रियतम के दुःसह विरहजन्य तीव्र ताप से समस्त पाप कम्पित हो उठे और ध्यानप्राप्त प्रियतम के परिरम्भणजन्य अनन्त आनन्द से पुण्य भी दुर्बल हो गये। इस तरह व्रजाङ्गना सद्यः क्षीणबन्धन होकर गुणमय देह को त्याग जारबुद्धि से भी उन्हीं भगवान् को प्राप्त हो गयीं।

समीप में आयी हुई व्रजाङ्गनाओं को देखकर भगवान् अपनी वचन-चातुरी से मोहित करते हुए बोले—"हे महाभागाओ, आपका स्वागत हो। हम आप लोगों का क्या प्रिय करें? व्रज में कुशल तो है? आप लोग अपने आगमन का कारण कहो। यह घोररूपा रजनी घोर व्याघ्रादि जन्तुओं से निषेवित है। आप लोग व्रज में जाओ। हे सुमध्यमाओ, यहाँ स्त्रियों को नहीं ठहरना चाहिये। आप लोगों के माता, पिता, भ्राता, पति घर में न देखकर ढूँढ़ते होंगे। बन्धुओं को संकट न पहुँचाओ। बहुत हो चुका, अब आप लोग विलम्ब मत करो। व्रज को चली जाओ।"

आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने व्रजाङ्गनाओं को यही आदेश दिया कि तुम लोग गोष्ठ में रहकर अपने पतियों की शुश्रूषा करो। हमारी प्राप्ति का यही उपाय है। यदि पातिव्रत्य में तुम्हारी गति न हो तो 'शुश्रूषध्वं सतीः' पतिव्रताओं की सेवा करो। इस व्याज से भगवान् ने समस्त पुरुषों को यही उपदेश किया है कि जिनकी गति परब्रह्म की उपासना में न हो वे देवता और माता-पितादिरूप वैदिक और लौकिक ईश्वरों की उपासना करें। यदि वे पहले इन ईश्वरों की सेवा करेंगे तो क्रमशः उन्हें परमेश्वर की प्राप्ति हो जायगी। इससे सिद्ध हुआ कि जिन पुरुषों के पाप-पुञ्ज की कर्म और उपासना द्वारा निवृत्ति हो गयी है वे ही भगवद्धाम में प्रवेश करने के अधिकारी हो सकते हैं—

"नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते।"

इसके सिवा यह भी प्रसिद्ध ही है कि—

"वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥"

अतः यदि तुम वर्णाश्रम-धर्माचार के द्वारा इन लौकिक और वैदिक ईश्वरों की सेवा करोगे तभी परमेश्वर की प्राप्ति कर सकोगे। अनभिज्ञ पुरुषों को ही मोहवश स्वधर्म में अरुचि और परधर्म में रुचि होती है। इसी प्रकार अर्जुन को भी जो परधर्म में रुचि हुई थी वह उसका मोह ही था। उसने जो क्षात्रधर्म का परित्याग कर ब्राह्मणधर्म का आश्रय लिया था और बन्धुवध से विरत होकर कहा था कि 'गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके' वह उसका भयङ्कर व्यामोह ही था।

जिस प्रकार रुग्णावस्था में पित्तादि के दूषित हो जाने से लोगों को निम्बादि कटु पदार्थों में रुचि होने लगती है और दुग्धादि में अरुचि हो जाती है, उसी प्रकार मोह के कारण ही स्वधर्म में अरुचि हुआ करती है। अतः रुचि हो या न हो, उचित यही है कि स्वधर्म का आश्रय लिया जाय और परधर्म का परित्याग किया जाय।

इससे सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार भगवान् ने व्रजाङ्गनाओं से कहा था कि मुझ परपुरुष का सङ्ग छोड़कर तुम अपने पतियों की सेवा करो इसी प्रकार साधारण मनुष्यों को भी उनका यही आदेश है कि उन्हें स्वधर्म का ही आश्रय लेना चाहिये। जिस प्रकार छत पर जाने के लिये प्रत्येक सीढ़ी पर होकर जाना पड़ता है, उसी प्रकार परमात्मप्राप्ति में भी क्रमिक साधना का अवलम्बन करना होता है। जो लोग सोपानातिक्रम करके परमोच्च नैष्कर्म्य का आश्रय लेते हैं, उनका ऐसा पतन होता है कि फिर उत्थान होना दुर्लभ हो जाता है। इसीसे महापुरुष कर्मत्याग में भय दिखलाया करते हैं। भगवान् ने भी इसी कारण कर्मानुष्ठान की आवश्यकता प्रदर्शित करने के लिये अर्जुन से कहा था—

"संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥"

साधारण पुरुषों के लिये तो यही क्रम है; हाँ, गुणातीतों की बात अलग है। गुणातीत तो कहते ही उसे हैं जिसपर गुणों का आक्रमण न हो। अतः अज्ञ पुरुषों को उनका अनुकरण न करके स्वधर्म का ही आश्रय लेना चाहिये। यदि वे उसे छोड़कर नैष्कर्म्य पर आरूढ़ होना चाहेंगे, तो सर्वथा पतित हो जायेंगे।

यह बात भी सुनिश्चित है कि प्रयत्न केवल साधन में ही होता है, फल में प्रयत्न नहीं होता। साधन के पर्यवसान में फल तो स्वतः प्राप्त हो जाता है। यदि किसी काष्ठ को काटना है तो कुठार का उद्यमन और निपातन किया जाता है। वहाँ प्रयत्न की आवश्यकता कुठार के उद्यमन-निपातन में ही होती है; उसके परिणाम में द्वैधीभाव तो स्वयं हो जाता है। इसी प्रकार आवश्यकता इसी बात की है कि हम सबसे पहले कर्म द्वारा अपनी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियों का निरोध करके फिर सात्त्विक प्रवृत्तियों द्वारा अपनी राजस, तामस प्रवृत्तियों का निरोध करें। उसके पश्चात् जब हमारी सात्त्विक प्रवृत्ति का भी निरोध हो जायगा तो स्वस्वरूप की उपलब्धि स्वतः ही हो जायगी। ज्यों ही मानस व्यापार की शान्ति हुई कि "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इस सूत्र के अनुसार द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है।

वस्तुतः नैष्कर्म्य क्या है—इस बात को साधारण पुरुष समझ भी नहीं सकते, इसीलिये वे कर्मत्याग की व्यर्थ चेष्टा में प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार नौकारूढ़ व्यक्ति को भ्रमवश तटस्थ वृक्षादि चलते दिखाई देते हैं और अपने में स्थिरता प्रतीत होती

है, उसी प्रकार अज्ञानियों को मोहवश अपने निष्क्रिय शुद्ध स्वरूप में कर्म की प्रतीति होती है। इसी बात को भगवान् ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः स च कर्मकृत्॥"

वास्तव में अकर्म तो स्वरूपस्थिति है, वह कर्त्तव्य नहीं है। जो अकर्म को कर्त्तव्य समझकर देहेन्द्रियव्यापार की निवृत्ति का प्रयत्न करते हैं वे अकर्म के रहस्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इस प्रकार का प्रयत्न भी तो एक व्यापार ही है; अतः वह निवृत्ति नहीं, उसे व्यापारशान्ति ही कहा जा सकता है। वस्तुतः **'संन्यासस्तु पूर्णब्रह्मणि सम्यक्न्यासः'** इस लक्षण के अनुसार पूर्ण ब्रह्म में सर्वथा आत्मसमर्पण करने का नाम ही संन्यास है। वह उपेय या साध्य है, उपाय या साधन नहीं है। इसीसे भगवान् गोपिकाओं को उपदेश करते हैं कि मैं तो उपेय हूँ, तुम मुझे प्राप्त करने के लिये पतिशुश्रूषण-रूप उपाय का अवलम्बन करो।

यदि मोह या दुर्दैववश तुम्हारी स्वधर्म में निष्ठा नहीं है तो अहङ्कार छोड़ो और शास्त्रज्ञों का सत्सङ्ग करो। इससे स्वधर्म में तुम्हारी अभिरुचि होगी। इसी बात को लक्षित करने के लिये भगवान् ने व्रजाङ्गनाओं से कहा है—**'शुश्रूषध्वं सतीः'** (सत्पुरुषों की सेवा करो) स्त्रियों के लिये पतिव्रता ही सत्पुरुष हैं। जिस प्रकार स्त्रियों के लिये भगवान् ने पतिव्रताओं का सङ्ग करने की आज्ञा दी है, उसी प्रकार पुरुषों को शास्त्रज्ञ और निःस्पृह ब्राह्मणों का सहवास करना चाहिये। मनु भगवान् ने भी ब्राह्मणों से ही उपदेश ग्रहण करने की आज्ञा दी है। वे कहते हैं—

"अध्येतव्यमिदं शास्त्रं ब्राह्मणेन प्रयत्नतः।
शिष्येभ्यश्चोपदेष्टव्यं सम्यक् नान्येन केनचित्॥"

जो लोग देखा-देखी दूसरों को उपदेश करने लगते हैं वे उनके पतन के ही कारण होते हैं। वास्तविक कल्याण तो शास्त्रज्ञ ब्राह्मण के ही उपदेश से हो सकता है। जिस प्रकार कोई साधारण पुरुष किसी वैद्यराज के थोड़े से ओषधिप्रयोगों को देखकर यदि स्वयं भी वैद्यराज होने का दावा करके ओषधि देने लगे तो वह रोगियों की मृत्यु का ही कारण होता है, उसी प्रकार अनधिकारी उपदेशक जनता के अमङ्गल के ही हेतु होते हैं। अज्ञ जन केवल श्रवण के ही अधिकारी हैं। शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों से श्रवण करके वे अपना कल्याण अवश्य कर सकते हैं; इसीसे भगवान् ने कहा है कि—

"अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥"

अतः उन्हें आत्मकल्याण के लिये श्रवण तो अवश्य करना चाहिये, किन्तु दूसरों को उपदेश करने का प्रयत्न न करना चाहिये।

इस प्रकार जिस तरह स्त्रियों को पतिव्रताओं की सेवा करनी आवश्यक है उसी प्रकार पुरुषों को ब्राह्मणों की शुश्रूषा करनी चाहिये। यदि उनकी सेवा में रहते-रहते जल्दी लाभ न भी हुआ तो **'जब कछु काल करिय सत्सङ्गा। तबहि उमा होइहि भ्रमभङ्गा॥'** कुछ दिन धैर्य रखकर उनकी सेवा में तत्पर रहो। अधिक मल की निवृत्ति के लिये अधिक काल मार्जन की आवश्यकता होती है। इसी तरह जन्म-जन्मान्तर के पापों की निवृत्ति में कुछ समय लगना स्वाभाविक ही है। यदि उनके कथन में रुचि नहीं होती तो भी कुछ काल तो अरुचि से भी उन्हींकी आज्ञा में रहो। वैद्य रोगी के लिये हितकर समझकर जो औषधि देता है, रोगी को किसी प्रकार का ननु-नच न करके उसीको सेवन करना चाहिये; उसे अपनी रुचि की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

संसार में सत्सङ्ग बहुत दुर्लभ है। साधु जन कहीं साइनबोर्ड लगाकर नहीं बैठते। उनकी प्राप्ति सौभाग्य से ही होती है। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

"सत्सङ्गति संसृति कर अन्ता।
पुण्य पुञ्ज बिनु मिलहिं न सन्ता॥"

श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मकल्याण के लिये साधुसेवा की आवश्यकता भगवान् कृष्ण ने इस प्रकार दिखलायी है—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥"

किन्तु सेवा में धैर्य की बहुत आवश्यकता है; जल्दबाजी से काम नहीं चलता। देखो इन्द्र ने दीर्घ काल तक सेवा की तभी उसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ और वह आत्मतत्त्व की उपलब्धि में समर्थ हो सका।

गीता में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे॥"

इस प्रकार भगवान् ने 'साधुओं का परित्राण' अपने अवतार का प्रधान प्रयोजन बतलाया है। अब यह प्रश्न होता है कि साधु किसे कहते हैं? भाष्यकार भगवान् शङ्कराचार्य ने 'साधूनाम्' इस पद का पर्याय **'सन्मार्गस्थानाम्'** लिखा है।

किन्तु **'सन्मार्ग'** क्या है? इसका निर्णय होना बहुत कठिन है। यदि कहा जाय कि शास्त्रानुमोदित मार्ग का नाम सन्मार्ग है, तो इसमें भी सन्देह होता है; क्योंकि यह निश्चय होना कठिन है कि सच्छास्त्र कौन है। लोग शङ्का करते हैं कि वेद ही सच्छास्त्र क्यों है, कुरान या बाइबिल आदि को ही प्रधान सच्छास्त्र क्यों न माना जाय? यद्यपि यह बात युक्ति से भी सिद्ध की जा सकती है कि वेद ही सच्छास्त्र

है तथापि यहाँ इसका प्रसंग नहीं है। इसलिये विशेष न कहकर थोड़ा-सा संकेत किया जाता है।

मान लीजिये आपको कहीं जाना है। अपने ध्रुव की ओर जाते-जाते आगे चलने पर आपको चार मार्ग मिले। उस समय चारों मार्गों से यात्री आ-जा रहे हैं। आप उनसे पूछते हैं कि अमुक स्थान को कौन मार्ग जाता है, तो वे सभी अपने-अपने मार्ग को वहाँ जानेवाला और अधिक सुविधाजनक बतलाते हैं। वे अपने-अपने मार्ग की प्रशंसा करते हैं—इतना ही नहीं अपितु अपने से भिन्न मार्गों को विघ्नबहुल और त्याज्य भी बतलाते हैं। ऐसी अवस्था में आप क्या करेंगे? हमारे विचार से तो आप यही देखेंगे कि इनमें कोई हमारा परिचित (आप्तपुरुष) भी है। तब उनमें जो आपके ग्राम के आसपास का होगा, औरों की अपेक्षा उसीका विश्वास करोगे। अतः विचारवानों का यही कर्त्तव्य है कि आप्तवाक्य का अवलम्बन करें। यह साधारण धर्म कहा जाता है कि जो आचार-विचार अपनी कुलपरम्परा से चला आया हो उसीका आश्रय लिया जाय। आप जिस देश, जाति, सम्प्रदाय या कुल में उत्पन्न हुए हैं उसमें जो पुरुष या शास्त्र अधिक आदरणीय माने गये हों उन्हींके मार्ग का अव-लम्बन करें, क्योंकि पिता अपने पुत्र का अहित कभी नहीं चाह सकता। अतः पिता-प्रपितामह-क्रम से जो मार्ग चला आया हो उसीका आश्रय लेना चाहिये।

धर्म के विषय में यह व्यापक लक्षण है। यह जैसा हिन्दुओं के लिये है वैसा ही ईसाई, मुसलमान, जैन, बौद्ध आदि अन्य मतावलम्बियों के लिये भी है। उन्हें भी अपने-अपने आचार्य और धर्मग्रन्थों का आश्रय लेना चाहिये। यदि आप आरम्भ से ही यह निश्चय करने लगेंगे कि कौन मार्ग श्रेष्ठ है तो इसका निर्णय कभी नहीं कर सकेंगे। यह तो बहुत लम्बा-चौड़ा क्रम है, इसका निर्णय तो कभी नहीं होगा। ऐसी अवस्था में आप धर्ममार्ग का अवलम्बन कैसे कर सकेंगे?

राजा को सारी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं; वह चाहे जिसे उजाड़ सकता है और चाहे जिसे बसा सकता है; उसे कोई रोकनेवाला नहीं होता। फिर भी वह अपने ही बनाये हुए नियमों का अनुसरण करता है। वस्तुतः बिना नियम के कोई भी व्यवस्था हो नहीं सकती। इस प्रकार की नियम-शृङ्खला का नाम ही तो धर्म है। लौकिक शृङ्खला से बद्ध प्रवृत्ति का नाम लौकिक व्यवहार है और वैदिक शृङ्खला से बद्ध प्रवृत्ति का नाम धर्म है। किन्तु नियम-निर्माण का कार्य अभिज्ञ पुरुष ही कर सकते हैं; अतः यहाँ फिर हमारा वही लक्षण लागू हो जाता है कि जो जिस धर्म, जिस जाति और जिस कुल में उत्पन्न हुए हैं उन्हें उसीमें उत्पन्न हुए आप्त पुरुषों के मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये।

विद्यार्थी को यदि कोई अक्षर दिखलाकर कहा जाय कि यह 'क' है और इस-पर वह कहने लगे कि इसे 'क' क्यों कहते हैं तो उसे इसका हेतु किसी प्रकार नहीं

समझाया जा सकता और उसे कोरा ही रहना पड़ेगा। इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिये तो पहले-पहल उसे आचार्य के कथन में अन्ध-श्रद्धा ही करनी होगी। पीछे जब उसकी बुद्धि विकसित होगी और उसे व्याकरण शास्त्र के सूक्ष्म रहस्य का पता चलेगा तो उसे स्वयं ही सब बात मालूम हो जायगी। जब वैद्य रोगी को ओषधि देता है तो वह क्यों नहीं कहता कि मैं इसे क्यों सेवन करूँ। उस समय उसे वैद्य में श्रद्धा करनी ही पड़ती है। श्रुति ने भी '**श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व**' इस अजात शत्रु की उक्ति द्वारा श्रद्धा का ही विशेष महत्त्व प्रतिपादन किया है।

अतः आस्तिकों को यह तर्क करने की आवश्यकता नहीं है कि वेद अपौरुषेय क्यों हैं? जो आर्यावर्त्त में उत्पन्न हुए हैं और आर्यधर्मावलम्बी हैं उन्हें पहले-पहल ऐसा मानना ही चाहिये। पीछे जब समझने की योग्यता होगी तब वे इस तथ्य को समझ भी सकेंगे। पहले योग्यता प्राप्त करो; '**श्लोकवार्तिक**', '**तन्त्रवार्तिक**' और '**पञ्चपादिका विवरण**' आदि ग्रन्थों को देखो; तब समझ सकोगे कि वेद अपौरुषेय क्यों हैं। उस समय तुम यह जान लोगे कि वेद ही सच्छास्त्र क्यों हैं और उनसे भिन्न किसी अन्य ग्रन्थ को यह सम्मान क्यों प्राप्त नहीं है? इन्हींके अनुमोदित धर्म की रक्षा करने के लिये भगवान् कह रहे हैं—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे॥"

अब तक हमने जो कुछ कहा है वह हमारी ही कल्पना हो—ऐसी बात नहीं है। भगवान् ने भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेचन करने के लिये शास्त्र की ही शरण लेने की आज्ञा दी है। इसीसे वे कहते हैं- '**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।**' वह शास्त्र क्या है? इसका भगवान् स्पष्टतया खुले शब्दों में उत्तर देते हैं कि '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो।**' अतः वेद ही सच्छास्त्र है।

पूर्वमीमांसक 'शास्त्र' शब्द का अर्थ वेद ही करते हैं। उत्तर-मीमांसा का सूत्र है—'**शास्त्रयोनित्वात्**'; इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य लोग कहते हैं '**शास्त्रम् ऋग्वेदादि**'। सांख्यादि में तो 'शास्त्र' शब्द का उपचार से प्रयोग होता है। जैसे 'वेदान्त' शब्द का मुख्य अर्थ उपनिषद् है; ब्रह्मसूत्रादि में उसका औपचारक प्रयोग होता है, क्योंकि वे उन्हींका विचार करते हैं। '**शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेन इति शास्त्रम्**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार भी वेद ही शास्त्र हैं, क्योंकि निरपेक्ष हित का उपदेश उन्हींमें किया गया है। अन्य शास्त्रों में जो हितोपदेश है उसे श्रुति-प्रामाण्य की अपेक्षा है। वैदिक लोग दर्शन, स्मृति और गीता का भी स्वतःप्रामाण्य नहीं मानते; उनका प्रामाण्य वेदमूलक होने के ही कारण है। मनुस्मृति इसीलिये प्रामाणिक है क्योंकि वह वेदानुमोदित धर्म का प्रतिपादन करती है और श्रुति उसके लिये कहती है कि '**यद्वै मनुरवदत्तद्भेषजम्**'। श्रीमद्भगवद्गीता भी वेदानुसारिणी होने के

कारण ही प्रामाणिक है। यदि भगवदुक्ति होने के कारण उसे स्वतःप्रमाण कहा जाय तो बौद्ध दर्शन भी प्रामाणिक माना जायगा। किन्तु वेद-विरुद्ध होने के कारण बौद्ध दर्शन भगवदवतार भगवान् बुद्ध की उक्ति होने पर भी प्रामाणिक नहीं है।

प्रमाणों का किसी अर्थ में सांकर्य होता है और किसीमें व्यवस्था होती है। शब्द केवल श्रोत्रेन्द्रिय से ही ग्रहण किया जा सकता है। उसका ज्ञान किसी अन्य इन्द्रिय से नहीं हो सकता। अतः श्रोत्र शब्दग्रहण में इन्द्रियान्तर-निरपेक्ष प्रमाण है। यहाँ प्रमाण की व्यवस्था है। किन्तु दूरस्थ जल नेत्र से भी ग्रहण किया जा सकता है। ऐसे ही और भी कितने ही पदार्थ हैं जो कई प्रमाणों से ज्ञात हो सकते हैं। उनमें प्रमाणों का सांकर्य है।

वेद स्वतःप्रमाण हैं और गीतादि का प्रामाणिकत्व वेदमूलक होने के कारण है—ऐसा कहकर हमने गीता का निरादर नहीं किया। जैसा हम पहले दिखा चुके हैं, हमारा यह कथन भगवदुक्ति के ही अनुसार है। अतः यह तो उसका सम्मान है। जो लोग ऐसा कुतर्क करते हैं कि गीता के वेदानुसारी होने में क्या प्रमाण है उनको यह चेष्टा साहस मात्र है। गीता के वेदानुसारित्व में शङ्का करना बड़ी भारी धृष्टता है।

एक बात बहुत ध्यान देने योग्य है। लोग चमत्कारों से बहुत आकर्षित होते हैं। शास्त्रानुयायियों पर जनता की ऐसी श्रद्धा नहीं होती जैसी कि चमत्कारों पर होती है। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि सिद्धि वैदिकों में ही होती हो। जैन आदि अन्य मतावलम्बियों में भी सिद्धियाँ और तितिक्षा आदि गुण देखे जाते हैं। परन्तु उनका अनुगमन नहीं करना चाहिये। वैदिक मतावलम्बी यदि इन गुणों से शून्य हो तो भी उसीका अनुसरण करना चाहिये। यदि अहिंसा और दया आदि भी हमारे शास्त्रों की विधि से विपरीत हों तो वे पाप हैं और शास्त्रानुमोदित हिंसा भी धर्म है। अर्जुन को दया और करुणा ही तो हो रही थी; परन्तु भगवान् कहते हैं—

> "कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
> अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥"

इस प्रकार भगवान् ने उस दया और करुणा को भी **'अनार्यजुष्ट'**, **'अस्वर्ग्य'** और **'अकीर्तिकर'**, **'कश्मल'** (पाप) कहकर त्याज्य बतलाया है।

अतः पहले लकीर के फकीर बनो। जो कुछ शास्त्र कहता है उसे आँख मूँदकर ग्रहण करो। पहले कुछ योग्यता प्राप्त कर लो तब निर्णय करना। यदि तुम्हें कोई अनुमान करना है तो पहले प्रतिज्ञा, व्याप्ति एवं निगमन आदि पञ्चावयव वाक्य एवं हेत्वाभास आदि का ज्ञान प्राप्त करो। जब तक तुम्हें सत् और असत् हेतु का विवेक न होगा तब तक ठीक-ठीक अनुमान कैसे कर सकोगे?

हमें शान्ति, तितिक्षा और अहिंसा ये कुछ भी अपेक्षित नहीं हैं, हमें केवल वैदिक विधि की अपेक्षा है। जो ऐसा मानते हैं कि **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'** यह भगवद्वाक्य है और जो भगवद्वाक्य को अपना सर्वस्व मानने का दावा करते हैं उन्हें तो यही कर्त्तव्य है, औरों के लिये हमारा कुछ कहना नहीं है। आजकल लोगों की कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि जब वे दूसरों के आचरण पर दृष्टि डालते हैं तो उन्हें निरी भूलें दिखाई देती हैं, किन्तु अपनी भूल उन्हें कभी नहीं दीखती। श्री गोसाइंजी महाराज कहते हैं--**'पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥'** अतः दूसरों की समीक्षा में न पड़कर हमें पहले अपनी ही ओर देखना चाहिये।

शास्त्र की आज्ञा है कि **'स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्'** (स्वधर्म का यथाशक्ति पालन करना चाहिये और विधर्म का त्याग) जो लोग यथाशक्ति स्वधर्म का पालन करते हैं वे ही सत्पुरुष हैं। कुछ कर्म तो ऐसे हैं जिनका न करना पाप है; जैसे सन्ध्या, अग्निहोत्र एवं बलिवैश्वदेव आदि। वे नित्य कर्म हैं। इसी प्रकार पार्वण श्राद्धादि नैमित्तिक कर्म भी अवश्य कर्त्तव्य हैं। उनका परित्याग करने में दोष माना गया है। आज थोड़े से ब्राह्मण ही ऐसे दिखाई देते हैं जो इन सब धर्मों का यथायोग्य पालन करते हैं। परन्तु उनके प्रति अन्य लोगों की विशेष आस्था नहीं देखी जाती; अतः उनका उत्साह भी कितने दिन रह सकेगा ? प्रवृत्ति के लिये आस्था की भी अत्यन्त आवश्यकता है। इसीलिये प्रत्येक ग्रन्थ के पहले उसका माहात्म्य दिया जाता है। और उस ग्रन्थ के पाठ के समय उसका पाठ भी अनिवार्य होता है। वह अर्थवाद अभिरुचि की वृद्धि के लिये है। किन्तु उस कर्म के कर्ता को उसमें अर्थवाद दृष्टि नहीं करनी चाहिये। इसीसे नाम में अर्थवाद बुद्धि करना भी एक नामापराध माना गया है। नामोच्चारण न करने का दोष निवृत्त हो सकता है; परन्तु नामापराध की निवृत्ति नहीं हो सकती। अतः यदि वैदिक कर्मों की प्रवृत्ति करनी है तो उसका माहात्म्य भी सत्पुरुषों में प्रख्यात होना चाहिये। कर्मयोग की आज भी बहुत महिमा है। परन्तु इस समय इसके अनेक अर्थ हो रहे हैं। **'योगः कर्मसु कौशलम्'** इस भगवदुक्ति का आश्रय लेकर महात्मा तिलक ने तो कर्म करने की कुशलता को ही कर्मयोग कहा है। किन्तु भगवान् का तो यही कथन है कि **'कर्म ब्रह्मप्रतिष्ठितम्'** अर्थात् कर्म ब्रह्म में स्थित है। यहाँ 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ करते हुए वे कहते हैं कि **'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्'** अर्थात् ब्रह्म अक्षर परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। अतः वेद ही ब्रह्म है और वेदोक्त कर्म ही कर्मयोग है।

आज भक्तशिरोमणि श्री गोसाइंजी महाराज की, **'नहिं कलि धर्म न कर्म विवेकू। रामनाम अवलम्बन एकू'** इस उक्ति का अवलम्बन करके सारे धर्म-कर्मों को तिलाञ्जलि देकर केवल हरिनाम-सङ्कीर्तन में लगने की ही प्रवृत्ति हो रही है।

हम भगवन्नाम सङ्कीर्तन को हेय-दृष्टि से नहीं देखते। वह तो परम मङ्गलमय है। परन्तु गोसाइंजी के तात्पर्य को न समझकर उनकी उक्ति का आश्रय लेकर कर्त्तव्य कर्म की अवहेलना करना कदापि क्षम्य नहीं हो सकता।

जब तब कर्म के करने में परम लाभ सुनिश्चित न होगा और उसके परित्याग में परम हानि का निश्चय न होगा तब तक उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती। जिस प्रकार आत्मज्ञान के लिये श्रुति कहती है कि **'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'** उसी प्रकार कर्म के अकरण में भी प्रत्यवाय प्राप्ति का पूर्ण निश्चय होना चाहिये। इसीसे अग्निहोत्रादि नित्य कर्मों के लिये तो शास्त्र की जबरदस्त आज्ञा है किन्तु सोमादि नित्य कर्मों के लिये यथाशक्ति पद का अध्याहार किया गया है। नित्यकर्मों में भी यथाशक्ति पद का अध्याहार हो सकता है; जैसे रोग के समय सन्ध्योपासन न कर सके तो केवल मानसिक संध्या ही कर ले अथवा केवल अर्घ्यदान कर ले। किन्तु अधर्म तो कभी कर्त्तव्य नहीं हो सकता। अतः क्षत्रिय, वैश्य को ब्राह्मण के धर्म का आश्रय करना अथवा शूद्र को वेदाध्ययन करना कभी विहित नहीं हो सकता।

इसलिये यदि तुम परम कल्याण चाहते हो तो ऐसे ब्राह्मणों का समाश्रयण करो जो पाप से सर्वथा बचा हुआ हो और धर्म का यथाशक्ति पालन करता हो। वही सत्पुरुष है। उसकी सेवा करने से ही परमात्मा को प्राप्ति कर सकोगे। भगवान् ने **'शुश्रूषध्वं सतीः'** ऐसा कहकर सर्वसाधारण को यही उपदेश किया है।

पहले कह चुके हैं कि जीवमात्र परतन्त्र होने के कारण केवल परब्रह्म परमात्मा ही पूर्ण पुरुष है। **'पतीन् शुश्रूषध्वम्'** इस कथन से भी स्त्रीमात्र के परमपति सच्चिदानन्दघन परमपुरुष परमात्मा ही विवक्षित हैं। अतः जिस प्रकार स्त्रियों को पतियों का शुश्रूषण आवश्यक है उसी प्रकार जीवमात्र को पूर्ण परब्रह्म परमेश्वर की आराधना करना परम कर्त्तव्य है। इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिये।

परन्तु एक ही परमात्मा की आराधना विवक्षित होने पर भी यहाँ **'पतीन्'** ऐसा बहुवचन क्यों है? यह कथन जीवभेद की दृष्टि से है। जिस प्रकार गगनस्थ सूर्य एक ही है तथापि जलपात्रों के भेद से उसके अनेकों प्रतिबिम्ब पड़ते हैं, उसी प्रकार एक ही सच्चिदानन्दघन परमात्मा विभिन्न अन्तःकरणों में विभिन्न रूप से प्रतिफलित हो रहे हैं। अथवा भावनाभेद या अवतारभेद के कारण यह बहुवचन हो सकता है, क्योंकि एक ही भगवान् राम, कृष्ण, शिव आदि अनेकों रूपों में प्रकट हुए हैं। गोपाङ्गनाओं के लिये तो यह प्रयोग आदरार्थ भी हो सकता है, क्योंकि उनके लिये तो एकमात्र भगवान् ही आराध्यदेव, रक्षक, पति और गुरु हैं, तथा गुरुजन आदि आदरणीय व्यक्तियों के लिये बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। इसके सिवा इस

प्रकरण में रासलीला के समय एक ही भगवान् अनेकरूप होनेवाले हैं। अतः भावी भेद के कारण भी कथन हो सकता है।

यदि तुम पतिशुश्रूषण की रीति न जानती हो, तुम्हें इस बात का पता न हो कि पतिदेव को किस प्रकार अपने अनुकूल बनाया जाता है तो **'शुश्रूषध्वं सतीः'**—पतिव्रताओं की सेवा करो। इससे तुम सेवा की विधि जान जाओगी। जैसे श्रीसीताजी को श्रीअनसूयाजी और कौशल्याजी आदि ने उपदेश किया था उसी प्रकार, जीव अपने परमपति सर्वेश्वर भगवान् को कैसे अपने अनुकूल करे यदि यह जानना हो तो, उसे वैसा आचरण जानने के लिये सत्पुरुषों की सेवा करनी चाहिये। जो लोग भगवान् को प्रसन्न करना जानते हैं और जो शास्त्रानुमोदित मार्ग से चलते हैं वे ही इस मार्ग में सत्पुरुष हैं। उनकी कृपा से भगवान् की प्राप्ति हो जाने पर फिर कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। भगवान् के संकल्प से ही बन्ध-मोक्ष की प्रवृत्ति है। जब तक भगवान् में अनुराग नहीं है तब तक तुम कैसे ही विद्वान् या मेधावी हो यों ही भटकते रह जाओगे। सारा शास्त्रज्ञान भी भगवद्भक्ति विमुखों के लिये केवल भार-मात्र रह जाता है।

"मद्भक्तिविमुखानां हि शास्त्रगर्तेषु मुह्यताम्।
न ज्ञानं न च मोक्षः स्यात्तेषां जन्मशतैरपि॥"

यह बात भगवद्भक्ति-विमुख शास्त्रज्ञों के लिये है। इससे हम शास्त्र की अवहेलना नहीं करते। ऐसा शास्त्रज्ञ दूसरों का कल्याण तो कर सकता है, किन्तु स्वयं कोरा ही रह जाता है; जैसे दीपक औरों को तो प्रकाशित करता है, किन्तु उसके नीचे अँधेरा हो रहता है। इस विषय में विद्वानों की भी ऐसी ही सम्मति है कि विद्वान् रागी होने पर भी दूसरों का कल्याण कर सकता है, किन्तु शास्त्रानभिज्ञ पुरुष विरक्त रहनेपर भी दूसरों को पथप्रदर्शन नहीं कर सकता। जिसके हाथ में दीपक है वह स्वयं भले ही अँधेरे में रहे परन्तु दूसरों को तो प्रकाश प्रदान कर ही सकता है। इसी प्रकार एक विद्वान् भी, जो सब प्रकार के अधिकारियों के लिये तदनुकूल साधनों का ज्ञान रखता है, यदि स्वयं आचरण न भी करे तो भी दूसरों को तो ठीक-ठीक उपदेश कर ही सकता है। ऐसी गाथा भो है कि कहीं कथा होती थी। उसे सुन-सुनकर श्रोता तो कितने ही मुक्त हो गये परन्तु पण्डितजी कथा ही बाँचते रह गये। क्योंकि जब तक शास्त्रानुमोदित आचरण न होगा तब तक केवल शास्त्र-ज्ञान से कोई कल्याण का पात्र नहीं हो सकता। **'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'** मरण-काल में सारे शास्त्र इसी प्रकार छोड़कर चले जाते हैं जैसे पत्रहीन वृक्ष को पक्षिगण। अतः आत्मकल्याण में आचरण की ही प्रधानता है। इसीसे कहा है—

"पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः।
सदसस्पतयो ह्येके असन्तोषात्पतन्त्यधः॥"

अतः साधन-सम्पन्न प्राणी ही आत्मकल्याण कर सकता है। इसलिये जो शास्त्रज्ञ है परन्तु शास्त्रोक्त धर्मों में निष्ठा नहीं रखता उसके लिये शास्त्र अकिञ्चित्कर हैं। वह दूसरे के लिये अवश्य आदरणीय है परन्तु उसे स्वयं अपने पर जुगुप्सा ही करनी चाहिये। उसके प्रति श्रद्धा और सद्भाव रखने से दूसरों का कल्याण अवश्य हो सकता है; भले ही वह स्वयं नरकगामी ही हो। कई पदार्थ ऐसे हैं, जो स्वतः स्वरूपतः पतित हैं, परन्तु यदि उनकी विधिवत् सेवा-पूजा की जाय तो अपने उपासक का कल्याण कर सकते हैं। गौ स्वयं पशु है, परन्तु अपने भक्त को गोलोक ले जाती है। अश्वत्थ वृक्ष स्वयं पापयोनि स्थावर है, किन्तु अपनी पूजा करनेवाले का कल्याण कर सकता है। इसी प्रकार ब्राह्मण यद्यपि शरीर दृष्टि से महा अपवित्र, अस्थिमांस एवं चर्मरूप ही है, तो भी अपने में श्रद्धा रखनेवाले के लिये तो सब प्रकार मंगल का ही कारण होता है।

ब्राह्मण यदि दुराचारी भी हो तो भी पूजनीय है। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

"पूजिय विप्र सकल गुणहीना।
नहिं न शूद्र गुण ज्ञान प्रवीना॥
दुष्टउ धेनु दुही सुनि भाई।
साधु रासभी दुही न जाई॥"

ऐसी ही बात एक स्मृति में भी कही गयी है—

"दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यः न तु शूद्रो जितेन्द्रियः।
कः परित्यज्य गां दुष्टां दुहेच्छीलवतीं खरीम्॥"

भगवान् कृष्ण कहते हैं—

"न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम्॥"

यह बात सुशिक्षित और सदाचारसम्पन्न ब्राह्मणों के लिये ही कही गयी हो ऐसी बात नहीं है। भगवान् का तो यह कथन है कि—

"ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषां प्राणिनामिह।
विद्यया तपसा तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः॥"

किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इस प्रकार का गुणहीन ब्राह्मण स्वयं भी कल्याण का पात्र हो सकता है। उसे स्वयं तो नरक ही भोगना पड़ेगा। उसकी अपेक्षा तो स्वधर्मनिष्ठ शूद्र की ही सद्गति होनी अधिक सम्भव है। इसी भाव को लक्ष्य में रखकर श्रीमद्भागवत में कहा है—

'विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्' मन्ये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में कहीं तो गुणहीन ब्राह्मण को भी सर्वथा पूजनीय बतलाया गया है और कहीं भगवद्भक्तिहीन द्वादश-गुण-विशिष्ट ब्राह्मण की अपेक्षा भगवच्चरणानुरागी श्वपच की उत्कृष्टता दिखलायी गयी है। आजकल ब्राह्मण लोग तो प्रशंसा-परक वाक्यों को लेकर अपनी पूजनीयता का दावा करते हैं और अब्राह्मण लोग निन्दापरक वाक्यों को लेकर उन्हें नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु बात बिलकुल उल्टी है। वस्तुतः ब्राह्मणों को तो यह चाहिये कि अपने ब्राह्मणत्व का अभिमान छोड़कर निन्दापरक वाक्यों के अभिप्रायानुसार भगवद्भक्ति और शास्त्रानुमोदित आचरण को ग्रहण करें तथा अब्राह्मणों को यह उचित है कि ब्राह्मणों के गुण-दोष की ओर न देखकर ब्राह्मणमात्र में श्रद्धा रखें; क्योंकि शास्त्र में जहाँ आचारहीन ब्राह्मण की निन्दा की गयी है वह उनके कल्याण की दृष्टि से है और जहाँ उनकी प्रशंसा की गयी है वह ब्राह्मणेतर वर्णों की ब्राह्मणमात्र के प्रति श्रद्धा परिपक्व करने के लिये है।

संसार में शास्त्रज्ञ होना सरल है, परन्तु अपने परम प्रेमास्पद प्रभु को स्वानुकूल कर लेना परम दुर्लभ है। किन्तु भूषण यही है। पत्नी बड़ी रूपवती हो और तरह-तरह के वस्त्रालंकारों से सुसज्जिता हो, परन्तु यह उसका भूषण नहीं है। उसकी वास्तविक शोभा तो इसीमें है कि वह अपने प्राणाधार प्रियतम को अपने अनुकूल बना ले। इसी प्रकार शास्त्रज्ञों का भूषण भी यही है कि वे परम प्रभु श्रीपरमात्मा को अपने अनुकूल कर लें। जहाँ भगवान् रहते हैं वहीं सारे गुण रहते हैं; अतः यदि भगवान् प्रसन्न हो गये तो मानो सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त हो गयी। इसीसे **'पतीन् शुश्रूषध्वं'** ऐसा कहा है। और इस पति-शुश्रूषा का प्रकार समझने के लिये **'शुश्रूषध्वं सतीः'** यह कहा है।

यहाँ व्रजाङ्गनाओं के लिये **'सतीः'** शब्द से क्या विवक्षित होगा? उनके लिये जो भिन्न यूथेश्वरियाँ हैं वे ही सती हैं। उनकी शुश्रूषा करने से ही वे अचिन्त्यानन्द-सुधासिन्धु भगवान् के सौन्दर्य एवं माधुर्य रस का समास्वादन कर सकेंगी, क्योंकि वे यूथेश्वरियाँ भगवान् को स्वाधीन करना जानती हैं। भगवान् का यह उपदेश पहले भी है कि यहाँ जो आह्लादिनीशक्तिस्वरूपा श्री रासेश्वरी हैं उनके कृपाकटाक्ष से ही यूथेश्वरी व्रजबालाओं को भगवान् को स्वाधीन करने का सामर्थ्य प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार अन्य गोपाङ्गनाओं को उन यूथेश्वरियों की सेवा करने से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है! अतः उन्हें उन्हींका आश्रय लेना चाहिये।

किन्तु इसके लिये व्रज में जाने की क्या आवश्यकता थी? इसका कारण बतलाते हैं—

"क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च तान्पाययत दुह्यत।"

यह ऐसी ही बात है जैसे **'मामनुस्मर युद्धच च।'** इधर अपनी प्राप्ति के लिये भगवान् उन्हें यूथेश्वरियों की सेवा करने का आदेश देते हैं और उधर इसके साथ ही

बालकों को दुग्ध-पान कराने और गोदोहन करने की भी आज्ञा दे रहे हैं। इससे सर्वसाधारण के लिये भगवान् का यही मत प्रतीत होता है कि उन्हें निरन्तर भगवत्स्मरण करते हुए अपने लौकिक और वैदिक कर्त्तव्यों का भी यथावत् पालन करते रहना चाहिये। स्त्रियों के लिये बालकों को दुग्धपान कराना आदि गृहकृत्य धर्म ही है। जिस प्रकार स्त्रियों के लिये युद्ध और वैश्यों के लिये व्यापार कर्त्तव्य है उसी प्रकार स्त्रियों को सब प्रकार के गृहकृत्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न करते रहना चाहिये।

इधर **'क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च तान्पाययत दुह्यत'** इस वाक्य से अन्य जीवरूप स्त्रियों के लिये भगवान् का यह उपदेश है कि जब तुम मेरी ओर आने लगते हो तो ये अज्ञानी इन्द्रियाधिष्ठाता देवगण अपने पशु को अपने अधिकार से बाहर जाता देखकर **'क्रन्दन्ति'**—चिल्लाने लगते हैं। ये विघ्न करने में समर्थ हैं इसलिये उस साधक के मार्ग में तरह-तरह के विघ्न उपस्थित कर देते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है—

'त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः स्वौको विलङ्घ्य व्रजतां परमं पदं ते।'

देवता लोग नहीं चाहते कि यह प्राणी उनके पञ्जे से निकलकर भगवद्धाम में प्रवेश करे। श्रुति भगवती कहती है **'नैतद्देवानां प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः'** अतः ऐसी परिस्थिति होने पर ये बालक और वत्सरूप देवगण क्रन्दन करने लगते हैं। बाल अज्ञ को कहते हैं। देवता लोग भोगप्रधान हैं, अभोक्ता आत्मतत्त्व में उनकी गति नहीं है इसलिये वे **'बाल'** हैं तथा ऐसी पाशविक प्रवृत्ति के कारण ही उन्हें **'वत्साः'** कहा गया है। देवताओं को **'असुर'** भी कहा गया है—**'असुर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः।' 'असु'** शब्द का अर्थ प्राण है; **'असुषु रमन्त इति असुराः'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार देवताओं को असुर कहा गया है, क्योंकि उनकी प्रवृत्ति प्राणादि अनात्मा के पोषण में ही है।

जिस समय देवासुर-संग्राम में देवताओं को विजय प्राप्त हुई तो वे भगवान् को भूलकर अभिमानवश उसे अपना ही पुरुषार्थ समझने लगे। वे इस बात को भूल गये कि हमारे देह, इन्द्रिय एवं अन्तःकरण आदि सभी जड़ हैं। सर्वान्तर्यामी श्रीहरि की प्रेरणा के बिना उनमें कुछ भी गति नहीं हो सकती।

"ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥"

इस प्रकार देवताओं को मोहवश असुरभाव को प्राप्त होते देखकर भगवान् ने उनका मानमर्दन किया और तब उनकी आँखें खुलीं।

परन्तु देवताओं का यह असुरत्व सापेक्ष है। जो लोग जगन्मोहिनी माया के अधिकार को पार कर गये हैं, जिनका बुद्ध्यादि में आत्मत्वाभिनिवेश सर्वथा गलित

हो गया है और जिन्हें निखिल प्रपञ्च अपने स्वरूपभूत चिदाकाश में प्रतीत होते हुए तलमालिन्य के समान सर्वथा असत् अनुभव होता है, उन तत्त्वनिष्ठ जीवन्मुक्तों की अपेक्षा से ही वे **'असुर'** हैं। अन्य मनुष्यों एवं असुरों की अपेक्षा तो वे **'सुर'** ही हैं।

वस्तुतः सारा विवाद व्यष्टि-अभिमान में ही है। व्यष्टि-अभिमान के कारण ही जीव अपने को पण्डित, बुद्धिमान्, ऐश्वर्यशाली, सुखी, दुःखी अथवा अशक्त समझता है। यदि इस परिच्छिन्नत्वाभिमान को छोड़कर समष्टि में आत्मबुद्धि हो जाय तो फिर कोई विवाद नहीं रहता। आज हम थोड़ी-सी विद्या का अभिमान करते हैं; किन्तु उस समय तो **'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितये तद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः'** इत्यादि श्रुति के अनुसार वेद भी हमारे ही निःश्वास मात्र रह जाते हैं; विद्वान्-अविद्वान्, धर्मात्मा-पापी, सुखी-दुःखी—सब हमारे ही स्वरूप हो जाते हैं और सारा विश्व-प्रपञ्च हमारा ही भ्रुकुटि-विलास हो जाता है। आज हम थोड़े से आदमियों को अपना बन्धु कहते हैं तथा अन्य पुरुषों के प्रति हमारा द्वेष या औदासीन्य है, परन्तु जहाँ **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** सारा संसार हमारा परिवार है वहाँ सब अपने ही हो जाते हैं। फिर विरोध के लिये कहीं स्थान नहीं रहता।

अतः परिच्छिन्नत्वाभिनिवेश ही सारे अनर्थ का मूल है। इसकी निवृत्ति होते ही सम्पूर्ण अनर्थों का मूलोच्छेदन हो जाता है। फिर उसके सारे दोष निवृत्त हो जाते हैं। किन्तु प्राणी उलटा समझता है। इसीसे कहा है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।'**

देवता लोग इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं। वे इन्द्रियद्वार में आसन जमाये बैठे हैं। यदि तुम उन्हें सन्तुष्ट न रखोगे तो विषयरूप शत्रुओं का आक्रमण होने पर वे उन्हें तुम्हारे अन्तःकरण में प्रवेश करने से नहीं रोकेंगे। फिर तुम्हारी विषय-विचलित बुद्धि भगवान् में नहीं लग सकेगी; और तुम भगवन्मार्ग से च्युत हो जाओगे। अतः यदि तुम विषय-वात के विक्षेप से बचकर अपने चित्त को परमानन्दघन श्रीभगवान् में समाहित करना चाहते हो तो इन द्वारपालों को सन्तुष्ट करो। इसीसे भगवान् कहते हैं—**'तान् पाययत'** (उन्हें पिलाओ) क्या पिलाओ ? सोम। तात्पर्य यह है कि जिन-जिन देवताओं के लिये जो-जो द्रव्य विहित है उन-उन द्रव्यों का निक्षेप करके उन्हें सन्तुष्ट करो। इस प्रकार उन्हें पिलाकर फिर उन्हींसे 'दुह्यत'—अपना अभीष्ट फल दुहो। श्रीगीताजी में भगवान् अर्जुन से कहते हैं—

> **"देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।**
> **परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥"**

इस प्रकार परस्पर एक-दूसरे को प्रसन्न रखने से ही तुम परम श्रेय की प्राप्ति कर सकोगे। यहाँ परम श्रेय से परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति समझनी चाहिये, जिससे बढ़कर कोई और लाभ नहीं है—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'** अतः,

भगवान् कहते हैं—यदि तुम मेरी प्राप्ति करना चाहते हो तो देवताओं के लिये विहित द्रव्य का निक्षेप करके उनका आप्यायन करो, क्योंकि यदि देवताओं के आप्यायन के लिये तुम यज्ञ-दानादि में लग जाओगे तो तुम्हारी पाशविक प्रवृत्तियाँ छूट जायँगी। उनके छूट जाने से तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा और फिर शम-दमादि की प्राप्ति होने पर श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा तुम भगवान् को प्राप्त कर लोगे। इस प्रकार देवताओं का आप्यायन और उनसे अपने अभिमत फल का दोहन करते हुए ही तुम सत्पुरुषों का आश्रय लो। यदि उनका आप्यायन न करते हुए तुम सत्पुरुषों का सेवन करोगे तो वहाँ भी विघ्न हो जायगा। इसीसे गुरु-शिष्यों में विद्वेष होता देखा गया है। शान्ति-पाठ में कहा है--

"सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।"

यहाँ **'मा विद्विषावहै'** इस पद से जो द्वेषनिवृत्ति के लिये प्रार्थना की गयी है यह गुरु-शिष्य में द्वेष की सम्भावना होने पर ही उपपन्न हो सकती है। संसार में जितना भी लौकिक-वैदिक व्यवहार है वह माया के ही आश्रय से होता है। अतः सभी जगह राग-द्वेषादि की सम्भावना हो सकती है। किन्तु यदि तुम देवताओं का आप्यायन करोगे तो तुम्हारा इन्द्रियग्राम सबल और सतेज होगा। तभी तुम उसके द्वारा सम्यक् प्रकार से गुरुसेवा कर सकोगे और उनके किये हुए तिरस्कारादि को सहन कर सकोगे।

इस प्रकार अपरिपक्व व्रजाङ्गनाओं और अपरिपक्व जीवों के लिये भगवान् ने यह सत्पुरुषों के समाश्रयणपूर्वक स्वधर्मपालन का आदेश किया है। जो लोग अपने कर्त्तव्य कर्म का अनुष्ठान करते हुए सद्गुरु की शरण में रहने से साधनसम्पन्न हो गये हैं, जिनकी सारी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियाँ शान्त हो गयी हैं उन्हींके लिये भगवान् ने कहा है—**'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।'**

भगवान् की यह शैली है कि वे नैष्कर्म्य का उपदेश नहीं करते। वह तो फलरूप से स्वतः प्राप्त होगा। इसी प्रकार गोपाङ्गनाओं के लिये जो परमानन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्र के सौन्दर्य-माधुर्य-सुधारस का आस्वादन है वह फलरूप है। साधन का परिपाक होने पर वह तो उन्हें स्वयं प्राप्त होगा। वह उनके लिये कर्तव्य नहीं है—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।'**

वे श्रुतिरूपा व्रजाङ्गनाएँ विवेकी अन्तःकरणरूप वृन्दारण्य में स्थित परब्रह्म-रूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के पास गयीं। वे परमात्मा श्रुतियों का तात्पर्य अपने में सुदृढ़ करने के लिये **'स्थूणानिखननन्याय'** से उनकी निष्ठा को विचलित करने के लिये उनसे कहते हैं--**'तद्यात गोष्ठम्'** अर्थात् तुम अपने समुदाय को ही जाओ। तुम्हारा

अधिकांश समुदाय साध्य-साधनरूप कर्म का ही प्रतिपादन करता है; अतः तुम्हारा तात्पर्य भी कर्म में ही होना चाहिये। तुम क्यों निर्विशेष शुद्ध चैतन्य-रूप सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करने की चेष्टा करती हो। श्रुतियों का तात्पर्य आपाततः तो कर्म में ही प्रतीत होता है, उसके लिये विशेष विवेचन की आवश्यकता नहीं होती। वे परब्रह्मपरक हैं—इसका निर्णय करने के लिये तो उपक्रम, उपसंहार, अपूर्वता आदि का ज्ञान होने की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार 'विषं भुङ्क्ष्व' इस वाक्य का सीधा-सादा अर्थ **'विष खाओ'** आपाततः प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः इसका तात्पर्य शत्रुगृह में भोजन से निवृत्त करना है। इस बात को समझने के लिये कुछ विशेष ऊहापोह को आवश्यकता होती है। श्रुति कहती है—**'सोऽरोदीद्यद्रोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं तस्य यदश्रु व्यशीर्यत्तद्रजतम्'** अर्थात् 'वह रोया, यही रुद्र का रुद्रत्व है, उसका जो आँसू गिरा वह चाँदी हो गया [इसलिये जो चाँदी देता है उसे रोना पड़ता है]' यह इसका आपाततः प्रतीयमान अर्थ है। किन्तु इसका तात्पर्य यही है कि बर्हियाग में चाँदी का दान नहीं करना चाहिये, जैसा कि श्रुति कहती है—**'बर्हिषि रजतं न देयम्'** इत्यादि।

सृष्टि-प्रतिपादक वाक्यों का सृष्टि-प्रतिपादनपरत्व तो आपाततः प्रतीत होता है; परन्तु यह बात कि उनका तात्पर्य सृष्टि में न होकर निखिल प्रपञ्च की परब्रह्मरूपता प्रतिपादन करने में है विशेष ऊहापोह करने पर ही ज्ञात होती है। इसके लिये हमें तर्क का आश्रय लेना पड़ेगा। **'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गं'** फलवान् के समीप में रहनेवाला निष्फल उसीका अङ्ग हुआ करता है। ब्रह्मबोधक वाक्य मुक्तिफल से युक्त है, सृष्टि-वाक्य में कोई फल श्रुत नहीं है। अतः सृष्टिवाक्य ब्रह्मबोधक वाक्य का अङ्ग होकर ब्रह्मबोधन में ही अपना तात्पर्य रखता है। जिस प्रकार मृत्तिका से उत्पन्न हुआ घट घटोत्पत्ति से पूर्व, घटध्वंस के पश्चात् और इस समय भी केवल मृत्तिका ही है उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न और उसीमें स्थित और लीन होनेवाला जगत् ब्रह्म ही है। वस्तुतः जगत् ब्रह्म से उत्पन्न नहीं हुआ। यदि ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति मानी जाय तो ब्रह्म का सावयवत्व, विकारित्व और सुख-दुःखात्मकत्व सिद्ध होगा; क्योंकि यह नियम है कि कार्य में कारण के ही गुण रहा करते हैं, अतः प्रपञ्च में जो गुण दिखाई देते हैं वे उसके कारण ब्रह्म में भी होने ही चाहिये। इसलिये, जिस प्रकार 'विषं भुङ्क्ष्व' इस वाक्य का आपाततः प्रतीयमान अर्थ छोड़कर इसका तात्पर्य शत्रु के घर का अन्न छोड़ने में माना गया उसी प्रकार हमें सृष्टि-प्रतिपादक वाक्यों का सीधा-सादा अर्थ छोड़कर ब्रह्म में ही तात्पर्य मानना पड़ेगा।

अतः हे श्रुतियो! तुम इधर परब्रह्म के प्रतिपादन का प्रयत्न क्यों करती हो? जाओ साध्यसाधनरूप प्रपञ्च का ही प्रतिपादन करो। इसमें विशेष आयास भी नहीं है। देखो, **'कदाचनस्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'** यह श्रुति स्पष्टतया इन्द्र का ही

प्रतिपादन करती है; इसी प्रकार कोई श्रुति पुरोडाश की स्तुति करती है; जैसे—**'स्योनं ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि, तस्मिन् सीद अमृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः'** ।

श्रुतियों का जो शब्दार्थ होता है वह आपाततः ही प्रतीत हो जाता है—**'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'** इस वाक्य के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतः जिन इन्द्र, वरुण, वायु आदि देवताओं का श्रुतियाँ आपाततः प्रतिपादन कर रही हैं वे ही श्रुतियों के पति हैं, उन्हींकी तुम सेवा करो; परपुरुषरूप निर्विशेष ब्रह्म का आश्रय मत लो।

यहाँ जो **'सतीः'** शब्द में द्वितीया है वह प्रथमा के अर्थ में है। इसका तात्पर्य यह है कि **'पतीन् शुश्रूषध्वं यस्माद्यूयं सत्यः'**—तुम पतियों (अपने प्रतिपाद्य देवताओं) की सेवा करो क्योंकि तुम सती हो। और यदि **'सतीः'** शब्द को द्वितीयान्त ही माना जाय तो इस वाक्य का अर्थ होगा—**'सतियों की सेवा करो'**। सतियाँ वे श्रुतियाँ हैं जो अपने प्रतिपाद्य देवताओं का ही प्रतिपादन करती हैं, परब्रह्म तक नहीं दौड़तीं। तुम उन्हींका अनुगमन करो; क्योंकि मीमांसकों का जबरदस्त आग्रह है कि **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'** अर्थात् 'वेद क्रियार्थ है, इसलिये जो वाक्य क्रियार्थ नहीं हैं उनका कोई प्रयोजन नहीं है।'

मीमांसकों का मत है कि विधि-निषेधरूप से क्रियापरक होने पर ही वाक्य की सार्थकता है। विधि-वाक्य इष्टप्राप्ति का उपदेश करने के कारण सार्थक है; जैसे—**'ज्वरितः सन् पथ्यमश्नीयात्'** (ज्वरग्रस्त होने पर पथ्य भोजन करे) इसी प्रकार **'अग्निहोत्रं जुहुयात्'**, **'स्वर्गकामो यजेत्'** आदि वाक्यों की अर्थवत्ता है। तथा निषेध-वाक्य अनिष्ट-परिहार का उपाय उपदेश करने के कारण सार्थक है, जैसे—**'सर्पाय अङ्गुलिं न दद्यात्'** (सर्प को अंगुली मत पकड़ाओ)। इसी प्रकार **'ब्राह्मणो न हन्तव्यः'** आदि वाक्य समझने चाहिये। परन्तु 'यह राजा जाता है', 'पृथ्वी सात द्वीपोंवाली है' इत्यादि सिद्ध-वस्तु-प्रतिपादक वाक्य और **'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'** (वायु शीघ्रगामी देवता है) इत्यादि अर्थवाद किसी क्रिया में उपयोगी न होने के कारण व्यर्थ हैं।

अब यहाँ सन्देह किया जा सकता है कि अर्थवाद को सार्थक न मानने पर तो उसका शास्त्रत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि **'शिष्यते हितमुपदिश्यतेऽनेन इति शास्त्रम्'** इस लक्षण के अनुसार शास्त्र उसीको कहते हैं जो हित का उपदेश करता है; जिस उक्ति का कोई प्रयोजन नहीं होता उसे शास्त्र नहीं कहा जा सकता, वह तो उन्मत्तप्रलापवत् उपेक्षणीय ही होती है। वाचस्पति मिश्र का कथन है—**"प्रतिपित्सितं त्वर्थं प्रतिपादयन्प्रतिपादयितावधेयवचनो भवति। अप्रतिपित्सितन्तु प्रतिपादयन्नायं लौकिको नापि परीक्षक इत्युन्मत्तवदुपेक्ष्यः स्यात्।"** किन्तु वस्तुतः अर्थवाद का अशास्त्रत्व माना नहीं गया, क्योंकि **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** इस विधि से

स्वाध्यायपदवाच्य समस्त वेदराशि का [आचार्य-परस्परा से] अध्ययन करने का विधान किया गया है। समस्त वेदराशि के अन्तर्गत तो अर्थवाद भी है ही। और गुरुपरम्परापूर्वक वेदाध्ययन का 'घृतकुल्या पयःकुल्यादि' की प्राप्तिरूप अदृष्ट फल भी बतलाया गया है। इसके सिवा श्रौतसूत्रकार करकाचार्यजी भी कहते हैं कि '**वेदे मात्रामात्रस्याप्यानर्थक्यं न वक्तुं शक्यम्**' अर्थात् वेद में एक मात्रा की व्यर्थता नहीं बतलायी जा सकती। अतः मीमांसक को अर्थवाद की सार्थकता अवश्य बतलानी चाहिये।

मीमांसक कह सकता है कि विधि के साथ एकवाक्यतापन्न होकर विधिविहित अर्थ की स्तुति करने में अर्थवाद का उपयोग होता है; इसी तरह ये सार्थक हो सकते हैं। किन्तु वेदाध्ययन से घृतकुल्या, पयःकुल्या आदि अदृष्ट फल की कल्पना करने को क्या आवश्यकता है? इससे तो वेदार्थज्ञानरूप दृष्ट फल हो प्राप्त हो जाता है; और दृष्ट फल के रहते हुए अदृष्ट फल की कल्पना करना व्यर्थ है।

इसपर शङ्का होती है कि यदि ऐसी बात है तो वेदार्थ-ज्ञान स्वतन्त्रता से स्वयं वेदाध्ययन कर लेने से ही हो सकता है; उसके लिये '**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**' इस वाक्य से आचार्यपरम्परापूर्वक अध्ययन करने की ही विधि क्यों की गयी है?

उत्तर में कहा जा सकता है कि गुरुपरम्परापूर्वक अध्ययन करने से वेद संस्कृत होता है और संस्कृत वेद ही यज्ञ-यागादि में उपयोगी है। इसलिये यह विधि सार्थक है। वेदाध्ययन से वेदार्थ ज्ञान की निष्पत्ति तो अन्वय-व्यतिरेक से स्वतः सिद्ध है। जिस प्रकार भोजन करनेवाले पुरुष को तृप्ति हो ही जाती है उसी प्रकार जो कोई वेदाध्ययन करेगा उसे वेदार्थज्ञान होगा ही। इसमें विधि की आवश्यकता नहीं है। विधि की सार्थकता अप्राप्त विषय का प्रतिपादन करने में ही होती है। जिस प्रकार तण्डुलनिष्पत्ति नखविदलन से भी हो सकती है और मुसलावहनन से भी। किन्तु यागादि में मुसलावहनन ही करना चाहिये; इसीलिये '**व्रीहीनवहन्ति**' यह विधि की गयी है। इसका फल अदृष्ट होता है। इसी प्रकार वेदार्थ का ज्ञान गुरु से अध्ययन करने पर भी हो सकता है और व्युत्पन्नमति पुरुषों को स्वयं अपने बुद्धि-बल से भी हो सकता है। इसीसे यह विधि की गयी है कि '**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**' अर्थात् गुरुपरम्परा से ही अध्ययन करना चाहिये। इसीसे वेदाध्ययन सार्थक होगा। वेदाध्ययन से वेदार्थ का ज्ञान होगा, तब वेदार्थ का अनुष्ठान किया जायगा और उससे स्वर्गादि की प्राप्ति होगी। इस प्रकार दृष्ट फल के साथ वह अदृष्ट फल का भी जनक होगा।

'**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्**' इस सूत्र के अनुसार अर्थवाद की सार्थकता न होने से अर्थवाद उत्तप्त हो रहा है और इसी प्रकार विधि भी उत्तप्त

है; क्योंकि स्वभावत: विधि में लोगों की प्रवृत्ति नहीं होती। उसमें प्रवृत्ति होने के लिये उसकी स्तुति की आवश्यकता है।

पहले यह पद्धति थी कि बड़े-बड़े राजा लोग सभाएँ कराया करते थे। उनमें शास्त्रार्थ होता था। वहाँ जो विद्वान् विजयी होता था उसका बहुत आदर-सत्कार किया जाता था। उस सम्मान के प्रलोभन से ही विद्वान् लोग न्याय, मीमांसा आदि शुष्क विषयों का भी अध्ययन करते थे। इस प्रकार जिस कर्म की महत्ता सत्पुरुषों में प्रसिद्ध होती है उसीमें लोगों की प्रवृत्ति हुआ करती है। वैदिक एवं स्मार्त्त कर्मों में भी लोगों की तभी प्रवृत्ति हो सकती है जब लोग उन कर्मों को करनेवालों का आदर करें। ऐसा तो कोई विरला ही विद्वान् होता है जो आदर आदि की अपेक्षा न रखकर कर्त्तव्य-बुद्धि से ही शास्त्र-रक्षा करे। यह बात अवश्य है कि ऐसे महानुभावों का भी सर्वथा अभाव नहीं है। इस समय यद्यपि अश्वमेध, राजसूय एवं अग्निष्टोम आदि यज्ञों को कोई नहीं पूछता तो भी ऐसे भी ब्राह्मण हैं जिन्होंने शुष्क इष्टियों द्वारा अश्वमेधादि कृत्यों का अभ्यास किया है और आवश्यकता पड़ने पर वे उनका अनुष्ठान करा सकते हैं।

देखो, शास्त्र कह रहे हैं—**'अहरहः सन्ध्यामुपासीत', 'अग्निहोत्रं जुहुयात्', 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।'** किन्तु इन विधिवाक्यों से प्रेरित होकर आज कितने आदमी उनका पालन करते हैं? किन्तु जनता में हरिनाम-संकीर्तन की थोड़ी-सी महिमा प्रसिद्ध होने के कारण उसका प्रचार दिनों-दिन बढ़ रहा है। इससे सिद्ध हुआ कि विधि में प्रवृत्ति होने के लिये उसकी स्तुति की आवश्यकता है। अत: इधर अर्थवाद अपनी सार्थकता के लिये और विधि अपने में प्रवृत्ति होने के लिये उत्तप्त थे, उन्होंने 'नष्टाश्वरथदग्धन्याय'[1] से परस्पर एक-दूसरे की कार्यसिद्धि की। अर्थवाद ने विधि की स्तुति करके विधि में रुचि उत्पन्न की और विधि ने अर्थवाद को अपने फल से फलवान् बना दिया।

इसी प्रकार मन्त्रों की सार्थकता के विषय में भी प्रश्न होने पर उनका उपयोग द्रव्य और देवताओं के स्मारक होने में है यह समाधान किया जाता है।

इस तरह विधि, निषेध, अर्थवाद और मन्त्र इन सभी का प्रामाण्य क्रियापरत्वेन ही है। इसीसे भगवान् श्रुतिस्वरूपा व्रजाङ्गनाओं से कहते हैं कि अपने प्रामाण्य के लिये तुम अपने समुदाय का ही अनुगमन करो। जिस प्रकार तुम्हारा समुदाय क्रिया-

---

१. दो राजा वन में गये हुए थे। उनमें से एक का घोड़ा मर गया और दूसरे का रथ नष्ट हो गया। वे आपस में मिल गये। उनमें से एक ने अपना रथ दिया और दूसरे ने घोड़ा। इस प्रकार परस्पर मिलकर वे उस वन से निकलकर सकुशल नगर में पहुँच गये। इसे 'नष्टाश्वरथदग्धन्याय' कहते हैं।

परक है उसी प्रकार तुम भी क्रियापरक हो जाओ, शुद्ध चैतन्यरूप सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन मत करो।

यदि कहा जाय कि हमारा अप्रामाण्य हो जाने दो तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि तुम सती—अपौरुषेय होने से सर्वदोष-विवर्जित हो, तुम्हें मीमांसकों का सङ्ग छोड़ना उचित नहीं है। कुछ 'द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः' इत्यादि श्रुतियाँ कह सकती हैं कि मीमांसक तो हमारे स्वार्थ का ही अपलाप करते हैं, क्योंकि वे हमारे सर्वस्व परब्रह्म की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते, फिर हमीं उनकी अपेक्षा क्यों करें ? परन्तु यह विचार ठीक नहीं है। मीमांसक जो ईश्वर का खण्डन करते हैं वे केवल वेदनिर्मातृत्वेन उसे स्वीकार नहीं करते; क्योंकि नैयायिकों के मतानुसार अनुमानसिद्ध सर्वज्ञ ईश्वरकृत होने के कारण वेदों का प्रामाण्य है; और इधर ईश्वर के सर्वज्ञत्व का ज्ञान भी वेद से ही होता है। इस प्रकार वेद और ईश्वर इन दोनों में अन्योन्याश्रय दोष की प्राप्ति होती है। इसके सिवा एक दोष यह भी है कि जिन युक्तियों से अनुमान करके नैयायिक वेदनिर्माता ईश्वर का सर्वज्ञत्व सिद्ध करते हैं, उन्हीं युक्तियों से बौद्ध, ईसाई और यवन लोग अपने धर्मग्रंथों के निर्माताओं को सर्वज्ञ सिद्ध कर सकते हैं। वेदान्तदर्शन के मत में भी ईश्वर की सिद्धि अनुमान से नहीं, बल्कि शास्त्र से ही होती है; जैसा कि **'शास्त्रयोनित्वात्', 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि', 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है।

इसीसे शास्त्ररक्षक का आदर भगवान् भी करते हैं। वे कहते हैं—**'विप्रप्रसादाद्धरणीधरोऽहम्।'** अतः मीमांसक लोग वेद का प्रामाण्य ईश्वरकृत होने के कारण नहीं मानते। बल्कि अपौरुषेय होने के कारण मानते हैं। इसीसे उन्होंने जो ईश्वर का खण्डन किया है वह इसीलिये है कि उन्हें ईश्वरनिर्मितत्वेन वेद का प्रामाण्य इष्ट नहीं है। वह स्वतः प्रमाण है।

उत्तर मीमांसा और पूर्व मीमांसा का यह सिद्धान्त है कि प्रमाण स्वतः प्रमाण हुआ करता है; उसका अप्रामाण्य परतः होता है। यदि प्रमाण का प्रामाण्य परतः माना जायगा तो जिस प्रमाण से उसका प्रामाण्य सिद्ध किया जायगा उसके प्रामाण्य की सिद्धि के लिये किसी तीसरे प्रमाण की अपेक्षा होगी और उनके प्रामाण्य के लिये चौथे प्रमाण की आवश्यकता होगी। इस प्रकार अनवस्था का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। वेदातिरिक्त अन्य ग्रन्थों का भी प्रामाण्य तो स्वतः सिद्ध है किन्तु पौरुषेय और सादि होने के कारण उनका अप्रामाण्य परतः है। उनका पौरुषेयत्व और सादित्व तो उन्हींसे सिद्ध होता है। कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता; अन्यथा अनेक सर्वज्ञ मानने पड़ेंगे। यदि अनेक सर्वज्ञ माने जायँ तो उनके कथन में विरोध नहीं होना चाहिये। परन्तु ऐसी बात है नहीं; जीवमात्र में अल्पज्ञत्व, सातिशयत्व

और करणापाटव आदि दोष रहते ही हैं। इसलिये उनके रचे हुए ग्रन्थ भी प्रामाणिक नहीं हो सकते।

जिस प्रकार अन्य ग्रन्थों का पौरुषेयत्व प्रदर्शित किया जा सकता है उस प्रकार वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। यदि पूछा जाय कि इसमें प्रमाण क्या है? तो परोक्ष वस्तु के अभाव में तो प्रमाणाभाव ही पर्याप्त प्रमाण होता है। हम तो वेद के कर्त्ता का अभाव बतला रहे हैं, अतः उसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। कहा जा सकता है कि ऐसे भी कितने ही ग्रन्थ हैं कि जिनके कर्त्ता का ज्ञान नहीं है; तो क्या उन्हें भी अपौरुषेय ही मानना चाहिये? इसमें हमारा कथन यह है कि उन ग्रन्थों की सम्प्रदाय-परम्परा का विच्छेद देखा जाता है, इसलिये वे अपौरुषेय नहीं हो सकते। किन्तु वेदों की सम्प्रदाय-परम्परा का विच्छेद नहीं हुआ, क्योंकि उसके विच्छेद में कोई प्रमाण नहीं है।

यदि कहा जाय कि कहीं-कहीं वेदों की उत्पत्ति भी तो सुनी जाती है; जैसे—**'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेव ऋग्वेदो यजुर्वेदः'** इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। यह कथन ठीक है किन्तु इसके साथ ही **'वाचा विरूप नित्यया'**, **'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा'** आदि वाक्यों से उनका नित्यत्व भी प्रमाणित होता है। अतः इन दोनों प्रकार के वाक्यों की एकवाक्यता होनी चाहिये। इनका अभिप्राय केवल यही है कि पूर्व कल्प की आनुपूर्वी के समान इस कल्प के आरम्भ में भी भगवान् स्वयम्भू से उसी आनुपूर्वी के अनुस्मरणपूर्वक वेदों का आविर्भाव हुआ।

इसीसे भगवान् कहते हैं कि तुम अपने समुदाय में जाओ, क्योंकि मीमांसक भी परब्रह्म परमात्मा का खण्डन नहीं करते। वे केवल न्यायप्रतिपादित अनुमानसिद्ध सर्वज्ञ ईश्वर को स्वीकार नहीं करते, अपौरुषेय वेदप्रतिपादित सर्वज्ञ ईश्वर का खण्डन वे कभी नहीं करते। कर्मफल देनेवाला या कर्म में देवतादिरूप से ईश्वर उन्हें भी मान्य है ही परन्तु तुम स्वतन्त्र विधि निरपेक्ष अद्वैत ब्रह्म में मत आसक्त हो।

अतः तुम साध्यसाधनमय प्रपञ्च का ही प्रतिपादन करो, निर्विशेष परब्रह्म का प्रतिपादन करने का प्रयत्न मत करो। इसमें **'मा चिरम्'**—देरी भी नहीं होगी। इसलिये **'शुश्रूषध्वं पतीन्'**—अपने-अपने प्रतिपाद्य देवताओं का ही प्रतिपादन करो।

यह सुनकर मानों श्रुतियों को यह सन्देह हुआ कि यदि हम अनन्त परब्रह्म का ही प्रतिपादन करेंगी तो अन्य देवता तो उसीमें आ जायँगे, क्योंकि वे भी तो ब्रह्म से अभिन्न ही हैं। यह नियम है कि कार्यगत सत्ता कारण में ही रहती है, अतः समस्त कार्य का पर्यवसान कारण में ही होता है। जिस प्रकार मृत्तिका का प्रतिपादन कर देने पर घटादि का भी प्रतिपादन हो ही जाता है उसी प्रकार सबके अधिष्ठानभूत परब्रह्म का प्रतिपादन करने पर अवान्तर देवताओं का प्रतिपादन भी हो ही जाता है। वास्तव में तो सत्तामात्र शुद्ध ब्रह्म ही सम्पूर्ण शब्दों का वाच्य है;

क्योंकि यह निखिल प्रपञ्च उसीसे तो उत्पन्न हुआ है—'**तस्मादेतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतआकाशाद्वायुः।**' अतः यह ब्रह्मरूप ही है।

इसलिये यदि व्रजाङ्गनाएँ अपने प्राकृत पतियों को छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र के पास गयीं तो उनका पातिव्रत भंग नहीं हुआ, क्योंकि—

"**गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।**
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥"

जिस प्रकार तरङ्ग समुद्र से भिन्न नहीं होती, इसलिये यदि एक तरङ्ग के साथ दूसरी तरङ्ग का सम्बन्ध है तो वस्तुतः वह सम्बन्ध समुद्र के हो साथ है; क्योंकि वही समस्त तरङ्गों का अधिष्ठान है, इसी प्रकार समस्त जीवों के अधिष्ठान साक्षात् परब्रह्म भगवान् कृष्णचन्द्र ही हैं। अतः श्रुतियों को यह विचार हुआ कि यदि हम परब्रह्म का ही प्रतिपादन करेंगी तो भी हमारा पातिव्रत भंग नहीं होगा।

इसपर भगवान् कहते हैं—'सच है, मेरे साथ सम्बन्ध करने से तुम्हारा पातिव्रत तो भंग नहीं होगा तथापि '**क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च**'—ये बालक और बछड़े तो रो रहे हैं। इनपर दया करनी चाहिये। ये अज्ञानी हैं, अपने अधिष्ठानभूत मुझ परब्रह्म को नहीं जानते, इसलिये बाल हैं; तथा इनकी प्रवृत्ति अनात्म पदार्थों में है, इस पाशविक प्रवृत्ति के ही कारण ये वत्स हैं। तुम्हें चाहिये कि इनपर दया करके इन्हें इनके इष्ट पदार्थ सोमादि का प्रदान करो।

यदि विचार किया जाय तो उपास्य-उपासना का पर्यवसान तो प्रेमातिशय में होता है। उसके लिये उपासना साधन है। 'भक्ति' शब्द के भी दो अर्थ हैं—'**भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनया सा भक्तिः**' अर्थात् जिसके द्वारा भगव-दाकार वृत्ति की जाय उसे भक्ति कहते हैं और दूसरा '**भजनं भक्तिः**' भगवदाकार वृत्ति ही भक्ति है। इस प्रकार भक्ति साध्य भी है और साधन भी। इसी प्रकार 'उपा-सना' शब्द का भी तात्पर्य यह है—'**लक्ष्यमुपेत्य यद्दीर्घकालं नैरन्तर्येणादरपूर्वकमासनं तदुपासनम्**' अर्थात् अपने लक्ष्य तक पहुँचकर जो दीर्घ काल तक अव्यवहित रूप से उसकी सन्निधि में रहता है उसका नाम उपासना है। इस तरह यदि हम अपने ध्येय का दीर्घकाल तक सेवन करेंगे तो उसके प्रति हमारे हृदय में राग उत्पन्न होगा।

"ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।"

भगवान् को इस उक्ति के अनुसार यदि हम विषय-चिन्तन करते-करते विषया-सक्त हो जाते हैं तो दीर्घकाल तक भगवच्चिन्तन करने पर उनमें भी हमारा राग हो ही जाना चाहिये। प्रेम आरम्भ में ही नहीं होता; वह तो दीर्घकाल तक सत्कारपूर्वक अपने प्रियतम का निरन्तर चिन्तन करते रहने पर ही होता है। जिस समय भगवान् में हमारा प्रेम होगा उस समय हमें उनकी प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा हो जायगी।

एक बात और ध्यान देने की है, प्रेम की अभिवृद्धि प्रेमास्पद में ही हुआ करती है। जो प्रेम करने योग्य नहीं होता उसका दीर्घकाल तक चिन्तन किया जाय तब भी उसमें प्रेम नहीं हो सकता। व्याघ्र और सर्पादि का जन्मभर चिन्तन करते रहो, उनमें प्रेम कभी नहीं होगा। उनमें तो द्वेष की ही वृद्धि होगी, प्रेम तो प्रेमास्पद में ही हो सकता है। चिन्तन से केवल योग्यता मिलती है। प्रेमास्पद का चिन्तन करने से प्रेम बढ़ता है और द्वेषका चिन्तन करने से द्वेष की वृद्धि होती है। विषय भी सुख के साधन हैं, इसलिये उनमें भी प्रेम हो जाया करता है। प्रेम दो ही में होता है— सुख में तथा सुख के साधन में। सुख के साधन में जो प्रेम होता है वह स्थायी नहीं होता, जब तक वह पदार्थ सुखप्रद रहता है तभी तक उसमें प्रेम रहता है। देखो, जल तभी तक प्रिय लगता है जब तक हमें तृषा रहती है। परन्तु सुख तो सदा ही प्रेमास्पद है। अतः निरतिशय प्रेम सुख में ही हो सकता है। केवल सुख-स्वरूप तो एकमात्र श्रीभगवान् ही हैं, इसलिये हमें उन्हींमें प्रेम करना चाहिये। प्रेम के इन दो भेदों को शास्त्र में सोपाधिक और निरुपाधिक प्रेम भी कहा है।

प्रेम के विषय में यह नियम है कि अत्यन्त नीच परिस्थिति में रहनेवाला पुरुष भी उसीको अधिकाधिक प्रेमास्पद समझता है जो जितना उसका अधिक आन्तरिक होता है। जो देहात्मवादी हैं, जिन्हें विविध प्रकार के सौख्योपभोग ही इष्ट हैं उनका प्रेम भी अधिकाधिक अन्तरंग में ही होता है। देखिये, पुत्रादि की अपेक्षा शरीर अधिक प्रिय है, शरीर को अपेक्षा मन अधिक प्रिय है; इसीसे मन उद्विग्न होने पर उसे शान्त करने के लिये आत्मघात तक कर लेते हैं। मन भी जब चञ्चलता के कारण अशान्ति का हेतु दिखाई देने लगता है तो उसके भी नाश का प्रयत्न किया जाता है। यहाँ तक की अन्त में अभ्यासी लोग बुद्धि का भी निरोध करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जो बुद्धि से लेकर स्थूल प्रपञ्च-पर्यन्त सम्पूर्ण दृश्यवर्ग का प्रकाशक है वह सर्वान्तरतम आत्मा ही निरुपाधिक परमप्रेम का आस्पद है। हमारा परमाराध्य प्रभु बहिरंग नहीं है। वेद-शास्त्र उसे सबका अन्तरात्मा कहकर प्रतिपादन करते हैं, अत: जो लोग भगवान् को बहिरंग समझते हैं वे वस्तुतः उपासना का रहस्य नहीं जानते। वह तो सर्वान्तरतम है। संसार के सारे पदार्थों का वियोग हो सकता है किन्तु भगवान् का वियोग कभी नहीं हो सकता; वह तो हमारा परम सखा है। श्रुति कहती है—

"द्वा सुपर्णा सहजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥"

वैष्णव आचार्यों का मत है कि जिस समय जीव ब्रह्मलोक को जाता है— जिन्हें कि वे वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत तथा नित्य वृन्दावन आदि नामों से पुकारते हैं- उस समय उसे लिंग शरीर छोड़ देना पड़ता है। ब्रह्मलोक को वे शबल ब्रह्म का धाम

नहीं मानते। वे उसे शुद्ध चिदानन्दघन भगवान् का चिन्मय धाम मानते हैं। अतः वहाँ जो जीव जाते हैं वे विरजा नदी में स्नान करने पर अपना लिंग शरीर त्याग देते हैं। इस प्रकार लिंग शरीर का तो हमसे वियोग हो जाता है किन्तु भगवान् का वियोग कभी नहीं होता।

अतः भगवान् हमारे नित्य सखा हैं। किन्तु मैत्री सर्वदा समान और सजातीय व्यक्तियों में ही हुआ करती है। अतः जिस प्रकार भगवान् 'सच्चिदानन्द दिनेश' हैं उसी प्रकार जीव भी 'चेतन अमल सहज सुखराशी' है। इसलिये जो उनके स्वभाव में भेद मानते हैं वे ठीक-ठीक नहीं जानते। भगवान् तभी जीव के परमप्रेमास्पद हो सकते हैं जब कि जीव को उनका नित्य सम्बन्धी माना जाय। अतः उपासना का ठीक रहस्य वही जानता है जिसे उपास्य और उपासक के अभेद का निश्चय है। अन्यथा—

"अन्योऽसावन्योऽहमस्मि न स वेद यथा पशुः।"

जो ऐसे अनभिज्ञ लोग हैं वे ही सर्वमिथ्यात्व निश्चय को सुनकर 'क्रन्दन्ति'—रोते हैं। वे अनभिज्ञ कर्मठ कहे जाते हैं। स्मरण रहे सब कर्मकाण्डी अनभिज्ञ नहीं होते। जो भगवत्प्राप्ति के लिये भगवदर्थ कर्म करते हैं वे तो परम विवेकी हैं। ऐसा कर्म करने के लिये तो भगवान् स्वयं आज्ञा दे रहे हैं—

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥"
"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥"

कर्मजड़ तो वे हैं जो ऐहिकामुष्मिक भोगों को ही परमपुरुषार्थ मानकर उन्हीं-की प्राप्ति के लिये सारे कर्म-धर्म करते हैं। उनके विषय में भगवान् कहते हैं—

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥"

वे लोग वेद के अर्थवाद में ही आसक्त रहते हैं। वे ही श्रुतियों का ब्रह्मपरत्व सुनकर घबराते हैं। वे अभय में भय देखते हैं। भगवान् गौड़पादाचार्य कहते हैं—

"अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिनाम्।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥"

जो वस्तुतः भगवत्तत्त्व के रहस्यज्ञ हैं वे तो यह सब देखकर उलटे प्रसन्न होते हैं। वे जानते हैं कि यदि वापी-कूपादि समुद्र में एकीभाव को प्राप्त हो जायँ तो उनकी

अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार अचिन्त्यानन्द सुधासिन्धु श्री भगवान् ही तो सारे सुख के अधिष्ठान हैं; यदि उनमें हमारे सारे क्षुद्र सुख समा जाते हैं तो आनन्द ही है।

जो लोग विषयासक्त हैं, जो '**यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये**' इस सिद्धान्त के माननेवाले हैं वे ही '**नेह नानास्ति किञ्चन**' इस सिद्धान्त को सुनकर रोते हैं। उन्हींके लिये कहा है—'**क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च।**' अतः तुम प्रपञ्च का सत्यत्व प्रतिपादन करके उन्हें ही तृप्त करो और उनके लिये अभीष्ट फलरूप दुग्ध दुहो। यह उनके प्रति तुम्हारी करुणा होगी। यद्यपि परब्रह्म की ही उपासना करने से तुम्हारा पातिव्रत भग्न नहीं होगा, क्योंकि '**तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन**' इस श्रुति के अनुसार विचारवानों के सारे जप-तप का परम लाभ ब्रह्मज्ञान ही है, तथापि दया तो करनी ही चाहिये। महानुभाव तो सर्वदा '**सर्वभूतहिते रताः**' ही हुआ करते हैं; अतः तुम भी उन्हें अभीष्ट वस्तु देकर उनका आप्यायन करो।

इस श्लोक का तात्पर्य यह भी हो सकता है कि समस्त प्राणियों की बुद्धियाँ ही व्रजाङ्गनाएँ हैं और भगवान् कृष्ण उनके साक्षी हैं। अतः 'तद्यात गोष्ठं मा' ऐसा पदच्छेद करके यह तात्पर्य समझना चाहिये कि अब तुम गोष्ठ को मत जाओ अर्थात् साध्यसाधनात्मक प्रपञ्च का प्रतिपादन मत करो, बल्कि '**शुश्रूषध्वं पतीन्।**' यहाँ 'पतीन्' इस पद में बहुवचन गौरवार्थ है। अर्थात् उपक्रम, उपसंहार, अपूर्वता आदि षड्विध लिंगों से मेरे में ही अपना तात्पर्य निश्चय करो। '**त्रैगुण्यविषया वेदाः**' यह भगवान् का कथन अविवेकियों की ही दृष्टि से है। विचारवानों का तो यही कथन है कि '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो।**' अतः त्रिगुणमय संसार के साथ संसर्ग करना ही अमंगल है। परब्रह्म परमात्मा का अनुस्मरण ही एकमात्र कल्याण का मूल है। अतः श्रुति प्रपञ्चपरक है—ऐसा प्रसिद्ध होने से तुम कलङ्कित हो जाओगी। और यदि त्रिगुणातीत शुद्ध परब्रह्म का प्रतिपादन करोगी तो तुम भी गुणातीत हो जाओगी और इससे तुम्हें महत्ता प्राप्त होगी।

परन्तु यह होगा कैसे? इसके लिये तुम '**शुश्रूषध्वं सतीः**' अर्थात् '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**' आदि जो श्रुतियाँ परब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, तुम उन्हींके सिद्धान्त का अनुसरण करो।

यहाँ अपने में बुद्धियों का निश्चय दृढ़ करना है; इसलिये मानों बुद्धियों के प्रति भगवान् कहते हैं कि '**पतीन् शुश्रूषध्वम्**' यहाँ उपाधिभेद के कारण बुद्धियों के अनेक पति उपपन्न हो सकते हैं। बुद्धि स्वभाव से ही नामरूपात्मक दृश्य की ओर जाती है। इसीसे भगवान् कहते हैं—'**तद्यात मा चिरं गोष्ठम्**' अर्थात् अब तुम और अधिक काल दृश्य की ओर मत जाओ। बल्कि दृश्य की ओर से निवृत्त होकर अपने अवभासक समस्त बुद्धियों के साक्षी सर्वान्तर्यामी परब्रह्म का ही चिन्तन करो। परन्तु ऐसा कोई-कोई ही कर पाता है; क्योंकि—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।"

इसलिये—

"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥"

अहा ! भगवान् का वह सौन्दर्यसुधा कितना महान् है । भगवत्पाद भगवान् शङ्कराचार्य प्रबोधसुधाकर में लिखते हैं—'अरी बुद्धि, तू तराजू के एक पलड़े में सारे संसार का सुख और दूसरे में परमानन्दकन्द भगवान् कृष्ण के सौन्दर्यसुधा का एक कण रख, तब तू देखेगी कि भगवान् का सौन्दर्यकण ही भारी है । अतः तू सांसारिक विषयों को छोड़कर भगवान् कृष्ण की सौन्दर्यसुधा का पान किया कर ।'

इसीसे भगवान् कहते हैं—'अरी बुद्धियो ! अब तुम गोष्ठप्रपञ्च में मत जाओ, वहाँ बहुत रह चुकीं । उस स्थान में तो पशु रहा करते हैं; तुम तो अपने परम प्रियतम मुझ परब्रह्म का ही आश्रय लो ।'

यदि कहो कि हम स्वतन्त्र नहीं हैं, हम कैसे आपकी ओर आयें ! तो भगवान् कहते हैं तुम अवश्य पराधीन हो, क्योंकि तुम करण हो और करण अपनी प्रवृत्ति के लिये कर्त्ता के अधीन हुआ करता है; अतः तुम प्रमाता को समझाओ । इसपर श्रुति कहती हैं—हम तो उसे बहुत समझाती हैं; परन्तु अब तो वह भी विवश है । जैसे दौड़नेवाला पुरुष यद्यपि पादसञ्चालन में स्वतन्त्र होता है तथापि वेग बढ़ जाने पर वह भी उस वेग के अधीन हो जाता है; फिर उसकी गति उसके अधीन नहीं रहती । इसी प्रकार यद्यपि प्रमाता जीव स्वतन्त्र है, तो भी बुद्धि से विषय चिन्तन करते रहने के कारण अब उसे विवश होकर उसी प्रकार की प्रवृत्ति में प्रवृत्त होना पड़ता है ।

दुर्गासप्तशती में सुरथ नामक राजा और समाधि नामक वैश्य का प्रसंग आता है । सुरथ शत्रुओं से पराजित होकर भागा था । उसका राज्य शत्रुओं के हाथ में चला गया था । अब उसमें उसका कोई स्वत्व नहीं रहा था तो भी उसे अपने सम्बन्धियों और हाथी-घोड़ों की स्मृति सताती थी । इसी प्रकार समाधि को उसके पुत्रादि ने घर से निकाल दिया था तो भी उसे घर और घरवालों की ही स्मृति बनी रहती थी । उन्होंने एक मुनिवर के पास जाकर इस अनभिमत चिन्ता का कारण पूछा । तब मुनि ने कहा—

"ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥"

अतः भगवान् कहते हैं—यदि तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होती तो 'शुश्रूषध्वं सतीः' भगवती शक्ति का समाश्रयण करो; क्योंकि—

"सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये ।
सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी ॥"

क्योंकि वह सर्वात्मिका है--**'या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता', 'या देवी सर्वभूतेषु विद्यारूपेण संस्थिता'** अपने से विमुख लोगों के लिये वही भ्रान्ति रूप से प्रकट होती है और अपने भक्तों के लिये वही परम कल्याणी विद्या देवी है।

"यच्च किंचित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा ॥"

अथवा 'सती' शब्द से सात्त्विकी वृत्ति भी विवक्षित हो सकती है। अतः इसका तात्पर्य यह है कि पहले सात्त्विक वृत्तियाँ जागृत करो। भगवान् का नाम जप करो, प्रभु का गुणगान करो और राजस-तामस वृत्तियों का त्याग करो। ऐसा करते-करते पीछे परब्रह्म परमात्माकाराकारिता वृत्ति हो जायगी।

इस प्रकार बुद्धियों को भगवान् का यही उद्देश्य है कि तुम गोष्ठ यानी साध्य-साधनात्मक संसार की ओर मत जाओ, बल्कि पतीन्—सम्पूर्ण बुद्धियों के साक्षी पर-ब्रह्म परमात्मा का ही आश्रय लो। बुद्धियाँ अपने चरम आश्रयभूत साक्षी का अवलम्बन न करके संसार में प्रवृत्त होती हैं और फिर उसीमें फँस जाती हैं। अतः भगवान् उन्हें उपदेश करते हैं कि तुम संसार से विरत होकर अधिष्ठान परमात्मा की ओर ही जाओ। वह आत्मा जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं का साक्षी है, वह यह जानता है कि इस समय मेरी बुद्धि सात्त्विक है, इस समय राजस है और इस समय मोहग्रस्त है। इस प्रकार जो काम, संकल्प, विचिकित्सा, धी, ह्री आदि अन्तःकरण के धर्मों को जानता है, जो जाग्रत् और स्वप्न में प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयरूप त्रिपुटी का अव-भासक है और सुषुप्ति में उनके अभाव को प्रकाशित करता है उस सर्वावभासक परमतत्त्व पर दृष्टि पहुँचने पर यह निखिल प्रपञ्च सहज ही में निवृत्त हो जाता है। किन्तु यह है अत्यन्त दुर्लभ; इसीसे कहा है—

"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।"

'धीर' शब्द का अर्थ है—**'धियं ईरयति प्रेरयति इति धीरः'** अर्थात् जो बुद्धि आदि कार्यकरण-संघात को अपने अधीन रखता है—स्वयं उसके अधीन नहीं होता। ऐसा कोई देहाभिमानी नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान् ने कहा है—'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।'

वह बुद्धि का प्रेरक नील, पीत आदि किसी रूपवाला नहीं है। वह तो अत्यन्त सूक्ष्म है। देखो, इन नील-पीतादि का प्रकाशक पहले तो सूर्य का प्रकाश देखा जाता है। जिस प्रकार नील-पीतादि रूपवान् है उसी प्रकार उन्हें प्रकाशित करनेवाले सूर्य एवं अग्नि आदि के आलोक भी रूपवान् हैं; परन्तु अपने प्रकाश्य नील-पीतादि की अपेक्षा उनमें बहुत सूक्ष्म है। उस सौर आलोक का प्रकाशन चाक्षुष-ज्योति से होता है; वह रूपरहित है। इस प्रकार रूपरहित तत्त्व रूपवान् को प्रकाशित कर रहा है। यह भी अनुभव में आता है कि जो नेत्रज्योति निर्दोष होती है वह आलोक को ठीक-

ठीक प्रकाशित कर सकती है और जो सदोष होती है वह उसका ठीक-ठीक प्रकाशन नहीं कर सकती। किन्तु यह कौन जानता है कि नेत्र सदोष है या निर्दोष ? इस बात को मन जानता है; चक्षु के पाटवापाटव का ज्ञाता मन है। मन में भी रूप नहीं है। इसी प्रकार मन के चाञ्चल्यादि को जाननेवाली बुद्धि है, और बुद्धि अपना कार्य अहंकारपूर्वक करती है; जैसे कि यह कहा जाता है कि 'मैं' अपनी बुद्धि द्वारा मन का निरोध करूँगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्धि इस 'मैं' का कारण है। यह 'मैं' अत्यन्त सूक्ष्म है। यदि हम कुछ काल बुद्धि आदि से रहित केवल 'मैं' का ही चिन्तन करें तो हमारे सामने 'मैं' और 'मैं' के साक्षी का भेद सुस्पष्ट हो जायगा। इस समय तो 'मैं' और चिदात्मा का अन्योन्याध्यास हो रहा है। जिस प्रकार तपे हुए लोहपिण्ड में अग्निरहित लोहपिण्ड और लोहपिण्डरहित अग्नि का भान नहीं हो सकता उसी प्रकार इस समय हमें 'मैं' से रहित चेतन और चेतनरहित 'मैं' की प्रतीति नहीं हो सकती। सुषुप्ति में 'मैं' का अभाव रहता है। उस समय चिदात्मा 'मैं' के अभाव का प्रकाशक है। इस प्रकार वह स्पष्टतया 'मैं' के भाव और अभाव दोनों ही का प्रकाशक प्रतीत हो रहा है। इसी क्रम से हम उसे शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध के चरम अवभासक रूप से भी निश्चय कर सकते हैं। अतः विषयों की अवभासक पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों का अवभासक मन है, मन की प्रकाशिका बुद्धि है, बुद्धि का प्रेरक अहंकार है और इन मन, बुद्धि, अहंकार सभी का भासक चिदात्मा है।

व्यवहार में देखते हैं कि गन्धाकाराकारितवृत्ति, रूपाकाराकारितवृत्ति, रसाकाराकारितवृत्ति, स्पर्शाकाराकारितवृत्ति और शब्दाकाराकारितवृत्ति—इन सबमें परस्पर भेद है। इसी प्रकार इनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियों में भी भेद है। इनके भेद और अभेद का विवेक करो। इनमें जो भेद है वही प्रपञ्च है और जो अभेद है वही परमार्थ है। उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाली गन्धवृत्ति, रसवृत्ति, स्पर्शवृत्ति आदि पृथक् हैं परन्तु उन वृत्तियों की उत्पत्ति, स्थिति, नाश तथा उनके स्वरूपों का भासन करनेवाला अखण्ड बोध या निर्विकार भान सदा एकरस तथा एक ही है।

जिस प्रकार नील-पीत-हरित आदि रूपों का अवभासक सौर आलोक एक ही है किन्तु उसके प्रकाश्य भिन्न हैं उसी प्रकार दृश्य अनेक हैं और द्रष्टा एक ही है। किन्तु नील-पीतादि दृश्यों को प्रकाशित करते समय उनका अवभासक सौर आलोक तद्रूप हो जाता है; उन नील-पीतादि की सन्धि में जो उसका निर्विशेष रूप रहता है वही उसका शुद्ध स्वरूप है। इसी बात को पञ्चदशीकार ने एक अन्य दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है :—

"खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत्।
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते॥"

एक स्थान पर कई दर्पण रखे हुए हैं। उनमें सूर्य की किरणें पड़कर फिर समीपस्थ भित्ति पर प्रतिफलित हो रही हैं। वे दर्पणालोक और उनकी सन्धियाँ ये दोनों ही सौर आलोक से प्रकाशित हैं; किन्तु सन्धियाँ केवल सौरालोक से प्रकाशित हैं और दर्पणालोक दर्पण में पड़े हुए सौरालोक के आभास से भी प्रकाशित हैं। इसी प्रकार विषयों की स्फूर्ति तो चेतन तथा अन्तःकरणस्थ चिदाभास दोनों के योग से होती है, किन्तु उन विषयों की सन्धि अर्थात् निर्विषय स्थिति केवल चेतन से ही भासित होती है।

अतः आत्मसाक्षात्कार करने के लिये पहले हमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धादि की वासनाओं से वासित अन्तःकरण द्वारा विषयों से हटाकर इन्द्रियों को स्वाधीन करना होगा। फिर बुद्धि से मन का और अहंकार से बुद्धि का संयम करना होगा। तत्पश्चात् अपने स्वरूपभूत साक्षी से अहंकार को पृथक् निश्चय करने पर हम अपने शुद्ध स्वरूप का बोध प्राप्त कर सकेंगे।

सबसे पहले सम्पूर्ण प्रतीयमान प्रपञ्च को पृथिवीमात्र चिन्तन करो; घट, पट, गृह, उद्यान आदि सभी वस्तुओं को केवल पृथिवीतत्त्व ही अनुभव करो। फिर इस पृथिवीतत्त्व का जलतत्त्व में लय करो और सर्वत्र केवल जलतत्त्व को ही व्याप्त देखो। तत्पश्चात् जल को अग्नितत्त्व में लीन करो तथा सब पदार्थों को तेजोमय ही देखो। इसी प्रकार फिर उन्हें क्रमशः वायुरूप और आकाशरूप देखो। इस चिन्तन के बढ़ने के साथ क्रमशः गन्धादि विषयों की निवृत्ति होती जायगी। वृत्ति प्रायः तेज से आगे नहीं बढ़ती। वायु और आकाश रूपरहित पदार्थ हैं, इसलिये उनपर दृष्टि जमना बहुत कठिन है। यदि मन वायुतत्त्व में स्थित हो गया तो उसे अन्धकार और प्रकाश की भी प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि ये दोनों तो तेज के अन्तर्गत हैं। रूप की निवृत्ति होने पर तो सारा ही विक्षेप निवृत्त हो जाता है। अब केवल स्पर्श और शब्द रह जाते हैं, स्पर्श की निवृत्ति होने पर केवल शब्द ही शेष रहता है। इससे आगे बढ़कर शब्द को देखनेवाले मन में ही स्थित हो जाओ। फिर तटस्थवृत्ति से मन की गति को देखो और तत्पश्चात् उसे देखने को देखो। इस प्रकार बुद्धि तुम्हारा दृश्य हो जायगी। बुद्धि का द्रष्टा अहंकार है। इससे आगे अहंकार भी भास्य कोटि में आ जाना चाहिये। तत्पश्चात् उसकी भी प्रतीति नहीं होगी और केवल सर्वावभासक चिदात्मा ही रह जायगा। इस प्रकार बुद्धि सबके अधिष्ठानभूत केवल आत्मा में ही स्थित हो जाती है; उस समय उसके भास्य शब्द-स्पर्शादि प्रपञ्च में से कुछ भी प्रतीत नहीं होता।

अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं। भगवान् का उपदेश है—'शुश्रूषध्वं पतीन्' अर्थात् जो सर्वावभासक चिदात्मा जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में प्रतीत होनेवाले द्वैत का तथा सुषुप्ति में अनुभव हुए अज्ञान का साक्षी है, तुम उस परम पति का ही

आश्रय लो। अतः तुम नामरूपात्मक प्रपञ्च की ओर मत जाओ, बल्कि उसके अव-भासक सर्वसाक्षी परमात्मा का चिन्तन करो। यदि कहो कि उसमें तो हमारी गति नहीं है, हम किस प्रकार ऐसा करें तो उसके लिये 'शुश्रूषध्वं सतीः।' 'सती' शब्द का अर्थ हम पहले ही कह चुके हैं। तात्पर्य यह है कि इसके लिये तुम ब्रह्मविद्यारूपिणी भगवती महामाया की उपासना करो। देखो, गोपियों को भी श्रीकात्यायिनी देवी की उपासना करने से ही परब्रह्मस्वरूप भगवान् कृष्ण की प्राप्ति हुई थी।

ऐसी ही एक गाथा उपनिषदों में आती है। जिस समय देवासुर संग्राम में परब्रह्म परमात्मा के प्रसाद से देवताओं को विजय प्राप्त हुई तो वे भगवान् को भूल गये और उस विजय को अपने ही पुरुषार्थ का फल मानने लगे। उस समय परम दयालु भगवान् अपने मोहग्रस्त अनुचरों का व्यामोह दूर करने के लिये एक विचित्र रूप से उनके सामने प्रकट हुए। भगवान् के उस विचित्र अनन्त प्रकाशमय विग्रह को देखकर देवताओं को बड़ा कुतूहल हुआ और उन्हें यह जानने के लिये बड़ी उत्सुकता हुई कि यह यक्ष कौन है? यह बात जानने के लिये सबसे पहले अग्निदेव गये। भगवान् ने उनसे पूछा, 'तुम कौन हो?' अग्नि ने बड़े गर्व से कहा, 'मैं अग्नि हूँ, लोग मुझे जातवेदा कहते हैं।' भगवान् ने कहा—'तुम क्या कर सकते हो?' अग्निदेव ने कहा—'संसार में जितने पदार्थ हैं मैं उन सभी को जला सकता हूँ।' तब यक्ष भगवान् ने उनके आगे एक तृण रखकर कहा, 'भला इसे तो जलाओ।' अग्निदेव अपना सारा पुरुषार्थ लगाकर हार गये किन्तु वे उसे जलाने में समर्थ न हुए और इस प्रकार मान-मर्दन हो जाने से चुपचाप लौट आये। उनके पीछे वायु देवता गये। किन्तु उनकी भी वही गति हुई। वे भी एक क्षुद्र तृण मात्र को उड़ाने में समर्थ न हुए।

इस प्रकार अग्नि और वायु के विफल मनोरथ होकर लौट आने पर स्वयं देवराज इन्द्र उस यक्ष का परिचय प्राप्त करने के लिये चले। देवराज को देखते ही यक्ष भगवान् अन्तर्धान हो गये। इससे इन्द्र को बड़ा परिताप हुआ। वे सोचने लगे, "अहो! मुझे सन्निधान से उनके दर्शन और सम्भाषण का भी सौभाग्य प्राप्त न हो सका।" जिस समय जीव को भगवद्विरह के कारण परिताप होता है उसी समय उसे भगवत्साक्षात्कार की योग्यता प्राप्त होती है। वह क्षण बड़े सौभाग्य से प्राप्त होता है जिसमें प्राणी अपने प्रियतम की विरह वेदना से तड़पने लगता है और उसका रोम-रोम भगवद्दर्शन के लिये उत्कण्ठित हो उठता है। देखिये, जिस समय भगवान् के साथ व्रजाङ्गनाओं का संयोग था उस समय उनकी उपासना उतनी प्रबल नहीं थी; किन्तु जब उन्हें भगवान् का वियोग हुआ तब उनकी लगन इतनी बढ़ी कि उस विरहाग्नि ने उन्हें केवल इसीलिये नहीं जलाया क्योंकि उनके हृदय में भगवान् की प्रेममय मूर्ति विराजमान थी। उस आनन्द-सुधासिन्धु के कारण ही उनकी रक्षा हुई। इसी भाव का वर्णन करते हुए श्री वल्लभाचार्यजी ने यह श्रुति कही है—

"कोऽह्येवान्यात्कः प्राण्याद्यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।"

अर्थात् यदि सहृदय प्रेमियों के अन्तःकरणों में प्रेमानन्दरूप सुधा न होती तो अपने प्रियतम के वियोग में उनमें से कौन चेष्टा करता और कौन प्राण धारण करता ? वे तो तत्काल उस विरहानल में भस्म हो जाते ।

अतः यदि भगवान् के वियोग का सन्ताप न हुआ तो यह जीवन व्यर्थ है; भगवान् वाल्मीकि कहते हैं :—

"यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यश्चाभिपश्यति ।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति ।।"

वस्तुतः यह भगवदर्थ सन्ताप ही परम तप है ।

इस प्रकार जब इन्द्र ने इस सन्ताप-रूप तप से अपना मनोमल भस्म कर दिया तो उमा देवी का आविर्भाव हुआ । उसीने उन्हें भगवान् का परिचय दिया । अतः स्मरण रखना चाहिये यह महावाक्यजनित ब्रह्माकारवृत्तिरूपा उमा ही प्रकट होकर जीव को परब्रह्म के पास ले जाती हैं । अतः हे बुद्धियो ! यदि तुम मुझ परब्रह्म के पास आना चाहती हो तो 'शुश्रूषध्वं सतीः' भगवती शक्ति की उपासना करो । अथवा, जैसा हम पहले कह चुके हैं, सात्त्विक वृत्तियाँ ही सतियाँ हैं, उन्हें उद्बुद्ध करो । उनके उद्बुद्ध होने से जब तुम्हारी राजस-तामस वृत्तियाँ नष्ट हो जायँगी तभी तुम उन्हें प्राप्त कर सकोगी ।

अब यदि श्रुतियाँ कहें कि 'महाराज ठीक है, परन्तु यदि हम संसार को छोड़कर अपने परम प्रियतम परब्रह्म का ही अवलम्बन करें, प्रपञ्च का आश्रयण करना छोड़ दें, तो उस अस्पर्शयोग को सुनकर जो बाल-वत्सस्थानीय अज्ञजन हैं वे रोने लगेंगे, क्योंकि उनके लिये तो संसार ही सब कुछ है । वे तो पुत्र-कलत्र और धन-धामादि को ही अपना सर्वस्व समझते हैं । इसपर भगवान् कहते हैं, 'वत्सा बालाश्च क्रन्दन्ति मा' अर्थात् ये वत्स और बालक भी क्रन्दन नहीं करेंगे । क्यों नहीं करेंगे ? क्योंकि विवेकी के लिये संसार असत् होने पर भी उन अविवेकियों की दृष्टि में तो वह सत्य ही रहेगा । 'नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्' देखो, स्वप्नप्रपञ्च तो उसीका निवृत्त होगा जो जागेगा । जो जगा नहीं है उसके लिये तो स्वप्न का सारा व्यापार सत्य ही होता है । इसी प्रकार यह दृश्य-प्रपञ्च भी उसीके लिये मिथ्या होगा जो अपने शुद्ध स्वरूप में जागेगा, उसे तो इसकी निवृत्ति इष्ट ही है । इसके विपरीत अप्रबुद्ध के लिये इसकी निवृत्ति होगी नहीं । भगवान् ने कहा है—

"यथाह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
तदेव प्रतिबुद्धस्य न चानर्थाय कल्पते ।।"

इसलिये बाल-वत्सस्थानीय अज्ञजन भी क्रन्दन नहीं करेंगे ।

दूसरी बात यह है कि यदि वे रोयेंगे तो यह बतलाओ कि तत्त्वज्ञान होने से पहले रोयेंगे या पीछे ? पीछे तो रो नहीं सकते; क्योंकि उस समय तो वे अचिन्त्यानन्द-महार्णव श्री भगवान् में अभिन्नरूप से स्थित हो जाने के कारण प्रपञ्च की अपेक्षा से ही रहित हो जाते हैं। भला अमृत के समुद्र को पाकर क्षुद्र कूप-तड़ागादि के लिये कौन व्यग्र होता है ? और पहले इसलिये नहीं रो सकते कि प्रपञ्च का मिथ्यात्व सुनकर भी उसपर उनकी निष्ठा नहीं होगी। देखो, यह मनुष्य-शरीर कितना घृणित है ? इसके ऊपर यदि चर्म न होता तो इसपर मक्खियाँ भिनकतीं। इसमें क्षणभर भी रहने की इच्छा न होती। इस बात को समझने के लिये विशेष विचार की भी आवश्यकता नहीं है। इस शरीर में अस्थि, मांस, रक्त आदि घृणित पदार्थ ही भरे हुए हैं। यह बात बहुत साधारण बुद्धिवाले पुरुषों को भी सुगमता से समझायी जा सकती है। तो भी हमारे जैसे अज्ञानियों की तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी रम्भा-उर्वशी आदि अप्सराओं के उस अत्यन्त घृणित शरीर के ही लावण्य में फँस गये थे। इस प्रकार सब कुछ जानकर भी उन्हें जो मोह हुआ वह भगवती महामाया की ही महिमा है—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतान्तरन्ति ते ॥"
"ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥"

अतः भगवान् कहते हैं—यदि तुम संसार का मिथ्यात्व प्रतिपादन करोगे तो भी वे अज्ञजन नहीं रोयेंगे, क्योंकि उनकी तो उसमें गति ही नहीं होगी।

अब यह भी सन्देह हो सकता है कि यदि अज्ञानियों को परोक्ष रूप से भी यह निश्चय हो जायगा कि ऐन्द्र पद आदि सब मिथ्या हैं तो भी वे यज्ञ-यागादि में प्रवृत्त नहीं होंगे। वस्तुतः ऐसे अनधिकारियों ने ही अद्वैतवाद को कलङ्कित कर रखा है। उन्हें भले ही ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार न हुआ हो तथापि यह तो निश्चय हो ही जाता है कि कर्म नहीं, धर्म नहीं, लोक नहीं और वर्णाश्रमाचार भी नहीं। अतः वे धर्म-कर्मादि को तिलाञ्जलि दे देते हैं। इन अधिकारियों के कारण ही अद्वैतवाद को कलङ्कित होना पड़ा है।

ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो अद्वैतवादी और नास्तिकों में कोई भेद दिखाई नहीं देगा। मुक्तावस्था में दृश्य की व्यर्थता तो नैयायिकों के मत में भी हो जाती है। यह ठीक है कि वे उसका मिथ्यात्व स्वीकार नहीं करते; तथापि मुक्त पुरुष को तो उसका विशेष ज्ञान निवृत्त हो जाने के कारण प्रपञ्च का भान नहीं होता। यही बात सांख्य मत के विषय में कही जा सकती है। वस्तुतः संसार से सम्बन्ध छूट जाने पर

और प्रभु से सम्बन्ध जुड़ जाने पर लोक-वेद की विधि छूट ही जाती है। सब आचार्यों का ऐसा ही मत है।

"यदायमनुगृह्णाति भगवान् हरिरीश्वरः।
जहाति लोके वेदे वै मतिं च परिनिष्ठिताम् ॥"

और यही नास्तिकों का भी लक्षण है। देखा जाय तो तत्त्वज्ञ और व्रात्य इन दोनों का बाह्य रूप एक ही होता है। देखिये जिस प्रकार यवनादि शिखा-सूत्रादि से रहित होते हैं उसी प्रकार एक परमहंस भी होता है। यही नहीं, भगवान् शङ्कर को भी **'व्रात्य'** कहा गया है—**'व्रात्यानां पतये नमः'**। इस प्रकार देखा जाय तो एक तत्त्वज्ञ का स्वरूप तो अवश्य व्रात्य के समान ही होता है; तथापि उनमें वस्तुतः बहुत अन्तर होता है। उनमें से एक तो साधनकोटि को पार कर गया है और दूसरे ने उसमें प्रवेश भी नहीं किया। इस समय अवश्य दोनों ही साधन के संसर्ग से रहित हैं।

इस प्रकार यज्ञ-यागादि का अनुष्ठान न करने पर भी अद्वैतनिष्ठ महात्मा को अवैदिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः वेद का प्रामाण्य माननेवाला तो वही है। वैदिक तो उसीको कहना चाहिये जो वेदार्थ को अबाधित रखे। वेद कहते हैं—**'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'**, **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इत्यादि। अतः जो ब्रह्म को सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित मानते हैं वे तो ब्रह्म से भिन्न वेद की भी सत्ता नहीं मानते। वेद की पृथक् सत्ता मानने पर तो वेद को सजातीयादि भेद से रहित सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः ऐसी अवस्था में वेद अप्रामाणिक हो जाता है। इसलिये अपने प्रामाण्य के लिये वेद स्वतः ही अपना अभाव प्रतिपादन करते हैं—

"अत्र वेदा अवेदा ब्राह्मणा अब्राह्मणाः पुल्कसा अपुल्कसाः।"

कार्य जब तक अपने कारण से भिन्न रहता है तभी तक उसकी पृथक् उपलब्धि होती है। कारण से अभिन्न होने पर उसकी पृथक् प्रतीति नहीं होती। वेद भी ब्रह्म के कार्य हैं—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेव ऋग्वेदः' अतः वस्तुतः वे परब्रह्म से व्यतिरिक्त नहीं हैं। घटादि तभी तक उपलब्ध होते हैं जब तक वे अपने कारण मृत्तिका में नहीं मिलते। उसमें मिल जाने पर उनकी पृथक् प्रतीति नहीं होती। अतः वेद को ब्रह्म से व्यतिरिक्त न मानना उनका तिरस्कार नहीं है; यह तो उसका सम्मान ही है। जो पुरुष वेद को ब्रह्म से भिन्न मानता है उसपर तो वेद कुपित होते हैं और उसे स्वार्थ से भ्रष्ट कर देते हैं। श्रुति स्वयं कहती है—

**"वेदास्तं परादुः योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद सर्वं
तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद ॥"**

क्योंकि भाई! ब्रह्म से वियोग होना किसीको इष्ट नहीं है। तुम भी तो परब्रह्म से वियुक्त होने के कारण ही तड़प रहे हो। वेदों को भी भगवान् का वियोग कैसे सह्य हो सकता है? फिर तुम उन्हें भगवान् से व्यतिरिक्त क्यों समझते हो? तुम यज्ञ-

यागादि कर्मों को भगवान् से भिन्न क्यों मानते हो ? यदि तुम एक अणु को भी ब्रह्म से पृथक् समझोगे तो वह अवश्य तुम्हारे लिये भय उपस्थित कर देगा। प्रेमी तो अपना भी पृथक् अस्तित्व नहीं रखना चाहता।

"जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नांहि।
कबिरा नगरी एक में राजा दो न समांहि॥"

यदि हम अपनी पृथक् सत्ता रखेंगे तो ब्रह्म में वस्तु-परिच्छेद आ जायगा; तथा जिस देश में हम रहेंगे उसमें ब्रह्म नहीं रहेगा। इसलिये ब्रह्म में देशपरिच्छेद भी हो जायगा। इसीसे भावुक पुरुष अपनी सत्ता प्रभु को ही समर्पित कर देते हैं; वे प्रभु से पृथक् रहकर उनके पूर्णत्व को खण्डित करना नहीं चाहते। अतः पहले अपने धन-धान्यादि प्रभु को समर्पण करो, फिर देह समर्पित कर दो और तदनन्तर मन, बुद्धि और प्राण भी प्रभु को ही अर्पण कर दो। परिणाम में तुम भी उन्हींमें समर्पित हो जाओगे। भगवान् कहते हैं—

"निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।"

यदि घटाकाश अपने को महाकाश से पृथक् समझता है तो जिस देश में वह अपनी सत्ता मानेगा उस देश में उसे महाकाश की सत्ता अस्वीकार करनी पड़ेगी। इस प्रकार वह महाकाश की पूर्णता को खण्डित कर देगा। इसीसे घटाकाश कहता है, 'मैं अपनी सत्ता रखकर अपने प्रभु की अपूर्णता नहीं करूँगा। मैं अपने को भी उन्हें ही समर्पित कर दूँगा।'

यही अद्वैतवादियों का सिद्धान्त है। वे प्रभु को आत्म-समर्पण भी कर देते हैं। यही उनकी अद्भुत भक्ति है। वे अपने प्रियतम को अपना-आप भी दे डालते हैं, क्योंकि आत्मा ही सबसे बढ़कर प्रिय है; इसीके लिये प्रत्येक वस्तु प्रिय हुआ करती है—

"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।"

अतः यदि तुम अपने परम प्रेमास्पद को समर्पण न करके केवल स्त्री, धन और मन आदि ही प्रभु को अर्पण करते हो तो तुम सच्चे प्रेमी नहीं कहे जा सकते। अतः आत्म-समर्पणरूप अद्वैत दर्शन ही सच्ची पूजा है और यही उत्कृष्टतम भक्ति है।

हाँ, मूर्ख पुरुषों के लिये यह सिद्धान्त अवश्य बहुत भयावह है। इस सिद्धान्त के व्याज से वे देह को भी ब्रह्म मान सकते हैं। परन्तु वस्तुतः यह सिद्धान्त भक्ति का घातक नहीं है। यह तो उसकी चरमावस्था है। किन्हीं महानुभावों ने कहा है कि—'पहले उपासना की भावना करते-करते ऊपर-नीचे सर्वत्र ब्रह्म ही दिखाई देता है। अतः पहले '**ब्रह्मैवाधस्ताद्ब्रह्मैवोपरिष्टात्**' यह श्रुति ही चरितार्थ होती है। पीछे एक सञ्चारी भावविशेष का अभ्युत्थान होने पर ऐसा होता है कि जिससे वह अपने को ही प्रियतमरूप से देखने लगता है। उसी अवस्था का प्रतिपादन '**अहमेवाधस्तादहमेवोपरिष्टात्**' इस श्रुति ने किया है।'

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी का कथन है—

"सो अनन्य गति जाहि अस मति न टरै हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूपराशि भगवन्त ।।"

"श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि नयनन निरखि कृपासमुद्र हरि ।"

इस प्रकार निरन्तर सर्वत्र भगवद्दर्शन ही करना चाहिये । यही निर्भय मार्ग है । इस मार्ग में चलनेवाला कभी किसी अन्तराय से आक्रान्त नहीं होता । श्रीमद्भागवत में कहा है—

"यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।।
एष निष्कण्टकः पन्था यत्र सम्पूज्यते हरिः ।
कुपथं तं विजानीयाद् गोविन्दरहितागमम् ।।"

इस प्रकार सबको ब्रह्ममय देखते हुए जब तक तुम अपने आत्मा को भी ब्रह्म से अभिन्न न देखोगे तब तक तुम अपने प्रियतम परब्रह्म की पूर्णता की रक्षा नहीं कर सकोगे । अतः तुम अपने को भी प्रभु में ही समर्पित कर दो ।

किन्तु वह समर्पण किया कैसे जाय ? उसका स्वरूप क्या है ? क्या घड़े में बेर डालना बेर का समर्पण है ? इसका नाम समर्पण नहीं है । समर्पण में अपनी सत्ता पृथक् नहीं रहती, जिस प्रकार घटाकाश की सत्ता महाकाश से पृथक् नहीं है । जिस समय तरङ्ग समुद्र में लीन होती है उस समय क्या समुद्र से पृथक् उसकी उपलब्धि हो सकती है ?

अतः भगवान् से पृथक् अपनी सत्ता न रखना ही उनका सम्मान है । यदि तुम उनसे अपना भेद रखते हो तो तुम उनका अनादर करते हो । भला जिस पत्नी ने अपने पति को त्याग दिया हो उसकी कीर्ति हो सकती है ? इसी प्रकार यदि जीव अपने को परब्रह्म से पृथक् समझे तो उसके लिये इससे बढ़कर और क्या कलङ्क हो सकता है ? ऐसा कलङ्क तो उसके लिये आत्मघात के समान है; क्योंकि **'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'** ।

इसीलिये उपनिषद् पढ़नेवाले भगवान् से प्रार्थना करते हैं—**'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमऽस्तु'** प्रभु दीर्घकाल से हमारा निराकरण करते आये हैं और हम प्रभु का निराकरण करते आये हैं । इसीसे हमें कीट-पतङ्गादि योनियों में भ्रमना पड़ा है । यह अनिराकरण तो प्रभु की कृपा से ही होगा । वे ही हमें ऐसी बुद्धि प्रदान कर सकते हैं क्योंकि यह चरण असत्पुरुषों को अत्यन्त दुष्प्राप हैं । जिस समय पुरुषों का संसरण समाप्त होने को होता है, हे नाथ ! तभी आपके श्रीचरणों में प्राणियों को रति होती है । वस्तुतः मायामोहित जीव बरबस प्रभु को भूलकर प्रपञ्च में फँसा हुआ है और प्रभु की उपेक्षा करता है । अतएव

ऋषि यही प्रार्थना करता है—हे दयामय ! आप ही कृपा करें कि मैं आपका अनादर या उपेक्षा न करूँ। हे दयामय ! मायामोहित होकर ही हमने आपका अनादर किया है। अपने अन्तरात्मा प्रियतम सर्वस्व का अपमान मोह से ही हमने किया है, अतः आप मेरी उपेक्षा न करें। इस प्रार्थना के साथ-साथ आप ही से यह भी प्रार्थना है कि मैं आपका अनादर न करूँ।

अक्रूरजी महाराज कहते हैं—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये ।
पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया रतिस्स्यात् ॥

हे नाथ, आज मैं आपके चरणों की शरण आया हूँ, यह भी आपके अनुग्रह का फल है। जब तक प्रभु कृपा न करें, जब तक वे हाथ न लगावें तब तक हमारी नैया किनारे नहीं लग सकती। श्री गोसाईंजी महाराज का कथन है—

"ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं ॥"

अर्थात् ये सारे साधन हैं तथापि जब तक आपका करावलम्ब न हो तब तक मेरे किये तो कुछ होना नहीं है। अतः भाई ! ऐसी बुद्धि तो प्रभुकृपासाध्य है। हमें तो केवल प्रभुकृपा की प्रतीक्षा करते रहना चाहिये। आखिर जाओगे कहाँ ? दर-दर घूमते जन्म-जन्मान्तर बीत गये, कहीं कोई ठिकाना नहीं मिला। अब प्रभु के सिवा और आश्रय ही कहाँ है ?

"तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥"

भगवान् की कृपा कब होती है इसका कोई निश्चित समय नहीं है। इसलिये हर समय सावधान रहो। ऐसा न हो, तुम्हारी असावधानी में प्रभुकृपा की घड़ी यों ही निकल जाय और तुम उससे वञ्चित ही रह जाओ। मान लो, भगवान् कोई परदानशीन स्वामी हैं और तुम उनके द्वार पर बैठे हो। वे हर समय तो परदे से बाहर आते नहीं हैं परन्तु जिस समय वे आये उस समय तुम सो गये, तो इसमें प्रभु का क्या दोष है ? इसलिये तुम सदा सावधान रहो। प्रभु अतिथि का अनादर कभी नहीं करते। वे दीनवत्सल हैं; उन्हें दीन बहुत प्यारे हैं। इसीसे श्री गोसाईंजी कहते हैं—

"जाउँ कहाँ तजि चरन तिहारे ।
काकर नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पियारे ॥"

इसलिये हमें प्रभु को छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जाना चाहिये। धनियों के द्वारों पर हम बहुत भटक लिये। अब उनका मुख मत देखो। वेदान्तदेशिकाचार्यजी कहते हैं—

"दुरीश्वरद्वारबहिर्वितर्दिका दुरासिकायै रचितोयमञ्जलिः।
यदञ्जनाभं निरपायमस्ति मे धनञ्जयस्यन्दनभूषणं धनम् ॥"

दुरीश्वरों के द्वार की बहिर्वितर्दिका पर दुराशा को लेकर जो बैठना है उसके लिये मैंने हाथ जोड़ दिया; क्योंकि हमारे पास तो धनञ्जय के रथ का अति सुन्दर भूषण अञ्जनाभ श्रीकृष्ण ही अनपाय धन है। फिर हमें और की क्या आवश्यकता है? परन्तु सो मत जाना; सदा सावधान रहकर प्रभु की ओर टकटकी लगाये रहना। प्रभु का प्राकट्य बहुत जल्दी-जल्दी हुआ करता है। यहाँ अध्यात्म-प्रेमियों को तनिक ध्यान देना चाहिये। देखिये घटाकार वृत्ति की निवृत्ति हुई और अभी पटाकार वृत्ति का उदय नहीं हुआ। इस सन्धि में प्रभु की झाँकी होती है। अज्ञान और उसके कार्य प्रभु के आवरक हैं। विषय को प्रकाशित करनेवाली वृत्ति का नाम प्रमाण है, विषय को प्रमेय कहते हैं और प्रमाण के आश्रयभूत चेतन का नाम प्रमाता है। इनमें एक के न रहने पर तीनों ही नहीं रहते। किन्तु इन तीनों का और इन तीनों के अभाव का प्रकाशक आत्मा है। इसी भाव को यह श्लोक व्यक्त करता है—

"एकमेकतराभावे यदा नोपलभामहे।
त्रितयं स च यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः ॥"

अतः जिस समय प्रमाता एक वृत्ति उत्पादन करके शान्त होता है उसके पश्चात् दूसरी वृत्ति उत्पन्न करने से पूर्व वह विश्राम लेता है। उस विश्रान्ति के समय ही उसके शुद्ध स्वरूप की उपलब्धि होती है। इसलिये प्रति पल सावधान रहो। निमेषोन्मेष करना भी भूल जाओ। सदा निर्निमेष दृष्टि से प्रभु की बाट निहारते रहो।

हमें प्रभु का निराकरण नहीं करना चाहिये और प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे हमारा निराकरण न करें। इस प्रकार सारे लौकिक-वैदिक कर्मों को प्रभु से अभिन्न समझना ही प्रभु की परमोत्कृष्ट भक्ति है। यह प्रभु का अनादर नहीं है।

किन्तु दुराचारियों ने ब्रह्मज्ञान पर कलङ्क लगा दिया। जो बात सर्वोच्च कोटि की थी उसे वे श्रीगणेश में ही करने लगे। जिसने भगवत्तत्व को प्राप्त कर लिया है वह यदि वैदिक-स्मार्त्त कर्मों को छोड़ता है तो ठीक ही है, किन्तु जिसने अभी प्रभु की ओर पदार्पण भी नहीं किया वह यदि अपने कर्त्तव्य कर्मों को तिलाञ्जलि देता है तो उसका कल्याण अनन्त कोटि जन्मों में भी नहीं होगा। जिसे सुधा-समुद्र की प्राप्ति हो गयी है वह यदि वापी, कूप, तड़ागादि की अवहेलना करेगा तो प्यासा मर जायगा। अतः पहले अपने को भगवान् में समर्पित करो; पहले सबको ब्रह्मरूप देखो, पीछे अपने को ब्रह्मरूप देखना।

यह ठीक है कि अनभिज्ञ लोग ब्रह्मतत्व का साक्षात्कार किये बिना ही लौकिक-वैदिक कर्मों का मिथ्यात्व मान बैठेंगे। किन्तु यह उनकी अनधिकार-चेष्टा ही होगी। जिन्होंने श्रौत-स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान नहीं किया; जिन्हें इहामुत्रफलयोग

से वैराग्य नहीं हुआ, जो सदसद्वस्तु का विवेक करने में असमर्थ हैं, जिनके पास शम-दमादि साधनों का भी अभाव है और जिन्हें विषयी जनों की भोगेच्छा के समान तीव्र मुमुक्षा नहीं है वे तो ब्रह्मजिज्ञासा के ही अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोगों को ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्त होने के लिये तो भगवान् शङ्कराचार्य ने निषेध किया है। श्री गोसाईंजी महाराज भी कहते हैं—**'बादि बिरति बिनु ब्रह्म-बिचारू।'**

ऐसे अनधिकारी लोग जब ब्रह्मविद्या की ओर प्रवृत्त होते हैं तब वे धर्म, कर्म और पाप-पुण्यादि का तो मिथ्यात्व निश्चय कर लेते हैं किन्तु भोग सत्य ही मानते हैं। अतः यह निश्चय हुआ कि **'वत्सा बालाश्च क्रन्दन्ति'** यह कथन ठीक ही है। इसीका उत्तर भगवान् देते हैं कि वे नहीं रोयेंगे, क्योंकि इसमें वेद-शास्त्रादि का दोष नहीं है। शास्त्र में तो सभी प्रकार के साधनों का निरूपण है। उसमें यह नियम नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिये वे सभी साधन कर्त्तव्य हैं; उनमें जिसके लिये जो साधन उपयुक्त हो उसे उसीका आश्रय लेना चाहिये। औषधालय में सभी प्रकार की ओषधियाँ रहती हैं। इस बात का निर्णय तो वैद्य ही कर सकता है कि किस रोगी को कौन ओषधि देनी चाहिये। यदि वैद्य की शरण न लेकर रोगी स्वयं ही मनमानी ओषधि लेने लगे तो इसमें वैद्य या औषधालय का क्या दोष? यह तो उसीका अपराध है। इसी प्रकार शास्त्रोक्त कौन साधन किसके लिये उपयुक्त है, इसका निर्णय तो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही कर सकते हैं। अतः आत्मकल्याण की इच्छा रखनेवाले साधकों को उन्हींकी शरण लेनी चाहिये।

शास्त्र में तो जहाँ कर्म का प्रकरण है वहाँ ज्ञान की निन्दा की गयी है और जहाँ ज्ञान का प्रकरण है वहाँ कर्म और उपासना की तुच्छता दिखलायी है। ईशावास्योपनिषद् कहती है—

**"अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँरताः॥"**

अर्थात् जो केवल कर्म में ही तत्पर रहते हैं वे अदर्शनात्मक अज्ञान में प्रवेश करते हैं और जो केवल उपासना में ही लगे हुए हैं वे तो उनसे भी अधिक अँधेरे में जाते हैं। किन्तु यहाँ जो कर्म और उपासना की निन्दा की गयी है वह कर्म या उपासना के त्याग के लिये नहीं है, बल्कि उनके समुच्चयानुष्ठान का विधान करने के लिये है। मीमांसकों का मत है—**'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त्तते अपितु विधेयं स्तोतुम्।'** यदि उपर्युक्त श्रुति का अभिप्राय कर्म और उपासना के त्याग में ही होता तो श्रुत्यन्तर से जो कर्म और उपासना का विधान सुना जाता है वह अप्रामाणिक हो जायगा और इस प्रकार श्रुतिविरोध भी होगा। इसीसे भगवान् शङ्कराचार्यजी कहते हैं—**'न शास्त्रविहितं किञ्चिदप्यकर्त्तव्यतामियात्।'** अतः इस निन्दा का अभिप्राय कर्म और उपासना के त्याग में नहीं बल्कि उसके समुच्चय की स्तुति में है।

इसलिये केवल कर्म या केवल उपासना में प्रवृत्त न होकर उन दोनों का साथ-साथ अनुष्ठान करना चाहिये। यदि कर्म और उपासना से अन्धन्तमः की ही प्राप्ति हुआ करती तो '**विद्यया देवलोकः कर्मणा पितृलोकः**' ऐसी विधि न होती। यद्यपि कहीं-कहीं त्याग के लिये भी निन्दा की जाती है; जैसे मिथ्या भाषणादि की। किन्तु यहाँ ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि यहाँ इसकी विधि पायी जाती है। श्रुति में ऐसा बहुत देखा जाता है कि कहीं एक वस्तु का विधान और कहीं उसीका निषेध है। आपाततः इसमें बहुत विरोध मालूम होता है। विधि धर्म के लिये होती है और निषेध पाप के लिये। एक ही कर्म में पाप और पुण्य दोनों हो नहीं सकते। किन्तु ऐसा देखा जाता है कि '**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत**' और '**मा हिंस्यात्सर्वभूतानि**' इत्यादि वाक्यों में से एक हिंसा का विधान और दूसरा उसका निषेध करता है। इसका तात्पर्य यही समझना चाहिये कि यागोपयुक्त हिंसा का निषेध नहीं है और यागानुपयुक्त हिंसा का निषेध किया गया है।

अर्थवाद का आपततः प्रतीयमान अर्थ नहीं लिया जाता। पूर्वमीमांसक तो अर्थवाद का स्वार्थ में तात्पर्य ही नहीं मानते। उत्तर मीमांसकों का विचार दूसरा है। वे अर्थवाद के तीन भेद मानते हैं—भूतवाद, गुणवाद और अनुवाद। जो मानान्तर सिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है उसे अनुवाद कहते हैं; जैसे—'**अग्निर्हिमस्य भेषजम्।**' जो मानान्तर से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है उसे गुणवाद कहा जाता है; जैसे '**आदित्यो यूपः**' और जो मानान्तर से अविरुद्ध और मानान्तर से असिद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है, उसे भूतवाद कहते हैं; जैसे '**वज्रहस्तः पुरन्दरः।**' प्रस्तुत अर्थवाद गुणवाद है; क्योंकि वह श्रुत्यन्तर से विहित कर्म और उपासना की निन्दा करता है। अर्थात् मानान्तर से विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करता है।

किन्तु यहाँ जो कर्म और उपासना के फल को अन्धन्तम कहा है वह सापेक्ष है। इस प्रसङ्ग में महाभारत की एक कथा का स्मरण होता है। एक ब्राह्मण गायत्री का जप किया करता था। उसकी प्रौढ़ जपनिष्ठा से प्रसन्न होकर गायत्री देवी उसके सम्मुख प्रकट हुई। देवी ने उस ब्राह्मण देवता को वर दिया कि जापक को जिस नरक की प्राप्ति होती है वह तुम्हें न मिले।

जापक को नरक मिलता है—यह बात बड़ी कुतूहलजनक मालूम होती है। परन्तु इसका तात्पर्य दूसरा है। यहाँ ब्रह्मलोक को ही 'नरक' कहा गया है; क्योंकि विशुद्ध ब्रह्म की अपेक्षा ब्रह्मलोक निकृष्ट ही है। अतः उसे नरक कहा जाय तो अनुचित न होगा। इसी प्रकार यहाँ जो अदर्शनात्मक तम कहा है वह मोक्षपद की अपेक्षा से ही है। उपासना से और भी अधिक अन्धन्तमः की प्राप्ति बतलायी, इसका कारण यह है कि उपासना मानस कृत्य है: सर्वसाधारण के लिये यह भी सुगम नहीं है। भला, जिन लोगों के हस्तपादादि देहावयव भी सुसंयत नहीं हैं वे उस मानव व्यापार

को ठीक-ठीक कैसे निभा सकेंगे ? कर्म करने से कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ सुसंयत होती हैं; क्योंकि कर्मकाण्ड में प्रत्येक चेष्टा नियमबद्ध है। खाना, पीना, सोना, बोलना सभी नियमित रूप से ही करना पड़ता है। वैदिक कर्मों का अनुष्ठान करते समय जिस कर्म के लिये जैसी विधि है उससे तनिक भी इधर-उधर होने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसलिये कर्मानुष्ठान से इन्द्रियों की प्रवृत्ति सर्वथा सुसंयत हो जाती है। इन्द्रियों के संयत होने पर उपासना में प्रवृत्त होना सम्भव है। इसीसे उपासक को कर्म में भी प्रवृत्त करने के लिये यह श्रुति केवल उपासना में भय प्रदर्शित करती है।

कर्मकाण्डी को जो अन्धन्तमः की प्राप्ति बतलायी वह इसलिये है कि उसे केवल कर्म में ही न रह जाना चाहिये। यदि वह कर्मजड़ हो गया तो उपासनासाध्य उत्कृष्ट फल से वञ्चित रह जायगा; अतः कर्म के साथ-साथ उसे उपासना का भी अनुष्ठान करना चाहिये। फिर जिस समय कर्म और उपासना से ऊपर उठे हुए जिज्ञासु को श्रुति तत्त्वज्ञान का उपदेश करती है उस समय कर्मादि से उसकी प्रवृत्ति हटाने के लिये वह कर्म की निन्दा करती है। उस समय वह कहती है—**'प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपाः।'** परन्तु कर्मकाण्ड का प्रतिपादन करते समय वह ऐसा कभी नहीं कह सकती।

अतः भगवान् कहते हैं—'हे श्रुतियो ! यदि तुम मुझमें अपना तात्पर्य निश्चय करोगी और इससे अज्ञानी लोग क्रन्दन करेंगे तो इसमें तुम्हारा दोष नहीं होगा। इसके लिये तो वे ही उत्तरदायी होंगे। उन्हें चाहिये कि वे किसी विज्ञ की शरण में जाकर श्रुत्यर्थ का अनुशीलन करें।' वस्तुतः यह पद्धति है कि जो जिस निष्ठावाला हो उसे उसी निष्ठावालों का संग करना चाहिये। कर्मी कर्मी का, भक्त भक्त का और ज्ञानी ज्ञानियों का संग करें। शास्त्र का तात्पर्य समझने के लिये भी शास्त्रज्ञ गुरु की शरण में ही जाना चाहिये, शास्त्र का मर्म विज्ञ पुरुष ही खोल सकते हैं।

अतः भगवान् कहते हैं—**'तान् पाययत दुह्यत च न'**—तुम उन्हें पयपान मत कराओ और उनके लिये कर्मफल दुहने की चेष्टा भी मत करो। तुम तो मेरा ही प्रतिपादन करो; क्योंकि महातात्पर्य का प्रतिपादन होने पर अवान्तर तात्पर्य तो उसीमें आ जाते हैं। यह नियम है कि किसी उत्कृष्ट धर्म का निर्वाह करने में निकृष्ट धर्म का अपवाद भी हो जाय तो कोई दोष नहीं होता। अतः **'पतीन् शुश्रूषध्वम्'**—अपने परमतात्पर्य परब्रह्म का ही प्रतिपादन करो।

एक पतिव्रता अपने पतिदेव की चरणसेवा कर रही थी। पतिदेव सोये हुए थे। इसी समय उसका पुत्र अग्नि की ओर जाने लगा। उसके चित्त में उसे उधर जाने से रोकने का विचार हुआ परन्तु ऐसा करने के लिये उसे पतिसेवा छोड़नी पड़ती थी। इसलिये उसने पतिसेवा को ही अपना परम कर्त्तव्य समझकर बच्चे को बचाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। इस उत्कृष्ट धर्म के प्रताप से अग्निदेव शीतल हो

गये और बालक का बाल भी बाँका नहीं हुआ। इसीसे भगवान् कहते हैं--हे श्रुतियो, जब तक तुम अपने परमतात्पर्य का विषय शुद्ध बुद्ध मुक्त परब्रह्म का प्रतिपादन करने में प्रवृत्त नहीं हुई थीं तब तक तो कर्म और उपासना का पोषण करके उन अज्ञ जनों को पयपान करा सकती थीं, परन्तु अब, जब कि तुम इस ओर आयी हो, तुम उनके लिये कर्मफलरूप दुग्ध का दोहन करने की चेष्टा मत करो।

इधर बुद्धियों की दृष्टि से देखें तो उन्हें भगवान् यही उपदेश देते हैं कि **'मा यात गोष्ठम्'**—घट-पटादि अनात्म विषयों की ओर मत जाओ; बल्कि **'शुश्रूषध्वं पतीन्'** अपने अवभासक और अधिष्ठानभूत परब्रह्म की ओर देखो। इस प्रसङ्ग में **'क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च'** इसका यह तात्पर्य है कि जब तक परब्रह्म की अनुभूति नहीं होती तब तक अन्तःकरण और इन्द्रियाँ घबराये रहते हैं। उनकी जो बाह्य-प्रवृत्ति है वह उनके दुःख का ही कारण है। श्रुति कहती है—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः।"

यहाँ हमें **'व्यतृणत्'** शब्द पर विशेष रूप से विचार करना है। भगवान् भाष्यकार ने **'व्यतृणत्'** का पर्य्याय **'हिंसितवान्'** लिखा है। अर्थात् स्वयम्भू परमात्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है। बहिर्मुख होने में इन्द्रियों की हिंसा कैसे मानी गयी? इसमें यही कहना है कि अपने प्रियतम से विमुख कर देना हिंसा ही तो है। इन्द्रियाँ अपने परम प्रेमास्पद सर्वान्तरतम परमात्मा का अनुभव नहीं कर रहीं, बल्कि नाम-रूपात्मक संसार में ही भटक रही हैं। यही उनका वध है। अतः जब तक हमारी समस्त इन्द्रियों की प्रवृत्ति परब्रह्म परमात्मा की ओर नहीं होती तब तक वे अत्यन्त व्यग्र रहती हैं। यही उनका क्रन्दन है—

"मन-करि विषय-अनल बन जरई।
होइ सुखी जो यहि सर परई॥"

प्रायः यह देखा जाता है कि विविधविध भोग-सामग्री से सम्पन्न महानुभाव भी अशान्ति के चंगुल में फँसे रहते हैं। उनकी भोगतृष्णा को जैसे-जैसे भोजन मिलता जाता है वैसे-वैसे ही वह और भी अधिक उत्तेजित होती जाती है। जिस प्रकार विषम विषाक्त अग्नि के कटाह में पड़ा हुआ कीट तड़पता है उसी प्रकार सांसारिक भोगों में फँसे हुए जीव निरन्तर बेचैन रहते हैं। परन्तु किया क्या जाय, यह उनका स्वभाव ही है; जैसे शूकर को विष्ठा से ही प्रेम होता है उसी प्रकार इन इन्द्रियों की प्रीति विषयों में ही होती है। उस अपनी वासना के कारण जीव दुःख में ही सुख का अनुभव कर रहे हैं। जिस प्रकार दाद खुजलाने में सुख मालूम होता है उसी प्रकार विषयों में सुख जान पड़ता है। इस व्यामोह से निकलो और परब्रह्म परमात्मा की ओर बढ़ो।

जिस समय तुम्हारी प्रवृत्ति नामरूपोपाधि निर्मुक्त परब्रह्म में ही होगी उसी समय तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी। फिर तो **'यत्र यत्र मनोयाति तत्र तत्र समाधयः'** इस उक्ति के अनुसार सर्वत्र सुख का ही भान होगा। **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'** इस श्रुति के अनुसार यह नामरूपात्मक जगत् आनन्दात्मक परब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। इसलिये यह आनन्दमय ही है। जिस प्रकार स्वाभाविक सौगन्ध्योपहित चन्दन में मृत्तिका एवं जलादि के योग से अस्वाभाविक दुर्गन्ध की प्रतीति होती है अथवा पित्त बिगड़ जाने के कारण मिश्री कड़वी जान पड़ती है, उसी प्रकार अचिन्त्यानन्त सौख्यसुधासिन्धु ब्रह्म में अज्ञानजनित उपाधि के कारण इस दुःखमय प्रपञ्च की प्रतीति होती है। अधिष्ठान ब्रह्म का ज्ञान होने पर उसकी निवृत्ति हो जाती है। अतः **'तान् पाययत दुह्यत'** इन इन्द्रियों को पान कराओ और दुहो। क्या पान कराओ? परब्रह्मामृत; क्योंकि जब बुद्धि ब्रह्माकार रहने लगेगी तो विषय दुःखमय नहीं रहेंगे, वे भी ब्रह्ममय हो जायँगे। अतः इन्द्रियों को उस परमानन्द-सुधा-सिन्धु में निमज्जित करने के लिये दृश्यमात्र को परब्रह्म-रूप देखो।

ऊपर जो पतिव्रता की गाथा कही है उसमें यदि वह पतिव्रता लौकिक साधनों से अपने बालक को बचाने का प्रयत्न करती तो वह सदा के लिये उसकी रक्षा नहीं कर सकती थी। उसे सदा के लिये तो वह तभी सुरक्षित कर सकती थी जब कि अग्नि शीतल हो जाय। इसके लिये तो पतिशुश्रूषण ही एकमात्र साधन था। उस परमधर्म का दृढ़तापूर्वक पालन करके ही उसने अग्नि का स्वभाव बदल दिया।

सांख्य, नैयायिक और वैशेषिक आदि मतावलम्बियों की विवेकवती बुद्धि अपने मन, बुद्धि, इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तिरूप बालकों को सर्वथा सुरक्षित नहीं करती। वह अपने बालकों को अग्नि से बचा तो लेती है, परन्तु अग्नि के भय का सर्वथा नाश नहीं करती; क्योंकि प्रपञ्च का अत्यन्ताभाव तो उस मत में है नहीं। यह काम तो अद्वैतनिष्ठ बुद्धि ही करती है। ऐसा कहकर हम अद्वैतवाद का पक्ष नहीं करते; हमारा तो केवल यही मत है कि जिनके मत में पूर्ण सच्चिदानन्दघन परब्रह्म से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की सत्ता रहती है उनके यहाँ तो दुःख का बीज रह ही जाता है।

इसी दृष्टि से बुद्धियों के प्रति भगवान् का यही कथन है कि **'शुश्रूषध्वं पतीन्'** तुम परब्रह्माकाराकारित वृत्ति में परिणत होकर इन्हें ब्रह्मामृत पान कराओ और इनकी तृष्णा को शान्त करो—इनका मनोरथ पूर्ण करो। वस्तुतः विषय-सेवन से इन्हे सुख नहीं मिल सकता। भला मृगतृष्णा का जल पीने से किसीकी प्यास गयी है? उसमें जल है ही कहाँ? इसी प्रकार क्या विषय-भोग-जन्य सुखों से इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तियों को शान्ति मिल सकती है? नहीं, क्योंकि विषय और विषय-सुख तो हैं ही नहीं। अतः तुम सच्चिदानन्दघन परब्रह्म का ही अनुसन्धान करो। इससे यह

नामरूपात्मक प्रपञ्च निवृत्त हो जायगा; फिर तो एकमात्र अचिन्त्यानन्दसौख्य-सुधा-सिन्धु परमात्मा ही रह जायगा और फिर ये उसीकी माधुरी का पान करेंगी।

वस्तुतः इन्द्रियों से विषयों का स्फुरण नहीं होता, बल्कि विषयावच्छिन्न चेतन का ही होता है। सबका अधिष्ठानभूत चेतन ही सत्य वस्तु है। उसके सिवा अन्य वस्तु की सत्ता ही कहाँ है ? यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि ब्रह्म इन्द्रियों का विषय कैसे होगा, वह तो अशब्द, अस्पर्श और मन एवं इन्द्रिय आदि का अविषय है। इसमें कहना यह है कि वस्तुतः ब्रह्म ही सारी इन्द्रियों का विषय हो सकता है। प्रमाण का प्रामाण्य अज्ञात वस्तु का ज्ञान कराने में ही है। अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं--आवरण और विक्षेप। इनमें आवरण के भी दो भेद हैं---असत्त्वापादक और अभानापादक। ये असत्त्वापादक और अभानापादक आवरक किसी स्वतः सत्ता और स्फूर्तिवाली वस्तु का ही आवरण करेंगे। ऐसी वस्तु ब्रह्म ही है। अतः वही अज्ञान का विषय हो सकता है। इसीसे संक्षेपशारीरकार का कथन है—

"आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः॥"

मिथ्या वस्तु की तो अज्ञात सत्ता-स्फूर्ति हुआ ही नहीं करती। इसलिये वह प्रमाण विषय हो ही नहीं सकती। समस्त इन्द्रियों का विषय एकमात्र परब्रह्म ही हो सकता है, अतः इन्हें उस ब्रह्मानन्द-सुधा-सिन्धु के अमृत का ही पान कराओ।

मन एवं समस्त इन्द्रियाँ जब तक विषयचिन्तन करती रहेंगी तब तक दुःख ही पायेंगी। इन्हें क्या करना चाहिये ? केवल ब्रह्माभ्यास। ब्रह्माभ्यास का लक्षण इस प्रकार है—

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥"

यह बात निश्चित है कि हम जैसा चिन्तन करेंगे वैसे ही बन जायँगे। इसीसे श्रुति कहती है—

"यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।"

जिनके श्रोत्र भगवत्कथाश्रवण में संलग्न हैं, जिनके चरण भगवद्धामों की यात्रा करते हैं जिनके हाथ निरन्तर भगवत्सेवा में ही लगे रहते हैं, जिनकी घ्राणेन्द्रिय प्रभु के पादपद्म से संलग्न तुलसिका का ही आघ्राण करती है तथा जिनके अङ्ग भगवद्भक्तों के सहवास का अद्भुत आनन्द लूटते हैं उनके लिये यह संसार संसार ही नहीं रहता। देखिये, नारद, शुकदेव, व्यास एवं वसिष्ठादि के लिये भी तो यही संसार है। वे बारम्बार देह धारण करके यहाँ आते हैं। उनके लिये यह आनन्दस्वरूप है और हमारे लिये यही विषम विषाक्त अग्निपूर्ण कटाह हो रहा है। जिनकी बुद्धि ने श्रीकृष्णचन्द्ररूप परमपति की शुश्रूषा की है उनके लिये यह भगवद्रूप

हो गया है। इसीसे वे प्रभु के लीलाविग्रह का आस्वादन करने के लिये सब कुछ जानकर भी थोड़ा-सा भेद स्वीकार करते हैं। शुद्ध परब्रह्म आनन्दरूप है किन्तु उसका सगुण रूप आनन्दकन्द है—वह आनन्द का ही घनीभूत रूप है। जिस प्रकार इक्षुरस मिष्ट है, किन्तु शर्करा और मिश्री में जो माधुरी है वह कुछ और ही है, इसी प्रकार भगवान् के दिव्यमङ्गल विग्रह का सुख विचित्र ही है। उनके कर, चरण, नख, अधर, भूषण, आयुध सभी परम दिव्य हैं; उनके एक-एक अवयव पर कोटि-कोटि कामदेव निछावर किये जा सकते हैं। उनकी उस परमानन्दमयी मूर्ति का सुखास्वादन करने के लिये ही वे नित्यमुक्त महर्षिगण इस लोक में अवतरित होते हैं और स्वरूपतः सर्वथा अभिन्न होने पर भी प्रभु का आनन्द भोगने के लिये भेद स्वीकार करते हैं; क्योंकि बिना भेद के भोग नहीं हो सकता। यही भगवल्लीला का निगूढ़ रहस्य है।

ऊपर कहा जा चुका है कि बुद्धियों के प्रति भगवान् का कथन है कि तुम संसार की ओर मत जाओ, अपने परमपति परमात्मा का ही अनुसन्धान करो। यहाँ **'क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च'** का तात्पर्य यह है कि जब तक तुम लोग परब्रह्म परमात्मा का अनुसन्धान न करोगी तब तक इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तिरूप बालक तथा बछड़े क्रन्दन करते रहेंगे; क्योंकि ब्रह्मानुसन्धान न करने पर तो प्रपञ्च की प्रतीति बनी ही रहेगी। वस्तुतः इस संसार की सत्ता मन की चञ्चलता रहने तक ही है, उस चञ्चलता का निरोध होने पर फिर प्रपञ्च की प्रतीति नहीं होती।

"मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।"

अतः प्रपञ्च की प्रतीति और उसके कारण इन्द्रियों के क्रन्दन का हेतु तुम्हीं हो। जिस प्रकार महासमुद्र में वायु के योग से कुछ हलचल होने पर ही तरङ्गमाला का प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार बुद्धि के स्फुरण से ही चित्समुद्र में कुछ हलचल होती है। इसीका नाम मन है। योगवासिष्ठ में कहा है—

"स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्।
यन्मनाक् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥"

अतः थोड़ीसी मननी शक्ति को धारण करने पर परब्रह्म ही मनरूप से प्रादुर्भूत होता है।

किन्तु मन की वह मननी शक्ति क्या है? यदि हम इस बात का विचार करें कि तरङ्ग क्या है तो यही निश्चय होगा कि वस्तुतः वह समुद्र ही है। वायु के कारण ही उसकी पृथक् प्रतीति होती है। इसी प्रकार मन भी मायाशक्ति के कारण ही अपने अधिष्ठान-रूप परब्रह्म से पृथक् प्रतीत होता है। अतः चित्त का जगत्-सम्बन्ध स्फुरण ही मननी शक्ति है, वस्तुतः व्यावहारिक जगत् में स्फुरण ही चित् का चित्तत्त्व है, वही सृष्टि का बीज है, उसीको भगवान् का ईक्षण, सङ्कल्प अथवा आदिसंवेदन कह-कर भी पुकारा जाता है।

मन साक्षीभास्य माना जाता है। उसकी कभी अज्ञात सत्ता नहीं रहती। जिस प्रकार समुद्र के बिना तरङ्ग की सत्ता नहीं होती उसी प्रकार शुद्ध चेतन से भिन्न मन नहीं है। यदि मननी शक्ति का निरोध हो जाय तो चित्त चित् हो जाता है। वस्तुतः चित् तकार-रहित चित्त ही है। योगवासिष्ठ में कहा है—

"चित्तं चिद्विजानीयात्तकाररहितं यदा।"

यह तकार ही चञ्चलता है। इस चञ्चलता के कारण ही नित्य-शुद्ध-बुद्ध निर्विकार ब्रह्म में प्रपञ्च की प्रतीति हुई है। इसकी निवृत्ति होने पर तो मन का मनस्त्व ही नहीं रहता। फिर तो यह प्रपञ्च ब्रह्म ही हो जाता है; क्योंकि वास्तव में तो अन्वय व्यतिरेक से ब्रह्म ही है— ब्रह्म की सत्ता से ही इसकी सत्ता है, ब्रह्म को छोड़कर तो इसकी सत्ता ही नहीं है। माया या अज्ञान भी अधिष्ठान से भिन्न नहीं है।

श्री गोसाईं तुलसीदासजी कहते हैं—जिस प्रकार काष्ठ में अनेकों पुतलियाँ और कपास में तरह-तरह के वस्त्र निहित हैं उसी प्रकार चित्त में ही सारा प्रपञ्च है। यदि चित्त स्वाधीन हो जाय तो भले ही संसार के सारे पदार्थ बने रहें उनसे अपना क्या हानि-लाभ होता है ?

इस विषय में एक गाथा है—एक राजा अश्वमेध यज्ञ कर रहा था। यज्ञीय अश्व छोड़ा गया, बहुत से सैनिक अश्व की रक्षा करने चले। उस अश्व को एक मुनिकुमार ने पकड़ लिया और उस सारी सेना को जीतकर वह उसे लेकर एक शिला में घुस गया। यह अद्भुत व्यापार देखकर बचे-खुचे सैनिकों को बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने जाकर सारा हाल राजा को सुना दिया। राजा ने उस अश्व को लाने के लिये कुछ आदमियों के साथ अपने भाई को भेजा। वह राजकुमार जब उस स्थान पर पहुँचा तो एक शिला के सिवा वहाँ और उसे कुछ भी न मिला। उसने सोचा कि यहाँ अवश्य कुछ मुनिश्रेष्ठ होंगे; उन्हींसे इस लीला का रहस्य खुल सकेगा। इधर-उधर खोजने पर उसे एक महात्मा दिखाई दिये। महात्मा समाधिस्थ थे। राजकुमार तन-मन से उनकी सेवा-शुश्रूषा करने लगा। परन्तु उनका समाधि से उत्थान न हुआ। कुछ काल पश्चात् उसकी सच्ची लगन देखकर वही मुनिकुमार प्रकट हुआ और उसे वह यज्ञीय घोड़ा दे दिया। राजकुमार ने वह अश्व तो दूसरे मनुष्यों के साथ राजधानी को भेज दिया और स्वयं वहीं रह गया। तब मुनिकुमार ने पूछा 'राजन् ! तुम क्या चाहते हो ?'

राजकुमार ने कहा—'भगवन्, मेरी यही इच्छा है कि इन मुनिश्रेष्ठ का समाधि से व्युत्थान हो।' इसपर मुनिकुमार ने कहा—'ऐसा होना तो बहुत कठिन है; क्योंकि इस समय ये स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरों का अतिक्रमण कर केवल सत्तामात्र परब्रह्म के साथ एकीभाव से स्थित हैं। तथापि मैं प्रयत्न करता हूँ।' ऐसा कहकर मुनिकुमार समाधिस्थ हो गया। उसने तीनों शरीरों से सम्बन्ध छोड़कर

सन्मात्र में स्थित हो मुनिवर के सन्मात्र तत्त्व में स्थित आत्मा को उद्‌बुद्ध किया। इससे मुनि की समाधि खुल गयी। मुनिवर ने राजकुमार और समाधिस्थ मुनिकुमार को देखा तथा योगबल से सारा रहस्य जानकर मुनिकुमार को उद्‌बुद्ध किया। फिर राजकुमार ने मुनिवर से प्रार्थना की—'भगवन्! आप मुझे अपना परिचय देकर कृतार्थ करें और ये मुनिकुमार हमारा अश्व लेकर किस प्रकार इस शिला में घुस गये थे यह सब रहस्य बतलाने की कृपा करें।'

मुनि ने कहा—'राजन्! पूर्वकाल में मैं एक राजा था। संसार से निर्वेद होने पर मैं अपना राज्य छोड़कर सपत्नीक यहाँ तपस्या करने चला आया। एक दिन, जब कि मैं समाधिस्थ था, दैववश मेरी रानी की वृत्ति कुछ चञ्चल हो गयी और उसने सङ्कल्प से ही मेरे साथ मैथुन किया। उससे वह गर्भवती हो गयी और यथासमय उससे यह पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र-प्रसव के पश्चात् उसने तो शरीर छोड़ दिया, फिर मैंने ही इसका लालन-पालन किया। कुछ वयस्क होने पर इसकी इच्छा राज्य भोगने की हुई। तब मैंने इसे योगाभ्यास में लगाया, उसमें सिद्धि प्राप्त करने पर इसने संकल्प से ही इस शिला में एक ब्रह्माण्ड रच लिया है। यह उस ब्रह्माण्ड का ईश्वर है। तुम्हारे अश्व को भी यह वहीं ले गया था।'

यह सब वृत्तान्त सुनकर कुतूहलवश राजकुमार को उस मुनिकुमार के संकल्पित ब्रह्माण्ड को देखने की इच्छा हुई। तब मुनिकुमार ने कहा—'अच्छा, तुम मेरे साथ चलो।' किन्तु जब राजकुमार ने उसके साथ शिला में प्रवेश करने का प्रयत्न किया तो वह सफल न हुआ। तब मुनिकुमार ने अपने योगबल से उसे अपने साथ ले लिया। उस शिला में प्रवेश करने पर उसे इस ब्रह्माण्ड की अपेक्षा भी अधिक विस्तृत ब्रह्माण्ड दिखाई दिया। वहाँ उसने ऐसा ही आकाश देखा; तथा वहाँ के ब्रह्मलोक, इन्द्रलोक, वैकुण्ठ, पाताल और रसातलादि में जाकर ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवताओं का भी दर्शन किया। उसने यह भी देखा कि वहाँ वह मुनिकुमार ही सबसे अधिक पूजनीय है; वहाँ के देवगण भी उसे अपना ईश्वर समझते हैं। इस प्रकार केवल एक दिन में ही उसने वह सारा ब्रह्माण्ड देख लिया। तब उसे फिर इस लोक में आने की इच्छा हुई। उसके कहने से मुनिकुमार उसे बाहर ले आया; किन्तु उसने देखा कि वहाँ का सारा ही रंग-ढंग बदला हुआ है। जहाँ पर्वत था वह विस्तृत समतल भूमि है, जहाँ नदी थी वहाँ मरुभूमि दिखाई देती है और जहाँ वन था वहाँ नगर बसे हुए हैं।

यह देखकर उसने मुनिकुमार से इसका कारण पूछा। मुनिकुमार ने कहा—'तुम्हें मेरे ब्रह्माण्ड में तो एक ही दिन व्यतीत हुआ जान पड़ा था; किन्तु उतने ही समय में यहाँ कई युग बीत गये हैं। इसलिये अब यहाँ सब कुछ बदल गया है। तुम्हारे कुल में भी अब बहुत-सी पीढ़ियाँ बीत चुकी हैं; तुम्हारे सामने जितने मनुष्य

थे उनमें तो केवल तुम ही रह गये हो।' यह सुनकर राजा को बड़ा विस्मय और विषाद हुआ। फिर उसने मुनिकुमार से इसका रहस्य पूछा।

मुनिकुमार बोला—'राजन्! वस्तुतः यह प्रपञ्च सङ्कल्पमात्र है। साधारण लोगों के संकल्प शुद्ध नहीं होते, उनमें कई संकल्पों का सांकर्य रहता है; इसलिये वे सिद्ध भी नहीं होते। यदि हमारा संकल्प सिद्ध हो जाय और उसमें अन्य संकल्पों का मेल न रहे तो हम उसे प्रत्यक्ष व्यावहारिक रूप में देख सकते हैं। जिस संकल्प की पूर्वकोटि और परकोटि ज्ञात होती है वह तो कल्पना ही है, वह सिद्ध संकल्प नहीं है। यदि हमारा संकल्प ऐसा हो जाय कि उसकी पूर्वकोटि का [अर्थात् वह कब और किस प्रकार आरम्भ हुआ था—इस बात का] भान न रहे तो वह अवश्य प्रत्यक्ष हो जायगा। मेरा संकल्प सिद्ध हो गया है। उस संकल्प-शक्ति से ही मैंने इस शिला में ब्रह्माण्ड की भावना कर ली है। मेरा ब्रह्माण्ड इस ब्रह्माण्ड की अपेक्षा बृहत्तर है। जितने समय में मैंने वहाँ एक दिन की भावना की थी, उतने समय में इस ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा ने कई युगों की भावना की। अतः वहाँ केवल एक दिन हुआ और यहाँ कई युग बीत गये। वस्तुतः सारा प्रपञ्च भगवान् का संकल्प ही है। जो शक्ति भगवान् में है, वही योगियों में भी हो जाती है। वे यदि घट को पट कहें तो उसे पट होना पड़ेगा। ब्रह्मादि का संकल्प भी ऐसा ही है। इसीसे उनके संकल्पित पदार्थ उन्हें भी प्रतीत होते हैं और हमें भी। अन्य पुरुषों के संकल्प ऐसे नहीं होते, उन्हें अपने संकल्पों की पूर्वकोटि ज्ञात रहती है; अतः उनके संकल्पित पदार्थ केवल उन्हें ही प्रतीत होते हैं, दूसरों को नहीं।'

इसीसे पहले कहा गया है—'**मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते**' क्योंकि प्रपञ्च की प्रतीति मन की चञ्चलता में ही होती है, उसकी स्थिरता में नहीं। अतः भगवान् बुद्धियों से कहते हैं—'अरी बुद्धियो! जब तक तुम स्थिर होकर अपने परम प्रेमास्पद परब्रह्म परमात्मा का सुखास्वादन न करोगी तब तक तुम्हारा श्रम निवृत्त न होगा। श्रम की निवृत्ति परमप्रेमास्पद के सुखास्वादन से ही होती है; क्योंकि जिस समय प्राणी प्रेमविह्वल होता है उस समय उसकी इन्द्रियाँ और मन शिथिल पड़ जाते हैं। जिस समय कोई प्रेमी दीर्घकाल के प्रवास के अनन्तर अपनी प्रियतमा से मिलता है और उन दोनों का परस्पर आलिङ्गन होता है उस समय उन्हें बाहर-भीतर का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। यह दशा प्राकृत प्रेमियों की है, फिर परमानन्द-सौख्य-सुधासिन्धु श्री श्यामसुन्दर का संयोग होने पर उनके दिव्य रूप, दिव्य स्पर्श एवं दिव्य गन्ध का समास्वादन करने पर जो विलक्षण स्थिति होती है, उसका तो कहना ही क्या है? श्रुति कहती है—उस समय तो न बाह्य जगत् का ज्ञान रहता है और न आन्तर का—'**नान्तरं किञ्चन वेद न बाह्यम्।**' उस समय उसका चित्त भी अपने अधिष्ठानभूत चिदात्मा में लीन हो जाता है—

"तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ।"

जिस समय जीव को अपने एकमात्र प्रियतम परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र का आश्लेष होता है उस समय जो आनन्दातिरेक होता है उसमें उसके मन और इन्द्रिय आदि ऐसे परिप्लुत हो जाते हैं कि उसे अपना भी भान नहीं रहता। उस स्थिति में भक्त और भगवान् का सर्वथा अभेद हो जाता है। भगवान् की नित्यनिकुञ्ज-लीला में श्री वृषभानुदुलारी के साथ उनका नित्य संयोग रहता है। वहाँ उनका कभी विप्रयोग नहीं होता, क्योंकि भगवान् कृष्ण अचिन्त्यानन्द-सुधासिन्धु हैं और श्री रासेश्वरीजी उनकी मधुरिमा हैं। वस्तुतः वे एक ही तत्त्व हैं। केवल रसानुभूति के लिये ही उनके दिव्यमङ्गल विग्रहों का प्रादुर्भाव हुआ है। वे यद्यपि सर्वदा एक रूप हैं तथापि लीलाविशेषोपयुक्त रसाभिव्यक्ति के लिये उनका विप्रयोग आवश्यक है। अतः लीला-विशेष के विकास के लिये ही उनका द्वैधीभाव होता है। उस समय जितने भावों की अपेक्षा है उन सभी का प्रादुर्भाव होता है। यह ठीक है कि उस नित्य लीला में उनका कायिक और ऐन्द्रियक विप्रयोग कभी नहीं होता। उनके मन, प्राण, नेत्र तथा प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग परस्पर संश्लिष्ट हैं। तथापि उस संश्लेष से प्रेमातिशय के कारण उनमें जो विह्वलता आती है उससे श्रीवृषभानुनन्दिनी का मन कृष्णसुख का अनुभव नहीं करता और श्रीकृष्णचन्द्र का विह्वल मन श्रीनिकुञ्जेश्वरीजी की माधुर्यसुधा का आस्वादन करना भूल जाता है। यहाँ केवल इतना ही विप्रयोग होता है।

अब इधर अध्यात्म में आइये। यह बुद्धिरूपा प्रमदा सुषुप्ति में थोड़ा-सा उस ब्रह्मसुख का रसास्वादन करती है। इसीसे उस समय इसे आत्मविस्मृति हो जाती है। बस, जिस समय बुद्धि अपने को भूली कि उसे प्रपञ्च का भान ही नहीं रहता। फिर तो बुद्धि बुद्धि नहीं रहती, मन मन नहीं रहता और प्राण प्राण नहीं रहते। वे सब केवल चिन्मात्र हो जाते हैं। इसीसे भगवान् ने कहा है कि "हे बुद्धियो! जब तक तुम मुझमें ही स्थित न होगी तब तक तुम्हारे बाल-बच्चे रूप ये इन्द्रियाँ और मन आदि रोते ही रहेंगे।"

परन्तु करें क्या? बहुत कुछ विचार भी करते हैं, तब भी विषय में अपनी ओर आकर्षित कर ही लेते हैं। हम स्वयं उनकी ओर जाने का संकल्प नहीं करते, तथापि जिस समय कोई असाधारण रूप हमारे सामने आता है उस समय नेत्र उसकी ओर खिंच जाते हैं; जिस समय कोई सुमधुर शब्द सुनाई देता है कान वहाँ से हटना नहीं चाहते; जब कोई दिव्य गन्ध मालूम होती है तो घ्राणेन्द्रिय उसमें फँस ही जाती है तथा जब कोई सुस्वादु पदार्थ सामने आता है तो रसनेन्द्रिय उसका रस लेने ही लगती है। ये सब हठात् हमें अपनी ओर खींच लेते हैं। यह सब उस महा-माया का ही प्रभाव है।

"ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥"

यह देवी भगवती कौन है ? विषय-रूप में परिणत हुई प्रकृति ही वह महा-माया है । उसके कारण बड़े-बड़े ज्ञानी तपस्वी और जितेन्द्रिय भी अपनी-अपनी निष्ठा से विचलित हो जाते हैं । नारद, विश्वामित्र और ब्रह्मादि को भी उसने नहीं छोड़ा, फिर हम जैसे साधारण पुरुषों की तो बात ही क्या है ? अतः महापुरुषों का यही उपदेश है कि कोई कैसा ही विवेकी हो उसे सर्वदा विषयों से दूर ही रहना चाहिये; वहाँ उसे अपनी पण्डिताई का भरोसा नहीं करना चाहिये । भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं—

"आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः ।"

अतः विषयों के रहते हुए ये बाल-बच्चे तो रोते ही रहेंगे । यदि तुम इनका रोना बन्द करना चाहती हो तो तुम अपने पतिदेव अचिन्त्यानन्द-सुधासिन्धु परब्रह्म का चिन्तन करो । उसमें निश्चल हो जाने पर विषयों की सत्ता ही नहीं रहेगी । इस प्रकार जब विषय ही न रहेंगे तो रोयेंगे किसके लिये ?

वास्तव में तो इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्ति परब्रह्म की ही ओर जाना चाहती हैं, विषयों की ओर जाना इन्हें अभीष्ट नहीं है । परन्तु करें क्या, विषयरूप चुम्बक इसे बलात् अपनी ओर खींच लेता है । इसीसे बृहदारण्यकोपनिषद् में इन्द्रियों को ग्रह बतलाया है और विषयों को अतिग्रह । इन्द्रियाँ और मन प्राणी को इसी प्रकार ग्रहण किये हुए हैं जैसे ग्रह अर्थात् भूत । उन ग्रहों से गृहीत होकर यह जीव रोता-चिल्लाता है । इन ग्रहों से छूटने के लिये उसे श्रीकृष्णरूप ग्रह की शरण लेनी चाहिये । जिस समय यह कृष्ण-ग्रह-गृहीतात्मा हो जायगा उस समय वे क्षुद्र ग्रह इसका कुछ भी न बिगाड़ सकेंगे । किन्तु विषय अतिग्रह हैं । आत्मा पर मनरूप ग्रह चढ़ा हुआ है, उसपर इन्द्रियरूप दश भूत सवार हैं और उनपर भी विषयरूप विकट भूत लगे हुए हैं । इन अतिग्रहों से गृहीत होने पर भला इन्द्रियों को आत्मा की ओर कैसे प्रवृत्ति हो सकती है ?

पहले हम कह चुके हैं कि स्वयम्भू भगवान् ने इन्द्रियों को बहिर्मुख करके हिंसित कर दिया है । हिंसा किसे कहते हैं ? अनभिमत कर्म करना पड़े-- यही हिंसा है । इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाना नहीं चाहतीं, भगवान् ने इन्द्रियों को बहिर्मुख कर दिया । इससे उन्हें बलात्कार उनकी ओर जाना पड़ा । यही उनकी हिंसा है । अतः भगवान् कहते हैं—"हे बुद्धियो ! ये इन्द्रियरूप बालक विषयों की ओर जाने से रो रहे हैं और परमानन्द-सुधा का पान नहीं कर पाते । इसमें कारण तुम्हीं हो, क्योंकि यदि तुम चञ्चलता छोड़ दो तो इन विषयों की सत्ता ही न रहे । उस समय ये इन्द्रियाँ जायँगी ही कहाँ ? तब तो ये ब्रह्मानन्द-सुधा का ही पान करेंगी । अतः इन्हें शान्त और तृप्त करने के लिये भी तुम मेरा ही चिन्तन करो ।"

इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्ति बुद्धि की ही अवस्था-विशेष हैं। इसलिये ये उसके बालक ही हैं। जिस प्रकार दर्पण के भीतर अनेक प्रकार के पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं उसी प्रकार शुद्ध चैतन्य-रूप दर्पण में समस्त प्रपञ्च प्रतिबिम्बित है। दर्पण में जो आकाश की प्रतीति होती है वह वस्तुतः निरवकाश में ही अवकाश की प्रतीति है। दर्पण के अवयव इतने सघन हैं कि उनमें किसी पदार्थ का प्रवेश होना सम्भव ही नहीं है। अतः उसमें जितने समुद्र, नदी, पर्वत एवं वन आदि प्रतीत होते हैं वे सब असत् ही हैं। इसी प्रकार शुद्ध चैतन्य रूप दर्पण में अनेकविध प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है। परन्तु वस्तुतः वह सब केवल स्वयं-प्रकाश शुद्ध चेतन ही है।

परन्तु उनकी प्रतीति क्यों होती है? यहाँ दो बातें ध्यान देने की हैं—(१) जिस समय आप दर्पण के शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि ले जायँगे उस समय आपको उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थ दिखाई नहीं देंगे और जिस समय आप प्रतिबिम्बित पदार्थ देखेंगे उस समय दर्पण का शुद्ध स्वरूप नहीं देख सकेंगे। यही बात परब्रह्म के विषय में भी है। परब्रह्म को ग्रहण करनेवाली वृत्ति प्रपञ्च को ग्रहण नहीं कर सकती और प्रपञ्च को ग्रहण करनेवाली परब्रह्म को ग्रहण नहीं कर सकती। (२) यह भी निश्चित बात है कि प्रतिबिम्बित पदार्थों की सत्ता दर्पण के ही अधीन है और वस्तुतः दर्पण को ग्रहण किये बिना हम प्रतिबिम्बित को ग्रहण भी नहीं कर सकते। यह कभी सम्भव नहीं है कि हम तरङ्ग को तो देख लें और जल को न देखे तथा हमें सौरालोक या चन्द्रालोक की प्रतीति तो न हो किन्तु उनसे प्रकाश्य पदार्थों की प्रतीति हो जाय। इसी प्रकार हमें पहले ब्रह्म का ग्रहण होता है और पीछे प्रपञ्च का; क्योंकि सारे पदार्थ उसीके प्रकाश से प्रकाशित हैं—

"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

किन्तु इस समय जो ब्रह्म का ग्रहण होता है वह उसके शबल रूप का होता है। उसके शुद्ध स्वरूप का ग्रहण तो प्रपञ्च की उपेक्षा करते-करते उसकी अप्रतीति होने पर ही होगा; जिस प्रकार कि शुद्ध दर्पण का ग्रहण तभी हो सकता है जब कि प्रतिविम्ब का ग्रहण न किया जाय।

जिस समय बुद्धि प्रपञ्च को ग्रहण करती है उस समय वह बहुत घबराती है; क्योंकि इसमें सिंह-व्याघ्रादि बड़े-बड़े भयानक पदार्थ भी हैं। लोक में प्रतिबिम्ब से भय होना प्रसिद्ध है। माता बालक को अपनी परछाई नहीं देखने देती, क्योंकि उसे भय है कि वह उसे वेताल समझकर डर जायगा। स्वकल्पित मिथ्या वेताल से भी मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार यह प्रपञ्च चिद्रूप दर्पण में प्रतिबिम्बित परछाई है। अतः विवेकवती बुद्धिरूप माता को उचित है कि वह इन्द्रिय और इन्द्रियवृत्तिरूप अपने बालकों को, उनके कल्याण के लिये, यह प्रपञ्चरूप परछाईं न देखने दे और केवल दर्पण स्थानीय ब्रह्म को ही देखे।

यहाँ यह शङ्का न करनी चाहिये कि प्रतिबिम्ब तो किसी बिम्ब का हुआ करता है; अतः परब्रह्म में जो प्रपञ्च प्रतिफलित होता है उसका भी कोई बिम्ब होना चाहिये। दर्पणादि परिच्छिन्न पदार्थ हैं, इसलिये उनमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह बिम्ब के ही कारण होता है; किन्तु ब्रह्म तो अपरिच्छिन्न है, उससे पृथक् और स्थान ही कहाँ है, जहाँ उसमें प्रतिफलित होनेवाला बिम्ब रहेगा। बिम्बभूत जो कोई भी पदार्थ होगा वह देश, काल और वस्तु के अन्तर्गत ही होगा। किन्तु देश, काल और वस्तु तो प्रतिबिम्ब के ही अन्तर्गत हैं। यदि कहो कि अनुमान से तो कोई न कोई बिम्ब मानना ही होगा; क्योंकि लोक में बिना बिम्ब का कोई प्रतिबिम्ब देखने में नहीं आता। किन्तु अनुमान भी तो एक ज्ञान ही है; अतः यह भी ज्ञानस्वरूप ब्रह्म से बाहर नहीं हो सकता, फिर उससे ज्ञेय पदार्थ तो ब्रह्म के बाहर हो ही कैसे सकता है? अतः ब्रह्म में जो प्रतिबिम्ब है वह बिम्ब-रहित है। यह इस दर्पण की विलक्षणता है। यही इसकी अनिर्वचनीया शक्तिरूपा माया है। यही माया सबको मोहित किये हुए है।

किन्तु यह इसका स्वभाव अवश्य है कि यदि तुम इसमें प्रतिबिम्बित प्रपञ्च को देखना छोड़ दो तो तुम्हें शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार हो जायगा और साक्षात्कार होते ही माया और उसका प्रपञ्च सदा के लिये मिट जायगा। इसीसे भगवान् बुद्धियों से कहते हैं—**'मा यात गोष्ठम्'**—तुम विषयों की ओर मत जाओ; बल्कि इन इन्द्रियों के विषयरूप हाऊ की निवृत्ति के लिये तुम केवल शुद्ध परब्रह्म को ही देखो। तुम भास्यवर्ग को मत देखो, केवल भान को ही देखो।

ऐसा करने के लिये भगवान् क्यों कहते हैं? क्योंकि **'क्रन्दन्ति बाला वत्साश्च'**—ये इन्द्रियाँ रो रही हैं। अतः न तो तुम्हीं प्रपञ्च को देखो और न इन्हींको दिखाओ, अन्यथा इनकी मृत्यु हो जायगी। देखो, जिस समय तुम इस प्रपञ्च को देखते हो उस समय तुम्हारे ये बालक भी उसे ही देखने लगते हैं। अतः तुम उसे मत देखो और **'तान् मा पाययत मा दुह्यत च'** अर्थात् इन इन्द्रियों को विषय-सेवन मत कराओ और न इनके सामने विषयों को ही आने दो; क्योंकि इन्हें विषय-रूप पयःपान कराना तो विष ही पिलाना है। इन्हें वह प्रिय अवश्य है, परन्तु उसके सेवन से इनका अनिष्ट ही होगा। रोगी बालक कुपथ्य करना चाहा ही करता है, परन्तु माता उसे करने थोड़े ही देती है। उनके सेवन से इन्हें शान्ति या तृप्ति भी नहीं हो सकती। विषय-सेवन से तो इनकी विषयाभिलाषा और भी बढ़ जायगी—

"भोगमनुविवर्धंत इन्द्रियाणां कौशलम्।"

अतः इनके हित के लिये इन्हें विषय-सेवन मत करने दो। विषय-सेवन न करने से इन्द्रियों की भोग-वासना निर्बल पड़ जायगी। यह ठीक है कि इन्द्रियों के

निग्रह से उनकी बाह्य प्रवृत्ति मन्द पड़ जाती है तथापि उनकी आन्तरिक शक्ति बढ़ जाती है। एक व्यक्ति कुछ काल मौन रहता है। इससे वागिन्द्रिय अवश्य मन्द पड़ जाती है। वह अधिक बोल नहीं सकता। परन्तु वह जो कुछ कहता है वही हो जाता है। यदि वह वटवृक्ष को नीम का वृक्ष बतला दे तो उसे निम्बवृक्ष हो जाना पड़ता है। योगदर्शन में मौन से वाक्‌सिद्धि मानी गयी है। इसी प्रकार जो बालब्रह्मचारी है वह एकाएकी कामाहत नहीं होता। अत्यन्त रूपवती स्त्रियों को देखकर भी उसका चित्त विचलित नहीं होता। एक बार महर्षि नारद तप कर रहे थे। उन्हें तपोभ्रष्ट करने के लिये इन्द्र ने कुछ अप्सराएँ भेजीं। परन्तु उनके सारे हाव-भाव कटाक्ष उन्हें विचलित करने में समर्थ न हो सके। करते कैसे! इस समय श्री नारदजी की मनोवृत्ति तो एकमात्र भगवत्तत्त्व में ही स्थित थी, उसे तो उनका भान भी नहीं हुआ। इस समय भगवान् की उनपर पूर्ण कृपा थी। भला जिनके ऊपर भगवान् की कृपा है उनका कोई क्या बिगाड़ सकता है?

"सीम कि चाप सकहि कोउ तासू।
बड़ रखवार रमापति जासू॥"

भगवान् कृष्ण ने भी उद्धव को यही उपदेश किया है कि हे उद्धव! ये इन्द्रियाँ मनुष्य को ठगनेवाली हैं। ये उसे असदभिनिवेश में ग्रस्त कर देती हैं; अतः तुम इनसे विषय सेवन मत करो।

"तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं भ्रमम्॥"

भगवान् शङ्कराचार्यजी ने भी यही कहा है कि शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि साधनों से सम्पन्न होकर ही ब्रह्मविचार करना चाहिये। यदि इन्द्रियों को स्वाधीन न किया जायगा तो वेदान्त-चर्चा केवल तोते की कहानी ही होगी।* उससे तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता।

---

* एक बार एक व्यक्ति को यह देखकर बड़ी करुणा हुई कि बेचारे निरीह तोते व्यर्थ मनुष्यों के चंगुल में फँसते हैं। इसलिये उसने सोचा कि इन्हें कोई ऐसा पाठ पढ़ा दिया जाय जिससे ये उसमें न फँसें। उसने एक तोते को यह बात सिखला दी—'तोते! सावधान रहना। नली के ऊपर मत बैठना और अगर बैठ जाओ तो उसे छोड़ देना। उसे तुम्हीं ने पकड़ रखा है, उसने तुम्हें नहीं पकड़ा।' उस तोते से सुनकर यह पाठ उस प्रान्त के सब तोतों ने सीख लिया। सब इसी प्रकार कहने लगे। परन्तु उस व्यक्ति ने देखा कि एक तोता नली में फँसा हुआ है और मुँह से यही बात कह रहा है। यही दशा साधनहीन वेदान्तियों की होती है। वे मुख से तो अपने को शुद्ध-बुद्ध-मुक्त कहते रहते हैं किन्तु वस्तुतः रहते विषयों में आसक्त ही हैं। इस प्रकार के ज्ञान से कोई लाभ नहीं हो सकता।

अतः यदि तुम वास्तव में अपना कल्याण चाहते हो तो विषयों को त्यागो। रसना को रसास्वादन से रोको, श्रोत्रों से शब्द ग्रहण मत करो और घ्राणेन्द्रिय से गन्ध मत सूँघो। सारी इन्द्रियों का निरोध कर दो।

"मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज॥"

आत्मलाभ का यही उपाय है। इसीसे भगवान् ने कहा है—

"यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥"

पहले अपनी इन्द्रियों की प्रवृत्ति को शास्त्रीय करो। इससे उनकी उच्छृङ्खलता शान्त हो जायगी। फिर धीरे-धीरे अभ्यास द्वारा उनसे विषय ग्रहण करना छोड़ दो। श्री मधुसूदन सरस्वती ने अपनी गीता की टीका में कहा है—'यदि घर में चोर घुस रहे हों तो सबसे पहले दरवाजा बन्द कर लेना चाहिये; पीछे कोई और उपाय करो। इसी प्रकार विषयों पर विजय प्राप्त करने के लिये पहले इन्द्रियों को उनके विषयों से निवृत्त करो। यदि अन्तःकरण में भोगवासना बनी हुई हो तो भी इन्द्रियों से अन्य विषयों को तो ग्रहण मत करो। अब जो विषय रूप चोर तुम्हारे अन्तःकरण रूप घर में घुस आये हैं उनकी परब्रह्म रूप राजा के यहाँ रिपोर्ट करो, वह अवश्य इनका प्रबन्ध कर देंगे। श्री गोसाइँजी महाराज कहते हैं—

"मम हृदय भवन प्रभु तोरा।
तहँ बसे आय बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा।
मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
कह तुलसिदास सुनु रामा।
यह लूटहिं सब धन-धामा॥
चिन्ता यह मोहि अपारा।
अपजस जनि होइ तुम्हारा॥"

अतः भगवन्, आप उन्हें निकालिये। नहीं तो, आपका अपयश अवश्य होगा; क्योंकि—

"ममता तिमिर तरुण अँधियारी।
राग-द्वेष उलूक तमकारी॥
तब लगि बसत जीव उर माहीं।
जब लगि प्रभु-प्रताप-रवि नाहीं॥"

वास्तव में, जिस राजा के राज्य में चोर प्रजा का धन अपहरण करते हैं उस राजा के लिये वह कलंक ही है; क्योंकि प्रजा तो राजा का सर्वस्व है। **'प्रजायन्त इति**

प्रजाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रजा' शब्द का अर्थ ही पुत्र है। अतः राजा का यह परम कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के हित की रक्षा करे।

इस प्रकार जिस समय यह जीव प्रभु को ही अपना एकमात्र आश्रय बना लेता है उस समय उसके सारे विकार निवृत्त हो जाते हैं। जब वह स्वयंप्रकाश श्रीहरि के सम्मुख होता है तब उसके हृदय भवन का कल्मष रूप अन्धकार तत्काल निवृत्त हो जाता है।

अतः भगवान् का भी बुद्धियों के प्रति यही कथन है कि तुम इन इन्द्रिय वृत्तियों को पयःपान मत कराओ। यह बात ठीक है कि इन्द्रियों के व्यापार का सर्वथा निरोध नहीं किया जा सकता। शरीर रक्षा के लिये भोजनादि भी करना ही होगा। अतः आवश्यकता इसी बात की है कि अपनी प्रवृत्तियों को शास्त्रीय करो। नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करो। उन्हीं विषयों को ग्रहण करो जिनके बिना तुम्हारा निर्वाह न हो सके। भगवान् के दिये हुए देह और इन्द्रियों का सदुपयोग करो। भगवान् ने अपनी प्राप्ति के लिये ही ये देह और इन्द्रियाँ आदि दी हैं। अतः इनसे वही कार्य करो जो भगवत्प्राप्ति में सहायक हैं। इनकी सात्त्विकी प्रवृत्ति को प्रबल करो, राजस को निर्बल कर दो और तामस प्रवृत्ति बिल्कुल मत होने दो।

देखो जिस समय हनुमान्जी लङ्का को गये थे उस समय पहले उन्हें सुरसा मिली। उसे उन्होंने अपने पुरुषार्थ से प्रसन्न कर उसका आशीर्वाद प्राप्त किया। वह देवमाता थी, अतः सात्त्विकी प्रवृत्ति-रूपा होने के कारण उसे अपने अनुकूल कर लेना ही उचित था। उसके पश्चात् छायाग्राहिणी सिंहिका राक्षसी मिली, जो समुद्र में ऊपर उड़नेवाले प्राणियों की छाया पकड़कर उन्हें गिरा लेती और फिर खा जाती थी। वह तामस प्रवृत्ति थी। उसे उन्होंने मार डाला। फिर लङ्का में पहुँचने पर उन्हें लङ्किनी मिली। उसने भी उनका मार्ग रोका; किन्तु उसे उन्होंने एक मुक्के से ही ठीक कर लिया। वह राजस प्रवृत्ति थी; उसे दमन से शिथिल कर देना ही ठीक था। इसी प्रकार हमें सात्त्विक प्रवृत्ति को बढ़ाना चाहिये, राजस प्रवृत्ति को शिथिल कर देना चाहिये और तामस का सर्वथा नाश कर देना चाहिये। वे तो पापरूपा हैं।

अतः जो कर्म शास्त्र-विहित हैं उनका तो यथाशक्ति पालन करो। '**यथाशक्ति**' शब्द का प्रयोग विहित कर्मों के लिये ही हो सकता है, पापकर्मों में '**यथाशक्ति**' शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विहित कर्मों में भी जिनके न करने से प्रत्यवाय होता है वे तो अवश्य करने चाहिये। अग्निष्टोमादि याग अत्यधिक अर्थसाध्य हैं; प्रत्येक व्यक्ति उनका अनुष्ठान करने में समर्थ नहीं है। इसलिये '**यथाशक्ति**' 'शब्द' का प्रयोग उन्हींके लिये किया गया है। सन्ध्या, अग्निहोत्र एवं बलिवैश्वदेव आदि कर्मों को, जिनमें न तो विशेष परिश्रम है और न व्यय ही, तो अवश्य करना ही चाहिये।

आजकल एक परिष्कृत सनातनधर्म का आविर्भाव हुआ है। उसके अनुयायी शास्त्र के किसी अंश को तो प्रामाणिक मानते हैं और किसीको उपेक्षा कर देते हैं। परन्तु इसे शास्त्र का प्रामाण्य स्वीकार करना नहीं कहा जा सकता। इसे तो स्वेच्छाचार ही कहा जायगा। तुम कहते हो गीता हमारा सर्वस्व है, किन्तु गीता तो कहती है—

"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥"

अब देखना यह है कि शास्त्र क्या कहता है? तुम शूद्रों को शास्त्राध्ययन कराना चाहते हो। परन्तु शास्त्र तो इसकी आज्ञा नहीं देता। यही नहीं, वर्णाश्रम-धर्म का भी लोप करना चाहते हो। शूद्र और वैश्य ब्राह्मणों का कर्म कर रहे हैं और ब्राह्मण वैश्य तथा शूद्रों का। परन्तु शास्त्र तो कहता है—

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।"

अपने वर्णधर्म में तुम्हारी प्रवृत्ति नहीं होती, उसमें तुम्हें दोष दिखाई देता है। यह तुम्हारा व्यामोह ही है। अर्जुन को भी ऐसा ही व्यामोह हुआ था। इसीसे वह युद्ध में दोष-दृष्टि कर भिक्षा माँगने के लिये तैयार हो गया था। परन्तु बाह्य दृष्टि से ऐसा दोष किस कर्म में नहीं रहता **'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।'** भाई, समाज का कोई भी अङ्ग व्यर्थ नहीं है। शिर जैसा आवश्यक है वैसा ही चरण भी है। शरीर के किसी भी अङ्ग में पीड़ा हो, उसके कारण सारा शरीर ही अस्वस्थ रहा करता है। अतः हम किसी भी वर्ण को नगण्य और हेय नहीं समझते। हमारे विचार से तो सभी को परधर्म की ओर प्रवृत्त न होकर अपने ही वर्ण के लिये विहित कर्मों का यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिये।

इस प्रकार स्वधर्मानुष्ठान करते हुए नित्यप्रति कुछ काल के लिये अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों का सर्वथा निरोध करने का भी प्रयत्न करो। ऐसा करते-करते परब्रह्म का साक्षात्कार होने पर ही इन इन्द्रियों का क्रन्दन बन्द होगा।

इसके विपरीत यदि इन इन्द्रियरूप वत्स और बालकों को विषय-रूप पयः-पान कराया जायगा तो ये और भी अधिक क्रन्दन करेंगे। तुम इन्हें जितना ही तृप्त करने का प्रयत्न करोगी ये उतना ही अधिक अतृप्त होते जायँगे। अतः इन्हें तृप्त करने का प्रयत्न छोड़कर तुम अपने एक मात्र परम पति शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप परब्रह्म की ही ओर देखो। इसमें कोई आयास भी नहीं है; विषयदर्शन में तो आयास भी अधिक है और परिणाम में दुःख भी है। परन्तु ब्रह्मदर्शन में तो कोई परिश्रम भी नहीं करना पड़ता और उसका परिणाम भी परम सुखमय है। परब्रह्म तो स्वयं-प्रकाश है, उसे प्रकाशित करने के लिये कोई व्यापार नहीं करना पड़ता; बल्कि उसके

लिये तो व्यापार का त्याग ही कर्त्तव्य है। परन्तु विचित्रता तो यही है कि हमसे व्यापार ही नहीं छोड़ा जाता। यदि मन, बुद्धि और इन्द्रियों का व्यापार छूट जाय तो परब्रह्म की उपलब्धि तत्काल हो सकती है।

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम्॥"

इसीसे भगवान् कहते हैं—**'गोष्ठं मा यात'**—जहाँ पशुप्राय जीव रहते हैं उस प्रपञ्च की ओर मत जाओ। ऐसा करने से ही उनका क्रन्दन शान्त होगा। यदि प्रतिबिम्ब पर दृष्टि न ले जाकर केवल दर्पण पर ही दृष्टि जाय तो प्रतिबिम्ब की प्रतीति नहीं होगी। इसी प्रकार यदि तुम अपनी वृत्ति को अन्तर्मुख करके विषयों तक नहीं ले जाओगी तो तुम्हें विषम विषाक्त संसार की प्रतीति नहीं होगी।

यदि कहो कि ये इन्द्रियाँ हमारे बालक हैं, हमें इनपर दया करनी ही चाहिये। इन्हें विषय प्रिय हैं, इसलिये हमें इन्हें अभिलषित विषय प्राप्त कराने ही चाहिये—तो इसपर भगवान् कहते हैं—**'तान् मा दुह्यत'**—तुम इनके लिये अभिलषित पदार्थ प्रस्तुत मत करो। इन्हें विषयप्राप्ति नहीं होगी तो ये स्वयं ही क्रमशः शान्त हो जायँगी। इन्हें विषय देना तो मानो विष देना है।

यही बात प्रेमियों की आचार्यभूता व्रजाङ्गनाओं से भगवान् कहते हैं कि तुम व्रज में मत जाओ। मैं ही निखिल ब्रह्माण्ड का परमपति हूँ। अतः तुम मेरी ही सेवा करो। इस समय यदि तुम्हारे बाल-बच्चे क्रन्दन भी करते हों तो भी उन्हें तुम पयःपान मत कराओ और न बछड़ों के लिये दोहन ही करो; क्योंकि वह तुम्हारे परमधर्म का विरोधी है। यदि भगवत्प्रेम में दया आदि धर्म विरोधी होते हों तो उनका त्याग ही करना चाहिये।

भगवान् की यह विचित्र वाचोभङ्गी सुनकर कुछ व्रजाङ्गनाओं की तो अभिरुचि सुस्थिर हुई और कुछ को व्यामोह हुआ। भगवान् का यह वाग्विन्यास बड़ा ही विचित्र था। इससे भिन्न-भिन्न निष्ठावाले भिन्न-भिन्न अर्थ निकाल सकते थे। कर्मियों के लिये इसमें कर्मानुष्ठान का आदेश था, जिज्ञासुओं के लिये कर्मसंन्यास की विधि थी, उपासकों के लिये कर्मसमुच्चय का विधान था, गोपियों के लिये गोष्ठ को लौट जाने का आदेश था और प्रकारान्तर से न लौटने के लिये भी अनुमति थी। वस्तुतः रासपञ्चाध्यायीरूप यह अमृतसिन्धु ऐसा गम्भीर है कि हम इसके एक बिन्दु का मर्म भी यथावत् नहीं समझ सकते। वेद भगवान् की सुषुप्ति के समय उनके अज्ञात रूप से प्रकट हुए श्वासोच्छ्वास हैं।

"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेव ऋग्वेदः।"

किन्तु उनका मर्म आकलन करने में भी बड़े-बड़े मनीषिजन घबराते हैं। फिर जिन वाक्यों का उच्चारण प्रभु ने स्वयं लीला-विग्रह धारण करके किया उनके भाव-गाम्भीर्य का तो कहना ही क्या है; उसके तो जितने अर्थ किये जायँ थोड़े ही हैं।

अब हम इस श्लोक का उपसंहार कर आगे के श्लोक पर विचार करते हैं। भगवान् ने कहा था कि हे व्रजाङ्गनाओ ! तुम जाओ। इसपर व्रजाङ्गनाएँ सोचती हैं—ऐसी जल्दी क्या है, वन की शोभा देखकर चली जायँगी। किन्तु भगवान् कह रहे हैं—**'मा चिरम्'**—देरी मत करो; क्योंकि यह रात्रिकाल पति शुश्रूषारूप परमधर्म का उपयुक्त समय है और धर्मानुष्ठान में विलम्ब होना उचित नहीं है। इसलिये तुम जाओ और पतियों की तथा उनकी माता आदि सतियों की शुश्रूषा करो।

इस प्रकार भगवान् के निराकरण करने पर व्रजाङ्गनाएँ बहुत खिन्न हुईं। वे सन्तप्त होकर दीर्घ निःश्वास छोड़ती हुई कुछ सोच रही हैं—यह देखकर भगवान् कहते हैं—

"अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥"

भगवान् की यह रीति है कि वे सीधे-सीधे किसीको उत्तर नहीं देते; न तो सहसा स्वीकार ही करते हैं और न अस्वीकार ही। संसार में दो प्रकार के लोग ही सुखी होते हैं; या तो परम बोधवान् और या अत्यन्त मूढ़।

"यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परं गतः।
तावुभौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥"

इसलिये भगवन्मार्ग में लगे हुए प्राणी प्रायः व्याकुल ही दिखाई दिया करते हैं। वस्तुतः इस व्याकुलता की आवश्यकता भी है। जिस समय भगवान् के सम्मिलन की अभिलाषा क्षुधा-पिपासा के समान अत्यन्त बढ़ जाय तभी प्राणी को समझना चाहिये कि हम ठीक मार्ग पर चल रहे हैं। परन्तु यह प्राणी दीर्घकाल से भगवान् से बिछुड़ा हुआ है। इसलिये इसे भगवत्सम्मिलन की उत्कट इच्छा होना अत्यन्त दुर्लभ है। जैसे अजीर्ण के रोगी को भूख लगना अत्यन्त आनन्द का हेतु होता है उसी प्रकार प्रपञ्चासक्त जीव को भगवत्प्राप्ति की तृष्णा अत्यन्त सौभाग्य का फल है। इसीसे भगवान् शङ्कराचार्य ने भगवत्प्राप्ति के साधनों में सबसे अन्तिम साधन मुमुक्षा बतलाया है। इस मुमुक्षा के पश्चात् ही जिज्ञासा होती है। यदि भगवान् के ज्ञान की उत्कट इच्छा हो जाय तो फिर उनके मिलने में कुछ भी देरी न हो। सारे साधन इस जिज्ञासा के लिये ही हैं। भगवान् को जानने की यह उत्कट इच्छा भगवत्कृपा से ही होती है। यदि यह हमारे हाथ की चीज होती तो इस प्रकार प्रार्थना क्यों की जाती—**'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्तु'**। यदि हम

भगवान् का निराकरण न करने में समर्थ होते तो इसके लिये प्रार्थना क्यों की जाती ? परन्तु नहीं, हम सब कुछ जानते हुए भी अनादिमाया से मोहित होकर उनका निराकरण करते हैं। हम जान-बूझकर भी अनन्तानर्थ के निदानभूत संसार में गिरते हैं। परन्तु किया क्या जाय --

"केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।"

इसीसे महानुभाव लोग नास्तिकों की भी निन्दा नहीं करते; क्योंकि वे जानते हैं कि यह बात उनके वश की नहीं है। एक व्यक्ति अपने कल्याण की कामना से संसार से विरक्त होता है, परन्तु पीछे माया से मोहित होकर वह पतित हो जाता है। इसमें उसका क्या दोष है; वह तो अपना कल्याण ही चाहता है। न्याय-कुसुमाञ्जलिकार श्री उदयनाचार्यजी नास्तिकों के लिये कल्याण-कामना करते हुए भगवान् से प्रार्थना करते हैं—

"इत्येवंश्रुतिनीतिसम्भवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविधयाप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः॥"

महानुभावों को दूसरों को दुःख में देखकर खेद हुआ ही करता है। इसीसे उदयनाचार्यजी ने जो नास्तिकमत का खण्डन किया है वह उन्हें भगवत्सुख से वञ्चित देखकर करुणावश ही किया है—द्वेष के कारण नहीं किया। देखो, महर्लोकनिवासी जीवों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता; परन्तु वे जो अपने से नीचे के लोगों को परमात्मसुख से वञ्चित देखते हैं इससे तो उन्हें खेद होता ही है। वस्तुतः देखा जाय तो हम लोग भी नास्तिकप्राय ही हैं। यदि भगवान् की सत्ता में हमारा पूरा विश्वास होता तो हमें लुक-छिपकर पाप करने का साहस कैसे होता ? भगवान् तो अन्तर्यामी हैं, वे तो हमारी मानसिक क्रिया को भी जानते हैं। अतः ऐसी परिस्थिति में हमारे मन की भी दुष्प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? इस प्रकार यदि सच पूछा जाय तो हमसे तो नास्तिक ही अच्छे हैं। हम तो ऊपर से आस्तिकता का दावा करते हुए वस्तुतः नास्तिक हैं, किन्तु वे प्रत्यक्ष अपना दोष स्वीकार कर लेते हैं।

अतः सिद्ध हुआ कि भगवान् का निराकरण करना—यह मायामोहित जीवों का स्वभाव ही है। श्रीमद्भागवतादि में यह प्रसिद्ध ही है कि गर्भावस्था में जीव को भगवान् का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। उस समय उसे अपने पूर्वजन्मों की भी स्मृति होती है, और वह समझता है कि मैं भगवान् से विमुख रहने के कारण ही अनन्त जन्मों में भटकता रहा हूँ। उस समय वह भगवान् की प्रार्थना करता है। पूर्वजन्मों में भी उसने इसी प्रकार सहस्रों बार प्रार्थना की थी; परन्तु संसार में पदार्पण करते

ही उसे उसका कुछ भी ध्यान नहीं रहा। अतः यह देखकर कि मैं अनन्त बार प्रभु के प्रति अपनी प्रतिज्ञा भुला चुका हूँ उसे बहुत संकोच भी होता है; तथापि प्रभु का स्वभाव समझकर वह फिर भी उनके सामने रोता ही है। यही दशा भगवान् से मिलने के लिये वन को जाते समय भरतजी की थी—

"फेरति मनहु मातृकृत खोरी।
चलत भक्तिबल धीरज थोरी॥
जब समुझत रघुनाथ-सुभाऊ।
तब मग परत उतावल पाऊ॥"

अहा! प्रभु का स्वभाव कैसा करुणामय है! उन्हें अपराध का तो स्मरण ही नहीं होता, किन्तु थोड़े से भी उपकार को वे बारम्बार स्मरण करते हैं—

"रहत न प्रभु चित चूक किये की।
करत सुरत सौ बार हिये की॥"

अतः प्रभु का ऐसा स्वभाव समझकर ही जीव उस समय उनसे प्रार्थना करता है कि भगवन्, अब मैं अवश्य आपके चरणों का समाश्रयण करूँगा। मैं आपको भूलकर बहुत भटक चुका हूँ, अब ऐसी भूल नहीं करूँगा।

परन्तु गर्भ से बाहर आते ही वह फिर प्रभु को भूल जाता है। यदि थोड़ी सी विद्या या वैभव मिल गया तो फिर तो सीधे-सीधे प्रभु का निराकरण करने लगता है। परन्तु भगवान् तो उनका भी अमङ्गल नहीं चाहते। वे जानते हैं कि **'ये अज्ञ हैं; मेरी माया से मोहित हो रहे हैं।'** इसीसे यह प्रार्थना की जाती है कि **'मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ और ब्रह्म मेरा निराकरण न करे।'** किन्तु भगवान् का निराकरण न करना अपने हाथ की बात नहीं है। यह तो भगवत्कृपासाध्य ही है। वह भगवत्कृपा तभी हो सकती है जब हम भगवान् की आज्ञा का पालन करें; और शास्त्र ही भगवान् की आज्ञा है—

"श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लंघ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥"

अतः सच्चा भगवत्प्रेमी वही है जो शास्त्र का उल्लङ्घन नहीं करता। वैष्णव-धर्म का लक्षण करते हुए कहा है—

"न चलति निजवर्णधर्मतो सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।"

वस्तुतः भगवत्कृपा तो सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है। उसे केवल अभिव्यक्त करना है और वह अभिव्यक्ति भगवदाज्ञा-पालन से ही हो सकती है। श्री गोसाईंजी महाराज कहते हैं—**'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'**

जिस समय भरतजी भगवान् को लौटाने के लिये चित्रकूट पर्वत पर गये उस समय उनका विशेष आग्रह देखकर भगवान् ने कहा कि **'भरत, तुम जैसा कहो वैसा**

ही करूँ ।' उस समय भरतजी ने यही सोचा कि मुझे अपने सुख-दुःख का विचार न करके भगवान् की आज्ञा का ही प्राधान्य रखना चाहिये; क्योंकि सेवक का धर्म तो स्वामी की आज्ञा का पालन करना ही है। इधर व्रजाङ्गनाओं का व्रत भी तत्सुख-सुखित्व ही था। वृन्दावन से मथुरा कुछ दूर नहीं थी; परन्तु भगवान् की इच्छा न देखकर उन्होंने मरण से भी सहस्रगुण दुःखदायिनी वियोग-व्यथा तो सहन की किन्तु मथुरा नहीं गयीं। अतः सेवक का प्रधान कर्त्तव्य तो स्वामी की आज्ञा पालन करना ही है।

जिस समय भगवान् देखते हैं कि मेरा भक्त मुझसे मिलने के लिये अत्यन्त उत्सुक है उस समय वे उसे अपनी माधुरी का थोड़ा-सा रसास्वादन करा देते हैं। ऐसा वे इसीलिये करते हैं जिससे कि उस उपासक की भगवन्मिलन की तृष्णा और भी अधिक तीव्रतर हो जाय। इसीसे भगवान् का भजन करनेवालों को कभी-कभी कुछ विलक्षण आनन्द का अनुभव हुआ करता है; परन्तु वह स्थिर नहीं रहता। वह भजनानन्द तो प्रभु-प्रेम की आसक्ति के लिये है। जिस प्रकार किसी कामुक पुरुष को कामिनी सौन्दर्य का थोड़ा-सा भी व्यसन हो जाने पर फिर उसे कितना ही समझाया जाय वह उसे छोड़ नहीं सकता उसी प्रकार जिसे भजनानन्द की थोड़ी सी भी चाट लग गयी है उसे संसार का कोई भी सुख आकर्षित नहीं कर सकता।

देखो, जिस समय नारदजी ने देखा कि मेरी माता का देहावसान हो गया तो वे यह समझकर कि मेरा भगवद्भजन का एकमात्र प्रतिबन्ध नष्ट हो गया बहुत प्रसन्न हुए और तत्काल वन को चल दिये। वहाँ इन्द्रियों का निरोध कर दीर्घकाल तक भगवद्भजन करते रहे। इसी समय एक दिन भगवान् ने उन्हें अपनी मधुरिमा का यत्किञ्चित् रसास्वादन कराया।

परन्तु वह आनन्द बहुत जल्दी तिरोहित हो गया। इससे नारदजी बड़े व्यग्र हुए। उन्होंने बहुतेरा यत्न किया परन्तु पुनः उस रस का समास्वादन न कर सके। उन्होंने प्रभु से बहुतेरी अनुनय-विनय की, वे बहुतेरे विह्वल हुए, परन्तु प्रभु ने फिर कृपा न की। वास्तव में तो प्रभु की यह कठोरता ही परम कृपा थी। भगवान् की सबसे बड़ी कृपा तो यही है कि जीव उनके लिये अत्यन्त तृषित हो जाय। यह तो परम सौभाग्य है। हम लोग स्त्री, धन आदि के लिये निरन्तर शोक-समुद्र में डूबे रहते हैं। किन्तु प्रभु के लिये हमारा अन्तःकरण कभी द्रवीभूत नहीं होता। न जाने वह समय कब आयेगा जब प्रभु के विप्रयोगानल में दग्ध होकर हमारा एक-एक पल एक-एक कल्प के समान व्यतीत होगा। भावुकों की स्थिति ऐसी ही विलक्षण हुआ करती है।

अतः भगवान् ने देखा कि नारद के प्रेम का अभी शैशवकाल है। अभी इसके पनपने की आवश्यकता है। जिस समय जतु के समान इसका अन्तःकरण सर्वथा

द्रवीभूत हो जायगा उसी समय यह मेरा यथावत् प्रेम प्राप्त कर सकता है। इसलिये भगवान् ने यह कठोरता धारण की थी। उनकी यह कठोरता भी कोमलता थी। प्रभु ने थोड़ा-सा रसास्वादन इसीलिये कराया था, जिससे उनकी तृषा खूब बढ़ जाय; क्योंकि बिना रस-परिचय के उसमें प्रवृत्ति नहीं होती।

इसी प्रकार जब भगवान् कृष्ण ने देखा कि मेरे उपेक्षा के वचन सुनकर गोपाङ्गनाएँ कुछ उदास हो चली हैं उन्हें आश्वासन देने के लिये उन्होंने कहा—

"अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥"

पहली उत्थानिका में कहा जा चुका है कि जब प्राणी बहुत काल तक भगवच्चिन्तन करते रहने पर भी भगवत्कृपा से वञ्चित रहता है तो उसकी लगन में कुछ शिथिलता आ जाती है। हम रूप-रसादि शब्दों का जितना ही अधिक सेवन करेंगे उतनी ही उनके प्रति हमारी तृष्णा बढ़ती जायगी। शास्त्रालोचन की भी ऐसी ही बात है। जिन्हें शास्त्रावलोकन का व्यसन हो जाता है उनसे फिर उसके बिना रहा नहीं जाता। इसी प्रकार जो लोग निरन्तर भगवच्चरित्रों का श्रवण-कीर्त्तन करते रहते हैं उनका भी उसमें सुदृढ़ अनुराग हो जाता है। ऐसा अनुराग सनकादि में था।

"आशा बसन व्यसन यह तिनहीं।
रघुपति चरित होहिं तहँ सुनहीं॥"

किन्तु यदि भगवद्भजन कुछ काल के लिये छूट जाता है तो उसका स्वारस्य भी कुण्ठित हो जाता है—उसका फिर नये सिरे से अभ्यास करना होता है। इसीसे योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—'**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़-भूमिः।**' आप चाहे भगवच्चरित्रों का श्रवण-मनन करें, चाहे कर्मनिष्ठा को दृढ़ करें, चाहे योगाभ्यास में प्रवृत्त हों और चाहे वेदान्तश्रवण करें—सभी को दीर्घकाल तक आदरपूर्वक सेवन करने की आवश्यकता है। यदि आपको खिचड़ी बनानी है तो उसके लिये जैसी और जितनी अग्नि की जितनी देर तक आवश्यकता है यदि उतनी अग्नि न देंगे अथवा बीच-बीच में अग्निसंयोग को रोक देंगे तो खिचड़ी कभी बन ही न पायेगी। इसी प्रकार भगवद्भजन में सफलता प्राप्त करने के लिये भी दीर्घकाल तक निरन्तर पर्याप्त अभ्यास की अपेक्षा है। इसी तरह यदि दीर्घकाल तक भगवच्चरणस्मरण और भगवत्स्वरूपानुध्यान करते रहोगे तो उसका व्यसन हो जायगा और यह व्यसन ही परम सौभाग्य है।

"पुंसां भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-
स्त्वय्यब्जनाभसदुपासनया रतिस्स्यात्।"

परन्तु यदि दीर्घकाल तक प्रियतम के सम्मिलन की चाह लगी रहे—प्रभु से मिलने की उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती जाय तो यह बड़े ही सौभाग्य की बात है। ऐसी प्रीति तो चातक और मीन में ही देखी जाती है।

"जग यश भाजन चातक मीना।
नेम प्रेम नित जासु नवीना॥"

चातक का एक ही नियम है। वह स्वाति-बूंद को छोड़कर दूसरे जल की ओर कभी दृष्टिपात भी नहीं करता। उसके अभाव में वह निर्मल-नीर-प्रपूरित सरोवर के तट पर भी पीऊ-पीऊ रटते-रटते मर जायगा परन्तु अन्य जल कदापि ग्रहण न करेगा। अपने एकमात्र प्रियतम पयोधर को छोड़कर वह किसीसे याचना नहीं करता। परन्तु वह पयोधर उसे क्या देता है? खूब गर्ज-तर्ज कर ओलों की वर्षा करता है और बिजली भी गिरा देता है।

"जाँचत जल पवि पाहन डारै।
जलद जन्मभरि सुरति बिसारै॥"

परन्तु उसकी तो एक ही टेक रहती है। क्या उसे जल की कमी है? नहीं, परन्तु यदि उसे अमृत भी दिया जाय तो भी वह अपना नियम भंग नहीं कर सकता।

"चातक रटनि घटे घटि जाई।
बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥"

यही दशा मीन की है। वह तो एक क्षण के लिये भी अपने प्राणाधार जल का वियोग सहन नहीं कर सकता। इसी विषय में किसीकी उत्पेक्षा है—

"आपेदिरेऽम्बरतलं परितः पतङ्गाः
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीने
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥"

'अरे सर! इस समय तो तुममें बड़े दिव्यातिदिव्य पुष्प विद्यमान हैं। इसीसे तेरे बहुत से साथी बने हुए हैं। परन्तु जब तू क्षीण हो जायगा, तुझमें खिले हुए कमल कुम्हिला जायँगे तब ये हंस तुझे छोड़कर गगनमण्डल में विहार करने लगेंगे और ये भ्रमर जो तेरे परम प्रेमी बने हुए हैं वे भी तुझे छोड़कर रसाल-मुकुल का ही आश्रय लेंगे। परन्तु बता, यह मीन कहाँ जायगा? इसे तेरे साथ ही— नहीं, नहीं, तुझसे भी पहले सूख जाना होगा।'

इस प्रकार प्रेमास्वादन करनेवालों में प्रधान तो चातक और मीन ही हैं। अन्य प्रेमियों में तो इस तरह का एकांगी प्रेम प्रायः देखा नहीं जाता। लोक में यह कहावत प्रसिद्ध ही है कि **'एक हाथ से ताली नहीं बजती'** वहाँ तो प्रेम के बदले में

प्रेम किया जाता है। अतः दोनों ओर से प्रेम की अपेक्षा होती है। इसलिये जब प्राणी भगवान् के सम्मिलन की आकांक्षा से कुछ काल तक भगवच्चिन्तन में तत्पर रहता है और फिर भी भगवान् की ओर से उसे कोई सहारा नहीं मिलता तो उसका धैर्य भग्न हो जाता है और उसकी श्रद्धा शिथिल पड़ जाती है। साधनमार्ग में श्रद्धा की बड़ी आवश्यकता है। योगदर्शन में श्रद्धा का अर्थ उत्साह किया है। वहाँ बतलाया है कि वह माता के समान योगी पर अनुग्रह करता है। बिना श्रद्धा या उत्साह के साधनमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय और अभ्यास में तत्पर रहने की आवश्यकता है। भगवन्मार्ग में शीघ्रतर प्रगति होने के लिये स्वाध्याय और योगाभ्यास दोनों ही के क्रमिक अनुष्ठान की अपेक्षा है।

"स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥"

यदि तुम निरन्तर ध्यानपरायण होकर आरम्भ से ही चार घण्टे की समाधि लगाने का प्रयत्न करोगे तो उसमें कभी सफल न हो सकोगे। पहले-पहले केवल पाँच मिनिट ध्यान का अभ्यास करो; फिर पाँच मिनिट स्वाध्याय करो। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय का साथ-साथ अभ्यास करते हुए क्रमशः ध्यानकाल में वृद्धि करो। ध्यान के बढ़ने पर धीरे-धीरे स्वाध्याय में कमी कर सकते हो। उससे पहले यदि स्वाध्याय छोड़कर केवल ध्यान में ही लगोगे तो ध्यान तो होगा नहीं, केवल मनोराज्य या तन्द्रा में समय का अपव्यय होगा।

स्वाध्याय क्या है? अपने प्रियतम के स्वरूप का परिचायक अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है। यदि तुम भगवान् कृष्ण का साक्षात्कार करना चाहते हो तो श्री सूरदासजी के उन पदों का पाठ करो जिनमें भगवान् के दिव्यातिदिव्य स्वरूप-सौष्ठव का वर्णन किया गया है अथवा श्रीमद्भागवत से भगवान् की दिव्य-मंगलमयी मूर्ति की स्फूर्ति करनेवाले अंशों का परिशीलन करो। उसके मनन से जब तुम्हारी मनोवृत्ति ध्येयाकार हो जाय तो जितने काल वह स्वरूप मानस नेत्रों के सामने रह सके उतने समय तक ध्यान करो। फिर जब ध्यान में शिथिलता आये तो स्वाध्याय करो। इसी प्रकार निर्गुणोपासकों को भी **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** आदि वाक्यों का मनन करते हुए ही ध्यानाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिये। इस तरह स्वाध्याय और ध्यान का क्रमिक अभ्यास करने से ही प्रभु के स्वरूप की स्फूर्ति जल्दी हो सकती है।

जब बहुत काल अभ्यास करते रहनेपर भी भगवत्स्वरूप की स्फूर्ति नहीं होती तो साधक बहुत निरुत्साह हो जाता है। उसका उत्साह बनाये रखने के लिये ही स्वाध्याय की आवश्यकता है। बहुत से लोग भिन्न-भिन्न महात्माओं के पास जाकर साधन की बात पूछा करते हैं। उन्हें कोई कुछ साधन बतलाता है और कोई कुछ दूसरा साधन बतला देता है। वे कुछ दिन तक साधन का अवलम्बन करते हैं और

उसमें असफल होने पर निरुत्साह हो जाते हैं। उनका हृदय विषादग्रस्त हो जाता है। किन्तु विषाद से कोई लाभ नहीं होता। लाभ तो साधन-मार्ग में चलने से ही होगा। विषाद से शोक-मोह के सिवा और कुछ हाथ नहीं लगता। इसलिये साधक को विषाद नहीं करना चाहिये। जिस समय तुम्हारा साधन पूरा होगा उस समय साध्य अवश्य मिलेगा; उसके लिये उतावले क्यों होते हो ?

तनिक हिरण्यकशिपु के तप की ओर ध्यान दो। उसके शरीर को पिपीलिकाओं ने छलनी कर दिया था, मांस सर्वथा सूखकर केवल अस्थि-चर्म मात्र रह गये थे; तो भी वह निरुत्साह नहीं हुआ। वह कहता है कि 'काल नित्य है और आत्मा नित्य है; अतः यदि शरीर नष्ट भी हो जाय तो कोई चिन्ता नहीं, हम तपस्या से पीछे नहीं हटेंगे। यह है तपस्या का उत्साह।' देखो, वे लोग राक्षस थे, किन्तु उनकी धारणा कैसी स्थिर थी। हम लोग दश दिन माला फेरते हैं और कोई आनन्दानुभव न होने के कारण समय और मन्त्र को दोष देने लगते हैं। किन्तु यह हमारी भूल है। हमें दृढ़तापूर्वक अपने साधन पर डटे रहना चाहिये।

एक वैश्य व्यापार को अपना सर्वस्व समझता है। व्यापार करने में वह अपनी सर्वस्व रक्षा मानता है और व्यापार न करने में सर्वस्व का नाश समझता है। इसीसे वह धन, स्त्री, गृह और देश की भी उपेक्षा करके विदेश में चला जाता है तथा अपने कारोबार के लिये दिन-रात एक कर देता है। लोग कहते हैं, '**महाराज, भजन करते हैं तो निद्रा बहुत सताती है।**' किन्तु तनिक स्टेशनमास्टर और खजाञ्चियों से तो पूछो उन्हें कितनी निद्रा आती है ? वे जानते हैं कि थोड़ा सा भी प्रमाद होने से हानि होने की सम्भावना है। वे दो-चार रुपये की हानि की आशङ्का से रातभर जागते रहते हैं। इसी प्रकार तुम्हें भी यदि भजन में ढील होने पर हानि की आशङ्का होती तो आलस्य कैसे आ सकता था ? जिसे तीव्र क्षुधा या तीव्र पिपासा होती है उससे कब बैठा जाता है ? इसी प्रकार यदि भगवत्तत्त्व के न जानने में अपनी हानि सुनिश्चित हो और उसके ज्ञान में अपना परम लाभ निश्चित हो तो प्रमाद हो ही नहीं सकता। भगवती श्रुति कहती है—

"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।"

याद रखें, यदि इस मनुष्यजन्म में आप भगवान् का साक्षात्कार न कर सके तो '**महती विनष्टिः**'—सर्वस्वनाश हो जायगा। क्योंकि, जब दो रुपये की हानि की आशङ्का से रात को नींद नहीं आती तो सर्वस्वनाश की आशङ्का होने पर कैसे आलस्य सतायेगा ?

हमें जो काम करना है उसकी आवश्यकता का अनुभव करना चाहिये। भगवद्भजन में सर्वस्व लाभ है और उसकी उपेक्षा में सर्वनाश है—जब तक ऐसा सुदृढ़ निश्चय न होगा, भजन में प्रगति कैसे होगी ? सामान्य रूप से यह बात सभी

को निश्चित है कि एक दिन अवश्य मरना होगा। परन्तु यह निश्चय रहते हुए भी साठ-साठ वर्ष के बूढ़े भी दुराचार, दम्भ और पाप से निवृत्त नहीं होते। इसमें क्या हेतु है ?—मोह। मोह ही उन्हें मृत्यु की घड़ी का विस्मरण करा देता है। एक तो इस प्रकार का मृत्यु का सामान्यरूपेण निश्चय और दूसरा अपने पुत्र या बन्धु की मृत्यु को देखकर होनेवाला वैराग्य—क्या ये दोनों समान हैं ? हमें भी अपनी मृत्यु का निश्चय है; परन्तु क्या हम उसकी ओर से निश्चिन्त नहीं हैं ? किन्तु यदि हमें राजाज्ञा हो जाय कि आज से पाँचवें दिन तुम्हें फाँसी दे दी जायगी तो फिर क्या पाँच दिन तक हमें नींद आ सकती है ? अतः हमें ऐसा अभिमान न करना चाहिये कि हम परमार्थ-विषय को जानते ही हैं, हमें सत्पुरुष या सच्छास्त्रों के सङ्ग की क्या आवश्यकता है ? यदि तुम ऐसा सोचोगे तो तुम्हारी प्रगति शिथिल पड़ जायगी। नहीं, इनका सङ्ग तो विवेक और वैराग्य को उद्दीपन करनेवाला है। इस उद्दीपन की बहुत आवश्यकता है। हमें विचारशक्ति को निरन्तर जागृत रखना चाहिये। इस प्रकार जब भजन की आवश्यकता सुनिश्चित रहेगी तो भजन में प्रमाद न होगा। यह कोई जादू-टोना या मन्त्र नहीं है, यह तो युक्ति और अनुभवसिद्ध बात है। उत्साह भंग होने से पुरुष निर्वीर्य हो जाता है; अतः उत्साह को स्थिर बनाये रखना चाहिये।

सुनते हैं, ध्रुवजी को छः महीने में ही भगवान् का दर्शन हो गया था। जिस समय भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए, ध्रुव ने कहा—'भगवन् ! मैं तो सुनता था आप बड़े दुराराध्य हैं, परन्तु मुझपर आपने इतनी शीघ्र कृपा कर दी।' भगवान् ने कहा—'ध्रुव, तुम यह मत समझो कि हम छः मास में ही मिल गये हैं; आओ देखो, हमारी प्राप्ति के लिये तुम्हारे कितने शरीर शुष्क हुए हैं।' ध्रुवजी ने दिव्य-दृष्टि से देखा कि उनके सहस्रों शरीर कन्दराओं में सूखे हुए पड़े हैं। भगवान् बुद्ध की तो प्रतिज्ञा थी—

"इहासने शुष्यतु मे शरीरम्।"

अतः असफलता से हताश मत हो। साधन में लगे रहो। देखो, वायुयान आदि लौकिक पदार्थों के आविष्कार में भी कितने समय, धन, जन-समुदाय का क्षय हुआ है। भगवत्प्राप्ति तो उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्यवान् है। बस, लगे रहो, भगवान् अवश्य कृपा करेंगे।

तुमने टिट्टिभ की गाथा सुनी होगी। समुद्र उसके अण्डे को हर ले गया था। इससे कुपित होकर उसने समुद्र को सुखा डालने का निश्चय किया। वह अपने पञ्जे में बालू भरकर समुद्र में डाल देता और चोंच से एक बूँद पानी लेकर समुद्र से बाहर डाल देता। उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि चाहे कितने ही जन्म बीत जायँ समुद्र को अवश्य सुखा डालना है। यह सब लीला देवर्षि नारदजी ने भी देखी और टिट्टिभ की दुर्दशा देखकर उन्हें उसपर बड़ी दया आयी। उन्होंने यह सारा समाचार पक्षिराज गरुड़ को सुनाया और उन्हें अपने सजातीयों की सहायता करने के लिये

उत्तेजित किया। फिर क्या था ? पक्षिराज के तो पर मारते ही समुद्र में खलबली पड़ गयी; उसे तुरन्त हार माननी पड़ी और टिट्टिभ के अण्डे लाकर देने पड़े।

यह समुद्र का पराजय टिट्टिभ के अपने प्रयत्न से नहीं हुआ था। उसमें तो गरुड़जी की सहायता ही कारण थी। परन्तु यदि टिट्टिभ ऐसा हठ न करता तो गरुड़जी क्यों आते ? इसी प्रकार जो लोग दत्तचित्त होकर तन-मन से लग जाते हैं उन्हींपर भगवान् की कृपा होती है और उसीसे वे भगवत्प्राप्ति करने में समर्थ होते हैं। भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन तो भगवत्सम्मिलन की तीव्रतर तृषा ही है; उस छटपटाहट के बिना भगवत्कृपा अत्यन्त दुर्लभ है।

"हठ-वश शठ बहु साधन करहीं।
भक्ति-हीन भव-सिन्धु न तरहीं॥"

इस प्रकार दीर्घकाल तक भगवान् के लिये सतृष्ण रहते-रहते भी जब साधक को प्रभु की ओर से कोई सहारा मिलता दिखाई नहीं देता तो वह श्रान्त हो जाता है, उसका हृदय कुछ अवसन्न हो उठता है। उस समय प्रभु उसपर अनुग्रह करते हैं। प्रभु के हृदयाकाश में जो अनुग्रहरूप चन्द्र विराजमान है, प्रभु के मन्दहास के द्वारा उसकी शीतल किरणें साधक के सन्तप्त हृदय तक पहुँचकर उसे शान्त कर देती हैं। इस प्रकार प्रभु का अनुग्रह होनेपर साधक को कुछ आश्वासन प्राप्त होता है और वह चौगुने उत्साह से साधन में जुट जाता है। यही स्थिति यहाँ व्रजाङ्गनाओं की थी।

वे लौकिक-वैदिक सभी प्रकार की शृंखलाओं को तोड़कर भगवान् की सन्निधि में आयी थीं; किन्तु यहाँ उनका इस प्रकार तिरस्कार हुआ। जिनके लिये उन्होंने सर्वस्व त्यागकर अनेकविध विघ्नों का सामना किया था वे ही ऐसे निष्ठुर भाव से उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में उनके अनाश्वास का अवकाश है या नहीं ?

परन्तु प्रभु बड़े कृपालु हैं। उनका तात्पर्य उनके तिरस्कार में तो था ही नहीं। वे तो **'स्थूणानिखननन्याय'** से अपने प्रति उनकी निष्ठा की परीक्षा कर रहे थे; वे तो उनकी निष्ठा को और भी सुदृढ़ करना चाहते थे। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि व्रजाङ्गनाओं के भाव में भी कोई न्यूनता रहनी सम्भव थी। तो वे प्रेममार्ग की आचार्या हैं। मीन और चातक में जो प्रेम उपलब्ध होता है वह तो व्रजाङ्गनाओं के प्रेमसुधासिन्धु का एक कणमात्र है। जीव और परब्रह्म में जो प्रेमसम्बन्ध है, उस प्रेम का तो एक अंश भी मीन और चातक में नहीं है। **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'** किन्तु हाँ, वह प्रेम तिरोहित अवश्य है। तथा व्रजाङ्गनाओं का भगवान् के प्रति जो अनुराग है वह तो तत्त्वज्ञ महानुभावों के आत्मप्रेम की अपेक्षा भी कहीं बढ़कर है। हम कह चुके हैं—

"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥"

यद्यपि तत्त्वज्ञ भी प्रपञ्चका मिथ्यात्व निश्चय करके सजातीय, विजातीय और स्वगत भेदशून्य परब्रह्म में ही स्थित होते हैं तथापि चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ भूमिकावाले ज्ञानियों का आत्मप्रेम भी उतना प्रौढ़ नहीं होता जैसा कामुकों का अपनी प्रेयसी के प्रति होता है। इसीसे विद्यारण्य स्वामी ने जीवन्मुक्ति विवेक में तत्त्वज्ञान के पश्चात् भी मनोनाश की आवश्यकता बतलायी है, क्योंकि आत्मज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध की प्रबलता रहने के कारण विक्षेप बना ही रहता है। इसीसे चित्त ब्रह्मानुसन्धान से हटकर विषयों की ओर चला जाया करता है। ज्ञानी लोग प्रपञ्चचिन्तन में अनर्थ समझकर ही उसे उस ओर से हटाकर पुनः ब्रह्मानुसन्धान में जोड़ते रहते हैं। ऐसा करते हुए भी उनका चित्त कई बार आत्मानुसन्धान से हटकर अनात्मपदार्थों की ओर चला जाता है। आत्मानुसन्धान में उसकी स्वारसिक प्रवृत्ति नहीं होती। इसीके लिये योगाभ्यास किया जाता है। निरन्तर योगाभ्यास करते-करते ब्रह्मतत्त्व में उसकी स्वारसिक प्रवृत्ति हो जाती है। ऐसा नारायण-परायण महापुरुष सुदुर्लभ है।

व्रजाङ्गनाओं की ऐसी स्थिति स्वाभाविक थी। भगवान् के अनेक प्रकार से तिरस्कार करने पर भी उनकी मनोवृत्ति भगवान् से विचलित नहीं हो सकती थी। व्रजाङ्गनाएँ तो परम सिद्ध थीं; उनके चरणकमल तो योगीश्वरों के लिये भी वन्दनीय हैं। परन्तु उन्हें लक्ष्य करके ही भगवान् ने सर्वसाधारण के कल्याण के लिये ऐसी कई बातें कही हैं जिनकी वे पात्र नहीं थीं। हाँ, उनमें भी जो सुदृढ़ निष्ठावाली नहीं थीं, उनके लिये वे बातें उपयुक्त भी हो सकती हैं।

इस प्रकार कई बार भगवान् के उपेक्षा करने पर सम्भव है व्रजाङ्गनाओं को कुछ सन्ताप हुआ हो। अतः उन्हें अपनी अवहेलना से कुछ खिन्न देखकर भगवान् ने उन्हें आश्वासन देने के लिये कहा—

"अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः।
आगता ह्युपपन्नं वः प्रीयन्ते मयि जन्तवः॥"

'मैंने जो तुम्हारे विषय में तरह-तरह के पक्षों की कल्पना कर रखी थी वह व्यर्थ थी। मैं अब समझा; आप तो हमारे प्रेम से आकृष्ट-चित्ता होकर ही हमसे मिलने आयी हैं।' व्रजाङ्गनाएँ वस्तुतः प्रेम के प्रवाह में बहकर ही आयी थीं; वे स्वयं अपनी इच्छा से वहाँ नहीं आयीं। भगवान् के मुखारविन्द से वेणुनाद के रूप में निःसृत जो प्रेमतत्त्व उसीने उन्हें खींच लिया था। व्रजाङ्गनाओं का अन्तःकरण तो स्वयं ही प्रेमामृतपूरित एक महासरोवर के समान था; किन्तु वह अनेकविध प्रतिबन्ध से निबद्ध था। उसे लौकिक-वैदिक मर्यादारूप बहुत से बाँधों ने मर्यादा में रोक रखा था। किन्तु जब यहाँ श्यामघन ने वेणुनादरूप गर्जन करते हुए दिव्यातिदिव्य रस का वर्षण किया तो उससे गोपाङ्गनाओं के हृदयस्थ प्रेमसमुद्र का बाँध टूट गया।

उसमें ऐसी बाढ़ आ गयी कि वह और अधिक काल मर्यादा में न रह सका। व्रजाङ्गनाओं ने अपनी मर्यादा की यहाँ तक रक्षा की थी कि शरीर की सुध-बुध भूल जाने पर भी उन्होंने अपने गोपजाति के लिये विहित लौकिक-वैदिक कृत्यों की उपेक्षा नहीं की। वे दधिमन्थनादि गृहकृत्य करती ही रहीं। हाट में गोरस बेचने जातीं, किन्तु प्रेमविभोर होकर 'दही लो' कहने के बदले 'श्याम लो' पुकारने लगतीं! इससे हम लोगों के लिये उन्होंने यही उपदेश दिया है कि हमें अपने शास्त्रोक्त स्वधर्म का पालन करते हुए ही भगवत्प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये।

"दुहन्त्योऽभिययुः काश्चिद्दोहं हित्वा समुत्सुकाः।"

यहाँ जो सार्वत्रिक शतृ प्रत्यय है वह हेतुता का द्योतक है। अतः इसका तात्पर्य यही है कि भगवान् के वेणुनिनाद से आकर्षित होने में गोपियों को गोदोहन-रूप स्वधर्मानुष्ठान ही हेतु था।

अतः हमारा यह बलपूर्वक कथन है कि आप किसी भी परिस्थिति में रहें, अपने लौकिक-वैदिक कृत्यों का यथावत् पालन करते रहें।

गोपाङ्गनाओं का प्रेम अत्यन्त प्रौढ़ था; किन्तु वे उसे छिपाये रहती थीं। उनका सिद्धान्त था—

"गुप्त प्रेम सखि सदा दुरैये।
कुञ्जगलिन बिच अइये जइये॥"

प्रेमी लोग प्रेम को सदा दुराते ही हैं। वह हठात् प्रकट हो जाय तो वश की बात नहीं। अहा! श्रीवृषभानुनन्दिनी ने तो अपने प्रेम को अन्तरतम सखियों से भी छिपाकर रखा था। वह उन्हें उनकी अचेतावस्था में ही प्रकट होता था।

अब, जब भगवान् ने देखा कि इनकी पूर्ण योग्यता है। ये मेरा रसास्वादन करने की पात्र हैं तो उन श्यामघन ने वेणु-निनाद से अमृत वर्षण कर उनके हृत्समुद्र में इतना रस भर दिया कि वह उसमें समा न सका। अहा! जिनके चरण नख से निकली हुई श्रीगङ्गाजी वडवाग्नि द्वारा सोखे हुए समुद्र को भरने में समर्थ हैं, उन्हीं श्यामघन ने जब वेणुनाद द्वारा प्रेममय अधर-सुधारस वर्षण किया तो उसका प्रवाह इतना बढ़ा कि उसमें व्रजाङ्गनाएँ बह गयीं। यदि प्रबल प्रवाह में पड़ी हुई नौका को कोई नाविक रोकना चाहे तो वह रोक नहीं सकता। इसी प्रकार गोपाङ्गनाओं को भी कोई रोक न सका।

इसीसे भगवान् कहते हैं—'गोपिकाओ! अब मैं समझा। तुम तो मेरे प्रेम से विवश होकर ही यहाँ आयी हो।' 'यन्त्रिताशयाः—वशीकृतान्तःकरणाः' अर्थात् जिनका अन्तःकरण किसीने अपने अधीन कर लिया हो। भगवान् के मधुमय वेणु-निनादरूप चौर ने गोपाङ्गनाओं के हृदय-भवन में घुसकर उनके विवेकरूप धन को चुरा लिया था। इसीलिये उन्हें लौकिक-वैदिक मर्यादा का ज्ञान नहीं रहा। भगवान्

कहते हैं—आप लोगों ने यद्यपि बड़ा प्रयत्न भी किया कि लोकमर्यादा का विच्छेद न हो; परन्तु यह तो आपके वश की बात नहीं रही थी। देखो, भ्रमर बहुत से बन्धनों को काट सकता है, कठोर काष्ठ में भी छिद्र कर देता है, परन्तु पङ्कज-कोश को नहीं काट सकता। इसी प्रकार आप भी प्रेमबन्धन को काटने में सर्वथा असमर्थ थीं।

किन्तु, प्रियतम! जब आप जानते हैं कि ये व्रजाङ्गनाएँ प्रेमपाश में बँधकर ही आपके पास आयी हैं तो आप इनपर कृपा क्यों नहीं करते? इसपर भगवान् कहते हैं—**'मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः'**—आप मेरे अभिस्नेह से विवशचित्त हैं। **'अभितः स्नेहः अभिस्नेहः प्रीतिविशेषः'** अर्थात् हे गोपाङ्गनाओ! हम जानते हैं, आप लोग सहज स्नेह से आयी हैं—किसी स्त्री-पुरुष सम्बन्धिनी रति के कारण नहीं आयीं। आपका प्रेम विशुद्ध है; उसमें काम का लेश नहीं है। मेरे में तो केवल प्रेम है, कृति तो है नहीं। अतः वह तो हमारे दर्शनमात्र से चरितार्थ हो गया। आप लोग यदि रमणाभिलाषा से आतीं तो अङ्ग-सङ्ग की आवश्यकता होती। आप यदि अङ्ग-सङ्ग की इच्छा से आतीं तो आपको ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त होता। आपका तो स्वाभाविक प्रेम है और मेरे प्रति प्रेम होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि **'प्रीयन्ते मयि जन्तवः'** मेरे प्रति जीवमात्र का प्रेम है। यह तो मेरा स्वभाव ही है; अतः इसमें कोई विशेषता नहीं है। यहाँ **'भवत्यः'** शब्द पूजार्थक है। इसका तात्पर्य यह है कि आप तो प्रेम की आचार्या और मुनिजनों के लिये भी वन्दनीया हैं। मेरे प्रति तो स्वभावतः समस्त जीवों का प्रेम है; फिर यदि आपका भी मेरे में अनुराग हुआ तो इसमें विशेषता ही क्या है? इसलिये आपका प्रेम तो मेरे दर्शनमात्र से ही चरितार्थ हो गया।

'जन्तु' पद से यहाँ देह से तादात्म्याध्यासवाले पामर और अनभिज्ञ प्राणी अभिप्रेत हैं; क्योंकि आत्मा तो वस्तुतः जन्म-मरण-रहित है। वह **'जन्तु'** शब्द का वाच्य नहीं हो सकता। जिस समय वह देह से अपना तादात्म्य करता है तभी **'जन्तु'** कहा जाता है। मेरे प्रति तो उन पामर प्राणियों का भी प्रेम है, क्योंकि मैं सभी का आत्मा हूँ और आत्मा नाम की वस्तु सभी को प्रिय हुआ ही करती है। यद्यपि जीव देहादि में ही आत्मभाव कर लेते हैं तो भी मैं तो उनका भी परम-प्रेमास्पद हूँ।

कहते हैं, जिस समय रामभद्र वन को पधारे उस समय अयोध्या में जो स्त्रियाँ पुत्रहीना थीं उन्हें भी जब प्रभु के वनगमनानन्तर पुत्र-प्राप्ति हुई तो प्रभु के वियोग के कारण उससे कुछ प्रसन्नता नहीं हुई; जिनके पति चिरकाल से विदेश गये हुए थे उन्हें उनका आगमन होने पर भी कोई सुख न हुआ। यहाँ तक कि पशु-पक्षी और स्थावरों की भी दुर्दशा ही रही। नदियाँ सूख गयीं और वृक्ष एवं लताएँ पत्र-पुष्पहीन हो गये।

"अपि ते विषये म्लाना सपुष्पाङ्कुरकोरकाः।"

घोड़ों की दशा तो श्री गोसाइंजी महाराज ने लिखी ही है—

"जो कह राम लषन बैदेही।
हिंकरि हिंकरि हय चितवहिं तेही॥
जहँ अस दसा पशुन की बरनी।
को कहि सकहि सचेतन करनी॥"

यदि भगवान् राम कोई अन्य व्यक्ति होते तो सबको ऐसी बेचैनी क्यों होती ? द्यपि आपात दृष्टि से यह भी कहा जाता है कि उन सबको यह ज्ञान भी नहीं था के वे हमारे अन्तरात्मा ही हैं, तथापि वस्तुस्थिति तो ऐसी ही थी। हमारी तो ऐसी भी आस्था है कि जिन्होंने भगवान् रामभद्र का दर्शन या स्पर्श किया था उन्हें उनका पपने अन्तरात्मास्वरूप से अवश्य ज्ञान हो गया था; क्योंकि प्रभु की यह प्रतिज्ञा है—

"मम दरसन फल परम अनूपा।
जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥"

अतः जिन्हें उनका सान्निध्य प्राप्त हुआ था उन्हें तो उस परमतत्त्व का लाभ वश्य हो गया था जो योगीन्द्रों को भी दुर्लभ है।

उन्हें जो स्वरूपानभिज्ञ कहा जाता है वह लौकिकी दृष्टि को लेकर कहा जाता । अन्यथा '**कहु रे शठ हनुमान कपि**' भला मरुत्नन्दन वीराग्रणी श्रीहनुमान्जी क्या न्दर हैं ? पक्षिराज जटायु क्या साधारण पक्षी हैं ? भक्ताग्रगण्य काकभुशुण्डिजी क्या ोरे कौए ही हैं ? केवल लौकिकी दृष्टि से ही उन्हें पशु-पक्षी कहा जाता है।

अहा ! जिन्हें प्रभु का सान्निध्य प्राप्त हुआ था उन कोल-किरात और भीलों ो भी प्रभु का जो परम दुर्लभ प्रेम प्राप्त हुआ था वह क्या हमें अनायास प्राप्त हो कता है ? प्रभु कैसे प्रेम से उनकी बातें सुनते थे !—

"वेदवचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुनाऐन।
सुनत किरातन के वचन ज्यों पितु बालक-बैन॥"

इससे यह सिद्ध होता है कि प्रभु का स्वरूप-ज्ञान किसीको हुआ हो अथवा हुआ हो उनके दर्शन मात्र से उनके प्रति प्रेमातिशय का होना तो स्वाभाविक ही । देखो, खर और दूषण कैसे क्रूर राक्षस थे ? वे अपनी बहिन के अपमान से भित होकर बदला लेने के लिये ही आये थे। तथापि जिस समय उन्होंने प्रभु का प-माधुर्य देखा तो कहने लगे—

"जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा।
बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥"

भगवान् तो साक्षात् अपने आत्मा हैं, जिन अन्य पदार्थों में भी आत्मत्व का भ्रम हो जाता है उनके प्रति भी अपार प्रेम हो जाता है। देखो, शरीर में आत्मत्व

का केवल भ्रम ही तो है; किन्तु उसके लिये मनुष्य संसार की सारी वस्तुओं को निछावर कर देता है।

अतः भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार जब अज्ञ जन्तुओं का भी मेरे प्रति स्वाभाविक अनुराग है तो हे गोपिकाओ ! आप तो परम पूजनीया हैं। आपको मेरे प्रति प्रेम हुआ—इसमें तो कहना ही क्या है। आप जैसी प्रणयिनी, जो योगीन्द्रमुनीन्द्रवन्द्यपादारविन्दा हैं, यदि लौकिक-वैदिक बन्धनों की उपेक्षा करके हमारे प्रेम से आकृष्ट होकर यहाँ पधारी हैं, तो यह उचित ही है।

इसपर गोपिकाओं की ओर से यह प्रश्न हो सकता है कि महाराज ! आपके प्रति तो सब प्रेम करते हैं किन्तु आप भी उनके लिये कुछ करते हैं या नहीं ? इसका उत्तर यही है कि **'प्रीयन्ते प्रीतिमेव कुर्वन्ति न तु किञ्चिदपि मत्तोऽभिवाञ्छन्ति'**—जीव मेरे प्रति केवल प्रेम ही किया करते हैं, मुझसे कुछ चाहते नहीं हैं। मेरे सम्मुख होते ही उनकी सारी कामनाएँ निवृत्त हो जाती हैं। देखो, विभीषण राज्य की कामना से भगवान् के सम्मुख आये थे, परन्तु प्रभु का दर्शन करने पर तो यही कहने लगे—

"उर कछु प्रथम वासना रही।
प्रभुपद प्रीति सरित सो बही ॥"

यदि कहो कि अच्छा, भक्त तो आपसे कुछ नहीं चाहते, परन्तु आपको तो अपनी ओर से उनका कुछ उपकार करना ही चाहिये। इसपर प्रभु कहते हैं—**'प्रीयन्ते मयि स्वरूपमात्रे न तु प्रत्युपकारिणी'**—मुझ अपने स्वरूपमात्र में उनका केवल प्रेम ही होता है, वे मुझमें प्रत्युपकार की दृष्टि से प्रीति नहीं करते, क्योंकि मुझमें तो केवल प्रेम ही है—कर्त्तव्य नहीं है। जिन्हें कोई कामना हो उन्हें अन्य देवताओं की शरण लेनी चाहिये।

"कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हि तान् ॥"

मुझमें तो उन्हींका अनुराग होता है जिनका अन्तःकरण समस्त कामनाओं से निर्मुक्त होकर स्वच्छ हो गया है।

"येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥"

किन्तु ऐसी बात नहीं है कि भगवान् किसीकी कामनाएँ पूर्ण किया ही न करते। यह तो उनकी नीति है। उन्होंने कामनापूर्ति का काम अन्य देवताओं को सौंप रखा है। जिस प्रकार सम्राट् के यहाँ भिन्न-भिन्न विभागों के भिन्न-भिन्न अधिकारी होते हैं, उसी प्रकार भगवान् के यहाँ भी हैं। परन्तु समय-समय पर भगवान् स्वयं भी अपने भक्तों की कामना पूर्ण करते ही आये हैं। जिस समय ग्रा

गृहीत होने पर गजराज ने निर्विशेष रूप से भगवान् की स्तुति की थी उस समय और कोई देवता उसकी रक्षा के लिये उपस्थित नहीं हुआ। यद्यपि इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि सभी देवता उसकी रक्षा करने में समर्थ थे; परन्तु उन्होंने तो यही सोचा कि हमारा नाम लेकर थोड़ा ही पुकारता है जो हम जायँ। उस समय केवल श्रीहरि ने ही प्रकट होकर उसका संकट निवृत्त किया और साथ ही यह भी सिद्ध कर दिया कि जिस निर्विशेष परब्रह्म की गजराज ने स्तुति की थी वह मैं ही हूँ। इसी प्रकार द्रौपदी की लाज बचाने के समय भी प्रभु ने ही वस्त्रावतार लिया था। अतः ऐसी बात भी नहीं है कि प्रभु कभी किसीकी कामनापूर्ति करते ही न हों। इसीलिये,

"अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥"

ऐसी उक्ति है। परन्तु यहाँ तो व्रजाङ्गनाओं के साथ उपहास हो रहा है।

इस प्रकार यद्यपि उन्होंने व्रजाङ्गनाओं का समाश्वासन भी कर दिया, तथापि बात वही रही कि गोष्ठ को जाओ, देरी मत करो। यह नियम है कि जिस समय प्रियतम अपने प्रेमी का निराकरण करता हो उस समय यदि वह मुसकाने लगे तो उसके तिरस्कार का प्रभाव नहीं पड़ता। वह बात उपहास में सम्मिलित हो जाती है। जिस प्रकार यदि कोई पुरुष वैराग्य का उपदेश कर रहा हो और स्वयं अच्छे ठाट-बाट में हो तथा आकृति से भी रागी-सा जान पड़ता हो तो उसके कथन का कोई प्रभाव नहीं होता। अतः उपदेश के समय अनुकूल आचरण और मुद्रा की भी बहुत आवश्यकता है। इसीसे जब परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने उनका स्वागत करके फिर मन्द मुसकानपूर्वक निराकरण करना आरम्भ किया तो वे समझ गयीं कि यह केवल उनका उपहास है।

अब मानिनी व्रजाङ्गनाओं की स्थिति भी समझ लेनी चाहिये। उनकी स्थिति बहुत ऊँची है। मानिनी गोपाङ्गनाएँ वे हैं जो प्रभु पर आत्मीयता का अधिकार रखती हैं; वे उन्हें अपने अधीन समझती हैं और उनसे जो चाहें करा सकती हैं। उन्हींके विषय में यह कहा गया है कि वे भगवान् को कठपुतली के समान नचाती थीं—

'ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं।'

दूसरी अनभिज्ञा गोपियाँ हैं। साहित्य दृष्टि से वे मुग्धा नायिका हैं। वे प्रभु के अनुकूल रहकर उनका अनुग्रह प्राप्त करना चाहती हैं। ये प्रभु की प्रार्थना करती हैं किन्तु जो मदीयत्वाभिमानवाली हैं उनकी प्रार्थना स्वयं प्रभु करते हैं। देखो, जिस समय वृषभानुनन्दिनीजी ने कहा कि महाराज, मैं तो थक गयी तो यहाँ तक उनका कथन ठीक था; किन्तु इसके आगे जो यह कहा कि **'नय मां यत्र ते मनः'**—आपकी जहाँ इच्छा हो वहाँ मुझे ले चलिये—यह कथन उनके अनुरूप नहीं हुआ। इसीसे भगवान् अन्तर्धान हो गये। श्री राधिकाजी मानिनी नायिका थीं; उनको नायक के

आश्रित नहीं होना चाहिये था। उन्होंने जो आश्रयत्व-व्यञ्जक भाव प्रकट किया—यह उनके अनुरूप नहीं था। इससे रसभङ्ग हो गया और रासलीला का आविर्भाव रस-बृद्धि के लिये ही हुआ था। इसीसे भगवान् अन्तर्धान हो गये।

गोपिकाओं ने कहा था कि 'हे कृष्ण, हम आपका वेणुनिनाद सुनकर नहीं आयीं। हम तो शरच्चन्द्र की दुग्धसदृश शुभ्र चन्द्रिका से अत्यन्त शोभाप्राप्त इस कुसुमित वनावली की छटा निहारने आयी हैं। हमें यहाँ ठहरने के लिये विशेष अवकाश ही नहीं है।' उस समय भगवान् को यही कहना पड़ा कि 'हे मानिनियो! यह ठीक है, आप हमारी वंशी-ध्वनि सुनकर हमारे दर्शनों के लिये तो नहीं आयीं, परन्तु अब यदि हमारे सौभाग्य से आप यहाँ पधारी हैं तो कुछ काल ठहरिये।'

यही बात इस समय भगवान् कह भी रहे हैं, "मानिनियो! हम जानते हैं, आप ऊपर से ही कह रही हैं कि 'हम वृन्दारण्य की शोभा निहारने के लिये आयी हैं', तथापि भीतर से तो हमारे प्रति आपका अवश्य अनुराग है। यदि कहो कि आप हम कुलाङ्गनाओं के लिये ऐसे अननुरूप वचन क्यों कहते हैं, हम पर पुरुष में कैसे अनुराग कर सकती हैं? तो ऐसी बात नहीं है, मेरा तो सौभाग्यातिशय ही ऐसा है कि जो रस-रीति से अनभिज्ञ शुष्क हृदय पशुप्राय जीव हैं, उनका भी मुझमे अनुराग हो जाता है, फिर आप तो रसिकशिरोमणिभूता हैं। अतः मेरे प्रति आपका अनुराग होना तो सर्वथा उचित ही है। कामिनियों के हाव-भाव कटाक्ष का रहस्य तो कामुकों को ही ज्ञात हो सकता है। आप लोग रसाभिज्ञों में शिरोमणिभूता हैं अतः जिस शृंगारमूर्ति मुझ आनन्दकन्द के प्रति स्वभावतः सब जीवों का आकर्षण होता है उसके प्रति आपको अनुराग होना ठीक ही है।"

अथवा '**अयन्त्रिताशया**' ऐसा पदच्छेद किया जाय तो यह भाव होगा वि ऐ गोपिकाओ! आप वास्तव में पतिव्रता शिरोमणि ही हैं। मेरा रूप यद्यपि ऐसा ह कि उसके प्रति सभी का आकर्षण हो जाता है तो भी आपका चित्त मेरी ओ आकर्षित नहीं हुआ—यह आपके मनोबल की ही महिमा है। अथवा भगवा गोपिकाओं से प्रेम की भिक्षा माँगते हैं। वे कहते हैं कि जिसमें पामर जीव भ प्रेमपाश से बँध जाते हैं उसे मेरे प्रति क्या आपका अब भी अनुग्रह नहीं होगा—अ तो मुझे अपना प्रेमदान देना ही चाहिये।

अथवा भगवान् की यह उक्ति अनधिकारिणी गोपाङ्गनाओं की निष्ठा व विचलित करने के लिये और अन्तरङ्गाओं की निष्ठा को सुदृढ़ करने के लिये ह क्योंकि जिन्हें उनके प्रति ऐकान्तिक प्रेम नहीं है, उन्हें तो स्वधर्म में ही परिनिष्ठि रहना चाहिये और जो एकमात्र उन्हींको अपना परमाराध्य मान चुकी हैं उन्हें अ लौकिक-वैदि ‍ धनों की अपेक्षा नहीं है—

ारुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
यो ारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥"

इसी भाव को लेकर भगवान् कहते हैं—'गोपाङ्गनाओ ! मेरा ऐसा विचार था कि आप किसी अनुचित प्रेम के वशीभूत होकर तो इस असमय में यहाँ नहीं आयीं ? परन्तु अब मुझे निश्चित हो गया कि आपका प्रेम विशुद्ध है। आप पतियों को छोड़कर मुझमें प्रेम नहीं करतीं परन्तु पति में हो विष्णु-बुद्धि करके मुझ सर्वान्तरात्मा की आराधना करती हैं। इसीसे भगवान् ने '**अभिस्नेहात्**' कहा है; '**कामात्**' अथवा '**रमणाभिलाषात्**' ऐसा नहीं कहा। '**अभिस्नेह**' का अर्थ निरुपाधिक प्रेम है, कामादिक सोपाधिक प्रेम हैं। कामिनी नायिका को नायक में तभी तक प्रेम होता है जब तक काम विकार रहता है। परन्तु आपका प्रेम निरुपाधिक है, वह कभी विचलित होनेवाला नहीं है। उसमें अङ्ग-सङ्गादि किसी काम की गन्ध भी नहीं है। अतः '**भवत्यः**' आप पूजनीया हैं। उद्धवादि भक्तजन भी आपका पूजन करना चाहते हैं—

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्।"

इसलिये अब आप जाओ, अपने पतिदेवों का ही पूजन करो। उसीसे मेरा भी पूजन हो जायगा; क्योंकि मैं सर्वान्तरात्मा हूँ। यह गोपिकाओं के उपलक्षण से संन्यासनिष्ठा के अनधिकारियों को उपदेश है कि तुम अपने वर्णाश्रमधर्म का पालन करते हुए ही मुझ सर्वान्तरात्मा की आराधना करो।

इसी उक्ति से वे अधिकारिणी गोपाङ्गनाओं से कह रहे हैं कि "हे गोपियो ! तुम्हें सारे बन्धनों को काटकर अब मेरी ही आराधना करनी चाहिये; क्योंकि '**अभिस्नेहात्**' अभितः—सब ओर से मुझमें ही स्नेह होने के कारण आप यहाँ आयी हैं। इसलिये अब आपके लिये कोई और कर्त्तव्य नहीं है।"

"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥"

यदि जीव का प्रेम सब ओर से सिमटकर एक ओर ही लग जाय तो वह अपना लक्ष्य बहुत जल्द प्राप्त कर सकता है। परन्तु इसका प्रेम तो छितराया हुआ है। वह स्त्री-पुत्र, धन-धरती आदि कितनी ही वस्तुओं में बँटा हुआ है। इसीलिये उससे कोई सफलता नहीं होती। अतः आवश्यकता इस बात की है कि उस प्रेम की सारी धाराओं को रोककर केवल भगवान् में ही लगा दिया जाय। परन्तु पहले-पहल ऐसा होना सम्भव नहीं है। अतः आरम्भ में ऐसा करना चाहिये कि अपनी इन्द्रियों के व्यापारों को भगवत्सम्बन्धी कर दिया जाय। श्रोत्रों को अन्य शब्दों से हटाकर केवल भगवच्चरित्र श्रवण में लगाओ, जिह्वा से केवल भगवन्नाम जपो और भगवत्-प्रसाद का रसास्वादन करो, नेत्रों से केवल भगवद्विग्रह के अनुपम सौन्दर्य का अवलोकन करो। इसी प्रकार सारे विषयों को भगवन्मय कर दो। बस, एकमात्र भगवान् ही आपकी प्रीति के विषय बन जायँ। श्री गोसाइँजी महाराज कहते हैं—

"यह बिनती रघुवीर गुसाईं।
नाते नेह जगत के सब रे, बटुरि होउ एक ठाईं ॥"

गोपियों की स्थिति ऐसी ही भगवन्मयी थी। वे जो कुछ देखती थीं, जो कुछ सूंघती थीं, जो कुछ स्पर्श करती थीं, सब श्याममय था—'**जित देखूँ तित श्याममयी है।**' उनका अन्तःकरणरूप सरोवर श्याम-रंग से रंग गया था। अन्तःकरण जिस-जिस इन्द्रियरूप प्रणाली के द्वारा निकलकर जिस-जिस विषय को व्याप्त करके प्रकाशित करता था वही श्याममय प्रतीत होता था। अतः भगवान् कहते हैं—'अयि मानिनियो! आप लोगों का मेरे प्रति अभिस्नेह है। आपका चारों ओर का प्रेम बटुरकर मुझमें ही लग गया है। अतः आप यन्त्रिताशया हैं, आपका चित्त विवश है। सो यह उपपन्न ही है। आप इसकी अनुपपत्ति की आशङ्का न करें; क्योंकि जब अवान्तर धम सर्वात्मा श्रीहरि के स्मरणरूप परमधर्म में बाधक होने लगते हैं तो वे त्याज्य हो ही जाते हैं।

यद्यपि मेरे प्रति प्रेम तो सभी का होता है, तथापि सर्वकर्म-संन्यास में उसीका अधिकार है जो श्रौत और स्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करने से शुद्धान्तःकरण होकर या तो निर्विशेष परब्रह्म का श्रवण, मनन और निदिध्यासनपूर्वक अपरोक्ष साक्षात्कार कर चुका हो या भगवान् के पदपद्मपराग का सुरसिक मधुकर होकर सांसारिक भोग-वासनाओं से ऊपर उठ गया हो। ऐसा महानुभाव बहुत दुर्लभ है; क्योंकि इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ही ओर है; अतः आचार्य लोग साधनों पर ही जोर दिया करते हैं। इधर भगवान् भी व्रजाङ्गनाओं की स्वरूपनिष्ठा को पुष्ट करते हुए उन्हें पतिशुश्रूषा का ही आदेश देकर सर्वसाधारण के लिये श्रौत-स्मार्त्त कर्मों की आवश्यकता का ही प्रतिपादन कर रहे हैं।

भगवान् का इस सारे कथन से क्या-क्या तात्पर्य है, सो तो वे ही जानें। हमें तो जो कुछ उन्हींके कृपाकण से प्राप्त हुआ है उसीका निरूपण कर रहे हैं। हम पहले कह चुके हैं कि श्याम-सुन्दर श्रीहरि के वामाङ्ग में रासेश्वरी श्रीवृषभानुनन्दिनी विराजती हैं। वे उन्हींकी आह्लादिनी शक्ति हैं; स्वरूपतः भगवान् के साथ उनका अभेद है। आरम्भ में जो '**श्रीभगवानुवाच**' ऐसा कहा गया है वहाँ '**श्री**' शब्द उन्हींका द्योतक है। यह **श्री** '**श्रयते हरिं या इति श्रीः**'—जो हरि का आश्रय ले वह श्री नहीं है, बल्कि '**श्रीयते इति श्रीः**'–जिसका आश्रय लिया जाता है वह श्री है। अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डान्तर्गत सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा की अधिष्ठात्री जो महालक्ष्मी हैं उनके द्वारा भी जिनके चरणकमल सेवित हैं वे श्रीवृषभानुदुलारी ही श्री हैं। उनकी प्रसन्नता के लिये ही भगवान् ने यह लीला की थी। रासलीला एक नायिका से नहीं होती इसीलिये अन्य गोपाङ्गनाओं का आवाहन किया गया था। अब यदि उन सबका आदर करते हैं तो सम्भव है श्री राधिकाजी रुष्ट हो जायँ, क्योंकि वे मानिनी हैं न। अतः भगवान्

उनका तिरस्कार करते हैं जिसमें वे दयावश स्वयं ही कह दें कि श्यामसुन्दर! अब आप इनका निराकरण क्यों करते हैं, आ गयी हैं तो इनकी इच्छा भी पूर्ण कीजिये।

अथवा यह भी सम्भव है कि अन्य गोपियाँ तो आ गयी हों और राधिकाजी अभी न आयी हों। इसलिये भगवान् उनकी प्रतीक्षा में हों; क्योंकि इस लीला की अधिनायिका तो वे ही हैं। अतः वे अन्य गोपिकाओं को इसलिये सीधा-सीधा उत्तर नहीं देते जिसमें राधिकाजी के आने पर उनका मान रखने के लिये यह कह सकें कि हमें आपकी प्रतीक्षा थी इसीसे अभी कोई निश्चय नहीं हुआ।

इस गोपिकायूथ में कितनी ही व्रजाङ्गनाएँ मानिनी हैं। इसीसे भगवान् ऐसे वचन कह रहे हैं जिनके अनुकूल और प्रतिकूल दोनों अर्थ हो सकते हैं। मानिनी नायिका का नायक पर आधिपत्य रहता है; इसलिये उसे ऐसे वाक्य बोलने पड़ते हैं, जिनका अर्थ बदलकर वह अपने को उनके कोप का भाजन होने से बचा सके।

यह रासलीला कोई उपहास या प्राकृत लीला नहीं है। यह तो शुद्ध परब्रह्म का नित्य लास्य है। रास का स्वरूप क्या है?—

"माधवं माधवं चान्तरे अङ्गना अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवः।"

एक-एक गोपी के अनन्तर भगवान् हैं और भगवान् की एक-एक मूर्त्ति के अनन्तर एक-एक व्रजाङ्गना है। सांख्यवादियों का कथन है—'**क्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः**'। वह चितिशक्ति ही भगवान् कृष्ण हैं। यह सम्पूर्ण प्रकृति चिद्रूप श्रीकृष्ण के ही चारों ओर घूम रही है। आजकल वैज्ञानिकों का भी मत है कि एक ग्रह दूसरे ग्रह के आश्रित होकर गति कर रहा है। इस प्रकार सारा ही ब्रह्माण्ड गतिशील है। यही प्रकृति का नित्य नृत्य है। यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो हमारे शरीर में भी भगवान् की यह नित्यलीला हो रही है। हमारा प्रत्येक अङ्ग गतिशील है। हाथ, पाँव, जिह्वा, मन, प्राण सभी नृत्य कर रहे हैं। इन सबका आश्रय और आराध्य केवल शुद्ध चेतन ही है। यह सारा नृत्य उसीकी प्रसन्नता के लिये है; और वही नित्य एकरस रहकर इन सबकी गति-विधि का निरीक्षण करता है। जब तक इनके बीच में वह चैतन्य रूप कृष्ण अभिव्यक्त रहता है तब तक तो यह रास रसमय है; किन्तु उसका तिरोभाव होते ही यह विषमय हो जाता है। इसी प्रकार गोपाङ्गनाएँ भी भगवान् के अन्तर्हित हो जाने पर व्याकुल हो गयी थीं। अतः इस संसाररूप रासक्रीड़ा में भी जिन महाभागों को परमानन्दकन्द श्री व्रजचन्द्र की अनुभूति होती रहती है, उनके लिये तो यह आनन्दमय ही है।

अहो! यह संसार तो अब भी प्रभु का वृन्दारण्य ही है। यहाँ वही चन्द्र छिटक रहा है, वही यमुना है और वही मन्द-सुगन्ध सुशीतल समीर बह रहा है। तथापि आज श्रीकृष्णचन्द्र के ओझल हो जाने से इन जीवरूप गोपाङ्गनाओं के लिये

यह दुःखमय ही हो रहा है। यदि वे दीखने लगें तो फिर यही परम आनन्दमय हो जाय।

देखो, इस रास रस की प्राप्ति के लिये गोपाङ्गनाओं ने स्वधर्मानुष्ठान करते हुए श्रीकात्यायिनी देवी की आराधना की थी। अतः हमें भी भगवत्संयोग सुख की प्राप्ति के लिये स्वधर्म-पालन में ही तत्पर रहकर भगवान् को उपासना करनी चाहिये। जब तक जीव परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र से वियुक्त रहता है तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती। अतः जीव का परम पुरुषार्थ प्रभु की प्राप्ति ही है। इसके लिये हमें भगवान् के किसी भी स्वरूप की उपासना करनी चाहिये। भगवान् विष्णु, शिव, श्रीकृष्ण, राम-भद्र, दुर्गा—ये सब भगवद्विग्रह ही हैं। साम्प्रदायिक पक्षपात के कारण इनमें से किसीके प्रति भी द्वेष-दृष्टि नहीं करनी चाहिये। अपने इष्टदेव का प्रेमपूर्वक पूजन करो। इसके लिये उनके स्वरूप और उपासना विधि का ज्ञान प्राप्त करो तथा यह भी मालूम करो कि उनकी उपासना में क्या-क्या प्रतिबन्ध हैं। प्रतिबन्ध कुपथ्य रूप हैं, उनसे बचने की बहुत आवश्यकता है। यदि कुपथ्य करते हुए चन्द्रोदय जैसी ओषधि का भी सेवन किया जाय तो भी लाभ होना सम्भव नहीं है। इसलिये उपासना मार्ग के प्रतिबन्धों से सर्वदा सतर्क रहो।

'स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्'—इस वाक्य के अनुसार सर्वदा स्वधर्म का तो यथाशक्ति पालन करो, किन्तु विधर्म का तो सर्वथा त्याग कर दो। यदि साथ-साथ विधर्म रूप कुपथ्य का त्याग और स्वधर्म रूप पथ्य का सेवन न किया जायगा तो यथेष्ट लाभ होना कदापि सम्भव नहीं है। ऐसी अवस्था में सारी ओषधि निष्फल हो जायगी। इस प्रकार यदि कोई पुरुष स्वधर्म-पालन और विधर्म-विसर्जन-पूर्वक भगवान् की उपासना करता है तो उसे ब्रह्मसंस्पर्श अवश्य प्राप्त हो जाता है।

श्री रासपञ्चाध्यायी

[वि० संवत् २००० में पूज्य श्री स्वामीजी महाराज वृन्दावन में चातुर्मास्य कर रहे थे, उस समय 'रासपञ्चाध्यायी' के द्वितीयाध्याय से आपका प्रवचन प्रारम्भ हुआ था। प्रस्तुत प्रकरण उसी समय का संगृहीत है। यद्यपि इसमें श्री महाराजजी की प्रौढ़ शब्दावली और भावगाम्भीर्य का तो यथावत् संग्रह नहीं हो पाया है, तथापि प्रकरण अत्यन्त उपयोगी होने के कारण 'भक्तिसुधा' के पाठकों के लिये प्रस्तुत किया गया है।] —संपादक

"अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥"
(भाग० १० स्क० ३० अ० १ श्लो०)

भगवान् भक्तपराधीन हैं। वे अपनी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि को भूलकर भक्तों के पीछे घूमते हैं, परन्तु गर्व से उन्हें बड़ी शत्रुता है। वे अपने भक्तों में गर्व नहीं आने देना या रहने देना चाहते। जहाँ गर्व रहेगा भगवान् वहाँ स्वयं न रहेंगे। भगवान् को अपने अत्यन्त अनुकूल पाकर गोपियों को गर्व हो गया। उसे दूर करने के लिये भगवान् अन्तर्हित हुए। गोपियों को भगवान् के दर्शन और स्पर्श का जो बाह्य सुख मिल रहा था वह नहीं रहा। भगवान् वहाँ से कहीं चले नहीं गये, अपितु गोपियों के मन, बुद्धि, प्राण, अन्तःकरण आदि में प्रविष्ट हुए। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी कहते हैं—'वे कैसे अन्तःप्रविष्ट हुए, उसका क्या प्रकार था' वह व्रजाङ्गना जान न सकीं। वे क्यों न जानती थीं, क्योंकि वे व्रजाङ्गना थीं, अतः नहीं जानती थीं। अर्थात् जन्म से, बाल्यकाल से ही वे भगवान् को बाह्य मूर्ति के ही रूप में देखा करती थीं। अतः जब आज उन्हें नहीं देखा तो वे दुःखी हुईं।

व्रजवासियों पर दया करके विषमता को मिटाकर भगवान् व्रज में प्रकट हुए—"तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।" जो अनन्त अचिन्त्य अलक्ष्य अव्यपदेश्य निर्विकार तत्व है—वह वृन्दावन में गोपाल, गोचारक बना। जिसे अष्टाङ्गयोगयुक्त योगी नहीं प्राप्त कर सकते वह यहाँ प्रकटा। बात यह है कि अत्यन्त वैजात्य में प्रीति नहीं होती। मनुष्य रूपहीन, स्पर्शहीन, रसहीन, गन्धहीन अचिन्त्य अग्राह्य में कैसे प्रीति करे? यद्यपि अचिन्त्य अग्राह्य निर्विकार श्रीभगवान् ने भक्तानुग्रहार्थ, नृसिंह, वराह, कच्छपादि अवतार धारण किये, परन्तु उनकी महा-महिमा, महान् ऐश्वर्य को देखकर अपने से असमान होने के कारण मानव-हृदय उनसे स्वच्छन्द अनुराग करने में और भी असमर्थ रहा। पहले तो अचिन्त्य, अग्राह्य आदि होने से ही प्रेम दुर्घट रहा, फिर कच्छपादि में भी महामहिमा आदि के कारण

वहाँ भी वह दुर्लभ ही रहा। अतः भक्तवत्सल भगवान् चतुर्भुज मानव रूप में अवतीर्ण हुए। परन्तु इस रूप में भी चतुर्भुजरूप और ऐश्वर्यातिशय के कारण मनुष्य को कुछ संकोच ही रहा, वह पूरा-पूरा अपना हृदय उनके समक्ष न खोल सका। तब प्रभु ठीक-ठीक मानवाकार श्रीराम रूप में अवतीर्ण हुए, परन्तु यहाँ भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम बन गये। अतः इस रूप में भी मर्यादापूर्ण लोग अथवा साधारण जीव प्रीति करते डरते रहे। ऐश्वर्य में भी सङ्कोच बना ही है। इसलिये वह अचिन्त्यैश्वर्य जगदाधार भगवान् गोप और गोपियों के साजात्य सम्बन्ध को लेकर गोपाल रूप में अवतीर्ण हुए, और सभी के निःसङ्कोच परप्रेमास्पद बन गये।

जब भगवान् कृष्ण मथुरा में आ गये तब गोपबाला अधिक वियोगसन्तप्त हुईं। किसीने कहा—"मथुरा क्या दूर है, नहीं रहा जाता तो जाओ वहीं दर्शन कर आओ!' सब तो नहीं पर कुछ व्रजाङ्गना किसी समय मथुरा भी गयीं, परन्तु वहाँ श्रीमथुरानाथ का वैभव देखकर, उनके शौर्य, वीर्य, ओज, तेज को देखकर उन्होंने घूंघट निकाल लिया, कहने लगीं—ये हमारे प्रभु प्राणधन श्यामसुन्दर नहीं हैं। नख से शिख तक रत्नजटित सौवर्णाभरणधारी सम्राट्, ये हमारे प्रभु नहीं हैं। हमारे तो वे मयूरपिच्छ, गुञ्जावतंस, पीताम्बर, लकुटीकम्बलधारी व्रजविहारी प्रभु हैं। अर्थात् ऐश्वर्य में उन्हें सङ्कोच हुआ, वे तो अपने साजात्य में प्रेम करती रहीं। अभिप्राय यह कि—साजात्य में निःसङ्कोच प्रणय होता है, अतः भगवान् गोचारण करते प्रकटे।

जीव अल्पज्ञ है, अल्पशक्ति है, अकिंचन है और प्रभु सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् हैं। ऐसे महान् अन्तर में जीव की कैसे गति हो, वह उन्हें कैसे प्राप्त करे? एक दीन-हीन भिक्षुकी, महाराजाधिराज से, सम्राट् से, सम्मिलन की सम्भावना भी कैसे कर सकती है? परन्तु यों निराश होना ठीक नहीं, अपितु उत्कट आशा बनाये रखनी चाहिये, तब शीघ्र ही दर्शन मिलता है। यद्यपि आशा दोष है, त्याज्य कोटि में है, परन्तु प्रभुसम्मिलन की आशा महापुण्यों का फल है। यह आशा कल्पलता है। इसे नेह के अनुराग के जल से सींचना चाहिये। शनैः-शनैः इसमें नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प और फल अवश्य लगेगा ही। इस भाव का आना कि प्रभु दुर्लभ हैं, इसे स्वयं भगवान् ने दूर किया है—श्रुति कहती है—

"द्वा सपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥"

तुम और तुम्हारे प्रभु एक हैं, दोनों सुपर्ण हैं, दोनों का साजात्य सम्बन्ध है, तब मिलने में कुछ कठिनाई नहीं। कहा जा सकता है--कहीं-कहीं साजात्य में भाई-भाई में भी प्रेम नहीं रहता, इसको दूर करने के लिये—'सखाया' कहा। जब परस्पर

सख्य-सौहार्द होगा तब मिलने में कोई कठिनाई न रहेगी। हाँ, यदि सखा भी दूर देश में हो तो अवश्य विघ्न हो सकता है; जैसे चन्द्र और समुद्र।

परन्तु यहाँ तो यह बात भी नहीं है क्योंकि—**'समानं वृक्षं परिषस्वजाते'** शरीररूप एक ही वृक्ष पर दोनों का निवास है, सादेश्य है। फिर भी **"असङ्गो नहि सज्जते"** से उस परतत्व को जब असङ्ग बतलाया गया तब उसमें प्रेम कैसे हो ? इसका भी समाधान करते हुए श्रुति ने **'सयुजा'** विशेषण दिया। अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है, दोनों एक ही हैं। जैसे जल और तरङ्ग, घट और मृत्तिका, उत्पल और नैल्य एक ही हैं, इनमें से एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। चिदचित्, भेदाभेद आदि सभी वादों में यह बात माननी पड़ती है। ऐसी स्थिति में निराश होने की बात ही नहीं रह जाती। भगवान् तो स्वयं इस विषमता को मिटाने का प्रयत्न करते हैं, वे गोपों के साथ प्रेम करने के लिये ही गोपाल बने हैं। यहाँ तो **"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"** का भेद भी ....**वृन्दावनगोचराः** से मिट गया। यहाँ तो उस **'अनशिता'** अभोक्ता ने गवाँरी ग्वालिनियों के मक्खन की चोरी की। निरञ्जन ने श्रीयशोदा से अञ्जन लगवाया, वह अनङ्ग (निरङ्ग) साङ्ग बन गया, उसने खूब व्रजदेवियों से उपाहृत छाकें छकीं। इसी समता में क्रीडा होती है। तभी तो—**"उवाह भगवान् कृष्णः श्रीदामानं पराजितः"** चुटियाँ पकड़कर श्रीदामा ने भगवान् से अपना दाँव लिया, उनकी पीठ पर चढ़कर टिक्-टिक् करके उसने सवारी साधी। यदि श्रीदामा उनमें और अपने में जरा भी भेद पाता तो यह कहने की कैसे हिम्मत करता—"न्यारि करो हरिआपन गैया, ना हम चाकर नन्द बाबाके ना तू मोर गुसैंया,...कहा भयो दस गैया अधिकैया......"

इस तरह भगवान् अपनी सर्वज्ञता को भूलें, हम अपनी अल्पज्ञता को भूलें और इस तरह समानता स्थापित हो। इस समानता के रूप में भगवान् यहाँ पधारे हैं। इस रूप में इनपर व्रजाङ्गना न्योछावर हो रही हैं। वे उन प्रियतम प्राणधन को—बालमुकुन्द को बालभाव से देखती हैं, बाहुलता से वेष्टित करती हैं, और उनकी बलैया लेकर फूली नहीं समातीं। ऐसी स्थिति में वे अन्तर्हित को क्या जानें। विशेषकर वे व्रजाङ्गना हैं, व्रज की अङ्गना हैं, भोली हैं, मुग्धा हैं, वे तो साक्षात् भगवान् को ही जानती हैं। अतः **"अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम्"** उन्हें न देखकर बड़ी सन्तप्त हुईं, जैसे हथिनियाँ हाथी को न देखकर व्याकुल होती हैं। **'तमचक्षाणाः'** से यह भाव बतलाया कि—ये विशुद्धानुरागवती हैं, कान्तभाववती नहीं। अतः दर्शन, स्पर्श ही मुख्य है, रमण मुख्य नहीं। अतएव **'करिण्य इव यूथपम्'** का उदाहरण है। करिणी स्पर्शकुशल होती हैं। एक सूक्त में कुरङ्ग, मातङ्ग, पतङ्ग, भृङ्ग और मीन की एक विषय की कुशलता बतायी गयी है—**"कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्ग मीना हताः**

पञ्चभिरेव पञ्च" अतः दर्शन और स्पर्शकुशला सख्यभाववती अथवा विशुद्धानुरागवती व्रजाङ्गना श्री श्यामसुन्दर का दर्शन न पाकर अति सन्तप्त हुईं।

साधारणतया दो प्रकार की गोपी हैं, एक सख्यभाववती, दूसरी कान्त-भाववती। चन्द्रावली प्रभृति कान्तभाववती हैं। इन्हें स्पर्शसुख को अधिक आकांक्षा रहती है; सख्यभाववती केवल दर्शन से तृप्त रहती हैं। यहाँ इन्हींके लिये 'तम-चक्षाणाः' पद है। गोपियाँ श्री युगल सरकार के दर्शन के लिये लालायित रहती हैं। इनकी एक के दर्शन से तृप्ति नहीं होती, वे दोनों ही के दर्शन चाहा करती हैं। श्रीरासेश्वरी वृषभानुनन्दिनी के बिना आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के मुखचन्द्र का दर्शन और श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन के बिना श्रीव्रजेश्वरी महारानी का दर्शन भी उन्हें तृप्त नहीं करता, सुख-आनन्द नहीं देता। वे तो युगल सरकार का, श्रीराधाकृष्ण का, श्यामाश्याम का युगल दर्शन चाहती हैं। फिर जहाँ दोनों में से एक भी दर्शन नहीं—अथवा दोनों का ही दर्शन नहीं, वहाँ तो सन्ताप का कुछ ठिकाना ही नहीं। अतः कहा—**'अतप्यंस्तमचक्षाणाः'** हाय, हम हतभाग्याओं को प्रिया-प्रियतम में से एक के भी दर्शन नहीं। अभी प्रियतम के दर्शन हो रहे थे उन्हें भी विधाता ने ओझल कर दिया।

शारदी पूर्णिमा के स्वच्छ, शुद्ध निष्कलंक पूर्णचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन बिना यह चन्द्र प्रलयकालीन द्वादश आदित्यों के समान सन्ताप दे रहा है। यह आह्लादकर चन्द्र नहीं, अपितु प्रलयकाल के महाताप के द्वादश आदित्य एकत्र उदित हुए हैं। ये किंशुक कुसुम और अरुण वस्त्र नहीं हैं, अपितु ये दावाग्नि की लपटें हैं। अपने प्रियतम प्राणधन मनमोहन श्यामसुन्दर को न देखकर, उनके दर्शन-काल में, संयोग के समय में आह्लाद देनेवाली इन वस्तुओं में अधिकाधिक तापकता की गोपाङ्गनाओं को प्रतीति हो रही है। कान्तभाववती तथा सख्यभाववती दोनों को ही यह सन्तप्त दशा है। यह ठीक हो है, प्राणी को प्राण के वियोग में, अभीष्ट के अभाव में दुःख होता ही है। फिर जो प्राणों का भी प्राण है, मन का भी मन है, श्रोत्र का भी श्रोत्र है, चक्षु का भी चक्षु है, वाणी की भी वाणी है, उसके विप्रयोग में असह्य पीड़ा का होना स्वाभाविक है। श्रुति है—**'प्राणस्य प्राणः···'** महात्मा तुलसीदासजी ने भी कहा है—"प्राण प्राण के जीव के जिय सुख के सुख राम। तुम तजि तात सुहात गृह जिनहिं तिनहिं विधि वाम॥"

श्रुति का वचन भी है—**"···एतस्यैवानन्दस्य मात्रामुपजीवन्ति।"** जगत् में जितने भी महान् से महान् आनन्द हैं, सुख हैं, वे सब इसी आनन्द के एक अंश में कण में समा जाते हैं। वे सब इसीकी क्षुद्र विभूति हैं। चन्द्र में आह्लादकता, नीरस में सरसता, उस पूर्णतम पुरुषोत्तम से ही है। इसके न होने से आह्लाद कहाँ? सरसता कहाँ? सौख्य कहाँ? फिर तो उरग श्वास की तरह सब विषमय दुःखमय होगा।

ऐसे उन प्रभु प्रियतम प्राणधन के विप्रयोग से श्रीव्रजाङ्गनाओं को इतना दारुण सन्ताप हुआ कि वह अकथनीय ही है। उन्हें उस समय समस्त आह्लादकर वस्तु दुःखद प्रतीत हुईं। श्रीमद्‌वल्लभाचार्य्यजी के कथनानुसार यह ताप पहले ऊपर ही ऊपर रहा, फिर अन्तर में प्रविष्ट होने लगा, परन्तु अन्तःप्रविष्ट थे—लीलारस सहित श्रीकृष्ण, वे कहीं अन्यत्र नहीं गये थे। वहीं से गोपिकाओं के अन्तर से उनकी लीला-शक्ति प्रकट हुई। तब उस लीलाशक्ति की प्रेरणा से रमापति के गति विभ्रम आदि से आक्षिप्त चित्त होकर तथा तदात्मिका बनकर श्रीमती व्रजाङ्गनाओं ने उन्हींकी उन-उन चेष्टाओं को ग्रहण किया—

"**गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥**"

वियोग ऊँची चीज है, मूल्यवान् वस्तु है। किसीने कहा—'**सङ्गमविरहविकल्पे, वरमिह विरहो न सङ्गमस्तस्याः। सङ्गे सैव तथैका त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे**' हमें तो वियोग चाहिये, सङ्गम नहीं, पर यह बड़े दीर्घदर्शियों की बातें हैं। संयोग में एक ही जगह प्रियतम होता है, पर वियोग में तो सारा विश्व प्रियतममय हो जाता है। '**जित देखूँ तित श्याममयी है।**' एक अवस्था इससे भी ऊँची है, उसमें संयोग और वियोग दोनों में कष्ट ही कष्ट है—'**अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विश्लेषभीरुता। नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥**' हे प्राणधन! जब तक आपके दर्शन नहीं होते तब तक तो दर्शन की उत्कण्ठा लगी रहती है और दर्शन हो जाने पर अगले क्षण में होनेवाले वियोग की चिन्ता लग जाती है। क्या करें, किसी भी तरह चैन नहीं है, न दर्शन से ही सुख मिलता है और न अदर्शन से ही। संयोग-वियोग किसीमें शान्ति नहीं। सखि! अभी तो श्यामसुन्दर मदनमोहन का यह भुजाश्लेष मिला है, पर यह भुजलताबन्ध कब तक प्राप्त रहेगा, यह संश्लेषजन्य सुख कब तक रहेगा, कुछ ठिकाना नहीं। हाय! कहीं अभी विश्लेष न आ जाय! यों ऊँचे प्रेमियों को दुःख ही दुःख बना रहता है।

यह एक विशिष्ट स्थिति है—प्रेमी को संयोग में कुछ शान्ति रहती है। पर विप्रयोग दशा में उद्वेलित समुद्र की तरह शृंगार की स्थिति होती है। उस समय वह मर्यादा तोड़ देता है, प्रेमी के धैर्य का पुल टूट जाता है। कहा है—

"**प्रासादे सा दिशिदिशि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा।
पर्यङ्के सा पथि पथि च सा तद्वियोगातुरस्य ॥
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति मे कापि सा-सा।
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥**"

..........यह अद्वैती का अद्वैत है। पर यहाँ का अद्वैत और है, यहाँ तो आलम्बन ही सर्वत्र दीख पड़ रहा है। यही दशा श्री लालजू की है। वे वियोग में

अपनी प्राणेश्वरी को सर्वत्र देख रहे हैं। यों संयोग और वियोग में वियोग का महत्त्व है, पर वियोग में आनन्द कब आता है ? हम सब अनादि काल की वियोगिनी हैं, वियोगिनी इसलिये कि जीव स्वल्पज्ञ है, परतन्त्र है और पारतन्त्र्य ही स्त्रीत्व है, इसका वर्णन अन्यत्र है। हाँ, तो हम सब अनादि काल की वियोगिनी हैं, पर क्या वह आस्वाद है ? जन्म-जन्मान्तर से युग-युगान्तर से शूकर, कूकर, कीट, पतङ्ग बनते-बनते मर रहे हैं। उस परप्रेमास्पद का वियोग जन्म-जन्मान्तर से हो रहा है, पर वियोगजन्य आनन्द का कभी स्वप्न में भी स्वाद नहीं आता। इसका कारण यही कि उस तत्त्व का कभी साक्षात्कार नहीं, श्रवण तक नहीं **'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः'** तब कैसे आनन्द मिले ? पहले सम्प्रयोग हो, वस्तु का थोड़ा परिचय मिले, रस का कुछ पता लगे, तब पुनः उसके लिये उत्कट उत्कण्ठा हो, तब कहीं उसके वियोग का आस्वाद हो।

देवर्षि नारद ने जब प्रथमावस्था में महात्माओं के प्रसाद से तत्व का थोड़ा पता पाया और जङ्गल में जाकर परिश्रमपूर्वक जब अनुसन्धान करने लगे तो एक क्षण के लिये उन्हें हृदय में कुछ चमत्कार मिला। देवर्षि नारद के शब्द हैं—

"ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसः।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥"

फिर उन्होंने बहुत प्रयत्न किया पर वह चमत्कार उन्हें नहीं मिला। वे बहुत ही दुःखी हुए, जैसे रङ्क को बड़ी कठिनता से मिली निधि, और फणि की मणि खो जाये। फिर आकाशवाणी हुई—

"हन्तास्मिन्जन्मनि भवान् न मां द्रष्टुमिहार्हति।
अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥"
(भाग० स्कं० १, अ० ६, श्लोक २२)

"सकृद् यद्दर्शितं रूपमेतत्कामायतेऽनघ !
मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान् मुञ्चति हृच्छयान्।"
(भाग० स्कं० १, अ० ६, श्लोक २३)

आप इस जन्म में मुझे नहीं प्राप्त कर सकते। क्योंकि वैराग्य के परिपक्व हुए बिना कुयोगियों को मैं नहीं दीखता। जो एक बार रूप दिखाया है, वह आपकी कामना (इच्छा वृद्धि) के लिये है। फिर तो जरा-सा भी आस्वाद मिल जाने से छोड़ा ही न जा सकेगा—**"विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः"** एक कण का भी आस्वाद हो जाने से फिर **'चाट'** पड़ जाती है। पर जब तक कुछ भी अनुभव नहीं, किसी भी वस्तु में कैसे प्रवृत्ति हो सकती है ? इसलिये पहले संयोग हो, तब विप्रयोग का आनन्द मिले।

इसीलिये भगवान् कृष्ण ने श्री व्रजाङ्गनाओं में पहले रससञ्चार किया।

"बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥"

(भाग १० स्कं० २९ अ० ४६ श्लोक)

आज भागवत की 'रासपञ्चाध्यायी' शङ्काओं का केन्द्र बनी हुई है। उसका यह श्लोक प्रधान और स्पष्ट शङ्कास्थान माना गया है। परन्तु इसके पूर्वापर को जिन्होंने कभी सोचा नहीं, जो अत्यन्त वहिरङ्ग हैं, उन्हें ही दोष दीख पड़ते हैं। अन्यथा थोड़ा भी विचार करने से प्रसङ्ग शुद्ध प्रतीत होता है। हाँ, तो श्रीकृष्ण कोटि-कोटि कन्दर्प के सौन्दर्यदर्प को अपनी नखमणिचन्द्रिका के सौन्दर्यसिन्धु के एक बिन्दुकण से निर्जित करनेवाले हैं। श्रीश्यामसुन्दर मुरलीमनोहर ने श्रीव्रजाङ्गना जन को उनका वृद्धिङ्गत प्रणय देखकर स्वरसास्वाद कराना चाहा, पर वहाँ पहले प्रकृत काम हटे तब अलौकिक रस की स्थापना हो। बाहु, ऊरु, स्तन आदि प्राकृत लौकिक काम के स्थान हैं, कामदेव उनमें छिपकर बैठा हुआ है। श्री गोपाङ्गना जन को कामदेव ने अपना दुर्ग बनाया है और वह बाहु आदि स्थानों में बैठकर मानो श्रीकृष्ण से युद्ध करना चाह रहा है। भगवान् कृष्ण ने श्री गोपाङ्गनाओं के अङ्ग दुर्ग देशों से कन्दर्प को निकालकर वहाँ स्वानन्दात्मक रस की स्थापना की। यही "बाहुप्रसार...." का तात्पर्य है। जब पहले स्वानन्दात्मक रस की स्थापना हो गयी, तब भगवान् अन्तर्धान हो गये—छिप गये। अब श्रीव्रजांगना विप्रयोग के आनन्द का अनुभव करने लगीं।

बात यह है कि जीव को अनेक जन्म के कई प्रकार के पहले संस्कार पड़े हैं। उनके कारण वह अपने प्रभु के अनेक जन्म के विप्रयोग को जानता ही नहीं, यदि वह जान जाये तो विप्रयोग का उसे आनन्द मिले। दूसरे, आवश्यकता है परम तल्लीनता की—प्रेम में विभोर हो उठने की, श्याम के रङ्ग में अपने को रंग डालने की। जब तक यह स्थिति नहीं, तब तक आनन्द कैसा ?

लाक्षा (लाख) कठोर वस्तु है, पर अग्नि के सम्बन्ध को पाकर वह द्रुत कोमल हो जाता है। इसमें विशेषता यह है कि जितना अधिक अग्नि का ताप होगा, उतना ही अधिक द्रवता आयेगी। लाख को खूब तपाया जाये, इतना तपाया जाये कि वह सौ परत (तह) के तनजेब में छानने योग्य हो जाये। फिर वह छान भी लिया जाय, कूड़ा-कर्कट उसमें से निकाल लिया जाय, गंगाजल की तरह वह स्वच्छ विशुद्ध हो जाये। उसमें हरिद्रा हिंगुल हरा, पीला कोई भी रंग छोड़ा जाये; जो भी छोड़ा जायगा, वह सब उसके अणु-अणु में, अंश-अंश में व्याप्त हो जायगा। अब यह लाख चाहे कि इस रंग को मैं निकाल डालूँगा, तो उसका निकालना असम्भव है, और यदि रंग ही चाहे कि मैं इसमें से निकल जाऊँ तो यह भी असम्भव है। यह है

दृष्टान्त। इसे दार्ष्टान्त में समन्वित कीजिये। भक्त का या प्रेमी का अन्तःकरण लाक्षा है, उसे प्रियतम प्राणधन श्यामसुन्दर की प्रणयाग्नि से तपाओ, खूब तपाओ। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के कूड़े-कर्कट को निकालकर फेंक दो। फिर उसमें 'श्याम' रंग छोड़ो, अब प्रेमी का अन्तःकरण और प्रियतम एकमेक हो गया। प्रेमी चाहे कि अपने अन्तःकरण से मैं श्याम को हटा दूं तो वह असमर्थ ही रहेगा। श्यामसुन्दर भी चाहें कि मैं यहाँ से निकल भागूँ, तो उनके लिये भी यह न होगा, चाहे वह कितने भी छली-बली हों। एक भक्त—अन्धे भक्त (सूरदास) इसी कोटि के हो गये हैं। वे यहीं वृन्दावन की कुञ्ज गलियों में अपने प्रियतम प्राणधन श्यामसुन्दर मनमोहन को ढूंढ़ते एक कुएँ में गिर पड़े। वैसे तो भगवान् उन्हें नहीं मिल रहे थे। पर अब उनसे न रहा गया, तुरन्त हाथ पकड़कर कुएँ से निकाल लिया। महाभाग्यवान् सूरदास कूपपात पीड़ा को भूल गये। वे उस कोमल कर-स्पर्श को पाकर कृत-कृत्य हो गये। उन्होंने निश्चय किया कि इतना सुखकर, साधारण जनों में असुलभ, कोमल स्पर्श प्रियतम प्राणधन के बिना अन्यत्र उपलब्ध ही नहीं हो सकता। उस मङ्गलमय ब्रह्म-संस्पर्श से वे रोमांचित हो उठे। उन्होंने उसे जोर से पकड़ लिया। भक्त को वांछा पूरी हुई, दिव्य दृष्टि मिली, दर्शन आदि मिले। भगवान् बलात् अपना हाथ छुड़ाकर जाने लगे तब सूर ने कहा—**"हस्तमुच्छिद्य यातोऽसि बलात्कृष्ण किमद्भुतम्। हृदयात् यदि निर्यासि पौरुषं गणयामि ते॥"** इसीका हिन्दी में भी अनुवाद है—

"हाथ छुड़ाए जात हो निर्बल जानिके मोहि।
हिरदे से जब जाहुगे मरद बदोंगो तोहि॥"

नाथ! हाथ छुड़ाके जाते हो, जाओ, पर आपकी सर्वज्ञता सर्वशक्तिमत्ता की महत्ता तो तब है, जब आप इस दुर्बल अन्धे के हृदय-मन्दिर से निकल भागो, आज मुझे यही देखना है। यह पिघली हुई लाख की ललकार है, रंग के प्रति। भक्त अपने हृदय से निकल जाने को चैलेञ्ज देता है, पर प्रभु लाचार हैं, निकल नहीं सकते। यह प्रभु की लाचारी का दृष्टान्त है। अब भक्त की लाचारी का दृष्टान्त सुनिये। एक सखी मूर्च्छित पड़ी है, एक उसके पवन सञ्चार आदि उपाय में खड़ी है। दूसरी आकर मन-मोहन श्यामसुन्दर का नाम लेने लगती है, उनकी कुछ करतूत बतलाना चाहती है। पर उपचारिका सखी अपने मुख पर तर्जनी रखकर सङ्केत से उसे वैसा करने को रोकती है—**"सन्त्यज सखि तदुदन्तं सुखलवमपि यदि समीहसे सख्याः, स्मारय किमपि तदितरत् विस्मारय हन्त मोहनं मनसः।"**

सखि, यदि अपनी सखी का तुम थोड़ा भी कल्याण चाहती हो तो उसकी बात को मत छेड़ो, उसके अतिरिक्त किसी अन्य का स्मरण कराओ। **'तदुदन्तम्'** और **'तदितरत्'** कहती है, नाम तक नहीं लेना चाहती। तब सखि, क्या करें? फिर यह कैसे अच्छी होगी? उपाय यही है, सखि! किसी तरह इसके मन से मोहन को भुला

दो। इस दृश्य को एक महात्मा योगी देख रहे थे, उन्हें यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे कहते हैं—

"प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनो धित्सति।
बालासौ विषयेषु धित्सति मनः प्रत्याहरन्ती ततः॥
यस्य स्फूर्त्तिलवाय हन्त! हृदये योगी समुत्कण्ठते।
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षते॥"

एक मुनि विषयों से चित्त को हटाकर क्षणभर के लिये; जिसमें लगाना चाहता है, यह बाला उससे चित्त को—आसक्त चित्त को निकालकर विषयों में लगाना चाहती है। कितना आश्चर्य है कि जिस तत्व की हृदय में तनिक-सी स्फूर्ति-चमत्कार के लिये अष्टाङ्ग योगयुक्त योगी उत्कण्ठित रहता है—कभी मेरे मानसकुञ्ज में भगवान् पधारें, यह मुग्धा भोली गवाँरी ग्वालिन उसे अपने चित्त से निकाल देने के लिये व्याकुल है। और भी एक सखी कहती है—

"इत उत देखे मति चौथ को चन्दा तोय देखे ते कलङ्क मोय लग जाएगो।"

इतना ही नहीं, वह श्यामसुन्दर चित्त से निकल जाये, इसके लिये दोषानुसन्धान करती है। जिसके नामस्मरण मात्र से दोष नामशेष हो जाते हैं, प्रेमोन्माद में व्रजाङ्गना उसमें दोष ढूंढ़ती हैं—

"मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्वावेष्टयद् ध्वांक्षवद् यस्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥"

(भाग०, १० स्कं०, ४७ अ०, १७ श्लो०)

सखि! ये तो सदा के छलिया हैं, देखो, रामावतार में, लुब्धधर्मा अथवा अलुब्धधर्मा होकर मृगयु-बहेलिया की तरह निरपराध बाली को मारा; छिपकर [illegible] की ओट लेकर बाली का वध किया[1], और इनकी बहादुरी तो देखो सखि [illegible] इन्होंने हाथ उठाया, प्रेम करने के लिये बेचारी शूर्पणखा इनकी [illegible] पहुँची थी, उसे यह वर दिया कि नाक-कान काटकर बेचारी [illegible] कहें सखि! स्त्रीजितों को कुछ विचार थोड़े ही रहता है। वे जानकी के प्रणयोन्माद में इतने प्रमत्त थे कि उन्हें धर्मशास्त्र तक नहीं स्मृत रहा, विरूप कर दिया एक सुन्दरी स्त्री को। सखि! कोई एक अवतार की बात हो तो कहें, इनके तो जन्म-जन्म की ये ही करतूतें हैं—देखो, वामन अवतार में इन्होंने बलि को छला। 'बलि' को खाकर कौए की तरह इन्होंने सर्वस्व समर्पयिता बलि को, उसका सर्वस्व हरण करके भी

---

१. लुब्धधर्मा=व्याध के जैसे क्रूरता, निर्दयता आदि धर्मों को क्षत्रिय होकर भी इन्होंने ग्रहण किया। भयावह परधर्म को लेकर पाप तक किया। फिर व्याध तो मांस भोजन की इच्छा से हरिण आदि को मारता है। परन्तु इन्होंने इसलिये बालि को नहीं मारा, वृथा ही मारा, अतः ये बड़े कठिन हैं—अलुब्धधर्मा हैं।

उसे नागपाश में बाँध लिया। सखि ! यह क्या न्याय है ? इसलिये कालों से, कुटिलों से सम्बन्ध जोड़ना, सख्य भाव करना अब हम छोड़ देंगी। पर क्या करें, उनका कथा रूप अर्थ हाय ! छोड़ा ही नहीं जाता।

ये सब व्रजाङ्गनाओं के प्रेम-समुद्र की तरङ्गें हैं। कहीं कहती हैं—"**प्रीति की रीति रंगीलोई जाने।**" और अपना सर्वस्व न्योछावर करती हैं और कहीं ऐसा दोषानुसन्धान करती हैं कि आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। एक ओर दोषानुसन्धान प्रसङ्ग है—एक विरह-तप्ता व्रजबाला कहती है—"सखि, इन्होंने कभी किसीका भला नहीं किया। जन्म से ही तो '**पूतना–सुपयः-पानम्**' बेचारी पूतना को–स्त्री को–समाप्त कर दिया। सखि ! कालों की यही करतूतें हैं।"

"काले सबहिं बुरे······। हम अब काले से बिल्कुल अनुराग न करेंगी। जब उनमें ही प्रेम नहीं, तब हम क्यों उनसे प्रेम करें ?" कभी-कभी तो काले का इतना निषेध कि "अब काले वस्त्र और आभूषण तक न पहनेंगी। कभी तो यह भाव, यह तरङ्ग कि "सखि हौं श्याम रंग रंगी" सब चीज काली। नील निचोल, ओढ़नी, लहँगा, सब काले, यहाँ तक कि हाथ आदि के गहने भी काले इन्द्रनील मणि के। पर जब दोषानुसन्धान का प्रसङ्ग उपस्थित हुआ, तब "एक भी काली चीज पास में न रखेंगी।" एक चतुर सखी ने बीच में मीठी चुटकी लेते हुए पूछा—"सखि ! हमने माना, इन काले वस्त्रालङ्कारों को तुम अवश्य फेंक दोगी, पर यह तो बताओ, इन काले केशों का क्या करोगी ?" उत्तर मिला, और बड़ा भावगम्भीर उत्तर मिला—"········**धूलिर्धृता मस्तके**" सखि, इन केशों में मिट्टी पोत लेंगी।"

दोषानुसन्धान के प्रसङ्ग में जो पद्य "मृगयुरिव कपीन्द्रम्" पहले कहा, उसीके आगे एक और वैसा ही पद्य है—

> "**यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः।**
> **सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥**"
>
> (भागवत, स्कन्द दशम, अध्याय ४७, श्लोक १८

अर्थात् सखि, उन श्यामसुन्दर के द्वारा अनुष्ठित, सुधा विन्दु के समान कानों को अति मधुर लगनेवाली लीलाओं को जिन्होंने एक बार भी सुन लिया, उनके द्वन्द्व धर्म—सुख-दुःखादि—जो गृहस्थादि में हुआ करते हैं, काँप गये। अर्थात् इस हमारे आश्रित पुरुष ने ऐसी चीज सुन ली, जो अब जङ्गलों में मारा-मारा फिरेगा। यह समझकर दुःखादि भी दुःख से मानो कम्पित हो गये। यों कृष्णलीला के श्रोता पुरुष घर-घाट कहीं के नहीं रहे, अतएव विनष्ट हो गये। हाय ! वे लोग बिलखते स्त्री-पुत्रों को, जिनका पालन धर्मतः न्याय्य है—लीला सुनते ही तुरन्त छोड़कर सचमुच जङ्गलों में भाग गये। ऐसे बहुत से लीला श्रोता दीन होकर, अर्थात् कन्था, कौपीन है

चिथड़ों को लपेटे, पक्षियों की वृत्ति धारण किये, नारायण कहते यहाँ वृन्दावन में भीख माँगते फिरते हैं। क्या सखि ! तुम्हीं बताओ, ऐसों से प्रेम करें ?"

सारांश यह कि जब भावुक का चित्त लाक्षा की तरह द्रुत हो जायगा, सतत भावना-परिपाक से, तब उसमें व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर का प्राकट्य होगा और फिर वे वहाँ से जाने में समर्थ न होंगे। यद्यपि भगवान् सर्वशक्तिमान् हैं, उनकी महिमा है—**"छूछी भरे, भरी ढरकावे, जब चाहे तब फेर भरावे।"** परन्तु ऐसे भक्तों के आगे उनकी सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठित हो जाती है, वे उन्हें नचा सकते हैं। इस तरह के वियोग में स्वाद है। यह अनुभव की बात है। कहीं मार्ग में प्रिय मित्र मिला, उसका चित्र हृदय पट पर अंकित हो गया। मोहर तब उभड़ती है, जब लाक्षा गरम हो। स्नेहरूप अग्नि से द्रुत अन्तःकरण पर वस्तु का स्वरूप प्रकट होगा। कामी कामिनी के लिये व्याकुल रहता है, उसे अग्नि के लिये तृण से कोई सम्बन्ध नहीं, उसके हृदय में वियोगाग्नि सदा धधकती रहती है। इस तरह दर्शन-स्पर्शन आदि द्वारा हृदय-लाक्षा पिघलती है, उसमें अपने इष्टतत्व के सम्पृक्त होने पर वह फिर अचल हो जाता है। श्रीमद्भगवद्वपु मूत्र-पुरीष भाण्डागार प्राकृत शरीर नहीं, वह अप्राकृत दिव्य रसमय है, अतएव पूर्वोक्तरीत्या "बाहुप्रसारपरिरम्भ आदि के अनुसार व्रजदेवियों के तत्तदङ्गालभन द्वारा मानो उसने व्रजदेवियों को अप्राकृतरसानुभवक्षम देह दी। **'उज्ज्वल नीलमणि'** का भी यही मत है—गन्धक को पारद से घोटें, तो कुछ काल के बाद गन्धक जैसे पारद (पारा) रूप हो जाता है वैसे ही पूर्ण के सम्बन्ध से अपूर्ण वस्तु पूर्ण हो जाती है, प्राकृत वस्तु अप्राकृत बन जाती है। यही बात व्रजाङ्गनाओं के पक्ष में है, भगवान् ने उनके अलकादि का स्पर्श करके इन्हें रसस्वरूप—स्व-स्वरूप बना दिया, प्राकृत से अप्राकृत में बदल दिया। इसपर भगवान् का अधिक आनुकूल्य पाकर गोपाङ्गनाओं को दर्प हुआ। उसीको दूर करने के लिये लीलानायक श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये। छिप गये।

श्री श्यामसुन्दर मदनमोहन के वियोग में जब गोपाङ्गनाएँ व्यथित हुईं, वह विप्रयोगाग्नितापं शनैः-शनैः जब उनके अन्तःकरण में प्रविष्ट हुआ, तब उनके ताप को, दुःख को दूर करने के लिये श्रीभगवान् की लीला शक्ति प्रकट हुई। अन्तर्हित शब्द का अर्थ **'छिपना'** और (**अन्तःमनसि हितं—दया यस्य सः**) जिसके हृदय में दया हो वह व्यक्ति भी होता है। पीछे **"अन्तर्हिते भगवति"**, **"अन्तर्हिते"** कह आये हैं। भगवान् गोपीजनवल्लभ हैं। गोपाङ्गनाओं के प्रति बड़े कृपालु हैं। उनके हित के लिये ही वे अन्तर्हित हुए हैं, उन्हें सन्ताप पहुँचाने के लिये नहीं। क्योंकि वे निष्ठुर नहीं हैं। इसलिये **"तासां तत्सौभगमदम्...."** आदि पहले कहा। श्रीव्रजाङ्गनाओं को यह गर्व था कि "श्रीश्यामसुन्दर हमारे परवश हैं—अधीन हैं, क्योंकि वे हमारी वेणी सुलझाते हैं, पादचित्त की उन्नति का नाम **'मान'** और उसकी गाढ़ता **'मद'** है।

'रासलीला' परम रसमयी है। थोड़ा भी गर्व उसमें बाधक होगा। अतः श्रीश्याम-सुन्दर प्रभु उसे दूर करके पूर्ण विशुद्ध रसास्वाद कराने के लिये और **'प्रसादाय'** (गोपियों की प्रसन्नता के लिये) स्ववश करने के लिये अन्तर्हित हुए, छिपे। तथा च मन में हित है। अथवा 'अन्तः' पञ्चम्यन्त अव्यय है। उसका अर्थ हुआ (हृदयात्) हृदय से अर्थात् व्रजदेवियों के हृदय से विच्छेदहेतुक गर्व के निवारण करने के लिये भगवान् परमोपकारक बने, अन्तर्हित हुए।

श्रीमद्वल्लभाचार्यजी कहते हैं—**"तासां तत् सौभगमदं वीक्ष्यमानञ्च……"** इसमें 'मद' का अर्थ पूर्णता है, जिसका आशय हुआ गोपाङ्गनाओं को अपनी पूर्णता का, अपने सौभाग्य के उत्कर्ष का अनुसन्धान हुआ। यदि ऐसा हो तो इसमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि उनके जैसी कृष्ण ग्रहगृहीतात्माओं को उन्हें अपने सौभाग्य के उत्कर्ष का अनुसन्धान हो तो जिस अवस्था में वे हैं, उसमें जाकर होना ही चाहिये। यह बहुत दुर्लभ है। फिर भगवान् की पूर्ण कृपा से ही तो यह हुआ है। ऐसी स्थिति में इसका अपनोदन क्यों हो ? इसपर वे कहते हैं—जो मान हुआ वह असामयिक है, वह रस-विच्छेदक होगा। अतः उसे दूर करने के लिये भगवान् अन्तर्हित हुए। फिर भी अन्तर्हित न होना चाहिये, क्योंकि मानवती का मान मनाकर अपनोदन करना ही रसमर्यादा है। इसपर कहते हैं—मान आन्तर वस्तु है, बहिरङ्ग नहीं। अतः उनका अपनोदन अन्तर्निहित होकर ही हो सकता है, अतएव भगवान् अन्तर्हित हुए। उन्होंने लीलाविशेष से विशिष्ट होकर अन्तर्हितता के साथ मानापनोदन किया।

अथवा मान हुआ श्री वृषभानुनन्दिनी को, वह भी सहसा। वे करुणामयी हैं। उनके प्रसाद लेश से श्री श्यामसुन्दर का दर्शन सम्भव है। उनके बिना कृष्ण-तत्त्व का प्राकट्य ही नहीं। **'आत्मरति'** में आत्मा श्रीरासेश्वरी हैं। जैसे गुण और गुणो का तादात्म्य है, वैसे ही श्रीराधा-कृष्ण तत्व का तादात्म्य है। कर्पूर में से सौगन्ध निकल जाय तो कर्पूर कुछ नहीं रह जाता। श्रीवृषभानुनन्दिनी जल में माधुर्यस्थानीया हैं। श्रीश्यामसुन्दर तत्व में से माधुर्य निकल जाय, तो फिर वह कुछ है ही नहीं। श्रीनन्दनन्दन का आन्तररमण श्रीरासेश्वरी में ही होता है। बाहर का रमण बहिरङ्गों में है। किसी भावुक के मत से तो सौगन्ध का पृथक् होना और उसके ग्राहक घ्राण का अलग होना, यह बड़ा व्यवधान है, असह्य है। पूरा आनन्द तो तब है, जब पुष्प में ही घ्राण हो। यह यहीं सम्भव है। उनकी शक्ति उनमें और उनकी शक्ति उनमें रहती है।

अतः **"सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति'**—जहाँ कहीं आत्मा का सञ्चार होगा, जहाँ श्रीरासेश्वरी के स्वरूप का सञ्चार होगा, वहीं रमण होगा। श्रीललिता, विशाखा आदि में रसोदय उनसे सम्बन्ध जुड़ने पर होगा। उनका अनुगमन इसकी तरह हुए

बिना रसोदय या रमण नहीं होगा। श्रीरासेश्वरी की कृपा के बिना श्रीकृष्ण को भी रसास्वाद या रमण सम्भव नहीं, अतः दोनों का तादात्म्य ऐकात्म्य स्वीकृत हुआ है। फिर श्रीरासेश्वरी परम करुणामयी हैं, इसी बल पर वे कृतकृत्य हुए। जो सखियों के प्रति यदाकदा उनमें ईर्ष्यादि देख पड़ती है, वे सब लीला रससञ्चारार्थ हैं। सूक्ष्म विचार करने पर तो नित्य निकुञ्ज में मान आदि का प्रवेश ही नहीं। परन्तु इन स्थूल मान आदि का ही वहाँ संचार नहीं, सूक्ष्म मान आदि तो रसपोषार्थ वहाँ भी हैं हो। वहाँ सर्वादिक सम्प्रयोग है, कभी विप्रयोग होता ही नहीं। तथापि रस की सब अवस्था प्रकट होती रहती है। नेत्र में उन्मीलन-निमीलन मात्र में विप्रयोग आदि हो जाते हैं। अस्तु, इसी दृष्टि से श्रीव्रजेश्वरी रासेश्वरी में ईर्ष्या का संचार हुआ और मेरे प्रभु, मेरे ही प्राणधन अन्यों को भी ऐसा मान देते हैं, इस तरह का मान उत्पन्न हुआ तथा अन्यों में गर्व का उदय हुआ। अतः '**प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत**'। अहो! प्रभु की भक्तवश्यता? जो प्रभु केशव हैं, "**कश्च ईशश्च केशौ तावपि वशयतीति सः**" अर्थात् ब्रह्मा तथा रुद्र को भी जो वश में रखनेवाले हैं, वे भगवान् गोपीगर्वापहारार्थ अन्तर्धान हुए। परन्तु यह ऐश्वर्य श्रीरासेश्वरी का मान दूर करने में कैसे समर्थ होगा? वहाँ के माधुर्य-साम्राज्य में इसका प्रवेश भी कहाँ? इसलिये वहाँ तो भगवान् श्रीराधारानी की '**वेणुगूंथन**' सेवा करके उनका मान मनायेंगे। इस पक्ष में '**केशव**' की व्युत्पत्ति होगी—'**केशान् वयते संस्करोतीति केशवः।**'

भगवान् अपनी योगमाया से ही अन्तर्हित हुए। श्रीव्रजदेवियों के हृदय में वे अकेले नहीं, किन्तु अपनी लीला के साथ अन्तर्निहित हुए। अतः लीलादेवी श्रीव्रजाङ्गनाओं के व्रजाङ्गना-मानस में प्रविष्ट थीं, अतः वहीं से प्रकट होने लगीं। उसीको कहते हैं—

"गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।
आकृष्टचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥"

(भाग०, १० स्कन्ध, ३० अ०, २ श्लोक)

कायिकी, वाचिनिकी, मानसिकी तीन प्रकार की लीलाएँ साधारणतया मानी गयी हैं। उनमें पहले कायिकी 'गति' का वर्णन करते हैं, श्रीव्रजाङ्गना विहार करते समय गति का अनुभव कर रही थीं। हंस, गज और सिंह-सी गति उनके मानस में उदित हुई। जब उनके मन में यह भावना हुई कि श्रीकृष्ण प्राणधन सम्मिलन के लिये पधार रहे हैं, तब इन गतियों का स्फुरण हुआ। '**गत्यानुराग**' में गति, आ, अनुराग ऐसा सन्धिविच्छेद करना चाहिये। '**आ अनुराग**' का आशय है 'प्रेम को सब ओर से बटोरकर' वे प्रियतम श्रीकृष्ण के स्मितादि का अनुभव करने लगीं। ऐसे एकान्त गाढ़ अनुराग से श्रीगोपाङ्गनाएँ श्यामसुन्दर के '**स्मित**' आदि का अनुध्यान या ग्रहण करने लगीं। स्मित मन्दहास का नाम है, यह चित्तलोभक है। यह अद्भुत

विभ्रम है, माया है। जिससे गोपाङ्गना न तो अत्यन्त बहिर्मुख ही रहें और न अत्यन्त अन्तर्मुख ही, क्योंकि बहिर्मुखता से ताप और अत्यन्त अन्तर्मुखता से साक्षात्कार होगा, जो अभी अभीष्ट नहीं। अतः मध्यमस्थिति में रखा। गोपाङ्गनाओं को यह सब नाच वही भगवल्लीलाशक्ति नचा रही है। अलसवलितादिस्वरूप गोपाङ्गनाविषयक शृङ्गारोद्रेक से मन की अनवस्थिति का नाम विभ्रम है। यह श्रीकृष्णभाव है। इस प्रकार के अवलोक से गोपियाँ कृष्णात्मक चेष्टा से गृहीत हुईं। इन सबसे लाख की तरह द्रुत भाव भी हो रहा है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण की प्रत्येक चेष्टा से जो मनोरम आलाप अथवा रमण करनेवाले आलाप हैं, फिर तदनुगुण विहार और विभ्रम से तदात्मक चेष्टा ग्रहण की। विभ्रम का अर्थ पहले कहा गया है। 'मनमोहन श्यामसुन्दर सिंह गति से आकर सामने खड़े हो गये।' ऐसी व्रजाङ्गनाओं की भावना से उनके मानस में पूर्णानुराग का अभिव्यञ्जन, हास के स्वानुकूलता, विभ्रम से विशिष्ट भ्रमण, कटाक्ष, नेत्रतारकों का विशिष्ट घुमाव आदि हुआ। यह सब प्राकृतों में भी होता है, पर उससे यह लीला अधिक स्थिर महत्व की है।

'मनोरमालाप' पर विश्वनाथ चक्रवर्ती के ये भाव हैं—श्रीव्रजदेवियों के उस समय ये मनोरम आलाप हुए–अयि पद्मिनी! (कमलिनि, अर्थात् स्त्री से–नायिका से–बात कर रही है, नायिकात्व का आरोप करके पूछ रही है) आप लोग स्थलपद्मिनी हैं, हम प्रेमपिपासार्त्त हैं, हम मधुपों को मधुपान कराओ। एक गोपी कहती है—'हे पद्मिनी! अपने पति सूर्य को मधुपान देगी? पर सूर्य को पद्मिनी मधुपान नहीं कराती।' ऐसे मनोरमालाप से एक गोपी पराजित हो गयी। दूसरा अर्थ—दूसरी कहती है-तुम्हें महादर्प-सर्प ने दष्ट किया है, हम गारुडिक हैं, हम तुम्हारे अङ्ग का विघट्टन करेंगी। तब वह कहती है—हमें सर्प ने नहीं काटा। इसपर गारुड़िक बनी गोपी कहती है—तुम्हारी गद्गद वाणी से तो यह स्पष्ट हो रहा है। ऐसे मनोरमालाप से आक्षिप्तचित्ता गोपाङ्गनाओं ने श्रीकृष्ण की गत्यादि उन-उन चेष्टाओं को ग्रहण किया।

इससे मन में लौकिकता न आनी चाहिये। श्रीभगवान् परम निष्काम हैं। यहाँ भक्तपारवश्यात् प्राकृतता की प्रतीति है। एक बार श्रीनन्दरानी को भाव हुआ कि 'ये तो ईश्वर हैं।' पर यह भाव प्राकृतलीला में व्याघात है। ऐसा होने पर श्रीयशोदा छड़ी कैसे दिखायें? अतः प्रभु ने उस भाव को हटाया। माधुर्य भाव से वह हट गया। यहाँ प्राकृत कान्तभाव से अप्राकृत ईश्वरभाव को दबाया। श्रीभगवान् का वह सौन्दर्य, माधुर्य कान्तादि भाव से गोपाङ्गनाओं की एकतानता का विशेषकर पोषक हुआ। मनोरमालाप, विहार आदि से उन्हें बन्धादि उपदेश हुआ। यह सब भाव व्रजदेवियों के रोम-रोम में समाये हुए थे। वे किसी-न-किसी भाव से प्रतिक्षण कृष्णप्रविष्टचेता रहती थीं। "वैधी" में यह बात नहीं है, वहाँ तो संसार से चित्त

हटाकर प्रभु का ध्यान करने पर भी वह (चित्त) वहाँ नहीं रहता। परन्तु रागानुगा प्रीति में मन सहज ही में प्रियतम प्राणधन के ध्यान में लीन रहता है। श्री श्याम-सुन्दर मनमोहन का यह लोकोत्तर हास, विभ्रम, गति, सौन्दर्य प्रेमी को बलात् खींचे, हटाने पर भी न हटे, तभी सच्ची रागानुगा प्रीति है। लौकिक कामी-कामुक की भी यही स्थिति होती है। इसीलिये महात्मा श्री तुलसीदास ने चाहा कि जैसे कामी को नारी प्रिय होती है, वैसे ही मुझे भगवान् श्रीअयोध्यापति प्रिय हों—

"कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।"

इसीलिये सकलसुन्दरशेखर मयूरशेखर श्रीकृष्ण, ऐसे भाव से व्यक्त हुए कि उन्हें देखकर किसका मन न चल जाय? ऐसे ही तात्पर्य की, श्रीव्रजाङ्गनाजन की उक्ति है—

"का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन संमोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं यद् गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥"

(भाग०, १० स्कन्ध पूर्वार्द्ध, अध्याय २९, श्लोक ४०)

अर्थात् नाथ! मधुर पदावली के साथ उच्च स्वर से गाये गये, आपके स्वरा-लापों को सुनकर तथा त्रिभुवनमोहन इस दिव्य रूपराशि को निहारकर दैवी, मानवी, आसुरी त्रिलोक में कौन वह स्त्री है, जो आर्यचरित से चलित न हो जाय? जब कि पशु, पक्षी, हरिण और जड़ वृक्षों तक में रोमाञ्च हो आता है? इस प्रकार यहाँ व्रज-दिव्यदेवियों के प्रसङ्ग में केवल भावमात्र लौकिक है। वैसे तो वे प्रभु और उनकी लीला सदा से अलौकिक है। अतः व्रजाङ्गनाओं के आकर्षणातिशय-द्योतनार्थ भी कहा—**"गत्यानुरागस्मित............।"**

इसमें **'प्रमदा'** पद आया है। इसकी व्युत्पत्ति है—**'प्रकृष्टो मदो यासान्ताः प्रमदाः।'** मद में मोहकता है। यह नारीवर्ग में स्वभावसिद्ध है। वह भी व्रज की नारियों में, वह भी फिर अङ्गना **'प्रशस्तानि अङ्गानि यासान्ताः'** वह भी श्रीकृष्ण में, उनकी ही लीला से आक्षिप्तचित्त प्रमदाएँ। यों प्रकर्ष की पराकाष्ठा हो गयी। इसपर भी यह और विशेषता कि इनका चित्त, देह, गेह, स्वजननेह से हटकर श्रीकृष्ण परमात्मा में आकृष्ट हो गया। और चाहिये ही क्या? अनृत, मायामय संसार से चित्त हटकर उनमें फँसे, यही तो होना चाहिये। बड़े-बड़े अष्टाङ्गयोगयुक्त योगी इसीके लिये लालायित रहते हैं। सिद्ध महात्मा जप, तप, ध्यान से इसी एक बात को निरन्तर चाहा करते हैं। पर धन्य है, उन व्रजाङ्गनाओं को, जिन्होंने योग से भी दुर्लभतत्व को भोग से प्राप्त किया। श्रीश्यामसुन्दर मनमोहन की आभा में, सौन्दर्य झलक में उनका चित्त ऐसा उलझा कि फिर उलझा ही रह गया। अतएव वह प्रमदा भी हैं। अर्थात् इसी कारण प्रकृष्ट मद-हर्षवाली होने से वे प्रमदा हैं।

सचमुच इससे बढ़कर और हर्ष का स्थान कौन होगा ? औपनिषद् विज्ञान भी ऐसा है—**"प्रमोद उत्तरः पक्षः"** अर्थात् प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द ये आनन्दमय ब्रह्म के एक अङ्ग हैं। ये सब योनियों में अनुभूत होते हैं। देवादि में भी ये अनुभूत हैं। ये ही आनन्दसिन्धु शुद्ध ब्रह्म के चिह्न हैं। ये जहाँ से आते हैं, वहीं आनन्दसिन्धु है। तब आनन्दसिन्धु बलदेवबन्धु में आक्षिप्तचित्त होकर गोपाङ्गनाएं प्रकृष्ट हर्ष या मोदवाली हों, इसमें कहना ही क्या ? पूर्वोक्त श्रीवल्लभाचार्यजी के अभिप्राया-नुसार जब लीला-शक्ति ने 'ताप' को बाहर ही रोक दिया, तब वे सुतरां प्रमदा हो गयीं। यों उनका कथन भी ठीक हुआ।

एक दूसरा भाव—**"आकृष्टचित्ताः प्रमदा रमापतेः"** श्रीव्रजदेवियाँ स्वयं सुन्दरी हैं, वे साधारण किसी व्यक्ति के गत्यादि से आक्षिप्तचेता न होंगी। अतः विशेष हेतु दिया—' **"रमापतेः-लक्ष्मीपतेः गत्यादिभिराक्षिप्तचित्ताः"** अर्थात् व्रजाङ्गनाजन के आकृष्ट होने में ललित गति, मधुर आलाप आदि किसके ? तो **'रमापतेः'** लक्ष्मी-पति के। इससे आक्षिप्तचित्तता का समर्थन किया। जब श्रीरमा का भी मन आकृष्ट हो गया, जिसने गुण-दोष को तौलकर उन्हें पति बनाया है, तब मुग्ध ग्वालिनियों का तो कहना ही क्या ? समुद्र-मन्थन के समय श्रीरमादेवी प्रकट हुईं। उस समय वहाँ प्रायः सभी देव, ऋषि आदि उपस्थित थे और उसे चाहा भी सबने। परन्तु श्रीरमा ने स्वयंवर किया। उसने किसीमें कोई दोष, तो किसीमें कोई त्रुटि पायी। एक निर्दोष मिले तो विष्णु भगवान्, पर ये उसे चाहते ही नहीं -

"क्वचिच्चिरायुर्न हि शीलमङ्गलं क्वचित्तदप्यस्ति न वेद्यमायुषः।
यत्रोभयं कुत्र च सोऽप्यमङ्गलः सुमङ्गलः कश्च न काङ्क्षते हि माम्॥"
(भाग०, स्कं० ८, अ० ८, श्लो० २२)

अर्थात् इन देवादि में कोई (मार्कण्डेयादि) दीर्घायु अवश्य हैं, पर स्त्रीजन को प्रसन्न करने के उपयुक्त शील और मङ्गल इनमें नहीं। तथाच किसीमें (हिरण्यकशिपु आदि में) यह विशेषता है, तो उनकी आयु का कोई ठिकाना नहीं। किञ्च श्रीमहादेव आदि में ये दोनों बातें हैं, पर वे रूप और वेश आदि से अमङ्गल बने हैं और कोई (विष्णु) उक्त दोनों बातों के साथ सुमङ्गल भी हैं, पर वह मुझे चाहते ही नहीं। शङ्कर अनन्त, अखण्ड हैं, पर उनका वेश विलक्षण अमङ्गल है। विष्णु में सब बातें हैं, पर वे मुझे चाहते ही नहीं। अच्छा, ये न चाहें, मैं तो इन्हें चाहती हूँ। यह निश्चय करके लक्ष्मी ने श्रीविष्णु के गले में वरमाला पहना दी।

भगवान् भक्तपराधीन हैं। भक्त उन्हें जैसा नाच नचायें, नाचते हैं। भक्त भगवान् को वन्यमाल पहनाता है, वह सूख भी जाती है, पर भगवान् उसे उतारते नहीं, क्योंकि वह प्रिय भक्त की पहनायी हुई है। यद्यपि भगवान् के अङ्ग-सङ्ग से कोई

भी वस्तु म्लान नहीं होती, तथापि यह भी एक भाव है। हाँ, तो यों भगवान् अपने भक्त की पहनायी माला को उतारते नहीं। वह भगवान् की दक्षिणावर्त्त सुवर्णरोमराजि पर सूखी हो जाने से कुरकुराती है। वक्षःस्थल के दोनों ओर वह चुभती है तब भी भगवान् उसे उतारते नहीं —

"**पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं संस्पर्द्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।**
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः॥"
(भाग०, स्कं० ११, अ० ६, श्लोक १२)

अतः भगवान् ने निरपेक्ष होने पर भी भक्तजनवश्यतावश लक्ष्मीजी को स्वीकृत किया। इस प्रकार सर्वजगदधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी ने खूब परीक्षा करके भगवान् को वरा और उनके चरणों में ऐसी अनुरक्त हुईं कि अपनी स्वाभाविक चञ्चलता को छोड़कर सदा के लिये अचला हो गयीं — "**चलापि यच्छ्रीर्न जहाति यत्पदम्**" ऐसी लक्ष्मी को भी मुग्ध करनेवाले श्यामसुन्दर के गति-विभ्रम आदि से व्रजदेवियाँ कैसे वश न हों ?

भगवान् के प्रति गोपियों के वशीकार में एक दूसरा यह भी हेतु है कि सर्व सौन्दर्य-माधुर्य-सम्पदधिष्ठातृ महाशक्ति श्रीरमा हैं। उसके पति—अध्यक्ष—भगवान्, उससे भी अधिक अनन्तसौन्दर्य-माधुर्य-सुधाजलनिधि हैं, अतः उनकी ललित गति आदि से गोपाङ्गनाओं का मन आकृष्ट हो गया। यह एक और तरह की 'रमापति' पद की साभिप्रायता हुई। इसके अतिरिक्त 'रमा' श्रीरासेश्वरी राधा का ही नाम है— '**रमयति श्रीकृष्णं या, सा रमा**' इस व्युत्पत्ति से श्रीकृष्णचन्द्र भगवान् को रमण करानेवाली तो राधा ही हैं। लक्ष्मी विष्णु को रमण कराती हैं। यह वैकुण्ठ की बात है, व्रजरस की नहीं। '**रासपञ्चाध्यायी**' में श्रीकृष्ण से सम्बद्ध व्रजरस का वर्णन है। इस दृष्टि से रमापति या राधापति अर्थात् श्रीराधा के प्राणधन श्रीकृष्ण भगवान् की उन गति-विलासादि से श्रीराधा, सखी आदि आक्षिप्तचेता हुईं। प्रेमप्रमत्त श्रीव्रजाङ्गनाएँ भगवान् की इन लीला, गति, स्मित, विभ्रम, विहार आदि से तदात्मिका हो गयीं। वे भूल गयीं कि हम कृष्णप्रणयप्रमत्त गोपाङ्गना हैं और उन्हें दृढ़ निश्चय हो गया कि हम कृष्ण ही हैं। फिर वे भी वैसी ही लीलाएँ करने लगीं। एक कहती है— सखि ! देख, मैं कृष्ण हूँ, मेरी गति देख। या तन्मयी होकर वही सब करने लगीं— "**तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः**"। यद्यपि दासी स्वामी की चेष्टा का अनुकरण करे, यह दोष है, ऐसा करना अनुचित है परन्तु व्रजाङ्गनाओं का इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि वे प्रभु नटनागर की इन लीलाओं से आक्षिप्तचित्ता हैं। उन्हें पता ही नहीं कि वे कहाँ, कब, क्या कर रही हैं। जैसा-जैसा लीलाशक्ति कराती है, वैसा-वैसा वे करती हैं। भाव यह कि कहाँ तो इन व्रजदेवियों की यह स्थिति कि श्रीमुरलीमनोहर श्यामसुन्दर के पादारविन्द की दिव्यनखमणिचन्द्रिका की एक छटा के दर्शन

प्राप्त होने से अपने को कृतकृत्य मानती हैं। ऐन्द्रपद, ब्राह्मपद तक के ऐश्वर्य-सुखों को उसपर न्योछावर करती हैं और कहाँ यह स्थिति कि उन्हीं श्रीमदनमोहन भगवान् से पादसंवाहन तक करायें। यह उसी सौभगमद की महिमा का प्रभाव था जो श्रीव्रजदेवियों को अपना दास्यभाव भूल गया और यह गर्व उत्पन्न हो आया कि वे श्रीघनश्याम हमपर मुग्ध हैं, हमारे हाथ की कठपुतली हैं, हम जो करायेंगी, सो करेंगे। यह सब उसी लीला से उन भावों ने उन्हें वैसा करने को प्रेरित किया।

कोई महानुभाव यह मानते हैं कि **'तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः'** से यह भाव व्यक्त होता है कि भगवान् श्रीलीलाविहारी की उन-उन लीलाओं ने ही श्रीव्रजाङ्गनाओं को स्ववश करके उनके द्वारा अपना (लीला का) सम्पादन कराया। भाव यह कि कहीं भावुक भाव को ग्रहण करने चलता है, तो कहीं भाव स्वयं भावुक को ग्रहण कर लेता है। गोपीजन **'कृष्णग्रहगृहीतात्मा'** हैं, विमुग्ध हैं, जैसे उनमें कोई प्रेतादि आविष्ट हो। यह इन्द्रियाँ, मन ग्रह हैं, जीवात्मा को ग्रह की तरह परेशान करते हैं। फिर ग्रह भी अतिग्रह से गृहीत हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द अतिग्रह हैं। चक्षुरादि इन्द्रियाँ हमें सताती हैं और रूप आदि इन्हें सताते हैं। एक गृहपति को, रूपादि विषयों से अतृप्त बहुत-सी सपत्नियाँ जैसे नोचती हैं, सताती हैं—जीवात्मा को रूपादि विषयसंसक्त इन्द्रियाँ वैसे ही सताती रहती हैं। श्रीनृसिंह भगवान् से प्रह्लाद ने यही कहा—

"जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति माऽवितृप्ता शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥"

(भाग०, ७ स्कं०, ९ अ०, ४० श्लो०)

इस तरह जीवात्मा को इन्द्रियाँ और उन्हें विषय, चुम्बक जैसे लोहे को खींचे, खींचते हैं। परन्तु जब यह कृष्णग्रह से गृहीत होता है, तब ये सब कूच कर जाते हैं। यह ऊँचे लोगों की बात है। नहीं तो इधर हम चाहते हैं कि किसी तरह यह मन उस कृष्णग्रह के चक्कर में आ जाय पर जरा भी नहीं फँसता। न वे ही फँसाते हैं और न यही फँसता है। उधर यह हाल कि नहीं चाहते कि यह उनमें फँसे, पर वह ग्रह जबर्दस्ती फँसाता है और ऐसा पकड़ता है कि फिर लाख प्रयत्न करने पर भी छोड़ता ही नहीं। व्रजाङ्गनाएँ उसी उच्च कोटि की हैं। 'लीला' ने स्वयं इन्हें गृहीत किया। यह व्रज का महत्त्व है। व्रज की साधारण स्त्री भी 'रमा' है, वृक्ष कल्पतरु हैं, जल अमृत है और श्रीव्रजाङ्गनाएँ तो रमा-पूज्या हैं, क्योंकि उन्हें श्रीकृष्ण ने हठात् और स्वयं ग्रहण किया है, वे प्रमदा-प्रकृष्टमदा हैं; श्रीश्यामसुन्दर नटनागर की सखी हैं। ऐसी स्थिति में लीला ने स्वयं ही इन्हें ग्रहण किया। यह प्रभुकर्तृक अनुकम्पा है। अतः 'तास्ता विचेष्टा एव ता जगृहुः' अर्थात् गोपाङ्गनाओं ने उन-उन

विचेष्टाओं को ग्रहण नहीं किया, अपितु उन-उन चेष्टाओं ने—लीलाओं ने—स्वयं ही उन्हें ग्रहण किया।

मूल बात तो यह है कि वे तदात्मा पहले ही हो चुकीं। श्री श्यामसुन्दर की लीला में आसक्तचेता पहले ही हो गयीं। अनुकरण में तभी स्वाद आता है, जब अनुकर्त्ता तदनुसंपृक्त हो ले, भेद मिट जाय, अभेद हो जाये। इसके लिये पवित्र वातावरण हो, एकान्त सेवन हो। त्रिपदसंहारी, गर्वापहारी, रसिकविहारी का भृङ्गी-कीटन्याय द्वारा अनुसन्धान हो। उनके कोटि-कोटिकन्दर्पदर्पदलनपटीयान् लोकोत्तर लावण्य-भरनिर्भर श्रीमुखारविन्द का अनुसन्धान हो और उनकी लीला, तत्परिकर आदि का अनुसन्धान हो, इन सबके समुचित स्वरूप में होने पर आवेश होता है, वही सच्चा है। उसी समय आनन्दघन घनश्याम अपने कमलनयन से उसे निहारकर निहाल कर देते हैं। सदा के लिये अपना लेते हैं। यह बात 'रागानुगा' भक्ति से ही शीघ्र सिद्ध होती है। इसीलिये लौकिकता, कान्तभाव, औपपत्य तक श्रीरूपगोस्वामी आदि अङ्गीकृत करते हैं। जल की मधुरता में औपपत्य नहीं कहा जा सकता। तात्पर्य यह कि लौकिकता के भाव की अधिकता से अधिकता होती है। उससे अत्यन्त उत्कण्ठा होती है। उत्कण्ठा से परमानुराग का उदय होता है। उसीसे तदात्मकता होगी। तभी 'लीला' स्वयं ग्रहण करने को दौड़ पड़ेगी। तभी ज्ञात होगा कि कैसे रमापति की विचेष्टाओं से गोपाङ्गनाएँ परिगृहीत हुईं।

श्रीकृष्ण की ललित गति, स्मित, सानुराग ईक्षण, विविध मनोरमालाप और विहार, इनसे गोपसीमन्तिनियों का चित्त उनमें खिंच गया। वे आनन्दसिन्धु में निमग्न हो गयीं। तन्मयता प्राप्त होने पर उन-उन चेष्टाओं को करने लगीं। चेष्टानुकरण में तन्मयता की आवश्यकता है। श्रीभगवान् की लीला रोम-रोम में जब स्थायीभावापन्न हो जाय, तब अनुकरण किया जाता है। भक्त भी अनुकरण कर सकता है अथवा लीला ही जब उन्हें स्वयं गृहीत कर ले, तब अनुकरण हो सकता है। जैसे कहीं भक्त भगवान् को ग्रहण करता है, तो कहीं भगवान् ही उसे ग्रहण करते हैं। यहाँ उन लीलाओं ने गोपप्रमदाओं को गृहीत किया, इसका अधिक स्फुटीकरण इसमें है—

"गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्त्तयः।
असावहन्त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः॥"

(भाग०, १० स्कं०, ३० अ०, ३ श्लो०)

गोपसुन्दरियाँ उस समय अपनी गति से हंस, सिंह और गजेन्द्र को भी लजाने लगीं, उनका मन्दहास काम को भी विस्मय उत्पन्न करने लगा। ऐसे ही प्रेक्षण, भाषण आदि हुए। उनके स्वरूप में गोपललनाओं के मन आदि तल्लीन हो गये। ऐसा अद्भुत अनुरागोद्रेक अन्तःकरण की कोमलता का द्योतक है। यहाँ अन्योऽन्यात्मकता का वर्णन है। पहले स्मित आदि स्थिर हुए, फिर वे लीला आदि के साथ

गोपरामाओं में प्रतिबिम्बित हुए और उनका इनमें प्रतिबिम्बन हुआ। गोपाङ्गनाओं के मन, इन्द्रियों में गति, स्मित आदि आरूढ़मूर्त्ति हुए, फिर गति, स्मित आदि में गोपाङ्गनाचित्त आदि प्रतिरूढ़मूर्त्ति हुए, परस्पर ऐक्य हुआ। यों श्रीनन्दनन्दन वंशीधर प्रभु का स्वरूप और लीला व्रजदेवियों के मन, बुद्धि, अन्तःकरण, रोम-रोम में प्रविष्ट हुई।''मूर्ति - कार्यकारणसंघात—अन्तरात्मा प्राणों में प्रतिरूढ़ हुई। श्रीभगवान् और उनकी लीला श्रीव्रजदेवियों में और श्रीव्रजदेवियों के मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार आदि श्रीभगवान् और उनकी लीला में प्रतिरूढ़ हुए। एक यह भी बात है कि उस समय वहाँ श्रीगोपियों को भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन अथवा उनकी लीला का ही प्रत्यक्ष दर्शन तो है नहीं, फिर श्रीकृष्णमूर्त्ति में यह सब प्रतिरूढ़ कैसे हुआ? तब इसपर यह समझना चाहिये कि पहले श्रीकृष्ण और उनकी लीला आदि श्रीगोपरामाओं में—उनके मन, बुद्धि में प्रविष्ट या आरूढ़ हुए, फिर स्वान्तस्थ अथवा स्वान्तःप्रत्यक्ष श्रीकृष्ण तथा तल्लीला में श्रीगोपाङ्गनाएँ और तन्मनोबुद्ध्यादि प्रत्यारूढ़ हुए। तभी "**असावहन्त्वित्यबलाः**" यह कथन सङ्गत हुआ।

इस तरह जब अन्योऽन्य को एकता हो गयी—श्रीश्यामसुन्दर की व्रजाङ्गनाओं से और व्रजाङ्गनाओं की श्रीश्यामसुन्दर से एकता हो गयी—अभेद हो गया, तब श्रीगोपबाला कहती हैं—'देखो सखि, हम ही कृष्ण हैं।' यह तन्मयता कैसे? तब कहा—'**अबलाः**' (नारी) बलहीन हैं। श्रीमोहन मुरलीमनोहर के विरह में शक्तिहीन हो गयीं। धैर्य रखना बल का काम है। उसके बिना धैर्य कैसा? जरा से विप्रयोग में भी आँख डबडबा आती है—आँसू आ जाते हैं। इतना अधैर्य यद्यपि गुण नहीं, पर यहाँ का अधैर्य महागुण है। श्रीश्यामसुन्दर के वियोग में जितनी ही व्याकुलता हो, तड़फड़ाहट हो, उतनी ही अधिक तन्मयता होती है। नारी धैर्यबलशून्य होने से शीघ्र व्याकुल होती है। इनका हृदय बहुत कोमल होता है। इसी कोमलता के कारण वे प्रेम की अधिकारिणी हैं। फिर व्रजाङ्गनाओं की कोमलता का तो कुछ ठिकाना ही नहीं। इसी तन्मयता और कोमलता के कारण वे भेद नहीं जान सकीं। इनमें और श्रीकृष्ण में परस्पर प्रतिबिम्ब से अभेद हो गया, तब युक्त ही कहा गया—'**असावहन्त्वित्यबलाः**'।

अथवा ऐसी दुर्लभ स्थिति—श्रीकृष्ण परब्रह्म के साथ तादात्म्यापत्ति की प्राप्ति—निर्बलता से कैसे होगी? यह तो बड़े बल का काम है। तब कहा—'**अबलाः—अः वासुदेवः बलं यासान्ताः**'। अर्थात् भगवान् वासुदेव ही जिनका सबसे बड़ा बल है, वे व्रजाङ्गनाएँ '**असावहम्**' इत्यादि कहने लगीं। वस्तुतः जगत् के सब बल-धन, विद्या, सौन्दर्य आदि को छोड़कर श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द नन्दनन्दन को ही जिसने अपना सर्वोपरि बल बनाया—वही अभिन्न होता है। तभी तो उन अबला-व्रजबाला में अभेद हुआ। तभी उन्होंने कहा—'**असावहम्**', अथवा '**अः—वासुदेवः बलम्—प्राणा**

यासान्ताः' । अर्थात् बल का भी मूल है प्राण, भगवान् वासुदेव ही जिनके प्राण हैं, वे व्रजाङ्गनाएँ **'अबला'** हुईं । इस तरह श्रीकृष्ण के अनुकूल और श्रीकृष्ण के ही आधार पर कायिकी, वाचनिकी मानसी समस्त चेष्टावाली व्रजदेवियाँ **'अबला'** ठहरीं । जिनके भगवान् वासुदेव ही मन, बुद्धि, अन्तरात्मा, रोम-रोम के सर्वस्व हैं, उन व्रजबालाओं को उनके बिना, प्राणस्थानीय उनके बिना, कैसी अन्य अवधानता ? अतः सर्वत्र उनका अवलोकन करती कहती हैं – **'मैं कृष्ण हूँ'** ।

यह स्थिति वेशभूषा आदि से भी अनुकरण करा देती है । रस के उद्रेक में नायिका नायक की लीला का अनुकरण करती है । यही स्थिति **"मधुरिपुरहमिति भावनशीला"** इस रसिकेन्द्रचूडामणि श्री जयदेव के गीत में पायी जाती है । एक बार श्रीराधा प्रतीक्षा कर रही थीं—बाट जोह रही थीं, अपने प्राणधन त्रिभुवनमोहन मुरलीमनोहर की । उसी समय उन्हें एक विशिष्ट अवस्था में **'मधुरिपुरहम्'** का अनुसन्धान हो आया । यह भावना का फल है । वस्तुतः यहाँ तो इन व्रजमहिलाओं के बाहर-भीतर श्रीसाँवरिया गिरिधारी ही विराजमान हैं । अतः यहाँ तो यह व्यवहार स्वाभाविक है ।

श्रीराधा और श्रीकृष्ण एक ही हैं, दो हैं ही नहीं । कल्पना करो—दो शीशी हैं, एक श्याम, एक गौर । श्याम शीशी में गौर रस भरा है और गौर शीशी में श्याम रस भरपूर है । श्रीराधा रसमयी गौर शीशी हैं, वह काँच की नहीं, रस की ही बनी है । वैजात्य की यहाँ कल्पना ही नहीं । उसमें श्यामरस भरपूर है । ऐसे ही श्रीकृष्ण श्याम शीशी हैं । अतः उभय उभयभावात्मा, उभयउभयरसात्मा है । यहाँ कुछ व्रजांगनाएँ राधांशभूता हैं । अंश भी बहुत ही स्वल्प है । राजराजेश्वरी श्रीरासेश्वरी राधा के पादारविन्द की नखमणि ज्योत्स्ना की छटा का एक स्वल्पभाग, तद्भूता व्रजाङ्गना तद्रूप होने के नाते अपने को अभिन्न मानती हैं । इस प्रकार भावना से भी अभेद होता है । वस्त्राभरण से भी व्रजाङ्गनाएँ अपने को श्यामाभिन्न समझती हैं । उन्होंने जो नील निचोल पहना है, वक्षोज में जो मृगमद लेपा है, वह सब श्याम ही है । भीतर-बाहर श्याम ही श्याम है । किसी भावस्निग्ध का बड़ा ही सुन्दर सूक्त है—

"श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम ।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति ॥"

व्रजबालाओं ने अपने कानों में नीलकमल के **'कर्णफूल'**, नेत्रों में अञ्जन और हृदय में नीलवर्ण की महेन्द्रमणि का हार पहना है । लोग समझेंगे, उन्होंने इन वस्तुओं से अपना शृङ्गार किया है । पर बात ऐसी नहीं । उन्होंने इन श्यामवर्ण की वस्तुओं को धारण करके प्राणधन श्यामसुन्दर को ही धारण किया है । उनका तो अखिल मण्डन–समस्त शृङ्गार–एकमात्र **'श्रीहरि'** ही हैं । वे इन सोने-चाँदी के कंकड़, पत्थर के भूषणों को नहीं पहनतीं । अपने कानों में उन्होंने जिस श्यामसरोरुह को

सजाया है, वह साधारण सरोरुह नहीं, अपितु पूर्णानुरागरससारसमुद्भूत है। कमल का नाम पङ्कज है, वह पङ्क—कीचड़ से उत्पन्न होता है। पर जिस पङ्कज को उन्होंने धारण किया है, वह साधारण मिट्टी की कीच में नहीं उपजा, वह पूर्णानुरागदुग्ध-सरोवर की कीच में उपजा है। जब सरोवर दूध का, तब उसकी कीच नवनीत (मक्खन) की होगी। जब भूपङ्कज लोकातिशायी सौन्दर्य-सौगन्ध्य-सम्पन्न होता है, तब पूर्णानुरागरससारसमुद्भूत सरसिज के सौरभ्यादि की कीमत कौन आँके ? ऐसे ही व्रजबालाओं ने यह साधारण करिखा आँखों में नहीं लगाया, अपितु, उस सौन्दर्य-सुधाजलनिधि श्रीघनश्याम को ही सदा के लिये अपने नेत्र-निकुञ्ज में निवास दिया है। श्री गुसाईंजी ने भी ग्रामवधूटियों की उक्ति में कहा है—'जो पाइय माँगे विधि पाहीं, सखि राखिय इन नैनन माहीं।' उन ग्रामवधूटियों की तो यह वासनामात्र थी कि—यदि हमें ब्रह्मा वर देने को प्रस्तुत हों, तो हम यह वर माँगें कि इन भगवान् श्रीराम को अपने नेत्रों में पधराकर रखें, पर इन व्रजवधूटियों ने तो यह साक्षात् ही कर दिखाया। अथवा श्रीकृष्णपादपद्मपराग को ही इन्होंने अञ्जन बनाया।

इस प्रकार व्रजवनिताएँ अपने को श्रीश्यामसुन्दर से ही भूषित करती थीं। उनकी दृष्टि में इसके अतिरिक्त किसी भी आभूषण को पहनना अत्यन्त ही हेय है। जैसा कि एक स्थल में उनकी स्पष्ट उक्ति है—

"ईदृशा पुरुषभूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक् तदीयकुलशीलयौवनं धिक् तदीयगुणरूपसम्पदः॥"

ऐसे सिद्धान्त की व्रजाङ्गनाओं ने बाहर-भीतर सर्वत्र श्रीश्यामसुन्दर प्राणधन को ही धारण किया। इस प्रकार का तादात्म्य श्रीगोपाङ्गनाओं को हुआ। अन्यत्र तादात्म्य आरोपित होता है, परन्तु यहाँ नहीं। अतः श्री श्यामसुन्दर भगवान् की गति, स्मित, प्रेक्षण, भाषण आदि श्रीव्रजवनिताओं में और व्रजवनिताओं के मन, बुद्धि आदि श्रीश्यामसुन्दर भगवान् में आरूढ़ हुए। भगवान् श्रीकृष्ण के साथ यों अभिन्नभाव से उनकी रसमयी कायिकी, वाचनिकी, मानसी लीला से, विहार से उनमें जो विभ्रम उत्पन्न हुए, वे सब व्रजदेवियों में उत्पन्न हुए। श्रीनवलकिशोर की सभी चेष्टा—गति, भाषण, दर्शन आदि—जो-जो थीं, सब इन व्रजाङ्गनाजन में प्रस्फुटित हुईं। इतना ही नहीं, बल्कि इतनी ऐक्यापत्ति हुई कि इन व्रजरमणियों की लीला से श्रीराधाविहारी का विभ्रम हुआ—"श्रीकृष्णविहारस्य विभ्रमो याभ्यः।" अनुकरण पूरा उतरा, सर्वथा तन्मयता अथवा लीलाओं ने गोपरामाओं को बलात् गृहीत किया। यों "गतिस्मित" इत्यादि सङ्गत हुआ।

यहाँ एक भाव यह भी है—श्रीवल्लभाचार्यजी ने अणुभाष्य में कहा है—किसी भावुक के चिन्तन से जो अभेद होता है, यह एक सञ्चारीभाव है। इसमें तीन

अवस्थाएँ होती हैं। यहाँ '**छान्दोग्योपनिषद्**' का यह प्रसङ्ग उदाहरण है—"**अहमेव पुरस्तात्**" इत्यादि अर्थात् पहले भावुक को जगत् की ओर अपनी भी विस्मृति हो जाती है। फिर केवल अपनी ही स्मृति रहती है—"**अहमेव पुरस्तात् दक्षिणतश्चोत्तरेण**" वह सम्पूर्ण विश्व में अपना ही अस्तित्व देखता है। दूसरी स्थिति में वह भगवान् को ही सर्वत्र देखता है—"**भूमैव पुरस्तात्, भूमैव**"। अन्त में तीसरी स्थिति—"**अहमेव पुरस्तात्**" या "**आत्मैवोपरिष्टात्**" की होती है। अर्थात् मैं ही अथवा आत्मा ही सर्वत्र भरपूर है, यह भावुक ज्ञानी को अन्तिम निश्चय होता है।

भगवान् ने कहा है—

> "**मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।**
> **मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥**"

मेरे गुणों के श्रवण करने से—मेरी लीला से भावुक के चित्त की सर्वाधिष्ठान मुझमें गति होती है। जैसे गङ्गा का जल समुद्र में जाता है, भावुक का चित्त वैसे मेरी ओर प्रवाहित होता है। भावुक के द्रुत चित्त की यह स्थिति है। चित्त की द्रुतता उसकी निर्मलता पर निर्भर है। "**भक्तिरसायन**" में कहा है—जल के प्रधान स्थान '**टंकी**' आदि में रंग छोड़ने से वह जहाँ-जहाँ स्पष्ट होगा—अपने में रँग लेगा। जहाँ-जहाँ वह रंगीन जल निकलेगा—कल आदि के द्वारा—वहाँ वह जिस-जिसपर पड़ेगा—अपने रंग में मिला लेगा। सभी का बाह्य और आभ्यन्तर दर्शन-ग्रहण-अन्तःकरण से ही होता है। वह यदि लाक्षा की तरह या 'टंकी' के सदृश श्याम रंग में रँगा है तो अब जो भी उससे गृहीत होगा चाहे वह आन्तर, बाह्य, पुरस्तात्, उपरिष्टात्, हरित, पीत कैसा भी हो—उस रंग में रँगा जाकर ही गृहीत होगा। अतः श्रीश्यामसुन्दर भगवान् को अपने हृत्पुण्डरीक पर विराजित करके व्रजाङ्गना सब कुछ श्याममय ही देखती हैं—"जित देखो तित श्याममयी है।" व्रजाङ्गना अपने मन में विचारती हैं—'ये लोग बावरे हैं या हम ही बावरी हैं, यह लोगों के नेत्र में विकार हो गया है या हम ही किसी नेत्ररोग से ग्रस्त हो गयी हैं! क्योंकि लोग हरे, पीले, लाल कई रंग बतलाते हैं, पर हमें तो सर्वत्र श्याम ही श्याम दीख पड़ रहा है।' इस स्थिति में—"**भूमैवाधस्तात् भूमैवोपरिष्टात्**....." की प्रतीति होती है। जब भूमा का पार्थक्य नहीं प्रतीत होता तब "**अहमेव पुरस्तादहमेवोपरिष्टादहमेव दक्षिणतश्चोत्तरेण**" की ही सर्वत्र प्रतीति होती है। इसी प्रकार तदवस्थापन्न व्रजाङ्गना 'जैसी श्याम की सब लीला, वैसी ही हमारी सब लीला' ऐसा समझती हैं। इस रूप से अपने को श्यामाभिन्न समझकर कहती हैं—"**मैं ही श्याम हूँ।**"

जिनमें '**कृष्ण-विहार-विभ्रमा (कृष्णाय विहारेण विभ्रमो यासु**') की वस्तु-स्थिति है, उनको यह बात है, अन्यों को नहीं। सभी तो श्रीराधांश समुद्भूता नहीं। जो हैं उनमें ऐसा विभ्रम हुआ। मूल श्लोक में "**न्यवेदिषुः**" बहुवचन है। इसका यह

अभिप्राय है कि सम्पूर्ण—अपरिगणित कोटि व्रजाङ्गनाओं को विभ्रम हुआ। सबने अपने को कृष्ण समझा। विशेषता यह थी कि सभी अपने को कृष्ण समझती हैं, पर अन्यों को "**मैं कृष्ण हूँ**" ऐसे भ्रम से युक्त समझती हैं। तथा च समझाती हैं—'सखि, हम तो तुम्हारे पास ही हैं, हमारे विप्रयोग से तुम क्यों इतनी म्लान हो रही हो?' इसपर समझायी जानेवाली सखी समझानेवाली से कहती हैं—'सखि, तुम तो सखी हो, कृष्ण नहीं।' तब वह उत्तर में कहती हैं—'नहीं, तुम तो सखी हो, मैं तो कृष्ण हूँ।' यों वे एक दूसरी को समझाती हैं और अपने को सब श्रीकृष्ण समझती हैं तथा दूसरी को सब सखी जानती हैं। इस प्रकार वे व्रजाङ्गना विभ्रमान्वित हुईं। यहाँ एक यह भी प्रश्न उठता है कि श्रीश्यामसुन्दर भगवान् के विहार से इन्हें यह विभ्रम हुआ है, अथवा शृङ्गाररसाक्रान्ततावश अपने चित्त की अनवस्थि से उन्हें यह भावना हुई कि—"**हम कृष्ण हैं।**" इसपर यही समझना चाहिये कि अधिकारानुसार पात्रों में भावना की उद्भूति होती है। इनमें किसीको श्रीकृष्ण विहार-विभ्रम से तो किसीको शृङ्गाराक्रान्तता से विभ्रम हुआ। बाकी विभ्रम सबको हुआ—"**मैं ही कृष्ण हूँ।**"

"अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः। अतप्यंस्तमचक्षाणाः॥"

भगवान् श्रीकृष्ण के अन्तर्हित होने पर गोपरामा बहुत विह्वल हुईं। उनका चित्त अपने प्राणधन की गति, अद्भुत अनुराग, काममदभञ्जक स्मित, आकर्षक विभ्रम, मनोरमालाप से उनमें सर्वदा के लिये आकृष्ट हो गया। भगवान् ने अपने इन स्वाभाविक गति, स्मित आदि से बलात् उनके चित्त को अपने में खींच लिया। प्राणवियोग में मरण होता है। श्रीकृष्ण तो प्राणों के भी प्राण हैं, फिर उनके वियोग में व्रजसुन्दरियों का जीवन कैसे रहा यही अचरज है। उस समय उनके लिये परमाह्लादकर शारद पूर्णचन्द्र भी सूर्य के यद्वा प्रलयकालीन तीव्र सूर्यों के सदृश परम तापक हुआ। प्रलयकाल में नीचे से सङ्कर्षण-ज्वाला उठती है, ऊपर से त्रयोदश प्रचण्ड चण्डांशु तपते हैं। शारद पूर्णचन्द्र शीतल, कोमल, मधुर, आह्लादकर होता है। परन्तु यही वियोगियों के लिये उक्त प्रलयकालीन सङ्कर्षण-ज्वाला, त्रयोदशादित्य के सदृश परम सन्तापक होता है। व्रजवामाओं के लिये श्रीकृष्णचन्द्र रूप पूर्णचन्द्र के वियोग में प्रलय-सा उपस्थित हो गया। निश्चय था कि शीघ्र ही उनके प्राणपखेरू उड़ जाते। इस सन्ताप-स्थिति को दूर करने के लिये ही श्रीरमापति ने अपनी गति आदि से उनके चित्त को अपने में आकृष्ट कर लिया, क्योंकि चित्त रहे तो देहानुसन्धान हो। भगवान् ने गोपरामाओं को सन्ताप-सूर्य से बचाने के लिये ही अपने गत्यादि से उनके चित्त को खींच लिया, अतएव "**आक्षिप्तचित्ताः प्रमदाः**" कहा गया।

अथवा "**आक्षिप्तचित्ताः प्रमदाः**" का अर्थ है—"अपने प्राणधन श्यामघन को ढूंढने के लिये व्रजरामाओं ने अपने मन को प्रोत्साहन देकर निकाल दिया कि "हे

मन ! प्राणधन प्रियतम का पता नहीं और तुम यहाँ इस वियोग में शान्ति से बैठे हो, जाओ उनका पता लो।" यों तिरस्कारपूर्वक चित्त को निकाल दिया, फेंक दिया। इस तरह आक्षिप्तचित्तता बनी। जब चित्त ही नहीं, तब ताप का अनुभव कैसा ? व्रजबालाएँ श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दघन को प्राप्त करके 'प्रमदा' बनी हैं। उन्हें अपने इस प्रमदात्व-हर्षप्रकर्ष—अथवा मद-प्रकर्ष के कारण अपने इन्द्रियज्ञान तक का पता नहीं। वे प्रेमोन्माद में, संयोग में भी ऐसी वियोग की भावना किया करती हैं। वैसे तो उन्हें रोम-रोम में श्रीकृष्णसंयोग प्राप्त है। अतः यह प्रेमोन्माद में वियोग-भावना है। वे तो इस प्रकार से प्रियमय ही हैं, केवल 'बरफ-पूतरी सिन्धुविच रटत पियास पियास' की स्थिति है। बरफ की पूतरी में भीतर, बाहर, मध्य में जल ही जल है। वह स्वयं भी जल ही है। इसी प्रकार श्रीप्रिया-प्रियतम को परस्पर में सदा प्रेम की भूख रहती है—'हाय ! प्रेम नहीं मिला' और वे हैं स्वयं प्रियतमप्रेम के स्थान। सूर्य का प्रकाश अन्यत्र पर्वतादि में कभी होने और कभी नहीं होने से व्यभिचरित है, पर सूर्य में वह सदा रहता है। प्रेम और प्रेमी की जाति अलग है। पर यहाँ तो दोनों एक ही हैं। पूतरी जल में पड़ी है, पर प्यासी मरती है, मानों अनादिकाल से जल नहीं मिला। यही प्रिया-प्रियतम की स्थिति है। यह अचिन्त्य, अनन्त, अखण्ड, अव्यक्त, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न तत्त्व की बनी पूतरी हैं। अनेक शब्दों में कह सकते हैं—प्रेमामृतसिन्धु, अचिन्त्यरसामृतसिन्धु, पूर्णानुराग-रससारसिन्धु से दो पूतरी निकलीं--श्रीराधा, श्रीश्याम। अब इनके बाहर-भीतर सर्वत्र वही प्रेमामृत आदि तत्व है। वहाँ प्रेम स्थायी है, जैसे सूर्य में प्रकाश नित्य है। प्रेमानन्दमहासूर्य में कभी भी प्रेम का अभाव नहीं हो सकता। अपने स्वरूप के पूर्ण ज्ञान में पूतरी को प्यास ही कैसी ? पर प्रेमोन्माद की स्थिति है—'मैं प्यासी हूँ।' पूतरी की तरह प्रिया-प्रियतम दोनों उस प्रेमसिन्धु में हैं। अनन्तानन्त अनुराग होने पर भी उसके लिये दोनों अधीर रहते हैं। 'इनके मिलने के मूल्य का कण भी हमारे पास नहीं' यही भाव, यही प्यास दोनों को सदा तड़फड़ाती रहती है। सूर्य से प्रकाश कभी जाता ही नहीं। पूतरी से जल कभी जाता नहीं। वैसे ही प्रेम जिनमें सदा, नित्य रहता है, उन श्रीश्यामाश्याम को सदा यही भावना रहती है कि कब प्रेमकण मिले। वे सदा प्रेम को चाहा करते हैं, उसके लिये विकल रहते हैं, पर उन्माद में, अत्यन्त संयोग में सर्वाङ्गीण सम्प्रयोग के होने तथा रहने पर भी उसकी प्राप्ति की महती आकांक्षा बनी ही रहती है। उसके प्राप्त होने पर प्रेमोन्माद में उसे भूल जाते हैं। प्रेमोन्मादमूलक दो आकांक्षाएँ प्रणयी की होती हैं—एक प्रियतम के सम्मिलन की अभिलाषा और दूसरी संयोगमूलक अनुराग की उत्कण्ठा। प्रेमी की स्थिति कुछ विचित्र रही है, वह भजन करने की अपेक्षा प्रेम करना ही उत्तम समझता है। प्रयत्न नहीं करने पर भी प्रेम प्राप्त करने को तैयार रहता है।

किसी भी तरह प्रियतम मिले, यही उसका ध्येय रहता है। प्रेम में गुण-दोष की परीक्षा को या विवेक को स्थान नहीं है। कहा है—

"महादेव अवगुण भवन, विष्णु सकल गुणधाम।
जाकर मन रम जाहि सन, ताहि ताहि सन काम॥"

श्रीअम्बा पार्वती श्रीशिवप्राप्ति के निमित्त तप कर रही थीं। उसी प्रसङ्ग पर सप्तर्षि उनके पास गये। परीक्षा के निमित्त भगवान् शिव की उनके सामने निन्दा की। पर श्रीपार्वती अटल निश्चय लेकर बैठी थीं। वह कोई बालू की भित्ति न थी, जो फूंक से उड़ जाती। उन्होंने अन्त में स्पष्ट कह दिया—'हमने माना कि महादेव अवगुण-दोष-के घर हैं और विष्णु सब गुणों के स्थान, पर जिसका मन जहाँ रम गया, उसे तो उसीसे काम है।'' उसे गुण-दोष देखने का समय ही कहाँ? ऐसे ही श्रीव्रजाङ्गना श्रीकृष्ण से प्रेम करती हैं। उन्हें यह ज्ञान ही नहीं कि उनके प्रेमास्पद सुन्दर हैं या असुन्दर, गुणी हैं या निर्गुणी। वे इन सब बातों को कुछ नहीं जानतीं, केवल प्रेम करना जानती हैं। किसी भक्त की सूक्ति है—

"असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा, गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात्करुणाम्बुधिर्वा, कृष्णः स एवाद्य गतिर्ममास्तु॥"

हमारे प्रियतम चाहे सुन्दरों के सरताज हों, चाहे गुणगण से विहीन हों, चाहे वे मनमोहन हमसे प्रेम करें, चाहे न करें, चाहे वे हमपर प्रसन्न हों, चाहे नाराज, पर हमारे तो वे ही प्राणधन हैं, सर्वस्व हैं।

जहाँ प्रेमियों की गणना चलेगी, एक प्रेमी चातक भी गिना जायगा। प्रेमियों के पारखी श्री गोस्वामीजी कहते हैं—**"जलद जनम भरि सुरति बिसारै, माँगत जल पवि पाहन डारे।"** प्रेमी स्वातिबिन्दु माँगता है और प्राणधन मेघ, ओला, पत्थर बरसाता है। परन्तु चातक कभी उसकी इस निठुरता को मन में भी नहीं लाता। मेघ कभी उसे वर्षभर में भी याद नहीं करता, कभी ध्यान पर भी नहीं लाता। एक तरफ यह हाल है और दूसरी ओर प्रेमी एकाध वस्तु नहीं, किन्तु अपना सर्वस्व वार डालने को तैयार है। गङ्गाजल, यमुनाजल, साक्षात् सुधा भी चातक को नहीं चाहिये। उसको तो वही एक, केवल एक ही, स्वातिबिन्दु चाहिये।

गङ्गा के तट पर एक वृक्ष था। उसकी एक शाखा गङ्गा में लटक रही थी। चातक-पक्षिराज अपने प्राण-जीवन की चिन्ता में उसी शाखा पर बैठा था। इसी समय पीछे से एक बहेलिया ने तीर मारा। निशाना सच्चा बैठा, उसके प्राणपखेरू उड़ गये, वह हवा के झोंके से गङ्गा में गिर पड़ा। परन्तु अन्त में मरते समय भी उसका नियम नहीं टूटा, स्वभाव से ही उसने अपना मुँह बन्द कर लिया—कहीं मरने पर भी गङ्गाजल मुंह में न चला जाय, मेरे तो मुख में बस वही स्वातिबिन्दु

हो। कितना ही कोई अपना हो, निजी हो, पर उसके भी प्रतिकूल आचरण पर एक दिन कोप आ ही जाता है। किन्तु चातक को नहीं आता। किसीने कहा—'चातक, अन्य उत्तम जल पियो, मैं अमृत आन दूंगा। क्यों स्वाति पर प्राण देते हो?' तो उसने कहा—"नहीं, मेरे लिये तो साक्षात् प्रेमद्रव भी तुच्छ है। मनुष्य की तरह ढुलमुलपन्थी मैं नहीं हूँ। यहाँ तो यह अडिग-अडोल निश्चय है—स्वाति-बिन्दु ही मिलेगा तो लेंगे, नहीं तो पत्थर, ओला की मार से मर जायँगे।" इतना ही नहीं, उसके मुँह से मरते समय अन्तिम शब्द निकले—**"पुत्रो, मेरा श्राद्ध भी गङ्गाजल आदि जलों से नहीं करना।"** वाह री दृढ़ता! अपने प्रत्यक्ष भी न लिया और भविष्य के लिये भी वंशजों को शिक्षा दे गया। इतना ही नहीं, किन्तु मेरे वंशज भी ऐसा ही करें—यह भी निश्चित कर गया। यह है प्रेमतत्व। इन प्रेमी व्यक्तियों के अखण्ड प्रेम से ही इनका इतना यश फैला है। इसी प्रेमतत्व के सम्बन्ध से साधारण वस्तु में भी मिठास-उत्तमता-आ जाती है। इसके बिना अमृत भी फीका है। बस यदि यह प्रेम नहीं, तो कुछ नहीं। यदि श्रीव्रजाङ्गनाएँ व्रजेश्वर श्रीश्यामसुन्दर को पपीहा की तरह स्वाति का जल न समझकर साधारण जलस्थानीय समझतीं और ऐसी स्थिति में दूसरे के भजन-सेवन करने में प्रवृत्त हो जातीं, तो आज उनके इस महान् सौभाग्य का कोई प्रसङ्ग ही न आता। पर इसके विपरीत उनका तो मन्तव्य ही यह है कि हमारे प्राणधन प्रेमी चाहे जैसे भी हों हम तो उनसे ही प्रेम करेंगी—**"असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा····"** वे अपने प्रेमी के गुण, दोष, महत्व के विषय में कोई शर्त ही नहीं रखतीं; बस, केवल प्रेम करती हैं। चातक की तरह अपमानित होने पर भी अपने लक्ष्य से नहीं गिरतीं। क्योंकि **"चातक रटन घटे घटि जाई"** का उनका सिद्धान्त है। अजो! जिनपर जीवन वार डारा-सर्वस्व न्योछावर कर दिया, बदले में उनके प्रेम न करने पर यदि उनसे वैराग्य हो जाय तो फिर कुछ स्वारस्य ही नहीं। स्वाद तो तभी कि प्रेमी को ओर से शतधा सहस्रधा अपमानित होने पर भी चातक के जैसी रटन न घटे। प्रत्युत, उत्तरोत्तर रटन बढ़ती ही जाय, चाहे कितने ही तिरस्कार क्यों न हों। सुवर्ण को जितना ही तपाया जायगा, जितना ही उसका निघर्षण-छेदन-ताप-ताड़न किया जायगा, उतना ही वह मूल्यवान् होगा।

हमारा प्रेम काञ्चन की तरह खरा होना चाहिये। आज प्रेम कम, बल्कि नहीं के बराबर है और उसका दिखावा, ढिंढोरा ही सबसे ज्यादा है पर यह है अपने को धोखा देना ही। एक भक्त कहता है--हम प्रेम तो करें, पर यदि वे न जानें तब करें; अथवा उनकी ओर से अधिक से अधिक उपेक्षा, तिरस्कार, डाट-फटकार मिले, तब करें। **"प्रेम कनक ही बात चढ़े····"** यह तो यहाँ शर्त ही नहीं थी कि वे प्रेम करें, वे सुन्दर हों, तब हम प्रेम करेंगे। यह है प्रेम चीज, यह जिसमें हो वही धन्य है।

मिसरी जैसी मीठी लगती है, ब्रह्म अथवा ब्रह्मस्थानीय श्रीकिशोर नटनागर प्रभु वैसे मीठे नहीं लगते, कटु लगते हैं। खेल-तमाशों में, उपन्यास-नाटकों में, थियेटर-सिनेमा में मन लगता है। दोषवश जैसे मिसरी में मिठास नहीं प्रतीत होती, वैसे ही मायावश सर्वान्तरतम प्रियतम प्रभु में मिठास नहीं प्रतीत होती, पर वास्तव में मीठे वही हैं। वे प्रेम के योग से ज्ञात होते हैं। प्रेम के बिना अचिन्त्य, अनन्त, अव्यक्ततत्व भी फीका लगता है, जो मधुरिमा का उद्गमस्थान है। प्रेम की महिमा से सुतृप्त हुआ चातक अमृत भी नहीं चाहता। इसलिये श्रीव्रजाङ्गना प्रेम चाहती हैं, आदर नहीं। प्रेम होने से ही परमानन्द की प्राप्ति होती है। कंस आदि ने भी प्रभु श्रीकृष्ण का दर्शन किया, पर, आनन्द–मिठास–उन्हें अनुभूत नहीं हुई, क्योंकि वहाँ प्रेम नहीं था। अतः ये गोपरामा प्रेम की भिक्षा माँगती हैं।

जहाँ प्रेम मिला कि प्रेमोन्माद हुआ, वहाँ संयोग में भी वियोग की उच्च दशा का उदय हो जाता है। अतः रासेश्वरी की, प्रेम की और प्रिय सम्मिलन की उत्कट इच्छा रहती है–प्रेम, प्रियतम दोनों मिलें। ऐसे ही श्रीश्यामसुन्दर भी दोनों चाहते हैं। जिस प्रेमसिन्धु की ये दोनों–श्रीश्यामाश्याम पूतरी हैं, उसीसे प्रेम बना। इन दोनों ही के भीतर प्रेम भी और प्रियतम भी हैं। इधर श्रीरासेश्वरी के स्वरूप में प्रेम, प्रियतम विराजमान हैं, उधर श्रीरसिकविहारी में भी ऐसे ही प्रेम, प्रियतम इसकी भिक्षा माँगते हैं। दोनों विराजमान हैं। फिर भी दोनों भीतर-बाहर एक हैं। बरफ पूतरी की तरह प्रेम, प्रियतम एक ही प्रेमसिन्धु से निकले हैं, एकत्र ही स्थित हैं। फिर भी **"रटत पियास पियास"**—'हा प्राणजीवन कब मिलोगे?' यह प्रेमोन्माद की स्थिति है। असली वस्तु प्रेमोन्माद को उत्पन्न करके विप्रयोग में संयोग भावना का हो जाना है। परन्तु इसके बिना संयोग में वियोग प्रतीत न हो जाय इसलिये श्रीभगवान् ने **'गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैः'** से संत्राण करने के लिये यह प्रेमोन्माद प्रदान किया।

एक और भी अर्थ है—भगवान् को गोपवामाओं के सन्त्राण की परवाह क्यों करनी थी? जब कि वे आप्तकाम, आत्माराम हैं? उन्हें तो चातक के सामने जलद की तरह ही डटे रहना चाहिये था।

इसपर यह समझना कि–**'रमापतेः आक्षिप्तचित्ताः'** अर्थात् रमापति मनमोहन के चित्त को भी अपनी गति आदि से गोपियों ने आक्षिप्त कर लिया, हर लिया। गति या अनुराग, स्मित, विभ्रम, ईक्षित कटाक्षादि, मनोरम आलस्य, विलास आदि द्वार श्रीकृष्ण को गोपाङ्गनाओं ने अपने वश में कर लिया। अतः उनकी पूर्णकामता भुल गयी। थे तो ये पूर्णकाम ही, पर जब गोपाङ्गनाओं के अपांगों से मन खो बैठे, तब इधर इनपर ध्यान आया और तब प्रेमोन्माद की स्थिति उत्पन्न की, वे तो थे नीरस, पूर्णकाम, उन्हें सकाम और सरस बनाया सखियों ने। ठीक है, माधुर्य वे

बिना मिसरी का मूल्य ही क्या ? "राधा बिन आधा कृष्ण ?" एक विशेषता यह भी कि पूर्णकाम के भक्त भी आत्माराम, पूर्णकाम, परम निष्काम होते हैं। परन्तु लीलास्वादन में तो ये बड़े तत्पर देखे जाते हैं। देखिये, श्री गोस्वामीजी कह रहे हैं– "**आशा वसन व्यसन यह तिनहीं, रघुपति चरित होहि तहँ सुनहीं।**" उन निष्कामों में सकामता ला देनेवाले वे श्रीहरि इस प्रकार के गुणवाले हैं, इसमें उन भक्तों का कोई दोष नहीं। कहा है--

"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥
नैर्गुणस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः।" (भागवत)

अहैतुकी भक्ति चुम्बक की तरह बलात् उन्हें खींच लेती है। श्रीभगवान् में आत्मारामचित्ताकर्षकत्व भी एक गुण है। श्रीसनकादि, शुकादि 'निग्रन्थ' थे, उनकी चित्-अचित् की ग्रन्थि—चिज्जडग्रन्थि--खुल गयी थी। '**पलालमिव धान्यार्थी**' की तरह वे सारग्रहण कर चुके थे, ये सब मर्मज्ञ थे, शास्त्ररहस्य जानकर सब कुछ छोड़ बैठे थे, मोक्ष तक नहीं चाहते थे। पर फिर भी उस बाँके विहारी मनोहारी के लोकोत्तररूपलावण्य पर उनका चित्त बरबस लुभा जाता था। किसीकी बड़ी सुन्दर सूक्ति है--

"क्लेशे क्रमात् पञ्चविधे क्षयङ्गते यद्ब्रह्मसौख्यं स्वयमस्फुरत्परम्।
तद् व्यर्थयन् कः पुरतो नराकृतिः श्यामोऽयमामोदभरः प्रकाशते॥"

किन्हीं महापुरुष के पञ्चविध क्लेश–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश क्षीण हो चुके थे, शान्त होकर पञ्चकोशातीत में उनका मन लग गया। तत्त्वसाक्षात्कार उन्हें हो चुका था, उन्हें कहीं श्यामसुन्दर के दर्शन हो गये। अब प्रयत्न करते हैं पर समाधि ही नहीं लगती। किसीने कहा है कि '**जौ लों तोहि नन्द को कुमार नाहीं दीठि परौ, तौ लौं ध्यान धारणा समाधि तू करि ले।**' उसका दर्शन हो जाने के बाद चित्त खिंच जाता है, पर पवित्र अन्तकरणवालों का ही वहाँ खिंचाव होता है। जैसे चुम्बक स्वच्छ लोहे को जल्दी खींच लेता है, वैसे ही वह श्यामसुन्दर महात्माओं के चित्त को जल्दी खींच लेता है। उन्हें ज्ञात ही नहीं होता कि वे श्यामसुन्दर से क्यों इतना प्रेम करते हैं ? यह श्रीभगवान् में विराजमान चित्ताकर्षकत्व गुण का माहात्म्य है। यह तो हुई योगीन्द्र-मुनीन्द्रों की बात। पर यहाँ इन गँवारी ग्वालिनियों ने तो उन योगीन्द्र-मुनीन्द्र मनोहारी श्रीभगवान् के भी मन को खींच लिया। उन्हें श्रीभगवान् होकर भी इन गोपरामाओं के साथ रमण करने की इच्छा हो गयी।

"भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥"

यह तो मानना ही पड़ेगा कि सनकादि, शुकादि अन्य आत्मारामों की अपेक्षा श्रीभगवान् में अधिक आत्मारामत्व था। पर इन्हें कम आत्मारामत्ववाली अथवा जो आत्मारामत्व को जानतीं भी नहीं, उन गोपाङ्गनाओं ने इनके आत्मारामत्व को छीन लिया और इन्हें 'गोपीराम' या गोपीरमण बना दिया। निष्काम को सकाम बना दिया। पूर्णकामता आदि छिप गयी, मन गोपरामाओं में खिंच गया। अब यह दशा हो रही है कि इनके पीछे-पीछे घूम रहे हैं। इस प्रकार **'आकृष्टचित्ता रमापतेः'** के अर्थ में षष्ठी है। अतः यह अर्थ भी होता है कि श्रीरमापति ने राजहंस, गजराज और सिंह की गति को लज्जित करनेवाली गति, अनुराग, हास, अलसवलितादि विभ्रम तथा मनोरमालाप से व्रजाङ्गनाओं के चित्त को खींच लिया, क्योंकि उन्होंने सोचा कि 'यदि चित्त इनके पास रहेगा, तो ये हमारे विप्रयोगजन्य तीव्रताप में सन्तप्त होंगी।' व्रजाङ्गनाओं को 'प्रमदा' कहा गया। **'प्रकृष्टो मदो यासाम्'** इस व्युत्पत्ति से भाव यह कि दैहिक सब प्रपञ्च भूल गयीं, जिस मन के रहने में सन्ताप, वियोग होता है, उसे तो भगवान् ने पहले ही हर लिया। अब सुख-दुःख ही किसे हो ? फिर श्रीभगवान् ने गोपाङ्गनाओं में प्रमद मादक मद उत्पन्न किया, जिससे वियोगताप में भी उन्हें संयोग प्रतीत हुआ, इससे वह वियोगजन्य तीव्रताप उनके अन्तर में प्रविष्ट न हो सका। इतने पर भी यदि श्रीमनमोहन का विप्रयोग उन्हें बाधा पहुँचाये—तो ठीक नहीं। अतः **'तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः।'** तदात्मिका का अर्थ है—**'स एव रक्षकत्वेन वर्त्तमानो हृदि यासान्ताः।'** अर्थात् वे ही श्यामसुन्दर रक्षक रूप से जिनके हृदय में विराजमान हैं, वे व्रजाङ्गना वियोगताप की ओर से निर्भीक बना दी गयीं, क्योंकि अपने प्रेमी की उपेक्षा करके उसे छोड़ देना उचित नहीं ! पर सौभाग्यमद के होने पर उसे भी दूर करना अपेक्षित था।

'गोपाङ्गनाओं के हृदय में वर्तमान रहकर श्रीभगवान् ने उनकी रक्षा की' इस बात को उपनिषद्-वचन से श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने भी पुष्ट किया है—**'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।'** अर्थात् कौन जीता, कौन चेष्टा करता, यदि भगवान् श्रीकृष्ण अन्तर में विराजमान होकर उनका रक्षण न करते। इस तरह ये व्रजाङ्गनाएँ कैसे जीतीं, कैसे श्रीश्यामसुन्दर को ढूंढतीं, यदि उनसे अन्तर में त्राण न पातीं। 'तदात्मिकाः' एक और भी अर्थ है। वह यह कि श्रीनन्दनन्दन में ही गोपाङ्गनाओं के प्राण, आत्मा सब कुछ है—"तस्मिन्नेवात्मा, प्राणा या सान्तास्तदात्मिकाः" उन व्रज देवियों का यही सबसे बड़ा भाव है। ये कहती हैं—

"यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥"

हे प्रिय ! आपके चरण अत्यन्त सुकोमल हैं, उनमें कमल की पांखुरी के भी गड़ जाने का भय रहता है। आपके उन चरणों को हृदय के ताप को दूर करने के लिये हम अपने स्तनों में—हृदय में धारण करती हैं, पर नाथ ! हम डरती हैं—आपके कमल कोमल पादों को कर्कशकठोर स्तनों में कैसे धरें, कहीं वे उनमें गड़ न जायँ। हे प्राणजीवन ! आप उन्हीं कोमल चरणों से कण्टकाकीर्ण अरण्यों में घूमते हो, इससे हमें और भी व्यथा होती है। हमारे तो प्राणों के भी प्राण, जीवन आप हो।

'आपको यों घूमते देखकर हमारी बुद्धि चकरा जाती है, हम क्या करें ?' कितना ध्यान है, कितनी भावुकता है; क्या यह प्राकृत विषयलोलुप कामिनियों को होगी ? फिर आध्यात्मिकादि ताप भी तभी दूर होंगे, जब प्रभु श्रीहरि के चरण हृदय में निहित होंगे। बात यह है कि लौकिक कामुक-कामिनी आदि में स्वसुखसुखित्व का भाव होता है, वे सब अपने सुख के लिये प्रेम करते हैं। लोक में पिता आदि अपने आनन्द के लिये बालक के कोमल कपोल का चुम्बन करते हैं, उसे उनकी दाढ़ी चुभती है, वह रोता है, पर इसकी परवाह किसे रहती है ? वहाँ तो चुम्बन की बौछार (परम्परा) लग जाती है। इसलिये कहा है—"....**आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति**...." किन्तु श्रीव्रजाङ्गनाओं के विषय में यह बात नहीं है, यहाँ तो तत्सुखसुखित्व का भाव है। यह श्लोक लज्जा का स्थान नहीं, जैसा कि अनभिज्ञ कह बैठते हैं। अपितु श्रीव्रजदेवियों के विशुद्ध, गाढ़ प्रेम से आक्षिप्त हृदय का दर्पण है, उच्च भावुकता का केन्द्र है। वे कहती हैं—क्या करें, आपके चरण हृदयों में धरे बिना ताप दूर नहीं होगा—यह सभी शास्त्रों का सिद्धान्त है पर डरती हैं हम, यह स्तन (हृदय) कठिन है, कहीं चुभ न जाय, पर आप इनसे वन में घूमते हो, क्या इनमें तृण, गुल्म, पत्र आदि न गड़ते होंगे ? अवश्य गड़ते होंगे। फिर भी हाय ! हम जीवित हैं। परन्तु हमारा कुछ बस नहीं चलता, क्योंकि हमारे प्राण विधाता ने आपके हाथ में दे दिये हैं, नहीं तो ये कब के निकल गये होते। अतः "**तस्मिन्नेव आत्मा प्राणो यासान्ताः तदात्मिकाः**" यह ठीक कहा गया। जब तक श्रीश्यामसुन्दर प्राणेश्वर इनके अन्तर में विराजमान हैं, तब तक ये मर सकतीं नहीं, तीव्र ताप सहकर भी जीवित रहेंगी, डोलती-फिरतीं काम-काज करती रहेंगी। इसीसे "**रमापतेरपि आक्षिप्तं चित्तं याभिस्ताः**" यह सङ्गत है। जो श्यामसुन्दर परमसमाहितचेता योगीन्द्र मुनीन्द्रों के चित्त को भी आकृष्ट कर लेते हैं, उनके चित्त को गोपवधूटियों ने आकृष्ट कर लिया। अतएव '**रमापतेरपि प्रकृष्टो मदो यासाम्**' यह भी भाव है अर्थात् जिनका मद रमापति से भी बढ़कर है। तभी तो अपनी 'गति' आदि से आप्तकाम, पूर्णकाम को भी खूब मतवाला बना दिया।

अथवा अपने चित्त पर आक्षेप करती हैं—'अरे चित्त ! तू शरीर में बैठा क्या करता है ? जा, प्राणधन का अन्वेषण कर' इस तरह (**आक्षिप्तं चित्तं याभिस्ताः**)

चित्त को जिन्होंने बाहर निकाल दिया, वे गोपाङ्गनाएँ श्रीश्यामसुन्दर को ढूंढती हुई उनकी लीला का अनुकरण करती हैं। उसमें ऐसी विभोर, तल्लीन हो गयी हैं कि श्रीश्याम के गति, स्मित, प्रेक्षण, भाषण आदि सबका अनुकरण करती हैं। यद्यपि अनुकर्त्ता नट आदि को अनुकरणीय और अनुकर्त्ता में भेद बना रहता है, पर इनको तो यह भेद ज्ञात ही नहीं रह गया। इनके मन, बुद्धि आदि सभी सर्वथा श्यामसुन्दर के ही सदृश हो गये।

उस समय धर्मी (श्रीकृष्ण) और धर्म (जैसे अग्नि की उष्णता आदि वैसे श्रीकृष्ण के धर्म) दोनों का आविर्भाव हुआ। फिर विहारविभ्रम का उदय हुआ। **(विहारः—विगतो हारो यस्मात् एतादृशो विभ्रमः)** अर्थात् जिस विभ्रम या विलास में हाररहित होना पड़ता है, उस विहारविभ्रम का उदय हुआ। जिस समय व्रजाङ्गनाएँ अपने प्रियतम से मिलने लगती हैं, उस समय वे देश, काल और वस्तु का व्यवधान भी नहीं रहने देना चाहतीं। प्रेमोद्रेक में व्यवधान सह्य नहीं होता। हार, कञ्चुकी आदि निकाल देती हैं। आनन्दोद्रेक में रोमाञ्च तक–जो प्रियतमालिङ्गनसमुत्थ है—बाधक होता है, फिर हार की तो बात ही क्या ? अतः **'विहार' (विगतो हारः)** कहा। ऐसे विलास का वे अनुभव करने लगीं। द्वारका की श्रीकृष्ण की पटरानियों का भी एक ऐसा ही प्रसङ्ग है। एक बार श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ के प्रवास से आये, तो उनकी महिषियाँ उनसे मिलने के लिए—"...**उत्तस्थुरारात् सहसाऽऽसनाशयात्**" आसन से उठीं और आशय से भी उठीं। देशव्यवधान को दूर करने के लिये आसन से उठीं। पर उन्हें इतने से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा—क्या हम उन प्राणेश्वर से पाँच-पाँच कोष के कञ्चुक को पहने हुए मिलें, जहाँ एक कञ्चुकमात्र भी बाधक होता है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष के कञ्चुकों को पहनकर मिलने में स्वाद ही कुछ नहीं। इन प्राणधन से तो निरावरण होकर सम्मिलन में आनन्द है। अतः आशय से उठकर मिलीं अर्थात् आशयोपलक्षित पञ्चकोष के आवरण को हटाकर श्रीकृष्ण परमात्मा से मिलीं। परन्तु श्रीव्रजदेवियों के यहाँ इन कोषों की चर्चा नहीं, वे तो नवघनश्याम मुरलीमनोहर मनमोहन की निरन्तर चिन्ता से तदात्मिका–रसात्मिका–हो रही हैं और श्रीवृषभानुनन्दिनी उस रस की मधुरिमास्थानीया हैं। इस प्रसङ्ग पर श्री नन्ददासजी ने कहा है—'तरङ्गन वारि ज्यों' श्रीउद्धव भगवान् कृष्ण के सन्देश को गोकुल में व्रजबालाओं के निकट पहुँचाकर जब वापस आये, तब श्याम के विप्रयोग में व्याकुल उन गोपदेवियों का उन्होंने श्रीकृष्ण के सामने दयनीय चित्र खींचा और कहा—वे आपके बिना मरी जा रही हैं और आप यहाँ मौज ले रहे हो। उत्तर में श्रीभगवान् ने सहास स्वर में कहा—उद्धव ! व्रज में इतने दिन रहकर उन व्रजाङ्गनाओं से क्या सीख आये हो ? और तब उन्होंने दिखाया 'तरङ्ग ज्यों।' श्रीगोपाङ्ग-

नाओं के रोम-रोम में, प्राण-प्राण में श्यामसुन्दर विराजमान हैं। श्रीउद्धव यह देखकर और चकित रह गये। ऐसी स्थिति में गोपियों और श्रीकृष्ण में छिपाव ही क्या है? लोग व्यर्थ मोटी शङ्का करते हैं—श्रीकृष्ण ने गोपाङ्गनाओं को नग्न कराया, हाथ बँधाकर बुलाया, चीरहरण लीला की। पर क्या वे नग्न होकर जल में नहीं नहाई थीं? क्या वे कृष्ण परमात्मा जल से भी बहिरङ्ग हैं? वस्तु-स्थिति तो यह है कि—

"सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः।
तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद् वस्तु रूप्यताम्॥"

सभी वस्तुओं का भावार्थ परिणामी में स्थित होता है, अर्थात् सभी वस्तुएँ अपने कारणरूप में स्थित होती हैं। उस कारण के भी कारण भगवान् कृष्ण हैं। उससे भिन्न और है ही क्या वस्तु, जिसका निरूपण किया जाय? अन्त में सत्तत्व श्रीकृष्ण ही ठहरते हैं। इतना भीतरी श्रीकृष्ण तत्व है। उसके समक्ष क्या कोई वस्त्रपरिधान करेगा, हाँ, तो प्रकृत में—जल में तरङ्ग की तरह गोपाङ्गना हैं। वे एक तरह से जल ही हैं। परन्तु जलगत मधुरिमा की अपेक्षा तरङ्ग बहिरङ्ग हैं। मधुरिमा अन्तरङ्ग है, वह श्रीराधा हैं।

अस्तु, इस प्रकार 'कृष्णविहार-विभ्रमा' व्रजाङ्गना आपस में एक दूसरी से कहती हैं—हे अबलाओ, तुम कहाँ श्यामसुन्दर को ढूँढती फिरती हो, वह अशेष विहार नागर कृष्ण तो हम ही हैं, लो हमें ग्रहण करो। इस प्रकार वे मनमोहनस्वरूप ही हो रही हैं। बाहर, भीतर, मध्य में उनके श्याम ही श्याम भरपूर हैं। वही आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण सब कुछ हो गये हैं। यों वे तदात्मिकाः **(स एव आत्मा प्राणादिर्यासान्ताः)** हो गयी हैं।

प्रकृत श्लोक के 'प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्त्तयः' अंश पर पहले कुछ कहा गया है। अब एक भाव और कहा जाता है—'प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्त्तयः।' विष्णु-दैवतरस में 'क्वचित् स्त्रियः पुरुषायिता भवन्ति' से विपरीत रति का एक पक्ष है। अर्थात् शृङ्गारोद्रेक में नायक नायिका बन जाता है और नायिका नायक बन जाती है। यहाँ 'गति, स्मित···' आदि लीला में **'स्वयं स्त्रियः सत्यः प्रतिरूढमूर्त्तयः'** हुए। श्रीव्रजाङ्गना श्यामसुन्दर बन गयीं और व्रजचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र व्रजाङ्गना बन गये। श्रीराधा श्याम हो गयीं और श्रीश्याम राधा हो गये। प्राकृत-लौकिक शृङ्गार में वस्तुतः नायिका नायक नहीं होती और नायक नायिका नहीं होता। पर यहाँ तो प्रभु साक्षात् काम और सत्यसङ्कल्प हैं। एक दूसरे का चिन्तन करते ही करते श्रीरसिक-विहारिणी बन जाते और वह, वह बन जाती हैं। ये दोनों प्रेमामृतसिन्धु की दो मूर्ति बनकर प्रकट होते हैं और उसीमें ये दोनों प्रिया-प्रियतम गोता लगाते रहते हैं। उसमें न जाने कौन कब बदल जाता है, कुछ पता नहीं रहता। क्योंकि उस प्रेमसुधासिन्धु के उन्मज्जन-निमज्जन में यह उलट-फेर दिन में करोड़ों बार होता है।

इस प्रसङ्ग में यह भी ज्ञातव्य है कि पहले श्रीभगवान्—भजनीयतत्व स्वतन्त्र और साधक परतन्त्र रहता है। भक्त भगवान् को हर तरह रिझाने का प्रयत्न करता है; स्तुति आदि करता फिरता है। वस्तुतः स्वातन्त्र्य ही पुंस्त्व और पारतन्त्र्य ही स्त्रीत्व है—(**स्वातन्त्र्यमेव पुंस्त्वम्, पारतन्त्र्यमेव स्त्रीत्वम्**)। इन दृष्टियों से यही निश्चय होता है कि जीव परवश-पराधीन और ईश स्ववश-स्वाधीन है। श्री गोस्वामीजी ने भी कहा है—"परवश जीव स्ववश भगवन्ता।" तरङ्ग जल के परतन्त्र रहती हैं, जीव प्रभु के परतन्त्र रहता है। इस आशय से ईशप्राप्ति के निमित्त सखीभाव की साधना होती है। पारतन्त्र्य से ही पूर्णता-स्वाधीनता प्राप्त होती है। भक्त की दृढ़ साधना से फिर धीरे-धीरे श्रीभगवान् परतन्त्र–भक्त के अधीन होने लगते हैं और भक्त स्वतन्त्र, दुरूह वेदान्त और कोमल भक्तिरस में समान भाव से वर्त्तमान। श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वती ने श्रीकृष्ण तत्व के साक्षात्कार के लिये, यहां श्रीवृन्दावन में चार बार श्रीगोपाल सहस्रनाम का पुरश्चरण किया। पर कुछ भी सिद्धि-सूत्र न मिलने पर अन्त में इन्होंने काशी में श्रीकालभैरव का अनुष्ठान किया। उससे उन्हें पूर्वसञ्चित अपने पापों का–प्रभुदर्शन प्रतिबन्ध का ज्ञान हुआ, हताश भाव मिटा और श्रीकालभैरव के प्रोत्साहन से फिर श्रीवृन्दावन में आकर पाँचवीं बार श्रीगोपाल सहस्रनाम का पुरश्चरण उन्होंने आरम्भ किया। उसमें पूर्वपरिश्रम की सब कसर निकल गयी। "**क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।**" रूप, लावण्य, माधुर्य और सुन्दरता की सीमा श्रीमुरलीमनोहर मनमोहन उनके समक्ष प्रकट हो गये। अब श्री स्वामीजी को मान की सूझी, श्रीश्यामसुन्दर उनके सामने जाते हैं और वे मुंह फिराते हैं। अब भक्त स्वतन्त्र, भगवान् परतन्त्र हैं। ऐसे ही अवसर के लिये श्रीभगवान् ने श्रीमुख से कहा है—"**अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजः।**............" मैं भक्तों के अधीन हूँ··(भाग० ९, ४, ६३)।

"साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्।
मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं ते तेभ्यो मनागपि॥"

(भाग० ९, ४, ६८)

साधुओं का–भक्तों का हृदय मेरा विहार-स्थल है और मेरा हृदय साधुओं का निवासस्थान। मेरे सिवा वे और कुछ नहीं जानते। "**वशीकुर्वन्ति मां नित्यं सत् स्त्रियः सत्पतिं यथा**·····" (भाग० ९, ४, ६६)। जैसे साध्वीसती पतिव्रता स्त्री अपने सत्पति को वश में कर रखती है, वैसे ही स्वाधीनभर्तृका की तरह मुझे सद्भक्त वश में कर लेता है। तभी तो उस पूर्णतम को हाथ में माखन रख-रखकर, ताली दे-देकर गोपियों ने नचाया। मानो वे उनकी काठ की पुतरी थे—'**तद्वशो दारुयन्त्रवत्**' इसके अनुसार श्रीकृण में गोपाङ्गनात्व हुआ। यों '**प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढ़मूर्तयः**' से विपरीत रति भाव बना। श्रीकृष्ण गोपाङ्गना हो गये और गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण हो गयीं। इस

प्रकार गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण बनकर कहती हैं—'**असावहन्त्विति**'। यह केवल भावना ही नहीं, वस्तुस्थिति ही ऐसी है। पहले तो प्रेमोद्रेकवश श्रीनन्दनन्दन उन व्रजाङ्गनाओं के रोम-रोम में थे ही, दूसरे, प्रतिरूढ़भाव से भी वे उनमें स्थित हुए, एवं तीसरे, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार में विभ्रमादि से भी वे प्रविष्ट हुए। इसके अतिरिक्त 'कृष्णविहारविभ्रमा:' का यह भी समास होता है—'**कृष्णविहारस्य विभ्रमो यासु।**' कृष्णविहार का विभ्रम जिनमें हुआ वे गोपियाँ मैं ही कृष्ण हूँ, ऐसा परस्पर कहने लगीं। अर्थात्; इन गोपाङ्गनाओं के विहार में कृष्णलीला का विभ्रम हो गया। अतएव यह लौकिक लीला थी। वस्तुतः गोपाङ्गनाओं के मन में यह भाव ही नहीं था कि हम अनुकरण कर रही हैं, वे निष्कपट, निश्छल थीं। वे सच्चे ही प्रेम-समुद्र में गोता लगाती रहती थीं। इस समुद्र की तरङ्गें संयोग में शान्त रहती हैं, पर वियोग में खूब उठती हैं। कभी इसमें उन्माद, विभोरता का ज्वारभाटा आता है। जब कभी उनकी यह प्रेम-समाधि भग्न होती, तल्लीनता में कुछ कमी आती, वियोग का ज्ञान होता, तब वे पुकार उठतीं, 'हा! प्राणधन, श्यामसुन्दर, नटनागर, कहाँ हो' और ढूंढ़ने लगतीं —

"गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद्वनाद् वनम्।
पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन्॥"

श्रीगोपाङ्गनाएँ अब तक बाह्यानुसन्धान से शून्य थीं, उन्हें होश ही नहीं कि हमारा श्रीप्राणप्यारे से इस समय असम्प्रयोग हो रहा है। बाह्यानुसन्धान होते ही 'हा श्याम! हा प्राण कहाँ हो!' इस चिन्तासन्तान-सन्ताप से सातिशय सन्तप्त हो उठती हैं और श्रीश्यामसुन्दर नन्ददुलारे को फिर प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं—सखि, चलो ढूंढ़ें। कैसे ढूंढ़ें? तो संहत–सम्मिलित होकर ढूंढ़ें। यहाँ व्रजदेवियों के इस चरित्र से उपदेश मिलता है कि कोई भी काम सम्मिलित होकर ही करना चाहिये, आपस की फूट से काम बिगड़ जाता है। इनकी तो यह नित्यलीला है। यह तो विप्रयोग का नटन हम लोगों के लिये है। वैसे इनमें कभी ईर्ष्या भी होती थी। इनके पृथक्-पृथक् यूथ थे। इनकी ईर्ष्या स्पृहणीय है, वह भक्तिरसामृतसिन्धु की लहरें हैं। पारा बहुत स्वच्छ-उज्ज्वल होता है। गन्धक उसके रूप में हो जाता है, उसमें समा जाती है। चित्त जब स्वच्छ होता है, इष्ट-प्रेय तत्त्व उसमें प्रतिफलित होता है। उस समय चित्त आनन्दस्वरूप—रसस्वरूप होता है। अमृत की सब तरङ्गें अमृत, रस की सब तरङ्गें रस ही होती हैं। ईर्ष्यादि सब चित्त की ही वृत्ति अथवा विकार हैं। इस प्रकार श्यामप्रेमप्रमत्त बड़भागियों की ईर्ष्या भी प्रेम ही है। अस्तु, अब तो ढूंढ़ना है, अतः रागद्वेषहीन होकर ढूंढ़ने में ही सुविधा रहेगी। यही उपदेश भी मिलता है। कुञ्ज आदि की बातों का अर्थात् यह अमुक कुञ्ज की, अमुक भाव की है आदि बातों का विचार कभी स्वस्थता में होगा। इस समय दृष्टि की अपेक्षा नहीं। अब तो

ईर्ष्या-द्वेष सब दूर हो गया। केवल श्रीश्यामसुन्दर के अन्वेषण की चिन्ता है। अब तो वे परस्पर कहती हैं-सखि ! यह प्रेममूच्छित होगी तो अपने गुलाबजल छिड़ककर इसको होश में लायेंगी। अतः 'संहताः' कहा। 'गायन्त्य उच्चैः' गाती हुई ढूंढ़ने चल रही हैं—यदि मनमोहन दूर भी होंगे तो सुन लेंगे। फिर हम तो उनके गुण गाती चलती हैं—जिन्हें सुनकर रह न सकेंगे, जहाँ भी होंगे, अवश्य और शीघ्र ही आकर दर्शन देंगे। इस बहाने हम अपनी आर्त्ति-पीड़ा भी सुना देंगी। वे हमारी पीड़ा सुनकर भी प्रसन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें गान लगता भी बहुत अच्छा है। हम कहतीं-ललन ! जरा पादसंवाहन करो, वेणी गंथ दो तब वे 'मुझे गान सुनाओ, गूंथ दूंगा' आदि कोरी गप्प मारने लगते, काम न करते। अतः हमारे उच्च स्वर से गाये गये गीतों को सुनकर अवश्य ही प्राणधन घनश्याम पधारेंगे। भगवान् ने स्वयं ही कहा-

"नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽपि न।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥"

अथवा गोपियाँ प्रेमार्त्ति में विह्वलता से बेहाल हैं। उन्माद से गान निकल रहा है। व्रजाङ्गनाओं को किसीने समझाया—तुम क्यों उन्हींको गाती हो, जो त्यागकर चले गये। इसपर वे कहती हैं—'हाँ, हम तो उन्हींको गायेंगी, उन्हींको रिझायेंगी।' वे यह निश्चय लेकर बैठी हैं—'चाहे वे शतकोटि-अनन्तकोटि कष्ट दें, पर हम तो उन्हें ही, बाँकेबिहारी को ही गायेंगी। इनका यह 'अटल' नियम है। कितनी भी विपत्ति आने पर, ये अन्य को न गायेंगी। वे त्रिभङ्ग होने पर भी ललित श्याम, चाहे कितने भी विपरीत आचरण करें, पर इनका प्रेम-प्राखर्य बढ़ता ही जायेगा। गायन उनका स्वभाव हो गया, अतः गाती ही हैं।

'विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद्वनम्' उन्मत्तक की तरह, जहाँ-जहाँ सम्भावना है, ढूंढ़ती हैं। एक से एक को, निरालस होकर, दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें वनों को ढूंढ़ डालती हैं। विश्राम ही नहीं लेतीं। जब तक प्यारे मनमोहन न मिल जायें, चैन ही नहीं। इससे भी उपदेश है—'ढूंढ़ते ही रहो।' जब तक अभिलषित कार्य सिद्ध न हो ले, विश्राम ही कैसा ? फिर वे पूछती हैं—वनस्पतियों से। उन्हें दृढ़ आशा है कि इनसे प्राणप्यारे का पता मिलेगा ही। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि—प्रेमी वृक्षों तक से पूछ सकता है ; चेतन की तो कथा ही क्या ? अमुक से पूछो, अमुक से नहीं—यह तो उनके यहाँ विचार ही नहीं—अतएव साधारण्येन बहुवचन है—'वनस्पतीन्'। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी का इसपर एक भाव है—वृन्दावन के वनस्पति वैष्णव हैं, 'मूढ़ा अपि वैष्णवाः प्रष्टव्याः'। अनुरागी चाहे विद्वान् न हों, पर वे प्रष्टव्य हैं। अतः वृक्षों से पूछती हैं। अथवा व्रजाङ्गनाओं को प्रेमोन्माद से दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई, उन्हें वृक्षों का वास्तविक स्वरूप ज्ञात हुआ। व्रज के वन, लता, तरु आदि अपने एक-एक

कण से श्रीश्यामसुन्दर के स्वरूप को प्रकट करते हैं[1]—अतएव भावुक व्रजधूलि को भाल पर धरते हैं। एक भावुक का कहना है—

"सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति।"

अर्थात् भगवान् विष्णु के बहुत अवतार हुए और उत्तम-उत्तम हुए हों, परन्तु श्रीकृष्णावतार के अतिरिक्त और कौन अवतार हुआ, जिसने लताओं में भी, जड़ों में भी प्रेम का गाढ सञ्चार किया हो ?

"यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो धृतात्मभिर्योगिभिरप्यगम्यः" जिन श्रीभगवान् की पादधूलि बहुत जन्मों में भी योगीन्द्र-मुनीन्द्रों तक को भी दुर्लभ है, उन प्रभु ने अपने सञ्चार से व्रज-वृन्दावन-लता-तरु को अनन्त महत्व दिया है। श्रीवृन्दावन के वृक्षों के प्रकाश की एक किरण भी बिना प्रभुपादारविन्द की अनुकम्पा के जन्म-जन्मान्तर, युगयुगान्तर और कल्पकल्पान्तर में भी द्रष्टुमशक्य है। 'आनन्दवृन्दावन-चम्पू' में कहा है—श्रीवृन्दावनधाम के एक-एक वृक्ष, इन्द्रनील, पद्मराग और हरित-मणि आदि के सदृश चमत्कृत-देदीप्यमान हैं, इनकी शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फल भी वैसे ही सचिक्कण, प्रकाशमान हैं। उनपर शुक, पिक, कपोत, तित्तिर, मयूर आदि अनेक विहङ्गम विराजमान हैं। उनके एक-एक पल्लव का प्रकाश सहस्रों सूर्यों को लज्जित करता है। किन्तु इनका दर्शन अनन्तदुर्भावनातिमिराच्छन्न इन चर्मचक्षुओं से नहीं हो सकता। यह तो श्रीमद्भगवत्कृपैकलभ्य दिव्यदृष्टि पर ही निर्भर है। श्रीव्रजाङ्गनाओं को यह सौभाग्य प्राप्त था। वे उन तरुओं के वास्तविक स्वरूप को देख रही थीं। अतः उनसे अपने प्रियतम प्राणधन आनन्दकन्द कृष्णचन्द्र परमानन्द को पूछती हैं।

एक भाव और—प्रसिद्ध कवि श्री कालिदास के खण्डकाव्य 'मेघदूत' में यक्ष ने मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रिया के पास भेजा है। जहाँ प्राकृत स्थल में ऐसी स्थिति है कि चेतन-अचेतन का भेद मिट जाता है, तब इनकी तो बात ही निराली है। वे तो श्यामसुन्दर के लोकोत्तर अनुरागसागर में सदा इतनी मग्न रहती हैं कि

---

१. "वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्यइव पुष्पफलाढ्याः। प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म। (श्रीधरीसंमतो 'ववृषु' रितिपाठः) [युगलगोपीगीत]। भगवान् श्रीगोपाल जब वन में गौ चराने जाते तब कौतुकवश वेणु बजाकर चरती हुई गौओं को बुलाते। उस समय उनके वेणुरव को सुनकर वन के लता, तरु (स्त्री-पुरुष दोनों ही) भार से झुकी शाखाओं से प्रणत होते, पुष्प और फल की बहुतायत से प्रसन्नता सूचित करते, प्रेम से रोमाञ्चित होते। इन लक्षणों से अपने में मानों वे श्रीविष्णु को ही सूचित करते हुए मधुधारा बरसाने लगते। ये विष्णु साक्षात्कृति के लक्षण हैं।

किसी भी तरह की सुधबुध ही नहीं रहती। ऐसी स्थिति में चेतन-अचेतन को भूलकर वे भी वृक्षों से प्रश्न करें तो कोई असङ्गति नहीं। व्रजाङ्गना वृक्षों से पूछते समय पहले उनका गुणगान करती हैं, प्रार्थना करती हैं; फिर उनसे अपने प्रियतम का पता न पाकर उनमें दोष बताती हुई आगे चल देती हैं। वे सबसे पूछती जाती हैं—न जाने किससे पता लग जाये। अपनी कार्यसिद्धि के लिये मनुष्य सब कुछ करता है। पुत्र के लिये लोग नौ मन काँकर चालते हैं। कितने ही देवी-देवताओं को ध्याते-पूजते हैं। गरज, सब कुछ करा लेते हैं। गरज पर बड़े-बड़े नास्तिक, साधुओं की खुशामद करते हैं, उनसे सट्टा पूछते हैं। तब प्रियतम प्राणधन की प्राप्ति के लिये ही क्या-क्या न किया जाये, किस-किससे न पूछा जाये? अतः व्रजाङ्गना सबसे पूछती फिरती हैं, गाती फिरती हैं। यही उपदेश है—रागद्वेष छोड़कर तल्लीन होकर अभिलषित वस्तु का पता लो, अवश्य सफलता मिलेगी।

"**गायन्त्युच्चैः**" यों श्रीगोपाङ्गनागण उच्च स्वर से भगवान् को गाती हुआ उनके अन्वेषण में संलग्न है। इसमें गोपियों का एक भाव यह भी है कि—'जैसे श्रीमुरलीमनोहर के श्रीविमुख से विनिःसृत वेणुगीत निनाद को सुनते ही हम उनके सन्निधान में अविलम्ब आ पहुँचीं, वैसे ही वे भी शीघ्र हम लोगों के पास पधारें। अतः उच्चैः उनके गुणों को गाती हुई ढूंढ़ती हैं। अपने गुणों को–प्रशंसा को सुनकर शीघ्र आयेंगे, यह भी व्रजदेवियों का तात्पर्य है। उपदेश तो है ही कि श्रीभगवान् की प्राप्ति का असाधारण कारण उनका गुणगान ही है, इन गोपदेवियों के लिये उन्मत्तकवत् कहा गया है। उन्मत्तक में 'कनु' प्रत्यय अधिकता में है। इससे यह बतलाया गया कि—व्रजाङ्गना मतवालों की तरह देह-गेह के नेह और सम्बन्ध से तथा वस्त्रानुसन्धान आदि से शून्य हैं। उन्हें कुछ पता नहीं कि वे कहाँ क्या कर रही हैं। अर्थात्; अधिकाधिक उन्मादिनी गोपी उच्चस्वर से प्राणधन घनश्याम को गाती हैं। यद्यपि इस समय श्रीभगवान् इन्हें त्यागकर दुःसह विप्रयोग दुःख दे रहे हैं। श्रीव्रजदेवियों के श्यामविरहजन्य तीव्रातितीव्र सन्ताप को देखकर लोक निरालोक हो गये, दिशा-विदिशा सन्तप्त हो उठीं, पाषाण भी द्रुत हो चले, पर वे व्रजचन्द्र तनिक नहीं पिघले, बड़े निष्ठुर—महाकठोर बने हुए हैं। फिर भी व्रजाङ्गना अपने कार्य से विरत नहीं हैं—वे उच्च स्वर से उन्हें ही गा रही हैं। वे चाहे रीझें, चाहे खीझें, वे तो उन्हें ही—एकमात्र उन्हें ही गायेंगी। वे तो निश्चय लेकर बैठी हैं—"**असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा**........" वे चाहे करुणारसार्णव हों चाहे द्वेषमहावाडवानल, ये तो भजेंगी उन्हें ही। गायेंगी उन्हें ही। अब क्या दूसरों को गायेंगी?

"**उच्चैरमुमेव संहताः**", "**एव**" पद आया है। इसका भी विलक्षण स्वारस्य है। एक गोपी कहती है—"सखि, जीवितं पणीकृतं मया...." मैंने तो अब जीवन की बाजी लगा दी है। वाह! कोई धन की बाजी लगाता है, कोई जन की बाजी लगाता

है, कोई 'सट्टे' में सर्वस्व स्वाहा कर देता है, पर यह सब अपने जीवन की रक्षा के लिये करते हैं। किन्तु यहाँ तो जीवन की भी कोई परवाह नहीं। ये जीवन का 'जुआ' खेलती हैं। अब इन्हें माता, पिता, पति, गुरुजन किसीका क्या डर! इससे अधिक कष्ट ही क्या होगा? इन्होंने तो दृढ़ निर्णय कर लिया—"**माधवो यदि विहन्ति हन्यताम्, बान्धवो यदि जहाति त्यज्यताम्। साधवो यदि हसन्ति हस्यताम्, माधवः स्वयमुरीकृतो मया।**"

यदि वे श्रीश्यामसुन्दर प्राणधन वियोगदुःख देखकर तरसा-तरसाकर हमारा वध करते हैं तो बड़े शौक से करें, हम इसके लिये तैयार हैं। यदि बान्धव-कुटुम्बी हमें छोड़ते हैं तो वे भी छोड़ दें और हमारी इस हालत पर साधुजन हँसते हैं तो भले ही हँसें, खूब हँसें, पर हमने तो उन माधवमुरलीमनोहर को सर्वस्व समर्पण द्वारा स्वयं स्वीकृत कर लिया, स्वयं वर लिया। यह है व्रजाङ्गनाओं का अडिग-अडोल निश्चय। इस स्थिति में सब तो आनन्द ले रहे हैं, पर वे व्रजबाला दुःसह विरह वेदना को सहती प्राणप्यारे को ढूंढ रही हैं। यद्यपि वे यशोदानन्दन आनन्दकन्द और दुःख-निकन्दन हैं, पर इन्हें विरहवाडवाग्नियों में जलाते हैं, झुलसाते हैं तथापि ये तो उन्हें ही (एव) गाती हैं और उच्चस्वर से गाती हैं। इसका नाम है दृढ़ प्रेम।

इसके अतिरिक्त 'संहतः' इकट्ठी होकर ढूंढ़ रही हैं। श्रीमनमोहन में रसात्मिकता है, तब भी वे नीरसों का-सा व्यवहार कर रहे हैं, नहीं मिल रहे हैं। परन्तु व्रजाङ्गना बड़े सौहार्द से एक वन से दूसरे वन को, एक कुञ्ज से दूसरे कुञ्ज को अन्वेषण कर रही हैं। वे इस कार्य में बहुत व्यस्त हैं। उनके केशपाश खुल गये हैं, बाल बिखर गये हैं, वस्त्र असंयत हो गये हैं। उनकी इस दशा से प्रतीत होता है, वे निरालस होकर अन्वेषण कर रही हैं और मानो विश्राम का तो नाम ही नहीं जानतीं। ये सब भाव भी 'उन्मत्तक' पदद्योत्य हैं। इस तरह व्रजदेवियाँ अपने प्राणधन श्यामसुन्दर को खोज रही हैं। कैसे हैं और कौन हैं वे उनके प्राणजीवन, जिनका वे गवेषण कर रही हैं? तब कहा—"**आकाशावदनन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषम्**" उनके अन्वेषण का विषय वह पुरुषोत्तम है जो प्राणीमात्र में, वस्तुमात्र में आकाश की तरह बाहर-भीतर सर्वत्र विराजमान हैं। वह तो आकाश से भी अन्तरतम तत्त्व है। अहन्तत्व, अव्यक्ततत्व महत्तत्व से भी परे की वस्तु है। जब उसी की सत्ता से सत्तावान् आकाश भी सर्वत्र भरपूर है, तब क्या वह सर्वत्र भरपूर नहीं? अतएव कहा भी–"**सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः। तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद्वस्तुरूप्यताम्॥**" इसका विवेचन पीछे भी हुआ है। "**कारणमेव कार्याऽकारेण परिणमते**" कारण ही कार्य के आकार में परिणत होता है, मिट्टी ही घट बन जाती है और कार्य का पर्यवसान कारण में होता है, घट फूटकर मिट्टी हो जाता है। श्री शुक कहते हैं—हम किसका निर्णय करें, वह तो एक

ही तत्व सर्वत्र भरपूर है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने कहा--श्री शुकाचार्यजी परमसर्वज्ञ थे, वे '**आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि**' तत्व को सर्वत्र प्रत्यक्ष अनुभूत करते थे। तभी कहा--"· · **भूतेषु सन्तम्** · · ·।" अस्तु। तात्पर्य यही कि कार्यों में कारण सर्वत्र व्यापक रहता है। इस दृष्टि से जब श्रीकृष्णतत्व व्यापकतत्व ठहरता है, तब वह मधुरमूर्ति देहे-गेहे सर्वत्र विराजमान है, अणु-अणु, परमाणु-परमाणु में है। केवल कुछ आवरण है, जिससे वह सबको नहीं दिखाई देता। जैसा कि—"**माया-जवनिकाछन्न** · · ·" और "**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समाश्रितः**" आदि से तत्र-तत्र बतलाया गया है। राजा परीक्षित् के नामकरण बीजनिर्देश प्रसङ्ग में कहा है-"**गर्भेदृष्टमनुध्यायन्** · · ·" अर्थात् गर्भ में देखे श्रीभगवान् को वही बाहर आने पर ढूंढने-सा लगा। तब क्या बहिर्देश से उत्तरा के गर्भ में परीक्षित् की रक्षा के निमित्त भगवान् गये थे ? नहीं, वे पहले ही से वहाँ थे, वहीं रहते हैं, परन्तु माया के आवरण-वश नहीं दीखते, उसके हटने पर दीख पड़ने लगते हैं। माया का अपसरण दो प्रकार से होता है, एक भक्त के श्रम से, दूसरा भगवत् कृपा से। दूसरे, इन मानवपुरियों में शयन करनेवाला ही पुरुष है, "**पुंसु शेते इति पुरुषः**" अर्थात् समष्टि-व्यष्टिशायी ही तत्व पुरुष है। यों उस प्राकृत पुरुषेतर पुरुषोत्तम को व्रजाङ्गना वृक्षों से पूछती हैं। कह सकते हैं, इन दृष्टियों से तो गोपाङ्गनाओं के समीप भी वह तत्व विराजमान है ही और इनको भी उस व्यापक श्यामतत्व की स्फूर्ति होती ही है, तब ये ढूंढ किसे रही हैं ? यह ठीक है। उक्त रूप से गोपाङ्गनाओं को उस तत्व की स्फूर्ति है ही, परन्तु वह प्रत्यक्ष में नहीं प्राप्त है। प्रत्यक्ष में जैसा भाव होता है वह इन्हें नहीं प्राप्त है—अतः उसका अन्वेषण कर रही हैं। वैसे व्रजाङ्गनाओं के नेत्रों में श्यामल महोमय दीप्ति प्रतिष्ठित है, इन्हें सब ओर श्याम रूप ही दीख पड़ रहा है। परन्तु वे इतने ही से सन्तुष्ट नहीं, इन्हें तो शब्दस्पर्शादि भी वैसे ही चाहिये। श्रीश्यामसुन्दर के महोमय शरीर में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द सब विषय लोकोत्तर है। व्रजाङ्गना चाहती हैं- जैसे हमारे नेत्रों में उन सर्वेश्वर प्राणाधिक प्रिय का सर्वातिशायी रूप बसा है, वैसे ही उनके शब्दस्पर्शादि भी प्रत्यक्ष हों, नेत्रों में भी वही आभा हो, स्पर्श भी वही हो। पर अपने आप जब ये प्रवृत्त होती हैं, तब इन्हें उन सबका अभाव प्रतीत होता है, वह अनुभव ही नहीं होता। तब आकाशवद् व्याप्त पुरुषोत्तम को वनस्पतियों से पूछती हैं, अचेतनों से पूछती हैं, यह उनकी विभोरता है।

यहाँ एक भाव यह भी है—दर्पी को ब्रह्म भी जड़ प्रतीत होता है। पर जो रसिकशिरोमणि हैं—जो इस सिद्धान्त के आदी हैं—"**तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः।**" वे तो इन तरुओं को सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन समझते हैं और अपने को जड़ समझते हैं। अतएव वे 'भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् पप्रच्छुः' व्यापक पुरुषोत्तम को वृक्षों से पूछती हैं। पूछो, पूछो।

इस अन्वेषण प्रसङ्ग में यों अन्तरङ्गदृष्टि से तो महत्व है ही पर बाह्यदृष्टि से भी महत्व है—ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, भूमण्डल में न ढूंढकर, व्रज में—गाँवों में ढूंढो। दर्प में मत रहो—यह एक उपदेशसूक्त है—"**परमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः। विचिनुत भवनेषु वल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्॥**" **कोरे "टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः"** के घोषण से यदि थक गये हों तो इस उपदेश का सम्मान करो। निगमागमवेद्य को निगमाटवी में ढूंढ़ते थक गये हों तो अब उन मुग्धा गोपियों के घर में आँगन में उसे ढूंढो। वह उपनिषदर्थ श्रीबालमुकुन्द वहाँ ऊखल में बँधा है। यदि अहङ्कार में रह गये—'अजी, इन गँवार गोपों से क्या पूछेंगे और वह सर्वोपरि विराजमान तत्व इनके यहाँ गावों में कहाँ से आया, उसे तो महेन्द्रादि लोक में प्राप्त कर सकेंगे'—तब तो बस गये, वह वहाँ भी न मिलेगा। अहङ्कारियों की दृष्टि से ब्रह्म परे हो रहता है क्योंकि उनकी दृष्टि में अपने सामने ब्रह्मा भी कुछ नहीं। इधर रसिकों के यहाँ दर्प का काम ही नहीं, यहाँ तृण भी महान् है। तात्पर्य यही कि जहाँ, जैसे भी उसके मिलने की सम्भावना हो, ढूंढो। अतएव व्रजाङ्गना वृक्षों से पूछती हैं—

"**दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ, प्लक्ष, न्यग्रोध, नो मनः।**
नन्दसूनुर्गतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः॥"

अश्वत्थ, प्लक्ष, न्यग्रोध तीनों सबसे बड़े ऊँचे वृक्ष हैं, दूर की बात देख सकते हैं। दूरस्थ श्याम को ये जान लेंगे। अश्वत्थ की व्युत्पत्ति है—'**न श्वोऽपि स्थाता।**' अर्थात् कल भी-अगले क्षण में नहीं रह सकनेवाला अनित्य यह विश्व है-ऐसा समझनेवाला-ज्ञानी अश्वत्थ है। गोपाङ्गना कहती हैं, ऐसी विश्व की गति को जानकर सदा परोपकार में रत है अश्वत्थ, हमें कृपा कर हमारे प्राणप्यारे को बताओ, क्या आपने कहीं उन्हें देखा है? वः—युष्माभिः। अर्थात्; क्योंकि वे श्यामसुन्दर आपकी ममता के आस्पद हैं। साधारण वस्तु पर ध्यान नहीं दिया जाता, ध्यान रहता ही नहीं। पर, जो अपना है, उसका पता रहता है, उसका भी आना-जाना बना रहता है। श्रीश्याम आपके परप्रेम के आस्पद हैं। आप विहारस्थली के हैं, आप महाभाग्यवान् हैं, कृपा कर हमें उन श्याम का पता दीजिये। यह प्रशंसा हुई। ऐसे ही 'प्लक्ष' की स्तुति करती हैं-'**प्रकृष्टतया क्षीयते परोपकाराय यः स प्लक्षः, रलयोरभेदः**' अर्थात् जो सदा परोपकार के निमित्त ही क्षीण होता रहे वह प्लक्ष है। 'प्लक्ष' को प्रक्ष मानकर यह अपेक्षितार्थक व्युत्पत्ति की गयी, ऐसे अवसर पर र ल में भेद नहीं माना जाता। परोपकार के लिये अपने को मिटा देने में सोत्साह हे प्लक्ष, तुम्हारा जीवन-मरण दोनों उपकार के लिये हैं—हमारा भी उपकार करो—जरा श्रीश्यामसुन्दर को बता दो। न्यग्रोध! याचक को जो दुत्कारना, वह हुई न्यक्कार, उसे रोकनेवाला—'**न्यक् रोधयतीति न्यग्रोधः।** हे न्यग्रोध! तुम बड़े उदार हो—कोई उन वंशीधर में प्रेम माँगने आयेंगे

तो उन्हें तुम न्यक्कार न करोगे। अतः हम तुमसे याचना करती हैं—श्री श्यामसुन्दर का पता दो, बड़ी कृपा होगी। वे 'नन्दसूनु' हमारा चित्त चुराकर ले गये हैं; हम उन्हें ढूंढ़ रही हैं, अतः हे अश्वत्थादि! तुमने कहीं देखा हो तो बता दो। गोपाङ्गना इस समय श्रीकृष्ण पर कुपित हैं, अतः बड़ों के नाम से उनका नाम निर्देश करती हैं–नन्दसूनु–नन्दराय के बेटा। हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि हमारे यदि वे होते तो हमारे पास रहते। यदि कोई गोपाङ्गनाओं से पूछे कि यदि यह बात है तब इतनी व्यग्रता से तुम उन्हें ढूंढ़ क्यों रही हो? इसपर उनका उत्तर है—वे चोर हैं, हमारा मन चुरा ले गये हैं, चोरों का पता बहुत जरूरी है। सखि, तुम्हारा मन तुम्हारे पास होगा, वे क्यों लेने आयेंगे और कैसे ले जायँगे तो—'**प्रेमहासावलोकनैः**' मन्दहास और कटाक्षपातों से हमारे हृदय में प्रविष्ट होकर ले गये। कदाचित् वृक्ष कहें; देवियो, हम वृक्ष हैं–जड़ हैं, हम क्या जानें तुम्हारे चित्तचौर को। इसी प्रसङ्ग में 'कच्चित्' का प्रयोग है। कच्चित् प्रश्नवाचक अव्यय है। इस अर्थ में यह पहले अभी-अभी चरितार्थ हो चुका। फिर अब वृक्षों की उक्ति में इससे अचित् जड़ अर्थ प्रकाशित हुआ। व्रजाङ्गना वृक्षों को यही उत्तर देती हैं—'तुम अज्ञों को अचित् प्रतीत होते हो, परन्तु हो चेतन, आप लोग अमलात्मा महामुनीन्द्र योगीन्द्र हैं, यहाँ श्री श्यामसुन्दर का स्पर्श प्राप्त करने के लिये तरु, लता रूप में प्रकटे हैं। तरु, लता बनने की बात तो श्री उद्धव ने भी कही—

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।"

(भाग०, स्क० १०, अ० ४७)

व्रजाङ्गना को जब तक अपने प्राणधन के पता मिलने की आशा रही, वृक्षों की खूब प्रशंसा की! पर जब देखा कि अब न बतायेंगे, आशा निराशा में बदल रही है; तब उन्हें उनसे असूया होने लगी। गुणों में दोष दीख पड़ने लगे। एक कहती है—सखि, ये चेतन चाहे हों, पर ये कच्चित् हैं, इनका चेतन, कुत्सित चेतन है— "**कत्-चित्-कुत्सितञ्च चेतनं येषाम्**····।" अच्छा, ये अब हमको ज्ञात हुआ, तुम लोग तीर्थवासी हो, बड़े कठोर हो, अतः बतलाते नहीं। अथवा आज दिन राजा कलि का साम्राज्य है। वह चोर पक्षपाती है। तुम भी वृक्षों, चोरशिखामणि माखनचोर श्यामसुन्दर के पक्षपाती हो। अतएव इसका नाम 'अश्वत्थ' है, स्थिरमति नहीं, आज कुछ तो कल कुछ कहता है। फिर 'चल-पत्र' भी यह है—स्वयम् अस्थिर है, जान-बूझकर भी धोखा दे सकता है। दूसरा यह इसका साक्षी प्लक्ष भी ऐसा ही है,— '**प्रकृष्टतया क्षीयते इतिप्लक्षः।**' यदि यह धर्मात्मा होता, तो प्रकृष्ट (अधिक) क्षयी क्यों होता? और इस न्यग्रोध की तो बात ही मत पूछो, इसने तो अपने यहाँ दूसरों के लिये तिरस्कार का ही भण्डार भर रखा है—'**न्यक्कारमेव रोधयति।**'

एक दूसरी सखी कहती है, 'नहीं सखि, देख, ये भी श्रीश्यामसुन्दर के वियोग-ताप से स्तब्ध हैं, वे भी दु:खी हैं, विह्वल हैं। हमारी इनकी एक-सी ही स्थिति है।' यह वृन्दावन के पशु, पक्षी, वृक्षों में जो हराभरापन आनन्द-एकरसता की स्थिति है, यह श्रीश्यामसुन्दर के दर्शन से ही है। तब श्रीश्याम के वियोग में भी वे हरे-भरे ही क्यों दीखते हैं ? तो यह बात दूसरी है, व्रजलीला में यह सदा एकरस रहते हैं, क्योंकि श्रीभगवान् व्रजलीला में श्री वृन्दावन को छोड़कर एक पाद भी कहीं नहीं जाते— "**वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।**" व्यापी वैकुण्ठ में ही पुरुषोत्तम भगवान् का प्रादुर्भाव होगा। जैसे—

नेत्र, जो बाहर से दीख रहे हैं ये नेत्र नहीं हैं अपितु ये नेत्रगोलक हैं। नेत्र, अतीन्द्रिय इन्द्रिय है, वह इस गोलक के भीतर है।···श्री चैतन्य महाप्रभु श्रीजगन्नाथपुरी में रहते थे, तो क्या उन्हें वहाँ श्रीश्यामसुन्दर का प्राकट्य नहीं था ? था, पर वह अंतर में था। "**यो वेद निहितं गुहायां सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**" दो ब्रह्म की कल्पना है, एक कार्यब्रह्म, एक कारणब्रह्म। सबके ऊपर-सबसे बड़ा कारण ब्रह्म है। 'शेष' का भी यही अर्थ है—शिष्यते इति शेषः। लयप्रक्रिया से सबके लीन होने पर क्या बचेगा ? कारणब्रह्म, वही अव्याकृत तत्व है और वही शेष है; उसीपर श्रीभगवान् विष्णु विराजते हैं। अतएव कहा भी—"**यत्र प्रविष्टः सकलोऽपि जन्तुरानन्दसच्चिद्घनता-मुपैति।**" वह व्यापक तत्व है। जो महानुभाव श्रीवल्लभादि वृन्दावन से प्रसङ्गवश बाहर रह गये, वे वस्तुतः बाहर नहीं रहे। वे श्रीवृन्दावन को छोड़कर बाहर कैसे रहते ? इसी उक्त युक्ति से, वे कभी वियुक्त नहीं रहे। उनके हृदय में श्रीवृन्दावन, श्रीनित्यनिकुञ्ज का सदा प्राकट्य है। परन्तु सर्वसाधारण का सामर्थ्य ऐसा नहीं है। आजकल बहुत से भावों से दर्शनशक्ति व्यापिका हो रही है। वैसे भी—"**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः···**" सर्वदर्शी, सर्वश्रोता वह सबमें हैं, परन्तु प्रकट अपने स्थान में-गोलोक में-ही होगा। "**स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठितः स्वे महिम्नि···।**" यह विशेषरूप में प्राकट्य है। वह लता, भूमि सब यहीं हैं, यह ठीक है, परन्तु नेत्रदोष से वह असली रूप में नहीं दीखतीं। दोष से-पित्तदोष से मिसरी भी कडवी लगती है। ऐसे ही दोषवश व्यापक भी श्रीश्यामसुन्दर के दर्शन नहीं होते। यहाँ श्रीवृन्दावन में जहाँ काञ्चनमयी भूमि है, वहाँ तरु नीलमणि के हैं, जहाँ पद्म-रागमणि की भूमि है वहाँ तरु हरितमणि हैं·····यों नील, पीत, हरे रूप में सब लोकोत्तर वस्तु हैं। यत्र-तत्र लता परिवेष्टित तरु मानो श्री श्रीराधाकृष्ण ही विहार करते प्रतीत हो रहे हैं। परन्तु यह सब असली रूप में दीखते नहीं तब इसे नेत्रदोष ही कहना चाहिये। इसके लिये भगवदनुकम्पा प्राप्त हो, दिव्यदृष्टि मिले तो यह सब अद्भुतता दीख पड़ने लग जाय। अन्तरङ्ग दृष्टि से वे वृक्षादि यह सब कह रहे हैं। पर बहिरङ्ग दृष्टिवश हमें कुछ ज्ञात नहीं होता। सखि, व्रजलीला के अतिरिक्त

श्रीश्यामसुन्दर के विप्रयोग ताप में ये तरु, लता झुलसते क्यों नहीं, इन्होंने एकबार ही नेत्र भर के उन त्रिभुवनसुन्दर का ऐसा दर्शन पाया है कि वह रूपमाधुरी इनकी चक्षुओं में सदा के लिये बस गयी है, ओझल ही नहीं होती। इन्हें उस कमनीयता का स्थायीभाव प्राप्त हो गया है। ये उस रूपमाधुरी की लोकोत्तरता पर–आश्चर्य-कारिता पर मुग्ध हो रहे हैं—स्तब्ध हो रहे हैं। सखि, तब हमें ये क्या जवाब दें, क्या बतायें ?

इस प्रकार श्रीव्रजसीमन्तिनी अपने प्राणवल्लभ श्रीश्यामबिहारी को वृक्षों से पूछती, वन से वन में भटकती फिर रही हैं। कण्टकाकीर्ण गर्तों में, अनुकूल-प्रतिकूल भूमि में घूम रही हैं। उन्हें मार्ग-विमार्ग का ज्ञान नहीं है। देह का अनुसन्धान नहीं है। इनकी प्रेमोन्माद में ऊर्मिमाली समुद्र की-सी स्थिति हो रही है। उसमें जैसे ज्वारभाटे आते हैं, इन्हें भी कभी कुछ स्मरण-अनुसन्धान हो आता है ? कभी भी नहीं। परन्तु श्रीभगवान् की योगमाया उनके साथ है; वह उनकी रक्षा कर रही है। उन्हें कष्टों से बचा रही है। उनकी सेवा के लिये वह तत्पर है। अन्तरङ्ग दृष्टि से भी–यह तो वृन्दावन धाम है, यहाँ कष्ट कैसा ? किन्तु प्रेमियों की कितनी दुरवस्था होती है–यह टीकाकार कल्पना करते हैं। यह इसलिये कि साधकों को आश्वासन मिले, सहारा मिले। साधारणों की कौन कहे, ये व्रजदेवियाँ प्रेमपथिकों को परमाचार्या हैं। ये बतलाती हैं—देखो, प्राणधन को ढूँढने में कितना क्लेश है, कहीं पाषाणों, वृक्षों से टकराते हैं। ऐसे ही भावुक भी अपने को जीवन-मरण के संशय में डाले बिना अभीष्ट तत्व नहीं प्राप्त कर सकता—'**न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति। संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥**' बड़े-बड़े सम्राट्, स्वराट् विराट् ऐसे ही ढूँढने से मिलेंगे। कोई भी काम प्राणों की बाजी लगने से ही सिद्ध होगा। यह भाव दिखलाने के लिये ही टीकाकार इतनी बातें कहते हैं। '**आनन्दवृन्दावनचम्पू**' में कहा है—जहाँ-जहाँ विषम स्थानों में व्रजाङ्गना घूमती हैं, वहाँ उनके परमानुरागवश कठोर–तीक्ष्ण कण्टक भी कोमल-कुसुम हो जाते हैं, जैसे श्रीभगवद्दर्शन से, वज्र से भी कठोर वस्तु कोमल हो जाती है। गोस्वामीजी ने भी कहा—

"जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी, तर्जाहि सहज विष तामस तीखी।"

नागिनो पुत्रादिनी है–अपने बच्चों को भी खा जाती है–'**पुत्रादिनी सर्पिणी**' इतनी क्रूर है, वह भी भगवद्भक्तों के सामने अपने स्वाभाविक विष को त्याग देती है। प्रकृति के समस्त अङ्ग भागवत की सेवा करते हैं। **"तस मग भयो न राम कहँ, जस भा भरतहि जात।"** पृथ्वी श्रीरामभद्र के चरणों के नीचे अपने कोमल हृदयकमल को बिछाती थी, परन्तु भरत के लिये वह इससे भी अधिक कोमल थी। अतः जहाँ वृन्दावन अपने अधीश्वर के लिये कोमल बनता है, वहाँ वह उनके प्रिय के लिये कोमल क्यों न होगा ? पहले तो वहाँ कण्टक, शर्करा, कंकड़ हैं ही नहीं, वहाँ तो इन्द्र-

नील, पद्मरागमणि आस्तीर्ण हैं। पर······"तं सप्रपञ्चमधिरूढ······।" "गाँठी तो बाँधे नहीं माँगतहू सकुचायँ, तिनके पीछे हरि रहें कहुँ भूखे नहिं रहि जायँ।" यों प्रकृति के अणु-अणु इन व्रजदेवियों की सेवा के लिये तत्पर हैं। स्वामी को प्रसन्न करने के लिये पहले स्वामिनी को प्रसन्न करना चाहिये। आज भी 'वायसराय' को प्रसन्न करने के लिये उनकी मेम हो हार पहनाया जाता है। वैसे ही श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिये उनकी अन्तरङ्गा इन व्रजदेवियों का पहले प्रसाद प्राप्त करना चाहिये। प्रकृत में उनका चरित्रगान और उनकी लगन का अनुकरण ही उनके प्रसाद का हेतु है। अस्तु; इस तरह वे अपने मनमोहन को ढूँढती फिर रही हैं।

अश्वत्थादि में और भी कल्पना-अश्वत्थ विष्णु दैवत्व, प्लक्ष ब्रह्मदैवत्य और न्यग्रोध शिवदैवत्य हैं। अतः मानो व्रजाङ्गना अपने प्राणधन को ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर से पूछती हैं। वे कहती हैं-'आप लोग साधु हैं, आपसे हम अपने चोर को पूछ रही हैं। दूसरे, आपकी शाखा-प्रशाखा दशों दिशा में फैल रही हैं-उन हमारे चितचोर को कहीं अवश्य देखा होगा।' पिप्पल चलदल है, उसे चञ्चल देखकर व्रजाङ्गना ने समझा-'यह हाथ हिला रहा है, कह रहा है-हमने तुम्हारे श्यामसुन्दर को नहीं देखा। ठीक है, इसे नेत्र नहीं हैं। चलो नेत्रवाले से पूछें (प्रकृष्टे अक्षिणी यस्य असौ प्लक्षः) इस प्लक्ष के बड़ी-बड़ी आँखें हैं, यह नेत्रवाला है। इसके जो अरुण पल्लव हैं—वे नेत्र हैं। यह ब्रह्मदैवत्य भी है। अच्छा, तो तुम्हीं बताओ प्लक्ष! तुमने कहीं हमारे प्राण को देखा? अरे यह क्या, यह तो कुछ बोलता ही नहीं, क्या इसने मौनव्रत लिया है? पर नहीं, इसे वागिन्द्रिय नहीं है, बेचारा कैसे बोले। सखि! आओ, इस न्यग्रोध से पूछें, यह जिह्वावाला है, इसके दल जिह्वा के जैसे हैं। यों नये-नये क्रमों से बार-बार पूछती फिरती हैं। फिर कुछ जवाब न मिलने से दोषानुसन्धान की सुध हो आती है। कहती हैं—'सखि, अब जाना, यह ऊँचा (दर्पिष्ठ) होने से क्षुद्र है, यह क्षुद्रफल भी है (पीपल जितना बड़ा है, फल उसके उतने ही छोटे हैं), चाहे कितना भी आराधन करें इससे महाफल-श्याम नहीं मिलेंगे। यह अश्वत्थ है-अस्थायी है।' सहसा 'वट' पर दृष्टि चली जाती है। कहती हैं—'देखो, इसकी शाखा कितनी झुकी हैं, यह विनम्र है (नितराम् अग्राणि अधोभूतानि यस्य असौ) शिवदेवताक हैं; शिव परमवैष्णव हैं। अतः यह अवश्य बतायेगा।' परन्तु उत्तर की कोई आशा न देखने पर कहती हैं—इसकी बड़ी से बड़ी भी उन्नति अवनति ही है। देखो, शाखा नीचे घुसती जा रही हैं—"नितरामग्राणि अधोभूतान्यवनतिः यस्य असौ न्यग्रोधः।" अश्वत्थ परोपकारी नहीं है, अतः 'दरिद्रा' इसमें निवास करती है। बात यह है—दरिद्रा लक्ष्मी की बड़ी बहिन हैं। उसे कोई नहीं ब्याहता था। इसीलिये लक्ष्मी का भी विवाह रुका रहा, क्योंकि छोटे भाई-बहिन का विवाह पहले हो जाने से 'परि-वित्ता'-'परिवित्ती' दोष होता है। अन्ततः बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर अश्वत्थ

ने दरिद्रा से विवाह किया। उसे प्रसन्न रखने के लिये यह तय किया गया कि शनिवार के दिन श्रीनारायण सहित लक्ष्मी वहाँ आकर बसे। अतएव अन्य दिनों में अश्वत्थ के स्पर्श का निषेध है। यह अश्वत्थ उपकारी नहीं, इसीका फल है जो इसे दरिद्रा मिली है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी के कथनानुसार श्रीव्रजवनिताओं ने प्लक्ष में यह दोष देखा—'प्लक्ष अपवित्र है, देवताओं ने स्वर्ग की कामना से पशु का आलम्बन किया, उसीसे यह उत्पन्न हुआ, अतः अपवित्र है। तभी तो प्राणजीवन का पता नहीं देता।' यह सब निराश होने पर कहा जाता है, सान्त्वना के समय ऐसा नहीं कहा जाता।

अथवा अपना मनोरथ सिद्ध न होने पर भी वे व्रजदेवियाँ वृक्षों से असूया नहीं करतीं। क्योंकि वे प्रेममार्ग की आचार्या हैं। अतः कहती हैं—**'कच्चित्–'** **'कुत्सितश्चेतनवर्गोऽपि यस्मात्।'** अर्थात्; इस वृन्दावन वृक्षसमूह की अपेक्षा चेतनवर्ग भी कुत्सित है, इन्द्रादि भी निकृष्ट हैं। ब्रह्मा, वह तो आशा लगाये बैठा है—'वह दिन कब उदित होगा, वह ऊँचा भाग्य कब जागेगा कि जब श्रीवृन्दाटवी में, मैं कुछ—लता-पत्र पाद-धूलि बनूँगा और किसी बड़भागी व्रजवासी के चरण से मेरा उद्धार होगा'—**'तद्भूरिभाग्यमिहजन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम्।** (भाग०, स्क० १०, अ० १४, श्लोक ३४) उद्धव भगवान् को बहुत प्रिय थे। भगवान् उन्हें अपने से जरा भी कम नहीं मानते थे, श्रीसङ्कर्षण-बलदेव और श्रीलक्ष्मी भी उद्धव से अधिक प्रिय न थीं। उनके लिये ये भगवान् के शब्द हैं—**"नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनः···न च सङ्कर्षणो न श्रीः····यथा भवान्।"** वे महाभाग्यवान् उद्धव भी श्रीवृन्दावन के तृण, गुल्म बनने के लिये तपस्या करते रहे। यह भाग्य वृन्दावन के वृक्षों को छोड़कर संसार में और किसका होगा ? यों 'कच्चित्' से व्रजाङ्गना वृक्षों की प्रशंसा ही करती हैं और कहती हैं—आप परम चेतन हो, कृपा करो, बताओ—**"दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ····"** वृक्ष, मानो स्तुति से प्रसन्न हो गये। परस्पर प्रश्नोत्तर-परम्परा चलने लगी—किसको बतायें, व्रजबालाओ, तुम किसे पूछती हो ? चौर को। क्या चुराया उसने ? हमारा मन। चौर कौन है ? नन्दसूनु। नहीं, वह तो विष्णु है—व्यापक है, नन्दराय ने अनन्त तपस्या से उसे प्राप्त किया है, वह चौर नहीं, आखिर उसने तुम्हारा क्या चुराया ? अजी ! नन्दसूनु व्यापक—विष्णु होंगे तुम्हारे घर में, हमारे यहाँ तो वे पक्के चौर हैं, उन्होंने क्या नहीं चुराया, हमारे दही को चुराया, नवनीत की चोरी की और अब तो वे हमारे मन को भी चोरकर भाग गये हैं !

मुग्धा गोपी, तुम क्या कहती हो ? मन ! यह तो तुम्हारे ही पास होगा और दूध, दही, माखन की तो चोरी हो नहीं गिनी जाती। नहीं-नहीं, वे हमारा मन चुरा ले गये हैं, वे हमारे चितचोर हैं। दूध, दही की चोरी पर तो हमने कभी उन्हें

ढूँढ़ा ही नहीं। अबकी बार उन्होंने हमारी बड़ी भारी चोरी की है—हमारी मनो-मञ्जूषा का उन्होंने हरण किया है, उसमें धैर्य, लज्जा, विवेक, विज्ञान, धर्मनिष्ठा आदि रत्न भरे रखे हैं। उसे वे ले गये, अब कुछ रह ही नहीं गया। दही, माखन जाने से हमारी कोई क्षति नहीं थी, हम विवेकादि से रहित नहीं थीं। पर आज हम उनसे हीन होकर बाल बिखेरे घूम रही हैं। हाय, हमारा सर्वस्व लुट गया। बताओ, बड़ा पुण्य होगा। सखियो, तुम क्या कह रही हो ? उन्होंने तुम्हारा मन कैसे चुराया ? क्योंकि वह तो अन्नमय, प्राणमय के भीतर रहता है, वहाँ से कोई भी उसे कैसे ले सकता है ? यह मत कहिये, **'प्रेमहासावलोकनैः'** वे प्रेम से हृदय में प्रविष्ट हुए, मधुर हास से उस मञ्जूषा को ग्रहण किया और तुरन्त उलटे पाँव लौट पड़े। प्रेमी हृदय में घुस जाता है, वह हृदय की बात जान जाता है। इस समय वे मोहन; उदासीन, अग्राह्य, अलक्ष्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य बने हैं। पर पहले इतने अनुरागी बने कि हमारे पादसंवाहन करते, वेणी गूँथ देते, नाचते, गाते, जो हम कहतीं सब करते। इसी प्रेम से वे हृदय में प्रविष्ट हुए। उन प्रेमी का हास याद आता है—मालूम होता है, वे अपने उस हृदयहारी हास से हमें पकड़े हुए हैं। ऐसे ही विभोरता के अवसर पर अवलोकन-कटाक्षों से बस मन लेकर झट से चले गये। आप कृपा कर बता दो, हम सर्वशून्य होकर उन्हें ढूँढ़ रही हैं। आप बड़े हो, राजा हो, न्याय करो।

अथवा मन के तीन भाव हैं–तामस, राजस, सात्त्विक। प्रेम, हास और अवलोकन इन तीनों ने मनों को अपहृत किया। यहाँ अलौकिक सद्घन, चिद्घन में तामस, राजस भाव कहाँ से आये ? इसपर श्रीमद्वल्लभाचार्यजी का कहना है–यह यद्यपि लोकातीत है परन्तु यहाँ गोपी कोई तामसी, कोई राजसी आदि हैं। इनमें भी दश भेद हैं। इनमें तामसी तम से ऊँची हैं। **'प्रेमपत्तन'** आदि में भी यह वर्णन है। जो अन्यत्र प्रधान है वह प्रेमपन्थ में अप्रधान है। वह भी वैधी भक्ति की अपेक्षा रागानुगा प्रीति में और भी अप्रधान है। वैधी प्रीति में सत्य आदि धर्म का ही मन्त्रिमण्डल रहता है। रागानुगा में वह बदल जाता है, वहाँ व्यसन लग जाता है। परन्तु यदि भावुक का मन श्रीकृष्णपादारविन्दमकरन्द का मधुप बन जाये, तब तो फिर महान् वैराग्यादि भी अग्नि में 'राई नोन' की तरह वारकर फेंक दिये जायें ! श्रीसनकादि, शुकादि आशावसनदिगम्बर महा विरक्त थे। पर उन्हें एक व्यसन था—जहाँ मङ्गलमय भगवान् का चरित्र होता; उसे वे अवश्य सुनते। अन्यत्र आशा दूषण है, कहा भी है–**"आशा पिशाची परिमर्दितानाम्···"** परन्तु यहाँ वह भूषण है, यहाँ आशा, तृष्णा कल्पलता है। अन्य सब कुछ देकर भी इसे भावुक खरीदना चाहता है। तामस स्नेह है, वह एक गाढ़ आसक्ति है, दृढ़ अभिनिवेश है। प्रेमी इसे पाकर किसीकी नहीं सुनता। माता, पिता, वेद, शास्त्र, सज्जन, साधु उसे इस मार्ग से रोकते-रोकते

परेशान हो जायें, पर वह किसीकी नहीं मानता। वह उसका प्रियव्यसन मूढ़ग्राह, औरों की तो क्या, साक्षात् सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा की भी बात कान नहीं करता। यह महा-अग्निपुञ्ज सूर्यदेव ठण्डा पड़ जाये, चन्द्र जल उठे, दुनिया उथल-पुथल हो जाये, परन्तु यह वह प्रेम है, वह तामस स्नेह है जो किञ्चिन्मात्र भी शिथिल न होगा। जैसे लौकिक कामिनी को कान्त में अटूट अनुराग होता है, इन गोपाङ्गनाओं को वैसे ही श्रीकृष्ण में था। वैधी प्रीति में इसका तिरस्कार है, परन्तु रागानुगा में इसीका आदर है। इस प्रकार की कृष्ण की तामसी मूर्त्ति का इन दो पद्यों में वर्णन है :—

"बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्त्तिः॥"

"**कर्णोत्पलालकविटङ्क०**" (भा०, स्क० १०, अ० ३३, श्लो० १६)—"**श्यामं हिरण्यपरिधिं नवमाल्यबर्ह०**" (भाग०, १०, २३, २२)

इनमें शृङ्गार रससारसर्वस्व उद्वेलित उद्‌बुद्धरूप में संयोग, वियोग दोनों ही के साथ वर्णित हुआ है। यहाँ संयोग तो "**अणोरणीयान्**" है और वियोग ही "**महतो महीयान्**"। श्रीश्यामसुन्दर वनविहारी ने मस्तक पर मुकुट धारण किया है, वह मोर-पंख का बना है। उसके मयूरपिच्छ में जो श्यामता है, उससे आसक्ति—तामसता निर्दिष्ट हुई—परम आसक्ति बतलायी गयी। अरुण पल्लव के समान पीताम्बर से सरस सुकोमलता कही गयी। आम्रपल्लव के निर्देश से यह कहा गया कि उसे भी शृङ्गार स्वरूप से धारण किया है और इससे रञ्जनशील राग की सूचना है। व्रजाङ्गनाओं का अनुराग सरल, सुकोमल है। माला के सौगन्ध्य से 'सत्व' गुण कहा गया। 'सत्व' का अभिप्राय है—प्रकाश, 'रज' का अभिप्राय है—हलचल—क्रिया और 'तम' का अभिप्राय है-रुकावट-आवरण। यही प्रकृति में भी है। जहाँ 'लीला' है वहाँ भी एक अवरोध, हलचल और प्रकाश हैं। पहले श्रीश्यामसुन्दर-मुरलीमनोहर का प्रकाश, फिर उनके दर्शन के लिये चञ्चलता, इसके बाद उससे आसक्ति—गाढ-मूढता सिद्ध ही है। यह जो प्रेम है, यह तामस है। प्रेम का स्वरूप, आसक्ति—उत्कट उत्कण्ठा है। व्रजाङ्गना कहती हैं—हे वृक्षो, श्रीश्यामसुन्दर के अनुराग से आवरण हो गया—हमारी बुद्धि पर परदा पड़ गया, हास से चञ्चलता—खलबली हो उठी और अवलोकन से सात्विक भाव। उसी समय ये चौरशेखर हमारे चित्त को चुरा ले गये। अब तुम समझे, यों चुरा ले गये। अब ये कहाँ गये? तुमने देखा हो तो जल्दी बतलाओ।

अच्छा व्रजवनिताओ, यह तो बताओ, तुमने उनमें विश्वास कैसे कर लिया? विश्वास न करने का कोई कारण नहीं था, क्योंकि हम जिनके राज में रहती हैं, वे

उनके पुत्र हैं—'नन्दसूनु' हैं। हम क्या जानती थीं कि ये पालक के बालक ही हमारे घालक निकल पड़ेंगे। अथवा "नन्दस्य—सर्वानन्दहेतोरयं सूनुः" हम तो समझती थीं जगदानन्दकारक नन्द के ये सुपुत्र हैं। अतएव हमने उनपर विश्वास किया। हन्त कष्टम्! हम विश्वास से ठगी गयीं। वृक्षो, तुम बताओ, तुमने उन्हें किसी तरफ जाते देखा है?

इस प्रकार व्रजाङ्गना श्रीकृष्ण के विरह में विह्वल हुई उनका अन्वेषण कर रही हैं और संहत होकर गान करती हुई उन्हें खोजती हैं। फिर-फिर अनुसन्धान होने से प्लक्षादि से पूछती हैं—हमारे चित्तचौर को बताओ। वह प्रेम, हास और अवलोकन से हमारे मन को-धैर्य, लज्जा, विवेक, विज्ञान की मञ्जूषा को-हर ले गये हैं। प्रेम, हास और अवलोकन से यहाँ सात्विक, राजस और तामस भाव बतलाये। प्रथम वस्तुज्ञान अवलोकन, फिर तत्प्राप्ति के लिये व्याकुलता, इसके बाद स्नेहासक्ति, मूर्च्छा हुई। यह बात अन्यत्र भी कही गयी है—"अदर्शने दर्शनमात्रकामा दृष्ट्वा परिष्वङ्ग···" अर्थात्; जब तक प्राणप्रिय का दर्शन नहीं मिला तब तक तो दर्शन की केवल उत्कट उत्कण्ठा रही। फिर इसके पूरा होते ही आलिङ्गन की अभिलाषा जाग उठी। इसके बाद एक विचित्र आसक्ति, विभोरता ने वश में कर लिया। फलतः अब वह उनमें मिल जाना चाहती है और उन्हें अपने में मिला लेना चाहती है—दोनों एकमेक हो जाना चाहते हैं।

यद्यपि ये शृङ्गार के भाव हैं—रसीले भाव हैं। पर यह लौकिक शृङ्गार से ऊँची वस्तु है। साथ ही इस विषय में श्रीभरतादि नाट्याचार्यों की सम्मति है कि ऐसे समस्त शृङ्गार के उदात्त भाव, भेद, प्राकृत नायक-नायिकादि में समन्वित नहीं हो सकते, यदि हो सकते हैं तो केवल रसिकशेखर श्रीराधाकृष्ण में ही, उनके प्रेम-सुधासिन्धु के तो एक बिन्दु में ही ये सब समा जायेंगे। इन्हींके प्रसङ्ग में कहा गया है—"आशास्महे विग्रहयोरभेदम्" दोनों एक दूसरे के साथ अभेद-ऐक्य चाहते हैं। परन्तु ये सब भाव अन्तरङ्गा आह्लादिनी शक्ति और श्रीश्यामसुन्दर में ही हैं। अस्तु, प्रकृत में अभिप्राय यही है कि इस प्रकार से दर्शन सात्विक है और उससे ज्ञान उत्पन्न होता है—"सत्वात् सञ्जायते ज्ञानम्" इसके अनन्तर मिलने की उत्कण्ठा, फिर तज्जनित गाढ़ आसक्ति—अभिनिवेश होता है। ये सत्वादि तीनों प्राकृत सत्वादि से भिन्न हैं। गोपाङ्गना इस 'तामस' का—आवरक अन्धकार का बड़ा आदर करती हैं। उनका कहना है—'हमारे लिये तो कृष्ण-पक्ष के तामस विस्तार में, अभिसरण की सुविधा रहती है, यह पक्ष बहुत उत्तम है।' उनके यहाँ रज-गोरज-धूलि का भी बहुत आदर है—'वह ऐसा व्याप्त हो कि हमें श्रीश्याम का छिपकर दर्शन करते कोई देखे ही नहीं।' उन्हें यों परम प्यारे साँवरे के दर्शन में 'रज' और 'तम' दोनों ही अपेक्षित हैं, दूसरे, 'रज' को ये श्यामसुन्दर के

आगमन की सूचना समझती हैं। क्योंकि सायङ्काल गोचारण करके आते हुए श्री गोपाल के आगमन की सूचना दर्शनोत्कण्ठिता व्रजबालाओं को आगे उड़ती गोधूलि से मिलती। वैसे भी 'रज' में (गुण और धूलि दोनों में) क्रिया—चञ्चलता होती है। प्रियदर्शनपक्ष में चञ्चलता-विह्वलता का बहुत महत्व है। एक भावुक ने कहा—"**कृष्णभावरसभाविता मतिः क्रीयतां यदि कुतोऽपि लभ्यते**" भाई, प्रेमियो! '**कृष्णभावरसभावितामति**' यदि खरीदी जा सके तो खरीद लो, चाहे वह किसी भी कीमत पर मिले। अच्छा, अगर ऐसा है तो हम खरीदेंगे, कहिये क्या दाम है? उसकी कीमत, बहुत ही सस्ती लेकिन बहुत ही महँगी भी—चञ्चलता एकमात्र मन की चञ्चलता है। बस, प्राणप्रिय के दर्शन के बिना न रह सकना, उससे व्यथित, अशान्त रहना यही उस अमूल्य मति का मूल्य है। यहाँ अशान्ति, बेचैनी जितनी ही बढ़े उतनी ही अधिकाधिक मूल्यवती है—महर्घ है। यों भी 'रज' का महत्व है। हाँ, तो अवलोकन से सात्विक भाव से प्रकाश, अर्थात् गोपाङ्गनाओं को पहले दर्शन, फिर हासरूप राजसभाव से प्राप्ति के लिये विह्वलता, अन्त में तामस से गाढासक्ति, मूर्च्छा हुई। इन्हीं काण्डों से वे मन खो बैठीं।

अथवा, प्रेम जगन्मोहन महौषध है—बेहोश करने की दवा है। उन चोरशेखर के पास इसके भण्डार भरे पड़े हैं। उन्होंने यह मोहन महौषध देकर अपने दो साथियों को भेजा। वे हैं—हास और अवलोकन—नेत्र। जब श्रीश्यामसुन्दर चौर हैं तो उनके हास, अवलोकन, नेत्र, हाथ, पाँव सब चौर हैं। चौर के साथी सब चौर, इनमें बाँके-बिहारी के बाँके नेत्र तो पक्के चोर हैं, उनके कोई बचा ही नहीं। एक बार सरसिज-सम्राट् ने विचार किया कि 'यह अलबेलो ब्रजसाँवरिया, सबनकूं ठगतो फिरे है, सबकी चोरी करै है, कहुँ मेरीउ शोभाकूं यह चुराय न लेज्यायँ मैं अपनो खूबपक्को बन्दोबस्त कर लऊँ।' यह निश्चय कर वह कमलाधिपति जलाशय में उत्पन्न हुआ, वहीं बसा—'यहाँ कैसे आयेंगे श्याम? पर वे बड़े नटखटिया हैं, कहीं जलविहार के लिये ही आ निकले, तो मेरी इस अद्भुत शोभा को अवश्य चुरा लेंगे, वे पक्के चोर-जारशिखामणि हैं। मेरी सम्पत्ति यह एकमात्र शोभा ही है। मुझे खूब सावधान रहना चाहिये।' जलविहार गर्मी में होता है, शरद् में लोग शीत से डरते हैं, सहसा जल में नहीं प्रविष्ट होते। यह सोचकर वह सरोजराज शरदृतु में और तत्रापि जल में उत्पन्न हुआ, वहीं बसा। इतने पर भी सन्तोष न हुआ, उसने अपनी रक्षा के लिये चारों ओर बहादुर कमलों को पहरेदार खड़ा किया, कितनों ही को अपने पास बसाया—यदि उन्हें चोरी करना ही इष्ट होगा तो इन्हींकी सम्पत्ति हरके अपनी आदत पूरी कर लेंगे, मुझ तक नौबत न आयेगी। पर इसके बाद भी डर के मारे उसने शतपत्रों को द्वारपाल बनाया। उनके भी चारों ओर काँटे लगाये, स्वयम् सबके बीच में रहा। अब रक्षा के बाह्य प्रयत्न-प्रबन्ध से वह निश्चिन्त हुआ। किन्तु अब भी उसका भय गया

नहीं। वह सोचता रहा—'उनकी चोरी बड़ी अद्‌भुत है, वे आँख से काजल निकाल लेते हैं।' अतः अब अपनी शोभा की रक्षा के लिये उसने आभ्यन्तर प्रयत्न किया—उस छवि-सम्पत्ति को अपने अन्तरतम कोष में छिपाकर रखा। फिर भी सचमुच महान् आश्चर्य, कि श्रीश्यामबिहारी के उन नेत्रारविन्दों ने–निरुपम नेत्रों ने सरसिजसम्राट् की श्री को—सम्पत्ति को चुरा ही लिया और किसीने देखा तक नहीं—'कब चुराया ?' श्री गोपीगीत के इस पद्य में यह बात कही गयी है—'शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषा दृशा······' ऐसे चौर्यकुशल अपने साथी नेत्र चोरों को–अवलोकन को श्रीश्यामसुन्दर ने व्रजसीमन्तिनियों की चोरी करने भेजा—'जाओ, गोपियों के मनोरत्न को—धैर्यलज्जादि रत्नों को चुरा लाओ।' साथ में मोहन औषध दिया, जिसके प्रयोग से वे जागती भी सो जायँ। उन रूपशेखर श्याम के हास और अवलोकन ही इस कार्य के लिये पर्य्याप्त थे, इनमें प्रेम-संमोहन और मिल गया—अब कहना ही क्या था ? हे महावृक्षो, इस प्रकार प्रेमहासावलोकन से उन्होंने हमारा सब कुछ चुरा लिया, हम उन्हें पूछ रही हैं, बताओ, वे किस ओर गये हैं ? गोपियो, तुम सचमुच भोली हो, पर अपने रत्नों की—सर्वस्व की रक्षा में इतनी ग़फ़लत क्यों तुमने की ? सज्जनो, यह तुम्हारा कहना ठीक है, पर हम तो यही विश्वास करती रहीं, ये श्रीनन्दसूनु हैं—आनन्ददायी हैं, हमें क्या ज्ञान था कि इनसे प्रेम करके ऐसे सन्ताप उठाना पड़ेगा। यों व्रजाङ्गना अपने ही प्रश्नोत्तर करती पूछती फिरती हैं। जब तक उन्हें उत्तर की आशा रहती है विविध भाँति पूछती हैं। निराश होने पर उनमें दोषानुसन्धान करती हैं—सखि, इसने मौन व्रत लिया है। नहीं, यह गूँगा है। यह भी बात नहीं, इसे तो प्रियतम के दरसपरस से—गाढ़ प्रेम से स्तब्धता हो गयी है। हाँ हाँ, यह कह सकते कि बीमारी में आ गया है, हमारी सुनता ही नहीं। मेरी समझ में तो सखि, ये उनकी विभूति हैं, इन्हें श्रीश्याम का अधिक सहयोग प्राप्त हुआ है। ये उनके साथी होने से उनके पक्षपाती हैं, कभी पता न देंगे। यह सब कुछ नहीं, असल बात यह है कि ये सब महत्वाभिमानी हैं। सोचते हैं—'इन गँवारी ग्वालिनों से क्या बोलें।' यही समझकर ये हमारी उपेक्षा कर रहे हैं। अतएव इनमें कोई गुण नहीं। चलो अब आगे चलें, उस 'कुरवक' से पूछें—देखो सखि ! इसमें सुमनस (पुष्प) भी लगे हैं। यह अच्छे मनवाला है, इससे पूछना चाहिये। इसके स्वरूप से भी प्रतीत होता है, इसे श्रीश्यामसुन्दर के अवश्य दर्शन हुए हैं। तभी यह प्रसन्न हो रहा है। इसके अम्लान पुष्प विकसित हो रहे हैं। यह अपने सौरभ से मन को, दिग्दिगन्त को आमोदित कर रहा है। इसका अन्तःकरण पवित्र है। दूसरे, फूलों का फूलना, यह तो प्यारे के दर्शन के बिना सम्भव नहीं—हृदय का फूल उसके बिना खिलता नहीं। यह इसका आमोद भी तभी है जब यह स्वयम् दर्शन का आनन्द ले चुका है। सखि, इसका सहवास करेंगी, इससे प्रश्न करेंगी तो हमारा

भी मन खिलेगा, हमें भी मङ्गलमय अङ्ग की प्राप्ति होगी। अहो, इसका तो नाम भी बड़ा अच्छा है—"**कौ पृथिव्यां यशसोरवो यस्य सः एव 'कुरवकः'** अखण्ड भूमण्डल में इसका यश व्याप्त है। यह श्रीश्याम के ही समान है। इसके वे सखा हैं, अपने समान नाम-रूपवाले हैं। अतः इससे पूछो। इससे पता चलेगा। कुरवक ! तुम बड़े अच्छे हो, तुमने कहीं श्यामसुन्दर को देखा हो तो बताओ, वे हमारा मन चुराके भाग आये हैं। कुरवक की ओर से शङ्का करके कहती हैं—सखि, यह तो कह रहा है—व्रजाङ्गनाओ, तुम्हारे ही दोष से-गर्व से श्याम चले गये हैं, अब तुम क्यों रोती हो ? तो कहती हैं—श्यामसुन्दर तो 'दर्पहर-स्मितः' हैं। माना, हमारे ही दोष से वे गये, पर वे अन्तर्हित क्यों हो गये ? क्योंकि उनके तो स्मितमात्र से ही हमारा दर्प दूर हो सकता था। अमृत से लाभ होने की जगह विष का प्रयोग कौन करेगा ? "**व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मय-ध्वंसनस्मितः'** (भाग १०, ३१, ६) जिनकी मधुर मनोहर मुस्कान अनन्त कन्दर्प के दर्प को दलित कर देती है, कामिनी के काम-मद का मर्दन कर देती है, वे—"**रामा-नुजो मानिनीनाम्**" मानिनी के मान का मर्दन करने के लिये इस अरण्य में क्यों घूम रहे हैं ? कहो कुरवक ! अरे, हम इतना अनुनय कर रही हैं और यह बोलता तक नहीं ? सखि (कुत्सितो रवो यस्य सः, अथवा कुत्सितात् रवात् कं सुखं यस्य स कुरवकः) जिसे दूसरों के रोने से सुख मिले, यह तो वह है। हमारे रोने से यह प्रसन्न हो रहा है। देखो, फूल खिले हैं, सौरभ फैल रहा है। सच में यह भी निष्ठुर श्रीश्याम की तरह ही है, उन्हें भी हमारा रोना ही अच्छा लगता है।

गोपियो ! योगीन्द्र-मुनीन्द्रवन्दितपादारविन्द से तुम पादसंवाहन कराओ यह क्या उचित है ? इसी तुम्हारे दर्प को दूर करने के लिये वे अन्तर्हित हो गये हैं। नहीं, यह काम तो 'स्मित' से ही चल जाता। पर वे तो हमारे रोने से खुश होते हैं, अतः अन्तर्हित हुए हैं। मृगयु (व्याध) हरिणियों को वीणावादन करके मोहित कर लेता है। फिर उन्हें जाल में फँसाकर उनके रोने से प्रसन्न होता है। हम हरिणाक्षियों को अपने कटाक्षशर से विद्ध और वंशीरव से मुग्ध करके अब रोती देखकर वे श्यामसुन्दर प्रसन्न हो रहे हैं। इस तरह वे भी कुत्सित रव से प्रसन्न होनेवाले कुरवक ही हैं।

आगे अशोक से पूछती हैं। पहले उसकी स्तुति करती हैं—सखि ! यह बहुत सुन्दर वृक्ष है, इसके पास जाने से ही शोक मिट जाता है—'**नास्ति शोको यस्य स अशोकः।**' वह है आत्मवित्, क्योंकि—"**तरति शोकमात्मवित्।**" आत्मा कौन है ? श्रीकृष्ण, उनको जान लेने से सब शोक-मोह दूर हो जाते हैं—"**तत्र को मोहः कः शोकः···।**" अशोक के मिले विना शोक मिटता नहीं। अशोक के सङ्ग से अशोक हो जाता है। अतः हे अशोक ! हम तुमसे पूछती हैं, बतलाओ, वे चितचोर मोहन कहाँ गये ? जैसे चन्दन अपने पास के वृक्षों को चन्दन बना देता है--सुगन्धित बना देता

है, वैसे ही तुम्हारे पास आयी हमको श्याम का पता देकर अशोक बनाओ, बड़ी कृपा होगी। अरे ! यह भी कुछ नहीं बोलता। बोले क्या, जिसे स्वयम् दुःख का अनुभव नहीं वह दूसरे की पीड़ा को क्या जाने ?--"**यथा कण्टकविद्धाङ्गः**······", "**जाके पाँव न फटी बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई।**" हमारे विरहकष्ट को यह जानता ही नहीं, कैसे दूर करेगा। यह तो एक अशोक है, श्रीजानकीजी तो अशोक वाटिका में टिकी थीं। वे बहुत भी एक का शोक दूर न कर सके। यह भी मोहन का ही साथी है। आगे चलो।

"**नागपुन्नागचम्पकाः**" सखि, नागकेशर को देखो "**न अगः साधारणो वृक्षो यस्याः सा**······" यह पुमान् नाग है। ये दोनों गजेन्द्रगति श्रीमोहन की गति को जानते हैं। हे चम्पक, तुम्हारा वर्ण हमारे श्याम के शरीर पर विराजमान है, तुम उन्हींकी तरह चपल (चपि चापल्ये) भी हो। तुम्हीं लोग हमारे प्राणधन का परिचय दो। यहाँ, व्रजाङ्गनाओं में--मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा, मानिनी बहुत भेद हैं। उनमें से मानवती व्रजाङ्गना कहती है--'**नागपुन्नागचम्पकाः।**' 'तुम हमारे चोर को बताओ।' मानवती यह चाहती है कि--श्रीनन्दनन्दन को यह पता न चले कि 'हम उन्हें ढूंढ़ रही हैं' "···**नेति नेति वचनामृत बोलत**···" ये स्वप्न में भी यह प्रकट न होने देंगी कि हम उन छबीले श्याम पर मुग्ध होकर उन्हें ढूंढ़ रही हैं। इसलिये ये व्रजयुवतियाँ यों पूछ रही हैं--'**हे नागपुन्नागचम्पकाः**' हमें उन श्याम से कोई गर्ज नहीं, केवल वे हमारी चीज चुराकर ले गये, अतः '**सोऽस्याभिर्धर्त्तव्यः**' हम उन्हें पकड़ेंगी। कदाचित् 'पुन्नाग' कहे--'अरी व्रजाङ्गनाओ, तुम अबला हो और वह बलवान् है, तुम उसे कैसे धरोगी ? इसपर कहती हैं, आखिर वे हैं तो 'रामानुज' श्री बलराम के छोटे भाई ही, क्योंकि--'**बलाधिक्यात् बलं विदुः।**' वह तो हमसे कम बलवान् ही हैं।

इसी सम्बन्ध में गोपाङ्गना नाग से पूछती हैं—हे नाग, तुम साधारण अग (वृक्ष) नहीं हो। तुम श्यामसुन्दर के सदृश हो। उन नागसदृश भुजदण्डवाले श्याम को बतलाओ, तुमने कहीं उन्हें देखा है ?

"**अहो अमी देववरामरार्चितं**······**तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्।**"

(भा०, स्क० १०, अ० १५, श्लो० ५)

श्रीभगवान् ने स्वयम् श्रीमुख से इन वृक्षों की स्तुति की है। ये साधारण वृक्ष नहीं हैं, ये योगीन्द्र-मुनीन्द्र-वन्दित वृक्ष हैं। ये सुमन और फल का उपहार लेकर अपने शाखारूप शिखाग्रभाग से भगवद्वन्दन करते हैं। ये इसलिये प्रणाम करते हैं कि 'तम मिटे'। परन्तु यह बात जँचती नहीं, क्योंकि जब श्रीउद्धव, श्रीब्रह्मा जैसे श्रीवृन्दावन के 'तरु, गुल्म' होना चाहते हैं, तब इनमें 'तम' कैसा ? इससे तो इनकी महिमा सिद्ध होती है। यद्यपि यह ठीक है, परन्तु इसमें वृक्षों का भाव दूसरा है। वृक्ष

सोचते हैं–'ये पक्षी, ग्वालवाल, गैया, जहाँ-जहाँ श्रीश्याम कन्हैया पधारते हैं, वहाँ-वहाँ पहुँच जाते हैं, परन्तु हम तो ऐसा नहीं कर सकते । हमें तो श्री श्यामसुन्दर स्वयम् ही पधारकर आलिङ्गन, स्पर्श दें, तब हमारी इच्छा पूर्ण हो । अतः इस 'तम' को दूर करने के लिये यह इनका यत्न है, क्योंकि ये बड़े हैं–दिव्य हैं–उदार हैं । निःस्वार्थ भाव से परोपकार करना महानुभावों का स्वभाव होता है । परन्तु यह इनकी दिव्यता सर्व-साधारण को नहीं ज्ञात है, जैसे भगवान् कृष्ण का ईश्वरत्व सब नहीं जान सके; वैसे ही–इनका वास्तविक स्वरूप अप्रकट है । इनका दिव्य स्वरूप, श्रीयमुना का मणि-हीरक-रचित तट और वहाँ दुग्धधारा प्रवाह यदि साधारण जनवेद्य हो जाय तो तुरन्त पहरा बैठ जाय, परन्तु किन्हीं महानुभावों को यह सब सदा साक्षात् रहता है । ऐसे ही एक महानुभाव ने एक अभिमानी सम्राट् को यहाँ का एक पत्थर का टुकड़ा बतलाया जो बहुत मूल्यवान् हीरकखण्ड था; सम्राट् का समस्त साम्राज्य भी उस टुकड़े के बराबर नहीं निकला । हाँ, तो इस दृष्टि से "**तमोपहत्यै**" प्रकाश करने के लिये, लोगों को बोध देने के लिये 'तरु जन्म' है । जिस समय अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक अप्रकट-गुप्त रहकर लीला करते हैं, उनके परिकर भी छिपकर लीला में सम्मिलित होते हैं । व्रजाङ्गना कहती हैं, हे तरुओ ! उसी स्वरूप में आप वृक्ष हो, आपने हमारे प्राणप्यारे को इधर कहीं जाते देखा हो तो कहो । हम आपका बड़ा अनुग्रह मानेंगी ।

व्रजाङ्गनाओं की बहुत मिन्नत-आरजू करने पर भी जब आशा पूर्ण न हुई तब वही निन्दा में बदल गयी—'सखि ! रूप और गुण की बात तो दूर रही, पहले इसका नाम ही देखो कैसा डरावना है--'नाग-सर्प ?' श्रीश्यामसुन्दर ने भी प्रेमहालाहल से हम सबको वियोग में विमोहित किया और ये भी उसी प्रकार कष्ट दे रहे हैं । इसके अतिरिक्त यह पुन्नाग है, पुरुष जाति बड़ी कठोर होती है, वह हम अबलाओं के कष्ट नहीं जानती । चलो सखि, ये नहीं बतलायेंगे ।' यों जब व्रजाङ्गना निराश होती हैं तब उनसे असूया करती हैं । भाव यह है कि जिससे श्रीश्यामसुन्दर का पता मिले उसकी स्तुति है । जो श्रीकृष्णतत्त्व को नहीं बतला सकते उनकी स्तुति ही क्या ? एक मुग्धा अनभिज्ञा नायिका ने प्रश्न किया—'आखिर सखि ! श्यामसुन्दर चले क्यों गये ?' इसपर एक ने उत्तर दिया—'इसलिये कि अकेले श्रीघनश्याम को तुम अनेकों ने घेर लिया, इससे वे डरकर भाग गये ।' दूसरी कहने लगी—'अरे नहीं, वे तो परम बलवान् हैं,—"**रामानुजो मानिनीनाम्**···" श्री बलराम के अनुज हैं, स्वयम् भी बलवान् फिर भाई का भी बल, कहीं उनसे कह दें तो एक मुशल-प्रहार में ही वारा-न्यारा हो जाये । इसलिये सखि, उन्हें हमसे कैसा डर ? अतः यह बात नहीं, वस्तुतः वे हमारे मानापनोदनार्थ कहीं छिप गये हैं ।'

यह रासलीला श्रीरासेश्वरी के मन को आमोदित करने के लिये हुई । उनकी यह इच्छा हुई कि 'श्री गोपीजनवल्लभ आकर समस्त गोपियों के साथ कैसे विहार कर

सकते हैं' यह देखें। वैसे ही श्री वृषभानुनन्दिनी के एक-एक अंग से अनेक-अनेक गोपाङ्गनाओं का प्राकट्य हुआ है। अवान्तर प्रयोजन यह भी कि-श्रुतिरूपा, मुनिरूपा गोपियों को भी प्रसन्न किया जाये। उत्तम लीला तब बने, जब सब सख्यभावापन्न हों। परन्तु यहाँ सबमें समान भाव हो गया—'हम भी श्याम से वेणी गुंथायेंगी, हम भी पादसंवाहन करायेंगी' और होना चाहिये था यह भाव केवल एक श्रीराधाजू में ही। श्रीश्यामसुन्दर तो अपनी अभिन्नात्मा एक श्रीवृषभानुलली के प्राकट्य पर ही रास कर सकते थे; उन्होंने एक उन्हें ही महत्त्व देकर उन्हें ही प्रसन्न करने के लिये रास चाहा था। पर जब सबमें समान भाव आ गया, तब वे भाग गये। "**बह्वृच. सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति**" वाली बात वे कैसे सहते? परन्तु इसका भी समाधान हुआ—अनन्तसमुद्रतरङ्ग महासमुद्र के परतन्त्र हैं। इसी आशय से श्रीभगवच्छङ्करपाद ने भी कहा है—"**सत्यपि भेदापगमे, नाथ! तवाहम्, न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो हि तारङ्गः।**" भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णपुरुषोत्तम हैं, महानायक हैं; अनेक गोपियों से डरकर वे भाग नहीं सकते। गोपाङ्गना अनेक रहें, अनन्त रहें, कोई बात नहीं। परन्तु वहाँ जो मान, ईर्ष्या, असूया आदि की सृष्टि हो गयी, यही ठीक नहीं हुआ। भगवान् वहाँ नहीं विराजते जहाँ ईर्ष्या आदि हों। यदि इन भावों से गोपाङ्गना महाराससौख्यरसास्वाद में विघ्न हो गयीं, तो ये इनके मान दर्प आदि तो भगवान् के एक स्मितमात्र से दूर हो जाते हैं। उन्हें श्री शुकदेवजी ने कविनिबद्ध वक्तृप्रौढोक्ति द्वारा '**दर्पहरस्मित**' कहा है।

ऐसी स्थिति में भगवान् अन्तर्हित क्यों हुए? ये सब व्रजाङ्गनाओं के उक्ति-वैचित्र्य हैं। पहले एक नायिका की शिकायत थी, 'वे चोर हैं, मनोरत्नमञ्जूषा को चुरा ले गये।' अब मानवतियों की शिकायत है, 'वे दर्प-मान चुरा ले गये, हमारा सर्वस्व लूट ले गये, हाय! हम अब क्या करें? श्यामसुन्दर ने अपने 'स्मित' से हमारा मान चुरा लिया, हमें निर्धन बना दिया। अतः हम अपना मान खोजने जा रही हैं। बतलाओ, हे पुन्नाग! बतलाओ, वे कहाँ गये?' 'अबला बालाओ! तुम उन्हें कैसे धरोगी?' इसपर कहती हैं—"**रामानुजो मानिनीनाम्**" श्री बलराम से हम जरा लज्जा करती हैं, वे तो उनके छोटे भाई हैं और छोटे होने से ही निर्बल। हम उन्हें बाहुलता से वेष्टित और नयनशर से विद्ध करके आँचल से बाँधकर रखेंगी। फिर वे निर्बल हैं, तभी तो भाग गये। यों इस प्रसङ्ग में मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा आदि नायिकाभावापन्न गोपाङ्गनाओं के भाव हैं।

लोक में जब भावुक अपने को अभीष्टपूर्ति प्रसङ्ग में समर्थ नहीं पाता, तब वह आश्रय लेता है महान् का, देव का। उसमें स्त्री-हृदय-मातृहृदय कोमल होता है, परदुःख से सत्वर द्रुत होता है। भावुक शेखर श्री गोस्वामीजी ने अपनी 'विनय पत्रिका' के ४१वें पद्य में 'श्री रघुनाथजी मेरी सुध लें' इसके लिये श्री जनकनन्दिनीजी

से प्रार्थना की है—'कबहुँक अंब, अवसर पाइ। मोरियौ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ।' वस्तुतः श्री श्यामसुन्दर कृष्णतत्व का—निर्गुण निराकार का सम्मिलन अधिगति शक्तितत्व की आराधना भी ब्रह्मविद्या द्वारा ही होती है। 'केनोपनिषत्' में एक कथा है – इन्द्र, वायु, यम, वरुणादि देवों को गर्व हो गया। उसे दूर करने के लिये तेजःपुञ्ज रूप में 'ब्रह्म' प्रकटा। उसे देवता नहीं पहिचान सके—'यह कौन है ?' उसका पता लेने एक-एक देवता गये। अग्निदेव पहले उसकी परीक्षा लेने गये, पर जाज्वल्यमान उस तेजोराशि को देखकर बोलने की हिम्मत न पड़ी। तब उस तेजः-पुञ्ज यक्ष ने कहा, तुम कौन हो, तुम्हारा क्या सामर्थ्य है ? अग्नि ने उत्तर दिया—'मैं अग्नि हूँ। सबको क्षणभर में जला सकता हूँ।' यक्ष ने उसके सामने एक तृण-खण्ड रख दिया। कहा 'इसको जला दो।' बहुत जोर लगाने पर भी अग्नि उसे नहीं जला सका। लज्जित होकर लौट आया। इसी प्रकार क्रम से वायु, वरुण सब गये, पर उस तिनके को न वायु उड़ा सका, न जल गला सका, तब हतप्रभ होकर लौट आये। अन्त में इन्द्र गये। इस अवसर पर वह तेजःपुञ्ज अन्तर्हित हो गया। इन्द्र को इससे बड़ा पश्चात्ताप हुआ—'हा, मुझे तो उस तत्व के दर्शन तक न हुए।' फिर इन्द्र ने ब्रह्मविद्या की आराधना से-उसकी सहायता से उस तत्व का ज्ञान प्राप्त किया। देवताओं का दर्प मिट गया। भगवान् श्रीराम के उपासक श्रीजानकी माता की स्नेहभरी अनुकम्पा से श्रीरामतत्व के साक्षात्कार में सफल प्रयत्न होते हैं। भगवान् की अन्तरङ्ग शक्ति उनकी अपेक्षा कोमल मानी जाती है। स्तुति-कुसुमाञ्जलिकार श्री जगद्धरभट्ट ने अपनी स्तुति में सरस्वती से कहा—मातः सरस्वती ! आप व्याकुल, हताश न होओ, धैर्य धारण करो, अवश्य भगवान् शिव आपकी सुध लेंगे, आप गुण-गान करती चलो। फिर, उस दरबार में आपका पक्ष समर्थन करनेवाली, श्रीगङ्गा चन्द्रकला और पार्वती उपस्थित हैं। वे प्रसङ्ग पड़ने पर आपका पक्ष समर्थित करेंगी। क्योंकि स्त्री, अपनी स्त्री जाति का अवश्य पक्षपात करती हैं। यदि भगवान् कठोर हैं तो वे उन्हें कोमल बना देंगी—

> **"मातः सरस्वति बधान धृतिं त्वदीयां विज्ञप्तिमार्त्तविधुरां विभवे निवेद्य।**
> **देवीशिवा, शशिकला, गगनापगा च, कुर्वन्त्यवश्यमबलाजनपक्षपातम्॥"**

(स्तोत्र ११, श्लोक २४)

अगले पद्य में कहा—हे सरस्वति ! यदि आप यह समझती हो कि 'चन्द्रलेखा' स्वभाव से ही कुटिल है-टेढ़ी है और गङ्गा नित्य तरङ्गिता-अनिश्चित बुद्धिवाली है, इनसे सहायता की सम्भावना नहीं; तब भी कोई चिन्ता नहीं। क्योंकि भगवती जगदम्बा पार्वती तो वहाँ विराजमान हैं ही, वे शैलराज की पुत्री हैं—सद्वंश की सन्तान हैं, कुलीन हैं। अतएव दयार्द्रहृदया हैं, पराये दुःख से अकारण ही उनका हृदय पिघल जाता है। वे अवश्य आपको मदद देंगी –

**"एषा निसर्गकुटिला यदि चन्द्रलेखा, स्वर्गापगा च यदि नित्यतरङ्गितेयम् ।
देवी दयार्द्रहृदया तु नगेन्द्रकन्या धन्या करिष्यति न ते निविडामवज्ञाम् ॥"**

(स्तो० ११, श्लो० २५)

सारांश यह कि—काम न चलने पर सबको अबलाओं की शरण लेनी पड़ी है। यहाँ गोपीजन ने भी यही निश्चय किया—ये वृक्ष-पुरुष हमारी पीड़ा नहीं जानते। चलो, इस तुलसी से पूछें, ये परम अन्तरङ्गा हैं—**"कच्चित्तुलसि कल्याणि, गोविन्दचरणप्रिये"** हे तुलसि, आपकी तुलना जग में नहीं है। एक बार श्री नारद कल्पवृक्ष का पुष्प लाये, उसे श्रीकृष्ण को समर्पित किया। उन्होंने श्रीरुक्मिणी को दे दिया। नारदजी को अवसर मिला, नारद विद्या करने का। उन्होंने झट श्रीसत्यभामा से जाकर कहा-'आप कहती थीं, 'मैं भगवान् को अति प्रिय हूँ।' पर वह पुष्प तो उन्होंने आपको नहीं दिया।' नारदजी का मन्त्र चल गया। श्रीसत्यभामा मान करके बैठ गयीं। श्रीकृष्ण को यह सब ज्ञात हुआ। वे श्रीसत्यभामा के पास गये। उनको समझाया—"हम तुम्हें कल्पवृक्ष ही ला देंगे।" और ला दिया। घूमते-घामते श्री नारद फिर वहाँ आ निकले। सत्यभामा ने उन्हें अपना सौभाग्य बतलाया। उन्होंने दान के गीत गाकर कल्पवृक्ष के सहित श्रीकृष्ण को दान कर देने की सलाह दी। इस दान लेने के अधिकारी की खोज होने पर स्वयं नारद दानपात्र बने। श्रीसत्यभामा ने श्रीकृष्ण से कहा—'नाथ, जन्मजन्मान्तर में—मैं आपकी ही दासी बनूं, आप ही मुझे मिलें, एतदर्थ मैं आपको दान कर देना चाहती हूँ।' दान हो गया। अब श्रीकृष्ण से नारदजी ने कहा—चलिये, आप मेरा कमण्डलु उठाइये। मुझे आप महादान में मिले हैं। श्रीकृष्ण नारद के साथ चल पड़े। अब तो बड़ी आफत मची। श्रीसत्यभामा ने स्वप्न में भी यह नहीं विचारा था कि इस दान से उन्हें श्रीकृष्ण से वियुक्त होना पड़ेगा। अन्ततोगत्वा श्रीनारद किसी तरह मनाये गये। श्रीकृष्ण के बदले में उनके बराबर हीरे, माणिक्य, जवाहिरात सब तराजू में चढ़ाये गये, पर श्रीकृष्ण का पलड़ा हिला तक नहीं। श्रीसत्यभामा परेशान थीं, किंकर्त्तव्य-विमूढ़ थीं। उधर श्रीरुक्मिणी को इस काण्ड का पता लगा, वे आयीं। उन्होंने एक प्रकार निकाला, कहा—बहिन, यह सब हीरे-हारे उतार दो, इनकी जगह एक तुलसी-दल, केवल एक तुलसी-दल रखो। ऐसा ही हुआ। श्रीकृष्ण का पलड़ा ऊपर उठ गया। यह है तुलसी का महत्व। अतएव, तुलसीदल पर श्रीकृष्ण अपने को बेचते हैं, जिसको इच्छा हो, खरीद लें—**'तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च, विक्रीणीते स्वमात्मानं**......" इन दृष्टियों से गोपाङ्गनाओं ने कहा—गोविन्दचरणप्रिये - हे तुलसि, आप परम सौभाग्यवती हो, कल्याणी हो। हम तो श्रीश्यामविप्रयोग से अति तप्त हैं, पर आपका उनसे कभी विच्छेद होता ही नहीं। आपको श्रीगोविन्द के चरण अतिप्रिय हैं। वैसे वैजयन्ती माला के साथ भगवान् के वक्षःस्थल में भी तुलसी

विराजमान है, पर उसे उनके श्रीचरणों से ही अनुराग है। जैसे तुलसी को भगवान् प्रिय हैं, तुलसी भी भगवान् को वैसे ही प्रिय है। कहा है—"**तेऽति प्रियोऽच्युतः**···" इस अच्युत से यह बतलाया गया है कि—तुलसी का भगवत्पादारविन्द से कभी विश्लेषण होता ही नहीं, उसका अविघटित सम्बन्ध है।

यहाँ 'गोविन्दचरणप्रिये' इस पद में 'चरण' से पूज्यता ली गयी है। क्योंकि आगे गोपियों ने कहा—श्रीतुलसी की माला मोहन के वक्षःस्थल पर विराजमान है, उसके मकरन्दरसामृत के लोभी भ्रमर भी उसे घेरे हैं। यदि चरण ही प्रिय होता तो "**सहत्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः**" आदि कैसे कहा जाता? अस्तु। यहाँ व्रजाङ्गना तुलसी का भाग्य सराह रही हैं–सखि तुलसि, देखो! एक हमारा भाग्य है और एक आपका। हमें वे श्यामविहारी दर्शन देने से भी जी लुका रहे हैं, हम कोई भार नहीं, हम चरणस्पर्श मात्र चाहती हैं। आप तो उनके विशाल वक्षःस्थल पर विराजमान हो। हमें तो वह अति दुर्लभ है, रङ्क की साम्राज्य-कामना है। हमने सब कुछ छोड़ा; गुरुजन-लज्जा आदि सबको तिलाञ्जलि दी। तब जन्म-जन्म की तपस्या से वह प्राणाधार आज प्राप्त हुए थे, परन्तु हम प्राप्त न कर सकीं। देखो सखि! तुलसि! हमारे साथ कोई उपद्रव नहीं और आपके साथ ये भौंरे के झुण्ड मँडरा रहे हैं, इतने पर भी यह आपका ही सौभाग्य है जो इन सबके साथ वे देवकीसुत आपको धारण किये रहते हैं। हम तो अलि-कुल-माला से व्याप्त नहीं हैं–अलिकुलसंकुल नहीं हैं, फिर भी दर्शन तक नहीं देते, छिपते फिरते हैं। आप अति प्रिय हो। प्रिय लक्ष्मी भी है। उनके वामवक्ष पर वामावर्त्त सुवर्णरोमराजी भी लक्ष्मी ही है। "**हारहासउरसि स्थिरविद्युत्**····" वह वहाँ लता की तरह विराजमान है। परन्तु सखि, आप उनसे भी बढ़कर हो, आप सर्वाङ्ग-व्यापिनी हो–दोनों वक्षःस्थलों पर विराजती हो, वह भी भौंरों के साथ। इससे लक्ष्मी अवश्य नाराज होती होंगी—'मेरी छाती पर सौत बिठा दी।' सो यहाँ तो साक्षात् ही तुम्हें धारण करके सौत बैठा दी। देवकृत भगवत्स्तुति से भी प्रसङ्ग पुष्ट होता है—

"पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं संस्पर्द्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो भूयात् सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः॥"
(भागवत, स्कं० ११, अ० ६, श्लो० १२)

श्रीलक्ष्मी के लिये सापत्न्यभाव के विषयवाली उस सूखी वनमाला से सम्पादित भक्त के पूजन को सुसम्पादित–बहुत उत्तम माननेवाले हे प्रभो, आपका चरणारविन्द हमारे पापों को नष्ट करे। वनमाला वन्यपुष्पस्तवकों की बनी है, उसमें तुलसी मिश्रित है—

"तुलसीकुन्दमन्दारपारिजातसरोरुहैः ।
पञ्चभिर्ग्रथिता माला वनमाला प्रकीर्तिता॥"

वह इस समय बासी हो चुकी, कुरकुराती है, चुभती भी है, परन्तु वह भक्त की पहिनायी हुई है, उसे जब तक भक्त ही नहीं उतार दे, प्रभु नहीं उतारते। लक्ष्मी उससे प्रतिस्पर्द्धा करती है—'**प्रस्पर्द्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।**' भगवान् लक्ष्मी की नाराजगी की परवाह न करके उसे धारण किये हैं। 'पर्य्युष्टया—पर्युषितया (इडभावश्छान्दसः) 'वशकान्तौ' से बना है। यह तुलसीमाला सर्वाङ्ग में कान्तिमती बनकर विराजती है। व्रजाङ्गना कहती हैं—अतः तुम अतिप्रिया हो तुलसि! वैसे सर्वाधिकसौभाग्य श्रीरासेश्वरीजू आदि का ही है, पर इस समय अपने सौभाग्य को भूलकर साधारण के प्रेम को सिहाती है। पीछे भी कहा—"**पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय पदाब्जराग श्रीकुंकुमेन दयितास्तनमण्डितेन**..." सखि, हम तो अपूर्ण हैं, '**पुलिन्द्यः पूर्णाः**' दयितास्तनमण्डितकुङ्कुमसंलग्न पाद से प्राणधन दूर्वा में घूमे, इससे वह कुंकुम दूर्वा में लग गया, उसे सुन्दर पाकर पुलिन्दियों ने अपने शरीर में लपेट लिया। वे कृतकृत्य हो गयीं। परन्तु इससे उनके मन में स्मर का (स्मरणं स्मरः) उद्रेक हुआ। पुनः उसी कुंकुम को लगाकर उन्होंने उसे दूर किया। अतः वे धन्य हैं। हम तो अनन्त काल से उसका सेवन कर रही हैं, फिर भी कृतकृत्य न हुईं।' इस प्रकार ये सब गोपाङ्गना अपने को भूलकर प्रेमविभोर बनी ऐसा कह रही हैं।

इस पर एक प्रसङ्ग और भी है—"**जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि**" आपके जन्म से व्रज का सौभाग्य खूब बढ़ा, वह सर्वदेशशिरोमणि माना गया। श्रीलक्ष्मी यहाँ श्रीश्यामरूप में अवतीर्ण श्रीविष्णुदर्शनार्थ ही केवल नहीं आयीं, अपितु वह शाश्वत नित्य यहाँ रहती हैं। वह अपने पतिदेव के दर्शन की लालसा अथवा व्रजवासियों की सेवा के निमित्त व्रज में सदा रहती हैं। यहाँ '**श्रयते**' यह आत्मनेपद है। इसका अभिप्राय यह कि यहाँ श्रयण का फल कर्तृगामी, आत्मगामी है। अर्थात्, श्रीरमा अपने को सौभाग्यशालिनी बनाने के लिये व्रज में नित्य ही निवास करती हैं। वैकुण्ठ में श्रीनारायण के समीप तो वह 'श्रयते' सेव्या है। यहाँ सेविका है। इन भावों से यह स्पष्ट है कि—श्रीराधा तथा उनके लोमकूपों से उत्पन्न नित्यसिद्धा आदि सखी लक्ष्मी से कहीं अधिक बढ़कर हैं। पर वे इस समय अपने को भूलकर वैसा कह रही हैं। हाँ, तो व्रजाङ्गना तुलसी से कहती हैं—आप लक्ष्मी से भी बढ़कर हो, आपको श्यामसुन्दर ने अपना समस्त वक्षःस्थल समर्पित कर दिया। '**गोविन्दचरणप्रिये**' पद में चरण का अर्थ आचरण-चेष्टा या लीला है "**गोविन्दस्य चरणम्-आचरणम्, चेष्टा, लीला वा प्रिया यस्या सा तत्सम्बुद्धौ**" जिसका आशय यह हुआ कि—हे तुलसी, आपको श्रीगोविन्द की लीला अत्यन्त प्रिय है। आपको सापत्न्यभाव भी है। श्रीश्यामसुन्दर के कम्बुकण्ठ में विराजमान मुक्तावैजयन्ती आदि किसी (माला) से आपको द्वेष भी नहीं है। आप कल्याणी हैं। आप श्यामप्रिया हैं। हमें बताओ, आपने उन्हें कहीं इधर देखा है?

हे तुलसि, आप स्वयं मङ्गलमयी हो, अपने आराधक को, भक्त को भी माङ्गल्य प्रदान करती हो। जो भक्त आपको श्रीकृष्ण भगवान् के श्रीकण्ठ में, श्रीचरण में समर्पित करते हैं, उन्हें आप उनसे मिला देती हो, आप कल्याणी हो। हमें भी बतलाओ, श्रीश्यामसुन्दर किस तरफ निकल गये हैं? हे सखि! आपको श्रीगोविन्द के चरण और आचरण, लीलादि भी अति प्रिय हैं। हम सबको भी वे श्रीगोकुलेन्द्र गोविन्दचरण तो अवश्य प्रिय हैं, परन्तु यह उनका आचरण प्रिय नहीं है—जो हमें वियोगिनी बनाकर छिप गये हैं। सखि! आपको उनके वियोग का कभी अवसर ही नहीं आया। कारण कि आप सौभाग्यवश अनुकूल आचरण में ही रहीं। जब आप वृन्दा थीं तब भी अनुकूल आचरण में रहीं। हम तो आर्यधर्मादि को त्यागकर उन्हें चाहती हैं तब वे मिलते नहीं। पर आप नहीं चाहती थीं तब भी जालन्धर वेश से उन्होंने आपको ग्रहण किया। अन्त में वर भी दिया—'कभी विप्रयोग न होगा।' भोग लगने के समय और सब हट जायँ, भोग राग में कमी हो जाये, पर आप नहीं हट सकतीं, आपकी कमी नहीं हो सकती। आपके बिना भोग ही नहीं लग सकता। देखो सखि तुलसि! आपको मकरन्दलोभी भ्रमरों से संकुलित होने पर भी भ्रमरों की गुनगुनाहट और लक्ष्मी की नाराजगी की परवाह न करके भी उन्होंने धारण किया है। एतावता यह भी बतलाया कि—'आप बहुवल्लभा हैं—(**बहवो वल्लभा यस्याः**) तब भी वे आपको धारण किये हैं। पहले 'वृन्दा' रूप में जालन्धर तुम्हारा वल्लभ था। अब ये मधुलम्पट मिलिन्दवृन्द मकरन्द पान के लिये आपको घेरे हैं। फिर भी सखि, आपको श्रीश्यामसुन्दर धारण किये हैं। हम तो हे तुलसि! एक वल्लभा हैं, लोकधर्म, कुलधर्म, सब कुछ त्यागकर, अपना सर्वस्व उनपर न्योछावर करके उन्हें, केवल उन्हें ही स्वीकार कर चुकी हैं, पर फिर भी वे हमें दर्शन तक नहीं देते। इससे तो उनका सब आचरण आपके अनुकूल पाया जाता है। अतः आप अच्युत की परमप्रेयसी हो। अतएव वे आपसे सदा अच्युत (अविश्लिष्ट) रहते हैं। अतएव जाना जाता है, आपका बहुत शुद्ध और गाढ प्रेम है।

अथवा '**गोविन्दचरणप्रिये**' श्रीगोविन्द का चरण हो प्रिय है जिन्हें ऐसी आप हो। हे तुलसि! आपने प्रथम से ही दैन्यभाव का आश्रय लिया—श्रीश्यामसुन्दर के श्रीचरण को अङ्गीकृत किया–दास्यभाव से, दासी होकर, मानिनी या कान्ता बनकर नहीं। आपमें किसी भाव का गर्व नहीं, औद्धत्य नहीं, अतएव "**तेऽतिप्रियोऽच्युतः।**" कभी उनसे आपका विश्लेष नहीं। हममें तो सखि तुलसि! 'मान' है और यह बड़ा दोष है। यह इसीका फल है जो हमें आज असह्य विप्रयोग हो रहा है। आप गोविन्दचरणप्रिया हो। जिन्हें श्रीचरण प्रिय होते हैं—उन्हें कभी वियोग नहीं होता। यही विशेषता है। यही दास्यभाव की महिमा है। श्रीमद्वल्लभाचार्यजी का कथन

है—श्रीचरणरज से ही भक्त बनते हैं। अतः उनका श्रीभगवान् से विश्लेष नहीं होता। यह उस रज में खास बात है। अतएव कहा भी है—

"श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या, लब्ध्वापि वक्षसि परं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासस्तद्वद्वयञ्च तव पादरजः प्रपन्नाः॥"

(भाग०, स्कं० १०, अ० २९, श्लोक ३७)

कृपा करके श्रीभगवान् ने लक्ष्मी को अपने वक्षःस्थल पर स्थान दिया। यह नायिका का परम सौभाग्य है। पर लक्ष्मी डरती रही। वह जानती थी—श्रीचरणाम्बुज रज के बिना वियोग हो जाता है। अतः इतना ऊँचा स्थान पाकर भी उसने चरणरज ही चाहा, इसके लिये उसने तपस्या की — "...**यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत्तपः**...।" पहले भी श्रीलक्ष्मी का ऊँचा ही स्थान था, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त उसके अपाङ्गमोक्ष की—जरा सा देख देनेभर की—कामना किया करते थे। इसपर भी उसे सन्तोष नहीं था। अपने कमलों के कोमल भवन को छोड़कर, श्रीभगवान् के पाद-पङ्कजरज को ही उसने उत्तम आश्रय समझा—

"ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन् भगवत्प्रपन्नाः।
सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥"

इस प्रकार श्रीमन्नारायण के विशाल वक्ष को—निःसपत्न स्थान को पाकर भी श्रीलक्ष्मी उनके सपत्न स्थान श्रीचरणों को ही चाहती रहीं। श्रीभगवान् के चरणारविन्द की महिमा ही ऐसी है। उनके चरणों में विराजमान वनमाला के गुच्छ आदि से उत्थित, मकरन्द से मिश्रित वायु का झोंका सनकादि के नासाविवर में जाते ही उनके चित्त और तनु दोनों में क्षोभ उत्पन्न कर देता है। बरबस ब्रह्मचिन्तन से उनका मन चंचल हो जाता है—

"तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्दकिञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥"

उसी महत्व को समझकर श्रीमहालक्ष्मी तुलसी के साथ -सपत्नी के साथ भी श्रीभगवान् के चरणरज को ही चाहती हैं। अतएव तुलसी, दीर्घदर्शिनी तुलसी पहले से ही उस महामहिमपदाम्बुज को ग्रहण किये रहती है। क्योंकि लक्ष्मी को सदा यह भय रहता है कि कोई श्रीमद्भगवच्चरणरजउपासक महातपस्वी मुझे अपने वश में न कर ले। इसलिये श्रीमद्भगवद्विप्रयोग से बचे रहने के लिये वह निरन्तर उनके पादाम्बुजरज में संलग्न रहती है। तुलसी इस बात को समझती है, अतः वह पहले ही से उन चरणों में लिपटी रहती है। तभी श्रीश्यामसुन्दर उसके लिये अच्युत हैं। इस प्रकार जो चरणप्रिया है, वही प्रियतम के वक्षःस्थल पर स्थान पाती है।

इसी प्रसङ्ग पर एक दूसरी दृष्टि से व्रजाङ्गनोक्ति है—सखि तुलसि ! ये मधुव्रत जो गुञ्जारव कर रहे हैं यह वस्तुतः आपका यशोगान कर रहे हैं। सखि ! आपको तो

क्या, आपके कारण आपके अनुरागी भौंरों तक को भगवान् श्यामसुन्दर नहीं हटाते। अथवा ये भ्रमर क्या हैं ? ये उनकी मूर्तिमती अभिलाषा हैं; क्योंकि वे श्यामल हैं, अतः ये भी श्यामल हैं। हे तुलसि, आपने उन्हें ऐसा वश में किया है कि वे अपने मनोरथों को मूर्तिमान् बनाकर उनके द्वारा आपका यशोगान किया करते हैं और आपका मकरन्द पान किया करते हैं। आप धन्य-धन्य हो। सखि ! हमें भी उनसे मिला दो—गोविन्दचरणप्रिये ! हम तो श्रीमुखचन्द्र की अधरसुधा की पिपासु हुईं, मानिनी हुईं, अतः भटक रही हैं। सखि, आप चतुर हो। अथवा—

"कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सह त्वालिकुलैर्बिभ्रद्दृष्टस्तेऽति प्रियोऽच्युतः॥"

हे तुलसि, हम लोग तो ऐसी हतभागिनी हैं कि हमपर श्री श्यामसुन्दर सदा 'अच्युत' रहते हैं—कभी भी कृपा से-प्रेम से-द्रवीभूत नहीं होते। आप बड़ी सौभाग्य-शालिनी हो। अनुकम्पा करके हमें बतलाओ, आपने उन प्राणजीवन को इधर कहीं देखा है ? अथवा 'गोविन्दचरण' में 'चरण' पद आदरार्थक है, जैसे—गुरुचरण, पितृ-चरण; इसके अनुसार—परम आदरणीय गोविन्द गोकुलेन्द्र जिसे प्रिय हैं वह तुलसी उनको अतिप्रिया है। अतः कभी भी उनसे उसका वियोग नहीं है। अथवा—**"गोभिः श्रुतिभिः विन्द्यते—प्राप्यते यः स गोविन्दः"** अर्थात् जो वेद के द्वारा प्राप्त किया जा सके वह हुआ गोविन्द, कहा भी है—**"वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम्...."** अर्थात् वेदशास्त्र के महातात्पर्य का विषय ही अत्यन्त प्रिय है जिसे, ऐसी हे तुलसि ! आपने यहाँ कहीं उन मनमोहन को देखा हो, बताओ। आपको उनसे बड़ा प्रेम है। देखो, अभी-अभी उन्होंने अपनी वनमाला में आपको नोंचकर लगाया है। अभी इधर गये हों, बता दो। यहाँ जिससे वे पूछ रही हैं, वह तो तुलसी का क्षुप है और यह यहाँ लगा है। इससे इस समय श्रीकृष्ण का कोई सम्बन्ध नहीं।

व्रजाङ्गना भी इस बात को जान रही हैं, तब उनकी यह सब प्रश्न-परम्परा श्रीचरणधृत तुलसी से होगी। परन्तु वह तो उन्हें दीखती ही नहीं; तब प्रश्न वे किससे कर रही थीं ? ऐसे संशय पर यह समाधान समझना चाहिये कि जङ्गल में खड़ी तुलसी की सजातीय श्रीचरणधृत तुलसी से गोपाङ्गनाओं ने प्रश्न किया। श्रीकृष्ण इधर से निकले तो उनके साथ वर्त्तमान तुलसी इस तुलसी से मिलती गयी इससे इस वनस्थ तुलसी को यह भी मालूम हो गया कि श्रीश्याम इधर पधारे हैं। अब वह गोपाङ्गनाओं को उत्तर दे, न दे, यह बात दूसरी है। परन्तु इन दृष्टियों से प्रष्टव्यता उसमें अवश्य है।

अब तुलसी से मानिनी गोपाङ्गना पूछती हैं—'हे सखि, उन अतिप्रिय श्याम को तुमने इधर कहीं देखा हो तो बतलाओ। हाँ, वे अतिप्रिय हैं, हमारे जैसी पर-

प्रेयसियों का अतिक्रमण करके आ गये हैं। वे तुमपर मुग्ध हैं, विभोर हैं। ऐसे मुग्ध कि संसार की समस्त वस्तुओं का, प्रिय वस्तुओं का, अतिलङ्घन उन्होंने कर डाला और मधुर मधुपमूर्ति बनकर तुम्हारे पास चले आये। सखि! तुमने उनके चित्त को खूब आकृष्ट किया।' इस प्रकार यहाँ मानिनीउक्तिप्रसङ्ग में 'अतिप्रिय' पद में एक ही समास को भिन्नार्थक करके दो चमत्कारिक अर्थों की सृष्टि है—(**अतिक्रान्ताः प्रियाः अस्मादृशोऽपि येन सः तथा अतिक्रान्तं प्रियं जगद्वस्तुमात्रं येन सः**)। 'फिर सखि! तुम कल्याणी हो, तुम्हारी जो पूजा करते हैं, उनका तुम कल्याण करती हो। हम भी पूजा करती हैं, कहो, 'मनमोहन' किधर गये हैं?'

लौकिक दृष्टि से भी उन सर्वमनोहर मोहन का मन हमपर कृपालु हो अथवा हमारा मन उनमें लग जाय यह चाहते ही हैं, बात एक ही है। परन्तु स्थिति यह है कि चाहने पर भी नहीं लगता। श्रीविष्णु के द्वारा जालन्धररूप लेकर वृन्दा का पातिव्रत भङ्ग करने की शङ्का बहिर्भूतों की है। वैसे जालन्धर श्रीविष्णु का अंश था और वृन्दा श्रीराधा का अंश। केवल अपूर्ण स्वरूप में आसक्त अपने भक्त को छल से, बल से जैसे बने भगवान् अपने पूर्णरूप में ग्रहण करते हैं। सब सती चाहेंगी कि वृन्दा का महत्व प्राप्त हो, हमारे मन को भगवान् स्वीकार करें। वस्तुतः सब धर्मों का तात्पर्य ही यह कि श्रीश्यामसुन्दर बलात् हमें चाहें। नहीं तो कौन चाहता है कलत्र, पुत्र, वित्त से चित्त हटाना? स्त्री यदि जार में मन ले जाय, तो कभी उसका उद्धार नहीं। पतिप्रेम तो शालग्रामबुद्ध्या सेव्यमान परमपुरुष को प्राप्त करना है। परमपति को प्राप्त करने के लिये ही पति की पूजा है। इसी स्वधर्मबुद्ध्या क्रियमाण कर्म से प्रभु प्रसन्न होकर स्वात्मसमर्पण करते हैं। तभी वे अमूर्त मनोरथों को मूर्त्त मिलिन्द बनाकर वृन्दा के तुलसी के मकरन्द का पान करते हैं। इन दृष्टियों से तुलसि! तुम्हारा बहुत महत्व है, श्रीश्याम तुम्हारे वश में हैं। अतः इधर आये हों तो बतलाओ सखि! जरा हम भी उन चतुर चोर का दर्शन तो करें।

जब व्रजाङ्गनाओं ने देखा, 'हम इतनी देर से इसको मना रही हैं, मिन्नतें कर रही हैं पर यह जरा भी नहीं पिघलती, देखती तक नहीं।' तब वे निराश हो गयीं। उनमें असूया उत्पन्न हो गयी—वे अब तुलसी के उन्हीं गुणों में दोष देखने लगीं—'सखि! यह बड़ी गर्वीली है, इसे अपने श्याम के अतिप्रियत्व का बड़ा अभिमान है। क्यों नहीं, इसका नाम ही आखिर 'तुलसी' ठहरा—"**तुल्याः (न अस्मान्) स्यति (खण्डयति) इति तुलसी।**" जिन श्यामसुन्दर में यह रत है, हम भी उनमें अनुरक्त हैं। अतः हमें सोते समझकर हमारा खण्डन कर रही है। सखि, यह तो दासी थी—चरणाधिकारिणी है। पर देखो उन साँवरे मोहन का अन्याय कि उन्होंने सेविका को प्रेयसी का स्थान दिया है। अस्तु, दासी को प्रेयसी बनाया सो तो बनाया, पर यह भी नहीं सोचा कि 'यह नायकों से घिरी है।' इस रूप में तो यह

हमारे हृदयों को टूक-टूक कर रही है। हाय, जिसपर हमारा अधिकार है, उसीको इसने अपने वश में कर लिया। यह तुलसी कल्याणी अर्थात् भद्रा है। '**विचरति भद्रा त्रिभुवनमध्ये**।' नाममात्र ही भद्रा है, वस्तुतः है यह भी अभद्रा ही। भरणी, भद्रा से लोग बचते हैं। हाँ, सम्प्रयोग में यह भद्रा कल्याणी अवश्य है।' कुछ व्रजाङ्गना कहती हैं—'सखि, जाने दो; यह तो भगवदीया है। उनकी रुचि के बिना यह हमें उनका पता न देगी, क्योंकि यह अतिप्रिया है। अतः चलो, इसकी सौतों से पूछें—वे इससे दुःखी होंगी, अवश्य पता देंगी।'

(**मालत्यदर्शि नः कच्चित्**) यहाँ एक साथ मालती आदि कई के नाम हैं। वस्तुतः अनन्तनामवाली दास्यभाववती ये सखी हैं। 'प्रिय सखि! मालति, तुम जानती हो इधर से कहीं श्यामसुन्दर निकले हैं, तुमने देखा है?' मालती को प्रफुल्लित देखकर उससे मकरन्द गिरता देखकर व्रजाङ्गना कल्पना करती हैं और उससे कहती हैं—'सखि! मालति! तुम्हें श्रीश्याम के दर्शन अवश्य हुए हैं तभी तो तुम्हारे विकसित सुमनों से सौमनस्य झलक रहा है। सखि! तुमने उन्हें देखा ही नहीं, किन्तु उनका स्पर्श तो तुम्हें अवश्य प्राप्त हुआ है, तभी तो यह तुम्हें मुकुलित भाव के बहाने रोमाञ्च हो रहा है, क्योंकि श्रीश्याम के अङ्गसङ्ग के बिना रोमाञ्च हो नहीं सकता। अगर हो सकता है तो उनके स्पर्श से ही। यह अन्वयव्यतिरेक से ही दीख रहा है। इसके अतिरिक्त ये मकरन्दबिन्दु भी गिर रहे हैं। अरे, ये मकरन्दबिन्दु नहीं, ये तो स्पष्ट ही आनन्दाश्रु हैं। सखि! बस, अब हमसे मत छिपाओ, यह सब चमत्कार तो उन श्रीश्यामबिहारी के दर्शन आदि के बिना नहीं हो सकता।' इससे व्रजाङ्गनाओं को श्रीकृष्ण का स्मरण आ गया, वे बीच में उन्हें ही उपालम्भ देने लगीं—

"का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतमूर्च्छितेन संमोहिताऽऽर्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।...."

(भाग०, स्कं० १०, अ० २९, श्लो० ४)

(इसका विशेष व्याख्यान पीछे हुआ है।) 'हे मोहन! आपके कलपदायत से, मधुर सङ्गीतलहरी से, कौन देवी-दानवी तक, जड़-चेतन तक मोहित होकर आर्य-धर्म से विचलित न हो जायगी? सूर्य से जैसे दिन, आपके रूप से वैसे ही संसार में सौभग सौन्दर्य है। आपके दर्शन के लिये गायें भी, पशु भी, लालायित रहते हैं—

"गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-पीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयः कवलाः स्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥"

(भाग०, स्कं० १०, अ० २१, श्लो० १३)

वे आपके मुख से निकले वेणुगीतपीयूष का अपने कर्णरूप दोनों पानपात्रों को सावधानी से उठाकर पान करती हैं। वे अपने बाहुओं से आपका सुस्पर्शसौख्य लेने में असमर्थ हैं, क्योंकि उनके बाहु इस योग्य नहीं। अतः सजल नेत्ररन्ध्रों से

आपकी मधुर मूर्ति को हृदय में पधराकर (हृदि स्पृशन्त्यः) उसका वे निर्विघ्न आलिङ्गन करती हैं और दूध पी रहे उनके बछड़े आपको देखकर वेणुनाद सुनकर चकित रह जाते हैं, स्तनों से बहते और मुख में गये दूध को पीना भूल जाते हैं, अतएव वह बाहर यों ही झरने लगता है। हरिणियों की भी यही दशा है--

"धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेशम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सह कृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥"

वे एक तो पहले ही मूढमति हैं, फिर नन्दयशोदानन्दन श्रीश्यामसुन्दर को विचित्र वेशधारी देखकर और उनके विचित्र वेणुनाद को सुनकर अपने पतियों के साथ और भी मूढमति हो जाती हैं, सुधबुध भूल जाती हैं। इसी विभोर दशा में वे प्रणयावलोकन से अपनी समस्त सम्पत्ति से उनकी पूजा करती हैं, वे धन्य हैं। 'हाँ, तो सखियो! इसमें जो ये रोमावली आदि हैं, यह सब उन्हीं श्रीश्याम के दर्शन और स्पर्श का फल है। वृक्षों में, लताओं में रोमावली उनके स्पर्श बिना नहीं हो सकती। सखि मालति, हमें इन लक्षणों से पता लग गया, वे तुम्हारे पास होकर गये हैं। इतना ही नहीं, तुम दासी को तत्रापि पुष्पिणी (रजस्वला) को स्पर्श करते हुए गये हैं। बतलाओ सखि! किस तरफ गये हैं?' यों परिहास भी करती हैं, पूछती भी हैं।

व्रजाङ्गनाओं को श्रीकृष्ण के वियोग में धैर्य नहीं है। वे चाहती हैं--किसी प्रकार से जल्दी पता मिले। अतएव एक साथ ही कई से पूछ जाती हैं--"**मल्लिके, जातियूथिके**···" इससे उनका अधैर्यद्योतन होता है। एक-एक से प्रश्न करना, उत्तर सुनना धैर्य का काम है। पर वे चाहती हैं—'कोई भी दयावती जल्दी बतला दे। लताओं की ओर से मानो प्रश्न है--'हे व्रजाङ्गनाओ! हम तो जड़ हैं, प्रेमोन्माद में तुम हमसे प्रश्न कर रही हो।' इसपर व्रजाङ्गना कहती हैं—'तुम झूठ बोलती हो, रहस्य को छिपाती हो, परन्तु तुम्हारा यह पुष्पविकास, यह मकरन्दस्राव, तुम्हारी मानसप्रफुल्लता और आनन्दाश्रु को स्फुट ही बतला रहा है। यह सब श्रीश्यामसुन्दर सम्पर्क को बिना पाये नहीं हो सकता। यह चमत्कार उसीमें है। हम लोग, हे लताओ! यह सब अनुभव कर चुकी हैं। यह कल्पना अपने विषय में मत करो कि हम जड़ हैं, तुम लोग जड़ नहीं, बड़ी चतुर हो। बतलाओ, श्रीश्यामविहारी किस ओर गये हैं?'

श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के ऐश्वर्यमाधुर्य पर एक दृष्टि डालने से सहज ही उनके सम्पर्क का महत्त्व ज्ञात हो जायगा। श्रीभगवान् के ऐश्वर्य की तुलना अतुलनीय है। कहा है—"**स्वयन्तु**····**किरीटकोटीडितपादपीठः**···" स्वयं अद्भुत ऐश्वर्यवान् हैं। वह भी ऐसे कि किसी के साथ समानता ही नहीं बनती—असाम्यातिशय है—"**न तत्समश्चाभ्यधिकः**" उनके जैसा तीनों लोक में कोई नहीं। स्थूल, सूक्ष्म और

कारण जगत् के वे महान् अधिपति हैं और हैं—"**स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।**" (**स्वेनैव राजते दीप्यते**) किसी दूसरे के प्रकाश से नहीं, अपने ही प्रकाश से—स्वतः-प्रकाश से प्रकाशमान तथा उसीसे पूर्णकाम । जैसे समुद्र अपने ही जल से पूर्ण है । इन्द्र, महेन्द्र देवाधिदेव आकर उन पूर्णतम प्रभु को नमस्कार करना चाहते हैं—उनके चरणों में अपना मस्तक रखना चाहते हैं । परन्तु उन्होंने अपने मस्तकों पर जो मुकुट किरीट धारण किये हैं, वे बहुत कठोर हैं और श्रीप्रभु के चरण बहुत ही कोमल हैं । अतः उनमें गड़ जाने के डर से रत्नमय पादपीठ को (पाँव रखने की चौकी को) ही वे लोग प्रणाम करते हैं । अथवा महत्वातिशयवश प्रभु के चरणों तक अपने मस्तक को ले जाने की हिम्मत नहीं होती, अतः पादपीठ पर ही उसे छुआते हैं । अथवा अपनी लघुता बतलाने के लिये पादपीठ पर ही किरीटवेष्टित मस्तक को रखते हैं । किरीटों के पादपीठ पर रखे जाने से खट-खट शब्द होता है, वह मानो किरीटकृत स्तुति है । अर्थात् श्रीभगवान् के पादस्पर्श को पाकर जड़ चौकी में ऐसी चेतनता—विलक्षण चेतनता—आ गयी कि जिसके क्षणिक स्पर्श से किरीट जैसे जड़ पदार्थ भी बोलने लगे, वह बोलना भी सामान्य नहीं, अपितु स्तुति के रूप में, जहाँ गुणगणाढ्यता के साथ चातुर्य की परम अपेक्षा है । यों इन्द्रलोक, रुद्रलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोकादि के देवाधिपति बड़े भय, आदर और हर्ष से स्तुति करते हैं, तथा महामहामूल्यवान् उपहार लेकर उनके श्रीचरणों में समर्पित करते हैं । कहाँ तो यह उच्चदृष्टि, यह ऐश्वर्य और कहाँ हरिणियों की पूजा ? जिन्होंने वेद, वेदान्त नहीं पढ़ा, षट्दर्शन का अभ्यास नहीं किया, उपास्यस्वरूप समझना जिनके लिये कठिन है, उन्होंने दर्शन से—केवल दूर के दर्शन से पूजा की और धन्यवाद की पात्र बन गयीं—

"धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेशम् ।
आकर्ण्य वेणुरणितं सह कृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥"

इसपर श्रीमद्वल्लभाचार्यजी का कथन है—वस्तुतः ऐश्वर्य की सच्ची पराकाष्ठा तभी समझी जा सकती है, जब सभी वर्ग के लोग धनी, गरीब, पण्डित, मूर्ख समान भाव से आराधना कर सकें । ये हरिणी केवल प्रेम से अवलोकन करके ही पूजा कर सकती हैं । इनके पास और कुछ पूजा सामग्री ही नहीं है और न ये उसे जुटा सकने में समर्थ हैं । श्रीभगवान् ने इनकी इसी पूजा को स्वीकार किया और इनका सत्कारात्मक प्रतिपूजन भी किया । पूज्य को कोई पुष्कल भेंट समर्पण करके पूजा करे यह बात नहीं है, साधारण वस्तु से भी उनकी पूजा हो सकती है, केवल भाव की गाढ़ता चाहिये । भगवान् ने स्वयं कहा है —

"भूर्यप्यभक्तोपहृतन्न मे तोषाय कल्पते ।
अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्य्येव मे भवेत् ॥"

अर्थात्; अभक्त के द्वारा बहुत भेंट की गयी वस्तु मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती, परन्तु भक्तों के द्वारा प्रेम से, श्रद्धा से समर्पित की गयी थोड़ी-सी अणुभर भी–वस्तु प्रेम से, प्रेम की महिमा से–मेरे लिये बहुत अधिक हो जाती है। श्रीसुदामा के तन्दुल श्रीश्यामसुन्दर के योग्य थोड़े ही थे, परन्तु श्रीभगवान् ने उन्हें जबर्दस्ती छीन लिया। यद्यपि श्रीसुदामा के दुपट्टे के कोने में उनकी ब्राह्मणी ने श्रीकृष्ण के भेंट के लिये ही पड़ोसिन से माँगकर उन मुट्ठीभर तन्दुल को बाँध दिया, तथापि श्रीकृष्ण का वह महाराज-भाव, वह ऐश्वर्य देखकर उनकी हिम्मत छूट गयी। वे उन तन्दुलों को भेंट करने में समर्थ न हुए। पर भगवान् कब चूकनेवाले थे, वे तो उस स्वाद के भूखे थे। श्रीरुक्मिणी, श्रीसत्यभामा के द्वारा निर्मित विविध व्यञ्जनों में उन्हें वह स्वाद नहीं मिला था। उन्होंने छीन-झपटकर वह तन्दुलों की मुट्ठी ली। बल्कि इसी छीना-झपटी में बेचारे ब्राह्मण का दुपट्टा भी फट गया! श्रीमद्वल्लभाचार्यजी ने इसका यों उपपादन किया है—

"प्रेम्णा समर्पितं वस्तु हृदयेन समर्पितं भवति।
हृदयेन समर्पितञ्च तत् हृदयेनैव गृह्यते॥"

प्रेम से समर्पित वस्तु हृदय से समर्पित होती है और हृदय से समर्पित वस्तु हृदय से गृहीत होती है। "युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम्।" नैयायिक मन को, हृदय को (स्वान्तं हृन्मानसं मनः इत्यमरः) अणु परिमाण-परिमित मानते हैं। अणु से ग्रहण करने पर मुष्टिमान तो बहुत है—एक तन्दुल भी पर्याप्त होगा। प्रेमरहित समर्पण बाह्य समर्पण है। उसे प्रभु महाविराट् के अपने बाह्यस्वरूप से ग्रहण करते हैं। आकाश के पेट को कौन भरेगा? अतएव "भूर्य्यप्यभक्तोपहृतन्न मे तोषाय कल्पते" कहा है। प्रेम से समर्पित वस्तु के साथ सुस्वादुता की भी कोई अभिसन्धि नहीं है—

"पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥"

फल खाने की वस्तु है, जल भी खा लें। पर क्या पत्र, पुष्प भी खाये जाते हैं? वे तो सूंघने की वस्तु हैं। किन्तु भगवान् भक्त के सद्भाव में, गाढ भक्ति में मुग्ध हो जाते हैं, खाने और सूंघने की बात को भूल जाते हैं। भावुक की समर्पित वस्तुएँ प्रेम-रसपरिप्लुत होती हैं। वे सब एक मुरब्बा बन जाती हैं। ऐसी थोड़ी भी वस्तु हो जाती है, फीकी भी मीठी हो जाती है। उस समय भक्त भी विभोर हो जाता है, केले की फली को छोड़कर छिलके को निवेदित करने लगता है।

परन्तु हरिणियों के पास यह सब कहाँ? वे तो केवल प्रेमभरे नेत्रों से देखना जानती हैं। उनका सर्वस्व यही है। उन्होंने अपने वीक्षण से ग्वाल-वेशधारी छैल-छबीले भगवान् का पूजन किया। उन रसिकचूड़ामणि भगवान् को हरिणी के नेत्र देखकर हरिणाक्षी-प्रेयसी का स्मरण हो आया। यही हरिणीकृत पूजन हो गया।

प्रियतम का स्मरण कराने से बढ़कर और क्या पूजन होगा ? भगवान् ने उनके इस पूजन को अङ्गीकृत किया और प्रतिपूजन में–बदले में–उन्हें देख लिया। हरिणियों का यह पूजन, कर्म से नहीं, ज्ञान से था। देखना ज्ञान है। यही तो ऐश्वर्य है कि छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े अवस्थानुसार प्राप्त साधनों से सभी पूजा कर सकें। भगवान् के माधुर्य की भी यही स्थिति है। उनके माधुर्य पर देवाङ्गना मुग्ध हो गयीं। जब देवर्षि, महर्षि, वीतराग, मुनीन्द्र-योगीन्द्र सब आपके लोकोत्तर लावण्य पर लट्टू हो गये, ज्ञान-ध्यान सब उड़ गया, तब सरस, सहृदय गोपीश्वरी आदि की तो बात ही क्या ? आपके माधुर्य्य में इतना वैलक्षण्य है कि और तो मुग्ध हों सो हों ही, पर आप स्वयं भी उसे निहारकर मन्त्रमुग्ध हो गये—

"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्।
विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥"

(भाग० ३।२ १२)

इसमें "**विस्मापनं स्वस्य च**' कहा है। इसका अभिप्राय यही है कि वह भगवद्बिम्ब स्वयं भगवान् को भी आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला था। लोक में सौन्दर्य-सम्पादन की सामग्री अलङ्कार हैं, गहने-कपड़े हैं। इनसे अङ्गों की शोभा बढ़ती है। परन्तु श्री भगवद्विग्रह तो—'**परम्पदम्भूषणभूषणाङ्गम्**' है। प्रभु का मङ्गलमय स्वरूप, उसका एक-एक अङ्ग भूषणों को भी भूषित करनेवाला है, भूषण का भी भूषण है – (भूषणभूतानि अङ्गानि यस्य तत्) मोरमुकुट, बाँकी लकुट, कारी कामरो, गुञ्जामाला, वनमाला अथवा कौस्तुभमणि आदि श्रीअङ्ग में धृत होकर अपनी शोभा पाते हैं। कहा है—

"वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम्।
कण्ठञ्च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य॥"

(भाग०, स्कं० ३, अ० २८, श्लोक २६)।

इन कौस्तुभादि मणियों पर अनुकम्पा करके मानो इनकी तपस्या पर प्रसन्न होकर प्रभु ने इनको अङ्गीकृत किया, नहीं तो श्रीप्रभु को अपने निमित्त इनकी कोई आवश्यकता नहीं है, वे निरपेक्ष हैं—"**निर्गुणं मां गुणाः सर्वे भजन्ति निरपेक्षकम्।**" भूषणों का यद्वा गुणों का आधान महत्व के लिये, मङ्गल के लिये अथवा अनर्थ निवारण के लिये ही होता है। प्रभु को इनकी अपेक्षा ही नहीं है। श्रीरामावतार में सब शकुन अपने को सफलजन्मा बनाने के लिये उद्भूत हुए। प्रभु के मङ्गलमय कार्यों में प्रवृत्त होना ही उनकी सफलता है। ऐसे ही श्रीअङ्ग के सङ्ग से भूषणों को महत्ता है, अन्यथा वे सब दूषण ही हैं। ऐसे अपने लोकातिशायी रमणीय रूप पर आप स्वयं ही ऐसे मुग्ध हुए कि किसीके मनाये न माने। उनकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता सब

कुण्ठित हो गयी। एक बार श्रीनन्दरानी के मणिमय प्राङ्गण में आप बालक्रीड़ा कर रहे थे। वह आपका श्रीबालमुकुन्द स्वरूप माधुर्य की साक्षात्मूर्त्ति अति ही दिव्य थी। घुटनुओं के बल चलते हुए उस दर्पण से भी अधिक शतकोटि-गुणित सुन्दर-मणिमय प्राङ्गण में आपको सहसा अपना प्रतिबिम्ब दीख पड़ा –'अहो सौन्दर्यम् ?' बस, उस सुन्दरता की सीमा के दृष्टिगत होते ही श्रीप्रभु उसका आलिङ्गन करने के लिये– उसका ग्रहण करने के लिये मचल पड़े। बड़ा जोर लगाया पर जब हाथ में न आया, तब आप धात्री का मुख देखकर रोने लगे। उस अपने प्रतिबिम्ब का ग्रहण अपने सामर्थ्य से बाहर की बात समझकर धात्री के द्वारा उसे लेना चाहा। भूल गये माखन-मिश्री खाना, उस रूप पर इतनी मुग्धता हुई—

"रत्नस्थले जानुचरः कुमारः सङ्क्रान्तमात्मीयमुखारविन्दम्।
आदातुकामस्तदलाभखेदान्निरीक्ष्य धात्रीवदनं रुरोद॥"

जब महानागरशिरोमणि को ही ऐसा मोह हो गया, तब और की तो बात ही क्या ?

श्रीश्यामसुन्दर इस अपनी विस्मापक रूपराशि का आस्वादन लेने के लिये श्रीराधा बनना चाहते हैं। ऐसे ही जब श्रीव्रजेश्वरी अपने को देखतीं, तब उनके मन में भी यही आता कि मैं श्रीश्यामसुन्दर बनूँ तब इस रूप का आस्वादन मिले। सारांश यह है कि श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण दोनों को ही अपने अद्भुत स्वरूपमाधुर्य पर मुग्धता है, परन्तु दोनों उसका उपयोग करने में असमर्थ हैं, क्योंकि उपभोग्य वस्तु जब उपभोक्ता से भिन्न हो, तभी उसका उपभोग हो सकता है। यदि उपभोग्य वस्तु उपभोक्ता से अभिन्न, उसका स्वरूपभूत हो, तब उसका उपभोग दुर्घट हो है। अत श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधा बनकर अपने अद्भुत रूपमाधुर्य का उपभोग चाहते या करते हैं और श्रीराधा श्रीश्याम बनकर अपनी रूपमाधुरी का पान किया करती हैं। इन्हीं दृष्टियों से **"विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः"** कहा गया है।

एक भाव और भी इस प्रसङ्ग में है—जब कभी सर्वसीमन्तिनी श्रीवृषभानु-नन्दिनी के अङ्ग में रसिकशेखर नन्दनन्दन, षोडशवार्षिक कैशोरस्वरूप को अलौकिक, तदेकस्थ –अन्यत्र दुर्लभ रूप लावण्य को देखते, तब अपने रूप से भी अधिक मन्त्रमुग्ध हो जाते। उनकी रुचि होती –' मैं कब अनन्तानन्त कल्पों की तपस्या द्वारा श्रीप्राणेश्वरी का स्वरूप प्राप्त करके इस मधुर स्वरूप के संस्पर्श का अवसर प्राप्त कर सकूंगा। यद्यपि कहा जा सकता है कि जब श्रीश्याम, श्रीराधा के नारी के रूप में आ जायेंगे, तब उन्हें उनके रूप पर मुग्धता ही कैसे रह जायगी, क्योंकि **"मोह न नारि नारि के रूपा"** का सिद्धान्त है। तथापि जहाँ असाधारण बात होती है, वहाँ नारी भी उसके रूप पर मुग्ध हो ही जाती है।

श्रीव्रजधाम में सभी भाव की उपासना चलती है उसका यही रहस्य है। पीछे कहा गया है—"**पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम्**।" यह बड़े मार्के का वचन है। (पुंसामपि) पुरुषों के भी, तथापि उन पुरुषों के, जो अनङ्ग को भी लजानेवाले हैं—उनके मन और नयन दोनों को उससे आनन्द, आह्लाद मिलता है। इसमें लौकिक स्त्रीत्व, पुंस्त्व-भावना मिटकर अलौकिक भावना होती है। यहाँ तो श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन को भी, जो परम पुरुष हैं—पुरुषभाव—निवृत्तिपूर्वक श्रीवृषभानुनन्दिनी-भावना की प्रेप्सा होती है, अस्तु, इस प्रकार एक दूसरे की स्वरूपमाधुरी का पान करने के लिये श्रीराधाकृष्ण दोनों ही परस्पर प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहते हैं।

ऐसी रूप-माधुरी में सदा छके रहनेवाले श्रीश्यामसुन्दर के दर्शन मात्र से मालती (लतानायिका) आदि में आमोद, प्रसन्नता या सौगन्ध्य और तदतिरेकोत्थ (हर्षोत्थ) अश्रु (मकरन्दविन्दु) प्रादुर्भूत होते हैं। इस रूप में मालती को भावित करके श्रीकृष्णान्वेषणकातरा व्रजबाला कहती हैं—'सखि, मालति! तुम यह मत कहो कि तुमने उन्हें देखा नहीं, क्योंकि यदि तुमने उन्हें देखा न होता, तो यह तुम्हारा सुमन-विकास—कुसुम-विकास—कैसे होता? यह तो उस प्राणप्यारे की ही विशेषता है, जो उनके दर्शनमात्र से ही प्रसन्नता आती है। अतः बतलाओ सखि, मालति! मल्लिके! तुम लोगों ने उन्हें इधर कहीं जाते देखा है?

"मालत्यदर्शि वः कच्चिन्मल्लिके जातियूथिके।
प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः॥"

"सखि, मालत्यादि, न केवल उनका दर्शन, किन्तु स्पर्श भी आप लोगों ने प्राप्त किया है, क्योंकि वे रसिकेन्द्रचूड़ामणि हैं, वे अवश्य ही आप लोगों के पल्लव, पुष्प आदि ग्रहण करते गये हैं, आप लोगों के स्पर्श करते हुए इधर से गये हैं।" 'माधव' का अर्थ वसन्त और सरस शृङ्गाररसस्वरूप श्रीश्यामसुन्दर भी हैं। माधवी, मल्लिका, जाति आदि 'माधव' के बिना 'पुष्पिणी' नहीं हो सकतीं। इस तरह गोपाङ्गनाएँ श्लेष से बोल रही हैं। इतना सब पूछने पर भी जब मालत्यादि कुछ बोलतीं ही नहीं, तब व्रजाङ्गना कहती हैं—'अरी सखियो! इतनी गर्वीली मत बनो, देखो, वे माधव (मायायाः शोभाया एव धवः, माधवः) हैं, शोभामात्र के पति हैं—प्यारे हैं। जब तक तुम पुष्पवती हो, तभी तक वे इधर आते हैं, फिर तो झाँकेंगे भी नहीं। देखो न, वे हमें कैसे छोड़कर चले गये। मालत्यादिको! बतलाओ, बड़ा पुण्य होगा और उससे अधिक काल तक तुम्हें श्रीश्याम का करस्पर्श सुख मिलेगा। बतलाओ, किधर गये? हे मालति, यह तो सिद्ध ही है कि वे तुमसे मिलते अवश्य गये हैं, क्योंकि तुम उनकी प्राणाधिका राधिका की यद्वा लक्ष्मी की 'लतिका' हो और इनकी सखी होने के कारण अधिक शोभावाली भी हो, अतः आनन्दोद्रेक में तुमसे मिलते हुए ही वे गये हैं—(मायायाः लक्ष्म्याः अथवा राधायाः लतिकैव लती मालती 'लत परिवेष्टने')

अजी यह उस लली की लता है—सौत की सखी है, इसलिये नहीं बतलायेगी। श्रीराधा का कभी उनसे वियोग नहीं, अतः यह मालती वियोग-दुःखानभिज्ञा होने से मानो हमारी उपेक्षा कर रही है। मल्लिका—मल्ल हैं अवयव जिनके, उन श्रीकृष्ण को आनन्द देनेवाली यह है। यह अद्भुतता है इस वृन्दावन लता की कि इसे देखकर श्रीश्यामसुन्दर इसके पास खड़े हो जाते हैं और अपनी प्रिया को इसकी सुन्दरता बतलाने लगते हैं—'देखो, कैसी है यह।' 'जाती' (जनयति आनन्दमिति जाती) श्रीमोहन में प्रेम उत्पन्न करनेवाली है। 'यूथिका' यह स्वयं भी यूथ के साथ रहती है और श्रीनन्दनन्दन को-व्रजाङ्गनाओं के साथी श्रीनन्दनन्दन को यूथसहित देखती है। यों व्रजाङ्गना उन लताओं की स्तुति आदि करती हुई उनसे अपने प्राणधन का पता पूछती हैं।

इस प्रसङ्ग में 'मालती' आदि पर कुछ और भी भाव हैं। "हे मालति! आप—मा—नित्यानपायिनी जो लक्ष्मी भगवान् के वक्ष पर सदा निवास करती हैं,—उनकी लता हो, अतः आपको हमारे प्राणवल्लभ का अवश्य पता है, कृपा कर बतलाओ।" जब बहुत अनुनय-विनय से पूछने पर भी मालती कुछ नहीं बोलती, तब उन्मादवती व्रज-युवतियों को उससे ईर्ष्या होती है। वे उससे कहती हैं—"आखिर मालति! तुम लक्ष्मीपक्षपातिनी हो, वह हमें सौत समझती है। ऐसी दशा में तुम हमारा प्रिय कैसे कर सकती हो?"

चन्द्रावलीपक्ष की गोपाङ्गना भी इसीका समर्थन करती है। इस तरह व्रजाङ्गनाओं में प्रशंसा, असूया आदि उदय हो रही है। सहसा फिर मल्लिका पर दृष्टि पड़ी—"अहो, 'मल्लिके'—श्रीकृष्ण—को 'का'—सुख पहुँचानेवाली—यह लता है। इसके मकरन्द, कुसुम आदि उनको बहुत प्रिय हैं! देखो सखि! अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाधिपति को भी यह आनन्दित करनेवाली है, बड़ी सौभाग्यशालिनी है यह। अच्छा, सखि, मल्लिके! श्रीश्यामसुन्दर का पता बता कर हमें भी थोड़ा सुख दो।" थोड़ी देर के बाद जब उत्तर की आशा समाप्त हो गयी, तब व्रजाङ्गनाओं को सूझा—"सखियो! यह भी श्रीश्याम का पता न देगी, क्योंकि यह श्रीश्यामसुन्दर के उत्सङ्ग से सुखिनी है और उनके इस भाव की सम्भवतः कल्पना कर रही है कि 'वे रसिकेन्द्र श्रीश्याम इनको किसी कारणवश विप्रयोगदुःख देने के लिये अन्तर्ध्यान हुए हैं, अतः उनकी कृपापात्र बनी रहने के लिये मुझे भी उनका पता नहीं देना चाहती।' दूसरे, वे अपने श्रीहस्त से इसका स्पर्श करते गये हैं, मानो इसे समझाते गये हैं कि गोपाङ्गना-जनको मेरा पता मत देना।" यों उस मल्लिका के प्रति अवहेलना से देखतीं व्रजाङ्गनाओं की दृष्टि फिर उसी अवहेलना से 'जाती' पर पड़ती है और वे प्रिय-प्राप्ति के लिये मिन्नतों के स्थान पर उसकी निन्दा करती हैं। परन्तु उनको यह कुछ पता नहीं है कि प्रेमोन्माद उनसे क्या-क्या करा रहा है। अस्तु, वे जाती से कहती

हैं—"तुम उन मोहन के लिये सुख जनन करनेवाली अवश्य हो। परन्तु 'जो अभि-भवे' धातु से तुम्हारी रचना हुई है। हमारे रोने से तुम्हें सुख मिलता है। खल सज्जनों को दुःखी देखकर प्रसन्न होते हैं। सखियो, इसमें और कुछ तत्व नहीं, केवल सुमनोविकाशमात्र ही रह गया है। हाँ, यह यूथिका एक अवश्य ऐसी है, जो हमें श्रीश्याम को बतला सकती है, क्योंकि यह यूथी—गोपाङ्गनासहित श्रीनन्द-नन्दन–को–'का'–आनन्द देती है। अच्छा, बहन यूथिके! अब तुम्हीं हमारा अवलम्ब हो। ये मालती, लक्ष्मी, राधा, आदि केवल उन नवनागर को ही सुख देती हैं, परन्तु तुम केवल कृष्णपक्षपातिनी नहीं हो, हमारा भी पक्ष रखती हो। अतः श्रीश्याम का पता देकर हमें सुखिनी करो। हम उनके दर्शन बिना बहुत व्याकुल हैं।" थोड़ी प्रतीक्षा करके देखने पर भी जब कुछ उत्तर नहीं मिला, यूथिका ज्यों-की-त्यों खड़ी ही रही, तब उन व्रजदेवियों ने समझा—'यह बतलाती तो अवश्य, परन्तु वे नागरशिरोमणि 'करस्पर्श' से हमें बतलाने का निषेध करते गये हैं, तब बिचारी कैसे बतलाये? अथवा जब कृष्ण के साथ हम होती हैं, तभी यह हमें आनन्दित करती है, उनके बिना यह हमारी ओर ताकती तक नहीं।"

इस तरह इन लताओं का गुणस्तवन, असूया आदि करतीं, कृष्णान्वेषण-तत्परा व्रजबालाओं की दृष्टि आम्रादि बड़े वृक्षों पर पड़ी। उन्होंने सोचा—"ये लता आदि क्षुद्र क्षुप हैं, केवल पुष्पवाले हैं, इनसे किसीको 'फल' न मिलेगा, चलो इन बड़े फली वृक्षों से अपना मनोरथ कहें"—

"चूतप्रियालपनसासनकोविदारजम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥"

अहह, गोपाङ्गनाओं के आगे प्रेम की पराकाष्ठा हो गयी। श्रीकृष्णानुरागगङ्गा के महाप्रवाह से उनके धैर्य का बाँध टूट गया, जड़-चेतन का भेद मिट गया। एक ही बात, एक ही धुन में वे व्यग्र हैं–किसी भी तरह प्राणप्यारे, श्यामसाँवरे का दर्शन मिले। वृक्षों से पूछती हैं—"हे कालिन्दीकूलवासी, विशुद्ध, परोपकारी कोविदारादि वृक्षो! कृपा कर हमें श्रीकृष्ण का मार्ग बताओ, वे किस ओर पधारे हैं? हमें शीघ्र बताओ।" मानो वृक्षों ने उत्तर दिया—"व्रजाङ्गनाओ! आप स्वयं ही उन्हें ढूंढ़ो, हम लोग तो जड़ हैं, असमर्थ हैं।" वे प्रेमप्रमत्त, उन्माद में निमग्न व्रजबालाएँ स्वयं ही कल्पना कर लेती हैं, स्वयं ही सब उत्तर-प्रत्युत्तर कर लेती हैं। वृक्षों की बात सुनकर वे बोलीं—"हे परोपकारी, तीर्थवासी वृक्षो! हमारा धैर्य छूट गया है, अन्तःकरण वश में नहीं है। कृष्णान्वेषण अब हमारे सामर्थ्य के बाहर की बात है। यह तो कृपा अब आप ही करो, उनको बतला दो। आप लोगों का जन्म परोपकार के लिये है। देखो, कोई धनहीन, जनहीन, गेहहीन होते हैं, अन्यान्य बुद्ध्यादि से हीन होते हैं, परन्तु हम तो आत्महीन हैं। हमारी तो आत्मा ही

नहीं रह गयी है। दोनों का सन्त्राण सज्जनकृत्य है। दयापात्र कौन है? देहरहित, गेहरहित, इन्द्रियरहित, बलरहित, व्यङ्गाङ्ग, विकलाङ्ग नहीं, बल्कि हम हैं, जो अन्तःकरण से शून्य हैं, आत्मा से रहित हैं। हमसे बढ़कर वृक्षो! दूसरा दयापात्र और कोई न मिलेगा। हम तो आत्मरहित हैं, वे त्रिभङ्गललित घनश्याम हमारी आत्मा हैं, सर्वस्व हैं। हम दयनीयों को बतलाओ, वे सर्वस्वहारी, मुरलीधारी किस ओर गये हैं?"

लोकवेद में प्रसिद्ध है कि संसार में किसीसे भी; प्रेम अपने ही लिये होता है—

"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति।
आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति॥
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥"

अतः जहाँ 'स्व' नहीं–आत्मा नहीं–वहाँ प्रेम भी नहीं। अतएव 'स्व' पुत्रादि में, 'स्व' राज्यादि में प्रेम होता है। अन्यथा पुत्रादि तो सभी को होता है। देवाराधन, यज्ञ, तप, सब 'स्व' कल्याण के लिये हैं। पत्नी, पुत्र अनुकूल होने से प्रिय हैं; नहीं तो शत्रु हैं अथवा कुछ भी नहीं। जो धनकामना से, आर्ति-निवृत्ति के लिये, ज्ञान के निमित्त, भगवान् को भजते हैं, वे अपने भक्त हैं, भगवान् के नहीं। परन्तु उन व्रजवधूटियों का तो सब कुछ श्रीश्याम के लिये है। उनके देह, गेह, बुद्धि, अन्तरात्मा यदि श्रीघनश्याम को सुख न पहुँचायें, तो वे इन्हें न रखेंगी। ये तो सब केवल प्राणेश्वर के लिये हैं। जब ये उनके अङ्ग अपने प्राणधन की सेवा में नहीं आते, तब वे इन्हें आभूषणादि क्यों पहनायें? व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्ण के बिना अपने को आत्महीन समझती हैं। जल के बिना तरङ्ग का स्वरूप ही नहीं रहता, मृत्तिका के बिना घट का कोई रूप नहीं, वैसे गोपी कृष्णमय हैं। अतः श्रीकृष्ण के अन्तर्हित होने से गोपाङ्गनाएँ आत्मरहित हो गयीं। इसीलिये गोपीजन कहती हैं—"वृक्षो, हम आत्मरहित हैं, आत्मा का–श्रीश्याम का–पता हमें बतला दो। जो नित्यों में नित्यत्व-संस्थापन करनेवाले हैं, वे मोहन हैं, वे हमारी आत्मा हैं—**"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।"** महाकाश के बिना जैसे घटाकाश का जीवन नहीं, वैसे श्रीश्यामसुन्दर के बिना हमारा भी जीवन नहीं।" आत्मा के बिना कोई रह नहीं सकता, अतः पहले 'अन्तर्हित' कहा गया। किन्तु इस समय व्रजाङ्गनाएँ प्रेमोन्माद में अपने को आत्मरहित समझकर वृक्षों से पूछती हैं। इस तरह व्रजाङ्गनाएँ अधीर हो रही हैं। इधर श्रीश्यामसुन्दर सोचते हैं—यद्यपि वे स्वयं अन्तर्हित हैं और उन व्रजाङ्गनाओं के दर्पोपशमन के लिये ही अन्तर्हित हुए हैं, तथापि उनके हृदय में दया है, वे व्रजाङ्गनाजन की ऐसी विलक्षण प्रणयदशा से उदित क्लेश के दूरीकार का उपाय सोचते हैं, परन्तु उनकी समझ में नहीं आता कि इनको कैसे सान्त्वना दें।

तरङ्ग में जल की तरह अन्य व्रजाङ्गनाजन की स्थिति है और जल में मधु-रिमास्थानीया श्रीरासेश्वरी हैं। यह अत्यन्त अन्तरङ्गा हैं। इस प्रकार जलस्थानीय श्रीकृष्ण में मधुरिमास्थानीय अत्यन्त अन्तरङ्गता को प्राप्त करके भी श्रीवृषभानुदुलारी को, महारङ्क के लिये चिन्तामणिप्राप्ति की तरह श्रीकृष्णप्राप्ति में अतिदुर्लभता की प्रतीति हो रही है। 'गोपालचम्पू' में पूर्णमासी पुरोहितानी और वृन्दादेवी की प्रेरणा से जब यह स्थिति बना दी गयी है, तब गर्गाचार्य आये हैं। ये सब भाव उत्कण्ठा को उत्कट बनाने के लिये हैं, इसीलिये श्रीजीवगोस्वामी ने परकीयात्व का पोषण किया है। परन्तु चम्पूकार ने स्वकीयात्व मानते हुए इन भावों की स्थापना की है। वैसे व्रज में कोई भी ऐसा नहीं जो श्रीकृष्ण को अपना प्रियतम न समझे, सभी उनका आनुरूप चाहते थे। गोपबालाओं के माता-पिता आदि सभी श्रीश्यामसुन्दर के साथ अपनी पुत्रियों का विवाह करना चाहते थे। इसमें रसाक्रान्ति की तरह, मूर्त्तिमान् शृङ्गार के प्रादुर्भाव की तरह, व्रजसीमन्तिनी तथा व्रजबालाओं का श्रीकृष्ण से मिलते रहने पर भी सम्मिलनोत्कण्ठा का उदय हुआ रहता था।

एक समय गोपियों के पिताओं ने श्री गर्गजी से श्रीश्यामसुन्दर के साथ अपनी पुत्रियों के विवाह के विषय में पूछा—(यह प्रकट लीला है, श्री शुकदेवजी ने प्रकट-अप्रकट दोनों लीलाओं का वर्णन किया है)। उत्तर में श्री गर्गजी ने कहा—"आप लोगों का यह भाव बहुत उत्तम है, परन्तु यदि आपकी कन्याओं का विवाह श्रीकृष्ण के साथ हो गया तो आप सबका श्रीकृष्ण के साथ वियोग हो जायगा उनका दर्शन दुर्लभ हो जायगा।" तब से सब सावधान हो गये और गोपियों के लिये श्रीकृष्णदर्शन तक में रुकावट उत्पन्न हो गयी। यह सब हुआ केवल श्रीकृष्ण के वियोग-भय से, किसी द्वेष बुद्धि से नहीं।

इस प्रसङ्ग में पूर्णमासो ने वृन्दा से पूछा कि 'जब मन्त्रों में भी श्रीकृष्ण का 'गोपीजनवल्लभ नाम' है, तब श्रीकृष्ण के साथ गोपियों के विवाह क्यों रोके गये? और दूसरी जगह क्यों हुए? इसपर वृन्दा ने यही कहा कि—"यह सब दुःखस्वप्न-मात्र हैं। वास्तव में गोपाङ्गनाओं का सम्बन्ध श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्यत्र हुआ ही नहीं। इसीलिये "मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान्-स्वान् दारान् व्रजौकसः" (भाग० १०।३३।३८) और "न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः सह सङ्गमः" आदि कहा गया है! यत्र-तत्र जो गोपाङ्गनाओं की पत्यन्तर-प्रतीति है, वह सब मायामय है। उन-उन व्रजदेवियों का मायामय पतियों के साथ ही सङ्गम होता था।

'उज्ज्वलनीलमणि' में कहा गया है कि रसशास्त्र में प्रधान रस के पोषण प्रसङ्ग में परोढा के परिग्रह में कवियों ने जो रसाभास माना है, वह गोकुलाङ्गना समूह को छोड़कर है, क्योंकि इसमें दुर्लभता, प्रच्छन्नकामुकता आदि से उत्कण्ठा वृद्धि, अद्भुत प्रेमप्राखर्य आदि होते हैं। इस रूप में यह सब (परकीयात्व आदि के पोषक

भाव) प्रीतिवृद्धि के लिये होते हैं। जितनी-जितनी प्राप्तव्य के प्रति दुर्लभता बढ़ती जाती है, उतनी ही उसके प्रति गाढ़ानुरागता भी बढ़ती है। फिर वह साधारण विषयक न होकर सर्वेश्वर के प्रति है। श्रीराधा की यह जो श्रीकृष्ण-विषयक दुर्लभता बतलायी गयी है, वह वैसे ही है, जैसे अमृत और उसकी मधुरिमा का कभी भी वियोग न होने पर भी वियोग और विह्वलता बतलायी जाय। सारस तथा लक्ष्मणा का सर्वदा संयोग रहता है और चक्रवाक-चक्रवाकी का सर्वदा वियोग रहता है। यहाँ दोनों का सामञ्जस्य है। अनन्तकोटिगुणित संयोग एवं वियोग का श्रीश्यामा-श्याम को एक काल में सदा आस्वाद बना रहता है। श्रीजीवगोस्वामी ने एक प्रसङ्ग में कहा है कि कुलाङ्गना के लिये सबसे बड़ा कष्ट–महाकष्ट -- लज्जात्याग है। परन्तु यह बड़े से बड़ा दुःख भी श्रीश्यामसुन्दर नटनागर के सम्बन्ध में उतना ही महान् सौख्य हो जाता है, यह दुःख अनन्त, अलौकिक सुखविषयक है। यही प्रेम का प्राखर्य है। माता-पिता आदि के तीव्रातितीव्र निषेध जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं, प्रीति उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है।

श्रीवृषभानुनन्दिनी इस प्रकार अपने प्रेम प्राखर्य और विविध निरोधों का अनुभव कर रही हैं। वह सोचती हैं कि 'यदि मैं आज कोई पक्षी होती, तो दर्शनार्थ उड़कर प्रेष्ठ के समीप पहुँच जाती। पर करूँ क्या ? **'वपुः परवशम्'** यह शरीर परवश है। इसी समय उन्हें पुलिन्दियों, हरिणियों का स्मरण होता है। वे उनका भाग्य सराहती हैं—"अहो ! वे भील-भामिनियाँ धन्य हैं, जिन्हें प्रियतमपादारविन्दसंलग्न कुंकुम का तो दर्शन मिला। इनसे भी अधिक धन्य वे हरिणाङ्गनाएँ हैं, जो अपने पतियों के साथ उन नन्दनन्दन का प्रेमावलोक से पूजन करती हैं, दर्शन करती हैं। उनके पति **'कृष्ण सार'** **(कृष्ण एव सारो येषां ते)** हैं। हम गोपाङ्गनाओं के पति **'अभिमान सार'** हैं। वे हरिण अपनी हरिणियों को साथ लेकर दर्शन करने आते हैं, सब जगह जाकर दर्शन करते हैं, अतः वे हरिणियाँ धन्य हैं—

"धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥"

(भाग० १०।२१।११)।

परन्तु **'वयं अधन्याः'**। कथञ्चित् दर्शनार्थ जायँ भी, पर यह जन्म जो एक कुलीन वंश में हुआ है—**"जनुः परमिदं कुलीनान्वये।"** खानदान में बट्टा लग जाने का भय है। अहह ! कितनी विवशता है, तथापि क्या यह मैं अबतक जी रही हूँ ? हा ! मुझे भला मौत कहाँ ?—**"न जीवति तथापि किं परमदुर्मरोऽयं जनः ?"** मरना बड़ा कठिन है, मर जाऊँ, तो अच्छा। मृत्यु से भी कहीं अधिक ये प्राणधन के वियोग के कष्ट तो न होंगे।

इस प्रकार के चिन्ता-सन्ताप में मग्न श्रीराधिकारानी किसी समय अपने लीलाशुक को अपने हस्तारविन्द के अंगुष्ठप्रान्त पर बिठाकर उसे दाड़िमी बीज चुगाती

हुई, स्नेह से उसके चञ्चुपुट का चुम्बन करती हुई पढ़ा रही थीं—"कृष्ण कहु, कृष्ण कहु, राधा कहु मति रे।" शुक बहुत विशेषज्ञ था, अपनी पालिका पर उसे प्रेम और दया थी, उसके वियोगदुःख को देखकर वह दुःखी था। वह तुरन्त पद्यसन्देश लेकर उड़ा और श्रीनन्दराय के प्राङ्गण में जा पहुँचा, जहाँ श्रीश्यामसुन्दर क्रीडा में आसक्त थे। एक ऊँची सी जगह निर्भीक भाव से बैठकर वह पद्य उसने उन्हें सुनाया। अपनी परमान्तरङ्गा आह्लादिनी प्रिया का वह भावगम्भीर पद्य सुनकर श्रीश्यामसुन्दर मुग्ध हो गये। बड़े आग्रह एवं अनुनय से श्रीकृष्ण ने उस शुक को अपने पास बुलाया, अपने सुकोमल हस्तारविन्द पर उसे बिठलाकर कई बार उस पद्य को सुना और समीक्षा करने लगे—'यह किसी महानुरागवती का पद्य है। इतने ही में वहाँ मधुरिका और कुसुमासव सखा भी आ गये। परस्पर प्रश्न हुए। मधुरिका ने कहा—"मैं इस शुक को ढूंढ़ने आयी हूँ। कुसुमासव बीच में ही बोल उठे—"सखि ! यह तो हमारे श्रीश्यामसुन्दर का शुक है। यदि यह तुम्हारी प्रियाजू का है तो इसे अपने पास बुलाओ। मधुरिका ने कहा—"सखे ! क्या कोई भी इन श्रीलालजू के हाथ से छूटकर जा सकता है ? यह तो भला एक प्रेमी जीव है। इनके हाथ में आते ही जड़ चेतन हो जाते और चेतन जड़ हो जाते हैं। इनके हाथ में आते ही जड़ वेणु सजीव हो जाती है। उनका यह रसमय प्रसङ्ग चल ही रहा था कि इतने में ही श्रीयशोदा वहाँ आ गयीं और बोलीं—"सखि ! लालाको अभी खेल लेने दे, फिर मैं इसे तुम्हारे ही घर तक पहुँचा दूँगी।

इस तरह लोकापवादादि-भय से भीत श्रीश्यामाजू प्रच्छन्न कामुकता आदि के लोकोत्तर साधन शुकप्रेषणादि का रसवर्द्धनार्थ आश्रय लेती हैं, अस्तु, ऐसे विलक्षण गूढ़ सञ्चारवती श्रीमती राधा तथा तत्प्रिय सखियों को प्रसन्न करने का भगवान् को कोई उपाय नहीं सूझता। अतः वे श्रीललिताजी से पूछती हैं—

"लोकापवाददलितां मम लम्भनेऽपि एतां कथं कथमहो परिसान्त्वयामि ॥"

हृदय से हृदय का कभी विप्रयोग नहीं होता, पर फिर भी भ्रम से ऐसा होता ही है, क्योंकि श्रीमद्भागवतादि में विप्रयुक्तों की अवस्था का दिग्दर्शन हुआ है। अन्यत्र भी **"दावानलज्वालिवनी सहक्षाम"** आदि से विप्रयुक्तों की लोकसिद्ध किसी भी सद्वस्तु में वस्त्वन्तर की प्रतीति होने के उदाहरण मिलते हैं।

अस्तु, किसीको संयोग से किसीको वियोग से सान्त्वना दी जाती है। परन्तु इन्हें कैसे प्रसन्न करे, जो प्रत्येक दशा में दुःख का ही अनुभव करती हैं ? सखी श्रीललिता कहती हैं—"महाराज ! श्रीप्रियाजू को तो अङ्क (गोद) में विराजमान करके ही प्रसन्न करो, क्योंकि वे आपके अन्यान्य गुणगणों से सिवा मूर्च्छित होने के सुखी नहीं होतीं—

"न मूढधीरस्मि न वा दुराग्रहा शरीरभोगेषु न चापि लालसा।
किन्तु व्रजाधीशसुतस्य ते गुणा बलादपस्मारदशां नयन्ति माम् ॥"

गोप-सुन्दरियों के भी ऐसे ही मिलते-जुलते भाव हैं। इसने उच्च गम्भीर भाववती, फिर आत्मरहित भी उन गोपबालाओं को प्रसन्न करने का उनके अनुकूल होने के सिवा भगवान् के पास कोई भी अन्य साधन नहीं है।

पूर्वोक्त '**चूतप्रियालपनसासन**' (भाग० १०।३०।९) इस पद्य में आम के 'चूत' और '**आम्र**' ये दो नाम आये हैं। इस द्विरुक्ति के टीकाकारों ने विभिन्न अर्थ किये हैं। अम्ल (खट्टे) रसवाले आम को 'चूत' और मधुर रसवाले आम को 'आम्र' कहते हैं। इस तरह रसभेद से दो नाम, दो भेद हैं। अथवा '**करुणया च्यवते इति चूतः**' करुणा से जो दीनों पर द्रुत हो, उसे '**चूत**' कहते हैं। अन्यत्र के आमों में चाहे यह बात न हो, पर श्रीवृन्दावनधाम के आमों में तो यह विशेषता है ही। ये श्रीश्यामसुन्दर के यहाँ अन्तरङ्ग हैं अथवा परिकरों में कोई हैं। मुनिजन भी यहाँ की वृक्षता चाहते हैं। श्रीव्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—"वैसे हे **आम्रवृक्षो** ! आप लोग दुःखियों का दुःख देखकर द्रुत होते हैं। दूसरों में दया नहीं, अतः वे द्रुत नहीं होते। हमसे बढ़कर दूसरा दुखिया और कौन होगा ? हमपर दया करो। आम का भव—जन्म परोपकार के लिये है। फल, पुष्प, पत्र और काष्ठ आदि आपकी सभी वस्तुएँ केवल परोपकार के लिये हैं। आपका निवास साक्षात् प्रेमद्रववती श्रीयमुना के तट पर है। श्रीयमुनाजल की तरह ही मानसरोवर, कृष्णसरोवर आदि भी व्रज के तीर्थ अनुरागद्रव हैं। इन श्रीयमुनाजल आदि के दर्शन, स्पर्श, पान आदि से दूसरों को भी श्रीकृष्णविषयक ज्ञान देने के कारण आपका नाम '**चिति संज्ञाने**' से **चेतति** '**अन्यांश्चेतयतीति वा चूतः**' हुआ है। इतनी ऊँची आप लोगों की योग्यता है। आप हम दुःखियों को भी श्रीश्यामसुन्दर का पता देकर कृतार्थ करो।"

जब इतनी स्तुति करने पर भी आम्रवृक्षों ने कुछ उत्तर नहीं दिया, तब गोपाङ्गनाएँ बड़ी खिन्न हुईं। असूया से अब उनके प्रति दोषों का अनुसन्धान हुआ—(च्योतति, प्रच्युतयति इति चूतः) "सखि ! ये तो थे परोपकारी, पवित्र तीर्थवासी ही, परन्तु अब स्वरूप से प्रच्युत हो जाने के कारण निष्ठुर हो गये हैं। '**यमुनोपकूलाः**' ये यमुना के किनारे रहते हैं। यमुना यमराज की बहन है, यम सर्व दुःखदायी हैं। "**संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति**" उसी यमसम्पर्क से ये अब निर्दय हो गये हैं। हमारे तीव्रताप से इन्हें प्रसन्नता हो रही है।"

'प्रियाल' पीले सालवृक्ष का नाम है (प्रियाः इति आलापो यस्य सः) सखीगण जिसे प्रिय हों, यह नामार्थ 'प्रियाल' का गोपाङ्गनाओं ने निकाला। "सखि, वह हम सखियों पर अवश्य अनुकम्पा करेगा, यह अवश्य हमारा हित सोचेगा। हित तो

श्रीश्यामसुन्दर के मिलन में है, सो यह उनका पता बतलायेगा। अजी! यह 'प्रियं लाति इति प्रियाल:' है प्रिय श्रीकृष्ण को देनेवाला है।"

'प्रियं लाति' अर्थात् जो प्रिय पदार्थ को दे, वह 'प्रियाल' है। वृन्दावन का 'प्रियाल' श्रीकृष्ण को देनेवाला है। 'वृन्दावनशतक' में वृन्दावनस्थ तरुओं की बड़ी महिमा कही गयी है। कहा है—'यदि तुमसे और कुछ भजन-भावना नहीं बन सकती तो इन वृक्षों का ही दर्शन करो, ये तुम्हें तुम्हारे प्रिय को देंगे, स्वयं प्रिय का अन्वेषण करके तुम्हें समर्पित करेंगे।' इस अंश में वृन्दावन के सभी वृक्ष 'प्रियाल' हैं, फिर साक्षात् प्रियाल की तो बात ही क्या? इसी आशा से गोपीजन प्रियाल की प्रशंसा करती हैं। अद्भुत प्रेमोन्माद में उन्हें जड़ और चेतन का ज्ञान नहीं रह गया, उन्हें अभी यही भावना बनी है कि ये हमें अभी प्रिय का पता देंगे। प्रेमी की आशा का कुछ ठिकाना नहीं, वह जड़ में भी चेतन की कल्पना करता है। प्रेम की प्रतिमूर्ति व्रजदेवियाँ श्यामसुन्दर के आभूषणों की, माला की प्रशंसा करती हैं। इतना ही नहीं, वे तो उस वायु की भी स्तुति करने को उद्यत हैं, यदि वह मोहन प्यारे की ओर से आ रहा हो। वे चन्द्रमा से कहती हैं—'हे हिमकर, अपनी किरणों (करों) का हमसे स्पर्श न होने दो, परन्तु यदि वे (आपकी किरणें) प्यारे श्यामसुन्दर का स्पर्श करके आयी हों, तो उनसे हमें अवश्य स्पर्श करो, हम तुम्हारा उपकार मानेंगी।' इस से अधिक परम्परासम्बन्ध की महिमा क्या होगी?

परन्तु ब्रह्मादि देवता इसपर परम्परा में और भी आगे बढ़े हैं। वे इसीमें कृतार्थ हैं कि अस्मदधिष्ठातृक तत्तदिन्द्रियों से व्रजवासी उस आनन्दसिन्धु ब्रह्मतत्त्व का दर्शन, स्पर्श, श्रवण आदि कर रहे हैं, क्योंकि देवतालोग देवत्व के कारण साक्षात् रूप से उस ग्वारिये गोपाल की रसमाधुरी का आस्वाद लेने में सर्वथा असमर्थ हैं, अतएव बेचारे नेत्रादिरूप से परम्परासम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनकी दृष्टि में धन्य हैं वे व्रजवासी, जो अपने नेत्रादि से साक्षात् श्रीश्यामसुन्दर के चरणामृत, सौगन्ध्याद्यमृत का पान करते हैं। नेत्र का अधिष्ठातृदेव सूर्य है। वह इतने में ही कृतकृत्य है कि किसी भी व्रजवासी ने श्यामसुन्दर को मदधिष्ठातृक नेत्र से देखा। नासिका के देवता अश्विनीकुमार हैं। वे व्रजवासी के घ्राण से अपना सम्बन्ध स्थापित करके आनन्दमग्न हैं। श्रोत्रों (कानों) की अधिष्ठात्री दिग्देवता है। व्रजवासी श्रीनन्दनन्दन के वचन और वेणुगीत को सुनते हैं, इसीमें वह फूली नहीं समाती। वह सोचती है—धन्य हूँ मैं, जो मदधिष्ठातृक श्रोत्रों से व्रजवासी श्रीश्याम के वेणुगीत को सुनते हैं। चित्त के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं। इसी प्रकार विभिन्न इन्द्रियों के विभिन्न अधिष्ठाता हैं। सब इसी प्रकार अपने को कृतकृत्य मानते हैं। स्वयं ब्रह्माजी ने भगवान् की स्तुति करते समय कहा है—हे अच्युत, इन व्रजवासियों के भाग्य की महिमा का कोई भी वर्णन नहीं कर सकता। जो कि हम लोग रुद्र, चन्द्र आदि इसलिये प्रशस्त भाग्यशाली हैं कि

इनके इन्द्रियरूप पात्रों से आपके चरणकमल-मकरन्द का, जो अमृत के समान अति-मिष्ट और आसव के जैसा मदकारी है, बार-बार पान करते हैं। जब एक-एक इन्द्रिय के अभिमानी हम लोग आपकी कीर्त्ति, सौन्दर्य, सौगन्ध्य आदि एक देश के सेवन करनेवाले भी कृतार्थ हैं, तब समस्त इन्द्रियों से सर्वसेवी इन व्रजवासियों के भाग्य को सराहना किन शब्दों में की जाय ?

"एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवं ते ॥"
(भाग० १०।१४।३३)

इन्द्रियादि के ये अधिष्ठाता हैं—अहङ्कार के शिव, बुद्धि के ब्रह्मा, मन के चन्द्रमा, श्रोत्रों की दिशाएँ, त्वक् (त्वचा) के वायु, नेत्रों के सूर्य, जिह्वा के वरुण, नासिका के अश्विनीकुमार, वाणी के अग्नि, हस्त के इन्द्र, चरण के उपेन्द्र, पायु के मित्र, उपस्थ के प्रजापति और चित्त के अधिष्ठाता स्वयं भगवान् माने गये हैं। पान-पात्र का नाम 'चषक' है। व्रजाङ्गनादि का वह पात्र इन्द्रियाँ हैं, उसीसे वे श्रीश्याम-सुन्दर के पादारविन्द-सौन्दर्यामृत का पान करती हैं। उस मादक सुधासव के पान से व्रजाङ्गनाजन को देह, गेह, लोकलाज सब एकबार ही विस्मृत हो गये। इसपर श्री नन्दनन्दन की उस मोहक मुसकान से तो वह और भी अधिक पुष्ट हो गयी। इसका पूरा आस्वादन तो व्रजदेवियों को ही प्राप्त हुआ।

इसपर थोड़ा विचार करें—पात्र को रस का आस्वाद नहीं आता। दर्वी को, जिससे भक्ष्यवस्तु परोसी जाती है, वस्तु का स्वाद नहीं आता। इसी प्रकार इन्द्रियाँ पात्रमात्र हैं, उन्हें रसास्वाद नहीं हो सकता। परन्तु यह लौकिक रस की बात है, भगवद्विषयक रस अलौकिक, विलक्षण होता है, उसके तो सम्पर्क से भी रसास्वाद की अनुभूति सिद्ध है। ऐसी स्थिति में पात्र—दर्वी आदि को रस का आस्वाद असम्भव नहीं। इस प्रसङ्ग में व्रजदेवियों की वंशी के प्रति ऐसी भावना है कि श्रीश्यामसुन्दर से शतशः सम्पृक्त होते रहने पर भी उसे रस का आस्वाद नहीं मिला। उनकी इस विषय में उपपत्ति इस प्रकार है—वंशी को वस्तुतः अधरामृत नहीं दिया गया। यदि ऐसा होता, तो यह सूखी ही कैसे रह जाती ? उस वेणुगीतपीयूष से यमुना भी जमकर इन्द्रनीलमणि की शिला के समान हो गयी और पाषाण भी यमुना-प्रवाह की तरह बह चले, पर बाँस की वंशी में एक पल्लव तक नहीं जमा, यह पोली, शुष्क सग्रन्थि और सच्छिद्र ही रह गयी। जहाँ **"अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणाम्"** के अनुसार स्थिर पदार्थ जङ्गम बन गये और जङ्गम स्थिर हो गये, सूखे हरे हो गये, वहाँ वंशी के पल्ले कुछ नहीं लगा। यह तो केवल विप्रयोगलीला में वंशीछिद्रों से हमारे (व्रजदेवियों के) कुर्णकुहरों में प्रविष्ट होने का, हमारी जीवनरक्षा का उपायमात्र किया गया है। इस सिद्धान्त से वंशी की तरह दर्वी सूखी ही है, रसा-सम्पृक्त ही है।

परन्तु दूसरे कहते हैं—नहीं, आखिर सम्बन्ध तो हुआ न, किसी भी तरह सही। इसीसे कृतकृत्यता हो जाती है। अतः पात्र—'**चषक**'—भी परम्परा से कृतार्थ हुए। ऐसे पात्र का तो स्पर्श करनेवाले भी कृतार्थ हो जाते हैं। ब्रह्मादि इतने ही से अपने को धन्य मानते हैं। वंशी को श्यामसुन्दर की अधरसुधा का सम्बन्ध होने पर रसास्वाद भी अवश्य हुआ ही, अतएव गोपाङ्गनाजन ही की परस्पर उक्ति है—"**गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः**" अर्थात् इस वेणु ने कौन पुण्य किया है जो श्रीश्यामसुन्दर इसको अपने हस्तारविन्दों में लेते, अधर पर पधराते, अपने सुकोमल अंगुलीदल से इसका पादसंवाहन करते, अधरामृत का भोग लगाते और मुकुट का छत्र लगाकर कुण्डलों से इसकी आरती उतारते हैं, कैसी अनोखी पूजा करते हैं? यह तो जो ताल-तलाइयों में कुमुदिनी का विकास—प्रफुल्लता देख पड़ रही है, यह इन्हें वंश (बाँस) के सौभाग्योदय पर हर्षातिरेक से मानों रोमाञ्च हुआ है। ये समझते हैं कि हमारे ही जल से पालित, पुष्ट होकर वंशी को यह इतनी उन्नति हुई है, वह श्रीमनमोहन के अधर पर शोभित हुई है। इस अवसर पर इनको कैसी प्रसन्नता हुई, जैसी पाल-पोसकर बड़े किये गये बालक को साम्राज्य मिलने पर उसके माता-पिता, कुटुम्बियों को होती है। वृक्षों को भी अपने सजातीय वेणु के इस उत्कर्ष पर बड़ी प्रसन्नता हुई। उनके नेत्रों से मधुधारा के व्याज से आनन्दाश्रु बह चले—"**तरवोऽश्रुमुमुचुः।**" अपने वंश में किसी के भक्तप्रवर होने से जैसे कुलवृद्ध प्रसन्न होते हैं, अपने को धन्य-धन्य मानते हैं, वैसे ही वेणुसजातीय वृक्ष अपने को मानते हैं—अहो हमारी वृक्षजाति में भला एक तो ऐसा उत्पन्न हुआ, जो कूक-कूककर (निर्भीकता और आनन्द के साथ) श्यामसुन्दर के अधरामृतरस का पान कर रहा है। यदि वंशी को कुछ भी रस का आस्वाद न होता, तो ऐसी बातें कैसे कही जा सकती थीं?

यहाँ तर्क हो सकता है कि यदि उस वंशी को रसास्वाद हुआ है, तो यह अब तक सग्रन्थि कैसे? सच्छिद्र कैसे? छिद्रों के रहने पर तो अनर्थ ही होते हैं—"**छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति**" रस का आस्वाद आने पर तत्व की स्फूर्ति होने पर तो ग्रन्थि खुल जाती है, छिद्र (दोष) नहीं रह जाते "**जदपि मृषा छूटत कठिनई, जड चेतनहिं ग्रन्थि परि गई**" परन्तु चरणरज से सब दोष दूर हो जाते हैं।

व्रजदेवियों को वेणु के कर्म पर बहुत आश्चर्य है। वे सोचती हैं—'अहो, इसका वह कौन सा कुशल कर्म है, जो मोहनाधरसुधा का पान करता है और सच्छिद्र रहकर भी उसे छिपाकर रखता है। किसीको पता ही नहीं लगता कि इसने अधर-सुधा-रस पान किया है। स्थिर और जङ्गम अपनी प्रकृति से च्युत हो गये, सुध-बुध भूल गये, पर इसने तो अधरसुधा को खूब अघाकर पान करके भी ऐसा गुप्त रखा है, जैसे कृपण का धन। बड़ी चतुराई है, बड़ी धीरता है। हाँ, इसने सोचा है यदि मैं

हरी-भरी हो गयी, हमारी सुस्वाद-मर्मज्ञता प्रकट हो गयी तो फिर बजने लायक न रहूँगी, फेंक दी जाऊँगी। वह आनन्द किस काम का, जो फिर फेंक दी जाऊँ ? गोपाङ्गनाएँ सोचती हैं कि इस तरह मोहन के विप्रयोगभय से वह वंशी अपने आनन्द को छिपाती है। परन्तु हम तो बावरी, पागल हो जाती हैं।

इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गोपाङ्गनाएँ प्रेम को छिपा रखने में महत्व समझती हैं, पर वह अवाञ्छनीय विक्षिप्तता बरबस प्रकट हो जाती है। 'वृन्दावन-चम्पू' में गोपाङ्गनाओं के प्रेम को साठी के धान की उपमा दी गयी है। उनका सिद्धान्त है—'**गुप्त प्रेम सखि सदा दुरइये।**' प्रेम में 'टोना' लग जाता है। उसे अवश्य छिपाना चाहिये। फिर वह बहुत बेश-कीमत है, मूल्यवान् वस्तु सात ताले के भीतर धरी जाती है। जब 'चिन्तामणि' पत्थर जैसी वस्तु भी छिपाकर रखी जाती है, तब प्रेम का तो उससे कहीं अधिक महत्व है। पर आज तो प्रेम का ढिंढोरा पीटा जाता है। श्रीश्यामसुन्दर की अधरसुधा का पान करके अन्य जड़-चेतनों की तरह मुरली को भी आनन्द आता है, पर वह चतुर है, विप्रयोग-भय से, 'टोना' के भय से उसे छिपाती है। इस प्रकार तात्पर्य यही कि व्रजेन्द्रनन्दन श्रीश्यामसुन्दर के दर्शनादि-समुत्थ यह रस ही ऐसा अलौकिक है कि इसकी परम्परा में भी आस्वाद है, इसीलिये ब्रह्मादि देवगण व्रजवासियों के हृषीकचषकमात्र भी बनकर अपने को कृतार्थ समझते हैं—"**एतावतैव हि वयं बत भूरिभागाः।**"

विरहव्याकुल गोपाङ्गनाओं का मन एक क्षण के लिये भी श्रीश्यामसुन्दर प्राणधन के चिन्तन से मुक्त नहीं होता। वे कभी श्रीश्यामसुन्दर नवलबिहारी के अलौकिक रस का, उसकी परम्परा में भी अनुभूति का तो कभी उनके अङ्ग के सङ्गी आभूषण आदि का चिन्तन, मनन, उनमें गुण-दोष का आरोप, अधिकार-अनधिकार की चर्चा आदि करती हुईं प्राणप्यारे के अन्वेषण में व्यग्र हैं। श्रीव्रजराजकिशोर की माला का स्मरण कर व्रजदेवियों को भावना हुई—सखियो, देखो, हमसे अधिक सयानी तो वे सुमन (पुष्प), मुक्ता, हीरक आदि की मालाएँ हैं, जो कभी उनका सङ्ग नहीं छोड़तीं। वे जड़ होकर भी कितनी विवेकसम्पन्न हैं और हम कामपरवश स्त्री अतएव मुग्धता या मूढ़तावश उनका साथ छोड़ बैठी हैं। हाय, कामपरवशात् स्त्री जगत् में मुक्ता, हीरक आदि से भी—कङ्कड़-पत्थर आदि से भी—अधिक विचारशून्य है।

दूसरा भाव यह भी है कि जब सुमन, मुक्ता, हीरक आदि भी उन श्रीश्याम-सुन्दर को नहीं छोड़ सकते, तब हम काम के वश में पड़ी हुई स्त्रियाँ कैसे छोड़ दें ? कैसे उन्हें भुला दें—

"अहो सुमनसो मुक्ता वज्राण्यपि हरेरुरः।
न त्यजन्ति वयन्तत्र का वा स्मरवशः स्त्रियः॥"

श्रीश्यामसुन्दर के कण्ठ में, वक्षःस्थल पर मुक्तामालाएँ हैं, मानो इन्द्रनीलमणि के शिखर पर गङ्गा की दो धारा, किंवा नवनीलनीरद पर हंसों की पंक्ति, काली घटा पर हंसों की दो पंक्ति के समान विराज रही हैं। माला में विविध मणि, रत्न जड़े हैं, कोई सूर्य के सदृश देदीप्यमान, कोई चन्द्र के समान समुज्वल और कोई नक्षत्रों की तरह प्रकाशमान है। ऐसी बनमाला, मुक्तामाला, वैजयन्तीमाला आदि अनेक मालाएँ श्रीप्रभु ने धारण की हैं। गोपाङ्गनाओं की इसपर एक और ऊँची सूझ है। वे कहती हैं—ये सुमनस केवल सुमनस-पुष्प-नहीं, किन्तु शोभन-तत्वचिन्तनानुकूल मनवाले तत्वज्ञ ही सुमनस-पुष्प-के रूप में अनन्त तपस्या करके श्रीहरि के विशाल वक्षःस्थल पर विराजमान हुए हैं और ये मुक्त हुए मुक्त-वामदेव, वशिष्ठ, शुक, सनकादि हैं, जो मुक्त होकर-मोती बनकर-हमारे प्यारे के अङ्ग में आ विराजते हैं। ये भी हमारे श्याम के उर को नहीं छोड़ना चाहते। ये क्यों रागी हो गये, जो विरक्त हैं? वहाँ तो हमें ही रहना चाहिये। सखि, हम तो स्त्री हैं, अशेषशेखर में हमारा तो राग युक्त है, पर इन जड़ मुक्ता, वज्र आदि का वहाँ क्या काम? जब ये नहीं छोड़ते, तब हम स्त्रियाँ कैसे छोड़ें?

श्रीश्यामसुन्दर के कर्णाभरणादि के प्रति व्रजाङ्गनाओं की ईर्ष्या देखते ही बनती है। श्रीत्रिभुवनमोहन ने कानों में मकराकृति कुण्डल पहने हैं, जब उनका शिर हिलता है, तब वे कुण्डल या उनकी आभा स्वच्छ, स्निग्ध कपोलों से टकराती है, उस समय मालूम होता है कि मीन भगवान् के कपोलों का चुम्बन कर रही हैं। इसे देखकर व्रजाङ्गना रसोद्रेक में विह्वल हो जाती हैं, उन्हें ईर्ष्या होती है, वे कह उठती हैं—'हा मीन, आज मधुर कपोलों का, जो हमारे ही हैं, तुम चुम्बन कर रही हो।' इसी सम्पर्क में उन्हें अन्य श्यामाङ्गसङ्गियों के प्रति भी सापत्न्य उदय हो आता है। वे वंशी से कहती हैं—हे मुरलिके, अधिकारिणी तो हम हैं और तुम इस अधरसुधा का लम्पटता, अकृपणता से पान कर रही हो। हे माले, हमसे बिना ही पूछे-हमारी अनुमति के बिना ही-हमारे प्रियतम के श्रीअङ्ग का निरन्तर परिरम्भण कर रही हो। अथवा ठीक है, तुम सब जगज्जाल से परे-विधि-निषेध से दूर हो गयी हो, तुम्हारी तपस्या के रूखे वृक्ष में आज फल लग गये हैं, सौभाग्य का उदय हुआ है। हम तो विधि-निषेध में बँधी हैं, जङ्गलों में भटक रही हैं। इस तरह कृष्णप्रेम में प्रमत्त व्रजदेवियाँ अचेतनों को चेतन ही जानकर उलहना दे रही हैं। इसी प्रकार वृक्षों के प्रति धारणा करती हैं और कहती हैं—जिन कदम्ब, आम्र, प्रियाल आदि का आश्रय लेकर श्यामसुन्दर विराजते हैं, वे अवश्य हमें उनसे मिलायेंगे। और कहती हैं, हे प्रिय के आलय प्रियाल, तुम हमें श्याम से मिला दो, हम तुम्हारा बड़ा उपकार मानेंगी।

इस प्रकार गोपदेवियाँ श्रीकृष्ण परमात्मा के विप्रयोग में सन्तप्त प्रेममुग्ध हुई उन्हें ढूँढ़ती, वृक्षों से पूछती फिरती हैं—

"चूतप्रियालपनसासनकोविदारजम्ब्वर्कबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।
येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकूलाः शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः ॥"

यह बात कही जा चुकी है कि व्रजाङ्गनाओं को जब तक उत्तर की आशा रहती है, तब तक खूब स्तुति, गुणगान करती हैं और उस आशा के निराशा में बदलते ही दोषों का गान करने लगती हैं। पहले प्रियाल की बड़ी स्तुति हुई। जब देखा कि यह जरा भी नहीं पसीजता, तब कहने लगीं—"**प्रियं न लातीति प्रियालः (प्रिय-अ) नञ् (लः) प्रियप्राप्तौ प्रतिबन्धकः।**" जो प्रिय का पता न दे, उसके सम्मिलन में व्यवधान उपस्थित करे, वह पापी प्रायश्चित्ती प्रियाल है।

इस तरह प्रियाल पर बहुत कुछ कहकर अब गोपाङ्गनाओं की दृष्टि **'पनस'** पर घूमी। कहने लगीं—"सखियो, आओ इस **पनस** (कटहल) से पूछें, यह फली है, अतः विनम्र है, इसका फल महाफल होता है। यह हमारे परिश्रम के महाफल श्रीकृष्ण को अवश्य बतलायेगा। देखो, इसका नाम कितना सुन्दर है—'पनस'। यह **'पन गतौ'** और **'शो तनूकरणे'** से निर्मित हुआ है। इसकी बड़ी सार्थक व्युत्पत्ति है—

"**प्रेयसीः परित्यज्य पनतः-गच्छतः श्रीश्यामस्य गतिं स्यति-तनूकरोतीति पनसः।**"

यह अपनी दिव्य शक्ति से मोहन की गति को क्षीण कर देता है, जिससे वे हम लोगों को मिल जायँ। और भी एक व्युत्पत्ति इस नाम की है "**पातीति पः, न स्यतीति नसः**" अर्थात् श्रीश्याम के दर्शन दिलाकर पालन करनेवाला यह है, सन्ताप से क्षीण करनेवाला नहीं।" इस प्रकार जब बहुत स्तुति आदि करने पर भी कटहल हिला तक नहीं, तब उन्हें वह बड़ा ही दुष्ट दीख पड़ा और तुरन्त उसके नाम की व्युत्पत्ति, उसके गुण निन्दा में बदल गये। कहने लगीं—"**पनम् प्राप्तिं स्यति खण्डयतीति पनसः।**" प्रिय की प्राप्ति में अवरोध पहुँचानेवाला यह कण्टकी वृक्ष है। बाहर तो उसमें काँटे हैं ही, यह अन्तर में भी **'कण्टक'** रखता है।

पनस को छोड़कर आगे चलते ही व्रजाङ्गनाओं के सामने असन–शाल का वृक्ष आया। उस खूब प्रलम्ब, सुन्दर वृक्ष को देखकर गोपाङ्गनाओं को उससे पूछने का मन हो आया। कहने लगीं—"यह असन हरिभक्त है, देखो, इसके नाम के पहले अकार है, यह वासुदेव का वाचक है। "**अम्—वासुदेवं सनतीति असनः।**" यह भक्त है, साधु है, "साधु से होइ न कारज हानी।" इससे पूछो यह बतलायेगा।" वैसे भी श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की प्राप्ति के लिये भागवत ही प्रष्टव्य होते हैं। "**आसयति—उपदेशयति सखिवर्गसमीपे हरिमिति असनः**" जो सखियों के समीप प्यारे रासबिहारी को ला उपस्थित कर दे, वह यह **'असन'** है। इस 'साल' वृक्ष में दिव्य सामर्थ्य है। अन्यत्र के साल वृक्षों में यह अर्थ घटे चाहे न घटे, पर यहाँ के वृक्ष वाञ्छाकल्पतरु हैं. इनकी स्तुति करने से, इनका सिञ्चन करने से, इनकी

छाया में बैठने से श्रीश्यामसुन्दर प्रभु की प्राप्ति अवश्य होती है। कल्पवृक्ष हीरा-मोती के कङ्कड़-पत्थर दे सकता है, मोक्ष या श्रीहरि को नहीं दे सकता। यदि मोक्ष से कैवल्य अभिप्रेत है, तो उसे और उसके देनेवाले को व्रजदेवियाँ दूर से ही नमस्कार करती हैं—"**नमः कैवल्यनाथाय।**" मोक्ष से उनका अभिप्राय सामीप्यमुक्ति से है। इस तरह व्रजाङ्गनाओं ने असन को भी खूब स्तुति की, पर जब उसकी मौनमुद्रा कथमपि न खुली, तब उन्हें उसपर असूया उत्पन्न हो आयी और वह "**अस्यति दूरं क्षिपति, न किमपि सनति**" की व्युत्पत्ति का भाजन बन गया तथा श्रीवृषभानुदुलारी या नन्दसूनु किसीका भी भक्त नहीं रह गया।

आगे व्रजदेवियाँ '**कोविदार**' (कचनार) के समीप पहुँचीं, वह उन्हें महादानी के स्वरूप में दृष्टिगत हुआ। कहने लगीं—"**कोविदम्—रासपण्डितं श्रीश्यामसुन्दरं रातीति कोविदारः**" यह रासपण्डित, रसिकेन्द्रचूड़ामणि श्रीश्यामसुन्दर का दान करता है। "हे कोविदार! तुम धन्य हो। कोई अन्न का, कोई प्राण का, कोई विद्या का और कोई भूमि आदि का दान करता है परन्तु तुम इन सबको मात करते हो, क्योंकि तुम सर्वात्मा, सर्वान्तर्यामी प्राणेश्वर का दान करते हो, तुम महादानी हो।" रात्रि भी दानी है ("रात्री–राति, त्राति इति रात्री") परन्तु किसका दान, किसका पालन, यह भी तो विचारणीय है। देव और पात्र के महत्व से दान की महिमा है। दश रुपये का दान और गाय का दान समान नहीं है। माघ में दश रुपये का दान और तिल का दान समान नहीं है। कङ्कड़-पत्थर का दान और सर्वात्मा का दान समान नहीं है। फिर किसको देना, पात्र का भारी महत्व है। एक दो दान का द्रव्य पाकर उसका आटा लेकर मछली पकड़ेगा और दूसरा उससे श्रीसदाशिव विश्वनाथ के मन्दिर में, श्रीहरिमन्दिर में, दीपक जलायेगा। कितना अन्तर है—गृहीता के उपयोग का? इसीके अनुसार दाता को जो फल की प्राप्ति होगी, उसमें भी महान् अन्तर है। वाइसराय का कुत्ता भी दानी है, जो सुख महाधनी को नहीं, वह उस कुत्ते को है। हीन देश, काल, पात्र के दान की महिमा से वह उस दान के फल को कुत्ता बनकर भोग रहा है। ज्ञान या भगवद्विद्या के दान आदि फल कुत्ता बनकर नहीं भोगा जाता। वह वैकुण्ठादि में जाकर या मनुष्य, उत्तम ब्राह्मण आदि बनकर ही मिलेगा। अतएव ऐसे विद्यालय आदि खोलने चाहिये, जिनसे अपने माता-पिता आदि की, अपनी सद्गति हो। "व्रजाङ्गनाओं के कात्यायनीव्रत, अर्चन से प्रसन्न होकर भगवान् कृष्ण ने उन्हें रात्रियों का दान दिया—"**मयेमा रंस्यथ क्षपाः।**" उन रात्रियों में रमण का भगवान् ने स्मरण भी किया है—"**तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता मयैव वृन्दावनगोचरेण।**" ....**ता रात्रीः**........' **रात्रीः**—दान देनेवाली—ये बड़ी दानी हैं। गोपियों को दान दिया—"**इमाः क्षपाः**" उस समय मूर्तिमती रात्रि आयी। खजाञ्ची देय वस्तु सामने लाकर रखता है। योगमाया ने रात्रियों को सामने

लाकर रखा। भगवान् ने कहा—"इन रात्रियों में मेरे साथ रमण करें।" **योगमाया** से अनन्त करोड़ ब्राह्मी रात्रियों में चार घड़ी की रात्रि प्रविष्ट हुई। श्रीकृष्ण के बालसखा मधुमङ्गल की माता पूर्णमासी योगमाया ही थी, उसकी महिमा से एक रात्रि में उन रात्रियों का प्रवेश हुआ। दुःख में एक-एक क्षण वर्षों के बराबर बीतते हैं—"**क्षणं युगशतमिव यासां तेन विनाभवत्**" और सुख में वर्ष के वर्ष एक क्षण के समान बीतते हैं। वृन्दावन का का प्रमाण बहुत प्रशस्त माना गया है, इतना प्रशस्त कि उसका मध्यभाग '**गोवर्द्धन**' है—"**मध्ये गोवर्द्धनं तत्र।**" परन्तु व्रजाङ्गनाओं की कोटि-कोटि संख्या थी। इतनी अधिक उस विशाल वृन्दावन में भी न आ सकीं। इनके अतिरिक्त कितनी ही श्रीराधाजी के रोम-रोम से उत्पन्न हुई थीं और श्रुतिरूपा, मुनिरूपा अलग थीं, फिर इन सबके केलिधाम अलग तैयार थे। विहार के उपयुक्त कुञ्ज आदि भी उसी प्रकार बने थे। यह सब पूर्ववर्णित रात्रियों की तरह यहाँ नित्य वृन्दावन धाम भी प्रकट हुआ था, जिसमें सब सविकाश समा गये। हाँ, तो इन रात्रियों का महादानीपना क्या हुआ? इन्होंने कौन महादान दिया? इन्होंने ब्रह्म-विद्या का—पुरुषोत्तमविद्या का—दान किया। "**जीवाभयप्रदानस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।**" इतना ही नहीं, इन्होंने साक्षात् श्रीकृष्ण परमानन्दकन्द का ही दान किया। वह भी किनको? उन व्रजदेवियों को, जिनके पादरज के लिये ब्रह्मादि तरसते हैं, जो प्रेमपथिकों की परम आचार्य हैं। वह दान वृथा नहीं है। "**वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तेषु भोजनम्**" की तरह नहीं है। ये तो उस दान की परम अधिकारिणी हैं, उसके लिये लालायित रहती हैं। उनके दर्शन में पलक पड़ने को विघ्न मानती हैं, ब्रह्मा को कोसती हैं—"सखि, जड है विधाता।" ऐसे पात्रों को इन रात्रियों ने दान दिया श्रीश्यामसुन्दर का और इसीसे उनका रक्षण भी किया। अन्यथा उनका रक्षण होना ही दुःशक था। फिर यह दान पवित्र देश वृन्दावन और तदनुकूल काल में हुआ। यह श्रीशुकदेवकृत वर्णन है। योगीन्द्रवन्द्यपादारविन्द गोपाङ्गना कोविदार की स्तुति करती हैं। देश, काल, पात्र, देश की महत्ता बतलाती हैं, उन रात्रियों ने उद्‌बुद्ध उभयविध शृङ्गाररूप रसिकशेखर का दान किया, यमुना के किनारे, साक्षात् प्रेमद्रव के पास और परमवियोगिनियों को। भूखे को दान देने का बड़ा महत्व है। "कोविदार"! ऐसा देश, काल, पात्र, न मिलेगा। बतलाओ, हमारे प्राणधन श्याम-सुन्दर कहाँ हैं? किस ओर गये हैं?" कोविदार एक तो वृक्ष, वैसे ही जड़ और उनकी प्रेमदशा, उनकी बातों से और भी वह स्तब्ध-सा हो गया, कुछ कहता ही नहीं। उसके इस व्यवहार से गोपाङ्गनाओं में असूया का उदय हो आया। वे कहने लगीं—"सखियो! यह "**कोविदेभ्यो न रातीति कोविदारः**" है। यह केवल '**कुं भूमिं विदारयतीति कोविदारः**' है। यह तो "**मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे कुठारः**" है।

"चलो, आगे उस जामुन से पूछें, उसका वर्ण श्यामसरीखा है।" तारीफ में उसे **'जो जये'** से उणादि निष्पन्न करती हैं और असूया में वही **"जो अभिभवे"** से बनने का अधिकारी हो जाता है।

आगे मार्ग में अर्क (आक) पड़ा, उससे भी व्रजाङ्गनाओं ने अपने प्राणप्रिय का पता पूछा। व्रजाङ्गनाओं से किसोने कहा--"बड़े-बड़े महाफली वृक्षों से पूछकर अब इस क्षुद्र से क्या पूछोगी ?" तब कहने लगीं--"नहीं, यह गोपोश्वर (वृन्दावनस्थ महादेव) का प्रेमी है, उनके मस्तक पर विराजता है, वे इसको पाकर भक्तों के अभीष्ट पूर्ण कर देते हैं। यह अवश्य प्रष्टव्य है। दूसरे, चन्द्रावली (प्रतिनायिका) आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यह सूर्य की तरह हमारे प्रिय-विश्लेषजन्य दुःखरूप तम को दूर कर दे सकता है। यह **"ऋणाति प्रियं गमयति इति अर्क"** है। हे अर्क, हे शिवप्रिय, हमें श्याम से मिला दो।" जब वह भी नहीं बोलता, तब असूया से कहती हैं--"यह बौड़म के पास रहने से बौड़म हो गया है, विषवृक्ष है, इसे किसीके सुख-दुःख का क्या पता ? हम यह कुछ असूया से नहीं कहतीं, देखो, इसके स्वामी जैसे अस्सी हजार वर्ष की अखण्ड समाधि में बैठते हैं, वैसे ही यह भी समाधि में बैठा है।" परन्तु भोलेबाबा की यहाँ (वृन्दावन) की समाधि और है। कैलास की समाधि में वे अग्राह्य स्वात्म स्वरूप में लीन होते हैं यहाँ की समाधि में वे श्रीश्याम-सुन्दर की पदनखमणिचन्द्रिका में विलीन होते हैं।" मधुसूदन सरस्वती ने कहा है—

"पदनखनिविष्टमूर्त्तिक एकादशतामिवावहन्नित्यम्।
यं समुपासते गिरिशस्तं वन्दे नन्दमन्दिरे कञ्चित्॥"

भक्ति की दश अवस्थाओं में शिव सन्तुष्ट न हुए, उन्होंने ग्यारहवीं निष्ठा को स्वीकार किया। वैसे **"शिवस्य हृदयं विष्णुः"** तो है ही। नन्दप्राङ्गण में जाकर एक बार 'श्रीसदाशिव ने श्रीश्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन को प्रणाम किया। श्यामल, महोमयस्वरूप श्रीकृष्ण की नीलकमल के समान अंगुलियाँ हैं, उनपर दश नख मणि के जैसे हैं, जो अनन्त ब्रह्माण्ड को जगमगा देते हैं--**'ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्।'** **(महताम्—सनकादिशुकादीनां हृदयान्धकारम् आहतं भवति। "ज्योत्स्नाभिराहत-मिव हृदयान्धकारम्।"** उससे सब अज्ञानान्धकार मिट जाता है। भगवान् शिव जब नन्दबाबा के प्राङ्गण में आये और वहाँ क्रीड़ामग्न श्रीश्यामसुन्दर को प्रणाम करने के लिये झुके, तब प्रभु के नखों में उनकी मूर्ति प्रतिबिम्बित हुई। जिस भगवत्प्रसाद को श्रीः--जाया, सङ्कर्षण बन्धु--और आत्मा स्वयं भी न ले सके, उसे श्रीसदाशिव ने प्राप्त किया। कुन्द और इन्दु की तरह स्वच्छ धवलिमा मनोहर दीप्तिवाले देह और दुग्धधवल धारा के समान प्रवहणशील गङ्गा को शिर पर धारण किये तथा कोटि-कोटि कामों को लजानेवाला श्रीशिव का मुख जिन नखों में प्रतिबिम्बित हुआ, वह पादारविन्द कितना स्वच्छ होगा ? श्रीप्रभु के पादारविन्द के ऊपर का भाग

श्यामल-महोमय-दीप्ति-सम्पन्न, नीचे का भाग सुकोमल लाल और उसपर स्वच्छ नख हैं, उनमें शिव का प्रतिबिम्ब चमत्कृत है।

प्रभु का पादारविन्द कल्पवृक्ष आदि विविध चित्रों से अलंकृत था, केवल नख में कोई चित्र नहीं था, श्रीसदाशिव के प्रतिबिम्ब ने उसे स्वकायचित्र से अलंकृत कर दिया। श्रीशिव वहीं उपासना की अलौकिक समाधि में लीन हो गये। तात्पर्य यह कि श्रीभोलेबाबा की यहाँ की—व्रज की—समाधि तो यह है। गोपियाँ कहती हैं—"सखि, यह श्रीशिव का साथी अर्क भी, मालूम होता है ऐसी ही किसी समाधि में लीन है। चलो, और किसीसे पूछेंगी।"

इस प्रकार प्रेमविह्वल गोपाङ्गनाएँ प्रिय मोहन को ढूँढ़ती हैं, वृक्षों से पूछती फिरती हैं, कोई भी उन्हें बतलाता नहीं, परन्तु उनके उत्साह में कमी, अश्रद्धा न आयी। अर्क को छोड़कर वे बिल्व के समीप पहुँचीं। रूप देखकर उन्हें उसका नाम याद आ गया। कहने लगीं—"इसका नाम बड़ा अच्छा है–बिल्व। **'विरुद्धं लुनातीति बिल्वः'** ये वृन्दावन के बिल्व ही श्यामप्राप्ति प्रतिबन्ध का लवन—छेदन करते हैं। हे बिल्व! हमें एक बार प्यारे मनमोहन के दर्शन करा दो, हम तुम्हारा बड़ा उपकार मानेंगी। तुम हमारी सखी लक्ष्मी के वक्ष हो, श्रीवक्ष हो। लक्ष्मी हमारे श्यामसुन्दर की प्रेयसी हैं। हमारा पक्षपात करो, श्रीश्याम-प्रतिबन्ध-संयोग को मिटाकर शीघ्र प्राणधन से मिला दो।" इस तरह गोपाङ्गनाओं ने प्रार्थना की, थोड़ी देर खड़ी रहीं, परतु बिल्व की ओर से भी उन्हें कोई आश्वासन न मिला। निराशा की साँस छोड़कर वे बोलीं–"गोपीश्वर के सम्बन्ध से यह भी समाधिष्ठ प्रतीत हो रहा है, नहीं तो कुछ बोलता न?" कोई कहती है–"सखि, इसका तो नाम हमारे लिये उलटा पड़ गया, यह तो **"अस्मन्मनोरथान् विशेषेण लुनातीति बिल्वः"** हो गया। इससे अब आशा रखनी व्यर्थ है।"

"चलो, वह सामने बकुल दिख रहा है, उससे पूछेंगी। हे बकुल! आप शिव और विष्णु दोनों के भक्त हैं और अपने भक्तिभाव से दोनों को भूमि पर ले आनेवाले हैं—**"उश्च अश्च अनयोः समाहारो वः तौ कौ लाति (ला आदाने) आनयतीति बकुलः"** हे हरिहरपरायण, हे अपने प्रेमयोग से हरिहर को यहाँ ले आनेवाले बकुल! हम तुम्हें नमन करती हैं, हमारे प्राणधन मोहन प्यारे को यहाँ ला दो, उनसे हमें भी मिला दो, अथवा पता ही बतला दो वे किधर गये हैं?" कुछ प्रतीक्षा के बाद कहती हैं—"सखियो, यह न बतलायेगा, क्योंकि यह शिव और विष्णु का भक्त है, ये दोनों उन निष्ठुर श्यामसुन्दर के ही पक्षपाती हैं, उनका यह भक्त हमें कैसे बतलायेगा? यह तो महापक्षपाती है।" व्रजाङ्गनाओं की यह निन्दा, निन्दा नहीं, ये तो प्रेम की बातें हैं–'व्रज की गारी'। ऐसी असूया तो इन्हें श्रीकृष्णचन्द्र परमात्मा से भी होती है। ये तो

उनके चरित से भी असूया करती हैं। यह इनकी प्रेममयी असूया है। प्रसन्न रहती हैं तब स्तुति करती हैं—

"तव कथामृतं ! तप्तजीवनं कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुविगृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥"

कहती हैं—"ईर्ष्या देवताओं में भी लगी रहती है, पर आपकी कथा में यह नहीं है। आपके गुणों का गान सनकादि क्रान्तदर्शियों ने किया है। वे देवों का गुण-गान नहीं करते। देवता अमृतकलश लेकर श्रीशुकादि के समीप आये और उन्होंने बदले में अमृत देकर आपकी कथा चाही। आपके भक्त कथाप्रेमी श्री शुकादि ने उसका तिरस्कार कर दिया। कहाँ कथा और कहाँ अमृत ? मणि का काँच से कौन मनीषी परिवर्त्तन करेगा ?—**"क्व कथा क्व सुधा लोके क्व काचः क्व मणिर्महान्।"** आसन्नमृत्यु राजा परीक्षित् ने भी देवों का इसपर उपहास किया। योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी आपकी कथा की स्तुति करते हैं। आपकी कथा ; शोभा और लक्ष्मी दोनों से सम्पन्न है, लोक में व्याप्त है। देवों का अमृत एक जगह रखा है, महानाग उसकी रक्षा करते हैं। आपकी कथासुधा का दान होता है। इसके दाता महान् हो जाते हैं।" परन्तु जब व्रजाङ्गनाओं के प्रेमपाथोधि में ईर्ष्या की तरङ्ग उठती है, तब वे उसकी भरपेट निन्दा भी करती हैं। कहती हैं—"आपकी कथा क्या है, मनुष्य की साक्षात् मृत्यु है। कोई विरहिणी आपकी कथा सुनकर दुःख मोल लेती है, कथा के सुनने से उनका विप्रयोगसन्निपात तीव्र हो जाता है। आपकी विस्मृति में वह सुख से रहती है। उसको होश में लाने की दवा आपकी कथा का त्याग है। यही कहा है—

"सन्त्यज सखि तदुदन्तं यदि सुखलवमपि समीहसे सख्याः।
स्मारय किमपि तदितरत् विस्मारय हन्त मोहनं मनसः ॥"

अर्थात् उनकी कथा मत छेड़ो, यदि इस सखी को थोड़ा भी सुख-शान्ति देना चाहती हो। जैसे भी बने इसके मन से मोहन को भुलवा दो, उसकी कथा मत चलाओ। उसके आवेश में इसकी व्रीडा विलुप्त हो जाती है, धैर्य का बाँध टूट जाता है—**"व्रीडां विलोपयति मुञ्चति धैर्यम्।"** बस, उस विरहिणी के लिये आपकी कथा ही मरण है, जले में नमक छिड़कना है। जैसे तैलपूर्ण महाकटाह भट्टे पर चढ़ा हो, नीचे खूब आग धधक रही हो, तैल खूब परितप्त हो चुका हो और २-३ सेर महाविष भी मिला हो, उसमें पड़ा एक कीट कितना जीयेगा (तप्ते कटाहे यथा जीवनम्)। हम विरहिणी व्रजाङ्गनाओं के जीवन के लिये आपकी कथा वही सुतप्त तैलपूर्ण कटाह-पात के जैसी है। फिर कथा सुनने से एक गहरी वेदना, सन्ताप यह होता है कि जो हमारे अन्तःकरण में बसा है, हमारे अङ्ग-अङ्ग से सम्मिलित रहता है हाय, हम आज उसकी कथामात्र सुन रही हैं, क्या आज हमें उसका वियोग है, समालिङ्गन नहीं प्राप्त है ? उस अवसर पर उसकी कथा, केवल कथा, वही काम करती है, जो तप्ततैलपूर्ण महा-

कटाह में जल की बूंदें—**"तप्ते कटाहे जीवनम्-जलमिव।"** उस समय जैसे कटाह में आग भभक उठती है, हमारे हृदय में वैसे ही प्रिय-विरह-वैश्वानर की महाज्वाला प्रदीप्त हो उठती है। यदि कोई पूछे कि इतनी दुःखद मरणप्रद यह कथा है, तो इसको लोग क्यों गाते हैं? इसपर कहती हैं—इसे गाते कौन हैं? कवि न! कवि क्या नहीं कहते?—**"कवयः किन्न जल्पन्ति।"** वे तो भैंस की भी तारीफ करते हैं। फिर यह कथा **"श्रवणमात्रे मङ्गलम्"** है, किन्तु **"परिणामे दुःखदं अमङ्गलम्"** है। जिसने इस कथा को सुना, वह बाबा बनकर भीख माँगता है। 'राधेश्याम, नारायणहरि' कह-कर गली-गली टुकड़ा माँगता फिरता है। प्रश्न होगा—ऐसी चीज का दुनिया में विस्तार कैसे हो गया? तो उत्तर यही है कि प्रमादी धनियों ने कष्ट देने के लिये उसे दुनिया में फैला दिया है—**'श्रीमदाततम्।'** किञ्च जो उस कथा को गाते फिरते हैं, उनके लिये हम क्या कहें, वे तो सर्वस्वनाशक हैं। **'भुवि गृणन्ति ते, भूरिदा जनाः' (भूरीणि घ्नन्ति दोऽवखण्डने) "चित्रकेतुकर घर उन घाला, कनककशिपुकर पुनि अस हाला।"** इन ऐसे लोगों ने राजा चित्रकेतु को लाखों रानियों से वियुक्त कराकर वन-वन में भटकाया। प्रह्लाद को गर्भ में ही ऐसा पढ़ाया कि बेचारे का वंश ही मिट गया। व्रजाङ्गनाओं की यह सब असूया प्रेमोन्माद की विचित्र दशा है। उसी दशा में ग्रस्त उन्होंने बकुल की भी निन्दा की—"सखि! जब हमारे रोने-धोने से वे निष्ठुर श्यामसुन्दर भी प्रसन्न होते हैं, तब इसकी तो बात ही क्या?"

अच्छा सखियो, देखो वह सामने आम्र दिख रहा है, उसके पत्ते हिल रहे हैं, मालूम पड़ता है वह अपनी पल्लवाङ्गुलियों से हमें बुला रहा है, चलो, उससे पूछें। कितना सुन्दर नाम है—**"आम्रः अमयति श्रीकृष्णं अथवा अम्यते प्राप्यते सेव्यते अर्थाभिलाषुकैर्यः।"** आम काटनेवाले को पछताना पड़ता है, यह देववृक्ष है। यह वृन्दावनस्थ आम्र ही श्रीश्यामसुन्दर को मिलानेवाला है। यह 'रसाल' है, रस-निर्यास श्रीश्यामसुन्दर को समर्पण करता है (रसमालातीति रसालः)। हे रसाल! यदि रस न दो, तो तुम फिर 'रसाल' ही कैसे? रस तो प्राणप्यारे नन्ददुलारे ही हैं—**"रसो वै सः"** वे ही हैं, अवश्य उन्हें बतलाओ। जब असूया पर उतरीं, तब कहती हैं—कुछ नहीं जी, यह रस-वस कुछ नहीं देता, यह तो रोग देता है—**"अमयति रोगं यच्छतीत्याम्रः।"** रात को इसके नीचे सोने पर बीमारी निश्चित है। जाने दो सखि इसे।

"चलो अपने उस **'कदम्ब'** के पास चलें। जैसे श्रीराम का सिंहासन कल्पवृक्ष है, वैसे प्यारे का सिंहासन यह कदम्ब है। सप्तावरण, अष्ट प्रकृति के भीतर जो वृन्दा-वन है, उसमें यह कदम्ब है। इसकी स्तुति में भगवान् व्यास ने क्या अच्छा कहा है—**"कदम्बकिञ्जल्कपिशङ्गवाससा।"**······इसका सौगन्ध्य, इसके फल सब लोकोत्तर हैं। आनन्दकन्द, वृन्दावनचन्द्र यशोदानन्द के भी मनोरथों को यह पूर्ण करता है।—

"कं प्रेमात्मकं सुखं ददातीति कदः।" साधारण क्षुद्रानन्द को देनेवाले बहुत हैं। वे श्रीघनश्याम उदार हैं, घन पात्र का विचार नहीं करते। श्यामल घन भी जीवन–जलरूप–परमामृत का खूब वर्षण करते हैं। यह जल केवल जीवन है, पर श्रीश्याम तो साक्षात् जीवन हैं। यह घन–नवनीलनीरद–दामिनी से आवेष्टित है और वे घन-श्याम कनकलतावेष्टित–श्रीवृषभानुनन्दिनी से आवेष्टित–हैं।" यहाँ दामिनीस्थानीया श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं। दामिनी को देखकर श्रीजी को ईर्ष्या होती है—

"तडितः पुण्यशालिन्यो याः सदा घनजीविताः।
तेन साद्धं व्यदृश्यन्त न व्यदृश्यन्त कर्हिचित्॥"

अर्थात् ये सौदामिनी धन्य हैं, जिनका घन ही जीवन है। ये सदा अपने प्रिय के अङ्क में ही दीखती हैं। घन के बिना इनका दर्शन ही नहीं होता। व्रजाङ्गना भी इसकी प्रशंसा करती हैं—"सखि, तुमने कौन देश, तीर्थ में कितने दिन पवित्र तपस्या की है, जो श्याम-मेघ के उर में, जो श्रीहरि के वक्षःस्थल के समान है, सदा रमण करती हो?—"अयि तडित् त्वमसौ क्व नु किन्तपः यदिदमम्बुधरं हरिवक्षसस्तुलितम्।" 'गोपालचम्पू' में एक भाव है—जब श्रीव्रजेन्द्रनन्दिनी मेघ की श्यामलता को देखतीं, तब उड़कर वहाँ पहुँचने का यत्न करतीं। उन्हें प्रत्यक्ष ही भान होता कि यह मेरे प्राणप्यारे का उरःस्थल है, शीघ्र आलिङ्गन करूँ। चैतन्य महाप्रभु की भी ऐसी ही स्थिति थी—वे भी जब मेघ का दर्शन करते, तब समुद्र की ओर दौड़ पड़ते। श्रीघनश्याम के आकर्षक सौन्दर्य की स्तुति गौड़ब्रह्मानन्दीकार ने अपनी वन्दना में भी की है—

"नमो नवघनश्यामकामकामितदेहिने। कमलाकामसौदामकणकामुकगेहिने॥"

अर्थात् जिनका देहसौन्दर्य कामदेव के भी द्वारा वाञ्छित हुआ, दूसरों को महावैभवप्रदाता होकर भी जिन्होंने लक्ष्मी की इच्छा रखनेवाले सुदामा ब्राह्मण के कणों को चाहा और ग्रहण किया, उन नवीन घन के समान श्याम को मैं नमस्कार करता हूँ। लोक में प्रायः देखा जाता है—काम द्वारा लोगों को कामना होती है, परन्तु यहाँ तो उन व्रजेन्द्रचन्द्र की अपूर्व छविमाधुरी पर काम भी मुग्ध हो गया। वह उन प्रभुपादारविन्द की नखमणिचन्द्रिका की छटा को दूर से ही देखकर इतना व्यामुग्ध हुआ कि अपनी सब सुध-बुध भूल गया, मूर्च्छित होकर कहीं आप गिरा और कहीं धनुष; कुछ होश आने पर उसने विचार किया, अब खूब उग्र तपस्या करके, कामिनी बनकर इस नखमणिचन्द्रिका का सेवन करूँ, तब जन्म सफल हो। वह पुंसत्व को मिटाकर स्त्रीत्व प्राप्ति के लिये तपस्या का निश्चय करता है—"कामैरपि कामितो देहो यस्य।" एक क्या, सैकड़ों और सहस्रों काम उस त्रिभङ्गललित के लावण्य पर न्यौछावर हो गये। अस्तु, प्राकृत मेघ में और इस मेघ में बहुत अन्तर है, वह पात्रापात्र का विवेक नहीं करता, यह लताओं को भी प्रेम-रस देता है—

"सन्त्ववतारा बहवः पुष्करनाभस्य सर्वतोभद्राः।
कृष्णादन्यः को वा लतास्वपि प्रेमदो भवति ?"

उस महोमयी मूर्त्ति मेघ ने सबमें प्रेमरस बरसाया। रसाल को तो परिपूर्ण ही किया। कदम्ब की तो बात ही क्या, उसे तो आत्मसमर्पण ही कर दिया। उसीके प्रेमानन्द की वर्षा करनेवाले हुए 'कदा' और उन्हें 'वातीति कदम्बः।' यह वह कदम्ब है। जिसने इसका सेवन किया, श्रीराधावेष्टित कृष्ण का–घनश्याम का–ध्यान किया, उसे यह श्रीश्यामसुन्दर को दे देता है। "अतः हे कदम्ब, हे सर्वानन्ददाता, हमें प्राणप्यारे को बतला दो"–"**शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः।**" कदम्ब' और 'नीप' एक ही वस्तु है, भेद इतना ही है कि नीप रजःप्रधान एवं बड़े पुष्पवाला होता है और कदम्ब के पुष्प छोटे होते हैं। "**नयति–प्रापयति मोहनमिति नीपः।**" इसकी भी व्रजाङ्गनाओं ने खूब स्तुति की—"हे नीप, तुमपर मोहन बड़े मुग्ध रहते हैं, तुम्हारे बड़े-बड़े फूलों की माला उन्हें खूब पसन्द है। तुम्हारी सुगन्ध उनको खूब प्रिय है। तुम्हारी ठण्डी छाया में बैठकर वे वंशी की मधुर ध्वनि से वृन्दावन को गुञ्जार देते हैं। हे मोहन के प्रिय सखा, जरा अपने मित्र का पता देकर हमें भी सुखी करो।" सब तरह प्रयत्न करने पर भी जब कदम्ब की ओर से कोई आशा न मिली, तब निराश व्रजाङ्गनाओं ने उसकी निन्दा पर कमर कसी। कहने लगीं—"यह कदम्ब है, कदम्ब का अर्थ होता है—खोटी माँ का बेटा–"**कुत्सिता अम्बा यस्य असौ कदम्बः।**" इसकी उत्पत्ति काकखातशेष से होती है। 'नीप' भी ऐसा ही है–"**नयति दूरङ्गमयति श्रेयस इति।**"

व्रजदेवियों ने वृन्दावन के सब वृक्षों का दरवाजा प्रिय की प्राप्ति के लिये खटखटाया, सबकी स्तुति की, प्रार्थना की, परन्तु किसीसे भी उनको आश्वासन नहीं मिला। निराश होकर सभी वृक्षों को उन्होंने परोपकार की परीक्षा में 'फेल' कर दिया। "**परार्थभवकाः**" आदि का स्तुतिपक्ष में पहले अर्थ किया जा चुका है, असूयार्थ भी प्रायः उन-उन स्थलों में निर्दिष्ट हुआ है। अब उनके विषय में व्रजाङ्गनाओं ने आखिरी फैसला किया—"**ये परार्थाय भवकाः रुद्राः संहारकाः**" हैं। "दूसरों का नाश करने के लिये, उनके अर्थ का संहार करने के लिये इन सब वृक्षों का जन्म है। ये "**यमुनोपकूलाः**" तीर्थवासी पण्डे हैं, महाकठोर हैं। अच्छा, इनकी करनी ये जानें।" कहीं 'भविकम्' पाठ है, जिसका अर्थ अभ्युदय है, अर्थात् "दूसरे का माल हड़पने में ही ये तीर्थ-पुरोहित अपना अभ्युदय समझते हैं।"

इस प्रसङ्ग में वृक्षादि से पूछना, अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना, यह मानिनी व्रजाङ्गनाओं की बात नहीं है। वृक्षों से प्रश्न मानिनियों ने भी किये हैं—पर उनमें भेद है। उनके प्रश्न इस तरह के हुए हैं—'वृक्षो! अपने सखा, उन चौरचक्रवर्त्ती को बतलाओ, वे हमारा 'मन' चुराकर ले भागे हैं, किस मार्ग से गये, जरा बतलाओ

तो'—"**शंसन्तु कृष्णपदवीम् ।**" यदि वृक्ष उपेक्षा करें कि "जाने दो व्रजाङ्गनाओ, साधारण वस्तु की चोरी पर क्यों झगड़ा करती हो", तो कहती हैं—"नहीं, उन्होंने हमारी सबसे बड़ी चोरी की है, सर्वस्व लूट लिया है, हमें उन्होंने आत्मा से रहित कर दिया है। कोई देह, गेह, आभूषण आदि से रहित होता है, हम तो आत्मा से रहित हैं—"**रहितात्मनाम् ।**" आप सब सन्त हो, तीर्थवासी हो, कृपा करो, बतलाओ, हम उस चोर को धरेंगी। देखो झूठ न बोलना। शपथ देती हैं—"**यमुनोपकूलाः**" यमुना के किनारे आप लोग खड़े हो। दूसरा मार्ग मत बतला देना।" जब वृक्ष कुछ उत्तर नहीं देते, तब कहती हैं—"जाने दो, इनको ज्यादा न छेड़ो, ये प्रेमसमाधि में मग्न हैं, अतः कैसे बतलायें ?"

"किन्ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥"

व्रजदेवियाँ अपने प्राणधन श्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन को वृन्दावनधाम में सब जगह ढूंढ़ चुकीं, लता, तरु, सबसे पूछ चुकीं, पर कहीं पता न मिला। अन्त में एक सखी कहती है—"आप सब यों ही पूछ रही हैं, पहले जिनसे आप पूछ रही हैं, वे उन्हें जानते भी हैं या नहीं, यह तो सोच लो। जो जानता है, वही न बतलायेगा ? अतः उनसे पूछो, जो उन्हें जानें। वृथा ही इन बेचारे तीर्थवासियों की निन्दा क्यों करती हो ?" दूसरी सखी कहती है—"अच्छा सखि, फिर तुम्हीं बतलाओ, किससे पूछें ? कौन उन्हें जानता है ?" इसपर पहली कहती है—"पूछना ही है तो इस भूमि से पूछो, यह उन्हें अवश्य जानती है, क्योंकि वे कहीं पर छिपे होंगे तो आखिर पृथ्वी पर ही।" यह सुनते ही सबकी दृष्टि पृथ्वी पर गयी और वे कहने लगीं—"ये दूर्वा, तरु, लता इसके रोमाञ्च हैं और यह रोमाञ्च श्रीश्यामसुन्दर के चरण-संस्पर्श से ही हुआ है। यह बड़ी सौभाग्यशालिनी है।" पृथ्वी से कहती हैं—"हे क्षिते ('क्षिति' यह प्रयोग छान्दस है), तुमने कौन तप किया है, जिससे यह संयोग तुम्हें प्राप्त हुआ ? यद्यपि हम लोगों को, गोप, यशोदा आदि को भी उनका संयोग प्राप्त होता है, किन्तु वियोग भी होता है। परन्तु तुम्हें तो कभी उनका वियोग होता नहीं। वे श्यामसुन्दर जहाँ भी जाते हैं, तुम्हें कभी नहीं छोड़ते। देवि, वह तप हमको भी बतलाओ, हम भी करें और इस तीव्र विरहताप से सदा के लिये मुक्त हो जायँ।"

कदाचित् क्षिति कहे कि इसमें क्या प्रमाण कि मैंने तपस्या की और मुझे श्री-केशव के चरण का अविच्छिन्न संस्पर्श मिला है ? तो इसपर कहती हैं—"केशव के चरण का संस्पर्श बिना तप के नहीं मिलता, तुम्हें वह मिला है, इसका प्रमाण तुम्हारी यह उत्पुलकिता तनु-रोमाञ्च दे रहे हैं—(**केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्ग-रुहैर्विभासि**)।" यहाँ केवल 'केशवांघ्रि' ही कहा, 'केशवांघ्रिपद्म' आदि नहीं कहा, क्योंकि पद्मगत सौन्दर्य, सौगन्ध्य, शीतलता, कोमलता आदि के बिना भी वह केशव-

चरण लोकोत्तर आनन्द देनेवाला, अनेक गुणगणसम्पन्न है। स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्ग-रुहता ही इसमें प्रमाण है। फिर कहती है—"हे भूमि! आपकी जो यह रोमावली खड़ी है, वही वृक्ष, लता, अंकुर हैं। बिना आनन्दोद्रेक के रोमाञ्च कैसा? यह अनुभवसिद्ध है। हम भी जब चरणस्पर्श करती हैं, तब रोमोत्सवोद्गम होता है।" मानो भूमि ने कहा—"व्रजप्रमदाओ! ये वृक्ष, लता आदि तो श्रीकृष्णजन्म के पहले से हैं।" यह सोचकर व्रजाङ्गनाओं ने उत्तर दिया—"यदि हमारे श्यामसुन्दर के स्पर्श का फल इसे नहीं मानती, तो उन्हींके अंशावतार वामन के पराक्रम का यह फल होगा। "**अप्यंघ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा**" जब महाविराट् स्वरूप से वामन भगवान् ने तुम्हें नापा, उस समय के स्पर्श का यह फल होगा। यदि इससे भी पहले का इसे मानती हो तो फिर "**आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन**" भगवान् वराह ने तुम्हारा उद्धार करते समय आलिङ्गन किया, उससे यह रोमाञ्च उत्पन्न हुआ होगा। और कोई प्रकार ही नहीं, यह अन्यथा सम्भव ही नहीं। यह रोमाञ्च तो हमारे मनमोहन के ही किसी संस्पर्श से सम्भव है। हास्य न समझो, सखि क्षिते! सच बतलाओ, तुमने कौन-सा तप किया है?"

और जगह भी लता आदि हैं, परन्तु वृन्दारण्य की लता, दूर्वा आदि अलौकिक हैं। जितने इस समय उपलब्ध लता आदि हैं, उनमें भी लोकोत्तरता है, पर दिव्य दृष्टि मिले तब वह दीख पड़े। गोपाङ्गनाओं को वह दृष्टि प्राप्त थी। श्रीवृन्दावन-धाम में ऐसे-ऐसे लताकुञ्ज हैं, जो स्फटिक और सुवर्ण के विशाल प्रासादों का अनुकरण करते हैं। यहाँ किसी-किसी स्थान की भूमि तो स्पष्ट ही स्फटिकवर्ण की दीख पड़ती है। उसमें नीलमणि के वृक्षों की शोभा देखते ही बनती है, मालूम होता है, महाभावरूपा श्रीवृषभानुनन्दिनी-लताओं का श्रीश्याम-तमाल-तरुओं के साथ अनन्त सम्मिलन हो रहा है। यहाँ के चन्द्र, सूर्य तक भिन्न हैं। अन्यत्र के और यहाँ के चन्द्र-सूर्यादि में जो भेद नहीं मालूम होगा, वह परम सूक्ष्म अवबोध का विषय है। गोपालों में और श्यामसुन्दर में सभी प्रकार की बाह्या एकता थी, प्राकृत पुरुष-बालक की तरह यशोदा ने उन्हें बाँधा था—"**बबन्ध प्राकृतं यथा।**" यदि सर्वज्ञता आदि की प्रतीति हो जाय, तो सभी खेल बिगड़ जाय। श्रीश्यामसुन्दर वसुदेव-देवकी के यहाँ भी वैसे ही थे, जैसे नन्द-यशोदा के यहाँ। परन्तु वसुदेव के यहाँ ऐश्वर्य था। उत्पन्न होते ही—"**तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणम्**....." के रूप में वसुदेव-देवकी को उनका दर्शन मिला था। इस ऐश्वर्य-दर्शन से वात्सल्य रस में जो तरलता थी उसमें कठिनता आ गयी थी। शश्वदुद्भूत शुद्ध वात्सल्य यशोदा आदि के यहाँ था, ऐश्वर्य भी था, पर तिरोहित। अतएव प्राकृतता की प्रतीति हुई। ऐसे ही यमुना, वृन्दावन, गोवर्द्धन, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों में लौकिकता देख पड़ती थी, पर वे सब दिव्य, अलौकिक थे। वैसे भी भगवान् केशव के चरण का स्पर्श किस भूमि को मिला, यह विचारणीय

है। जब श्रीश्यामसुन्दर मथुराधीश और द्वारकाधीश हुए, तब पादुका, शय्या, सिंहासन और पट्टमहिषियों के अङ्गों को ही उनके साक्षात् स्पर्श का सौभाग्य प्राप्त होता था। मथुरा, द्वारका या अन्यत्र की भूमि को कब साक्षात् चरण-स्पर्श मिला? यह एकच्छत्र सौभाग्य तो वृन्दावन-भूमि को ही प्राप्त था, यहाँ श्रीश्यामसुन्दर अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक निरावरण चरण से भूमि पर विहार करते थे। इस रज की स्तुति में गोपाङ्गनाओं ने कहा है—"**धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्रिचञ्जरेणवः।**" पतिव्रताशिरोमणि अरुन्धती, योगीन्द्र-मुनीन्द्र जिस रज के लिये तरसते हैं, उसे व्रजाङ्गनाएँ धन्य कहती हैं। जिस भूमि की रज को ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी विप्रयोगरूप अघ को दूर करने के लिये शिर पर धारण करते हैं—"**यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये।**" उसी भूमि को साक्षात् चरण-स्पर्श मिला है। भगवान् ने वहाँ क्यों पादत्राण धारण नहीं किया? पुत्रवत्सला यशोदा अम्बा ने गोचारण के लिये जाने ही क्यों दिया? वह तो जैसे फणी अपनी मणि को छिपाकर रखे, वैसे अपने लाल को अङ्क में छिपाकर रखती थी, रात में भी जाग-जागकर मस्तक सूँघती थी, जैसे रङ्क अपनी निधि को बराबर टटोले। फिर उसने अपने कन्हैया को कहीं जाने ही क्यों दिया? लक्ष्मी व्रज में सेविका बनकर रहना चाहती थी। फिर वह लक्ष्मी रासेश्वरी विराजमान है, वह भी श्री है "**श्रीयते सर्वगुणैः।**" श्री ही हैं एक लक्ष्मी, एक श्रीराधा। पहली "**श्रयते हरिमिति श्रीः**" है और दूसरी "**श्रीयते हरिणा या सा श्रीः**" सुन्दरता, मृदुता, कोमलता आदि उनकी सेवा के लिये लालायित रहती हैं। 'देवीभागवत' में वर्णित शोभा, शान्ति, कान्ति आदि सब गोपाङ्गनाओं के रूप में श्रीराधा की सेविकाएँ हैं। उन्हींकी सरसता आदि लोक में कणमात्र है। अनन्तकोटिब्रह्माण्डान्तर्गत मृदुता, कोमलता की मूर्तिमती महाशक्ति, जिसके चरणों में प्राकृत कमल की पाँखडी के भी गड़ जाने का डर है, वे अपने परम कोमल करों से श्रीराधा के चरण-स्पर्श करने में सकुचाती हैं कि कहीं आघात न लग जाय। अतः "**श्रीयते सर्वैर्गुणैर्हरिणा च या सा श्रीः**" ठीक ही है। जब वृन्दावन में निवास करें, तब धन की कैसी कमी? सैकड़ों नौकर लगाकर गोचारण आदि कराया जा सकता है, फिर स्वयं श्यामसुन्दर भगवान् को वह क्यों करने दिया गया? परन्तु ये तो गोपाल की लीला थी, बाललीला, बनलीला आदि उनके विनोद थे। श्रीमद्वल्लभाचार्य के सिद्धान्तानुसार जगत् के, प्रकृति के सब तत्त्व उस प्राणप्यारे के आलिङ्गन के लिये उत्कट उत्कण्ठित हैं। इसके लिये वन की देवी, वन की शक्ति कोई दूर्वा, कोई लता, कोई पाषाण आदि बने हैं। यदि बनलीला न हो, तो इनकी अभिलाषा कैसे पूर्ण हो? भगवान् वाञ्छाकल्पतरु कैसे कहे जायँ?

"**किन्ते तपः क्षिति कृतं बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।**
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥"

पुत्रवत्सला अम्बा यशोदा ने अपने लाल को गोचारण, वनगमन की कभी अनुमति नहीं दी। हठीले श्यामसुन्दर के हठ अथवा परिस्थिति से विवश यशोदा ने वैसा होने दिया। परन्तु वनगमन की बात सुनकर नन्दरानी न जाने कितनी बार मूर्च्छित हुई। 'दिनभर कैसे कटेगा' आदि चिन्ता उसके चित से क्षणभर के लिये भी शान्त न होती थी। गोचारण के लिये वन जाने के समय की गोपाल की मूर्त्ति को निहारकर गोप, गोपी सब चित्रलिखे-से खड़े रहते, वे सब उनका तब तक एकटक दर्शन करते रहते, जब तक वे अपने सखाओं के साथ ओझल न हो जाते। इसके बाद भी घण्टों उनके पीछे उड़ रही धूलि का दर्शन करते रहते और अन्त में उनकी विविध चिन्ताओं में ही वेसुध हो जाते। वन, पक्षी, मृग, जड़, चेतन सबकी यही स्थिति थी। तब नन्दरानी की स्थिति कैसी होगी, यह वर्णन के बाहर है।

इसके साथ एक बात यह भी थी कि छोटे बछड़े श्रीश्याम और श्रीबलराम के साथ इतने मिल-जुल गये थे कि उनके बिना आँगन के बाहर पैर ही नहीं रखते थे। दोनों भैया उनकी पूंछ पकड़कर व्रजकर्दम में खेलते, वे उनको एकटक दृष्टि से देखते, सूंघते और जिह्वा से चाटते थे। ऐसी स्थिति में बड़े होकर भी श्रीकन्हैया और श्रीदाऊ को छोड़कर डण्डा की मार खाकर भी वे बाहर जाने का नाम न लेते। किसी समय तो वे स्वयं कृष्ण हो गये। आगे चलकर गायों ने भी बछड़ों का ही अनुकरण किया, उन्होंने भी अपने प्रिय श्यामसुन्दर के बिना कहीं भी जाना-आना छोड़ दिया। अब तो एक समस्या उपस्थित हो गयी। इधर गोपालन निज धर्म था ही। जहाँ धर्म का सम्बन्ध आया, नन्द, यशोदा दोनों ही मूक हो गये। गर्गाचार्य की प्रतीक्षा होने लगी। वन, लता, मृगादि के मनोरथ पूर्ण होने का अवसर आ गया। स्मरण-समकाल ही गर्गजी पधारे और तुरत दूसरे ही दिन गोपाष्टमी का ही मुहूर्त निकल आया, मानो प्रतीक्षा में ही बैठे थे। परन्तु गोपियाँ बड़े कष्ट में पड़ गयीं। जिन्हें एक क्षण भी बिना देखे नहीं रह सकतीं, उनका अब दिनभर के लिये असह्य वियोग कैसे सहा जायगा ? दूसरे, 'इतने मधुर, सुकोमल मनमोहन, कण्टकाकीर्ण वन में कैसे विचरेंगे' की चिन्ता तो सभी को और भी अधिक कष्ट दे रही थी। परन्तु बड़े कष्ट से उन्होंने सब कुछ सहा।

गोपजन के कुतूहल में भावी कष्ट कुछ विस्मृत हुआ। बड़े समारोह से गोपूजन हुआ, गौ, वत्स वस्त्रालङ्कारादि से सजाये गये; धूप, दीप, नैवेद्य के साथ उनकी परिक्रमा, दण्डवत् प्रणाम आदि हुआ। माता यशोदा ने, गोपाङ्गनाओं ने श्री श्यामसुन्दर को पादुका पहनकर वन जाने का प्रस्ताव रखा, परन्तु उन्होंने अस्वीकार किया, कहा—यह धर्मविरुद्ध है, जब हमारे उपास्य देवता गौएँ बिना पादत्राण के विचरेंगी, तब हम भी वैसे ही रहेंगे। अतएव गोपदेवियों को चिन्ता है—

"नलिनसुन्दरं नाथ ते पदाम्बुजं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम्।
शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्त गच्छति॥"

और भी "…तेनाटवीमटसि तद्व्यथते न किंस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः।" (भागवत, गोपीगीत)। यदि प्रभु के पादों में पादत्राण होते, तो पद-पद पर काँटा आदि गड़ने की गोपियों को चिन्ता न होती। अतः यह सौभाग्य किसीको प्राप्त नहीं हुआ। यह तो श्रीवृन्दावन भूमि को ही प्राप्त हुआ, जिसने निरावरण केशव-चरणों को प्राप्त किया। अतएव "**वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिम्**" कहा गया है।

भगवच्चरणारविन्द के विषय में गोपाङ्गनाओं की कई अन्तरङ्ग भावनाएँ हैं। उन्होंने अपने प्रेष्ठ श्रीश्यामसुन्दर को कई स्थानों में 'देवकीसुत' कहा है, यह उनकी ओर से प्रणयकोप में साभिप्राय उक्ति है अर्थात् देवकी के—क्षत्राणी के—कठोरहृदय के सुत हैं, उनके शरीर में क्षत्रियाणी का कठोर खून है, अतएव इनके पाद कठोर हैं, विप्रयोगतापसन्तप्त कठिन हृदय में हम उनको धारण करके तापशान्ति चाहती हैं। इसी प्रकार "**न खलु गोपिकानन्दनो भवान्**" कहकर यह बतलाया कि "आप कोमल-हृदया गोपिका–यशोदा के सुत नहीं हैं, अन्यथा इतने कठोर न होते।" वृन्दावनधाम के प्रसङ्ग में यह भी समझना चाहिये कि वृन्दावनधाम अलग, और भूमि अलग है। नित्य वृन्दावनधाम का, जो व्यापी वैकुण्ठ है, यहाँ अवतार है। यह सब महत्व भूमि के एक देश को था, पर इतने से ही समस्त भूमि को बड़ा अभिमान था। परन्तु किसीका भी अभिमान सदा स्थिर नहीं रहता। भगवान् को तो वह अच्छा ही नहीं लगता। फलतः पृथ्वी एक बार गौ बनी और त्रिपादक्षीण धर्म–वृषभ। पृथ्वी अपने ऊपर हो रहे अत्याचारों से दुःखी होकर भगवान् से करुण प्रार्थना कर रही थी, कलियुग दोनों को डण्डा मारकर भगा रहा था। धर्म भूमि से उस समय पूछ रहा था—'तुम इतनी दुःखी क्यों हो ? रोती क्यों हो ?" इसपर गोरूपधारिणी भूमि ने कहा—"श्रीभगवान् पूर्णपुरुषोत्तम श्यामसुन्दर के साक्षात् चरणस्पर्श की प्राप्ति से कृतकृत्य होकर मैं महाभिमानमत्त हो गयी थी, उसीका यह फल भोग रही हूँ।" एक बार श्री नारद ने विन्ध्याचल से पूछा–तुम बड़े हो या सुमेरु ? मैं तो समझता हूँ कि सुमेरु बड़ा है। विन्ध्याचल से सुमेरु की स्तुति न सही गयी, वह खड़ा हो गया। अब तो भूमि और आकाश एक हो गया, आफत मच गयी। तब देवताओं ने महामुनि अगस्त्य को उसके समीप भेजा, जो उसके गुरु थे। उन्हें देखते ही विन्ध्य ने साष्टाङ्ग प्रणाम किया और उनकी आज्ञा मानकर वैसे ही रह गया। लोकों ने शान्ति की साँस ली। पर उसके हृदय में छोटेपन का सन्ताप बना ही रहा। परन्तु जब भगवान् रामचन्द्र वनवास के प्रसङ्ग से उसके यहाँ पधारे, तब तो सुमेरु, हिमालय आदि सभी विन्ध्य की स्तुति करने लगे। उस समय विन्ध्याचल ने बिना परिश्रम के ही बड़ाई पायी—"**बिन श्रम विन्ध्य बड़ाई पावा।**" ऐसे ही भगवत्पादार्पण से चित्रकूट का महत्व माना गया और इस एक देश के महत्व से समस्त भूमि का महत्व माना

गया। इसी प्रकार "वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिम्" की बात है। अतः व्रजरज की महिमा महान् है।

व्रजदेवियों ने अपने शरीर की वृन्दावन से तुलना की है। वृन्दावन में श्री-यमुना बहती हैं। व्रजाङ्गना कहती हैं—हमारे शरीर में श्रीकृष्णप्रेमधारा निरन्तर प्रवाहित है। हमारा हृदय ही श्रीगोवर्द्धन पर्वत है और ये वृन्दावन की लताएँ हमारी रोमराजि हैं। पर हाय, तब भी प्यारे श्यामसुन्दर वृन्दावन में साक्षात् विहार करते हैं, उसे सदा अलंकृत करते हैं और हमें दर्शन तक नहीं देते। वृन्दावन में स्थल-स्थल पर झरने झरते हैं, व्रजाङ्गना उनकी समानता अपने प्रेमद्रव, मूर्च्छा, स्वेद आदि आठ सात्विक भावों से करती हैं। वृन्दावन में लतादि की अलौकिकता है, जो सर्वथा लोकोत्तर है। अतः अब व्रजदेवियाँ वृन्दावन की भूमि से ही पूछती हैं—

"किन्ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।"

"हे सखि भूमि! बतलाओ, छिपाओ नहीं—तुमने कौन-सी तपस्या से यह लोकोत्तरता प्राप्त की है।" भूमि बोलती नहीं, तब अपने ही आप कल्पना करती हैं—मालूम होता है इसकी कोई उग्र तपस्या है, आत्मसन्तापन, पीड़न भी एक तप है। जब भगवान् श्रीवामन ने महाविराट् रूप में अपने चरण से तुम्हारा स्पर्श किया, उस समय तुम दबी, तुम्हारा उत्पीड़न हुआ। यह एक तपस्या हुई। यह आनन्दोद्रेक का रोमाञ्चोद्गम साधारण तप का फल नहीं, अपितु श्रीवामनभार से है। अथवा उतने से न होगा। श्रीवामन का स्पर्श ऐश्वर्यवाला है, यहाँ माधुर्य है, ऐश्वर्य में माधुर्य सम्भव नहीं, उससे तो तप ही सम्भव है, अतः श्रीवामनस्पर्श रूप तप से यह मिला होगा। अथवा वाराह भगवान् के द्वारा निपीडनरूप तप का फल होगा, जो श्रीश्याम-सुन्दर के स्पर्शोत्सव से तुम अति पुलकित हो रही हो।

"किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवाङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।
अप्यङ्घ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन॥"

इस प्रकार व्रजाङ्गनाएँ अपने प्राणाधिकप्रिय श्री श्यामसुन्दर का अन्वेषण करती हुई वृक्षादिकों से कुछ उत्तर न पाकर भूमि से पूछती हैं और विविध भावमय कल्प-नाओं से पुष्ट अनुमान द्वारा उसे श्रीकृष्ण-सम्पर्कवती जानकर उसके प्रति विमुग्ध हो जाती हैं और उनकी कल्पनाओं का प्रवाह बढ़ता ही जाता है। निवास और गत्यर्थक 'क्षि धातु' से (क्षि निवास गत्योः) 'क्षिति' शब्द निष्पन्न हुआ है। उसका अर्थ है सर्वनिवास और गमन की आधारभूता। संसार के सभी प्राणियों की स्थिति, गति भूमि के ही आधार पर है। व्रजाङ्गनाएँ प्रार्थना करती हैं—"हे सर्वाधारभूते भूमि! तुम परोपकारिणी हो, बड़ी दयामयी हो, श्रीश्यामसुन्दर का पता बतलाकर हमपर दया दिखाओ। सखि! सच-सच बतलाओ, तुम्हारी किस तपस्या का यह फल है, जो श्रीश्याम-चरण तुम्हें प्राप्त हुआ है? श्रीकेशवाङ्घ्रिस्पर्श तुम्हें मिला है?

यह तो स्पष्ट है कि तुम्हें उन प्रभु का चरणस्पर्श अवश्य मिला है, क्योंकि उसके बिना तुम्हारा यह लता, झरनारूप अङ्कुरुह, यह हर्षोद्रेक, यह लोकोत्तर उत्सव कभी सम्भव नहीं! अब जानना यह है कि यह तुम्हें भगवान् के किस स्वरूप से प्राप्त हुआ? यदि महाविराट् का रूप धारण करते समय भगवान् वामन से, तो यह हम मान सकतीं नहीं, क्योंकि उनके द्वारा इतना उत्सव मिलना असम्भव है। यह तो हमारे श्रीश्यामसुन्दर के चरण-सम्मिलन का ही महाफल हो सकता है। आहोस्वित्, रसातल से तुम्हारा उद्धार करते समय भगवान् वाराह के परिरम्भण का यह फल है। परन्तु जड़-चेतन सबमें रस का सञ्चार कर देनेवाली यह विशेषता तो उन मुरली-मनोहर में ही है। वामन या वाराह की तो यह बात कहीं भी प्रसिद्ध नहीं। यह तो उन्हींकी महिमा है, जो अमृतमय निज मुखचन्द्र से विनिर्गत वेणुगीत-पीयूष के पान से स्थावर जङ्गम और जङ्गम स्थावर हो जाते हैं, वृक्ष भी हृष्यत्त्वक्-रोमाञ्चवाले हो जाते हैं। यह तुम्हारा लोकोत्तर उत्पुलकोत्सव अवश्य उन्हींकी कृपा का प्रसाद है। सखि, तुम भाग्यशालिनी हो, हम तो भाग्यविधुरा हैं। सखि, वसुधे! तुम ऐसी महाभाग्यवती हो कि ये श्यामसुन्दर कभी वामनरूप से तो कभी वाराहरूप से तुम्हारा आलिङ्गन करते हैं और साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र, यशोदा-नन्दन, आनन्द-कन्द रूप से भी सदा तुमसे संयुक्त रहते हैं। हमसे, गोपाल से, अपने प्रियसखाओं से वे वियुक्त हो जाते हैं, पर तुमसे कभी वियुक्त नहीं होते। सचमुच तुम स्वाधीनभर्तृका हो। अनन्तानन्त महापुण्यवानों को भगवद्ध्यान, भगवत्स्पर्श प्राप्त होता है, फिर साक्षात् सम्बन्ध हो जाय तो कहना ही क्या?"

लोग चकित रह गये, अघासुर की मुक्ति देखकर। पहले उसके कन्दराकार मुख में ग्वाल-बाल, वत्स प्रविष्ट हुए, फिर श्रीगोपाल स्वयं भी प्रविष्ट हो गये और उसके मुख का विदारण कर वत्सादि के सहित उससे बाहर निकल आये। अपनी दृष्टि से सुधासिञ्चन कर वत्स-वत्सपों को सजीव किया। उस समय उस असुर के मुख से एक ज्योति निकली और उन त्रिभुवनमोहन के मुख में समा गयी। इस घटना से सब आश्चर्यचकित रह गये। जो प्रत्यक्ष सायुज्य, देवों को दुर्लभ है, वह इस हत्यारे को मिली। श्री शुकदेव महामुनि कहते हैं—

"सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभिव्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः॥"

एक बार भी अन्तःकरण में विराजित प्रभु की मनोमयी मूर्त्ति भावुकों को भागवती गति देती है—आत्म-समर्पण कर देती है। उक्त अघासुर को तो फिर वह साक्षात् ही मिली, फिर उसको प्रभुप्राप्ति में सन्देह ही क्या? बाहर मन्दिरादि में प्रतिष्ठित दिव्य काष्ठादि-निर्मित भगवन्मूर्त्ति का दर्शन करके भक्त लोग वैसी ही मूर्ति अपने हृदय में पधराकर रखते हैं। इसीके लिये काष्ठादि की मूर्ति बनाकर पूजा-सेवा के विधान हैं। इस विषय में श्रीवल्लभाचार्यजी का सिद्धान्त है—

"कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्धचै तनुवित्तजा॥"

तत्प्रवणता ही सेवा है, अपने प्रियतम, पूर्णतम पुरुषोत्तम की ओर संसार छोड़कर मन ऐसा प्रवाहित हो, जैसा सावन-भादों की गङ्गा आदि नदियाँ समुद्र की ओर प्रवाहित होती हैं। मन में प्रभुस्वरूप प्रकट हो जाय। ध्यान करने बैठें, मन नहीं लगता, भजन के समय कामिनी, शिशु, और भी अत्यन्त सुन्दर वस्तुओं का स्मरण हो आता है। परन्तु, क्या कोई भी वस्तु उन त्रिभुवन-मोहन श्याम से अधिक सुन्दर है ? फिर क्या बात है, उनके देवदुर्लभ चरणारविन्द को छोड़कर वह अन्यत्र क्यों भटकता है ? कारण स्पष्ट है, उसमें प्रभु की मूर्त्ति अङ्कित नहीं हुई—मानसी मूर्त्ति नहीं बन पायी। "स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।" (लोकेभ्यो लावण्यस्य निर्मुक्तिर्यया सा) प्रभु की मङ्गलमयी मूर्त्ति के एक-एक रोम में अनन्त सौन्दर्यामृत-माधुर्यामृत-सिन्धु समाये हैं, सारे संसार में उसका एक कण बँटा है। जब सब सौन्दर्य विश्वमोहन कन्दर्प भी जिसकी नखमणिचन्द्रिका से व्यामुग्ध हो जाता है, उसकी यदि मनोमयी मूर्ति बन जाय, तो यह शिकायत न रह जाय कि मन नहीं लगता। प्रभु ने देखा कि जीवों के चित्त माधुर्यादि की तरफ खिचते हैं, पर वे नरक ले जानेवाले हैं—"ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।" आद्यन्तवन्त हैं, क्षणभंगुर हैं, बुध इनमें नहीं रमते। पर ये जो हमारे शब्द, रूपादि, माधुर्यादि हैं, इनको हम ऐसे रूप में प्रकट करें कि सबका चित्त एक बार ही उधर आकृष्ट हो जाय। प्राणियों के चित्त का परिचय अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, अरूप, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, अशब्द से नहीं हुआ, इसीलिये वह लौकिक शब्दादि के लिये मचलता है। यही सब विचारकर प्रभु ने अपना ऐसा रूप बनाया कि सनकादि, शुकादि भी उसपर विमुग्ध हो गये। श्रीश्यामसुन्दर पूर्णतम पुरुषोत्तम का ही एक रामरूप है, जिसे देखकर दण्डकारण्यवासी तपस्वी मुग्ध हो गये। श्रीकृष्ण का रूप तो जरा और ठाट का है, कहीं मुकुट, कहीं लकुट, कहीं पीताम्बर, कहीं फेंटा, कहीं वंशी आदि से वह खूब सजा है। पर श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्र तो बाबाजी की तरह जटा, चीर आदि धारण किये थे, उनपर भी मुनियों का चित्त खिंच गया। यद्यपि खरदूषण की बहन का नाक-कान काटा, पर जब सामने आये. तब उनके भी मुख से निकल पड़ा—"यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा, वध लायक नहिं पुरुष अनूपा।" क्रूर, गोभक्षक भी उन्हें देख-कर सहज ही विभोर हो गये। राह चलती स्त्रियों ने भी उन्हें देखकर उनके मार्ग की निर्बाधता—सर्प, वृश्चिक आदि से राहित्य-विधाता से माँगी। फिर श्रीश्यामसुन्दर, मुरली-मनोहर के रूप में, जो शृङ्गाराक्रान्त परम कमनीय था, प्रकट होकर तो आपने साधकों के मन की सभी शिकायतों को दूर कर दिया। लावण्य, सौरस्य, सौरम्य-सुधा-सिन्धु को छोड़कर भला कौन ऐसा है, जो अप्सरा आदि को चाहेगा ?

परन्तु उस मूर्ति के मनोमयी होने पर ही यह बात होती है, अतएव "**मानसी सा परा मता।**" यह सिद्ध कैसे हो, इसके लिये पहले एक ऊँचे अभिनिवेश से तनुजा और वित्तजा सेवा होनी चाहिये। धातु आदि की प्रभुप्रतिमा पधराकर अष्टयाम की सेवा, भावना, दिव्यातिदिव्य शृङ्गार, भोगराज से उन्हें अपना सर्वस्व समझकर महावैभव से खूब सेवा करनी चाहिये, तब वह मूर्ति मन में आयेगी और एक बार आकर ही सदा के लिये कृतकृत्य कर देगी। अतएव कहा गया है—"**सकृद्यदङ्गप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम्।**" ध्रुव, प्रह्लाद आदि को इसी मानसी प्रतिमा ने, मनोमयी मूर्त्ति ने आत्म-समर्पण किया। फिर उस अघासुर की क्या बात, जिसके मुख में वह मूर्त्ति साक्षात् समा गयी। मुख्य बात यह है कि किसी भी स्वरूप से, कैसे भी प्रभु-सम्बन्ध होना चाहिये।

व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—"सखि धरित्रि! तुम्हें यह जो श्रीकृष्ण-स्पर्श मिला, वह जन्म-जन्म की उग्र तपस्याओं का फल है। पहले वामनचरण के तीव्राघात तप से पुण्य उत्पन्न हुआ, उससे वाराह-संस्पर्शपुण्य उत्पन्न हुआ। फिर इन दोनों पुण्यों से श्रीश्यामसुन्दर के सार्वदिक् संस्पर्श-सौभाग्य का उदय हुआ। सखि! हमको भी उस तपस्या का क्रम बतलाओ, जिससे तुमने उत्तरोत्तर उन्नति की।

व्रजाङ्गनाओं ने श्रीश्यामसुन्दर के चरणसंस्पर्श को अधिक महत्त्व दिया है। कोई कहे कि स्पर्श तो सब समान ही है—जैसे श्रीवामन भगवान् का या वाराह भगवान् का, वैसे ही श्रीश्यामसुन्दर का, केशव भगवान् का, उसमें कोई भी अन्तर कैसा? परन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह भेद तो भावुक ही समझ सकते हैं, दूसरों के लिये यह अगम्य है। इसपर व्रजदेवियों के बहुत ऊँचे भाव हैं। केशव उनकी दृष्टि में साधारण केशव नहीं, अपितु ब्रह्मा, विष्णु और महेश को वश में करने-वाला केशव—(कः-ब्रह्मा, ईः-विष्णुः, शः-शिवः, तान् वशयतीति केशवः) हैं। भगवदवतारों में कोई अंशावतार, कोई कलावतार और कोई आवेशावतार होते हैं। परन्तु पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम अवतार पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द यशोदानन्दन का ही हुआ है। इसमें भी भक्तों की उच्च भावना के अनुसार—"**व्रजे वने निकुञ्जे च श्रैष्ठ्यमत्रोत्तरोत्तरम्**" की व्यवस्था है। इसके अनुसार निकुञ्जस्थ श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन ही पूर्णतम अथवा श्रेष्ठतम हैं।

कदम्बखण्डी के नागाजी व्रज में एक अतिप्रसिद्ध भावुक भक्त हो गये हैं। वे वहीं आनन्दमग्नावस्था में घूमा करते थे। एक दिन उनकी जटा एक झाड़ी में उलझ गयी। प्रयत्न किया, पर नहीं सुलझी, तब आपने निश्चय किया—'जिसने उलझायी है, अब वही आकर सुलझायेगा।' वहाँ गौओं को चराने आनेवाले ग्वालबालों तथा अन्यान्य लोगों ने बहुत प्रार्थना की "बाबा, हम सुलझा दें।" पर आपने किसीकी न सुनी, अटल निश्चय किया—'बस, अब तो वही आयेगा, तभी सुलझेगी।' आप

इसी प्रणयकोप अथवा भावावेश में बहुत समय तक उसी तरह खड़े रहे। नागाजी की प्रतिज्ञा से श्रीश्यामसुन्दर अधीर हो उठे। वे आये और नागाजी की जटा अपने कोमल करों से सुलझाने को ज्यों ही उद्यत हुए, नागाजी ने रोक दिया। कहा—'पहले आप अपना परिचय दीजिये, आप कौन से कृष्ण हैं—व्रज के वन के, या निकुञ्ज के ? हम तो निकुञ्ज के उपासक हैं।' श्रीप्रभु ने कहा—'बाबा, मैं वही हूँ, जाकी तुम उपासना करो हो।' नागाजी ने कहा—'कैसे विश्वास हो ? इसका प्रमाण कौन दें ?' श्रीप्रभु ने कहा—'जैसे तुमकूं विश्वास हो, सोई करो।' नागाजी ने कहा—'यदि हमारी श्रीस्वामिनीजू आकर कहें कि हाँ, ये निकुञ्ज के ही श्याम हैं, तब हम मानें।' इतने में श्रीव्रजेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीस्वामिनीजू भी पधारीं और उन्होंने नागाजी को विश्वास दिलाया कि ये ही नित्यनिकुञ्ज-मन्दिरस्थ श्रीश्यामसुन्दर हैं, तब अनुमति मिलने पर बड़ी उत्सुकता से श्रीप्रभु ने चार हाथ लगाकर नागाजी की जटा सुलझायी।

कहने का तात्पर्य यही कि इस प्रकार श्रीकृष्ण के तीन भेद हुए। इनमें मथुरा-नाथ और द्वारकानाथ के दो भेद और जोड़ देने से पाँच भेद हो जाते हैं। जैसे एक ही स्वातिबिन्दु स्थानभेद से विभिन्न नामवाला होता है सीप में मोती, हाथी में गजमुक्ता, गौ में गोरोचन आदि, वैसे ही श्यामसुन्दर के ये पाँच भेद हैं। रसिक भक्तों के यहाँ जितनी माधुर्य की अधिकता है, उतनी ही ऐश्वर्य की कमी। व्रजनाथ, द्वारकानाथ में यही भेद है। उत्तरोत्तर ऐश्वर्य की न्यूनता और माधुर्य की अधिकता से व्रज में पूर्ण, वृन्दावनधाम में पूर्णतर और नित्य निकुञ्ज में पूर्णतम प्रभु माने गये हैं। अतएव अन्य अवतारों के स्पर्श की अपेक्षा श्रीश्यामसुन्दर के चरण का स्पर्श व्रजाङ्गनाओं की दृष्टि में अधिक महत्व रखता है।

केशव का एक दूसरा अर्थ है—(प्रशस्ताः केशा यस्य सः) सुन्दर केशवाला। सचमुच श्रीश्यामसुन्दर केशव के समान किसीके भी केश नहीं हैं। गोपाङ्गनाएँ उनके केशों पर मुग्ध हैं—

"वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्रीगण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम्।
दत्ताभयञ्च भुजदण्डयुगं विलोक्य वक्षः श्रियैकरमणञ्च भवाम दास्यः॥"

कहती हैं—"श्यामसुन्दर! हम आपके इस लोकोत्तर सुन्दर अलकावली से आवृत मुख पर विमुग्ध हैं और अक्रीत, अशुल्कदासी हैं।" उन सौन्दर्यगर्वप्रमत्त गोपाङ्गनाओं का गुमान गोविन्द के घुँघराले केशपाश को देखकर ही चूर-चूर हो गया, वे सदा के लिये नायिकात्व, स्वाधीनभर्तृकात्व छोड़कर दासी बन जाने को प्रस्तुत हो गयीं। कदाचित् भगवान् कहें कि 'गोपाङ्गनाओ, आप ऐसा मत कहो, आप कुलाङ्गना हो', तो कहती हैं—"श्यामसुन्दर, आपकी इस रूपराशि को देखकर हम भुला जाती हैं, ठगी-सी रह जाती हैं। ये आपकी बिखरी अलकें मन को खींच

लेती हैं। ये आपकी अलकें कुटिल हैं, स्निग्ध हैं, स्वच्छ हैं और हमारा मन भी सत्वसम्पन्न होने से स्निग्ध, रजोगुणसम्पृक्त होने से कुटिल और तम से जुष्ट होकर श्यामलता को धारण करता है। जैसे आपके केशों में घुँघरालापन है, वैसे ही हमारे मन में कुटिलता है। इस प्रकार हमारा मन आपके केशों को बन्धु समझकर उनके पास चला गया और वहाँ जाकर उनके जाल में फँस गया।" भगवान् के केशों के विषय में **"कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृत् दृशाम्"** में कुटिलता कही गयी है।

कोई तो इन सचिक्कण काले केशों की काले नागों से उत्प्रेक्षा करते हैं— मानो श्रीकृष्णचन्द्र के अद्भुत अमृतमय, निष्कलङ्क पूर्णमुखचन्द्र पर अमृत के लोभ से वे काले-काले नागशिशु फैले हैं। किसी भावुक के मत से पूर्णानुरागरससारसरोवर-समुद्भूत नीलकमल पर ये मधुलम्पट आ विराजे प्रतीत होते हैं। श्रीधर स्वामी ने भगवान् के केशावृत मुख को अलिकुलमालासंकुल परागपरिप्लुत नीलकमल माना है। फिर संशय होता है कि यह अलिकुल स्थिर क्यों है ? तो उत्तर मिलता है— मकरन्दपान से स्तब्ध है, विभोर होने से गुञ्जार नहीं करता। ऐसा है भगवान् का अलकावृत मुख। इस प्रकार उन केशव के माधुर्य-लावण्य-सौन्दर्य-सम्पन्न एक-एक अङ्ग की बड़ी विलक्षण शोभा है। उनका चरणसंस्पर्श पृथ्वी को वामनादि के स्पर्श-जन्य पुण्य से प्राप्त हुआ है। यह विशेषता इन्हीं श्रीकृष्ण में है। इन्हीं सब विशेषताओं के द्योतनार्थ पद्य में 'बत' पद का प्रयोग है।

अथवा 'केशव' पद से श्रीवृषभानुनन्दिनी का भी सङ्केत है। (प्रशस्ताः केशा यस्याः सा)। एक श्रीव्रजेश्वर-व्रजेश्वरी की परमअन्तरङ्ग प्रेयसी परमप्रेष्ठ नित्यसखी होती है। वस्तुतः सखी वही होती है, जो सौरस्य, सौरम्य, सौन्दर्य, लावण्य आदि में अपने समान हो, परस्पर हृदयज्ञ हो; वेश, रूप से समान हो। ऐसी सखियाँ कई प्रकार की होती हैं। कुछ ऐसी होती हैं जो श्रीकृष्ण तथा श्रीराधा दोनों से प्रेम करती हैं, पर पक्षपात श्रीकृष्ण का करती हैं। एक नायिकात्वापेक्षिणी कान्तभाववती होती हैं। परन्तु नित्यसखी में नायिकात्वानपेक्षिणी होती हैं। **"भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते"** इस कोटि के भक्तों की तरह वह कभी अङ्ग सङ्ग की इच्छा नहीं रखती। रूप-सौन्दर्य आदि में वह साक्षात् श्रीरासेश्वरी के समान होने पर भी श्रीकृष्ण में कान्तभाव नहीं रखती, केवल युगलदर्शन से ही वह परितृप्त होती है। उसमें ऐसे भाव उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं। यह नित्यसखी की बात है। इस प्रकार की व्रजसखी आदि अनेक सखियाँ अलग-अलग हैं। ऐसी सखियों को स्वयं सम्मिलन से उतना आनन्द नहीं होता, जितना श्रीलाड़ली-लाल, गौर-श्याम के सम्मिलित दर्शन करने से होता है। इस कोटि की सखियाँ श्रीराधाजी का दर्शन करके अनन्तकोटि चन्द्र, कन्दर्प और कमल को उनके श्रीअङ्ग पर, उनके आह्लाद, सौन्दर्य और कोमलता के नाम

पर वार देती हैं। इसके अतिरिक्त श्रीराधाकृष्ण के सम्मिलित दर्शन की महिमा तो इससे भी परे है, उस आनन्द को स्वयं वे भी नहीं प्राप्त कर सकते। उसे तो यह परमान्तरङ्ग और परमभाग्यवती सखियाँ ही प्राप्त कर सकती हैं। कभी-कभी लीला-वश श्रीश्यामसुन्दर श्रीराधाजी से कहते हैं—'आपके दर्शन का सौभाग्य तो मुझे ही प्राप्त है।' इसपर श्रीजी भी कहती हैं—'आपके दर्शन का सौभाग्य भी मुझे ही प्राप्त है।' फिर श्रीराधाजी कहती हैं—'गौरसौन्दर्य के दर्शन का सुख मुझे मिलता है। परन्तु परस्परसम्मिलित सौन्दर्य-दर्शन के आनन्द का सौभाग्य तो इन सखियों को ही समुपलब्ध है। उस सुख को तो ये ही लूटती हैं, ये बड़ी भाग्यवती हैं। इनका तो हमसे भी अधिक गौरव है।'

उस आनन्द का अनुभव करनेवाली ये सखियाँ व्रजाङ्गनाएँ धरित्री से पूछती हैं—"**किन्ते कृतं क्षिति तपो बत केशवांघ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि।**" अर्थात् भूमिगत लतादि से भूमि के रोमाञ्च और भूमिगत निर्झरों से भूमि के आनन्दा-श्रुओं की कल्पना करनेवाली वे श्रीराधा-माधव के उस अनन्त रूपराशि का आस्वादन करनेवाली व्रजाङ्गनाएँ उसी आनन्द की कल्पना करके धरित्री से पूछती हैं—"क्या तुझे उस गौरश्याम सम्मिलित दर्शन-स्पर्श रसमाधुरी का पान प्राप्त हुआ है, जिससे तू लता-निर्झर-रूप से उत्पुलकित और साश्रु हो रही है? क्योंकि इतना सर्वातिशायी आनन्द तो उस गौरश्यामतेजःसम्मिलित युगलमूर्ति श्रीराधा-कृष्ण के दर्शन से ही सम्भव है।" हाँ, तो 'केशव' पद से यहाँ श्रीवृषभानुनन्दिनी का भी सङ्केत है—"**प्रशस्ताः केशा यस्याः सा वृषभानुजा।**" यहाँ प्रिया-प्रियतम का विहार वर्णन है। यह अभी नहीं बतलाया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण व्रजाङ्गनाओं को छोड़कर उनके बीच से जो अन्तर्हित हुए हैं, वह क्या अकेले ही अन्तर्हित हुए हैं अथवा श्रीवृषभानु-नन्दिनी के साथ। इसपर भविष्यवृत्ति से कल्पना की गयी है कि श्रीश्यामसुन्दर श्रीश्यामाजू के साथ ही अन्तर्हित हुए हैं और अब वहाँ वेणीगूँथनलीला चल रही है। रसिकेन्द्रचूडामणि श्रीमदनमोहनलालजू अपनी प्रिया के केश सँवारने के लिये उनके पीछे विराजमान हुए हैं, उसी समय दोनों के पादपङ्कज-पराग के स्पर्श से धरित्री में रोमाञ्च हुआ है। "**केशवा च केशवश्च तस्याङ्घ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकितेत्यादि**" इस प्रकार केवल एक श्रीश्याम के स्पर्श से नहीं, अपितु दोनों के चरण-संस्पर्श से भूमि में स्पर्शोत्सवोत्पुलकितता हुई है। इस तरह अपनी समकक्ष समझकर भूमि से व्रजाङ्गनाएँ प्रश्न करती हैं—"सखि! किस पुण्य से तुम्हें यह हमारे युगलसरकार का संस्पर्श मिला है?"

श्रीकृष्णानुरागरससारसागर को विविध वीचियों से संस्पृष्टहृदया व्रजदेवियाँ जब अन्तर्हित प्राणप्रिय के अन्वेषण में निमग्न हैं, वृन्दावन की प्रत्येक वस्तु उनके लिये प्रष्टव्य बनी हुई है, कल्पना का कोश उनके सामने खुल पड़ा है, भगवती भूमि

से, उसके केशवांघ्रि-स्पर्शोत्सव की प्रश्न परम्परा अभी अपूर्ण ही थी कि सहसा उसी रमणीक रमणान्वेषण-स्थल में उन्हें मन और लोचन को कौतुक प्रदान करनेवाली एक वस्तु दिख पड़ी। वह थी किसलय-कुसुमसज्जित वन-विहार-शय्या, जो अञ्जन और ताम्बूल के राग से रञ्जित, उपभुक्त तथा अतिप्रमृष्ट थी। उसके सुखावह दर्शन से श्रीरासेश्वरी की अन्तरङ्गा, परमप्रेष्ठा या अन्य सखी भाववती व्रजाङ्गनाओं ने श्रीराधा-कृष्ण के विहार का अनुमान किया। भूमि को आत्मभावग्राहिणी समझकर परम सौभाग्यशालिनी और अपनी ही तरह परम अन्तरङ्गा प्राणसखी आदि भी माना। साथ ही उन्हें यह भी निश्चय हुआ कि श्रीगौरश्याम उभय तेजोविशेष के दर्शन से यह भूमि भी कृतार्थ हो चुकी है। यह महत्व बिना किसी महातपोजन्य अतिपुण्य के सम्भव नहीं। अतः पूछती हैं—"**किन्ते कृतं क्षितितपो बत केशवांघ्रि-स्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि?**" मनोहर केशवाले श्रीश्यामसुन्दर अथवा प्रसाधनीयकेशा श्रीरासेश्वरी, दोनों का दर्शन, संस्पर्श, हे भूमि! तुम्हें प्राप्त हुआ है, तुम धन्य-धन्य हो। व्रजाङ्गनाओं की कल्पना है कि श्रीरसिकशेखर के, श्रीजी की वेणीगूँथन के समय, भूमि को पादस्पर्श होने से उत्पुलकितता हुई और जैसे अपने को श्रीश्यामाश्याम के सम्मिलित दर्शन से सोमोल्लंघी आनन्द मिलता है, वैसा ही भूमि के विषय में भी उन्होंने समझा।

"**अप्यंघ्रिसम्भव उरुक्रमविक्रमाद्वा?**" आगे गोपाङ्गनाएँ भूमि से पूछती हैं कि 'क्या यह आनन्द अंघ्रिसम्भवमात्र है अथवा उरुक्रम के विक्रम से है? उरुक्रम का अर्थ है—बहुत प्रकार के अथवा विशेष क्रमवाला। यहाँ 'केलि' अलंकार है। यह बहुत प्रकार के क्रम वेणीगूँथन के लिये पुष्पचयार्थ हैं। फूल चुनने के लिये श्रीराधा-माधव दोनों का अहमहमिकया विहरण हुआ। यदि उरुक्रम-विक्रम हुआ—'**क्रमु पादविक्षेपे, क्रमणं क्रमः।' (उरुधा—बहुधा क्रम एव उरुक्रमः, स एव विक्रमो यस्य ययोर्वा तस्मात्)**, क्या श्रीराधा-माधव के पुष्पचयार्थ विधि-गतिवाले विहार से हे भूमि, यह तुम्हें आनन्दोद्रेक-रससञ्चार हुआ है, अथवा फूल तोड़ने के लिये दोनों चले, उनमें होड़ लगी कि 'पहले मैं जाकर फूल तोड़ूँगा', तो दूसरे ने कहा—'नहीं, पहले मैं।' पर फिर भी दोनों से पृथक् नहीं हुआ जाता, दोनों मिले चलते हैं। इससे श्रीराधा-माधव में परस्पर संघर्ष हुआ, यह विशुद्ध आनन्दोद्रेक का जनक हुआ। हे भूमि, क्या उसीसे यह विशेषउत्पुलक तुझे हुआ है?' इसीको 'वराहवपुषा' से कहा है—'**वरेण आहवो रतिरणः। तत्पोषकः प्रागल्भ्यभावः तेन)** उक्त प्रागल्भ्य यही है कि पहले ही का बाहुल्य, फिर प्रागल्भ्य में प्रतिचुम्बन होने से चुम्बन, आलिङ्गन होने से आलिङ्गन और दन्तक्षत, नखक्षत आदि का होना। क्या इन्हें देखकर यह उत्पुलक हुआ? दूसरे, इसीसे नायक में नायिकात्व का और नायिका में नायकत्व का उद्रेक हुआ और इसी रूप में वेणीगूँथन प्रस्तुत हुआ। सखि भूमि! क्या इस अद्भुतभाव के

अवलोकन द्वारा लतांकुरादिव्याज से तुम्हें यह अतिस्निग्ध रोमोद्गम हुआ है ? जरा हमें भी बतलाओ।' यह सखी जो पूछ रही है, विपक्ष की नहीं, अपितु प्रेष्ठसखीपक्ष की है। यह धरित्री इतनी सुन्दर सुस्निग्ध कैसे दीख पड़ रही है, इसपर व्रजदेवियों का अनुमान है कि पहले तो श्रीश्यामसुन्दर व्रजेन्द्रनन्दन ललित किशोर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग की स्वाभाविक सुन्दरता के उद्गम-स्थल हैं, उनमें भी दिव्यातिदिव्य भूषणों का यथास्थान विन्यास है, जिसमें छवि की-सौन्दर्यादि की-हिलोरें उठती हैं। फिर प्रिया-प्रियतम दोनों के श्रीअङ्गों में सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्यादि के समुद्र की उत्ताल तरङ्गों से अमृतमय वर्षा हो रही है। इसीसे धरित्री में आज यह इतना लोकोत्तर सौन्दर्य है। 'हे भूमि ! सचमुच तुम बड़ी सुशोभित हो रही हो, बतलाओ किस पुण्य का यह फल है ?' इस प्रकार व्रजाङ्गनाएँ धरित्री का बहुत अनुनय-विनय कर रही हैं, पर वह काष्ठमौन है, कुछ भी नहीं बोलती। इसपर व्रजाङ्गनाएँ कल्पना करती हैं कि यह मधुर विहार का आस्वाद करके गर्वीली हो गयी है, हम वियोगिनियों को प्राण-प्यारे का पता न देगी अथवा प्रेम समाधि में यह तल्लीन है, अतः बाह्यवृत्तिविहीन होने से हमारे प्रश्न नहीं सुनती, तब उत्तर ही कैसे दे ?

दूसरे भाववाली व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—"बात कुछ और है। हमारी समझ में तो यह लजा गयी है। इसको तीन-तीन पतियों का सम्बन्ध है—वामन और वाराह। अतः लज्जाजड़ होने से, यह कुछ बोलती नहीं। इसे विप्रयोगदुःख का परिज्ञान ही नहीं है। नन्द-यशोदा, गोपालों को श्रीश्यामसुन्दर का वियोग सम्भव है, पर यह तो विप्रयोगोत्पन्ना भाववती है। हमारे वियोग को यह नहीं जान सकती। अतः सखियो ! चलो, किसी विरहिणी से पूछें। जिसे कांटा गड़ा होता है, वही उसकी पीड़ा जानता है, वह रास्ते के कांटों को बीनता रहता है।"

श्रीकृष्ण-प्रेयसी गोपाङ्गनाओं ने अपने प्रियतम प्राणधन के विषय में वृक्ष, लता, भूमि, जो भी दृष्टि के सामने पड़ा, सबसे पूछा। भूमि से प्रश्नोत्तर करने के बाद ज्यों ही उन्होंने आगे कदम बढ़ाया, ऊपर दृष्टि उठायी कि सामने हरिणी देख पड़ी। व्रजाङ्गनाओं को आश्वासन-सा मिला। उनकी कल्पना, जो भूमि के अनुत्तर से उठी थी, अब हरिणी के साथ समन्वित होने लगी। व्रजवधुओं ने सोचा—यह अकेली है, उसका पति हरिण उसके साथ नहीं है; अतः यह सिद्ध है कि यह वियोगिनी है, प्रिय-वियोग-वेदना से सुपरिचित है, अवश्य ही यह हम वियोगिनियों की बात सुनेगी और प्यारे श्यामसुन्दर का मार्ग बतायेगी। वे उससे पूछती हैं—

"अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रैस्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥"

'हे हरिणपतिव्रते ! क्या तुमने हमारे प्राणधन श्रीश्यामसुन्दर को देखा है ? क्या वे अपनी परमप्रेयसी के साथ इधर पधारे हैं ?' अबतक गोपाङ्गनाओं द्वारा यह

नहीं सूचित हुआ कि श्रीकृष्ण भगवान् के साथ और भी कोई है। अब यहाँ यह कहा गया कि 'प्रियया उपगतः' 'अपनी प्रिया के साथ'—क्या उन श्रीकृष्ण को हे हरिणि ! तुमने यहाँ कहीं देखा है ? यह प्रिया कौन है ? वही वृषभानुनन्दिनी रासेश्वरी श्रीराधा। यहीं से श्रीराधा की चर्चा चली। पूछती हैं—'क्या श्रीराधा-कृष्ण इधर पधारे हैं ?' परन्तु 'श्रीमद्भागवत' में यह नाम प्रत्यक्ष रूप से कहीं भी नहीं लिया गया, ऐसा क्यों हुआ ? इसपर श्री जीवगोस्वामी का मत है कि श्री शुकाचार्य परम भावुक भागवत थे, उन्होंने अपने भाव को—अपनी आराध्या को—हृदय में छिपाकर रखा, भाव छिपाने की वस्तु है। प्रेमपन्थ के पथिकों की आचार्या गोपिकाएँ हैं, उन्होंने यही बतलाया कि प्रेम को छिपाओ। साठी धान्य भीतर ही भीतर अङ्कुर रूप में ही परिपक्व होता है। ऐसे ही इन भावुकों का प्रेम-परिपाक है। प्रेम की ऊँची दशा प्राप्त होने पर भी गोपियों ने लोक-लज्जा, शास्त्रीय धर्मादि को नहीं त्यागा, योगी की तरह अपने आप ही वे छूट गये—'**न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।**' इस तरह कर्मों ने ही इन्हें छोड़ा। यहाँ तक कि घर का काम-काज करते-करते भूल जाती थीं। जब दही बेचने जातीं, 'दही लो' की जगह 'श्याम लो' कहती थीं, इन्हें अपनी देह तक की विस्मृति हो जाती थी। कोई गोपी गोदोहन, कोई पतिशुश्रूषण आदि जाति-धर्म, कुल-धर्म, वर्ण-धर्म आदि स्वधर्म के पालन में लगी थीं। '**पाययन्त्यः शिशून्पयः**' आदि स्थलों में 'शिशून्' का अर्थ भतीजे आदि समझना चाहिये, अन्यथा पुत्रवती कान्ता के अभिसार से रसाभास होगा। हाँ, तो इस प्रकार पहले यह गोपियाँ अपने-अपने वर्णादि धर्मों में व्यासक्त थीं, पीछे श्रीश्यामसुन्दर के वेणु-गीतपीयूष के प्रवाह में बह चलीं—

"निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः॥"

जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) लौह का आकर्षण कर ले, वैसे ही अथवा उससे भी अधिक आकर्षण से वे श्रीश्यामसुन्दर के दर्शनार्थ सब कुछ छोड़कर दौड़ पड़ीं, आकर्षणशील श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के द्वारा वे आकृष्ट हुईं, यह आकर्षण का महत्व है। अथवा वेणुगीतपीयूष-प्रवाह में उनका मन बह चला, जैसे भाद्रपद मास के गङ्गा-प्रवाह में नाव बह चले, मल्लाह रोकना भी चाहे पर रुके नहीं, वैसे ही वे वेणुगीत-प्रवाह में बह चलीं। उनके मन में एक वेगवान् प्रेम का ही प्रभाव था, उसमें वर्णधर्म के सेतुबन्ध या बन्धन लगे थे। परन्तु जब वेणुगीतपीयूष का महाप्रवाह कर्णकुहरों द्वारा उनके अन्तर में प्रविष्ट हुआ, तब उससे वे बाँध तोड़-फोड़ डाले गये, उसमें उनकी—वह देह की नाव बह चली, मन-मल्लाह उसे न रोक सका और किनारे के लोग 'रोको-रोको' की पुकार करते ही रह गये। हठात् यह कार्य हो गया।

अनङ्ग का उक्त पद्य में अङ्गी अर्थात् शृङ्गार अर्थ है, शृङ्गार अङ्गी रस है, बाकी आठ अङ्ग रस। कविजन शुद्ध शृङ्गार रस में परोढा को महत्व नहीं देते,

परन्तु यह कृष्ण-कथातिरिक्त स्थल की बात है—**"नेष्टा यदङ्गिनि रसे कविभिः परोढा, तद्गोकुलाम्बुजदृशां कुलमन्तरेण।"** इस तरह अङ्गी बढ़ा और उसके वेग में गोपीजनों के देह की नौका भी बह चली, मन या बुद्धिरूप मल्लाह भी उसीमें कूद पड़ा। गोपाङ्गनाएँ अपने इस आचरण से शिक्षा देती हैं कि 'अपनी बन पड़ते वर्णधर्म, आश्रमधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म आदि को कदापि न छोड़ो, सन्ध्योपासनादि नित्य-नैमित्तिक कर्मों का बराबर सम्पादन करते रहो। हमें विश्वप्रपञ्च का स्मरण नहीं, पर फिर भी पतिशुश्रूषा आदि में लगी हुई हैं।' आज तो ऐसा नहीं होता, पर यह ठीक नहीं। यदि वे त्रिलोकीपति पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीश्यामसुन्दर ही अपूर्व अनुग्रह द्वारा अपने प्रेमपीयूष-प्रवाह में बहा ले चलें, तो बात अलग है, अन्यथा भगवत्प्रेम को हृदय में सर्वथा गुप्त रखकर वैध कृत्यों में निरन्तर लगे रहना चाहिये, विशिष्ट स्थिति उत्पन्न होने पर वे स्वयं छूटेंगे।

'पाययन्त्यः' आदि में **"लक्षणहेत्वोः क्रियायाः"** इससे हेत्वर्थ में 'शतृ' प्रत्यय है। यहाँ पतिशुश्रूषण हेतु है। गोपाङ्गनाओं का पतिशुश्रूषण उपलक्षण है। पतिशुश्रूषणरूप कारण ने 'श्रीकृष्ण-प्रेम-प्रवाह में बहने रूप कार्य को पुरतःस्थापित किया। **"यतः पतीन् शुश्रूषन्त्यः अतः श्रीकृष्णं परमात्मानं ययुः।"** क्योंकि वे गार्हस्थ्यधर्म, स्वजात्यादिधर्म का पालन करती रहीं, अतः उनका फल देने के लिये श्रीकृष्णचन्द्र परमात्मा ने उन्हें अपनी ओर खींचा। हम भी यदि ऐसा ही करें, तो हमें भी बुलायेंगे। यदि चाहते हो कि भगवान् कृष्ण का हमपर भी वैसा ही अनुग्रह हो, तो वैसा ही करें जैसा व्रजाङ्गनाएँ करती थीं, स्वधर्म में लगी थीं। **"स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।"** स्वस्वकर्म सम्पादन से ही ऊँची से ऊँची सिद्धि प्राप्त होती है। गोपाङ्गनाएँ प्रेम मार्ग की आचार्य हैं। आचार्य की परिभाषा है—

"आचिनोति च शास्त्रार्थं आचारे स्थापयत्यपि।
स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन उच्यते॥"

केवल ग्रन्थ घोटकर आचार्य नहीं बनना है, दूसरों को उपदेश देनेमात्र के लिये आचार्य नहीं बनना है। इस प्रकार जो एक योगी की स्थिति हो सकती है, वही उन व्रजदेवियों की हुई—

"तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदिकृत्य निमील्य च।
पुलकाङ्ग्युपगुह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता॥"

बाहर बहुत विघ्न हैं, अतः एक गोपी उन परमप्रेष्ठ को हृदय में पधराकर, नेत्रद्वार बन्द करके, जिसमें वे भाग न जायँ, परिरम्भणसौख्य का अनुभव करती है। उस लोकोत्तर आनन्द से रोमाञ्च हुआ, वह रोमाञ्च नहीं, अपितु पहरेदार खड़े कर दिये गये हैं—श्यामसुन्दर कहीं-हृदयमन्दिर से नेत्रादि द्वारों, रोम रन्ध्रों से

भाग न निकलें। फिर भी उसे विश्वास नहीं हुआ, श्रीश्यामसुन्दर की अटपटी चालों को वह खूब जानती थी, अतः उन्हें खूब छिपाकर आनन्दसिन्धु में गोता लगा गयी। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—"**लोचन मग रामहि उर आनी, दीन्हें पलक कपाट सयानी।**" यों गोपीजन की उपमा योगी से दी गयी। कर्मों ने उन्हें स्वयं छोड़ा, वे तो बराबर स्वकर्म सम्पादन में लगी रहीं।

एक बड़े मार्के की बात है, गोपीजन की इतनी महिमा क्यों है ? उन्हें सबसे अधिक महत्व क्यों दिया जाता है ? श्रीनारद, श्रीलक्ष्मी, श्रीरुक्मिणी आदि का कितना गौरव है, भगवान् की उनपर कितनी अनुकम्पा है, कितना प्रेम है, परन्तु ब्रह्मा उनके विषय में कुछ न कहकर इनका महत्त्व प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मा व्रज के कीट-पतङ्ग बनने में अपना अहोभाग्य समझते हैं—

"तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥"

इतना ही नहीं, ब्रह्मा व्रज में, वृन्दाटवी में कीट-पतङ्ग, लता-पत्र कुछ भी बनने को तैयार हैं। उन व्रजवासियों की, जिनका जीवन सर्वस्व वे मुकुन्द हैं, जिनकी पाद-धूलि को श्रुतियाँ आज तक ढूँढ़ रही हैं, पाद-धूलि से स्नान करने में वे अपनी महाभाग्यवत्ता समझते हैं--

"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद्गोकुलेऽपि कतमांघ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान्मुकुन्दस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥"

ब्रह्मा का भाव यह है कि यदि वहाँ उत्पन्न होंगे तो गोकुलवासियों की पाद-धूलि से पवित्र हो जायेंगे। पर उद्धव तो इनसे भी आगे बढ़ गये, वे तो उन गोपीजनों की पाद-धूलि को सेवन करने के लिये वृन्दावन के तरु, गुल्म, लता, कुछ भी बनना चाहते हैं, क्योंकि उन व्रजदेवियों ने दुस्त्यज आर्यपथ और स्वजनों को त्यागकर श्रीमुकुन्द की पदवी का सेवन किया था—

"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥"

उन प्रेमपथिकों की आचार्या व्रजदेवियों की पाद-धूलि के स्पर्श से अपनी कृतकृत्यता मानते हैं। और भी—

"निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥"

जब भगवान् शान्त मुनियों की पदरेणु से पवित्र होने की आकांक्षा रखते हैं तब उनके ज्ञानी भक्त उद्धव व्रजबालाओं की पाद-धूलि की लता-गुल्म बनकर सेवन करने की आकांक्षा करें, यह कैसी बात ? परन्तु उद्धव उनके **"या दुस्त्यजं स्वजन**

मार्यपथञ्च हित्वा" पर मन्त्रमुग्ध हैं। उन गोपबालाओं ने लोक-परलोक को तिलाञ्जलि देकर अपने प्रियतम प्राणधन श्रीश्यामसुन्दर पर समस्त विश्व को, विश्व के सौख्य को, वार डाला; राई-नोन करके फेंक दिया। उनकी यह परमप्रीति उद्धव की प्रमुग्धता और आश्चर्य का कारण है।

आज भी आर्यधर्म को, कितनी ही स्त्रियाँ छोड़ रही हैं, स्वजनों को भी छोड़ ही बैठी हैं, पर क्या मुकुन्द मिले ? यहाँ व्रजाङ्गनाओं के लिये आर्य-धर्म और स्वजनों का त्याग 'दुस्त्यज' बतलाया है। परन्तु आज की स्त्रियों के लिये तो, जो कि शिक्षिता हैं, वह सुत्यज ही है। जिन्होंने आर्य-धर्म से सम्बन्ध ही नहीं जोड़ा, वे छोड़ेंगे क्या ? वैसे तो दुर्व्यसन दुस्त्यज होता है। जैसे किसीको परपुरुष प्रेम हो, उसे माता-पिता सब मना करें, रोगादि, नरकादि की भीति भी हो, कलङ्क भी लगे, पर वह छूटता नहीं। यह है दुस्त्यज दुर्व्यसन। इसी प्रकार कुलीनों के लिये आर्य-धर्म दुस्त्यज होता है। व्रजाङ्गनाओं के लिये यह आर्यधर्म दुस्त्यज था, ऐसी स्थिति में क्या उन्हें दुर्व्यसनी कहा जा सकता है ? यह तो काँटे से काँटे को निकालने की तरह पाशविक उच्छृङ्खल चेष्टाओं को मिटाना था, शास्त्रीय धर्म के सद्व्यसन से यह मिटाया जाता है। जिन्हें यह बात हो गयी, वे दुर्व्यसन की ओर कैसे जायँ ? अब तो वे श्रीकृष्ण परमात्मा को ही भजेंगी। प्राकृत कुलटा ही आर्य-धर्म को छोड़कर लोक के किसी हीन-दीन, मूत्र-पुरीष भाण्डागार को ही भज सकती हैं। गोपाङ्गनाओं को तो वह घर में ही प्राप्त था, परन्तु वे तो उस अपर को छोड़कर परपुरुष, पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को भजने लगीं। स्व-स्वपतियों का सेवन उनके लिये शालिग्राम में विष्णुबुद्धया था, यही कारण था कि उद्धव ऐसे भक्त इनकी चरण-धूलि चाहते थे। इनकी योगीजनदुरवाप परम सद्गति हुई। क्या आर्यधर्मत्यागिनी कुलटाओं के लिये यह कदापि सम्भव हो सकता है ? उनमें-इनमें महान् अन्तर है।

इस तरह सुदुस्त्यज आर्यपथ और स्वजन को त्यागकर गोपाङ्गनाओं ने मुकुन्द-पदवी का सेवन किया, उन्हें महान् कष्ट हुआ। वेदोक्त-शास्त्रोक्त, सद्धर्म, सत्कर्म को त्यागने में अनन्तानन्त सन्ताप सत्कुलीन को ही होगा, पर अन्त में भगवत्सम्बन्ध से वह उतना ही सुखमय भी होता है। यही इन व्रजदेवियों की विशेषता और महिमा है। श्री जीवगोस्वामी, श्री रूपगोस्वामी प्रभृति भावुकों ने उनके स्वकीयात्व, परकीयात्व पर यही विचार किया है कि वे यदि स्वकीया होतीं, तो आर्य-धर्म के त्याग का प्रश्न ही नहीं आता। "**दुरापजनवर्त्तिनी रतिरपत्रपा भूयसी**" (यह पद्य पूर्व प्रघट्टकों में सम्पूर्ण व्याख्यात है) की वहाँ भावना ही नहीं, प्रसङ्ग ही नहीं। श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा आदि को श्रीकृष्ण दुरवाप कब हुए ? यह तो व्रजाङ्गनाजन आदि की ही दशा रही, रङ्क की निधि की तरह उन्हें ही श्रीश्याम-सुन्दर दुष्प्राप रहे और जँचे। पारावारविहीन लज्जा, गुरूक्तिविषवर्षण, श्रीश्यामसुन्दर

के दर्शन भी लुक-छिपकर करना, सास-ससुर का प्रतिबन्ध, कलङ्क-कालिमा का भय, यह सब रुक्मिणी आदि को कहाँ ? भगवत्प्राप्ति के निमित्त इन दुस्त्यजों के त्याग का साहस तो व्रजदेवियों को ही करना पड़ा—

"माधवो यदि विहन्ति हन्यताम्, साधवो यदि हसन्ति हस्यताम् ।
बान्धवो यदि जहाति त्यज्यताम्, माधवः स्वयमुरीकृतो मया ।।"

और भी—

"जीवितं सखि पणीकृतं मया किं गुरोश्च सुहृदश्च मे भयम् ।"

अतएव श्री जीव गोस्वामी ने कहा है कि उद्धव ऐसे इनकी सुदुस्त्यजता को ही हेतु देते हैं, अतएव इनके त्याग में ही महिमा है । कुलटा के आर्यधर्म त्याग में कोई महिमा नहीं । इस अपने चरित से गोपाङ्गनाओं ने स्पष्ट ही उपदेश दिया कि पहले धर्म को दुस्त्यज बनाओ, फिर श्रीश्यामसुन्दर मनमोहनविषयिणी उत्कट उत्कण्ठा से उसे त्यागो, नहीं-नहीं, वह स्वयं ही छूट जायगा । उस प्रेम को भी गुप्त रखने का प्रयत्न करो । अतएव श्री शुक भी उनके प्रणय को सुगुप्त रखने का प्रयत्न करते हैं ।

वे सोचते हैं—हमसे कर्मतत्व, उपासनातत्व आदि का ही प्रतिपादन करते हुए भी कुछ प्रेमपक्षपात व्यक्त हो गया, भक्तों में वह झलका, भगवदवतारों में, श्रीकृष्ण में, वह अधिक व्यक्त हो गया, वह केवल श्रीराधा के सम्बन्ध में ही व्यक्त होने से बचा है, अतः अब हम उसे सर्वथा छिपायेंगे । परन्तु फिर भी "ज्ञानखले यथा सरस्वती" के भय से उसे 'कदाचित्' आदि गुप्त रीति से व्यक्त करेंगे, सुस्पष्ट नहीं करेंगे । 'कदाचित्' का अर्थ है—क्षण-क्षण में सौख्यवृद्धि । अतएव प्रस्तुत 'अप्येण-पत्नि' पद्य में 'प्रियया' मात्र से श्रीराधा-कृष्ण के सुगुप्त प्रणय का सङ्केत किया, स्पष्टतः नहीं । वेदों में १३ काण्ड के 'शतपथ' में १६ हजार कण्डिका द्वारा उपासना, ४ हजार द्वारा ज्ञान और शेष सबसे कर्मकाण्ड का प्रतिपादन हुआ है । ४० अध्याय की शुक्लयजुःसंहिता के ३९ अध्यायों में कर्मकाण्ड का प्रतिपादन और केवल अन्तिम एक अध्याय में ज्ञान का प्रतिपादन है, जो 'ईशावास्योपनिषत्' के नाम से प्रसिद्ध है । तात्पर्य यह कि गूढतत्व थोड़े में छिपाकर कहा जाता है । 'परोक्षप्रिया ह वै देवाः ।' 'इदं सर्वं दृष्टवान्' इस व्युत्पत्ति-सम्पन्न 'इन्द्र' को इन्द्र कहा, क्योंकि सब जान न लें ।

"परम धन राधानाम अधार ।
जाहि पिया वंशी में गावत सुमिरत बारंबार ।
तातें शुक प्रकट नहिं कीनो 'जानि सार को सार' ।"

श्री शुकजी ने द्वादशस्कन्धात्मक वाङ्मय भगवद्रूप भागवत में दशम स्कन्ध को हृदयरूप बतलाया है, उसमें रासपञ्चाध्यायी प्रञ्चप्राणात्मक है । इसमें भी उस तत्व को गुप्त करके केवल 'प्रिया' शब्द से कहा । जहाँ नहीं हो रहा गया, वहाँ 'अनयाराधितो नूनम्' से संश्लिष्ट करके कहा । अपने लोकोत्तर प्रेम से श्रीकृष्ण परमात्मा को जिसने

वशीकृत किया है, वह स्वाधीनभर्तृका श्रीराधा हैं। वस्तुतस्तु 'तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्' के गुप्त रहस्य को गुप्त रीति से यहाँ श्री शुक ने कहा है, जिसका स्वरूप वेदों में भी अत्यन्त गुप्त है।

इस प्रकार श्रीकृष्णान्वेषणकातरा व्रजाङ्गनाओं ने प्रिया के साथ श्रीश्यामसुन्दर भगवान् का हरिणी से पता पूछा। धरित्री के प्रति वे उदासीन हो गयीं, उसे उन्होंने महामदान्ध समझा। इसका कारण स्पष्ट ही थी कि वह उनके प्रिय श्रीश्यामसुन्दर के अंकुश, कमल, ध्वजा, वज्रादि चिह्नों से अलंकृत चरण तथा श्रीप्रियाजी के चरण-संस्पर्श से भी विचित्रिताङ्गी हो रही थीं। यह उन्मदान्ध हमारी वेदना को क्या जानेगी, यही सब सोचकर व्रजाङ्गनाओं ने उससे अधिक बात नहीं की। दूसरी बात यह कि उससे अधिक महत्व उन्हें हरिणी में देख पड़ा, क्योंकि वह अकेली वियोगिनी वियोग दुःख को जाननेवाली थी। इसीलिये उसकी प्रशंसा करती हैं—'एणपत्नी' ("पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" यज्ञस्य फलभोक्त्रीत्यर्थः) अर्थात् हे हरिणसति, तुम याज्ञिक की पत्नी हो। बड़े-बड़े याज्ञिक कर्मकलाप हरिणी और हरिण का रूप धरकर वृन्दावन में रासेश्वरी के नित्यविहार का दर्शन करने आये हैं। अतः हे यज्ञसम्बन्धी पत्नि! तुम बड़ी पवित्र हो, हमें मनमोहन श्यामसुन्दर का पता बतलाओ। दूसरे, तुम्हारा यह सौभाग्य है कि श्रीकृष्णचन्द्र मुरलीमनोहर स्वयं तुम्हारे पास आये हैं और तीसरी विशेषता यह है कि तुम वृन्दावन की हरिणी हो। इससे बढ़कर और क्या पुण्य होगा? फिर सखि, वे प्यारे नन्दलाल भी अकेले नहीं आये, किन्तु अपनी प्रेयसीरत्नचूड़ामणि श्रीव्रजेश्वरी के साथ आये हैं। अतः तुमने प्रिया-प्रियतम के दर्शन अवश्य पाया है। विशेषकर उन यशोदानन्दन का तुमसे बड़ा अनुराग है, क्योंकि तुम्हारे नेत्र उनकी प्रियाजी के जैसे हैं और तुम्हारे इन नेत्रों को देखकर श्रीश्यामसुन्दर विभोर हो जाते हैं। तुम भी उन श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के मुख-सौन्दर्य-दर्शन की प्रेमी हो, इन विशाल नेत्रों से उन घनश्याम के मुखमाधुर्यामृत, सौन्दर्यामृत का पान न हो तो ये व्यर्थ हैं। ये हरिणियाँ बड़ी भाग्यशालिनी हैं—

"क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वसत कृष्णगृहिण्यः।
गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः॥"

श्रीमुरलीमनोहर के मुख पर विराजमान वंशी के क्वणन से, जो श्रीप्रियाजी की नूपुरध्वनि के सदृश है, इन हरिणाङ्गनाओं का चित्त हरा गया। श्रीकृष्ण के वेणुनिनाद से वे आकृष्ट और आसक्त हो गयीं। गुणों के समुद्र उन श्यामसुन्दर के समीप पहुँच गयीं और कुटुम्ब की आशा छोड़कर, भोजनादि की चिन्ता से मुक्त होकर या लोकव्यवहार को भुलाकर उन्होंने गोपाङ्गनाओं का अनुसरण किया। कृष्णप्रेमप्रमत्त यह एणपत्नियाँ उत्कृष्ट कोटि की हैं ऐसा समझकर व्रजाङ्गना उनसे पूछती हैं—'देवियो! क्या तुमने हमारे प्राणाधार को इधर कहीं देखा है?' हरिणी

स्वभावतः कुछ आगे जा रही हैं, परन्तु गोपाङ्गना समझती हैं कि इन्होंने हमारी प्रार्थना को सुन लिया और अभी श्रीश्यामसुन्दर जहाँ विराज रहे हैं, वहाँ पहुँचाने के लिये, वहाँ का पता देने के लिये ये आगे-आगे जा रही हैं। मानो ये कह रही हैं कि 'आओ, हम तुम्हें श्रीश्यामाश्याम का पता दें, पता क्या दें, तुम हमारे पीछे-पीछे चली आओ, हम तुम्हें उनसे मिला ही दें', और ये फिर-फिर ग्रीवा मोड़कर मानो आश्वासन दे रही हैं। श्रीकृष्ण-प्राप्ति की अनुगुण कल्पना में बही जा रहीं गोपाङ्गनाएँ हरिणी के पीछे हो लेती हैं और कहती जाती हैं—'ये बड़ी दयावती हैं, देखो, इनके बिना अन्य किसीने भी परिचय नहीं दिया।' थोड़ी दूर चलकर हरिणी गायब हो गयीं। अब वे आपस में पूछती हैं कि 'वह कहाँ चली गयीं ?' तब एक उत्तर देती है—'बस, प्रियतमा के साथ प्राणधन यहीं विराज रहे हैं। अतः सूचकत्वदोष से मुक्त होने के लिये वह हरिणी हमें यहाँ छोड़कर चली गयीं।' इतने ही में एक वायु का झोंका आया, उसके लोकोत्तर सौगन्ध्य का प्रत्यक्ष अनुभव करके सब एक साथ कह उठीं—

"कान्ताङ्गसङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः।"

अवश्य श्रीश्यामसुन्दर यहीं हैं, उनके बिना यहाँ यह गन्धवाह कहाँ से आयेगा ? जो जिसका मर्मज्ञ है, वही उसे जानता है। एक तो श्रीश्यामसुन्दर के अङ्ग का गन्ध, फिर वह हरिचन्दनमिश्रित, वह भी उभयमिलन से उत्पन्न, उपरिष्टात् कुन्दमाला के सौगन्ध्य के साथ वह मिला, इधर पहले तो श्रीप्रियाजी के अङ्ग की सुगन्धि, वह भी मनोहरस्तबकादि विचित्रचित्र-रचनान्वितकुचलिप्तकुङ्कुमसम्पृक्त, उसपर हरिचन्दन का विलेप, फिर दोनों का सम्मिलन, कुन्दमाला का सङ्घर्ष, इन सबके सम्मर्द से विलक्षण अष्टगन्ध-सौगन्ध्य उत्पन्न हुआ। इसका अनुभव परमप्रेष्ठ सखी के घ्राणेन्द्रिय को हो सकता है, जिसे इसका अभ्यास हो। इससे व्रजाङ्गनाओं को परिचय मिल गया। उन्हें निश्चय हो गया कि यहीं कहीं श्रीप्रिया-प्रियतम हैं, बिना उनके यह सौगन्ध्य अन्यत्र हो नहीं सकता। प्रथम तो सौगन्ध्य ही अद्भुत, फिर उसका उत्पत्तिस्थान पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द का श्रीविग्रह, उसमें भी हरिचन्दनादि का विलेप, फिर अकेले गौर तेज के सौगन्ध्य में वह आनन्द नहीं जो श्याम तेज से सम्मिलित में है। दोनों के गन्धादि-सम्मिलन से दोनों का स्थायी भाव हो गया।

यही हाल रूप का भी है, पहले तो भेद की कल्पना ही नहीं, बाद में वह गौर-श्याम तेज सम्मिलित ही रहता है। पीतिमा में भी श्यामता की आभा है, प्रिया-प्रियतम के पृथक्-पृथक् दर्शन में भी यह रहती है। जब कभी छद्म से सखीवेश बनाकर श्यामसुन्दर व्रजेश्वरी प्रियतमा के दर्शनार्थ जाते हैं, तब कठिनाई पड़ती है—श्यामाङ्गी कैसे बनें, क्योंकि पीतिमा से मिश्रित श्यामलता तो श्याम सखी में बन

ही नहीं सकती, अतः श्रीजी के दरबार में जाते ही पहचाने जाते हैं—'इनमें तो हमारी ही पीतिमा है।' नील पराग अथवा कस्तूरी के विलेपन अथवा किसी अन्य रङ्ग के द्वारा श्याम सखी बनने पर भी जब वह नटनागर श्रीजी के सम्मुख होते हैं, तब अनुरागोद्रेक के कारण सात्विक भावोदय के स्वेद से वह बह जाता है और सारे छल की कलई खुल जाती है। इस तरह गोपीजनवल्लभ प्रभु का रूप तो कृष्ण है, पर उसकी कान्ति अकृष्ण है—'**कृष्णवर्णंत्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।**' उनके रूप में चमकदार श्यामलता है, अनेक सूर्य, चन्द्र को तिरस्कृत कर देनेवाली दीप्तिमत्ता है, जैसे सुवर्णमणिमञ्जूषा में विराजमान श्यामल महोमय नीलमणि हो। श्रीवृषभानुनन्दिनी सुवर्णमञ्जूषास्थानीया हैं, उनके अङ्ग से परिवेष्टित श्रीनन्दनन्दन नीलमणिवत् प्रतीत होते हैं। बिहारी के प्रसिद्ध इस दोहे में भी इसका सङ्केत मिलता है—

"मेरी भवबाधा हरो राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परे श्याम हरित दुति होय॥"

यों गौर की आभा में श्याम निमग्न हो जाते हैं। ऐसे ही श्याम की आभा में गौर तेज मग्न हो जाता है। यह है श्रीश्यामाश्याम के मनोहर रूप की बाँकी झाँकी। इसी प्रकार अधरसुधा में भी विशेषता है, दोनों की अधरसुधा दोनों से मिश्रित है। इसी तरह अङ्गसङ्गम भी अद्भुत है। यह कुन्दमाला भी विशिष्ट ही है, इसका एक-एक सुमन सफल महातपस्वी है, वे मूर्तिमान् उस व्यापक गौर-श्याम तेज के अङ्ग-अङ्ग में, रोम-रोम में अपनी सत्ता को विलीन कर देना चाहते हैं। श्रीश्यामसुन्दर प्रियाजी की सेवा में अपने शरीर को समर्पित कर देना चाहते हैं, वे चाहते हैं कि कस्तूरी बनकर प्रियाजी के अङ्ग-विलेप के काम आऊँ, नील कमल बनकर कानों का कुण्डल बनूं। प्राकृत कस्तूरी, कमल आदि से उन्हें ईर्ष्या होती है—ये वक्षोज में विलिप्त, गण्डचुम्बी क्यों हो गये? श्रीजी के कञ्चुकी कमल कस्तूरी बनने को लालायित होते हैं, अधिक अन्तरङ्गता चाहते हैं, तदर्थ तप करने का सङ्कल्प करते हैं। इसी प्रकार श्रीजी भी श्रीश्यामसुन्दर के अङ्गभूषण बनने को लालायित रहती हैं। इस प्रसङ्ग में उनकी उक्ति है—ऐसे पुरुषभूषण के द्वारा जो सुन्दरियाँ अपने हृदय को भूषित नहीं करतीं, उनके कुल, शील, यौवन, गुण, रूप आदि को धिक्कार है—

"ईदृशा पुरुषभूषणेन या भूषयन्ति हृदयं न सुभ्रुवः।
धिक् तदीयकुलशीलयौवनं धिक् तदीयगुणरूपसम्पदः॥"

जिसने श्रीकृष्ण परमात्मा को अपना सर्वस्व नहीं बनाया, वह धिक्कृत ही है, वही शोचनीय है, वही शूकर, कूकर, कीट, पतङ्ग आदि बनते हैं। जो भवाटवी में भटकते-भटकते परेशान हैं, उन्हें अपने उद्धार के लिये श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द को अपने हृदय का भूषण बनाना चाहिये। फिर ये तो प्रेष्ठ सखी हैं, इनका पूर्वराग भी

श्रीश्यामसुन्दर में नहीं हुआ। क्रम यह है कि पहले श्रीकृष्ण-प्रेम, फिर उसका आस्वादन और उसके बाद श्रीप्रियाजी का संग। परन्तु इनको तो संयुक्त श्रीश्यामा-श्याम-विषयक अनुराग ही पहले हुआ, ऐसा उदाहरण लोक में नही है। अपने रूप, वेश आदि से सर्वथा श्रीजी के समान होने पर भी इन्हें श्रीश्यामसुन्दरविषयक पूर्वानुराग तक नहीं हुआ, केवल सम्मिलित स्वरूप का दर्शन ही अभिप्रेत रहा, यह कितनी निःस्पृहता है। 'क्रिया सर्वापि सैवात्र परं कामो न विद्यते।' (श्रीवल्लभाचार्य) यह विशुद्ध प्रेम है। काम को तो बतलाया कि वह कोटिकामकमनीय किशोरमूर्ति श्रीवनमाली के दर्शनमात्र से काममोहित हो मूर्च्छित हो गया और कान्ता बनकर उनकी सेवा करने के लिये तपस्या करने चला गया। ये परमप्रेष्ठा सखी हैं, इन्हें केवल श्रीश्याम के दर्शन की इच्छा ही नहीं होती, ये तो श्रीयुगलकिशोर श्यामश्यामा का ही अन्तरङ्ग दर्शन करके, जिस युगलसम्मिलित सौन्दर्यलावण्यसुधा का वे स्वयं भी अनुभव नहीं कर सकते, उसमें निरन्तर छकी रहती हैं। इनमें स्वसुखित्व की गन्ध भी नहीं, ये केवल तत्सुखसुखित्व-भावना की प्रतीक हैं। श्रीश्यामाश्याम में भी परस्पर तत्सुखसुखित्व की ही भावना है। जहाँ कहीं श्रीनन्दनन्दन की विभोरता या विह्वलता देख पड़ती है, वह श्रीजी के उद्देश्य से उन्हें प्रसन्न करने के लिये ही। इसी तरह श्रीजी की भी समस्त क्रियाएँ इसी उद्देश्य से होती हैं। परमप्रेष्ठ अन्तरङ्ग ये सखी, जिन्हें कभी कामगन्ध नहीं, इन दोनों के अद्भुत प्रेमानन्द-सुधासिन्धु में सदा मग्न रहती हैं। लोक में तो नायक-नायिका-सम्मिलन में संयोजकों को ही ईर्ष्या होती है, सम्भली आदि उसकी अधिकारिणी ही नहीं। किन्तु यहाँ तो सर्वथा श्रीकिशोरीजी के समान होते हुए भी यह सखियाँ कभी श्रीश्यामसुन्दर के परिरम्भण की इच्छा तक नहीं करतीं। इस प्रकार प्रेमानन्दसुधासिन्धु के मध्य में नित्य वृन्दावन-धाम विराजमान है, उसमें कदम्ब कुसुमित हो रहे हैं, वहीं विशाल कमल विकसित हैं, उनपर प्रेष्ठा सखी स्थित है, वहीं नित्यनिकुञ्जमन्दिर शोभित है, उसमें श्रीलाडिली और लाल लीलामुग्ध हो विराजते हैं। ये जब कभी लीलावियोग के तीव्रताप में विह्वलता का अनुभव करते हैं, तब वे सखियाँ सम्प्रयोगसुधा की सृष्टि करके उन्हें तोष पहुँचाती हैं, उनकी लीला में सहायक होती हैं। यह है हित विशुद्ध अनुराग।

'कौशीतकीउपनिषद्' का प्रसङ्ग है—प्रतर्दन इन्द्रलोक में इन्द्र से युद्ध करके वर माँगता है—**"यन्मनुष्याय हिततमं तन्मे ब्रूहि।"** वह विशुद्धरसात्मक सर्वाधिष्ठान ही हित है, उसीका परिणाम वृन्दावन है, उसमें व्रजाङ्गनाएँ हैं, उनके अङ्क में पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र यशोदानन्दन विराजमान हैं, उनके अङ्क में ब्रह्मविद्याधिष्ठात्री वृषभानुनन्दिनी श्रीजी स्थित हैं। दूसरी तरह से हितमय देहात्मक वृन्दावन है, उसमें हितमय इन्द्रियाँ गोपी हैं, अन्तः श्रीकृष्ण और अन्तस्तम श्रीजी हैं। इनमें जब सावधानी की स्थिति रहती है, तब सब

अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं। पर जहाँ वह शृङ्गारसुधासागर हितसमुद्र उमड़ा कि सब उसमें अन्तर्हित हो जाते हैं, अहर्निश डूबने-उतराने लगते हैं, जैसे बरफ की पूतरी कभी गलती है, कभी पानी और बरफ बनती है। विप्रयोगताप में गलने की और शुद्ध शृङ्गार में पूतरी-भावना है। इस प्रकार ऊँचे भाव की आराधिका ये व्रजाङ्गनाएँ हैं, सम्मिलित रूप ही इनकी उपासना है, इन्हें ही उस सम्मिलित सौगन्ध्य का परिचय है, इन्होंने ही पूछा—

"अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रैस्तन्वन्दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।
कान्ताङ्गसङ्गकुचकुंकुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः॥"

हरिणी के कुछ दूर जाकर अन्तर्हित होने पर यह गन्ध आया है, ऐसा वे अनुभव कर रही हैं। वे सोच रही हैं—यह गन्ध अवश्य कान्ताङ्गसङ्गकुचकुंकुमरञ्जित कुन्दमाला का ही है। वह प्रियाजी के वक्षोजलग्न कुंकुम से रँग उठी है, भीज गयी है; उसके बिना यह विविधरूप से सम्मिश्रित अष्टगन्ध अन्य का हो ही नहीं सकता। अतः यहीं कहीं प्राणप्यारे छिपे हैं। अथवा हरिणी कहे कि 'मैं नहीं जानती तुम्हारे श्यामसुन्दर कहाँ हैं ?' तो कहती हैं—'नहीं, तुम झूठ बोलती हो, श्यामसुन्दर यहीं हैं, इसका प्रमाण यह सौगन्ध्य दे रहा है। सखि हरिणी, मान न करो, बतलाओ, प्यारे मनमोहन कहाँ विराजे हैं ?' ये प्रेष्ठ सखी के भाव हैं। दूसरे भाव की सखी कहती हैं—'वे श्री-श्यामसुन्दर मदनमोहन केवल वृषभानुनन्दिनी के पति नहीं, अपितु 'कुलपति' हैं, फिर देखो उनका अन्याय, वे अकेली वृषभानुनन्दिनी के साथ ही रमण कर रहे हैं।'

व्रजाङ्गनाओं की पुनः हरिणी पर दृष्टि जाती है। वे कहती हैं—'यह हरिणी नहीं, सर्वदुःखहारिणी हैं, श्रीकृष्ण-दर्शन कराकर सर्वदुःख दूर करनेवाली हैं।' वे उसे अपनी सखी मानती हैं, यह इसलिये कि समान ख्याति होने से सख्य होता है। व्रजाङ्गना भी कृष्णपत्नी हैं और हरिणी भी (कृष्ण सार)-पत्नी हैं, अतः कृष्णपत्नीत्वेन सख्य हुआ। दूसरे यह पुण्यवती है। "कृष्णो मृगयतेऽनेनेति कृष्णमृगः।" वही 'एण' कहलाता है। पत्नी कहने से "पत्युर्नो यज्ञसंयोगे" से यज्ञसम्बन्ध सूचित हुआ-याज्ञिक की पत्नी। मानो दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्यादि श्रीकृष्णमिलन के लिये ही किया और उसे कृष्णार्पण कर दिया। इस तरह कृष्ण को ढूँढ़नेवाले मृग की-एण की-पत्नी यह हरिणी कृष्ण को ही ढूंढ़नेवाली है, यह हमारी सखी है। फिर यह और हम दोनों हरिणाक्षी हैं। श्रीकृष्णमनोहारिणी हम हैं और दुःखहारिणी यह है। गोपाङ्गनाओं के हरिणी के प्रति बड़े मार्मिक भाव हैं। वे कहती हैं—'हे सखि हरिणी ! हमको एक शङ्का है कि कहीं तुम हमसे सापत्न्यभाव तो नहीं रखती हो ? यह तो नहीं सोचती हो कि इन सौतों को उनका परिचय कैसे दूं, श्रीश्यामसुन्दर का तो मुझे अवश्य दर्शन मिला, पर इन सौतों को कैसे बतलाऊँ ?'

फिर कहती हैं—'पहले यह एणपत्नी अवश्य रही, पर अब तो कृष्णपत्नी ही हो गयी है, क्योंकि **'क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ता गोपिका इव विमुक्तगृहाशाः।'** श्रीकृष्ण की मुरली ने गोपिकाओं की तरह इनके भी घरबार की आशा छुड़ा दी। ऐसा होने से मृगों ने इनके साथ द्वेष नहीं किया, प्रत्युत इनको साथ लेकर भगवान् कृष्ण की पूजा—**'पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः।'** इनके पति स्वयं 'कृष्णसार' हैं, वे भगवत्परायणा अपनी पत्नी से द्वेष कैसे करेंगे ? हरिणी पशुकोटि में हैं, पशु मूढ़-मति गिने जाते हैं। परन्तु ये कृष्णप्रेमवती हरिणी मूढ़मति भी धन्य हैं, हम व्रजाङ्गना विवेकवती भी अहरिणाक्षी हैं, अधन्य हैं। इनके पति कृष्णसार (कृष्णपरायण) हैं, इनको साथ लेकर श्रीकृष्ण का दर्शन करने आते हैं। हमारे पति अभिमानसार हैं, अतः **'इमा धन्याः वयं विवेकवत्योऽधन्याः।'** प्रेमवती होने के कारण जैसे व्रजाङ्गना कृष्णपत्नी, वैसे ही हरिणी भी कृष्णपत्नी हैं। **"धन्याः स्म मूढ़मतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्"** इसमें 'अपि' का हरिण्यः' के साथ सम्बन्ध लगाया। मूढ़मति हैं, अतः धन्य हैं। मूढ़–मोह से (श्रीकृष्ण-मोह से) व्याप्त है मति जिनकी, ऐसी यह हैं। ये **'पुष्टिमार्गी'** हो गयीं। **'पोषणं मदनुग्रहः'** सभी इसे मानते हैं। कहीं अपने पुरुषार्थ से प्राणी कृतार्थ होता है और कहीं श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णतम पुरुषोत्तम ही अपनी अनुकम्पा से उसे कृतार्थ करते हैं। उत्तरा के गर्भ में परीक्षित् का अपना कोई पुरुषार्थ नहीं था, वहाँ मायाजवनिका का अपसारण करके भगवान् ने अनुग्रह किया। तात्पर्य यह कि जो सर्वसाधनशून्य हो, उसे भगवान् अपने अनुग्रह से साधनसम्पन्न करके अपना दर्शन देते हैं। हरिणी को अपने प्रभु की पूजासामग्री का परिज्ञान नहीं, कोई बोध नहीं, कोई सामग्री ही नहीं, ऐसी स्थिति में उन्हें भगवान् ने अपनी अनुकम्पा से स्वरूपसाक्षात्कार कराया। अब उनका वही मूढ़मतित्व भूषण हो गया, विवेकशून्य न होकर अब वे कृष्णविषयक आसक्तिमती हो गयीं। मोह दो प्रकार का होता है—एक तो वह, जिसमें कुछ पता न रहे, दूसरा गाढ़ स्नेह, श्रीकृष्ण के प्रति आसक्ति। श्रीकृष्णविषयक स्नेह ही तरल न होकर अत्यन्त गाढ़ मुद्रा में मोह होता है, अतः **'मूढमतयोऽपि धन्याः'** कहा गया। इसके प्रतिकूल विवेकवती भी अधन्य हैं।

विज्ञान की यथार्थ सफलता श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द पूर्णतम पुरुषोत्तम में उक्त मोह ही सम्भव है, और सब तो दो कौड़ी का है। स्वयं भगवान् ने इनका अपने में प्रेम प्रकट किया, आसक्तिभरे नेत्रों से प्रभु के दर्शन करें यही इनकी पूजा है। पूजा में फूल चढ़ाये जाते हैं। हरिणियों ने अपने कमलदलसदृश नयनों को, जो प्रेमरसपूर्ण थे, श्रीश्यामसुन्दर मुरलीमनोहर के चरणों में चढ़ाया। उन्होंने इस पूजा के बदले में प्रतिपूजन भी प्राप्त किया, पूजा की सफलता तभी है। प्रतिपूजन न मिले, पूजा ही स्वीकार हो जाय यह भी बहुत है। किसी भक्त ने भगवान् के इस प्रतिपूजन पर उन्हें उलहना भी दिया है—'प्यारे श्यामसुन्दर, वह तुम्हारी नीति समझ में

नहीं आती, तुम व्रजकर्दम में विचरते हो, पर याज्ञिकों के मण्डप में एक बार भी नहीं पधारे। उनकी लम्बी स्तुतियों का कोई उत्तर नहीं देते, पर व्रज में बछड़ों की भी हुंकार का उत्तर देते हो, बड़े-बड़े महात्माओं के स्वामी बनना नहीं चाहते, पर इन पुंश्चली गोपियों का दास बनना चाहते हो।' हरिणाङ्गनाओं की पूजा के फल में भगवान् ने उनका प्रतिपूजन किया, अपने अनुकम्पापूर्ण नेत्रों से उनकी ओर देख दिया। बड़े-बड़े पुजारियों को पूज्य-स्वरूप आदि का परिज्ञान रहता है, पर पूजा में मोह, आसक्ति, बछड़ों की-सी हुंकार एक बार भी नहीं होती। जैसे स्नेह से पुजारी पूजा करेगा, प्रभु भी वैसे ही स्नेह से प्रतिपूजन कर देंगे। हरिणाङ्गनाओं को तो मङ्गलमयी स्वानुकम्पा से स्वविषयक मोह, सूझ आदि प्रभु ने दी कि 'तुम अपने इन नेत्रों से हमारी पूजा करो' और फिर प्रतिपूजन भी किया। परन्तु इस पूजा की सफलता 'मूढमति' होने से ही हुई। पुजारी पूजा करते-करते पूजा की सामग्री को भूल जाय, सेव्य में सेवक की आसक्ति हो जाय, यही मूढ़मतित्व है, यही सच्ची पूजा है और यही सहस्रों करों से स्वीकृत होती है। उन हरिणाङ्गनाओं का ही यह सौभाग्य है कि भगवान् ने उनके समीप वेशपरिवर्तन किया, विचित्र वेश धारण किया—'उपात्तविचित्रवेषम्।' विचित्र अर्थात् नायिकावेश धारण किया। मानो श्रीवृषभानुनन्दिनी के साथ वर्त्तमान होकर हरिणियों के समक्ष श्रीश्यामसुन्दर ने वेश बदला। इतना मूढमतित्व, इतनी आसक्ति भगवान् के प्रति हरिणाङ्गनाओं को हुई। अतएव पहले मृगपत्नी, फिर कृष्णपत्नी होने पर भी इनके पतियों को श्रीकृष्ण से द्वेष नहीं हुआ। इस गहराई पर दृष्टि डालने से व्रजाङ्गनाओं ने अपनी शङ्का का समाधान पा लिया कि इन्हें हमारे प्रति सापत्न्य, ईर्ष्या नहीं है, ये तो हमारी ही तरह अन्तरङ्ग हैं। अतएव उन्हें 'सखी' सम्बोधन करने में कोई सङ्कोच नहीं। नित्यकुञ्जमन्दिर में प्रविष्ट सखी कहती है कि 'हे हरिणाङ्गने! तुम हमारे बराबर हो, क्योंकि हमारी मति उनके सामने मूढ हो जाती है। इस तुल्यता से तुममें हमारा सखित्व है, सापत्न्य नहीं।

जो कान्तभाववती व्रजाङ्गना हैं, उनका भी सापत्न्य नहीं, क्योंकि वैसा होने पर कोई भी सौत पति का पता किसीको न देगी। अतः ये भी 'सखी' कहकर परम प्रीति बतला रही हैं। यदि कोई कहे कि एकपत्नीत्वेन सापत्न्य तो होगा ही, तब कहा—वे भगवान् 'अच्युत' हैं। इसी आशय से प्रकृत पद्य (अप्येणपत्न्यु०) में 'अच्युत' पद है। ईर्ष्या वहाँ होती है, जहाँ एक स्वामी और अनेक पत्नी हों, अर्थात् स्वामी, सौन्दर्य, सौभाग्य आदि का परिच्छिन्न होना, प्रेम के चुक जाने का डर होना आदि ही ईर्ष्या का मूल है, यह प्राकृत नायकभाव में है। परन्तु जहाँ के सौगन्ध्य, सौन्दर्यादि अपरिच्छन्न हैं, चुकनेवाले नहीं, संविदानन्दसुधानिधि हैं, वहाँ ईर्ष्या कैसी? 'यह रस विरस होत नहीं कबहूँ।' जहाँ थाह ही नहीं, वहाँ ईर्ष्या भी नहीं। अतएव

भक्त नहीं चाहते कि हमारे भगवान् को कोई न भजे। हाँ, ऐसा भी भाव कभी होता है। जैसे श्रीश्यामसुन्दर के पक्ष की सखी जब श्रीवृषभानुनन्दिनी के पास जाती है, तब उस पक्ष की सखियों को यह शङ्का होती है कि 'कहीं यह हमारे प्यारे श्यामसुन्दर को न भजने लग जाय' और उसे वहाँ से हटाने का प्रयत्न करती है कि, यदि सखि! तुम अपने धर्म की रक्षा चाहती हो, तो शीघ्र हो उनके सामीप्य का परिवर्जन करो। प्रेम की 'अहेरिव कुटिला गतिः' है। यह केवल तात्कालिक भावविशेष है। वास्तव में यह प्रेमरस समुद्र अथाह है, कभी चुकनेवाला नहीं, अतएव सभी भक्त सभी को बुलाते हैं। इस प्रकार सापत्न्यव्यावृत्त्यर्थं ही उक्त पद में 'अच्युत' पद है।

अथवा व्रजाङ्गनाओं का कहना है कि 'सापत्न्य बराबरी में होता है, सो तुम तो सखि हरिणि! हमसे बहुत बड़ी हो, उन प्राणप्यारे नन्दनन्दन के साथ सब जगह जा सकतो हो, दर्शन कर सकती हो। परन्तु हम तो कुलाङ्गना हैं, हमारे लिये सर्वत्र जाना माना है। सखि हरिणि! यह मत कहना कि हमने तुम्हारे प्यारे मनमोहन का दर्शन नहीं किया है, क्योंकि हम उन आँखों को पहचानती हैं जिन्होंने हमारे प्यारे मोहन का दर्शन किया है। सखि बतलाओ, क्या प्यारे श्यामसुन्दर तुम्हारे दर्शन करने इधर से निकले हैं?' यहाँ सम्भावना और प्रश्न दोनों हैं—"दृशां सुनिर्वृतिं तन्वन् इह उपगतः।" 'निर्वृति' परानन्द का नाम है, उसके साथ 'सु' भी जुड़ा है। नेत्रों की सुन्दरता, विशेष आह्लाद की सार्थकता तभी सम्भव है, जब उन्हें श्रीश्याम-सुन्दर मदनमोहन देखने को मिलें। अन्यथा उनकी सुघराई दो कौड़ी की है। यह बहुत ऊँची बात है कि वे कमलदललोचन जगभयमोचन मोहन भी इन नेत्रों को देखने के लिये उत्सुक हों और दोनों, दोनों के नेत्रों को लुभायें। यह तो श्रीव्रजसुन्दरी जैसों के लिये ही सम्भव है, जो उन त्रैलोक्य-मनोमोहन के भी मन को मोह लेती है—हरण कर लेती है—"आभीरवामनयनाहृतमानसाय....।" यह गोपी-कृष्ण दोनों को शिकायत है। वे कहती हैं—'वे हमारे धैर्यादि को चुरा ले गये, मनोमञ्जूषिका के भीतर से। यह सब किया उन्होंने केवल नेत्रों से।' उधर आभीरवामनयनाओं ने उनके मन को हर लिया, वह भी नेत्रों से ही। अतएव वे अमना हो गये। पहले भी वे 'अमना' ही थे। तभी तो "रन्तुं मनश्चक्रे" कहा गया है। गोपाङ्गनाओं के सौंदर्य, माधुर्य, लावण्य पर वे 'अमना' मुग्ध हो गये और उनके साथ रास करने के लिये मन बनाया, पर वह भी फिर हृत हो गया।

ये अन्तरङ्ग भाव हैं। जैसे वेदान्ती 'त्वं' पदार्थ का शोधन करते हैं, वैसे ही भावुक अपना शोधन करते हैं। दोनों भाव हैं। अपने इष्ट पर स्वयं लुब्ध होना और अपने पर उन्हें लुभाना। प्यारे के दर्शनों की प्रतीक्षा में चित्त सदा ललचा रहे। इसी प्रतीक्षा की पुष्टि के लिये वृन्दावन के बांके बिहारीजी के मन्दिर में दर्शन के समय क्षण-क्षण में परदा आता रहता है, जिससे दर्शनों की प्रतीक्षा, उत्कण्ठा बढ़ती

हो रहती है। प्रियतम के दर्शनों की दिनभर चिन्ता, विह्वलता, नवीनता बनी रहे यही सच्ची प्रीति है। बहिर्मुखों के लिये यह कठिन है, परन्तु भावुकों के लिये यह सुगम बन जाता है। 'चलाऽपि यच्छ्रीर्न जहाति यत्पदम्।' समस्त सौन्दर्य का धाम साक्षात् लक्ष्मी भी लोभवश प्रतिक्षण नवनवायमान रमणीयता के अपारसागर उन प्रभु के पादारविन्द को छोड़ती ही नहीं, क्योंकि क्षण-क्षण के बाद उसमें सुन्दरता आ रही है, लक्ष्मी विचारती ही रह जाती हैं कि 'अब अगले क्षण आनेवाली सुन्दरता का और आस्वाद ले लूं, तब चलूं।' आज तक अगली सुन्दरता के लिये उसका लोभ न कभी पूरा ही हुआ और न वह गयी ही। **"यद्यप्यसौ पार्श्वगतो रहोगतस्तथापि तस्यांघ्रियुगं नवन्नवम्....।"** एक-एक रोम में अनन्त नेत्र, नासिका आदि के होने पर भी उस आनन्द की समस्तता का अनुभव असम्भव ही है, वह बढ़ता ही जायगा। इस समय की, इसके पहले की, इससे अगली और उससे भी अगले क्षण की आनन्दानुभूति किंरूप है, इसका विवेक सर्वदा दुर्घट ही रहेगा। जिसका नाम ही चञ्चला (बिजली) है, वह भी यहाँ अचञ्चला (स्थिर) हो जाती है। यह है उस प्रभु के स्वरूप की महिमा। इसके एक लेश का भी अनुभव होने पर, 'भजन करने में मन नहीं लगता' की शिकायत कैसे रह जायगी ? हाँ, तब उलटी शिकायत हो सकती है—'घर के काम-काज में मन नहीं लगता।' परन्तु यह शिकायत तो केवल गोपाङ्गनाओं ने ही की—

"चित्तं सुखेन भवताऽपहृतं गृहेषु यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद् याम कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥"

उन्हें यह चिन्ता अवश्य हुई कि इस मनोमृग को मोहन के मधुर मोहपाश से कैसे मुक्त करें ? जब तक यह स्थिति न आये, तबतक उन पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र की मोहन मधुर मूर्ति को हर तरह नवीन बनाये रखने का प्रयत्न करते रहो। प्रभु की सेवा में नया वेष, नये भूषण, नवीन भोज, झूलों के अवसर पर सावन-भादों की नवीन-नवीन मनोहर घटाओं का चमत्कार आदि यथावसर होता रहे जिससे नवीनता आती रहे, उत्सुकता बनी रहे, बढ़ती रहे। पहले बनावटी चमत्कार की पूर्णता हो ले, तो फिर तुरत स्वाभाविक चमत्कार नयनों को लुभा लेगा। इसलिये पहले प्रभु के नये-नये शृङ्गार, भोग, राग आदि से चित्त की तत्प्रवणता सम्पादित होती रहे। उसकी सिद्धि के लिये तनुजा, वित्तजा सेवा होती रहे— **"तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।"**

कई सम्प्रदायों में विप्रयोग शृङ्गार भावना चलती है। असमय में भी वे उसमें मग्न होते हैं। श्रीश्यामसुन्दर के मथुरागमन और गोपियों की व्रज में विरहदशा के पदों से उसमें तल्लीन हो जाते हैं। तभी यह भाव पुष्ट होता है। यद्यपि वास्तव में "**वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति**" का सिद्धान्त है, तथापि विप्रयोगोत्पाद-

नार्थं यह उचित है। इसीलिये सभी भावुक आचार्यों, श्री जीवगोस्वामी, श्रीवल्लभाचार्य आदि ने उन अंशों पर व्याख्या लिखी है। जिस समय भगवान् का मन्दिर खुले, दर्शन हों, उस समय भगवत्सम्प्रयोग की और मन्दिर बन्द होने पर भगवद्विप्रयोग की भावना प्रभु के स्मरण बनाये रखने में साधन है। मन्दिर बन्द होने पर अपने में गोकुलस्थ गोपी और भगवान् में मथुरास्थ कृष्ण की भावना करनी चाहिये, समझना चाहिये कि श्रीश्यामसुन्दर मथुरा गये हैं, अभी दो-तीन क्षण में ही पधारनेवाले हैं। उस भाव की भावना करके देखना चाहिये। कैसी स्थिति प्रकट होती है। इस प्रकार मन्दिरादि में दर्शन के समय संयोग; और पट मङ्गल के समय वियोग की भावना आदि से नवीन-नवीन भावों की उत्कण्ठा, प्रतीक्षा आदि का उदय होने के भाव चित्त में आने चाहिये। लोक में नायक को नवीन-नवीन शृङ्गारवती नायिकाएँ ही वश में कर सकती हैं, यही स्थिति नायक की है। परन्तु यह भगवद्विषयक स्थिति बहुत ऊँची है। इस तरह हरिणी अपने नेत्रों को सफल समझती हैं। पर सफलता तब, जब उनके नेत्र भी इन्हें देखें। ये हरिणी के भाव हैं। ये गोपाङ्गनाएँ किसी साधारण हरिणी को अपनी सखी नहीं बना रहीं, अपितु वह श्रीमोहनमनोहारिणी, गोपीदुःखहारिणी हरिणी हैं। जैसे हरिणी श्यामसुन्दर को राग से देखती हैं, वैसे ही वे भी देखते हैं, उनका मन, हृदय-राग का बड़ा ही लोभी है। श्रीश्यामसुन्दर के हरिणी-दर्शन में दो भाव हैं, एक तो यह कि इसके नेत्र श्रीवृषभानुनन्दिनी के जैसे हैं। दूसरा यह कि यह सुरङ्गी है, अन्तरङ्गा है, अतः इसे वृषभानुनन्दिनी के जैसे राग से देखते हैं। इस तरह हरिणी के सामने व्रजदेवियों का प्रणय-पाथोधि नाना भावों में उद्वेलित हो पड़ा और न जाने अभी कितना हो।

"……तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।"

इसपर बहुत से भाव पीछे कहे गये। इसमें एक भाव यह भी अन्तर्हित है कि हरिणी को श्रीकृष्ण का सन्दर्शन अवश्य हुआ है, वह इसका निषेध कर नहीं सकती। अवश्य ही भगवान् कृष्ण इस मार्ग से पधारे हैं और हरिणी को उन्होंने दर्शन दिया है, क्योंकि वस्तुतः कृष्णसारसती के नेत्रों में व्रजाङ्गनाओं को मनोहरता, अद्भुतता, मुग्धता, सुभगता, चपलता, तीक्ष्णता, श्यामता आदि का अनुभव हुआ है। ये सब गुण रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर में विराजते हैं। व्रजाङ्गनाएँ यह कल्पना करती हैं कि प्राणप्यारे मोहन का दर्शन करते-करते हरिणी के इन नेत्रों में वे बस गये, उन्हींकी वह मादकता, मोहकता इनमें छायी हुई है। यद्यपि श्रीश्यामसुन्दर के नेत्रों में तीक्ष्णता नहीं है, परन्तु विप्रयोगवश गोपाङ्गनाओं को उसकी प्रतीति हो रही है। इस प्रकार श्रीकृष्ण परमात्मक सभी भाव हरिणी के नेत्रों में व्रजाङ्गनाओं को स्पष्ट प्रतिफलित देख पड़ रहे हैं, अतएव वे कहती हैं—"सखि हरिणी, तुम छिपाने की चेष्टा न करो, अवश्य ही वे हमारे प्राणधन, परमानन्दमूर्त्ति श्रीश्यामसुन्दर तुम्हारे

नेत्रों में आनन्द उडेलते हुए अवश्य इधर से ही गये हैं, क्योंकि उनके दर्शन के बिना तुम्हारे इन नेत्रों में यह विशेषता आ नहीं सकती ।" इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि श्रीकृष्ण 'रस' हैं, "रसो वै सः" यह श्रुति ही इसमें प्रमाण है। इस प्रकार रसस्वरूप श्रीकृष्ण स्वरूप से ही मधुर हैं। फिर अनुपान की विशेषता से उनकी रसात्मकता और भी चमत्कृत हो जाती है। लोक में एक रस अनुपानभेद से सेवनकर्त्ता को अनेक प्रकार से लाभ पहुँचाता है, विभिन्न रोगों की निवृत्ति करता है। वैसे ही ये निखिलरसामृतमूर्ति, अनन्तकोटिकन्दर्पदर्पदलनपटीयान् श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। इनमें अनुपानभेद से रसभेद है। माधुर्यरस की अभिस्रुति जब वे कान्तासंयुक्त होते हैं, तब होती है। श्रीराधासंयोग से वे माधुर्यरस के व्यञ्जक होते हैं। प्रस्तुत पद्य में 'तन्वन् दृशां निर्वृतिम्' से ही आनन्द अर्थ स्फुट था, पर उसके साथ 'सु' भी लगाया गया। यह विशेष तात्पर्यविद्योतक है। व्रजाङ्गनाओं का कहना है कि 'श्रीश्यामसुन्दर इधर आये होंगे, पर यह माधुर्य तो, जो तुम्हारे नेत्रों में है, श्रीप्रियाजी के संयोग का सूचक है। उनके श्रीअङ्ग से परिवेष्टित श्यामसुन्दर का स्वरूप सखि हरिणाङ्गने! तुम्हारे नेत्रों में बसा है।' यही 'निर्वृति' के साथ 'सु' का वैशिष्ट्य है। यही बात "गात्रैः तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः।" से भी ध्वनित हुई है। व्रजाङ्गनाजन के विचार से केवल श्रीश्यामसुन्दर के गात्रमात्र से हरिणाङ्गना के नेत्रों की सुनिर्वृति नहीं हुई, अपितु श्रीराधासंयुक्त मोहन के दर्शन से ही वह सम्भव हुई। फिर उस लोकोत्तर निर्वृति में गात्रमात्र ही सहायक नहीं, अपितु स्वेद, रोमाञ्च, कम्प, परस्पर अनुरागोद्रेक आदि का उद्भव भी मुख्य है। मिलित युगलमूर्त्ति के दर्शन से हरिणाङ्गना के भी गात्रों में स्वेद, कम्प, रोमाञ्च, अनुरागोद्रेक आदि हुआ। अनुरागोद्रेक और वैसे ही तत्तदनुभावों से युक्त सरसता, सुनिर्वृति उसके नेत्रों में व्यक्त हुई। इस तरह हरिणाङ्गना के नेत्रों के लिये सुनिर्वृति का विस्तार अथवा प्रदान करते हुए श्रीश्यामसुन्दर इधर से होते हुए गये हैं। तात्पर्य यह कि प्रथम तो रस का दर्शन, वह भी अनुपानसहित, रसाक्रान्त तथा रसानुभवसहित हुआ। रसोद्रेक से रोमाञ्च होता है, पर यहाँ मूर्तिमान् रस में ही रोमाञ्च, स्वेद, कम्प आदि हैं। ये सब गात्रगत बहु-[illegible]चन और सुनिर्वृति आदि पद्योत्य विशेषताएँ हैं।

हरिणाङ्गना के नेत्र और श्रीश्यामसुन्दर का रूप, इन दोनों से व्रजाङ्गनाएँ खूब [illegible]रिचित हैं। जितना वे जानती हैं, उतना कोई कह ही नहीं सकता। उन्हीं की कृपा [illegible] कुछ कण का पता लगता है। फिर विरहावस्था-प्रयुक्त वाक्यों का अर्थ तो वे ही [illegible]ानती हैं। पहले इस व्याख्या प्रसङ्ग में कहा गया है—"अक्षण्वतां फलमिदं न परं [illegible]वामः" (वेणुगीत, भाग०, स्क० १०, अ० २१। इसे श्रीमद्वल्लभाचार्य ने [illegible]लाध्याय ही माना है।) व्रजदेवियों की दृष्टि में श्रीमदनमोहन मुरलीधर का दर्शन [illegible] नेत्रवानों के नेत्रवान् होने का फल है। कोई भले ही स्वर्ग, अपवर्ग, कल्पवृक्ष आदि

के दर्शन या प्राप्ति को नेत्रवत्ता या जप, तप का फल माने। परन्तु व्रजसुन्दरियाँ तो कहती हैं—'आँखवालों का तो फल यही है। यदि इसके अतिरिक्त और कोई फल हो सकता है, तो वह अन्धों का ही होगा।' 'अक्षण्वतां फलमिदम्' में 'इदम्' कहा गया है, जिसका अर्थ 'सामने वर्तमान' है, पर श्रीश्याम वृन्दावन में हैं और गोपाङ्गना अपने भवनों में यह भावना कर रही हैं, तब श्रीकृष्ण उनके 'इदम्' के विषय कैसे हुए? परन्तु इसका पर्यवसान इसीमें है कि व्रजाङ्गनाओं के तीव्र संवेग-सञ्चालित भावना-परिपाक का यह फल है कि वह यशोदोत्सङ्गलालित पूर्णतम पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण उनके समक्ष वहीं हैं, अतः 'इदम्' कहा। 'अक्षण्वताम्' यह पद देहधारियों का उपलक्षण है, अतः व्रजाङ्गनाओं के विचार से प्राणिमात्र के नेत्रों के लिये यदि कोई फल हो सकता है, तो यही कि उन्हें श्रीश्यामसुन्दर के मुखारविन्द का दर्शन प्राप्त हो, अन्यथा नेत्र व्यर्थ हैं। श्रवण भी व्यर्थ हैं, यदि उन्हें उन श्रीभगवान् के वचनामृत और वेणुरव का पान करने को न मिले। क्या यह घ्राण भी सार्थक कहा जा सकता है, जिसने एक बार भी भगवान् के चरणामृत-सौगन्ध्य का आस्वाद नहीं पाया? भगवत्-सेवा-विमुख बाहुओं को कौन बाहु कहेगा? वे सब व्यर्थ ही हैं, जिनसे भगवत्सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। व्रजाङ्गनाओं का तो स्पष्ट कहना है कि 'और कोई जाने चाहे न जाने, पर हम तो श्रीनन्दनन्दन के दर्शन को ही नेत्रों का परम फल मानती हैं। अलौकिक साध्य-साधन श्रुतिरूप है—"धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" वही वेदमन्त्रों की अधिष्ठात्री श्रुतिरूप व्रजदेवियाँ यह कह रही हैं।

यदि वह तत्त्व श्रुति से अविदित है, तो भावुक कहता है—"श्रवणयोरलम् श्रवणिर्मम······तमविलोकयतो नयने वृथा······।" महर्षि वाल्मीकि भी कहते हैं

"यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति॥"

आत्मा, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ कोसती हैं—'हाय, किस दुष्ट से सम्बन्ध हुआ किसके पल्ले पड़ीं, जो कभी भी एक बार भी उस दर्शनीय के दर्शन न मिले।' य ठीक है पर—'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते।' वह तो निर्वृत्तिक अन्तःकरण से उपल होता है। वह तत्त्व तो बुद्धि से भी परे है, इन्द्रियों की वहाँ पहुँच ही कहाँ

"इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥"

परन्तु इन्द्रियाँ इससे सहमत नहीं, वे तो कहा करती हैं—'हाय, हमारा ज उस दर्शनीय के दर्शन से सफल न हुआ, हम उससे वञ्चित रह गयीं, हमारा रोम-र उसके साक्षात्कार के लिये तड़पता है, हम व्याकुल हैं।' कोई भी ऐसा नहीं, जो उ न चाहे। वनगमन के समय भगवान् राम के मार्ग को साँप और बिच्छू जैसे वि

जन्तुओं ने भी साफ कर दिया और उनके दर्शन से अपने को धन्य समझा। एक और भी उक्ति है—**"जाकर मन इन संग नहिं रांता, तेहिं जग वञ्चित कीन्ह विधाता।"** काँटे भी उनके लिये कोमल हो जाते हैं। प्रकृति का प्रत्येक परमाणु उनके मिलन के लिये उतावला हो उठता है। एक श्रुति द्वारा इसका पूर्ण समर्थन प्राप्त है। वे अज्ञ हैं, जो यह कहते हैं कि 'जो श्रुति में नहीं, वह हमारे यहाँ है।' वस्तुतः जो श्रुति में नहीं, वह कहीं भी नहीं। महापुरुषों, महाभक्तों ने वेदप्रतिपाद्य, वेदसार को ही अपनी 'वाणी' में कहा है—**'पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूः।'……आवृत्तचक्षुः……**, ब्रह्मा ने इन्द्रियों की बाह्य वृत्ति बना दी, अतः वे बाहर ही देखती हैं, भीतर नहीं। यहाँ 'व्यतृणत्' कहा, 'व्यरचयत्' ही कह देते। ऐसा कहने में कुछ तात्पर्य है। 'व्यतृणत्' हिंसार्थक 'तृह्' धातु का रूप है, जिसका अर्थ हुआ 'हिंसितवान्।' भाव यह कि ब्रह्मा ने इन्द्रियों को बहिर्मुख बनाकर उनको मार डाला। वे बिलबिलाती हैं, दुःखी हैं। "प्रियवियोग सम दुख जग नाहीं।" मरण तो अच्छा, वियोगी तो इसे शौक से चाहते हैं। ब्रह्मा ने इन्द्रियों को शब्दादि की ओर प्रवृत्त किया यह ठीक नहीं किया, क्योंकि ऐसा करने से वे तत्त्वमात्र के सर्वाधिक अनुभव से वञ्चित रह गयीं। इन्हें परमप्रज्ञा से, जो आन्तर दर्शन करती हैं, ईर्ष्या है। परतत्त्व का महत्त्व समझने पर ये रोती हैं कि हाय, हमें प्रपञ्च में लगाया गया। ये इन सबको नहीं चाहतीं, ये तो पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द का परिरम्भण ही चाहती हैं। इस प्रकार चक्षु, श्रोत्र, घ्राणादि वास्तव में उस सर्वान्तर्यामी सगुण स्वरूप के ही दिव्य रूप, दिव्य शब्द आदि को चाहते हैं, दुस्संस्कारवशात् शूकर की विष्ठा प्रवृत्ति की तरह उन्हें प्राकृत शब्दादि में स्वाद मिलता है।

अतएव कहा गया है—

> **"निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्।**
> **क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात्॥"**

सचमुच श्रीकृष्ण परमात्मा के चरित से कौन विमुख होगा? वह तत्त्व महामुनि, भक्त, मुमुक्षु, यहाँ तक कि विषयी का भी सेव्य है। "सुनहिं विमुक्त विरत अरु विषयी।" **"विषयिन कहँ पुनि हरिगुणग्रामा, श्रवण सुखद अरु मन विश्रामा।"** वह गुणानुवाद अच्छा नहीं लगता केवल पशुघ्न को, कसाई को, महापापी को। परन्तु **सदन कसाई को तो बड़ा अच्छा लगता था। अतः** 'पशुघ्न' का अर्थ दूसरा **है— 'अपगता शुक् यस्मात् सः, शोक-मोह-शून्यस्तत्त्वज्ञानी, तं हन्तीति अपशुघ्नः'** अर्थात् महाब्रह्मनिष्ठवधजन्य पातकवाले को ही श्रीहरिगुणानुवाद अच्छा नहीं लगता। परन्तु कितने ही ऐसे पापी भी श्रीहरिगुण-श्रवणमहिमा से मुग्ध और मुक्त हुए सुने गये हैं, अतः **'पशुघ्न'** का अर्थ पशु जिसपर रखकर मारे जायँ, वह काष्ठखण्ड अथवा पशु जिससे मारे जायँ वह दण्ड (पशवो हन्यते यत्र यद्वा अनेनेति पशुघ्नः शुष्ककाष्ठम्) है।

अर्थात् श्रीहरिकथा से कदाचित् जड काष्ठ को ही विराग हो तो हो, पर इन्द्रियवान् ऐसा कोई नहीं हो सकता। अतएव गोस्वामीजी ने कहा है–"**श्रवणवन्त अस को जग माहीं**।"...यदि कोई है, तो वह दुःसंस्कारवश ही। बाकी सभी श्रीकृष्ण परमात्मा को चाहते हैं। इन्द्रियाँ रोती हैं, कोसती हैं—"**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः**" वे 'प्रियवियोग सम दुख जग नाहीं' समझती हैं।

यह जो प्रकृति के पदार्थमात्र में हलचल दिखाई पड़ रही है, वह और कुछ नहीं, केवल श्यामसुन्दर के मिलन की उतावली है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रमण्डल, अणु-अणु जो अविश्रान्त गति से दौड़ रहे हैं, इनका वही एकमात्र उद्देश्य है। प्रकृति का प्रत्येक परमाणु-इसके लिये लालायित है। इसके प्राप्त होने पर तो सबकी चञ्चलता विलीन हो जाती है। इसका एक उदाहरण लक्ष्मी है—"**चलापि यच्छ्रीर्न जहाति यत्पदम्**।" उस समय आनन्दमग्न सब कूटस्थ की तरह होंगे। जिस समय मधुप मकरन्दपान में मग्न होता है, उस समय उसका गुञ्जारव समाप्त हो जाता है। अलि-कुलमालासंकुल वनमालाधारी मुरली मनोहर के दिव्य दर्शन होते ही सब आनन्द-विभोर, शान्त हो जाते हैं। ये सब दुःख उसके बिना हैं। हम 'रस' को सावरण रखते हैं। श्रीमद्वल्लभाचार्य ने "**बर्हापीडं**" (वेणुगीत) पद्य की व्याख्या में श्रीभगवान् को उद्बुद्ध उभयविधश्रृङ्गार बतलाया है और 'कनककपिशम्' से पीतवस्त्र को उस (रस) का आवरण। अङ्ग को उससे समाच्छन्न रखा है। यह इसलिये कि भावुक जैसा देखेंगे, वैसा ही वर्णन करेंगे, उफान उसीका आयेगा। झरनों के सम्पर्क में जल की तरह भावों में रस बढ़ता है और फिर वह प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्द-मयादि कोशों में परिपूर्ण होकर रोम-रोम में भरपूर होता है। जैसा अनुभव होगा, वैसा ही उद्गार होगा, उसीमें 'रसाभास' भी होगा। भगवान् का पीताम्बर माया है, दिव्य माया है, उनके सत्वादि विभिन्न रूप जैसे ब्रह्मदर्शन (ज्ञान) में माया प्रति-बन्ध है वैसे ही यह '**कनककपिश**' वस्त्र है। माया की चकाचौंध में ही जैसे दृष्टि रुक जाती है, वैसे ही भगवान् के देदोप्यमान पीतवस्त्र में ही दृष्टि रह जाती है। इस प्रकार प्रभुविग्रह का साधारण वर्णन किया गया है।

प्रकृत में जिसकी प्रेप्सा के लिये तत्त्वमात्र उतावले हो रहे हैं, उसके लिये यदि गोपाङ्गनाएँ सर्वस्त्र त्याग करके उतावली हो रही हैं, उस रसास्वाद के लिये व्यग्र हैं, तो इसमें उनका क्या दोष है? उनका कहना है कि जब ये हीरा, मोती (कङ्कड़-पत्थर), जड़ भी श्रीहरि के उरःस्थल को छोड़ना नहीं चाहते, तब "**का वा स्मरवशाः स्त्रियः**?" तब कामकिङ्करी, अज्ञानमूर्ति हम स्त्रियाँ कैसे उन्हें भुला सकती हैं? हमारे मन, बुद्धि, अन्तःकरण, रोम-रोम में वे बसे हुए हैं, हम उन्हें कैसे छोड़ें?

श्रीमद्वल्लभाचार्य का कहना है कि सारे विधि-निषेध साधन में होते हैं, फल में नहीं, रसपान में भेद नहीं। रसिकों ने समझा कि जो तत्त्व इन्द्रियादि से अग्राह्य

था, जो **"स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते"** से व्यपदिष्ट हुआ, इन्द्रियों की विकलता दूर करने के लिये, उनकी वाञ्छा की पूर्ति के लिये उन्हीं वाञ्छाकल्पद्रुम प्रभु ने अपना दिव्य रूप प्रकट किया और मानो कहा—'बाहुओ, मिल लो, आँखो, देख लो।' जो प्रभु की इस कृपा का लाभ नहीं उठाते, वे वस्तुतः इन इन्द्रियों से कोसे जाते हैं। इस प्रसङ्ग में महर्षि वाल्मीकि के ये शब्द विशेष अर्थवान् हैं—

"यश्च रामं न पश्येत्तु रामो यं नाभिपश्यति।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हति॥"

"अक्षण्वतां फलमिदन्नपरं विदामः सख्यः पशूननु विवेशयतोर्वयस्यैः।
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणुजुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम्॥"

गोपियाँ कहती हैं—'सखियो, अपने सखाओं के साथ गायों को खिरक में भेजते हुए नन्दनन्दन के वेणुशोभित मुख का जिन्होंने सानुराग दर्शन किया है, उन्हीं नेत्रवानों के नेत्र सफल हैं। इससे बढ़कर उनकी सफलता हम तो नहीं समझतीं।'

हाँ, तो वे श्रुतिरूपा गोपाङ्गनाएँ **"अक्षण्वतां फलमिदम्"** के **'इदम्'** को खूब जानती हैं। इसके अतिरिक्त नेत्रवालों के लिये उनकी दृष्टि में और कोई फल ही नहीं—'न परं विदामः।' जो वेदसम्मत नहीं, वह तो अवैदिक ही है। यहाँ गोपीरूपधरा श्रुतियाँ ही यह कह रही हैं—'अनुरक्तकटाक्षमोक्षपूर्वक जिन्होंने व्रजेशसुत श्रीबलराम तथा श्रीकृष्ण के मुख का सातिशय दर्शन किया है, उन्हें ही नेत्रवत्ता का फल मिला है, क्योंकि नेत्रों की फलवत्ता इसीमें है।' इस प्रसङ्ग में व्रजाङ्गनाएँ बड़ी चतुराई से बात कर रही हैं। वे 'व्रजेशसुतयोः' में द्विवचन भावगुप्ति के लिये देती हैं, जिससे बलराम और कृष्ण दोनों का ग्रहण हो। परन्तु सहसा **'वक्त्रम्'** एकवचन ही निकल जाता है, क्योंकि उनका तो अनुराग श्रीश्यामसुन्दर में ही है। पर कहीं उनकी देवरानी, जेठानी के कान में यह शब्द न पड़ जायँ, इसलिये द्विवचन से छिपाती हैं। वे व्रज की नारियों की प्रकृति से परिचित हैं, वे खूब जानती हैं कि "बलिहारि करो व्रज को बसिबो जहाँ पानी में आग लगावें लुगाई।' श्रीश्यामसुन्दर के प्रेम को वे छिपाती हैं। कोई पूछे तो वे चट उत्तर दे दें कि 'हम तो व्रजपाल के प्रति राजभक्ति प्रदर्शन कर रही हैं।' इन सब भावों से 'सुतयोः' द्विवचन बोलती हैं। परन्तु जब तक श्रीश्यामसुन्दर का मुखचन्द्र सामने नहीं, तभी तक यह बनावट छिपी हैं और भावमहासागर शान्त है। पूर्णचन्द्र के दर्शन होते ही सागर की मर्यादा भङ्ग हो जाती है। यह प्राकृत पूर्णचन्द्र जलसमुद्र के हृदय से उदित हुआ है और वह अप्राकृत श्रीकृष्णचन्द्र इसी व्रजाङ्गनाओं या श्रीवृषभानुनन्दिनी के हृदयमहाभावसमुद्र से आविर्भूत होता है। महाभावसमुद्र जब तक शान्त रहा, तब तक सर्वविधगोपन, सर्वविध विवेचन, पर ज्यों ही श्रीश्याममुखचन्द्र का ध्यान आया कि बस भावसमुद्र उमड़ पड़ा—छिपाने की सब चालें भूल गयीं, 'वक्त्रम्' एकवचन मुख से निकल पड़ा। जब तक भावसमुद्र में

ज्वार-भाटा नहीं आया, तब तक लोक-वेद सबकी मर्यादा सुरक्षित रही, फिर नहीं। (**व्रजेशसुतयोर्वक्त्रं यैर्निपीतम्, अक्षण्वतां फलमिदमेव**) वे 'दर्शन' नहीं कहतीं, क्योंकि यह मोटी बात है, स्थूलदर्शिता है। यहाँ तो कहा 'निपीतम्' जिसका सुधासमुद्र का भी समवगाहन करना है। इतने कुशल, सजीव नेत्रपुटों के सामने सुवर्ण, हीरक आदि के पात्र तुच्छ हैं। ये इसी पूर्वानुभव से हरिणी के प्रति "**तन्वन्दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः**" कर रही हैं। '**अनुरक्तकटाक्षमोक्षम्**' में दो भाव हैं—यह मुखचन्द्र अनुरागियों के कटाक्षमोक्ष का स्थान है अथवा अनुरक्तों की ओर सानुराग कटाक्षमोक्ष का स्थान है अथवा अनुरक्तों की ओर सानुराग कटाक्षमोक्षण की क्रिया जिसमें हो रही है, वह है। अथवा उस अवसर पर गोपाङ्गनाएँ कहती हैं—'सखि! दर्शन करने कैसे जायँ, कुललज्जा मुखचन्द्र का दर्शन नहीं करने देती।' दूसरी कहती है—'चलो, किसी निकुञ्ज में छिपकर दर्शन करेंगी।' इसपर भी एक तीसरी का तर्क उठता है—'क्या वे मोहन अपने भृकुटिकोदण्ड तानकर तुम्हारी लज्जा को कहीं फेंक न देंगे?' यह तो एक मुखचन्द्र के दर्शन की भावकल्पना हुई। यहाँ तो प्रिया-प्रियतम दोनों विराजमान हैं। इन्हें भी अकेले मुख-चन्द्रदर्शन में बाधा है, अतः सम्मिलित दर्शन चाहती हैं। वहाँ भी '**व्रजेशसुतयोः**' कहा गया है। '**सुतयोः**' में सुता और सुत दो हैं, व्रजेश वृषभानु बाबा और व्रजेश नन्दबाबा, दोनों के पुत्री और पुत्र श्रीराधा-कृष्ण का दर्शन अभिप्रेत है। मुखत्व से मुख में एकवचन कहा गया है। व्रजाङ्गनाओं के भावमहावायु ने गौर-श्याम समुद्र को एक कर दिया और सम्मिलित दर्शन करके कृतार्थ हो गयीं। भाव यह कि जिन्होंने सम्मिलित दर्शन किया, वे ही कृतार्थ हुए, शेष तो मोरपङ्ख की तरह व्यर्थ ही रहे। व्रजाङ्गना कहती हैं—'अतः हे एणपत्नि! तुम्हारे नेत्रों से, तुम्हारे नेत्रों में छलक रही इस सुनिर्वृति से यह निश्चित है कि तुम्हें युगल सरकार का अवश्य दर्शन हुआ है, हम इस वस्तु को खूब समझती हैं, तुम हमसे छिपा नहीं सकती। शीघ्र बताओ, वे श्रीश्यामाश्याम किस ओर गये हैं?'

इस प्रकार श्रीव्रजेन्द्रनन्दन को ढूंढ़ती हुई गोपाङ्गनाएँ लताओं से, वृक्षों से, भूमि से पूछती फिरती हैं। हरिणाङ्गना को देखकर तो उनकी प्रश्नपरम्परा, उनकी जिज्ञासा, उनकी श्रीकृष्णविषयिणी स्मृति उद्वेल महानदी का अनुकरण करने लगी है। वे उसे सकलदुःखहारिणी हरिणी मान रही हैं। उन्हें विश्वास हो गया है कि इस हरिणी ने हमारे प्राणधन को अवश्य देखा है। तभी तो इसके नेत्रों में यह श्याम छवि, यह श्यामलता, चञ्चलता आदि उपलब्ध हो रही हैं। गोपाङ्गना-समूह में मानिनी गोपियाँ परस्पर कहती हैं—'वे यशोदानन्दन सदा तो हमारा मान मनाते रहे, पर अब क्या हो गया जो हम सब पूछती फिरती हैं, आकुला हैं और वे मिलते तक नहीं। पहले वे हमें ढूंढ़ा करते थे, हमारा मान मनाते थे, पर आज हमारी सुधि

तक नहीं लेते—हम कितनी बेहाल हैं। इसपर कोई कहती है—**'कयाचिद् धूर्तया नीतः'** अर्थात् 'कोई धूर्त सखी उन्हें बहकाकर ले गयी, अन्यथा वे ऐसे नहीं हैं।' इस समय उनकी घ्राण ने कुन्दमाला के, जो कान्ताङ्गसङ्गकुचकुंकुमरञ्जिता थी, सौगन्ध्य का अनुभव किया। वे कहने लगीं—अब तो वह बात स्पष्ट हो गयी, देखो, यह कुन्दमाला की सुगन्ध आ रही है, यह केवल माला की ही सुगन्ध नहीं किन्तु उस धूर्ता के अङ्ग में लगे कुंकुम का भी इसमें समावेश है। 'सखियो! वे तो स्वयम् हमें छोड़कर कहीं जानेवाले नहीं थे, अवश्य किसी धूर्ता ने ही उन्हें फँसाया है।' दूसरी कहती है—'सखि! देखो, वे श्यामसुन्दर बड़े छलिया हैं, वास्तव में वे किसीके नहीं। अपने सुन्दर शरीर को दिखाकर उन्होंने केवल तुम्हारे नेत्रों की सुनिर्वृति, सानन्दता सम्पादित की है। इससे वे तुम्हें आकांक्षा या मोह में डाल गये। उनके त्रिलोकमनोहर दर्शन से तुम्हारे नेत्र अवश्य सफल हुए, उनमें उनकी वह त्रिभङ्ग-ललित छवि अवश्य बस गयी, पर मन नहीं भरा, हृदय तरसता रह गया। सुन्दर वस्तु के दर्शनमात्र से तृप्ति नहीं होती। दर्शनाभाव में उसके लिये उत्कट उत्कण्ठा बनी रहती है। एक उग्र रुचि जागरित हो जाती है। कथञ्चित् दर्शन की अभिलाषा पूरी होने पर वे कहीं हृदय में बस गये, तो फिर उन प्रियतम प्राणनाथ मुरलीमनोहर श्यामसुन्दर के स्पर्श, परिरम्भणादि की लालसा सुस्थिर हो जाती है और मन होता है—'इन्हें अन्तरात्मा में, रोम-रोम में बसायें।' क्षणभर में व्रजाङ्गनाएँ हरिणी की ओर झुककर कहती हैं—'सखि मृगाङ्गने, वे तुम्हारे नेत्रों में अपनी छवि बसाकर चले गये होंगे, क्योंकि तुम्हारे नेत्रों में उनकी श्यामलता आदि स्फुट ही प्रतीत हो रही है। उनका यही काम है। हम उन्हें खूब जानती हैं। वे कुलपति हैं, व्रजाङ्गनायूथ के पति हैं। वे कुलपति होकर भी एक प्रेयसी के रसवश होकर हम सबको छोड़कर उसीके साथ हो लिये। यह कुंकुममिश्रित कुन्दमाला की सुगन्ध ही इसका प्रमाण है।' इस समय व्रजाङ्गनाओं के प्रेम-पयोधि में ईर्ष्या की लहर उठ आयी। वे कहने लगीं—'यह देखो अन्याय, 'किं सैवेका कान्ता न वयम्' क्या वही एक उनकी कान्ता है, हम नहीं; जो हमें छोड़कर उसके साथ चले गये? जो उन्हें बहकाकर ले गयी वही प्रेयसी है, हम नहीं? तुम साक्षी हो हरिणी, देखो, यह कुलपति का कैसा अन्याय है।' मानिनी व्रजाङ्गनाओं की ओर से ये भाव हैं।

इसके अतिरिक्त जो श्रीवृषभानुनन्दिनी की शुद्ध प्रेष्ठतम सखी हैं, उनके वे ही भाव हैं कि हे कृष्णसार सती, तुम धन्य हो, तुमने युगलसरकार के दर्शन किये हैं, उनके सम्मिलित स्वरूपदर्शन से तुम्हारे इन नेत्रों की सुनिर्वृति हुई है—परमानन्द की प्राप्ति हुई है। तुम प्रेष्ठसखी हो, श्रीवृषभानुनन्दिनी की अन्तरङ्गा हो। तुम्हारे नेत्रों की प्रसन्नता से मालूम पड़ता है, अवश्य तुमने उन श्रीराधामाधव के यहाँ कहीं अभी दर्शन किये हैं। सखि, हम तुम्हारी बड़ी कृतज्ञ होंगी, हमको भी उनका पता

दो। प्रकृति पद्यान्तर्गत 'कान्ता' पद की व्युत्पत्ति की जाती है कि '**कस्य सुखस्य अन्तः सिद्धान्तो यस्यां सा**' अर्थात् जिसमें अनुरागात्मक या आनन्दात्मक सुख का अन्त है वह 'कान्ता' है। तात्पर्य यह कि व्रजेन्द्रनन्दिनी श्रीराधा ही सुखसिद्धान्तरूपा हैं। सुख क्या है ? तो यदि वादि-प्रतिवादीनिर्णीत सिद्धान्त ही सुख है। ब्रह्मानन्द सुख है अथवा स्वर्गादि सुख है, इसका अन्तिम सिद्धान्त श्रीवृषभानुनन्दिनी ही हैं, परमानन्द में रहनेवाला माधुर्यसारसर्वस्व वही हैं। अथवा '**कस्य सुखस्य अन्तः-पर्यवसानम् यस्यां सा कान्ता**' अर्थात् सुख की बढ़ते-बढ़ते अन्तिमावस्था पराकाष्ठा जहाँ हो, वह तत्त्व कान्ता है और वही श्रीराधा तत्त्व है।

श्री राधास्वामी मतवाले कहते हैं कि 'वैदिक, पौराणिक लोगों को केवल १४ लोक मिले, पर हमारे स्वामी १८वें लोक में विराजमान हैं।' कल्पना करने में क्या लगता है ? एक राजा को कहानी का बड़ा शौक था, वह ऐसी कहानी सुनना चाहता था, जिसका अन्त न हो और इनाम भी उसे देना चाहता था, जो बे-अन्त कहानी कहे। बेचारे सब परेशान होकर चले जाते थे, आखिर कितनी लम्बी कहानी होती। एक ऐसा कहानीकार उसे मिल गया। उसने कहना शुरू किया—'एक बड़ा भारी जंगल था। उसमें एक बहुत बड़ा वृक्ष था, उसमें बड़े-बड़े असंख्य पत्र थे, एक-एक पत्र पर कई-कई पक्षी रहते थे, उनमें से एक उड़ा फुर, दूसरा उड़ा फुर्र। राजा जब पूछता—'फिर क्या हुआ ?' तो कहानीकार कह देता 'फुर्र'। इस तरह और 'फुर्र' के चक्कर में बहुत समय निकल गया। राजा ने खीजकर कहा—'आगे क्या हुआ ?' कहानीकार ने कहा—'हुजूर, सब पक्षी उड़ लें, तब तो आगे कहानी चले।'

अतः हमारे दार्शनिक एक बात पर निर्णय करते हैं, वाचस्पति की मति भी सुख की कल्पना करने में थक जाय, वह नित्य निरतिशय-सुखास्पदा नित्यनिकुञ्जे-श्वरी श्रीराधा हैं। अतएव '**कस्य सुखस्य अन्तो यस्याम्**' यह सङ्गत व्युत्पत्ति है। इन कान्ता श्रीव्रजेन्द्रनन्दिनी के मङ्गलमय श्रीअङ्ग के सङ्ग से श्रीश्यामसुन्दर की कुन्द-माला रँग गयी। वह कुंकुम था–केसर थी–जिससे वह रँग गयी। यह कुंकुम क्या है ? भावुक कहते हैं—श्रीवृषभानुनन्दिनी के हृदय में निवास करनेवाला श्रीकृष्ण-विषयक जो महाभावरूप अनुराग है, वही उनके कनककली-सदृश मनोहर स्तनमण्डल में भी है। अर्थात् कुंकुम-अनुराग स्थानीय है। यहाँ बिना समझे लोग सूखा कुतर्क करते हैं। वस्तुतः श्रीकृष्ण में—

> **"कृषिर्भूवाचकः शब्दः नश्च निर्वृतिवाचकः।**
> **तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥"**

इसके द्वारा विनिर्दिष्ट परब्रह्मरूप श्रीकृष्णतत्त्व में श्रीराधा और श्रीकृष्ण–दोनों आ जाते हैं। वह सत्ता, महासत्ता रूप है, जिसके बिना सब असत् है, उसी स्वप्रकाश सत् से सबकी सत्ता है, वही 'कृष्ण' हैं, इसमें णकार निर्वृति या आनन्द का द्योतक

है, तथा उनमें रहनेवाला आनन्द ही श्रीराधा हैं। आह्लाद की अन्तरात्मा आनन्द और आनन्द की अन्तरात्मा आह्लाद दोनों एक तत्त्व हैं, भेद नहीं। इस प्रकार श्रीराधा-कृष्ण उभय, उभयभावात्मा और उभय उभय-रसात्मा हैं। यों कान्ता के हृदयह्रद में जो पूर्णानुराग-महाभाव है, वही सुवर्णसदृश स्तनमण्डल और बाह्य कुंकुम के रूप में अभिव्यक्त होकर शोभा बढ़ाता है। महाभाव ही कुंकुम है, उससे कुन्दमाला रँग गयी है। विशुद्ध अनुराग से माला रँगी गयी है। उसीका सौगन्ध्य व्रज में फैला है। जिन्हें प्रभु की अनुकम्पा से दिव्य घ्राण मिले, वे उसका अनुभव कर सकते हैं। पद्य में 'वाति' वर्तमान काल है। आज भी व्रज में वही गन्ध विस्तीर्ण है पर प्रभु की कृपा से ही सूंघने को मिलता है—

"कान्ताङ्गसङ्गकुचकुंकुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः।"

जो गोपाङ्गनाएँ भगवान् के अन्तरङ्गस्वरूप से परिचित हैं, वे विप्रयुक्ता नहीं हैं, पर जो अन्यान्य मध्या, मुग्धा, प्रगल्भा आदि हैं, उनका साथ देने के लिये वे भी श्यामसुन्दर को ढूंढ़ती हैं। हरिणी से इन सबने बहुत पूछा, कितने ही अन्तरङ्ग रहस्य उसे बतलाये, पर वह न पसीजी, उसने उन्हें कुछ नहीं बतलाया। तब उससे उन्हें निराशा उत्पन्न हो गयी और उसीमें ईर्ष्या भी। उनमें से एक कहती है—'पहले तो यह कृष्णसार की (कृष्ण ही है सार जिसका—कृष्णः सारो यस्य सः) अर्थात् कृष्णभक्त हरिण की पत्नी थी, फिर वह कृष्णपत्नी हो गयी। अब वह इससे सापत्न्यभाव रखती है। इसीलिये उनका पता नहीं बतलाती।' दूसरी कहती है—"सखि! यह बात नहीं है, उन मनमोहन श्यामसुन्दर ने अपने भ्रुकुटीरूप कामकोदण्ड को तानकर कटाक्षशर से इसे विद्ध किया है। इसका हृदय उससे विह्वल हो गया है, केवल इसके नेत्रों में श्रीश्याम-छवि बसी है। अतः हृदयशून्या होने से यह बेचारी हमारे वचनों को सुन नहीं रही है। चकितदृष्टि, विह्वलहृदया वह हमारे प्रश्नों का क्या उत्तर देगी?" तीसरी कहती है—"अभी तो यह मनोहारिणी थी, पर अब सुखहारिणी है, इससे अपनी आशा पूर्ण न होगी। चलो, किसी और से पता लें।" इस प्रकार वे श्रीकृष्ण-विरहिणी व्रजदेवियाँ जड़, चेतन, पशु-पक्षी, लता, वृक्ष सभीसे अपने प्राणधन घन-श्याम का पता पूछती फिरती हैं। इससे सूचित करती हैं कि प्रेमी किसीसे भी अपने प्रियतम को पूछ सकता है। उसे स्वभाव से ही यह आशा बनी रहती है कि कदाचित् इनमें से कोई बता ही दे। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में इस भाव का खूब वर्णन किया है।

श्रीकृष्णान्वेषण करती गोपियों को कहीं तमाल का वृक्ष देख पड़ा, उसके दर्शन से उनकी श्रीकृष्णस्मृति नवीन हो गयी। उस श्यामल तमाल को देखने से उन्हें तमालश्याम मञ्जुल मुरलीमनोहर स्मरण हो आये, वे उस तमाल को अपने मोहन का सखा मानती हैं। अगाध प्रेम से गद्गद होकर उससे कहती हैं—"सखे! मालूम

पड़ता है कि हमारे हृदय और तुम्हारी कान्ति के चोर श्यामसुन्दर ने अभी-अभी तुम्हारा आलिङ्गन किया है, तभी तो ये तुम्हारे कोमल पल्लव अपनी अरुणिमा के व्याज से तुम्हारे अनुरक्त हृदय का पता दे रहे हैं। बताओ, तुमने उन्हें किधर जाते देखा है ?" उसे अपने प्रश्न का उत्तर न देते देख व्रजाङ्गनाएँ यह कहती हुई आगे बढ़ जाती हैं--"सखियो ! इसकी वेदना तो श्रीश्यामसुन्दर के आलिङ्गन से शान्त है, अतः यह दूसरे की वेदना को क्या जाने ?"

आगे जाति (चमेली) की लता मिल गयी। उससे कहती हैं—"तुम स्वभाव-सरला हो, तुम्हारे मुकुल पर श्रीश्यामसुन्दर ने यह नखक्षत किया है, अतएव वह अरुण है।"

आगे वे आम्र के नवकोमल अरुण पल्लव को देखकर कहती हैं--"सहकार ! अवश्य हमारे प्राणधन ने अपने नखों से तुम्हारा लुञ्चन किया है, तभी तो दुग्ध के रूप में ये तुम्हारे आनन्दाश्रु बह रहे हैं। उनका पता देकर जरा हमें भी अपने आनन्द में सम्मिलित करो।"

"बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः।
अन्वीयमान इव वस्तरवः प्रमाणं किं वाभिनन्दति चरन्प्रणयावलोकैः॥"

व्रजाङ्गनाओं का यहाँ बहुतों से प्रश्न है--"हे वृक्षो ! क्या इस ओर मोहन पधारे हैं, तुमने उन्हें देखा है ?" वे किस रूप में इधर आये होंगे, इसपर कहती हैं-- "अपना एक बाहु प्रिया के स्कन्ध में उपधान (तकिया) के समान रखकर दूसरे में कमल का पुष्प लिये इधर आये हैं, अर्थात् वामाङ्ग में श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं, अतः वाम बाहु को उनके स्कन्ध पर स्थापित किया है और दक्षिण हस्त में नील कमल ग्रहण कर रखा है। अपने कम्बुकण्ठ में उन्होंने तुलसी की माला पहन रखी है। उसके मधुलोभ से मदान्ध भ्रमरवृन्द उन्हें घेरे हुए हैं। उनको हटाने के लिये ही उन्होंने हाथ में कमल ले रखा है। अथवा तुलसी की माला श्रीवृषभानुनन्दिनी ने धारण कर रखी है, उसके पीछे भ्रमर दौड़े आ रहे हैं, उनको हटाने के लिये ही मानो श्रीनन्द-नन्दन ने कमल ग्रहण किया है। इस रूप में वे इधर पधारे हैं। हे वृक्षो ! क्या अपनी झुकी शाखाओं से किये गये आपके प्रणाम का अपने प्रेमावलोकन से उन्होंने अभि-नन्दन किया है ?" व्रजाङ्गनाएँ मानो देख रही हैं--वृक्ष अपने फूल, फल, पल्लवों से भूमि का स्पर्श कर रहे हैं—

"अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥"

(भाग०, १०।१५।५)।

यह देखकर व्रजाङ्गनाओं ने कहा—"ये इसी अपने फूल-फलादि के उपहार को लेकर पल्लवों, उपशाखाओं से श्रीकृष्ण परमात्मा का अभिनन्दन कर रहे हैं,

उनके पादरज को लेने के लिये झुककर भूमि का स्पर्श कर रहे हैं।" व्रजाङ्गनाएँ सोचती हैं—"ये प्रणाम कर रहे हैं। यदि प्रभु ने इनका अभिनन्दन किया होता, तो ये उठते, पर ये उठ नहीं रहे हैं, अपनी शाखाओं से वैसे ही झुके हुए हैं, अतः मालूम होता है कि वे मुरलीमनोहर यहीं कहीं हैं। वे इनका जब तक अभिनन्दन नहीं करेंगे, तब तक ये ऐसे ही रहेंगे।" व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—"परन्तु, हे तरुओ! क्या वे तुम्हारा अभिनन्दन कर रहे हैं? **'किं वाभिनन्दति'** बात यह है कि उन्हें तुम्हारे प्रणाम के उत्तर देने का—कृपा करने का—अवकाश ही नहीं, क्योंकि वे कान्ता के सङ्ग में पड़े हैं, उनकी तुम सरीखे साधुओं पर दृष्टि ही कहाँ? वे तो कुन्दमाला के गन्ध में रमे हैं।"

यदि वृक्ष कहें कि "नहीं, इस ओर तो वे सदा आते हैं और हमारा अभिनन्दन करते हैं, फिर तुम ऐसा प्रश्न क्यों करती हो?" इसपर व्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—"तुम तो साधु हो, भोले हो और वे रामानुज हैं—**(रामस्य-वारुणी-पानमत्तस्य अनुजः)** वारुणी का पान करके मतवाले रहनेवाले बलराम के छोटे भाई हैं। उनके साथी भी मत्त ही हैं—वे हैं तुलसी के मकरन्दपान से मत्त हुए भौंरे। जो मत्तों के अनुज हैं और जिनके साथी तक मत्त हैं, वे तुम जैसे साधुओं के प्रणाम का उत्तर दें यह असम्भव है। फिर वे सम्भोगशृङ्गारवशात्, शैथिल्यात् प्रिया के स्कन्ध पर हाथ धरकर, मुख से मुख मिलाकर चलते हैं, इसमें विघ्न पहुँचानेवाले भ्रमरों को नील कमल से हटाकर वे प्रिया की सेवा में लगे हैं। वृक्षो! तुम्हारा उन्हें ध्यान भी कहाँ?" इसपर मानो वृक्षों ने कहा—"नहीं, नहीं, गोपाङ्गनाओ! बात ऐसी नहीं है, तुम भ्रम में पड़ी हो, वे अपनी प्रिया को हमारी शोभा दिखाने के लिये ही इधर पधारे हैं।" वृक्षों के इस अनुकूल तर्क पर वे कहती हैं—"तुम जड हो, उनकी बात को समझ नहीं सकते, उनके इधर आने का कारण हमसे सुनो, वे तो मदान्ध तुलसिकालिकुल (तुलसी पर मँडरानेवाले भौंरों के झुण्ड) से उद्विग्न हुई श्रीप्रियाजी के सान्त्वनार्थ नील कमल से उन्हें उड़ाते हुए इधर आये हैं। उन्होंने यह सोचा है कि ये भौंरे इन वृक्षों में भटक जायँगे अथवा इनके फूलों में रम जायँगे और प्रियाजी को न सतायेंगे, इसलिये इधर पधारे हैं। अस्तु, हे तरुवरो! जाने दो इस विवाद को। इससे यह तो निर्विवाद सिद्ध हो गया कि आपने श्रीश्यामसुन्दर को यहाँ देखा है, वे प्रियाजी के साथ विहार करते इधर पधारे हैं, तो हमपर इतनी कृपा करो, बतलाओ, अब वे कहाँ हैं?"

कुछ महानुभावों का कहना है कि वे यह समझती हैं कि ये वृक्ष श्रीराधा-कृष्ण से लालित-पालित हैं। वे स्वयं अपने हाथ से इनका लालन करते हैं, इससे ये रोमाञ्चवान् हैं और ये अन्तरङ्ग भी हैं। गोपाङ्गनाओं को इनसे श्रीश्यामा-श्याम के दर्शनों की सम्भावना है, अतः पूछती हैं—"क्या आपके प्रणाम का अभिनन्दन करते हुए श्रीश्यामा-श्याम इस ओर से निकले हैं?"

श्रीव्रजदेवियों ने पहले एक-एक वृक्ष, लता, पशु, पक्षियों से श्रीश्यामसुन्दर की स्थिति पूछी। अन्त में उन्होंने समस्त तरुओं से एक साथ पूछा। वे तरु सुमन-फलभार से विनम्र हो रहे थे, भूमि का स्पर्श कर रहे थे, उनकी शाखा-उपशाखाएँ झुकी हुई थीं। तरुओं की उस मुद्रा से गोपाङ्गनाओं ने निश्चय किया कि वे श्रीनन्दनन्दन को उपहारसहित प्रणाम कर रहे हैं। साथ ही उनके मन में इस कल्पना ने भी स्थान पाया कि श्रीमोहन यहीं हैं, कहीं गये नहीं, क्योंकि ये तरुवर प्रणामार्थ अभी झुके ही हुए हैं और श्रीप्रभु ने अभी इनके प्रणाम का उत्तर नहीं दिया, इनका अभी अभिनन्दन नहीं किया, अतएव ये झुके ही हैं। व्रजदेवियाँ इस स्थिति में उनसे प्रश्न करती हैं—

"बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो रामानुजस्तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैः।
अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रणामं किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकैः॥"

(भा०, स्कं० १०, अ० ३०; १२)

'हे तरुओ! वे श्रीबलराम के भैया, जिन्होंने एक हाथ में कमल धारण कर रखा है और दूसरा हाथ अपनी प्रिया के कन्धे पर रखा है तथा तुलसी की सुगन्धि के लोभ से कितने ही मदान्ध भौंरे जिनका पीछा कर रहे हैं, क्या प्रेमपूर्वक तुम्हारी ओर देखकर उन्होंने तुम्हारे प्रणाम का अभिनन्दन किया? क्या तुम्हारे फल-पुष्प के उपहार की ओर दृष्टि भी डाली? हम तो समझती हैं नहीं, क्योंकि उन्हें अपनी प्रिया की ललित गति के अवलोकन से ही अवकाश कहाँ?' (इसीके पोषणार्थ श्रीकृष्ण का साक्षात् नाम न लेकर व्रजाङ्गनाओं ने 'रामानुजः' नाम से यहाँ उनका सङ्केत किया है) 'तरुओ! वारुणीपान करके प्रमत्त रहनेवाले दाऊजी के ये छोटे भाई हैं, वे वारुणीपान से मत्त हैं तो ये श्रीवृषभानुनन्दिनी की रूप-लावण्यवारुणी का पान करके प्रमत्त हैं। तरुओ! इनके पीछे जो ये मतवाले भौंरे भागे आ रहे हैं, इससे यह भी स्पष्ट हो गया कि इनके साथी भी इन्हींकी तरह प्रमत्त हैं। ऐसी दशा में तुम्हारे जैसे साधुओं का अभिनन्दन करने के लिये उन्हें अवकाश कहाँ? इसके अतिरिक्त वे अपनी प्राणेश्वरी के कन्धे पर अपना वाम बाहु स्थापित कर अर्थात् उसे ही उपधान बनाकर दक्षिण हस्तगत नील कमल से उन भौंरों को हटा रहे हैं, जो श्रीराधा-मुखाम्भोज-माधुर्य्य के महालोभ से चारों ओर मँडरा रहे हैं। इस प्रकार वे अपनी प्राणेश्वरी की सेवा में तत्पर हैं। उन्हें तुम्हारे प्रणाम को देखने का अवकाश ही नहीं है।' जैसे 'एणपत्नी' के प्रति परमप्रेष्ठ सखी की उक्ति थी, उसी तरह यह भी उक्ति है।

इन सखियों ने इन वृक्षों के यथार्थ स्वरूप को समझा है, ये जानती हैं कि ये तरु नित्य-निकुञ्ज-लीला के प्रेक्षक हैं और इन्हें अवश्य ही श्रीरासेश्वरी के साथ श्रीरासविहारी का दर्शन हुआ है। अतएव पूछती हैं–'हे तरुओ! तुम्हारे इस सोपहार प्रणाम को, जो तुम इतनी देर से कर रहे हो, क्या उन्होंने देखा और उसका

अभिनन्दन किया ? तरु यदि यह कहें कि 'सखियो ! क्यों न वे हमारे प्रणाम का अभिनन्दन करेंगे ?' तो इसपर व्रजाङ्गनाओं का कहना है कि 'इसीलिये कि वे अपनी श्रीप्राणेश्वरी की सेवा में संलग्न हैं ।'

यहाँ 'तुलसिका' पद वृन्दादेवी का बोधक है और 'आली' से उनकी सखियों का ग्रहण है । इसके अतिरिक्त नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीजी की प्रेष्ठ सखियों और श्रुतिरूपा आदि सखियों का भी इसमें ग्रहण है । ऐसी परिस्थिति में वहाँ श्रीयुगलकिशोर ही अकेले नहीं हैं, किन्तु ये सब सखियाँ भी सेवा में उपस्थित हैं । फिर भी स्वयं श्रीलालजी ही श्रीजी की भ्रमर-निवारणादि सेवा में रत हैं, ऐसा क्यों ? इसका कारण यह है कि अलिकुलसहित वृन्दादेवी आदि श्रीप्रियाप्रियतम के प्रेमोन्माद में स्वयं उन्मदान्ध हैं । जैसे प्रिया-प्रियतम परस्पर के अपूर्व अनुरागरससिन्धु में मग्न हैं, वैसे ही इनकी इस मधुर स्थिति के अवलोकन से सखी-समूह-सहित श्रीतुलसी आदि भी प्रिया-प्रियतम के अनुरागरससिन्धु में निमग्न हैं । गोपाङ्गनाएँ पूछती हैं–'तरुओ ! क्या इसी अवसर पर आप लोगों को भी उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और उस प्रेममग्न अवस्था में ही क्या आप लोग भी निस्तब्ध खड़े हैं ?'

इस 'बाहुं प्रियांस' पर कई महानुभावों के कुछ और भी भाव हैं । उनके भावानुसार प्रिया-प्रियतम की यह सुरतान्त स्थिति है । 'प्रियांसे' यह सामीप्य में सप्तमी है । श्रीलालजी अत्यन्त सुकुमारी श्रीप्राणेश्वरी के शैथिल्य को सँभालने के लिये अपने बाहु से उनके बाहु-अंस को सहारा देते हुए चल रहे हैं तथा श्रीजी के मुखाम्भोजमधुलोभी भ्रमरों को, जो उनके समीप मँडरा रहे हैं, अपने दक्षिणहस्तगत नील कमल से हटा रहे हैं ।

'रामानुजः' में 'रामानुगः' की अनुसारिणी व्युत्पत्ति करके एक भाव यह भी है कि 'रामामनुगच्छति रमयति या, सा रामा श्रीवृषभानुनन्दिनी ।' रामा अन्य गोपी भी हैं, पर श्रुतिमुनिरूपा आदि स्वयं श्रीमदनमोहन में रमण करती हैं । अतएव 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' कहा गया है । यहाँ प्रेरणा में 'णिच्' प्रत्यय है । 'स्वयं रमण किया' यह इसका अर्थ नहीं, अपितु 'रमण कराया' यह अर्थ है । इसी तरह प्राणसखी, प्रेष्ठसखी, नित्यसखी आदि भी श्रीकृष्ण में तो रमण नहीं करतीं, पर युगलमूर्त्ति में रमण करती हैं । इन सखियों में उत्तरोत्तर तत्सुख-सुखित्व का ही भाव होता है, इनकी रमणवस्तु केवल प्रिया-प्रियतम का मिलन है । परन्तु श्रीकृष्ण परमात्मा को रमण करानेवाली तो वही 'रामा' हैं । इन्हींके साथ रमण करने की उत्कण्ठा में उन 'अमनाः' ने 'मनश्चक्रे'—मन का निर्माण किया ।

"भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥"

श्रीरासपञ्चाध्यायी के इस प्रथम पद्य में 'योगमाया' का अर्थ 'श्रीवृषभानुनन्दिनी' है। **'योगाय इतरासाम् संयोगाय माया यस्याः सा योगमाया'** यह योगमाया पद का विग्रह है। इस प्रकार श्रीकृष्ण परमात्मा का सम्बन्ध अन्यों को प्राप्त कराने की जिनके मन में इच्छा हुई, वह योगमाया श्रीवृषभानुनन्दिनी हैं। यह उन समस्त सखियों की युग-युगान्तरों की तपस्या का, आराधना का फल था, जिससे सन्तुष्ट होकर योगमाया श्रीवृषभानुजा के 'उप' = सामीप्य में 'आश्रित' होकर भगवान् ने 'मन' बनाया—**'रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः।'** यहाँ 'चक्रे' इस क्रिया में आत्मनेपद है, जिसका फल आत्मगामी होता है। दूसरी ओर 'अरीरमत्' में परस्मैपद है, जिसका फल परगामी होता है। इससे यही ध्वनित हुआ कि श्रीकृष्ण परमात्मा को रमण करानेवाली श्रीरासेश्वरी राधा हैं और इसी अपने रमण के लिये भगवान् ने 'मन' बनाया तथा इन्हीं श्रीजी की प्रेरणा से अन्यों को उनके आनन्द के लिये रमण कराया। श्रीकृष्ण परमात्मा के प्रति जैसा-जैसा उत्कृष्ट भाव व्रजाङ्गनाओं का देखा गया है, वैसा ही वैसा या उससे भी अधिक श्रीजी के प्रति भगवान् का है। जैसे व्रजाङ्गनाओं को श्रीश्यामसुन्दर के वियोग में एक-एक क्षण कल्प के समान प्रतीत होते थे, 'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्' वही श्रीवृषभानुनन्दिनी के बिना श्रीव्रजेन्द्रनन्दन का भी हाल था। व्रजाङ्गनाएँ जब श्रीनन्दनन्दन को निहारने लगतीं, तब उनकी पलकें बलात् गिर जातीं और वे **'उच्चैर्निरीक्ष्यमाणानां पक्ष्मनिर्माता विधाता जडः'**—नेत्रों पर पलकों का निर्माण करनेवाले ब्रह्मा अज्ञ प्रतीत होते हैं, उन्हें इस रस का पता ही नहीं—इत्यादि रूप से ब्रह्माजी को भरपेट कोसतीं।

"अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखञ्च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम्॥"

(भाग०, गोपीगीत १०।३१।१५)

श्रीश्यामसुन्दर भी सखियों में बैठकर सदा यही उपालम्भ (शिकायत) करते। जब रसिकशेखर-चूड़ामणि व्रजेन्द्रनन्दन श्रीजी का दर्शन करने लगते, सौगन्ध्य के लिये लालायित होते, तब अलकावली आँखों के सामने आ जाती या और कोई विघ्न उपस्थित हो जाता, उस समय अपनी प्रियतमा की रूपमाधुरी के पान, सौरूप्य, सौरभ्य आदि के सुमधुर अनुभवकाल में ऐसे प्रतिरोध उन्हें बहुत खलते। सभी व्रजसखियाँ जैसी-जैसी भावना, लालसा श्रीराधाकृष्ण के मिलित या पृथक् स्वरूप में करतीं, वे सब श्रीनन्दनन्दन को श्रीवृषभानुजा के प्रति होतीं। अतएव सखियों की तरह सेवा करने की लालसा से वे अपनी प्रियतमा की सेवा में निरत हैं, अपने को रमण करानेवाली, रामाओं को रमण करानेवाली 'रामा' श्रीव्रजेन्द्रनन्दिनी को बाहु के सहारे से सँभालते हुए वे उनके पीछे चल रहे हैं।

'गृहीतपद्मः' से यहाँ यह भाव ध्वनित होता है कि सुरतश्रमशिथिला श्रीव्रजे-श्वरी के चन्द्रमा को लजानेवाले निष्कलङ्क मुखचन्द्र पर श्रीश्यामसुन्दर अपना हृदय-कमल वारते हैं, निर्मञ्छन करते हैं—न्योछावर करते हैं, जैसे कोई प्राणों की, तन, मन की बलिहारी करता हो। इसी भाव को जताने के लिये मानो श्रीश्यामसुन्दर के हाथ में कमल है।

भ्रमर 'तुलसिकालिकुलमदान्ध' क्यों हैं? स्पष्ट है कि श्रीयुगलकिशोर के अङ्ग-अङ्ग से समुद्भूत परिमल ही इसका कारण है। इस पद में 'आली' और 'अली'—सखी और भ्रमर—दोनों का श्लेष है। तुलसिका के भ्रमर पहले तो उसके सौरभ में मस्त थे, पर श्रीजी का आमोद पाकर अब वे उनके पीछे लग गये, तुलसी को छोड़ दिया। श्रीश्यामसुन्दर की वनमाला का सौगन्ध्य पाकर भी वे उसे छोड़ आये। इस तरह वे 'अन्वीयमान' हैं—पीछे से आये हैं और प्रिया-प्रियतम के पीछे-पीछे घूम रहे हैं। श्लेष से ये भौंरे 'आलिकुल' ही हैं। बात यह है कि तुलसी जङ्गल में है, भौंरे भी वहीं होने चाहिये। इससे यह स्पष्ट हुआ कि भौंरों की तरह सखियाँ श्रीयुगलसरकार के पीछे-पीछे घूम रही हैं।

परमप्रेष्ठ सखी के इसपर कुछ और भाव हैं, वह कहती है—'तरुओ! ये प्यारे श्यामसुन्दर एक अद्भुत घन हैं। भेद इतना ही है कि वे घन जल की वर्षा करते हैं और ये प्यारे घनश्याम रस की वर्षा करते हैं। वे श्यामघन दामिनीपरिवेष्टित होकर जलरूप जीवन की वर्षा द्वारा तरु आदि को आप्यायित करते हैं और ये प्यारे घनश्याम अनन्तानन्त दीप्तिमती दामिनी को भी लज्जित करनेवाली प्रभासंवलिताङ्गी श्रीप्रियतमा के श्रीअङ्ग से परिवेष्टित होकर अद्भुत, सरस शृङ्गार की वर्षा करते हैं। अनेक सौरभमय पुष्पों की वनमाला ही उनका इन्द्रधनुष है। इन वस्तुओं से युक्त पूर्णानुरागरससारवर्षी प्यारे घनश्याम तुम्हारा आप्यायन करते हुए क्या इधर आये हैं? तरुओ! सच-सच बतलाओ, प्रणयावलोकन से तुम्हारा अभिनन्दन करते हुए क्या वे इधर पधारे हैं?'

सभी व्रजाङ्गनाएँ इस प्रकार श्रीवृन्दावनचन्द्र को ढूंढने में व्यग्र हैं। इनमें जो कान्तभाववती हैं, वे पहले से ही कुछ ईर्ष्या से प्रश्न करती हैं और अन्यान्यों में ईर्ष्या का उदय तब हुआ, जब उनके समक्ष प्राणेश्वरी के सामीप्य का अनुमान पुष्ट हुआ। पर इनका भी जीवन श्रीयुगल सरकार के दर्शन ही हैं।

जब तरुओं से पता नहीं मिला, तब व्रजाङ्गनाओं ने कुछ उड़ रहे और कुछ भूमिस्थ चकोरों को देखकर कल्पना की कि श्रीश्यामाश्याम अवश्य यहीं होंगे, क्योंकि ये चकोर उनके पादांगुली-दलस्थ नखमणिचन्द्र की ज्योत्स्ना का पान करने के लिये यहाँ मंडरा रहे हैं। चलो पूछें। परन्तु जब उनसे भी पता नहीं मिला, तब वे वहीं उड़ रहे भ्रमरों से पूछने लगीं। उन्होंने सोचा कि वृन्दावन के विविध पुष्पों में

व्यासक्त न होकर जो ये यहाँ अन्तरिक्ष में उड़ रहे हैं, उसके सन्तपंकसौगन्ध्य को पाकर ये अन्य पुष्पों को भूल गये हैं। उसी अष्टगन्ध को हरने के लिये यह गन्धवाह (वायु) भी चल रहा है, चलो इन्हींसे पूछें। (अष्टगन्ध का वर्णन पहले हो चुका है)।

इसके बाद ही व्रजाङ्गनाओं को कोकिल देख पड़ी। वे उसीसे अपने प्राणधन का पता पूछने लगीं। पूछते हुए उन्हें उसमें पुँस्कोकिल की भावना हो आयी। फिर तो ये उसे खरी-खोटी सुनाने लगीं—'सखियो! पुरुष निष्करुण होते हैं। यह भी श्रीश्यामसुन्दर ही की तरह है। जैसे काले कृष्ण कामिनियों को दुःख देते हैं, वैसे ही अपने कलकूजन से यह भी दुःख देता है। अपने वर्ण, व्यवहार सब तरह से यह उनके समान है, उनका सखा है।' इतने ही में व्रजाङ्गनाओं की दृष्टि चकवी पर पड़ जाती है और वे बड़ी आशा से उसीसे पूछने लगती हैं—'सखि चक्रवाकि! तुम विरह-व्यथा को जानती हो, क्योंकि तुम स्वयं विरहिणी होती हो, विरहवेदना का तुम्हें परिचय है, सारस की स्त्री लक्ष्मणा को नहीं। सखि! हम आतुर हैं, हमें प्यारे मोहन से मिला दो।'

इस प्रकार पक्षी, तरु, लता आदि से पूछती हुईं निराश होकर जब वे सामने की ओर देख रही थीं, तब सहसा उनकी दृष्टि एक लता पर गयी, जो एक मनोहर तरु का आलिङ्गन किये खड़ी थी। उसे देखकर गोपाङ्गनाओं को उससे पूछने का उत्साह हुआ, 'सखियो! इस लता से पूछो'—

"पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो॥"

(वनस्पतेर्बाहुना आश्लिष्टा अपि तत्करजस्पृष्टा अहो उत्पुलकानि बिभ्रति)। 'अहो, वनस्पति के बाहु से आलिङ्गित होकर भी श्रीश्यामसुन्दर के नखस्पर्श को प्राप्त करके यह अभी भी उत्पुलकित हो रही हैं, यह आश्चर्य ही है।' वृन्दावन में ऐसी लताएँ बहुत हैं। इधर तो यह कि वृन्दावनधाम सच्चिदानन्दस्वरूप ही है, यहाँ जितने पशु, पक्षी, तरु, लता हैं, सब श्रीजी के श्रीअङ्ग की शोभावस्तु हैं। नित्य-विहार की ये वस्तुएँ रूपान्तर से कही गयी हैं। वस्तुतः यहाँ के सभी पदार्थ श्रीप्रिया-प्रियतम के विहार की वस्तु हैं। यहाँ का श्यामल तरुण तमाल श्रीश्यामसुन्दर का ही रूपान्तर है, उसके साथ आलिङ्गन करके स्थित जो सुवर्णवर्णा लता है, वह श्रीरासे-श्वरी का ही रूपान्तर है। जैसे श्रीवृषभानुजालिङ्गित श्रीव्रजेन्दनन्दन हैं, वैसे ही यह लतालिङ्गित तरुण तमाल है। ये ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो मूर्त्तिधारी शृङ्गार ही खड़ा हो। यहाँ महाभावरूपा श्रीरासेश्वरी ही सुवर्णवर्णा लता हैं। ये सब तरु-लता प्रिया-प्रियतम के ही भाव का अवलोकन कराते हैं। 'द्विमिल' वन में तो तरु-लताओं का यह भाव अत्यन्त स्पष्ट है। इनके देखने से श्रीराधा-माधव का स्वरूप झलक जाता है।

श्रीराधा-माधव परस्पर में तो अत्यन्त अभिन्न होते हुए भी भिन्न से प्रतीत होते हैं। जैसे प्रेम के सरोवर में उत्पन्न हुए कमल के एक नाल में दो फूल लगें, उनमें एक श्याम और दूसरा गौर हो। यही भाव 'एक प्राण दो देह' आदि पदों से व्यक्त होता है। उनके अन्तःकरण, मन एक हैं, केवल देह दो हैं। उन दो में भी सदा यही उत्कण्ठा रहती है कि ऐसे हम दोनों एक-दूसरे में मिलकर एक हो जायँ। प्रेष्ठसखी के सामने श्रीव्रजेन्द्रनन्दन ने कई बार अपनी इस लालसा को प्रकट किया है। अञ्जन, मृगमद, माला बनकर भी ऐक्य प्राप्ति की लालसा उन्होंने प्रकट की है। यह उनकी साधना पूरी भी हुई है—'**दोऊ मिलि एकै भये श्रीराधा-वल्लभलाल**।' किसीने पञ्जाब में एक मन्दिर बनवाकर उसमें अकेले श्रीकृष्ण की मूर्त्ति स्थापित की। प्रश्न उठा कि श्रीराधा की मूर्त्ति क्यों नहीं स्थापित हुई? गौर तेज के बिना श्यामतेज की उपासना, अर्चना करनेवाला तो पातकी माना गया है। परन्तु प्राचीन मन्दिरों में जहाँ एक विग्रह है, वहाँ एक में दूसरे का अन्तर्भाव है, वह दो मिलकर एक हैं। श्रीकृष्ण की कुछ स्वयम्भू मूर्तियों के प्रति भी भावुकों के ऐसे ही भाव हैं। प्राकृत में भी माना गया है—'**आलिङ्गितायां पुनरायताक्ष्यामाशास्महे विग्रहयोरभेदम्**।' प्राकृत में तो यह भावनामात्र है, क्योंकि वहाँ सत्यसङ्कल्पता नहीं। यहाँ तो ईश्वर का सङ्कल्प है, भावना के साथ वैसा होता जाता है। यहाँ निमेषमात्र के व्यवधान में व्याकुलता होती है। यहाँ दोनों को समान—एक ही जैसे–आलिङ्गनादि की उत्कण्ठा होती है। यहाँ की भावना फलपर्यवसायिनी होती है।

देदीप्यमान सुवर्णवर्णा मञ्जूषा नीलमणिमञ्जूषा में प्रतिबिम्बित होने से जैसे एक विलक्षण चमक उत्पन्न हो, अथवा गौरवर्ण की शीशी में जैसे श्यामवर्ण की शीशी की चमक पड़े और श्यामवर्ण की शीशी में जैसे गौरवर्ण की चमक पड़े, उसी प्रकार श्रीश्यामसुन्दर में गौरवर्णा श्रीराधा की और श्रीराधा में श्यामवर्ण श्रीश्यामसुन्दर की परस्पर श्यामता और गौरता प्रतिबिम्बित होती रहती है। यदि श्यामसुन्दर की श्यामता देखनी हो, तो वह उनमें नहीं किन्तु श्रीराधा में देख पड़ेगी और वैसे ही सुवर्णवर्णा श्रीराधा की गौरता उनमें नहीं, किन्तु श्रीश्यामसुन्दर में मिलेगी। इन भावों को ऊँची भावना के लोग ही परख सकते हैं। प्रसङ्ग में इतना ही कहना है कि ऐसे ही भावों के अभिव्यञ्जनार्थ ये लतामिलित तरु हैं।

व्रजाङ्गनाओं के सामने लतामिलिततरुद्योत्य ऐसे अनेक भाव उपस्थित हुए। उन्होंने देखा कि कई लताएँ तरु को आलिङ्गित किये हैं, उनमें कुछ विकसित कुसुम, कुड्मल लगे हैं। तब गोपाङ्गनाओं को भी उनसे पूछने का मन हो आया—'पृच्छतेमा लताः।' परन्तु व्रजाङ्गनाओं ने क्या यह नहीं सोचा कि जब औरों ने नहीं बतलाया, तब ये रसपरिरम्भमग्ना हमें श्रीश्यामसुन्दर को कैसे बतायेंगी? यह बात सही है, उन्होंने यह अवश्य सोचा, पर यह भी उनके मन में विचार आया कि यद्यपि ये

लताएँ अपने प्राणनाथ से समाश्लिष्ट हैं, तथापि श्रीश्यामसुन्दर के नख से भी संस्पृष्ट हैं—**'नूनं तत्करजस्पृष्टाः'** जिसके फलस्वरूप पुलकावलिस्थानीय से कुसुम अभी भी विकसित हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि यह इनकी कुसुम-पुलकावली अरुणिमा साम्प्रतिक वनस्पतिपरिरम्भोत्थ नहीं, अपितु पूर्वतन तत्करजस्पृष्टता से ही है। इसके साथ ही प्रस्फुटित प्रसून व्याज से उन्होंने अपने हर्षविकसित हृदय को ही धारण किया है। 'पृच्छतेमा' पद्य में 'अपि' पद इसीलिये है। यह ऊँचा भाव है। कोई नायिका नायक के अङ्क में विराजमान हो, बाहुपाश से आबद्ध हो, उस समय भी श्रीश्यामसुन्दर के संस्मरण से रोमाञ्चित हो, यह प्रगाढ़ प्रेम की ही महिमा कही जा सकती है। अथवा पूर्णतम पुरुषोत्तम आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रनन्दन के ही लोकोत्तर सम्पर्क का यह फल हो सकता है। **'देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः।'** जब श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन की वेणु बजी, इन्द्र, वरुण आदि सभी देवगण अपनी पत्नियों के साथ विमानों में बैठकर वहाँ आये थे। उस समय इन्द्राणी, देवाङ्गनाएँ अपने-अपने पतियों के अङ्क में विराजमान थीं, फिर भी—**'मुमुहुर्विनीव्यः।'** मनोभाववेग से उनकी मानसी गति में चञ्चलता आ गयी, शिर का केशपाश खुल गया, उसमें लगे फूल बिखर गये, नीवी शिथिल हो गयी। अपने-अपने कान्तों से वियुक्त अवस्था में श्रीश्यामसुन्दर के त्रैलोक्यमनोहर वेणुनिनाद से कदाचित् उनकी यह दशा सम्भव थी, पर कान्ताङ्क में विराजमान रहकर भी ऐसी विह्वलता, विकलता उन्हें हुई कि वे सब कुछ भूल गयीं। जो गति उनकी हुई, वही इन लताओं की भी हुई है। फिर ये तो 'नूनं तत्करजस्पृष्टा' हैं, अतः गोपाङ्गना सोचती हैं—इनसे अवश्य पूछना चाहिये 'पृच्छतेमा लताः।'

व्रजवधूटियों को यह निश्चय हो गया कि इन लताओं को अवश्य ही प्राण-प्यारे श्रीवृन्दाविपिनविहारी का पता ज्ञात है, तथा इनकी यह हर्षोत्फुल्लता है। इसी धारणा के अनुसार वहाँ उपस्थित प्रत्येक लता से अपने प्राणधन को पूछती हैं, उनके प्रत्येक पुष्प से और पत्र से पूछती हैं, लतालिङ्गित वृक्षों से भी पूछती हैं। एक अन्य भाव की सखी तरुवर से कहती है—'आपका जीवन सफल है, आप सफल तरु हैं, आप इस लोकोत्तर फल-फूल-भार को ग्रहण करके सम्पत्तिशाली होकर भी विनम्र हैं, आपके पल्लव, स्तवक भूमितललग्न हैं। आपसे बढ़कर सफलजन्मा जगत् में दूसरा कौन होगा! सर्वदा परोपकार में रत हैं; तरुश्रेष्ठ! आप धन्य हैं। आपने हमारे मोहन को फल-फूल की सम्पत्ति भेंट कर, झुककर प्रणाम किया। पर क्या उन्होंने आपके प्रणाम का अभिनन्दन किया,—**'किं वाऽभिनन्दति?'** यहाँ एक यह विकल्प है कि उन्हें तुम्हारी ओर आँख उठाकर देखने का अवकाश ही नहीं, अतः उन्होंने तुम्हारा अभिनन्दन नहीं किया। दूसरा यह कि वे प्रणतवत्सल हैं, जो उनके प्रति विनम्र होता है, वे उसका अवश्य अभिनन्दन करते हैं, अतः अवश्य ही कोमल

और सत्स्वभाववश उन्होंने तुम्हारा अभिनन्दन किया है। इसपर कदाचित् वृक्ष यह कहें कि 'सखि, तुम ऐसी बात कैसे कहती हो, क्योंकि तुमने अपना तन, मन सर्वस्व उनपर वार दिया, फिर भी वे तुमसे अन्तर्हित हैं ? तुम वन-वन में भटक रही हो, बिलख रही हो, पर वे तुम्हें तनिक-सा आश्वासन तक नहीं देते। क्या यही उनकी कोमलता, सत्स्वभावता है ?' इसके उत्तर में व्रजाङ्गना कहती हैं-'वह सब तो हमारे दोषों का फल है, हम गर्वीली हुईं, हमने मान किया, इसीसे दुःख पा रही हैं।'

श्रीकृष्ण ने अवश्य ही वृक्षों का अभिनन्दन किया, इसकी पुष्टि में एक भाव और है—श्रीश्यामसुन्दर ने गले में तुलसी की माला पहनी है, हाथ में नील-कमल लिया है। इससे वे यह व्यक्त करते हैं कि हम तो वन्य वस्तुओं से-अचेतनों से भी अनुराग करते हैं, यदि कोई चेतन सावधान प्राणी हमसे अनुराग करेगा तो हम उससे अवश्य ही अनुराग करेंगे। 'गृहीतपद्मः', 'तुलसिकालिकुलैः' आदि पद इसके द्योतक हैं। अतः प्रणत वृक्षों का उन्होंने अवश्य ही अभिनन्दन किया। इस प्रसङ्ग में एक बात और भी है। श्रीश्यामसुन्दर के हस्तारविन्द, पादारविन्द प्राकृत अरविन्दों को अपनी सुकोमलता से लजानेवाले हैं, परन्तु अपने हस्तकमल से लज्जित भी नीलकमल को उन्होंने धारण किया है। एतावता श्रीप्रभु के यहाँ यह शर्त नहीं है कि गुणवान् को ही—अच्छी ही चीज को—वे ग्रहण करते हैं। नहीं, ये निर्गुण वस्तु को भी स्वीकार कर लेते हैं। कमल-ग्रहण से यह भी सूचित हुआ। अतः अवश्य ही उन्होंने वृक्षों का अभिनन्दन किया है। इस तरह अभिनन्दन पक्ष का समर्थन करती हुई व्रजाङ्गना कहती है—'तरुओ ! इतना ही नहीं, प्राणप्यारे श्रीश्यामसुन्दर ने तो तुम्हारे स्वरूप का भी अनुकरण किया है। तुम श्याम हो, वे भी श्याम हैं, तुम सुवर्ण-यूथिरूपा लता से आवेष्टित हो, वे सुवर्णवर्णा लतारूप श्रीवृषभानुनन्दिनी से वेष्टित हैं। यों वे अभिनव-लतावेष्टित तरुण तमाल हो हैं। वृक्षो ! तुम उन्हें अत्यन्त प्रिय हो, तभी तो उन्होंने तुम्हारा अनुकरण किया। अतएव तुम्हारे प्रणाम का उन्होंने अवश्य अभिनन्दन किया है।' **'बाहुं प्रियांस उपधाय'** से भी यह स्पष्ट है कि उसी वाम बाहु को प्रिया के स्कन्ध का उपधान बनाकर वे तुम्हारा ही अनुकरण कर रहे हैं। तुलसी की माला भी इसीलिये धारण की है, यद्यपि उसपर मत्त मिलिन्द मँडरा रहे हैं, मार्ग में विघ्न-बाधा उपस्थित कर रहे हैं, तथापि तुम्हारे प्रति अनुराग-प्रदर्शनार्थ उसे धारण कर रखा है। अतः अवश्य अभिनन्दन किया है। वृक्ष कदाचित् पूछ बैठें कि अरी व्रजाङ्गनाओ, तुम क्यों कोरी कल्पना से अभिनन्दन का समर्थन कर रही हो ? यदि उन्होंने अभिनन्दन किया होता तो क्या तुम उसे न सुनतीं ? इसपर व्रजाङ्गना का कहना है—'नहीं, क्योंकि वह शब्दों से नहीं किया गया। अपितु अनुरागभरे नयनों से ही किया गया, अतः समीपवर्ती ही उसे जान सकें, हम नहीं।'

अब विकल्प के अभाव-पक्षपर दूसरी व्रजाङ्गना की वकालत सुनिये। वह कहती है—'अवश्य ही वृक्षो, प्यारे श्यामसुन्दर ने तुम्हारे प्रणाम का अभिनन्दन नहीं किया, यदि किया होता तो तुम इतने खिन्न न होते, हमारे प्रश्नों का उत्तर देते, पर तुम बोल ही नहीं रहे हो, इसीसे स्पष्ट है कि उन्होंने तुम्हारे प्रणाम का उत्तर नहीं दिया। कारण स्पष्ट है, वे अपनी प्राणेश्वरी के कण्ठ में वामहस्त को विन्यस्त करके 'गृहीतपद्मः' हैं। '**गृहीतपद्मः**' में मध्यमपद 'मुख' का लोप हो गया है, विग्रह वाक्य में वह 'गृहीतमुखपद्मः' ऐसा है, जिसका अर्थ है—दक्षिण हस्तकमल से कपोल स्पर्श किये हैं। तात्पर्य यह कि ये प्रेम में, श्रीप्रिया की सेवा में इतने तल्लीन हैं कि उन्हें पता ही नहीं कि उन्हें कोई प्रणाम कर रहा है। फिर ये रामानुजः हैं, हलमूसलधारी के भाई हैं, कठोर किसीका भी अभिनन्दन नहीं करते। अथवा 'रामानुजः' माने 'रामानुगः' रामा के पीछे लगे हैं। वैसी स्थिति में कौन तुम्हारा अभिनन्दन करेगा ? हैं तो वे सर्वज्ञ-शिरोमणि, इसमें सन्देह नहीं, पर श्रीरासेश्वरी के अङ्गसङ्ग से प्रमत्त हैं—'**तद्यथा प्रियया भार्यया सम्परिष्वक्तो न किञ्चन बाह्यं वेद नाऽऽन्तरम्।**' जैसे अति प्रेयसी के परिष्वङ्ग से प्रेमामृतसमुद्र में निमग्न होकर प्राणी सब कुछ भूल जाता है, वैसे ही प्राणाधिका श्रीराधिका के सम्पर्क में रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर की स्थिति हो रही है। फिर उनको कोई याद दिलानेवाला होता तो भी बात बन जाती, पर वहाँ तो सभी उन्मत्त हैं। 'तुलसिका' को ही लो, वह स्वयं 'अलिकुलैर्मदान्धैरन्वीयमाना' है। तुलसी स्वयं ही सकलमाला-मानमर्दिनी होने से अतिप्रमत्त, फिर उसके अनुरागी भ्रमर तो और भी उन्मदान्ध। ऐसी स्थिति में याद कौन दिलाये कि महाराज, ये वृक्ष आपको प्रणाम कर रहे हैं, इनका अभिनन्दन कीजिये। तुलसिका, भ्रमर, कमल, प्रियाजी और स्वयं सभी तो एक से एक बढ़कर हैं। वहाँ मतवालों का जमघट है। अतः वृक्षों के प्रणाम का उन्होंने अभिनन्दन किया ही नहीं।

व्रज-तरुणियों ने यह कैसे कल्पना की कि यों वे त्रिभुवन-मनोहर श्रीश्यामसुन्दर तुलसी आदि की माला पहिने हैं, कमल लिये हैं, और प्रियाजी के साथ हैं ? इसपर एक समाधान तो यह है कि व्रजदेवियों को अन्तरङ्ग-लीला का सदा साक्षात्कार होता है। दूसरे, उन्होंने मार्ग में प्रिया-प्रियतम के चरणचिह्न पहिचाने। उनमें श्रीश्यामसुन्दर के चरण में ध्वज, अंकुश, वज्र आदि के चिह्न हैं, उनके वामाङ्ग में श्रीप्रियाजी के चरणचिह्न भी हैं। इन्हींके आधार पर गोपाङ्गनाओं की कल्पना है। फिर श्रीप्रियाजी के अंस पर श्रीप्रियतम की वामभुजा विराज रही है यह कल्पना कैसे, तो श्रीप्रियाजी के चरण भूमि में आधे गड़े हैं, ये भार से ही गड़े हो सकते हैं। भ्रमरों के अस्तित्व की कल्पना का मूल यह है कि श्रीप्रिया-प्रियतम की गति के समय उनके पादविन्यास आगे-पीछे हुए दीखे हैं। कहीं श्रीवृषभानुजा के पादारविन्द आगे दीख पड़े हैं, तो कहीं पीछे। ऐसे ही श्रीनन्दनन्दन के, जिसका आशय यह है कि भ्रमरों के

सताये जाने के कारण श्रीजी के पादविन्यास में यह अन्तर है। एक बात और भी। जहाँ-जहाँ युगल सरकार के चरणचिह्न पड़े हैं, वहाँ-वहाँ मधुकर-मुख-निर्गत पराग-बिन्दु पड़े हैं। अतएव भ्रमरों से अन्वीयमानता की कल्पना है। विशेष बात यह है कि व्रजाङ्गनाएँ श्रीभगवान् के मुख, हस्त, पाद आदि प्रत्येक अङ्ग के पृथक् सौगन्ध से सुपरिचित हैं। वे यह जानती हैं कि यह दक्षिण हस्त का सौरम्य है और यह वाम हस्त का। ऐसे ही श्रीजी के भी अङ्गसौगंध्य का भेद उनकी कुशल नासिका से छिपा नहीं। लोक में भी कोमल-प्रकृति के पुरुषों को गन्धादि का ऐसा सूक्ष्म ज्ञान होता है। कहते हैं—लखनऊ के एक नवाब का रामनगर में स्वागत हुआ। उनकी कोमलता, विलासिता प्रसिद्ध थी। परीक्षा के लिये लोगों ने उनके चलने के मार्ग में बिछी नयी खस में एक जगह थोड़ी-सी पुरानी खस मिला दी, उन्हें इसका तुरन्त पता लग गया। फिर भगवल्लीला तो अलौकिक है। वे 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' ही लोक-कल्याणार्थ अवतरित हुए हैं। उनके लीलापात्रों में उक्त विशेषता का होना स्वाभाविक है। हाँ, तो उन व्रजाङ्गनाओं को युगल सरकार के समस्त सौगन्ध्यों का अनुभव था। तभी तो यह हस्त का, यह कमल का और वह मिलित सौगंध्य है, ऐसी उनकी कल्पना हुई। इसी विशेषता के कारण उन्हें यहाँ तक ज्ञान हुआ कि श्रीप्रियाजी के मुखारविन्द को ओर आ रहे मिलिन्दों को श्रीप्रियतम ने अपने करस्थ कमल से हटाया। श्रीवृषभानुजा के वाम गले में श्रीनन्दनन्दन हस्तन्यस्त किये हुए हैं, व्रज-देवियों की यह कल्पना इस बात का प्रमाण है कि वे पूर्णरूप से मिलित तत्त्व की उपासिका थीं। इसी प्रकार तुलसी के सौगन्ध्य तथा भ्रमरोन्नत तद्गन्ध की वे पारखी थीं। अतएव 'बाहुं प्रियांस उपधाय' आदि व्रजदेवियों को कल्पना सकारण और सत्य थी। इसी बल पर गोपाङ्गनाएँ कल्पना कर रही हैं कि इन वृक्षों के प्रणाम का अभिनन्दन हुआ या नहीं।

एक और भाव। गोपीजन के मन में यह बात उठी कि ये वृक्ष अपने मन में कदाचित् ऐसा सोच रहे होंगे कि 'हमें दिखाने के लिये ही वे प्रियाजी के साथ इधर आये हैं। पर उनके (गोपाङ्गनाओं के) विचारानुसार बात ऐसी नहीं, ये तो यह निश्चय कर रही हैं कि वे लीलारसिक श्रीश्यामसुन्दर निज-निह्नुत लीला में ऐसा कर रहे हैं। पर वे भ्रमर-झंकृति से डरे कि कहीं गोपाङ्गनाओं को ज्ञात न हो जाय, वे कहीं सुन न लें, अतः उन्हें हटाते हैं। उनके हटाने के लिये ही उन्होंने नीलकमल धारण किया है, अतएव वे महाअरण्य में भी आये हैं कि गोपाङ्गनाओं को मालूम न हो तथा ये भौंरे महा-अरण्यस्थ विविध दूसरे कुसुमों में आसक्त हो जायँ एवं हमारा अनुसरण छोड़ दें। भोले या जड़ वृक्ष उनकी इस चतुराई को क्या जानें, उसे तो हम समझती हैं। अतएव वे प्रिया के कन्धे पर हाथ रखकर इस ओर निकल आये, उन्हें किसीके प्रणाम और अभिनन्दन से प्रयोजन ही क्या—'बाहुं प्रियांस···?' यह एक और ढङ्ग से वृक्षों के निरभिनन्दन पक्ष का समर्थन हुआ।

जब व्रज-बालाएँ अपने में दोष और श्रीश्यामसुन्दर में गुणानुसन्धान करती हैं तब सोचती हैं कि श्रीश्यामसुन्दर ने अवश्य वृक्षों का अभिनन्दन किया होगा, क्योंकि वे बड़े सरल, उदार और कृपालु हैं। तभी तो यह उन्मदान्ध तुलसिकालि-कुल भी उनका अनुसरण कर रहा है। तब तो हम मानवतियों को भी क्यों न ऐसा करना चाहिये ? परन्तु दोष-दृष्टि के आते ही व्रजाङ्गनाओं का विचार तुरत बदल जाता है। वे सोचती हैं—तुलसी का क्या, वह तो मदान्धों से अन्वीयमान है, कोई इज्जतदार उसका कैसे अनुगमन कर सकता है ?

यदि गोपाङ्गनाओं से कहें कि तुम इतनी विह्वल क्यों हो रही हो, इन भ्रमरों के पीछे-पीछे चली जाओ, तुम्हें तुम्हारे प्राणाधार मिल जायँगे—तो गोपाङ्गनाओं का इसपर उत्तर होगा—हम ऐसा कभी न करेंगी, क्योंकि ये भौंरे तो हमारी सौत तुलसी के पक्षपाती हैं, प्रमुख हैं, इनसे हमें कभी अपने कार्य में सफलता न मिलेगी, भला मतवालों का अनुसरण करके किसने श्रीश्यामसुन्दर को प्राप्त किया है ?

गोपी जब तरुओं को स्तब्ध देखती हैं तो कहती हैं—'ये श्रीमनमोहन से अभिनन्दित नहीं हुए इसलिये अथवा पुरुष हैं—कठोर हैं, इसलिये हमें इनसे कोई आशा न रखनी चाहिये। अतः चलो, सखियो, इन लताओं से पूछेंगी।'

विशेष भाव यह है कि यहाँ भी मधुर-विहार का वर्णन है। सुरतान्तश्रम-शिथिल दोनों श्रीप्रिया-प्रियतम निकुञ्जान्तर की ओर जा रहे हैं। गलबाँही किये श्रीयुगल सरकार एक-दूसरे को निहारते हुए मन्दगति से पादन्यास कर रहे हैं। निर्मल-निष्कलङ्क अनन्तानन्ततारापति-पाथोधि-निर्मन्थन-समुद्भूत श्रीश्यामसुन्दर के मुखचन्द्र को, जिसपर कोटि-कोटि चन्द्र न्योछावर हो रहे हैं, और जो मकराकार कुण्डलों से देदीप्यमान हो रहा है, श्रीप्रियाजी अतृप्त नेत्रों से निहार रही हैं। यही दशा श्रीव्रजकिशोर की है। फिर प्रथम मिलन में सम्पन्न दन्तक्षत, नेत्राञ्जन आदि को मन्दस्मितपूर्वक देखते हुए नित्य निकुञ्ज में पधारते हैं। इस रहस्य को जानने-वाली वे लता श्रीलाड़िली-लाल के इस मधुर मिलन का सङ्केत प्रेष्ठ सखी को दे रही हैं। वे लता अन्तश्चेतन, किन्तु बाह्य जड़ हैं। श्रीयुगलमूर्त्ति के मुखमण्डल इतने प्रभापुञ्जपूर्ण हैं, ऐसे देदीप्यमान हैं कि बड़ों-बड़ों के नेत्र वहाँ नहीं ठहर पाते। इन्हीं सबका सङ्केत लताओं ने प्रेष्ठ सखी को किया। अतएव व्रजाङ्गना आपस में मन्त्रणा करती हैं—सखियो, इन लताओं से पूछो—

"पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो ॥"

ये सुवर्ण-यूथिका लताएँ अपने मुकुलित पुष्पविकास से श्रीराधा-कृष्ण के मधुर मिलन का अनुभव और हमें सङ्केत कर रही हैं। इसीसे ये 'नूनं तत्करजस्पृष्टा' हैं और तभी इनमें मधुधारा आदि दीख पड़ रही हैं। केवल श्रीव्रजाधिप ने ही नहीं,

अपितु श्रीव्रजेश्वरी ने भी, दोनों ही ने अपने वेश-विशेष की रचना के लिये इनसे पुष्प लिये हैं। तभी तो अपने पति तरुओं से श्लिष्ट होकर भी ये विशेष पुलकित हैं। यह प्राकृत पति के मिलन की पुलकावली नहीं। यह मधुधारा, अश्रुधारा आदि तो उस परब्रह्म पूर्णतम-पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द के संस्पर्श से ही सम्भव है। उसी सम्मिलन का यह सुवर्ण-यूथिका लता हमें सङ्केत कर रही हैं, आओ सखियो, उन्हींसे पूछें।

श्रीव्रजदेवियाँ प्राणप्यारे श्यामसुन्दर को ढूंढ़तीं, विभिन्न तरुओं से पूछतीं अन्त में कहती हैं—'इन लताओं से पूछो, ये अपने पति वनस्पतियों का आलिङ्गन किये रहने पर भी पुलकित हो रही हैं। इनमें यह उत्पुलकितता प्रिय श्रीश्यामसुन्दर के दर्शन से ही उत्पन्न है।' यह महानुभाव है। सर्वरसोपमर्दी श्रीकृष्ण हैं। नहीं तो रसान्तराविष्ट में रसान्तरावेश नहीं बनता। कोई भी प्राकृत कामिनी अपने कान्त के परिरम्भ में स्थित रहकर ही रसान्तर का अनुभव नहीं कर सकती। उस समय उसमें रसान्तर का आवेश असम्भव है। यदि किसी दूसरे रस का आवेश हो सकता है तो केवल श्रीकृष्णरस का ही। यह दिव्यातिदिव्य विशुद्ध रस है। अतएव अन्यत्र कहा गया है—विभिन्न लोक-रसों (रागों) में विरसता अति कठिनता से होती है। उत्कृष्ट वैराग्य यदि कोई है तो यही श्रीकृष्ण रस है। यह कोटिशः प्रयत्न करने पर भी मिलता नहीं। संसार के राग शब्द, स्पर्श आदि ऐसे हैं, जो छूटते ही नहीं। परन्तु उनके बीच यदि यह श्रीकृष्ण-राग समाविष्ट हो जाय तो सब छूट जाते हैं! गोस्वामीजी का वचन है–'**रमा-विलास राम-अनुरागी, तजत वमन इव नर बड़भागी।**' यह विश्वविलास, साम्राज्य आदि सब रमाविलास हैं, इसमें सच्ची विरसता-वैराग्य होना कठिन है। पर इसमें कहीं श्रीकृष्णरस समाविष्ट हो जाय तो वे समस्त लोकरस (राग) तुरन्त फीके पड़ जायँ। यही सच्चा वैराग्य है। रासपञ्चाध्यायी के श्रवण, पठन, मनन का यही फल है कि जगरस विरस हो जायँ। यह परमहंसों की संहिता है। इसे अन्य श्रोता भी श्रद्धा से सुने तो उसे परमहंसों की ही तरह जग से विराग हो जाय। इसके अन्त में फलश्रुति है—

> "विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णो
> श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।
> भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
> हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥"

जो इस रासलीला को श्रद्धा से सुनते हैं, पढ़ते हैं, कणभर भी यदि इसका रस उन्हें मिल गया तो उनका हृद्रोग—काम, जो सबसे अधिक पापी है, अवश्य मिट जायगा। भगवत्-लीलानुसन्धान में यही महाबाधक है, जरा-सा भी काम होने से

यहाँ काम न चलेगा। सिंहिनी के दूध की तरह बिगड़ जायगा। इस काम का नाश इसके सुनने से होता है, पर श्रोता को धीर होना चाहिये। फिर तो कामबाधा-निवृत्ति की पराकाष्ठा हो जायगी। देखो, ये लता अपने पतियों के अङ्क में हैं, फिर भी श्रीश्यामसुन्दर के नखस्पर्श से इनका हृदयकमल खिल रहा है, आनन्दाश्रु रुक नहीं रहे हैं। इस दशा में भी यह प्रेम है। किसी योगी से कोई सुन्दरी लिपटी हो, उस समय भी यदि वह श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द पूर्णतम पुरुषोत्तम की लीला का, उनके चन्द्रशत-तिरस्कारी मुखचन्द्र का ध्यान कर रहा है तो वह सुन्दरी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। जैसे बड़े-बड़े जापक हों परन्तु कामिनी दर्शन, ध्यान से उनका चित्त विकल हो जायगा, किन्तु श्रीश्याममूर्त्ति की वह परम रमणीय आभा जब हृदयमन्दिर में विराज जायगी, अनुभव में आ जायगी तो वे कामिनी की गोद में रहकर भी निर्विकार ही रहेंगे। यही भाव लताओं के सम्बन्ध में है। वे चाहे पति वनस्पतियों से लिपटी हैं, पर उनके मन में तो वह श्रीमोहनमूर्त्ति बसी है। यही व्रज-देवियों का आशय है, इसीलिये उनसे पूछती हैं—**'पृच्छतेमा लता।'** स्त्री में काम शतगुणित है, पर देखो, इन लताओं को कामोद्रेक नहीं। ये पति-अङ्क में रहकर भी श्रीश्यामसुन्दर के नखस्पर्श से उत्पन्न आनन्द का अनुभव कर रही हैं, यह इनका प्रफुल्ल भाव ही इसका पोषण कर रहा है। ये ऊँची कृष्णप्रणयिनी हैं। इनसे पूछो, ये बतायेंगी—**'पृच्छतेमा लता…।'**

इससे स्पष्ट है कि यह श्रीकृष्णरस सर्वरसोपमर्दी है। सब रस सड़ जाते हैं—नीरस हो जाते हैं, परन्तु यह सदा नवनवायमान, उत्तरोत्तर वृद्ध्यभिमुख रहता है। तभी तो श्रीव्रजदेवियों के लिये, अथवा वैसे भावुक जन के लिये—जब वे श्रीश्यामरस का आस्वादन करने लगते हैं उनके लिये समस्त विषय रस नीरस हो जाते हैं। यही श्रीकृष्णरसोपासकों की कसौटी है। सूर्य के सामने चन्द्रादि फीके पड़ जाते हैं। अतएव उनका ऊपर का जीवन सर्वदा रूखा, बनावटी मण्डन से दूर होता है। वे उन रूखे-सूखे टुकड़ों से भी उदरज्वाला शान्त कर देते हैं जिन्हें शायद कुत्ते भी न खायें। ये फटे चिथड़ों, मृत्पात्रों से ही जीवन-निर्वाह कर लेते हैं। क्योंकि सर्वरसोपमर्दी श्रीराधाकृष्ण के दिव्य दर्शन, रसपान से वे सर्वदा छके रहते हैं। ब्रह्मास्वादपरायण योगीन्द्र-मुनीन्द्रों की भी यही स्थिति होती है। वे लटे तन, फटे कपड़े रखते हुए भी परमैश्वर्यसम्पन्न सम्राट्‌दुर्लभ प्रसन्नता में मग्न रहते हैं। श्रीराधाकृष्ण तत्त्व की ब्रह्मता में यह भी एक प्रमाण है। जिसके कारण उनको वह ऊँची प्रसन्नता है वह तत्त्व श्रीराधाकृष्ण ही है। ऐसे पुरुषों को बाहर के दुःखों की, सुखों की कुछ परवाह ही नहीं होती। ये लता उसी स्थिति में हैं, लौकिक पति वनस्पतियों के अङ्क में रह-कर भी उनको उसका कोई लौकिक सौख्य या उसके अभाव में दुःख नहीं है, वे तो श्रीश्यामसुन्दर के करस्पर्शानन्द-समुद्र में मग्न हैं। अतः उन्हींसे पूछती हैं—**'पृच्छ-तेमा लता…।'**

श्रीयुगलबिहारी की प्रेष्ठसखीरूपा व्रजाङ्गनाओं को तो उन लताओं का दर्शन करके ही आश्वासन और एक प्रसन्नता मिली। कारण, वे जानती हैं कि वे लता विशुद्ध सख्यभाववती हैं। यही समझकर उन्होंने उनसे प्रश्न भी किया। इन व्रजाङ्गनाओं के मन में लताओं की उस स्थिति से यह भाव उत्पन्न हुआ कि "सुपर्णयूथिका लताएँ श्रीयुगलबिहारी की लीला से प्रेरित होकर उस भाव को हमें इङ्गित करने के लिये ही मानो तरुण तमाल के साथ समालिङ्गित हुई हैं। अतएव 'तत्करजस्पृष्टा' (तयोः करजैः स्पृष्टा) हैं। दोनों ने एक-दूसरे का शृङ्गार करने के लिये अर्थात् श्रीवृषभानुकिशोरी ने प्यारे श्रीश्यामसुन्दर के अपने जैसे स्त्रीवेश की रचना के लिये और श्रीनन्दसूनु ने श्रीगौरसुन्दरी के अपने जैसे पुरुष वेश की रचना के लिये लताओं से सुमन-स्तवक और सुमनों का चयन किया है। उन्हींके संस्पर्श से इनमें यह पुलकभाव है।" इन सखियों की स्थिति बहुत ऊँची है, ये श्रीयुगलबिहारी की उपासना सख्यभाव से करती हैं। जो सुख इन परमप्रेष्ठ सखियों को प्राप्त है, उसके लिये श्रीबिहारीलाल भी लालायित रहते हैं। वे जानते हैं कि हम दोनों के समुदित आह्लाद–आनन्द का यथावत् अनुभव इन्हींको होता है; अर्थात् श्रीश्यामसुन्दर को केवल श्रीगौरसुन्दरी के और उन्हें केवल श्रीश्यामसुन्दर के प्रणयसौख्य का अनुभव होता है, परन्तु ये सखियाँ दोनों के विभिन्न और समुदित लोकोत्तर, स्नेहसौख्य को प्राप्त करती हैं।

लता पतिस्थानीय वनस्पतियों से समाश्लिष्ट रहकर भी श्रीश्यामसुन्दर के मुखदर्शन से मुग्ध हैं, उनपर फूल बिखेरती हैं। लताओं की कौन कहे, देवाङ्गनाएँ जो सौन्दर्य की सीमा गिनी जाती हैं, अपने परम विदग्ध पतिदेवों के अङ्क में विराजमान होकर भी गँवारे ग्वालबालों से शृङ्गारित श्रीनन्दनन्दन के मयूरचन्द्रिकाचित, वन्य कुसुमकल्पित कुण्डलाद्यलंकृत आनन पर सकृद्दर्शन से ही सदा के लिये बलिहार हो जाती हैं, उनकी नीवी शिथिल पड़ जाती हैं, अकस्मात् उत्पन्न रोमाञ्च की तीव्रता से उनके केशपाश विशीर्ण हो जाते हैं और उनमें ग्रथित शत-शत कुसुमगुच्छ युगपत् विकीर्ण हो जाते हैं।

दूसरी ओर श्रीवृषभानुनन्दिनी का वह सौन्दर्य-माधुर्य है जिसकी कमनीयता, लोकोत्तरता पर पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान् ने अपने को न्योछावर कर दिया। साधारण व्रजरमणी लक्ष्मी हैं, गोपीजन लक्ष्मीतम हैं। अतिशय में तमप् है। उनकी भी सिरमौर श्रीचन्द्रावली हैं, ये अनन्तानन्त गोपीयूथ की प्रभु हैं। श्रीश्यामसुन्दर का अभिसार दो ही स्थान पर होता था—या तो श्रीवृषभानुनन्दिनी के यहाँ या चन्द्रावली के यहाँ। उन श्रीचन्द्रावली के दिव्यप्रासाद में श्रीकृष्ण एक बार पधारे। रसरीति के अनुसार परिरम्भबद्ध होकर वे श्रीचन्द्रावली के अङ्क में विराज रहे थे। पर श्रीवृषभानुनन्दिनी का अनुस्मरण होते ही श्रीचन्द्रावली के सौंदर्य,

लावण्य, प्रणयपाश उन्हें भूल गये, श्रीराधोद्देश्यक कम्प, हर्ष, रोमाञ्चादि होने लगा और वे 'श्रीराधे श्रीराधे' बरबस कहने लग पड़े। यह इनकी वही स्थिति हुई जो देवाङ्गनाओं की अपने पतिदेवों के अङ्क में स्थित रहते भी श्रीकृष्णदर्शन से हुई थी। वे श्रीचन्द्रावली की गोद में श्रीराधा के लिये विह्वल हो गये; जो माधुर्यामृतसिन्धु की लहर श्रीराधाङ्क में विराजमान होकर उठती थी, उसके लिये वे लालायित हो गये।

"यस्याः कदापि वसनाञ्चलखेलनोत्थधन्यातिधन्यपवनेन कृतार्थमानी।
योगीन्द्रदुर्गमगतिर्मधुसूदनोऽपि तस्यै नमोऽस्तु वृषभानुभुवोदिशेऽपि॥"

अर्थात् श्रीवृषभानुनन्दिनी के वसनाञ्चल खेल से समुत्पन्न, अतएव अपने को परमधन्य समझनेवाला वायु भी जब कभी श्रीनन्दनन्दन के स्पर्श का विषय होता है, तो वे उतने मात्र से भी अपने को परम कृतार्थ मानते हैं, यह स्थिति उन मधुसूदन भगवान् की है, जिनकी प्राप्ति के लिये बड़े-बड़े योगीन्द्र मुनीन्द्र तरसते रहते हैं। वह तो दिशा भी वन्दनीय है जहाँ श्रीवृषभानुभूपतनया का चरण-सञ्चार होता है।

तात्पर्य यह है कि उन श्रीवृषभानुनन्दिनी के सङ्ग परम उमङ्ग में श्रीश्याम-सुन्दर इधर से निकले हैं, इन लताओं ने उन्हें देखा है, श्रीराधाकृष्ण का सम्मिलन इनके सामने हुआ है, इसीसे ये रोमाञ्चित हो रही हैं, ये उनकी परम अन्तरङ्गा हैं, इन्हींसे पूछो—

"पृच्छतेमा लता बाहूनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः।
नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्युत्पुलकान्यहो॥"
"इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥"

यों पागलों की तरह गोपबालाएँ पूछती फिरती हैं—कारण्डव, भ्रमर, लता, तुलसी, वृक्षों से। यह प्रेम की परिस्थिति है। जो वस्तुतः व्यग्र हैं, उन्हें किसीसे भी पूछने में सङ्कोच नहीं। '**तस्यै नमोऽस्तु वृषभानुभुवोदिशेऽपि**'। फिर उधर से बयार (वायु) भी आये तो उसे प्रणाम क्यों नहीं? वह तो बरसाने का बयार है, बड़ा प्रिय है। यों उन्मत्त हैं, किसीसे भी बोलने लगती हैं, कुछ भी बोलने लगती हैं। 'उन्मत्त-वचः' का यह भी अर्थ है कि '**उत्कृष्टानाम्=योगीन्द्रमुनीन्द्राणामपि, मोहो यस्माद् वचसः**' अर्थात् जिन व्रजाङ्गनाओं की बात सुनकर बड़े-बड़े योगियों को भी भ्रम, मोह उत्पन्न हो जाय जिनके वचनों से वे गोपियाँ। अथवा "**उत्कृष्टस्य पूर्णतम-पुरुषोत्तमस्य श्रीकृष्णस्य सर्वज्ञस्यापि मोहो यस्माद् वचसः**" अर्थात् श्रीकृष्ण भी जिनकी गम्भीर, ऊँचे भाव की वाणी को सुनकर विस्मित हो जाते हैं। अहो गोपियो! धन्य है, तुम्हारा प्रेम-बन्धन, कितना ऊँचा है तुम्हारा भाव! रात्रि का समय, श्रीश्यामसुन्दर का मुरली के द्वारा आह्वान! उस समय के आनन्द को पाकर

उसे ही अब ये ढूंढती फिरती हैं। इनके वचनों का स्पष्ट अर्थ तो श्रीकृष्ण परमात्मा को ही लगा है। इनके सामने उस सर्वज्ञ की सर्वज्ञता भुलाय गयी। **"गोप्यः गाः= वाचः भगवद्गुणगानेन पान्तीति गोप्यः"** अपने प्रिया-प्रियतम श्रीराधाकृष्ण के गुणगान से वाणी का पालन-रक्षण करनेवाली ये गोपियाँ हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वाणी तो वन्ध्या है—"....**वन्ध्यां गिरन्तां बिभृयान्न धीरः**"। व्रजाङ्गनाओं ने इसका पूर्ण पालन किया। वे श्रीश्यामसुन्दर प्राणधन के अन्वेषण में व्यग्र हैं, उन्मत्त हैं।

गोपियों ने सबसे पूछा, पर किसीने भी उन्हें समुचित उत्तर नहीं दिया, उन्हें पागल जानकर उनकी ठठोली की। हताश उन्होंने भगवल्लीला का आश्रय लिया—**"लीला भगवतस्तास्ताह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः।"** वे "....**पूतनासु पयः पानम्**...." आदि लीलाओं का अनुकरण करने लगीं। व्रजाङ्गना पहले ही सन्तप्त हैं, फिर भगवल्लीलानुकरणरूप घृतसंयोग से वाडवाग्नि के जैसा उनका विरहानल और भी अधिक उद्दीप्त हुआ होगा। वैसी परिस्थिति में तो वे जीवित भी कैसे रह सकेंगी? इसलिये कहा है—**'तदात्मिकाः' (स कृष्णः आत्मनि यासां ताः)** अर्थात् श्रीश्यामसुन्दर के वाचक 'कृष्ण' नाम के 'क' में, जो सुशीतल अमृतवर्ण है, उनका चित्त आसक्त था, उसीने उनकी रक्षा कर भस्म हो जाने से बचा लिया।

अथवा 'तदात्मिकाः' पद से लीला का ही परिग्रह है। भगवान् की लीलाशक्ति ने जब देखा कि अब इन व्रजाङ्गनाओं को इनका यह जीवन भार हो रहा है, तो वह स्वयं ही इनकी रक्षा के लिये प्रकट हुए। वैसे श्रीश्यामसुन्दर कहीं बाहर नहीं चले गये थे, वे तो आन्तर-रमण के निमित्त व्रजाङ्गनाओं के अन्तर में प्रविष्ट हुए थे। जब उन्होंने देखा कि अब ये बाहर मुझे न देखकर अतिसन्तप्त हो रही हैं तो उनके आश्वासन के लिये अपनी लीलाओं को उन्होंने भेजा। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' में इसपर एक गम्भीर भाव व्यक्त हुआ है। उसका आशय है कि जैसे दीपादि की ज्योत्स्ना प्रकोष्ठ के मध्य में होने पर वह बाहर नहीं दीखे, जैसे घन में विद्युत् होती है पर उसके मध्य में होने से वह बाहर सदा नहीं दीखे, वैसे ही श्रीश्यामसुन्दर की स्थिति यहाँ है। एक बात और भी कि यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो कि विद्युत् की ज्योत्स्ना से प्रकाशमान गौरवर्ण घन में श्याम घन छिप जाय, विद्युत् के प्रकाशातिशय से उसके होने पर भी वह न दीखे। यदि ऐसी स्थिति कदाचित् बन सके तो श्रीश्यामसुन्दर के अन्तर्हित भाव का वर्णन हो सकता है। ऐसे स्थलों में 'अभूतोपमा' होती है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में है—

"दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥"

ऐसा हो तब अन्तर्हितता की उपमा बने।

कल्पना कीजिये—एक प्रेमानन्द परिपूर्णहित सरोवर है, उसमें सुवर्णवर्णा कमलिनी खिली है, उनमें मिलिन्द छिपा है। इनके मध्य में एक कमल-नाल है जिसमें सुवर्णवर्णा कमलिनी और श्यामवर्ण कमल दोनों खिले हैं, जैसे अकस्मात् वे तरुण कमल-कमलिनी अन्य सुवर्णवर्णा कमलिनियों से हटकर भीतर छिप जायँ, ऐसे ही श्रीराधा-कृष्ण उस समय योगमाया से अन्तर्हित हुए हैं, गोपाङ्गनाओं से अलग नहीं हुए हैं। जैसे मनोहर अमृतवर्षी घन विद्युत् से अलग न हो, वैसे ही यहाँ की परिस्थिति है। उन व्रजदेवियों की संवित् में, ज्ञान में, चित्त में श्रीकृष्णतत्त्व और श्रीकृष्णतत्त्व में उनका चित्त, ज्ञान, संवित् सब ओत-प्रोत है, दोनों एकमेक हो रहे हैं। इस परिस्थिति में लीलानुकरण आरम्भ हुआ है—

"लीला भगवतस्तास्ताह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः।"

पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण को ढूंढ़ते-ढूंढ़ते व्रजदेवियाँ बेहाल हो गयीं। तरु, लता, पशु, पक्षी—सभी से उन्होंने पूछा। पर कहीं भी उनकी पृच्छा पूर्ण नहीं हुई, इससे और भी अधिक व्यग्र हो उठीं। उस समय उनका श्रीकृष्ण-प्रेमोन्माद, श्रीकृष्ण-विरह पूर्ण परिपाक-अवस्था को प्राप्त हो चुका था। तब उनमें कुछ धैर्य रखनेवाली हितैषिणी व्रजाङ्गनाओं ने अपनी सखियों के साथ अपने को अति आतुर देखकर सोचा—अब कोई चित्त-सान्त्वना का और उपाय होना चाहिये, नहीं तो प्रेम की अन्तिम दशा आ जायगी, हम सबका जीवन ही न रह सकेगा। यह वियोगजन्य तीव्र-ताप से अतिसन्तप्तता न जाने क्या करा दे। अतः प्राणधन श्रीश्यामसुन्दर की मधुर लीलाओं का अनुकरण करना चाहिये। सम्भव है, उनके श्रवण, मनन और दर्शन से हम लोगों को कुछ शान्ति मिले। अथवा भगवल्लीलाशक्ति ही उनकी विह्वलता देखकर अनुकम्पा से स्वयं प्रकट हुई, क्योंकि लीला के साथ ही श्रीकृष्ण परमात्मा पहले उनमें अन्तर्हित थे (अध्यायारम्भ के दो पद्यों में ये भाव पहले व्यक्त हुए हैं)। अतः अन्तर्निविष्ट श्रीकृष्ण परमात्मा ने ही व्रजदेवियों की सान्त्वना के लिये लीलाओं का प्राकट्य किया, अर्थात् गोपाङ्गनाओं को अब स्वलीलामय बनाकर उन्होंने प्रकट किया। अतः उन्मत्तवचना गोपाङ्गनाओं ने अब भगवान् की उन-उन लीलाओं का अनुकरण आरम्भ किया—

"इत्युन्मत्तवचो गोप्यः कृष्णान्वेषणकातराः।
लीलाभगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः॥"

गोपाङ्गनाओं के इस 'उन्मत्तवचः' विशेषण से यह अभिप्राय नहीं है कि जैसे लोक में पागलों की बात या क्रिया उपहास्य और उपेक्षणीय होती है वैसे इनकी भी ये बातें अथवा प्रस्तुत भगवल्लीलानुकरण उपेक्षणीय हैं। प्रत्युत इनके इस उन्मत्तवचस्त्व पर कोटि-कोटि सावधानों के वचन न्योछावर कर दिये जाते हैं। ऐसा उन्मत्तवचस्त्व किसी परमसुकृती को ही मिल सकता है। अतः 'उन्मत्तवचः' का अर्थ

है—'उत्कृष्टानां सनकादिशुकादिमुनीनामपि मदः सञ्जायते यासां वचसा ता उन्मत्त-वचः' अर्थात् सनकादि-शुकादि परम वीतराग महामुनियों को भी जिन व्रजदेवियों की बातें सुनकर, तन्मयता देखकर मद-आनन्दविभोरता होती है। अथवा इन मुनियों की कौन कहे, इनसे भी उत्कृष्ट इनके भी उपास्य साक्षात् श्रीकृष्ण परमात्मा भी जिनके प्रेम-लपेटे अटपटे वचनों को सुनकर मोदमग्न हो उठते हैं, उन उन्मत्तवचनाओं को धन्य है—'उत्कृष्टस्य श्रीकृष्णस्य परमात्मनोऽपि उन्मादकरो वचो यासां ता उन्मत्त-वचः।' ऐसी हैं वे उन्मत्तवचना, कोई सामान्य नहीं। उन्होंने लीला आरम्भ की। प्रश्न हो सकता है कि जब वे भगवान् की लीला के स्मरण से ही इस दशा को पहुँची हैं—परम सन्तप्त हो रही हैं तब उसीसे उन्हें सान्त्वना कैसे मिल सकती है? क्या लीलानुकरणरूप घृत से समुद्दीप्त वह विरह-वाड़वाग्नि अबकी बार उन्हें भस्म ही न कर देगा? हाँ, यह सम्भव है, परन्तु वे तो 'तदात्मिकाः' (तस्मिन् श्रीकृष्णे एव आत्मा मनो यासां ताः) हैं। उनका मन शैत्यसुधापाथोधिसदृश श्रीकृष्ण परमात्मा में समासक्त था, अतः भस्म नहीं हुईं, जीवित ही रहीं। बात ठीक भी है—'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यद्येष......।' कौन उन पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म श्रीकृष्ण के बिना जीवित रहता, सत्तावान् होता, यदि उनमें वे विराजमान न होते। अतएव उनके अन्तर्हित होते ही 'अतप्यंस्तमचक्षाणाः' आदि गोपदेवियों की स्थिति बतलायी गयी है और अब उन्हींके लिये 'लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुचक्रुस्तदात्मिकाः' कहा जा रहा है। भाव यह है कि श्रीकृष्ण ही उनमें विराजमान थे और उनकी लीला ने ही उन्हें लीलानुकरण में प्रवृत्त किया। लीलानुकरण आरम्भ हुआ—

"कस्याश्चित् पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।
तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन् शकटायतीम्॥"

किसीने पूतना के जैसा आचरण किया, कोई गोपी उसके स्तनपानार्थ श्रीबाल-मुकुन्द बन गयी। पूतनाभाव प्रकृत उज्ज्वल रस के विरुद्ध है, गोपीभाव से इसमें बहुत अन्तर है। पूतना श्रीकृष्ण-जिघांसा (मारने की इच्छा) से आयी थी, उसने अपने स्तनों में कालकूट का लेप किया था, वही स्तन उसने यशोदोत्सङ्गलालित श्रीबालमुकुन्द को पिलाया था। इससे भी अवश्य उसकी दिव्यगति हुई, धात्री के जैसी गति उसने पायी—

"अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसया पाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥"

परन्तु इस पद्य में 'जिघांसया' से इस कार्य का अनौचित्य निर्दिष्ट हुआ है, ऐसे ही 'अपि' से भी। अर्थात् जो प्रभु समस्त निरुपाधिक कल्याण-गुणगणों के आस्पद थे, जिनकी समस्त प्रकार से अर्हणा उचित थी, जिनके मङ्गलमय श्रीविग्रह पर अपने को न्योछावर कर देना चाहिये था, उन्हें विषपान कराया; उनके प्रति जिघांसा प्रकट

की, धिक्-धिक् ! यह दूसरी बात थी कि इस दुष्कृत्य से भी पूतना को धात्र्युचित उत्तमगति का लाभ हुआ। यह तो श्रीकृष्ण परमात्मा के सम्बन्ध की विशेषता का महत्त्व है। उत्तम आश्रय और विषय आदि की महिमा से अनुचित भी उचित हो जाता है। चोरी बुरी, परन्तु श्रीकृष्ण की माखन-चोरी इसका अपवाद है, वह भावुक-जनमानसोल्लासिनी है। काम बुरा, पर विषय-महिमा से (कृष्णविषयक होने से) कान्तभाववती व्रजाङ्गनाओं के लिये वह अत्युत्तम हो गया। अस्थि-मांसादियुक्त शरीरादि विषय की अपवित्रता से काम बुरा, बहुत बुरा, पर श्रीश्यामसुन्दर मदन-मोहन के सम्बन्ध से वह भूषण बन जाता है। इसलिये जिघांसा बुरी—जो प्रभु पूजा, प्रेम, भक्ति करने के योग्य हैं उनके हनन की चेष्टा करना बुरा, पर उसके श्रीकृष्ण परमात्मविषयक होने से वह भी उत्तम हो गया—'···**सद्गतिभवाय**···।' परन्तु गोपाङ्गनाओं में यह पूतना-भावना नहीं थी, वे अत्यन्त शुद्ध भाववती थीं तो उनमें यह पूतना का भाव कैसे हो गया ?

इसका समाधान यही कि यह लीलासाधनार्थ अनुकरणमात्र था। दूसरे, अपने प्रेमी को कष्ट पहुँचानेवाला सभी को बुरा लगता है। पूतना ने श्रीगोपीजनवल्लभ भगवान् को मृत्युकष्ट पहुँचाने की चेष्टा की, अतः गोपियों को वह सदा खटकती और अपकारकरूप में सदा उन्हें उसका स्मरण रहता था—'हाय, पूतना ने प्यारे श्याम-सुन्दर को विषपान कराया !' प्रेमाभिनिवेश में अनिष्ट या अपकारक की चिन्ता बनी रहती है। किसीका टोना न लग जाय इसलिये माता अपने लाल के भाल में काजर का ढिठौना लगा देती है। किसीका कोई प्रेमी बाहर जाता है तो उसे शङ्का होने लगती है—'किसीने लाठी तो नहीं मार दी, शेर तो नहीं खा गया, कहीं ठोकर तो नहीं लग गयी ?' व्रजदेवियों के सर्वस्व तो श्रीकृष्ण परमात्मा ही थे और श्रीकृष्ण को व्रजाङ्गनाओं की दृष्टि में पूतना से सदा भय था। अतः अनिच्छयापि इन्हें पूतना का स्मरण रहता था। किसी कीड़े को भौंरा पकड़ लाता है, उसे अपनी गुञ्जार सुनाता है, वह संरम्भभय योग से भौंरा हो जाता है। गोपाङ्गनाओं को अपने से भी अधिक प्रिय श्रीश्यामसुन्दर थे। इस नाते उसमें से एक '**पूतनायन्ती**' हो गयी। प्रेमी के विघातक का स्मरण और प्रेमातिशयवश प्रेमी के साथ ऐक्यभावापत्ति के कारण प्रेमी के भय-हेतु को अपना भय-हेतु मानकर भयरूपापत्ति आदि विवेक ही, 'पूतनायन्ती' का कारण बन गया। '**कृष्णायन्ती**' होने में तो कुछ भी प्रयास नहीं, पर 'पूतनायन्ती' होने में इतना चक्कर है।

अथवा कोई भी व्रजाङ्गना पूतना नहीं बनी। किन्तु श्रीकृष्णविरहसन्तप्त व्रजाङ्गनाओं की पदे-पदे दृष्ट्वा-दृष्ट्वा रक्षार्थविनियुक्त, सर्वोपद्रवदूरीकारार्थं भगवान् की योगमाया उनके पीछे-पीछे घूम रही थी, वही लीलासाद्गुण्यार्थं गोपी-भावापन्न होकर पूतना बनी। कहा जा सकता है कि इतना प्रपञ्च करने की अपेक्षा

पूतना-लीला ही न की जाती; तो यह ठीक नहीं, क्योंकि भगवदवतारों में यह क्रम है कि जब-जब श्रीकृष्णावतार हो तब-तब **'पूतनासु पयःपानम्'** होना ही चाहिये, होता ही है। अतः यहाँ भी यह लीला की ही गयी। अथवा एक भाव यह भी है कि वस्तुतः गोपाङ्गनाओं में ही एक पूतना बन गयी। असली पूतना जिघांसा के अशुद्ध भाव को लेकर आयी थी और उदात्त अनुरागवती गोपाङ्गना में उसका गन्ध तक नहीं था, वह अशुद्ध भाव का अनुसन्धान किये बिना ही लीलानुकरणसाफल्य के लिये पूतना बनी। पीछे आ चुका है—**'गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचिक्युरुन्मत्तकवद् वनाद्वनम्।'** व्रजाङ्गनाएँ भगवान् को ही गाती हुईं अर्थात् उनके चरित्रों, लीलाओं को गाती हुई उन्हें ढूंढ रही थीं। गाते-गाते व्रजलीला का भी गान हुआ, उसमें पूतना की कथा भी आयी। वहाँ पूतना के सौभाग्य की महिमा उन्होंने गायी—'अहो हमारे प्राणधन व्रजेन्द्रनन्दन ने कमल की पाँखुरी से भी अधिक सुकोमल, भक्तों के मानसमन्दिर में निवास करनेवाले, ब्रह्मादि देवों से वन्दित अपने पादों को वक्षःस्थल पर निक्षेप करके स्तनपान किया, वह धन्य है—

"पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः।
अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम्॥"

(भाग १०।६।३७)

ये गोपाङ्गनाएं विरहिणी हैं। ये सोचती हैं—'हमसे तो भाग्यशालिनी पूतना ही थी, जिसके उर-स्थल पर प्राणनाथ श्रीश्यामसुन्दर ने विहार किया, कहीं पूतना बनने पर ही प्रभु हमारे उर-स्थल पर विहार करने पधारेंगे तो हम धन्य-धन्य हो जायँगी।' इसीलिये मानो वे पूतना भी बनीं। उन व्रजदेवियों की दृष्टि में तो दूषण वही है जो प्रियतम प्राणधन श्रीमोहन के सम्मिलन में बाधक है और भूषण वही है, जो कैसे भी उनसे सम्मिलन करा देने में साधक है। चाहे वह तृष्णा आदि हो क्यों न हो। वे गुण भूषण किस काम के जिनके कारण प्रभु के दर्शनों से वञ्चित रहना पड़े, वियोग-वह्नि में सदा जलते रहना पड़े। 'अञ्जन कहा आँखि जो फोरे……' वैराग्य बहुत उत्तम वस्तु है, पर वह कहीं श्रीकृष्ण परमात्मा के प्रति हो जाय तो कौड़ी काम का भी नहीं, वहाँ तो राग-अनुराग होना चाहिये, उनके प्रति विषयों से कभी पराङ्मुख न होनेवाली अविवेकियों की जैसी गाढ़ प्रीति होनी चाहिये। वैराग्य गुण है, पर यहाँ दूषण है। यों 'पूतना' कोई अच्छी चीज नहीं, वह तो—**'पूतना लोकबालघ्नी, राक्षसी, रुधिराशना……'** है, कितनी ही दुष्टा है। सुतराम् पूतनाभाव चाह की चीज नहीं। चाह की चीज तो उन व्रजदेवियों की श्रीकृष्णभावना है, जो उन्हें पूतनाभाव में भी दीख पड़ रही है। यदि पूतना बनने से भी उरःस्थल में श्रीश्यामसुन्दर का विहार प्राप्त होता है तो वे उसका भी स्वागत करती हैं—'लो, हम पूतना ही बनती हैं, प्राणप्यारे मिलें तो!'

अथवा व्रजाङ्गनाएँ सोचती हैं—'क्या करें, कहाँ जायँ, इसकी अपेक्षा तो हमारे प्राण निकल जाते वही अच्छा होता। हाय, इस उग्रताप में भी हमारा मरण नहीं होता। क्यों ये हमारे प्राण अपने प्यारे की प्रतीक्षा में नहीं निकल रहे हैं? संसार में मनुष्य की सर्वोपरि वस्तु प्राण हैं, पर प्राणधन श्रीश्यामसुन्दर तो इनके भी प्राण हैं—**'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणश्चक्षुषश्चक्षुः···।'** हमें ऐसा लगता है कि ये उन्हीं प्राणों के भी प्राण श्रीश्यामसुन्दर के मिलन की व्याकुलता में हमारी देह से निकलना भूल गये हैं। फिर उनके बिना कोई रह ही कैसे सकता है—

"न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥"

'तो फिर आओ सखि! पूतना ही बनें, जिससे अपने आश्रित और प्रतीक्षा-परायण इन प्राणों की ये स्वयं समाप्ति कर दें। सखियो, श्रीश्यामसुन्दर को स्त्रियों से प्रेम नहीं है। देखो जनमते ही उन्होंने पूतना पर हाथ साफ किया। अपने पहले अवतार में भी उन्होंने 'ताड़का' का निःसङ्कोच वध किया। फिर अब प्राणप्यारे श्रीमोहन के विप्रयोग में जीवन रखना तो लोकनिन्दा है। अतः प्राणों के भी प्राण श्रीश्यामसुन्दर के वियोगजन्य इस तीव्रताप में प्राणों का विसर्जन कर देना ही सर्वोत्तम है और इसका सुगम साधन पूतना बनना है। पूतना बनी कि श्रीबालमुकुन्द श्याम-सुन्दर ने हमारा काम तमाम किया।' यहाँ ऐश्वर्य और माधुर्यभाव साथ-साथ चल रहे हैं, इस जगह ऐश्वर्य माधुर्य से दब गया है।

व्रजदेवियों ने सोचा कि 'सबसे अधिक आनन्द की बात तो पूतना बनने में यह है कि उर-स्थल पर श्रीव्रजेन्द्रनन्दन का विहार प्राप्त होगा और वह भी उन्हींका गान करते हुए; **'गायन्त्य उच्चैरमुमेव।'** तथाच सदा के लिये वियोग-दुःख से मुक्त हो जायँगी एवम् सद्गति तो मुफ्त में ही मिलेगी। प्रसिद्ध है—विष देनेवाली पूतना को भी भगवान् ने सद्गति प्रदान की।' सत्यलोकपति ब्रह्माजी, जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के भगवत्त्व की परीक्षा के लिये वत्सापहरण किया और अन्त में भगवान् की अतुल महिमा को देखकर मुग्ध रह गये तथा व्रजवासियों के लोकोत्तर सौभाग्य और निःस्वार्थ श्रीकृष्ण प्रेम को देखकर आश्चर्यचकित रह गये, उनको यह सन्देह हुआ कि जब अघासुर-बकासुर आदि समस्त कुल के साथ भगवान् ने पूतना को आत्मपद जैसा ऊँचा पद प्रदान किया तब इन निरुपम-निःस्वार्थ-स्नेही व्रजवासियों को इनसे आनृण्य प्राप्त करने के लिये वे क्या देंगे? विश्व का कोई और ऊँचा फल इन्हें देने की भगवान् ने यदि सोच रखी है तो उनसे निज से बढ़कर विश्व में कोई ऊँचा फल नहीं है। पूर्णतम पुरुषोत्तम परब्रह्म जिनके साथ नाचें, गायें, खायें, पीयें, विविध क्रीड़ा करें इससे बढ़कर जगत् में और दूसरा उत्तम फल हो ही क्या सकता है? जिन्होंने अपना

तन, मन, धन, देह, नेह, गेह, पुत्र, कलत्र, मित्र सब कुछ भगवान् पर न्योछावर कर दिया और जिन्होंने वैर किया, दोनों को समान फल कैसे दिया जा सकता है ? अतः मेरी समझ में तो भगवान् सदा इनके ऋणिया रहेंगे। भगवान् विश्वफलात्मा हैं, पूर्णानन्दसिन्धु हैं, उसके बिन्दु के समान इन्द्रादि लोक सौख्य हैं—"...एतस्य मात्रामुपजीवन्ति।' जब स्वयं आनन्दसिन्धु ही जिनके घरों में क्रीड़ा की लहरें ले रहा है तब वे बिन्दु से कैसे तृप्त होंगे ? सुतराम् इन्द्रादि-पद देकर भी प्रभु इनसे अनृण नहीं हो सकते—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरातेति न-
श्चेतो विश्वफलात्फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनाऽपि सकुला त्वामेव देवापिता,
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥

(भाग १०।१४।३५)

गोपियों ने समझा कि हम तो श्री श्यामसुन्दर के दर्शनों के लिये ही उत्कण्ठित हैं, सो पूतना बनने से कभी तो सम्भव होगा ही। फिर विप्रयोग भी न होगा। अतः पूतना बनी—'कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।'

'त्वामेव देवापिता' आदि से द्योत्य भगवत्सायुज्य आदि की प्राप्ति पर अन्य लोगों के कुछ और भी भाव हैं। जैसे कुछ भगवद्भक्त भगवच्चरणारविन्द में, कुछ भगवन्मुखारविन्द आदि में लीन होते हैं। यही भेद है। श्रीभगवान् का सर्वाङ्ग ही फल है। विधि-निषेध साधन में होता है, फल में नहीं। सुरापान न करना आदि से समुत्पन्न फल और अग्निहोत्रादि से समुत्पन्न स्वर्गादि फल में कोई अन्तर नहीं। श्रीभगवान् तो भक्ति-उपासना का फल हैं, उनके पादारविन्द, हस्तारविन्द आदि सब फल हैं। 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि...' ही उनका स्वरूप है। इसको सभी मानते हैं। मिठाई के खिलौने के हाथ-पाँव सब मिठाई ही होंगे। वैसे ही भगवान् का समग्र विग्रह आनन्दमयमात्र है—

"सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्त्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्याह्यपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥"

(भाग०, ब्रह्मस्तुति)

यह बात श्रीमद्भागवत से भी सिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्माजी को अपने जो स्वरूप बतलाये वे सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्दमात्र थे। बीच में असत्य आदि के निवेशनिवारणार्थ 'मात्र' पद है। अतएव 'मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्—' वेणु-रेणु, गौ-वत्स सब मधुर, निज देह से लेकर उसके सम्पर्कपर्यन्त सब मधुर ही मधुर। यों भगवद्विग्रह फलस्वरूप ही है। कहीं उसकी कुछ साधनता भी है, जैसे—अघासुर

संहार, भक्ताह्वान आदि। ऐसे ही परिरम्भ में पादस्पर्श में फलता है; और चलन में साधनता। विवेक यह कि लीला में ही साधनता है, प्राकृत (स्वभाव या स्वरूप) में नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण के मुख में केवल फलात्मता ही है, ऐसे ही उनके दर्शन में, अधरामृत में, वंशी निनाद में, चुम्बन में सर्वत्र फलात्मता है। अतः **'सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता'** से आत्मदानरूप जो-जो लीनता हुई वह हुई अवश्य भगवद्विग्रह में ही, परन्तु उनके पादारविन्द में, अथवा श्रीभगवन्मुखारविन्द में फलात्मता के साथ क्वचित् साधनात्मता भी है, वहाँ देवभोग्या, सर्वभोग्या, भगवद्-भोग्या सुधा का निवास है। देव-भोग्या सुधा वंशी-छिद्रों से निर्गत होकर वृक्ष, लता मयूरों को प्राप्त होती है। ये वृक्षादि वृन्दावन के देवता हैं, प्राकृत देवता नहीं, किन्तु भगवत्स्वरूपभूत भगवदंशभूत देव हैं। वृन्दावन की लता-पता, पशु-पक्षी, जड़-जङ्गम आदि सब श्रीकृष्ण परमात्मा के रमण की सामग्री हैं और ये उनके रमण की सामग्री तभी बन सकते हैं जब इनमें उनका प्रवेश हो। श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन का रमण श्रीव्रजेन्द्रनन्दिनी के ही सङ्ग में सम्भव है, सुधाकररूप में विराजमान हैं, वे ही देव-भोग्यारूप में फैलती हैं, फलतः सब श्रीराधामय हो जाता है, वहीं उनका रमण होता है। अतएव वे श्रीराधारमण हैं। गोपाङ्गनाओं में उनका रमण नहीं, किन्तु जहाँ श्रीराधा वहीं उनका रमण होता है। आत्माराम का रमण आत्मा ही में–अपने ही में–होता है। यों देवभोग्या सुधा में भी साधनता आयी। जैसे प्रत्येक काष्ठखण्ड में अग्नि है पर वह अव्यक्त है, व्यक्त का सम्बन्ध हो जानेपर वह (अग्नि) व्यक्त–प्रकट हो सकता है। ऐसे ही **"वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।"** (भाग १०।३५।९ युगलगीत) अर्थात् वन के लता, तरु अपने में भगवान् विष्णु को मानो प्रकट करते हुए, पुष्प-फल भार से समाच्छन्न थे। आशय यह कि व्यापक होने से भगवान् विष्णु तो उनमें पहले भी थे पर प्रकट नहीं थे, अब प्रकट हो गये। फलतः प्रकट स्वस्वरूप में ही रमण होता है। अधर-सुधा में दोनों प्रकट हैं। जहाँ इसका सम्बन्ध है, वहीं श्रीराधा का प्राकट्य है। भगवद्भोग्या सुधा भी अधरसुधा का साधन बनती है। इस प्रकार पूतना आदि और व्रजाङ्गनाओं के श्रीकृष्ण-सायुज्य में भेद है। लीला के अनन्त होने से यहाँ सर्वदा सायुज्य नहीं। प्रेमपीड़ावश गोपाङ्गना पूतना को बड़ी मानकर उसके भाव से पूतना बनना चाहती हैं। वे चाहती हैं—किसी भी प्रकार हमें भी प्राण-धन श्रीश्यामसुन्दर मदनमोहन राधाविहारी का सम्बन्ध मिल जाय। इसीलिये पूतना भी बनने को तैयार हैं—**'कस्याश्चित्पूतनायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत् स्तनम्।'**

गोपाङ्गनाएँ सोचती हैं—'अहो पूतना धन्य है, जिसके उरःस्थल पर प्राणप्यारे श्रीश्यामसुन्दर ने विहार किया, हाय, हम कहीं पूतना भी बनी होतीं, तो हमारा भाग्योदय हो जाता।' इन भावों में मग्न व्रजाङ्गनाएँ पूतना बनीं। अथवा गोपाङ्-

नाएँ सायुज्यप्राप्ति ही चाहती हैं। यद्यपि अन्तःकरण से उन्हें यह इष्ट नहीं है, तथापि वियोग की असह्यता में वे इसे ही अच्छा समझती हैं। सोचती हैं, चलो पूतना बनने से प्राणधन का उरःस्थल पर विहार तो मिलेगा ही, जो हमें इष्ट है, फिर सायुज्य ही सही, रात-दिन विरहवह्नि में जलते रहने से वही क्या बुरा है।' पहले सायुज्य में भेद बतलाया गया है—अघासुर, बकासुर आदि को सायुज्य प्राप्त हुआ, वे भगवत्पादारविन्द में लीन हुए और गोपाङ्गनाएँ श्रीमुख में। दैत्यवध, भक्तसङ्केत आदि में साधनता है और परिरम्भण आदि में फलता है। परन्तु मुख में तो सदा ही फलरूपता है। हाँ, उसकी सुधा में भेद अवश्य है, जैसे देवभोग्या सुधा साधन होती है, लता, वृक्ष आदि में भगवदुपभोग्यता-सम्पादनार्थ उसका प्रयोग किया जाता है। वेणुगीतपीयूष से लतादि में, परिकरों में भगवद्भोग्यता सम्पादित की जाती है, क्योंकि वहाँ श्रीवृषभानुनन्दिनी का सञ्चार हुआ है।

मुख अग्नि माना गया है–'मुखादग्निरजायत।' कौन अग्नि प्राकृत नहीं ? जब पूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण प्राकृत नहीं, किन्तु अचिन्त्य, अनन्त, अद्भुत रससुधासिन्धु हैं, तब उनकी मुखाग्नि भी प्राकृत नहीं, किन्तु वह अप्राकृत विरह-वैश्वानर है। यह अग्नि मुख में ही क्यों ? तो प्राधान्यात् मुख में व्यपदेश है, वैसे तो वह सर्वावयवअधिष्ठित है। विप्रलम्भ-सम्भोगात्मक उभयविध शृङ्गार भी उनमें है। भगवान् सकलविरुद्धधर्माश्रय हैं, अतः उनमें दोनों ही शृङ्गार एक साथ हैं, वहाँ भी उद्बुद्ध और उद्वेलित रूप में। यहाँ उभयविधता भी श्रीभगवान् के सर्वाङ्ग ही में है। 'मुखम्' का अन्यत्र प्राधान्य अर्थ है। यहाँ भी 'मुखमिव मुखम्' के रूप से मुख की प्रधानता है। उसमें प्रधानता विरह की है। सर्वाङ्ग में मुख प्रधान है, शृङ्गार में विरहाग्नि प्रधान है। इस प्रकार दोनों प्राधान्य है। श्रीमद्वल्लभाचार्य 'विरहवैश्वानरावतार' माने गये हैं। वह विप्रलम्भशृङ्गार 'अग्नि' होनेपर भी 'रस' है और वह भी है सर्वोत्कृष्ट। इस प्रकार श्रीकृष्ण परमात्मा के मुख में लय होना मानो वियोगरस में लय होना है। मुख विप्रयोग रस है, व्रजाङ्गनाओं का उसीमें लय होना है। अतः यही विशेषता है, यह लय स्थायी नहीं। जैसे अपार समुद्र की उसीकी वस्तु का उसीमें निमज्जन-उन्मज्जन हो। वस्तुतस्तु श्रीकृष्ण के उभयविध उद्बुद्ध शृंगार में पुनः-पुनः भावुकों का आविर्भाव-तिरोधानभाव होता है। मुख में भी सर्वातिशायी अधरसुधा का पान होता है।

अस्तु, देवभोग्या सुधा तो समझ में आयी, पर भगवद्भोग्या क्या ? तो यही विलक्षणता है। केवल श्रीकृष्णभोग्या ही भगवद्भोग्या सुधा है। परन्तु अपने ही रस का अपने को पान कैसे हो ? नायिकाधर का रसास्वाद होता है। यह रसरीति के विरुद्ध है। इसके बहुत भेद हैं। लोभ ही अधर है (यह भगवद्विभूति है) वही अध्यक्ष है। मायाशक्ति से लोभी कोषाध्यक्ष बना है। पात्रापात्रविचारपूर्वक दान ही अध्यक्षता

है। अतः उसे अपनी अधर सुधा का अध्यक्ष वह देवभोग्या देवों को देता है और गोपाङ्गना-भोग्या को उनके हृदयों में वंशी द्वारा भेजता है। वेणु बहुत ऊँचे अधिकारवाली है, पर उसे कुछ नहीं मिला। 'दर्वी पाकरसं यथा'—जैसे कलछुल दाल-साग आदि के खट्टे-मीठे स्वाद को नहीं जानती, वैसी ही वंशी की दशा है। चषक (पानपात्र) को कुछ नहीं मिलता। श्रीश्यामसुन्दर भगवान् ने भगवद्भोग्या सुधा को गोपाङ्गनाओं के अन्तर में पहुँचाने के लिये वंशी को रखा है। वह दर्वी की तरह है, उसे कुछ स्वाद नहीं मिला। तभी तो वेणुगीतपीयूष के निनाद से जड़-चेतन सबको सुधास्वाद मिला, पत्थर बह चले, यमुना जम गयी, ठूंठों में पत्ते फूट निकले, पर वह सूखी की सूखी ही, सच्छिद्र ही, पल्लवविहीन ही रही, क्योंकि उसे कुछ मिला नहीं। वह देवों को, गोपियों को निर्देशानुसार दे आयी। परन्तु उस वस्तु की महिमा ऐसी है, जो उसके स्पर्शमात्र से ही उसे बहुत कुछ मिल गया। ब्रह्मा, इन्द्र आदि देव, अधिदेव उन-उन इन्द्रियादि की अधिष्ठानता से ही अपने को कृतकृत्य मानते हैं—"**एतद् हृषीकचषकैरसकृत् पिबामः। शर्वादयोऽङ्घ्र्युदजमध्वमृतासवन्ते**···।" ऐसा है वह वेणुपरिवेषित पीयूष। वेणु को वह पीयूष साक्षात् मिला हो, पर उसे पाकर वह औरों की तरह उन्मद नहीं हुई, क्योंकि उसने सोचा कि यदि मैं रूपान्तर को प्राप्त हो गयी, हरी-भरी हो गयी, तो कहीं प्यारे श्रीश्यामसुन्दर मुझे छोड़ न दें। अतः बड़ी सावधानी से वह उस रस को अपने अन्तर में छिपाये रही। लोक में ख्यात होने से नजर-टोना लग जाता है, वेणु इसे खूब जानती थी। अस्तु, भगवद्भोग्या सुधा जब गोपाङ्गनाओं के मानसदेश में पहुंची, तब उन्होंने उसका आस्वाद किया। इस रस की यह विशेषता है कि वह जितना ही आस्वादित होगा, उतना ही अधिकाधिक बढ़ेगा। फिर इसकी यह भी विशेषता है कि यह जहाँ पहुँचता है, वहाँ पहले से भी विद्यमान होता है—'**ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्।**' श्रीराधाकृष्ण और तद्विषयक रस पहले ही प्राणियों में है, पर व्यक्त नहीं, रसिकों की सङ्गति से वह व्यक्त हो जाता है। यहाँ निरावरण कर्णकुहरों से यह भगवद्भोग्या सुधा गोपीमानस-पटल में प्रविष्ट हुई। गुरु एक मन्त्र देता है, साधक रसिक एकान्त में बैठकर उसका अनुसन्धान करके अपार रस का आस्वाद करता है। 'गोपालचम्पू' आदि का यों ही आविर्भाव हुआ। यह श्रीजीवगोस्वामी का ग्रन्थ है। वे उद्भट विद्वान् और भावुक थे। प्रसङ्गात् वे एक बार किसी जङ्गल की गुफा में जा बैठे। वहाँ केवल आटा घोलकर पीते रहे, इससे उनका भौतिक शरीर दुर्बल हो गया, रसमय शरीर पुष्ट हो गया। वहाँ 'क्रमसन्दर्भ' आदि ग्रन्थ भी उन्होंने लिखे। इस प्रकार सबमें 'ज्ञान-ज्ञेय' अधिष्ठित हैं। यहाँ तो प्रत्यक्ष ही वेणु द्वारा गोपाङ्गनाओं में वह रस प्रसृत हुआ, वृद्धि को प्राप्त हुआ, अन्तःकरणादि में भरपूर हुआ और वही वागिन्द्रिय से सम्पृक्त हुआ। उसका जब वर्णन करने लगीं, तब वही उनके अधरों में आ गया। वही भगवद्भोग्या सुधा

सम्भोगसमय में श्रीश्यामसुन्दरसम्भोग्या बन गयी। इस प्रकार परम्परया दान, वर्णन, भावना द्वारा वह भगवद्भोग्या बनी। गोपाङ्गनाओं ने उसे-"बर्हापीडं नटवरवपुः···" के रूप में गाया।

यह सुधा भी सर्वभोग्या सुधा का साधन है। जब परमप्रेयसी का रसपान रसलम्पट श्रीश्यामसुन्दर करते हैं और प्रेयसीवर्ग का भी; उस समय श्रीश्यामसुन्दर गोपाङ्गनाभावापन्न और गोपाङ्गनाएँ श्यामसुन्दरभावापन्न हो जाती हैं। यह सब 'सर्वाभोग्या' के लिये है। इस प्रकार से संसार का सार उभयविध उद्बुद्ध शृङ्गार-स्वरूप श्रीश्यामसुन्दर नटनागर, उनमें भी प्रधानतया उनका मुखसार, उसमें भी सुधा-रस उसका सार है। उसमें व्रजाङ्गनाओं का लय, सायुज्य हुआ। यह वस्तु पूतना बेचारी को कहाँ मिले। वह तो बहुत स्थूल दृष्टि से श्रीभगवत्सायुज्य को प्राप्त हुई। नहीं तो वैसे बड़ा अन्तर है। यहाँ का सायुज्य भी और ही है। इस समय तो व्रजाङ्गनाएँ विरहविह्वला हैं। इस समय वह उत्कर्ष उनकी दृष्टि में कहाँ? वे तो दीना हैं इस समय। अतः कहती हैं—'आओ, पूतना ही बनें, यह विरहवेदना तो मिटे, सायुज्य मिलेगा, वही सही, किसी तरह दुःख तो दूर होगा।' इस प्रकार लीला-नुकरण में जब एक पूतना बन गयी, तब दूसरी को उसका स्तनपान करने के लिये कृष्ण भी बनना चाहिये, सो दूसरी तुरत 'कृष्णायन्ती' बन गयी और 'पूतनायन्ती' के उर पर विहार करने लगी। 'पूतनायन्ती' के अन्तर में तो वह मञ्जुल मुरलीधर श्याममूर्त्ति थी ही, अब बाहर ऊपर भी वह 'कृष्णायन्ती' के स्वरूप में आ गयी। पहली ने गाढ़ परिरम्भ और चुम्बन करके कटाक्ष से कहा—'पूतना पर इतनी कृपा, वह मारने आयी, तब भी उसके उरःस्थल पर विहार किया और हम ढूँढ़-ढूँढ़कर मरी जा रही हैं, फिर भी बात तक नहीं पूछते!' यहाँ विहार रूप अनुकूल भाव सम्पन्न हुआ, परन्तु विरुद्ध भाव, जो प्राणत्यागरूप है, नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ विशुद्ध भावना थी, अतः इसका फल तो हुआ, पर जिघांसा न होने से प्राणत्याग नहीं हुआ।

"तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन् शकटायतीम्।"

पूतनालीला का अनुकरण समाप्त हुआ। अब दूसरी शकटासुर लीला का अनुकरण आरम्भ हुआ। तोकवत् आचरन्ती तोकायन्ती—एक मास के छोटे बच्चे के जैसा आचरण करनेवाली एक दूसरी गोपी बन गयी। इसमें उन्हें भगवान् की बाल-लीला की स्फूर्ति हुई। भगवान् बालकृष्ण जब तक मैया को नहीं देखते तब तक इधर-उधर क्रीड़ासक्त रहते हैं। परन्तु ज्यों ही मैया को देखा कि दूध पीने के लिये पाँव पटक-पटककर रोने लगते, मचलने लगते हैं। वैसे ही यह गोपी बालचापल्य के अनुकरण को सफल बनाती है—पाँव पटकती है; मानो रूप सरोवर में समुद्भूत कमल विरह भवन से विधूनित हो रहा हो। यहाँ उसका रूप ही सरोवर, पाद ही कमल और उनका प्रताडन ही विधूनन है। विरुद्ध भाव का गोपाङ्गनाओं को स्पर्श भी नहीं

करना है। यहाँ श्रीव्रजेन्द्रचन्द्र नन्दनन्दन की अधरसुधा के पान की ही इन्हें उत्कण्ठा है। जैसे श्रीश्यामसुन्दर यशोदा के पयःपानार्थं पादप्रताडन करते हैं, वैसे सुधापानार्थं गोपाङ्गनाओं का यह अनुकरण है। यों बालक के अनुकरण में रोती हुई ने शकटासुर का आचरण करनेवाली को पाँव से गिरा दिया—'पदाहन्शकटायतीम्।' वास्तविक परिस्थिति का स्मरण करके वियोगतप्त गोपाङ्गना परस्पर कहती हैं—'हाय सखि, यदि हम शकटासुर भी बनी होतीं तो श्रीप्राणप्यारे का यह सुकोमल चरणतल तो मिला होता!' लीलानुकरण में शकट की तरह गोपी बनी उसे श्रीकृष्णपादस्पर्श का सुख नहीं मिला। दूसरी ने कहा—'सखि, तृणावर्त्त अच्छा था, हम लालसा करती हैं, कब प्यारे श्यामसुन्दर हमारे हार बनें। इन हीरक हारों में आनन्द नहीं, वह हार हमें नहीं, तृणासुर को मिला। प्यारे मोहन उसके गले से लिपटे और हार बन गये। सखि, इस जन्म में तो वे हमारे हार बनेंगे नहीं, आओ तब राक्षस ही बनें, राक्षस ही सही, प्राणप्यारे तो मिलेंगे।' गोपाङ्गनाओं का तुरन्त भाव बदल जाता है और वे प्रार्थना करने लगती हैं—'प्यारे मनमोहन, हमारे हृदयहार बनने में आपको लज्जा लगती है और उन क्रूर राक्षसों के गले से लगे रहते हो, क्या हम इतनी बुरी हैं?'

गोपाङ्गनाओं के समूह में कोई एक गोपी बाललीलानुकरणार्थं श्रीकृष्णस्वरूप बनी। यह योगमाया का प्रभाव है, वह परमानुरागवती गोपी से जो चाहती है वही करा लेती है। रासलीलामण्डली में पहले (और प्रायः अब भी) लीला के स्वरूपों से अनुकरणीय की भावना करायी जाती रही, वैसा होने से लीलाओं में वही लोकोत्तर आनन्द की स्फूर्ति हो जाती रही। फिर यहाँ गोपाङ्गनाओं को श्रीश्यामसुन्दर की सफल अनुकृति करने में क्या विलम्ब? भावना परिपाक पहले ही से था, पाँव में घुंघरू-पायल बँधे ही थे, वह अनुकरणरत हो गयी, स्वरूप विस्मृत हो गया, पाँव पटक-पटककर मचलने लगी।

पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभु की अपरिलक्षित लीला है। यह तो गोपसीमन्तिनी का एक उदात्त भाव-चित्राङ्कन है, वैसे उनसे वे कब दूर हुए? एक बड़ा सुन्दर पद्य है—

"गोपालाङ्गणकर्दमेषु विहरन् विप्राध्वरे लज्जसे,
ब्रूषे गोवृषहुङ्कृतैः स्तुतिशतैर्मौनं विधत्से सताम्।
दास्यं गोकुलपुंश्चलीषु कुरुषे स्वाम्यन्नदान्तात्मसु,
ज्ञातं कृष्ण तवाङ्घ्रिपङ्कजयुगं प्रेमैकलभ्यं मुहुः॥"

गोपालों के कीचभरे घरों के चौक में–आँगन में आप खूब मचल-मचलकर घूमते हो, पर ब्राह्मणों के पवित्र यज्ञस्थलों में जाते हुए लजाते हो। गौ, वत्स, वृषभ, महोक्ष, जो पशु हैं, उनके हुंकार पर आप चट बोल उठते हो, पर सत्पुरुषों की सैकड़ों वैदिक स्तुतियों का कोई उत्तर नहीं देते, जैसे सुनी ही नहीं। गोकुल गाँव की पुंश्चली

जो जार बुद्धि से आपका सेवन करती रही, उसका दास बनने में आपको तनिक-सा भी सङ्कोच न हुआ, पर जो बेचारे व्रत, तप आदि प्रयत्नपूर्वक बाह्यकरण और अन्तः-करण को विषयों से सम्पृक्त नहीं होने देते, मन को दबाते हैं, वृत्तियों को रोकते हैं, शम, दम, उपरति, तितीक्षा आदि साधनों में अपने जीवन को मिटा देते हैं, आश्चर्य है कि आप उनके मालिक भी नहीं बनना चाहते, स्वामी बनने से भी घृणा करते हो। आपके इन चरित्रों को देखकर यही निश्चय करना पड़ता है कि आपकी पद-प्राप्ति केवल प्रेमसाध्य है, एकमात्र रागानुगा भक्ति ही सर्वतोभावेन आपको वश में कर सकती है।

वहाँ रुचि किस चीज की थी यह बात दूसरी है। गाय ने हुंकार किया, बछड़े ने बुलाया, हम्मारव करते ही चट बोल पड़े। उधर गोपाङ्गनाओं के पुंश्चली भाव पर भी रीझ गये। यहाँ सब बात उलटी। जितनी ऊँची चीज सब नीची कर दी गयी। महाराजाधिराज का वह स्वरूप इतने महत्व का नहीं हुआ जितना पार्थ-सारथि का। सखा अर्जुन के घोड़ों के सईस बने। महाभारत युद्ध में अर्जुन के घोड़े जल के बिना क्लान्त हो गये, उनके लिये उन्होंने पाताल गङ्गा निकाली। पार्थ-सारथि ने रथ से घोड़ों को खोलकर जल पिलाया, स्नान कराया, घोड़ों की लगाम अपने मुख में पकड़ी, तोत्र (चाबुक) को मुकुट में खोंसा और चार हाथों से उनको धोया-पोंछा। उस समय की उनकी झाँकी देखते ही बनती थी। राजा-महाराजा भी जिसको नहीं कर सकते उसे प्रेम के बन्धन में बँधकर उनके अधिराजराज ने किया। परन्तु यह भी गोपाङ्गणकर्दम क्रीड़ा के आगे तो फीका पड़ जाता है। तभी तो एक महात्मा ने कहा—"**परमिममुपदेशमाद्रियध्वम्, निगमवनेसुनितान्तखेदखिन्ना। विचिनुत भवनेषु बल्लवीनामुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम्**॥" अर्थात्; वेदशास्त्रों के उपदेशारण्य में—कर्मोपासना ज्ञान की भूलभुलैया में भटक रहे और अभिलषित को न प्राप्त करके दुःखी हो रहे प्राणियो, हमारी नेक सलाह मानो, वह उपनिषदों का सार अरण्यों में या आरण्यकों में न मिलेगा, वह तो गँवारी ग्वालिनों के घरों में माखन चोरी करते हुए अथवा यशोदा के आँगन में ऊखल से बाँधा मिलेगा, वहीं उसे ढूंढो। यहाँ प्रेम की रसमयी लीलाओं में गुंजाओं के समक्ष कौस्तुभमणि का कोई सम्मान या महत्व नहीं। यहाँ लक्ष्मीपति और रुक्मिणीपतित्व भी पुंश्चलीपतित्व या गोपीजनवल्लभता के सामने मन्थर पड़ जाता है। 'उज्ज्वलनीलमणि' में समर्थन किया गया है कि अरुन्धती, अनसूया आदि बड़े-बड़े सतीवृन्द भी इन पुंश्चलियों की पादधूलि के लिये लालायित हैं—व्याकुल हैं। क्योंकि ये ही सती परम सती हैं, जिन्होंने अपर पुरुष का सङ्ग त्यागकर 'परपुरुष' का सङ्ग किया। अनन्त अखण्ड महामहिम श्रीकृष्ण ही परम पुरुष हैं, परमात्मा हैं, ब्रह्म हैं। वशिष्ठ, अत्रि आदि पुरुष हैं, जीव हैं, पातिव्रत्यधर्म-पूर्वक इनकी सेवा से फल रूप में परम पुरुष की प्राप्ति होती है, ये साधन हैं, वे साध्य;

अरुन्धती आदि सतियाँ अभी आराधना करती हैं, पीछे हैं और गोपाङ्गनाओं ने फल प्राप्त कर लिया, उन्हें 'परपुरुष' की प्राप्ति हो गयी, वे कृतकृत्य हो गयीं। अतएव मन, बुद्धि, रोम-रोम में प्रविष्ट श्रीकृष्ण की शकटायती आदि अनुकृति लीला द्वारा गोपाङ्गना परानन्द में विलीन हुईं।

"दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम्।
रिङ्गयामास काप्यङ्घ्रिकर्षन्ती घोषनिःस्वनैः॥"

इसी लीलानुकरण में एक गोपाङ्गना श्रीश्यामसुन्दर की भावना से बालकृष्ण बन गयी। पाँवों में नूपुर पहिन लिये, घुटनों के बल चलने लगी। नूपुर की छोटी-छोटी घुंघुरू के घोष से वह साशङ्क हो गयी। बालवत् किलकारी मारकर भाग उठी। अपनी ही पादस्थ नूपुर ध्वनि से वह चकित हो गयी। नूपुर के रुचिर घोष से स्तब्ध होकर वह पीछे की ओर मुँह घुमाकर देखने लगी, यों भगवान् बालमुकुन्द के अनुकरण में मग्न हो गयी। इसका अभिप्राय यह कि इस प्रकार की तल्लीनता से—तीव्रसंवेगवान् प्रेम से निम्नकोटिके भी लोग उन पूर्ण पुरुष को प्राप्त कर सकते हैं। **'गोपालाङ्गणकर्दमेषु विहरन्'** आदि से भी यही ध्वनित होता है। यहाँ की लीला ही अद्भुत है। राजाधिराजस्वरूप की अपेक्षा पार्थसारथि का भाव ही दूसरा है और इसकी भी अपेक्षा गोपालाङ्गणकर्दम विहारी का स्वरूप और भी उच्च है। कहीं ज्ञान-वैराग्योद्दीप्त शान्त रस ही उत्कृष्ट माना जाता है, शृङ्गार रस उसके सामने निकृष्ट है। कहीं दाम्पत्यप्रेम में शृङ्गार रस ही उत्कृष्ट हो जाता है। इसके विपरीत औपपत्य में वह रसाभास हो जाता है परन्तु कहीं पर यही औपपत्यादि आलम्बनादि के उत्कृष्ट होने से उत्कृष्ट माना जाता है, जैसे यहीं गोपाङ्गनाओं का श्रीकृष्णविषयक प्रणयौत्कण्ठ्य जिसके फलस्वरूप अनसूया, अरुन्धती जैसी भी उनकी पादधूलि के लिये लालायित रहती हैं। गोपाङ्गना यद्यपि पुंश्चली गिनी गयीं पर वे थीं श्रीकृष्ण की—परम पुरुष की सङ्गिनी या पुंश्चली, अतएव उनका यह उत्कर्ष है, तभी तो श्रीकृष्ण परमात्मा भी उनके दास्य की प्रार्थना करते हैं। कोई कितनी भी साध्वी पतिव्रता होगी वह भी भगवान् के ऐश्वर्य-माधुर्य्यपूर्ण नारायणस्वरूप पर मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकती। अनसूया जैसी भी भगवान् नारायण के स्वरूप पर आसक्त हो गयी यह भूषण ही है, कोई दूषण नहीं। परन्तु एक कथा से ज्ञात होता है कि कृष्णप्रणयिनी गोपाङ्गना उसपर भी मुग्ध न हुई।

एक बार श्रीश्यामसुन्दर गोपाङ्गनाओं के साथ वासन्तिक रासोत्सव मना रहे थे। उसी समय सहसा धोका देकर वे एक कुञ्ज में छिप गये। गोपाङ्गना ढूंढ़ती हुई वहीं जा पहुँचीं। क्योंकि वे अपने सौगन्ध्य-माधुर्यादिपूर को न छिपा सके, उसके लोभी भौंरे, मयूर तथा हरिणाङ्गनाओं का ताँता उधर ही बँध गया। श्रीश्यामसुन्दर

ने सोचा —'ये तो आयीं, अब क्या करें, अपनी तो यह निह्नुति लीला ही बिगड़ी।' दासी के समान पीछे-पीछे घूम रही ऐश्वर्यशक्ति की सहायता से वे झटपट चतुर्भुजधारी नारायण बन गये! अन्वेषणक्रम प्राप्त उन नारायण का गोपाङ्गनाओं ने दर्शन किया, पर वह आकर्षण, वह औत्कण्ठ्य, वह आनन्द उन्हें नहीं प्राप्त हुआ, जो श्रीकृष्ण संमिलन में प्राप्त होता। परन्तु फिर भी उन्होंने नम्रता से प्रणाम किया। उन्हें वरदानोन्मुख देखकर वर माँगा—'श्रीश्यामसुन्दर हमें शीघ्र मिल जायँ।' क्या श्रीनारायण में भूषण-वसन-सौन्दर्य की कमी थी? पर उनके मन में—हृदय में विराजमान अद्भुत छवि श्रीश्यामसुन्दर की मूर्ति के आगे वह सब कुछ नहीं जचा। इस दृष्टान्त से इनकी अटलता, अनन्यता तथा प्रणयातिशय व्यक्त होता है। अतएव अरुन्धती आदि सतियाँ इनको पादपांसु चाहती हैं। इनके अतिरिक्त कौन ऐसी युवति होगी जो साक्षान्नारायण के दर्शन करके उनपर मुग्ध न हो। यह तो गोपाङ्गनाओं की ही विशेषता थी कि जो श्रीमन्नारायण के भी साक्षात् दर्शन करके उनसे भी श्रीश्यामसुन्दर सम्मिलन की ही प्रार्थना की, यहाँ यह दिखाया गया कि जैसे महासम्राट् के समक्ष इतरों का ऐश्वर्य अभिव्यक्त नहीं होता, जैसे सूर्य के सामने चन्द्र-नक्षत्रादि फीके पड़ जाते हैं, दीखते ही नहीं, वैसे ही महामहामाधुर्य के सामने समस्त ऐश्वर्य अस्त हो जाते हैं, प्रकट ही नहीं होते।

प्रेम की स्थिति प्राणिमात्र में अणु-परिमाण में, पार्षदादि में मध्यम परिमाण में और महत्परिमाण में गोपाङ्गनाओं में थी। इसके अतिरिक्त श्रीराधिकाजी में वही प्रेम परममहत्परिमाण परिमित था। पूर्णतम माधुर्य का प्रकाश वहीं हुआ। वहीं की यह कथा प्रसिद्ध है कि उसी निकुञ्ज में, जहाँ गोपाङ्गनाओं के सामने श्रीकृष्ण नारायणरूप में छिप गये, श्रीराधाजी के आते ही उनकी वह ऐश्वरी माया नहीं टिक सकी। उनका वह चतुर्भुज स्वरूप द्विभुज श्यामसुन्दर के रूप में तुरत प्रकट हो गया। अतः यहाँ जितना-जितना लोकदृष्टि में अपकर्ष, उतना ही उतना प्रणय पथ में उत्कर्ष सिद्ध होता है। इसी दृष्टि से औपपत्य का भी उत्कर्ष है।

जैसे जल और तरङ्ग में अन्य सम्बन्ध की कल्पना नहीं—"···तरङ्गन वारि ज्यों···" वैसे ही बाहर-भीतर गोपाङ्गनाओं में श्रीकृष्ण तत्त्व विराजमान है। जल का तरङ्ग का अखण्ड सम्बन्ध है। इनमें श्रीवृषभानुनन्दिनी राधारानी तो और भी अन्तरङ्ग हैं, वे जल में माधुर्यस्थानीया हैं। फिर वहाँ कैसा औपपत्य? अतः

औत्कण्ठ्यवृद्ध्यर्थ इनकी कल्पना है। ऐसे ही 'गोपालाङ्गणकर्दमेषु विहरन्' की कल्पना है। इन भगवल्लीलाओं की अति साधारणता से प्राणियों को विश्वास, आशा बँधती है कि हम दीनों को भी उस तत्त्व का स्वरूप दर्शन सम्भव है। तथा च इन्हीं दृष्टियों से पूतनायन्ती, कृष्णायन्ती, दैत्यायितत्रा आदि श्रीव्रजसुन्दरियों की सफल लीला प्रकृति हैं।

भक्ति-सुधा ग्रन्थ समाप्त

॥ शुभम् ॥

धर्म की जय हो। **प्राणियों में सद्भावना हो।**
अधर्म का नाश हो। **विश्व का कल्याण हो।**

हर हर महादेव।

● ● ●

पूज्यपाद
स्वामी श्री करपात्रीजी महाराज
के अन्य ग्रन्थ

पुस्तक का नाम	कीमत
१. वेदार्थ पारिजात (दो खण्डों में)	१०० रु०
२. शुक्ल यजुर्वेद वाजसनेय–संहिता (प्रथम से चालीस अध्याय)	७४५ रु०
३. रामायण मीमांसा	२७० रु०
४. भक्ति सुधा	२२० रु०
५. भागवत सुधा	७६ रु०
६. श्रीराधा सुधा	७० रु०
७. गीताजयन्ती और भीष्मोक्रान्ति	२२ रु०

प्राप्ति स्थान :

राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान

धर्मसंघ संस्कृत विद्यालय, रमणरेती, वृन्दावन–२८११२१

दूरभाष : ०५६५–२५४००२८

०५६५–२५४०२७८